ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क २१]

श्रीमद्रविषेणाचार्यप्रणीतम्

पद्मपुराणम्

[पद्मचरितम्]

प्रथमो भागः

हिन्दीभाषानुवाद सहित
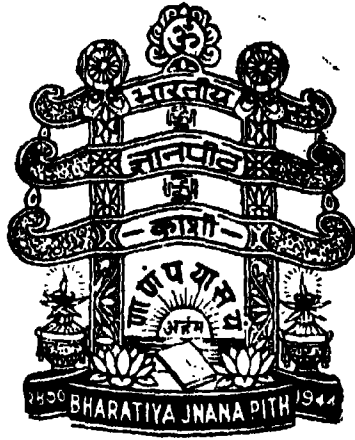
—सम्पादक—

पण्डित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

प्रथम आवृत्ति
११०० प्रति

श्रावण वीर नि० २४८४
वि० सं० २०१५
जुलाई १९५८

मूल्य १० रु०

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

संस्कृत ग्रन्थाङ्क १०

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ. हीरालाल जैन,
एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये,
एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक

अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक—बाबूलाल जैन फागुल्ल, सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

स्थापनाब्द
फाल्गुन कृष्ण ९
वीर नि० २४७०

विक्रम सं० २०००
१८ फरवरी सन् १९४४

स्वर्गीय मूर्तिदेवी, मातेश्वरी साहू शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ JAIN GRANTHAMĀLĀ
SAMSKRIT GRANTHA NO. 20

PADMAPURĀṆA

Vol. I

4024

OF

RAVIŚENACĀRYA

WITH

HINDĪ TRANSLATION
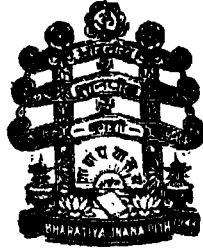
Editor

Pandit, **PANNĀLĀL JAIN** Sahityacharya

Published by

BHĀRATĪYA JNĀNAPĪTHA KĀSHĪ

First Edition
1100 Copies

SHRAVANA VIRA SAMVAT 2484
VIKRAMA SAMVAT 2014
JULY, 1958

Price
Rs. 10/-

BHĀRĀTĪYA JÑĀNAPĪTHA Kashi

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTI PRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ JAIN GRANTHAMĀLĀ

SAMSKRIT GRANTHA NO. 20

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC PHILOSOPHICAL, PAURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT, SAMSKRIT, APABHRANSHA, HINDI, KANNADA AND TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED

General Editors

Dr. Hiralal Jain M. A., D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye M. A., D. Litt.

Publisher

Ayodhya Prasad Goyaliya
Secy., Bharatiya Jnanapitha
Durgakund Road, Varanasi

Founded in **Phalguna krishna 9. Vira Sam. 2470** — **Vikrama Samva 2000** 18 Febr. 1944.

सम्पादकीय

रामकथा भारतीय साहित्यका सबसे अधिक प्राचीन, व्यापक, आदरणीय और रोचक विषय रहा है। यदि हम प्राचीन संस्कृत प्राकृत साहित्यको इस दृष्टिसे मापें तो सम्भवतः आधेसे अधिक साहित्य किसी न किसी रूपमें इसी कथासे सम्बद्ध, उद्भूत या प्रेरित पाया जायगा। वैदिक परम्परामें वाल्मीकिकृत रामायण प्राचीनतम काव्य माना जाता है। उस परम्पराका उत्कृष्टतम महाकाव्य कालिदासकृत 'रघुवंश' है जिसका विषय वही राम-कथा है। और महाकवि भवभूतिके दो उत्कृष्ट नाटक 'महावीर चरित' और 'उत्तर-राम-चरित' भी पूर्णतः रामकथा विषयक ही हैं। बौद्ध-परम्परामें यद्यपि इस कथाका उतना विस्तार हुआ नहीं पाया जाता, तथापि पाली-साहित्यके सुप्रसिद्ध 'जातक' नामक विभाग की 'दसरथ जातक' में यह कथा वर्णित है। और उसमें भगवान् बुद्धका ही जन्मान्तर राम पण्डितके रूपमें माना गया है। यह कथा संक्षिप्त है और बहुत अंशोंमें अपने ढंगकी विलक्षण भी है। इसकी सबसे बड़ी विलक्षणता है राम और सीता दोनोंको भाई बहिन मानना व दोनोंका वनवाससे लौटनेके पश्चात् विवाह होना। जिस वंशमें भगवान् बुद्ध उत्पन्न हुए थे, उस शाक्य-वंशमें भाई-बहिनके विवाह होनेकी प्रथाके उल्लेख मिलते हैं। मिश्र आदि सेमेटिक जातियोंमें भी इस कथाका बहुत प्रचार रहा है। जैन पुराणोंके अनुसार भोगभूमियोंमें सहोदर भाई-बहिनके विवाहकी स्थिर प्रणाली रही है।

जैन परम्परामें रामको त्रेपठ शलाकापुरुषोंमें वासुदेवके रूपमें गिना गया है और उनके जीवन चरित्र सम्बन्धी बड़े-बड़े पुराण भी रचे गये हैं। रामका एक नाम पद्म भी था और जैन पुराणोंमें उनका यही नाम अधिक ग्रहण किया गया है।

राम कथा सम्बन्धी सबसे प्राचीन जैन पुराण संस्कृतमें रविषेण कृत पद्मपुराण, प्राकृतमें विमलसूरि कृत पउम-चरिय और अपभ्रंशमें स्वयंभूकृत 'पउम-चरिउ' हैं। यह चरित्र जिनसेन गुणभद्रकृत संस्कृत महापुराणमें, पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश महापुराणमें और हेमचन्द्र कृत संस्कृत त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरितमें भी पाया जाता है। कथा की समता विषमता को दृष्टिसे इस साहित्यको हम दो श्रेणियोंमें विभाजित कर सकते हैं। एक श्रेणीमें हैं विमलसूरि, रविषेण, स्वयंभू और हेमचन्द्रकी रचनाएँ और दूसरी श्रेणीमें गुणभद्र और पुष्पदन्तकी रचनाएँ। इस दूसरी श्रेणीकी रचनाओं की प्रथमसे सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि वे रामके पिता दशरथको बनारसके राजा मानकर चलते हैं तथा सीताको रावणकी रानी मन्दोदरीके गर्भसे उत्पन्न बतलाते हैं। यह मान्यता-भेद क्यों उत्पन्न हुआ यह एक अध्ययनका विषय है।

रामकथा विषयक जो दो सबसे प्राचीन और महान् रचनाएँ संस्कृतमें रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण और प्राकृतमें विमलसूरि कृत पउमचरियं—हैं, उनके विषयमें अनेक चिन्तनीय बातें उत्पन्न होती हैं। दोनोंका कथानक सर्वथा एक ही है। यही नहीं, दोनोंको परस्पर मिलाकर देखनेसे इसमें किसीको कोई सन्देह नहीं रहता कि वे एक दूसरेके भाषात्मक रूपान्तर मात्र हैं। किसने किसका अनुवाद किया है, यह उनके रचनाकाल क्रमसे जाना जा सकता था। किन्तु इस विषयमें एक कठिनाई उठ खड़ी हुई है। रविषेणने अपनी रचना वि० सं० ७३३ में समाप्त की

थी। इसका ग्रन्थमें ही उल्लेख है और उसपर किसीको कोई सन्देह नहीं है। किन्तु विमलसूरिने अपनी कृतिकी समाप्तिका जो काल—वि० सं० ६० सूचित किया है उसे डॉ० विण्टर्नीजने तो स्वीकार किया है, किन्तु अन्य बहुतसे विद्वान् उसे माननेको तैयार नहीं हैं। जर्मन विद्वान् डॉ० हर्मन जैकोबी, जिन्होंने इस ग्रन्थका सर्व प्रथम सम्पादन किया, ने अपना यह सन्देह प्रकट किया कि इस ग्रन्थमें प्राकृत भाषाका जो स्वरूप प्रकट हुआ है और उसमें कहीं कहीं जिन विशेष शब्दोंका प्रयोग किया गया है, उससे यह रचना विक्रमकी प्रथम शताब्दीकी नहीं किन्तु उसकी तीसरी चौथी शताब्दीकी प्रतीत होती है। डॉ० बुलनरके मतानुसार तो यह ग्रन्थ अपनी कुछ शब्दरचनासे अपभ्रंश कालका संकेत करता है। पं० केशवलाल ध्रुवने इस ग्रन्थमें प्रयुक्त विभिन्न छन्दोंका अध्ययन किया है जिससे उनका मत भी डॉ० बुलनरके मतकी ओर झुकता है। तात्पर्य यह कि प्राकृत पउमचरियके रचनाकालके सम्बन्धमें सन्देह और विवाद है। निश्चित केवल इतना ही है कि उद्योतन सूरिने अपनी जिस कुवलयमाला नामक कृतिको शक संवत् ७०० = वि० सं० ८३५ में समाप्त किया था, उसमें रविषेणकी रचनाका भी उल्लेख है और पउमचरियका भी। अतएव निश्चित इतना ही कहा जा सकता है कि पउमचरिय वि० सं० ८३५ से पूर्वकी रचना है।

इस काल-सूचनासे पद्मपुराण और पउमचरियकी रचनाका पूर्वापरत्व अनिर्णीत रह जाता है। अतएव यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किसने किसका अनुवाद किया। इसका कुछ विचार पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने एक लेखमें किया था जो 'पद्मचरित और पउमचरिय' शीर्षकसे सन् १९४२ में अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १-२ में और तत्पश्चात् उनके 'जैन साहित्य और इतिहास' [प्रथम संस्करण १९४२, द्वि० सं० १९५६] के अन्तर्गत प्रकाशित है। प्रेमीजी ने उक्त विषयक जो अनेक महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई हैं उनका उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादकने अपनी प्रस्तावनामें किया है। किन्तु जो महत्त्वपूर्ण चर्चा प्रेमीजीने अपने लेखमें उक्त दोनों ग्रन्थोंके पूर्वापरत्वके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालनेवाली की है, उसको यहाँ सर्वथा भुला दिया गया है। संक्षेपमें, प्रेमीजीने तीन बातें बतलाई हैं। एक तो यह कि प्राकृतसे संस्कृतमें अनुवादके तो प्राचीन जैन साहित्यमें बहुत उदाहरण मिलते हैं, किन्तु संस्कृतसे इतने बड़े पैमानेपर प्राकृतमें अनुवादके कोई उदाहरण नहीं मिलते। दूसरे वर्णनमें पउमचरियमें संक्षेप और पद्मपुराणमें विस्तार पाया जाता है। और तीसरे 'माहण' [ब्राह्मण] की उत्पत्तिके सम्बन्धकी जो कथा रविषेणके पद्मपुराण [४, १२२] में पाई जाती है, उससे उसके प्राकृत स्रोतका ही अनुमान होता है, क्योंकि माहण शब्द प्राकृतका है और उसीकी एक व्युत्पत्ति प्राकृत उक्ति 'माहण' मत मारोसे सार्थक बैठ सकती है जैसा कि प्राकृत पउमचरियमें पाया जाता है। संस्कृतमें 'माहण' शब्दको कहीं स्वीकार नहीं किया गया और न रविषेणके सम्प्रदाय व परम्परामें इस शब्दका कोई प्रयोग पाया जाता। इसके विपरीत प्राकृत जैन आगम ग्रन्थोंमें इस शब्दका बहुत अधिक प्रयोग पाया जाता है। इससे हमें यही मानना पड़ता है कि रविषेणाचार्यने इसे पउमचरियके आधारसे जैसाका तैसा संस्कृतमें रख दिया है। यह विषय दृष्टिके ओझल करने योग्य नहीं किन्तु विशेष ध्यान देकर और अधिक अध्ययन करने योग्य है।

दोनों ग्रन्थोंके परस्पर तुलनात्मक अध्ययनकी एक दिशा यह भी है, कि जब रविषेणकी कृति सोलहो आने दिगम्बर परम्पराकी है, तब विमलसूरिके पउमचरियकी साम्प्रदायिक व्यवस्था क्या है। कुछ विद्वानोंने इस दृष्टिसे पउमचरियका अध्ययन किया है। परिणामतः ग्रन्थमें कुछ बातें ऐसी हैं जो दिगम्बर परम्पराके अनुकूल हैं, कुछ श्वेताम्बर परम्पराके और कुछ ऐसी बातें भी हैं जो दोनोंके प्रतिकूल होकर सम्भवतः किसी तीसरी ही परम्पराकी ओर संकेत करती हैं। इनका उल्लेख प्रस्तावनामें आ गया है।

उनके अतिरिक्त जो नई बातें हमारी दृष्टिमें आई हैं वे निम्न प्रकार हैं :—

१. पउम-चरिय २,२२ में भगवान् महावीरको त्रिशलादेवीकी कूँखसे आये कहा गया है। यथा—

तस्स य बहुगुणकलिया भज्जा तिसलत्ति रूव-संपन्ना।
तीए गब्भम्मि जिणो आयाओ चरिम-समयम्मि ॥ २,२२

यह बात दिगम्बर परम्पराके पूर्णतः अनुकूल है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परासे आंशिक रूपसे ही मिलती है, क्योंकि वहाँ भगवान्के देवानन्दाकी कूँखमें आनेका भी उल्लेख है।

२. पउम-चरिय २,३६–३७ में भगवान् महावीरके केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् उपदेश करते हुए विहारकर विपुलाचल पर्वतपर आनेकी बात कही गई है। यथाः—

एवं सो मुणि-वसहो अट्ठ-महा-पाडिहेर-परियरिओ।
विहरइ जिणिंद-भाणू बोहिन्तो भविय-कमलाइं ॥
अइसय-विहूइ सहिओ गण-गणहरसयल-संघ-परियरिओ।
विहरन्तो च्चिय पत्तो विउल-गिरिंदं महावीरो ॥ २,३६–३७

यह बात श्वेताम्बर मान्यताके अनुकूल पड़ती है और दिगम्बर मान्यताके प्रतिकूल, क्योंकि, यहाँ यह माना गया है कि केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् भगवान् छयासठ दिन तक मौन पूर्वक विहार करते हुए ही विपुलाचल पर्वतपर आये थे और यहीं उनको सर्वप्रथम उपदेश हुआ था।

पउम-चरिय ३,६२ में ऋषभ भगवान्के जन्मसे पूर्व उनकी माता मरुदेवीके स्वप्नोंका उल्लेख है। यहाँ स्वप्नोंकी गणना प्रेमीजीने तथा प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादकने पन्द्रह लगाकर उसे श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों मान्यताओंसे पृथक् कहा है। किन्तु यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। जिन भगवान्की माताके स्वप्नोंका प्रसंग ग्रंथमें एक स्थानपर और आता है जहाँ तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतनाथके जन्मका वर्णन है। राम उन्हींके तीर्थकालमें हुए माने गये हैं। यह स्वप्नोंका उल्लेख निम्न प्रकार हैः—

अह सा सुहं पसुत्ता रयणीए पच्छिमम्मि जामम्मि।
पेच्छइ चउद्दस सुमिणे पसत्थ-जोगेण कल्लाणी ॥ २१,१२

गय-वसह-सीह-अभिसेयदाम-ससि-दिणयरं झयं कुंभं।
पउमसर-सागर-विमाण-भवण-रयणुच्चय-सिहिं च ॥ २१,१३

यहाँ ग्रन्थकारने स्वयं कह दिया है कि माताको चौदह स्वप्न हुए थे जो उन्होंने गिना भी दिये हैं। इनमें और मरुदेवीके स्वप्नोंमें यदि कोई भेद है तो केवल इतना ही कि यहाँ जो अभिषेक दाम कहा गया है वही वहाँ 'वरसिरि-दाम' रूपसे उल्लिखित है। इसे पूर्वोक्त विद्वानोंने लक्ष्मी और पुष्पमाला ऐसा पृथक् दो स्वप्न मानकर स्वप्नोंकी संख्या पन्द्रह निकाली है। किन्तु मुनिसुव्रतनाथके जन्म समयके स्वप्नोंके उल्लेखसे सुस्पष्ट हो जाता है कि 'वरश्रीदाम' और 'अभिषेकदाम' एक ही शोभायुक्त या अभिषेक योग्य पुष्पमालाका वाची होकर स्वप्नोंकी संख्या को चौदह ही सिद्ध करता है। पउम-चरिय २१,१३ में स्वप्नोंकी गिनानेवाली गाथा ठीक वही है जो 'छठे श्रुतांग णायाधम्मकहाओ' (१,१) में भी पाई जाती है। इन स्वप्नोंका जब हम पद्मपुराण (३,१२४–१३६) में उल्लिखित स्वप्नोंसे मिलान करते हैं तब स्वप्नोंका क्रम ठीक वही होते हुए जो संख्या व नामोंमें भेद उत्पन्न करने वाले स्थल हैं वे एक तो वही 'वरश्रीदाम' वाला जहाँ श्रीलक्ष्मी और पुष्पमालाएँ ऐसे दो स्वप्न हो गये हैं। दूसरे जहाँ 'झयं' (ध्वज) का उल्लेख है वहाँ 'मत्स्य' (मछली) का पाया जाना झश (मछली) और झय (ध्वज) के

पाठभेद या भ्रान्तिको सूचित करता है। एवं सागर और विमानके बीच 'सिंहासन' अधिक आया है। हमें प्रतीत होता है कि स्वप्नोंके नामों और संख्याका भेद ऐसा ही तो न हो जैसा स्वर्गों की १२ और १६ की संख्याको किसी समय सम्प्रदाय भेद सूचक माना जाता था, किन्तु तिलोयपण्णत्तिमें दोनोंका उल्लेख साथ-साथ मिल जानेसे अब वह सम्प्रदाय भेदका सूचक नहीं माना जाता। इस विषयपर विचार किये जानेकी आवश्यकता है।

पउमचरियके कर्ताके सम्प्रदायके सम्बन्धमें प्रेमीजीकी यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस कथानकका अनुसरण करनेवाले अपभ्रंश कवि स्वयंभूको एक प्राचीन टिप्पणकारने यापुलीय (यापनीय) संघका कहा है। आश्चर्य नहीं जो विमलसूरि उसी परम्पराके हों। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि यापनीय सम्प्रदायका प्रायः पूर्णतः विलीनीकरण दिगम्बर सम्प्रदायमें हुआ है और यह बात शिलालेखोंसे प्रमाणित है।

पद्मपुराणका यह संस्करण अनुवाद सहित तैयार करनेमें पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने जो परिश्रम किया है वह प्रशंसनीय है। इधर जिस तीव्र गतिसे यह प्राचीन साहित्य बड़े सुन्दर ढंगसे ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हो रहा है, उसके लिए ज्ञानपीठकी अध्यक्षा श्रीमती रमारानीजी का हम विशेष रूपसे अभिनन्दन करते हैं। ज्ञानपीठके मन्त्री व सञ्चालक आदि कार्यकर्ताओंको भी हम उनकी तत्परताके लिए हृदयसे धन्यवाद देते हैं।

हीरालाल जैन
आ० ने० उपाध्ये
ग्रन्थमाला सम्पादक

प्रस्तावना

पद्मचरितका सम्पादन निम्नाङ्कित प्रतियोंके आधारपर किया गया है—

[१] 'क' प्रतिका परिचय—

यह प्रति दिगम्बर जैन सरस्वती भंडार धर्मपुरा, देहली की है। श्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीके सत्प्रयत्नसे प्राप्त हुई है। इसमें १२×६ इञ्चकी साईजके २४६ पत्र हैं। प्रारम्भमें प्रतिपत्रमें १५-१६ पंक्तियां और प्रतिपङ्क्तिमें ४० तक अक्षर हैं पर बादमें प्रतिपत्रमें २४ पंक्तियां और प्रतिपंक्तिमें ५७-५८ तक अक्षर हैं। अधिकांश श्लोकोंके अङ्क लाल स्याहीमें दिये गये हैं पर पीछेके हिस्सेमें सिर्फ काली स्याहीका ही उपयोग किया गया है। इस पुस्तककी लिपि पौषवदी ७ बुधवार संवत् १७७५ को भुसावर निवासी श्री मानसिंहके पुत्र सुखानन्दने पूर्ण की है। पुस्तकके लिपिकर्ता संस्कृत भाषाके ज्ञाता नहीं जान पड़ते हैं इसलिए भाषाकी बहुत कुछ अशुद्धियाँ लिपी करनेमें हुई हैं। इस पुस्तकके अन्तमें निम्न लेख पाया जाता है—

'इति श्रीपद्मपुराणसंपूर्णं भवतः। लिख्यतं सुखानन्द मानसिंहसुतं वासी सुयान भुसावरके मोत्र गोत्र वैनाड़ा लिपि लिखी सुंग्राने मधि संवत् सत्रैसै पचहत्तर मिति पौषवदी सप्तमी बुधवार शुभं कल्याणं ददातु। जाइसी पुस्तकं दृष्ट्वा ताइसी लिखितं मया। जादि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ॥१॥ सज्जनस्य गुणं ग्राह्यं दोषतिक्तं गुणार्णवम्। अयं शुद्धं कृतं तस्य मोक्षसौख्यप्रदायकम् ॥२॥ जो कोई पढ़ै सुनै त्याहनै म्हारो श्री जिनाय नमः। सज्जन ऐही वीनती साधर्मी सों प्यार। देव धर्म गुरु परखकें सेवो मन वच सार ॥ देव धरम गुरु जो लखें ते नर उत्तम जान। सरधा रुचि परतीति सौ सो जिय सम्यक् वान ॥ देव धरम सूं परखिये सो है सम्यकवान। दर्शन गुण ग्रह आदि ही ज्ञान अंग रुचि मान ॥ चारित अधिकारी कहो मोक्ष रूप त्रय मान। सज्जन सो सज्जन कहै एहु सार तत्र जान ॥ निश्चै अरु व्यवहार नय रत्नत्रय मन खान। अप्पा दंसन नानमय चारितगुन अप्पान। अप्पा अप्पा जोइये ज्यों पावै नियनि शुभमस्तु। इस प्रतिका साङ्केतिक नाम 'क' है।

[२] 'ख' प्रतिका परिचय—

यह प्रति श्री दि० जैन सरस्वती भवन पंचायती मन्दिर मसजिद खजूर देहलीकी है। श्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। इसमें ११×५ इञ्चकी साईजके ५१० पत्र हैं। प्रतिपत्रमें १४ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ४०–४१ तक अक्षर हैं। पुस्तकके अन्तमें प्रति लिपि संवत् तथा लिपिकर्ताका कुछ भी उल्लेख नहीं है। इस प्रतिके बीच-बीचमें कितने ही पत्र जीर्ण हो जानेके कारण अन्य लेखकके द्वारा फिरसे लिखाकर मिलाये गये हैं। प्राचीन लिपि प्रायः शुद्ध है पर जो नवीन पत्र मिलाये गये हैं उनमें अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं। इस प्रतिके प्रारम्भमें १-२ श्लोकोंकी संस्कृत टीका भी दी गई है। इस प्रतिका सांकेतिक नाम 'ख' है।

[३] 'ज' प्रतिका परिचय—

यह प्रति श्री अतिशय क्षेत्र महावीर जी की है। श्रीमान् पं० चैनसुखदासजीके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। इसमें १२×५ साईजके ५५४ पत्र हैं। प्रतिके कागजकी ओर दृष्टि देनेसे पता चलता है कि यह प्रति बहुत प्राचीन है परन्तु अन्तमें लिपिका संवत् और लिपिकारका कोई

परिचय उपलब्ध नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रतिके अन्तका एक पत्र गुम हो गया है अन्यथा उसमें लिपि संवत् वगैरहका उल्लेख मिल जाता। पुस्तककी जीर्णताके कारण प्रारम्भमें ४४ पत्र नये लिखकर लगाये गये हैं। इन ४४ पत्रोंमें प्रतिपत्रमें १३ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ४० से ४५ तक अक्षर हैं। प्राचीन पत्रोंमें १२ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३५ से ३८ तक अक्षर हैं। अधिकांश लिपि शुद्ध की गई है। इस प्रतिमें भी 'ख' प्रतिके समान प्रारम्भके १-२ श्लोकोंकी संस्कृत टीका दी गई है। इस प्रतिका सांकेतिक नाम 'ज' है।

[४] 'ब' प्रतिका परिचय—

यह पुस्तक पं० धन्नालाल ऋषभचन्द्र रामचन्द्र बम्बईकी है। इस पुस्तकमें १३×६ इञ्चकी साईजके २६५ पत्र हैं। प्रतिपत्रमें १६ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ५५ से ६० तक अक्षर हैं। लिपिके संवत और लिपिकारका उल्लेख अप्राप्त है। पर जान पड़ता है कि लिपिकर्ता संस्कृत भाषाका जानकार था इसलिए लिपि सम्बन्धी अशुद्धियाँ नहीं केबराबर हैं। प्रायः सब पाठ शुद्ध अङ्कित किये गये हैं। बीच-बीचमें कठिन स्थलोंपर टिप्पण भी दिये गये हैं। इस संस्करणके संपादनमें इस पुस्तकसे अधिक सहायता प्राप्त हुई है। इसका सांकेतिक नाम 'ब' है।

[५] टिप्पण प्रतिका परिचय—

यह प्रति श्री दि० जैन सरस्वती भण्डार धर्मपुरा दिल्लीकी है। श्री पं० परमानन्दजीके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। यह टिप्पणकी प्रति है। इसमें १०×५ इञ्चकी साईजके ५८ पत्र हैं। बहुत ही संक्षेपमें पद्मचरितके कठिन स्थलोंपर टिप्पण दिये गये हैं। इस पुस्तककी लिपि पौष बदी ५ रविवार संवत् १८६४ को पूर्ण हुई है। लश्करमें लिखी गई है। किसने लिखी? इसका उल्लेख नहीं है। इसकी रचनाके विषयमें अन्तमें लिखा है—

'लाट वागड़ श्री प्रवचन सेन पण्डितात् पद्मचरितं समाकर्ण्य बलात्कारगण श्रीनन्द्याचार्य सत्व-शिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना श्रीमद्विक्रमादित्यसम्वत्सरे सप्ताशीत्यधिकसहस्र (परिमितं) श्रीमद्धारायां श्रीमतो राज्ये भोजदेवस्य पद्मचरिते'।

अर्थात् राजा भोजके राज्यकालमें संवत् १०८७ में धारानगरीमें श्रीनन्दी आचार्यके शिष्य श्रीचन्द्र मुनिने इस टिप्पणकी रचना की है। लिपिकर्ताकी असावधानीसे लिपि सम्बन्धी अशुद्धियाँ बहुत हैं।

[६] 'म' प्रतिका परिचय—

यह प्रति श्री दानवीर सेठ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे श्रीसाहित्यरत्न पण्डित दरबारीलालजी न्यायतीर्थ (स्वामी 'सत्यभक्त' वरधा) के द्वारा सम्पादित होकर तीन भागोंमें विक्रम संवत् १६८५ में प्रकाशित हुई है। इसका संपादन उक्त पण्डितजीने किन प्रतियोंके आधारपर किया यह पता नहीं चला पर अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं। इसका सांकेतिक नाम 'म' है।

इन प्रतियोंके पाठभेद लेने तथा मिलान करनेपर भी जहाँ कहीं सन्देह दूर नहीं हुआ तो मूडबिद्रीमें स्थित ताड़ पत्रीय प्रतिसे पं० के० भुजबली शास्त्री द्वारा उसका मिलान करवाया है। इस तरह यह संस्करण अनेक हस्तलिखित प्रतियोंसे मिलान कर सम्पादित किया गया है।

संस्कृत साहित्य सागर—

संस्कृत साहित्य अगाध सागरके समान विशाल है। जिस प्रकार सागरके भीतर अनेक रत्न विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार संस्कृत साहित्य-सागरके भीतर भी पुराण, काव्य, न्याय, धर्म, व्याकरण, नाटक, आयुर्वेद, ज्यौतिष आदि अनेक रत्न विद्यमान हैं। प्राचीन संस्कृतमें ऐसा आपको विषय नहीं मिलेगा जिस पर किसीने कुछ न लिखा हो। अजैन संस्कृत साहित्य तो विशालतम है ही परन्तु जैन संस्कृत साहित्य भी उसके अनुपातमें अल्पपरिमाण होने पर भी उच्चकोटिका है। जैन साहित्यकी प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें वस्तु स्वरूपका जो वर्णन किया गया है वह हृदयस्पर्शी है, वस्तुके तथ्यांशको प्रतिपादित करनेवाला है और प्राणिमात्रका कल्याण कारक है।

रामकथा साहित्य—

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र इतने अधिक लोकप्रिय पुरुष हुए हैं कि उनका वर्णन न केवल भारतवर्षके साहित्यमें हुआ है अपितु भारतवर्षके बाहर भी सम्मानके साथ उनका निरूपण हुआ है और न केवल जैन साहित्यमें ही उनका वर्णन आता है किन्तु वैदिक और बौद्ध साहित्यमें भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन आता है। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं एवं भारतकी प्रान्तीय विभिन्न भाषाओंमें इसके ऊपर उच्चकोटिके ग्रन्थ लिखे गये हैं। न केवल पुराण अपितु काव्य-महाकाव्य और नाटक-उपनाटक आदि भी इसके ऊपर अच्छी संख्यामें लिखे गये हैं। जिस किसी लेखकने रामकथाका आश्रय लिया है उसके नीरस वचनोंमें भी राम-कथाने जान डाल दी है। इसका उदाहरण भट्टि काव्य विद्यमान है।

रामकथा की विभिन्न धाराएँ—

हिन्दू बौद्ध और जैन—इन तीनों ही धर्मावलम्बियोंमें यह कथा अपने-अपने ढंगसे लिखी गई है और तीनों ही धर्मावलम्बी रामको अपना आदर्श-महापुरुष मानते हैं। अभी तक अधि-कांश विद्वानोंका मत यह है कि रामकथाका सर्वप्रथम आधार वाल्मीकि रामायण है। उसके बाद यह कथा महाभारत, ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण आदि सभी पुराणोंमें थोड़े बहुत हेर-फेरके साथ संक्षेपमें लिपिबद्ध की गई है। इसके सिवाय अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, अद्भुतरामायण नामसे भी कई रामायण ग्रन्थ लिखे गये। इन्हींके आधारपर तिब्बती तथा खोतानी रामायण, हिन्देशियाकी प्राचीनतम रचना 'रामायण काकाविन', जावाका आधुनिक 'सेरत राम' तथा हिन्दचीन, श्याम, ब्रह्मदेश एवं सिंहल आदि देशोंकी राम कथाएँ भी लिखी गई हैं। वाल्मीकि रामायणकी रामकथा सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसलिए उसे अंकित करना अनुपयुक्त है। हाँ, अद्भुत रामायणमें सीताकी उत्पत्तिको जो कथा लिखी है वह निराली है अतः उसे यहाँ दे रहा हूँ। उसमें लिखा है कि दण्डकारण्यमें गृत्समद नामके एक ऋषि थे। उनकी स्त्रीने उनसे प्रार्थना की कि हमारे गर्भसे साक्षात् लक्ष्मी उत्पन्न हो। स्त्री की प्रार्थना सुनकर ऋषि प्रतिदिन एक घड़ेमें दूधको आमन्त्रित कर रखने लगे। इसी समय वहाँ एक दिन रावण आ पहुँचा, उसने ऋषिपर विजय प्राप्त करनेके लिए उनके शरीरपर अपने बाणोंकी नोंके चुभा-चुभाकर शरीरका बूँद-बूँद रक्त निकाला और उसी घड़ेमें भर दिया। रावण, उस घड़ेको साथ ही ले गया और ले जाकर उसने मन्दोदरीको यह जताकर दे दिया कि 'यह रक्त विषसे भी तीव्र है।' कुछ समय बाद मन्दोदरीको यह अनुभव हुआ कि हमारा पति मुझपर सच्चा प्रेम नहीं करता है इसलिए जीवनसे निराश हो उसने वह रक्त पी लिया। परन्तु उसके योगसे वह मरी तो नहीं किन्तु गर्भवती हो गई। पतिकी अनुपस्थितिमें गर्भधारण हो जानेसे मन्दोदरी

भयभीत हुई और वह उसे छिपानेका प्रयत्न करने लगी। निदान, एक दिन वह विमान द्वारा कुरुक्षेत्र जाकर उस गर्भको जमीनमें गाड़ आई। उसके बाद हल जोतते समय वह गर्भजात कन्या राजा जनकको मिली और उन्होंने उसका पालन-पोषण किया। यही सीता है। वस्तुतः अद्भुत रामायण की यह कथा अद्भुत ही है। सीता जन्मके विषयमें और भी विभिन्न प्रकारकी कथाएँ प्रचलित हैं उनका उल्लेख अलग प्रकरणमें करूँगा। बौद्धोंके यहाँ पालीभाषामय 'जातकट्ठवण्णना' के दशरथजातकमें रामकथाका संक्षेप इस प्रकार है—

दशरथ महाराज वाराणसीमें धर्मपूर्वक राज्य करते थे। इनकी ज्येष्ठा महिषीके तीन संतान थी—दो पुत्र [रामपंडित और लक्खण] और एक पुत्री [सीता देवी]। इस महिषीके मरनेके पश्चात् राजाने एक दूसरीको ज्येष्ठा महिषीके पद पर नियुक्त किया। उसके भी एक पुत्र [भरत कुमार] उत्पन्न हुआ। राजाने उसी अवसर पर उसको एक वर दिया। जब भरत की अवस्था सात वर्ष की थी, तब रानीने अपने पुत्रके लिए राज्य माँगा। राजाने स्पष्ट इनकार कर दिया। लेकिन जब रानी अन्य दिनोंमें भी पुनः पुनः इसके लिए अनुरोध करने लगी तब राजाने उसके षड्यन्त्रोंके भयसे अपने दोनों पुत्रोंको बुलाकर कहा—'यहाँ रहनेसे तुम्हारे अनिष्ट होनेकी संभावना है इसलिए किसी अन्य राज्य या वनमें जाकर रहो और मेरे मरनेके बाद लौटकर राज्यपर अधिकार प्राप्त करो।' उसी समय राजाने ज्योतिषियोंको बुलाकर उनसे अपनी मृत्युकी अवधि पूछी। बारह वर्षका उत्तर पाकर उन्होंने कहा—'हे पुत्रो! बारह वर्षके बाद आकर छत्रको उठाना।' पिताकी वन्दना कर दोनों भाई चलने वाले थे कि सीता देवी भी पितासे विदा लेकर उनके साथ हो लीं। तीनोंके साथ-साथ बहुतसे अन्य लोग भी चल दिये। उनको लौटाकर तीनों हिमालय पहुँच गये और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगे। नौ वर्षके बाद दशरथ पुत्रशोकके कारण मर जाते हैं। रानी भरतको राजा बनानेमें असफल होती है क्योंकि अमात्य और भरत भी इसका विरोध करने लगे। तब भरत चतुरङ्गिणी सेना लेकर रामको ले आनेके उद्देश्यसे वनको चले जाते हैं। उस समय राम अकेले ही हैं। भरत उनसे पिताके देहान्तका सारा वृत्तान्त कहकर रोने लगते हैं परन्तु राम पण्डित न तो शोक करते हैं और न रोते हैं।

संध्या समय लक्खण और सीता लौटते हैं। पिताका देहान्त सुनकर दोनों अत्यन्त शोक करते हैं इस पर राम पण्डित उनको धैर्य देनेके लिए अनित्यताका धर्मोपदेश सुनाते हैं। उसे सुनकर सब शोकरहित हो जाते हैं। बादमें भरतके बहुत अनुरोध करने पर भी रामपण्डित यह कहकर वनमें रहनेका निश्चय प्रकट करते हैं—'मेरे पिताने मुझे बारह वर्षकी अवधिके अन्तमें राज्य करनेका आदेश दिया है अतः अभी लौटकर मैं उनकी आज्ञाका पालन न कर सकूँगा। मैं तीन वर्ष बाद लौट आऊँगा।

जब भरत भी शासनाधिकार अस्वीकार करते हैं तब रामपण्डित अपनी तिणपादुका—तृणपादुका देकर कहते हैं' मेरे आने तक ये शासन करेंगी'। तृणपादुकाओंको लेकर भरत लक्ष्मण, सीता तथा अन्य लोगोंके साथ वाराणसी लौटते हैं। अमात्य इन पादुकाओंके सामने राजकार्य करते हैं। अन्याय होते ही वे पादुकाएँ एक दूसरे पर आघात करती थीं और ठीक निर्णय होने पर शान्त होती थीं।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर रामपण्डित लौटकर अपनी बहिन सीता से विवाह करते हैं। सोलह सहस्र वर्ष तक राज्य करनेके बाद वे स्वर्ग चले जाते हैं। जातकके अन्तमें महात्मा बुद्ध जातक का सामंजस्य इस प्रकार बैठाते हैं—उस समय महाराज शुद्धोदन महाराज दशरथ थे। महामाया [बुद्धकी माता] रामकी माता, यशोधरा [राहुलकी माता] सीता, आनन्द भरत थे और मैं राम पण्डित था।

इसी प्रकार 'अनामकं जातकम्' में भी किसी पात्रका उल्लेख न कर सिर्फ रामके जीवनवृत्तसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कही गई है। इस जातकमें विशेषता यह है कि रामको विमाताके कारण पिता द्वारा वनवास नहीं दिया जाता है। वे अपने मामाके आक्रमणकी तैयारियाँ सुनकर स्वयं राज्य छोड़ देते हैं।

इसी प्रकार चीनी तिपिटकके अन्तर्गत त्सा-पौ-त्संग-किंग नामक १२१ अवदानोंका संग्रह है। यह संग्रह ४७२ ई० में चीनी भाषामें अनूदित हुआ था। इसमें एक 'दशरथकथानम्' भी मिलता है। इसमें भी रामकथाका उल्लेख किया गया है, विशेषता यह है कि इसमें सीता या किसी अन्य राजकुमारीका उल्लेख नहीं हुआ है। दशरथकी चार रानियोंका वर्णन आता है उनमें प्रधान महिषीके राम, दूसरी रानीके रामन [रोमण-लक्ष्मण] तीसरी रानीके भरत और चौथीसे शत्रुघ्न उत्पन्न हुए थे। लेख विस्तारके भयसे 'अनामक जातकम्' और 'दशरथकथानम्' की कथावस्तु नहीं दे रहा हूँ।

इस तरह हम हिन्दू और बौद्ध साहित्यमें रामकथाके तीन रूप देखते हैं एक वाल्मीकि रामायणका, दूसरा अद्भुत रामायणका और तीसरा बौद्ध जातक का।

जैन रामकथाके दो रूप—

इसी तरह जैन साहित्यमें भी रामकथाकी दो धाराएँ उपलब्ध हैं—एक विमलसूरि के 'पउमचरिय' और रविषेणके 'पद्मचरित' की तथा दूसरी गुणभद्रके 'उत्तर पुराण' की।

श्वेताम्बर परम्परामें तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषोंके जीवन सम्बन्धी कुछ तथ्यांश स्थानांग सूत्र में मिलते हैं जिसे आधार मानकर श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र आदिने त्रिषष्टि महापुराण आदिकी रचनाएँ की हैं। दिगम्बर परम्परामें तीर्थंकर आदिके चरित्रोंका प्राचीन संकलन नामावलीके रूपमें हमें प्राकृत भाषाके तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थमें मिलता है। इसी ग्रन्थमें ९ नारायण, ९ प्रति नारायण, ९ बलभद्र तथा ११ रुद्रोंके जीवनके प्रमुख तथ्य भी संगृहीत हैं। इन्हींके आधार तथा अपनी गुरुप रम्परासे अनुश्रुत कथानकोंके बलपर विभिन्न पुराणकारोंने अनेक पुराणोंकी रचनाएँ की हैं। विमलसूरिने 'पउमचरिय' के उपोद्घातमें लिखा है कि 'मैं, जो नामावली में निबद्ध है तथा आचार्य परम्परासे आगत है ऐसा समस्त पद्मचरित आनुपूर्वीके अनुसार संक्षेपसे कहता हूँ'[2]। उनके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि उन्होंने नामावलीको मुख्याधार मान कर 'पउमचरिय' की रचना की है। तिलोयपण्णत्तिमें जो नामावलीके रूपमें तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषोंका चरित्र अंकित किया गया है—उसको उत्तरवर्ती पुराणकारोंने भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है। रविषेणने पद्मचरितके बीसवें पर्वमें उस भवको आत्मसात् किया है। इस ग्रन्थके अन्तमें जो ग्रन्थ निर्माणके विषयमें उल्लेख किया है उससे यह वीर निर्वाण सं० ५३० विक्रम संवत् ६० में रचा गया सिद्ध है, पर डा० हर्मन जैकोबी, डा० कीथ, डा० बुल्नर आदि पाश्चात्य विशेषज्ञ इसकी भाषाशैली तथा शब्दोंके प्रयोग पर दृष्टि डालते हुए इसे ईसाकी तीसरी चौथी शताब्दीका रचा हुआ मानते हैं। इसके उपरान्त आचार्य रविषेणने वीर निर्वाण संवत् १२०४ और विक्रम संवत् ७३४ में संस्कृत पद्मचरितकी रचना की है। इन दोनों ग्रन्थोंमें प्रतिपादित कथाकी धारा निम्नाङ्कित छह विभागोंमें विभक्त की जा सकती है—

---

१. तीसरी शताब्दी ई०में 'अनामकं जातकम्'का कांग-सेंग-हुई द्वारा चीनी भाषामें अनुवाद हुआ था। यद्यपि मूल भारतीय पाठ अप्राप्य है परन्तु चीनी अनुवाद 'लियेउत्-सी किंग' नामक पुस्तकमें सुरक्षित है। [देखो चीनी तिपिटकका तैशो संस्करण नं १५२]

२. णामावलिय णिबद्धं आयरिय परम्परागमं सव्वं।
बोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेण ॥८॥ —'पउमचरिय' उद्देश १

[१] विद्याधर काण्ड—राक्षस तथा वानर वंशका वर्णन [२] राम और सीताका जन्म तथा विवाह [३] वनभ्रमण [४] सीताहरण और खोज [५] युद्ध [६] उत्तर चरित। इनका संक्षिप्त कथासार इस प्रकार है—

[१] विद्याधरकाण्ड—

प्रथम ही राजा श्रेणिक भगवान् महावीरके प्रथम गणधर गौतम स्वामीसे रामकथाका यथार्थ रूप जाननेकी इच्छा प्रकट करता है इसके उत्तरमें गौतम स्वामी राम कथा सुनाते हैं। प्रारम्भमें विद्याधर लोक, राक्षस वंश, वानर वंश और रावणकी वंशावलीका वर्णन दिया गया है—

राक्षस वंशके राजा रत्नश्रवा तथा केकसीके चार सन्तान हैं—रावण, कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण। जब रत्नश्रवाने पहले पहल अपने पुत्र रावणको देखा था तब शिशु जो हार पहने हुए था उसमें उसे रावणके दश शिर दिखे इसीलिए उसका दशानन या दशग्रीव नाम रक्खा गया। अपने मौसेरे भाईका विभव देखकर रावण आदि भाई विद्याएँ सिद्ध करनेके लिए जाते हैं और रावण अनेक विद्याएँ प्राप्तकर लौटता है। इसके बाद रावण मन्दोदरी तथा ६००० अन्य कन्याओंके साथ विवाह करता है और दिग्विजयमें बहुतसे राजाओंको परास्त करता है। इस वर्णनमें इन्द्र, यम, वरुण आदि देवता न होकर साधारण विद्याधर राजा हैं। इस विजय यात्रामें रावण नलकूबरकी स्त्रीका प्रेमप्रस्ताव ठुकराकर अपने आपको बहुत ऊँचा उठाता है और केवलीका उपदेश सुनकर प्रतिज्ञा करता है कि मैं उस पर नारीका उपभोग नहीं करूँगा जो मुझे स्वयं नहीं चाहेगी।' रावण इन्द्रका अहंकार चूर करता है। बालिका अहंकार रावणके आक्रमणसे वैराग्य रूपमें परिणत हो जाता है जिससे बालि विरक्त हो कर दैगम्बरी दीक्षा धारण करता है और सुग्रीवको राजा बनाता है। हनूमान्‌की यथार्थ उत्पत्ति तथा उसकी बालचेष्टाएँ सबको चकित कर देती हैं। हनुमान् रावणकी ओरसे वरुणके विरुद्ध युद्ध करके चन्द्रनखाकी पुत्री अनंगकुसुमाके साथ विवाह करता है। खरदूषण रावणकी बहिन चन्द्रनखासे विवाह करता है। आगे चलकर दोनोंसे शम्बूक कुमारकी उत्पत्ति होती है।

[२] राम और सीताका जन्म तथा विवाह—

इस प्रकरणमें जनक तथा दशरथकी वंशावलीके बाद प्रारम्भमें दशरथकी तीन पत्नियोंका उल्लेख है १—कौशल्या, २—सुमित्रा और ३—सुप्रभा। एक दिन रावणको किसीसे विदित हुआ कि मेरी मृत्यु राजा जनक और दशरथकी सन्तानोंके द्वारा होगी। तब रावणने अपने भाई विभीषणको इन दोनोंकी हत्या करनेके लिए भेजा। पर विभीषणके आनेके पहले ही नारद इन दोनों राजाओंको सचेत कर जाते हैं जिससे ये अपने महलोंमें अपने शरीरके अनुरूप पुतले छोड़कर बाहर निकल जाते हैं। विभीषण पुतलोंको ही सचमुचका राजा समझ मारकर तथा शिरको लवण समुद्रमें फेंक हमेशाके लिए निश्चिन्त हो जाता है। परदेश-भ्रमणके समय राजा दशरथ केकयीके स्वयंवरमें पहुँचते हैं। केकयी दशरथके गलेमें माला डालती है। इसपर अन्य राजा बिगड़ उठते हैं। फलस्वरूप उनके साथ दशरथका युद्ध होता है। केकयी वीरांगना थी इसलिए स्वयं दशरथका रथ चलाती है। राजा दशरथ अपने पराक्रम और उसकी चातुरीसे युद्धमें विजयी होते हैं तथा अयोध्यामें वापिस आकर राज्य करने लगते हैं। केकयीकी चतुराई से रीझकर दशरथने उसे मनचाहा वर माँगनेको कहा और उसने वरको राज्यभंडारमें सुरक्षित करा दिया। केकयी समेत राजा दशरथकी चार रानियाँ हो जाती हैं, उनसे उनके चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्यासे राम, इन्हींका दूसरा नाम पद्म था, सुमित्रासे लक्ष्मण, केकयीसे भरत और सुप्रभासे शत्रुघ्न।

राजा जनककी विदेहा रानीके एक पुत्री सीता तथा एक पुत्र भामण्डल उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही प्रसूतिगृहसे एक पूर्वभवका बैरी भामण्डलका अपहरण कर लेता है। अपहरणके बाद भामण्डल एक विद्याधरको प्राप्त होता है। उसीके यहाँ उसका लालन-पालन होता है। नारदकी कृपासे सीताका चित्रपट देखकर भामण्डलका उसके प्रति अनुराग बढ़ता है। छलसे जनकको विद्याधर लोकमें बुलाया जाता है। भामण्डलके पिताके आग्रह करनेपर भी जनक उसके लिए पुत्री देना स्वीकृत नहीं करता है क्योंकि वह पहले राजा दशरथके पुत्र रामको देना स्वीकृत कर चुका था। निदान, विद्याधरने शर्त रखी कि यदि राम यह वज्रावर्त धनुष चढ़ा देंगे तो सीता उन्हें प्राप्त होगी अन्यथा हम अपने पुत्रके लिए बलात् छीन लेंगे। विवश होकर जनकने यह शर्त स्वीकृत कर ली। स्वयंवर हुआ और रामने उक्त धनुष चढ़ा दिया। सीताके साथ रामका विवाह हुआ। दशरथ विरक्त हो रामको राज्य देने लगे। तब केकयीने राज्य-भंडारमें सुरक्षित वर माँगकर भरतको राज्य देनेकी इच्छा की। यह सुनकर राम-लक्ष्मण सीताके साथ दक्षिण दिशाकी ओर चले गये। बीचमें कितने ही त्रस्त राजाओंका उद्धार किया। केकयी और भरत वनमें जाकर रामसे वापिस चलनेका अनुरोध करते हैं पर सब व्यर्थ होता है।

[३] वन-भ्रमण—

इसमें राम-लक्ष्मणके अनेक युद्धोंका वर्णन है। कहीं वज्रकर्णको सिंहोदरके चन्द्रसे बचाते हैं तो बालखिल्यको म्लेच्छ राजाके कारागृहसे उन्मुक्त करते हैं, कभी नर्तकीका रूप धरकर भरतके विरोधमें खड़े हुए राजा अतिवीर्यका मान-मर्दन करते हैं। इसी बीचमें लक्ष्मण जगह-जगह राजकन्याओंके साथ विवाह करते हैं। दण्डक वनमें वास करते हैं, मुनियोंको आहार दान देते हैं तथा जटायुसे सम्पर्क प्राप्त करते हैं।

[४] सीताहरण और खोज—

चन्द्रनखा तथा खरदूषणका पुत्र शम्बूक सूर्यहास खड्गकी सिद्धिके लिए बारह वर्ष तक बाँसके भिड़ेमें बैठकर तपस्या करता है। उसको साधना स्वरूप उसे खड्ग प्रकट हुआ। लक्ष्मण संयोग वश वहाँ पहुँचते हैं और शम्बूकके पहले ही उस खड्गको हाथमें लेकर उसकी परीक्षा करनेके लिए उसी वंशके भिड़े पर चलाते हैं जिसमें शम्बूक बैठा था, फलतः शम्बूक मर जाता है। जब चन्द्रनखा भोजन देनेके लिए उसके पास आई तब उसकी मृत्यु देखकर बहुत विलाप करती है। निदान वह राम लक्ष्मणको देख उनपर मोहित होकर प्रेम-प्रस्ताव रखती है पर जब उसे सफलता नहीं मिलती है तब वापिस लौट पतिके पास जाकर पुत्रके मरनेका समाचार सुनाती है। खरदूषणके साथ लक्ष्मणका युद्ध होता है, खरदूषणके आह्वानपर रावण भी सहायता के लिए आता है। बीचमें रावण सीताको देख मोहित होता है और उसे अपहरण करनेका उपाय सोचता है। वह विद्याबलसे जान लेता है कि लक्ष्मणने रामको सहायतार्थ बुलानेके लिए सिंहनादका संकेत बनाया है। अतः रावण प्रपञ्चपूर्ण सिंहनादसे रामको लक्ष्मणके पास भेज देता है और सीताको अकेली देख हर ले जाता है।

सीता हरणके बाद राम बहुत दुःखी होते हैं। सुग्रीवके साथ उनकी मित्रता होती है। एक साहसगति नामका विद्याधर सुग्रीवका मायामय रूप बनाकर सुग्रीवकी पत्नी तथा राज्यपर अधिकार करना चाहता है। राम उसे मारते हैं, जिससे सुग्रीव अपनी पत्नी तथा राज्य पाकर रामका भक्त हो जाता है। सुग्रीवकी आज्ञासे विद्याधर सीताकी खोज करते हैं। रत्नजटी विद्याधरने बताया कि सीताका हरण रावणने किया है। उस समय रावण बड़ा बलवान् था इसलिए सुग्रीव आदि विद्याधर उससे युद्ध करनेके लिए पीछे हटते हैं पर उन्हें अनन्तवीर्य

केवलीके वचन याद आते हैं कि जो कोई शिलाको उठायेगा उसीके हाथसे रावणका मरण होगा। लक्ष्मणने कोटिशिला उठाकर अपनी परीक्षा दी। सुग्रीव आदिको विश्वास हो गया। तब सबके सब वानरवंशी विद्याधर रावणके विरुद्ध रामके पक्षमें खड़े हो जाते हैं। हनुमान् रामका संवाद लेकर सीताके पास जाते हैं और सीताका सन्देश लाकर रामके पास आते हैं।

[५] युद्ध—

सुग्रीव आदि विद्याधरोंकी सहायतासे समस्त सेना आकाश मार्गसे लङ्का पहुँचती है। रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करता है। हनुमान् आदि उसकी विद्यासिद्धिमें बाधा डालनेका प्रयत्न करते हैं पर रावण अपनी दृढ़तासे विचलित नहीं होता है और विद्यासिद्ध करके ही उठता है। विभीषणसे रावणका संघर्ष होता है फलतः विभीषण रावणका साथ छोड़ रामसे आ मिलता है। राम विभीषणको लंकाका राजा बनानेका संकल्प करते हैं। दोनों ओरसे घमासान युद्ध होता है। लक्ष्मणको शक्ति लगती है पर विशल्याके स्नान-जलसे वह ठीक हो जाता है। विशल्याके साथ लक्ष्मणका अनुराग दृढ़ होता है। अन्तमें रावण लक्ष्मणपर चक्र चलाता है पर वह प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मणके हाथमें आ जाता है और लक्ष्मण उसी चक्रसे रावणका काम समाप्त करता है। लक्ष्मण प्रतिनारायणका वध कर नारायणके रूपमें प्रकट होता है।

[६] उत्तरचरित—

अयोध्यामें राम-लक्ष्मण लौटकर राज्य करने लगते हैं। भरत विरक्त हो दीक्षा ले लेता है। राम लोकापवादसे त्रस्त होकर गर्भवती सीताको वनमें छुड़वा देते हैं। सीता राजा वज्र-जंघके आश्रयमें रहती है वहीं उसके लवण और अंकुश नामक दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। बड़े होनेपर लवण और अंकुश राम-लक्ष्मणसे युद्ध करते हैं। अन्तमें नारदके निवेदनपर पिता पुत्रोंमें मिलाप होता है। हनुमान्, सुग्रीव, विभीषणादिके कहनेपर राम सीताको बुलाते हैं, सीता अग्निपरीक्षा देती है और उसके बाद आर्यिका हो जाती है तथा तपकर सोलहवें स्वर्गमें प्रतीन्द्र होती है। किसी दिन दो देव नारायण तथा बलभद्रका स्नेह परखनेके लिए आते हैं वे झूठ-मूठ ही लक्ष्मणसे कहते हैं कि रामका देहान्त हो गया। उनकी बात सुनते ही लक्ष्मणकी मृत्यु हो जाती है। भाईके स्नेहसे विवश हो राम छह मास तक लक्ष्मणका शव लिये फिरते हैं। अन्तमें कृतान्तवक्त्र सेनापतिका जीव जो देव हुआ था, उसकी चेष्टासे वस्तु स्थिति समझ लक्ष्मणकी अन्त्येष्टि करते हैं और विरक्त हो तपश्चर्या कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

इस धारा-कथानकका जैन समाजमें भारी प्रचार है। हेमचन्द्राचार्य कृत जैनरामायण, जो त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरितका एक अंश है, इसी धाराके अनुरूप विकसित है। जिनदास कृत रामपुराण, पद्मदेव विजय गणिकृत रामचरित तथा कथाकोषोंमें आगत रामकथाएँ इसी धारा में प्रवाहित हुई हैं। स्वयंभू देवकृत अपभ्रंश भाषाका पउमचरिउ तथा नागचन्द्रकृत कर्नाटक पद्मरामायण इसीके अनुकूल हैं।

दूसरी धारा गुणभद्राचार्यकृत उत्तर पुराण की है गुणभद्र जिनसेनाचार्यके शिष्य थे। जिनसेनके 'कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्' इस उल्लेखसे यह स्पष्ट किया है कि उन्होंने आदिपुराणकी रचना कवि परमेश्वरके गद्यात्मक वागर्थ संग्रह पुराणके आधार पर की है। जिनसेन आदिपुराणकी रचना पूर्ण करनेके पूर्व ही दिवंगत हो गये, अतः अवशिष्ट आदिपुराण तथा उत्तरपुराणकी रचना उनके प्रबुद्ध शिष्य गुणभद्रने की है। बहुत कुछ संभव है कि गुणभद्रने भी उत्तरपुराणकी रचना करते समय कवि परमेश्वरके 'वागर्थसंग्रहपुराण' को ही

आधारभूत माना हो पर आजकल वह रचना अप्राप्य है। इसलिए रामकथाकी इस द्वितीत धारा के उपोद्घातकके रूपमें सर्वप्रथम गुणभद्रका ही नाम आता है। उत्तरपुराणके ६७ वें तथा ६८ वें पर्वमें ११६७ श्लोकोंमें आठवें बलभद्र तथा नारायणके रूपमें राम तथा लक्ष्मणका वर्णन किया गया है। यह वर्णन 'पउमचरिउ' और 'पद्मचरित'के वर्णनसे भिन्न है। इसमें खास बात यह है कि सीताको जनककी पुत्री न मान कर रावण-मन्दोदरीकी पुत्री माना है। सीता-जन्मकी चर्चा आगे चलकर पृथक् स्तम्भमें करेंगे। उससे स्पष्ट होगा कि 'सीता रावणकी पुत्री थी' यह न केवल गुणभद्रका मत था किन्तु तिब्बती रामायण तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी वैसा ही उल्लेख है। अतः संभवतः रामकथाका यह दूसरा रूप गुणभद्रके समयमें पर्याप्त प्रचार पा चुका होगा और उन्हें अपनी गुरु-परम्परासे यही मत प्राप्त हुआ होगा। इसलिए आचार्य परम्पराके अनुसार उन्होंने इसीका उल्लेख किया है। पद्मचरितकी प्रथमधाराको पढ़नेके बाद यद्यपि इस धाराको पढ़नेमें कुछ अटपटा-सा लगता है पर यह धारा सर्वथा निर्मूल नहीं मालूम होती। अपभ्रंश भाषाके महापुराणमें महाकवि पुष्पदन्तने, कर्णाटक भाषाके त्रिषष्टि शलाका पुरुष पुराणमें चामुण्डराय ने और पुण्यास्रव कथासारमें नागराजने गुणभद्रकी धारामें ही अवगाहनकर अपने काव्य लिखे हैं।

उत्तरपुराणका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है—

वाराणसीके राजा दशरथके चार पुत्र उत्पन्न होते हैं—राम सुबालाके गर्भसे, लक्ष्मण कैकेयी[1] के गर्भसे और बादमें जब दशरथ अपनी राजधानी साकेतमें स्थापित करते हैं तब भरत और शत्रुघ्न भी किसी रानीके गर्भसे उत्पन्न होते हैं। यहाँ भरत और शत्रुघ्नकी माताका नाम नहीं दिया गया है। दशानन विनमि विद्याधरवंशके पुलस्त्यका पुत्र है। किसी दिन वह अमितवेगकी पुत्री मणिमतिको तपस्या करते देखता है और उस पर आसवत होकर उसकी साधनामें विघ्न डालनेका प्रयत्न करता है। मणिमति निदान करती है कि मैं 'उसकी पुत्री होकर उसे मारूँगी'। मृत्युके बाद वह रावणकी रानी मन्दोदरीके गर्भमें आती है। उसके जन्मके बाद ज्योतिषी रावणसे कहते हैं कि यह पुत्री आपका नाश करेगी। अतः रावणने भयभीत होकर मारीचको आज्ञा दी कि वह उसे कहीं छोड़ दे। कन्याको एक मंजूषामें रखकर मारीच उसे मिथिला देशमें गाड़ आता है। हलकी नोकसे उलझ जानेके कारण वह मंजूषा दिखायी पड़ती है और लोगोंके द्वारा जनकके पास पहुँचाई जाती है। जनक मंजूषाको खोलकर कन्याको देखते हैं और उसका सीता नाम रखकर उसे पुत्रीकी तरह पालते हैं। बहुत समय बाद जनक अपने यज्ञकी रक्षाके लिए राम और लक्ष्मणको बुलाते हैं। यज्ञके समाप्त होने पर राम और सीताका विवाह होता है, इसके बाद राम सात अन्य कुमारियोंसे विवाह करते हैं और लक्ष्मण पृथ्वी देवी आदि १६ राजकन्याओंसे। दोनों दशरथकी आज्ञा लेकर वाराणसीमें रहने लगते हैं।

नारद से सीताके सौन्दर्यका वर्णन सुनकर रावण उसे हर लानेका संकल्प करता है। सीताका मन जांचनेके लिए शूर्पणखा भेजी जाती है लेकिन सीताका सतीत्व देख वह रावणसे यह कहकर लौटती है कि सीताका मन चलायमान करना असंभव है। जब राम और सीता वाराणसीके निकट चित्रकूट वाटिकामें विहार करते हैं तब मारीच स्वर्णमृगका रूप धारण कर

१. रविषेणने यद्यपि लक्ष्मणको लिखा है सुमित्राका पुत्र, परन्तु बीच-बीचमें जब कभी उन्हें केकयी सूनुके रूपमें उल्लिखित किया है, उदाहरणके लिए एक श्लोक यह है—

इत्युक्तो रावणो बाणैः सुवाणैः कैकयीसुतम्। प्रावृषेण्यघनाकारो गिरिकल्पं निरुद्धवान् ॥९४॥ पर्व ७४

कैकयीनन्दनः कृतः माहेन्द्रमस्त्रमुत्सृष्टं चकार गगनासनम् ॥१००॥ पर्व ४

ग्रन्थकी छानबीन करने पर पता चला है कि रविषेणने भरतकी माताका नाम 'केकया' लिखा है और लक्ष्मणकी माताको 'सुमित्रा' और 'केकयी' इन दो नामोंसे उल्लिखित किया है।

रामको दूर ले जाता है। इतनेमें रावण रामका रूप धारण करके सीतासे कहता है कि मैंने स्वर्णभृत महल भेजा है और उनको पालकी पर चढ़नेकी आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तवमें पुष्पक विमान है, जो सीताको लंका ले जाता है। रावण सीताका स्पर्श नहीं करता है क्योंकि पति-व्रताके स्पर्शसे उसकी आकाशगामिनी विद्या नष्ट हो जाती।

दशरथको स्वप्नद्वारा मालूम हुआ कि रावणने सीताका हरण किया है और वह रामके पास यह समाचार भेजते हैं। इतनेमें सुग्रीव और हनूमान् वालीके विरुद्ध सहायता मांगनेके लिए पहुँचते हैं। हनुमान लंका जाते हैं और सीताको सान्त्वना देकर लौटते हैं [लंकादहनका कोई उल्लेख नहीं मिलता] इसके बाद लक्ष्मण द्वारा बालिका वध होता है और सुग्रीव अपने राज्य पर अधिकार प्राप्त करता है। अब वानरोंकी सेना रामकी सेनाके साथ लंकाकी ओर प्रस्थान करती है। युद्धके विस्तृत वर्णनके अन्तमें लक्ष्मण चक्रसे रावणका शिर काटते हैं। इसके बाद लक्ष्मण दिग्विजय करके और अर्धचक्रवर्ती [नारायण] बन कर अयोध्या लौटते हैं। लक्ष्मणकी सोलह हजार और रामकी आठ हजार रानियाँ हैं। सीताके आठ पुत्र होते हैं [सीता त्यागका उल्लेख नहीं मिलता]। लक्ष्मण एक असाध्य रोगसे मरकर रावण वधके कारण नरक जाते हैं। राम, लक्ष्मणके पुत्र पृथ्वीसुन्दरको राज्य पद पर और सीताके पुत्र अजितंजयको युवराज पदपर अभिषिक्त करके दीक्षा लेते हैं और मुक्ति पाते हैं। सीता भी अनेक रानियोंके साथ दीक्षा लेती है और अच्युत स्वर्गमें जाती हैं।

उत्तरपुराणकी यह रामकथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित नहीं है। आचार्य हेमचन्द्रके त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितमें जो रामकथा है, वह पूर्णतः 'पउमचरिय' या पद्मचरितकी कथाके अनुरूप है। ऐसा जान पड़ता है कि हेमचन्द्राचार्यके सामने 'पउमचरिय' और 'पद्मचरित' दोनों ही ग्रन्थ विद्यमान थे। गुणभद्राचार्य हेमचन्द्राचार्यसे पूर्ववर्ती हैं अतः इनके समक्ष भी 'पउमचरिय' और 'पद्मचरित' रहा अवश्य होगा पर उन्होंने इसे अपनी कथामें क्यों नहीं अपनाया यह एक रहस्यपूर्ण बात मालूम होती है।

'पउमचरिउ' और 'पद्मचरित' की रामकथा अधिकांश वाल्मीकि रामायणके आधारपर चलती है क्योंकि दोनों ही ग्रन्थोंमें राजा श्रेणिकने गौतमस्वामीसे रामकी यथार्थ कथा कहनेकी जो प्रेरणा की है उससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि उस समय लोकमें एक रामकथा प्रचलित थी जिसमें रावण कुम्भकर्ण आदिको मांसभक्षी राक्षस, तथा सुग्रीव हनूमान् आदिको वानर बताया गया था। इसके सिवाय इतिहासवेत्ताओंने वाल्मीकि रामायणका समय भी ईसवीय पूर्व बतलाया है, तब उसका 'पउमचरिउ' और 'पद्मचरित' के कर्ताके सामने रहना शक्य ही है। उत्तरपुराण-की धारामें सीताजन्मका जो वर्णन मिलता है वह विष्णुपुराणके ढंगका है। दशरथ बनारसके राजा थे यह बात बौद्धजातकसे मिलती-जुलती है। उत्तरपुराणके समान बौद्धजातकमें सीता त्याग तथा लवकुश जन्म आदि नहीं हैं। कहनेका सारांश यह है कि भारतवर्षमें रामकथाकी जो तीन धाराएँ प्रचलित हैं वे जैन सम्प्रदायमें भी प्राचीनकालसे चली आ रही हैं।

सीताजन्मके विविध कथन—

इन धाराओंमें सीता जन्मको लेकर पर्याप्त विभिन्नता आई है, इसलिए उन विभिन्नताओंका इस स्तम्भमें सङ्कलन कर लेना उपयुक्त प्रतीत होता है—

सीता जन्मके विषयमें निम्नाङ्कित मान्यताएँ उपलब्ध हैं—

[१] सीता जनककी पुत्री है—

इसका उल्लेख 'महाभारत' तथा 'हरिवंश' की रामकथा, 'पउमचरिउ' तथा 'पद्मचरित' और आदिरामायण में मिलता है।

[२] सीता पृथिवीकी पुत्री है—

इसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण तथा उसके आधारसे लिखी गई अन्य रामकथाओंमें पाया जाता है। वाल्मीकि रामायणके उत्तरीय पाठमें जनक तथा मेनकाकी मानसी पुत्री भी बतलाया है पर पृथिवीसे मानवीकी उत्पत्ति एकदम असंगत प्रतीत होती है।

[३] सीता रावणकी पुत्री है—

इसका उल्लेख उत्तरपुराण, विष्णुपुराण, महाभागवतपुराण, काश्मीरीरामायण, तिब्बती तथा खोतानीरामायणमें मिलता है।

[४] सीता कमलसे उत्पन्न हुई है—

इसका उल्लेख दशावतार चरितमें पाया जाता है।

[५] सीता ऋषिके रक्तका सम्बन्ध पानेवाली मन्दोदरी के गर्भसे उत्पन्न हुई—

इसका उल्लेख अद्भुतरामायणमें है, इसकी विस्तृत कथा पहले दी जा चुकी है।

[६] सीता अग्निसे उत्पन्न हुई है—

यह आनन्दरामायणमें लिखा है।

[७] सीता दशरथकी पुत्री है—

यह दशरथ जातक, जावाके रामकेलिंग, मलयके सेरीराम, तथा हिकायत महाराज रावण में लिखा है।

इनमें दशरथजातककी कथा पहले दी जा चुकी है। अन्य कथाएँ लेख विस्तारके भयसे नहीं दे रहा हूँ।

पद्मचरित और आचार्य रविषेण—

संस्कृत पद्मचरित, दिगम्बर कथा साहित्यमें बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। ग्रन्थके कथानायक आठवें बलभद्र पद्म (राम) तथा आठवें नारायण लक्ष्मण हैं। दोनों ही व्यक्ति जन-जनके श्रद्धा-भाजन हैं, इसलिए उनके विषयमें कविने जो भी लिखा है वह कविकी अन्तर्वाणीके रूपमें उसकी मानस-हिमकन्दरासे निःसृत मानो मन्दाकिनी ही है। प्रसङ्ग पाकर आचार्य रविषेणने विद्या-धरलोक, अञ्जना-पवनञ्जय, हनुमान् तथा सुकोशल आदिका जो चरित्र-चित्रण किया है, उससे ग्रन्थकी रोचकता इतनी अधिक बढ़ गई है कि ग्रन्थको एक बार पढ़ना शुरू कर बीचमें छोड़नेकी इच्छा ही नहीं होती।

इसके रचयिता आचार्य रविषेण हैं, इन्होंने अपने किसी संघ या गणगच्छका कोई उल्लेख नहीं किया है और न स्थानादिकी ही चर्चा की है परन्तु सेनान्त नामसे अनुमान होता है कि संभवतः सेन संघके हों। इनकी गुरुपरम्पराके पूरे नाम इन्द्रसेन, दिवाकरसेन, अर्हत्सेन और लक्ष्मणसेन होंगे, ऐसा जान पड़ता है। अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख इन्होंने इसी पद्मचरितके १२३ वें पर्वके १६७ वें श्लोकके उत्तरार्धमें इस प्रकार किया है—

> 'आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि—
> स्तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम्' ॥

अर्थात् इन्द्रगुरुके दिवाकर यति, दिवाकर यतिके अर्हन्मुनि, अर्हन्मुनिके लक्ष्मणसेन और लक्ष्मणसेनके रविषेण शिष्य थे।

ये सब किस प्रान्तके थे ? इनके माता-पिता आदि कौन थे ? तथा इनका गार्हस्थ्य जीवन कैसा रहा ? इन सबका पता नहीं है। पद्मचरितकी रचना कब पूर्ण हुई ? इसका उल्लेख इन्होंने १२३ वें पर्वके १८१ वें श्लोकमें इस प्रकार किया है।

'द्विशताभ्यधिके समा सहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम्' ॥१८१॥

अर्थात् जिनसूर्य—भगवान् महावीरके निर्वाण होनेके १२०३ वर्ष ६ माह बीत जानेपर पद्ममुनिका यह चरित निबद्ध किया गया। इस प्रकार इसकी रचना ७३४ विक्रम संवत्में पूर्ण हुई। इनके उत्तरवर्ती उद्योतनसूरिने अपनी कुवलयमालामें—जो वि० सं० ८३५ की रचना है वरांगचरितके कर्ता जटिलमुनि तथा पद्मचरितके कर्ता रविषेणका स्मरण किया है।[1] इसी प्रकार हरिवंशपुराणके कर्ता जिनसेनने भी वि० सं० ८४० की रचना—हरिवंश पुराणमें रविषेणका अच्छी तरह स्मरण किया है[2]।

पद्मचरितका आधार—

पद्मचरित के आधारकी चर्चा करते हुए स्वयं रविषेणने प्रथम पर्वके ४१-४२ वें श्लोकमें इस प्रकार चर्चा की है—

वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्तः　सोऽयमर्थो　गणेश्वरम्।
इन्द्रभूतिं　परिप्राप्तः　सुधर्मं　धारिणीभवम् ॥४१॥
प्रभवं　क्रमतः　कीर्तिं　ततोऽनुत्तरवाग्मिनम्।
लिखितं　तस्य　संप्राप्य　रवेर्यत्नोऽयमुद्गतः ॥४२॥

अर्थात् श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्रके द्वारा कहा हुआ यह अर्थ इन्द्रभूति नामक गौतमगणधरको प्राप्त हुआ, फिर धारणीके पुत्र सुधर्माचार्यको प्राप्त हुआ, फिर प्रभवको प्राप्त हुआ फिर अनुत्तर-वाग्मी अर्थात् श्रेष्ठ वक्ता कीर्तिधर आचार्यको प्राप्त हुआ। तदनन्तर उनका लिखा प्राप्तकर यह रविषेणाचार्यका प्रयत्न प्रकट हुआ है।[3]

---

१. जेहिं कए रमणिज्जे वरंग पउमाणचरिय वित्थारे।
कहव ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडियरविसेणे ॥४१॥

२. कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।
मूर्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः प्रिया ॥३४॥

३. प्रथम पर्वके ४१-४२ वें श्लोकका अनुवाद करते समय १२३ वें पर्वके १६७ वें श्लोकमें आगत उत्तरवाग्मीपदकी सार्थकताके लिये (ततोऽनूत्तरवाग्मिनम्) 'ततः अनु उत्तरवाग्मिनम्' इस पाठकी कल्पना की गई थी, पर सब प्रतियोंमें 'ततोऽनुत्तरवाग्मिनम्' यही पाठ है इसलिए 'अनुत्तरवाग्मिनम्'को कीर्तिका विशेषण मान लेना उचित जान पड़ता है। 'अनुत्तरवाग्मिनम्'का अर्थ श्रेष्ठ वक्ता होता है। १२३ पर्वके १६७ वें श्लोकमें उत्तरवाग्मी इस विशेषणसे कीर्तिधरका उल्लेख समझना चाहिए क्योंकि वहाँ कीर्तिका अलगसे उल्लेख नहीं है। स्वयंभू कविने भी अपने अपभ्रंश 'पउमचरिउ'में 'कित्तिहरेण अणुत्तरवाए' इस उल्लेखसे 'अणुत्तरवाए' को कीत्तिधरका विशेषण ही माना है। इस संशोधनके अनुसार पाठक प्रथम पर्वके ४१-४२ वें श्लोकका अनुवाद ठीक कर लें। माननीय डा० ए० एन० उपाध्यायने इस ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया अतः उनका आभारी हूँ।

ग्रन्थान्तमें १२३ पर्वके १६६ वें श्लोकमें भी इन्होंने इसी प्रकार उल्लेख किया है—

"निर्दिष्टं सकलैर्नतेन भुवनैः श्रीवर्द्धमानेन यत्
तत्त्वं वासवभूतिना निगदितं जम्बोः प्रशिष्यस्य च।
शिष्येणोत्तरवाग्मिना प्रकटितं पद्मस्य वृत्तं मुनेः
श्रेयः साधुसमाधिवृद्धिकरणं सर्वोत्तमं मङ्गलम्" ॥१६६॥

अर्थात् समस्त संसारके द्वारा नमस्कृत श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्रने पद्ममुनिका जो चरित कहा था वही इन्द्रभूति—गौतम गणधरने सुधर्मा और जम्बू स्वामीके लिए कहा। वही आगे चलकर उनके शिष्य उत्तरवाग्मी श्रेष्ठवक्ता श्रीकीर्तिधर मुनिके द्वारा प्रकट हुआ। पद्ममुनिका यह चरित कल्याण तथा साधु समाधिकी वृद्धिका कारण है और सर्वोत्तम मङ्गल स्वरूप है। यहाँ आचार्य कीर्तिधरका उनके उत्तरवाग्मी विशेषणसे उल्लेख समझना चाहिए।

स्वयंभू कविने अपभ्रंश भाषाके 'पउम चरिउ' की रचना रविषेणके पद्मचरितके आधारपर की है और पद्मचरितमें रविषेणने ग्रन्थ परम्पराका आधार बतलाते हुए जो प्रथम पर्वमें ४१-४२ श्लोक लिखे हैं उन्हें ही सामने रखकर स्वयंभू कविने भी निम्नाङ्कित पद्य लिखे हैं।

वद्धमाण-मुह-कुहरविणिग्गय। रामकहाणए एह कमागय।
....
पच्छइ इंदभूइ आयरिएं। पुणु धम्मेण गुणालंकरिएं।
पुणु पहवे संसाराराएं। कित्तिहरेण अणुत्तरवाएं।
पुणु रविषेणायरियपसाएं। बुद्धिए अवगाहिय कइराएं।

अर्थात् यह रामकथारूपी सरिता वर्द्धमान जिनेन्द्रके मुखरूपी कन्दरासे अवतीर्ण हुई है...तदनन्तर इन्द्रभूति आचार्यको, फिर गुणालंकृत सुधर्माचार्यको, फिर प्रभवको, फिर अनुत्तर-वाग्मी श्रेष्ठवक्ता कीर्तिधरको प्राप्त हुई है। तदनन्तर रविषेणाचार्यके प्रसादसे उसी रामकथा-सरितामें अवगाहन कर......

इस प्रकार स्वयंभू द्वारा समर्थित रविषेणके उल्लेखसे जान पड़ता है कि उनके पद्मचरित का आधार आचार्य कीर्तिधर मुनिके द्वारा संदृब्ध रामकथा है। पर यह कीर्तिधर कौन हैं? इनका आचार्य परम्परामें उल्लेख देखनेमें नहीं आया। तथा इनकी रामकथा कहाँ गई? इसका कुछ पता नहीं चलता। हो सकता है कि कवि परमेश्वरके 'वागर्थसंग्रहपुराण' के समान लुप्त हो गई हो।

पउमचरिय और पद्मचरित—

उधर जब रविषेणके द्वारा प्रतिपादित अपने पद्मचरितका आधार कीर्तिधर मुनिके द्वारा प्रतिपादित रामकथाको जानते हैं और इधर जब विमलसूरिके उस प्राकृत 'पउमचरिय' को जिसकी कथावस्तु प्रतिपादन शैली, उद्देश अथवा पर्वोंके समानान्त नाम एवं कितने ही स्थलोंपर पद्योंका अर्थ साम्य भी देखते हैं तब कुछ द्विविधा-सी उत्पन्न होती है। पउमचरियमें विमलसूरिने ग्रन्थ निर्माणका जो समय दिया है उससे वह विक्रम संवत् ६० का ग्रन्थ सूचित होता है और रविषेणका पद्मचरित उससे ६७४ वर्ष पीछेका प्रकट होता है। यदि रविषेण पउमचरियको सामने रखकर अपने पद्मचरितमें उसका पल्लवन करते हैं तो फिर एक जैनाचार्यको इस विषयमें उनका कृतज्ञ होकर उनका नामोल्लेख अवश्य करना चाहिए था पर नामोल्लेख उन्होंने दूसरेका ही किया है...यह एक विचारणीय बात है।

'पउमचरिय' का निर्माण समय वही है जिसका कि विमलसूरिने उल्लेख किया है' इसपर विश्वास करनेको जी नहीं चाहता। अनेकान्त वर्ष ५ किरण १०-११ में श्री पं० परमा-

नन्दजी शास्त्री सरसावाका 'पउमचरियका अन्तः परीक्षण' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण लेख छपा था। शास्त्रीजीकी आज्ञा लेकर उन्हींके शब्दोंमें मैं यहाँ वह लेख दे रहा हूँ जिससे पाठकोंको विचारार्थ उचित सामग्री सुलभ हो जायगी।

पउमचरिय का अन्तःपरीक्षण—

'पउमचरिय' प्राकृत भाषाका एक चरित ग्रन्थ है, जिनमें रामचन्द्रकी कथाका अच्छा चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थके कर्ता विमलसूरि हैं। ग्रन्थकर्ताने प्रस्तुत ग्रन्थमें अपना कोई विशेष परिचय न देकर सिर्फ यही सूचित किया है कि—'स्वसमय और परसमयके सद्भावको ग्रहण करनेवाले 'राहू' आचार्यके शिष्य विजय थे, उन विजयके शिष्य नाइल-कुल-नन्दिकर मुझ 'विमल' द्वारा यह ग्रन्थ रचा गया है[1]। यद्यपि रामकी कथाके सम्बन्धमें विभिन्न कवियों द्वारा अनेक कथाग्रन्थ रचे गये हैं परन्तु उनमें जो उपलब्ध हैं वे सब पउमचरियकी रचनासे अर्वाचीन कहे जाते हैं। क्योंकि इस ग्रन्थमें ग्रन्थका रचनाकाल वीर निर्वाणसे ५३० वर्ष बाद अर्थात् विक्रम संवत् ६० सूचित किया है। ग्रन्थकारने इस ग्रन्थमें उसी रामकथा को प्राकृतभाषामें सूत्रों सहित गाथाबद्ध किया बतलाया है जिसे प्राचीनकालमें भगवान् महावीरने कहा था, जो बादको उनके प्रमुख गणधर इन्द्रभूति द्वारा धर्माशयसे शिष्योंके प्रति कही गई और जो साधु-परम्परासे सकल लोकमें उस समय तक स्थित रही।[2]

रचना काल

विद्वानोंमें इस ग्रन्थके रचनाकालके सम्बन्धमें भारी मतभेद पाया जाता है। डा० विण्टरनीज आदि कुछ विद्वान् तो ग्रन्थमें निर्दिष्ट समयको ठीक मानते हैं। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी वगैरह इसकी रचना शैली भाषा साहित्यादि परसे इसका रचनाकाल ईसवीय तीसरी चौथी शताब्दी मानते हैं[3]। कुछ विद्वान् डा० कीथ आदि इसमें 'दीनार' और ज्यौतिषशास्त्र सम्बन्धी कुछ ग्रीक भाषाके शब्दोंके पाये जानेके कारण इसे ईसवीयसे ३०० वर्ष या उसके भी बादका बतलाते हैं।[4] और छन्दशास्त्रके विशेषज्ञ श्री दीवान बहादुर केशवलाल ध्रुव उक्त रचना कालपर भारी सन्देह व्यक्त करते हुए इसे बहुत

---

१. राहू नामायरिओ ससमय परसमय गहिय सब्भावो।
विजयो य तस्स सीसो नाइलकुल वंस नन्दियरो ॥११७॥
सीसेण तस्स रइयं राहवचरियं तु सूरि विमलेणं।
—पउमचरिय, उद्देस १०३

२. पंचेव य वाससया दुसमाए तीस वरिस संजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥१०३॥
एयं वीरजिणेण रामचरियं सिद्धं महत्थं पुरा,
पच्छाखण्डलभूइणा उ कहियं सीसाण धम्मासयं।
भूओ साहुपरंपराए सयलं लोए ठियं पायडं
एत्ताहे विमलेण सुत्तसहियं गाहानिबद्धं कयं ॥१०२॥
—पउमचरिय, उद्देस १०३

३. देखो, 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' भाग ७ पृष्ठ ४३७ और 'मोडर्न रिव्यू' दिसम्बर सन् १९१४।

४. देखो, कीथका संस्कृत साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ३४, ५९।

बादकी रचना बतलाते हैं। आपने अपने लेखमें प्रकट किया है कि—इस ग्रन्थके प्रत्येक उद्देशके अन्तमें गाहिणी, शरभ, आदि छन्दोंका, गीतिमें यमक और सर्गान्तमें विमल शब्दका प्रयोग भी इसकी अर्वाचीनताका ही द्योतक है।[1] इनके सिवाय, और भी कितने ही विद्वान् इसके रचनाकाल पर संदिग्ध हैं—ग्रन्थमें निर्दिष्ट समयको ठीक माननेमें हिचकिचाते हैं, और इस तरह इसका रचनाकाल अबतक सन्देहकी कोटिमें ही पड़ा हुआ है। ऐसी स्थितिमें ग्रन्थोल्लिखित समयको सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ग्रन्थके समय-सम्बन्धमें विद्वानोंके उपलब्ध मतोंका परिशीलन करते हुए, मैंने ग्रन्थके अन्तः साहित्यका जो परीक्षण किया है उस परसे मैं इस नतीजेको पहुँचा हूँ कि ग्रन्थका उक्त रचनाकाल ठीक नहीं है—वह जरूर किसी भूल अथवा लेखक-उपलेखककी गल्तीका परिणाम है। और यह भी हो सकता है कि शककालकी तरह वीर निर्वाणके वर्षोंकी संख्याका तत्कालीन गलत प्रचार ही इसका कारण हो, परन्तु कुछ भी हो, ग्रन्थके अन्तःपरीक्षणसे मुझे उक्त समयके ठीक न होनेके जो दूसरे विशेष कारण मालूम हुए हैं वे निम्न तीन भागोंमें विभक्त हैं।—

(१) दिगम्बर-श्वेताम्बरके सम्प्रदाय भेदसे पहले पउमचरियका न रचा जाना।

(२) ग्रन्थमें दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्दकी मान्यताका अपनाया जाना।

(३) उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रोंका बहुत कुछ अनुसरण किया जाना।

अब मैं इन तीनों प्रकारके कारणोंका क्रमशः स्पष्टीकरण करके बतलाता हूँ।

(१) जैनोंमें दिगम्बर-श्वेताम्बरका सम्प्रदाय भेद दिगम्बरोंकी मान्यतानुसार विक्रम संवत् १३६ में और श्वेताम्बरोंकी मान्यतानुसार संवत् १३९ में हुआ है। इस भेदसे पहलेके साहित्यमें जैनसाधुओंके लिए 'दिगम्बर'—'श्वेताम्बर' शब्दोंका स्पष्ट प्रयोग कहीं भी नहीं देखा जाता। ऐसी स्थिति होते हुए यदि इस ग्रन्थमें किसी जैनसाधुके लिए श्वेताम्बर (सियंबर) शब्दका स्पष्ट प्रयोग पाया जाता है तो वह इस बातको सूचित करता है कि यह ग्रन्थ वि० संवत् १३६ से पहलेका बना हुआ नहीं है जिस वक्त तक दिगम्बर श्वेताम्बरके सम्प्रदाय भेदकी कल्पना रूढ नहीं हुई थी। ग्रन्थके २२ वें उद्देशमें एक स्थलपर ऐसा प्रयोग स्पष्ट है। यथा—

> पेच्छइ परिभमंतो दाहिणदेसे सियंबरं पणओ।
> तस्स सगासे धम्मं सुणिऊण तओ समाढत्तो ॥७८॥
> अह भणइ मुणिवरिंदो णिसुण सुधम्मं जिणेहि परिकहियं।
> जेट्ठो य समणधम्मो सावयधम्मो य अणुजेट्ठो ॥७९॥

इसमें राजच्युत सौदास राजाको दक्षिण देशमें भ्रमण करते हुए जिस जैन मुनिका दर्शन हुआ था और जिसके पाससे उसने श्रावकके व्रत लिये थे उसे श्वेताम्बर मुनि लिखा गया है। अतः यह ग्रन्थ वि० संवत् १३६ से पहलेकी रचना नहीं हो सकता।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्वेताम्बरीय विद्वान् मुनि कल्याणविजयजी तो अपनी 'श्रमण भगवान् महावीर' पुस्तकमें यहाँ तक लिखते हैं कि—विक्रमकी सातवीं शताब्दीसे पहले दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों स्थविर परम्पराओंमें एक दूसरेको दिगम्बर श्वेताम्बर कहनेका प्रारम्भ नहीं हुआ था। जैसा कि उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"इसी समय (विक्रमकी सातवीं शताब्दीके प्रारम्भसे दशवींके अन्ततक) से एक दूसरे को दिगम्बर-श्वेताम्बर कहनेका भी प्रारम्भ हुआ"॥ पृष्ठ ३०७

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत।

मुनि कल्याणविजयजीका यह अनुसंधान यदि ठीक है तो पउमचरियका रचनाकाल विक्रम संवत् १३६ से ही नहीं किन्तु विक्रमकी सातवीं शताब्दीसे भी पहलेका नहीं हो सकता। इस ग्रन्थका सबसे प्राचीन उल्लेख भी अभी तक 'कुवलयमाला' नामके ग्रन्थमें ही उपलब्ध हुआ है जो शक संवत् ७०० अर्थात् विक्रम संवत् ८३५का बना हुआ है।

(२) श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर सम्प्रदायके प्रधान आचार्य हैं। आपने चारित्तपाहुडमें सागार धर्मका वर्णन करते हुए सल्लेखनाको चतुर्थ शिक्षाव्रत बतलाया है। आपसे पूर्वके और किसी भी ग्रन्थमें इस मान्यताका उल्लेख नहीं है और इसीलिए यह खास आपकी मान्यता समझी जाती है। आपको इस मान्यताको 'पउमचरिय' के कर्ता विमलसूरिने अपनाया है। श्वेताम्बरीय आगम सूत्रोंमें इस मान्यताका कहीं भी उल्लेख नहीं है। मुख्तार साहबको प्राप्त हुए मुनिश्री पुण्यविजयजीके पत्रके निम्न वाक्यसे भी ऐसा ही प्रकट है :—'श्वेताम्बर आगमोंमें कहीं भी बारह व्रतोंमें सल्लेखनाका समावेश शिक्षाव्रतके रूपमें नहीं किया गया है'। चारित्त पाहुडके इस सागार धर्मवाले पद्योंका और भी कितना ही सादृश्य इस पउमचरियमें पाया जाता है, जैसा कि नीचेकी तुलना परसे प्रकट है—

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥२३॥
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं ॥२४॥
दिसविदिसमाणपढमं अणत्थदण्डस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२५॥
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥२६॥

—चारित्तपाहुड

पंच य अणुव्वयाइं तिण्णेव गुणव्वयाइं भणियाइं।
सिक्खावयाणि एत्तो चत्तारि जिणोवइट्ठाणि ॥११२॥
थूलयरं पाणिवहं मूसावायं अदत्तदाणं च।
परजुवईण निवत्ती संतोपवयं च पंचमयं ॥११३॥
दिसिविदिसाण य नियमो अणत्थदंडस्स वज्जणं चेव।
उवभोगपरीमाणं तिण्णेव गुणव्वया एए ॥११४॥
सामाइयं च उववास-पोसहो अतिहिसंविभागो य।
अंते समाहिमरणं सिक्खासुवयाइं चत्तारि ॥११५॥

—पउमचरिय उ० १४

इसके सिवाय, आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारकी निम्न गाथा भी पउमचरियमें कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ उपलब्ध होती है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिगुत्तो खवेदी उस्सासमेत्तेण ॥३८॥

—प्रवचनसार अ० ३

जं अन्नाणतवस्सी खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
कम्मं तं तिहिगुत्तो खवेइ णाणी मुहुत्तेणं ॥१७७॥

—पउमचरिउ उ० १०२

ऐसी स्थितिमें पउमचरियकी रचना कुन्दकुन्दसे पहले की नहीं हो सकती। कुन्दकुन्दका समय प्रायः विक्रमकी पहली शताब्दीका उत्तरार्ध और दूसरी शताब्दीका पूर्वार्ध पाया जाता है—तीसरी शताब्दीके बादका तो वह किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता[1]। ऐसी हालतमें पउमचरियके निर्माणका जो समय वि० सं० ६० बतलाया जाता है वह संगत मालूम नहीं होता। मुनि कल्याणविजयजीने तो कुन्दकुन्दका समय वि० की छठी शताब्दी बतलाया है। उन्हें अपनी इस धारणाके अनुसार या तो पउमचरियको विक्रमकी छठी शताब्दीके बादका ग्रन्थ बतलाना होगा या वि० संवत् ६० से पहलेके बने हुए किसी श्वेताम्बर ग्रन्थमें सल्लेखना (समाधिमरण) को चतुर्थ शिक्षाव्रतके रूपमें विहित दिखलाना होगा और नहीं तो कुन्दकुन्दका समय विक्रम संवत् ६० से पूर्वका मानना होगा।

[३] उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोंकी पउमचरियके कतिपय स्थलोंके साथ तुलना करनेसे दोनोंमें भारी शब्द साम्य और कथनक्रमकी शैलीका अच्छा पता चलता है। और यह शब्द साम्यादिक श्वेताम्बरीय भाष्यमान्य पाठके साथ उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना कि दिगम्बरीय सूत्रपाठके साथ रखता हुआ जान पड़ता है। इतना ही नहीं, किन्तु जिन सूत्रोंको भाष्यमान्य पाठमें स्थान नहीं दिया गया है और जिनके विषयमें भाष्यके टीकाकार हरिभद्र और सिद्धसेन गणी अपनी भाष्य वृत्तिमें यहाँ तक सूचित करते हैं कि यहाँपर कुछ दूसरे विद्वान् बहुतसे नये सूत्र अपने आप बनाकर विस्तारके लिये रखते हैं[2] उनमेंसे कितने ही सूत्रोंका गाथाबद्ध कथन भी दिगम्बरीय परम्परा संमत सूत्रपाठके अनुसार इसमें पाया जाता है। यहाँपर पाठकोंकी जानकारीके लिए तत्त्वार्थसूत्रोंकी और पउमचरियकी गाथाओंकी कुछ तुलना नीचे दी जाती है—

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

—तत्त्वार्थसूत्र अ० २

जीवाणं उवओगो नाणं तह दंसणं जिणक्खायं।
नाणं अट्ठवियप्पं चउव्विहं दंसणं भणियं ॥१६॥

—पउमचरिय उद्देस १०२

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

—तत्त्वार्थसूत्र अ० २

पुढवि जलजलण मारुय वणस्सई चेव थावरा एए।
कायाएक्काय पुणो हवइ तओ पंचभेयजुओ ॥१३॥

—पउमचरिय उद्देस १०२

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥ देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥ शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

—तत्त्वार्थसूत्र अ० २

अण्डाउय पोयाउय जराउया गब्भजा इमे भणिया।
सुरनारयउववाया इमे य संमुच्छिमा जीवा ॥१७॥

—पउमचरिय उ० १०२

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष २ किरण १ प्रथम लेख, 'श्रीकुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन'? तथा प्रवचनसारकी प्रो० ए० एन० उपाध्यायकी अंग्रेजी प्रस्तावना। २. अपरे पुनर्विद्वान्सोऽति बहूनि स्वयं विरच्यास्मिन् प्रस्तावे सूत्राण्यधीयते विस्तारदर्शनाभिप्रायेण—[illegible] गणी तत्त्वा० भा० टी० ३, ११ पृष्ठ २६१।

औदारिक-वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥ परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

—तत्त्वार्थसूत्र अ० २

ओरालियं विउव्वं आहारं तेजसं कम्मइयं ।
सुहुमं परंपराए गुणेहिं संपज्जइ सरीरं ॥३१८॥

—पउमचरिय उ० १०२

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

तत्त्वार्थ० अ० ३

रयणप्पभायसक्करवालुयपंकप्पभा य धूमपभा ।
एत्तो तमा तमतमा सत्तमिया हवइ अइ घोरा ॥६६॥

—पउमचरिय उ० १०२

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशति-पञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

—तत्त्वार्थ० अ० ३

तीसा य पन्नवीसा पणरस दस चेव होंति नरकाऊ ।
तिण्णेकं पंचूणं पंचेव अणुत्तरा नरया ॥३६॥

—पउमचरिय उ० २

तेष्वेकत्रिसप्तदश-सप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

—तत्त्वार्थ० अ० ३

एक्कं च तिण्णि सत्त य दस सत्तरसं तहेव बावीसा ।
तेत्तीस उवहिनामा आऊ रयणप्पभादासुं ॥८३॥

—पउमचरिय उ० १०२

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥
द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

—तत्त्वार्थ० अ० ३

जम्बूदीपाईया दीवा लवणाइया य सलिलनिही ।
एगन्तरिया ते पुण दुगुणा दुगुणा असंखेज्जा ॥१०१॥

—पउमचरिय उ० १०२

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

—तत्त्वार्थ० अ० ३

तस्स वि हवइ मज्झे नाहगिरी मन्दरो सयसहस्सं ।
सव्वपमाणेणुच्चो वित्थिण्णो दससहस्साइं ॥१०३॥

—पउमचरिय उ० १०२

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥

—तत्त्वार्थ० अ० ३

भारतं हेमवयं पुण हरिवासं तह महाविदेहं च ।
रम्मय हेरण्णवयं उत्तरओ हवइ एरवयं ॥१०६॥

—पउमचरिय उ० १०२

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥

हिमवो य महाहिमवो निसढो नीलो य रुप्पि सिहरी य ।
एएहि विहत्ताइं सत्तेव हवंति वासाइं ॥१०५॥

—पउमचरिय उ० १०२

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्या हरिद्धरिकान्ता सीतोदा नारी नर-
कान्तासुवर्णरूप्यकूला रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

—तत्त्वार्थ० अ० ३

गंगा य पढम सरिया सिन्धू पुण रोहिया मुणेयव्वा ।
तह चेव रोहियसा हरि नदी चेव हरिकंता ॥१०७॥
सीया विय सीओया नारी य तहेव होइ नरकंता ।
रूप्पय सुवण्णकूला रत्ता रत्तावई भणिया ॥१०८॥

—पउमचरिय उ० १०२

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥
ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥ —तत्त्वार्थ० अ० ३

भरहेरवए सु तहा हाणी वुड्ढी सेसेसु य होइ खेत्तेसु ॥४१॥

—पउमचरिय उ० ३

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरूभ्यः ॥३७॥

—तत्त्वार्थ० अ० ३

पंचसु पंचसु पंचसु भरहेरवएसु तह विदेहेसु ।
भणिया कम्मभूमी तीसं पुणभोगभूमीओ ॥१११॥
हेमवयं हरिवासं उत्तरकुरु तह य देवकुरु ।
रम्मय हेरण्णवयं एवाओ भोगभूमीओ ॥११२॥

—पउमचरिय अ० १०२

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितो दधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥

—तत्त्वार्थ० अ० ४

असुरा नागसुवण्णा दीवसमुद्दा दिसाकुमारा य ।
वायग्गिविज्जुथणिया भवणणिवासी दसवियप्पा ॥३२॥

—पउमचरिय उ० ७५

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥१०॥

—तत्त्वार्थ अ० ४

किन्नरकिंपुरिसमहोरगा य गन्धव्व रक्खसा जक्खा ।
भूया य पिसाया वि य अट्ठविहा वाणमन्तरिया ॥३२॥

—पउमचरिय उ० ७५

सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥

—तत्त्वार्थ० अ० ४

वन्तरसूराण उवरिं पंचविहा जोइसा तओ देवा ।
चन्दा सूरा य गहा नक्खत्ता तारया नेया ॥१४॥

—पउमचरिय उ० १०२

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

—तत्त्वार्थ० अ० ९

इरिया भासा तह एसणा य आयाणमेव निक्खेवो ।
उच्चाराई समिइ पंचमिया होइ नायव्वा ॥७१॥

—पउमचरिय उ० १४

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥
प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

—तत्त्वार्थ० अ० ९

अणसण मूणोइरिया वित्तीसंखेव काय परिपीडा ।
रसपरिचागो य तहा विवित्तसयणासणं चेव ॥७४॥

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं चिय उस्सग्गो तवो य अब्भंतरो एसो ॥७५॥

—पउमचरिय उ० १४

इस तुलना परसे स्पष्ट है कि पउमचरियकी बहुत सी गाथाएँ तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोंपरसे बनाई गई हैं। ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारने 'एत्ताहे विमलेण सुत्त सहियं गाहानिबद्धं कयं' इस वाक्यके द्वारा ऐसी सूचना भी की है कि उसने सूत्रोंको गाथानिबद्ध किया है। ऐसी हालतमें इस ग्रन्थका तत्त्वार्थ सूत्रके बाद बनना असंदिग्ध है। तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ता आचार्य उमास्वाति श्री कुन्दकुन्दाचार्यके भी बाद हुए हैं—वे कुन्दकुन्दकी वंशपरम्परामें हुए हैं जैसा कि श्रवणबेल गोलादिके अनेक शिलालेखों आदि परसे प्रकट है।[1] और इसलिए पउमचरियमें उसकी रचनाका जो समय दिया है वह और भी अधिक आपत्तिके योग्य हो जाता है और जरूर ही किसी भूल तथा गलतीका परिणाम जान पड़ता है।

ग्रन्थकी कुछ खास बातें—

पउमचरियके अन्तःपरीक्षण परसे कुछ बातें ऐसी मालूम होती हैं जो खास तौरपर दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतादिसे सम्बन्ध रखती हैं, कुछ ऐसी हैं जिनका श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यतादिसे विशेष सम्बन्ध है और कुछ ऐसी भी हैं जो दोनोंकी मान्यताओंसे कुछ भिन्न प्रकारकी जान पड़ती है। यहाँ मैं उन सबको विद्वानोंके विचारार्थ दे देना चाहता हूँ, जिससे उन्हें इस बातका निर्णय करनेमें मदद मिले कि यह ग्रन्थ वास्तवमें कौनसे सम्प्रदाय विशेष का है; क्योंकि अभी तक यह पूरे तौरपर निर्णय नहीं हो सका है कि इस ग्रन्थके कर्ता दिगम्बर श्वेताम्बर अथवा यापनीय आदि कौनसे सम्प्रदायके आचार्य थे। कुछ विद्वान् इस ग्रन्थको श्वेताम्बर, कुछ दिगम्बर और कुछ यापनीय संघका बतलाते हैं।

[क] दिगम्बर सम्प्रदाय सम्बन्धी—

[१] ग्रन्थके प्रथम उद्देशमें कथावतार वर्णनकी एक गाथा निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

वीरस्स पवरठाणं विपुलगिरिमत्थए मणभिरामे ।
तह इंदभूइ कहियं सेणिय रण्णस्स नीसेसं ॥३४॥

इसमें बतलाया है कि जब वीर भगवान्का समवसरण विपुलाचल पर्वतपर स्थित था तब वहाँ इन्द्रभूति नामक गौतम गणधरने यह सब रामचरित राजा श्रेणिकसे कहा है। कथा-

---

१. देखो, श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४०, १०५, १०८

वतारकी यह पद्धति खास तौरपर दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है।[1] दिगम्बर सम्प्रदायके प्रायः सभी ग्रन्थ, जिनमें कथाके अवतारका प्रसङ्ग दिया हुआ है—विपुलाचल पर्वतपर वीर भगवान्का समवसरण आने और उसमें इन्द्रभूति-गौतम द्वारा राजा श्रेणिकको-उसके प्रश्नपर कथाके कहे जानेका उल्लेख करते हैं; जब कि श्वेताम्बरीय कथाग्रन्थोंकी पद्धति इससे भिन्न है—वे सुधर्म स्वामी द्वारा जम्बू स्वामीके प्रति कथाके अवतारका प्रसङ्ग बतलाते हैं, जैसा कि संघदास गणीकी वसुदेवहिण्डीके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"तत्थ ताव सुहम्मसामिणा जंबूनामस्स पढमाणुयोगे तित्थयरचक्कवट्टि-दशारवंशपरू-वणगयं वसुदेवचरियं कहियं त्ति तस्सेव……त्ति।"

श्वेताम्बरोंके यहाँ मूल आगम ग्रन्थोंकी रचना भी सुधर्मा स्वामीके द्वारा हुई बतलाई जाती है जब कि दिगम्बर परम्परामें उनकी रचनाका सम्बन्ध गौतम गणधर-इन्द्रभूतिके साथ निर्दिष्ट है।

[२] ग्रन्थके द्वितीय उद्देशमें शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हुए समाधिमरण नामक सल्लेखना व्रतको चतुर्थ शिक्षाव्रत बतलाया है। यथा—

सामाइयं च उपवासपोसहो अतिहि संविभागो य।
अंते समाहिमरणं सिक्खा सुवयाइं चत्तारि ॥११५॥

समाधिमरण रूप सल्लेखना व्रतको शिक्षाव्रतोंमें परिगणित करनेकी यह मान्यता दिगम्बर सम्प्रदायकी है—आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्त पाहुडमें, जिनसेनके आदि पुराणमें, शिवकोटिकी रत्नमालामें, देवसेनके भावसंग्रहमें और वसुनन्दीके श्रावकाचार जैसे ग्रन्थोंमें इसका स्पष्ट विधान पाया जाता है[2]। जयसिंहनन्दीके वरांग चरितमें भी यह उल्लिखित है। श्वेताम्बरीय आगम सूत्रोंमें इसको कहीं भी शिक्षाव्रतोंके रूपमें वर्णित नहीं किया है, जैसा कि मुख्तार श्री जुगलकिशोरको लिखे गये मुनि श्री पुण्यविजयजीके एक पत्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

'श्वेताम्बर आगममें कहीं भी १२ व्रतोंमें सल्लेखनाका समावेश शिक्षाव्रतके रूपमें नहीं किया गया है'।

अतः यह मान्यता खासतौरपर दिगम्बर सम्प्रदायके साथ सम्बन्ध रखती है।

[ख] श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्बन्धी—

(१) इस ग्रन्थके दूसरे उद्देश्यकी ८२ वीं गाथामें तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके बीस कारण बतलाये हैं[3]। यद्यपि इनके नाम ग्रन्थमें कहीं भी प्रकट नहीं किये, फिर भी २० कारणोंकी यह मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है क्योंकि उनके ज्ञाता धर्मकथादि ग्रन्थोंमें २० कारण गिनाये हैं। दिगम्बर सम्प्रदायके पट्खण्डादि ग्रन्थोंमें सर्वत्र १६ कारण ही बतलाये गये हैं।

१. इस बातको श्वेताम्बरीय ऐतिहासिक विद्वान् श्री मोहनलाल दलीचन्द्रजी देसाई, एडवोकेट बम्बईने भी 'कुमारपालना समयनुं एक अपभ्रंश काव्य' नामक अपने लेखमें स्वीकार किया है और इसे भी 'प्रद्युम्न चरित' नामक उक्त काव्य ग्रन्थके कर्ताको दिगम्बर बतलानेमें एक हेतु दिया है। देखो, 'जैनाचार्य श्री आत्मानन्द-जन्म शताब्दी-स्मारक ग्रन्थ' गुजराती लेख पृष्ठ २६०।

२. देखो, मुख्तार श्री जुगलकिशोर विरचित 'जैनाचार्योंका शासन भेद' नामक पुस्तकका 'गुणव्रत और शिक्षाव्रत' प्रकरण।

३. 'बीसं जिण कारणाइं भावेओ'।

[२] ग्रन्थमें चतुर्थ उद्देशकी ५८ वीं गाथामें भरत चक्रवर्तीकी ६४ हजार रानियोंका उल्लेख है[1]। रानियोंकी यह संख्या भी श्वेताम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है। दिगम्बर सम्प्रदायमें ९६ हजार रानियोंका उल्लेख है।

[३] ग्रन्थके ७३ वें उद्देशकी ३४ वीं गाथामें रावणकी मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण एकादशीको लिखी है[2]। यह मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्मत जान पड़ती है, क्योंकि हेमचन्द्र आचार्यने भी अपने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्' में इस तिथिका उल्लेख किया है[3]। यह भी हो सकता है कि हेमचन्द्राचार्यने अपने ग्रन्थमें इस ग्रन्थका अनुसरण किया हो। कुछ भी हो, दिगम्बर सम्प्रदायमें इस तिथिका कोई उल्लेख नहीं है और न वाल्मीकि रामायणमें ही यह उपलब्ध होती है।

[४] ग्रन्थके २२ वें उद्देश (पूर्वोद्धृत गाथा नं० ७७–७८) में मांसभक्षी राजा सौदास को दक्षिण देशमें भ्रमण करते हुए जिनमुनि महाराजका धर्मोपदेश मिला उन्हें श्वेताम्बर लिखा है।

इन बातोंके अतिरिक्त १२ कल्पों (स्वर्गों) की भी एक मान्यताका इस ग्रन्थमें उल्लेख है, जिसे कुछ विद्वानोंने श्वेताम्बर मान्यता बतलाया है; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके तिलोयपण्णत्ति और वरांगचरित्र जैसे पुराने ग्रन्थोंमें भी १२ स्वर्गोंका उल्लेख है। दिगम्बर सम्प्रदायको इन्द्रों और उनके अधिकृत प्रदेशोंकी अपेक्षा १२ और १६ स्वर्गोंकी दोनों मान्यताएँ इष्ट हैं जिसका स्पष्टीकरण त्रिलोकसारकी तीन गाथाओं नं० ४५२, ४५३, ४५४ से भले प्रकार हो जाता है[4]।

[५] इस ग्रन्थके १०२ वें उद्देशमें कल्पों तथा नवग्रैवेयकोंके अनन्तर आदित्यादि अनुदिशोंका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

कप्पाणं पुण उवरिं नवगेवेज्जाइं मणभिरामाइं ।
ताण वि अणुद्दिसाइं पुरेओ आइच्च पमुहाइं ॥१४५॥

अनुदिशोंकी यह मान्यता भी खास तौरपर दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है— दिगम्बर सम्प्रदायके षट्खण्डागम, धवला, तिलोयपण्णत्ती, लोकविभाग और त्रिलोकसार जैसे सभी ग्रन्थोंमें अनुदिशोंका विधान है जब कि श्वेताम्बरीय आगमोंमें इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। उपाध्याय मुनि श्रीआत्मारामजीने 'तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय' नामक जो ग्रन्थ हिन्दी अनुवादादिके साथ प्रकाशित किया है उसमें पृष्ठ ११६ पर यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'आगम ग्रन्थोंमें नव अनुदिशोंका अस्तित्व नहीं माना है'।

[४] इस ग्रन्थके द्वितीय उद्देशमें वीर भगवान्के जन्मादिकका कथन करते हुए उनके विवाहित होनेका कोई उल्लेख नहीं किया, प्रत्युत इसमें यह साफ लिखा है कि जब वे बालभाव

---

१. 'चउसट्ठि सहस्साइं जुवईणं परमरूवधारीणं' ।

२. 'जेट्ठस्स बहुलपक्खे दिवसस्स चउत्थभागम्मि ।
एगारसिए दिवसे रावणमरणं वियाणाहि ॥'

३. तदा च ज्येष्ठकृष्णैकादश्यामह्नश्च पश्चिमे ।
यामे मृतो दशग्रीवश्चतुर्थं नरकं ययौ ॥

—त्रिषष्टि० पु० च० ७–३७१

४. देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण ११–१२ पृष्ठ ६२४ ।

को छोड़कर तीस वर्षके हो गये तब वैराग्य [संवेग] को प्राप्त करके उन्होंने दीक्षा [प्रव्रज्या] ले ली[1]।

इसके सिवाय बीसवें उद्देशमें उनकी गणना वासुपूज्य, मल्लि अरिष्टनेमि और पार्श्वके साथ उन कुमार श्रमणोंमें—बालब्रह्मचारी जैन तीर्थङ्करोंमें की है जो भोग न भोगकर कुमार कालमें ही घरसे निकलकर दीक्षित हुए हैं[2]। वीर प्रभुके विवाहित न होनेकी यह मान्यता भी खास तौरपर दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है, क्योंकि दिगम्बर ग्रन्थोंमें कहीं भी उनके विवाहका विधान नहीं है—सर्वत्र एक स्वरसे उन्हें अविवाहित घोषित किया है, जब कि श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें आमतौरपर उन्हें विवाहित बतलाया है। कल्पसूत्रमें उनकी भार्या, पुत्री तथा दोहती तकके नामोंका उल्लेख है। यह दूसरी बात है कि आवश्यक निर्युक्ति [गाथा नं० २२१-२२२] में भी जिसका निर्माण काल छठी शताब्दीसे पूर्वका नहीं है। वीर भगवान्‌को कुमारश्रमणोंमें परिगणित किया है परन्तु यह एक प्रकारसे दिगम्बर मान्यताका ही स्वीकार जान पड़ता है।

[५] इस ग्रन्थसे ८३ वें उद्देशमें राजा भरतकी दीक्षाका वर्णन करते हुए एक गाथा निम्न प्रकारसे दी है—

अणुमण्णओ गुरूणं भरहो काऊण तत्थऽलंकारं।
निस्सेससंगरहिओ लुंचइ धीरो णिपयकेसे ॥५॥

इसमें वस्तुतः वस्त्र तथा अलंकारोंका त्याग करके भरत महाराजके सम्पूर्ण परिग्रहसे रहित होने और केशलोंच करनेका उल्लेख है, परन्तु 'मोत्तूण तत्थऽलंकारं' के स्थानपर यहाँ 'काऊण तत्थअलङ्कारं' ऐसा जो पाठ दिया है वह किसी गलती अथवा परिवर्तनका परिणाम जान पड़ता है, अन्यथा अलङ्कार धारण करके—शृङ्गार—करके निःशेष संगसे रहित होनेकी बात असंगत जान पड़ती है। साथ ही 'तत्थ' शब्द और भी निरर्थक जान पड़ता है। अतः यह उल्लेख अपने मूलमें दिगम्बर मान्यताकी ओर संकेतको लिये हुए है।

[ग] कुछ भिन्न प्रकारकी—

[१] इस ग्रन्थमें भगवान् ऋषभदेवकी माता मरुदेवीको आने वाले स्वप्नोंकी संख्या १५ गिनाई है, जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें वह १४ और दिगम्बर सम्प्रदायमें १६ बतलाई गई है। इसमें दिगम्बर मान्यतानुसार 'सिंहासन' नामके एक स्वप्नकी कमी है और श्वेताम्बर मान्यतानुसार 'विमान' और 'भवन' दोनोंमेंसे कोई एक होना चाहिए।

[२] ग्रन्थके १०५ वें उद्देशके निम्न पद्यमें महाभारत और रामायणका अन्तरकाल ६४००० वर्ष बतलाया है। यथा—

चउसट्ठि सहस्साइं वरिसाणं अन्तरं समक्खायं।
तित्थयरे हि महायस भारतरामायणाणंतु ॥१६॥

इस अन्तरकालका समर्थन दोनों परम्पराओंमें किसीसे भी नहीं होता, स्वयं ग्रन्थकार द्वारा वर्णित तीर्थङ्करोंके अन्तरकालसे भी विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि रामायणकी उत्पत्ति २० वें

---

१. उम्मुक्क बालभावो तीसइवरिसो जिणो जाओ ॥२८॥
अह अन्नया कयाई संवेगदरो जिणो मुणियदोसो।
लोगंतिय परिकिण्णो पव्वज्जमुवागओ वीरो ॥२९॥

२. मल्ली अरिट्ठणेमी पासो वीरो य वासुपुज्जो य ॥५७॥
एए कुमारसीहा गेहाओ निग्गया जिणवरिंदा।
सेसा वि हु रायाणो पुहई भोत्तूण णिक्खंता ॥५८॥

तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतके कालमें हुई है और महाभारतकी उत्पत्ति २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथके समयमें हुई है और दोनों तीर्थङ्करोंका अन्तरकाल ग्रन्थकारने स्वयं २० वें में ११ लाख बतलाया है, यथा—

छच्चेव समसहस्सा वीसइयं अन्तरं समुद्दिट्ठं ।
पंचेव हवइ लक्खा जिणंतरं एग वीसइमं ॥८१॥

[३] दूसरे उद्देशकी निम्न गाथामें भगवान् महावीरको अष्टकर्मके विनाशसे केवल ज्ञानकी उत्पत्ति बतलाई है जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है—

अह अट्ठ कम्म रहियस्स तस्स झाणोवजोगजुत्तस्स ।
सयलजगुज्जोयकरं केवलणाणं समुप्पण्णं ॥१०॥

यह कथन दोनों ही सम्प्रदायसे वाधित है, क्योंकि दोनों ही सम्प्रदायोंमें चार घातिया कर्मके विनाशसे केवल ज्ञानोत्पत्ति मानी है, अष्टकर्मके विनाशसे तो मोक्ष होता है ।

आशा है विद्वज्जन इन सब बातोंपर विचार करके ग्रन्थके निर्माण समय और ग्रथकारके सम्बन्धमें विशेष निर्णय करनेमें प्रवृत्त होंगे ।

पद्मचरितके मुख्य कथा पात्र—

यद्यपि पद्मचरितके मुख्य नायक आठवें बलभद्र पद्म (राम) हैं । तथापि उनके संपर्कसे इसमें अनेक पात्रोंका सुन्दर चरित्र-चित्रण हुआ है जो मानवको मानवताकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त सहायक हैं । इस स्तम्भमें मैं निम्नांकित १० पात्रोंका संक्षिप्त परिचय दे रहा हूँ—

[१] रावण—

इन्द्र विद्याधरसे हार कर माली अलङ्कारपुर (पाताल लंका) में रहने लगता है वहाँ उसके रत्नश्रवा नामका पुत्र होता है, तरुण होनेपर रत्नश्रवाका केकसीके साथ विवाह होता है । यहाँ रत्नश्रवा और केकसीका युगल रावणके जन्मदाता हैं । रावण बाल्य अवस्थासे ही शूर वीर था । कुम्भकर्ण तथा विभीषण इसके अनुज थे और चन्द्रनखा इसकी लघु बहिन थी । एक दिन केकसी की गोदमें रावण बैठा था उसी समय आकाशसे वैश्रवण विद्याधरकी सवारी निकलती है, उसके ठाट-बाटको देखकर रावण माँसे पूछता है कि माँ ! यह कौन प्रभावशाली पुरुष जा रहा है । माँ उसका परिचय देती हुई कहती है कि यह तेरी मौसीका लड़का है, बड़ा प्रतापी है, इसने तेरे बाबाके भाईको मारकर लंका छीन ली है और हम लोगोंको इस पाताललङ्कामें विपत्तिके दिन काटना पड़ रहा है । पिछले वैभवका दृश्य केकसीकी दृष्टिके सामने भूमने लगता है और वर्तमान दशाका चिन्तन करते-करते उसके नेत्रोंसे आँसू ढुलकने लगते हैं । माताकी दीन दशा देख रावण और कुम्भकर्ण उसे सान्त्वना देते हैं । रावण विद्याएँ सिद्ध करनेके लिए सघन अटवीमें जाता है । जम्बू द्वीपका अनावृत यक्ष उसकी कठिन परीक्षा लेता है । तरह-तरहके उपसर्ग—उपद्रव एवं भयंकर दृश्य उपस्थित करता है । कभी उसकी माता और पिताकी दुर्दशाके दृश्य सामने उपस्थित कर उसकी दृढ़ताको कम करना चाहता है, तो कभी सिंह, व्याघ्र, सर्प आदिके भयावह रूप प्रदर्शित कर उसे भीत बनाना चाहता है पर धन्य रे रावण ! वह सब उपद्रव सहन कर रञ्च मात्र भी अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं होता है और अनेकों विद्याएँ सिद्ध कर वापिस लौटता है । सुन्दर तो था ही इसलिए अनेक राजकुमारियोंके साथ उसका सम्बन्ध होता है । मन्दोदरी जैसी पवित्र और विचारशीला कन्याके साथ उसका पाणिग्रहण होता है । अनन्तवीर्य केवलीके पास रावण प्रतिज्ञा लेता है कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे हाथ नहीं लगाऊँगा । रावणका विवेक उस समय पाठकको बरवश आकृष्ट कर लेता है जब वह नलकूबरकी स्त्रीका प्रेम प्रस्ताव ठुकरा देता है और उसे सुन्दर शिक्षा देता है । राजा मरुत्वके हिंसापूर्ण यज्ञमें नारदकी दुर्दशाका समाचार सुनते ही रावण उसकी रक्षाके लिए दौड़ पड़ता है

और उसका पाखण्डपूर्ण यज्ञ नष्ट कर सद्धर्मकी प्रभावना करता है। वरुणके युद्धमें कुम्भकर्ण वरुणके नगरमें प्रजाकी बहू-बेटियोंको बन्दी बनाकर रावणके सामने उपस्थित करता है, तब रावण कुम्भकर्णको जो फटकार लगाता है वह बड़ी मार्मिक है। वह कहता है भले आदमी! वरुणके साथ तेरी लड़ाई थी तूने निरपराध नागरिकोंकी स्त्रियोंको इस तरह संकटमें क्यों डाला? क्यों तूने उनका अपमान किया? तू यदि अपनी कुशल चाहता है तो सम्मानके साथ इन्हें इनके घर वापिस कर। अनेक राजाओंको दिग्विजयमें परास्त कर रावण इन्द्रको बन्दी बनाता है। उसके निवास-स्थानपर दूसरे दिन इन्द्रका पिता आता है। उसके साथ रावण कितनी नम्रतासे प्रस्तुत होता है मानो विनयका अवतार ही हो। आचार्य रविषेणने उस समय उसकी विनय प्रदर्शितकर जो उसे ऊँचा उठाया है वह हृदयको गद्गद कर देती है। इस तरह हम देखते हैं कि रावण अहंकारी प्रतिद्वन्द्वी विद्याधरोंका उन्मूलन कर भरतक्षेत्रके दक्षिण दिक्स्थित तीनखण्डों एवं विजयार्ध पर्वतपर अपना शासन स्थापित करता है। यह राक्षस नहीं था राक्षसवंशी था। वाल्मीकिने इसे राक्षस घोषित कर वस्तुस्थितिका अपलाप किया है।

'भवितव्यता बलीयसी' के सिद्धान्तानुसार रावण रामकी स्त्री सीताको देख उसपर मोहित होता है और छलसे उसका हरण करता है। लंकाकी अशोक वाटिकामें सीताको रखता है सब प्रकारसे अनुनय विनय करता है पर केवलीके समक्ष ली प्रतिज्ञापर उस समय भी दृढ़ रहता है और सीताकी इच्छाके विरुद्ध उसके शरीरपर अंगुली भी नहीं लगाता है। पापका उदय आनेसे रावणकी विवेक शक्ति लुप्त हो जाती है, वह मानके मदमें मत्त हो मन्दोदरीके कान्तासंमित उपदेशको ठुकराता है और विभीषण जैसे नीतिज्ञ तथा धर्मज्ञ भाईका तिरस्कारकर उसे लंकासे बाहर जानेके लिए विवश करता है। राम तथा विद्याधरोंकी सेना लंकाको चारों ओरसे घेर लेती है। रावण शान्तिनाथके मन्दिरमें बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करता है। लक्ष्मणकी प्रेरणासे अनेक विद्याधर लंकामें उपद्रव करते हैं पर रावण पर्वतकी तरह स्थिर रहकर बहुरूपिणी विद्या सिद्धकर उठता है। अन्तमें उसका पुण्य उसका साथ नहीं देता है। हाथका सुदर्शन-चक्र लक्ष्मणके पास पहुँच जाता है और लक्ष्मणके द्वारा उसकी मृत्यु होती है। रावणके मरते ही रामके जीवनका प्रथमाध्याय समाप्त हो जाता है।

[२] मन्दोदरी—

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीपर असुरसंगीत नामक नगरीमें राजा मय रहता है। उसकी स्त्रीका नाम हेमवती है। मन्दोदरी उन्हींकी पुत्री है। जब मंत्रियोंके साथ सलाहकर राजा मय रावणके साथ मन्दोदरीका विवाह करना निश्चित करता है उस समय रावण भीम वनमें ठहरा था। मय मन्दोदरीको साथ ले रावणसे मिलनेके लिए जाता है। मन्दोदरीकी रूप माधुरी रावणका मन मोहित कर लेती है। विधिपूर्वक दोनोंका विवाह होता है। मन्दोदरी अपनी गुणगरिमाके कारण रावणकी पट्टरानी बनती है। हम देखते हैं कि मन्दोदरी बड़ी प्रतिभाशालिनी विवेकवती स्त्री है। वह रावणको समय-समयपर अनेक हितावह उपदेश देकर सुमार्गपर लाती रही है। जिस प्रकार उफनते दूधमें पानीकी एक अंजलि छोड़ दी जाती है तो उफान शान्त हो जाता है, उसी प्रकार मन्दोदरीके उपदेशने कितनी ही जगह रावणका उफान शान्त किया है। रावण लंकासे बाहर गया था इतनेमें खरदूषण रावणकी बहिन चन्द्रनखाको हर ले जाता है। लंकामें वापिस आनेपर रावण जब यह समाचार सुनता है तब उसका क्रोध उबल पड़ता है और वह खरदूषणपर चढ़ाई करनेके लिए उद्यत होता है। उस समय मन्दोदरीका कोमल कान्त उपदेश रावणके क्रोधको क्षणभरमें शान्त कर देता है। आचार्य रविषेणका वह चित्रण मन्दोदरीकी दीर्घदर्शिता और सद्विचारकताको कितना अधिक निखार देता है यह पाठक इस प्रकरणको

पढ़ स्वयं देखें। रावण सीताको हरकर लंकामें वापिस पहुँचता है उस समय भी मन्दोदरी कितने ढंगसे कुपथगामी पतिको सुपथपर लानेका प्रयत्न करती है यह आश्चर्यमें डाल देनेवाली बात है। इन्द्रजित् और मेघवाहन इसके पुत्र हैं। रावण वधके बाद जब इसके दोनों पुत्र अनन्तवीर्य महामुनिके पास दीक्षा लेते हैं तब यह अधिक दुःखी होती है परन्तु शशिकान्ता नामकी आर्या अपने शान्तिपूर्ण वचनोंसे उसे प्रकृतिस्थ कर देती है जिससे वह अनेक स्त्रियोंके साथ आर्यिका हो जाती है। अब तीनखण्डके अधिपति रावणकी पट्टरानीके शरीरपर केवल एक शुक्ल साड़ी ही सुशोभित होती है। अन्तमें तपश्चरणकर स्वर्ग जाती है।

[३] राजा दशरथ—

राजा दशरथ अयोध्याके राजा अनरण्यके पुत्र हैं, स्वभावके सरल, शरीरके सुन्दर तथा साहसके अवतार हैं। इनकी चार रानियाँ कोशल्या (अपराजिता), केकया, सुमित्रा और सुप्रभासे राम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न ये चार पुत्र उत्पन्न होते हैं। मित्र वत्सलताके मानो सागर ही हैं। राजा जनकके ऊपर म्लेच्छोंका आक्रमण होता है। मित्रका समाचार पाते ही राजा दशरथ पूरी तैयारीके साथ जनककी सहायताके लिए दौड़ पड़ते हैं और म्लेच्छ नष्ट-भ्रष्ट होकर उनके देशसे भाग जाते हैं। राजा दशरथके इस सहयोग एवं मित्रवात्सल्यसे प्रेरित हो राजा जनक अपनी पुत्री सीताको दशरथ-सुत रामके लिये देना निश्चित कर लेते हैं। नारदीय लीलाके कारण यद्यपि जनकको इस विषयमें विद्याधरोंके साथ काफी संघर्ष उठाना पड़ता है तथापि भवितव्यताके अनुसार सब कार्य ठीक हो जाता है। राम वज्रावर्त धनुषको चढ़ाकर सीताके साथ विवाह करते हैं। केकयाकी रणकलासे राजा दशरथ उसपर अधिक प्रसन्न होते हैं, उसके लिए इच्छित वर देते हैं। कारण पाकर उन्हें वैराग्य आता है। रामको राज्य देनेका अवसर आता है। केकयाकी विद्रोहात्मक भावना उमड़ती है और वह अपने पुत्र भरतको राज्य देनेकी बात सामने रखती है। दशरथ मनचाहा वर देनेके लिए वचनबद्ध होनेसे केकयाकी बात मान लेते हैं। राम, लक्ष्मण और सीताके साथ वनको चले जाते हैं। राम-लक्ष्मणकी माताओं के विलाप एवं प्रजाजनोंकी कटुक आलोचनाएँ राजा दशरथको अपने इस सत्यसे विमुख नहीं कर पाती हैं। रामके चले जानेपर वे दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करते हैं। इस प्रकरणमें वाल्मीकिने राजा दशरथका केकयाके प्रति कामासक्ति आदिका वर्णनकर उनकी पर्याप्त भर्त्सना की है पर रविषेणने रामपिताके चित्रणमें ऐसी कोई बात नहीं आने दी कि जिससे वे गौरवके शिखरसे नीचे गिर सकें।

[४] कैकेया—

केकया निखिल कला पारंगत नारी है। आचार्य रविषेणने इसकी कलाओंका वर्णन करने के लिए एक पूरा-का-पूरा पर्व समाप्त किया है। इसके पुत्रका नाम भरत है मनोविज्ञानकी यह पूर्ण पण्डिता है। मिथिलामें जब राम और लक्ष्मणका शान-शौकतके साथ विवाह होता है तब इसे भरतकी मनोदशाका भान होता है जिससे यह राजा दशरथसे एकान्तमें कहती है कि जनकके भाई कनककी पुत्रीके साथ भरतके विवाहका आयोजन करो। केकयाकी आज्ञानुसार राजा दशरथ वैसा ही करते हैं। यद्यपि अवसर पाकर केकयाके हृदयमें विमाताकी ईर्ष्या जागृत होती है पर वह पीछे चलकर बहुत पछताती है। भरत तथा अनेक सामन्तोंको साथ लेकर वह वनमें स्थित राम-लक्ष्मणको लौटानेके लिए स्वयं जाती है। बहुत अनुनय-विनय करती है पर राम टससे मस नहीं होते हैं प्रत्युत समझा-बुझाकर भरतका ही पुनः राज्याभिषेक करते हैं केकया अपनी करनीपर पश्चात्ताप करती हुई वापिस आ जाती है।

[५] राजा जनक—

मिथिलाके राजा जनक, सीताके पिता हैं। बहुत ही विवेकी और स्वाभिमानकी रक्षा करनेवाले हैं। नारदीय लीलाके कारण सीताका चित्रपट देख भामण्डल विद्याधर जो इन्हींका जन्महृत पुत्र था, सीतापर मोहित हो गया था। एक विद्याधर मायामय अश्वका रूप रख जनकको विद्याधर लोकमें हर ले जाता है। जनक, विद्याधरकी सभामें प्रविष्ट होते हैं, विद्याधर कहते हैं तुम अपनी पुत्री सीताका भामण्डलके साथ विवाह कर दो पर जनक साहसके साथ कहते हैं कि हम तो सीता दशरथके पुत्र रामके लिए देना निश्चित कर चुके हैं। इस प्रकरणमें विद्याधर भूमि गोचरियोंकी निन्दा और विद्याधरोंकी प्रशंसा करते हैं। जिसे सुनकर जनकका आत्मतेज प्रकट होता है और विद्याधरोंकी भरी सभामें डाँट लगाते हैं कि यदि विद्याधरोंको आकाशमें चलनेका घमण्ड है तो आकाशमें कौआ भी चलता है। विद्याधर यदि उत्तम हैं तो उनमें तीर्थङ्कर जन्म क्यों नहीं लेते ?। आचार्य रविषेणकी कलमके तात्कालिक उद्गार बहुत ही कौतुकावह हैं। अन्तमें वज्रावर्त धनुष चढ़ानेकी शर्त स्वीकृत कर जनक मिथिला वापिस आते हैं, स्वयंवर होता है राम धनुष चढ़ा देते हैं और सीताके साथ उनका विवाह होता है। विद्याधर मुहकी खाकर वापिस जाते हैं। भामण्डलको विद्याधर पिताकी इस चुप्पीपर रोष आता है, वह स्वयं ही सीताहरणकी बात सोच सेनाके साथ आता है लेकिन जाति स्मरण होनेसे उसका हृदय परिवर्तित हो जाता है। मुनिके मुखसे भवान्तर सुनता है। अयोध्यामें बहिन सीताके साथ भामण्डलका मिलाप होता है। राजा दशरथ जनकको बुलाते हैं। चिरकालके बिछुड़े जन्महृत पुत्रके सम्मेलनसे राजा जनक और रानी विदेहाको जो आनन्द उत्पन्न होता है उसका कौन वर्णन कर सकता है ? फिर भी उस समय आचार्य रविषेणने वात्सल्य रसकी जो धारा बहाई है वह तो हृदयको एकदम गद्गद कर देनेवाली है। तदनन्तर राजा जनक मिथिलाका राज्य कनकको दे भामण्डलके साथ विजयार्ध चले जाते हैं।

[६] राम—

राम, राजा दशरथकी अपराजिता [कौशल्या] रानीके सुयोग्य पुत्र हैं। यही इस ग्रन्थके कथानायक हैं। प्रकृत्या सरल एवं शूरवीर हैं। राजा दशरथ विरक्त होकर दीक्षा लेनेकी तैयारी कर रहे हैं पर भरत उनसे पहले ही विरक्त हो दीक्षा लेना चाहते हैं, पिता दशरथ उन्हें समझाते हैं और राम भी। राम जिस ममता और वात्सल्यसे भरतको समझाते हैं वह उनकी महत्ताके अनुरूप है। जिस किसी तरह भरत शान्त हो जाते हैं।

रामके राज्याभिषेककी तैयारी होती हैं। केकया अपने पुत्र भरतको राज्य दिलाना चाहती है। दशरथ वचनबद्ध होनेसे विवश हो जाते हैं। जब रामको पता चलता है तब वे वहीं ही समतासे वनके लिए रवाना हो जाते हैं। 'राज्यके अधिकारी पिता हैं, हमें उनकी आज्ञा पालन करनी चाहिए' यह विचार कर रामके हृदयमें कुछ भी उथल-पुथल नहीं होती है। यद्यपि लक्ष्मणके हृदयमें क्रान्तिके कण उत्पन्न होते हैं कि पिताजी एक स्त्रीके वश हो अन्याय करने जा रहे हैं पर रामकी शान्ति देख चुप रह जाते हैं। अभिषेकके लिए जब राम बुलाये जाते हैं तब उनके मुखपर प्रसन्नताके चिह्न प्रकट नहीं होते और जब वन जानेका आदेश पाते हैं तब विषाद की रेखा नहीं खिंचती।

राम, सीता और लक्ष्मणके साथ बनको जाते हैं पर रामके हृदयमें भरतके प्रति रंचमात्र भी विद्वेष पैदा नहीं होता। राजा अमितवीर्य, भरतके विरुद्ध अभियान करता है, जब रामको इस बातका पता चलता है तब वे गुप्तरूपसे भरतकी रक्षा करनेका प्रयत्न करते हैं। उस समय वे लक्ष्मण, सीता तथा लक्ष्मणके सालोंके सामने एक लम्बा व्याख्यान देकर प्रकट करते हैं कि जो

रात्रिमें मेघके समान छुपकर दूसरोंका भला करते हैं उनके समान कोई नहीं है। फलस्वरूप वे नर्तकीके रूपमें अमितवीर्यकी सभामें जाकर उसे प्रथम अपनी कलासे मोहित करते हैं और फिर परास्त। कपिल ब्राह्मणकी यज्ञशालामें थके-मांदे राम विश्राम करना चाहते हैं पर ब्राह्मण इतनी उग्रतासे पेश आता है कि वे सीधे वनके लिए रवाना हो जाते हैं, यद्यपि लक्ष्मण रोषमें आकर कपिलको पछाड़ना चाहते हैं पर रामकी गंभीरतामें कोई न्यूनता दृष्टिगोचर नहीं होती। वे लक्ष्मणको बड़े सुन्दर ढंगसे समझाते हैं। यक्षनिर्मित रामनगरीमें रामका रहना और उनके द्वारा उसी कपिल ब्राह्मणका उद्धार होना सुदामा चरितकी स्मृति दिलाता है। सीताके हरणके बाद यद्यपि राममें कुछ विह्वलता आती है फिर भी वे बहुत संभले हुए दृष्टिगोचर होते हैं। राम रावण युद्धके समय जब कुछ लोग रामसे आज्ञा चाहते हैं कि रावणकी बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करनेमें बाधा दी जाय तब राम इस कृत्यको घृणित काम समझ कर मना करते हैं। युद्धमें विजय होती है। राम कहते हैं कि भाई! रावणसे वैर तो मरणान्त ही था अब वैर किस बातका? ऐसा कहकर वे उसका अन्तिम संस्कार करते हैं, विभीषण मन्दोदरी आदि सभीको समझाते हैं। 'ईदृशी भवितव्यता' कहकर वे सबको शान्त करते हैं। अयोध्या वापिस आनेपर राज्यभार संभालते हैं। लोकापवादके भयसे सीताका परित्याग होता है। राम पुटपाककी तरह भीतर ही भीतर दुःखी रहते हैं पर बाह्यमें सब काम यथावत् चलते रहते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि राम स्वयं कष्ट उठाकर भी लोकमर्यादाकी रक्षा करना चाहते हैं इसलिए वे लोकमें मर्यादा-पुरुषोत्तमके नामसे प्रसिद्ध होते हैं। अग्निपरीक्षाके लिए सीताको आदेश देते हैं पर जब गगन-चुम्बी ज्वालाओंकी राशि देखते हैं तब करुणाकुल हो लक्ष्मणसे कहते हैं लक्ष्मण! कहीं सीता जल न जाय? लक्ष्मणके मरणके बाद तो छह माह तक उनका स्नेह उन्हें मानो पागल ही बना देता है। अनन्तर वे सचेत हो दीक्षा धारण करते हैं। इस बीचमें सीता तपश्चरण कर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हो चुकती है। वह उन्हें चञ्चलचित्त करनेके लिए बहुत प्रयत्न करती है पर सब बेकार है। आखिर केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष पदके उपभोक्ता होते हैं। वास्तवमें रामके जीवनकी प्रत्येक घटनाएँ और उनकी प्रत्येक प्रवृत्तियाँ मानव मात्रको ऊँचा उठाने वाली हैं, यही तो कारण है कि आज इतना भारी अन्तराल बीत जानेपर भी राम जन-जनके श्रद्धाभाजन बने हुए हैं।

[७] सीता—

जनकनन्दिनी सीता रामकी आदर्श पत्नी हैं। राम गम्भीरताके समुद्र हैं तो सीता दया की सरिता है। सीता अपने शीलके लिए प्रसिद्ध है। राजा अमितवीर्यके विरुद्ध जब सीता, लक्ष्मण तथा उनके सालोंको उत्तेजित देखती है तब सीता जो गम्भीर प्रवचन करती है आखिर राम उसका समर्थन ही करते हैं और लक्ष्मणसे कहते हैं कि सीताने जो कहा है वह हृदयहारी है, दूरदर्शितासे भरा है, और विचारणीय है। वज्रकर्णके शत्रु सिंहोदरको लक्ष्मण कस कर बाँध लाते हैं और सीता तथा रामके सामने डाल देते हैं। उसकी दशा देख नारीकी कोमलता वचनद्वारसे फूट पड़ती है जिसे देख सिंहोदर पानी-पानी हो जाता है।

दण्डक वनमें कर्णरवा नदीके किनारे सीता भोजन बनाती है चारण ऋद्धिधारी मुनियों को आते देख उसकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहता है, वह रामको मुनियोंके दर्शन कराती है और भक्तिसे पड़गाहकर आहार देती है। चन्द्रनखाका प्रपञ्च सीता हरणका कारण बनता है। रावण छलसे सीताका हरण करता है। रावणकी अशोकवाटिकामें सीताके सामने तरह-तरहके प्रलोभन आते हैं पर उन सबको वह ठुकरा देती है। 'जब तक रामका सन्देश न मिलेगा तब तक आहार पानीका त्याग है' ऐसा नियम लेकर वह देवीकी भाँति बैठ जाती है। हनूमान्, रामका सन्देश लेकर पहुँचते हैं। उसकी प्रसन्नताका पारावार नहीं रहता। युद्ध होता है, रावण

मारा जाता है, सीताका रामसे मिलाप होता है, अयोध्यामें वापिस आनेपर कुछ समय बाद सीता गर्भवती होती है। लोकापवादके भयसे राम उसे बीहड़ अटवीमें छुड़वा देते हैं, फिर भी रामके प्रतिकूल उसके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकलता है। वह यही कहती है कि मेरे भाग्य का दोष है। लक्ष्मणके हाथ सन्देश भेजती है कि जिस प्रकार लोगोंके कहनेसे आपने मेरा त्याग किया है उस प्रकार लोकोत्तर धर्मका त्याग नहीं कर देना। सम्यग्दृष्टि पुरुष बाह्यनिमित्तोंसे न जूझकर अपने अन्तरङ्ग निमित्तसे जूझते हैं' इसी कारण सीताने इस भारी अपमानके समय भी अपना ही दोष देखा, रामका नहीं। छोड़कर लक्ष्मण वापिस चले आते हैं। गर्भवती स्त्री अकेली, निर्जन वनमें क्या करेगी ? यह भी रामने नहीं विचारा। सीताका विलाप सुन वज्रजंघ राजा वहाँ पहुँचता है, सीताको बहिनके रूपमें घर ले जाता है और वहीं सीता युगलपुत्रों को जन्म देती है। पुत्रोंका लालन-पालन बड़े प्यारसे होता है। शूर-वीर पिताके शूर-वीर ही पुत्र थे। पितासे युद्ध कर तथा उन्हें परास्त कर अपना परिचय देते हैं, नारदके द्वारा राम-लक्ष्मणको पुत्रोंका पता चलता है, यह पिता और पुत्रोंका मिलन हृदयको गद्गद कर देता है। सीताकी अग्नि-परीक्षा होती है। सतीके शीलसे अग्नि-कुण्ड जल-कुण्ड हो जाता है। इस देवकृत अतिशयसे सीताके शीलकी महिमा सर्वत्र फैल जाती है। राम कहते हैं कि प्रिये ! घर चलो, पर सीता कहती है कि मैं घर देख चुकी, अब तो वन देखूँगी और वनमें जाकर आर्यिका हो जाती है, सीताकी निःशल्य आत्मा तपके प्रभावसे अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुई। इस तरह हम सीताको आदर्श नारीके रूपमें पाते हैं।

[८] लक्ष्मण—

लक्ष्मण राजा दशरथकी सुमित्रा रानीके पुत्र हैं। रामके साथ इनका नैसर्गिक प्रेम है, उनके प्रेमके पीछे हम लक्ष्मणको अपना समस्त सुख न्यौछावर करते हुए पाते हैं। रामको वनवासके लिए उद्यत देख, लक्ष्मण उनके पीछे हो लेते हैं। यद्यपि पहले पिताके प्रति उन्हें कुछ रोष उत्पन्न होता है, पर बादमें यह सोचकर संतोष कर लेते हैं कि 'न्याय अन्याय बड़े भाई समझते हैं, मेरा कर्तव्य तो इनके साथ जाना है।' वनवासमें लक्ष्मण राम तथा सीताकी सुख-सुविधाका पूरा ख्याल रखते हैं। आहारादिकी व्यवस्था यही जुटाते हैं। शूरवीरताके तो मानो अवतार हो हैं। भयका अंश भी इनके हृदयमें नहीं दिखता है। रामके अनन्य आज्ञाकारी हैं। वनवासमें यदि कहीं किसी राजाके यहाँ विवाह आदिकी चर्चा आती है तो आप साफ कह देते हैं कि हमारे बड़े भाईसे पूछो। लंकामें युद्धके समय जब इन्हें शक्ति लगती है तब राम बड़े दुःखी हो जाते हैं, करुण-विलाप करते हैं, पर विशल्याके स्नान जलसे उनकी व्यथा दूर हो जाती है। रावणका चक्र इनके हाथमें आता है और उसीसे ये रावणका नाश करते हैं। दिग्विजयके द्वारा भरतके तीनखण्डोंमें अपना आधिपत्य स्थापित करते हैं। रामके इतने अनुरागी हैं कि उनके मरण का झूठा समाचार पाकर ही शरीर छोड़ देते हैं। प्रकृतिमें यद्यपि उग्रता है पर गाम्भीर्यके सागर बड़े भाईके समक्ष छोटे भाईकी यह उग्रता शोभास्पद ही दीखती है।

[९] भरत—

भरत राजा दशरथकी केकया रानीके सुत हैं। माताकी छल-क्षुद्रतासे कोसो दूर हैं। इन्हें राजा बनानेके लिए केकयाने सब कुछ किया पर इन्होंने राजा बनना स्वीकृत नहीं किया। गृहवाससे सदा उदास दृष्टिगत होते हैं। रामके वनवासके समय दृढ़तासे राज्यका पालन करते हैं। लोकव्यवहार और मर्यादाके रक्षक हैं। रामके वनवाससे आनेके बाद विरक्त हो प्रव्रज्या ले लेते हैं।

[१०] हनूमान्—

रामके कथानकमें हनूमान्का संयोग मणिकाञ्चन संयोग है। वाल्मीकिने हनूमान्का जो वर्णन किया है वह असंगत तथा महापुरुषका अवर्णवाद है, ये वानर वंशके शिरोमणि तद्भव-मोक्षगामी विद्याधर हैं, इनका साक्षात् वानरके रूपमें वर्णन करना अविचारित रम्य है। इनके पिताका नाम पवनञ्जय और माताका नाम अञ्जना है। अञ्जनाने २२ वर्ष तक पतिके विप्रलम्भमें जो लम्बा कष्ट सहा है और उसके बाद सास केतुमतीके कटुक व्यवहारसे वनमें जो दुःख भोगे हैं उन्हें पढ़कर कोई भी सहृदय व्यक्ति आँसू बहाये बिना नहीं रह सकता। अञ्जनाके चरित्र-चित्रणमें आचार्य रविषेणने करुण रसकी जो धारा बहाई है उससे प्रकृत ग्रन्थका पर्याप्त गौरव बढ़ा है। सीताहरणके बादसे हनूमान् रामके सम्पर्कमें आते हैं और रामको अयोध्या वापिस भेज देने तक बड़ी तत्परतासे उनकी सेवा करते हैं। हनुमान् चरमशरीरी महापुरुष हैं।

[११] विभीषण—

विभीषण रावणके छोटे भाई हैं। धर्मज्ञता और नीतिज्ञताके मानो अवतार ही हैं। 'रावणका मरण दशरथ और जनककी संतानोंसे होगा' किसी निमित्तज्ञानीसे ऐसा जानकर आप दशरथ तथा जनकका नाश करनेके लिए भारतमें आते हैं पर नारदकी कृपासे दशरथ और जनकको पहलेसे ही यह समाचार मालूम हो जाता है, इसलिए वे अपने महलोंमें अपने ही जैसे पुतले स्थापितकर बाहर निकल जाते हैं। विभीषण उन पुतलोंको सचमुचके दशरथ और जनक समझ तलवारसे उनके सिर काटकर संतोष कर लेते हैं पर जब उनकी अन्तरात्मामें विवेक जागृत होता है तब वे अपने इस कुकृत्यसे बहुत पछताते हैं। रावण सीताको हरकर लंका ले जाता है तब विभीषण उसे शक्तिभर समझाते हैं। अन्तमें जब नहीं समझता है और उलटा विभीषणका तिरस्कार करता है तब उसे छोड़ रामसे आ मिलते हैं, राम उनकी नैतिकतासे बहुत प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार हम एक माँके उदरसे उत्पन्न रावण और विभीषणको अन्धकार और प्रकाशके समान विभिन्न रूपमें पाते हैं।

पद्मचरितका साहित्यिक रूप—

पद्मचरितकी भाषा प्रसादगुणसे ओत-प्रोत तथा अत्यन्त मनोहारिणी है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित पद्मचरितको देखनेके बाद पहले मेरे मनमें धारणा जम गई थी कि इसमें वाल्मीकि रामायणके समान भाषा सम्बन्धी शिथिलता अधिक है पर जब हस्तलिखित प्रतियोंसे मिलान करने पर शुद्ध पाठ सामने आये तब हमारी उक्त धारणा उन्मूलित हो गई। वन, नदी, सेना, युद्ध आदिका वर्णन करते हुए कविने बहुत ही कमाल किया है। चित्रकूट पर्वत, गङ्गा नदी तथा वसन्त आदि ऋतुओंका वर्णन आचार्य रविषेणने जिस खूबीसे किया है वैसा तो हम महाकाव्योंमें भी नहीं देखते हैं। प्रस्तावना लेख लम्बा हुआ जा रहा है नहीं तो मैं वे सब अवतरण उद्धृतकर पाठकोंके सामने रखता जिनमें कविकी लेखनीने कमाल किया है। विमल सूरिके 'पउमचरिय' को पढ़नेके बाद जब हम रविषेणके पद्मचरितको पढ़ते हैं तब स्पष्ट जान पड़ता है कि इन्होंने अपनी रचनाको कितनी सरस और काव्यके अनुकूल बनाया है।

यह अनुवाद और आभार प्रदर्शन—

महापुराणके प्रस्तावना लेखमें मैंने लिखा था कि दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें महापुराण, पद्मपुराण और हरिवंशपुराण ये तीनों ही पुराण साहित्यके शिरोमणि हैं। महापुराणका सानुवाद सम्पादनकर प्रसन्नताका अनुभव करते हुए मैंने शेष दो पुराणोंके सम्पादन तथा प्रका-

शनकी ओर समाजका ध्यान आकर्षित किया था। प्रसन्नताकी बात है कि भारतीय ज्ञानपीठके संचालकोंको मेरी वह बात पसन्द पड़ गई जिससे उन्होंने ज्ञानपीठसे इन दोनों पुराणोंका भी प्रकाशन स्वीकृत कर लिया। जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ, सहृदय शिरोमणि पं० फूलचन्द्रजीने भी ज्ञानपीठके संचालकोंका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। इसलिए मैं इन सब महानुभावोंका अत्यन्त आभारी हूँ। ग्रन्थका सम्पादन हस्तलिखित प्रतियोंके बिना नहीं हो सकता, इसलिए मैंने अपने सहाध्यायी मित्र पं० परमानन्दजी देहलीको हस्तलिखित प्रतियोंके लिए लिखा, तो वे देहलीके भाण्डारोंसे दो मूल प्रतियाँ एक श्रीचन्द्रके टिप्पणकी प्रति तथा अपनी निजी लाइब्रेरीसे 'पउमचरिय' लेकर स्वयं सागर आकर दे गये। शेष दो प्रतियाँ भी बम्बई तथा जयपुरसे प्राप्त हुईं इसलिए मैं इस साधन सामग्रीके जुटानेवाले महानुभावोंका अत्यन्त आभारी हूँ। चार हस्तलिखित और एक मुद्रित प्रतिके आधारपर मैंने पाठ भेद लिये हैं। अबकी बार पाठ भेद लेनेमें अकेले ही श्रम करना पड़ा, इसलिए समय और शक्ति पर्याप्त लगानी पड़ी। प्रारम्भसे लेकर २८ पर्व तक तो मूल श्लोकोंकी पाण्डुलिपि मैंने स्वयं तैयार की परन्तु 'ब' प्रतिके अधिकारियोंका सख्त तक़ाजा जल्दी भेजनेका होनेसे उसके बाद माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे मुद्रित मूल प्रति पर ही अन्य पुस्तकोंके पाठ भेद अङ्कित करने पड़े। ग्रन्थ सम्पादन, साहित्यिक सेवाका अनुष्ठान है। विद्वान् इसे सुविधानुसार ही कर पाते हैं और फिर मुझ जैसे व्यक्तिको जिसे अन्यान्य अनेक कार्योंमें निरन्तर उलझा रहना पड़ता है, कुछ समय ज्यादा लग जाता है इस बीचमें प्रतियोंके अधिकारियोंकी ओरसे बार-बार जल्दी भेजनेका तक़ाजा अखरने लगता है। सरस्वती भवनकी आलमारियोंमें रखे रहनेकी अपेक्षा यदि उनकी प्रतिका किसी ग्रन्थके निर्माणमें उपयोग हो रहा है तो मैं इसे उत्तम ही समझता हूँ। अस्तु, जो प्रति जितने समयके लिए प्राप्त हुई उसका मैंने पूर्ण उपयोग किया है और मैं उन प्रतियोंके प्रेषकों तथा संरक्षकोंके प्रति अत्यन्त आभार प्रकट करता हूँ। पद्मचरितका ग्यारहवाँ पर्व दार्शनिक विचारोंसे भरा है, इसके तीन चार श्लोकोंका भाव हमारी समझमें नहीं आया जिसे पं० फूलचन्द्रजीने मिलाया है इसलिए मैं इनका आभारी हूँ।

प्रस्तावना लिखनेमें इतिहासज्ञताकी आवश्यकता है और इस विषयमें मैं अपने आपको बिलकुल अनभिज्ञ समझता हूँ। प्रस्तावनामें जो कुछ लिखा गया है वह श्रद्धेय विद्वान् श्री नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई, मित्रवर पं० परमानन्दजी शास्त्री और डा० रेवरेंड फ़ादर कामिल बुल्के एम० जे०, एम० ए०, डी० फिल्० अध्यक्ष हिन्दी विभाग, सन्त जेवियर कालेज राँची, के द्वारा लिखित रामकथाके आधारसे लिखा गया है और कितनी जगह तो हमने उनके ही शब्द आत्मसात् कर लिये हैं इसलिए मैं इन विद्वानोंके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। कविवर दौलतरामजी कृत हिन्दी अनुवादका प्रचार जैन समाजमें घर-घर है शायद ही ऐसा कोई दि० जैन मन्दिर हो जहाँ पद्मपुराणकी इस टीकाका सद्भाव न हो। यद्यपि वह टीका अविकल नहीं है सिर्फ कथाका भाव लेकर लिखी गई है पर तो भी अनुवादमें तथा कथा सम्बन्ध जोड़नेमें उससे पर्याप्त सहायता मिली है। अतः मैं स्व० कविवर दौलतरामजीके प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट करता हूँ। मैं अत्यन्त अल्पज्ञानी क्षुद्र मानव हूँ इसलिए मुझसे सम्पादन तथा अनुवाद में त्रुटियोंका रह जाना सब तरह संभव है अतः मैं इसके लिए विद्वानोंसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

सागर
फाल्गुन शुक्ला ३ वीर निर्वाण २२८४

विनीत—
पन्नालाल जैन

विषयानुक्रमणिका

प्रथम पर्व

द्वितीय पर्व

तृतीय पर्व

चतुर्थ पर्व

पञ्चम पर्व

षष्ठ पर्व

सप्तम पर्व

अष्टम पर्व

नवम पर्व

दशम पर्व

एकादश पर्व

द्वादश पर्व

त्रयोदश पर्व

चतुर्दश पर्व

पञ्चदश पर्व

षोडश पर्व

सप्तदश पर्व

अष्टादश पर्व

एकोनविंशतितम पर्व

विंशतितम पर्व

एकविंशतितम पर्व

द्वाविंशतितम पर्व

त्रयोविंशतितम पर्व

चतुर्विंशतितम पर्व

पञ्चविंशतितम पर्व

श्रीमद्रविषेणाचार्यकृतम्

पद्मचरितापरनामधेयं

पद्मपुराणम्

प्रथमं पर्व

सिद्धं सम्पूर्णभव्यार्थं सिद्धेः कारणमुत्तमम् । प्रशस्तदर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपादिनम् ॥१॥
सुरेन्द्रमुकुटाश्लिष्टपादपद्मांशुकेशरम् । प्रणमामि महावीरं लोकत्रितयमङ्गलम् ॥२॥
प्रथमं चावसर्पिण्यामृषभं जिनपुङ्गवम् । योगिनं सर्वविद्यानां विधातारं स्वयम्भुवम् ॥३॥
अजितं विजिताशेषबाह्यशारीरशात्रवम् । शम्भवं शं भवत्यस्मादित्यभिख्यामुपागतम् ॥४॥
अभिनन्दितनिःशेषभुवनं चाभिनन्दनम् । सुमतिं सुमतिं नाथं मतान्तरनिरासिनम् ॥५॥
उद्यदर्ककरालीढपद्माकरसमप्रभम् । पद्मप्रभं सुपार्श्वं च सुपार्श्वं सर्ववेदिनम् ॥६॥
शरत्सकलचन्द्राभं परं चन्द्रप्रभं प्रभुम् । पुष्पदन्तं च सम्फुल्लकुन्दपुष्पप्रभद्विजम् ॥७॥
शीतलं शीतलध्यानदायिनं परमेष्ठिनम् । श्रेयांसं भव्यसत्त्वानां श्रेयांसं धर्मदेशिनम् ॥८॥

चिदानन्द चैतन्य के गुण अनन्त उर धार ।
भाषा पद्मपुराण की भाषूँ श्रुति अनुसार ॥ १ ॥ —दौलतरामजी

जो स्वयं कृतकृत्य हैं, जिनके प्रसादसे भव्यजीवोंके मनोरथ पूर्ण होते हैं, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका प्रतिपादन करनेवाले हैं, जिनके चरणकमलोंकी किरणरूपी केशर इन्द्रोंके मुकुटोंसे आश्लिष्ट हो रही है तथा जो तीनों लोकोंमें मङ्गलस्वरूप हैं ऐसे महावीर भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१-२॥ जो योगी थे, समस्त विद्याओंके विधाता और स्वयम्भू थे ऐसे अवसर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभजिनेन्द्रको नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥ जिन्होंने समस्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली ऐसे अजितनाथ भगवान्को तथा जिनसे शम् अर्थात् सुख प्राप्त होता है ऐसे सार्थक नामको धारण करनेवाले शम्भवनाथ भगवान्को नमस्कार करता हूँ ॥४॥ समस्त संसारको आनन्दित करनेवाले अभिनन्दन भगवान्को एवं सम्यग्ज्ञानके धारक और अन्य मतमतान्तरोंका निराकरण करनेवाले सुमतिनाथ जिनेन्द्रको नमस्कार करता हूँ ॥५॥ उदित होते हुए सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त कमलोंके समूहके समान कान्तिको धारण करनेवाले पद्मप्रभ भगवान्को तथा जिनकी पसली अत्यन्त सुन्दर थीं ऐसे सर्वज्ञ सुपार्श्वनाथ जिनेन्द्रको नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥ जिनके शरीरकी प्रभा शरद्ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाके समान थी ऐसे अत्यन्त श्रेष्ठ चन्द्रप्रभ स्वामीको और जिनके दाँत फूले हुए कुन्द पुष्पके समान कान्तिके धारक थे ऐसे पुष्पदन्त भगवान्को नमस्कार करता हूँ ॥७॥ जो शीतल अर्थात् शान्तिदायक ध्यानके देनेवाले थे ऐसे शीतलनाथ जिनेन्द्रको तथा जो कल्याण रूप थे एवं भव्यजीवोंको धर्मका उपदेश देते थे ऐसे श्रेयांसनाथ भगवान्को नमस्कार करता हूँ ॥८॥

वासुपूज्यं सतामीशं [१]वसुपूज्यं जितद्विषम् । विमलं जन्ममूलानां मलानामतिदूरगम् ॥९॥
अनन्तं दधतं ज्ञानमनन्तं कान्तदर्शनम् । धर्मं धर्मध्रुवाधारं शान्तिं शान्तिजिताहितम् ॥१०॥
कुन्थुप्रभृतिसत्त्वानां कुन्थुं हितनिरूपितम् । अशेषक्लेशनिर्मोक्षपूर्वसौख्यारणादरम् ॥११॥
संसारस्य निहन्तारं मल्लं मल्लिं मलोज्झितम् । नमिं च प्रणताशेषं सुरासुरगुरुं विभुम् ॥१२॥
अरिष्टनेमिमन्यूनारिष्टनेमिं महाद्युतिम् । पार्श्वं नागेन्द्रसंसक्तपरिपार्श्वं विशां पतिम् ॥१३॥
सुव्रतं सुव्रतानां च देशकं दोषदारिणम् । यस्य तीर्थे समुत्पन्नं पद्मस्य चरितं शुभम् ॥१४॥
अन्यानपि महाभागान् मुनीन् गणधरादिकान् । प्रणम्य मनसा वाचा कायेन च पुनः पुनः ॥१५॥
पद्मस्य चरितं वक्ष्ये पद्मालिङ्गितवक्षसः । प्रफुल्लपद्मवक्त्रस्य [२]पुरुपुण्यस्य धीमतः ॥१६॥
अनन्तगुणगेहस्य तस्योदारविचेष्टिनः । गदितुं चरितं शक्तः केवलं श्रुतकेवली ॥१७॥
यादृशोऽपि वदत्येव चरितं यस्य यत्पुमान् । तच्चरितं क्रमायातं परमं देशदेशनात् ॥१८॥
मत्तवारणसंक्षुण्णे व्रजन्ति हरिणाः पथि । प्रविशन्ति भटा युद्धं महाभटपुरस्सराः ॥१९॥
भास्वता भासितानर्थान् सुखेनालोकते जनः । सूचीमुखविनिर्भिन्नं मणिं विशति सूत्रकम् ॥२०॥

जो सज्जनोंके स्वामी थे एवं कुबेरके द्वारा पूज्य थे ऐसे वासुपूज्य भगवान्‌को और संसारके मूल-कारण मिथ्यादर्शन आदि मलोंसे बहुत दूर रहनेवाले श्रीविमलनाथ भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ ॥९॥ जो अत्यन्त ज्ञानको धारण करते थे तथा जिनका दर्शन अत्यन्त सुन्दर था ऐसे अनन्त-नाथ जिनेन्द्रको, धर्मके स्थायी आधार धर्मनाथ स्वामीको और शान्तिके द्वारा ही शत्रुओंको जीतनेवाले शान्तिनाथ तीर्थङ्करको नमस्कार करता हूँ ॥१०॥ जिन्होंने कुन्थु आदि समस्त प्राणियों के लिए हितका निरूपण किया था ऐसे कुन्थुनाथ भगवान्‌को और समस्त दुःखोंसे मुक्ति पाकर जिन्होंने अनन्तसुख प्राप्त किया था ऐसे अरनाथ जिनेन्द्रको नमस्कार करता हूँ ॥११॥ जो संसारको नष्ट करनेके लिए अद्वितीय मल्ल थे ऐसे मलरहित मल्लिनाथ भगवान्‌को और जिन्हें समस्त लोग प्रणाम करते थे तथा सुर-असुर सभीके गुरु थे ऐसे नमिनाथ स्वामीको नमस्कार करता हूँ ॥१२॥ जो बहुत भारी अरिष्ट अर्थात् दुःखसमूहको नष्ट करनेके लिए नेमि अर्थात् चक्रधाराके समान थे साथ ही अतिशय कान्तिके धारक थे ऐसे अरिष्टनेमि नामक बाईसवें तीर्थङ्करको तथा जिनके समीपमें धरणेन्द्र आकर बैठा था साथ ही जो समस्त प्रजाके स्वामी थे ऐसे पार्श्व-नाथ भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ ॥१३॥ जो उत्तम व्रतोंका उपदेश देनेवाले थे, जिन्होंने क्षुधा, तृषा आदि दोष नष्ट कर दिये थे और जिनके तीर्थमें पद्म अर्थात् कथानायक रामचन्द्रजीका शुभचरित उत्पन्न हुआ था ऐसे मुनि सुव्रतनाथ भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ ॥१४॥ इनके सिवाय महाभाग्यशाली गणधरों आदिको लेकर अन्यान्य मुनिराजोंको मन, वचन, कायसे बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥१५॥ इस प्रकार प्रणामकर मैं उन रामचन्द्रजीका चरित्र कहूँगा जिनका कि वक्षःस्थल पद्मा अर्थात् लक्ष्मी अथवा पद्म नामक चिह्नसे आलिङ्गित था, जिनका मुख प्रफुल्लित कमलके समान था, जो विशाल पुण्यके धारक थे, बुद्धिमान् थे, अनन्त गुणोंके गृहस्वरूप थे और उदार-उत्कृष्ट चेष्टाओंके धारक थे। उनका चरित्र कहनेमें यद्यपि श्रुतकेवली ही समर्थ हैं तो भी आचार्य-परम्पराके उपदेशसे आये हुए उस उत्कृष्ट चरित्रको मेरे जैसे क्षुद्र पुरुष भी कर रहे हैं सो उसका कारण स्पष्ट ही है ॥१६-१८॥ मदोन्मत्त हाथियोंके द्वारा संचरित मार्गमें हरिण भी चले जाते हैं तथा जिनके आगे बड़े-बड़े योद्धा चल रहे हैं ऐसे साधारण योद्धा भी युद्धमें प्रवेश करते ही हैं ॥१९॥ सूर्यके द्वारा

---

१. वसुना कुबेरेण पूज्यं वसुपूज्यं 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति कोषः । २. गुरुपुण्यस्य. म० पुंसः पुण्यस्य ।

बुधपङ्क्तिक्रमायातं चरितं रामगोचरम् । भक्त्या प्रणोदिता बुद्धिः प्रष्टुं मम समुद्यता ॥२१॥
विशिष्टचिन्तयायातं यच्च श्रेयः क्षणान्महत् । तेनैव रचिता याता चारुतां मम भारती ॥२२॥
व्यक्ताकारादिवर्णा वाग् लम्भिता या न सत्कथाम् । सा तस्य निष्फला जन्तोः पापादानाय केवलम्॥२३
वृद्धिं भजति विज्ञानं यशश्चरति निर्मलम् । प्रयाति दुरितं दूरं महापुरुषकीर्तनात् ॥२४॥
अल्पकालमिदं जन्तोः शरीरं रोगनिर्भरम् । यशस्तु सत्कथाजन्म यावच्चन्द्रार्कतारकम् ॥२५॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पुरुषेणात्मवेदिना । शरीरं स्थास्नु कर्तव्यं महापुरुषकीर्तनम् ॥२६॥
लोकद्वयफलं तेन लब्धं भवति जन्तुना । यो विधत्ते कथां रम्यां सज्जनानन्ददायिनीम् ॥२७॥
सत्कथाश्रवणौ यौ च श्रवणौ तौ मतौ मम । अन्यौ विदूषकस्येव श्रवणाकारधारिणौ ॥२८॥
सच्चेष्टावर्णना वर्णा घूर्णन्ते यत्र मूर्धनि । अयं मूर्द्धाऽन्यमूर्द्धा तु नालिकेरकरङ्कवत् ॥२९॥
सत्कीर्तनसुधास्वादसक्तं च रसनं स्मृतम् । अन्यच्च दुर्वचोधारं कृपाणदुहितुः फलम् ॥३०॥
श्रेष्ठावोष्ठौ च तावेव यौ सुकीर्तनवर्तिनौ । न शम्बूकास्यसंभुक्तजलौकापृष्ठसन्निभौ ॥३१॥
दन्तास्त एव ये शान्तकथासङ्गमरञ्जिताः । शेषाः सश्लेष्मनिर्वाणद्वारबन्धाय केवलम् ॥३२॥
मुखं श्रेयःपरिप्राप्तेर्मुखं मुख्यकथारतम् । अन्यत्तु मलसम्पूर्णं दन्तकीटाकुलं बिलम् ॥३३॥

प्रकाशित पदार्थोंको साधारण मनुष्य सुखपूर्वक देख लेते हैं और सुईके अग्रभागसे बिदारे हुए मणिमें सूत अनायास ही प्रवेश कर लेता है ॥२०॥ रामचन्द्रजीका जो चरित्र विद्वानोंकी परम्परा से चला आ रहा है उसे पूछनेके लिए मेरी बुद्धि भक्तिसे प्रेरित होकर ही उद्यत हुई है ॥२१॥ विशिष्ट पुरुषोंके चिन्तवनसे तत्काल जो महान् पुण्य प्राप्त होता है उसीके द्वारा रचित होकर मेरी वाणी सुन्दरताको प्राप्त हुई है ॥२२॥ जिस पुरुषकी वाणीमें अकार आदि अक्षर जो व्यक्त है पर जो सत्पुरुषोंकी कथाको प्राप्त नहीं कराई गई है उसकी वह वाणी निष्फल है और केवल पाप-संचयका ही कारण है ॥२३॥ महापुरुषोंका कीर्तन करनेसे विज्ञान वृद्धिको प्राप्त होता है, निर्मल यश फैलता है और पाप दूर चला जाता है ॥२४॥ जीवोंका यह शरीर रोगोंसे भरा हुआ है तथा अल्प काल तक ही ठहरनेवाला है परन्तु सत्पुरुषोंकी कथासे जो यश उत्पन्न होता है वह जबतक सूर्य, चन्द्रमा और तारे रहेंगे तबतक रहता है ॥२५॥ इसलिए आत्मज्ञानी पुरुषको सब प्रकारका प्रयत्नकर महापुरुषोंके कीर्तनसे अपना शरीर स्थायी बनाना चाहिए अर्थात् यश प्राप्त करना चाहिए ॥२६॥ जो मनुष्य सज्जनोंको आनन्द देनेवाली मनोहारिणी कथा करता है वह दोनों लोकोंका फल प्राप्त कर लेता है ॥२७॥ मनुष्यके जो कान सत्पुरुषोंकी कथाका श्रवण करते हैं मैं उन्हें ही कान मानता हूँ बाकी तो विदूषकके कानोंके समान केवल कानोंका आकार ही धारण करते हैं ॥२८॥ सत्पुरुषोंकी चेष्टाको वर्णन करनेवाले वर्ण-अक्षर जिस मस्तकमें घूमते हैं वही वास्तवमें मस्तक है बाकी तो नारियलके करङ्क—कड़े आवरणके समान हैं ॥२९॥ जो जिह्वा सत्पुरुषोंके कीर्तन रूपी अमृतका आस्वाद लेनेमें लीन है मैं उन्हें ही जिह्वा मानता हूँ बाकी तो दुर्वचनोंको कहनेवाली छुरीका मानो फलक ही है ॥३०॥ श्रेष्ठ ओंठ वे ही हैं जो कि सत्पुरुषों का कीर्तन करनेमें लगे रहते हैं बाकी तो शम्बूक नामक जन्तुके मुखसे भुक्त जोंकके पृष्ठके समान ही हैं ॥३१॥ दाँत वही हैं जो कि शान्त पुरुषोंकी कथाके समागमसे सदा रञ्जित रहते हैं— उसीमें लगे रहते हैं बाकी तो कफ निकलनेके द्वारको रोकनेवाले मानो आवरण ही हैं ॥३२॥ मुख वही है जो कल्याणकी प्राप्तिका प्रमुख कारण है और श्रेष्ठ पुरुषोंकी कथा कहनेमें सदा अनुरक्त रहता है बाकी तो मलसे भरा एवं दन्तरूपी कीड़ोंसे व्याप्त मानो गड्ढा ही है ॥३३॥

१. असिपुत्र्याः ।

वदिता योऽथवा श्रोता श्रेयसां वचसां नरः। पुमान् स एव शेषस्तु शिल्पिकल्पितकायवत् ॥३४॥
गुणदोषसमाहारे गुणान् गृह्णन्ति साधवः। क्षीरवारिसमाहारे हंसः क्षीरमिवाखिलम् ॥३५॥
गुणदोषसमाहारे दोषान् गृह्णन्त्यसाधवः। मुक्ताफलानि संत्यज्य काका मांसमिव द्विपात् ॥३६॥
अदोषामपि [1]दोषाक्तां पश्यन्ति रचनां खलाः। रविमूर्तिमिवोलूकास्तमालदलकालिकाम् ॥३७॥
सरो-जलागमद्वारजालकानीव दुर्जनाः। [2]धारयन्ति सदा दोषान् गुणबन्धनवर्जिताः ॥३८॥
स्वभावमिति संचिन्त्य सज्जनस्येतरस्य च। प्रवर्तन्ते कथाबन्धे स्वार्थमुद्दिश्य साधवः ॥३९॥
सत्कथाश्रवणाद् यच्च सुखं संपद्यते नृणाम्। कृतिनां स्वार्थ[3] एवासौ पुण्योपार्जनकारणम् ॥४०॥
[4]वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरम्। इन्द्रभूतिं परिप्राप्तः सुधर्मं [5]धारणीभवम् ॥४१॥
प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोऽनु(नू)त्तरवाग्मिनम्। लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नोऽयमुद्गतः ॥४२॥
स्थितिर्वंशसमुत्पत्तिः प्रस्थानं संयुगं ततः। लवणाङ्कुशसंभूतिर्भवोक्तिः परिनिर्वृतिः ॥४३॥
भवान्तरभवैर्भूरिप्रकारैश्चारुपर्वभिः। युक्ताः सप्त पुराणेऽस्मिन्नधिकारा इमे स्मृताः ॥४४॥
पद्मचेष्टितसम्बन्धकारणं [6]तावदेव च। त्रैशलादिगतं वक्ष्ये सूत्रं संक्षेपि तद्यथा ॥४५॥
वीरस्य समवस्थानं कुशाग्रगिरिमूर्द्धनि। श्रेणिकस्य परिप्रश्नमिन्द्रभूतेर्महात्मनः ॥४६॥
तत्र प्रश्ने युगे [7]यत्तामुत्पत्तिं [8]कुलकारिणाम्। भीतीश्च जगतो दुःखकारणाकस्मिकेक्षणात् ॥४७॥

जो मनुष्य कल्याणकारी वचनोंको कहता है अथवा सुनता है वास्तवमें वही मनुष्य है बाकी तो शिल्पकारके द्वारा बनाये हुए मनुष्यके पुतलेके समान हैं ॥३४॥ जिस प्रकार दूध और पानीके समूहमें से हंस समस्त दूधको ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार सत्पुरुष गुण और दोषोंके समूहमें से गुणोंको ही ग्रहण करते हैं ॥३५॥ और जिस प्रकार काक हाथियोंके गण्डस्थलसे मुक्ता फलोंको छोड़कर केवल मांस ही ग्रहण करते हैं उसी प्रकार दुर्जन गुण और दोषोंके समूहमेंसे केवल दोषोंको ही ग्रहण करते हैं ॥३६॥ जिस प्रकार उलूक पक्षी सूर्यकी मूर्तिको तमालपत्रके समान काली-काली ही देखते हैं उसी प्रकार दुष्ट पुरुष निर्दोष रचनाको भी दोषयुक्त ही देखते हैं ॥३७॥ जिस प्रकार किसी सरोवरमें जल आनेके द्वारपर लगी हुई जाली जलको तो नहीं रोकती किन्तु कूड़ा-कर्कटको रोक लेती है उसी प्रकार दुष्ट मनुष्य गुणोंको तो नहीं रोक पाते किन्तु कूड़ा-कर्कट के समान दोषोंको ही रोककर धारण करते हैं ॥३८॥ सज्जन और दुर्जनका ऐसा स्वभाव ही है यह विचारकर सत्पुरुष स्वार्थ—आत्मप्रयोजनको लेकर ही कथाकी रचना करनेमें प्रवृत्त होते हैं ॥३९॥ उत्तम कथाके सुननेसे मनुष्योंको जो सुख उत्पन्न होता है वहाँ बुद्धिमान् मनुष्योंका स्वार्थ—आत्मप्रयोजन कहलाता है तथा यही पुण्योपार्जनका कारण होता है ॥४०॥ श्री वर्धमान जिनेन्द्रके द्वारा कहा हुआ यह अर्थ इन्द्रभूति नामक गौतम गणधरको प्राप्त हुआ। फिर धारिणिके पुत्र सुधर्माचार्यको प्राप्त हुआ। फिर प्रभवको प्राप्त हुआ, फिर कीर्तिधर आचार्यको प्राप्त हुआ। उनके अनन्तर उत्तरवाग्मी मुनिको प्राप्त हुआ। तदनन्तर उनका लिखा प्राप्तकर यह रविषेणाचार्यका प्रयत्न प्रकट हुआ है ॥ ४१-४२ ॥ इस पुराणमें निम्नलिखित सात अधिकार हैं—(१) लोकस्थिति, (२) वंशोंकी उत्पत्ति, (३) वनके लिए प्रस्थान, (४) युद्ध, (५) लवणाङ्कुशकी उत्पत्ति, (६) भवान्तर निरूपण और (७) रामचन्द्रजीका निर्वाण। ये सातों ही अधिकार अनेक प्रकारके सुन्दर-सुन्दर पर्वोंसे सहित हैं ॥४३-४४॥ रामचन्द्रजीकी कथाका सम्बन्ध बतलानेके लिए भगवान् महावीर स्वामीकी भी संक्षिप्त कथा कहूँगा जो इस प्रकार है।

एक बार कुशाग्र पर्वत—विपुलाचलके शिखरपर भगवान् महावीर स्वामी समवसरण सहित आकर विराजमान हुए। जिसमें राजा श्रेणिकने जाकर इन्द्रभूति गणधरसे प्रश्न किया। उस

१. दोषोक्तां म०। २. चारयन्ति क०। ३. स्वर्थं क०। ४. ग्रन्थान्तेऽपि १२३तमपर्वणः १६६ तमश्लोके ग्रन्थकर्त्रा ग्रन्थानुपूर्वीमुद्दिश्य निम्नाङ्कितः श्लोको दत्तः—"निर्दिष्टं सकलैर्नतेन भुवनैः श्रीवर्द्धमानेन यत्तत्त्वं वासवभूतिना निगदितं जम्बोः प्रशिष्यस्य च। शिष्येणोत्तरवाग्मिना प्रकटितं पद्मस्य वृत्तं मुनेः श्रेयः साधुसमाधिवृद्धिकरणं सर्वोत्तमं मङ्गलम् ॥" ५. धारिणी म०। ६. तावदत्र ख०, म०। ७. यत्नां म०। ८. कुलकारिणीम् म०।

ऋषभस्य समुत्पत्तिमभिषेकं नगाधिपे । उपदेशं च विविधं लोकस्यार्तिविनाशनम् ॥४८॥
श्रामण्यं केवलोत्पत्तिमैश्वर्यं विष्टपातिगम् । सर्वामराधिपायानं निर्वाणसुखसंगमम् ॥४९॥
प्रधनं बाहुबलिनो भरतेन समं महत् । समुद्भवं द्विजातीनां कुतीर्थिकगणस्य च ॥५०॥
इक्ष्वाकुप्रभृतीनां च वंशानां गुणकीर्तनम् । विद्याधरसमुत्पत्तिं विद्युद्दंष्ट्रसमुद्भवम् ॥५१॥
उपसर्गं जयन्तस्य केवलज्ञानसंपदम् । नागराजस्य संक्षोभं विद्याहरणतर्जने[1] ॥५२॥
अजितस्यावतरणं पूर्णाम्बुदसुतासुखम् । विद्याधरकुमारस्य शरणं प्रतिसंश्रयम् ॥५३॥
रक्षोनाथपरिप्राप्तिं रक्षोद्वीपसमाश्रयम् । सगरस्य समुत्पत्तिं दुःखदीक्षणनिर्वृती[2] ॥५४॥
अतिक्रान्तमहारक्षोजन्मनः परिकीर्तनम् । शाखामृगध्वजानां च प्रज्ञप्तिमतिविस्तरात्[3] ॥५५॥
तडित्केशस्य चरितमुदधेरमरस्य च । किष्किन्धान्ध्रकगोत्पादं श्रीमालाखेचरागमम् ॥५६॥
वधाद् विजयसिंहस्य कोपं चाशनिवेगजम् । अन्ध्रकान्तमरिप्राप्तिं पुरस्य[4] विनिवेशनम् ॥५७॥
किष्किन्धपुरविन्यासं मधुपर्वतमूर्द्धनि । सुकेशनन्दनादीनां लङ्काप्राप्तिनिरूपणम् ॥५८॥
निर्घातवधहेतुं च मालिनः संपदं पराम् । दक्षिणे विजयार्धस्य भागे च रथनूपुरे ॥५९॥
पुरे जननमिन्द्रस्य सर्वविद्याभृतां विभोः । मालिनः पञ्चतावाप्तिं जन्म वैश्रवणस्य च ॥६०॥

प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने सर्वप्रथम युगोंका वर्णन किया। फिर कुलकरोंकी उत्पत्तिका वर्णन हुआ। अकस्मात् दुःखके कारण देखनेसे जगत्‌के जीवोंको भय उत्पन्न हुआ इसका वर्णन किया ॥४५-४७॥ भगवान् ऋषभदेवकी उत्पत्ति, सुमेरु पर्वतपर उनका अभिषेक और लोककी पीड़ाको नष्ट करनेवाला उनका विविध प्रकारका उपदेश बताया गया ॥ ४८ ॥ भगवान् ऋषभदेवने दीक्षा धारण की, उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, उनका लोकोत्तर ऐश्वर्य प्रकट हुआ, सब इन्द्रोंका आगमन हुआ और भगवान्‌को मोक्ष-सुखका समागम हुआ ॥ ४९ ॥ भरतके साथ बाहुबलीका बहुत भारी युद्ध हुआ, ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति और मिथ्याधर्मको फैलानेवाले कुतीर्थियोंका आविर्भाव हुआ ॥ ५० ॥ इक्ष्वाकु आदि वंशोंकी उत्पत्ति, उनकी प्रशंसाका निरूपण, विद्याधरोंकी उत्पत्ति तथा उनके वंशमें विद्युद्दंष्ट्र विद्याधरके द्वारा संजयन्त मुनिको उपसर्ग हुआ। मुनिराज उपसर्ग सह केवलज्ञानी होकर निर्वाणको प्राप्त हुए। इस घटनासे धरणेन्द्रको विद्युद्दंष्ट्रके प्रति बहुत क्षोभ उत्पन्न हुआ जिससे उसने उसकी विद्याएँ छीन लीं तथा उसे बहुत भारी तर्जना दी ॥५१-५२॥ तदनन्तर श्री अजितनाथ भगवान्‌का जन्म, पूर्णमेघ विद्याधर और उसकी पुत्रीके सुखका वर्णन, विद्याधर कुमारका भगवान् अजितनाथकी शरणमें आना, राक्षस द्वीपके स्वामी व्यन्तर देवका आना तथा प्रसन्न होकर पूर्णमेघके लिए राक्षस द्वीपका देना, सगर चक्रवर्तीका उत्पन्न होना, पुत्रोंका मरण सुन उसके दुःखसे उन्होंने दीक्षाधारण की तथा निर्वाण प्राप्त किया ॥५३-५४॥ पूर्णमेघके वंशमें महारक्षका जन्म तथा वानरवंशी विद्याधरोंकी उत्पत्तिका विस्तारसे वर्णन ॥५५॥ विद्युत्केश विद्याधरका चरित्र, तदनन्तर उदधिविक्रम और अमरविक्रम विद्याधरका कथन, वानर-वंशियोंमें किष्किन्ध और अन्ध्रक नामक विद्याधरोंका जन्म लेना, श्रीमाला विद्याधरीका संगम होना ॥५६॥ विजयसिंहके बधसे अशनिवेगको क्रोध उत्पन्न होना, अन्ध्रकका मारा जाना और वानरवंशियोंका मधुपर्वतके शिखरपर किष्किन्धपुर नामक नगर बसाकर उसमें निवास करना। सुकेशीके पुत्र आदिको लङ्काकी प्राप्ति होना ॥५७-५८॥ निर्घात विद्याधरके वधसे मालीको बहुत भारी सम्पदाका प्राप्त होना, विजयार्ध पर्वतके दक्षिणभाग सम्बन्धी रथनूपुर नगरमें समस्त विद्याधरोंके अधिपति इन्द्रनामक विद्याधरका जन्म लेना, मालीका मारा जाना और वैश्रवणका उत्पन्न होना ॥५९-६०॥ सुमालीके पुत्र रत्नश्रवाका

१. सर्जने म० । २. निर्वृतिम् म० । ३. विस्तराम् म० । ४. पुरसुन्दरवेशनम् म० ।

पुष्पान्तकसमावेशं तनयस्य सुमालिनः। कैकस्या सह संयोगं चारुस्वप्नावलोकनम् ॥६१॥
दशाननस्य प्रजनि[1] विद्यानां समुपालनम्। अनावृतस्य संक्षोभमागमं च सुमालिनः ॥६२॥
मन्दोदर्याः परिप्राप्तिं कन्यकानां निरीक्षणम्। चेष्टितैर्भानुकर्णस्य कोपं वैश्रवणोद्भवम् ॥६३॥
यक्षराक्षससंग्रामं धनदस्य तपस्यनम्। लङ्कागमं दशास्यस्य प्रश्न[प्रस्न]चैत्यावलोकनम् ॥६४॥
श्रीमतो हरिषेणस्य माहात्म्यं पापनाशनम्। त्रिजगद्भूषणाभिख्य[2]द्विरदेन्द्रविलोकनम् ॥६५॥
यमस्थानच्युतिं चार्करजः किष्किन्धसंगमम्। चौरणं[3] कैकसेय्यांश्च[4] खरालङ्कारसंश्रयम् ॥६६॥
अनुराधामहादुःखं चन्द्रोदर[5]वियोगतः। विराधितपुरभ्रंशं सुग्रीवश्रीसमागमम् ॥६७॥
वालेः प्रव्रजनं क्षोभमष्टापदमहीभृतः। सुग्रीवस्य सुताराया लाभं साहसगामिनः ॥६८॥
संतापं विजयार्द्धाद्रिगमनं रावणस्य च।·····································॥६९॥
अनरण्यसहस्रांशुवैराग्यं यज्ञनाशनम्[6]। मधुपूर्वभवाख्यातमुपरम्भाभिभाषणम् ॥७०॥
विद्यालाभं महेन्द्रस्य राज्यलक्ष्मीपरिक्षयम्। दशास्यमेरुगमनं पुनश्च विनिवर्तनम् ॥७१॥
अनन्तवीर्यकैवल्यं दशास्यनियमक्रियाम्[7]। हनूमतः समुत्पत्तिं कपिकेतोर्महात्मनः ॥७२॥
अष्टापदे महेन्द्रेण प्रह्लादस्याभिभाषणम्। वायोः कोपं प्रसादं च तज्जायाप्रजनोज्झने[8] ॥७३॥
दिगम्बरेण कथनं हनूमत्पूर्वजन्मनः। सूतिं[9] हनूरुहप्राप्तिं प्रतिसूर्येण कारिताम् ॥७४॥

पुष्पान्तक नामक नगर बसाना, केकसीके साथ उसका संयोग होना, और केकसीका शुभ स्वप्नोंका देखना ॥६१॥ रावणका उत्पन्न होना और विद्याओंका साधन करना, अनावृत नामक देवको क्षोभ होना तथा सुमालीका आगमन होना ॥६२॥ रावणको मन्दोदरीकी प्राप्ति होना, साथ ही अन्य अनेक कन्याओंका अवलोकन होना और भानुकर्णकी चेष्टाओंसे वैश्रवणका कुपित होना ॥६३॥ यक्ष और राक्षस नामक विद्याधरोंका संग्राम, वैश्रवणका तप धारण करना, रावणका लङ्कामें आना और श्रेष्ठ चैत्यालयोंका अवलोकन करना ॥६४॥ पापोंको नष्ट करनेवाला हरिषेण चक्रवर्तीका माहात्म्य, त्रिलोकमण्डन हाथीका अवलोकन ॥६५॥ यमनामक लोकपालको अपने स्थानसे च्युत करना तथा वानरवंशी राजा सूर्यरजको किष्किन्धापुरका संगम करना। तदनन्तर रावणकी बहिन शूर्पणखाको खर-दूषण द्वारा हर ले जाना और उसीके साथ विवाह देना और खर-दूषणका पाताल लङ्का जाना ॥६६॥ चन्द्रोदरका युद्धमें मारा जाना और उसके वियोगसे उसकी रानी अनुराधाको बहुत दुःख उठाना, चन्द्रोदरके पुत्र विराधितका नगरसे भ्रष्ट होना तथा सुग्रीवको राज्यलक्ष्मीकी प्राप्ति होना ॥६७॥ वालिका दीक्षा लेना, रावणका कैलासपर्वतको उठाना, सुग्रीवको सुताराकी प्राप्ति होना, सुताराकी प्राप्ति न होनेसे साहसगति विद्याधरको सन्तापका होना तथा रावणका विजयार्ध पर्वतपर जाना ॥६८–६९॥ राजा अनरण्य और सहस्ररश्मिका विरक्त होना, रावणके द्वारा यज्ञका नाश हुआ उसका वर्णन, मधुके पूर्वभवोंका व्याख्यान और रावणकी पुत्री उपरम्भाका मधुके साथ अभिभाषण ॥७०॥ रावणको विद्याका लाभ होना, इन्द्रकी राज्य-लक्ष्मीका क्षय होना, रावणका सुमेरु पर्वतपर जाना और वहाँसे वापिस लौटना ॥७१॥ अनन्तवीर्य मुनिको केवलज्ञान उत्पन्न होना, रावणका उनके समक्ष यह नियम ग्रहण करना कि 'जो परस्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे नहीं चाहूँगा, तदनन्तर वानरवंशी महात्मा हनुमान्‌के जन्मका वर्णन ॥७२॥ कैलास पर्वतपर अञ्जनाके पिता राजा महेन्द्रका पवनञ्जयके पिता राजा प्रह्लादसे यह भाषण होना कि हमारी पुत्रीका तुम्हारे पुत्रसे सम्बन्ध हो, पवनञ्जयके साथ अञ्जनाका विवाह, पवनञ्जयका कुपित होना। तदनन्तर चकवा-चकवीका वियोग देख प्रसन्न होना, अञ्जनाके गर्भ रहना और सासु द्वारा उसका घरसे निकाला जाना ॥७३॥ मुनिराजके

१. प्रजनं म०। २. भिख्यं म०। ३. चारणं म०। ४. कैकसेयाश्च म०। ५. चन्द्रोदय म०। ६. जन्यनाशनम् क०। ७. नियमग्रहम् म०। ८. सजाया ख०। ९. 'सूतिस्तनूरुहप्राप्तिं प्रतिसूर्येण कारितम्' म०।

भूताटवीं प्रविष्टस्य वायोरिभविलोकनम्[1] । विद्याधरसमायोगमञ्जनादर्शनोत्सवम् ॥७५॥
वायुपुत्रसहायत्वं दारुणं परमं रणम् । रावणस्य महाराज्यं जैनमुत्सेधमन्तरम् ॥७६॥
रामकेशवतच्छत्रुषट्खण्डपरिचेष्टितम्[2] । दशस्यन्दनसंभूतिं कैकय्या वरसम्पदम् ॥७७॥
पद्मलक्ष्मणशत्रुघ्नभरतानां समुद्भवम् । सीतोत्पत्तिं प्रभाचक्रे हृतिं[3] तन्मातृशोचनम् ॥७८॥
नारदालिखितां सीतां दृष्ट्वा भ्रातुर्विमूढताम् । स्वयंवराय वृत्तान्तं चापरत्नस्य चोद्भवम् ॥७९॥
सर्वभूतशरण्यस्य दशस्यन्दनदीक्षणम् । भावक्रान्यभवज्ञानं विदेहायाश्च दर्शनम् ॥८०॥
कैकय्या वरतो राज्यप्रापणं भरतस्य च । वैदेहीपद्मसौमित्रिगमनं दक्षिणाशया ॥८१॥
चेष्टितं वज्रकर्णस्य[4] लाभं कल्याणयोषितः । रुद्रभूतिवशीकारं बालिखिल्यविमोचनम् ॥८२॥
निकारमरुणग्रामे रामपुर्यां निवेशनम्[5] । संगमं वनमालाया अतिवीर्यसमुन्नतिम् ॥८३॥
प्राप्तिं च जितपद्मायाः कौलदेशविभूषणम् । चरितं कारणं राम[6]चैत्यानां वंशपर्वते ॥८४॥
जटायुनियमप्राप्तिं पात्रदानफलोदयम् । महानागरथारोहं शम्बूक[7]विनिपातनम् ॥८५॥
कैकसेय्याश्च वृत्तान्तं खरदूषणविग्रहम् । सीताहरणशोकं च शोकं रामस्य दुर्धरम् ॥८६॥
विराधितस्यागमनं खरदूषणपञ्चताम् । विद्यानां रत्नजटिनश्छेदं सुग्रीवसंगमम् ॥८७॥

द्वारा हनुमान्के पूर्व जन्मका कथन होना, गुफामें हनुमान्का जन्म होना और अञ्जनाके मामा प्रतिसूर्यके द्वारा अञ्जना तथा हनुमान्को हनुरुह द्वीपमें ले जाना ॥७४॥ तदनन्तर पवनञ्जयका भूताटवीमें प्रवेश, वहाँ उसका हाथी देख प्रतिसूर्य विद्याधरका आगमन और अञ्जनाको देखनेका पवनञ्जयको बहुत भारी हर्ष हुआ इसका वर्णन ॥७५॥ हनुमान्के द्वारा रावणको सहायताकी प्राप्ति तथा वरुणके साथ अत्यन्त भयंकर युद्ध होना । रावणके महान् राज्यका वर्णन तथा तीर्थङ्करोंकी ऊँचाई और अन्तराल आदिका निरूपण ॥७६॥ बलभद्र, नारायण और उनके शत्रु प्रतिनारायण आदिकी छह खण्डोंमें होने वाली चेष्टाओंका वर्णन, राजा दशरथकी उत्पत्ति और कैकयीको वरदान देनेका कथन ॥७७॥ राजा दशरथके राम, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरतका जन्म होना, राजा जनकके सीताकी उत्पत्ति और भामण्डलके हरणसे उसकी माताको शोक उत्पन्न होना ॥७८॥ नारदके द्वारा चित्रमें लिखी सीताको देख भाई भामण्डलको मोह उत्पन्न होना, सीताके स्वयंवरका वृत्तान्त और स्वयंवरमें धनुषरत्नका प्रकट होना ॥७९॥ सर्वभूत-शरण्य नामक मुनिराजके पास राजा दशरथका दीक्षा लेना, सीताको देखकर भामण्डलको अन्य भवोंका ज्ञान होना ॥८०॥ कैकयीके वरदानके कारण भरतको राज्य मिलना और सीता, राम तथा लक्ष्मणका दक्षिण दिशाकी ओर जाना ॥८१॥ वज्रकर्णका चरित्र, लक्ष्मणको कल्याणमाला स्त्रीका लाभ होना, रुद्रभूतिको वशमें करना और बालखिल्यको छुड़ाना ॥८२॥ अरुण ग्राममें श्रीरामका आना, वहाँ देवोंके द्वारा बसाई हुई रामपुरी नगरीमें रहना, लक्ष्मणका वनमालाके साथ समागम होना और अतिवीर्यकी उन्नतिका वर्णन ॥८३॥ तदनन्तर लक्ष्मणको जितपद्माकी प्राप्ति होना, कुलभूषण और देवभूषण मुनिका चरित्र, श्रीरामने वंशस्थल पर्वतपर जिनमन्दिर बनवाये उनका वर्णन ॥८४॥ जटायु पक्षीको व्रतप्राप्ति, पात्रदानके फलकी महिमा, बड़े-बड़े हाथियोंसे जुते रथपर रामलक्ष्मण आदिका आरूढ होना, तथा शम्बूकका मारा जाना ॥८५॥ शूर्पणखाका वृत्तान्त, खर दूषणके साथ श्रीरामके युद्धका वर्णन, सीताके वियोगसे रामको बहुत भारी शोकका होना ॥८६॥ विराधित नामक विद्याधरका आगमन, खरदूषणका मरण, रावणके द्वारा रत्नजटी विद्याधरकी विद्याओंका छेदा जाना तथा सुग्रीवका रामके साथ समागम

१. विलोकने म० । २. परिवेष्टितम् म० । ३. दूतं (?) म० । ४. वज्रकरणस्य म० । ५. रामपुर्याभि-वेशनम् म० । ६. रामं म० । ७. शङ्कविनिपातनम् म० ।

निधनं साहसगतेः सीतोदन्तं विहायसा । यानं विभीषणायानं विद्याप्तिं हरिपद्मयोः ॥८८॥
इन्द्रजितकुम्भकर्णाब्दस्वरपन्नगबन्धनम् । सौमित्रशक्तिनिर्भेदविशल्याशल्यताकृतिम् ॥८९॥
रावणस्य प्रवेशं च जिनेश्वरगृहे[1] स्तुतिम् । लङ्काभिभवनं प्रातिहार्यं देवैः प्रकल्पितम् ॥९०॥
चक्रोत्पत्तिं च सौमित्रेः[2] कैकसेयस्य हिंसनम् । विलापं तस्य नारीणां केवल्यागमनं ततः ॥९१॥
दीक्षामिन्द्रजिदादीनां सीतया सह संगमम् । नारदस्य च सम्प्राप्तिमयोध्याया निवेशनम् ॥९२॥
पूर्वजन्मानुचरितं गजस्य भरतस्य च । तत्प्राव्रज्यं[3] महाराज्यं सीरचक्रप्रहारिणोः[4] ॥९३॥
लाभं मनोरमायाश्च लक्ष्म्यालिङ्गितवक्षसः । संयुगे मरणप्राप्तिं सुमधोर्लवणस्य च ॥९४॥
मथुरायां सदेशायामुपसर्गविनाशनम् । सप्तर्षिसंश्रयात् सीतानिर्वासपरिदेवने ॥९५॥
वज्रजङ्घपरित्राणं लवणांकुशसंभवम् । अन्यराज्यपराभूतिं[5] पित्रा सह महाहवम् ॥९६॥
सर्वभूषणकैवल्यसंप्राप्तावमरागमम् । प्रातिहार्यञ्च वैदेह्या विभीषणभवान्तरम् ॥९७॥
तपः कृतान्तवक्रस्य[6] परिक्षोभं स्वयंवरे । श्रमणत्वं कुमाराणां प्रभामण्डलदुर्मृतिम्[7] ॥९८॥
दीक्षां पवनपुत्रस्य नारायणपरासुताम् । रामात्मजतपःप्राप्तिं पद्मशोकं च दारुणम् ॥९९॥
पूर्वासदेवजनिताद् बोधान्निर्ग्रन्थताश्रयम् । केवलज्ञानसम्प्राप्तिं निर्वाणपदसङ्गतिम् ॥१००॥

होना ॥८७॥ सुग्रीवके निमित्त रामने साहसगतिको मारा, रत्नजटीने सीताका सब वृत्तान्त रामसे कहा, रामने आकाशमार्गसे लङ्कापर चढ़ाई की, विभीषण रामसे आकर मिला और राम तथा लक्ष्मणको सिंहवाहिनी गरुड़वाहिनी विद्याओंकी प्राप्ति हुई ॥८८॥ इन्द्रजित्, कुम्भकर्ण और मेघनादका नागपाशसे बाँधा जाना, लक्ष्मणको शक्ति लगना और विशल्याके द्वारा शल्य-रहित होना ॥८९॥ बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करनेके लिए रावणका शान्तिनाथ भगवान्के मन्दिरमें प्रवेश कर स्तुति करना, रामके कटकके विद्याधरकुमारोंका लङ्कापर आक्रमण करना, देवोंके प्रभावसे विद्याधर कुमारोंका पीछे कटकमें वापिस आना ॥९०॥ लक्ष्मणको चक्ररत्नकी प्राप्ति होना, रावणका मारा जाना, उसकी स्त्रियोंका विलाप करना तथा केवलीका आगमन ॥९१॥ इन्द्रजित् आदिका दीक्षा लेना, रामका सीताके साथ समागम होना, नारदका आना और श्रीरामका अयोध्यामें वापिस आकर प्रवेश करना ॥९२॥ भरत और त्रिलोकमण्डन हाथीके पूर्वभवका वर्णन, भरतका वैराग्य, राम तथा लक्ष्मणके राज्यका विस्तार ॥९३॥ जिसका वक्षः-स्थल राजलक्ष्मीसे आलिङ्गित हो रहा था ऐसे लक्ष्मणके लिए मनोरमाकी प्राप्ति होना, युद्धमें मधु और लवणका मारा जाना ॥९४॥ अनेक देशोंके साथ मथुरा नगरीमें धरणेन्द्रके कोपसे मरीरोगका उपसर्ग और सप्तर्षियोंके प्रभावसे उसका दूर होना, सीताको घरसे निकालना तथा उसके विलापका वर्णन ॥९५॥ राजा वज्रजङ्घके द्वारा सीताकी रक्षा होना, लवणांकुशका जन्म लेना, बड़े होनेपर लवणाङ्कुशके द्वारा अन्य राजाओंका पराभव होकर वज्रजङ्घके राज्यका विस्तार किया जाना और अन्तमें उनका अपने पिता रामचन्द्रजीके साथ युद्ध होना ॥९६॥ सर्वभूषण मुनिराजको केवलज्ञान प्राप्त होनेके उपलक्ष्यमें देवोंका आना, अग्निपरीक्षा द्वारा सीताका अपवाद दूर होना, विभीषणके भवान्तरोंका निरूपण ॥९७॥ कृतान्तवक्र सेनापतिका तप लेना, स्वयंवरमें राम और लक्ष्मणके पुत्रोंमें क्षोभ होना, लक्ष्मणके पुत्रोंका दीक्षा धारण करना, और विद्युत्पातसे भामण्डलका दुर्मरण होना ॥९८॥ हनुमान्का दीक्षा लेना, लक्ष्मणका मरण होना, रामके पुत्रोंका तप धारण करना, और भाईके वियोगसे रामको बहुत भारी शोकका उत्पन्न होना ॥९९॥ पूर्वभवके मित्र देवके द्वारा उत्पादित प्रतिबोधसे रामका दीक्षा लेना, केवल-

१. जिनशान्तिगृहं शुभम् म० । २. सौमित्रः [?] । ३. तत्प्राव्रज्यां म० । ४. प्रहारिणः म० । ५. पराभूतिः म० । ६. वक्त्रस्य म० । ७. दुर्मतिम् म० ।

एतत्सर्वं समाधाय मनः शृणुत सज्जनाः। सिद्धास्पदपरिप्राप्तेः सोपानमभिसौख्यदम् ॥१०१॥

शार्दूलविक्रीडितम्

पद्मादीन् मुनिसत्तमान् स्मृतिपथे तावन्नृणां कुर्वतां दूरं भावभरानतेन मनसा मोदं[1] परं बिभ्रताम्।
पापं याति भिदां सहस्रगणनैः खण्डैश्चिरं सञ्चितं निःशेषं चरितं तु चन्द्रधवलं किं शृण्वतामुच्यते ॥१०२॥
एतत्तैः[2] कृतमुत्तमं परिहृतं तैश्चेदमेनस्करं कर्मात्यन्तविवेकचित्तचतुराः सन्तः प्रशस्ता जनाः।
सेवध्वं चरितं पुराणपुरुषैरासेवितं शक्तितः[3] सन्मार्गे[4] प्रकटीकृते हि रविणा कश्चारुदृष्टिः स्खलेत् ॥१०३॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते सूत्रविधानं नाम प्रथमं पर्व।

ज्ञान प्राप्त होना और निर्वाणपदकी प्राप्ति करना ॥१००॥ हे सत्पुरुषो ! रामचन्द्रका यह चरित्र मोक्षपद रूपी मन्दिरकी प्राप्तिके लिए सीढ़ीके समान है तथा सुखदायक है इसलिए इस सब चरित्रको तुम मन स्थिरकर सुनो ॥१०१॥

जो मनुष्य श्रीराम आदि श्रेष्ठ मुनियोंका ध्यान करते हैं और उनके प्रति अतिशय भक्ति-भावसे नम्रीभूत हृदयसे प्रमोदकी धारणा करते हैं उनका चिरसंचित पाप-कर्म हजार टूक होकर नाशको प्राप्त होता है फिर जो उनके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल समस्त चरित्रको सुनते हैं उनका तो कहना ही क्या है ? ॥ १०२ ॥ आचार्य रविषेण कहते हैं कि इस तरह यह चरित्र उन्हीं इन्द्रभूति गणधरके द्वारा किया हुआ है और पाप उत्पन्न करनेवाला यह अशुभ कर्म उन्हींके द्वारा नष्ट किया गया है, इसलिए हे विवेकशाली चतुर पुरुषो, प्राचीन पुरुषोंके द्वारा सेवित इस परम पवित्रकी तुम सब शक्तिके अनुसार सेवा करो—इसका पठन-पाठन करो क्योंकि जब सूर्यके द्वारा समीचीन मार्ग प्रकट कर दिया जाता है तब ऐसा कौन भली दृष्टिका धारक होगा जो स्खलित होगा—चूककर नीचे गिरेगा ॥ १०३ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्यनिर्मित पद्म-चरितमें वर्णनीय विषयोंका संक्षेपमें निरूपण करनेवाला प्रथम पर्व पूर्ण हुआ।

---

१. मोक्षं म०। २. एतद्यैः म०। ३. सर्वतः म०। ४. सन्मार्गप्रकटीकृते म०।

द्वितीयं पर्व

अथ जम्बूमति द्वीपे क्षेत्रे भरतनामनि । मगधाभिख्यया ख्यातो विषयोऽस्ति समुज्ज्वलः ॥१॥
निवासः पूर्णपुण्यानां वासवावाससन्निभः । व्यवहारैरसंकीर्णैः कृतलोकव्यवस्थितिः ॥२॥
क्षेत्राणि दधते यस्मिन्नुत्खातान् लाङ्गलाननैः । स्थलाब्जमूलसंघातान् महीसारगुणानिव ॥३॥
क्षीरसेकादिवोद्भूतैर्मन्दानिलचलद्दलैः । पुण्ड्रेक्षुवाटसन्तानैर्व्याप्तानन्तरभूतलः ॥४॥
अपूर्वपर्वताकारैर्विभक्तैः खलधामभिः । सस्यकूटैः सुविन्यस्तैः सीमान्ता यस्य सङ्कटाः ॥५॥
उद्घाटकघटीसिक्तैर्यत्र जीरकजूटकैः । नितान्तहरितैरुर्वी जटालेव विराजते ॥६॥
उर्वरायां वरीयोभिः यः शालेयैरलङ्कृतः । मुद्गकोशीपुटैर्यस्मिन्नुद्देशाः[1] कपिलत्विषः[2] ॥७॥
तापस्फुटितकोशीकै राजमाषैर्निरन्तराः । उद्देशा यस्य[3] किर्मीरा निक्षेत्रियतृणोद्गमाः ॥८॥
अधिष्ठितः[4] स्थलीपृष्ठैः[5] श्रेष्ठगोधूमधामभिः । प्रशस्यैरन्यसस्यैश्च[6] युक्तः प्रत्यूहवर्जितैः[7] ॥९॥
महामहिषपृष्ठस्थगायद्गोपालपालितैः । कीटातिलम्पटोद्ग्रीवबलाकानुगताध्वभिः ॥१०॥
विवर्णसूत्रसम्बद्धघण्टारटितहारिभिः । क्षरत्क्षीरजराभासात् पीतक्षीरोदवत् पयः ॥११॥

अथानन्तर—जम्बू द्वीपके भरत क्षेत्रमें मगध नामसे प्रसिद्ध एक अत्यन्त उज्ज्वल देश है ॥ १ ॥ वह देश पूर्ण पुण्यके धारक मनुष्योंका निवासस्थान है, इन्द्रकी नगरीके समान जान पड़ता है और उदारतापूर्ण व्यवहारसे लोगोंकी सब व्यवस्था करता है ॥ २ ॥ जिस देशके खेत हलोंके अग्रभागसे विदारण किये हुए स्थल-कमलोंकी जड़ोंके समूहको इस प्रकार धारण करते हैं मानो पृथिवीके श्रेष्ठ गुणोंको ही धारण कर रहे हों ॥ ३ ॥ जो दूधके सिञ्चनसे ही मानो उत्पन्न हुए थे और मन्द-मन्द वायुसे जिनके पत्ते हिल रहे थे ऐसे पौड़ों और ईखोंके वनोंके समूहसे जिस देशका निकटवर्ती भूमिभाग सदा व्याप्त रहता है ॥ ४ ॥ जिस देशके सीमावर्ती प्रदेश खलिहानोंमें जुदी-जुदी लगी हुई अपूर्व पर्वतोंके समान बड़ी-बड़ी धान्यकी राशियोंसे सदा व्याप्त रहते हैं ॥ ५ ॥ जिस देशकी पृथिवी रँहटकी घड़ियोंसे सींचे गये अत्यन्त हरे-भरे जीरों और धनोंके समूहसे ऐसी जान पड़ती है मानो उसने जटाएँ ही धारण कर रखी हों ॥ ६ ॥ जहाँकी भूमि अत्यन्त उपजाऊ है जो धानके श्रेष्ठ खेतोंसे अलंकृत है और जिसके भू-भाग मूँग और मौठकी फलियोंसे पीले-पीले हो रहे हैं ॥ ७ ॥ गर्मीके कारण जिनकी फली चटक गई थी ऐसे रोंसा अथवा बर्बटीके बीजोंसे वहाँके भू-भाग निरन्तर व्याप्त होकर चित्र-विचित्र दिख रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं कि वहाँ तृणके अंकुर उत्पन्न ही नहीं होंगे ॥ ८ ॥ जो देश उत्तमोत्तम गेहूँओंकी उत्पत्तिके स्थानभूत खेतोंसे सहित है तथा विघ्न-रहित अन्य अनेक प्रकारके उत्तमोत्तम अनाजोंसे परिपूर्ण है ॥ ९ ॥ बड़े-बड़े भैंसोंकी पीठपर बैठे गाते हुए ग्वाले जिनकी रक्षा कर रहे हैं, शरीरके भिन्न-भिन्न भागोंमें लगे हुए कीड़ोंके लोभसे ऊपरको गर्दन उठाकर चलनेवाले बगले मार्गमें जिनके पीछे लग रहे हैं, रंग-विरंगे सूत्रोंमें बँधे हुए घंटाओंके शब्दसे जो बहुत मनोहर जान पड़ती हैं, जिनके स्तनोंसे दूध झर रहा है और उससे जो ऐसी जान पड़ती है मानो पहले पिये हुए क्षीरोदकको अजीर्णके भयसे छोड़ती रहती हैं, मधुर रससे सम्पन्न तथा इतने कोमल कि मुँहकी भाप मात्रसे टूट जावें ऐसे सर्वत्र व्याप्त तृणोंके द्वारा जो अत्यन्त तृप्तिको प्राप्त थीं ऐसी गायोंके द्वारा उस देशके वन सफ़ेद-सफ़ेद हो रहे

---

१. –न्नुद्देशान् म० । २. कपिलत्विषा म० । ३. यत्र म० । ४. अधिष्ठिते म० । ५. स्थलीपृष्ठं म० । ६. अन्यशस्यैः म० । ७. युक्तप्रत्यूह म०, क० । ८. गतध्वनिः म० ।

सुस्वादरससंपन्नैर्मोण्ड्रेक्षुवेरमन्तरैः । तृणैस्तृप्तिं परिप्राप्तैर्गोधनैः सितकक्षभूः ॥१२॥
सारीकृतसमुद्देशः कृष्णसारैर्विसारिभिः । सहस्रसंख्यैर्गीर्वाणस्वामिनो लोचनैरिव ॥१३॥
केतकीधूलिधवला यस्य देशाः समुन्नताः । गङ्गापुलिनसंकाशा[1] विभान्ति जनसेविताः[2] ॥१४॥
शाककन्दलवाटेन श्यामलश्रीधरः क्वचित् । वनपालकृतास्वादैर्नालिकेरैर्विराजितः ॥१५॥
कोटिभिः शुकचञ्चूनां तथा शाखामृगाननैः । संदिग्धकुसुमैर्युक्तः पृथुभिर्दाडिमीवनैः ॥१६॥
वत्स[वन]पालीकराघृष्टमातुलिङ्गीफलाम्भसा । लिप्ताः कुङ्कुमपुष्पाणां प्रकरैरुपशोभिताः ॥१७॥
फलस्वादपयःपानसुखसंसुप्तमार्गगाः । वनदेवीप्रपाकारा द्राक्षाणां यत्र मण्डपाः ॥१८॥
विलुप्यमानैः पथिकैः पिण्डखर्जूरपादपैः । कपिभिश्च कृताच्छोटैर्[3]मोचानां निचितः फलैः ॥१९॥
तुङ्गार्जुनवनाकीर्णतटदेशैर्महोदरैः । गोकुलाकलितोदारस्वरवत्[4]कूलधारिभिः ॥२०॥
विस्फुरच्छफरीनालैर्विकसल्लोचनैरिव । हसद्भिरिव शुक्लानां पङ्कजानां कदम्बकैः ॥२१॥
तुङ्गैस्तरङ्गसंघातैर्नर्तनप्रसृतैरिव । गायद्भिरिव संसक्त[5]हंसानां मधुरस्वनैः ॥२२॥
[6]सामोदजनसंघातैः समासेवितसत्तटैः । सरोभिः सारसाकीर्णैर्वनरन्ध्रेषु भूषितः ॥२३॥ [कलापकम्]
संक्रीडनैर्वपुष्मद्भिराविकोष्ट्रकतार्णकैः । कृतसंबाधसर्वाशो[7] हितपालकपालितैः[8] ॥२४॥
दिवाकररथाश्वानां लोभनार्थमिवोचितैः[9] । पृष्ठैः कुङ्कुमपङ्केन चलत्प्रोथपुटैर्मुखैः ॥२५॥

हैं ॥ १०–१२ ॥ जो इन्द्रके नेत्रोंके समान जान पड़ते हैं ऐसे इधर-उधर चौकड़ियाँ भरनेवाले हजारों श्याम हरिणसे उस देशके भू-भाग चित्र-विचित्र हो रहे हैं ॥ १३ ॥ जिस देशके ऊँचे-ऊँचे प्रदेश केतकीकी धूलिसे सफ़ेद-सफ़ेद हो रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं मानो मनुष्योंके द्वारा सेवित गङ्गाके पुलिन ही हों ॥ १४ ॥ जो देश कहीं तो शाकके खेतोंसे हरी-भरी शोभाको धारण करता है और कहीं वनपालोंसे आस्वादित नारियलोंसे सुशोभित है ॥ १५ ॥ जिनके फूल तोताओंकी चोंचोंके अग्रभाग तथा वानरोंके मुखोंका संशय उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसे अनारके बगीचोंसे वह देश युक्त है ॥ १६ ॥ जो वनपालियोंके हाथसे मर्दित बिजौराके फलोंके रससे लिप्त हैं, केशरके फूलोंके समूहसे शोभित हैं, तथा फल खाकर और पानी पीकर जिनमें पथिक जन सुखसे सो रहे हैं ऐसे दाखोंके मण्डप उस देशमें जगह-जगह इस प्रकार छाये हुए हैं मानो वनदेवीके प्याऊके स्थान ही हों ॥ १७–१८ ॥ जिन्हें पथिक जन तोड़-तोड़कर खा रहे हैं ऐसे पिण्ड खजूरके वृक्षोंसे तथा वानरोंके द्वारा तोड़कर गिराये हुए केलाके फलोंसे वह देश व्याप्त है ॥ १९ ॥ जिनके किनारे ऊँचे-ऊँचे अर्जुन वृक्षोंके वनोंसे व्याप्त हैं, जो गायोंके समूहके द्वारा किये हुए उत्कट शब्दसे युक्त कूलोंको धारण कर रहे हैं, जो उछलती हुई मछलियोंके द्वारा नेत्र खोले हुएके समान और फूले हुए सफ़ेद कमलोंके समूहसे हँसते हुएके समान जान पड़ते हैं, ऊँची-ऊँची लहरोंके समूहसे जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो नृत्यके लिए ही तैयार खड़े हों, उपस्थित हंसोंकी मधुर ध्वनिसे जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो गान ही कर रहे हों, जिनके उत्तमोत्तम तटोंपर हर्षसे भरे मनुष्योंके झुण्डके झुण्ड बैठे हुए हैं और जो कमलोंसे व्याप्त हैं ऐसे सरोवरोंसे वह देश प्रत्येक वन-खण्डोंमें सुशोभित है ॥ २०–२३ ॥ हितकारी पालक जिनकी रक्षा कर रहे हैं ऐसे खेलते हुए सुन्दर शरीरके धारक भेड़, ऊँट तथा गायोंके बछड़ोंसे उस देशकी समस्त दिशाओंमें भीड़ लगी रहती है ॥ २४ ॥ सूर्यके रथके घोड़ोंको लुभानेके लिए ही मानो जिनके पीठके प्रदेश केशरकी पङ्कसे लिप्त हैं और जो चञ्चल अग्रभागवाले मुखोंसे वायुका

१. संकाशो म० । २. जिनसेविता: म० । ३. कृताचोटैः म० । ४. कलितादार म० । ५. संसक्तः म० । संसक्तं क० । ६. सामोदजनसंघातसमासितसरित्तटैः म० । (?) ७. सर्वाशा म० । ८. पालकैः म० । ९. -मिवोच्चितैः म० ।

उदरस्थकिशोराणां जवायेव प्रभञ्जनम् । स्वच्छन्दमापिबन्तीनां वडवानां गणैश्रितः ॥२६॥ [युग्मम्]
चरद्भिर्हंससंघातैर्घनैर्जनगुणैरिव । रवेणाकृष्टचेतोभिरत्यन्तधवलः क्वचित् ॥२७॥
संगीतस्वनसंयुक्तैर्मयूररवमिश्रितैः । यस्मिन्मु[1]रजनिर्घोषैर्मुखरं गगनं सदा ॥२८॥
शरन्निशाकरश्वेतवृत्तैर्मुक्ताफलोपमैः । आनन्ददानचतुरैर्गुणवद्भिः प्रसाधितः[2] ॥२९॥
तर्पिताध्वगसंघातैः फलैर्वरतरूपमैः । महाकुटुम्बिभिर्नित्यं प्राप्तोऽभिगमनीयताम् ॥३०॥
सारङ्गमृगसद्गन्धमृगरोमभिरावृतैः । हिमवत्पाददेशीयैः कृतस्थैर्यो महत्तरैः ॥३१॥
हताः कुदृष्टयो यस्मिन् जिनप्रवचनाञ्जनैः । पापकक्षं च निर्दग्धं महामुनितपोऽग्निभिः ॥३२॥
तत्रास्ति सर्वतः कान्तं नाम्ना राजगृहं पुरम् । कुसुमामोदसुभगं भुवनस्येव[3] यौवनम् ॥३३॥
महिषीणां सहस्रैर्यत्कुङ्कुमाञ्चितविग्रहैः । धर्मान्तःपुरनिर्भासं धत्ते मानसकर्षणम् ॥३४॥
मरुदुद्धूतचमरैर्बालव्यजनशोभितैः । प्रान्तैरमरराजस्य च्छायां यदवलम्बते ॥३५॥

स्वच्छन्दता पूर्वक इसलिए पान कर रही हैं मानो अपने उदरमें स्थित बच्चोंको गतिके वेगकी शिक्षा ही देनी चाहती हों ऐसी घोड़ियोंके समूहसे वह देश व्याप्त हो ॥२५-२६॥ जो मनुष्योंके बहुत भारी गुणोंके समूहके समान जान पड़ते हैं तथा जो अपने शब्दसे लोगोंका चित्त आकर्षित करते हैं ऐसे चलते-फिरते हंसोंके झुण्डोंसे वह देश कहीं-कहीं अत्यधिक सफ़ेद हो रहा है ॥ २७ ॥ संगीतके शब्दोंसे युक्त तथा मयूरोंके शब्दसे मिश्रित मृदङ्गोंकी मनोहर आवाजसे उस देशका आकाश सदा शब्दायमान रहता है ॥ २८ ॥ जो शरद् ऋतुके चन्द्रमाके समान श्वेतवृत्त अर्थात् निर्मल चरित्रके धारक हैं (पक्षमें श्वेतवर्ण गोलाकार हैं), मुक्ताफलके समान हैं, तथा आनन्दके देनेमें चतुर हैं ऐसे गुणी मनुष्योंसे वह देश सदा सुशोभित रहता है ॥ २९ ॥ जिन्होंने आहार आदि की व्यवस्थासे पथिकोंके समूहको सन्तुष्ट किया है तथा जो फलोंके द्वारा श्रेष्ठ वृक्षोंके समान जान पड़ते हैं ऐसे बड़े-बड़े गृहस्थोंके कारण उस देशमें लोगोंका सदा आवागमन होता रहता है ॥ ३० ॥ कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य तथा भाँति-भाँतिके वस्त्रोंसे वेष्टित होनेके कारण जो हिमालयके प्रत्यन्त पर्वतों (शाखा) के समान जान पड़ते हैं ऐसे बड़े-बड़े लोग उस देशमें निवास करते हैं ॥ ३१ ॥ उस देशमें मिथ्यात्वरूपी दृष्टिके विकार जैनवचनरूपी अञ्जनके द्वारा दूर होते रहते हैं और पापरूपी वन महा-मुनियोंकी तपरूपी अग्निसे भस्म होता रहता है ॥ ३२ ॥

उस मगध देशमें सब ओरसे सुन्दर तथा फूलोंकी सुगन्धिसे मनोहर राजगृह नामका नगर है जो ऐसा जान पड़ता है मानो संसारका यौवन ही हो ॥३३॥ वह राजगृह नगर धर्म अर्थात् यमराजके अन्तःपुरके समान सदा मनको अपनी ओर खींचता रहता है क्योंकि जिस प्रकार यमराजका अन्तःपुर केशरसे युक्त शरीरको धारण करनेवाली हजारों महिषियों अर्थात् भैंसोंसे युक्त होता है उसी प्रकार वह राजगृह नगर भी केशरसे लिप्त शरीरको धारण करनेवाली हजारों महिषियों अर्थात् रानियोंसे सुशोभित है । भावार्थ—महिषी नाम भैंसका है और जिसका राज्याभिषेक किया गया ऐसी रानीका भी है । लोकमें यमराज महिषवाहन नामसे प्रसिद्ध हैं इसलिए उसके अन्तःपुरमें महिषोंकी स्त्रियों—महिषियोंका रहना उचित ही है और राजगृह नगरमें राजाकी रानियोंका सद्भाव युक्तियुक्त ही है ॥३४॥ उस नगरके प्रदेश जहाँ-तहाँ बालव्यजन अर्थात् छोटे-छोटे पङ्खोंसे सुशोभित थे और जहाँ-तहाँ उनमें मरुत् अर्थात् वायुके द्वारा चमर कम्पित हो रहे थे इसलिए वह नगर इन्द्रकी शोभाको प्राप्त हो रहा था क्योंकि इन्द्रके समीपवर्ती प्रदेश भी बालव्यजनोंसे सुशोभित होते हैं और उनमें मरुत् अर्थात् देवोंके

---

१. पुरज म० । २. प्रसाधितं ख० । ३. भुवनस्यैव म० ।

[1]संतापमपरिप्राप्तैः कृतमीश्वरमार्गणैः । मनुजैर्यत्करोतीव त्रिपुरस्य जिगीषुताम् ॥३६॥
सुधारससमासक्तपाण्डुरागारपङ्क्तिभिः । टङ्ककल्पितशीतांशुशिलाभिरिव कल्पितम् ॥३७॥
मदिरामत्तवनिताभूषणस्वनसंभृतम् । कुबेरनगरस्येव द्वितीयं सन्निवेशनम् ॥३८॥
तपोवनं मुनिश्रेष्ठैर्वेश्याभिः काममन्दिरम् । लासकैर्नृत्तभवनं शत्रुभिर्यमपत्तनम् ॥३९॥
शस्त्रिभिर्वीरनिलयोऽभिलाषमणिरर्थिभिः । विद्यार्थिभिर्गुरोः सद्म बन्दिभिर्धूर्त[illegible] ॥४०॥
गन्धर्वनगरं गीतशास्त्रकौशलकोविदैः । विज्ञानग्रहणोद्युक्तैर्मन्दिरं विश्वकर्मणः ॥४१॥
साधूनां संगमः सद्भिर्भूमिर्लाभस्य वाणिजैः । पञ्जरं शरणप्राप्तैर्वज्रदारुविनिर्मितम् ॥४२॥
वार्त्तिकैरसुरच्छिद्रं विदग्धैर्विटमण्डली । परिणामो मनोज्ञस्य कर्मणो मा[illegible] ॥४३॥
[2]चारणैरुत्सवावासः कामुकैरप्सरःपुरम् । [3]सिद्धलोकश्च विदितं यत्सदा सुखि[illegible] ॥४४॥
यत्र मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च योषितः । श्यामाश्च पद्मरागिण्यो गौर्यश्च विभवाश्रयाः ॥४५॥
चन्द्रकान्तशरीराश्च शिरीषसुकुमारिकाः । भुजङ्गानामगम्याश्च कञ्चुकावृतविग्रहाः ॥४६॥

द्वारा चमर कम्पित होते रहते हैं ॥३५॥ वह नगर, मानो त्रिपुर नगरको जीतना ही चाहता है क्योंकि जिस प्रकार त्रिपुर नगरके निवासी मनुष्य ईश्वरमार्गणैः अर्थात् महादेवके बाणोंके द्वारा किये हुए संतापको प्राप्त हैं उस प्रकार उस नगरके मनुष्य ईश्वरमार्गणैः अर्थात् धनिक-वर्गकी याचनासे प्राप्त संतापको प्राप्त नहीं थे—सभी सुखसे सम्पन्न हैं ॥३६॥ वह नगर चूनासे पुते सफ़ेद महलोंकी पंक्तिसे लसा जान पड़ता है मानो टाँकियोंसे गढ़े चन्द्रकान्त मणियोंसे ही बनाया गया हो ॥३७॥ वह नगर मदिराके नशामें मस्त स्त्रियोंके आभूषणोंकी झनकारसे सदा भरा रहता है इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो कुबेरकी नगरी अर्थात् अलकापुरीका द्वितीय प्रति-विम्ब ही हो ॥३८॥ उस नगरको श्रेष्ठ मुनियोंने तपोवन समझा था, वेश्याओंने कामका मन्दिर माना था, नृत्यकारोंने नृत्य भवन समझा था और शत्रुओंने यमराजका नगर माना था ॥३९॥ शस्त्रधारियोंने वीरोंका घर समझा था, याचकोंने चिन्तामणि, विद्यार्थियोंने गुरुका भवन और वन्दीजनोंने धूर्तोंका नगर माना था ॥४०॥ संगीत शास्त्रके पारगामी विद्वानोंने उस नगरको गन्धर्वका नगर और विज्ञानके ग्रहण करनेमें तत्पर मनुष्योंने विश्वकर्माका भवन समझा था ॥४१॥ सज्जनोंने सत्समागमका स्थान माना था, व्यापारियोंने लाभकी भूमि और शरणागत मनुष्योंने वज्रमय लकड़ीसे निर्मित—सुरक्षित पञ्जर समझा था ॥४२॥ समाचार प्रेषक उसे असुरोंके बिल जैसा रहस्य पूर्ण स्थान मानते थे, चतुर जन उसे विटमण्डली—विटोंका जमघट समझते थे, और समीचीन मार्गमें चलनेवाले मनुष्य उसे किसी मनोज्ञ—उत्कृष्ट कर्मका सुफल मानते थे ॥४३॥ चारण लोग उसे उत्सवोंका निवास, कामीजन अप्सराओंका नगर और सुखी-जन सिद्धोंका लोक मानते थे ॥ ४४ ॥ उस नगरकी स्त्रियाँ यद्यपि मातङ्गगामिनी थीं अर्थात् चाण्डालों के साथ गमन करनेवाली थीं फिर भी शीलवती कहलाती थीं (पक्षमें हाथियोंके समान सुन्दर चालवाली थीं तथा शीलवती अर्थात् पातिव्रत्य धर्मसे सुशोभित थीं।) श्यामा अर्थात् श्यामवर्ण वाली होकर भी पद्मरागिण्यः अर्थात् पद्मराग मणि-जैसी लाल कान्तिसे सम्पन्न थीं (पक्षमें श्यामा अर्थात् नवयौवनसे युक्त होकर पद्मरागिण्यः अर्थात् कमलोंमें अनुराग रखनेवाली थीं अथवा पद्मराग मणियोंसे युक्त थीं)। साथ ही गौरी अर्थात् पार्वती होकर भी विभवाश्रया अर्थात् महादेवके आश्रयसे रहित थीं (पक्षमें गौर्यः अर्थात् गौर वर्ण होकर विभवाश्रयाः अर्थात् सम्पदाओंसे सम्पन्न थीं) ॥४५॥ उन स्त्रियोंके शरीर चन्द्रकान्त मणियोंसे निर्मित थे फिर भी वे शिरीषके समान सुकुमार थीं

१. संतापमपरैः म० । २. चरणै· ख० । ३. सर्वलोकश्च म० ।

महालावण्ययुक्ताश्च मधुराभाष[1]तत्पराः । प्रसन्नोज्ज्वलवक्त्राश्च प्रमादरहितेहिताः ॥४७॥
कलत्रस्य गुरोर्लक्ष्मीं धृतवत्योऽथ च दुर्विधाः[2] । मनोज्ञा नितरां मध्ये सुवृत्ताश्चायतिं गताः ॥४८॥
लोकान्तपर्वताकारं यत्र प्राकारमण्डलम् । समुद्रोदरनिर्भासपरिखाकृतवेष्टनम् ॥४९॥
आसीत्तत्र पुरे राजा श्रेणिको नाम विश्रुतः । देवेन्द्र इव बिभ्राणः[3] सर्ववर्णधरं धनुः ॥५०॥
कल्याणप्रकृतित्वेन यश्च पर्वतराजवत् । समुद्र इव[4] मर्यादालंघनत्रस्तचेतसा ॥५१॥
कलानां ग्रहणे चन्द्रो लोकधृत्या धरामयः । दिवाकरः प्रतापेन कुबेरो धनसम्पदा ॥५२॥
शौर्यरक्षितलोकोऽपि नया[5]नुगतमानसः । लक्ष्म्यापि कृतसम्बन्धो न गर्वग्रहदूषितः ॥ ५३ ॥
जितजेयोऽपि नो शस्त्रव्यायामेषु पराङ्मुखः । विधुरेष्वप्यसंभ्रान्तः प्रणतेष्वपि पूजकः ॥५४॥
रत्न[6]बुद्धिरभूद् यस्य मलमुक्तेषु साधुषु । पृथिवीभेदविज्ञानं पाषाणशकलेषु तु ॥५५॥

(पक्षमें उनके शरीर चन्द्रमाके समान कान्त—सुन्दर थे और वे शिरीषके फूलके समान कोमल शरीरवाली थीं । वे स्त्रियाँ यद्यपि भुजङ्गों अर्थात् सर्पोंके अगम्य थीं फिर भी उनके शरीर कञ्चुक अर्थात् काँचलियोंसे युक्त थे (पक्षमें भुजङ्गों अर्थात् विटपुरुषोंके अगम्य थीं और उनके शरीर कञ्चुक अर्थात् चोलियोंसे सुशोभित थे) ॥४६॥ वे स्त्रियाँ यद्यपि महालावण्य अर्थात् बहुत भारी खारापनसे युक्त थीं फिर भी मधुराभास-तत्परा अर्थात् मिष्ट भाषण करनेमें तत्पर थीं (पक्षमें महालावण्य अर्थात् बहुत भारी सौन्दर्यसे युक्त थीं और प्रिय वचन बोलनेमें तत्पर थीं) । उनके मुख प्रसन्न तथा उज्ज्वल थे और उनकी चेष्टाएँ प्रमादसे रहित थीं ॥४७॥ वे स्त्रियाँ अत्यन्त सुन्दर थीं, स्थूल नितम्बोंकी शोभा धारण करती थीं, उनका मध्यभाग अत्यन्त मनोहर था, वे सदाचारसे युक्त थीं और उत्तम भविष्यसे सम्पन्न थीं । (इस श्लोकमें भी ऊपरके श्लोकोंके समान विरोधाभास अलङ्कार है जो इस प्रकार घटित होता है—वहाँ की स्त्रियाँ दुर्विधा अर्थात् दरिद्र होकर भी कलत्र अर्थात् स्त्रीसम्बन्धी भारी लक्ष्मी सम्पदाको धारण करती थीं और सुवृत अर्थात् गोलाकार होकर भी आयतिं गता अर्थात् लम्बाईको प्राप्त थीं । (इस विरोधाभासका परिहार अर्थमें किया गया है) ॥४८॥ उस राजगृह नगरका जो कोट था वह (मनुष्य) लोकके अन्तमें स्थित मानुषोत्तर पर्वतके समान जान पड़ता था तथा समुद्रके समान गंभीर परिखा उसे चारों ओरसे घेरे हुई थी ॥४९॥

उस राजगृह नगरमें श्रेणिक नामका प्रसिद्ध राजा रहता था जो कि इन्द्रके समान सर्ववर्णधर अर्थात् ब्राह्मणादि समस्त वर्णोंकी व्यवस्था करनेवाले (पक्षमें लाल-पीले आदि समस्त रङ्गोंको धारण करनेवाले) धनुषको धारण करता था ॥५०॥ वह राजा कल्याणप्रकृति था अर्थात् कल्याणकारी स्वभावको धारण करनेवाला था (पक्षमें सुवर्णमय था) इसलिए सुमेरु-पर्वतके समान जान पड़ता था और उसका चित्त मर्यादाके उल्लङ्घनसे सदा भयभीत रहता था अतः वह समुद्रके समान प्रतीत होता था ॥५१॥ राजा श्रेणिक कलाओंके ग्रहण करनेमें चन्द्रमा था, लोकको धारण करनेमें पृथिवीरूप था, प्रतापसे सूर्य था और धन-सम्पत्तिसे कुबेर था ॥५२॥ वह अपनी शूरवीरतासे समस्त लोकोंकी रक्षा करता था फिर भी उसका मन सदा नीतिसे भरा रहता था और लक्ष्मीके साथ उसका सम्बन्ध था तो भी अहंकाररूपी ग्रहसे वह कभी दूषित नहीं होता था ॥५३॥ उसने यद्यपि जीतने योग्य शत्रुओंको जीत लिया था तो भी वह शस्त्र-विषयक व्यायामसे विमुख नहीं रहता था । वह आपत्तिके समय भी कभी व्यग्र नहीं होता था और जो मनुष्य उसके समक्ष नम्रीभूत होते थे उनका वह सम्मान करता था ॥५४॥ वह दोषरहित सज्जनोंको ही रत्न समझता था, पाषाणके टुकड़ोंको तो केवल पृथ्वीका एक

१. मधुरालाप म० । २. चतुर्विधाः म० । ३. विश्राणः । ४. इति क० । ५. तयानु-म० । नवानु-क० । ६. रत्नभूति-म० ।

क्रियासु दानयुक्तासु महासाधनदर्शनम् । बृहत्कीटपरिज्ञानं मदोत्कटगजेषु तु ॥५६॥
सर्वस्याग्रेसरे प्रीतिर्यशस्यत्यन्तमुन्नता । जरत्तृणसमा बुद्धिर्जीविते तु विनश्वरे ॥५७॥
प्रसाधनमतिः प्राप्तकरास्वाशासु[1] सन्ततम् । आत्मीयासु तु भार्यासु विबोधश्चार्यपुत्रकः[2] ॥५८॥
गुणावनमिते चापे प्रतिपत्तिः सहायजा । न पिण्डमात्रसन्तुष्टे भृत्यवर्गेऽपकारिणि ॥५९॥
वातोऽपि नाहरत्किञ्चिद्यत्र रक्षति मेदिनीम् । प्रावर्तन्त न हिंसायां क्रूराः पशुगणा अपि ॥६०॥
वृषघातीनि नो यस्य चरितानि हरेरिव । नैश्वर्यं चेष्टितं दक्षवर्गतापि पिनाकिवत् ॥६१॥
गोत्रनाशकरी चेष्टा नामराधिपतेरिव । नातिदण्डग्रहप्रीतिर्दक्षिणाशाविभोरिव ॥६२॥
वरुणस्येव न द्रव्यं निस्त्रिंशग्राहरक्षितम् । निःफला सन्निधिप्राप्तिर्नोत्तराशापतेरिव ॥६३॥
बुद्धस्येव न निर्मुक्तमर्थवादेन दर्शनम् । न श्रीर्बहुलदोषोपघातिनी शीतगोरिव ॥६४॥
त्यागस्य नार्थिनो यस्य पर्याप्तिं समुपागताः । प्रज्ञायाश्च[3] न शास्त्राणि कवित्वस्य न भारती ॥६५॥

विशेष परिणमन ही मानता था ॥५५॥ जिनमें दान दिया जाता था, ऐसी क्रियाओंको—धार्मिक अनुष्ठानोंको ही वह कार्यकी सिद्धिका श्रेष्ठ साधन समझता था। मदसे उत्कट हाथियोंको तो वह दीर्घकाय कीड़ा ही मानता था ॥५६॥ सबके आगे चलनेवाले यशमें ही वह बहुत भारी प्रेम करता था। नश्वर जीवनको तो वह जीर्ण तृणके समान तुच्छ मानता था ॥५७॥ वह आर्यपुत्र कर प्रदान करनेवाली दिशाओंको ही सदा अपना अलङ्कार समझता था। स्त्रियोंसे तो सदा विमुख रहता था ॥५८॥ गुण अर्थात् डोरीसे झुके धनुषको ही वह अपना सहायक समझता था। भोजनसे सन्तुष्ट होनेवाले अपकारी सेवकोंके समूहको वह कभी भी सहायक नहीं मानता था ॥५९॥ उसके राज्यमें वायु भी किसीका कुछ हरण नहीं करती थी फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या थी। इसी प्रकार दुष्ट पशुओंके समूह भी हिंसामें प्रवृत्त नहीं होते थे फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या थी ॥६०॥ हरि अर्थात् विष्णुकी चेष्टाएँ तो वृषघाती अर्थात् वृषासुरको नष्ट करनेवाली थीं पर उसकी चेष्टाएँ वृषघाती अर्थात् धर्मका घात करनेवाली नहीं थीं। इसी प्रकार महादेवजीका वैभव दक्षवर्गतापि अर्थात् राजा दक्षके परिवारको सन्ताप पहुँचानेवाला था परन्तु उसका वैभव दक्षवर्गतापि अर्थात् चतुर मनुष्योंके समूहको सन्ताप पहुँचानेवाला नहीं था ॥६१॥ जिस प्रकार इन्द्रकी चेष्टा गोत्रनाशकरी अर्थात् पर्वतोंका नाश करनेवाली थी उस प्रकार उसकी चेष्टा गोत्रनाशकारी अर्थात् वंशका नाश करनेवाली नहीं थी और जिस प्रकार दक्षिणदिशाके अधिपति-यमराजके अतिदण्डग्रहप्रीति अर्थात् दण्डधारण करनेमें अधिक प्रीति रहती है उस प्रकार उसके अतिदण्डग्रहप्रीति अर्थात् बहुत भारी सजा देनेमें प्रीति नहीं रहती थी ॥६२॥ जिस प्रकार वरुणका द्रव्य मगरमच्छ आदि दुष्ट जलचरोंसे रक्षित होता है उस प्रकार उसका द्रव्य दुष्ट मनुष्योंसे रक्षित नहीं था अर्थात् उसका सब उपभोग कर सकते थे और जिस प्रकार कुबेरको सन्निधि अर्थात् उत्तमनिधिका पाना निष्फल है उस प्रकार उसको सन्निधि अर्थात् सज्जनरूपी निधिका पाना निष्फल नहीं था ॥६३॥ जिस प्रकार बुद्धका दर्शन अर्थात् अर्थवाद–वास्तविकवादसे रहित होता है उस प्रकार उसका दर्शन अर्थात् साक्षात्कार अर्थवाद–धनप्राप्तिसे रहित नहीं होता था और जिस प्रकार चन्द्रमाकी भी बहुलदोषोपघातिनी अर्थात् कृष्णपक्षकी रात्रिसे उपहत–नष्ट हो जाती है उस प्रकार उसकी भी बहुलदोषोपघातिनी अर्थात् बहुत भारी दोषोंसे नष्ट होनेवाली नहीं थी ॥६४॥ याचकगण उसके त्यागगुणकी पूर्णताको प्राप्त नहीं हो सके थे अर्थात् वह जितना त्याग-दान करना चाहता था उतने याचक नहीं मिलते थे। शास्त्र उसकी बुद्धिकी पूर्णताको प्राप्त नहीं थे, अर्थात् उसकी बुद्धि बहुत भारी थी और शास्त्र अल्प थे। इसी प्रकार सरस्वती उसकी कवित्व शक्तिकी पूर्णताको प्राप्त नहीं थी अर्थात् वह जितनी कविता कर सकता

१. कराश्वासासु म० । २. विबोधाश्चन्यपुत्रिका म० । ३. प्रज्ञायाश्च म० ।

साहसानि महिम्नो न नोत्साहस्य च चेष्टितम् । दिगाननानि नो कीर्तेन[1] संख्या गुणसंपदः ॥६६॥
चित्तानि नानुरागस्य जनस्याखिलभूतले । कला न कुशलत्वस्य न प्रतापस्य शत्रवः[2] ॥६७॥
कथमस्मद्विधैस्तस्य[3] शक्यन्ते गदितुं गुणाः । यस्येन्द्रसदसि ज्ञातं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥६८॥
उद्धतेषु सता तेन वज्रदण्डेन शत्रुषु । तपोधनसमृद्धेषु नमता[4] वेतसायितम् ॥६९॥
रक्षिता बाहुदण्डेन सकला तस्य मेदिनी । पुरस्य स्थितिमात्रं तु प्राकारपरिखादिकम् ॥७०॥
तत्पत्नी चेलनानाम्नी[5] शीलाम्बरविभूषणा । सम्यग्दर्शनसंशुद्धा श्रावकाचारवेदिनी ॥७१॥
एकदा तु पुरस्यास्य समीपं जिनसत्तमः । श्रीमान् प्राप्तो महावीरः सुरासुरनतक्रमः ॥७२॥
मातुरप्युदरे यस्य दिक्कुमारीविशोधिते । ज्ञानत्रयसमेतस्य सुखमासीत् सुरेन्द्रजम् ॥७३॥
जन्मनोऽर्वाक्पुरस्ताच्च यस्य शक्रनिदेशतः । अपूरयत् पितुः सद्म धनदो रत्नवृष्टिभिः ॥७४॥
जननाभिषवे यस्य नगराजस्य मूर्द्धनि । चक्रे महोत्सवो देवैराखण्डलसमन्वितैः ॥७५॥
पादाङ्गुष्ठेन यो मेरुमनायासेन कम्पयन् । लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात् ॥७६॥
अमृतेन निषिक्तेन यस्याङ्गुष्ठेऽमरेशिना । वृत्तिरासीच्छरीरस्य बालस्याबालकर्मणः ॥७७॥

था उतनी सरस्वती नहीं थी—उतना शब्द-भण्डार नहीं था ॥६५॥ साहसपूर्ण कार्य उसकी महिमाका अन्त नहीं पा सके थे, चेष्टाएँ उसके उत्साहकी सीमा नहीं प्राप्त कर सकी थीं, दिशाओंके अन्त उसकी कीर्तिका अवसान नहीं पा सके थे और संख्या उसकी गुणरूप सम्पदाकी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकी थी अर्थात् उसकी गुणरूपी सम्पदा संरक्षासे रहित थी—अपरिमित थी ॥६६॥ समस्त पृथिवीतलपर मनुष्योंके चित्त उसके अनुरागकी सीमा नहीं पा सके थे, कला चतुराई उसकी कुशलताकी अवधि नहीं प्राप्त कर सकी थीं और शत्रु उसके प्रताप-तेजकी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सके थे ॥६७॥ इन्द्रकी सभामें जिसके उत्तम सम्यग्दर्शनकी चर्चा होती थी उस राजा श्रेणिकके गुण हमारे जैसे तुच्छ शक्तिके धारक पुरुषोंके द्वारा कैसे कहे जा सकते हैं ॥६८॥ वह राजा, उद्दण्ड शत्रुओंपर तो वज्रदण्डके समान कठोर व्यवहार करता था और तपरूपी धनसे समृद्ध गुणी मनुष्योंको नमस्कार करता हुआ उनके साथ वेंतके समान आचरण करता था ॥६९॥ उसने अपने भुजदण्डसे ही समस्त पृथिवीकी रक्षा की थी—नगरके चारों ओर जो कोट तथा परिखा आदिक वस्तुएँ थीं वह केवल शोभाके लिए ही थीं ॥७०॥

राजा श्रेणिककी पत्नीका नाम चेलना था । वह शीलरूपी वस्त्राभूषणोंसे सहित थी । सम्यग्दर्शनसे शुद्ध थी तथा श्रावकाचारको जाननेवाली थी ॥७१॥ किसी एक समय, अनन्त चतुष्टय रूपी लक्ष्मीसे सम्पन्न तथा सुर और असुर जिनके चरणोंको नमस्कार करते थे ऐसे महावीर जिनेन्द्र उस राजगृह नगरके समीप आये ॥७२॥ वे महावीर जिनेन्द्र, जोकि दिक्कुमारियोंके द्वारा शुद्ध किये हुए माताके उदरमें भी मति, श्रुत तथा अवधि इन तीन ज्ञानोंसे सहित थे तथा जिन्हें उस गर्भवासके समय भी इन्द्रके समान सुख प्राप्त था ॥७३॥ जिनके जन्म लेनेके पहले और पीछे भी इन्द्रके आदेशसे कुबेरने उनके पिताका घर रत्नोंकी वृष्टिसे भर दिया था ॥ ७४ ॥ जिनके जन्माभिषेकके समय देवोंने इन्द्रोंके साथ मिलकर सुमेरु पर्वतके शिखरपर बहुत भारी उत्सव किया था ॥७५॥ जिन्होंने अपने पैरके अँगूठासे अनायास ही सुमेरु पर्वतको कम्पितकर इन्द्रसे 'महावीर' ऐसा नाम प्राप्त किया था ॥७६॥ बालक होनेपर भी अबालकोचित कार्य करनेवाले जिन महावीर जिनेन्द्रके शरीर की वृत्ति इन्द्रके द्वारा

१. कीर्ति-म० । २. शात्रवः म० । ३. -मस्मद्विधैस्तस्य म० । ४. न मता चेतसायति (?) म० । ५. एष श्लोकः 'क०' पुस्तके नास्ति ।

सुत्रामप्रहितैर्यस्य[1] कान्तैः सुरकुमारकैः । कुमारचेष्टितैश्चारुविनीतैरनुसेवितम्[2] ॥७८॥
आनन्दः परमां वृद्धिं येन सार्धमुपागतः । पित्रोर्बन्धुसमूहस्य त्रयस्य भुवनस्य च ॥७९॥
यत्र जाते पितुः सर्वे नृपाश्चिरविरोधिनः । महाप्रभावसम्पन्ना जाता प्रणतमस्तकाः ॥८०॥
रथैर्मत्तगजेन्द्रैश्च वायुवेगैश्च वाजिभिः । प्राभृतद्रव्यसंयुक्तैः क्रमेलककुलैस्तथा ॥८१॥
उत्सृष्टचामरच्छत्रवाहनादिपरिच्छदैः[3] । कांक्षद्भिः प्रतिसामन्तै राजेन्द्रालोकनोत्सवम् ॥८२॥
नानादेशसमायातैर्महत्तरगणैस्तथा । पितुर्यस्यानुभावेन चुक्षोभ भवनाजिरम् ॥८३॥
अल्पकर्मकलङ्कत्वाद्यस्य भोगेषु हारिषु । चित्तं न सङ्गमायातं[4] पयःस्विव सरोरुहम् ॥८४॥
विद्युद्विलसिताकारां ज्ञात्वा यः सर्वसंपदम् । प्रवव्राज स्वयंबुद्धः कृतलौकान्तिकागमः ॥८५॥
सम्यग्दर्शनसम्बोधचारित्रत्रितयं प्रभुः । यः समाराध्य चिच्छेद घातिकर्मचतुष्टयम् ॥८६॥
संप्राप्य केवलज्ञानं लोकालोकावलोककम् । धर्मतीर्थं कृतं येन लोकार्थं कृतिना सता[5] ॥८७॥
अवाप्तप्रापणीयस्य कृतनिष्ठात्मकर्मणः । भास्करस्येव यस्याभूत् परकृत्याय चेष्टितम् ॥८८॥
मलस्वेदविनिर्मुक्तं क्षीरसप्रभशोणितम् । स्वाकारगन्धसंघातं[6] शक्त्या युक्तमनन्तया ॥८९॥
चारुलक्षणसम्पूर्णं हितसंमित[7]भाषणम् । अप्रमेयगुणागारं[8] यो बभार परं वपुः ॥९०॥
यस्मिन् विहरणप्राप्ते योजनानां शतद्वये । दुर्भिक्षपरपीडानामीतीनां च न सम्भवः ॥९१॥

अँगूठेमें सींचे हुए अमृतसे होती थी ॥७७॥ बालकों जैसी चेष्टा करनेवाले, मनोहर विनयके धारक, इन्द्रके द्वारा भेजे हुए सुन्दर देवकुमार सदा जिनकी सेवा किया करते थे ॥७८॥ जिनके साथ ही साथ माता-पिताका, बन्धु-समूहका और तीनों लोकोंका आनन्द परम वृद्धिको प्राप्त हुआ था ॥७९॥ जिनके उत्पन्न होते ही पिताके चिरविरोधी प्रभावशाली समस्त राजा उनके प्रति नतमस्तक हो गये थे ॥८०॥ जिनके पिताके भवनका आँगन रथोंसे, मदोन्मत्त हाथियोंसे, वायुके समान वेगशाली घोड़ोंसे, उपहारके अनेक द्रव्योंसे युक्त ऊँटोंके समूहसे, छत्र, चमर, वाहन आदि विभूतिका त्यागकर राजाधिराज महाराजके दर्शनकी इच्छा करनेवाले अनेक मण्डलेश्वर राजाओंसे तथा नाना देशोंसे आये हुए अन्य अनेक बड़े-बड़े लोगोंसे सदा क्षोभको प्राप्त होता रहता था ॥८१-८३॥ जिस प्रकार कमल जलमें आसक्तिको प्राप्त नहीं होता—उससे निर्लिप्त ही रहता है उसी प्रकार जिनका चित्त कर्मरूपी कलङ्ककी मन्दतासे मनोहारी विषयोंमें आसक्तिको प्राप्त नहीं हुआ था—उससे निर्लिप्त ही रहता था ॥८४॥ जो स्वयंबुद्ध भगवान् समस्त सम्पदाको बिजलीकी चमकके समान क्षणभङ्गुर जानकर विरक्त हुए और जिनके दीक्षाकल्याणकमें लौकान्तिक देवोंका आगमन हुआ था ॥८५॥ जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंकी आराधनाकर चार घातिया कर्मोंका विनाश किया था ॥८६॥ जिन्होंने लोक और अलोकको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान प्राप्तकर लोक-कल्याणके लिए धर्मतीर्थका प्रवर्तन किया था तथा स्वयं कृतकृत्य हुए थे ॥८७॥ जो प्राप्त करने योग्य समस्त पदार्थ प्राप्त कर चुके थे और करने योग्य समस्त कार्य समाप्त कर चुके थे इसीलिए जिनकी समस्त चेष्टाएँ सूर्यके समान केवल परोपकारके लिए ही होती थीं ॥८८॥ जो जन्मसे ही ऐसे उत्कृष्ट शरीरको धारण करते थे, जो कि मल तथा पसीनासे रहित था, दूधके समान सफेद जिसमें रुधिर था, जो उत्तम संस्थान, उत्तम गन्ध और उत्तम संहननसे सहित था, अनन्त बलसे युक्त था, सुन्दर-सुन्दर लक्षणोंसे पूर्ण था, हित मित वचन बोलनेवाला था और अपरिमित गुणोंका भण्डार था ॥८९-९०॥ जिनके विहार करते समय दो सौ योजन तक दुर्भिक्ष आदि दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाले कार्य तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि ईतियोंका होना सम्भव नहीं

१. सुत्रामा—म० । २. -रिव म० । ३. उद्घृष्ट म० । ४. -मायातैः म० । ५. मता म० । ६. संघ म० । ७. सम्मत म० । ८. गुणाधारं म० ।

विद्यानां यः समस्तानां परमेश्वरतां गतः । विशुद्धस्फटिकच्छायं छायां[1]माप न यद्वपुः ॥९२॥
पक्ष्मस्पन्दविनिर्मुक्ते प्रशान्ते यस्य लोचने । [2]समा नखा महानीलस्निग्धच्छायाश्च मूर्द्धजा ॥९३॥
मैत्री समस्तविषया विहारानुगवायुता । [3]विहृतिश्च प्रभोर्यस्य भुवनानन्दकारणम् ॥९४॥
सर्वर्तुफलपुष्पाणि धारयन्ति महीरुहाः । यस्मिन्नासन्नमायाते धरणी दर्पणायते ॥९५॥
सुगन्धिमरुतो [4]यस्य योजनान्तरभूतलम् । कुर्वते पांसुपाषाणकण्टकादिभि[5]रुज्झितम् ॥९६॥
विद्युन्मालाकृताभिख्यैस्तदेव स्तनितामरैः । सुगन्धिसलिलैः सिक्तं सोत्साहैर्यस्य सादरैः ॥९७॥
अप्रमेयमृदुत्वानि यस्य पद्मानि गच्छतः । धरण्यामुपजायन्ते [6]यस्य व्योमविहारिणः ॥९८॥
अत्यन्तफलसम्पत्तिनम्रशाल्यादिभूषिता । धरणी जायते [7]यस्मिन् समेते सस्यकारणम् ॥९९॥
शरत्सरःसमाकारं जायते विमलं नभः । धूमकादिविनिर्मुक्ता दिशस्तु सुखदर्शनाः ॥१००॥
स्फुरितारसहस्रेण प्रभामण्डलचारुणा । यत्पुरो धर्मचक्रेण स्थीयते [8]जितभानुना ॥१०१॥
अवस्थानं चकारासौ विपुले विपुलाह्वये । नानानिर्झरनिस्यन्दमधुरारावहारिणि ॥१०२॥
पुष्पोपशोभितोद्देशे लतालिङ्गितपादपे । अधित्यकासु विस्रब्धनिर्वैरव्यालसेविते ॥१०३॥
नमतीव सदाया[9]नघूर्णितोदारपादपैः । हसतीव समुत्सर्पन्नि[10]र्झरामलशीकरैः ॥१०४॥

था ॥९१॥ जो समस्त विद्याओंकी परमेश्वरताको प्राप्त थे, स्फटिकके समान निर्मल कान्तिवाला जिनका शरीर छायाको प्राप्त नहीं होता था अर्थात् जिनके शरीरकी परछाईं नहीं पड़ती थी ॥९२॥ जिनके नेत्र टिमकारसे रहित अत्यन्त शान्त थे, जिनके नख और महानील मणिके समान स्निग्ध कान्तिको धारण करनेवाले बाल सदा समान थे अर्थात् वृद्धिसे रहित थे ॥९३॥ समस्त जीवोंमें मैत्रीभाव रहता था, विहारके अनुकूल मन्द-मन्द वायु चलती थी, जिनका विहार समस्त संसारके आनन्दका कारण था ॥९४॥ वृक्ष सब ऋतुओंके फल-फूल धारण करते थे और जिनके पास आते ही पृथिवी दर्पणके समान आचरण करने लगती थी ॥९५॥ जिनके एक योजनके अन्तरालमें वर्तमान भूमिको सुगन्धित पवन सदा धूलि, पाषाण और कण्टक आदिसे रहित करती रहती थी ॥९६॥ बिजलीकी मालासे जिनकी शोभा बढ़ रही है ऐसे स्तनितकुमार—मेघकुमार जातिके देव बड़े उत्साह और आदरके साथ उस योजनान्तरालवर्ती भूमिको सुगन्धित जलसे सींचते रहते थे ॥९७॥ जो आकाशमें विहार करते थे और विहार करते समय जिनके चरणोंके तले देव लोग अत्यन्त कोमल कमलोंकी रचना करते थे ॥९८॥ जिनके समीप आनेपर पृथिवी बहुत भारी फलोंके भारसे नम्रीभूत धान आदिके पौधोंसे विभूषित हो उठती थी तथा सब प्रकारका अन्न उसमें उत्पन्न हो जाता था ॥९९॥ आकाश शरद् ऋतुके तालाबके समान निर्मल हो जाता था और दिशाएँ धूमक आदि दोषोंसे रहित होकर बड़ी सुन्दर मालूम होने लगती थीं ॥१००॥ जिसमें हजार आरे देदीप्यमान हैं, जो कान्तिके समूहसे जगमगा रहा है और जिसने सूर्यको जीत लिया है ऐसा धर्मचक्र जिनके आगे स्थित रहता था ॥१०१॥

ऊपर कही हुई विशेषताओंसे सहित भगवान् वर्धमान जिनेन्द्र राजगृहके समीपवर्ती उस विशाल विपुलाचलपर अवस्थित हुए जो कि नाना निर्झरोंके मधुर शब्दसे मनोहर था, जिसका प्रत्येक स्थान फूलोंसे सुशोभित था, जिसके वृक्ष लताओंसे आलिङ्गित थे, सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीव वैररहित होकर निश्चिन्ततासे जिसको अधित्यकाओं (उपरितनभागों) पर बैठे थे, वायुसे हिलते हुए वृक्षोंसे जो ऐसा जान पड़ता था मानो नमस्कार ही कर रहा हो, ऊपर उछलते हुए झरनोंके

१. मयनयद्वपुः म० । २. सभा क०, ख० । ३. विभूतिश्च म० । ४. यत्र म० । ५. कन्दकादिभिरुत्थितम् म० । ६. सत क०, ख० । ७. तस्मिन् म० । ८. जिनभानुना म० । ९. यातघूर्णितादरपादपैः म० । १०. निर्भरा-म० ।

कूजितैः पक्षिसंघानां जल्पतीव मनोहरम् । भ्रमराणां निनादेन गायतीव मदश्रिताम् ॥१०५॥
आलिङ्गतीव सर्वाशाः [1]समीरेण सुगन्धिना । नानाधातुप्रभाजालमण्डितोत्तुङ्गशृङ्गके ॥१०६॥
गुहामुखसुखासीन[2]दृष्टाननमृगाधिपे । घनपादपखण्डाधःस्थितयूथपतिद्विपे ॥१०७॥
महिम्ना सर्वमाकाशं संछाद्येव व्यवस्थिते । पर्वतेऽष्टापदे रम्ये भगवानिव नाभिजः ॥१०८॥
तत्रास्य जगती जाता योजनं परिमाणतः । नाम्ना समवपूर्वेण सरणेन प्रकीर्तिता ॥१०९॥
आसनाभिमुखे तत्र जिने जितभवद्विषि । चुक्षोभ त्रिदशेन्द्रस्य मृगेन्द्रैरूढमासनम् ॥११०॥
प्रभावात् कस्य मे कम्पं सिंहासनमिदं गतम् । इत्यालोक्य विबु[3]द्धोऽसौ ज्ञानेनावधिना ततः ॥१११॥
आज्ञापयद[4]नुध्यातक्षणायातं कृताञ्जलिम् । सेनापतिं यथा देवाः क्रियन्तामिति वेदिनः ॥११२॥
जिनेन्द्रो भगवान् वीरः स्थितो विपुलभूधरे । तद्वन्दनाय युष्माभिः समेतैर्गम्यतामिति ॥११३॥
ततः शारदजीमूतमहानिचयसंनिभम् । जाम्बूनदतटाघात पिङ्गकोटिमहारदम् ॥११४॥
सुवर्णकक्षया यु[5]क्तं कैलासमिव जङ्गमम् । स[6]रिता रजसाब्जानां पिञ्जरीकृततोयया ॥११५॥
मदान्धमधुपश्रेणीश्रितगण्डविराजितम् । धूलीकदम्बसंवादि सौरभ्[7]याप्तविष्टपम् ॥११६॥
कर्णतालसमासक्तसमीपालम्बशङ्खकम् । वमन्तमिव पद्मानां वनान्यरुणतालुना ॥११७॥

निर्मल छींटोंसे जो ऐसा जान पड़ता था मानो हँस ही रहा हो, पक्षियोंके कलरवसे ऐसा जान पड़ता था मानो मधुर भाषण ही कर रहा हो, मदोन्मत्त भ्रमरों की गुञ्जारसे ऐसा जान पड़ता था मानो गा ही रहा हो, सुगन्धित पवनसे जो ऐसा जान पड़ना था मानो आलिङ्गन ही कर रहा हो। जिसके ऊँचे-ऊँचे शिखर नाना धातुओंकी कान्तिके समूहसे सुशोभित थे, जिसकी गुफाओंके अग्रभागमें सुखसे बैठे हुए सिंहोंके मुख दिख रहे थे, जिसकी सघन वृक्षावलीके नीचे गजराज बैठे थे और जो अपनी महिमासे समस्त आकाशको आच्छादित कर स्थित था। जिस प्रकार अत्यन्त रमणीय कैलासपर्वतपर भगवान् वृषभदेव विराजमान हुए थे उसी प्रकार उक्त विपुलाचलपर भगवान् वर्धमान जिनेन्द्र विराजमान हुए ॥१०२-१०८॥ उस विपुलाचलपर एक योजन विस्तारवाली भूमि समवसरणके नामसे प्रसिद्ध थी ॥१०९॥ संसाररूपी शत्रुको जीतनेवाले वर्धमान जिनेन्द्र जब उस समवसरण भूमिमें सिंहासनारूढ़ हुए तब इन्द्रका आसन कम्पायमान हुआ ॥११०॥ इन्द्रने उसी समय विचार किया कि मेरा यह सिंहासन किसके प्रभावसे कम्पायमान हुआ है। विचार करते ही उसे अवधिज्ञानसे सब समाचार विदित हो गया ॥१११॥ इन्द्रने सेनापतिका स्मरण किया और सेनापति तत्काल ही हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। इन्द्रने उसे आदेश दिया कि सब देवोंको यह समाचार मालूम कराओ कि भगवान् वर्धमान जिनेन्द्र विपुलाचलपर विराजमान हैं इसलिए आप सब लोग एकत्रित होकर उनकी वन्दनाके लिए चलिए ॥११२-११३॥ तदनन्तर इन्द्र स्वयं उस ऐरावत हाथीपर आरूढ़ होकर चला जो कि शरदृऋतुके मेघोंके किसी बड़े समूहके समान जान पड़ता था, सुवर्णमय तटोंके आघातसे जिसकी खीसोंका अग्रभाग पीला-पीला हो रहा था, जो सुवर्णकी मालाओंसे युक्त था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो कमलों की परागसे जिसका जल पीला हो रहा है ऐसी नदीसे परिवृत कैलास गिरि ही हो। जो मदान्ध भ्रमरोंकी पंक्तिसे युक्त गण्डस्थलोंसे सुशोभित था, कदम्बके फूलोंकी परागसे मिलती-जुलती सुगन्धिसे जिसने समस्त संसारको व्याप्त कर लिया था, जिसके कानोंके समीप शङ्ख नामक आभरण दिखाई दे रहे थे, जो अपने लाल तालुसे कमलोंके वनको उगलता हुआ-सा जान पड़ता था, जो दर्पके कारण ऐसा जान पड़ता था मानो

---

१. समीरणसुगन्धिना म० । २. -सीनं दृष्टानन- म० । ३. विबधोऽसौ म० । ४. दनुज्ञात म० । ५. युक्तः क० । ६. सरितारसजाब्जानां पिंजरान्तं ततो यया—म० । (?) ७. सौरम्य म० ।

दलन्तमिव दर्पेण श्वसन्तमिव शौर्यतः । मदान्मूर्छामिवायान्तं मुह्यन्तमिव यौवनात् ॥११८॥
स्निग्धं नखप्रदेशेषु परुषं रोमगोचरे[1] । सच्छिष्यं विनयावाप्तौ परमं गुरुमानने ॥११९॥
मृदुमूर्द्धानमत्यन्तदृढं परिचयग्रहे । दीर्घमायुषि ह्रस्वत्वं दधतं स्कन्धबन्धने ॥१२०॥
दरिद्रमुदरे नित्यं प्रवृत्तं दानवर्त्मनि । नारदं कलहप्रीतौ गरुडं नागनाशने[2] ॥१२१॥
प्रदोषमिव राजन्तं चारुनक्षत्रमालया । महाघण्टाकृतारावं रक्तचामरमण्डितम् ॥१२२॥
सिन्दूरारुणितोत्तुङ्गकुम्भकूटमनोहरम् । [3]ऐरावतं [4]समारुह्य प्रावर्तत सुराधिपः ॥१२३॥
प्राप्तश्च सहितो देवैरारूढनिजवाहनैः । जिनेन्द्रदर्शनोत्साहोत्फुल्ला[5] ननसरोरुहैः ॥१२४॥
कमलायुधमुख्याश्च नभश्चरजनाधिपाः । संप्राप्ताः सहपत्नीका नानालंकारधारिणः ॥१२५॥
ततस्तुष्टाव देवेन्द्रो वचसाश्चर्यमीयुषा । गुणैरवितथैर्दिव्यैरत्यन्तविमलैरिति ॥१२६॥
त्वया नाथ जगत्सुप्तं[6] महामोहनिशागतम् । ज्ञानभास्करबिम्बेन बोधितं पुरुतेजसा ॥१२७॥
नमस्ते वीतरागाय सर्वज्ञाय महात्मने । यातोय[7] दुर्गमं कूलं संसारोदन्वतः परम् ॥१२८॥
भवता सार्थवाहेन भव्यचेतनवाणिजाः । यास्यन्ति वितनुस्थानं दोषचारैरलुण्टिताः ॥१२९॥
प्रवर्तितस्त्वया पन्था विमलः सिद्धगामिनाम् । कर्मजालं च निर्दग्धं ज्वलितध्यानवह्निना ॥१३०॥

साँस ही ले रहा हो, मदसे ऐसा प्रतीत होता था मानो मूर्छाको ही प्राप्त हो रहा हो और यौवनसे ऐसा विदित होता था मानो मोहित ही हो रहा हो। जिसके नखोंके प्रदेश चिकने और शरीरके रोम कठोर थे, विनयके ग्रहण करनेमें जो समीचीन शिष्यके समान जान पड़ता था, जो मुखमें परम गुरु था अर्थात् जिसका मुख बहुत विस्तृत था, जिसका मस्तक कोमल था, जो परिचयके ग्रहण करनेमें अत्यन्त दृढ़ था, जो आयुमें दीर्घता और स्कन्धमें ह्रस्वता धारण करता था अर्थात् जिसकी आयु विशाल थी और गर्दन छोटी थी, जो उदरमें दरिद्र था अर्थात् जिसका पेट कृश था, जो दानके मार्गमें सदा प्रवृत्त रहता था अर्थात् जिसके गण्डस्थलोंसे सदा मद झरता रहता था, जो कलहसम्बन्धी प्रेमके धारण करनेमें नारद था अर्थात् नारदके समान कलहप्रेमी था, जो नागोंका नाश करनेके लिए गरुड़ था, जो सुन्दर नक्षत्रमाला (सत्ताईस दानोंवाली माला पक्षमें नक्षत्रोंके समूह) से प्रदोष—रात्रिके प्रारम्भके समान जान पड़ता था, जो बड़े-बड़े घण्टाओंका शब्द कर रहा था, जो लालरङ्गके चमरोंसे विभूषित था और जो सिन्दूरके द्वारा लाल लाल दिखनेवाले उन्नत गण्डस्थलोंके अग्रभागसे मनोहर था ॥११४-१२३॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के दर्शन सम्बन्धी उत्साहसे जिनके मुखकमल विकसित हो रहे थे ऐसे समस्त देव अपने अपने वाहनोंपर सवार होकर इन्द्रके साथ आ मिले ॥१२४॥ देवोंके सिवाय नाना अलंकारोंको धारण करनेवाले कमलायुध आदि विद्याधरोंके राजा भी अपनी अपनी पत्नियोंके साथ आकर एकत्रित हो गये ॥१२५॥

तदनन्तर भगवान्‌के वास्तविक, दिव्य तथा अत्यन्त निर्मल गुणोंके द्वारा आश्चर्यको प्राप्त हुए वचनोंसे इन्द्रने निम्नप्रकार स्तुति की ॥१२६॥ हे नाथ ! महामोह रूपी निशाके बीच सोते हुए इस समस्त जगत्‌को आपने अपने विशाल तेजके धारक ज्ञानरूपी सूर्यके बिम्बसे जगाया है ॥१२७॥ हे भगवन् ! आप वीतराग हो, सर्वज्ञ हो, महात्मा हो, और संसाररूपी समुद्रके दुर्गम अन्तिम तटको प्राप्त हुए हो अतः आपको नमस्कार हो ॥१२८॥ आप उत्तम सार्थवाह हो भव्य जीव रूपी व्यापारी आपके साथ निर्वाण धामको प्राप्त करेंगे और मार्गमें दोषरूपी चोर उन्हें नहीं लूट सकेंगे ॥१२९॥ आपने मोक्षाभिलाषियोंको निर्मल मोक्षका मार्ग

१. रामगोचरे म० । २. नागशासने म० । ३. पारावतं म० । ४. समासाद्य म० । ५. -त्साह-फुल्ला—क०, म० । ६. सुप्ते म० । ७. यतोऽद्य म० ।

निर्बन्धूनामनाथानां दुःखाग्निपरिवर्तिनाम् । बन्धुर्नाथश्च जगतां जातोऽसि परमोदयः ॥१३१॥
कथं कुर्यास्तव[1] स्तोत्रं यस्यान्तपरिवर्जिताः । उपमानेन निर्मुक्ता गुणाःकेवलिगोचराः ॥१३२॥
इति स्तुतिं[2] प्रयुज्यासौ विधाय च नमस्कृतिम् । मूर्द्धजानुकराम्भोजमुकुलप्राप्तभूतलः ॥१३३॥
विस्मयं प्राप्तवान् दृष्ट्वा स्थानं तज्जिन[3]पुङ्गवम् । इति तस्य समासेन कथ्यते रूपवर्णनम् ॥१३४॥
इन्द्रस्य पुरुषैरस्य प्राकारत्रितयं कृतम् । नानावर्णमहारत्नसुवर्णमयमुत्तमम् ॥१३५॥
प्रधानाशामुखैस्तुङ्गैर्महावापीसमन्वितैः । चतुर्भिर्गोपुरैर्युक्तं रत्नच्छायापटावृतैः[4] ॥१३६॥
आवृतं तेन तत्स्थानमष्टमङ्गलकाचितम्[5] । वचसां गोचरातीतामदधत् कामपि श्रियम् ॥१३७॥
तत्र स्फटिकभित्त्यङ्का विभागा द्वादशाभवन् । प्रादक्षिण्यपथस्थप्रदेशसमवस्थिताः ॥१३८॥
तस्थुरेकत्र निर्ग्रन्था गणनाथैरारधिष्ठिताः । अन्यत्र[6] सेन्द्रपत्नीकाः कल्पवासिसुराङ्गनाः ॥१३९॥
अपरत्रार्यिकासंघो गणपालीसमन्वितः । [7]ज्योतिषां योषितोऽन्यत्र वैयन्तर्योऽपरत्र च ॥१४०॥
एकत्र भावनस्त्रीणामन्यत्र ज्योतिषां[8] गणः । व्यन्तराणां गणोऽन्यत्र [9]सङ्घोऽन्यत्र च भावनः ॥१४१॥
कल्पवासिन एकस्मिन्नपरत्र च मानुषाः । [10]वैरानुभावनिर्मुक्तास्तिर्यञ्चोऽन्यत्र सुस्थिताः ॥१४२॥
ततो मगधराजोऽपि निश्चक्राम महाबलः । संपतत्सुरसंघातजातविस्मयमानसः ॥१४३॥

दिखाया है और ध्यानरूपी देदीप्यमान अग्निके द्वारा कर्मोंके समूहको भस्म किया है ॥१३०॥ जिनका कोई बन्धु नहीं और जिनका कोई नाथ नहीं ऐसे दुःख रूपी अग्निमें वर्तमान संसारके जीवोंके आप ही बन्धु हो, आप ही नाथ हो, तथा आप ही परम अभ्युदयके धारक हो ॥१३१॥ हे भगवन् ! हम आपके गुणोंका स्तवन कैसे कर सकते हैं जब कि वे अनन्त हैं, उपमासे रहित हैं तथा केवलज्ञानियोंके विषय हैं ॥१३२॥ इस प्रकार स्तुतिकर इन्द्रने भगवान्को नमस्कार किया। नमस्कार करते समय उसने मस्तक, घुटने तथा दोनों हस्त रूपी कमलोंके कुड्मलोंसे पृथिवीतलका स्पर्श किया था ॥१३३॥ वह इन्द्र भगवान्का समवसरण देखकर आश्चर्यको प्राप्त हुआ था इसलिए यहाँ संक्षेपसे उसका वर्णन किया जाता है ॥१३४॥

इन्द्रके आज्ञाकारी पुरुषोंने सर्वप्रथम समवसरणके तीन कोटोंकी रचना की थी जो अनेक वर्णके बड़े-बड़े रत्नों तथा सुवर्णसे निर्मित थे ॥१३५॥ उन कोटोंकी चारों दिशाओंमें चार गोपुर द्वार थे जो बहुत ही ऊँचे थे, बड़ी-बड़ी बावड़ियोंसे सुशोभित थे, तथा रत्नोंकी कान्तिरूपी परदासे आवृत थे ॥१३६॥ गोपुरोंका वह स्थान अष्टमङ्गल द्रव्योंसे युक्त था तथा वचनोंके अगोचर कोई अद्भुत शोभा धारण कर रहा था ॥१३७॥ उस समवसरणमें स्फटिककी दीवालोंसे बारह कोठे बने हुए थे जो प्रदक्षिणा रूपसे स्थित थे ॥१३८॥ उन कोठोंमेंसे प्रथम कोठेमें गणधरोंसे सुशोभित मुनिराज बैठे थे, दूसरेमें इन्द्राणियोंके साथ-साथ कल्पवासी देवोंकी देवाङ्गनाएँ थीं, तीसरेमें गणिनियोंसे सहित आर्यिकाओंका समूह बैठा था, चौथेमें ज्योतिषी देवोंकी देवाङ्गनाएँ थीं, पाँचवेंमें व्यन्तर देवोंकी अंगनाएँ बैठी थीं, छठवेंमें भवनवासी देवोंकी अंगनाएँ बैठी थीं, सातवेंमें ज्योतिषी देव थे, आठवेंमें व्यन्तर देव थे, नौवेंमें भवनवानी देव थे, दशवेंमें कल्पवासी देव थे, ग्यारहवेंमें मनुष्य थे, और बारहवेंमें वैरभावसे रहित तिर्यञ्च सुखसे बैठे थे ॥ १३९–१४२ ॥ तदनन्तर सब ओरसे आने वाले देवोंके समूहसे जिसके मनमें आश्चर्य उत्पन्न हो रहा था ऐसा महाबलवान् अथवा बहुत

---

१. कुर्यास्तव म० । २. परिस्तुतिं ख० । ३. तज्जैन—म० । ४. पटैर्वृतैः म० । ५. -कान्वितम् म० । ६. अन्यत्रासन् सपत्नीकाः क०, ख० । ७. ज्योतिषां म० । ८. ज्योतिषां म० । ९. गणो म० । १०. वैरानुभव -म० ।

दूरादेव हि संत्यज्य वाहनादिपरिच्छदम् । स्तुतिपूर्वं जिनं नत्वा स्वदेशे समुपाविशत् ॥१४४॥
अक्रूरो वारिषेणोऽथ कुमारोऽभयपूर्वकः । [1]विजयावहनामा च तथाऽन्ये नृपसूनवः ॥१४५॥
स्तुतिं कृत्वा [2]प्रणेमुस्ते मस्तकन्यस्तपाणयः । उपविष्टा यथादेशं दधाना विनयं परम् ॥१४६॥
वैडूर्यविटपस्याधो मृदुपल्लवशोभिनः । पुष्पस्तवकभाजालव्याप्ताशस्य विलासिनः ॥१४७॥
कल्पपादपरम्यस्य जनशोकापहारिणः । हरिद्गनपलाशस्य नानारत्नगिरेरिव ॥१४८॥
अशोकपादपस्याधो निविष्टः सिंहविष्टरे । नानारत्नसमुद्योतजनितेन्द्र[3]शरासने ॥१४९॥
दिव्यांशुकपरिच्छन्न[4]मृदुस्पर्शमनोहरे । अमरेन्द्रशिरोरत्नप्रभोत्स[5]र्पविघातिनि ॥१५०॥
त्रिलोकेश्वरताचिह्नछत्रत्रितयराजिते । सुरपुष्पसमाकीर्णे भूमिमण्डलवर्तिनि ॥१५१॥
यक्षराजकरासक्तचलच्चामरचारुणि । दुन्दुभिध्वनितोद्भूतप्रशान्तप्रतिशब्दके ॥१५२॥
गतित्रयगतप्राणिभाषारूपनिवृत्तया । घनाघनघनध्वानधीरनिर्घोषया गिरा ॥१५३॥
परिभूतरविद्योतप्रभामण्डलमध्यगः । लोकायेत्यवदद् धर्मं पृष्टो गणभृता जिनः ॥१५४॥
सत्तैका प्रथमं तत्त्वं जीवाजीवौ ततः परम् । सिद्धाः संसारवन्तश्च जीवास्तु[6] द्विविधाः स्मृताः ॥१५५॥

बड़ी सेनाका नायक राजा श्रेणिक भी अपने नगरसे बाहर निकला ॥१४३॥ उसने वाहन आदि राजाओंके उपकरणोंका दूरसे ही त्याग कर दिया, फिर समवसरणमें प्रवेश कर स्तुतिपूर्वक जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर अपना स्थान ग्रहण किया ॥ १४४ ॥ दयालु वारिषेण, अभयकुमार, विजयावह तथा अन्य राजकुमारोंने भी हाथ जोड़कर मस्तकसे लगाये, स्तुति पढ़कर भगवान्‌को नमस्कार किया। तदनन्तर बहुत भारी विनयको धारण करते हुए वे सब अपने योग्य स्थानोंपर बैठ गये ॥ १४५–१४६ ॥ भगवान् वर्धमान समवसरणमें जिस अशोक वृक्षके नीचे सिंहासनपर विराजमान थे उसकी शाखाएँ वैडूर्य (नील) मणिकी थीं, वह कोमल पल्लवोंसे शोभायमान था, फूलोंके गुच्छोंकी कान्तिसे उसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थीं, वह अत्यन्त सुशोभित था, कल्पवृक्षके समान रमणीय था, मनुष्योंके शोकको हरनेवाला था, उसके पत्ते हरे रङ्गवाले तथा सघन थे, और वह नाना प्रकारके रत्नोंसे निर्मित पर्वतके समान जान पड़ता था। उनका वह सिंहासन भी नाना रत्नोंके प्रकाशसे इन्द्रधनुषको उत्पन्न कर रहा था। दिव्य वस्त्रसे आच्छादित था, कोमल स्पर्शसे मनोहारी था, इन्द्रके शिरपर लगे हुए रत्नोंकी कान्तिके विस्तारको रोकनेवाला था, तीन लोककी ईश्वरताके चिह्न स्वरूप तीन छत्रोंसे सुशोभित था, देवोंके द्वारा बरसाये हुए फूलोंसे व्याप्त था, भूमिमण्डलपर वर्तमान था, यक्ष-राजके हाथोंमें स्थित चञ्चल चमरोंसे सुशोभित था, और दुन्दुभिबाजोंके शब्दोंकी शान्तिपूर्ण प्रतिध्वनि उससे निकल रही थी ॥ १४७–१५२ ॥ भगवान्‌की जो दिव्यध्वनि खिर रही थी वह तीन गति सम्बन्धी जीवोंकी भाषा रूप परिणमन कर रही थी तथा मेघोंकी सान्द्र गर्जनाके समान उसकी बुलन्द आवाज थी ॥ १५३ ॥ वहाँ सूर्यके प्रकाशको तिरस्कृत करनेवाले प्रभामण्डलके मध्यमें भगवान् विराजमान थे। गणधरके द्वारा प्रश्न किये जानेपर उन्होंने लोगोंके लिए निम्नप्रकारसे धर्मका उपदेश दिया था ॥ १५४ ॥

उन्होंने कहा था कि सबसे पहले एक सत्ता ही तत्त्व है उसके बाद जीव और अजीवके भेदसे तत्त्व दो प्रकारका है। उनमें भी जीवके सिद्ध और संसारीके भेदसे दो भेद माने गये हैं ॥१५५॥ इनके सिवाय जीवोंके भव्य और अभव्य इस प्रकार दो भेद और भी हैं। जिस

१. विजयवाहनामा च तथान्यनृपसूनवः म० । २. प्रणामं च म० । ३. जनितेन्द्रायुधोद्गमे म० । ४. परिच्छन्ने म० । ५. सर्पि म० । ६. जीवाश्च म० ।

पाक्यापाक्यतया[1] माषसस्यवत्प्रविभागतः । सेत्स्यन्तो गदिता भव्या अभव्यास्तु ततोऽन्यथा ॥१५६॥
भव्याभव्यद्वयेनात्र जीवार्थाः परिकीर्तिताः । धर्माधर्मादिभिर्भेदैर्द्वितीयो भिद्यते पुनः ॥१५७॥
जिनदेशिततत्त्वानां श्रद्धाश्रद्धानमेतयोः । लक्षणं तत्प्रभेदाश्च पुनरेकेन्द्रियादयः ॥१५८॥
गत्या कायैस्तथा योगैर्वेदैर्लेश्याकषायतः । ज्ञानदर्शनचारित्रै[2] गुंणश्रेण्यधिरोहणैः ॥१५९॥
निसर्गशास्त्रसम्यक्त्वैर्नामादिन्यासभेदतः । सदाद्यष्टानुयोगैश्च भिद्यते चेतनः पुनः ॥१६०॥
तत्र संसारिजीवानां केवलं दुःखवेदिनाम् । सुखं संज्ञावमूढानां तत्रैव विषयोद्भवे ॥१६१॥
चक्षुपः पुटसंकोचो यावन्मात्रेण जायते । तावन्तमपि नो कालं नारकाणां सुखासनम् ॥१६२॥
दमनैस्ताडनैर्दोह[3]वाहादिभिरुपद्रवैः । तिरश्चां सततं दुःखं तथा शीतातपादिभिः ॥१६३॥
प्रियाणां विप्रयोगेन तथानिष्टसमागमात् । ईप्सितानामलाभाच्च दुःखं मानुषगोचरम् ॥१६४॥
यथोत्कृष्टसुराणां च दृष्ट्वा भोगं महागुणम् । च्यवनाच्च परं दुःख देवानामुपजायते ॥१६५॥
घ[4]नदुःखावबद्धेषु चतुर्गतिगतेष्विति । कर्मभूमिं समासाद्य धर्मोपार्जनमुत्तमम् ॥१६६॥
मनुष्य[5]भावमासाद्य सुकृतं ये न कुर्वते । तेषां करतलप्राप्तममृतं नाशमागतम् ॥१६७॥
संसारे[6] पर्यटन्नेष बहुयोनिसमाकुले । मनुष्यभावमायाति चिरेणात्यन्तदुःखतः १६८॥

प्रकार उड़द आदि अनाजमें कुछ तो ऐसे होते हैं जो पक जाते हैं—सीझ जाते हैं और कुछ ऐसे होते हैं कि जो प्रयत्न करनेपर भी नहीं पकते हैं—नहीं सीझते हैं। उसी प्रकार जीवोंमें भी कुछ जीव तो ऐसे होते हैं जो कर्म नष्ट कर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो सकते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो प्रयत्न करनेपर भी सिद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं हो सकते। जो सिद्ध हो सकते हैं वे भव्य कहलाते हैं और जो सिद्ध नहीं हो सकते हैं वे अभव्य कहलाते हैं। इस तरह भव्य और अभव्यकी अपेक्षा जीव दो तरहके हैं और अजीव तत्त्वके धर्म अधर्म आकाश काल तथा पुद्गलके भेदसे पाँच भेद हैं ॥१५६–१५७॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए तत्त्वोंका श्रद्धान होना भव्योंका लक्षण है और उनका श्रद्धान नहीं होना अभव्योंका लक्षण है। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ये भव्य तथा अभव्य जीवोंके उत्तर भेद हैं ॥१५८॥ गति, काय, योग, वेद, लेश्या, कषाय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, गुणस्थान, निसर्गज एवं अधिगमज सम्यग्दर्शन, नामादि निक्षेप और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव तथा अल्प बहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा जीव-तत्त्वके अनेक भेद होते हैं ॥१५९–१६०॥ सिद्ध और संसारी इन दो प्रकारके जीवोंमें संसारी जीव केवल दुःखका ही अनुभव करते रहते हैं। पञ्चे-न्द्रियोंके विषयोंसे जो सुख होता है उन्हें संसारी जीव भ्रमवश सुख मान लेते हैं ॥१६१॥ जितनी देरमें नेत्रका पलक झपता है उतनी देरके लिए भी नारकियोंको सुख नहीं होता ॥१६२॥ दमन, ताडन, दोहन, वाहन आदि उपद्रवोंसे तथा शीत घाम वर्षा आदिके कारण तिर्यञ्चोंको निरन्तर दुःख होता रहता है ॥१६३॥ प्रियजनोंके वियोगसे, अनिष्ट वस्तुओंके समागमसे तथा इच्छित पदार्थोंके न मिलनेसे मनुष्य गतिमें भारी दुःख है ॥१६४॥ अपनेसे उत्कृष्ट देवोंके बहुत भारी भोगोंको देखकर तथा वहाँसे च्युत होनेके कारण देवोंको दुख उत्पन्न होता है ॥१६५॥ इस प्रकार जब चारों गतियोंके जीव बहुत अधिक दुःखसे पीड़ित हैं तब कर्मभूमि पाकर धर्मका उपार्जन करना उत्तम है ॥१६६॥ जो मनुष्य भव पाकर भी धर्म नहीं करते हैं मानो उनकी हथेलीपर आया अमृत नष्ट हो जाता है ॥१६७॥ अनेक योनियों से भरे इस संसारमें परिभ्रमण

१. पाक्यापाक्यतया माषसस्यवत्प्रविभागतः। भव्याभव्यद्वयेनात्र जीवार्थः परिकीर्तितः ॥१५६॥ धर्माधर्मादिभिर्भेदैर्द्वितीयो भिद्यते पुनः। सेत्स्यन्तो गदिता भव्या अभव्यास्तु ततोऽन्यथा ॥१५७॥ म०। २. भावानां क०। ३. देह ख०। ४. तत्र दुःखावनद्धेषु म०। ५. मानुष्यभाव ख०। ६. संसारं पर्यटन् जन्तुर्बहुयोनिसमाकुलम् म०।

तत्र लुब्धेषु[1] पापेषु शबरादिषु जायते । आर्यदेशेऽपि संप्राप्ते दुःकुलेषूपजायते ॥१६९॥
लब्धेऽपि सुकुले काणकुण्ठादितनुसंभवः । संपूर्णकायबन्धेऽपि दुर्लभा[2] हीनरोगता ॥१७०॥
एवं सर्वमपि प्राप्य प्रशस्तानां समागमम् । दुर्लभो[3] धर्मसंवेगो विषयास्वादलोभतः ॥१७१॥
ततः केचिद् भृतिं कृत्वा जठरस्यापि पूरणम् । कुर्वतेऽत्यन्तदुःखेन दूरतो विभवोद्भवः ॥१७२॥
रक्तकर्दमबीभत्सशस्त्रसंपातभीषणम् । केचिद् विशन्ति संग्रामं जिह्वाकामवशीकृताः ॥१७३॥
समस्तजन्तुसंबाधं[4] कृत्वाऽन्ये भूमिकर्षणम् । कुटुम्बभरणं क्लेशात् कुर्वते[5] नृपपीडिताः ॥१७४॥
एवं यद्यत्प्रकुर्वन्ति कर्म सौख्याभिलाषिणः । तत्र तत्र प्रपद्यन्ते जन्तवो दुःखमुत्तमम् ॥१७५॥
अवाप्यापि धनं क्लेशाच्चोराग्निजलराजतः । पालयन् परमं दुःखमवाप्नोत्याकुलः सदा ॥१७६॥
संप्राप्तं रक्षितं द्रव्यं भुञ्जानस्यापि नो शमः । प्रतिवासरसंवृद्धगर्द्धाग्निपरिवर्तनात्[6] ॥१७७॥
प्राप्नोति धर्मसंवेगं कथञ्चित् पूर्वकर्मतः । संसारपदवीमेव नीयतेऽन्यैर्दुरात्मभिः ॥१७८॥
अन्यैस्ते नाशिताः सन्तो नाशयन्त्यपरान् जनान् । धर्मसामान्यशब्देन सेवमानाः परम्पराम्[7] ॥१७९॥
कथं चेतोविशुद्धिः स्यात् परिग्रहवतां सताम् । चेतोविशुद्धिमूला[8] च तेषां धर्मे स्थितिः कुतः ॥१८०॥

करता हुआ यह जीव बहुत समयके बाद बड़े दुःखसे मनुष्य भवको प्राप्त होता है ॥१६८॥ उस मनुष्य भवमें यह जीव अधिकांश लोभी तथा पाप करनेवाले शबर आदि नीच पुरुषोंमें ही जन्म लेता है। यदि कदाचित् आर्य देश प्राप्त होता है तो वहाँ भी नीच कुलमें ही उत्पन्न होता है ॥१६९॥ यदि भाग्य वश उच्च कुल भी मिलता है तो काना लूला आदि शरीर प्राप्त होता है। यदि कदाचित् शरीरकी पूर्णता होती है तो नीरोगताका होना अत्यन्त दुर्लभ रहता है ॥१७०॥ इस तरह यदि कदाचित् समस्त उत्तम वस्तुओंका समागम भी हो जाता है तो विषयोंके आस्वादका लोभ रहनेसे धर्मानुराग दुर्लभ ही रहा आता है ॥१७१॥ इस संसारमें कितने ही लोग ऐसे हैं जो दूसरोंकी नौकरीकर बहुत भारी कष्टसे पेट भर पाते हैं उन्हें वैभवकी प्राप्ति होना तो दूर रहा ॥१८२॥ कितने ही लोग जिह्वा और काम इन्द्रियके वशीभूत होकर ऐसे संग्राम में प्रवेश करते हैं जो कि रक्तकी कीचड़से घृणित तथा शस्त्रोंकी वर्षासे भयंकर होता है ॥१७३॥ कितने ही लोग अनेक जीवोंको बाधा पहुँचानेवाली भूमि जोतनेकी आजीविका कर बड़े क्लेशसे अपने कुटुम्बका पालन करते हैं और उतनेपर भी राजाओंकी ओरसे निरन्तर पीड़ित रहते हैं ॥१७४॥ इस तरह सुखकी इच्छा रखनेवाले जीव जो कार्य करते हैं वे उसी में बहुत भारी दुःखको प्राप्त करते हैं ॥१७५॥ यदि किसी तरह कष्टसे धन मिल भी जाता है तो चोर, अग्नि, जल और राजासे उसकी रक्षा करता हुआ यह प्राणी बहुत दुःख पाता है और उससे सदा व्याकुल रहता है ॥१७५॥ यदि प्राप्त हुआ धन सुरक्षित भी रहता है तो उसे भोगते हुए इस प्राणीको कभी शान्ति नहीं होती क्योंकि उसकी लालसा रूपी अग्नि प्रति दिन बढ़ती रहती है ॥१७७॥ यदि किसी तरह पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके उदयसे धर्म भावनाको प्राप्त होता भी है तो अन्य दुष्टजनों के द्वारा पुनः उसी संसारके मार्गमें ला दिया जाता है ॥१७८॥ अन्य पुरुषोंके द्वारा नष्ट हुए सत्पुरुष अन्य लोगोंको भी नष्ट कर देते हैं—पथ भ्रष्ट कर देते हैं और धर्मसामान्यकी अपेक्षा केवल रूढिका ही पालन करते हैं ॥१७९॥ परिग्रही मनुष्योंके चित्तमें विशुद्धता कैसे हो सकती है और जिसमें चित्तकी विशुद्धता ही मूल कारण है ऐसी धर्मकी स्थिति उन परिग्रही मनुष्योंमें

१. लब्धेषु म० । २. हि निरोगता ख०, म० । ३. दुर्लभं क० । ४. अनन्त म० । ५. कुर्वन्ति म० । ६. गर्भाग्नि म० । ७. परंपरम् क० । परस्परम् म० । ८. मूलाश्च म० ।

यावत्परिग्रहासक्तिस्तावत्प्राणिनिपीडनम्[1] । हिंसातः[2] संसृतेर्मूलं दुःखं संसारसंज्ञकम् ॥१८१॥
परिग्रहपरिष्वङ्गाद् द्वेषो रागश्च जायते । रागद्वेषौ च संसारे[3] दुःखस्योत्तमकारणम् ॥१८२॥
लब्ध्वापि दर्शनं सम्यक् प्रशमाद्दर्शनावृतेः । चारित्रं न प्रपद्यन्ते चारित्रावरणावृताः ॥१८३॥
चारित्रमपि संप्राप्ताः कुर्वन्तः परमं तपः । परीषहैः पुनर्भङ्गं नीयन्ते[4] दुःखविक्रमैः[5] ॥१८४॥
अणुव्रतानि सेवन्ते केचिद् भङ्गमुपागताः । केचिद्दर्शनमात्रेण भवन्ति परितोषिणः ॥१८५॥
केचिद् गम्भीरसंसारकूपहस्तावलम्बनम् । सम्यग्दर्शनमुत्सृज्य मिथ्यादृष्टिमुपासते ॥१८६॥
मिथ्यादर्शनसंयुक्तास्ते पुनर्भवसंकटे । भ्राम्यन्ति सततं जीवा दुःखाग्निपरिवर्तिनः ॥१८७॥
केचित्तु पुण्यकर्माणश्चारित्रमवलम्बितम् । निर्वहन्ति महाशूरा यावत्प्राणविवर्जनम्[6] ॥१८८॥
ते समाधिं समासाद्य कृत्वा देहविसर्जनम् । वासुदेवादितां यान्ति निदानकृतदोषतः ॥१८९॥
ते पुनः परपीडायां रताः निर्दयचेतसः । नरकेषु महादुःखं प्राप्नुवन्ति सुदुस्तरम् ॥१९०॥
केचित्तु सुतपः कृत्वा यान्ति गीर्वाणनाथताम् । अपरे बलदेवत्वमन्येऽनुत्तरवासिताम्[7] ॥१९१॥
केचित्प्राप्य महासत्त्वा जिनकर्माणि षोडश । तीर्थकृत्त्वं प्रपद्यन्ते त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥१९२॥
केचिन्निरन्तरायेण त्रितयाराधने रताः । द्वित्रैर्भवैर्विमुच्यन्ते कर्माष्टककलङ्कतः ॥१९३॥
संप्राप्ताः परमं स्थानं मुक्तानामुपभोज्झितम् । अनन्तं निःप्रतिद्वन्द्वं लभन्ते सुखमुत्तमम् ॥१९४॥

कहाँसे हो सकती है ॥१८०॥ जब तक परिग्रहमें आसक्ति है तब तक प्राणियोंकी हिंसा होना निश्चित है। हिंसा ही संसारका मूल कारण है और दुःखको ही संसार कहते हैं ॥१८१॥ परिग्रहके सम्बन्धसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं तथा राग और द्वेष ही संसार सम्बन्धी दुःखके प्रबल कारण हैं ॥१८२॥ दर्शनमोह कर्मका उपशम होनेसे कितने ही प्राणी यद्यपि सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं तथापि चारित्र मोहके आवरणसे आवृत रहनेके कारण वे सम्यक् चारित्रको प्राप्त नहीं कर सकते ॥१८३॥ कितने ही लोग सम्यक् चारित्रको पाकर श्रेष्ठ तप भी करते हैं परन्तु दुःखदायी परिषहोंके निमित्तसे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१८४॥ परिषहोंके निमित्तसे भ्रष्ट हुए कितने ही लोग अणुव्रतोंका सेवन करते हैं और कितने ही केवल सम्यग्दर्शनसे सन्तुष्ट रह जाते हैं अर्थात् किसी प्रकारका व्रत नहीं पालते हैं ॥१८५॥ कितने ही लोग संसार रूपी गहरे कुएँसे हस्तावलम्बन देकर, निकालनेवाले सम्यग्दर्शनको छोड़कर फिरसे मिथ्यादर्शनकी सेवा करने लगते हैं ॥१८६॥ तथा ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव निरन्तर दुःख रूपी अग्निके बीच रहते हुए संकटपूर्ण संसारमें भ्रमण करते रहते हैं ॥१८७॥ कितने ही ऐसे महाशूरवीर पुण्यात्मा जीव हैं जो ग्रहण किये हुए चारित्रको जीवन पर्यन्त धारण करते हैं ॥१८८॥ और समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर निदानके दोषसे नारायण आदि पदको प्राप्त होते हैं ॥१८९॥ जो नारायण होते हैं वे दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें तत्पर रहते हैं तथा उनका चित्त निर्दय रहता है इसलिए वे मरकर नियमसे नरकोंमें भारी दुःख भोगते हैं ॥१९०॥ कितने ही लोग सुतप करके इन्द्र पदको प्राप्त होते हैं। कितने ही बलदेव पदवी पाते हैं और कितने ही अनुत्तर विमानोंमें निवास प्राप्त करते हैं ॥१९१॥ कितने ही महाधैर्यवान् मनुष्य षोडश कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं ॥१९२॥ और कितने ही लोग निरन्तराय रूपसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्रकी आराधनामें तत्पर रहते हुए दो तीन भवमें ही अष्ट कर्म रूप कलंकसे मुक्त हो जाते हैं ॥१९३॥ वे फिर मुक्त जीवोंके उत्कृष्ट एवं निरुपम स्थानको पाकर अनन्त काल तक निर्बाध उत्तम सुखका उपभोग करते हैं ॥१९४॥

---

१. निपीडना क० । २. हिंसा च म० । ३. संसारदुःखस्योत्पत्तिकारणम् म० । ४. नीयते म० । ५. दुरतिक्रमैः म० । ६. विसर्जनम् म० । ७. मन्ये तूत्तरवासिताम् म० ।

ततस्ते निर्गतं धर्मं जिनवक्त्रारविन्दतः । श्रुत्वा हर्षं परं जग्मुस्तिर्यङ्‌त्रिदशमानवाः ॥१९५॥
अणुव्रतानि संप्राप्ताः केचित् केचिन्निरम्बरम् । तपश्चरितुमारब्धाः संसारोद्विग्नमानसाः ॥१९६॥
सम्यग्दर्शनमायाताः केचित् केचित्स्वशक्तितः । विरतिं जगृहुः पापसमुपार्जनकर्मणः[1] ॥१९७॥
श्रुत्वा धर्मं जिनं स्तुत्वा प्रणम्य च यथाविधि । धर्मसुस्थितचित्तास्ते याताः स्थानं यथायथम् ॥१९८॥
श्रेणिकोऽपि महाराजो राजमानो नृपश्रिया । वर्णश्रवणहृष्टात्मा प्रविवेश निजं पुरम् ॥१९९॥
अथ तीर्थकरोदारतेजोमण्डलदर्शनात् । विलक्ष इव तिग्मांशुरब्धिमैच्छ[2]द्विगाहितुम् ॥२००॥
अस्ताचलसमीपस्थैः[3] सरोरुहरुचामिव । मणीनां किरणैश्छन्नो जगामात्यन्तशोणताम् ॥२०१॥
अमन्दायन्त किरणा नित्यमस्यानुयायिनः । कस्य वा तेजसो वृद्धिः स्वामिन्यापदमागते ॥२०२॥
ततो विलोचनैः सास्रैरीक्षितः कोकयोषिताम् । अदर्शनं ययौ मन्दं कृपयेव विरोचनः ॥२०३॥
धर्मश्रवणतो मुक्तो यो रागः प्राणिनां गणैः । सन्ध्याच्छलेन तेनैव ककुभां चक्रमाश्रितम् ॥२०४॥
उपकारे प्रवृत्तोऽयमस्मास्वप्रार्थितः परम् । इतीव चक्षुर्लोकस्य मित्रेणेवं[4] समं गतम् ॥२०५॥
भजतो दिननाथस्य रागं प्रलयगामिनम् । संकुचन्त्यरविन्दानि कवलैरिव गृह्णते ॥२०६॥
समीकृततो[5]तुङ्गं निरूपणविवर्जितम् । तमः प्रकटतामार दुर्जनस्येव चेष्टितम् ॥२०७॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकले हुए धर्मको सुनकर मनुष्य तिर्यञ्च तथा देव तीनों गतिके जीव परम हर्षको प्राप्त हुए ॥१९५॥ धर्मोपदेश सुनकर कितने ही लोगोंने अणुव्रत धारण किये और संसारसे भयभीत चित्त होकर कितने ही लोगोंने दिगम्बर दीक्षा धारण की ॥१९६॥ कितने ही लोगोंने केवल सम्यग्दर्शन ही धारण किया और कितने ही लोगोंने अपनी शक्तिके अनुसार पाप कार्योंका त्याग किया ॥१९७॥ इस तरह धर्म श्रवणकर सबने श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुतिकर उन्हें विधिपूर्वक नमस्कार किया और तदनन्तर धर्ममें चित्त लगाते हुए सब यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥१९८॥ धर्म श्रवण करनेसे जिसकी आत्मा हर्षित हो रही थी ऐसे महाराज श्रेणिकने भी राजलक्ष्मीसे सुशोभित होते हुए अपने नगरमें प्रवेश किया ॥१९९॥

तदनन्तर सूर्यने पश्चिम समुद्रमें अवगाहन करनेकी इच्छा की सो ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्‌के उत्कृष्ट तेज पुञ्जको देखकर वह इतना अधिक लज्जित हो गया था कि समुद्रमें डूबकर आत्मघात ही करना चाहता था ॥२००॥ सन्ध्याके समय सूर्य अस्ताचलके समीप पचकर अत्यन्त लालिमाको धारण करने लगा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे आच्छादित हो कर ही लालिमा धारण करने लगा था ॥२०१॥ निरन्तर सूर्यका अनुगमन करने वाली किरणें भी मन्द पड़ गईं सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीके विपत्तिग्रस्त रहते हुए किसके तेजकी वृद्धि हो सकती है ? अर्थात् किसीके नहीं ॥२०२॥ तदनन्तर चकवियोंने अश्रु भरे नेत्रोंसे सूर्यकी ओर देखा इसलिए उनपर दया करनेके कारण ही मानो वह धीरे-धीरे अदृश्य हुआ था ॥२०३॥ धर्म श्रवण करनेसे प्राणियोंने जो राग छोड़ा था सन्ध्याके छलसे मानो उसीने दिशाओंके मण्डलको आच्छादित कर लिया था ॥२०४॥ जिस प्रकार मित्र बिना प्रार्थना किये ही लोगोंके उपकार करनेमें प्रवृत्त होता है उसी प्रकार सूर्य भी बिना प्रार्थना किये ही हम लोगोंके उपकार करनेमें प्रवृत्त रहता है इसलिए सूर्यका अस्त हो रहा है मानो मित्र ही अस्त हो रहा है ॥२०५॥ उस समय कमल संकुचित हो रहे थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो अस्तंगामी सूर्यके प्रलयोन्मुख राग (लालिमा) को ग्रास बना-बनाकर ग्रहण ही कर रहे थे ॥२०६॥ जिसने विस्तार और ऊँचाईको एक रूपमें परिणत कर दिया था, तथा जिसका निरूपण नहीं किया जा

१. कर्मतः म० । २. तमैच्छद्विगाहितुम् -म० । ३. समीपस्थसरोरुह म० । ४. मित्रेणैव सुमङ्गलम् ख० । ५. ततः म० ।

पिदधे सान्ध्यमुद्योतं सकलं बहलं तमः । पटलं धूमसम्बन्धि प्रशाम्यन्तमिवानलम् ॥२०८॥
चम्पककारकाकारप्रदीपप्रकरोऽगमत् । कम्पितो मन्दवातेन यामिनीकर्णपूरताम् ॥२०९॥
तृप्ता रसेन पद्मानां धूतपक्षा मृणालकैः । कृत्वा कण्डूयनं निद्रां राजहंसाः सिषेविरे ॥२१०॥
धम्मिल्लमल्लिकाबन्धग्राही सायन्तनो मरुत् । वातुं प्रववृते मन्दं निशानिःश्वाससंनिभः ॥२११॥
उत्पलकेसरकोटीनां संकटेषु कदम्बकैः । कुशेशयकुटीरेषु शिश्ये षट्पदसंहतिः ॥२१२॥
नितान्तविमलैश्चक्रे रम्यं तारागणैर्नभः । त्रैलोक्यं जिननाथस्य सुभाषितचयैरिव ॥२१३॥
तमोऽथ विमलैर्भिन्नं शशाङ्ककिरणाङ्कुरैः । एकान्तवादिनां वाक्यं नयैरिव जिनोदितैः ॥२१४॥
उज्जगाम च शीतांशुर्लोकनेत्राभिनन्दितः । वपुर्बिभ्रत् कृताम्कंपं ध्वान्तकोपादिवारुणम् ॥२१५॥
चन्द्रालोके ततो लोकः करग्राह्यत्वमागते । आरेभे तमसा खिन्नः क्षीरोदाङ्क इवासितुम् ॥२१६॥
आमृष्टानि करैरिन्दोर्वहन्त्यामोदमुत्तमम् । सहसातीव यातानि कुमुदानि विकासिताम् ॥२१७॥
इति स्पष्टे समुद्भूते प्रदोषे जनसौख्यदे । प्रवृत्तदम्पतिप्रीतिप्रवृद्धसमदोत्सवे ॥२१८॥
तरङ्गभङ्गुराकारगङ्गापुलिनसन्निभे । रत्नच्छायापरिष्वक्तनिःशेषभवनोदरे ॥२१९॥

सकता था ऐसा अन्धकार प्रकटताको प्राप्त हुआ । जिस प्रकार दुर्जनकी चेष्टा उच्च और नीचको एक समान करती है तथा विषमताके कारण उसका निरूपण करना कठिन होता है उसी प्रकार वह अन्धकार भी ऊँचे नीचे प्रदेशोंको एक समान कर रहा था और विषमताके कारण उसका निरूपण करना भी कठिन था ॥२०७॥ जिस प्रकार धूमका पटल बुझती हुई अग्निको आच्छादित कर लेता है उसी प्रकार बढ़ते हुए समस्त अन्धकारने सन्ध्या सम्बन्धी अरुण प्रकाशको आच्छादित कर लिया था ॥२०८॥ चम्पाकी कलियोंके आकारको धारण करनेवाला दीपकोंका समूह वायुके मन्द-मन्द झोंकेसे हिलता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो रात्रि रूपी स्त्रीके कर्णफूलोंका समूह ही हो ॥२०९॥ जो कमलोंका रस पीकर तृप्त हो रहे थे तथा मृणालके द्वारा खुजलीकर अपने पङ्ख फड़फड़ा रहे थे ऐसे राजहंस पक्षी निद्राका सेवन करने लगे ॥२१०॥ जो स्त्रियोंकी चोटियोंमें गुथी मालतीकी मालाओंको हरण कर रही थी ऐसी सन्ध्या समयकी वायु रात्रि रूपी स्त्रीके श्वासोच्छ्वासके समान धीरे-धीरे बहने लगी ॥२११॥ ऊँची उठी हुई केशरकी कणिकाओंके समूहसे जिनकी संकीर्णता बढ़ रही थी ऐसी कमलकी कोटरोंमें भ्रमरोंके समूह सोने लगे ॥२१२॥ जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के अत्यन्त निर्मल उपदेशोंके समूहसे तीनों लोक रमणीय हो जाते हैं उसी प्रकार अत्यन्त उज्ज्वल ताराओंके समूहसे आकाश रमणीय हो गया था ॥२१३॥ जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए नयसे एकान्तवादियोंके वचन खण्ड-खण्ड हो जाते हैं उसी प्रकार चन्द्रमाकी निर्मल किरणोंके प्रादुर्भावसे अन्धकार खण्ड-खण्ड हो गया था ॥२१४॥ तदनन्तर लोगोंके नेत्रोंने जिसका अभिनन्दन किया था और जो अन्धकारके ऊपर क्रोध धारण करनेके कारण ही मानो कुछ-कुछ काँपते हुए लाल शरीरको धारण कर रहा था ऐसे चन्द्रमाका उदय हुआ ॥२१५॥ जब चन्द्रमाकी उज्ज्वल चाँदनी सब ओर फैल गई तब यह संसार ऐसा जान पड़ने लगा मानो अन्धकारसे खिन्न होकर क्षीरसमुद्रकी गोदमें ही बैठनेकी तैयारी कर रहा हो ॥२१६॥ सहसा कुमुद फूल उठे सो वे ऐसे जान पड़ते थे मानो चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श पाकर ही बहुत भारी आमोद—हर्ष (पक्षमें गन्ध) को धारण कर रहे थे ॥२१७॥ इस प्रकार स्त्री-पुरुषोंकी प्रीतिसे जिसमें अनेक समद—उत्सवोंकी वृद्धि हो रही थी और जो जन समुदायको सुख देने वाला था ऐसा प्रदोष काल जब स्पष्ट रूपसे प्रकट हो चुका तब राजकार्य निपटाकर जिनेन्द्र भगवान्‌की कथा करता हुआ श्रेणिक राजा उस शय्यापर सुखसे सो गया जो कि तरङ्गोंके

१. विदधे ख०, म० । २. चम्पकः कारिकाकार -म० । ३. कम्प -म० । ४. लोककरग्राह्यत्व म० । ५. मदनोत्सवे म० । ६. भुवनोदरे म० ।

गवाक्षमुखनिर्यातकुसुमोत्तमसौरभे । पार्श्वस्थ वारवनिताकलगीतमनोरमे ॥२२०॥
ज्वलन्नातिसमीपस्थस्फटिकच्छन्नदीपके । अप्रमत्तशिरोरक्षिगणकल्पितरक्षणे ॥२२१॥
प्रसूनप्रकरावाप्तमण्डनक्ष्मातलस्थिते । उपधानकसुविन्यस्तसुकुमारोपधानके ॥२२२॥
जिनेशपादपूताशाकृतमस्तकधामनि । प्रतिपादकविन्यस्ततनुविस्तीर्णपट्टके ॥२२३॥
विधाय भूभुजः कृत्यं कृतजैनेन्द्रसंकथः । शयनीये सुखं शिश्ये कुशाग्रनगराधिपः ॥२२४॥
जिनेन्द्रमेव चापश्यत् स्वप्नेऽपि च पुनः पुनः । पर्यपृच्छच्च संदेहं पपाठ च जिनोदितम् ॥२२५॥
ततो मदकलेभेन्द्रनिद्राविद्रावकारिणा । गेहकक्षातिगम्भीरगुहागोचरगामिना ॥२२६॥
महाजलदसंघातधीरघोषणहारिणा । प्रभाततूर्यवादेन विबुद्धो मगधाधिपः ॥२२७॥
अचिन्तयच्च वीरेण भाषितं धर्महेतुकम् । चक्रवर्त्यादिवीराणां संभवं प्रणिधानतः ॥२२८॥
अथास्य चरिते पद्मसम्बन्धिनि गतं मनः । संदेह इव चेत्यासीद्रक्षःसु प्लवगेषु च ॥२२९॥
कथं जिनेन्द्रधर्मेण जाताः सन्तो नरोत्तमाः । महाकुलीना विद्वांसो विद्याद्योतितमानसाः ॥२३०॥
श्रूयन्ते लौकिके ग्रन्थे राक्षसा रावणादयः । वसाशोणितमांसादिपानभक्षणकारिणः ॥२३१॥
रावणस्य किल भ्राता कुम्भकर्णो महाबलः । घोरनिद्रापरीतः षण्मासान् शेते निरन्तरम् ॥२३२॥
मत्तैरपि गजैस्तस्य क्रियते मर्दनं यदि । तप्ततैलकटाहैश्च पूर्यते श्रवणौ यदि ॥२३३॥
भेरीशङ्खनिनादोऽपि सुमहानपि जन्यते । तथापि किल नायाति कालेऽपूर्णे विबुद्धताम् ॥२३४॥
क्षुत्तृष्णाव्याकुलश्चासौ विबुद्धः सन्महोदरः । भक्षयत्यग्रतो दृष्ट्वा हस्त्यादीनपि दुर्द्धरः ॥२३५॥

कारण क्षत-विक्षत हुए गङ्गाके पुलिनके समान जान पड़ती थी। जड़े हुए रत्नोंकी कान्तिसे जिसने महलके समस्त मध्यभागको आलिङ्गित कर दिया था, जिसके फूलोंकी उत्तम सुगन्धि, झरोखोंसे बाहर निकल रही थी, पासमें बैठी वेश्याओंके मधुरगानसे जो मनोहर थी, जिसके पास ही स्फटिकमणिनिर्मित आवरणसे आच्छादित दीपक जल रहा था, अंगरक्षक लोग प्रमाद छोड़कर जिसकी रक्षा कर रहे थे, जो फूलोंके समूहसे सुशोभित पृथिवीतलपर बिछी हुई थी, जिसपर कोमल तकिया रखा हुआ था, जिनेन्द्र भगवान्‌के चरण कमलोंसे पवित्र दिशाकी ओर जिसका शिरहाना था, तथा जिसके प्रत्येक पायेपर सूक्ष्म किन्तु विस्तृत पट्ट बिछे हुए थे ॥२१८–२२४॥ राजा श्रेणिक स्वप्नमें भी वार-वार जिनेन्द्र भगवान्‌के दर्शन करता था, वार-वार उन्हींसे संशयकी बात पूछता था और उन्हींके द्वारा कथित तत्त्वका पाठ करता था ॥२२५॥

तदनन्तर—मदोन्मत्त गजराजकी निन्द्राको दूर करनेवाले, महलकी कक्षाओं रूपी गुफाओंमें गूँजनेवाले एवं बड़े-बड़े मेघोंकी गम्भीर गर्जनाको हरनेवाले प्रातःकालीन तुरहीके शब्द सुनकर राजा श्रेणिक जागृत हुआ ॥ २२६–२२७ ॥ जागते ही उसने भगवान् महावीरके द्वारा भाषित, चक्रवर्ती आदि वीर पुरुषोंके धर्मवर्धक चरितका एकाग्रचित्तसे चिन्तवन किया ॥ २२८ ॥ अथानन्तर उसका चित्त बलभद्र पदके धारक रामचन्द्रजीके चरितकी ओर गया और उसे राक्षसों तथा वानरोंके विषयमें संदेह-सा होने लगा ॥ २२९ ॥ वह विचारने लगा कि अहो! जो जिनधर्मके प्रभावसे उत्तम मनुष्य थे, उच्चकुलमें उत्पन्न थे, विद्वान् थे और विद्याओंके द्वारा जिनके मन प्रकाशमान थे ऐसे रावण आदिक लौकिक ग्रन्थोंमें चर्बी, रुधिर तथा मांस आदिका पान एवं भक्षण करनेवाले राक्षस सुने जाते हैं ॥ २३०–२३१ ॥ रावणका भाई कुम्भकर्ण महाबलवान् था और घोर निद्रासे युक्त हो कर छह माह तक निरन्तर सोता रहता था ॥२३२॥ यदि मन्दोन्मत्त हाथियोंके द्वारा भी उसका मर्दन किया जाय, तपे हुए तैलके कड़ाहोंसे उसके कान भरे जावें और भेरी तथा शङ्खोंका बहुत भारी शब्द किया जाय तो भी समय पूर्ण न होने पर वह जागृत नहीं होता था ॥ २३३–२३४ ॥ बहुत बड़े पेटको

१. पूताशां क० । २. निद्रां म० । ३. घोषानुहारिणा म० । ४. संबन्ध म० । ५. विवादेऽपि म० ।

तिर्यग्भिर्मानुषैर्देवैः कृत्वा तृप्तिं ततः पुनः । स्वपित्येव विमुक्ताऽन्यनिःशेषपुरुषस्थितिः ॥२३६॥
अहो कुकविभिर्मूर्खैर्विद्याधरकुमारकैः[1] । अभ्याख्यानमिदं नीतो दुःकृतग्रन्थकर्थकैः[2] ॥२३७॥
एवंविधं किल ग्रन्थं रामायणमुदाहृतम् । शृण्वतां सकलं पापं क्षयमायाति तत्क्षणात् ॥२३८॥
तापत्यजन[3]चित्तस्य सोऽयमग्निसमागमः । शीतापनोदकामस्य तुषारानिलसङ्गमः ॥२३९॥
हैयङ्गवीनकाङ्क्षस्य[4] तदिदं जलमन्थनम् । सिकतापीडनं[5] तैलमवाप्तुमभिवाञ्छतः ॥२४०॥
महापुरुषचारित्रकूटदोषविभाविषु । पापैरधर्मशास्त्रेषु धर्मशास्त्रमतिः कृता ॥२४१॥
अमराणां किलाधीशो रावणेन पराजितः । आकर्णाकृष्टनिर्मुक्तैर्बाणैर्मर्मविदारिभिः ॥२४२॥
देवानामधिपः क्वासौ वराकः क्वैष मानुषः । तस्य चिन्तितमात्रेण यायात् यो भस्मराशिताम् ॥२४३॥
ऐरावतो गजो यस्य यस्य वज्रं महायुधम् । समेरुवारिधिं क्षोणीं योऽनायासात् समुद्धरेत् ॥२४४॥
सोऽयं[6] मानुषमात्रेण विद्याभाजाऽल्पशक्तिना । आनीयते कथं भङ्गं प्रभुः स्वर्गनिवासिनाम् ॥२४५॥
वन्दीगृहगृहीतोऽसौ प्रभुणा रक्षसां किल । लङ्कायां निवसन् कारागृहे नित्यं सुसंयतः ॥२४६॥
मृगैः सिंहवधः सोऽयं शिलानां पेषणं तिलैः । वधो गण्डूपदेनाहेर्गजेन्द्रशसनं शुना ॥२४७॥

धारण करनेवाला वह कुम्भकर्ण जब जागता था तब भूख और प्याससे इतना व्याकुल हो उठता था कि सामने हाथी आदि जो भी दिखते थे उन्हें खा जाता था। इस प्रकार वह बहुत ही दुर्धर था ॥२३५॥ तिर्यञ्च मनुष्य और देवोंके द्वारा वह तृप्तिकर पुनः सो जाता था उस समय उसके पास अन्य कोई भी पुरुष नहीं ठहर सकता था ॥२३६॥ अहो! कितने आश्चर्य की बात है कि पापवर्धक खोटे ग्रन्थोंकी रचना करनेवाले मूर्ख कुकवियोंने उस विद्याधर कुमारका कैसा बीभत्स चरित चित्रण किया है ॥२३७॥ जिसमें यह सब चरित्र-चित्रण किया गया है वह ग्रन्थ रामायणके नामसे प्रसिद्ध है और जिसके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि वह सुननेवाले मनुष्योंके समस्त पाप तत्क्षणमें नष्ट कर देता है ॥२३८॥ सो जिसका चित्त तापका त्याग करनेके लिए उत्सुक है उसके लिए यह रामायण मानो अग्निका समागम है और जो शीत दूर करनेकी इच्छा करता है उसके लिए मानो हिममिश्रित शीतल वायुका समागम है ॥२३९॥ घीकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यका जिस प्रकार पानीका विलोवना व्यर्थ है और तेल प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यका बालूका पेलना निःसार है उसी प्रकार पाप त्यागकी इच्छा करनेवाले मनुष्यका रामायणका आश्रय लेना व्यर्थ है ॥२४०॥ जो महापुरुषोंके चारित्रमें दोष प्रकट करते हैं ऐसे अधर्म शास्त्रोंमें भी पापी पुरुषोंने धर्मशास्त्रकी कल्पना कर रक्खी है ॥२४१॥ रामायणमें यह भी लिखा है कि रावणने कान तक खींचकर छोड़े हुए बाणोंसे देवोंके अधिपति इन्द्रको भी पराजित कर दिया था ॥२४२॥ अहो! कहाँ तो देवोंका स्वामी इन्द्र और कहाँ वह तुच्छ मनुष्य जो कि इन्द्रकी चिन्तामात्रसे भस्मकी राशि हो सकता है? ॥२४३॥ जिसके ऐरावत हाथी था और वज्र जैसा महान् शस्त्र था तथा जो सुमेरु पर्वत और समुद्रोंसे सुशोभित पृथिवीको अनायास ही उठा सकता था ॥२४४॥ ऐसा इन्द्र अल्प शक्तिके धारक विद्याधरके द्वारा जो कि एक साधारण मनुष्य ही था कैसे पराजित हो सकता था ॥२४५॥ उसमें यह भी लिखा है कि राक्षसोंके राजा रावणने इन्द्रको अपने वन्दीगृहमें पकड़कर रक्खा था और उसने बन्धनसे बद्ध होकर लङ्काके वन्दी गृहमें चिरकाल तक निवास किया था ॥२४६॥ सो ऐसा कहना मृगोंके द्वारा सिंहका वध होना, तिलोंके द्वारा शिलाओंका पीसा जाना, पनिया साँपके द्वारा नागका मारा जाना और कुत्ताके द्वारा गजराजका दमन होनेके समान है

१. कुमारकैः क० । २. कच्छकैः म० । ३. तापश्च जन (?) म० । ४. कामस्य म० । ५. पीलनं ख० । ६. सोऽहं म० ।

व्रतप्राप्तेन रामेण सौवर्णो हरिराहतः । सुग्रीवस्याग्रजः स्वर्थं जनकेन समस्तथा ॥२४८॥
अश्रद्धेयमिदं सर्वं वियुक्तमुपपत्तिभिः । भगवन्तं गणाधीशं श्वोऽहं प्रष्टास्मि गौतमम् ॥२४९॥
एवं चिन्तयतस्तस्य महाराजस्य धीमतः । बन्दिभिस्तूर्यनादान्ते जयशब्दो महान् कृतः ॥२५०॥
कुलपुत्रेण चासन्नस्वामिनो बोधमीयुषा । निसर्गेणैव पठितः श्लोकोऽयं जरठायुषः ॥२५१॥
प्रष्टव्या गुरवो नित्यमर्थं ज्ञातमपि स्वयम् । स तैर्निश्चयमानीतो ददाति परमं सुखम् ॥२५२॥
एतदानन्दयँश्चारु निमित्तं मगधाधिपः । शयनीयात् समुत्तस्थौ स्वस्त्रीभिः कृतमङ्गलः ॥२५३॥

मालिनीच्छन्दः

अथ कुसुमपटान्तःसुप्तनिष्क्रान्तभृङ्ग-प्रहितमधुरवादात्यन्तरम्यैकदेशात्[1] ।
जडपवनविधूताकम्पितापाण्डुदीपान् निरगमदवनीशः श्रीमतो वासगेहात् ॥२५४॥
रदनशिखरदष्टस्पष्टबिम्बोष्ठपृष्ठ-प्रतिहतजयनादं[2] श्रीसमानद्युतीनाम् ।
करमुकुलनिबद्धव्यक्तपद्माकराणां श्रवणपथमनैषीच्चैष वाराङ्गनानाम् ॥२५५॥
अतिशयशुभचिन्तासङ्गनिष्कम्पभावाप्तपरतिरुपनीताशेषतत्कालभावः ।
धवलकमलभासो वासगेहादपेतो रविरिव शरदभ्रोदारवृन्दादभासीत् ॥२५६॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते श्रेणिकचिन्ताभिधानं नाम द्वितीयं पर्व ॥२॥

॥२४७॥ व्रतके धारक रामचन्द्रजीने सुवर्ण मृगको मारा था, और स्त्रीके पीछे सुग्रीवके बड़े भाई वालीको जो कि उसके पिताके समान था, मारा था ॥२४८॥ यह सब कथानक युक्तियोंसे रहित होनेके कारण श्रद्धान करनेके योग्य नहीं है। यह सब कथा मैं कल भगवान् गौतम गणधरसे पूछूँगा ॥२४९॥ इस प्रकार बुद्धिमान महाराज श्रेणिक चिन्ता कर रहे थे कि तुरहीका शब्द बन्द होते ही वन्दीजनोंने जोरसे जयघोष किया ॥२५०॥ उसी समय महाराज श्रेणिकके समीपवर्ती चिरजीवी कुलपुत्रने जागकर स्वभाववश निम्न श्लोक पढ़ा कि जिस पदार्थको स्वयं जानते हैं उस पदार्थको भी गुरुजनोंसे नित्य ही पूछना चाहिए क्योंकि उनके द्वारा निश्चयको प्राप्त कराया हुआ पदार्थ परम सुख प्रदान करता है ॥२५१–२५२॥ इस सुन्दर निमित्तसे जो आनन्दको प्राप्त थे तथा अपनी स्त्रियोंने जिनका मङ्गलाचार किया था ऐसे महाराज श्रेणिक शय्यासे उठे ॥२५३॥

तदनन्तर—पुष्परूपी पटके भीतर सोकर बाहर निकले हुए भ्रमरोंकी मधुर गुञ्जारसे जिसका एक भाग बहुत ही रमणीय था, जिसके भीतर जलते हुए निष्प्रभ दीपक प्रातः कालकी शीत वायुके झोंकेसे हिल रहे थे और जो बहुत ही शोभासम्पन्न था ऐसे निवासगृहसे राजा श्रेणिक बाहर निकले ॥२५४॥ बाहर निकलते ही उन्होंने लक्ष्मीके समान कान्तिवाली तथा कर-कुड्मलोंके द्वारा कमलोंकी शोभाको प्रकट करनेवाली वाराङ्गनाओंके नुकीले दाँतोंसे दष्ट श्रेष्ठ बिम्बसे निर्गत जयनादको सुना ॥२५५॥ इस प्रकार अत्यन्त शुभ ध्यानके प्रभावसे निश्चलताको प्राप्त हुए शुभ भावसे जिन्हें तत्कालके उपयोगी समस्त शुभ भावोंकी प्राप्ति हुई थी ऐसे महाराज श्रेणिक, सफ़ेद कमलके समान कान्तिवाले निवासगृहसे बाहर निकलकर शरद् ऋतुके मेघोंके समूहसे बाहर निकले हुए सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२५६॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्यविरचित पद्म-चरितमें महाराज श्रेणिककी चिन्ताको प्रकट करनेवाला दूसरा पर्व पूर्ण हुआ ॥२॥

१. नादाभ्यन्तरस्यैकदेशात् म० । २. जयनाद म० ।

तृतीयं पर्व

आस्थानमण्डपेऽथासौ कृताशेषतनुस्थितिः । सर्वालङ्कारसम्पन्नो निविष्टो भद्रविष्टरे ॥१॥
सामन्तैश्च प्रतीहारदत्तद्वारैरुपागतैः । केयूरकोटिसंघट्टपाटितप्रवरांशुकैः ॥२॥
पतद्भ्रमरसंगीतमौलिमालावतंसकैः । कटकांशु[1]चयच्छन्नकराग्रस्पृष्टभूतलैः ॥३॥
ललत्प्रालम्बतरलप्रभापटलसारितैः । प्रणतः सद्गुणग्रामसमावर्जितमानसैः ॥४॥
ततस्तैरनुयातोऽसावारूढवरवाहनैः । पृष्ठाहितकुथाशोभां भद्रामारुह्य वासिताम् ॥५॥
गृहीतमण्डलाग्रेण बद्धसायकधेनुना । प्रकोष्ठे दधता वामे कटकं हेमनिर्मितम्[2] ॥६॥
दूरमुड्डीयमानेन वायुमार्गे मुहुर्मुहुः । मृगाणामिव यूथेन नभस्वदनुगामिना ॥७॥
याहि याहि पुरोमार्गाद्‌वसर्प[3] व्रज व्रज । चल किं स्तम्भितोऽसीति पादातेन कृतध्वनिः ॥८॥
निश्चक्राम पुरो राजा वन्दिनः पठतो[4]ऽग्रतः । आकर्णयन् समाधानन्यस्तचित्तः सुभाषितम् ॥९॥
प्राप्तश्च तमसौ देशं यस्मिन्मुनिभिरावृतः । सर्वश्रुतजलस्नाननिर्मलीकृतचेतनः ॥१०॥
शुद्धध्यानसमाविष्टस्तत्त्वाख्यानपरायणः । उपविष्टः सुखस्पर्शे लब्ध्युत्पन्ने मयूरके[5] ॥११॥
कान्त्या तारापतेस्तुल्यो दीप्त्या भास्करसन्निभः । अशोकपल्लवच्छायपाणिपादो[6]ऽम्बुजेक्षणः ॥१२॥

अथानन्तर दूसरे दिन शरीर सम्बन्धी समस्त क्रियाओंको पूर्ण कर सर्व आभरणोंसे सुशोभित महाराज श्रेणिक सभामण्डपमें आकर उत्तम सिंहासनपर विराजमान हुए ॥१॥ उसी समय द्वारपालोंने जिन्हें प्रवेश कराया था ऐसे आये हुए सामन्तोंने उन्हें नमस्कार किया। नमस्कार करते समय उन सामन्तोंके श्रेष्ठ वस्त्र, वाजूबन्दोंके अग्रभागके संघर्षणसे फट रहे थे, जिनपर भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे ऐसी मुकुटमें लगी हुई श्रेष्ठ मालाएँ नीचे पड़ रही थीं, वलयकी किरणोंके समूहसे आच्छादित पाणितलसे वे पृथिवीतलका स्पर्श कर रहे थे, हिलती हुई मालाके मध्यमणि सम्बन्धी प्रभाके समूहसे व्याप्त थे, और महाराजके उत्तमोत्तम गुणोंके समूहसे उनके मन महाराजकी ओर आसक्त हो रहे थे ॥२–४॥ तदनन्तर श्रेष्ठ वाहनोंपर आरूढ़ हुए उन्हीं सब सामन्तोंसे अनुगत महाराज श्रेणिक, पीठपर पड़ी मूलसे सुशोभित उत्तम हथिनीपर सवार होकर श्रीवर्धमान जिनेन्द्रके समवसरणकी ओर चले ॥५॥ जिन्होंने अपने हाथमें तलवार ले रखी थी, कमरमें छुरी बाँध रखी थी, जो बायें हाथमें सुवर्ण निर्मित कड़ा पहने हुए थे, बार-बार आकाशमें दूर तक छलांग भर रहे थे और इसीलिए जो वायुके पीछे चलनेवाले वातप्रमी मृगोंके झुण्डके समान जान पड़ते थे तथा जो 'चलो चलो, मार्ग छोड़ो, हटो आगे क्यों खड़े हो गये' इस प्रकारके शब्दोंका उच्चारण कर रहे थे ऐसे भृत्योंका समूह उनके आगे कोलाहल करता जाता था ॥६–८॥ आगे-आगे बन्दीजन सुभाषित पढ़ रहे थे सो महाराज उन्हें चित्त स्थिर कर श्रवण करते जाते थे। इस प्रकार नगरसे निकलकर राजा श्रेणिक उस स्थानपर पहुँचे जहाँ गौतम गणधर विराजमान थे। गौतम स्वामी अनेक मुनियोंसे घिरे हुए थे, समस्त शास्त्र रूपी जलमें स्नान करनेसे उनकी चेतना निर्मल हो गई थी, शुद्ध ध्यानसे सहित थे, तत्त्वोंके व्याख्यानमें तत्पर थे, सुखकर स्पर्शसे सहित एवं लब्धियोंके कारण प्राप्त हुए मयूराकार आसनपर विराजमान थे, कान्तिसे चन्द्रमाके समान थे, दीप्तिसे सूर्यके सदृश थे, उनके हाथ और पैर अशोकके पल्लवोंके

१. कटकांशुचयैश्छन्नकराग्रस्पष्ट- म० । २. हेमनिर्मिते म० । ३. दर्पसर्प म० । ४. पाठतो क० । ५. मसूरके म० अत्र 'महासने' इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति । ६. पादाम्बुजेक्षणः ख०, पद्माम्बुजेक्षणः क० ।

प्रशान्तेन शरीरेण भुवनं शमयन्निव । पतिर्गणस्य साधूनां गौतमाख्योऽवतिष्ठते ॥१३॥
दूरादेवावतीर्णश्च करेणोश्चरणायनः । प्रमोदोत्फुल्लनयनो ढुढौके विनयानतः ॥१४॥
ततस्तं त्रिपरीत्यासौ प्रणम्य च कृताञ्जलिः । दत्ताशीर्गणनाथेन धरायां समुपाविशत् ॥१५॥
अथ दन्तप्रभाजालधवलीकृतभूतलः । पर्यपृच्छदिदं राजा कुशलप्रश्नपूर्वकम् ॥१६॥
भगवन् पद्मचरितं[1] श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः । उत्पादितान्यथैवास्मिन् प्रसिद्धिः कुमतानुगैः ॥१७॥
राक्षसो[2] हि स[3] लङ्केशो विद्यावान् मानवोऽपि वा । तिर्यग्भिः परिभूतोऽसौ कथं क्षुद्रकवानरैः ॥१८॥
अत्ति[4] चात्यन्तदुर्गन्धं कथं मानुषविग्रहम् । कथं वा रामदेवेन वालिश्छिद्रेण नाशितः ॥१९॥
गत्वा वा देवनिलयं भङ्क्त्वोपवनमुत्तमम्[5] । वन्दीगृहं कथं नीतो रावणेनामराधिपः ॥२०॥
सर्वशास्त्रार्थकुशलो रोगवर्जितविग्रहः । शेते च स कथं मासान् षडेतस्य वरोऽनुजः ॥२१॥
कथं चात्यन्तगुरुभिः पर्वतैरलमुन्नतः । सेतुः शाखामृगैर्बद्धो यः सुरैरपि दुर्घटः ॥२२॥
प्रसीद भगवन्नेतत्सर्वं कथयितुं मम । उत्तारयन्[6] बहून् भव्यान् संशयोदारकर्दमात् ॥२३॥
एवमुक्तो गणेशः[7] स निर्गतैर्दशनांशुभिः । क्षालयन्निव निःशेषं कुसुमैर्मलिनं जगत् ॥२४॥
लताभवनमध्यस्थानर्तयन्नरगद्विषः । गम्भीराम्भोदनिर्घोषधीरयोदाहरद् गिरा[8] ॥२५॥
शृण्वायुष्मन् महीपाल देवानांप्रिय यत्नतः । मम वाक्यं जिनेन्द्रोक्तं तत्त्वशंसनतत्परम् ॥२६॥
रावणो राक्षसो नैव न चापि मनुजाशनः । अलीकमेव तत्सर्वं यद्वदन्ति कुवादिनः ॥२७॥

समान लाल-लाल थे, उनके नेत्र कमलोंके समान थे, अपने शान्त शरीरसे संसारको शान्त कर रहे थे, और मुनियोंके अधिपति थे ॥६–१३॥ राजा श्रेणिक दूरसे ही हस्तिनीसे नीचे उतरकर पैदल चलने लगे, उनके नेत्र हर्षसे फूल गये, और उनका शरीर विनयसे झुक गया। वहाँ जाकर उन्होंने तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, हाथ जोड़कर प्रणाम किया और फिर गणधर स्वामीका आशीर्वाद प्राप्त कर वे पृथ्वीपर ही बैठ गये ॥१०–१५॥

तदनन्तर—दाँतोकी प्रभासे पृथ्वी-तलको सफ़ेद करते हुए राजा श्रेणिकने कुशल-प्रश्न पूछनेके बाद गणधर महाराजसे यह पूछा ॥१६॥ उन्होंने कहा कि हे भगवन्! मैं रामचन्द्रजीका वास्तविक चरित्र सुनना चाहता हूँ क्योंकि कुधर्मके अनुगामी लोगोंने उनके विषयमें अन्य प्रकारकी ही प्रसिद्धि उत्पन्न कर दी है॥१७॥ लङ्काका स्वामी रावण, राक्षस वंशी विद्याधर मनुष्य होकर भी तिर्यञ्चगतिके क्षुद्र वानरोंके द्वारा किस प्रकार पराजित हुआ॥१८॥ वह, अत्यन्त दुर्गन्धित मनुष्य शरीरका भक्षण कैसे करता होगा? रामचन्द्रजीने कपटसे बालिको कैसे मारा होगा? देवोंके नगरमें जाकर तथा उसके उत्तम उपवनको नष्टकर रावण इन्द्रको बन्दीगृहमें किस प्रकार लाया होगा? उसका छोटा भाई कुम्भकर्ण तो समस्त शास्त्रोंके अर्थ जाननेमें कुशल था तथा नीरोग शरीरका धारक था फिर छह माह तक किस प्रकार सोता रहता होगा? जो देवोंके द्वारा भी अशक्य था ऐसा बहुत ऊँचा पुल भारी-भारी पर्वतोंके द्वारा वानरोंने कैसे बनाया होगा? ॥१९–२२॥ हे भगवन्! मेरे लिए यह सब कहनेके अर्थ प्रसन्न हूजिये और संशयरूपी भारी कीचड़से अनेक भव्य जीवोंका उद्धार कीजिये ॥२३॥

इस प्रकार राजा श्रेणिकके पूछनेपर गौतम गणधर, अपने दाँतोंकी किरणोंसे समस्त मलिन संसारको धोकर फूलोंसे सजाते हुए और मेघ गर्जनाके समान गम्भीर वाणीके द्वारा लतागृहोंके मध्यमें स्थित मयूरोंको नृत्य कराते हुए कहने लगे ॥२४–२५॥ कि हे आयुष्मन्! हे देवोंके प्रिय! भूपाल! तू यत्नपूर्वक मेरे वचन सुन। मेरे वचन जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट हैं, तथा पदार्थका सत्यस्वरूप प्रकट करनेमें तत्पर हैं ॥२६॥ रावण राक्षस नहीं था और न

---

१. चरिते ख० । २ राक्षसोऽपि हि म० । ३. सुलङ्केशो क० । ४ अतिचात्यन्त म० । ५. भङ्क्त्वा पवन म० । ६. उत्तरय-म० । ७. गणेशस्य म० । ८. निर्घोषं म० ।

न विना पीठबन्धेन विधातुं सद्म शक्यते । कथाप्रस्तावहीनं च वचनं छिन्नमूलकम्[1] ॥२८॥
यतः शृणु ततस्तावत्क्षेत्रकालोपवर्णनम् । महतां पुरुषाणां च चरितं पापनाशनम् ॥२९॥
अनन्तालोकनभसो मध्ये लोकस्त्रिधा स्थितः । तालोलूखलसंकाशो[2] वलयैस्त्रिभिरावृतः[3] ॥३०॥
तिर्यग्लोकस्य मध्येऽस्मिन् संख्यातिक्रममागतैः । वेष्टितो वलयाकारैर्द्वीपैरम्भोधिभिस्तथा ॥३१॥
कुलालचक्रसंस्थानो जम्बूद्वीपोऽयमुत्तमः । लवणाम्भोधिमध्यस्थः सर्वतो लक्षयोजनः ॥३२॥
तस्य मध्ये महामेरुर्मूले[4] वज्रमयोऽव्ययः । ततो जाम्बूनदमयो मणिरत्नमयस्ततः ॥३३॥
संध्यानुरक्तमेघौघसदृशोत्तुङ्गशृङ्गकः । कलाग्रमात्रविवरास्पष्टसौधर्मभौमिकः[5] ॥३४॥
योजनानां सहस्राणि नवतिर्नव चोच्छ्रितः । सहस्रमवगाढश्च स्थितो वज्रमयः क्षितौ ॥३५॥
[6]विपुलं शिखरे चैकं धरण्यां दशसंगुणम्[7] । राजते तिर्यगाकाशं मातुं[8] दण्ड इवोच्छ्रितः ॥३६॥
द्वौ च तत्र कुरुद्वीपे[9] क्षेत्रैः सप्तभिरन्विते[10] । षट् क्षेत्राणां विभक्तारो [11]राजन्ते कुलपर्वताः ॥३७॥
द्वौ महापादपौ ज्ञेयौ विद्याधरपुरीशतम् । अधिकं दशभिस्तत्र विजयार्द्धेष्वथैकशः[12] ॥३८॥

मनुष्योंको ही खाता था। मिथ्यावादी लोग जो कहते है सो सब मिथ्या ही कहते हैं ॥२७॥ जिस प्रकार नींवके विना भवन नहीं बनाया जा सकता है उसी प्रकार कथाके प्रस्तावके विना कोई वचन नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि इस तरहके वचन निर्मूल होते हैं और निर्मूल होनेके कारण उनमें प्रामाणिकता नहीं आती है ॥२८॥ इसलिए सबसे पहले तुम क्षेत्र और कालका वर्णन सुनो। तदनन्तर पापोंको नष्ट करनेवाला महापुरुषोंका चरित्र सुनो ॥२९॥

अनन्त अलोकाकाशके मध्यमें तीन वातवलयोंसे वेष्टित तीन लोक स्थित हैं। अनन्त अलोकाकाशके बीचमें यह उन्नताकार लोक ऐसा जान पड़ता है मानो किसी उदूखलके बीच बड़ा भारी तालका वृक्ष खड़ा किया गया हो ॥३०॥ इस लोकका मध्यभाग जो कि तिर्यग्लोकके नामसे प्रसिद्ध है चूड़ीके आकारवाले असंख्यात द्वीप और समुद्रोंसे वेष्टित है ॥३१॥ कुम्भकारके चक्रके समान यह जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप सब द्वीपोंमें उत्तम है, लवणसमुद्रके मध्यमें स्थित है और सब ओरसे एक लाख योजन विस्तार वाला है ॥३२॥ इस जम्बू द्वीपके मध्यमें सुमेरु पर्वत है। यह पर्वत कभी नष्ट नहीं होता, इसका मूल भाग वज्र अर्थात् हीरोंका बना है और ऊपरका भाग सुवर्ण तथा मणियों एवं रत्नोंसे निर्मित है ॥३३॥ इसकी ऊँची चोटी संध्याके कारण लाल-लाल दिखनेवाले मेघोंके समूहके समान जान पड़ती है। सौधर्म स्वर्गकी भूमि और इस पर्वतके शिखरमें केवल बालके अग्रभाग बराबर ही अन्तर रह जाता है ॥३४॥ यह निन्यानबे हजार योजन ऊपर उठा है और एक हजार योजन नीचे पृथिवीमें प्रविष्ट है। पृथिवीके भीतर यह पर्वत वज्रमय है ॥३५॥ यह पर्वत पृथिवीपर दश हजार योजन और शिखरपर एक हजार योजन चौड़ा है और ऐसा जान पड़ता है मानो मध्यम लोकके आकाशको नापनेके लिए एक दण्ड ही खड़ा किया गया है ॥३६॥ यह जम्बूद्वीप भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत इन सात क्षेत्रोंसे सहित है। तथा इसीके विदेह क्षेत्रमें देवकुरु और उत्तरकुरु नामसे प्रसिद्ध दो कुरु प्रदेश भी हैं। इन सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले छह कुलाचल भी इसी जम्बूद्वीपमें सुशोभित हैं ॥३७॥ जम्बू और शाल्मली ये दो महावृक्ष हैं। जम्बूद्वीपमें चौंतीस विजयार्ध पर्वत हैं और प्रत्येक विजयार्ध पर्वतपर एक सौ दश एक सौ दश विद्याधरोंकी

१. वनं च क० । २. तालोदूखल ख० । ३. वलिभिस्त्रिभि -म० । ४. हीरकमयः । ५. भूमिकः म० । भौमिकं विमानमिति यावत् । ६. विपुलः म०, क० । ७. संगतम् म० । ८. मानदण्ड म० । ९. द्वीपौ क०, ख० । १०. -रन्वितौ क०, ख० । ११. राजते क०, ख० । १२. -ष्वनैकशः म० ।

त्रिंशच्चतसृभिर्युक्ता राजधान्यः प्रकीर्तिताः । चतुर्दश महानद्यो जम्बूवृक्षे[1] जिनालयः ॥३९॥
षड् भोगक्षितयः प्रोक्ता अष्टौ जिनगृहाणि च । अष्टषष्टिर्गुहामानं भवनानां च तत्स्मृतम् ॥४०॥
सिंहासनानि चत्वारि त्रिंशच्च गदितानि तु । विजयार्द्धनगौ द्वौ च राजतौ परिकीर्तितौ ॥४१॥
वक्षारगिरियुक्तेषु समस्तेषु नगेषु तु[2] । भवनानि जिनेन्द्राणां राजन्ते रत्नराशिभिः ॥४२॥
जम्बूभरतसंज्ञायां क्षोण्यां दक्षिणयाशया । सुमहान् राक्षसो द्वीपो जिनबिम्बसमन्वितः ॥४३॥
महाविदेहवर्षस्य जगत्यां पश्चिमाशया । विशालः किन्नरद्वीपो जिनबिम्बोज्ज्वलः शुभः ॥४४॥
तथैरावतवर्षस्य क्षित्यामुत्तरया दिशा । गन्धर्वो नामतो द्वीपः[3] सच्चैत्यालयभूषितः ॥४५॥
मेरोः पूर्वविदेहस्य जगत्यां पूर्वयाशया । रराज धरणद्वीपो जिनायतनसंकुलः ॥४६॥
भरतैरावतक्षेत्रे वृद्धिहानिसमन्विते । शेषास्तु भूमयः प्रोक्तास्तुल्यकालव्यवस्थिताः ॥४७॥
जम्बूवृक्षस्य भवने सुरोऽनावृतशब्दितः । शतैः किल्बिषकाख्यानामास्ते बहुभिरावृतः ॥४८॥
[4]अस्मिंश्च भरतक्षेत्रं पुरोत्तरकुरूपमम् । कल्पपादपसंकीर्णं सुषमायां विराजते ॥४९॥
तरुणादित्यसंकाशा गव्यूतित्रयमुच्छ्रिताः । सर्वलक्षणसंपूर्णाः प्रजा यत्र विरेजिरे ॥५०॥
युग्ममुत्पद्यते तत्र पल्यानां त्रयमायुषा । प्रेमबन्धनबद्धञ्च म्रियते युगलं समम् ॥५१॥

नगरियाँ हैं ॥३८॥ जम्बूद्वीपमें बत्तीस विदेह, एक भरत और एक ऐरावत ऐसे चौंतीस क्षेत्र हैं और एक-एक क्षेत्रमें एक-एक राजधानी है इस तरह चौंतीस राजधानियाँ है, चौदह महानदियाँ हैं, जम्बूवृक्षके ऊपर अकृत्रिम जिनालय है ॥३९॥ हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत, देवकुरु और उत्तरकुरु इस प्रकार छह भोगभूमियाँ हैं। मेरु, गजदन्त, कुलाचल, वक्षारगिरि, विजयार्ध, जम्बूवृक्ष और शाल्मलीवृक्ष, इन सात स्थानोंपर अकृत्रिम तथा सर्वत्र कृत्रिम इस प्रकार आठ जिन मन्दिर हैं। बत्तीस विदेह क्षेत्रके तथा भरत और ऐरावतके एक-एक इस प्रकार कुल चौंतीस बिजयार्ध पर्वत हैं। उनमें प्रत्येकमें दो-दो गुफाएँ हैं इस तरह अड़सठ गुफाएँ हैं। और इतने ही भवनोंकी संख्या है ॥४०॥ बत्तीस विदेह क्षेत्र तथा एक भरत और एक ऐरावत इन चौंतीस स्थानोंमें एक साथ तीर्थंकर भगवान् हो सकते हैं इसलिए समवसरणमें भगवान्के चौंतीस सिंहासन हैं। विदेहके सिवाय भरत और ऐरावत क्षेत्रमें रजतमय दो विजयार्ध पर्वत कहे गये हैं ॥४१॥ वक्षारगिरियोंसे युक्त समस्त पर्वतोंपर जिनेन्द्र भगवानके मन्दिर हैं जो कि रत्नोंकी राशिसे सुशोभित हो रहे हैं ॥४२॥ जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रकी दक्षिण दिशामें जिन प्रतिमाओंसे सुशोभित एक बड़ा भारी राक्षस नामका द्वीप है ॥४३॥ महाविदेह क्षेत्रकी पश्चिम दिशामें जिन-बिम्बोंसे देदीप्यमान किन्नरद्वीप नामका एक विशाल शुभद्वीप है ॥४४॥ ऐरावत क्षेत्रकी उत्तर दिशामें गन्धर्व नामका द्वीप है जो कि उत्तमोत्तम चैत्यालयोंसे विभूषित है ॥४५॥ मेरु पर्वतसे पूर्वकी ओर जो विदेह क्षेत्र है उसकी पूर्व दिशामें धरणद्वीप सुशोभित हो रहा है। यह धरण द्वीप भी जिन-मन्दिरोंसे व्याप्त है ॥४६॥ भरत और ऐरावत ये दोनों क्षेत्र वृद्धि और हानिसे सहित हैं। अन्य क्षेत्रोंकी भूमियाँ व्यवस्थित हैं अर्थात् उनमें कालचक्रका परिवर्तन नहीं होता॥४७॥ जम्बूवृक्षके ऊपर जो भवन है उसमें अनावृत नामका देव रहता है। यह देव किल्विष जातिके अनेक शत देवोंसे आवृत रहता है ॥४८॥ इस भरत क्षेत्रमें जब पहले सुषमा नामका पहला काल था तब वह उत्तरकुरुके समान कल्पवृक्षोंसे व्याप्त था अर्थात् यहाँ उत्तम भोगभूमिकी रचना थी॥४९॥ उस समय यहाँके लोग मध्याह्नके सूर्यके समान देदीप्यमान, दो कोश ऊँचे और सर्वलक्षणोंसे पूर्ण सुशोभित होते थे ॥५०॥ यहाँ स्त्री-पुरुषका जोड़ा साथ-ही-साथ उत्पन्न होता था, तीन

---

१. जम्बूवृक्षो क० । 'विजयार्द्धनगाश्चापि राजताः परिकीर्तिताः' इत्यपि पाठः टिप्पणपुस्तके संकलितः । २. च म० । ३. सच्चैत्यालय म०, क० । ४. 'अस्मिंश्च भरतक्षेत्रं पुरोत्तरकुरूपमाम् । कल्पानां पादपाः कीर्णं सुखमायां विराजिरे ॥' क० ।

काञ्चनेन चिता भूमी रत्नैश्च मणिभिस्तथा। कालानुभावतश्चित्रैः सर्वकामफलप्रदा ॥५२॥
चतुरङ्गुलमानैश्च चित्रैर्गन्धेन चारुभिः। विमलातिमृदुस्पर्शैस्तृणैश्छन्ना विराजिता ॥५३॥
सर्वर्तुफलपुष्पैश्च तरवो रेजुरुज्ज्वलाः। स्वतन्त्राश्च सुखेनास्थुर्गोमहिष्याविकादयः ॥५४॥
कल्पवृक्षसमुत्पन्नं भक्षयन्तो यथेप्सितम्। अन्नं सिंहादयः सौम्या हिंसां तत्र न चक्रिरे ॥५५॥
पद्मादिजलजच्छन्नाः सौवर्णमणिशोभनाः। सम्पूर्णा रेजिरे वाप्यो मधुक्षीरघृतादिभिः ॥५६॥
गिरयोऽत्यन्तमुत्तुङ्गाः पञ्चवर्णसमुज्ज्वलाः। नानारत्नकरच्छन्नाः सर्वप्राणिसुखावहाः ॥५७॥
नद्यो निर्जन्तुका रम्याः क्षीरसर्पिर्मधूदकाः। अत्यन्तसुरसास्वादा रत्नोद्योतितरोधसः ॥५८॥
नातिशीतं न चात्युष्णं तीव्रमारुतवर्जितम्। सर्वप्रतिभयैर्मुक्तं नित्योद्भूतसमुत्सवम् ॥५९॥
ज्योतिर्द्रुमप्रभाजालच्छन्नेन्दुरविमण्डलम्। सर्वेन्द्रियसुखास्वादप्रदकल्पमहातरु ॥६०॥
प्रासादास्तत्र वृक्षेषु विपुलोद्यानभूमयः। शयनासनमद्येष्टस्वादुपानाशनानि च ॥६१॥
वस्त्रानुलेपनादीनि तूर्यशब्दा मनोहराः। आमोदिनस्तथा गन्धाः सर्वं चान्यत्तरूद्भवम् ॥६२॥
दशभेदेषु तेष्वेवं कल्पवृक्षेषु चारुषु। रेमिरे तत्र युग्मानि सुरलोक इवानिशम् ॥६३॥
एवं प्रोक्ते गणेशेन पुनः श्रेणिकभूपतिः। भोगभूमौ समुत्पत्तेः कारणं परिपृष्टवान् ॥६४॥
कथितं च गणेशेन तत्रत्ये प्रगुणा जनाः। साधुदानसमायुक्ता भवन्त्येते सुमानुषाः ॥६५॥

पल्यकी उनकी आयु होती थी और प्रेम बन्धनबद्ध रहते हुए साथ-ही-साथ उनको मृत्यु होती थी ॥५१॥ यहाँकी भूमि सुवर्ण तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे खचित थी और कालके प्रभावसे सबके लिए मनोवाञ्छित फल प्रदान करनेवाली थी ॥५२॥ सुगन्धित, निर्मल तथा कोमल स्पर्शवाली, चतुरङ्गुल प्रमाण घाससे वहाँ की भूमि सदा सुशोभित रहती थी ॥५३॥ वृक्ष सब ऋतुओंके फल और फूलोंसे सुशोभित रहते थे तथा गाय, भैंस, भेड़ आदि जानवर स्वतन्त्रता-पूर्वक सुखसे निवास करते थे ॥५४॥ वहाँके सिंह आदि जन्तु कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए मनवाञ्छित अन्नको खाते हुए सदा सौम्य—शान्त रहते थे। कभी किसी जीवकी हिंसा नहीं करते थे ॥५५॥ वहाँ की वापिकाएँ पद्म आदि कमलोंसे आच्छादित, सुवर्ण और मणियोंसे सुशोभित तथा मधु, क्षीर एवं घृत आदिसे भरी हुई अत्यधिक शोभायमान रहती थीं ॥५६॥ वहाँके पर्वत अत्यन्त ऊँचे थे, पाँच प्रकारके वर्णोंसे उज्ज्वल थे, नाना प्रकारके रत्नोंकी कान्तिसे व्याप्त थे तथा सर्व-प्राणियोंको सुख उपजाने वाले थे ॥५७॥ वहाँ की नदियाँ मगरमच्छादि जन्तुओंसे रहित थीं, सुन्दर थीं, उनका जल दूध, घी और मधुके समान था, उनका आस्वाद अत्यन्त सुरस था और उनके किनारे रत्नोंसे देदीप्यमान थे ॥५८॥ वहाँ न तो अधिक शीत पड़ती थी न अधिक गर्मी होती थी, न तीव्र वायु चलती थी। वह सब प्रकारके भयोंसे रहित था और वहाँ निरन्तर नये-नये उत्सव होते रहते थे ॥५९॥ वहाँ ज्योतिरङ्ग जातिके वृक्षोंकी कान्तिके समूहसे सूर्य और चन्द्रमाके मण्डल छिपे रहते थे—दिखाई नहीं पड़ते थे तथा सर्व इन्द्रियोंको सुखास्वादके देनेवाले कल्पवृक्ष सुशोभित रहते थे ॥६०॥ वहाँ बड़े-बड़े बाग-बगीचे और विस्तृत भूभागसे सहित महल, शयन, आसन, मद्य, इष्ट और मधुर पेय, भोजन, वस्त्र, अनुलेपन, तुरहीके मनोहर शब्द और दूर तक फैलनेवाली सुन्दर गन्ध तथा इनके सिवाय और भी अनेक प्रकारकी सामग्री कल्पवृक्षोंसे प्राप्त होती थी ॥६१॥ इस प्रकार वहाँके दम्पती, दश प्रकारके सुन्दर कल्पवृक्षोंके नीचे देवदम्पतीके समान रात-दिन क्रीड़ा करते रहते थे ॥६२–६३॥ इस तरह गणधर भगवान्के कह चुकनेपर राजा श्रेणिकने उनसे भोगभूमिमें उपजनेका कारण पूछा ॥६४॥ उत्तरमें गणधर भगवान् कहने लगे कि जो सरलचित्तके धारी मनुष्य मुनियोंके लिए आहार आदि दान देते हैं। वे ही इन

१. कार्य—ख०। २. विराजते म०। ३. रोधसः म०। ४. रत्नाकरच्छन्नाः म०। ५. ज्योतिःक्रम म०। ६. तरुः म०। ७. -मेष्वेव म०। ८. वान्यतरोद्भवम् ख०। ९. तत्र ये म०।

ये पुनः कुत्सिते दानं ददते भोगतृष्णया । तेऽपि हस्त्यादितां गत्वा [1]भुञ्जते दानजं फलम् ॥६६॥
नितान्तं मृदुनि क्षेत्रे दूरं कृष्टे हलाननैः । क्षिप्तं बीजं यथानन्तगुणं सस्यं प्रयच्छति ॥६७॥
यथा चेक्षुषु निक्षिप्तं माधुर्यं वारि गच्छति । पीतं च धेनुभिस्तोयं क्षीरत्वेन [2]विवर्तते ॥६८॥
एवं साधौ तपोऽगारे व्रतालंकृतविग्रहे । सर्वग्रन्थविनिर्मुक्ते दत्तं दानं महाफलम् ॥६९॥
[3]खिले गतं यथा क्षेत्रे बीजमल्पफलं भवेत् । निम्बेषु च तथा क्षिप्तं कटुत्वं वारि गच्छति ॥७०॥
यथा च पन्नगैः पीतं क्षीरं संजायते विषम् । कुपात्रेषु तथा दत्तं दानं कुफलदं भवेत् ॥७१॥
एवं दानस्य सदृशो धरेन्द्र फलसंभवः । यद्यदाधीयते वस्तु दर्पणे तस्य दर्शनम् ॥७२॥
यथा शुक्लश्च कृष्णश्च पक्षद्वयमनन्तरम् । उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरेवं क्रमसमुद्भवः ॥७३॥
अथ[4] कालान्त्यतो[5] हानिं तेषु यातेष्वनुक्रमात् । कल्पपादपखण्डेषु शृणु कौलकरीं स्थितिम् ॥७४॥
प्रतिश्रुतिरिति ज्ञेय आद्यः कुलकरो महान् । श्रुत्वा तस्य वचः सर्वाः प्रजाः सौस्थित्यमागताः ॥७५॥
जन्मत्रयमतीतं यो जानाति स्म निजं विभुः । शुभचेष्टासमुद्युक्तो व्यवस्थानां प्रदेशकः ॥७६॥
ततो वर्षसहस्राणामतिक्रान्तासु कोटिषु । बह्वीषु स मनुः प्राप्तो जन्म सन्मतिसंज्ञितः ॥७७॥
ततः क्षेमंकरो जातः क्षेमधृत्[6]तदनन्तरम् । अभूत् सीमंकरस्तस्मात् सीमधृच्च ततः परम् ॥७८॥
चक्षुष्मानपरस्तस्मात्त गत्वा सभयाः प्रजाः । अपृच्छन्नाथ काविेतौ दृश्येते गगनार्णवे ॥७९॥
ततो जगाद चक्षुष्मान् विदेहे यच्छ्रुतं जिनात् । युक्तो जन्मान्तरस्मृत्या यथाकालपरिक्षये ॥८०॥

भोगभूमियोंमें उत्तम मनुष्य होते हैं ॥६५॥ तथा जो भोगोंकी तृष्णासे कुपात्रके लिए दान देते हैं वे भी हस्ती आदिकी पर्याय प्राप्तकर दानका फल भोगते हैं ॥६६॥ जिस प्रकार हलकी नोंकसे दूर तक जुते और अत्यन्त कोमल क्षेत्रमें बोया हुआ बीज अनन्तगुणा धान्य प्रदान करता है अथवा जिस प्रकार ईखोंमें दिया हुआ पानी मधुरताको प्राप्त होता है और गायोंके द्वारा पिया हुआ पानी दूध रूपमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार तपके भण्डार और व्रतोंसे अलंकृत शरीरके धारक सर्वपरिग्रह रहित मुनिके लिए दिया हुआ दान महाफलको देनेवाला होता है ॥६७–६९॥ जिस प्रकार ऊषर क्षेत्रमें बोया हुआ बीज अल्पफल देता है अथवा नीमके वृक्षोंमें दिया हुआ पानी जिस प्रकार कड़आ हो जाता है और साँपोंके द्वारा पिया हुआ पानी जिस प्रकार विष रूपमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार कुपात्रोंमें दिया हुआ दान कुफलको देनेवाला होता है ॥७०–७१॥ गौतमस्वामी कहते हैं कि हे राजन् ! जो जैसा दान देता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है । दर्पणके सामने जो-जो वस्तु रखी जाती है वही-वही दिखाई देती है ॥७२॥

जिस प्रकार शुक्ल और कृष्णके भेदसे दो पक्ष एकके बाद एक प्रकट होते हैं उसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल क्रमसे प्रकट होते हैं ॥७३॥ अथानन्तर तृतीय कालका अन्त होनेके कारण जब क्रमसे कल्पवृक्षोंका समूह नष्ट होने लगा तब चौदह कुलकर उत्पन्न हुए उस समयकी व्यवस्था कहता हूँ सो हे श्रेणिक ! सुन ॥७४॥ सबसे पहले प्रतिश्रुति नामके प्रथम कुलकर हुए । उनके वचन सुनकर प्रजा आनन्दको प्राप्त हुई ॥७५॥ वे अपने तीन जन्म पहलेकी बात जानते थे, शुभचेष्टाओंके चलानेमें तत्पर रहते थे और सब प्रकारकी व्यवस्थाओंका निर्देश करने वाले थे ॥७६॥ उनके बाद अनेक करोड़ हजार वर्ष बीतने पर सन्मति नामके द्वितीय कुलकर उत्पन्न हुए ॥७७॥ उनके बाद क्षेमंकर, फिर क्षेमन्धर, तत्पश्चात् सीमंकर और उनके पीछे सीमन्धर नामके कुलकर उत्पन्न हुए ॥७८॥ उनके बाद चक्षुष्मान् कुलकर हुए । उनके समय प्रजा सूर्य चन्द्रमाको देखकर भयभीत हो उनसे पूछने लगी कि हे स्वामिन् ! आकाशरूपी समुद्रमें ये दो पदार्थ क्या दिख रहे हैं ? ॥७९॥ प्रजाका प्रश्न सुनकर चक्षुष्मान्‌को अपने पूर्वजन्मका स्मरण

१. भुञ्जन्ते म० । २. निवर्तते म० । ३. खले म० । ४. अथो ख० । ५. कालान्तरोत्पत्त्या म० । ६. क्षेमभृत् म० ।

क्षीणेषु द्युतिवृक्षेषु समुद्भूतप्रभाविमौ । चन्द्रादित्याविति ख्यातौ ज्योतिर्देवौ स्फुटौ स्थितौ ॥८१॥
ज्योतिषा भावनाः कल्पा व्यन्तराश्च चतुर्विधाः । देवा भवन्ति योग्येन कर्मणा जन्तवो भवे ॥८२॥
तत्रायं[1] चन्द्रमाः शीतैस्तीव्रगुरस्त्येष[2] भास्करः । एतौ कालस्वभावेन दृश्येते गगनामरौ[3] ॥८३॥
भानावस्तंगते तीव्रे कान्तिर्भवति शीतगोः । व्योम्नि नक्षत्रचक्रं च प्रकटत्वं प्रपद्यते ॥८४॥
स्वभावमिति कालस्य ज्ञात्वा त्यजत भीततांम्[4] । इत्युक्ता[5] भयमस्यस्य प्रजा याता यथागतम् ॥८५॥
चक्षुष्मति ततोऽतीते यशस्वीति समुद्गतः । विज्ञेयो विपुलस्तस्मादभिचन्द्रः परस्ततः ॥८६॥
चन्द्राभश्च परस्तस्मान्मरुदेवस्तदुत्तरः । ततः प्रसेनजिज्जातो नाभिरन्त्यस्ततोऽभवत् ॥८७॥
एते पितृसमाः प्रोक्ताः प्रजानां कुलकारिणः । शुभैः कर्मभिरुत्पन्नाश्चतुर्दश समा[6] धिया ॥८८॥
अथ कल्पद्रुमो[7] नाभेरस्य क्षेत्रस्य मध्यगः । स्थितः प्रासादरूपेण विभात्यत्यन्तमुन्नतः ॥८९॥
मुक्तादामचितो हेमरत्नकल्पितभित्तिकः । क्षितौ स एक एवासीद् वाप्युद्यानविभूषितः ॥९०॥
गृहीतहृदया तस्य बभूव वनितोत्तमा । प्रचलत्तारका भार्या रोहिणीव कलावतः ॥९१॥
गङ्गेव वाहिनीशस्य महाभूभृत्कुलोद्गता । हंसीव राजहंसस्य मानसानुगमक्षमा ॥९२॥

हो आया। उस समय उन्होंने विदेह क्षेत्रमें भी जिनेन्द्रदेवके मुखसे जो कुछ श्रवण किया था वह सब स्मरणमें आ गया। उन्होंने कहा कि तृतीय कालका क्षय होना निकट है इसलिए ज्योतिरङ्ग जातिके कल्प वृक्षोंकी कान्ति मन्द पड़ गई है और चन्द्रमा तथा सूर्यकी कान्ति प्रकट हो रही है। ये चन्द्रमा और सूर्य नामसे प्रसिद्ध दो ज्योतिषी देव आकाशमें प्रकट दिख रहे हैं ॥८०–८१॥ ज्योतिषी, भवनवासी, व्यन्तर और कल्पवासीके भेदसे देव चार प्रकारके होते हैं। संसारके प्राणी अपने अपने कर्मोंकी योग्यताके अनुसार इनमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥८२॥ इनमें जो शीत किरणों वाला है वह चन्द्रमा है और जो उष्ण किरणोंका धारक है वह सूर्य है। कालके स्वभावसे ये दोनों आकाशगामी देव दिखाई देने लगे हैं ॥८३॥ जब सूर्य अस्त हो जाता है तब चन्द्रमाकी कान्ति बढ़ जाती है। सूर्य और चन्द्रमाके सिवाय आकाशमें यह नक्षत्रोंका समूह भी प्रकट हो रहा है ॥८४॥ यह सब कालका स्वभाव है ऐसा जानकर आपलोग भयको छोड़ें। चक्षुष्मान् कुलकरने जब प्रजासे यह कहा तब वह भय छोड़कर पहलेके समान सुखसे रहने लगी ॥८५॥ जब चक्षुष्मान् कुलकर स्वर्गगामी हो गये तो उनके बाद यशस्वी नामक कुलकर उत्पन्न हुए। उनके बाद विपुल, उनके पीछे अभिचन्द्र, उनके पश्चात् चन्द्राभ, उनके अनन्तर मरुदेव, उनके बाद प्रसेनजित् और उनके पीछे नाभिनामक कुलकर उत्पन्न हुए। इन कुलकरोंमें नाभिराज अन्तिम कुलकर थे ॥८६–८७॥ ये चौदह कुलकर प्रजाके पिताके समान कहे गये हैं, पुण्य कर्मके उदयसे इनकी उत्पत्ति होती है और बुद्धिकी अपेक्षा सब समान होते हैं ॥८८॥

अथानन्तर चौदहवें कुलकर नाभिराजके समयमें सब कल्प वृक्ष नष्ट हो गये। केवल इन्हींके क्षेत्रके मध्यमें स्थित एक कल्प वृक्ष रह गया जो प्रासाद अर्थात् भवनके रूपमें स्थित था और अत्यन्त ऊँचा था ॥८९॥ उनका वह प्रासाद मोतियोंकी मालाओंसे व्याप्त था, सुवर्ण और रत्नोंसे उसकी दीवालें बनी थीं, वापी और बगीचासे सुशोभित था तथा पृथिवीपर एक-अद्वितीय ही था ॥९०॥ नाभिराजके हृदयको हरनेवाली मरुदेवी नामकी उत्तम रानी थी। जिस प्रकार चन्द्रमाकी भार्या रोहिणी प्रचलत्तारका अर्थात् चञ्चल तारा रूप होती है उसी प्रकार मरुदेवी भी प्रचलत्तारका थी अर्थात् उसकी आँखोंकी पुतली चञ्चल थी ॥९१॥ जिस प्रकार समुद्रकी स्त्री गङ्गा महाभूभृत्कुलोद्गता है अर्थात् हिमगिरि नामक उच्च पर्वतके कुलमें उत्पन्न

---

१. तत्रार्यं ख० । २. तीव्रगुरेष म० । ३. गगनामरैः ख० । ४. भीतिताम् म० । ५. इत्युक्तास्तं समाभ्यर्च्य म० । ६. समाधियः म० । ७. नाभिरस्य क० ।

अरुन्धतीव नाथस्य नित्यं पार्श्वानुवर्तिनी । हंसीव गमने वाचि परपुष्टवधूसमा ॥९३॥
चक्राह्वेव पतिप्रीतावित्यादिसमुदाहृतम् । यां प्रति प्रतिपद्येत सर्वं हीनोपमानताम् ॥९४॥
पूजिता सर्वलोकस्य मरुदेवीति विश्रुता । यथा त्रिलोकवन्द्यस्य धर्मस्य श्रुतदेवता ॥९५॥
ऊष्माभावेन या चन्द्रकलाभिरिव निर्मिता । दर्पणश्रीजिगीषेव प्रतिपाणिगृहीतिषु[1] ॥९६॥
निर्मितात्मस्वरूपेव परचित्तप्रतीतिषु । सिद्धजीवस्वभावेव त्रिलोकव्याप्तकर्मणि ॥९७॥
पुण्यवृत्तितया जैन्या श्रुत्येव परिकल्पिता । अमृतात्मेव तृष्यत्सु भृत्येषु वसुवृष्टिवत् ॥९८॥
सखीषु निर्वृतेस्तुल्या विलासान्मदिरात्मिका । रूपस्य परमावस्था रतेरिव तनुस्थितिः ॥९९॥
मण्डनं मुण्डमालाया यस्याश्चक्षुरभूद् वरम् । असितोत्पलदामानि केवलं भारमात्रकम् ॥१००॥
अलकभ्रमरा एव भूषा भालान्तयोः सदा । दलानि तु तमालस्य पुनरुक्तानि केवलम् ॥१०१॥
प्राणेशसंकथा एव सुभगं कर्णभूषणम् । डम्बरो रत्नकनककुण्डलादिपरिग्रहः ॥१०२॥
कपोलावेव सततं स्फुटालोकस्य कारणम् । रत्नप्रभाप्रदीपास्तु विभवायैव केवलम् ॥१०३॥

हुई है उसी प्रकार मरुदेवी भी महाभूभृत्कुलोद्गता अर्थात् उत्कृष्ट राजवंशमें उत्पन्न हुई थी और राजहंसकी स्त्री जिस प्रकार मानसानुगमक्षमा अर्थात् मानस सरोवरकी ओर गमन करनेमें समर्थ रहती है उसी प्रकार मरुदेवी भी मानसानुगमक्षमा अर्थात् नाभिराजके मनके अनुकूल प्रवृत्ति करनेमें समर्थ थी ॥९२॥ जिस प्रकार अरुन्धती सदा अपने पतिके पास रहती थी उसी प्रकार मरुदेवी भी निरन्तर पतिके पास रहती थी। वह गमन करनेमें हंसीके समान थी और मधुर वचन बोलनेमें कोयलके अनुरूप थी ॥९३॥ वह पतिके साथ प्रेम करनेमें चकवीके समान थी इत्यादि जो कहा जाता है वह सब मरुदेवीके प्रति हीनोपमा दोषको प्राप्त होता है ॥९४॥ जिस प्रकार तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय धर्मकी भार्या श्रुतदेवताके नामसे प्रसिद्ध है उसी प्रकार नाभिराजकी वह भार्या मरुदेवी नामसे प्रसिद्ध थी तथा समस्त लोकोंके द्वारा पूजनीय थी ॥९५॥ उसमें रञ्च मात्र भी ऊष्मा अर्थात् क्रोध या अहंकारकी गर्मी नहीं थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो चन्द्रमाकी कलाओंसे ही उसका निर्माण हुआ हो। उसे प्रत्येक मनुष्य अपने हाथमें लेना चाहता था—स्वीकृत करना चाहता था इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो दर्पणकी शोभाको जीतना चाहती हो ॥९६॥ वह दूसरेके मनोगत भावको समझने वाली थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो आत्मासे ही उसके स्वरूपकी रचना हुई हो। उसके कार्य तीनों लोकोंमें व्याप्त थे इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो मुक्त जीवके समान ही उसका स्वभाव था ॥९७॥ उसकी प्रवृत्ति पुण्य रूप थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनवाणीसे ही उसकी रचना हुई हो। वह तृष्णासे भरे भृत्योंके लिए धनवृष्टिके समान थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो अमृत स्वरूप ही हो ॥९८॥ सखियोंको सन्तोष उपजानेवाली थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो निर्वृति अर्थात् मुक्तिके समान ही हो। उसका शरीर हाव-भाव-विलाससे सहित था इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो मदिरा स्वरूप ही हो। वह सौन्दर्यकी परम काष्ठाको प्राप्त थी अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो रतिकी प्रतिमा ही हो ॥९९॥ उसके मस्तकको अलंकृत करनेके लिए उसके नेत्र ही पर्याप्त थे, नील कमलोंकी मालाएँ तो केवल भार स्वरूप ही थीं ॥१००॥ भ्रमरके समान काले केश ही उसके ललाटके दोनों भागोंके आभूषण थे, तमालपुष्पकी कलिकाएँ तो केवल भार मात्र थीं ॥१०१॥ प्राणवल्लभकी कथा-वार्ता सुनना ही उसके कानोंका आभूषण था, रत्न तथा सुवर्णके कुण्डल आदिका धारण करना आडम्बर मात्र था ॥१०२॥ उसके दोनों कपोल ही निरन्तर स्पष्ट प्रकाशके कारण

---

१. प्रतिप्राणिगृहीतिषु म० ।

हासा एव च सद्गन्धाः पटवासाः सितत्विषः । कर्पूरपांशवः कान्तिव्याघातायैव केवलम् ॥१०४॥
वाण्येव मधुरा वीणा वाद्यश्रुतिकुतूहलम् । कृतं तु परिवर्गेण तन्त्रीनिकरताडनम् ॥१०५॥
कान्तिरेवाधरोद्भूता रागोऽङ्गस्य समुज्ज्वलः । निर्गुणः कौङ्कुमः पङ्को लावण्यस्य कलङ्कनम् ॥१०६॥
परिहासप्रहाराय भुजावेव सुकोमलौ । प्रयोजनमतीतानि मृणालशकलानि तु ॥१०७॥
यौवनोष्मसमुद्भूता मण्डनं स्वेदबिन्दवः । कुचयोर्हारभारस्तु वृथैव परिकल्पितः ॥१०८॥
शिलातलविशाला च श्रोणी विस्मयकारणम् । [1]निमित्तेन विना जाता भवने मणिवेदिका ॥१०९॥
भूषणं भ्रमरा एव निलीनाः कमलाशया । पादयोरिन्द्रनीले च नूपुरे निःप्रयोजने ॥११०॥
तस्या नाभिसमेताया भोगं कल्पतरूद्भवम् । भुञ्जानाया दुराख्यानं ग्रन्थकोटिशतैरपि ॥१११॥
इन्द्राज्ञापरितुष्टाभिर्दिक्कुमारीभिरादरात् । कस्मिंश्चित्समये [2]प्राप्ते परिचर्या प्रवर्तिता ॥११२॥
नन्दाज्ञापय जीवेति कृतशब्दाः ससंभ्रमम् । प्रतीयुः शासनं तस्या लक्ष्मीश्रीधृतिकीर्तयः ॥११३॥
स्तुवन्ति काश्चित्तत्काले तां गुणैर्हृदयंगमैः । काश्चित्परमविज्ञाना उपगायन्ति वीणया ॥११४॥
अत्यन्तमद्भुतं काश्चिद्गायन्ति श्रवणामृतम् । पादयोर्लोटनं काश्चित्कुर्वते मृदुपाणिकाः ॥११५॥
ताम्बूलदायिनी काचित्काचिदासनदायिनी । मण्डलाग्रकरा काचित् सततं पालनोद्यता ॥११६॥
काश्चिदभ्यन्तरद्वारे बाह्यद्वारे तथा परा । गृहीतकुन्तसौवर्णवेत्रदण्डासिहेतयः ॥११७॥

थे, रत्नमय दीपकोंकी प्रभा केवल वैभव बतलानेके लिए ही थी ॥१०३॥ उसकी मन्द मुसकान ही उत्तम गन्धसे युक्त सुगन्धित चूर्ण थी, कपूरकी सफ़ेद रज केवल कान्तिको नष्ट करने वाली थी ॥१०४॥ उसकी वाणी ही मधुर वीणा थी, परिकरके द्वारा किया हुआ जो बाजा सुननेका कौतूहल था वह मात्र तारोंके समूहको ताडन करना था ॥१०५॥ उसके अधरोष्ठसे प्रकट हुई कान्ति ही उसके शरीरका देदीप्यमान अङ्गराग था। कुङ्कुम आदिका लेप गुणरहित तथा सौन्दर्यको कलङ्कित करनेवाला था ॥१०६॥ उसकी कोमल भुजाएँ ही परिहासके समय पतिपर प्रहार करनेके लिए पर्याप्त थीं, मृणालके टुकड़े निष्प्रयोजन थे ॥१०७॥ यौवनकी गरमीसे उत्पन्न हुई पसीनेंकी बूँदें ही उसके दोनों स्तनोंका आभूषण थीं, उनपर हारका बोझ तो व्यर्थ ही डाला गया था ॥१०८॥ शिलातलके समान विशाल उसकी नितम्बस्थली ही आश्चर्यका कारण थी, महलके भीतर जो मणियोंकी वेदी बनाई गई थी वह बिना कारण ही बनाई गई थी ॥१०९॥ कमल समझकर बैठे हुए भ्रमर ही उसके दोनों चरणोंके आभूषण थे, उनमें जो इन्द्रनील मणिके नूपुर पहिनाये गये थे वे व्यर्थ थे ॥११०॥ नाभिराजके साथ, कल्पवृक्षसे उत्पन्न हुए भोगोंको भोगनेवाली मरुदेवीके पुण्यवैभवका वर्णन करना करोड़ों ग्रन्थोंके द्वारा भी अशक्य है ॥१११॥

जब भगवान् ऋषभदेवके गर्भावतारका समय प्राप्त हुआ तब इन्द्रकी आज्ञासे सन्तुष्ट हुई दिक्कुमारी देवियाँ बड़े आदरसे मरुदेवीकी सेवा करने लगीं ॥११२॥ 'वृद्धिको प्राप्त होओ, 'आज्ञा देओ' 'चिरकाल तक जीवित रहो' अत्यादि शब्दोंको सम्भ्रमके साथ उच्चारण करनेवाली लक्ष्मी श्री धृति और कीर्ति आदि देवियाँ उसकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करने लगीं ॥११३॥ उस समय कितनी ही देवियाँ हृदयहारी गुणोंके द्वारा उसकी स्तुति करती थीं, और उत्कृष्ट विज्ञानसे सम्पन्न कितनी ही देवियाँ बीणा बजाकर उसका गुणगान करतीं थी ॥११४॥ कोई कानोंके लिए अमृतके समान आनन्द देनेवाला आश्चर्यकारक उत्तम गान गाती थीं और कोमल हाथोंवाली कितनी ही देवियाँ उसके पैर पलोटती थीं ॥११५॥ कोई पान देती थीं, और कोई आसन देती थी और कोई तलवार हाथमें लेकर सदा रक्षा करनेमें तत्पर रहती थीं ॥११६॥ कोई महलके भीतरी द्वारपर और कोई महलके बाहरी द्वारपर भाला, सुवर्णकी छड़ी, दण्ड और तलवार आदि हथि-

१. निर्मितेन म०, ख० । २. प्राप्ता ख०, प्राप्त क० ।

चामरग्राहिणी काचित्काचिच्छत्रस्य धारिका । आनेत्री वाससां काचिद् भूषणानां ततः परा ॥११८॥
शयनीयविधौ काचित् सक्ता सम्मार्जने परा । पुष्पप्रकरणे काचित्काचिद्गन्धानुलेपने ॥११९॥
पानाशनविधौ काचित् काचिदाह्वानकर्मणि । एवं कर्तव्यतां तस्याः सर्वाः कुर्वन्ति देवताः ॥१२०॥
चिन्ताया अपि न क्लेशं प्रपेदे नृपवल्लभा । अन्यदा शयनीये[1] स्वे सुप्ता सात्यन्तकोमले ॥१२१॥
पट्टांशुकपरिच्छन्ने प्रान्तयोः सोपधानके । तस्या मध्ये सुखं लब्धा स्वपुण्यपरिपाकतः ॥१२२॥
गृहीतामलशस्त्राभिर्देवीभिः पर्युपासिता । अद्राक्षीत् षोडश स्वप्नानिति श्रेयोविधायिनः ॥१२३॥
[2]करटच्युतदानाम्बुगन्धसंबद्धषट्पदम् । वारणं चन्द्रधवलं मन्द्रगर्जितकारणम् ॥१२४॥
वृषभं दुन्दुभिस्कन्धं दधतं ककुदं[3] शुभम् । नदन्तं शरदम्भोदसंघाताकारधारिणम् ॥१२५॥
शीतांशुकिरणश्वेतकेसरालीविराजितम् । शशिरेखासदृग्दंष्ट्राद्वन्द्वयुक्तं मृगाधिपम् ॥१२६॥
सिच्यमानां श्रियं नागैः कुम्भैः सौवर्णराजितैः । उत्फुल्लपुण्डरीकस्य स्थितामुपरि निश्चलाम् ॥१२७॥
पुन्नागमालतीकुन्दचम्पकादिप्रकल्पिते । नितान्तं दामनी दीर्घे सौरभाकृष्टषट्पदे ॥१२८॥
उदयाचलमूर्द्धस्थं प्रध्वस्ततिमिरोत्करम् । विश्रब्धदर्शनं भानुं मुक्तं मेघाद्युपद्रवैः ॥१२९॥
बन्धुं कुमुदखण्डानां मण्डनं रात्रियोषितः । धवलीकृतसर्वाशं किरणैस्तारकापतिम् ॥१३०॥
अन्योन्यप्रेमसम्बन्धं प्रस्फुरद्विमले जले । विद्युद्दण्डसमाकारं मीनयोर्युगलं शुभम् ॥१३१॥

यार लेकर पहरा देती थी ॥११७॥ कोई चमर ढोलती थी, कोई वस्त्र लाकर देती थी और कोई आभूषण लाकर उपस्थित करती थी ॥११८॥ कोई शय्या बिछानेके कार्यमें लगी थी, कोई बुहारनेके कार्यमें तत्पर थी, कोई पुष्प बिखेरनेमें लीन थी और कोई सुगन्धित द्रव्यका लेप लगानेमें व्यस्त थी ॥११९॥ कोई भोजन-पानके कार्यमें व्यग्र थी और कोई बुलाने आदिके कार्यमें लीन थी। इस प्रकार समस्त देवियाँ उसका कार्य करती थीं ॥१२०॥ इस प्रकार नाभिराजकी प्रियवल्लभा मरुदेवीको किसी बातकी चिन्ताका क्लेश नहीं उठाना पड़ता था अर्थात् बिना चिन्ता किये ही समस्त कार्य सम्पन्न हो जाते थे। एक दिन वह चीनवस्त्रसे आच्छादित तथा जिसके दोनों ओर तकिया रखे हुए थे, ऐसी अत्यन्त कोमल शय्यापर सो रही थी और उसके बीच अपने पुण्यकर्मके उदयसे सुखका अनुभव कर रही थी ॥१२१-१२२॥ निर्मल शस्त्र लेकर देवियाँ उसकी सेवा कर रही थीं उसी समय उसने कल्याण करनेवाले निम्नलिखित सोलह स्वप्न देखे ॥१२३॥ पहले स्वप्नमें गण्डस्थलसे च्युत मदजलकी गन्धसे जिसपर भ्रमर लग रहे थे ऐसा तथा चन्द्रमाके समान सफेद और गम्भीर गर्जना करनेवाला हाथी देखा ॥१२४॥ दूसरे स्वप्नमें ऐसा बैल देखा जिसका कि स्कन्ध दुन्दुभिनामक बाजेके समान था, जो शुभ कान्दीलको धारण कर रहा था, शब्द कर रहा था और शरदृऋतुके मेघ समूहके समान आकारको धारण करनेवाला था ॥१२५॥ तीसरे स्वप्नमें चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल सटाओंके समूहसे सुशोभित एवं चन्द्रमाकी रेखाके समान दोनों दाँढ़ोंसे युक्त सिंहको देखा ॥१२६॥ चौथे स्वप्नमें हाथी, सुवर्ण तथा चाँदीके कलशोंसे जिसका अभिषेक कर रहे थे, तथा जो फूले हुए कमलपर निश्चल बैठी हुई थी ऐसी लक्ष्मी देखी ॥१२७॥ पाँचवें स्वप्नमें पुन्नाग, मालती, कुन्द तथा चम्पा आदिके फूलोंसे निर्मित और अपनी सुगन्धिसे भ्रमरोंको आकृष्ट करनेवाली दो बहुत बड़ी मालाएँ देखीं ॥१२८॥ छठवें स्वप्नमें उदयाचलके मस्तकपर स्थित, अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाला, एवं मेघ आदिके उपद्रवोंसे रहित, निर्भय दर्शनको देनेवाला सूर्य देखा ॥१२९॥ सातवें स्वप्नमें ऐसा चन्द्रमा देखा कि जो कुमुदोंके समूहका बन्धु था—उन्हें विकसित करनेवाला था, रात्रिरूपी स्त्रीका मानो आभूषण था, किरणोंके द्वारा समस्त दिशाओंको सफेद करनेवाला था और ताराओंका पति था ॥१३०॥ आठवें स्वप्नमें जो परस्परके प्रेमसे सम्बद्ध थे, निर्मल जलमें तैर रहे थे, बिजलीके

१. शयने च स्वे क० । २. म पुस्तके अनयोः श्लोकयोः क्रमभेदोऽस्ति । ३. ककुभम् म० ।

हारोपशोभितग्रीवं पुष्पमालापरिष्कृतम् । मणिभिः कलशं पूर्णं पञ्चवर्णैः समुज्ज्वलम् ॥१३२॥
पद्मेन्दीवरसंछन्नं विमलाम्बुमहासरः । नानापक्षिगणाकीर्णं चारुसोपानमण्डितम् ॥१३३॥
चलन्मीनमहानक्रजनितोत्तुङ्गवीचिकम् । मेघपंक्तिसमासक्तं नभस्तुल्यं नदीपतिम् ॥१३४॥
साटोपहरिभिर्युक्तं नानारत्नसमुज्ज्वलम् । चामीकरमयं चारु विष्टरं दूरमुन्नतम् ॥१३५॥
सुमेरुशिखराकारं सुमानं रत्नराजितम् । विमानं बुद्बुदादर्शचामरादिविभूषणम् ॥१३६॥
कल्पद्रुमगृहाकारं भावनं बहुभूमिकम् । मुक्तादामकृतच्छायं रत्नांशुपटलावृतम् ॥१३७॥
पञ्चवर्णमहारत्नराशिमत्यन्तमुन्नतम् । अन्योऽन्यकिरणोद्योतजनितेन्द्रशरासनम् ॥१३८॥
ज्वालाजटालमनलं धूमसम्भववर्जितम् । प्रदक्षिणकृतावर्तमनिन्धनसमुद्भवम् ॥१३९॥
अनन्तरं च स्वप्नानां दर्शनाच्चारुदर्शना । सा प्रबोधं समायाता जयमङ्गलनिस्वनैः ॥१४०॥
त्वद्वक्त्रकान्तिसम्भूतत्रपयेव निशाकरः । एष सम्प्रति सञ्जातः छायया परिवर्जितः ॥१४१॥
अयं भाति सहस्रांशुरुदयाचलमस्तके । कलशो मङ्गलार्थं च सिन्दूरेणेव गुण्ठितः ॥१४२॥
सम्प्रति त्वस्मितेनैव तिमिरं यास्यति क्षयम् । इतीव स्वस्य वैयर्थ्यात् प्रदीपाः पाण्डुतां गताः ॥१४३॥
कुलमेतच्छकुन्तानां कलकोलाहलाकुलम् । मङ्गलं ते करोतीव निजनीडसुखस्थितम् ॥१४४॥
अमी प्रभातवातेन जडमन्देन संगताः । निद्राशेषादिवेदानीं घूर्णन्ते गृहपादपाः ॥१४५॥

दण्डके समान जिनका आकार था ऐसे मीनोंका शुभ जोड़ा देखा ॥१३१॥ नौवें स्वप्नमें जिसकी ग्रीवा हारसे सुशोभित थी, जो फूलोंकी मालाओंसे सुसज्जित था और जो पञ्चवर्णके मणियोंसे भरा हुआ था, ऐसा उज्ज्वल कलश देखा ॥१३२॥ दशवें स्वप्नमें कमलों और नील कमलोंसे आच्छादित, निर्मल जलसे युक्त, नाना पक्षियोंसे व्याप्त तथा सुन्दर सीढ़ियोंसे सुशोभित विशाल सरोवर देखा ॥१३३॥ ग्यारहवें स्पप्नमें, चलते हुए मीन और बड़े-बड़े नक्रोंसे जिनमें ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही थीं, जो मेघोंसे युक्त था तथा आकाशके समान जान पड़ता था ऐसा सागर देखा ॥१३४॥ बारहवें स्वप्नमें बड़े-बड़े सिंहोंसे युक्त, अनेक प्रकारके रत्नोंसे उज्ज्वल, सुवर्णनिर्मित, बहुत ऊँचा सुन्दर सिंहासन देखा ॥१३५॥ तेरहवें स्वप्नमें ऐसा विमान देखा कि जिसका आकार सुमेरु पर्वतकी शिखरके समान था, जिसका विस्तार बहुत था, जो रत्नोंसे सुशोभित था तथा गोले दर्पण और चमर आदिसे विभूषित था ॥१३६॥ चौदहवें स्पप्नमें ऐसा भवन देखा कि जिसका आकार कल्पवृक्षनिर्मित प्रासादके समान था, जिसके अनेक खण्ड थे, मोतियोंकी मालाओंसे जिसकी शोभा बढ़ रही थी और जो रत्नोंकी किरणोंके समूहसे आवृत था ॥१३७॥ पन्द्रहवें स्वप्नमें, परस्पर की किरणोंके प्रकाशसे इन्द्रधनुषको उत्पन्न करने वाली, अत्यन्त ऊंची पाँच प्रकारके रत्नोंकी राशि देखी ॥१३८॥ और सोलहवें स्वप्नमें ज्वालाओंसे व्याप्त, धूमसे रहित, दक्षिण दिशाको ओर आवर्त ग्रहण करने वाली एवं ईन्धनमें रहित अग्नि देखी ॥१३९॥ स्वप्न देखनेके बाद ही सुन्दराङ्गी मरुदेवी वन्दीजनोंकी मङ्गलमय जय-जयध्वनिसे जाग उठी ॥१४०॥ उस समय वन्दीजन कह रहे थे कि हे देवि ! यह चन्द्रमा तुम्हारे मुखकी कान्तिसे उत्पन्न हुई लज्जाके कारण ही इस समय छाया अर्थात् कान्तिसे रहित हो गया है ॥१४१॥ उदयाचलके शिखर पर यह सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानो मङ्गलके लिए सिन्दूरसे अनुरञ्जित कलश ही हो ॥१४२॥ इस समय तुम्हारी मुसकानसे ही अन्धकार नष्ट हो जावेगा इसलिए दीपक मानो अपने आपकी व्यर्थताका अनुभव करते हुए ही ही निष्प्रभ हो गये हैं ॥१४३॥ यह पक्षियोंका समूह अपने घोंसलोंमें सुखसे ठहरकर जो मनोहर कोलाहल कर रहा है सो ऐसा जान पड़ता है मानो तुम्हारा मङ्गल ही कर रहा है ॥१४४॥ ये घर के वृक्ष प्रातःकालकी शीतल और मन्द वायुसे संगत हो कर ऐसे जान पड़ते हैं मानो अवशिष्ट

१. बुदबुदादर्श म० । २. सिन्दूरेणैव म० । ३. त्वस्मितेनैव म० । ४. मुखस्थितम् म० ।

एषापि[1] गृहवाप्यन्ते भानुबिम्बावलोकनात् । हृष्टाह्वयति जीवेशं चक्रवाकी कलस्वनम्[2] ॥१४६॥
त्वद्गतिप्रेक्षणेनैते कृतोत्कण्ठा इवाधुना । कुर्वन्ति कूजितं हंसा निद्रानिर्वासकारणम् ॥१४७॥
उल्लिख्यमानकंसोत्थनिःस्वनप्रतिमो महान् । अलं सारसचक्राणां क्रेङ्कारोऽयं[3] विराजते[4] ॥१४८॥
निशान्त इत्ययं स्पष्टो जातो[5] निर्मलचेष्टिते । देवि मुञ्चाधुना निद्रामिति वन्दिकृतस्तवा ॥१४९॥
अमुञ्चच्छयनीयञ्च समुद्भूततरङ्गकम् । सुमनोभिः समाकीर्णं साभ्रतारं[6] नभःसमम् ॥१५०॥
वासगेहाच्च निःक्रान्ता प्रत्यात्मकृतकर्मिका[7] । ययौ नाभिसमीपं सा दिनश्रीरिव भास्करम् ॥१५१॥
भद्रासननिविष्टाय तस्मै स्वर्वासनस्थिता । कराभ्यां कुड्मलं कृत्वा क्रमात् स्वप्नान्न्यवेदयत्[8] ॥१५२॥
इति चिन्ताप्रमोदेन परायत्तीकृतः पतिः । जगाद त्वयि संभूतस्त्रैलोक्यस्य गुरुः शुभे ॥१५३॥
इत्युक्ता सा परं हर्षं जगाम कमलेक्षणा । मूर्तिरिन्दोरिवोदारा दधती कान्तिसंहतीः[9] ॥१५४॥
संभविष्यति षण्मासाज्जिने[10] शक्राज्ञयामुचत् । रत्नवृष्टिं धनाधीशो मासात्पञ्चदशादरः[11] ॥१५५॥
तस्मिन् गर्भस्थिते यस्माज्जाता वृष्टिर्हिरण्मयी । हिरण्यगर्भनाम्नासौ स्तुतस्तस्मात् सुरेश्वरैः ॥१५६॥
ज्ञानैर्जिनस्त्रिभिर्युक्तः कुक्षौ तस्याश्चचाल न । माभूत् संचलनादस्याः पीडेति कृतमानसः ॥१५७॥
यथा दर्पणसंक्रान्तछायामात्रेण पावकः । आधाता न विकारस्य तथा तस्या बभूव सः ॥१५८॥

निद्राके कारण ही भूम रहे हैं ॥१४५॥ घरकी बावड़ीके समीप जो यह चकवी खड़ी है वह सूर्यका बिम्ब देख कर हर्षित होती हुई मधुर शब्दोंसे अपने प्राणवल्लभको बुला रही है ॥१४६॥ ये हंस तुम्हारी सुन्दर चालको देखनेके लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं इसीलिए मानो इससमय निद्रा दूर करनेके लिए मनोहर शब्द कर रहे हैं ॥१४७॥ जिसकी तुलना उकेरे जाने वाले कांसेसे उत्पन्न शब्दके साथ ठीक बैठती है ऐसे यह सारस पक्षियोंका क्रेङ्कार शब्द अत्यधिक सुशोभित हो रहा है ॥१४८॥ हे निर्मल चेष्टाकी धारक देवि ! अब स्पष्ट ही प्रातःकाल हो गया है इसलिए इससमय निद्राको छोड़ो । इसतरह वन्दीजन जिसकी स्तुति कर रहे थे ऐसी मरुदेवीने, जिसपर चद्दरकी सिकुड़नसे मानो लहरें उठ रही थीं तथा जो फूलोंसे व्याप्त होनेके कारण मेघ और नक्षत्रोंसे युक्त आकाशके सामन जान पड़ती थी, ऐसी शय्या छोड़ दी ॥१४९-१५०॥ निवासगृहसे निकल कर जिसने समस्त कार्य सम्पन्न किये थे ऐसी मरुदेवी नाभिराजके पास इस तरह पहुँची जिस तरह कि दिनकी लक्ष्मी सूर्यके पास पहुँचती है ॥१५१॥ वहाँ जाकर वह नीचे आसन पर बैठी और उत्तम सिंहासन पर आरूढ हृदयवल्लभके लिए हाथ जोड़कर क्रमसे स्वप्न निवेदित करने लगी ॥१५२॥ इस प्रकार रानीके स्वप्न सुन कर हर्षसे विवश हुए नाभिराजने कहा कि हे देवि ! तुम्हारे गर्भमें त्रिलोकीनाथने अवतार ग्रहण किया है ॥१५३॥ नाभिराजके इतना कहते ही कमललोचना मरुदेवी परम हर्षको प्राप्त हुई और चन्द्रमाकी उत्कृष्ट मूर्तिके समान कान्तिके समूहको धारण करने लगी ॥१५४॥ जिनेन्द्र भगवान्के गर्भस्थ होनेमें जब छह माह बाकी थे तभीसे इन्द्रकी आज्ञानुसार कुबेरने बड़े आदरके साथ रत्नवृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया था ॥१५५॥ चूंकि भगवान्के गर्भस्थित रहते हुए यह पृथिवी सुवर्णमयी हो गई थी इसलिए इन्द्रने 'हिरण्यगर्भ' इस नामसे उनकी स्तुति की थी ॥१५६॥ भगवान्, गर्भमें भी मति श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे युक्त थे तथा हमारे हलन चलनसे माताको कष्ट न हो इस अभिप्रायसे वे गर्भमें चल-विचल नहीं होते थे ॥१५७॥ जिस प्रकार दर्पणमें अग्निकी छाया पड़नेसे कोई विकार नहीं होता है उसी प्रकार भगवान्के गर्भमें स्थित रहते हुए भी माता मरुदेवीके शरीरमें कुछ भी विकार नहीं हुआ था ॥१५८॥

---

१. एषा त्वद्गृहवाप्यन्ते म० । २. कलस्वनैः म० । ३. झंकारोऽयं म० । ४. विराजितः म० । ५. ज्योतिनिर्मल म० । ६. तारा म० । ७. कर्मका क० । ८. स्वप्नान्यवेदयत् म० । ९. संहितम् क० । १०. पद्मास्ये जिने क० । ११. मासात्पञ्च दशादितः म० ।

निश्चक्राम ततो गर्भात् पूर्णे काले जिनोत्तमः । मलस्पर्शविनिर्मुक्तः स्फोटिकादिव सद्मतः ॥१५९॥
ततो महोत्सवश्चक्रे नाभिना सुतजन्मनि । समानन्दितनिःशेषजनो युक्त्या यथोक्तया ॥१६०॥
त्रैलोक्यं क्षोभमायातमैन्द्रं कम्पितमासनम् । सुरासुराश्च संजाताः किंकिमेतदितिस्वनाः ॥१६१॥
अनाध्मातस्ततः शङ्खो दध्वान भवनश्रिताम् । व्यन्तराधिपगेहेषु रराट पटहः स्वयम् ॥१६२॥
ज्योतिषां निलये जातमकस्मात् सिंहबृंहितम् । [2]कल्पाधिपगृहे स्पष्टं घण्टारवं [3]रराण च ॥१६३॥
एवंविधशुभोत्पातैर्ज्ञाततीर्थंकरोद्भवाः । प्रचलद्भिः किरीटैश्च प्रयुक्तावधयस्ततः ॥१६४॥
प्रातिष्ठन्त महोत्साहा इन्द्रा नाभीयमालयम् । वारणेन्द्रसमारूढाः कृतमण्डनविग्रहाः ॥१६५॥
ततः कन्दर्पिणः केचित् सुरा [4]नृत्यं प्रचक्रिरे । चक्रुरास्फोटनं केचिद् [5]बलानां केचिदुन्नतम् ॥१६६॥
केचित् केसरिणो [6]नादं मुमुचुर्व्याप्तविष्टपम्[7] । विकुर्वन्ति बहून् वेषान् केचित् केचिज्जगुर्वरम्[8] ॥१६७॥
उत्पतद्भिः पतद्भिश्च ततो देवैरिदं जगत् । महारावसमापूर्णं स्थानभ्रंशमिवागतम् ॥१६८॥
ततः साकेतनगरं धनदेन विनिर्मितम् । विजयार्द्धनगाकारप्राकारेण समावृतम् ॥१६९॥
पातालोदरगम्भीरपरिखाकृतवेष्टनम् । तुङ्गगोपुरकूटाग्रदूरनष्टान्तरिक्षकम् ॥१७०॥
नानारत्नकरोद्योतपटप्रावृतसद्मकम् । इन्द्राः क्षणेन संप्रापुर्महाभूतिसमन्विताः ॥१७१॥
पुरं प्रदक्षिणीकृत्य त्रिः शक्रः सहितोऽमरैः । प्रविष्टः प्रसवागारात् पौलोम्याना[9]ययज्जिनम् ॥१७२॥

जब समय पूर्ण हो चुका तब भगवान् मलका स्पर्श किये बिना ही गर्भसे इस प्रकार बाहर निकले जिस प्रकार कि किसी स्फटिकमणि निर्मित घरसे बाहर निकले हों ॥१५९॥

तदनन्तर—नाभिराजने पुत्र जन्मका यथोक्त महोत्सव किया जिससे समस्त लोग हर्षित हो गये ॥१६०॥ तीन लोक क्षोभको प्राप्त हो गये, इन्द्रका आसन कम्पित हो गया और समस्त सुर तथा असुर 'क्या है ?' यह शब्द करने लगे ॥१६१॥ उसी समय भवनवासी देवोंके भवनोंमें बिना बजाये ही शङ्ख बजने लगे, व्यन्तरोंके भवनोंमें अपने आप ही भेरियोंके शब्द होने लगे, ज्योतिषी देवोंके घरमें अकस्मात् सिंहोंकी गर्जना होने लगी और कल्पवासी देवोंके घरोंमें अपने-अपने घण्टा शब्द करने लगे ॥१६२-१६३॥ इस प्रकारके शुभ उत्पातोंसे तथा मुकुटोंके नम्रीभूत होनेसे इन्द्रोंने अवधिज्ञानका उपयोग किया और उसके द्वारा उन्हें तीर्थंकरके जन्मका समाचार विदित हो गया ॥१६४॥ तदनन्तर जो बहुत भारी उत्साहसे भरे हुए थे तथा जिनके शरीर आभूषणोंसे जगमगा रहे थे ऐसे इन्द्रने गजराज—ऐरावत हाथीपर आरूढ़ होकर नाभिराजके घरकी ओर प्रस्थान किया ॥१६५॥ उस समय कामसे युक्त कितने ही देव नृत्य कर रहे थे, कितने ही तालियाँ बजा रहे थे, कितने ही अपनी सेनाको उन्नत बना रहे थे, कितने ही समस्त लोकमें फैलनेवाला सिंहनाद कर रहे थे, कितने ही विक्रियासे अनेक वेष बना रहे थे, और कितने ही उत्कृष्ट गाना गा रहे थे ॥१६६-१६७॥ उस समय बहुत भारी शब्दोंसे भरा हुआ यह संसार ऊपर जानेवाले और नीचे आनेवाले देवोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो स्वकीय स्थानसे भ्रष्ट ही हो गया हो ॥१६८॥ तदनन्तर कुबेरने अयोध्या नगरीकी रचना की । वह अयोध्यानगरी विजयार्ध पर्वतके समान आकारवाले विशाल कोटसे घिरी हुई थी ॥१६९॥ पाताल तक गहरी परिखा उसे चारों ओरसे घेरे हुए थी और ऊँचे-ऊँचे गोपुरोंके शिखरोंके अग्रभागसे वहाँका आकाश दूर तक विदीर्ण हो रहा था ॥१७०॥ महाविभूतिसे युक्त इन्द्र क्षणभरमें नाभिराजके उस घर जा पहुँचे जो कि नाना रत्नोंकी किरणोंके प्रकाशरूपी वस्त्रसे आवृत था ॥१७१॥ इन्द्रने पहले देवोंके साथ-साथ नगरकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं । फिर नाभिराजके घरमें प्रवेश किया और तदनन्तर

---

१. स्फटिकादिव म० । २. व्यन्तराधिपतेर्गेहे म० । ३. रराव च ख० । ४. नृत्तं ख०, म० । ५. बलानं ख०, म० । ६. नादान् म० । ७. विष्टपान् म० । ८. वराम् म० । ९-नापयज्जिनम् म० ।

जिनमातुस्ततः कृत्वा मायाबालं प्रणामिनी । बालमानीय शक्रस्य शची चक्रे करद्वये ॥१७३॥
रूपं पश्यन् जिनस्यासौ सहस्रनयनोऽपि सन् । तृप्तिमिन्द्रो न संप्राप त्रैलोक्यातिशयस्थितम् ॥१७४॥
ततस्तमङ्कमारोप्य समारुह्य गजाधिपम् । गृहीतचामरच्छत्रो भक्त्या परमया स्वयम् ॥१७५॥
अवाप मेरुशिखरं सर्वैर्देवैः समन्वितः । वैडूर्यादिमहारत्नमरीचिनिचयोज्ज्वलम् ॥१७६॥
पाण्डुकम्बलसंज्ञायां शिलायां सिंहविष्टरे । ततो जिनः सुरेशेन स्थापितः पृष्ठवर्तिना ॥१७७॥
ततः समाहता[1] भेर्यः क्षुब्धसागरनिःस्वना । मृदङ्गशङ्खशब्दाश्च साट्टहासाः कृताः सुरैः ॥१७८॥
यक्षकिन्नरगन्धर्वाः सह तुम्बुरुनारदाः । विश्वावसुसमायुक्ताः कुर्वाणा मूर्च्छना वराः[2] ॥१७९॥
गायन्ति सह पत्नीभिर्मनःश्रोत्रहरं तदा । वीणावादनमारब्धा[3] कर्तुं लक्ष्मीश्च सादरा ॥१८०॥
हावभावसमेताश्च नृत्यन्त्यप्सरसो वरम् । अङ्गहारं यथावस्तु कुर्वाणाः कृतभूषणाः ॥१८१॥
एवं तत्र महातोद्ये जनितेऽमरसत्तमैः । अभिषेकाय देवेन्द्रो जग्राह कलशं शुभम् ॥१८२॥
ततः क्षीरार्णवाम्भोभिः पूर्णैः कुम्भैर्महोदरैः । चामीकरमयैः पद्मच्छन्नवक्त्रैः सपल्लवैः १८३॥
अभिषेकं जिनेन्द्रस्य चकार त्रिदशाधिपः । कृत्वा वैक्रियसामर्थ्यादात्मानं बहुविग्रहम् ॥१८४॥
यमो वैश्रवणः सोमो वरुणोऽन्ये च नाकिनः । [4]शेषशक्रादयः सर्वे चक्रुर्भक्त्याभिषेचनम् ॥१८५॥
इन्द्राणीप्रमुखा देव्यः सद्गन्धैरनुलेपनैः । चक्रुरुद्वर्तनं भक्त्या करैः पल्लवकोमलैः ॥१८६॥

इन्द्राणीके द्वारा प्रसूतिका-गृहसे जिन-बालकको बुलवाया ॥१७२॥ इन्द्राणीने प्रसूतिका-गृहमें जाकर पहले जिन माताको नमस्कार किया। फिर माताके पास मायामयी बालक रखकर जिन-बालकको उठा लिया और बाहर लाकर इन्द्रके हाथोंसे सौंप दिया ॥१७३॥ यद्यपि इन्द्र हजार नेत्रोंका धारक था तथापि तीनों लोकोंमें अतिशयपूर्ण भगवान्‌का रूप देखकर वह तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ था ॥१७४॥ तदनन्तर—सौधर्मेन्द्र भगवान्‌को गोदमें बैठाकर ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुआ और श्रेष्ठ भक्तिसे सहित अन्य देवोंने चमर तथा छत्र आदि स्वयं ही ग्रहण किये ॥१७५॥ इस प्रकार इन्द्र समस्त देवोंके साथ चलकर वैडूर्य आदि महारत्नोंकी कान्तिके समूहसे उज्ज्वल सुमेरु पर्वतके शिखरपर पहुँचा ॥१७६॥ वहाँ पाण्डुकम्बल नामकी शिलापर जो अकृत्रिम सिंहासन स्थित है उसपर इन्द्रने जिन-बालकको विराजमान कर दिया और स्वयं उनके पीछे खड़ा हो गया ॥१७७॥ उसी समय देवोंने क्षुभित समुद्रके समान शब्द करनेवाली भेरियाँ बजाईं, मृदङ्ग और शङ्खके जोरदार शब्द किये ॥१७८॥ यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, तुम्बुरु, नारद और विश्वावसु उत्कृष्ट मूर्च्छनाएँ करते हुए अपनी अपनी पत्नियोंके साथ मन और कानोंको हरण करने वाले सुन्दर गीत गाने लगे। लक्ष्मी भी बड़े आदरके साथ वीणा बजाने लगी ॥१७९–१८०॥ हाव-भावोंसे भरी एवं आभूषणोंसे सुशोभित अप्सराएँ यथायोग्य अङ्गहार करती हुई उत्कृष्ट नृत्य करने लगी ॥१८१॥ इस प्रकार जब वहाँ उत्तमोत्तम देवोंके द्वारा गायन-वादन और नृत्य हो रहा था तब सौधर्मेन्द्रने अभिषेक करने के लिए शुभ कलश हाथमें लिया ॥१८२॥ तदनन्तर जो क्षीरसागरके जलसे भरे थे, जिनकी अवगाहना बहुत भारी थी, जो सुवर्ण निर्मित थे, जिनके मुख कमलोंसे आच्छादित थे तथा लाल-लाल पल्लव जिनकी शोभा बढ़ा रहे थे, ऐसे एक हजार आठ कलशोंके द्वारा इन्द्रने विक्रियाके प्रभावसे अपने अनेक रूप बनाकर जिन-बालकका अभिषेक किया ॥१८३-१८४॥ यम, वैश्रवण, सोम, वरुण आदि अन्य देवोंने और साथ ही शेष बचे समस्त इन्द्रोंने भक्तिपूर्वक जिन-बालकका अभिषेक किया ॥१८५॥ इन्द्राणी आदि देवियोंने पल्लवोंके समान कोमल हाथोंके द्वारा समीचीन गन्धसे युक्त अनुलेपनसे भगवान्‌को

---

१. समाहिता म० । २. रवाः ख० । ३. -मारब्धीकर्तुं ख० । ४. मेषवक्त्रादयः ख०, म० ।

महीध्रमिव तं नाथं कुम्भैर्जलधरैरिव । अभिषिच्य समारब्धाः कर्तुमस्य विभूषणम् ॥१८७॥
चन्द्रादित्यसमे तस्य कर्णयोः कुण्डले कृते । तत्क्षणं सुरनाथेन वज्रसूचीविभिन्नयोः ॥१८८॥
पद्मरागमणिः शुद्धश्चूडायां विनिवेशितः । जटालमिव संपन्नं शिरो यस्य मरीचिभिः ॥१८९॥
अर्द्धचन्द्राकृतिन्यस्ता चन्दनेन ललाटिका । बाहुमूले कृते जात्यहेमकेयूरमण्डिते ॥१९०॥
नक्षत्रस्थूलमुक्ताभिः कल्पितेन मयूखिना । हारेण भूषितं वक्षः श्रीवत्सकृतभूषणम्[1] ॥१९१॥
हरिन्मणिसरोजश्रीरत्नस्थूलमरीचिभिः । संजातपल्लवेनेव प्रालम्बेन विराजितः ॥१९२॥
लक्षणाभरणश्रेष्ठौ प्रकोष्ठौ दधतुः श्रियम् । मणिबन्धनचारुभ्यां कटकाभ्यां सुसंहतौ ॥१९३॥
पट्टांशुकोपरिन्यस्तकटिसूत्रेण राजितम् । नितम्बफलकं संध्याढ्यमेवावनिभृत्तटम् ॥१९४॥
सर्वाङ्गुलीषु विन्यस्तं मुद्रिकाभूषणं वरम् । नानारत्नपरिष्वक्तचामीकरविनिर्मितम् ॥१९५॥
भक्त्या कृतमिदं देवैः सर्वमण्डनयोजनम् । त्रैलोक्यमण्डनस्यास्य कुतोऽन्यन्मण्डनं परम् ॥१९६॥
चन्दनेन समालभ्य रोचनाः स्थासकाः कृताः । रेजुस्ते स्फटिकक्षोण्यां कनकाम्बुद्रुमा इव ॥१९७॥
उत्तरीयं च विन्यस्तमंशुकं कृतपुष्पकम् । अत्यन्तनिर्मलं रेजे सतारमिव तन्नभः ॥१९८॥
पारिजातकसन्तानकुसुमैः परिकल्पितम् । षट्पदालीपरिष्वक्तं पिनद्धं स्थूलशेखरम् ॥१९९॥
तिलकेन भ्रुवोर्मध्यं[2] सद्गन्धेन विभूषितम् । तिलकत्वं त्रिलोकस्य बिभ्रतश्चारुचेष्टिनः[3] ॥२००॥

उद्वर्तन किया ॥१८६॥ जिस प्रकार मेघोंके द्वारा किसी पर्वतका अभिषेक होता है उसी प्रकार विशाल कलशोंके द्वारा भगवान्का अभिषेक कर देव उन्हें आभूषण पहिनानेके लिए तत्पर हुए ॥१८७॥ इन्द्रने तत्काल ही वज्रकी सूचीसे विभिन्न किये हुए उनके कानोंमें चन्द्रमा और सूर्यके समान कुण्डल पहिनाये ॥१८८॥ चोटीके स्थानपर ऐसा निर्मल पद्मरागमणि पहिनाया कि जिसकी किरणोंसे भगवान्का शिर जटाओंसे युक्तके समान जान पड़ने लगा ॥१८९॥ भालपर चन्दनके द्वारा अर्धचन्द्राकार ललाटिका बनाई । भुजाओंके मूलभाग उत्तम सुवर्णनिर्मित केयूरोंसे अलंकृत किये ॥१९०॥ श्रीवत्स चिह्नसे सुशोभित वक्षःस्थलको नक्षत्रोंके समान स्थूल मुक्ताफलोंसे निर्मित एवं किरणोंसे प्रकाशमान हारसे अलंकृत किया ॥१९१॥ हरितमणि और पद्मराग मणियों की बड़ी मोटी किरणोंसे जिसमें मानो पल्लव ही निकल रहे थे ऐसी बड़ी मालासे उन्हें अलंकृत किया था ॥१९२॥ लक्षणरूपी आभरणोंसे श्रेष्ठ उनकी दोनों भरी कलाइयाँ रत्नखचित सुन्दर कड़ोंसे बहुत भारी शोभाको धारण कर रही थीं ॥१९३॥ रेशमी वस्त्रके ऊपर पहिनाई हुई करधनी से सुशोभित उनका नितम्बस्थल ऐसा जान पड़ता था मानो सन्ध्याकी लाल-लाल रेखासे सुशोभित किसी पर्वतका तट ही हो ॥१९४॥ उनकी समस्त अङ्गुलियोंमें नाना रत्नोंसे खचित सुवर्णमय अँगूठियाँ पहिनाई गई थीं ॥१९५॥ देवोंने भगवान्के लिए जो सब प्रकारके आभूषण पहिनाये थे वे भक्तिवश ही पहिनाये थे वैसे भगवान् स्वयं तीन लोकके आभरण थे अन्य पदार्थ उनकी क्या शोभा बढ़ाते ? ॥१९६॥ उनके शरीरपर चन्दनका लेप लगाकर जो रोचनके पीले-पीले बिन्दु रखे गये थे, वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्फटिककी भूमिपर सुवर्ण कमल ही रखे गये हों ॥१९७॥ जिसपर कसीदासे अनेक फूल बनाये गये थे ऐसा उत्तरीय वस्त्र उनके शरीरपर पहिनाया गया था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सुशोभित निर्मल आकाश ही हो ॥१९८॥ पारिजात और सन्तान नामक कल्पवृक्षोंके फूलोंसे जिसकी रचना हुई थी, तथा जिसपर भ्रमरोंके समूह लग रहे थे ऐसा बड़ा सेहरा उनके शिरपर बाँधा गया था ॥१९९॥ चूँकि सुन्दर चेष्टाओंको धारण करनेवाले भगवान् तीन लोकके तिलक थे इसलिए उनकी दोनों भौंहोंका

१. भूषकम् म० । २. भुवोर्मध्यं म० । ३. चेष्टितम् ख० ।

ततस्तं भूषितं सन्तं त्रिलोकस्य विभूषणम् । तुष्टास्तुष्टुवुरित्थं ते देवाः शक्रपुरस्सराः ॥२०१॥
नष्टधर्मे जगत्यस्मिन्नज्ञानतमसावृते । भ्राम्यतां भव्यसत्त्वानामुदितस्त्वं दिवाकरः ॥२०२॥
किरणैर्जिनचन्द्रस्य विमलैस्तव वाङ्मयैः । प्रबोधं यास्यतीदानीं भव्यसत्त्वकुमुद्वती ॥२०३॥
भव्यानां तत्त्वदृष्ट्यर्थं केवलानलसंभवः । ज्वलितस्त्वं प्रदीपोऽसि स्वयमेव जगद्गृहे ॥२०४॥
पापशत्रुनिघाताय जातस्त्वं शितसायकः । कर्ता भवाटवीदाहं त्वमेव ध्यानवह्निना ॥२०५॥
दुष्टेन्द्रियमहानागदमनाय त्वमुद्गतः । वैनतेयो महावायुः संदेहघनसंपदाम् ॥२०६॥
धर्माम्बुबिन्दुसंप्राप्तितृषिता भव्यचातकाः । उन्मुखास्त्वामुदीक्षन्ते नाथामृतमहाघनम् ॥२०७॥
नमस्ते त्रिजगद्गीतनितान्तामलकीर्तये । नमस्ते गुणपुष्पाय तरवे कामदायिने ॥२०८॥
कर्मकाष्ठकुठाराय तीक्ष्णधाराय ते नमः । नमस्ते मोहतुङ्गाद्रिभङ्गवज्रात्मने सदा ॥२०९॥
विध्मापकाय दुःखाग्नेर्नमस्ते सलिलात्मने । रजःसङ्गविहीनाय नमस्ते गगनात्मने ॥२१०॥
इति स्तुत्वा विधानेन प्रणम्य च पुनः पुनः । तमारोप्य गजं जग्मुरयोध्याभिमुखाः सुराः ॥२११॥
मातुरङ्के[1] ततः कृत्वा शक्रः शच्या जिनार्भकम् । विधाय परमानन्दं स्वस्थानं ससुरोऽगमत् ॥२१२॥
ततस्तमम्बरै[2]र्दिव्यैरलङ्कारैश्च भूषितम् । दिग्धं[3] च परमामोदघ्राणहार्यानुलेपनैः ॥२१३॥

मध्यभाग सुगन्धित तिलकसे अलंकृत किया गया था ॥२००॥ इस प्रकार तीन लोकके आभरण स्वरूप भगवान् जब नाना अलङ्कारोंसे अलंकृत हो गये तब इन्द्र आदि देव उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥२०१॥

हे भगवन् ! धर्मरहित तथा अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित इस संसारमें भ्रमण करनेवाले लोगोंके लिए आप सूर्यके समान उदित हुए हो ॥२०२॥ हे जिनराज ! आप चन्द्रमाके समान हो सो आपके उपदेशरूपी निर्मल किरणोंके द्वारा अब भव्य जीवरूपी कुमुदिनी अवश्य ही विकासको प्राप्त होगी ॥२०३॥ हे नाथ ! आप इस संसाररूपी घरमें 'भव्य जीवोंको जीव-अजीव आदि तत्त्वोंका ठीक-ठीक दर्शन हो' इस उद्देश्यसे स्वयं ही जलते हुए वह महान् दीपक हो कि जिसकी उत्पत्ति केवलज्ञानरूपी अग्निसे होती है ॥२०४॥ पापरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए आप तीक्ष्ण बाण हैं । तथा आप ही ध्यानरूपी अग्निके द्वारा संसाररूपी अटवीका दाह करेंगे ॥२०५॥ हे प्रभो ! आप दुष्ट इन्द्रिय रूप नागोंका दमन करनेके लिए गरुड़के समान उदित हुए हो, तथा आप ही सन्देहरूपी मेघोंको उड़ानेके लिए प्रचण्ड वायुके समान हो ॥२०६॥ हे नाथ ! आप अमृत प्रदान करनेके लिए महामेघ हो इसलिए धर्मरूपी जलकी बूँदोंकी प्राप्तिके लिए तृषातुर भव्य जीवरूपी चातक ऊपरको ओर मुखकर आपको देख रहे हैं ॥२०७॥ हे स्वामिन् ! आपकी अत्यन्त निर्मल कीर्ति तीनों लोकोंके द्वारा गाई जाती है इसलिए आपको नमस्कार हो । हे नाथ ! आप गुणरूपी फूलोंसे सुशोभित तथा मनोवाञ्छित फल प्रदान करनेवाले वृक्ष स्वरूप हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥२०८॥ आप कर्मरूपी काष्ठको विदारण करनेके लिए तीक्ष्ण धारवाली कुठारके समान हैं अतः आपको नमस्कार हो । इसी प्रकार आप मोहरूपी उन्नत पर्वतको भेदनेके लिए वज्रस्वरूप हो इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२०९॥ आप दुःखरूपी अग्निको बुझानेके लिए जलस्वरूप रजके सङ्गमसे रहित आकाश स्वरूप हो अतः आपको नमस्कार हो ॥२१०॥

इस तरह देवोंने विधि-पूर्वक भगवान्की स्तुति की, बार-बार प्रणाम किया और तदनन्तर उन्हें ऐरावत हाथीपर सवारकर अयोध्याकी ओर प्रयाण किया ॥२११॥ अयोध्या आकर इन्द्रने जिन-बालकको इन्द्राणीके हाथसे माताकी गोदमें विराजमान करा दिया, आनन्द नामका उत्कृष्ट नाटक किया और तदनन्तर वह अन्य देवोंके साथ अपने स्थानपर चला गया ॥२१२॥ अथानन्तर

१. लेखः कृत्वा म० । २. तममरै-क० । ३. लिप्तं च म० ।

तुष्टा संवीक्ष्य तनयमङ्कस्थं जननी तदा । निजच्छायापरिष्वङ्गपिञ्जरीकृतदिङ्मुखम् ॥२१४॥
आलिङ्गन्ती मृदुस्पर्शं कौतुकव्याप्तमानसा । दुराख्यानपरावस्थमवतीर्णा सुखार्णवम् ॥२१५॥
अङ्कप्राप्तेन सा तेन रराज प्रमदोत्तमा । नवोदितेन पूर्वाशा बिम्बेन सवितुर्यथा ॥२१६॥
नाभिश्च तत्सुतं दृष्ट्वा दिव्यालङ्कारधारिणम् । त्रैलोक्यैश्वर्यसंयुक्तं मेने स्वं परमद्युतिम् ॥२१७॥
सुतगात्रसमासङ्गसंजातसुखसम्पदः । मीलिताक्षत्रिभागस्य मनोऽस्य द्रवतां गतम् ॥२१८॥
सुरेन्द्रपूजया प्राप्तः प्रधानत्वं जिनो यतः । ततस्तमृषभाभिख्यां निन्यतुः पितरौ सुतम् ॥२१९॥
तयोरन्योन्यसंबद्धं प्रेम यद् वृद्धिमागतम् । तज्जातमधुना बाले पूर्ववच्च तयोरपि ॥२२०॥
कराङ्गुष्ठे ततो न्यस्तममृतं वज्रपाणिना । पिबन् क्रमेण संप्राप देहस्योप[1]चयं जिनः ॥२२१॥
ततः कुमारकैर्युक्तो वयस्यैरिन्द्रनोदितैः । अनवद्यां चकारासौ क्रीडां पित्रोः सु[2]खावहाम् ॥२२२॥
आसनं शयनं यानं भोजनं वसनानि च । चारणादिकमन्यच्च सकलं तस्य शक्रजम् ॥२२३॥
कनीयसैव कालेन परां वृद्धिमवाप सः । मेरुभित्तिसमाकारं बिभ्रद्वक्षः समुन्नतम् ॥२२४॥
आशास्तम्बेरमालानस्तम्भसस्थानतां गतौ । बाहू तस्य समस्तस्य जगतः कल्पपादपौ ॥२२५॥
ऊरुदण्डद्वयं दध्रे स्वकान्तिकृतचर्चनम् । त्रैलोक्यगृहधृत्यर्थं स्तम्भद्वयसमुच्छ्रितम् ॥२२६॥

दिव्य वस्त्रों और अलंकारोंसे अलंकृत, तथा उत्कृष्ट सुगन्धिके कारण नासिकाको हरण करनेवाले विलेपनसे लिप्त एवं अपनी कान्तिके सम्पर्कसे दिशाओंके अग्रभागको पीला करनेवाले अङ्कस्थ पुत्रको देखकर उस समय माता मरुदेवी बहुत ही संतुष्ट हो रही थीं ॥२१३–२१४॥ जिसका हृदय कौतुकसे भर रहा था ऐसी मरुदेवी कोमल स्पर्शवाले पुत्रका आलिङ्गन करती हुई वर्णनातीत सुख रूपी सागरमें जा उतरी थी ॥२१५॥ वह उत्तम नारी मरुदेवी गोदमें स्थित जिन-बालकसे इस प्रकार सुशोभित हो रही थी जिस प्रकार कि नवीन उदित सूर्यके बिम्बसे पूर्व दिशा सुशोभित होती है ॥२१६॥ नाभिराजने दिव्य अलंकारोंको धारण करनेवाले एवं उत्कृष्ट कान्तिसे युक्त उस पुत्रको देखकर अपने आपको तीन लोकके ऐश्वर्यसे युक्त माना था ॥२१७॥ पुत्रके शरीरके सम्बन्धसे जिन्हें सुख रूप सम्पदा उत्पन्न हुई है तथा उस सुखका आस्वाद करते समय जिनके नेत्रका तृतीय भाग निमीलित हो रहा है ऐसा नाभिराजका मन उस पुत्रको देखकर द्रवीभूत हो गया था ॥२१८॥ चूँकि वे जिनेन्द्र इन्द्रके द्वारा की हुई पूजासे प्रधानताको प्राप्त हुए थे इसलिए माता-पिताने उनका 'ऋषभ' यह नाम रक्खा ॥२१९॥ माता पिताका जो परस्पर सम्बन्धी प्रेम वृद्धिको प्राप्त हुआ था वह उस समय बालक ऋषभदेवमें केन्द्रित हो गया था ॥२२०॥ इन्द्रने भगवान्‌के हाथके अँगूठेमें जो अमृत निक्षिप्त किया था उसका पान करते हुए वे क्रमशः शरीर सम्बन्धी वृद्धिको प्राप्त हुए थे ॥२२१॥ तदनन्तर, इन्द्रके द्वारा अनुमोदित समान अवस्थावाले देव-कुमारोंसे युक्त होकर भगवान् माता-पिताको सुख पहुँचानेवाली निर्दोष क्रीड़ा करने लगे ॥२२२॥ आसन, शयन, वाहन, भोजन, वस्त्र तथा चारण आदिक जितना भी उनका परिकर था वह सब उन्हें इन्द्रसे प्राप्त होता था ॥२२३॥ वे थोड़े ही समयमें परम वृद्धिको प्राप्त हो गये। उनका वक्षःस्थल मेरु पर्वतकी भित्तिके समान चौड़ा और उन्नत हो गया ॥२२४॥ समस्त संसारके लिए कल्पवृक्षके समान जो उनकी भुजाएँ थीं, वे आशा रूपी दिग्गजोंको बाँधनेके लिए खम्भोंका आकार धारण कर रही थीं ॥२२५॥ उनके दोनों ऊरु-दण्ड अपनी निजकी कान्तिके द्वारा किये हुए लेपनको धारण कर रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो तीन लोक रूपी घरको धारण करनेके लिए दो खम्भे ही खड़े किये गये हों ॥२२६॥ उनके

१. देहस्योपशमं म० । २. सुखावहाः क० ।

द्वयं बभार तद्वक्त्रमन्योन्यस्य विरोधकम् । कान्त्या जितनिशानाथं दीप्त्या च जितभास्करम् ॥२२७॥
करौ तस्यारुणच्छायौ पल्लवादपि कोमलौ । चूर्णीकारे समस्तानां भूभृतामथ च क्षमौ ॥२२८॥
निविडः केशसंघातः स्निग्धोऽत्यन्तं बभूव च । नीलाञ्जनशिलाकारो मूर्ध्नि हेमगिरेरिव ॥२२९॥
धर्मात्मनापि लोकस्य तेन सर्वस्य लोचने । उपमानमतीतेन हृते रूपेण शम्भुना ॥२३०॥
तस्मिन् काले प्रनष्टेषु कल्पवृक्षेष्वशेषतः । अकृष्टपच्यसस्येन मही सर्वा विराजते ॥२३१॥
वाणिज्यव्यवहारेण शिल्पैश्च रहिताः प्रजाः । अभावाद् धर्मसंज्ञायाः पाखण्डैश्च विवर्जिताः ॥२३२॥
आसीदिक्षुरसस्तासामाहारः षड्रसान्वितः । स्वयं छिन्नच्युतः कान्तिवीर्यादिकरणक्षमः ॥२३३॥
सोऽपि कालानुभावेन स्वयं गलति नो यदा । यन्त्रनिष्पीडनज्ञश्च न लोकोऽनुपदेशतः ॥२३४॥
पश्यन्त्योऽपि तदा सस्यं तत्संस्कारविधौ जडाः । क्षुधासंतापिताः सत्यः प्रजा व्याकुलतां गताः ॥२३५॥
ततः शरणमीयुस्ता नाभिं संघातमागताः । ऊचुश्चेति वचः स्तुत्वा प्रणम्य च महार्तयः ॥२३६॥
नाथ याताः समस्तास्ते प्रक्षयं कल्पपादपाः । क्षुधा संतापितानस्मांस्त्रायस्व शरणागतान् ॥२३७॥
भूमिजं फलसंपन्नं किमप्येतच्च दृश्यते । विधिमस्य न जानीमः संस्कारे भक्षणोचितम् ॥२३८॥
स्वच्छन्दचारिणामेतद्गोकुलानां स्तनान्तरात् । क्षरद्भक्ष्यमभक्ष्यं किं कथं चेति वद प्रभो ॥२३९॥

मुखने कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया था और तेजने सूर्यको परास्त कर दिया था इस तरह वह परस्परके विरोधी दो पदार्थों—चन्द्रमा और सूर्यको धारण कर रहा था ॥२२७॥ यद्यपि लाल-लाल कान्तिके धारक उनके दोनों हाथ पल्लवसे भी अधिक कोमल थे तथापि वे समस्त पर्वतोंको चूर्ण करनेमें (पक्षमें समस्त राजाओंका पराजय करनेमें) समर्थ थे ॥२२८॥ उनके केशोंका समूह अत्यन्त सघन तथा सचिक्कण था और ऐसा जान पड़ता था मानो मेरु पर्वतके शिखरपर नीलाञ्जनकी शिला ही रक्खी हो ॥२२९॥ यद्यपि वे भगवान् धर्मात्मा थे—हरण आदिको अधर्म मानते थे तथापि उन्होंने अपने अनुपम रूपसे समस्त लोगोंके नेत्र हरण कर लिये थे। भावार्थ—भगवान्‌का रूप सर्वजननयनाभिराम था ॥२३०॥ उस समय कल्पवृक्ष पूर्णरूपसे नष्ट हो चुके थे इसलिए समस्त पृथिवी अकृष्टपच्य अर्थात् बिना जोते बिना बोये ही अपने आप उत्पन्न होनेवाली धान्यसे सुशोभित हो रही थी ॥२३१॥ उस समयकी प्रजा वाणिज्य—लेन देनका व्यवहार तथा शिल्पसे रहित थी और धर्मका तो नाम भी नहीं था इसलिए पाखण्डसे भी रहित थी ॥२३२॥ जो छह रसोंसे सहित था, स्वयं ही कटकर शाखासे झड़ने लगता था और बल वीर्य आदिके करनेमें समर्थ था ऐसा इक्षुरस ही उस समयकी प्रजाका आहार था ॥२३३॥ पहले तो वह इक्षुरस अपने आप निकलता था पर कालके प्रभावसे अब उसका स्वयं निकलना बन्द हो गया और लोग बिना कुछ बताये यन्त्रोंके द्वारा ईखको पेलनेकी विधि जानते नहीं थे ॥२३४॥ इसी प्रकार सामने खड़ी हुई धानको लोग देख रहे थे पर उसके संस्कारकी विधि नहीं जानते थे इसलिए भूखसे पीड़ित होकर अत्यन्त व्याकुल हो उठे ॥२३५॥ तदनन्तर बहुत भारी पीड़ासे युक्त वे लोग इकट्ठे होकर नाभिराजकी शरणमें पहुँचे और स्तुति तथा प्रणामकर निम्नलिखित वचन कहने लगे ॥२३६॥ हे नाथ ! जिनसे हमारा भरण-पोषण होता था वे कल्पवृक्ष अब सबके सब नष्ट हो गये हैं इसलिए भूखसे संतप्त होकर आपकी शरणमें आये हुए हम सब लोगोंकी आप रक्षा कीजिए ॥२३७॥ पृथिवीपर उत्पन्न हुई यह कोई वस्तु फलोंसे युक्त दिखाई दे रही है, यह वस्तु संस्कार किये जानेपर खानेके योग्य हो सकती है पर हम लोग इसकी विधि नहीं जानते हैं ॥२३८॥ स्वच्छन्द विचरनेवाली गायोंके स्तनोंके भीतरसे यह कुछ पदार्थ निकल रहा है सो

१. पराजये । २. पश्यन्तोपि म० । ३. सद्यः म० ।

व्याघ्रसिंहादयः पूर्वं क्रीडास्वालिङ्गनोचिताः । अधुना त्रासयन्त्येते प्रजाः कलहतत्पराः ॥२४०॥
मनोहराणि दिव्यानि स्थलानि जलजानि च । दृश्यन्ते न तु जानीमः सुखमेभिर्यथा भवेत् ॥२४१॥
अतः संस्करणोपायमेतेषां वद देव नः । यतः सुखेन जीवामस्त्वत्प्रसादेन रक्षिताः ॥२४२॥
एवमुक्तः प्रजाभिः स[1] नाभिः कारुण्यसंगतः । जगाद वचनं धीरो वृत्तेर्दर्शनकारणम् ॥२४३॥
उत्पत्तिसमये यस्य रत्नवृष्टिरभूच्चिरम् । आगमश्च सुरेन्द्राणां लोकक्षोभनकारणम् ॥२४४॥
महातिशयसंपन्नं तमुपेत्य समं वयम् । ऋषभं परिपृच्छामः कारणं जीवनप्रदम् ॥२४५॥
तस्य देवस्य लोकेऽस्मिन् सदृशो नास्ति मानवः । सर्वेषां तमसामन्ते तस्यात्मा संप्रतिष्ठितः ॥२४६॥
इत्युक्तास्तेन[2] ताः साकं नाभेयस्यान्तिकं गताः । दृष्ट्वा च पितरं देवो विधिं चक्रे यथोचितम् ॥२४७॥
उपविष्टस्ततो नाभिर्नाभेयश्च यथासनम् । अथैनं स्तोतुमारब्धाः प्रजाः प्रणतिपूर्वकम् ॥२४८॥
लोकं सर्वमतिक्रम्य तेजसा ज्वलितं वपुः । सर्वलक्षणसंपूर्णं तवैतन्नाथ शोभते ॥२४९॥
गुणैस्तव जगत्सर्वं व्याप्तमत्यन्तनिर्मलैः । प्रह्लादकरणोद्युक्तैः शशाङ्ककिरणैरिव ॥२५०॥
वयं प्रभुं समायाताः पितरं तव[3] कार्थिनः । गुणान् ज्ञानसमुद्भूतान् स चैष तव भाषते ॥२५१॥
स त्वं कोऽपि महासत्त्वो महात्मातिशयान्वितः । एवंविधोऽपि यं गत्वा निश्चयार्थं निषेवते ॥२५२॥
स त्वमेवंविधो भूत्वा रक्ष नः क्षुत्पीडितान् । उपायस्योपदेशेन सिंहादिभयतस्तथा ॥२५३॥

वह भक्ष्य है या अभक्ष्य है ? हे स्वामिन् ! यह बतलाईये ॥२३९॥ ये सिंह व्याघ्र आदि जन्तु पहले क्रीड़ाओंके समय आलिङ्गन करने योग्य होते थे पर अब ये कलहमें तत्पर होकर प्रजाको भयभीत करने लगे हैं ॥२४०॥ और ये आकाश, स्थल तथा जलमें उत्पन्न हुए कितने ही महा-मनोहर पदार्थ दिख रहे हैं सो इनसे हमें सुख किस तरह होगा यह हम नहीं जानते हैं ॥२४१॥ इसलिए हे देव ! हम लोगोंको इनके संस्कार करनेका उपाय बतलाइये जिससे कि प्रसादसे सुरक्षित होकर हम लोग सुखसे जीवित रह सकें ॥२४२॥ प्रजाके ऐसा कहनेपर नाभिराजाका हृदय दयासे भर गया और वे आजीविकाके उपाय दिखलानेके लिए धीरताके साथ निम्न प्रकार वचन कहने लगे ॥२४३॥ जिनकी उत्पत्तिके समय चिर काल तक रत्न-वृष्टि हुई थी और लोकमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला देवोंका आगमन हुआ था ॥२४४॥ महान् अतिशयोंसे सम्पन्न ऋषभदेवके पास चलकर हम लोग उनसे आजीविकाके कारण पूछें ॥२४५॥ इस संसारमें उनके समान कोई मनुष्य नहीं है । उनकी आत्मा सर्व प्रकारके अज्ञानरूपी अन्धकारोंसे परे है ॥२४६॥ नाभिराजाने जब प्रजासे उक्त वचन कहे तो वह उन्हींको साथ लेकर ऋषभनाथ भगवान्के पास गई । भगवान्ने पिताको देखकर उनका यथा योग्य सत्कार किया ॥२४७॥ तदनन्तर नाभिराजा और भगवान् ऋषभदेव जब अपने-अपने योग्य आसनोंपर आरूढ़ हो गये तब प्रजाके लोग नमस्कार कर भगवान्की इस प्रकार स्तुति करनेके लिए तत्पर हुए ॥२४८॥ हे नाथ ! समस्त लक्षणोंसे भरा हुआ आपका यह शरीर तेजके द्वारा समस्त जगत्को आक्रान्त कर देदीप्यमान हो रहा है ॥२४९॥ चन्द्रमाकी किरणोंके समान आनन्द उत्पन्न करनेवाले आपके अत्यन्त निर्मल गुणोंसे समस्त संसार व्याप्त हो रहा है ॥२५०॥ हम लोग कार्य लेकर आपके पिताके पास आये थे परन्तु ये ज्ञानसे उत्पन्न हुए आपके गुणोंका बखान करते हैं ॥२५१॥ जब कि ऐसे विद्वान् महाराज नाभिराज भी आपके पास आकर पदार्थका निश्चय कर देते हैं तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आप अतिशयोंसे सुशोभित, धैर्यको धारण करनेवाले कोई अनुपम महात्मा हैं ॥२५२॥ इसलिए आप, भूखसे पीड़ित हुए हम लोगोंकी रक्षा कीजिये तथा सिंह आदि दुष्ट जन्तुओंसे जो भय हो रहा है उसका भी उपाय बतलाइये ॥२५३॥

---

१. सन्नाभिः क०, म० । २. -स्तेन साकं ते म० । ३. तत्र म० ।

ततः कृपासमासक्तहृदयो नाभिनन्दनः । शशास चरण[1]प्राप्ता बद्धाञ्जलिपुटाः प्रजाः ॥२५४॥
शिल्पानां शतमुद्दिष्टं नगराणां च कल्पनम् । ग्रामादिसन्निवेशाश्च तथा वेश्मादिकारणम् ॥२५५॥
[2]क्षतत्राणे नियुक्ता ये तेन नाथेन मानवाः । क्षत्रिया इति ते लोके प्रसिद्धिं गुणतो गताः ॥२५६॥
वाणिज्यकृषिगोरक्षाप्रभृतौ ये निवेशिताः । व्यापारे वैश्यशब्देन ते लोके परिकीर्तिताः ॥२५७॥
ये तु श्रुताद्[3] द्रुतिं प्राप्ता नीचकर्मविधायिनः । शूद्रसंज्ञामवापुस्ते भेदैः प्रेष्यादिभिस्तथा ॥२५८॥
युगं तेन कृतं यस्मादित्थमेतत्सुखावहम् । तस्मात्कृतयुगं प्रोक्तं प्रजाभिः प्राप्तसंपदम्[4] ॥२५९॥
नाभेयस्य सुनन्दाऽभून्नन्दा च वनिताद्वयम् । भरताद्या उत्पन्नास्तयोः पुत्रा महौजसः ॥२६०॥
शतेन तस्य पुत्राणां गुणसम्बन्धचारुणा । अभूदलंकृता क्षोणी नित्यप्राप्तसमुत्सवा ॥२६१॥
तस्यानुपममैश्वर्यं भुञ्जानस्य जगद्गुरोः । प्रयातः सुमहान् कालो नाभेयस्यामितत्विषः ॥२६२॥
अथ नीलाञ्जनाख्यायां[5] नृत्यन्त्यां सुरयोषिति । इयं तस्य समुत्पन्ना बुद्धिर्वैराग्यकारणम् ॥२६३॥
अहो जना विडम्ब्यन्ते परतोषण[6]चेष्टितैः । उन्मत्तचरिताकारैः स्ववपुःखेदकारणैः ॥२६४॥
अत्र कश्चित् पराधीनो लोके भृत्यत्वमागतः । आज्ञां ददाति कश्चिच्च तस्मै गर्वस्खलद्वचाः ॥२६५॥
एवं धिगस्तु संसारं यस्मिन्नुत्पाद्यते परैः । दुःखमेव सुखाभिख्यां नीतं संमूढमानसैः ॥२६६॥
तस्मादिदं परित्यज्य कृत्रिमं क्षयवत्सुखम् । सिद्ध[7]सौख्यसमावाप्त्यै करोम्याशु विचेष्टितम् ॥२६७॥
यावदेवं मनस्तस्य प्रवृत्तं शुभचिन्तने । तावल्लौकान्तिकैर्देवैरिदमागत्य भाषितम् ॥२६८॥

तदनन्तर—जिनका हृदय दयासे युक्त था ऐसे भगवान् वृषभदेव हाथ जोड़कर चरणोंमें पड़ी हुई प्रजाको उपदेश देने लगे ॥२५४॥ उन्होंने प्रजाको सैकड़ों प्रकारकी शिल्पकलाओंका उपदेश दिया। नगरोंका विभाग, ग्राम आदिका बसाना, और मकान आदिके बनानेकी कला प्रजाको सिखाई ॥२५५॥ भगवान्‌ने जिन पुरुषोंको विपत्तिग्रस्त मनुष्योंकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया था वे अपने गुणोंके कारण लोकमें 'क्षत्रिय' इस नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए ॥२५६॥ वाणिज्य, खेती, गोरक्षा आदिके व्यापारमें जो लगाये गये थे वे लोकमें वैश्य कहलाये ॥२५७॥ जो नीच कार्य करते थे तथा शास्त्रसे दूर भागते थे उन्हें शूद्र संज्ञा प्राप्त हुई। इनके प्रेष्य दास आदि अनेक भेद थे ॥२५८॥ इस प्रकार सुखको प्राप्त करानेवाला वह युग भगवान् ऋषभदेवके द्वारा किया गया था तथा उसमें सब प्रकारकी सम्पदाएँ सुलभ थीं इसलिए प्रजा उसे कृतयुग कहने लगी थी ॥२५९॥ भगवान् ऋषभदेवके सुनन्दा और नन्दा नामकी दो स्त्रियाँ थीं। उनसे उनके भरत आदि महाप्रतापी पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥२६०॥ भरत आदि सौ भाई थे तथा गुणोंके सम्बन्धसे अत्यन्त सुन्दर थे इसलिए यह पृथ्वी उनसे अलंकृत हुई थी तथा निरन्तर ही अनेक उत्सव प्राप्त करती रहती थी ॥२६१॥ अपरिमित कान्तिको धारण करनेवाले जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेवको अनुपम ऐश्वर्यका उपभोग करते हुए जब बहुत भारी काल व्यतीत हो गया ॥२६२॥ तब एक दिन नीलाञ्जना नामक देवीके नृत्य करते समय उन्हें वैराग्यकी उत्पत्तिमें कारणभूत निम्न प्रकार की बुद्धि उत्पन्न हुई ॥२६३॥ वे विचारने लगे कि अहो! संसारके ये प्राणी दूसरोंको सन्तुष्ट करनेवाले कार्योंसे विडम्बना प्राप्त कर रहे हैं। प्राणियोंके ये कार्य पागलोंकी चेष्टाके समान हैं तथा अपने शरीरको खेद उत्पन्न करनेके लिए कारणस्वरूप हैं ॥२६४॥ संसारकी विचित्रता देखो, यहाँ कोई तो पराधीन होकर दासवृत्तिको प्राप्त होता है और कोई गर्वसे स्खलित वचन होता हुआ उसे आज्ञा प्रदान करता है ॥२६५॥ इस संसारको धिक्कार हो कि जिसमें मोही जीव दुःखको ही, सुख समझकर, उत्पन्न करते हैं ॥२६६॥ इसलिए मैं तो इस विनाशीक तथा कृत्रिम सुखको छोड़कर सिद्ध जीवोंका सुख प्राप्त करनेके लिए शीघ्र ही प्रयत्न करता हूँ ॥२६७॥ इस

१. शरणं प्राप्ता क० । २. क्षतित्राणे म० । ३. श्रुता ख० । श्रुत्वा द्रुतिं म० । ४. प्राप्तसम्मदम् म० । ५. नीलाञ्जसा- म०, ख० । ६. परितापक म० । ७. सिद्धि ख० ।

साधु नाथावबुद्धं ते त्रैलोक्य[1]हितकारणम् । विच्छिन्नस्य महाकालो मोक्षमार्गस्य वर्तते ॥२६९॥
एते विपरिवर्तन्ते भवदुःखमहार्णवे । उपदेशस्य दातारमन्तरेणासुधारिणः ॥२७०॥
व्रजन्तु साम्प्रतं जीवा देशितेन पथा[2] त्वया । युक्तमक्षयसौख्येन लोकाग्रेऽवस्थितं पदम् ॥२७१॥
इति तस्य प्रबुद्धस्य स्वयमेव महात्मनः । सुरैरुदाहृता वाचः प्रयाताः पुनरुक्तताम् ॥२७२॥
इति निष्क्रमणे तेन चिन्तिते तदनन्तरम् । आगताः पूर्ववद्देवाः पुरन्दरपुरस्सराः ॥२७३॥
आगत्य च सुरैः सर्वैः स्तुतः प्रणतिपूर्वकम् । चिन्तितं साधु नाथेति भाषितं च पुनः पुनः ॥२७४॥
[3]ततो रत्नप्रभाजालजटिलीकृतदिङ्मुखाम् । चन्द्रांशुनिकराकारप्रचलच्चारुचामराम् ॥२७५॥
पूर्णचन्द्रनिभादर्शकृतशोभां सबुद्बुदाम् । अर्द्धचन्द्रकसंयुक्तामंशुकध्वजभूषिताम् ॥२७६॥
दिव्यस्रग्भिः कृतामोदां मुक्ताहारविराजिताम् । सुदर्शनां विमानाभां किङ्किणीभिः कृतस्वनाम् ॥२७७॥
सुरनाथार्पितस्कन्धां देवशिल्पिविनिर्मिताम् । आरुह्य शिविकां नाथो निर्जगाम निजालयात् ॥२७८॥
ततः शब्देन तूर्याणां नृत्यतां च दिवौकसाम् । त्रिलोकविवरापूरश्चक्रे प्रतिनिनादिना ॥२७९॥
ततोऽत्यन्तमहाभूत्या भक्त्या देवैः समन्वितः । तिलकाह्वयमुद्यानं संप्राप जिनपुङ्गवः ॥२८०॥
प्रजाग इति देशोऽसौ प्रजाभ्योऽस्मिन् गतो यतः । प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः ॥२८१॥
आपृच्छनं ततः कृत्वा पित्रोर्बन्धुजनस्य च । नमः सिद्धेभ्य इत्युक्त्वा श्रामण्यं प्रत्यपद्यत[4] ॥२८२॥

तरह यहाँ भगवान्‌का चित्त शुभ विचारमें लगा हुआ था कि वहाँ उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर निम्नप्रकार निवेदन करना प्रारम्भ कर दिया ॥२६८॥ वे कहने लगे कि हे नाथ ! आपने जो तीन लोकके जीवोंका हित करनेका विचार किया है सो बहुत ही उत्तम बात है। इस समय मोक्षका मार्ग बन्द हुए बहुत समय हो गया है ॥२६९॥ ये प्राणी उपदेश-दाताके विना संसाररूपी महासागरमें गोता लगा रहे हैं ॥२७०॥ इस समय प्राणी आपके द्वारा बतलाये हुए मार्गसे चलकर अविनाशी सुखसे युक्त तथा लोकके अग्रभागमें स्थित मुक्त जीवोंके पदको प्राप्त हों ॥२७१॥ इस प्रकार देवोंके द्वारा कहे हुए वचन स्वयम्बुद्ध भगवान् आदिनाथके समक्ष पुनरुक्तताको प्राप्त हुए थे ॥२७२॥ ज्योंही भगवान्‌ने गृहत्यागका निश्चय किया त्योंही इन्द्र आदि देव पहलेकी भाँति आ पहुँचे ॥२७३॥ आकर समस्त देवोंने नमस्कारपूर्वक भगवान्‌की स्तुति की और 'हे नाथ ! आपने बहुत अच्छा विचार किया है' यह शब्द बार-बार कहे ॥२७४॥

तदनन्तर, जिसने रत्नोंकी कान्तिके समूहसे दिशाओंके अग्रभागको व्याप्त कर रक्खा था, जिसके दोनों ओर चन्द्रमाकी किरणोंके समूहके समान सुन्दर चमर ढोले जा रहे थे, पूर्ण चन्द्रमाके समान दर्पणसे जिसकी शोभा बढ़ रही थी, जो बुद्बुदके आकार मणिमय गोलकोंसे सहित थी, अर्द्धचन्द्राकारसे सहित थी, पताकाओंके वस्त्रसे सुशोभित थी, दिव्य मालाओंसे सुगन्धित थी, मोतियोंके हारसे विराजमान थी, देखनेमें बहुत सुन्दर थी, विमानके समान जान पड़ती थी, जिसमें लगी हुई छोटी-छोटी घंटियाँ रुन-झुन शब्द कर रही थीं, और इन्द्रने जिसपर अपना कन्धा लगा रक्खा था ऐसी देव रूपी शिल्पियोंके द्वारा निर्मित पालकीपर सवार होकर भगवान् अपने घरसे बाहर निकले ॥२७५-२७८॥ तदनन्तर बजते हुए बाजों और नृत्य करते हुए देवोंके प्रतिध्वनि पूर्ण शब्दसे तीनों लोकोंका अन्तराल भर गया ॥२७९॥ बहुत भारी वैभव और भक्तिसे युक्त देवोंके साथ भगवान् तिलक नामक उद्यानमें पहुँचे ॥२८०॥ भगवान् वृषभदेव प्रजा अर्थात् जन समूहसे दूर हो उस तिलक नामक उद्यानमें पहुँचे थे इसलिए उस स्थानका नाम 'प्रजाग' प्रसिद्ध हो गया अथवा भगवान्‌ने उस स्थानपर बहुत भारी याग अर्थात् त्याग किया था, इसलिए उसका नाम 'प्रयाग' भी प्रसिद्ध हुआ ॥२८१॥ वहाँ पहुँचकर भगवान्‌ने माता पिता तथा बन्धुजनोंसे दीक्षा लेनेकी आज्ञा ली और फिर 'नमः सिद्धेभ्यः'—सिद्धोंके लिए

१. त्रैलोक्ये म० । २. यथा म० । ३. तारत्न- ख० । ४. प्रतिपद्यत म० ।

अलंकारैः समं त्यक्त्वा वसनानि महामुनिः । चकारासौ परित्यागं केशानां पञ्चमुष्टिभिः ॥२८३॥
ततो र[1]त्नपुटे केशान् प्रतिपद्य सुराधिपः । चिक्षेप मस्तके कृत्वा [2]क्षीराकूपारवारिणि ॥२८४॥
महिमानं ततः कृत्वा जिनदीक्षानिमित्तकम् । यथा यातं सुरा जग्मुर्मनुष्याश्च विचेतसः ॥२८५॥
सहस्राणि च चत्वारि नृपाणां स्वामिभक्तितः । तदाकूतमजानन्ति प्रपिपन्नानि नग्नताम् ॥२८६॥
ततो वर्षार्द्धमात्रं स कायोत्सर्गेण निश्चलः । धराधरेन्द्रवत्तस्थौ कृतेन्द्रियसमस्थितिः ॥२८७॥
वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः । धूमाल्य इव सद्ध्यानवह्निसं[3]क्तस्य कर्मणः ॥२८८॥
ततः षडपि नो यावन्मासा गच्छन्ति भूभृताम् । भग्नस्तावदसौ सङ्घः परीषहमहाभटैः ॥२८९॥
केचिन्निपतिता भूमौ दुःखानिलसमाहताः । केचित् सरसवीर्यत्वादुपविष्टा महीतले ॥२९०॥
कायोत्सर्गं परित्यज्य गताः केचित् फलाशनम् । संतप्तमूर्तयः केचित् प्रविष्टाः शीतलं जलम् ॥२९१॥
केचिन्नागा [4]इवोद्वृत्ता विविशुर्गिरिगह्वरम् । परावृत्य मनः केचित् प्रारब्धा जिनमीक्षितुम् ॥२९२॥
मानी तत्र मरीचिस्तु दधत्काषायवाससी । परि[5]व्राडासनं चक्रे वल्किभिः प्रत्यवस्थितः ॥२९३॥
ततः फलादिकं तेषां नग्नरूपेण गृह्णताम् । विचेरुर्गगने वाचोऽदर्शनानां सुधाभुजाम् ॥२९४॥
अनेन नग्नरूपेण न वर्तत इदं नृपाः । समाचरितुमत्यर्थं दुःखहेतुरयं हि वः ॥२९५॥
ततः परिदधुः केचित् पत्राण्यन्ये तु वल्कलम् । चर्माणि केचिदन्ये तु वासः प्रथममुज्झितम् ॥२९६॥

नमस्कार हो यह कह दीक्षा धारण कर ली ॥२८२॥ महामुनि वृषभदेवने सब अलंकारोंके साथ ही साथ वस्त्रोंका भी त्याग कर दिया और पञ्चमुष्टियोंके द्वारा केश उखाड़कर फेंक दिये ॥२८३॥ इन्द्रने उन केशोंको रत्नमयी पिटारेमें रख लिया और तदनन्तर मस्तकपर रखकर उन्हें क्षीर-सागरमें क्षेप आया ॥२८४॥ समस्त देव दीक्षाकल्याणक सम्बन्धी उत्सवकर जिस प्रकार आये थे उसी प्रकार चले गये, साथ ही मनुष्य भी अपना हृदय हराकर यथास्थान चले गये ॥२८५॥ उस समय चार हजार राजाओंने जो कि भगवान्‌के अभिप्रायको नहीं समझ सके थे केवल स्वामि-भक्तिसे प्रेरित होकर नग्न अवस्थाको प्राप्त हुए थे ॥२८६॥ तदनन्तर इन्द्रियोंकी समान अवस्था धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव छहमाह तक कायोत्सर्गसे सुमेरु पर्वतके समान निश्चय खड़े रहे ॥२८७॥ हवासे उड़ी हुई उनकी अस्त-व्यस्त जटाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो समीचीन ध्यान रूपी अग्निसे जलते हुए कर्मके धूमकी पंक्तियाँ ही हो ॥२८८॥ तदनन्तर छह माह भी नहीं हो पाये थे कि साथ-साथ दीक्षा लेनेवाले राजाओंका समूह परीषहरूपी महा योद्धाओंके द्वारा परास्त हो गया ॥२८९॥ उनमेंसे कितने ही राजा दुःख रूपी वायुसे ताड़ित होकर पृथिवी पर गिर गये और कितने ही कुछ सबल शक्तिके धारक होनेसे पृथिवीपर बैठ गये ॥२९०॥ कितने ही भूखसे पीड़ित हो कायोत्सर्ग छोड़कर फल खाने लगे। कितने ही संतप्त शरीर होनेके कारण शीतल जलमें जा घुसे ॥२९१॥ कितने ही चारित्रका बन्धन तोड़ उन्मत्त हाथियोंकी तरह पहाड़ोंकी गुफाओंमें घुसने लगे और कितने ही फिरसे मनको लौटाकर जिनेन्द्रदेवके दर्शन करनेके लिए उद्यत हुए ॥२९२॥ उन सब राजाओंमें भरतका पुत्र मरीचि बहुत अहंकारी था इसलिए वह गेरुआ वस्त्र धारणकर परिव्राजक बन गया तथा वल्कलोंको धारण करनेवाले कितने ही लोग उसके साथ हो गये ॥२९३॥ वे राजा लोग नग्नरूप में ही फलादिक ग्रहण करनेके लिए जब उद्यत हुए तब अदृश्य देवताओंके निम्नांकित वचन आकाशमें प्रकट हुए। हे राजाओ! तुम लोग नग्नवेषमें रहकर यह कार्य न करो क्योंकि ऐसा करना तुम्हारे लिए अत्यन्त दुःखका कारण होगा ॥२९४–२९५॥ देवताओंके वचन सुनकर कितने ही लोगोंने वृक्षोंके पत्ते

१. रत्नपटे म०, क०। २. क्षीरकूपार-म०। ३. शक्तस्य म०, ख०, शक्तिस्य (?) म०। ४. इवोद्धता म०। ५. परिव्राट् शासनं म०।

लज्जिताः स्वेन रूपेण केचित्तु कुशचीवरम् । [1]प्राप्तामीभिस्ततस्तृप्तिः फलैः शीतजलेन च ॥२९७॥
संभूय ते ततो भग्ना दुर्दशाचारवर्तिनः । विश्रब्धाः कर्तुमारब्धा दूरं [2]गत्वा प्रधारणम् ॥२९८॥
तेषां केनचिदित्युक्तास्ततो भूपेन ते नृपाः । [3]एतेन कथितं किञ्चित्कस्मैचिद्भवतामिति ॥२९९॥
नैतेन कथितं किञ्चिदस्मभ्यमिति ते ध्रुवम् । ततोऽन्येनोदितं वाक्यमिति भोगाभिलाषिणा ॥३००॥
उत्तिष्ठत निजान् देशान् व्रजामोऽत्र स्थितेन किम् । प्राप्नुमः पुत्रदारादिवक्त्रालोकनजं सुखम् ॥३०१॥
अपरेणेति तत्रोक्तं व्रजामो विह्वला वयम् । नहि किञ्चिदकर्तव्यं विद्यतेऽस्माकमार्तितः ॥३०२॥
नाथेन तु विनायातान्निरीक्ष्य भरतो रुषा । मारयिष्यति नोऽवश्यं देशान् वापहरिष्यति ॥३०३॥
नाभेयो वा पुनर्यस्मिन् काले राज्यं प्रपत्स्यते । तदास्य दर्शयिष्यामो निस्त्रपाः कथमाननम् ॥३०४॥
तस्मादत्रैव तिष्ठामो भक्षयन्तः फलादिकम् । सेवामस्यैव कुर्वाणा भ्राम्यन्तः सुखमिच्छया ॥३०५॥
प्रतिमास्थस्य तस्याथ नमिश्च विनमिस्तथा । [4]तस्थतुः पादयोर्नत्वा भोगयाचनतत्परौ ॥३०६॥
[5]याचमानौ विदित्वा तावासनस्य प्रकम्पनात् । आयातो धरणो नाम्ना नागराजस्त्वरान्वितः ॥३०७॥
विकृत्य जिनरूपं स ताभ्यां विद्ये वरे ददौ । प्राप्य विद्ये वरे यातौ विजयार्द्धनगे क्षणात् ॥३०८॥
योजनानि दशारुह्य तत्र विद्याभृदालयाः । नानादेशपुराकीर्णाभोगैर्भोगक्षितेः[6] समाः ॥३०९॥

पहिन लिये, कितने ही लोगोंने वृक्षोंके वल्कल धारण कर लिये, कितने ही लोगोंने चमड़ेसे शरीर आच्छादित कर लिया और कितने ही लोगोंने पहले छोड़े हुए वस्त्र ही फिरसे ग्रहण कर लिये ॥२९६॥ अपने नग्न वेषसे लज्जित होकर कितने ही लोगोंने कुशाओंका वस्त्र धारण किया। इस प्रकार पत्र आदि धारण करनेके बाद वे सब फलों तथा शीतल जलसे तृप्तिको प्राप्त हुए ॥२९७॥ तदनन्तर जिनकी बुरी हालत हो रही थी ऐसे भ्रष्ट हुए सब राजा लोग एकत्रित हो दूर जाकर निःशङ्क भावसे परस्परमें सलाह करने लगे ॥२९८॥ उनमेंसे किसी राजाने अन्य राजाओंको सम्बोधित करते हुए कहा कि आप लोगोंमेंसे किसीसे भगवान्ने कुछ कहा था ॥२९९॥ इसके उत्तरमें अन्य राजाओंने कहा कि इन्होंने हम लोगोंमेंसे किसीसे कुछ भी नहीं कहा है। यह सुनकर भोगोंकी अभिलाषा रखनेवाले किसी राजाने कहा कि तो फिर यहाँ रुकनेसे क्या लाभ है ? उठिए, हम लोग अपने-अपने देश चलें और पुत्र तथा स्त्री आदिका मुख देखनेसे उत्पन्न हुआ सुख प्राप्त करें ॥३००–३०१॥ उन्हींमेंसे किसीने कहा कि चूँकि हम लोग दुःखी हैं अतः चलनेके लिए तैयार हैं। इस समय ऐसा कोई कार्य नहीं जिसे दुःखके कारण हम कर न सकें परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि हम लोगोंको स्वामीके विना अकेला ही वापिस आया देखकर भरत मारेगा और अवश्य ही हम लोगोंके देश छीन लेगा ॥३०२-३०३॥ अथवा भगवान् ऋषभदेव जब फिरसे राज्य प्राप्त करेंगे—वनवास छोड़कर पुनः राज्य करने लगेंगे तब हम लोग निर्लज्ज होकर इन्हें मुख कैसे दिखावेंगे ? ॥३०४॥ इसलिए हम लोग फलादिका भक्षण करते हुए यहीं पर रहें और इच्छानुसार सुखपूर्वक भ्रमण करते हुए इन्हींकी सेवा करते रहें ॥३०५॥

अथानन्तर—भगवान् ऋषभदेव प्रतिमायोगसे विराजमान थे कि भोगोंकी याचना करनेमें तत्पर नमि और विनमि उनके चरणोंमें नमस्कार कर वहीं पर खड़े हो गये ॥३०६॥ उसी समय आसनके कम्पायमान होनेसे नागकुमारोंके अधिपति धरणेन्द्रने यह जान लिया कि नमि और विनमि भगवान्से याचना कर रहे हैं। यह जानते ही वह शीघ्रतासे वहाँ आ पहुँचा ॥३०७॥ धरणेन्द्रने विक्रियासे भगवान्का रूप धरकर नमि और विनमिके लिए दो उत्कृष्ट विद्याएँ दीं। उन विद्याओंको पाकर वे दोनों उसी समय विजयार्द्ध पर्वतपर चले गये ॥३०८॥ समान भूमि-

१. प्राप्यामीभिः म० । २. कृत्वा म० । ३. भगवता । ४. तस्थुतः म० । ५. याच्यमानौ म०, क० । ६. -क्षितैः म० ।

उपर्यथ समारुह्य योजनानि पुनर्दश । गन्धर्वकिन्नरादीनां नगराणि सहस्रशः ॥३१०॥
अतोऽपि समतिक्रम्य पञ्चयोजनमन्तरम् । अर्हद्भवनसंछन्नो भाति नन्दीश्वराद्रिवत् ॥३११॥
भवनेष्वर्हतां तेषु स्वाध्यायगतचेतसः । मुनयश्चारणा नित्यं तिष्ठन्ति परमौजसः ॥३१२॥
दक्षिणे विजयार्द्धस्य भागे पञ्चाशदाहिताः । रथनूपुरसंध्याभ्रप्रभृतीनां पुरां ततः ॥३१३॥
उत्तरेण तथा षष्टिर्नगराणां निवेशिता । आकाशवल्लभादीनि यानि नामानि बिभ्रति ॥३१४॥
देशग्रामसमाकीर्णं [१ मटम्बाकारसंकुलम् । सखेटकर्वटाटोपं तत्रैकैकं पुरोत्तमम् ॥३१५॥
उदारगोपुराट्टालं हेमप्राकारतोरणम् । वाप्युद्यानसमाकीर्णं] स्वर्गभोगोत्सवप्रदम् ॥३१६॥
अकृष्टसर्वसस्याढ्यं सर्वपुष्पफलद्रुमम् । सर्वौषधिसमाकीर्णं सर्वकामप्रसाधनम् ॥३१७॥
भोगभूमिसमं शश्वद् राजते यत्र भूतलम् । मधुक्षीरघृतादीनि वहन्ते तत्र निर्झराः ॥३१८॥
सरांसि पद्मयुक्तानि हंसादिकलितानि च । मणिकाञ्चनसोपानाः स्वच्छमिष्टमधूदकाः ॥३१९॥
सरोरुहरजश्छन्ना विरेजुस्तत्र दीर्घिकाः । सवत्सकामधेनूनां सम्पूर्णेन्दुसमत्विषाम् ॥३२०॥
सुवर्णखुरशृङ्गाणां संघाः शालासु तत्र च । [२ नेत्रानन्दकरीणां च वसन्ति यत्र धेनवः] ॥३२१॥
यासां वर्चश्च मूत्रं च शुभगन्धं तु रुक्कवत्[३] । कान्तिवीर्यप्रदं तासां पयः केनोपमीयते ॥३२२॥
नीलनीरजवर्णानां तथा पद्मसमत्विषाम् । महिषीणां सपुत्राणां सर्वासामत्र पङ्क्तयः ॥३२३॥

तलसे दश योजन ऊपर चलकर विजयार्ध पर्वतपर विद्याधरोंके निवास स्थान बने हुए हैं। उनके वे निवास-स्थान नाना देश और नगरोंसे व्याप्त हैं तथा भोगोंसे भोगभूमिके समान जान पड़ते हैं ॥३०९॥ विद्याधरोंके निवास-स्थानसे दश योजन ऊपर चलकर गन्धर्व और किन्नर देवोंके हजारों नगर बसे हुए हैं ॥३१०॥ वहाँ से पाँच योजन और ऊपर चलकर वह पर्वत अर्हन्त भगवानके मन्दिरोंसे आच्छादित है तथा नन्दीश्वर द्वीपके पर्वतके समान जान पड़ता है ॥३११॥ अर्हन्त भगवान्के उन मन्दिरोंमें स्वाध्यायके प्रेमी, चारणऋद्धिके धारक परम तेजस्वी मुनिराज निरन्तर विद्यमान रहते हैं ॥३१२॥ उस विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीपर रथनूपुर तथा संध्याभ्रको आदि लेकर पचास नगरियाँ हैं और उत्तर श्रेणीपर गगनवल्लभ आदि साठ नगरियाँ हैं ॥३१३-३१४॥ ये प्रत्येक नगरियाँ एकसे एक बढ़कर हैं, नाना देशों और गावोंसे व्याप्त हैं, मटम्बोंसे संकीर्ण हैं, खेट और कर्वटोंके विस्तारसे युक्त हैं ॥३१५॥ बड़े-बड़े गोपुरों और अट्टालिकाओंसे विभूषित हैं, सुवर्णमय कोटों और तोरणोंसे अलंकृत हैं, वापिकाओं और बगीचोंसे व्याप्त हैं, स्वर्ग सम्बन्धी भोगोंका उत्सव प्रदान करनेवाली हैं, बिना जोते ही उत्पन्न होनेवाली सर्व प्रकारके फलोंके वृक्षोंसे सहित हैं, सर्व प्रकारकी औषधियोंसे आकीर्ण हैं, और सबके मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली हैं ॥३१६-३१७॥ उनका पृथिवीतल हमेशा भोगभूमिके समान सुशोभित रहता है, वहाँके निर्झर सदा मधु, दूध, घी आदि रसोंको बहाते हैं, वहाँके सरोवर कमलोंसे युक्त तथा हंस आदि पक्षियोंसे विभूषित हैं। वहाँकी वापिकाओंकी सीढ़ियाँ मणियों तथा सुवर्णसे निर्मित हैं, उनमें मधुके समान स्वच्छ और मीठा पानी भरा रहता है, तथा वे स्वयं कमलोंकी परागसे आच्छादित रहती हैं। वहाँकी शालाओंमें बछड़ोंसे सुशोभित उन कामधेनुओंके झुण्डके झुण्ड बँधे रहते हैं जिनकी कि कान्ति पूर्ण चन्द्रमाके समान है, जिनके खुर और सींग सुवर्णके समान पीले हैं तथा जो नेत्रोंको आनन्द देनेवाली हैं ॥३१८-३२१॥ वहाँ वे गायें रहती हैं जिनका कि गोबर और मूत्र भी सुगन्धिसे युक्त है तथा रसायनके समान कान्ति और वीर्यको देनेवाला है, फिर उनके दूधकी तो उपमा ही किससे दी जा सकती है ? ॥३२२॥ उन नगरियोंमें नील कमलके समान श्यामल तथा कमलके समान

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठः क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति । २. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति । ३. सुगन्धं तु सरुक्कवत् म० ।

धान्यानां पर्वताकाराः पल्यौघाः क्षयवर्जिताः । वाप्युद्यानपरिक्षिप्ताः प्रासादाश्च महाप्रभाः ॥३२४॥
रेणुकण्टकनिर्मुक्ता रथ्यामार्गाः सुखावहाः । महातरुकृतच्छायाः प्रपाः सर्वरसान्विताः ॥३२५॥
मासांश्च चतुरस्तत्र श्रोत्रानन्दकरध्वनिः । देशे काले च पर्जन्यः कुरुतेऽमृतवर्षणम् ॥३२६॥
हिमानिलविनिर्मुक्तो हेमन्तः सुखभागिनाम् । यथेप्सितपरिप्राप्तवाससां साधु वर्तते ॥३२७॥
मृदुतापो निदाघेऽपि शङ्कावानिव भास्करः । नानारत्नप्रभाक्रान्तो बोधकः पद्मसंपदाम् ॥३२८॥
ऋतवोऽन्येऽपि चेतःस्थवस्तुसंप्रापणोचिताः । नीहारादिविनिर्मुक्ताः शोभन्ते निर्मला दिशः ॥३२९॥
न कश्चिदेकदेशोऽपि तस्मिन्नस्ति सुखो न यः। रमन्ते सततं सर्वा भोगभूमिष्विव प्रजाः ॥३३०॥
योषितः सुकुमाराङ्गाः सर्वाभरणभूषिताः । इङ्गितज्ञानकुशलाः कीर्तिश्रीह्रीधृतिप्रभाः ॥३३१॥
काचित्कमलगर्भाभा काचिदिन्दीवरप्रभा । काचिच्छिरीषसंकाशा काचिद्विद्युत्समद्युतिः ॥३३२॥
नन्दनस्येव वातेन निर्मितास्ताः सुगन्धतः । वसन्तादिव संभूताश्चारुपुष्पविभूषणात् ॥३३३॥
चन्द्रकान्तिविनिर्माणशरीरा इव चापराः । कुर्वन्ति सततं रामा निजज्योत्स्नासरस्तराम्[2] ॥३३४॥
त्रिवर्णनेत्रशोभिन्यो गत्या हंसवधूसमाः । पीनस्तन्यः कृशोदर्यः सुरस्त्रीसमविभ्रमाः ॥३३५॥

लाल कान्तिको धारण करनेवाली भैंसोंकी पंक्तियाँ अपने बछड़ोंके साथ सदा विचरती रहती हैं ॥३२३॥ वहाँ पर्वतोंके समान अनाजकी राशियाँ हैं, वहाँकी खत्तियों (अनाज रखनेकी खोड़ियों) का कभी क्षय नहीं होता, वापिकाओं और बगीचोंसे घिरे हुए वहाँके महल बहुत भारी कान्तिको धारण करनेवाले हैं ॥३२४॥ वहाँके मार्ग धूलि और कण्टकसे रहित, सुख उपजानेवाले हैं। जिनपर बड़े-बड़े वृक्षोंकी छाया हो रही है तथा जो सर्वप्रकारके रसोंसे सहित हैं ऐसी वहाँकी प्याऊ हैं ॥३२५॥ जिनकी मधुर आवाज कानोंको आनन्दित करती है ऐसे मेघ वहाँ चार मास तक योग्य देश तथा योग्य कालमें अमृतके समान मधुर जलकी वर्षा करते हैं ॥३२६॥ वहाँकी हेमन्त ऋतु हिममिश्रित शीतल वायुसे रहित होती है तथा इच्छानुसार वस्त्र प्राप्त करनेवाले सुखके उपभोगी मनुष्योंके लिए आनन्ददायी होती है ॥३२७॥ वहाँ ग्रीष्म ऋतुमें भी सूर्य मानो शङ्कित होकर ही मन्द तेजका धारक रहता है और नाना रत्नोंकी प्रभासे युक्त होकर कमलोंको विकसित करता है ॥३२८॥ वहाँ की अन्य ऋतुएँ भी मनोवाञ्छित वस्तुओंको प्राप्त करानेवाली हैं तथा वहाँ की निर्मल दिशाएँ नीहार (कुहरा) आदिसे रहित होकर अत्यन्त सुशोभित रहती हैं ॥३२९॥ वहाँ ऐसा एक भी स्थान नहीं है जो कि सुखसे युक्त न हो। वहाँकी प्रजा सदा भोगभूमिके समान क्रीड़ा करती रहती है ॥३३०॥ वहाँकी स्त्रियाँ अत्यन्त कोमल शरीरको धारण करनेवाली हैं, सब प्रकारके आभूषणोंसे सुशोभित हैं, अभिप्रायके जाननेमें कुशल हैं, कीर्ति, लक्ष्मी, लज्जा, धैर्य और प्रभाको धारण करनेवाली हैं ॥३३१॥ कोई स्त्री कमलके भीतरी भागके समान कान्तिवाली है, कोई नील कमलके समान श्यामल प्रभाकी धारक है, कोई शिरीषके फूलके समान कोमल तथा हरित वर्णकी है और कोई बिजलीके समान पीली कान्तिसे सुशोभित है ॥३३२॥ वे स्त्रियाँ सुगन्धिसे तो ऐसी जान पड़ती हैं मानो नन्दन वनकी वायुसे ही रची गई हों और मनोहर फूलोंके आभरण धारण करनेके कारण ऐसी प्रतिभासित होती हैं मानो वसन्त ऋतुसे ही उत्पन्न हुई हों ॥३३३॥ जिनके शरीर चन्द्रमाकी कान्तिसे बने हुए के समान जान पड़ते थे ऐसी कितनी ही स्त्रियाँ अपनी प्रभा रूपी चाँदनीसे निरन्तर सरोवर भरती रहती थीं ॥३३४॥ वे स्त्रियाँ लाल काले और सफ़ेद इस तरह तीन रङ्गोंको धारण करनेवाले नेत्रोंसे सुशोभित रहती हैं, उनकी चाल हंसियोंके समान है, उनके स्तन अत्यन्त स्थूल हैं, उदर कृश हैं, और उनके हाव-भाव-विलास देवाङ्गनाओंके समान

१. सुखयतीत सुखः । तस्मिन्नस्त्यसुखालयः म० । २. सरस्तरम् म० क० ।

नराश्चन्द्रमुखाः शूराः सिंहोरस्का महाभुजाः । आकाशगमने शक्ताः[1] सुलक्षणगुणक्रियाः ॥३३६॥
न्यायवर्तनसंतुष्टाः स्वर्गवासिसमप्रभाः । विचरन्ति सनारीका यथेष्टं कामरूपिणः ॥३३७॥

शालिनीच्छन्दः

श्रेण्योरेवं रम्ययोस्तत्रितान्तं विद्याजायासंपरिष्वक्तचित्ताः ।
इष्टान् भोगान् भुञ्जते भूमिदेवा धर्मासक्तानन्तरायेण मुक्ताः ॥३३८॥
एवंरूपा धर्मलाभेन सर्वे संप्राप्यन्ते प्राणिनां[2] भोगलाभाः ।
तस्मात्कर्तुं धर्ममेकं यतध्वं भित्वा[3] ध्वान्तं खे[4] रवेस्तुल्यचेष्टाः[5] ॥३३९॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते विद्याधरलोकाभिधानं नाम तृतीयं पर्व ॥३॥

हैं ॥३३५॥ वहाँके मनुष्य भी चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले हैं, शूर वीर हैं, सिंहके समान चौड़े वक्षःस्थलसे युक्त हैं, लम्बी भुजाओंसे विभूषित हैं, आकाशमें चलनेमें समर्थ हैं, उत्तम लक्षण, गुण और क्रियाओंसे सहित हैं ॥३३६॥ न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे सदा सन्तुष्ट रहते हैं, देवोंके समान प्रभाके धारक हैं, कामके समान सुन्दर हैं और इच्छानुसार स्त्रियों सहित जहाँ तहाँ घूमते हैं ॥३३७॥ इस प्रकार जिनका चित्त विद्या रूपी स्त्रियोंमें आसक्त रहता है ऐसे भूमिनिवासी देव अर्थात् विद्याधर, अन्तराय रहित हो विजयार्ध पर्वतकी दोनों मनोहर श्रेणियोंमें धर्मके फल स्वरूप प्राप्त हुए मनोवाञ्छित भोगोंको भोगते रहते हैं ॥३३८॥ इस प्रकारके समस्त भोग प्राणियोंको धर्मके द्वारा ही प्राप्त होते हैं इसलिए हे भव्य जीवो! जिस प्रकार आकाशमें सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है; उसी प्रकार तुम लोग भी अपने अन्तरङ्ग सम्बन्धी अज्ञानान्धकारको नष्टकर एक धर्मको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करो ॥३३९॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध तथा रविषेणाचार्यके द्वारा कहे हुए पद्मचरितमें विद्याधर लोकका वर्णन करनेवाला तीसरा पर्व समाप्त हुआ ॥३॥

---

१. सक्ताः ख। २. प्राणिनो म०, क०। ३. नष्टं ध्वान्तं म०। ४. स्वं म०, क०। ५. तुल्यचेष्टम् म०।

चतुर्थ पर्व

अथासौ भगवान् ध्यानी [1]शातकुम्भप्रभः प्रभुः । हिताय जगते कर्तुं दानधर्मं समुद्यतः ॥१॥
निःशेषदोषनिर्मुक्तो मौनमाश्रित्य नैष्ठिकम् । संहृत्य प्रतिमां धीरो [2]बभ्राम धरणीतलम् ॥२॥
ददृशुस्तं प्रजा देवं भ्राम्यन्तं तुङ्गविग्रहम् । देहप्रभा[3]परिच्छन्नं द्वितीयमिव भास्करम् ॥३॥
यत्र यत्र पदन्यासमकरोत् स जिनेश्वरः । तस्मिन् विकचपद्मानि भवन्तीव महीतले ॥४॥
मेरुकूटसमाकारभासुरांसैः[4] समाहितः । स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहृतांशुमान् ॥५॥
अन्यदा हास्तिनपुरं विहरन् स समागतः । अविशच्च दिनस्यार्द्धे गते मेरुरिव श्रिया ॥६॥
मध्याह्नरविसंकाशं दृष्ट्वा तं पुरुषोत्तमम् । सर्वे नराश्च नार्यश्च मुमूर्च्छुरतिविस्मयात् ॥७॥
नानावर्णानि वस्त्राणि रत्नानि विविधानि च । हस्त्यश्वरथयानानि तस्मै ढौकितवान् जनः ॥८॥
मुग्धाः पूर्णेन्दुवदनाः कन्यास्तामरसेक्षणाः । उपनिन्युर्नराः केचिद् विनीताकारधारिणः ॥९॥
तस्मै न रुचिताः सत्यः स्वस्याप्यप्रियतां गताः । कन्यास्ता निरलंकारा ध्यायन्त्यस्तं व्यवस्थिताः ॥१०॥
अथ प्रासादशिखरे स्थितः श्रेयान् महीपतिः । दृष्ट्वैनं स्निग्धया दृष्ट्या पूर्वजन्म समस्मरत् ॥११॥

अथानन्तर सुवर्णके समान प्रभाके धारक ध्यानी भगवान् ऋषभदेव प्रभु जगत्के कल्याणके निमित्त दान धर्मकी प्रवृत्ति करनेके लिए उद्यत हुए ॥१॥ धीर वीर भगवान्ने छह माहके बाद प्रतिमा योग समाप्तकर पृथिवी तलपर भ्रमण करना प्रारम्भ किया। भगवान् समस्त दोषोंसे रहित थे और मौन धारण कर ही विहार करते थे ॥२॥ जिनका शरीर बहुत ही ऊँचा था तथा जो अपने शरीरकी प्रभासे आस पासके भूमण्डलको आलोकित कर रहे थे ऐसे भ्रमण करनेवाले भगवान्के दर्शनकर प्रजा यह समझती थी मानो दूसरा सूर्य ही भ्रमण कर रहा है ॥३॥ वे जिन-राज पृथिवीतल पर जहाँ-जहाँ चरण रखते थे वहाँ ऐसा जान पड़ता था मानो कमल ही खिल उठे हों ॥४॥ उनके कन्धे मेरुपर्वतके शिखरके समान ऊँचे तथा देदीप्यमान थे, उनपर बड़ी-बड़ी जटाएँ किरणोंकी भाँति सुशोभित हो रही थीं और भगवान् स्वयं बड़ी सावधानीसे —ईर्यासमितिसे नीचे देखते हुए विहार करते थे ॥५॥ जो शोभासे मेरु पर्वतके समान जान पड़ते थे ऐसे भगवान् ऋषभदेव किसी दिन विहार करते-करते मध्याह्नके समय हस्तिनापुर नगरमें प्रविष्ट हुए ॥६॥ मध्याह्नके सूर्यके समान देदीप्यमान उन पुरुषोत्तमके दर्शनकर हस्तिना-पुरके समस्त स्त्री-पुरुष बड़े आश्चर्यसे मोहको प्राप्त हो गये अर्थात् किसीको यह ध्यान नहीं रहा कि यह आहारकी बेला है इसलिए भगवान्को आहार देना चाहिए ॥७॥ वहाँके लोग नाना वर्णोंके वस्त्र, अनेक प्रकारके रत्न और हाथी, घोड़े, रथ तथा अन्य प्रकारके वाहन ला लाकर उन्हें समर्पित करने लगे ॥८॥ विनीत वेषको धारण करनेवाले कितने ही लोग पूर्णचन्द्रमाके समान मुख वाली तथा कमलोंके समान नेत्रोंसे सुशोभित सुन्दर-सुन्दर कन्याएँ उनके पास ले आये ॥९॥ जब वे पतिव्रता कन्याएँ भगवान्के लिए रुचिकर नहीं हुईं तब वे निराश होकर स्वयं अपने आपसे ही द्वेष करने लगीं और आभूषण दूर फेंक भगवान्का ध्यान करती हुई खड़ी रह गईं ॥१०॥

अथानन्तर—महलके शिखरपर खड़े हुए राजा श्रेयांसने उन्हें स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखा और

---

१. शातकौम्भप्रभः म०, क० । २. जगाम म० । ३. परिच्छिन्नं ख० । ४. भासुरांशः म० ।

उत्थाय च नृसिंहोऽसौ सान्तःपुरसुहृज्जनः । कृताञ्जलिपुटः[1] स्तोत्रव्यग्रोष्ठपुटपङ्कजः ॥१२॥
तस्य प्रदक्षिणां कुर्वन् रराज स नराधिपः । मेरोर्नितम्बमण्डल्यां भ्राम्यन्निव दिवाकरः ॥१३॥
ततः कुन्तलभारेण प्रमृज्य चरणद्वयम् । तस्यानन्दाश्रुभिः पूर्वं क्षालितं तेन भूभृता ॥१४॥
रत्नपात्रेण दत्वार्घं कृततत्पदमार्जनः[2] । शुचौ देशे स्थितायास्मै विधिना परमेण सः ॥१५॥
रसमिक्षोः समादाय कलशस्थं सुशीतलम् । चकार परमं श्राद्धं तद्गुणाकृष्टमानसः ॥१६॥
ततः प्रमुदितैर्देवैः साधुशब्दौघमिश्रितः । [3]नभोगैर्दुन्दुभिध्वानश्चक्रे दिक्चक्रपूरणः ॥१७॥
पुष्पाणां पञ्चवर्णानां वृष्टीश्च प्रमथाधिपाः । अहो दानमहो दानमित्युक्त्वा ववृषुर्मुदा ॥१८॥
अनिलोऽरिमुखस्पर्शो दिशः सुरभयन् ववौ । पूरयन्ती नभोभागं वसुधारा पपात च ॥१९॥
संप्राप्तः सुरसम्मानं त्रिजगद्विस्मयप्रदम् । पूजितो भरतस्यापि श्रेयान् प्रीतिसमुत्कटम् ॥२०॥
अथ प्रवर्तनं कृत्वा पाणिपात्रव्रतस्य सः । शुभध्यानं समाविष्टो भूयोऽपि विजितेन्द्रियः ॥२१॥
ततस्तस्य सितध्यानाद् गते मोहे परिक्षयम् । उत्पन्नं केवलज्ञानं लोकालोकावलोकनम् ॥२२॥
तेनैव[4] तत्र संजातं तेजसो मण्डलं महत् । कालं (लस्य) विकिरन्भेदं रात्रिवासरसंभवम् ॥२३॥
तद्देशे विपुलस्कन्धो रत्नपुष्पैरलंकृतः । अशोकपादपोऽभूच्च विलसद्रक्तपल्लवः[5] ॥२४॥

देखते ही उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥११॥ राजा श्रेयांस महलसे नीचे उतरकर अन्तः-पुर तथा अन्य मित्रजनोंके साथ उनके पास आया और हाथ जोड़कर स्तुति पाठ करता हुआ प्रदक्षिणा देने लगा। भगवान्की प्रदक्षिणा देता हुआ राजा श्रेयांस ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मेरुके मध्य भागकी प्रदक्षिणा देता हुआ सूर्य ही हो ॥१२-१३॥ सर्वप्रथम राजाने अपने केशोंसे भगवान्के चरणोंका मार्जनकर आनन्दके आँसुओंसे उनका प्रक्षालन किया ॥१४॥ रत्न-मयी पात्रसे अर्घ देकर उनके चरण धोये, पवित्र स्थानमें उन्हें विराजमान किया और तदनन्तर उनके गुणोंसे आकृष्ट चित्त हो, कलशमें रक्खा हुआ इक्षुका शीतल जल लेकर विधि पूर्वक श्रेष्ठ पारणा कराई—आहार दिया ॥१५-१६॥ उसी समय आकाशमें चलनेवाले देवोंने प्रसन्न होकर साधु-साधु,-धन्य-धन्य शब्दोंके समूहसे मिला एवं दिग्मण्डलको मुखरित करनेवाला दुन्दुभि बाजोंका भारी शब्द किया ॥१७॥ प्रमथ जातिके देवोंके अधिपतियोंने 'अहो दानं अहो दानं' कहकर हर्षके साथ पाँच रङ्गके फूल बरसाये ॥१८॥ अत्यन्त सुखकर स्पर्शसे सहित, दिशाओंको सुगन्धित करनेवाली वायु बहने लगी और आकाशको व्याप्त करती हुई रत्नोंकी धारा बरसने लगी ॥१९॥ इस प्रकार उधर राजा श्रेयांस तीनों जगत्को आश्चर्यमें डालनेवाले देवकृत सन्मान को प्राप्त हुआ और इधर सम्राट् भरतने भी बहुत भारी प्रीतिके साथ उसकी पूजा की ॥२०॥

अथानन्तर इन्द्रियोंको जीतनेवाले भगवान् ऋषभदेव, दिगम्बरमुनियोंका व्रत कैसा है? उन्हें किस प्रकार आहार दिया जाता है? इसकी प्रवृत्ति चलाकर फिरसे शुभ ध्यानमें लीन हो गये ॥२१॥ तदनन्तर शुक्ल ध्यानके प्रभावसे मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेपर उन्हें लोक और अलोकको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥२२॥ केवलज्ञानके साथ ही बहुत भारी भामण्डल उत्पन्न हुआ। उनका वह भामण्डल रात्रि और दिनके कारण होनेवाले कालके भेदको दूर कर रहा था अर्थात् उसके प्रकाशके कारण वहाँ रात-दिनका विभाग नहीं रह पाता था ॥२३॥ जहाँ भगवान्को केवलज्ञान हुआ था वहीं एक अशोक वृक्ष प्रकट हो गया। उस अशोक वृक्षका स्कन्ध बहुत मोटा था, वह रत्नमयी फूलोंसे अलंकृत था तथा उसके लाल-लाल

१. पुरः म० । पुटस्तोत्र क० । २. कृतं तत्पदमर्चनम् ख० । ३. नभोयैः म० । ४. च समं म० । ५. विकसद्रक्त—म० ।

प्रकीर्णा सुमनोवृष्टिरामोदाकृष्टषट्पदा । नभःस्थैरमरैर्नानारूपसंभवगामिनी ॥२५॥
महादुन्दुभयो नेदुः क्षुब्धसागरनिस्वनाः । अदृष्टविग्रहैर्देवैराहताः करपल्लवैः ॥२६॥
यक्षौ पद्मपलाशाक्षौ सर्वालङ्कारभूषितौ । चालयाञ्चक्रतुः स्वैरं चामरे चन्द्रहासिनी ॥२७॥
मेरुमस्तकसंकाशं मुकुटं भूमियोषितः । सिंहासनं समुत्पन्नं कराहतदिवाकरम् ॥२८॥
त्रिलोकविभुताचिह्नं मुक्ताजालकभूषितम् । छत्रत्रयं समुद्भूतं तस्यैव विमलं यशः ॥२९॥
सिंहासनस्थितस्यास्य सरणं समवान्वितम । प्राप्तस्य गदितुं शोभां केवली केवलं प्रभुः ॥३०॥
ततस्तमवधिज्ञानादवगम्य सुराधिपाः । वन्दितुं सपदि प्राप्ताः परिवारसमन्विताः ॥३१॥
ख्यातो वृषभसेनोऽस्य संजातो गणभृत्ततः । अन्ये च श्रमणा जाता महावैराग्ययोगिनः ॥३२॥
यथास्थानं ततस्तेषु सरणे समवान्विते । यत्यादिषु निविष्टेषु गणेशेन प्रचोदितः ॥३३॥
छादयन्तीं स्वनादेन देवदुन्दुभिनिःस्वनम्[1] । जगाद भगवान् वाचं तत्त्वार्थपरिशंसिनीम् ॥३४॥
अस्मिंस्त्रिभुवने कृत्स्ने जीवानां हितमिच्छताम् । शरणं परमो धर्मस्तस्माच्च परमं सुखम् ॥३५॥
सुखार्थं चेष्टितं सर्वं तच्च धर्मनिमित्तकम् । एवं ज्ञात्वा जना यत्नात् कुरुध्वं धर्मसंग्रहम् ॥३६॥
वृष्टिर्विना कुतो मेघैः क्व सस्यं बीजवर्जितम् । जीवानां च विना धर्मात् सुखमुत्पद्यते कुतः ॥३७॥
गन्तुकामो यथा पङ्गुर्मूको वक्तुं समुद्यतः । अन्धो दर्शनकामश्च तथा धर्मादृते सुखम् ॥३८॥

पल्लव बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ।।२४।। आकाशमें स्थित देवोंने सुगन्धिसे भ्रमरोंको आकर्षित करनेवाली एवं नाना आकारमें पड़नेवाली फूलोंकी वर्षा की ।।२५।। जिनके शब्द, क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रके शब्दके समान भारी थे ऐसे बड़े-बड़े दुन्दुभि बाजे, अदृश्य शरीरके धारक देवोंके द्वारा करपल्लवोंसे ताडित होकर विशाल शब्द करने लगे ।।२६।। जिनके नेत्र कमलकी कलिकाओंके समान थे तथा जो सर्व प्रकारके आभूषणोंसे सुशोभित थे ऐसे दोनों ओर खड़े हुए दो यक्ष, चन्द्रमाकी हँसी उड़ानेवाले—सफ़ेद चमर इच्छानुसार चलाने लगे ।।२७।। जो मेरुके शिखरके समान ऊँचा था, पृथिवी रूपी स्त्रीका मानो मुकुट ही था, और अपनी किरणोंसे सूर्यको तिरस्कृत कर रहा था ऐसा सिंहासन उत्पन्न हुआ ।।२८।। जो तीन लोककी प्रभुताका चिह्न स्वरूप था, मोतियोंकी लड़ियोंसे विभूषित था और भगवान्के निर्मल यशके समान जान पड़ता था ऐसा छत्रत्रय उत्पन्न हुआ ।।२९।। आचार्य रविषेण कहते हैं कि समवसरणके बीच सिंहासनपर विराजमान हुए भगवान्की शोभाका वर्णन करनेके लिए मात्र केवलज्ञानी ही समर्थ हैं, हमारे जैसे तुच्छ पुरुष उस शोभाका वर्णन कैसे कर सकते हैं ।।३०।।

तदनन्तर अवधिज्ञानके द्वारा, भगवान्को केवलज्ञान उत्पन्न होनेका समाचार जानकर सब इन्द्र अपने-अपने परिवारोंके साथ वन्दना करनेके लिए शीघ्र ही वहाँ आये ।।३१।। सर्व प्रथम वृषभसेन नामक मुनिराज इनके प्रसिद्ध गणधर हुए थे। उनके बाद महावैराग्यको धारण करनेवाले अन्य-अन्य मुनिराज भी गणधर होते रहे थे ।।३२।। उस समवसरणमें जब मुनि, श्रावक तथा देव आदि सब लोग यथास्थान अपने-अपने कोठोंमें बैठ गये तब गणधरने भगवान्से उपदेश देनेकी प्रेरणा की ।।३३।। भगवान् अपने शब्दसे देव-दुन्दुभियोंके शब्दको तिरोहित करते एवं तत्त्वार्थको सूचित करनेवाली निम्नाङ्कित वाणी कहने लगे ।।३४।। उन्होंने कहा कि इस त्रिलोकात्मक समस्त संसारमें हित चाहनेवाले लोगोंको एक धर्म ही परम शरण है, उसीसे उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है ।।३५।। प्राणियोंकी समस्त चेष्टाएँ सुखके लिए हैं और सुख धर्मके निमित्तसे होता है, ऐसा जानकर हे भव्य जन! तुम सब धर्मका संग्रह करो ।।३६।। विना मेघोंके वृष्टि कैसे हो सकती है और विना बीजके अनाज कैसे उत्पन्न हो सकता है। इसी तरह विना धर्मको जीवोंके सुख कैसे उत्पन्न हो सकता है ? ।।३७।। जिस प्रकार

१. निस्वनाम् म० ।

परमाणोः परं स्वल्पं न चान्यन्नभसो महत्। धर्मादन्यश्च लोकेऽस्मिन् सुहृन्नास्ति शरीरिणाम्[1] ॥३९॥
मनुष्यभोगः स्वर्गश्च सिद्धसौख्यं च धर्मतः। प्राप्यते यत्तदन्येन व्यापारेण कृतेन किम् ॥४०॥
अहिंसानिर्मलं धर्मं सेवन्ते ये विपश्चितः। तेषामेवोर्ध्वगमनं यान्ति तिर्यगधोऽन्यथा ॥४१॥
यद्यप्यूर्ध्वं तपःशक्त्या व्रजेयुः परलिङ्गिनः। तथापि किङ्करा भूत्वा ते देवान् समुपासते ॥४२॥
देवदुर्गतिदुःखानि प्राप्य कर्मवशास्ततः। स्वर्गच्युताः पुनस्तिर्यग्योनिमायान्ति दुःखिनः ॥४३॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नाः स्वभ्यस्तजिनशासनाः। दिवं गत्वा च्युता बोधिं प्राप्य यान्ति परं शिवम् ॥४४॥
सागाराणां यतीनां च धर्मोऽसौ द्विविधः स्मृतः। तृतीयं ये तु मन्यन्ते दग्धास्ते मोहवह्निना ॥४५॥
अणुव्रतानि पञ्च स्युस्त्रिप्रकारं गुणव्रतम्। शिक्षाव्रतानि चत्वारि धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्[2] ॥४६॥
सर्वारम्भपरित्यागं कृत्वा देहेऽपि निःस्पृहाः। कालधर्मेण संयुक्ता गतिं ते यान्ति शोभनाम्[3] ॥४७॥
महाव्रतानि पञ्च स्युस्तथा समितयो मताः। गुप्तयस्तिस्र उद्दिष्टा धर्मोऽयं व्योमवाससाम् ॥४८॥
धर्मेणानेन संयुक्ताः शुभध्यानपरायणाः। यान्ति नाकं च मोक्षं च हित्वा पूतिकलेवरम् ॥४९॥
येऽपि जातस्वरूपाणां परमब्रह्मचारिणाम्। स्तुतिं कुर्वन्ति भावेन तेऽपि धर्ममवाप्नुयुः ॥५०॥
तेन धर्मप्रभावेण कुगतिं न व्रजन्ति ते। लभन्ते बोधिलाभं च मुच्यन्ते येन किल्बिषात् ॥५१॥
इत्यादि देवदेवेन भाषितं धर्ममुत्तमम्। श्रुत्वा देवा[4] मनुष्याश्च परमामोदमागताः[5] ॥५२॥

पंगु मनुष्य चलनेकी इच्छा करे, गूँगा मनुष्य बोलनेकी इच्छा करे, और अन्धा मनुष्य देखने की इच्छा करे उसी प्रकार धर्मके विना सुख प्राप्त करना है ।।३८।। जिस प्रकार इस संसारमें परमाणुसे छोटी कोई चीज नहीं है और आकाशसे बड़ी कोई वस्तु नहीं है उसी प्रकार प्राणियोंका धर्मसे बड़ा कोई मित्र नहीं है ।।३९।। जब धर्मसे ही मनुष्य सम्बन्धी भोग, स्वर्ग और मुक्त जीवोंको सुख प्राप्त हो जाता है तब दूसरा कार्य करनेसे क्या लाभ है ? ।।४०।। जो विद्वज्जन अहिंसासे निर्मल धर्मकी सेवा करते हैं उन्हींका ऊर्ध्वगमन होता है अन्य जीव तो तिर्यग्लोक अथवा अधोलोकमें ही जाते हैं ।।४१।। यद्यपि अन्यलिङ्गी—हंस परमहंस—परिव्राजक आदि भी तपश्चरणकी शक्तिसे ऊपर जा सकते हैं—स्वर्गोंमें उत्पन्न हो सकते हैं तथापि वे वहाँ किङ्कर होकर अन्य देवोंकी उपासना करते हैं ।।४२।। वे वहाँ देव होकर भी कर्मके वश दुर्गति के दुःख पाकर स्वर्गसे च्युत होते हैं और दुःखी होते हुए तिर्यञ्च योनि प्राप्त करते हैं ।।४३।। जो सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न हैं तथा जिन्होंने जिनशासनका अच्छी तरह अभ्यास किया है वे स्वर्ग जाते हैं और वहाँसे च्युत होनेपर रत्नत्रयको पाकर उत्कृष्ट मोक्षको प्राप्त करते हैं ।।४४।। वह धर्म गृहस्थों और मुनियोंके भेदसे दो प्रकारका है । इन दो के सिवाय जो तीसरे प्रकारका धर्म मानते हैं वे मोहरूपी अग्निसे जले हुए हैं ।।४५।। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, यह गृहस्थोंका धर्म है ।।४६।। जो गृहस्थ अन्त समय सब प्रकारके आरम्भका त्याग कर शरीरमें भी निःस्पृह हो जाते हैं तथा समता भावसे मरण करते हैं वे उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ।।४७।। पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ यह मुनियोंका धर्म है ।।४८।। जो मनुष्य मुनि धर्मसे युक्त होकर शुभ ध्यानमें तत्पर रहते हैं वे इस दुर्गन्धिपूर्ण बीभत्स शरीरको छोड़कर स्वर्ग अथवा मोक्षको प्राप्त होते हैं ।।४९।। जो मनुष्य उत्कृष्ट ब्रह्मचारी दिगम्बर मुनियोंकी भावपूर्वक स्तुति करते हैं वे भी धर्मको प्राप्त हो सकते हैं ।।५०।। वे उस धर्मके प्रभावसे कुगतियोंमें नहीं जाते किन्तु उस रत्नत्रयरूपी धर्मको प्राप्त कर लेते हैं जिसके कि प्रभावसे पापबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ।।५१।। इस प्रकार देवाधिदेव भगवान् वृषभ-देवके द्वारा कहे हुए उत्तम धर्मको सुनकर देव और मनुष्य सभी परम हर्षको प्राप्त हुए ।।५२।।

१. शरीरिणः म० । २. गृहसेविनाम् म० । ३. शोभनाम् म० । ४. देवमनुष्याश्च म० । ५. परमं मोद- म० ।

केचित् सम्यग्मतिं भेजुर्गृहिधर्ममथापरे । अनगारव्रतं केचित् स्वशक्तेरनुगामिनः ॥५३॥
ततः समुद्यता गन्तुं जिनं नत्वा सुरासुराः । स्तुत्वा च निजधामानि गता धर्मविभूषिताः ॥५४॥
यं यं देशं स सर्वज्ञः प्रयाति गतियोगतः । योजनानां शतं तत्र जायते स्वर्गविभ्रमम् ॥५५॥
स भ्रमन् बहुदेशेषु भव्यराशीनुपागतान् । रत्नत्रितयदानेन संसारादुदतीरत्[1] ॥५६॥
तस्यासीद् गणपालानामशीतिश्चतुरुत्तरा । सहस्राणि च तावन्ति साधूनां सुतपोभृताम्[2] ॥५७॥
अत्यन्तशुद्धचिन्तास्ते रविचन्द्रसमप्रभाः । एभिः परिवृतः सर्वां जिनो विहरते महीम् ॥५८॥
चक्रवर्तिश्रियं तावत्प्राप्तो भरतभूपतिः । यस्य क्षेत्रमिदं नाम्ना जगत्प्रकटतां गतम् ॥५९॥
ऋषभस्य शतं पुत्रास्तेजस्कान्तिसमन्विताः । श्रमणव्रतमास्थाय संप्राप्ताः परमं पदम् ॥६०॥
तन्मध्ये भरतश्चक्री बभूव प्रथमो भुवि । विनीतानगरे रम्ये साधुलोकनिषेविते ॥६१॥
अक्षया निधयस्तस्य नवरत्नादिसंभृताः । आकराणां सहस्राणि नवतिर्नवसंयुताः ॥६२॥
त्रयं सुरभिकोटीनां हलकोटिस्तथोदिताः । चतुर्भिरधिकाशीतिर्लक्षाणां वरदन्तिनाम् ॥६३॥
कोट्यश्चाष्टौ दशोद्दिष्टा वाजिनां वातरंहसाम् । द्वात्रिंशच्च सहस्राणि पार्थिवानां महौजसाम् ॥६४॥
तावन्त्येव सहस्राणि देशानां पुरसंपदाम् । चतुर्दश च रत्नानि रक्षितानि सदा सुरैः ॥६५॥
पुरन्ध्रीणां सहस्राणि नवतिः षड्भिरन्विताः । ऐश्वर्यं तस्य निःशेषं गदितुं नैव शक्यते ॥६६॥
[3]पोदनाख्ये पुरे तस्य स्थितो बाहुबली नृपः । प्रतिकूलो महासत्त्वस्तुल्योत्पादकमानतः[4] ॥६७॥
तस्य युद्धाय संप्राप्तो भरतश्चक्रगर्वितः । सैन्येन चतुरङ्गेण छादयन् धरणीतलम् ॥६८॥

कितने ही लोगोंने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको धारण किया । कितने ही लोगोंने गृहस्थ धर्म अंगीकार किया और अपनी शक्तिका अनुसरण करनेवाले कितने ही लोगोंने मुनिव्रत स्वीकार किया ॥५३॥ तदनन्तर जानेके लिए उद्यत हुए सुर और असुरोंने जिनेन्द्र देवको नमस्कार किया, उनकी स्तुति की और फिर धर्मसे विभूषित होकर सब लोग अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥५४॥ भगवान्का गमन इच्छा वश नहीं होता था फिर भी वे जिस-जिस देशमें पहुँचते थे वहाँ सौ योजन तकका क्षेत्र स्वर्गके समान हो जाता था ॥५५॥ इस प्रकार अनेक देशोंमें भ्रमण करते हुए जिनेन्द्र भगवान्ने शरणागत भव्य जीवोंको रत्नत्रयका दान देकर संसार-सागरसे पार किया था ॥५६॥ भगवान्के चौरासी गणधर थे और चौरासी हजार उत्तम तपस्वी साधु थे ॥५७॥ वे सब साधु अत्यन्त निर्मल हृदयके धारक थे तथा सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रभासे संयुक्त थे । इन सबसे परिवृत होकर भगवान्ने समस्त पृथिवीपर विहार किया था ॥५८॥ भगवान् ऋषभ देवका पुत्र राजा भरत चक्रवर्तीकी लक्ष्मीको प्राप्त हुआ था और उसीके नामसे यह क्षेत्र संसारमें भरत क्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥५९॥ भगवान् ऋषभदेवके सौ पुत्र थे जो एकसे एक बढ़कर तेज और कान्तिसे सहित थे तथा जो अन्तमें श्रमणपद—मुनिपद धारणकर परमपद—निर्वाणधामको प्राप्त हुए थे ॥६०॥ उन सौ पुत्रोंके बीच भरत चक्रवर्ती प्रथम पुत्र था जो कि सज्जनोंके समूहसे सेवित अयोध्या नामकी सुन्दर नगरीमें रहता था ॥६१॥ उसके पास नव रत्नोंसे भरी हुई अक्षय नौ निधियाँ थीं, निन्यानवे हजार खानें थी, तीन करोड़ गाएँ थी, एक करोड़ हल थे, चौरासी लाख उत्तम हाथी थे, वायुके समान वेगवाले अठारह करोड़ घोड़े थे, बत्तीस हजार महाप्रतापी राजा थे, नगरोंसे सुशोभित बत्तीस हजार ही देश थे, देव लोग सदा जिनकी रक्षा किया करते थे ऐसे चौदह रत्न थे, और छियानबे हजार स्त्रियाँ थीं । इस प्रकार उसके समस्त ऐश्वर्यका वर्णन करना अशक्य है—कठिन कार्य है ॥६२-६६॥ पोदनपुर नगरमें भरतका सौतेला भाई राजा बाहुबली रहता था । वह अत्यन्त शक्तिशाली था तथा 'मैं और भरत एक ही पिताके दो पुत्र हैं' इस अहंकारसे सदा भरतके विरुद्ध रहता था ॥६७॥ चक्ररत्नके

१. -दुदतीतरन् म० । २. च तपोभृताम् म० । ३. पौतनाख्ये म० । ४. मानसः म० ।

तयोर्गजघटाटोपसंघट्टरवसंकुलम् । संजातं प्रथमं युद्धं बहुसत्त्वक्षयावहम् ॥६९॥
अथोवाच विहस्यैवं भरतं बाहुविक्रमी । किं वराकेन लोकेन निहतेनामुनावयोः ॥७०॥
यदि निःस्पन्दया दृष्ट्या भवताहं पराजितः । ततो निर्जित एवास्मि दृष्टियुद्धं प्रवर्त्यताम् ॥७१॥
दृष्टियुद्धे ततो भग्नस्तथा बाहुरणादिषु । वधार्थं भरतो भ्रातुश्चक्ररत्नं विसृष्टवान् ॥७२॥
तत्तस्यान्त्यशरीरत्वादक्षमं विनिपातने । तस्यैव पुनरायातं समीपं विफलक्रियम् ॥७३॥
ततो भ्रात्रा समं वैरमवबुध्य महामनाः । संप्राप्तो भोगवैराग्यं परमं भुजविक्रमी ॥७४॥
संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः । वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निःप्रकम्पकः ॥७५॥
वल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रैः स महोरगैः । श्यामादीनां च वल्लीभिः वेष्टितः प्राप केवलम् ॥७६॥
ततः शिवपदं प्रापदायुषः कर्मणः क्षये । प्रथमं सोऽवसर्पिण्यां मुक्तिमार्गं व्यशोधयत् ॥७७॥
भरतस्त्वकरोद् राज्यं कण्टकैः परिवर्जितम् । षड्भिर्भागैर्विभक्तायां सर्वस्यां भरतक्षितौ ॥७८॥
विद्याधरपुराकारा ग्रामाः सर्वसुखावहाः । देवलोकप्रकाराश्च पुरः परमसंपदः ॥७९॥
देवा इव जनास्तेषु रेजुः कृतयुगे सदा । मनोविषयसंप्राप्तविचित्राम्बरभूषणाः ॥८०॥
देशा भोगभुवा तुल्या लोकपालोपमा नृपाः । अप्सरःसदृशो नार्यो मदनावासभूमयः ॥८१॥
एवमेकातपत्रायां पृथिव्यां भरतोऽधिपः । आखण्डल इव स्वर्गे भुङ्क्ते कर्मफलं शुभम् ॥८२॥

अहंकारसे चकनाचूर भरत अपनी चतुरङ्ग सेनाके द्वारा पृथिवीतलको आच्छादित करता हुआ उसके साथ युद्ध करनेके लिए पोदनपुर गया ॥६८॥ वहाँ उन दोनोंमें हाथियोंके समूहकी टक्करसे उत्पन्न हुए शब्दसे व्याप्त प्रथम युद्ध हुआ । उस युद्धमें अनेक प्राणी मारे गये ॥६९॥ यह देख भुजाओंके बलसे सुशोभित बाहुबलीने हँसकर भरतसे कहा कि इस तरह निरपराध दीन प्राणियोंके वधसे हमारा और आपका क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ॥७०॥ यदि आपने मुझे निश्चल दृष्टिसे पराजित कर दिया तो मैं अपने आपको पराजित समझ लूँगा अतः दृष्टि युद्धमें ही प्रवृत्त होना चाहिए ॥७१॥ बाहुबलीके कहे अनुसार दोनोंका दृष्टि युद्ध हुआ और उसमें भरत हार गया । तदनन्तर जल-युद्ध और बाहु-युद्ध भी हुए उनमें भी भरत हार गया । अन्तमें भरतने भाईका वध करनेके लिए चक्ररत्न चलाया ॥७२॥ परन्तु बाहुबली चरमशरीरी थे अतः वह चक्ररत्न उनका वध करनेमें असमर्थ रहा और निष्फल हो लौटकर भरतके समीप वापिस आ गया ॥७३॥ तदनन्तर भाईके साथ बैरका मूल कारण जानकर उदारचेता बाहुबली भोगोंसे अत्यन्त विरक्त हो गये ॥७४॥ उन्होंने उसी समय समस्त भोगोंका त्यागकर वस्त्राभूषण उतारकर फेंक दिये और एक वर्ष तक मेरु पर्वतके समान निष्प्रकम्प खड़े रहकर प्रतिमा योग धारण किया ॥७५॥ उनके पास अनेक वामियाँ लग गईं जिनके बिलोंसे निकले हुए बड़े-बड़े साँपों और श्यामा आदिकी लताओंने उन्हें वेष्टित कर लिया । इस दशामें उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया ॥७६॥ तदनन्तर आयु कर्मका क्षय होनेपर उन्होंने मोक्ष पद प्राप्त किया और इस अवसर्पिणी कालमें सर्व प्रथम उन्होंने मोक्ष मार्ग विशुद्ध किया—निष्कण्टक बनाया ॥७७॥ भरत चक्रवर्तीने छह भागोंसे विभक्त भरत क्षेत्रकी समस्त भूमिपर अपना निष्कण्टक राज्य किया ॥७८॥ उनके राज्यमें भरत क्षेत्रके समस्त गाँव विद्याधरोंके नगरोंके समान सर्व सुखोंसे सम्पन्न थे, समस्त नगर देवलोकके समान उत्कृष्ट सम्पदाओंसे युक्त थे ॥७९॥ और उनमें रहनेवाले मनुष्य, उस कृत युगमें देवोंके समान सदा सुशोभित होते थे । उस समयके मनुष्योंको मनमें इच्छा होते ही तरह-तरहके वस्त्राभूषण प्राप्त होते रहते थे ॥८०॥ वहाँके देश भोगभूमियोंके समान थे, राजा लोकपालोंके तुल्य थे और स्त्रियाँ अप्सराओंके समान कामकी निवासभूमि थीं ॥८१॥ इस तरह

१. -मार्गं -म० । २. भरताधिपः म० ।

रक्षितं यस्य यत्नाणां सहस्रेण प्रयत्नतः । सर्वेन्द्रियसुखं रत्नं सुभद्राख्यं व्यराजत ॥८३॥
पञ्च पुत्रशतान्यस्य यैरिदं भरताह्वयम् । क्षेत्रं विभागतो भुक्तं पित्रा दत्तमकण्टकम् ॥८४॥
अथैवं कथितं तेन गौतमेन महात्मना । श्रेणिकः पुनरप्याह वाक्यमेतत्कुतूहली ॥८५॥
वर्णत्रयस्य भगवन्संभवो मे त्वयोदितः । उत्पत्तिं सूत्रकण्ठानां ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥८६॥
प्राणिघातादिकं कृत्वा कर्म साधुजुगुप्सितम् । परं वहन्त्यमी गर्वं धर्मप्राप्तिनिमित्तकम् ॥८७॥
तदेषां विपरीतानामुत्पत्तिं वक्तुमर्हसि । कथं चैषां गृहस्थानां भक्तो लोकः प्रवर्तते ॥८८॥
एवं पृष्टो गणेशोऽसाविदं वचनमब्रवीत् । कृपाङ्गनापरिष्वक्तहृदयो[2] हतमत्सरः ॥८९॥
श्रेणिक श्रूयतामेषा यथाजातसमुद्भवः । विपरीतप्रवृत्तीनां मोहावष्टब्धचेतसाम् ॥९०॥
साकेतनगरासन्ने प्रदेशे प्रथमो जिनः । आसाञ्चक्रेऽन्यदा देवतिर्यग्मानववेष्टितः ॥९१॥
ज्ञात्वा तं भरतस्तुष्टो ग्राहयित्वा सुसंस्कृतम् । अन्नं जगाम यत्यर्थं बहुभेदप्रकल्पितम् ॥९२॥
प्रणम्य च जिनं भक्त्या समस्तांश्च दिगम्बरान् । [3]भूमौ करद्वयं कृत्वा वाणीमेताम[4]भाषत ॥९३॥
प्रसादं भगवन्तो मे कर्तुमर्हथ याचिताः । प्रतीच्छत मया भिक्षां शोभनामुपपादिताम् ॥९४॥
इत्युक्ते भगवानाह भरतेयं न कल्पते । साधूनामीदृशी भिक्षा या तदुद्देशसंस्कृता ॥९५॥

जिस प्रकार इन्द्र स्वर्गमें अपने शुभकर्मका फल भोगता है उसी प्रकार भरत चक्रवर्ती भी एक छत्र पृथिवीपर अपने शुभकर्मका फल भोगता था ॥८२॥ एक हजार यक्ष प्रयत्नपूर्वक जिसकी रक्षा करते थे ऐसा समस्त इन्द्रियोंको सुख देनेवाला उसका सुभद्रा नामका स्त्रीरत्न अतिशय शोभायमान था ॥८३॥ भरत चक्रवर्तीके पाँच सौ पुत्र थे जो पिताके द्वारा विभाग कर दिये हुए निष्कण्टक भरत क्षेत्रका उपभोग करते थे ॥८४॥ इस प्रकार महात्मा गौतम गणधरने भगवान् ऋषभदेव तथा उनके पुत्र और पौत्रोंका वर्णन किया जिसे सुनकर कुतूहलसे भरे हुए राजा श्रेणिकने फिरसे यह कहा ॥८५॥

हे भगवन् ! आपने मेरे लिए क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंकी उत्पत्ति तो कही अब मैं इस समय ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति और जानना चाहता हूँ ॥८६॥ ये लोग धर्म प्राप्तिके निमित्त, सज्जनोंके द्वारा निन्दित प्राणिहिंसा आदि कार्य कर बहुत भारी गर्वको धारण करते हैं ॥८७॥ इसलिए आप इन विपरीत प्रवृत्ति करनेवालोंकी उत्पत्ति कहनेके योग्य हैं। साथ ही यह भी बतलाइये कि इन गृहस्थ ब्राह्मणोंके लोग भक्त कैसे हो जाते हैं ? ॥८८॥ इस प्रकार दयारूपी स्त्री जिनके हृदयका आलिङ्गन कर रही थी तथा मत्सर भावको जिन्होंने नष्ट कर दिया था ऐसे गौतम गणधरने राजा श्रेणिकके पूछनेपर निम्नाङ्कित वचन कहे ॥८९॥ हे श्रेणिक ! जिनका हृदय मोहसे आक्रान्त है और इसीलिए जो विपरीत प्रवृत्ति कर रहे हैं ऐसे इन ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति जिस प्रकार हुई वह मैं कहता हूँ तू सुन ॥९०॥

एक बार अयोध्या नगरीके समीपवर्ती प्रदेशमें देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंसे वेष्टित भगवान् ऋषभदेव आकर विराजमान हुए। उन्हें आया जानकर राजा भरत बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और मुनियोंके उद्देश्यसे बनवाया हुआ नाना प्रकारका उत्तमोत्तम भोजन नौकरोंसे लिवाकर भगवान्के पास पहुँचा। वहाँ जाकर उसने भक्तिपूर्वक भगवान् ऋषभदेवको तथा अन्य समस्त मुनियोंको नमस्कार किया और पृथ्वीपर दोनों हाथ टेककर यह वचन कहे ॥९१-९३॥ हे भगवन् ! मैं याचना करता हूँ कि आप लोग मुझपर प्रसन्न हूजिये और मेरे द्वारा तैयार कराई हुई यह उत्तमोत्तम भिक्षा ग्रहण कीजिए। ॥९४॥ भरतके ऐसा कहनेपर भगवान्ने कहा कि हे भरत ! जो भिक्षा मुनियोंके उद्देश्यसे तैयार की जाती है वह उनके योग्य नहीं है—मुनिजन उद्दिष्ट

१. विराजते म० । २. हृदयोद्गतमत्सरः म० । ३. भ्रमौ म० । ४. प्रभाषत म० ।

एते हि तृष्णया मुक्ता निर्जितेन्द्रियशत्रवः । विधायापि बहून् मासानुपवासं महागुणाः ॥९६॥
भिक्षां परगृहे लब्धां निर्दोषां मौनमास्थिताः । भुञ्जते प्राणवृत्यर्थं प्राणा धर्मस्य हेतवः ॥९७॥
धर्मं चरन्ति मोक्षार्थं यत्र पीडा न विद्यते । कथंचिदपि सत्त्वानां सर्वेषां सुखमिच्छताम् ॥९८॥
श्रुत्वा तद्वचनं सम्राडचिन्तयदिदं चिरम् । अहो बत महाकष्टं जैनेश्वरमिदं व्रतम् ॥९९॥
तिष्ठन्ति मुनयो यत्र स्वस्मिन् देहेऽपि निःस्पृहाः । जातरूपधरा धीराः [1]सर्वभूतदयापराः ॥१००॥
इदानीं भोजयाम्येतान् सागारव्रतमाश्रितान् । लक्षणं हेमसूत्रेण कृत्वैतेन महान्धसा ॥१०१॥
प्रकाममन्यदप्येभ्यो दानं यच्छामि भक्तितः । कनीयान् मुनिधर्मस्य धर्मोऽमीभिः समाश्रितः ॥१०२॥
सम्यग्दृष्टिजनं सर्वं ततोऽसौ धरणीतले । [2]न्यमन्त्रयत् महावेगैः पुरुषैः स्वस्य सम्मतैः ॥१०३॥
महान् कलकलो जातः सर्वस्यामवनौ ततः । भो भो नरा महादानं भरतः कर्तुमुद्यतः ॥१०४॥
उत्तिष्ठताशु गच्छामो वस्त्ररत्नादिकं धनम् । आनयामो नरा ह्येते प्रेषितास्तेन सादराः ॥१०५॥
उक्तमन्यैरिदं तत्र पूजयत्येष सम्मतान् । सम्यग्दृष्टिजनान् राजा गमनं तत्र नो वृथा ॥१०६॥
ततः सम्यग्दृशो [3]याता हर्षं परममागताः । समं पुत्रैः कलत्रैश्च पुरुषा विनयस्थिताः ॥१०७॥
मिथ्यादृशोऽपि संप्राप्ता मायया वसुतृष्णया । भवनं राजराजस्य शक्रप्रासादसन्निभम् ॥१०८॥
अङ्गणोप्तयवव्रीहिमुद्गमाषाङ्कुरादिभिः । उच्छिन्य लक्षणैः सर्वान् सम्यग्दर्शनसंस्कृतान् ॥१०९॥

भोजन ग्रहण नहीं करते ॥९५॥ ये मुनि तृष्णासे रहित हैं, इन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीत लिया है, तथा महान् गुणोंके धारक हैं। ये एक-दो नहीं अनेक महीनोंके उपवास करनेके बाद भी श्रावकोंके घर ही भोजनके लिए जाते हैं और वहाँ प्राप्त हुई निर्दोष भिक्षाको मौनसे खड़े रहकर ग्रहण करते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति रसास्वादके लिए न होकर केवल प्राणोंकी रक्षाके लिए ही होती है क्योंकि प्राण धर्मके कारण हैं ॥९६–९७॥ ये मुनि मोक्ष-प्राप्तिके लिए उस धर्मका आचरण कर रहे हैं जिसमें कि सुखकी इच्छा रखनेवाले समस्त प्राणियोंको किसी भी प्रकारकी पीड़ा नहीं दी जाती है ॥९८॥ भगवान्के उक्त वचन सुनकर सम्राट् भरत चिरकाल तक यह विचार करता रहा और कहता रहा कि अहो ! जिनेन्द्र भगवान्का यह व्रत महान् कष्टोंसे भरा है। इस व्रतके पालन करनेवाले मुनि अपने शरीरमें निःस्पृह रहते हैं, दिगम्बर होते हैं, धीरवीर तथा समस्त प्राणियोंपर दया करनेमें तत्पर रहते हैं ॥९९–१००॥ इस समय जो यह महान् भोजन-सामग्री तैयार की गई है इससे गृहस्थका व्रत धारण करनेवाले पुरुषोंको भोजन कराता हूँ तथा इन गृहस्थोंको सुवर्णसूत्रसे चिह्नित करता हूँ ॥१०१॥ भोजनके सिवाय अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी इनके लिए भक्तिपूर्वक अच्छी मात्रामें देता हूँ क्योंकि इन लोगोंने जो धर्म धारण किया है वह मुनि धर्मका छोटा भाई ही तो है ॥१०२॥

तदनन्तर—सम्राट् भरतने महावेगशाली अपने इष्ट पुरुषोंको भेजकर पृथिवीतलपर विद्यमान समस्त सम्यग्दृष्टिजनोंको निमन्त्रित किया ॥१०३॥ इस कार्यसे समस्त पृथिवीपर बड़ा कोलाहल मच गया। लोग कहने लगे कि अहो ! मनुष्यजन हो ! सम्राट् भरत बहुत भारी दान करनेके लिए उद्यत हुआ है ॥१०४॥ इसलिए उठो, शीघ्र चलें, वस्त्र रत्न आदिक धन लावें, देखो ये आदरसे भरे सेवक जन उसने भेजे हैं ॥१०५॥ यह सुनकर उन्हीं लोगोंमेंसे कोई कहने लगे कि यह भरत अपने इष्ट सम्यग्दृष्टिजनोंका ही सत्कार करता है इसलिए हम लोगोंका वहाँ जाना वृथा है ॥१०६॥ यह सुनकर जो सम्यग्दृष्टि पुरुष थे वे परम हर्षको प्राप्त हो स्त्री पुत्रादिकोंके साथ भरतके पास गये और विनयसे खड़े हो गये ॥१०७॥ जो मिथ्यादृष्टि थे वे भी धनकी तृष्णासे मायामयी सम्यग्दृष्टि बनकर इन्द्रभवनकी तुलना करनेवाले सम्राट् भरतके भवनमें पहुँचे ॥१०८॥ सम्राट् भरतने भवनके आँगनमें बोये हुए जौ, धान, मूँग, उड़द आदिके अंकुरोंसे

१. शान्तप्रशममूर्तयः म० । २. न्यामन्त्रयन् क० । ३. जाताः क०, ख० ।

अलक्षयन् सरत्नेन सूत्रचिह्नेन चारुणा । चामीकरमयेनासौ प्रावेशयदथो गृहम् ॥११०॥
मिथ्यादृशोऽपि तृष्णार्ताश्चिन्तया व्याकुलीकृताः । जल्पन्तो दीनवाक्यानि प्रविष्टा दुःखसागरम् ॥१११॥
ततो यथेप्सितं दानं श्रावकेभ्यो ददौ नृपः । पूजितानां च चिन्तेयं तेषां जाता दुरात्मनाम् ॥११२॥
वयं केऽपि महापूता जगते हितकारिणः । पूजिता यन्नरेन्द्रेण श्रद्धयाऽत्यन्ततुङ्गया ॥११३॥
ततस्ते तेन गर्वेण समस्ते धरणीतले । प्रवृत्ता याचितुं लोकं दृष्ट्वा द्रव्यसमन्वितम् ॥११४॥
ततो मतिसमुद्रेण भरताय निवेदितम् । यथाद्येति मया जैने वचनं सदसि श्रुतम् ॥११५॥
वर्द्धमानजिनस्यान्ते भविष्यन्ति कलौ युगे । एते ये भवता सृष्टाः पाखण्डिनो महोद्धताः ॥११६॥
प्राणिनो मारयिष्यन्ति धर्मबुद्ध्या विमोहिताः । महाकषायसंयुक्ताः सदा पापक्रियोद्यताः ॥११७॥
कुग्रन्थं वेदसंज्ञं च हिंसाभाषणतत्परम् । वक्ष्यन्ति कर्तृनिर्मुक्तं मोहयन्तोऽखिलाः प्रजाः ॥११८॥
महारम्भेषु संसक्ताः प्रतिग्रहपरायणाः । करिष्यन्ति सदा निन्दां जिनभाषितशासने ॥११९॥
निर्ग्रन्थमग्रतो दृष्ट्वा क्रोधं यास्यन्ति पापिनः । उपद्रवाय लोकस्य विषवृक्षाङ्कुरा इव ॥१२०॥
तच्छ्रुत्वा भरतः क्रुद्धः तान् सर्वान् हन्तुमुद्यतः । त्रासितास्ते ततस्तेन नाभेयं शरणं गताः ॥१२१॥
यस्मान्मा हननं पुत्र कार्षीरिति [1]निवारितम् । ऋषभेण ततो याता 'माहना' इति ते श्रुतिम् ॥१२२॥
रक्षितास्ते यतस्तेन जिनेन शरणागताः । त्रातारमिन्द्रमित्युच्चैस्ततस्तं विबुधा जगुः ॥१२३॥

समस्त सम्यग्दृष्टि पुरुषोंकी छाँट अलग कर ली तथा उन्हें जिसमें रत्न पिरोया गया था ऐसे सुवर्णमय सुन्दर सूत्रके चिह्नसे चिह्नितकर भवनके भीतर प्रविष्ट करा लिया ॥१०९–११०॥ तृष्णासे पीड़ित मिथ्यादृष्टि लोग भी चिन्तासे व्याकुल हो दीन वचन कहते हुए दुःखरूपी सागरमें प्रविष्ट हुए ॥१११॥ तदनन्तर—राजा भरतने उन श्रावकोंके लिए इच्छानुसार दान दिया। भरतके द्वारा सन्मान पाकर उनके हृदयमें दुर्भावना उत्पन्न हुई और वे इस प्रकार विचार करने लगे ॥११२॥ कि हम लोग वास्तवमें महापवित्र तथा जगत्का हित करनेवाले कोई अनुपम पुरुष हैं इसीलिए तो राजाधिराज भरतने बड़ी श्रद्धाके साथ हमलोगोंकी पूजा की है ॥११३॥ तदनन्तर वे इसी गर्वसे समस्त पृथिवीतलपर फैल गये और किसी धन-सम्पन्न व्यक्तिको देखकर याचना करने लगे ॥११४॥ तत्पश्चात् किसी दिन मतिसमुद्र नामक मन्त्रीने राजाधिराज भरतसे कहा कि आज मैंने भगवान्के समवसरणमें निम्नाङ्कित वचन सुना है ॥११५॥ वहाँ कहा गया है कि भरतने जो इन ब्राह्मणोंकी रचना की है सो वे वर्द्धमान तीर्थंकरके बाद कलियुग नामक पञ्चम काल आने पर पाखण्डी एवं अत्यन्त उद्धत हो जावेंगे ॥११६॥ धर्म बुद्धिसे मोहित होकर अर्थात् धर्म समझकर प्राणियोंको मारेंगे, बहुत भारी कषायसे युक्त होंगे और पाप कार्यके करनेमें तत्पर होंगे ॥११७॥ जो हिंसाका उपदेश देनेमें तत्पर रहेगा ऐसे वेद नामक खोटे शास्त्रको कर्तासे रहित अर्थात् ईश्वर प्रणीत बतलावेंगे और समस्त प्रजाको मोहित करते फिरेंगे ॥११८॥ बड़े-बड़े आरम्भोंमें लीन रहेंगे, दक्षिणा ग्रहण करेंगे और जिनशासनकी सदा निन्दा करेंगे ॥११९॥ निर्ग्रन्थ मुनिको आगे देखकर क्रोधको प्राप्त होंगे और जिस प्रकार विषवृक्षके अंकुर जगत्के उपद्रव अर्थात् अपकारके लिए हैं उसी प्रकार ये पापी भी जगत्के उपद्रवके लिए होंगे—जगत्में सदामें अनर्थ उत्पन्न करते रहेंगे ॥१२०॥ मतिसमुद्र मन्त्रीके वचन सुनकर भरत कुपित हो उन सब विप्रोंको मारनेके लिए उद्यत हुआ। तदनन्तर वे भयभीत होकर भगवान् ऋषभदेवकी शरणमें गये ॥१२१॥ भगवान् ऋषभदेवने 'हे पुत्र! इनका (मा हननं कार्षीः) हनन मत करो' यह शब्द कहकर इनकी रक्षा की थी इसलिए ये आगे चलकर 'माहन' इस प्रसिद्धिको प्राप्त हो गये अर्थात् 'माहन' कहलाने लगे ॥१२२॥ चूँकि इन शरणागत ब्राह्मणोंकी ऋषभ जिनेन्द्रने रक्षा की थी इसलिए देवों अथवा विद्वानोंने भगवान्को त्राता अर्थात्

१. निवारितः म० ।

ये च ते प्रथमं भग्ना नृपा नाथानुगामिनः । व्रतान्तरमर्मी चक्रुः स्वबुद्धिपरिकल्पितम् ॥१२४॥
तेषां शिष्याः प्रशिष्याश्च मोहयन्तः कुहेतुभिः । जगद् गर्वपरायत्ताः कुशास्त्राणि प्रचक्रिरे ॥१२५॥
भृगुरङ्गिशिरा वह्निः कपिलोऽत्रिर्विदस्तथा । अन्ये च बहवोऽज्ञानाज्जाता वल्कलतापसाः ॥१२६॥
स्त्रियं दृष्ट्वा कुचित्तास्ते पुंलिङ्गं प्राप्तविक्रियम् । पिदधुर्मोहसंछन्नाः कौपीनेन नराधमाः ॥१२७॥
सूत्रकण्ठा पुरा तेन ये सृष्टाश्चक्रवर्तिना । बीजवत्प्रसृतास्तेऽत्र संतानेन महीतले ॥१२८॥
प्रस्तावगतमेतत्ते कथितं द्विजकल्पनम् । इदानीं प्रकृतं वक्ष्ये राजन् शृणु समाहितः ॥१२९॥
अथासौ लोकमुत्तार्य प्रभूतं भवसागरात् । कैलासशिखरे प्राप निर्वृतिं नाभिनन्दनः ॥१३०॥
ततो भरतराजोऽपि प्रव्रज्यां प्रतिपन्नवान् । साम्राज्यं तृणवत् त्यक्त्वा लोकविस्मयकारणम् ॥१३१॥

आर्याच्छन्दः

स्थित्यधिकारोऽयं ते श्रेणिक गदितः समासतस्त्वेनम् ।
वंशाधिकारमधुना पुरुषरवे विद्धि सादरं वच्मि ॥१३२॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्य प्रोक्ते पद्मचरिते ऋषभमाहात्म्याभिधानं नाम चतुर्थं पर्व ॥४॥

रक्षक कहकर उनकी बहुत भारी स्तुति की थी ॥१२३॥ दीक्षाके समय भगवान् ऋषभदेवका अनुकरण करनेवाले जो राजा पहले ही च्युत हो गये थे उन्होंने अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार दूसरे दूसरे व्रत चलाये थे ॥१२४॥ उन्हींके शिष्य-प्रशिष्योंने अहङ्कारसे चूर होकर खोटी-खोटी युक्तियोंसे जगत्को मोहित करते हुए अनेक खोटे शास्त्रोंकी रचना की ॥१२५॥ भृगु, अङ्गिशिरस, वह्नि, कपिल, अत्रि तथा विद आदि अनेक साधु अज्ञानवश वल्कलोंको धारण करनेवाले तापसी हुए ॥१२६॥ स्त्रीको देखकर उनका चित्त दूषित हो जाता था और जननेन्द्रियमें विकार दिखने लगता था इसलिए उन अधम मोही जीवोंने जननेन्द्रियको लंगोटसे आच्छादित कर लिया ॥१२७॥ कण्ठमें सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले जिन ब्राह्मणोंकी चक्रवर्ती भरतने पहले बीजके समान थोड़ी ही रचना की थी वे अब सन्तति रूपसे बढ़ते हुए समस्त पृथ्वी तलपर फैल गये ॥१२८॥ गौतम गणधर राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! यह ब्राह्मणोंकी रचना प्रकरणवश मैंने तुमसे कही है। अब सावधान होकर प्रकृत बात कहता हूँ सो सुन ॥१२९॥ भगवान् ऋषभदेव संसार-सागरसे अनेक प्राणियोंका उद्धारकर कैलास पर्वतकी शिखरसे मोक्षको प्राप्त हुए ॥१३०॥ तदनन्तर चक्रवर्ती भरत भी लोगोंको आश्चर्यमें डालनेवाले साम्राज्यको तृणके समान छोड़कर दीक्षाको प्राप्त हुए ॥१३१॥ हे श्रेणिक ! यह स्थिति नामका अधिकार मैंने संक्षेपसे तुझे कहा है हे श्रेष्ठ पुरुष ! अब वंशाधिकारको कहता हूँ सो आदरसे श्रवण कर ॥१३२॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य प्रणीत पद्मचरितमें ऋषभदेवका माहात्म्य वर्णन करनेवाला चतुर्थ पर्व पूर्ण हुआ ॥४॥

---

१. नराधिपाः ख० । २. -मुत्तीर्य क० ।

पञ्चमं पर्व

जगत्यस्मिन् महावंशाश्चत्वार[1] प्रथिता नृप । एषां रहस्यसंयुक्ताः प्रभेदा बहुधोदिताः ॥१॥
इक्ष्वाकुः प्रथमस्तेषामुन्नतो लोकभूषणः । ऋषिवंशो द्वितीयस्तु शशाङ्ककरनिर्मलः ॥२॥
विद्याभृतां तृतीयस्तु वंशोऽत्यन्तमनोहरः । हरिवंशो जगत्ख्यातश्चतुर्थः परिकीर्तितः ॥३॥
तस्यादित्ययशाः पुत्रो भरतस्योदपद्यत । ततः सितयशा जातो बलाङ्कस्तस्य चाभवत् ॥४॥
जज्ञे च सुबलस्तस्मात्ततश्चापि महाबलः । तस्मादतिबलो जातस्ततश्चामृतशब्दितः ॥५॥
सुभद्रः सागरो भद्रो रवितेजास्तथा शशी । प्रभूततेजास्तेजस्वी तपनोऽथ प्रतापवान् ॥६॥
अतिवीर्यः सुवीर्यश्च तथोदितपराक्रमः । महेन्द्रविक्रमः सूर्य इन्द्रद्युम्नो महेन्द्रजित् ॥७॥
प्रभुर्विभुरविध्वंसो वीतभीर्वृषभध्वजः । गरुडाङ्को मृगाङ्कश्च तथान्ये पृथिवीभृतः ॥८॥
राज्यं सुतेषु निक्षिप्य संसारार्णवभीरवः । शरीरेष्वपि निःसङ्गा निर्ग्रन्थव्रतमाश्रिताः ॥९॥
अयमादित्यवंशस्ते कथितः क्रमतो नृपं । उत्पत्तिः सोमवंशस्य साम्प्रतं परिकीर्त्यते ॥१०॥
ऋषभस्याभवत् पुत्रो नाम्ना बाहुबलीति यः । ततः सोमयशा नाम सौम्यः सूनुरजायत ॥११॥
ततो महाबलो जातस्ततोऽस्य सुबलोऽभवत् । स्मृतो भुजबली तस्यादेवमाद्या नृपाधिपाः ॥१२॥
[2]शशिवंशे समुत्पन्नाः क्रमेण सितचेष्टिताः । श्रामण्यमनुभूयाशु संप्राप्ताः परमं पदम् ॥१३॥

अथानन्तर, गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! इस संसारमें चार महावंश प्रसिद्ध हैं और इन महावंशोंके अनेक अवान्तर भेद कहे गये हैं। ये सभी भेद अनेक प्रकारके रहस्योंसे युक्त हैं ॥१॥ उन चार महावंशोंमें पहला इक्ष्वाकुवंश है जो अत्यन्त उत्कृष्ट तथा लोकका आभूषण स्वरूप है। दूसरा ऋषिवंश अथवा चन्द्रवंश है जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल है ॥२॥ तीसरा विद्याधरोंका वंश है जो अत्यन्त मनोहर है और चौथा हरिवंश है जो संसारमें प्रसिद्ध कहा गया है ॥३॥ इक्ष्वाकुवंशमें भगवान् ऋषभदेव उत्पन्न हुए, उनके भरत हुए और उनके अर्ककीर्ति महाप्रतापी पुत्र हुए। अर्क नाम सूर्यका है इसलिए इनका वंश सूर्यवंश कहलाने लगा। अर्ककीर्तिके सितयशा नामा पुत्र हुए, उनके बलाङ्क, बलाङ्कके सुबल, सुबलके महाबल, महाबलके अतिबल, अतिबलके अमृत, अमृतके सुभद्र, सुभद्रके सागर, सागरके भद्र, भद्रके रवितेज, रवितेजके शशी, शशीके प्रभूततेज, प्रभूततेजके तेजस्वी, तेजस्वीके प्रतापी तपन, तपनके अतिवीर्य, अतिवीर्यके सुवीर्य, सुवीर्यके उदितपराक्रम, उदितपराक्रमके महेन्द्रविक्रम, महेन्द्रविक्रमके सूर्य, सूर्यके इन्द्रद्युम्न, इन्द्रद्युम्नके महेन्द्रजित्, महेन्द्रजित्के प्रभु, प्रभुके विभु, विभुके अविध्वंस, अविध्वंसके वीतभी, वीतभीके वृषभध्वज, वृषभध्वजके गरुडाङ्क, और गरुडाङ्कके मृगाङ्क पुत्र हुए। इस प्रकार इस वंशमें अन्य अनेक राजा हुए। ये सभी संसारसे भयभीत थे अतः पुत्रोंके लिए राज्य सौंपकर शरीरसे भी निःस्पृह हो निर्ग्रन्थ व्रतको प्राप्त हुए ॥४-९॥ हे राजन् ! मैंने क्रमसे तुझे सूर्यवंशका निरूपण किया है अब सोमवंश अथवा चन्द्रवंशकी उत्पत्ति कही जाती है ॥१०॥

भगवान् ऋषभदेवकी दूसरी रानीसे जो बाहुबली नामका पुत्र हुआ था उसके सोमयश नामका सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ था। सोम नाम चन्द्रमाका है सो उसी सोमयशसे सोमवंश अथवा चन्द्रवंशकी परम्परा चली है। सोमयशके महाबल, महाबलके सुबल, और सुबलके भुजबलि इसप्रकार इन्हें आदि लेकर अनेक राजा इस वंशमें क्रमसे उत्पन्न हुए हैं। ये सभी राजा निर्मल

१. नृपः म० । २. शशिवंशसमुत्पन्नाः ख०, म० ।

केचित्तु तनुकर्माणो भुञ्जानास्तपसः फलम् । स्वर्गे चक्रुरवस्थानमासन्नभवनिर्गमाः ॥१४॥
एष ते सोमवंशोऽपि कथितः पृथिवीपते । वैद्याधरमतो वंशं कथयामि समासतः ॥१५॥
नमेर्विद्याधरेन्द्रस्य रत्नमाली सुतोऽभवत् । रत्नवज्रस्ततो जातस्ततो रत्नरथोऽभवत् ॥१६॥
रत्नचित्रोऽभवत्तस्माज्जातश्चन्द्ररथस्ततः । जज्ञेऽतो वज्रजङ्घाख्यो वज्रसेनश्रुतिस्ततः ॥१७॥
उग्र तो वज्रदंष्ट्रोऽतस्ततो वज्रध्वजोऽभवत् । वज्रायुधश्च वज्रश्च सुवज्रो वज्रभृत्तथा ॥१८॥
वज्राभो वज्रबाहुश्च वज्राङ्को वज्रसंज्ञकः । वज्रास्यो वज्रपाणिश्च वज्रजातुश्च वज्रवान् ॥१९॥
विद्युन्मुखः सुवक्त्रश्च विद्युद्दंष्ट्रश्च तत्सुतः । विद्युत्वान् विद्युदाभश्च विद्युद्वेगोऽथ वैद्युतः ॥२०॥
इत्याद्या बहवः शूरा विद्याधरपुराधिपाः । गता दीर्घेण कालेन चेष्टितोचितमाश्रयम्[1] ॥२१॥
सुतेषु प्रभुतां न्यस्य जिनदीक्षामुपाश्रिताः । हित्वा द्वेषं च रागं च केचित्सिद्धिमुपागताः ॥२२॥
केचिद्विनाशमप्राप्ते समस्ते कर्मबन्धने । संकल्पकृतसांनिध्यं सौरभोगमभुञ्जत ॥२३॥
केचित्तु कर्मपाशेन बद्धाः स्नेहगरीयसा । तत्रैव निधनं याता वागुरायां मृगा इव ॥२४॥
अथ विद्युद्दृढो[2] नाम्ना प्रभुः श्रेण्योर्द्वयोरपि । विद्याबलसमुद्धो बभूवोन्नतविक्रमः ॥२५॥
अन्यदा स गतोऽपश्यद् विदेहं गगनस्थितः । निर्ग्रन्थं योगमारूढं शैलनिश्चलविग्रहम् ॥२६॥
स्थापितस्तेन नीत्वासौ नाम्ना पञ्चगिरौ गिरौ । कुरुध्वं वधमस्येति विद्यावन्तश्च चोदिताः ॥२७॥

चेष्टाओंके धारक थे तथा मुनिपदको धारणकर शीघ्र ही परमपद (मोक्ष) को प्राप्त हुए ॥११-१३॥ कितने ही अल्पकर्म अवशिष्ट रह जानेके कारण तपका फल भोगते हुए स्वर्गमें देव हुए तथा वहाँसे आकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेंगे ॥१४॥ हे राजन् ! यह मैंने तुझे सोमवंश कहा अब आगे संक्षेपसे विद्याधरोंके वंशका वर्णन करता हूँ ॥१५॥

विद्याधरोंका राजा जो नमि था उसके रत्नमाली नामका पुत्र हुआ। रत्नमालीके रत्नवज्र, रत्नवज्रके रत्नरथ, रत्नरथके रत्नचित्र, रत्नचित्रके चन्द्ररथ, चन्द्ररथके वज्रजङ्घ, वज्रजङ्घके वज्रसेन, वज्रसेनके वज्रदंष्ट्र, वज्रदंष्ट्रके वज्रध्वज, वज्रध्वजके वज्रायुध, वज्रायुधके वज्र, वज्रके सुवज्र, सुवज्रके वज्रभृत्, वज्रभृत्के वज्राभ, वज्राभके वज्रबाहु, वज्रबाहुके वज्रसंज्ञ, वज्रसंज्ञके वज्रास्य, वज्रास्यके वज्रपाणि, वज्रपाणिके वज्रजातु, वज्रजातुके वज्रवान्, वज्रवान्के विद्युन्मुख, विद्युन्मुखके सुवक्त्र, सुवक्त्रके विद्युद्दंष्ट्र, विद्युद्दंष्ट्रके विद्युत्वान्, विद्युत्वान्के विद्युदाभ, विद्युदाभके विद्युद्वेग और विद्युद्वेगके वैद्युत नामक पुत्र हुए। ये ही नहीं, इन्हें आदि लेकर अनेक शूर वीर विद्याधरोंके राजा हुए। ये सभी दीर्घ काल तक राज्यकर अपनी-अपनी चेष्टाओंके अनुसार स्थानोंको प्राप्त हुए ॥१६-२१॥ इनमेंसे कितने ही राजाओंने पुत्रोंके लिए राज्य सौंपकर जिनदीक्षा धारण की और राग द्वेष छोड़कर सिद्धिपद प्राप्त किया ॥२२॥ कितने ही राजा समस्त कर्मबन्धनको नष्ट नहीं कर सके इसलिए संकल्प मात्रसे उपस्थित होनेवाले देवोंके सुखका उपभोग करने लगे ॥२३॥ कितने ही लोग स्नेहके कारण गुरुतर कर्मरूपी पाशसे बँधे रहे और जालमें बँधे हरिणोंके समान उसी कर्म रूपी पाशमें बँधे हुए मृत्युको प्राप्त हुए ॥२४॥

अथानन्तर इसी विद्याधरोंके वंशमें एक विद्युद्दृढ नामका राजा हुआ जो दोनों श्रेणियोंका स्वामी था, विद्याबलमें अत्यन्त उद्धत और विपुल पराक्रमका धारी था ॥२५॥ किसी एक समय वह विमानमें बैठकर विदेह क्षेत्र गया था वहाँ उसने आकाशसे ही निर्ग्रन्थ मुद्राके धारी संजयन्त मुनिको देखा, उस समय वे ध्यानमें आरूढ़ थे और उनका शरीर पर्वतके समान निश्चल था ॥२६॥ विद्युद्दृढ विद्याधरने उन मुनिराजको लाकर पञ्चगिरि नामक पर्वतपर रख दिया

१. -माश्रमम् म० । २. विद्युद्दंष्ट्रो म० ।

तस्य लोष्टुभिरन्यैश्च हन्यमानस्य योगिनः । बभूव समचित्तस्य संक्लेशो न मनागपि ॥२८॥
ततोऽस्य सहमानस्य संजयन्तस्य दुःसहम् । उपसर्गं समुत्पन्नं केवलं सर्वभासनम् ॥२९॥
धरणेन ततो विद्या हृता विद्युद्दृढस्थिताः । ततोऽसौ हृतविद्यः सन् ययावुपशमं परम् ॥३०॥
ततोऽनया पुनर्लब्धा विद्यानेन व्यवस्थया । प्रणतेनाञ्जलिं कृत्वा संजयन्तस्य पादयोः ॥३१॥
तपःक्लेशेन भवतां विद्याः सेत्स्यन्ति भूरिणा । सिद्धा अपि तथा सत्यश्छेदं यास्यन्ति दुष्कृतात् ॥३२॥
अर्हद्बिम्बसनाथस्य चैत्यस्योपरि[1] गच्छताम् । साधूनां च प्रमादेऽपि विद्या नंक्ष्यन्ति वः क्षणात् ॥३३॥
धरणेन ततः पृष्टः संजयन्तः कुतूहलात् । विद्युद्दृढेन भगवन् कस्मादेवं विचेष्टितम् ॥३४॥
उवाच भगवानेवं संसारेऽस्मिन् चतुर्गतौ । भ्राम्यन्नहं समुत्पन्नो ग्रामे शकटनामनि ॥३५॥
वणिग्घितकरो नाम्ना प्रियवादी दयान्वितः । स्वभावार्जवसंपन्नः साधुसेवापरायणः ॥३६॥
कालधर्मं ततः कृत्वा राजा श्रीवर्द्धनाह्वयः । अभवत् कुमुदावत्यां व्यवस्थापालनोद्यतः ॥३७॥
ग्रामे तत्रैव विप्रोऽभूत् स कृत्वा कुत्सितं तपः । कुदेवोऽत्र ततश्च्युत्वा राज्ञः श्रीवर्द्धनस्य तु ॥३८॥
ख्यातो वह्निशिखो नाम्ना सत्यवादीति विश्रुतः । अभूत् पुरोहितो रौद्रो गुप्ताकार्यकरो महान् ॥३९॥
वणिग्नियमदत्तस्य स[2] च द्रव्यमपाहृत । राज्ञ्या[3] द्यूतं ततः कृत्वा निर्जितः सोऽङ्गुलीयकम् ॥४०॥

और 'इनका वध करो' इस प्रकार विद्याधरोंको प्रेरित किया ॥२७॥ राजाकी प्रेरणा पाकर विद्याधरोंने उन्हें पत्थर तथा अन्य साधनोंसे मारना शुरू किया परन्तु वे तो सम चित्तके धारी थे अतः उन्हें थोड़ा भी संक्लेश उत्पन्न नहीं हुआ ॥२८॥ तदनन्तर दुःसह उपसर्गको सहन करते हुए उन सञ्जयन्त मुनिराजको समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥२९॥ उसी समय मुनिराजका पूर्व भवका भाई धरणेन्द्र आया। उसने विद्युद्दृढकी सब विद्याएँ हर लीं जिससे वह विद्यारहित होकर अत्यन्त शान्त भावको प्राप्त हुआ ॥३०॥ विद्याओंके अभावमें बहुत दुःखी होकर उसने हाथ जोड़कर नम्र भावसे धरणेन्द्रसे पूछा कि अब हमें किसी तरह विद्याएँ सिद्ध हो सकती हैं या नहीं? तब धरणेन्द्रने कहा कि तुम्हें इन्हीं सञ्जयन्त मुनिराजके चरणोंमें तपश्चरण सम्बन्धी क्लेश उठानेसे फिर भी विद्याएँ सिद्ध हो सकती हैं परन्तु खोटा कार्य करनेसे वे विद्याएँ सिद्ध होनेपर भी पुनः नष्ट हो जावेंगी। जिनप्रतिमासे युक्त मन्दिर और मुनियोंका उल्लंघनकर प्रमादवश यदि ऊपर गमन करोगे तो तुम्हारी विद्याएँ तत्काल नष्ट हो जावेंगी। धरणेन्द्रके द्वारा बताई हुई व्यवस्थाके अनुसार विद्युद्दृढ़ने संजयन्त मुनिराजके पादमूलमें तपश्चरण कर फिर भी विद्या प्राप्त कर ली ॥३१-३३॥

यह सब होनेके बाद धरणेन्द्रने कुतूहलवश संजयन्त मुनिराजसे पूछा कि हे भगवन्! विद्युद्दृढ़ने आपके प्रति ऐसी चेष्टा क्यों की है? वह किस कारण आपको हर कर लाया और किस कारण विद्याधरोंसे उसने उपसर्ग कराया? ॥३४॥ धरणेन्द्रका प्रश्न सुनकर भगवान् संजयन्त केवली इस प्रकार कहने लगे—इस चतुर्गति रूप संसारमें भ्रमण करता हुआ मैं एक बार शकट नामक गाँवमें हितकर नामक वैश्य हुआ था। मैं अत्यन्त मधुरभाषी, दयालु, स्वभावसम्बन्धी सरलतासे युक्त तथा साधुओंकी सेवामें तत्पर रहता था ॥३५-३६॥ तदनन्तर मैं कुमुदावती नामकी नगरीमें मर्यादाके पालन करनेमें उद्यत श्रीवर्द्धन नामका राजा हुआ ॥३७॥ उसी ग्राममें एक ब्राह्मण रहता था जो खोटा तपकर कुदेव हुआ था और वहाँसे च्युत होकर मुझ श्रीवर्द्धन राजाका वह्निशिख नामका पुरोहित हुआ था। वह पुरोहित यद्यपि सत्यवादी रूपसे प्रसिद्ध था परन्तु अत्यन्त दुष्ट-परिणामी था और छिपकर खोटे कार्य करता था ॥३८-३९॥ उस पुरोहितने एक बार नियमदत्त नामक वणिकका धन छिपा लिया तब रानीने उसके साथ जुआ खेलकर उसकी अँगूठी जीत

1. चैतस्योपरि म० । 2. स्वं च ख०, स्वयं क० । 3. राज्ञा म०, क० ।

तेनाभिज्ञानदानेन दास्या गत्वा तदालयम् । उपनीतानि रत्नानि वणिजे[1] दुःखवर्तिने ॥४१॥
ततो गृहीतसर्वस्वः खलीकृत्य द्विजाधमः । पुरो निर्वासितो दीनस्तपः परममाचरत्[2] ॥४२॥
मृत्वा कल्पं स माहेन्द्रं प्राप्तस्तस्मात्परिच्युतः । खेचराणामधीशोऽयमभूद्विद्युद्दृढध्वनिः ॥४३॥
श्रीवर्द्धनस्तपः कृत्वा मृत्वा कल्पमुपागतः । संजयन्तश्रुतिर्जातो[3] विदेहेऽहं ततश्च्युतः ॥४४॥
तेन दोषानुबन्धेन दृष्ट्वा मां क्रोधमूर्च्छितः । उपसर्गं व्यधादेष कर्मणां वशतां गतः ॥४५॥
योऽसौ नियमदत्तोऽभूत् स कृत्वा तपसोऽर्जनम् । राजा नागकुमाराणां जातस्त्वं शुभमानसः ॥४६॥
अथ विद्युद्दृढस्याभून्नाम्ना दृढरथः सुतः । तत्र राज्यं स निक्षिप्य तपः कृत्वा गतो दिवम् ॥४७॥
अश्वधर्माऽभवत्तस्मादश्वायुरभवत्ततः । अश्वध्वजस्ततो जातस्ततो पद्मनिभोऽभवत्[4] ॥४८॥
पद्ममाली ततो भूतोऽभवत् पद्मरथस्ततः । सिंहयानो मृगोद्धर्मा[5] मेघाख्यः सिंहसप्रभुः ॥४९॥
सिंहकेतुः शशाङ्कास्यश्चन्द्राह्वश्चन्द्रशेखरः । इन्द्रचन्द्ररथाभिख्यौ चक्रधर्मा तदायुधः ॥५०॥
चक्रध्वजो मणिग्रीवो मण्यङ्को मणिभासुरः । मणिस्यन्दनमण्यास्यौ बिम्बोष्ठो लम्बिताधरः[6] ॥५१॥
रक्तोष्ठो हरिचन्द्रश्च पूश्चन्द्रः पूर्णचन्द्रमाः । बालेन्दुश्चन्द्रमश्चूडो व्योमेन्दुरुडुपालनः ॥५२॥
एकचूडो द्विचूडश्च त्रिचूडश्च ततोऽभवत् । वज्रचूडस्ततस्तस्माद् भूरिचूडार्कचूडकौ ॥५३॥
तस्माद्वह्निजटी जातो वह्नितेजास्ततोऽभवत् । बहवश्चैवमन्येऽपि कालेन क्षयमागताः ॥५४॥

ली ॥४०॥ रानीकी दासी अँगूठी लेकर पुरोहितके घर गई और वहाँ उसकी स्त्रीको दिखाकर उससे रत्न ले आई । रानीने वे रत्न नियमदत्त वणिक्को जो कि अत्यन्त दुःखी था वापिस दे दिये । तदनन्तर मैंने उस दुष्ट ब्राह्मणका सब धन छीन लिया तथा उसे तिरस्कृतकर नगरसे बाहर निकाल दिया । उस दीन हीन ब्राह्मणको सुबुद्धि उत्पन्न हुई जिससे उसने उत्कृष्ट तपश्चरण किया ॥४१–४२॥ अन्तमें मरकर वह माहेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ और वहाँसे च्युत होकर यह विद्युद्दृढ़ नामक विद्याधरोंका राजा हुआ है ॥४३॥ मेरा जीव श्रीवर्द्धन भी तपश्चरणकर मरा और स्वर्गमें देव हुआ । वहाँसे च्युत होकर मैं विदेह क्षेत्रमें संजयन्त हुआ हूँ ॥४४॥ उस पूर्वोक्त दोषके संस्कारसे ही यह विद्याधर मुझे देखकर क्रोधसे एकदम मूर्च्छित हो गया और कर्मोंके वशीभूत होकर उसी संस्कारसे इसने यह उपसर्ग किया है ॥४५॥ और जो वह नियमदत्त नामक वणिक् था वह तपश्चरण कर उसके फलस्वरूप उज्ज्वल हृदयका धारी तू नागकुमारोंका राजा धरणेन्द्र हुआ है ॥४६॥

अथानन्तर—विद्युद्दृढ़के दृढरथ नामक पुत्र हुआ सो विद्युद्दृढ उसके लिए राज्य सौंपकर तथा तपश्चरण कर स्वर्ग गया ॥४७॥ इधर दृढरथके अश्वधर्मा, अश्वधर्माके अश्वायु, अश्वायुके अश्वध्वज, अश्वध्वजके पद्मनिभ, पद्मनिभके पद्ममाली, पद्ममालीके पद्मरथ, पद्मरथके सिंहयान, सिंहयानके मृगोद्धर्मा, मृगोद्धर्माके सिंहसप्रभु, सिंहसप्रभुके सिंहकेतु, सिंहकेतुके शशाङ्कमुख, शशाङ्कमुखके चन्द्र, चन्द्रके चन्द्रशेखर, चन्द्रशेखरके इन्द्र, इन्द्रके चन्द्ररथ, चन्द्ररथके चक्रधर्मा, चक्रधर्माके चक्रायुध, चक्रायुधके चक्रध्वज, चक्रध्वजके मणिग्रीव, मणिग्रीवके मण्यङ्क, मण्यङ्कके मणिभासुर, मणिभासुरके मणिस्यन्दन, मणिस्यन्दनके मण्यास्य, मण्यास्यके बिम्बोष्ठ, बिम्बोष्ठके लम्बिताधर, लम्बिताधरके रक्तोष्ठ, रक्तोष्ठके हरिचन्द्र, हरिचन्द्रके पूश्चन्द्र, पूश्चन्द्रके पूर्णचन्द्र, पूर्णचन्द्रके बालेन्दु, बालेन्दुके चन्द्रचूड, चन्द्रचूडके व्योमेन्दु, व्योमेन्दुके उडुपालन, उडुपालनके एकचूड, एकचूडके द्विचूड, द्विचूडके त्रिचूड, त्रिचूडके वज्रचूड, वज्रचूडके भूरिचूड, भूरिचूडके अर्कचूड, अर्कचूडके वह्निजटी, वह्निजटीके वह्नितेज नामका पुत्र हुआ । इसी प्रकार और भी बहुतसे

१. वाणिजे म०, क० । २. -माचरन् म० । ३. जाता म०, ख० । ४. पद्मनभो म० । ५. मृगद्धर्मा म० । मृगाद्धर्मान् ख० । ६. लविताधरः म०, ख० ।

पालयित्वा श्रियं केचिन्न्यस्य पुत्रेषु तां पुनः । कृत्वा कर्मक्षयं याताः सिद्धैरध्यासितां महीम् ॥५५॥
एवं वैद्याधरोऽयं ते राजन् वंशः प्रकीर्तितः । अवतारो द्वितीयस्य युगस्यातः प्रचक्ष्यते ॥५६॥
अस्य नाभेयचिह्नस्य युगस्य विनिवर्तने । हीनाः पुरातना भावाः प्रशस्ता अत्र भूतले ॥५७॥
शिथिलायितुमारब्धा[1] परलोकक्रियारतिः । कामार्थयोः समुत्पन्ना जनस्य परमा मतिः ॥५८॥
अथेक्ष्वाकुकुलोत्थेषु तेष्वतीतेषु राजसु । पुत्रः श्रियां समुत्पन्नो धरणीधरनामतः ॥५९॥
अयोध्यानगरे श्रीमान् प्रख्यातस्त्रिदशंजयः । इन्दुरेखा प्रिया तस्य जितशत्रुस्तयोः सुतः ॥६०॥
पुरे पोदनसंज्ञेऽथ व्यानन्दस्य महीपतेः । जातामम्भोजमालायां नामतो [2]विजयां सुताम् ॥६१॥
जितशत्रोः समायोज्य प्रव्रज्य[3] त्रिदशंजयः । निर्वाणं च परिप्राप्तः कैलासधरणीधरे ॥६२॥
अथाजितजिनो जातस्तयोः पूर्वविधानतः । अभिषेकादिदेवेन्द्रैः कृतं नाभेयवर्णितम् ॥६३॥
तस्य पित्रा जिताः सर्वे तज्जन्मनि यतो द्विषः । ततोऽसावजिताभिख्यां संप्राप्तो धरणीतले ॥६४॥
आसन् सुनयनानन्देत्याद्यस्तस्य योषितः । यासां शच्यपि रूपेण शक्ता नानुकृतिं प्रति ॥६५॥
अन्यदा रम्यमुद्यानं गतः सान्तःपुरोऽजितः । पूर्वाह्णे फुल्लमैक्षिष्ट पङ्कजानां वनं महत् ॥६६॥
तदेव संकुचद्वीक्ष्य भास्करेऽस्तं यियासति । अनित्यतां श्रियो मत्वा निर्वेदं परमं गतः ॥६७॥
ततः पितरमापृच्छ्य मातरं च स बान्धवान् । नाथः पूर्वविधानेन प्रव्रज्यां प्रतिपन्नवान् ॥६८॥

पुत्र हुए जो कालक्रमसे मृत्युको प्राप्त होते गये ॥४८-५४॥ इनमेंसे कितने ही विद्याधर राजा, लक्ष्मीका पालनकर तथा अन्तमें पुत्रोंको राज्य सौंपकर कर्मोंका क्षय करते हुए सिद्धभूमिको प्राप्त हुए ॥५५॥ गौतमस्वामी कहते हैं कि हे राजन्! इस प्रकार यह विद्याधरोंका वंश कहा। अब द्वितीय युगका अवतार कहा जाता है सो सुन ॥५६॥

भगवान् ऋषभदेवका युग समाप्त होनेपर इस पृथिवीपर जो प्राचीन उत्तम भाव थे वे हीन हो गये, लोगोंकी परलोक सम्बन्धी क्रियाओंमें प्रीति शिथिल होने लगी तथा काम और अर्थ पुरुषार्थमें ही उनकी प्रवर बुद्धि प्रवृत्त होने लगी ॥५७-५८॥ अथानन्तर इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न हुए राजा जब काल क्रमसे अतीत हो गये तब अयोध्या नगरीमें एक धरणीधर नामक राजा उत्पन्न हुए। उनकी श्रीदेवी नामक रानीसे प्रसिद्ध लक्ष्मीका धारक त्रिदशञ्जय नामका पुत्र हुआ। इसकी स्त्रीका नाम इन्दुरेखा था, उन दोनोंके जितशत्रु नामका पुत्र हुआ ॥५९-६०॥ पोदनपुर नगरमें व्यानन्द नामक राजा रहते थे उनकी अम्भोजमाला नामक रानीसे विजया नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी। राजा त्रिदशञ्जयने जितशत्रुका विवाह विजयाके साथ कराकर दीक्षा धारण कर ली और तपश्चरणकर कैलास पर्वतसे मोक्ष प्राप्त किया ॥६१-६२॥ अथानन्तर राजा जितशत्रु और रानी विजयाके अजितनाथ भगवान्‌का जन्म हुआ। इन्द्रादिक देवोंने भगवान् ऋषभदेवका जैसा अभिषेक आदि किया था वैसा ही भगवान् ऋषभदेवका किया ॥६३॥ चूँकि उनका जन्म होते ही पिताने समस्त शत्रु जीत लिये थे इसलिए पृथिवीतल पर उनका 'अजित' नाम प्रसिद्ध हुआ ॥६४॥ भगवान् अजितनाथकी सुनयना नन्दा आदि अनेक रानियाँ थीं। वे सब रानियाँ इतनी सुन्दर थीं कि इन्द्राणी भी अपने रूपसे उनकी समानता नहीं कर सकती थी ॥६५॥

अथानन्तर—भगवान् अजितनाथ एकदिन अपने अन्तःपुरके साथ सुन्दर उपवनमें गये। वहाँ उन्होंने प्रातःकालके समय फूला हुआ कमलोंका एक विशाल वन देखा ॥६६॥ उसी वनको उन्होंने जब सूर्य अस्त होनेको हुआ तब संकुचित होता देखा। इस घटनासे वे लक्ष्मीको अनित्य मानकर परम वैराग्यको प्राप्त हो गये ॥६७॥ तदनन्तर—पिता माता और भाइयोंसे

१. -मारब्धाः म०, क० । २. विजया क० । ३. प्रव्रज्यस्त्रिदशंजयः म० ।

क्षत्रियाणां सहस्राणि दशानेन समं ततः। निष्क्रान्तानि परित्यज्य राज्यबन्धुपरिग्रहम् ॥६९॥
षष्ठोपवासयुक्ताय तस्मै नाथाय [1]पारणाम्। ब्रह्मदत्तो ददौ भक्त्या साकेतनगरोद्भवः ॥७०॥
चतुर्दशस्वतीतेषु वर्षेष्वस्य ततोऽभवत्। केवलज्ञानमार्हन्त्यं तथा विश्वस्य पूजितम् ॥७१॥
ततश्चातिशयास्तस्य चतुस्त्रिंशत्समुत्थिताः। अष्टौ च प्रतिहार्याणि द्रष्टव्यानीह पूर्ववत् ॥७२॥
नवतिस्तस्य संजाता गणेशाः पादसंश्रिताः। साधूनां चोदितं लक्षं दिवाकरसमत्विषाम् ॥७३॥
कनीयान् जितशत्रोस्तु ख्यातो विजयसागरः। पत्नी सुमङ्गला तस्य तत्सुतः सगरोऽभवत् ॥७४॥
बभूवासौ शुभाकारो द्वितीयश्चक्रवर्तिनाम्। निधानैर्नवभिः ख्यातिं यो गतो वसुधातले ॥७५॥
अस्मिन् यदन्तरे वृत्तं श्रेणिकेदं निशम्यताम्। अस्तीह चक्रवालाख्यं पुरं दक्षिणगोचरम् ॥७६॥
तत्र पूर्णघनो नाम विभुर्व्योमविहारिणाम्। महाप्रभावसम्पन्नो विद्याबलसमुन्नतः ॥७७॥
विहायस्तिलकेशं स ययाचे वरकन्यकाम्। नैमित्तिकाज्ञया दत्ता सगराय तु तेन सा ॥७८॥
युद्धं सुलोचनस्योग्रं यावत्पूर्णघनस्य च। गृहीत्वा भगिनीं तावत्सहस्रनयनोऽगमत् ॥७९॥
निगृह्य च सुनेत्रं स पुरं पूर्णघनोऽविशत्। अदृष्ट्वा च स तां कन्यां स्वपुरं पुनरागतः ॥८०॥
ततः पितृवधात् क्रुद्धः सहस्रनयनोऽबलः। अरण्ये शरमाक्रान्ते स्थितश्छिद्रेक्षणावृतः [2] ॥८१॥
ततश्चक्रधरोऽश्वेन हृतस्तं देशमागतः। दिष्ट्या चोत्पलमत्यासौ दृष्ट्वा भ्रात्रे निवेदितः ॥८२॥
तुष्टेन तेन सा तस्मै दत्ता सगरचक्रिणे। चक्रिणाप्ययमानीतो विद्याधरमहीशताम् ॥८३॥

पूछकर उन्होंने पूर्व विधिके अनुसार दीक्षा धारण कर ली ॥६८॥ इनके साथ अन्य दश हजार क्षत्रियोंने भी राज्य, भाई-बन्धु तथा सब परिग्रहका त्यागकर दीक्षा धारण की थी ॥६९॥ भगवान्ने तेलाका उपवास धारण किया था सो तीन दिन बाद अयोध्या निवासी ब्रह्मदत्त राजाने उन्हें भक्ति-पूर्वक पारणा कराई थी—आहार दिया था ॥७०॥ चौदह वर्ष होनेपर उन्हें केवलज्ञान तथा समस्त संसारके द्वारा पूजनीय अर्हन्तपद प्राप्त हुआ ॥७१॥ जिस प्रकार भगवान् ऋषभदेवके चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य प्रकट हुए थे उसी प्रकार इनके भी प्रकट हुए ॥७२॥ इनके पाद-मूलमें रहनेवाले नब्बे गणधर थे तथा सूर्यके समान कान्तिको धारण करनेवाले एक लाख साधु थे ॥७३॥ जितशत्रुके छोटे भाई विजयसागर थे, उनकी स्त्रीका नाम सुमङ्गला था, सो उन दोनोंके सगर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥७४॥ यह सगर शुभ आकारका धारक दूसरा चक्रवर्ती हुआ और पृथ्वीतलपर नौ निधियोंके कारण परम प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ था ॥७५॥ हे श्रेणिक ! इसके समय जो वृत्तान्त हुआ उसे तू सुन। भरतक्षेत्रके विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीमें एक चक्रवाल नामका नगर है ॥७६॥ उसमें पूर्णघन नामका विद्याधरोंका राजा राज्य करता था। वह महा-प्रभावसे युक्त तथा विद्याओंके बलसे उन्नत था। उसने विहायस्तिलक नगरके राजा सुलोचनसे उसकी कन्याकी याचना की पर सुलोचनने अपनी कन्या पूर्णघनको न देकर निमित्तज्ञानीकी आज्ञानुसार सगर चक्रवर्तीके लिए दी ॥७७–७८॥ इधर राजा सुलोचन और पूर्णघनके बीच जब तक भयङ्कर युद्ध होता है तब तक सुलोचनका पुत्र सहस्रनयन अपनी बहिनको लेकर अन्यत्र चला गया ॥७९॥ पूर्णघनने सुलोचनको मारकर नगरमें प्रवेश किया परन्तु जब कन्या नहीं देखी तो अपने नगरको वापिस लौट आया ॥८०॥ तदनन्तर पिताका वध सुनकर सहस्रनयन पूर्णमेघपर बहुत ही कुपित हुआ परन्तु निर्बल होनेसे कुछ कर नहीं सका। वह अष्टापद आदि हिंसक जन्तुओंसे भरे वनमें रहता था और सदा पूर्णमेघके छिद्र देखता रहता था ॥८१॥ तदनन्तर एक मायामयी अश्व सगरचक्रवर्तीको हर ले गया सो वह उसी वनमें आया जिसमें कि सहस्रनयन रहता था। सौभाग्यसे सहस्रनयनकी बहिन उत्पलमतीने चक्रवर्तीको देखकर भाईसे यह समा-चार कहा ॥८२॥ सहस्रनयन यह समाचार सुनकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और उसने उत्पलमती,

१. पारणम् म०, ख०। २. वृते क०, वृतः म०।

स्त्रीरत्नं तदसौ लब्ध्वा परं तोषमुपागतः । षट्खण्डाधिपतिः सर्वैः पार्थिवैः कृतशासनः ॥८४॥
प्राप्तविद्याभृदैश्वर्येण पुरं पौर्णघनं ततः । रुद्धं सहस्रनेत्रेण प्राकारेणेव सर्वतः ॥८५॥
ततो महति संग्रामे प्रवृत्ते जनसंक्षये । नीतः सहस्रनेत्रेण पूर्णमेघः परासुताम् ॥८६॥
पुत्रः पूर्णघनस्याथ नाम्ना [1]तोदयवाहनः । परैरुद्वासितश्चक्रवालाद् भ्राम्यन् नभोऽङ्गणे ॥८७॥
खेचरैर्बहुभिः क्रुद्धैरनुयातः सुदुःखितः[2] । अजितं शरणं यातस्त्रैलोक्यसुखकारणम् ॥८८॥
ततो वज्रधरेणासौ पृष्टस्त्रासस्य[3] कारणम् । अब्रवीत् सगरं प्राप्य मम बन्धुक्षयः[4] कृतः ॥८९॥
अस्मत्पित्रोरभूद् वैरं नैकजीवविनाशनम् । तेनानुबन्धदोषेण नितान्तक्रूरचेतसा ॥९०॥
सहस्रनयनेनाहं त्रासितः शत्रुणा भृशम् । हंसैः समं समुत्पत्य प्रासादादागतो द्रुतम् ॥९१॥
ततो जिनसमीपे तं गृहीतुमशक्तैर्नृपैः । निवेदिते सहस्राक्षः संप्रतस्थे स्वयं रुषा ॥९२॥
[5]कोऽपरोऽस्ति मदुद्वीर्यो येनासौ परिरक्ष्यते । इति संचिन्तयन् प्राप्तो जिनस्य धरणीमसौ ॥९३॥
प्रभामण्डलमेवासौ दृष्ट्वा दूरे जिनोद्भवम् । सर्वं गर्वं परित्यज्य प्रणनामाजितं विभुम् ॥९४॥
जिनपादसमीपे तौ मुक्तवैरौ ततः स्थितौ । तत्पित्रोश्चरितं पृष्टो गणिना च जिनाधिपः ॥९५॥
इदं प्रोवाच भगवान् जम्बूद्वीपस्य भारते । पुरे सद्तुसंज्ञाके भावनो नाम वाणिजः ॥९६॥

सगरचक्रवर्तीके लिए प्रदान कर दी। चक्रवर्तीने भी पूर्णघनको विद्याधरोंका राजा बना दिया ॥८३॥ जो छह खण्डका अधिपति था तथा समस्त राजा जिसका शासन मानते थे ऐसा चक्रवर्ती सगर उस स्त्रीको पाकर बहुत भारी सन्तोषको प्राप्त हुआ ॥८४॥ विद्याधरोंका आधिपत्य पाकर सहस्रनयनने पूर्णघनके नगरको चारों ओरसे कोटके समान घेर लिया ॥८५॥ तदनन्तर दोनोंके बीच मनुष्योंका संहार करनेवाला बहुत भारी युद्ध हुआ जिसमें सहस्रनयनने पूर्णमेघको मार डाला ॥८६॥ तदनन्तर पूर्णघनके पुत्र मेघवाहनको शत्रुओंने चक्रवाल नगरसे निर्वासित कर दिया सो वह आकाशरूपी आँगनमें भ्रमण करने लगा ॥८७॥ उसे देखकर बहुतसे कुपित विद्याधरोंने उसका पीछा किया सो वह अत्यन्त दुखी होकर तीन लोकके जीवोंको सुख उत्पन्न करनेवाले भगवान् अजितनाथ की शरणमें पहुँचा ॥८८॥ वहाँ इन्द्रने उससे भयका कारण पूछा। तब मेघवाहनने कहा कि हमारे पिता पूर्णघन और सहस्रनयनके पिता सुलोचनमें अनेक जीवोंका विनाश करनेवाला वैर-भाव चला आ रहा था सो उसी संस्कारके दोषसे अत्यन्त क्रूरचित्तके धारक सहस्रनयनने सगर चक्रवर्तीका बल पाकर मेरे बन्धुजनोंका क्षय किया है। इस शत्रुने मुझे भी बहुत भारी त्रास पहुँचाया है सो मैं महलसे हंसोंके साथ उड़कर शीघ्र ही यहाँ आया हूँ ॥८९-९१॥ तदनन्तर जो राजा मेघवाहनका पीछा कर रहे थे उन्होंने सहस्रनयनसे कहा कि वह इस समय भगवान् अजितनाथके समीप है अतः हम उसे पकड़ नहीं सकते। यह सुनकर सहस्रनयन रोषवश स्वयं ही चला और मन ही मन सोचने लगा कि देखें मुझसे अधिक बलवान् दूसरा कौन है ? जो इसकी रक्षा कर सके। ऐसा सोचता हुआ वह भगवान्के समवसरणमें आया ॥९२-९३॥ सहस्रनयनने ज्यों ही दूरसे भगवान्का प्रभामण्डल देखा त्योंही उसका समस्त अहङ्कार चूर-चूर हो गया। उसने भगवान् अजितनाथको प्रणाम किया। सहस्रनयन और मेघवाहन दोनों ही परस्परका वैर-भाव छोड़कर भगवान्के चरणोंके समीप जा बैठे। तदनन्तर गणधरने भगवान्से उन दोनोंके पिताका चरित्र पूछा सो भगवान् निम्नप्रकार कहने लगे ॥९४-९५॥

जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें सद्तु नामका नगर था। उसमें भावन नामका एक वणिक् रहता था। उसकी आतकी नामक स्त्री और हरिदास नामक पुत्र था। वह भावन यद्यपि चार करोड़

१. मेघवाहनः । २. सदुःखितः म० । ३. त्रासक म० । ४. बन्धुः क्षयं कृतः म० । ५. कोऽपरेऽस्ति म० ।

आतकीत्यङ्गना तस्य हरिदासश्च तत्सुतः। चतुःकोटीश्वरो भूत्वा यात्रोद्युक्तः स भावनः ॥९७॥
पुत्राय सकलं द्रव्यं न्यासत्वेन समर्पयन्। द्यूतादिवर्जनार्थं च शिक्षामस्मै ददौ परम् ॥९८॥
सहेतुसर्वदोषेभ्य उपदिश्य निवर्तनम्। पुत्राय वाणिजो यातः पोतेन धनतृष्णया ॥९९॥
उपचारेण वेश्यायामासक्त्या द्यूतमण्डले। सुरायामभिमानेन चतुःकोट्योऽपि नाशिताः ॥१००॥
यदासौ निर्जितो द्यूते तदा राज्ञो गृहं गतः। हरिदासो दुराचारो द्रविणार्थं सुरङ्गया ॥१०१॥
आनीयासौ ततो द्रव्यं क्रियाः सर्वाश्चकार सः। भावनोऽन्यदा गेहमायातो नेक्षते सुतम् ॥१०२॥
हरिदासो गतः क्वेति तेन पृष्टा कुटुम्बिनी। सावोचदनया यातश्चौर्यार्थं च सुरङ्गया ॥१०३॥
ततोऽसौ तस्य मरणं शङ्कमानः सुरङ्गया। प्रस्थितश्चौर्यशान्त्यर्थं गृहाभ्यन्तरदत्तया ॥१०४॥
आगच्छता च पुत्रेण कोऽपि वैरी ममेत्यसौ। मण्डलाग्रेण पापेन वराको विनिपातितः ॥१०५॥
विज्ञातोऽसौ ततस्तेन नखश्मश्रुसटादिभिः। स्पृष्ट्वा मम पितेत्येष प्राप्तो दुःखं च दुःसहम् ॥१०६॥
जनकस्य ततो मृत्युं कृत्वासौ[1] भयविद्रुतः। पर्यटन् दुःखतो देशान् यातः कालेन पञ्चताम् ॥१०७॥
कौलेयकौ शृगालौ च वृषदंशौ वृषौ तथा। नकुलौ महिषावेतौ जातौ च वृषभौ पुनः ॥१०८॥
अन्योऽन्यस्य ततो घातं कृत्वा तौ भवसंकटे। विदेहे पुष्कलावत्यां मनुष्यत्वमुपागतौ ॥१०९॥
उग्रं कृत्वा तपस्तस्मिन्नुत्तरानुत्तराह्वयौ। गत्वा सतारमायातौ जनकौ भवतोरिमौ ॥११०॥
योऽसौ भावननामासीज्जातोऽसौ पूर्णतोयदः। आसीत्तस्य तु यः पुत्रः संजातः स सुलोचनः ॥१११॥

द्रव्यका स्वामी था तो भी धन कमानेकी इच्छासे देशान्तरकी यात्राके लिए उद्यत हुआ ॥९६-९७॥ उसने अपना सब धन धरोहरके रूपमें पुत्रके लिए सौंपते हुए, जुआ आदि व्यसनोंके छोड़नेकी उत्कृष्ट शिक्षा दी। उसने कहा कि 'हे पुत्र! ये जुआ आदि व्यसन समस्त दोषोंके कारण हैं इसलिए इनसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है' ऐसा उपदेश देकर वह भावन नामका वणिक् धनकी तृष्णासे जहाजमें बैठकर देशान्तरको चला गया ॥९८-९९॥ पिताके चले जानेपर हरिदासने वेश्या सेवन, जुआकी आसक्ति तथा मदिराके अहंकार वश चारों करोड़ द्रव्य नष्ट कर दिया ॥१००॥ इस प्रकार जब वह जुआमें सब कुछ हार गया और अन्य जुवाड़ियोंका देनदार हो गया तब वह दुराचारी धनके लिए सुरङ्ग लगाकर राजाके घरमें घुसा तथा वहाँसे धन लाकर अपने सब व्यसनोंकी पूर्ति करने लगा। अथानन्तर कुछ समय बाद जब उसका पिता भावन देशान्तरसे घर लौटा तब उसने पुत्रको नहीं देखकर अपनी स्त्रीसे पूछा कि हरिदास कहाँ गया है? स्त्रीने उत्तर दिया कि वह इस सुरङ्गसे चोरी करनेके लिए गया है ॥१०१-१०३॥ तदनन्तर भावनको शङ्का हुई कि कहीं इस कार्यमें इसका मरण न हो जावे इस शङ्कासे वह चोरी छुड़ानेके लिए घरके भीतर दी हुई सुरङ्गसे चला ॥१०४॥ उधरसे उसका पुत्र हरिदास वापिस लौट रहा था, सो उसने समझा कि यह कोई मेरा वैरी आ रहा है ऐसा समझकर उस पापीने बेचारे भावनको तलवारसे मार डाला ॥१०५॥ पीछे जब नख, दाढ़ी, मूँछ तथा जटा आदिके स्पर्शसे उसे विदित हुआ कि अरे! यह तो मेरा पिता है, तब वह दुःसह दुःखको प्राप्त हुआ ॥१०६॥ पिताकी हत्याकर वह भयसे भागा और अनेक देशोंमें दुःख पूर्वक भ्रमण करता हुआ मरा ॥१०७॥ पिता पुत्र दोनों श्वान हुए, फिर शृगाल हुए, फिर मार्जार हुए, फिर बैल हुए, फिर नेवला हुए, फिर भैंसा हुए, और फिर बैल हुए। ये दोनों ही परस्परमें एक दूसरेका घातकर मरे और संसार रूपी वनमें भटकते रहे। अन्तमें विदेह क्षेत्रकी पुष्कलावती नगरीमें मनुष्य हुए ॥१०८-१०९॥ फिर उग्र तपश्चरणकर शतार नामक ग्यारहवें स्वर्गमें उत्तर और अनुत्तर नामक देव हुए। वहाँसे आकर जो भावन नामका पिता था वह पूर्णमेघ विद्याधर हुआ और जो

१. सोऽभयविद्रुतः म०।

पित्रोरेवं परिज्ञाय भवदुःखविवर्तनम् । भजतं[1] शममुज्झित्वा वैरं संसारकारणम् ॥११२॥
चक्रवर्ती ततोऽपृच्छदेतयोः पूर्वजन्मनि । वैरकारणमेवं च भाषितं धर्मचक्रिणा ॥११३॥
जम्बूद्वीपस्य भरते पुरे पद्मकनामनि । सांख्यिकोरम्भनामासीद् विषये प्रथितो धनी ॥११४॥
शश्यावलिसमाह्वानौ तस्य मैत्रीसमन्वितौ । शिष्यावत्यन्तविख्यातौ धनवन्तौ गुणोत्कटौ ॥११५॥
मा भूदाभ्यां ममोद्वृत्तः संहताभ्यामिति द्रुतम् । तयोः स[2] भेदमकरोन्नयशास्त्रविचक्षणः ॥११६॥
गोपालकेन संमन्त्र्य शशी मूल्यार्थमन्यदा । चिक्रीषुर्गां गृहं यावदायातो निजलीलया ॥११७॥
क्रीत्वा दैवनियोगात्तामागच्छन्नावली पुरम्[3] । गच्छता शशिना क्रोधान्निहतो म्लेच्छतामितः ॥११८॥
मृतः शशी बलीवर्दो जातो म्लेच्छेन तेन च । हत्वा वैरानुबन्धेन भक्ष्यतामुपपादितः ॥११९॥
तिर्यग्नारकपान्थः सन्म्लेच्छो मूषकतां गतः । अभूच्छश्यपि मार्जारस्तेन हत्वा स भक्षितः ॥१२०॥
पापकर्मनियोगेन प्राप्तौ नरकभूमिषु । प्राप्यते सुमहद् दुःखं जन्तुभिर्भवसागरे ॥१२१॥
भूयः संसृत्य काश्यां तौ दासौ जातौ सहोदरौ । दास्याः संभ्रमदेवस्य कूटकार्पटिकाह्वयौ ॥१२२॥
जिनवेश्मनि तौ तेन नियुक्तौ प्रेत्य पुण्यतः । रूपानन्दः[4] सुरूपश्च जातौ भूतगणाधिपौ ॥१२३॥
शशिपूर्वो रजोवल्यां[5] च्युत्वाऽभूत् कुलपुत्रकः । कुलन्धरोऽपरः पुष्पभूतिः पुत्रः पुरोधसः[6] ॥१२४॥

उसका पुत्र था वह सुलोचन नामका विद्याधर हुआ। इसी वैरके कारण पूर्णमेघने सुलोचनको मारा है ॥११०-१११॥ गणधर देवने सहस्रनयन और मेघवाहनको समझाया कि तुम दोनों इस तरह अपने पिताओंका सांसारिक दुःखमय परिभ्रमणको जानकर संसारका कारणभूत वैर भाव छोड़कर साम्य भावका सेवन करो ॥११२॥

तदनन्तर सगर चक्रवर्तीने पूछा कि हे भगवन्! मेघवाहन और सहस्रनयनका पूर्व जन्ममें वैर क्यों हुआ? तब धर्मचक्रके अधिपति भगवान्ने उनके वैरका कारण निम्न प्रकार समझाया ॥११३॥ उन्होंने कहा कि जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्र सम्बन्धी पद्मक नामक नगरमें गणित शास्त्रका पाठी महाधनवान् रम्भ नामका एक प्रसिद्ध पुरुष रहता था ॥११४॥ उसके दो शिष्य थे—एक चन्द्र और दूसरा आवलि। ये दोनों ही परस्पर मैत्री भावसे सहित थे। अत्यन्त प्रसिद्ध धनवान् और गुणोंसे युक्त थे ॥११५॥ नीतिशास्त्रमें निपुण रम्भने यह विचारकर कि यदि ये दोनों परस्परमें मिले रहेंगे तो हमारा पद भङ्ग कर देंगे, दोनोंमें फूट डाल दी ॥११६॥ एक दिन चन्द्र गाय खरीदना चाहता था सो गोपालके साथ सलाह कर मूल्य लेनेके लिए वह सहज ही अपने घर आया था कि भाग्यवश आवलि उसी गायको खरीदकर अपने गाँवकी ओर आ रहा था। बीचमें चन्द्रने क्रोधवश उसे मार डाला। आवलि मरकर म्लेच्छ हुआ ॥११७-११८॥ और चन्द्र मरकर बैल हुआ सो म्लेच्छने पूर्व वैरके कारण उसे मारकर खा लिया ॥११९॥ म्लेच्छ तिर्यञ्च तथा नरक योनिमें भ्रमणकर चूहा हुआ और चन्द्रका जीव बैल मरकर बिलाव हुआ सो बिलावने चूहेको मारकर भक्षण किया ॥१२०॥ पाप कर्मके कारण दोनों ही मरकर नरकमें उत्पन्न हुए सो ठीक ही है क्योंकि प्राणी संसार रूपी सागरमें बहुत भारी दुःख पाते ही हैं ॥१२१॥ नरकसे निकलकर दोनों हो बनारसमें संभ्रमदेवकी दासीके कूट और कार्पटिक नामके पुत्र हुए। ये दोनों ही भाई दास थे—दासवृत्तिका काम करते थे सो संभ्रमदेवने उन्हें जिनमन्दिरमें नियुक्त कर दिया। अन्तमें मरकर दोनों ही पुण्यके प्रभावसे रूपानन्द और सुरूप नामक व्यन्तर देव हुए ॥१२२-१२३॥ रूपानन्द चन्द्रका जीव था और सुरूप आवलिका जीव था सो रूपानन्द चयकर रजोवली नगरीमें कुलंधर नामका कुलपुत्रक हुआ और सुरूप, पुरोहितका पुत्र पुष्पभूति हुआ ॥१२४॥

---

१. भजतः म० । २. संभेद म० । ३. पुरा ख० । ४. रूपानन्दसुरूपश्च म० । ५. रजोवाल्याम् म० । ६. पुत्रपुरोधसः क० ।

मित्रौ तौ सैरिकस्यार्थे प्राप्तौ वैरं ततः स्थितम्[1] । पुष्पभूतिं ततो हन्तुं प्रावर्तत कुलन्धरः ॥१२५॥
वृक्षमूलस्थसाधोश्च धर्मं श्रुत्वा प्रशान्तवान् । राज्ञा परीक्षितश्चाभूत् सामन्तः पुण्ययोगतः ॥१२६॥
पुष्पभूतिरिमं दृष्ट्वा धर्माद् विभवमागतम् । जैनो भूत्वा मृतो जातस्तृतीये सुरविष्टपे ॥१२७॥
कुलंधरोऽपि तत्रैव च्युतौ तौ मन्दरावरे । विदेहे धातकीखण्डे जयवत्यामरिञ्जये[2] ॥१२८॥
सहस्रशिरसो भृत्यौ क्रूरामरधनश्रुतौ । जातावत्यन्तविक्रान्तावन्तरङ्गौ सुविश्रुतौ[3] ॥१२९॥
अन्यदेशः[4] समं ताभ्यां बद्धुं प्रातिष्ठत द्विपम् । प्रीतिमैक्षिष्ट सत्त्वानां जन्मनैव विरोधिनाम् ॥१३०॥
शमिनोऽमी कथं व्याला इति विस्मयमागतः । अविशत् स महारण्यमपश्यच्च महामुनिम् ॥१३१॥
ततो राजा समं ताभ्यां तस्य केवलिनोऽन्तिके । प्रव्रज्य निर्वृतिं प्रापच्छतारं तु गताविमौ ॥१३२॥
शशिपूर्वस्ततश्च्युत्वा जातोऽयं मेघवाहनः । आवली तु सहस्राक्षो वैरं तेनानयोरिदम् ॥१३३॥
प्रीतिर्ममाधिका कस्मात् सहस्रनयने विभो । इति पृष्टो जिनोऽवोचत् सगरेण ततः पुनः ॥१३४॥
भिक्षादानेन साधूनां रम्भोऽमरकुरुं गतः । सौधर्मं च ततश्च्युत्वा जातश्चन्द्रपुरे हरेः ॥१३५॥
नरेन्द्रस्य धरादेव्यां दयितव्रतकीर्तनः । श्रामण्यान्नाकमारुह्य विदेहे त्ववरे च्युतः ॥१३६
महाघोषेण चन्द्रिण्यामुत्पन्नो रत्नसंचये । पयोबलो मुनीभूय प्राणतं कल्पमाश्रितः ॥१३७॥

यद्यपि कुलंधर और पुष्पभूति दोनों ही मित्र थे तथापि एक हलवाहकके निमित्तसे इन दोनोंमें शत्रुता हो गई। फलस्वरूप कुलंधर पुष्पभूतिको मारनेके लिए प्रवृत्त हुआ ॥१२५॥ मार्गमें उसे एक वृक्षके नीचे विराजमान मुनिराज मिले सो उनसे धर्म श्रवणकर वह शान्त हो गया। राजाने उसकी परीक्षा ली और पुण्यके प्रभावसे उसे मण्डलेश्वर बना दिया ॥१२६॥ पुष्पभूतिने देखा कि धर्मके प्रभावसे ही कुलंधर वैभवको प्राप्त हुआ है इसलिए वह भी जैनी हो गया और मरकर तीसरे स्वर्गमें देव हुआ ॥१२७॥ कुलंधर भी उसी तीसरे स्वर्गमें देव हुआ। दोनों ही च्युत होकर धातकी खण्ड द्वीपके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें अरिंजय पिता और जयवती माताके पुत्र हुए। एकका नाम क्रूरामर, दूसरेका नाम धनश्रुति था। ये दोनों भाई अत्यन्त शूरवीर, एवं सहस्रशीर्ष राजाके विश्वासपात्र प्रसिद्ध सेवक हुए ॥१२८-१२९॥ किसी एक दिन राजा सहस्रशीर्ष, इन दोनों सेवकोंके साथ हाथी पकड़नेके लिए वनमें गया। वहाँ उसने जन्मसे ही विरोध रखनेवाले सिंह-मृगादि जीवोंको परस्पर प्रेम करते हुए देखा ॥१३०॥ 'ये हिंसक प्राणी शान्त क्यों हैं ?' इस प्रकार आश्चर्यको प्राप्त हुए राजा सहस्रशीर्षने ज्योंही महावनमें प्रवेश किया त्योंही उसकी दृष्टि महामुनि केवली भगवान्के ऊपर पड़ी ॥१३१॥ तदनन्तर राजा सहस्रशीर्षने दोनों सेवकोंके साथ केवली भगवान्के पास दीक्षा धारण कर ली। फलस्वरूप राजा तो मोक्षको प्राप्त हुआ और क्रूरामर तथा धनश्रुति शतार स्वर्ग गये ॥१३२॥ इनमें चन्द्रका जीव क्रूरामर तो तो स्वर्गसे चयकर मेघवाहन हुआ है और आवलिका जीव धनश्रुति सहस्रनयन हुआ है। इस प्रकार पूर्वभवके कारण इन दोनोंमें वैर-भाव है ॥१३३॥

तदनन्तर सगर चक्रवर्तीने भगवान्से पूछा कि हे प्रभो ! सहस्रनयनमें मेरी अधिक प्रीति है सो इसका क्या कारण है ? उत्तरमें भगवान्ने कहा कि जो रम्भ नामा गणित शास्त्रका पाठी था वह मुनियोंको आहारदान देनेके कारण देवकुलमें आर्य हुआ, फिर सौधर्म स्वर्ग गया, वहाँसे च्युत होकर चन्द्रपुर नगरमें राजा हरि और धरा नामकी रानीके व्रतकीर्तन नामका प्यारा पुत्र हुआ। वह मुनिपद धारणकर स्वर्ग गया, वहाँसे च्युत होकर पश्चिम विदेह क्षेत्रके रत्नसंचय नगरमें राजा महाघोष और चन्द्रिणी नामकी रानीके पयोबल नामका पुत्र हुआ। वह मुनि होकर प्राणत नामक चौदहवें स्वर्गमें देव हुआ ॥१३४-१३७॥ वहाँसे च्युत होकर भरत क्षेत्रके

१. स्थितौ म०, स्थितः क० । २. जयावत्या -म०, जायावत्या ख० । ३. शुचिश्रुतौ ख० । ४. अन्यदैपः म०, अन्यदा + ईशः इति पदच्छेदः ।

प्रच्युत्य भरते जातो नगरे पृथिवीपुरे । यशोधरनरेन्द्रेण जयायां जयकीर्तनः ॥१३८॥
प्रव्रज्य च पितुः पार्श्वे मृत्वा विजयमाश्रितः । च्युत्वा ततो भवान् जातः सगरश्चक्रलाञ्छनः ॥१३९॥
रम्भस्य भवतो यस्मादावली दयितोऽभवत् । तत्पूर्वोऽयं प्रियोऽद्यापि सहस्राक्षस्ततस्तव ॥१४०॥
अवगम्य जिनेन्द्रास्यादात्मपित्रोर्भवान्तरम् । उत्पन्नो धर्मसंवेगस्तयोरत्यन्तमुन्नतः ॥१४१॥
महतो धर्मसंवेगाज्जातौ जातिस्मृतौ ततः । श्रद्धावन्तौ समारब्धौ स्तोतुं तावजितं जिनम् ॥१४२॥
बालिशानामनाथानां सत्त्वानां कारणाद् विना । उपकारं करोषि त्वंमाश्चर्यं किमतः परम् ॥१४३॥
उपमामुक्तरूपस्य वीर्येणाप्रमितस्य ते । निरीक्षणेन कस्तृप्तो विद्यतेऽस्मिन् जगत्त्रये ॥१४४॥
लब्धार्थः कृतकृत्योऽपि सर्वदर्शी सुखात्मकः । अचिन्त्यो ज्ञातविज्ञेयस्तथापि जगते हितः ॥१४५॥
[1]सारधर्मोपदेशाख्यं जीवानां त्वं जिनोत्तम । पततां भवपाताले हस्तालम्बं प्रयच्छसि ॥१४६॥
इति तौ गद्गदालापौ बाष्पविप्लुतलोचनौ । परमं हर्षमायातौ प्रणम्य विधिवत्स्थितौ ॥१४७॥
शक्राद्या देववृषभाः सगराद्या नृपाधिपाः । साधवः सिंहवीर्याद्या ययुः परममद्भुतम् ॥१४८॥
सदस्यथ जिनेन्द्रस्य रक्षसामधिपाविदम् । ऊचतुर्वचनं भीमसुभीमाविति विश्रुतौ ॥१४९॥
खेचरार्भक धन्योऽसि यस्त्वं शरणमागतः । सर्वज्ञमजितं नाथं तुष्टावावामतस्तव ॥१५०॥
शृणु संप्रति ते स्वास्थ्यं यथा भवति सर्वतः । तं प्रकारं प्रवक्ष्यावः पालनीयस्त्वमावयोः ॥१५१॥

पृथिवीपुर नगरमें राजा यशोधर और जया नामकी रानीके जयकीर्तन नामका पुत्र हुआ ॥१३८॥ वह पिताके निकट जिनदीक्षा ले विजय विमानमें उत्पन्न हुआ और वहाँसे चयकर तू सगर चक्रवर्ती हुआ है ॥१३९॥ जब तू रम्भ था तब आवलिके साथ तेरा बहुत स्नेह था। अब आवलि ही सहस्रनयन हुआ है। इसलिए पूर्वसंस्कारके कारण अब भी तेरा उसके साथ गाढ स्नेह है ॥१४०॥ इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के मुखसे अपने तथा पिताके भवान्तर जानकर मेघवाहन और सहस्राक्ष दोनोंको धर्ममें बहुत भारी रुचि उत्पन्न हुई ॥१४१॥ उस धार्मिक रुचिके कारण दोनोंको जाति-स्मरण भी हो गया है। तदनन्तर श्रद्धासे भरे मेघवाहन और सहस्रनयन अजितनाथ भगवान्की इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥१४२॥ हे भगवन्! जो बुद्धिसे रहित हैं तथा जिनका कोई नाथ—रक्षक नहीं है ऐसे संसारी प्राणियोंका आप बिना करण ही उपकार करते हैं इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ॥१४३॥ आपका रूप उपमासे रहित है तथा आप अतुल्य वीर्यके धारक हैं। हे नाथ! इन तीनों लोकोंमें ऐसा कौन पुरुष है जो आपके दर्शनसे संतृप्त हुआ हो ॥१४४॥ हे भगवन्! यद्यपि आप प्राप्त करने योग्य समस्त पदार्थ प्राप्त कर चुके हैं, कृतकृत्य हैं, सर्वदर्शी हैं, सुखस्वरूप हैं, अचिन्त्य हैं, और जानने योग्य समस्त पदार्थों को जान चुके हैं तथापि जगत्का हित करनेके लिए उद्यत हैं ॥१४५॥ हे जिनराज! संसार रूपी अन्धकूपमें पड़ते हुए जीवोंको आप श्रेष्ठ धर्मोपदेश रूपी हस्तावलम्बन प्रदान करते हैं ॥१४६॥ इस प्रकार जिनकी वाणी गद्गद हो रही थी और नेत्र आँसुओंसे भर रहे थे ऐसे परम हर्षको प्राप्त हुए मेघवाहन और सहस्रनयन विधिपूर्वक स्तुति और नमस्कारकर यथास्थान बैठ गये ॥१४७॥ सिंहवीर्य आदि मुनि, इन्द्र आदि देव और सगर आदि राजा परम आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥१४८॥

अथानन्तर-जिनेन्द्र भगवान्के समवसरणमें राक्षसोंके इन्द्र भीम और सुभीम प्रसन्न होकर मेघवाहनसे कहने लगे कि हे विद्याधरके बालक! तू धन्य है जो सर्वज्ञ अजित जिनेन्द्रकी शरणमें आया है, हम दोनों तुझपर सन्तुष्ट हुए हैं अतः जिससे तेरी सर्वप्रकार से स्वस्थता हो सकेगी वह बात हम तुझसे इस समय कहते हैं सो तू ध्यानसे सुन, तू हम दोनोंकी रक्षाका

१. सारं ख० ।

सन्त्यत्र लवणाम्भोधावत्युग्रग्राहसंकटे । अत्यन्तदुर्गमा रम्या [1]महाद्वीपाः सहस्रशः ॥१५२॥
क्वचित् क्रीडन्ति गन्धर्वाः किन्नराणां क्वचिद् गणाः । क्वचिच्च यक्षसंघाताः क्वचित्किंपुरुषामराः ॥१५३॥
तत्र मध्येऽस्ति स द्वीपो रक्षसां क्रीडनः शुभः । योजनानां शतान्येष सर्वतः सप्त कीर्तितः ॥१५४॥
तन्मध्ये मेरुवद् भाति त्रिकूटाख्यो महागिरिः । अत्यन्तदुःप्रवेशो यः शरण्यः[2] सद्गुहागृहैः ॥१५५॥
शिखरं तस्य शैलेन्द्रचूडाकारं मनोहरम् । योजनानि नवोत्तुङ्गं पञ्चाशद्विपुलत्वतः ॥१५६॥
नानारत्नप्रभाजालच्छन्नहेममहातटम् । चित्रवल्लीपरिष्वक्तकल्पद्रुमसमाकुलम् ॥१५७॥
त्रिंशद्योजनमानाधः सर्वतस्तस्य राक्षसी । लङ्केति नगरी भाति रत्नजाम्बूनदालया[3] ॥१५८॥
मनोहारिभिरुद्यानैः सरोभिश्च सवारिजैः । महद्भिश्चैत्यगेहैश्च सा महेन्द्रपुरीसमा ॥१५९॥
गच्छ तां दक्षिणाशायां मण्डनत्वमुपागताम् । समं बान्धववर्गेण विद्याधर सुखी भव ॥१६०॥
एवमुक्त्वा ददावस्मै हारं राक्षसपुङ्गवः । देवताधिष्ठितं ज्योत्स्नां कुर्वाणं करकोटिभिः ॥१६१॥
जन्मान्तरसुतप्रीत्या भीमश्चैवं तमब्रवीत् । हारोऽयं तेऽन्त्यदेहस्य युगश्रेष्ठस्य चोदितः ॥१६२॥
धरण्यन्तर्गतं चान्यद्दत्तं स्वाभाविकं पुरम् । विस्तीर्णभरतार्द्धार्धमधः षड्योजनीगतम् ॥१६३॥
दुःप्रवेशमरातीनां मनसापि महद्गृहम् । अलंकारोदयाभिख्यं स्वर्गतुल्यमभिख्यया ॥१६४॥
परचक्रसमाक्रान्तः कदाचिच्चेन्नवेरसिम्[4] । आश्रित्य तत्तदा तिष्ठे रहस्यं वंशसन्ततेः ॥१६५॥

पात्र है ॥१४६-१५१॥ बहुत भारी मगरमच्छोंसे भरे हुए इस लवणसमुद्रमें अत्यन्त दुर्गम्य तथा अतिशय सुन्दर हजारों महाद्वीप हैं ॥१५२॥ उन महाद्वीपोंमें कहीं गन्धर्व, कहीं किन्नरोंके समूह, कहीं यक्षोंके झुण्ड और कहीं किंपुरुषदेव क्रीड़ा करते हैं ॥१५३॥ उन द्वीपोंके बीच एक ऐसा द्वीप है जो राक्षसोंकी शुभ क्रीड़ाका स्थान होनेसे राक्षस द्वीप कहलाता है और सात सौ योजन लम्बा तथा उतना ही चौड़ा है ॥१५४॥ उस राक्षस द्वीपके मध्यमें मेरु पर्वतके समान त्रिकूटाचल नामक विशाल पर्वत है। वह पर्वत अत्यन्त दुःप्रवेश है और उत्तमोत्तम गुहारूपी गृहोंसे सबको शरण देनेवाला है ॥१५५॥ उसकी शिखर सुमेरु पर्वतकी चूलिकाके समान महा-मनोहर है, वह नौ योजन ऊँचा और पचास योजन चौड़ा है ॥१५६॥ उसके सुवर्णमय किनारे नानाप्रकारके रत्नोंकी कान्तिके समूहसे सदा आच्छादित रहते हैं तथा नानाप्रकार की लताओंसे आलिङ्गित कल्पवृक्ष वहाँ संकीर्णता करते रहते हैं ॥१५७॥ उस त्रिकूटाचलके नीचे तीस योजन विस्तारवाली लङ्का नगरी है, उसमें राक्षस वंशियोंका निवास है, और उसके महल नानाप्रकारके रत्नों एवं सुवर्णसे निर्मित हैं ॥१५८॥ मनको हरण करनेवाले बाग-बगीचों, कमलोंसे सुशोभित सरोवरों और बड़े-बड़े जिन मन्दिरोंसे वह नगरी इन्द्रपुरीके समान जान पड़ती है ॥१५९॥ वह लङ्का नगरी दक्षिण दिशाकी मानो आभूषण ही है। हे विद्याधर ! तू अपने बन्धुवर्गके साथ उस नगरीमें जा और सुखी हो ॥१६०॥ ऐसा कहकर राक्षसोंके इन्द्र भीमने उसे देवाधिष्ठित एक हार दिया। वह हार अपनी करोड़ों किरणोंसे चाँदनी उत्पन्न कर रहा था ॥१६१॥ जन्मान्तर सम्बन्धी पुत्रकी प्रीतिके कारण उसने वह हार दिया था और कहा था कि हे विद्याधर ! तू चरमशरीरी तथा युगका श्रेष्ठ पुरुष है इसलिए तुझे यह हार दिया है ॥१६२॥ उस हारके सिवाय उसने पृथ्वीके भीतर छिपा हुआ एक ऐसा प्राकृतिक नगर भी दिया जो छह योजन गहरा तथा एक सौ साढ़े इकतीस योजन और डेढ़ कलाप्रमाण चौड़ा था ॥१६३॥ उस नगरमें शत्रुओंका शरीर-द्वारा प्रवेश करना तो दूर रहा मनसे भी प्रवेश करना अशक्य था। उसमें बड़े-बड़े महल थे, अलंकारोदय उसका नाम था और शोभासे वह स्वर्गके समान जान पड़ता था ॥१६४॥ यदि तुझपर कदाचित् परचक्रका आक्रमण हो तो इस नगरमें खड्गका आश्रय ले सुखसे रहना। यह तेरी वंश-परम्पराके लिए रहस्य-सुरक्षित स्थान है। ॥१६५॥ इस प्रकार राक्षसोंके इन्द्र भीम

१. मही द्वीपाः म० । २. शरणः म० । ३. लयाः म० । ४. रसि म०, क० ।

इत्युक्तो राक्षसेशाभ्यां प्राप पूर्णघनात्मजः । प्रमोदं परमं देवं प्रणनाम च सोऽजितम् ॥१६६॥
लब्ध्वा च राक्षसीं विद्यामारुह्येप्सितगत्वरम् । विमानं कामगं नाम प्रस्थितस्तां पुरीमसौ ॥१६७॥
ज्ञात्वा लब्धवरं चैनं रक्षोभ्यां सर्वबान्धवाः । याता विकासमम्भोजसंघा इव दिवानने ॥१६८॥
विमलामलकान्ताद्या[1] विद्याभाजस्तमृद्धिभिः । सुप्रीताः शीघ्रमायाता नन्दयन्तः सुभाषितैः ॥१६९॥
वेष्टितोऽसौ ततस्तुष्टैः पार्श्वतः पृष्ठतोऽग्रतः । कैश्चिद् द्विरदपृष्ठस्थैः कैश्चित्तुरगयायिभिः ॥१७०॥
जयशब्दकृतारावैः प्राप्तदुन्दुभिनिस्वनैः[2] । श्वेतच्छत्रकृतच्छायैर्ध्वजमालाविभूषितैः ॥१७१॥
विद्याधराणां संघातैः कृताशीर्नमनक्रियः । गच्छन्नभस्तलेऽपश्यंल्लवणार्णवमाकुलम्[3] ॥१७२॥
आकाशमिव विस्तीर्णं पातालमिव निस्तलम् । तमालवनसंकाशमूर्मिमालासमाकुलम् ॥१७३॥
अयं जलगतः शैलो ग्राहोऽयं प्रकटो महान् । चलितोऽयं महामीनः समीपैरिति भाषितः ॥१७४॥
त्रिकूटशिखराधस्तान्महाप्राकारगोपुराम् । सन्ध्यामिव [4]विलिम्पन्तीं छायया रुणया नभः ॥१७५॥
कुन्दशुभ्रैः समुत्तुङ्गैर्वैजयन्त्युपशोभितैः । मण्डितां चैत्यसंघातैः सप्राकारैः सतोरणैः ॥१७६॥
प्रविष्टो नगरीं लङ्कां प्रविश्य च जिनालयम् । वन्दित्वा स्वोचितागारमध्युवास समङ्गलम् ॥१७७॥
इतरेऽपि यथा सद्म निविष्टास्तस्य बान्धवाः । रत्नशोभासमाकृष्टमनोनयनपङ्क्तयः ॥१७८॥

और सुभीमने पूर्णघनके पुत्र मेघवाहनसे कहा जिसे सुनकर वह परम हर्षको प्राप्त हुआ । वह अजितनाथ भगवान्‌को नमस्कारकर उठा ॥१६६॥ राक्षसोंके इन्द्र भीमने उसे राक्षसी विद्या दी । उसे लेकर इच्छानुसार चलनेवाले कामग नामक विमानपर आरूढ़ हो वह लङ्कापुरीकी ओर चला ॥१६७॥ 'राक्षसोंके इन्द्रने इसे वरदानस्वरूप लङ्का नगरी दी है' यह जानकर मेघवाहनके समस्त भाई बान्धव इस प्रकार हर्षको प्राप्त हुए जिस प्रकार कि प्रातःकालके समय कमलोंके समूह विकास भावको प्राप्त होते हैं ॥१६८॥ विमल, अमल, कान्त आदि अनेक विद्याधर परम प्रसन्न वैभवके साथ शीघ्र ही उसके समीप आये और अनेक प्रकारके मीठे-मीठे शब्दोंसे उसका अभिनन्दन करने लगे ॥१६९॥ सन्तोषसे भरे भाई-बन्धुओंसे वेष्टित होकर मेघवाहनने लङ्काकी ओर प्रस्थान किया । उस समय कितने ही विद्याधर उसकी बगलमें चल रहे थे, कितने ही पीछे चल रहे थे, कितने ही आगे जा रहे थे, कितने ही हाथियोंकी पीठपर सवार होकर चल रहे थे, कितने ही घोड़ोंपर आरूढ़ होकर चल रहे थे, कितने ही जय-जय शब्द कर रहे थे, कितने ही दुन्दुभियोंका मधुर शब्द कर रहे थे, कितने ही लोगोंपर सफेद छत्रोंसे छाया हो रही थी तथा कितने ही ध्वजाओं और मालाओंसे सुशोभित थे । पूर्वोक्त विद्याधरोंमें कोई तो मेघवाहनको आशीर्वाद दे रहे थे और कोई नमस्कार कर रहे थे । उन सबके साथ आकाशमें चलते हुए मेघवाहनने लवणसमुद्र देखा ॥१७०–१७२॥ वह लवणसमुद्र आकाशके समान विस्तृत था, पातालके समान गहरा था, तमालवनके समान श्याम था और लहरोंके समूहसे व्याप्त था ॥१७३॥ मेघवाहनके समीप चलनेवाले लोग कह रहे थे कि देखो यह जलके बीच पर्वत दीख रहा है, यह बड़ा भारी मकर छलाङ्ग भर रहा है और इधर यह बृहदाकार मच्छ चल रहा है ॥१७४॥ इस प्रकार समुद्रकी शोभा देखते हुए मेघवाहनने त्रिकूटाचलकी शिखरके नीचे स्थित लङ्कापुरीमें प्रवेश किया । वह लङ्का बहुत भारी प्राकार और गोपुरोंसे सुशोभित थी, अपनी लाल-कान्तिके द्वारा सन्ध्याके समान आकाशको लिप्त कर रही थी, कुन्दके समान सफेद, ऊँचे पताकाओंसे सुशोभित, कोट और तोरणोंसे युक्त जिनमन्दिरोंसे मण्डित थी । लङ्कानगरीमें प्रविष्ट हो सर्वप्रथम उसने जिनमन्दिरमें जाकर जिनेन्द्रदेवकी वन्दना की और तदनन्तर मङ्गलोपकरणोंसे युक्त अपने योग्य महलमें निवास किया ॥१७५–१७७॥ रत्नोंकी शोभासे जिनके नेत्र और नेत्रोंके पङ्क्तियाँ आकर्षित हो रही थीं ऐसे अन्य भाई-बन्धु भी यथायोग्य महलोंमें ठहर गये ॥१७८॥

१. कान्त्याद्या म० । २. निध्वनैः क० । ३. -ऽपश्यंल्लव-म० । ४. विलपन्तीं (?) म० ।

अथ किन्नरगीताख्ये पुरे रतिमयूखतः । अनुमत्यां समुत्पन्नां [1]सुप्रभां नाम कन्यकाम् ॥१७९॥
चक्षुर्मानसयोश्चौरीं वसतिं पुष्पधन्वनः । कौमुदीं श्रीकुमुद्वत्या लावण्यजलदीर्घिकाम् ॥१८०॥
संपदा परयोवाह भूषणानां विभूषणाम् । हृषीकाणामशेषाणां प्रमोदस्य विधायिकाम् ॥१८१॥(विशेषकम्)
ततः खेचरलोकेन मस्तकोपात्तशासनः । पुरन्दर इव स्वर्गे तत्रासाववसच्चिरम् ॥१८२॥
अथ तस्याभवत् पुत्रः पुत्रजन्माभिकाङ्क्षिणः । महारक्ष इति ख्यातिं यो गतः कौलदेवतीम् ॥१८३॥
वन्दनायान्यदा यातोऽजितं तोयदवाहनः । वन्दित्वा च निजस्थाने स्थितो विनयसन्नतः ॥१८४॥
तावदन्यकथाच्छेदे प्रणम्य सगरोऽजितम् । पृच्छतीदं शिरः कृत्वा पाणिपङ्कजदन्तुरम् ॥१८५॥
भगवन्नवसर्पिण्यां भवद्विधजिनेश्वराः । स्वामिनो धर्मचक्रस्य भविष्यन्त्यपरे कति ॥१८६॥
कति वा समतिक्रान्ता जगत्त्रयसुखप्र[2]दाः । भवद्विधनरोत्पत्तिराश्चर्यं भुवनत्रये ॥१८७॥
कति वा रत्नचक्राङ्क[3]लक्ष्मीभाजः प्रकीर्तिताः । हलिनो वासुदेवाश्च कियन्तस्तद्द्विषस्तथा ॥१८८॥
एवं पृष्टो जिनो वाक्यमुवाच सुरदुन्दुभेः । तिरस्कुर्वन्महाध्वानं जनितश्रवणोत्सवम् ॥१८९॥
भाषाऽर्द्धमागधी तस्य भाषमाणस्य नाधरौ । चकार स्पन्दसंयुक्तावहो चित्रमिदं परम् ॥१९०॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्धर्मतीर्थप्रवर्तिनः । चतुर्विंशतिसंख्या[4]नाः प्रत्येकं सगरोदिताः ॥१९१॥
मोहान्धध्वान्तसंछन्नं कृत्स्नमासीदिदं जगत् । धर्मसंचेतनामुक्तं निष्पाखण्डमराजकम् ॥१९२॥

अथानन्तर—किन्नरगीत नामा नगरमें राजा रतिमयूख और अनुमति नामक रानीके सुप्रभा नामक कन्या थी। वह कन्या नेत्र और मनको चुरानेवाली थी, कामकी वसतिका थी, लक्ष्मीरूपी कुमुदिनीको विकसित करनेके लिए चाँदनीके समान थी, लावण्य रूपी जलकी वापिका थी, आभूषणोंकी आभूषण थी, और समस्त इन्द्रियोंको हर्ष उत्पन्न करनेवाली थी। राजा मेघवाहनने बड़े वैभवसे उसके साथ विवाह किया ॥१७९-१८१॥ तदनन्तर समस्त विद्याधर लोग जिसकी आज्ञाको शिरपर धारण करते थे ऐसा मेघवाहन लंकापुरीमें चिर काल तक इस प्रकार रहता रहा जिस प्रकार कि इन्द्र स्वर्गमें रहता है ॥१८२॥ कुछ समय बाद पुत्र-जन्मकी इच्छा करनेवाले राजा मेघवाहनके पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पुत्र कुल-परम्पराके अनुसार महारक्ष इस नामको प्राप्त हुआ ॥१८३॥ किसी एक दिन राजा मेघवाहन वन्दनाके लिए अजितनाथ भगवानके समवसरणमें गया। वहाँ वन्दनाकर बड़ी विनयसे अपने योग्य स्थानपर बैठ गया ॥१८४॥ वहाँ जब चलती हुई अन्य कथा पूर्ण हो चुकी तब सगर चक्रवर्तीने हाथ मस्तकसे लगा नमस्कार कर अजितनाथ जिनेन्द्रसे पूछा ॥१८५॥ कि हे भगवन्! इस अवसर्पिणी कालमें आगे चलकर आपके समान धर्मचक्रके स्वामी अन्य कितने तीर्थंकर होंगे? ॥१८६॥ और तीनों जगत्‌के जीवोंको सुख देनेवाले कितने तीर्थङ्कर पहले हो चुके हैं? यथार्थमें आप जैसे मनुष्योंकी उत्पत्ति तीनों लोकोंमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है ॥१८७॥ चौदह रत्न और सुदर्शन चक्रसे चिह्नित लक्ष्मीके धारक चक्रवर्ती कितने होंगे? इसी तरह बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण भी कितने होंगे ॥१८८॥ इस प्रकार सगर चक्रवर्तीके पूछनेपर भगवान् अजितनाथ निम्नाङ्कित वचन बोले। उसके वे वचन देव-दुन्दुभिके गम्भीर शब्दका तिरस्कार कर रहे थे तथा कानोंके लिए परम आनन्द उत्पन्न करनेवाले थे ॥१८९॥ भगवान्‌की भाषा अर्धमागधी भाषा थी और बोलते समय उनके ओठोंको चञ्चल नहीं कर रही थी। यह बड़े आश्चर्यकी बात थी ॥१९०॥ उन्होंने कहा कि हे सगर! प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं ॥१९१॥ जिस समय यह समस्त संसार मोहरूपी गाढ़ अन्धकारसे व्याप्त था, धर्मकी चेतनासे शून्य था, समस्त पाखण्डोंका घर और राजासे रहित था उस समय

१. सुप्रभा नाम म० । २. प्रदा म० । ३. चक्राङ्का लक्ष्मी -म० । ४. संख्याकाः ख० ।

यदा तदा समुत्पन्नो नाभेयो जिनपुङ्गवः । राजन् तेन कृतः पूर्वं[1] कालः कृतयुगाभिधः ॥१९३॥
कल्पिताश्च त्रयो वर्णाः क्रियाभेदविधानतः । सस्यानां च समुत्पत्तिर्जायते कल्पतोयतः ॥१९४॥
सृष्टाः काले च तस्यैव माहनाः सूत्रधारिणः । सुतेन भरताख्येन तस्य तत्समतेजसा ॥१९५॥
आश्रमश्च समुत्पन्नः[2] सागरेतरभेदतः । विज्ञानानि कलाश्चैव नाभेयेनैव देशिताः ॥१९६॥
दीक्षामास्थाय तेनैव जन्मदुःखानलाहताः । भव्याः कृतात्मकृत्येन नीता सौख्यं शमाम्बुना ॥१९७॥
त्रैलोक्यमपि संभूय यस्यौपम्यादपेयुषाम्[3] । गुणानामशकं[4] गन्तुमन्तमात्मसमुद्यतेः ॥१९८॥
अष्टापदनगारूढो यः शरीरविसृष्टये । दृष्टः सुरासुरैर्हेमकूटाकारः सविस्मयैः ॥१९९॥
शरणं प्राप्य तं नाथं मुनयो भरतादयः । महाव्रतधरा याताः पदं सिद्धैः समाश्रिताः ॥२००॥
पुण्यं केचिदुपादाय स्वर्गसौख्यमुपागताः । स्वभावार्जवसंपन्नाः केचिन्मानुष्यकं परम् ॥२०१॥
नितान्तोज्ज्वलमप्यन्ये ददृशुस्तस्य नो मतम् । कुदृष्टिरागसंयुक्ताः कौशिका इव भास्करम् ॥२०२॥
ते कुधर्मं समास्थाय कुदेवत्वं प्रपद्य च । पुनस्तिर्यक्षु दुश्चेष्टा भ्रमन्ति नरकेषु च ॥२०३॥
अनेकेऽत्र ततोऽतीते काले रत्नालयोपमे । नाभेययुगविच्छेदे जाते नष्टसमुत्सवे ॥२०४॥
अवतीर्य दिवो मूर्ध्नः कर्तुं कृतयुगं पुनः । उद्भूतोऽस्मि हिताधार्यी[5] जगतामजितो जिनः ॥२०५॥
आचाराणां विघातेन कुदृष्टीनां च सम्पदा । धर्मं ग्लानिपरिप्राप्तमुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमाः ॥२०६॥
ते तं प्राप्य पुनर्धर्मं जीवा बान्धवमुत्तमम् । प्रपद्यन्ते पुनर्मार्गं सिद्धस्थानाभिगामिनः ॥२०७॥

राजा नाभिके पुत्र ऋषभदेव नामक प्रथम तीर्थंकर हुए थे, हे राजन्! सर्व प्रथम उन्हींके द्वारा इस कृत युगकी स्थापना हुई थी ॥१९२-१९३॥ उन्हींने क्रियाओंमें भेद होनेसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंकी कल्पना की थी। उनके समयमें मेघोंके जलसे धान्योंकी उत्पत्ति हुई थी ॥१९४॥ उन्हींके समय उनके समान तेजके धारक भरतपुत्रने यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले ब्राह्मणोंकी भी रचना की थी ॥१९५॥ सागार और अनगारके भेदसे दो प्रकारके आश्रम भी उन्हींके समय उत्पन्न हुए थे। समस्त विज्ञान और कलाओंके उपदेश भी उन्हीं भगवान् ऋषभदेवके द्वारा दिये गये थे ॥१९६॥ दीक्षा लेकर भगवान् ऋषभदेवने अपना कार्य किया और जन्म सम्बन्धी दुःखाग्निसे पीड़ित अन्य भव्य जीवोंको शान्ति रूप जलके द्वारा सुख प्राप्त कराया ॥१९७॥ तीन लोकके जीव मिलकर इकट्ठे हो जावें तो भी आत्म तेजसे सुशोभित भगवान् ऋषभदेवके अनुपम गुणोंका अन्त प्राप्त करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकते ॥१९८॥ शरीर त्याग करनेके लिए जब भगवान् ऋषभदेव कैलास पर्वतपर आरूढ़ हुए थे तब आश्चर्यसे भरे सुर और असुरोंने उन्हें सुवर्णमय शिखरके समान देखा था ॥१९९॥ उनकी शरणमें जाकर महाव्रत धारण करनेवाले कितने ही भरत आदि मुनि निर्वाण धामको प्राप्त हुए हैं ॥२००॥ कितने ही पुण्य उपार्जनकर स्वर्ग सुखको प्राप्त हैं, और स्वभावसे ही सरलताको धारण करनेवाले कितने ही लोग उत्कृष्ट मनुष्य पदको प्राप्त हुए हैं ॥२०१॥ यद्यपि उनका मत अत्यन्त उज्ज्वल था तो भी मिथ्यादर्शनरूपी रागसे युक्त मनुष्य उसे उस तरह नहीं देख सके थे जिस तरह कि उल्लू सूर्यको नहीं देख सकते हैं ॥२०२॥ ऐसे मिथ्यादृष्टि लोग कुधर्मकी श्रद्धाकर नीचे देवोंमें उत्पन्न होते हैं। फिर तिर्यञ्चोंमें दुष्ट चेष्टाएँ कर नरकोंमें भ्रमण करते हैं ॥२०३॥ तदनन्तर बहुत काल व्यतीत हो जानेपर जब समुद्रके समान गम्भीर ऋषभदेवका युग—तीर्थ विछिन्न हो गया और धार्मिक उत्सव नष्ट हो गया तब सर्वार्थसिद्धिसे चयकर फिरसे कृतयुगकी व्यवस्था करनेके लिए जगत्का हित करनेवाला मैं दूसरा अजितनाथ तीर्थङ्कर उत्पन्न हुआ हूँ ॥२०४-२०५॥ जब आचारके विघात और मिथ्यादृष्टियोंके वैभवसे समीचीन धर्म ग्लानिको प्राप्त हो जाता है—प्रभावहीन होने लगता है तब तीर्थङ्कर उत्पन्न होकर उसका उद्योत करते हैं ॥२०६॥ संसारके प्राणी उत्कृष्ट बन्धुस्वरूप समीचीन धर्मको पुनः प्राप्तकर मोक्ष-

१. पूर्वं ख० । २. समुत्पन्नाः म० । ३. -दुपेयुषाम् ख० । ४. -मंशकं ख० । ५. हिताध्यायी ख० ।

ततो मयि गते मोक्षमुत्पत्स्यन्ते जिनाधिपाः । [1]द्वाविंशतिः क्रमादन्ये त्रिलोकोद्योतकारिणः ॥२०८॥
ते च मत्सदृशाः सर्वे कान्तिवीर्यादि[2]भूषिताः । त्रैलोक्यपूजनप्राप्तेर्ज्ञानदर्शनरूपतः ॥२०९॥
चक्राङ्कितां श्रियं भुक्त्वा तेषां मध्ये त्रयो जिनाः । प्राप्स्यन्ति [3]ज्ञानसाम्राज्यमनन्तसुखकारणम् ॥२१०॥
तेषां नामानि सर्वेषां मङ्गलानि जगत्त्रये । महात्मनामहं वक्ष्ये मनःशुद्धिकराणि ते ॥२११॥
ऋषभो वृषभः पुंसामतीतः प्रथमो जिनः । वर्तमानोऽजितश्चाहं परिशेषा तु भाविनः ॥२१२॥
संभवः संभवो मुक्तेर्भव्यनन्[4]द्याभिनन्दनः । सुमतिः पद्मतेजाश्च सुपार्श्वश्चन्द्रसन्निभः ॥२१३॥
पुष्पदन्तोऽष्टकर्मान्तः शीतलः शीलसागरः । श्रेयान् श्रेयान् सुचेष्टासु वासुपूज्योऽर्चितः सताम् ॥२१४॥
विमलान्तधर्माश्च शान्तिकुन्थ्वरकीर्तिताः । मल्लिसुव्रतनामानौ नमिनेमी च विश्रुतौ ॥२१५॥
पार्श्वो वीरजिनेन्द्रश्च जिनशैलीधुरन्धरः । देवाधिदेवता एते जीववात्सल्यव्यवस्थिताः ॥२१६॥
जन्मावतारः सर्वेषां रत्नवृष्ट्य[5]भिनन्दितः । मेरौ जन्माभिषेकश्च सुरैः क्षीरोदवारिणा ॥२१७॥
उपमानविनिर्मुक्तं तेजो रूपं सुखं बलम् । सर्वे जन्मरिपोर्लोके विध्वंसनविधायिनः ॥२१८॥
अस्तं याते महावीरजिनतिग्मांशुमालिनि । लोके पाखण्डखद्योतास्तेजः प्राप्स्यन्ति भूरयः ॥२१९॥
चतुर्गतिकसंसारकूपे ते पतिताः स्वयम् । पातयिष्यन्ति मोहान्धानन्यानप्यसुधारिणः ॥२२०॥
एकस्त्वत्सदृशोऽतीतश्चक्रचिह्नः[6] श्रियः पतिः । भवानेको महावीर्यो जनिष्यन्ति दशापरे ॥२२१॥

मार्गको प्राप्त होते हैं और मोक्ष स्थानकी ओर गमन करने लगते हैं अर्थात् विच्छिन्न मोक्षमार्ग फिरसे चालू हो जाता है ॥२०७॥ तदनन्तर जब मैं मोक्ष चला जाऊँगा तब क्रमसे तीनों लोकोंका उद्योत करनेवाले बाईस तीर्थङ्कर और उत्पन्न होंगे ॥२०८॥ वे सभी तीर्थङ्कर मेरे ही समान कान्ति, वीर्य आदिसे विभूषित होंगे, मेरे ही समान तीन लोकके जीवोंसे पूजाको प्राप्त होंगे और मेरे ही समान ज्ञानदर्शनके धारक होंगे ॥२०९॥ उन तीर्थङ्करोंमें तीन तीर्थङ्कर (शान्ति, कुन्थु, अर) चक्रवर्तीकी लक्ष्मीका उपभोग कर अनन्त सुखका कारण ज्ञानका साम्राज्य प्राप्त करेंगे ॥२१०॥ अब मैं उन सभी महापुरुषोंके नाम कहता हूँ। उनके ये नाम तीनों जगत्में मङ्गलस्वरूप हैं तथा हे राजन् सगर ! तेरे मनकी शुद्धता करनेवाले हैं ॥२११॥ पुरुषोंमें श्रेष्ठ ऋषभनाथ प्रथम तीर्थङ्कर थे जो हो चुके हैं, मैं अजितनाथ वर्तमान तीर्थङ्कर हूँ और बाकी बाईस तीर्थङ्कर भविष्यत् तीर्थङ्कर हैं ॥२१२॥ मुक्तिके कारण सम्भवनाथ, भव्य जीवोंको आनन्दित करनेवाले अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, अष्टकर्मोंको नष्ट करनेवाले पुष्पदन्त, शीलके सागर स्वरूप शीतलनाथ, उत्तम चेष्टाओंके द्वारा कल्याण करनेवाले श्रेयोनाथ, सत्पुरुषोंके द्वारा पूजित वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, सुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और जिनमार्गके धुरन्धर वीरनाथ। ये इस अवसर्पिणी युगके चौबीस तीर्थङ्कर हैं। ये सभी देवाधिदेव और जीवोंका कल्याण करनेवाले होंगे ॥२१३-२१६॥ इन सभीका जन्मावतरण रत्नोंकी वर्षासे अभिनन्दित होगा तथा देव लोग क्षीरसागरके जलसे सुमेरु पर्वतपर सबका जन्माभिषेक करेंगे ॥२१७॥ इन सभीका तेज, रूप, सुख और बल उपमासे रहित होगा और सभी इस संसारमें जन्मरूपी शत्रुका विध्वंस करनेवाले होंगे अर्थात् मोक्षगामी होंगे ॥२१८॥ जब भगवान् महावीररूपी सूर्य अस्त हो जायगा तब इस संसारमें बहुतसे पाखण्डरूपी जुगनू तेजको प्राप्त करेंगे ॥२१९॥ वे पाखण्ड पुरुष इस चतुर्गतिरूप संसार कूपमें स्वयं गिरेंगे तथा मोहसे अन्धे अन्य प्राणियोंको भी गिरावेंगे ॥२२०॥ तुम्हारे समान चक्राङ्कित लक्ष्मीका अधिपति एक चक्रवर्ती तो हो चुका है, अत्यन्त शक्तिशाली

१. द्वाविंशति म० । २. भूतयः क०, ख० । ३. ज्ञात म० । ४. भव्यानन्द्यभि-म० । ५. वृष्ट्यभिवन्दितः क० । ६. चिह्नश्रियः म० ।

प्रथमो भरतोऽतीतस्सगर त्वं च वर्तसे[1] । चक्रलाञ्छितभोगेशा भविष्यन्ति परे नृपाः ॥२२२॥
सनत्कुमारविख्यातिर्मघवा नामतोऽपरः । शान्तिकुन्थ्वरनामानः सुभूमध्वनिकीर्तितः ॥२२३॥
महापद्मः प्रसिद्धश्च हरिषेणध्वनिस्तथा । जयसेननृपश्चान्यो ब्रह्मदत्तो भविष्यति ॥२२४॥
वासुदेवा भविष्यन्ति नव सार्धं प्रतीरत्रैः । बलदेवाश्च तावन्तो धर्मविन्यस्तचेतसः ॥२२५॥
प्रोक्ता एतेऽवसर्पिण्यां जिनप्रभृतयस्तथा । तथैवोत्सर्पिणीकाले भरतैरावताख्ययोः ॥२२६॥
एवं कर्मवशं श्रुत्वा जीवानां भवसंकटम् । महापुरुषभूतिं च कालस्य च विवर्तनम् ॥२२७॥
अष्टकर्मविमुक्तानां सुखं चोपमयोज्झितम् । जीमूतवाहनश्चक्रे चेतसीदं विचक्षणः ॥२२८॥
कष्टं यैरेव जीवोऽयं कर्मभिः परितप्यते । तान्येवोत्सहते कर्तुं मोहितः कर्ममायया ॥२२९॥
आपातमात्ररम्येषु विषवद् दुःखदायिषु । विषयेषु रतिः का वा दुःखोत्पादनवृत्तिषु ॥२३०॥
कृत्वापि हि चिरं सङ्गं धने कान्तासु बन्धुषु । एकाकिनैव कर्तव्यं संसारे परिवर्तनम् ॥२३१॥
तावदेव जनः सर्वः [2]प्रियत्वेनानुवर्तते । दानेन गृह्यते यावत्सारमेयशिशुर्यथा ॥२३२॥
इयता चापि कालेन को गतः सह बन्धुभिः । परलोकं कलत्रैर्वा सुहृद्भिर्बान्धवेन वा ॥२३३॥
नागभोगोपमा भोगा भीमा नरकपातिनः । तेषु कुर्यान्नरः सङ्गं को वा यः स्यात्सचेतनः ॥२३४॥
अहो परमिदं चित्रं सद्भावेन यदा[3]श्रितान् । लक्ष्मीः प्रतारयत्येव दुष्टत्वं किमतः परम् ॥२३५॥

द्वितीय चक्रवर्ती तुम हो और तुम दो के सिवाय दश चक्रवर्ती और होंगे ॥२२१॥ चक्रवर्तियोंमें प्रथम चक्रवर्ती भरत हो चुके हैं, द्वितीय चक्रवर्ती सगर तुम विद्यमान ही हो और तुम दोके सिवाय चक्रचिह्नित भोगोंके स्वामी निम्नांकित दश चक्रवर्ती राजा और भी होंगे ॥२२२॥ ३ सनत्कुमार, ४ मघवा, ५ शान्ति, ६ कुन्थु, ७ अर, ८ सुभूम, ९ महापद्म, १० हरिषेण, ११ जयसेन और ब्रह्मदत्त ॥२२३॥ नौ प्रति नारायणोंके साथ नौ नारायण होंगे और धर्ममें जिनका चित्त लग रहा है ऐसे बलभद्र भी नौ होंगे ॥२२४–२२५॥ हे राजन् ! जिस प्रकार हमने अवसर्पिणी कालमें होनेवाले तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती आदिका वर्णन किया है उसी प्रकारके तीर्थकर आदि उत्सर्पिणी कालमें भी भरत तथा ऐरावत क्षेत्रमें होंगे ॥२२६॥ इस प्रकार कर्मोंके वश होनेवाला जीवोंका संसारभ्रमण, महापुरुषोंकी उत्पत्ति, कालचक्रका परिवर्तन और आठ कर्मोंसे रहित जीवोंको होनेवाला अनुपम सुख इन सबका विचारकर बुद्धिमान् मेघवाहनने अपने मनमें निम्न विचार किया ॥२२७–२२८॥ हाय हाय, बड़े दुःखकी बात है कि जिन कर्मोंके द्वारा यह जीव आतापको प्राप्त होता है कर्मरूपी मदिरासे उन्मत्त हुआ यह उन्हीं कर्मोंको करनेके लिए उत्साहित होता है ॥२२९॥ जो प्रारम्भमें ही मनोहर दिखते हैं और अन्तमें विषके समान दुःख देते हैं अथवा दुःख उत्पन्न करना ही जिनका स्वभाव है । ऐसे विषयोंमें क्या प्रेम करना है ? ॥२३०॥ यह जीव धन, स्त्रियों तथा भाई-बन्धुओंका चिरकाल तक सङ्ग करता है तो भी संसारमें इसे अकेले ही भ्रमण करना पड़ता है ॥२३१॥ जिस प्रकार कुत्ताके पिल्लेको जब तक रोटीका टुकड़ा देते रहते हैं तभी तक वह प्रेम करता हुआ पीछे लगा रहता है इसी प्रकार इन संसारके सभी प्राणियोंको जब तक कुछ मिलता रहता है तभी तक ये प्रेमी बनकर अपने पीछे लगे रहते हैं ॥२३२॥ इतना भारी काल बीत गया पर इसमें कौन मनुष्य ऐसा है जो भाई-बन्धुओं, स्त्रियों, मित्रों तथा अन्य इष्ट जनोंके साथ परलोकको गया हो ॥२३३॥ ये पञ्चेन्द्रियोंके भोग साँपके शरीरके समान भयङ्कर एवं नरकमें गिरानेवाले हैं । ऐसा कौन सचेतन—विचारक पुरुष है जो कि इन विषयोंमें आसक्ति करता हो ? ॥२३४॥ अहो, सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बातका है कि जो मनुष्य लक्ष्मीका सद्भावनासे आश्रय लेते हैं यह लक्ष्मी

१. वर्तते म० । २. प्रियत्वे मानुवर्तते क० । ३. पदाश्रितान् म० ।

स्वप्ने समागमो यद्वत्तद्वद् बन्धुसमागमः । इन्द्रचापसमानं च क्षणमात्रं च तैः सुखम् ॥२३६॥
जलबुद्बुदवत्कायः सारेण परिवर्जितः । विद्युल्लताविलासेन सदृशं जीवितं चलम् ॥२३७॥
तस्मात्सर्वमिदं हित्वा संसारावासकारणम् । सहायं परिगृह्णामि धर्ममव्यभिचारिणम् ॥२३८॥
महारक्षसि निक्षिप्य राज्यभारं ततः कृती । प्राव्रजत् सोऽजितस्यान्ते महावैराग्यकञ्चुकः ॥२३९॥
दशाधिकं शतं तेन साकं खेचरभोगिनाम् । निर्वेदमाप्य निष्क्रान्तं गेहचारकवासतः ॥२४०॥
महारक्षःशशाङ्कोऽपि विश्राणनकरोत्करैः । पूरयन् बान्धवाम्भोधिं रेजे लङ्कानभोऽङ्गणे ॥२४१॥
प्राप्य स्वप्नेऽपि तस्याज्ञां महाविद्याधराधिपाः । संभ्रमाद् बोधमायान्ति कृतमस्तकपाणयः ॥२४२॥
प्रथिता विमलाभास्य[1] जाता प्राणसमप्रिया । यस्यानुवर्तनं चक्रे छायेव सततानुगा ॥२४३॥
अमरोदधिभानुभ्यः परां रक्षःश्रुतिं श्रिताः । तस्य तस्यां समुत्पन्नाः पुत्राः सर्वार्थसम्मिताः ॥२४४॥
विचित्रकर्मसंपूर्णास्तुङ्गा विस्तारभाजिनः । प्रसिद्धास्तस्य ते पुत्रास्त्रयो लोका इवाभवन् ॥२४५॥
प्रवर्त्या[2]जितनाथोऽपि भव्यानां मुक्तिगामिनाम् । पन्थानं प्राप[3] सम्मेदे निजां प्रकृतिमात्मनः ॥२४६॥
सगरस्य च पत्नीनां सहस्राणां षडुत्तराः । नवतिः शक्रपत्नीनामभवन् तुल्यतेजसाम् ॥२४७॥
संपुत्राणां[4] च पुत्राणां बिभ्रतां शक्तिमुत्तमाम् । जाताः षष्टिः सहस्राणां रत्नस्तम्भसमत्विषाम् ॥२४८॥
ते कदाचिदथो याताः कैलासं वन्दनार्थिनः । कम्पयन्तः[5] पदन्यासैर्वसुधां पर्वता इव ॥२४९॥

उन्हें ही धोखा देती है—ठगती है, इससे बढ़कर दुष्टता और क्या होगी ? ॥२३५॥ जिस प्रकार स्वप्नमें होनेवाला इष्ट जनोंका समागम अस्थायी है उसी प्रकार बन्धुजनोंका समागम भी अस्थायी है । तथा बन्धुजनोंके समागमसे जो सुख होता है वह इन्द्रधनुषके समान क्षणमात्रके लिए ही होता है ॥२३६॥ शरीर पानीके बबूलेके समान सारसे रहित है तथा यह जीवन बिजलीकी चमकके समान चञ्चल है ॥२३७॥ इसलिए संसार-निवासके कारणभूत इस समस्त परिकरको छोड़कर मैं तो कभी धोखा नहीं देनेवाले एक धर्म रूप सहायकको ही ग्रहण करता हूँ ॥२३८॥ तदनन्तर ऐसा विचारकर वैराग्यरूपी कवचको धारण करनेवाले बुद्धिमान् मेघवाहन विद्याधरने महाराक्षस नामक पुत्रके लिए राज्यभार सौंपकर अजितनाथ भगवान्‌के समीप दीक्षा धारण कर ली ॥२३९॥ राजा मेघवाहनके साथ अन्य एक सौ दश विद्याधर भी वैराग्य प्राप्त कर घर रूपी बन्दी गृहसे बाहर निकले ॥२४०॥

इधर महाराक्षसरूपी चन्द्रमा भी दानरूपी किरणोंके समूहसे बन्धुजन रूपी समुद्रको हुलसाता हुआ लंकारूपी आकाशांगणके बीच सुशोभित होने लगा ॥२४१॥ उसका ऐसा प्रभाव था कि बड़े-बड़े विद्याधरोंके अधिपति स्वप्नमें भी उसकी आज्ञा प्राप्तकर हड़बड़ाकर जाग उठते थे और हाथ जोड़कर मस्तकसे लगा लेते थे ॥२४२॥ उसकी विमलाभा नामकी प्राणप्रिया वल्लभा थी जो छायाके समान सदा उसके साथ रहती थी ॥२४३॥ उसके अमररक्ष, उदधिरक्ष और भानुरक्ष नामक तीन पुत्र हुए । ये तीनों ही पुत्र सब प्रकारके अर्थोंसे परिपूर्ण थे ॥२४४॥ विचित्र-विचित्र कार्योंसे युक्त थे, उत्तुङ्ग अर्थात् उदार थे और जन-धनसे विस्तारको प्राप्त थे इसलिए ऐसे जान पड़ते मानो तीन लोक ही हों ॥२४५॥ भगवान् अजितनाथ भी मुक्तिगामी भव्य जीवोंको मोक्षका मार्ग प्रवर्ताकर सम्मेद शिखरपर पहुँचे और वहाँसे आत्मस्वभावको प्राप्त हुए—सिद्ध पदको प्राप्त हुए ॥२४६॥ सगर चक्रवर्तीके इन्द्राणीके समान तेजको धारण करनेवाली छयानबे हजार रानियाँ थीं और उत्तम शक्तिको धारण करनेवाले एवं रत्नमयी खम्भोंके समान देदीप्यमान साठ हजार पुत्र थे । उन पुत्रोंके भी अनेक पुत्र थे ॥२४७–२४८॥ किसी समय वे सभी पुत्र वन्दनाके लिए कैलास पर्वतपर गये । उस समय वे चरणोंके विक्षेपसे

१. विमलाभस्य म० । २. प्रवृत्य म० । ३. प्राप्य म०, क० । ४. सुपुत्राणां म०, ख० । ५. कम्पयन्तां म० ।

विधाय सिद्धबिम्बानां वन्दनां प्रश्रयान्विताः । गिरेस्ते दण्डरत्नेन परिक्षेपं प्रचक्रिरे ॥२५०॥
आरसातलमूलां तां दृष्ट्वा खातां वसुन्धराम् । तेषामालोचनं चक्रे नागेन्द्रः क्रोधदीपितः ॥२५१॥
क्रोधवह्नेस्ततस्तस्य ज्वालाभिर्लीढविग्रहाः । भस्मसाद्भावमायाताः सुतास्ते चक्रवर्तिनः ॥२५२॥
तेषां मध्ये न दग्धौ द्वौ कथमप्यनुकम्पया । जीवितात्मकया शक्त्या विषतो जातया यथा ॥२५३॥
[1]सागरीणामिमं मृत्युं दृष्ट्वा युगपदागतम् । दुःखितौ सगरस्यान्तं यातौ भीमभगीरथौ ॥२५४॥
अकस्मात् कथिते[2] मायं प्राणांस्त्याक्षीत्क्षणादिति । पण्डितैरिति संचिन्त्य निषिद्धौ तौ निवेदने ॥२५५॥
ततः संभूय राजानो मन्त्रिणश्च कुलागताः । नानाशास्त्रविबुद्धाश्च विनोदज्ञा मनीषिणः ॥२५६॥
अविभिन्नमुखच्छायाः पूर्ववेषसमन्विताः । विनयेन यथापूर्वं सगरं समुपागताः ॥२५७॥
नमस्कृत्योपविष्टैस्तैर्यथास्थानं प्रचोदितैः[3] । संज्ञया प्रवयाः कश्चिदिदं वचनमब्रवीत् ॥२५८॥
राजन् सगर पश्य त्वं जगतीमामनित्यताम् । संसारं प्रति यां दृष्ट्वा मानसं न प्रवर्तते ॥२५९॥
राजासीद्भरतो नाम्ना त्वया समपराक्रमः । दासीव येन षट्खण्डा कृता वश्या वसुन्धरा ॥२६०॥
तस्यादित्ययशाः पुत्रो बभूवोन्नतविक्रमः । प्रसिद्धो यस्य नाम्नायं वंशः सम्प्रति वर्तते ॥२६१॥
एवं तस्याप्यभूत् पुत्रस्तस्याप्यन्योऽपरस्ततः । गतास्ते चाधुना सर्वे दर्शनानामगोचरम् ॥२६२॥

पृथिवीको कँपा रहे थे और पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥२४९॥ कैलास पर्वतपर स्थित सिद्ध प्रतिमाओंकी उन्होंने बड़ी विनयसे वन्दना की और तदनन्तर वे दण्डरत्नसे उस पर्वतके चारों ओर खाई खोदने लगे ॥२५०॥ उन्होंने दण्डरत्नसे पाताल तक गहरी पृथिवी खोद डाली यह देख नागेन्द्रने क्रोधसे प्रज्वलित हो उनकी ओर देखा ॥२५१॥ नागेन्द्रकी क्रोधाग्निकी ज्वालाओंसे जिनका शरीर व्याप्त हो गया था ऐसे वे चक्रवर्तीके पुत्र भस्मीभूत हो गये ॥२५२॥ जिस प्रकार विषकी मारक शक्तिके बीच एक जीवक शक्ति भी होती है और उसके प्रभावसे वह कभी-कभी औषधिके समान जीवनका भी कारण बन जाती है इसी प्रकार उस नागेन्द्रकी क्रोधाग्निमें भी जहाँ जलानेकी शक्ति थी वहाँ एक अनुकम्पा रूप परिणति भी थी । उसी अनुकम्पा रूप परिणतिके कारण उन पुत्रोंके बीचमें भीम भगीरथ नामक दो पुत्र किसी तरह भस्म नहीं हुए ॥२५३॥ सगर चक्रवर्तीके पुत्रोंकी इस आकस्मिक मृत्युको देखकर वे दोनों ही दुःखी होकर सगरके पास आये ॥२५४॥ सहसा इस समाचारके कहनेपर चक्रवर्ती कहीं प्राण न छोड़ दें ऐसा विचारकर पण्डितजनोंने भीम और भगीरथको यह समाचार चक्रवर्तीसे कहनेके लिए मना कर दिया ॥२५५॥ तदनन्तर राजा, कुल क्रमागत मन्त्री, नाना शास्त्रोंके पारगामी और विनोदके जानकार विद्वज्जन एकत्रित होकर चक्रवर्तीके पास गये । उस समय उन सबके मुखकी कान्तिमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं था तथा वेशभूषा भी सबकी पहले के ही समान थी । सब लोग विनयसे जाकर पहले ही के समान चक्रवर्ती सगरके समीप पहुँचे ॥२५६–२५७॥ नमस्कारकर सब लोग जब यथा स्थान बैठ गये तब उनके संकेतसे प्रेरित हो एक वृद्धजनने निम्नाङ्कित वचन कहना शुरू किया ॥२५८॥

हे राजन् सगर ! आप संसारकी इस अनित्यताको तो देखो जिसे देखकर फिर संसारकी ओर मन प्रवृत्त नहीं होता ॥२५९॥ पहले तुम्हारे ही समान पराक्रमका धारी राजा भरत हो गया है जिसने इस छहखण्डकी पृथ्वीको दासीके समान वश कर लिया था ॥२६०॥ उसके महापराक्रमी अर्ककीर्ति नामक पुत्र ऐसा पुत्र हुआ था कि जिसके नामसे यह सूर्यवंश अब तक चल रहा है ॥२६१॥ अर्ककीर्तिके भी पुत्र हुआ और उसके पुत्रके भी पुत्र हुआ परन्तु इस

१. सगरस्यापत्यानि पुमांसः सागरयस्तेषाम् "अत इञ्" इतीञ् प्रत्ययः । २. कथितेनायं म०, ख० । ३. प्रचोदितान् म० ।

आसतां तावदेते वा नाकलोकेश्वरा अपि । ज्वलिता विभवैर्याताः क्षणाद् दुःखेन भस्मताम् ॥२६३॥
येऽपि तीर्थंकरा नाम त्रैलोक्यस्याभिनन्दकाः । शरीरं तेऽपि संत्यज्य गच्छन्त्यायुःपरिक्षये ॥२६४॥
महातरौ यथैकस्मिन्नुषित्वा रजनीं पुनः । प्रभाते प्रतिपद्यन्ते ककुभो दश पक्षिणः ॥२६५॥
एवं कुटुम्ब एकस्मिन् सङ्गमं प्राप्य जन्तवः । पुनः स्वां स्वां प्रपद्यन्ते गतिं कर्मवशानुगाः ॥२६६॥
कैश्चित्तच्चेष्टितं तेषां वपुश्चात्यन्तशोभनम् । विषयीकृतमक्षिभ्यामस्माकं तु कथागतम् ॥२६७॥
बलवद्भ्यो हि सर्वेभ्यो मृत्युरेव महाबलः । आनीता निधनं येन बलवन्तो बलीयसा ॥२६८॥
कथं स्फुटति वो वक्षः स्मृत्वा तेषां महात्मनाम् । विनाशं भरतादीनामहो चित्रमिदं परम् ॥२६९॥
फेनोर्मीन्द्रधनुःस्वप्नविद्युद्बुद्बुदसंनिभाः । संपदः प्रियसंपर्का विग्रहाश्च शरीरिणाम् ॥२७०॥
नास्ति कश्चिन्नरो लोके यो व्रजेदुपमानताम् । यथायममरस्तद्वद्वयं मृत्यूज्झिता इति ॥२७१॥
येऽपि शोषयितुं शक्ताः समुद्रं ग्रामसंकुलम् । कुर्युर्वा करयुग्मेन चूर्णं मेरुमहीधरम् ॥२७२॥
उद्धर्तुं धरणीं शक्ता ग्रसितुं [1]चन्द्रभास्करौ । प्रविष्टास्तेऽपि कालेन कृतान्तवदनं नराः ॥२७३॥
मृत्योर्दुर्लङ्घितस्यास्य त्रैलोक्ये वशतां गते । केवलं व्युज्झिताः सिद्धा जिनधर्मसमुद्भवाः ॥२७४॥
यथा ते बहवो याताः कालेन निधनं नृपाः । यास्यामो वयमप्येवं सामान्यं जगतामिदम् ॥२७५॥
तत्र त्रिलोकसामान्ये वस्तुन्यस्मिन् समागते । शोकं कुर्याद्विबुद्धात्मा को नरो भवकारणम् ॥२७६॥
कथायामिति जातायां वीक्ष्यापत्यद्वयं पुनः । मानसे चक्रवर्तीदं चकारेङ्गितकोविदः ॥२७७॥

समय वे सब दृष्टिगोचर नहीं है ॥२६२॥ अथवा इन सबको रहने दो, स्वर्गलोकके अधिपति भी जो कि वैभवसे देदीप्यमान रहते हैं क्षणभरमें दुःखसे भस्म हो जाते हैं ॥२६३॥ अथवा इन्हें भी जाने दो, तीन लोकको आनन्दित करनेवाले जो तीर्थङ्कर हैं वे भी आयु समाप्त होनेपर शरीरको छोड़कर चले जाते हैं ॥२६४॥ जिस प्रकार पक्षी रात्रिके समय किसी बड़े वृक्षपर बसकर प्रातःकाल दशों दिशाओंमें चले जाते हैं उसी प्रकार अनेक प्राणी एक कुटुम्बमें एकत्रित होकर कर्मोंके अनुसार फिर अपनी अपनी गतिको चले जाते हैं ॥२६५-२६६॥ किन्हींने उन पूर्व पुरुषोंकी चेष्टाएँ तथा उनका अत्यन्त सुन्दर शरीर अपनी आँखोंसे देखा है परन्तु हम कथामात्रसे उन्हें जानते हैं ॥२६७॥ मृत्यु सभी बलवानोंसे अधिक बलवान् है क्योंकि इसने अन्य सभी बलवानोंको परास्त कर दिया है ॥२६८॥ अहो यह बड़ा आश्चर्य है कि भरत आदि महापुरुषोंके विनाशका स्मरणकर हमारी छाती नहीं फट रही है ॥२६९॥ जीवोंकी धनसम्पदाएँ, इष्टसमागम और शरीर, फेन, तरङ्ग, इन्द्रधनुष, स्वप्न, बिजली और बबूला के समान हैं ॥२७०॥ संसारमें ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो इस विषयमें उपमान हो सके कि जिस तरह यह अमर है उसी तरह हम भी अमर रहेंगे ॥२७१॥ जो मगरमच्छोंसे भरे समुद्रको सुखानेके लिए समर्थ हैं अथवा अपने दोनों हाथोंसे सुमेरु पर्वतको चूर्ण करनेमें समर्थ हैं अथवा पृथ्वीको ऊपर उठानेमें और चन्द्रमा तथा सूर्यको ग्रसनेमें समर्थ हैं वे मनुष्य भी काल पाकर यमराजके मुखमें प्रविष्ट हुए हैं ॥२७२-२७३॥ तीनों लोकोंके प्राणी इस दुर्लङ्घनीय मृत्युके वश हो रहे हैं। यदि कोई बाकी छूटे हैं तो जिनधर्मसे उत्पन्न हुए सिद्ध भगवान् ही छूटे हैं ॥२७४॥

जिस प्रकार बहुतसे राजा कालके द्वारा विनाशको प्राप्त हुए हैं उसी प्रकार हम लोग भी विनाशको प्राप्त होंगे। संसारका यह सामान्य नियम है ॥२७५॥ जो मृत्यु तीन लोकके जीवोंको समान रूपसे आती है उसके प्राप्त होनेपर ऐसा कौन विवेकी पुरुष होगा जो संसारके कारणभूत शोकको करेगा ॥२७६॥ इस प्रकार इधर वृद्ध मनुष्यके द्वारा यह चर्चा चल रही थी इधर चेष्टाओंके जाननेमें निपुण चक्रवर्तीने सामने सिर्फ दो पुत्र देखे। उन्हें देखकर वह मनमें विचार करने लगा ॥२७७॥ कि हमेशा सब पुत्र मुझे एक साथ नमस्कार

१. चन्द्रभास्करा म० ।

सर्वदा युगपत्सर्वे मां नमन्ति स्म देहजाः । अद्य द्वौ दीनवदनौ नूनं शेषा गताः क्षयम् ॥२७८॥
एते चान्यापदेशेन कथयन्ति समागताः । नृपाः कथयितुं साक्षादुदारं दुःखमक्षमाः ॥२७९॥
ततः शोकोरगेणासौ दष्टोऽपि न समत्यजन् । प्राणान् सभ्यवचोमन्त्रैः प्रतिपद्य प्रतिक्रियाम् ॥२८०॥
कदलीगर्भनिःसारमवेत्य भवजं सुखम् । भगीरथे श्रियं न्यस्य दीक्षां स समशिश्रियत् ॥२८१॥
त्यजतोऽस्य धरित्रीयं नगराकरमण्डिता । मनस्युदात्तलीलस्य जरत्तृणसमाभवत् ॥२८२॥
सार्द्धं भीमरथेनासौ प्रतिपद्याजितं विभुम् । केवलज्ञानमुत्पाद्य सिद्धानां पदमाश्रयत् ॥२८३॥
तनयः सागरेर्जह्नोः कुर्वन् राज्यं भगीरथः । श्रुतसागरयोगीन्द्रं पृष्टवानेवमन्यदा ॥२८४॥
पितामहस्य मे नाथ तनया युगपत्कुतः । कर्मणो मरणं प्राप्ता मध्ये तेषामहं तु न ॥२८५॥
अवोचद् भगवान् संघो वन्दनार्थं चतुर्विधः । सम्मेदं प्रस्थितोऽवापदन्तिकग्रामदर्शनम् ॥२८६॥
दृष्ट्वा तमन्तिकग्रामो दुर्वचाः सकलोऽहसत् । कुम्भकारस्तु तत्रैको निषिध्य कृतवान् स्तुतिम् ॥२८७॥
तद्ग्रामवासिनैकेन कृते चौर्ये स भूभृता । परिवेष्ट्याखिलो दग्धो ग्रामो भूर्य[1]पराधकः ॥२८८॥
भस्मसाद्भावमापन्नो यस्मिन् ग्रामोऽत्र वासरे । कुम्भकारो गतः क्वापि मध्यचेता निमन्त्रितः ॥२८९॥
कुम्भकारोऽभवन्मृत्वा वाणिजः सुमहाधनः । वराटकसमूहस्तु ग्रामः प्राप्तश्च तेन सः ॥२९०॥
कुम्भकारोऽभवद्राजा ग्रामोऽसौ मातृवाहकाः । हस्तिना चूर्णितास्तस्य ते चिरं भवमभ्रमन् ॥२९१॥

करते थे पर आज दो ही पुत्र दिख रहे हैं और उतनेपर भी इनके मुख अत्यन्त दीन दिखाई देते हैं। जान पड़ता है कि शेष पुत्र क्षयको प्राप्त हो चुके हैं ॥२७८॥ ये आगत राजा लोग इस भारी दुःखको साक्षात् कहनेमें समर्थ नहीं हैं इसलिए अन्योक्ति—दूसरके बहाने कह रहे हैं ॥२७९॥ तदनन्तर सगर चक्रवर्ती यद्यपि शोकरूपी सर्पसे डसा गया था तो भी सभासद्‌जनोंके वचनरूपी मन्त्रोंसे प्रतिकार—सान्त्वना पाकर उसने प्राण नहीं छोड़े थे ॥२८०॥ उसने संसारके सुखको केलेके गर्भके समान निःसार जानकर भगीरथको राज्यलक्ष्मी सौंपी और स्वयं दीक्षा धारण कर ली ॥२८१॥ उत्कृष्ट लीलाको धारण करनेवाला राजा सगर जब इस पृथ्वीका त्याग कर रहा था तब नाना नगर और सुवर्णादिकी खानोंसे सुशोभित यह पृथ्वी उसके मनमें जीर्णतृणके समान तुच्छ जान पड़ती थी ॥२८२॥ तदनन्तर सगर चक्रवर्ती भीमरथ नामक पुत्रके साथ अजितनाथ भगवान्‌की शरणमें गया। वहाँ दीक्षा धारण कर उसने केवलज्ञान प्राप्त किया और तदनन्तर सिद्धपदका आश्रय लिया अर्थात् मुक्त हुआ ॥२८३॥

सगर चक्रवर्तीका पुत्र जह्नुका लड़का भगीरथ राज्य करने लगा। किसी एक दिन उसने श्रुतसागर मुनिराजसे पूछा ॥२८४॥ कि हमारे बाबा सगरके पुत्र एक साथ किस कर्मके उदयसे मरणको प्राप्त हुए हैं और उनके बीचमें रहता हुआ भी मैं किस कर्मसे बच गया हूँ ॥२८५॥ भगवान् अजितनाथने कहा कि एक बार चतुर्विधसंघ सम्मेदशिखरकी वन्दनाके लिए जा रहा था सो मार्गमें वह अन्तिक नामक ग्राममें पहुँचा ॥२८६॥ संघको देखकर उस अन्तिक ग्रामके सब लोग कुवचन कहते हुए संघकी हँसी करने लगे परन्तु उस ग्राममें एक कुम्भकार था उसने गाँवके सब लोगोंको मनाकर संघकी स्तुति की ॥२८७॥ उस गाँवमें रहनेवाले एक मनुष्यने चोरी की थी सो अविवेकी राजाने सोचा कि यह गाँव ही बहुत अपराध करता है इसलिए घेरा डालकर साराका सारा गाँव जला दिया ॥२८८॥ जिस दिन वह गाँव जलाया गया था उस दिन मध्यस्थ परिणामोंका धारक कुम्भकार निमन्त्रित होकर कहीं बाहर गया था ॥२८९॥ जब कुम्भकार मरा तो वह बहुत भारी धनका अधिपति वैश्य हुआ और गाँवके सब लोग मरकर कौड़ी हुए। वैश्यने उन सब कौड़ियोंको खरीद लिया ॥२९०॥ तदनन्तर कुम्भकारका जीव मरकर

१. अथ म०।

राजा च श्रमणो भूत्वा देवीभूय च्युतो भवान् । भगीरथः समुत्पन्नो ग्रामस्तु सगराङ्गजाः ॥२९२॥
सङ्घस्य निन्दनं कृत्वा मृत्युमेति भवे भवे । तेनासौ युगपद्ग्रामो जातः स्तुत्या त्वमीदृशः ॥२९३॥
श्रुत्वा पूर्वभवानेवमुपशान्तो भगीरथः । बभूव मुनिमुख्यश्च तपोयोग्यं पदं ययौ ॥२९४॥
वृत्तान्तगतमेतत्ते चरितं सगराश्रितम् । कथितं प्रस्तुतं वक्ष्ये शृणु श्रेणिक साम्प्रतम् ॥२९५॥
योऽसौ तत्र महारक्षो नाम विद्याधराधिपः । लङ्कायां कुरुते राज्यं कण्टकैः परिवर्जितम् ॥२९६॥
सोऽन्यदा कमलच्छन्नदीर्घिकाकृतमण्डनम् । नानारत्नप्रभोत्तुङ्गक्रीडापर्वतकारितम् ॥२९७॥
आमोदिकुसुमोद्भासि तरुखण्डविराजितम् । कलकूजितविभ्रान्तशकुन्तगणसंकुलम् ॥२९८॥
रत्नभूमिपरिक्षिप्तं विकासिविविधद्युति[1] । घनपल्लवसच्छायलतामण्डपमण्डितम् ॥२९९॥
अगमत् प्रमदोद्यानमन्तःपुरसमन्वितः । महत्या संपदा युक्तो विद्याबलसमुच्छ्रयः ॥३००॥
तत्र क्रीडितुमारेभे वनिताभिरसौ समम् । कुसुमैस्ताड्यमानश्च ताडयंश्च यथोचितम् ॥३०१॥
काञ्चित्पादप्रणामेन कुपितामीर्ष्यया[2] स्त्रियम् । सान्त्वयन्नन्यया तेन सान्त्व्यमानः सुलीलया ॥३०२॥
उरसा प्रेरयन् काञ्चित्त्रिकूटतटशोभिना । पीवरस्तनरम्येण प्रेर्यमाणस्तथान्यया ॥३०३॥
पश्यन् प्रच्छन्नगात्राणि क्रीडाव्याकुलयोषिताम् । रतिसागरमध्यस्थो नन्दनेऽमरराजवत् ॥३०४॥

राजा हुआ और गाँवके जीव मरकर गिंजाई हुए सो राजाके हाथीसे चूर्ण होकर वे सब गिंजाइयोंके जीव संसारमें भ्रमण करते रहे ॥२९१॥ कुम्भकारके जीव राजाने मुनि होकर देवपद प्राप्त किया और वहाँसे च्युत होकर तू भगीरथ हुआ है तथा गाँवके सब लोग मरकर सगर चक्रवर्तीके पुत्र हुए हैं ॥२९२॥ मुनि संघकी निन्दाकर यह मनुष्य भव-भवमें मृत्युको प्राप्त होता है। इसी पापसे गाँवके सब लोग भी एक साथ मृत्युको प्राप्त हुए थे और संघकी स्तुति करनेसे तू इस तरह सम्पन्न तथा दीर्घायु हुआ है ॥२९३॥ इस प्रकार भगीरथ भगवान्‌के मुखसे पूर्वभव सुनकर अत्यन्त शान्त हो गया और मुनियोंमें मुख्य बनकर तपके योग्य पदको प्राप्त हुआ ॥२९४॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! प्रकरण पाकर यह सगरका चरित्र मैंने तुमसे कहा। अब इस समय प्रकृत कथा कहूँगा सो सुन ॥२९५॥

अथानन्तर—जो महारक्ष नामा विद्याधरोंका राजा लङ्कामें निष्कण्टक राज्य करता था विद्याबलसे समुन्नत वह राजा एक समय अन्तःपुरके साथ क्रीड़ा करनेके लिए बड़े वैभवसे उस प्रमदवनमें गया जो कि कमलोंसे आच्छादित वापिकाओंसे सुशोभित था, जिसके बीचमें नाना रत्नोंकी प्रभासे ऊँचा दिखनेवाला क्रीड़ापर्वत बना हुआ था, खिले हुए फूलोंसे सुशोभित वृक्षोंके समूह जिसकी शोभा बढ़ा रहे थे, अव्यक्त मधुर शब्दोंके साथ इधर उधर मँडराते हुए पक्षियोंके समूहसे जो व्याप्त था, जो रत्नमयी भूमिसे वेष्टित था, जिसमें नाना प्रकारकी कान्ति विकसित हो रही थी, और जो सघन पल्लवोंकी समीचीन छायासे युक्त लतामण्डपोंसे सुशोभित था ॥२९६–३००॥ राजा महारक्ष उस प्रमदवनमें अपनी स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करने लगा। कभी स्त्रियाँ उसे फूलोंसे ताड़ना करती थीं और कभी वह फूलोंसे स्त्रियोंको ताड़ना करता था ॥३०१॥ कोई स्त्री अन्य स्त्रीके पास जानेके कारण यदि ईर्ष्यासे कुपित हो जाती थी तो उसे वह चरणोंमें झुककर शान्त कर लेता था। इसी प्रकार कभी आप स्वयं कुपित हो जाता था तो लीलासे भरी स्त्री इसे प्रसन्न कर लेती थी ॥३०२॥ कभी यह त्रिकूटाचलके तटके समान सुशोभित अपने वक्षःस्थलसे किसी स्त्रीको प्रेरणा देता था तो अन्य स्त्री उसे भी अपने स्थूल स्तनोंके आलिङ्गनसे प्रेरणा देती थी ॥३०३॥ इस तरह क्रीड़ामें निमग्न स्त्रियोंके प्रच्छन्न शरीरोंको देखता हुआ यह

१. द्युतिं म० । २. -मीर्षया म० ।

अथ वक्त्रे त्रियामायाः परं संकोचमीयुषि । राजीवसंपुटेऽपश्यद् द्विरेफं स निपीडितम् ॥३०५॥
दृष्ट्वा चास्य समुत्पन्ना चिन्तेयं भवनाशिनी । कर्मणो मोहनीयस्य याते शिथिलतां गुणे ॥३०६॥
मकरन्दरसासक्तो मूढस्तृप्तिमनागतः । मृतिं मधुकरः प्राप्तो धिगिच्छामन्तवर्जिताम् ॥३०७॥
यथायमत्र संसक्तः[1] प्राप्तो मृत्युं मधुव्रतः । प्राप्स्यामो वयमप्येवं सक्ताः[2] स्त्रीमुखपङ्कजे ॥३०८॥
यदि तावदयं ध्वस्तो घ्राणेन रसनेन च । कैव वार्ता तदास्मासु पञ्चेन्द्रियवशात्मसु ॥३०९॥
तिर्यग्जातिसमेतस्य युक्तं वास्येदमीहितुम् । वयं तु ज्ञानसंपन्नाः सक्तमत्र कथं गताः ॥३१०॥
मधुदिग्धा[3]सिधाराया लेहने कीदृशं सुखम् । रसनं प्रत्युतायाति शतधा यत्र खण्डनम् ॥३११॥
विषयेषु तथा सौख्यं कीदृशं नाम जायते । यत्र प्रत्युत दुःखानामुपर्युपरिसन्ततिः ॥३१२॥
किम्पाकफलतुल्येभ्यो विषयेभ्यः पराङ्मुखाः । ये नरास्तान्नमस्यामि कायेन वचसा धिया ॥३१३॥
हा कष्टं वञ्चितः पापो दीर्घकालमहं खलैः । विषयैर्विषमासक्तैर्विषवन्मारणात्मकैः ॥३१४॥
अथात्र समये प्राप्तस्तदुद्यानं महामुनिः । अर्थानुगतया युक्तः श्रुतसागरसंज्ञया ॥३१५॥
पूर्णः परमरूपेण ह्रेपयन् कान्तितो विधुम् । तिरस्कुर्वन् रविं दीप्त्या जयं स्थैर्येण मन्दरम् ॥३१६॥
धर्मध्यानप्रसक्तात्मा रागद्वेषविवर्जितः । भग्नत्रिदण्डसंपर्कः कषायाणां शमे[4] रतः ॥३१७॥

राजा रतिरूप सागरके मध्यमें स्थित होता हुआ प्रमदवनमें इस प्रकार क्रीड़ा करता रहा जिस प्रकार कि नन्दन वनमें इन्द्र क्रीड़ा करता है ॥३०४॥

अथानन्तर सूर्य अस्त हुआ और रात्रिका प्रारम्भ होते ही कमलोंके संपुट संकोचको प्राप्त होने लगे । राजा महारक्षने एक कमल संपुटके भीतर मरा हुआ भौंरा देखा ॥३०५॥ उसी समय मोहनीय कर्मका उदय शिथिल होनेसे उसके हृदयमें संसार-भ्रमणको नष्ट करनेवाली निम्नाङ्कित चिन्ता उत्पन्न हुई ॥३०६॥ वह विचार करने लगा कि देखो मकरन्दके रसमें आसक्त हुआ यह मूढ भौंरा तृप्त नहीं हुआ इसलिए मरणको प्राप्त हुआ । आचार्य कहते हैं कि इस अन्तरहित अनन्त इच्छाको धिक्कार हो ॥३०७॥ जिस प्रकार इस कमलमें आसक्त हुआ यह भौंरा मृत्युको प्राप्त हुआ है उसी प्रकार स्त्रियोंके मुख रूपी कमलोंमें आसक्त हुए हम लोग भी मृत्युको प्राप्त होंगे ॥३०८॥ जब कि यह भौंरा घ्राण और रसना इन्द्रियके कारण ही मृत्युको प्राप्त हुआ है तब हम तो पाँचों इन्द्रियोंके वशीभूत हो रहे हैं अतः हमारी बात ही क्या है ? ॥३०९॥ अथवा यह भौंरा तिर्यञ्च जातिका है—अज्ञानी है अतः इसका ऐसा करना ठीक भी है परन्तु हम तो ज्ञानसे सम्पन्न हैं फिर भी इन विषयोंमें क्यों आसक्त हो रहे हैं ? ॥३१०॥ शहद लपेटी तलवारकी उस धारके चाटनेमें क्या सुख होता है ? जिसपर पड़ते ही जीभके सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं ॥३११॥ विषयोंमें कैसा सुख होता है सो जान पड़ता है उन विषयोंमें जिनमें कि सुखकी बात दूर रही किन्तु दुःखकी सन्तति ही उत्तरोत्तर प्राप्त होती है ॥३१२॥ किंपाक फलके समान विषयोंसे जो मनुष्य विमुख हो गये हैं मैं उन सब महापुरुषोंको मन वचन कायसे नमस्कार करता हूँ ॥३१३॥ हाय हाय, बड़े खेदकी बात है कि मैं बहुत समय तक इन दुष्ट विषयोंसे वञ्चित होता रहा—धोखा खाता रहा । इन विषयोंकी आसक्ति अत्यन्त विषम है तथा विषके समान मारनेवाली है ॥३१४॥

अथानन्तर उसी समय उस वनमें श्रुतसागर इस सार्थक नामको धारण करनेवाले एक महामुनिराज वहाँ आये ॥३१५॥ श्रुतसागर मुनिराज अत्यन्त सुन्दर रूपसे युक्त थे, वे कान्तिसे चन्द्रमाको लज्जित करते थे, दीप्तिसे सूर्यका तिरस्कार करते थे और धैर्यसे सुमेरुको पराजित करते थे ॥३१६॥ उनकी आत्मा सदा धर्मध्यानमें लीन रहती थी, वे राग-द्वेषसे रहित थे,

१. संशक्तः म० । २. शक्ताः म० । ३. दग्धा—म० । ४. समे म० ।

वशीकर्ता हृषीकाणां षट्कायप्राणिवत्सलः । भीतिभिः सप्तभिर्मुक्तो मदाष्टकविवर्जितः ॥३१८॥
साक्षादिव शरीरेण धर्मः सम्बन्धमागतः[1] । सहितो यतिसङ्घेन महता चारुचेष्टिना ॥३१९॥
स तत्र विपुले शुद्धे भूतले जन्तुवर्जिते । उपविष्टस्तनुच्छायास्थगिताशेषदिङ्मुखः ॥३२०॥
तत्रासीनं विदित्वैनं मुखेभ्यो वनरक्षिणाम् । अभीयाय महारक्षो बिभ्रदुत्कण्ठितं मनः ॥३२१॥
अथास्या[2]तिप्रसन्नास्यकान्तितोयेन पादयोः । कुर्वन् प्रक्षालनं राजा पपात शिवदायिनोः ॥३२२॥
प्रणम्य शेषसंघं च पृष्ट्वा क्षेमं च धर्मगम् । अवस्थाय क्षणं धर्मं पर्यपृच्छत् स भक्तितः ॥३२३॥
अथोपशमचन्द्रस्य चित्तस्थस्येव निर्मलैः । दन्तांशुपटलैः कुर्वन् ज्योत्स्नां मुनिरभाषत ॥३२४॥
अहिंसा नृप सद्भावो धर्मस्योक्तो जिनेश्वरैः । परिवारोऽस्तु शेषोऽस्य सत्यभाषादिरिष्यते ॥३२५॥
यां यां जीवाः प्रपद्यन्ते गतिं कर्मानुभावतः । तत्र तत्र रतिं यान्ति जीवनं प्रतिमोहिताः ॥३२६॥
त्रैलोक्यस्य[3] परित्यज्य लाभं मरणभीरवः । इच्छन्ति जीवनं जीवा नान्यदस्ति ततः प्रियम् ॥३२७॥
किमत्र बहुनोक्तेन स्वसंवेद्यमिदं ननु[4] । यथा स्वजीवितं कान्तं सर्वेषां प्राणिनां तथा ॥३२८॥
तस्मादेवंविधं मूढा जीवितं ये शरीरिणाम् । हरन्ति रौद्रकर्माणः पापं तैर्न च किं कृतम् ॥३२९॥
जन्तूनां जीवितं नीत्वा कर्मभारगुरूकृताः । पतन्ति नरके जीवा लोहपिण्डवदम्भसि ॥३३०॥

उन्होंने मन वचन कायको निरर्थक प्रवृत्तिरूपी तीन दण्डोंको भग्न कर दिया था, कषायोंके शान्त करनेमें वे सदा तत्पर रहते थे ॥३१७॥ वे इन्द्रियोंको वश करनेवाले थे, छह कायके जीवोंसे स्नेह रखते थे, सात भयों और आठ मदोंसे रहित थे ॥३१८॥ उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् धर्म ही शरीरके साथ सम्बन्धको प्राप्त हुआ है। वे मुनिराज उत्तम चेष्टाके धारक बहुत बड़े मुनिसङ्घसे सहित थे ॥३१९॥ जिन्होंने अपने शरीरकी कान्तिसे समस्त दिशाओंके अग्रभागको आच्छादित कर दिया था ऐसे वे मुनिराज उस उद्यानके विस्तृत, शुद्ध एवं निर्जन्तुक पृथिवी तलपर विराजमान हो गये ॥३२०॥ जब राजा महारक्षको वनपालोंके मुखसे वहाँ विराजमान इन मुनिराजका पता चला तो वह उत्कृष्ट हृदयको धारण करता हुआ उनके सन्मुख गया ॥३२१॥

अथानन्तर—अत्यन्त प्रसन्न मुखकी कान्तिरूपी जलके द्वारा प्रक्षालन करता हुआ राजा महारक्ष मुनिराजके कल्याणदायी चरणोंमें जा पड़ा ॥३२२॥ उसने शेष सङ्घको भी नमस्कार किया, सबसे धर्म सम्बन्धी कुशल-क्षेम पूछी और फिर क्षणभर ठहरकर भक्तिभावसे धर्मका स्वरूप पूछा ॥३२३॥ तदनन्तर मुनिराजके हृदयमें जो उपशम भावरूपी चन्द्रमा विद्यमान था उसकी किरणोंके समान निर्मल दाँतोकी किरणोंके समूहसे चाँदनीको प्रकट हुए मुनिराज कहने लगे ॥३२४॥ उन्होंने कहा कि हे राजन्! जिनेन्द्र भगवान्ने एक अहिंसाके सद्भावको ही धर्म कहा है बाकी सत्यभाषण आदि सभी इसके परिवार हैं ॥३२५॥ संसारी प्राणी कर्मोंके उदयसे जिस-जिस गतिमें जाते हैं जीवनके प्रति मोहित होते हुए वे उसी-उसीमें प्रेम करने लगते हैं ॥३२६॥ एक ओर तीन लोककी प्राप्ति हो रही हो और दूसरी ओर मरणकी सम्भावना हो तो मरणसे डरनेवाले ये प्राणी तीन लोकका लोभ छोड़कर जीवित रहनेकी इच्छा करते हैं इससे जान पड़ता है कि प्राणियोंको जीवनसे बढ़कर और कोई वस्तु प्रिय नहीं है ॥३२७॥ इस विषय में बहुत कहनेसे क्या लाभ है? यह बात तो अपने अनुभवसे ही जानी जा सकती है कि जिस प्रकार हमें अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार समस्त प्राणियोंको भी अपना जीवन प्यारा होता है ॥३२८॥ इसलिए जो क्रूरकर्म करनेवाले मूर्खप्राणी, जीवोंके ऐसे प्रिय जीवनको नष्ट करते हैं उन्होंने कौन-सा पाप नहीं किया? ॥३२९॥ जीवोंके जीवनको नष्टकर प्राणी कर्मोंके भारसे

१. -मागताः म० । २. अथास्याप्ति म० । ३. त्रैलोक्यं म० । ४. वतु म० ।

मधु स्रवन्ति ये वाचा हृदये विषदारुणाः । वशे स्थिता हृषीकाणां त्रिःसंध्या दग्धमानसाः ॥३३१॥
साध्वाचारविनिर्मुक्ता यथाकामविधायिनः । ते भ्रमन्ति दुरात्मानस्तिर्यग्गर्भपरम्पराम् ॥३३२॥
दुर्लभं सति जन्तुत्वे मनुष्यत्वं शरीरिणाम् । तस्मादपि सुरूपत्वं ततो धनसमृद्धता ॥३३३॥
ततोऽप्यार्यत्वसंभूतिस्ततो विद्यासमागमः । ततोऽप्यर्थज्ञता तस्माद्दुर्लभो धर्मसंगमः ॥३३४॥
कृत्वा धर्मं ततः केचित् सुखं प्राप्य सुरालये । देव्यादिपरिवारेण कृतं मानसगोचरम् ॥३३५॥
च्युत्वा गर्भगृहे भूयो विण्मूत्रकृतलेपने । चलत्कृमिकुलाकीर्णे दुर्गन्धेऽत्यन्तदुस्सहे ॥३३६॥
चर्मजालकसंछन्नाः पित्तश्लेष्मादिमध्यगाः । जनन्याहारनिष्यन्दं लिहन्तो नाडिकाच्युतम् ॥३३७॥
पिण्डीकृतसमस्ताङ्गा दुःखभारसमर्दिताः । उषित्वा निर्गता लब्ध्वा मनुष्यत्वमनिन्दितम् ॥३३८॥
जन्मनः प्रभृति क्रूरा नियमाचारविवर्जिताः । सद्दृष्टिरहिताः पापा विषयान् समुपासते ॥३३९॥
ये कामवशतां याताः सम्यक्त्वपरिवर्जिताः । प्राप्नुवन्तो महादुःखं ते भ्रमन्ति भवार्णवे ॥३४०॥
परपीडाकरं वाक्यं वर्जनीयं प्रयत्नतः । हिंसायाः कारणं तद्धि सा च संसारकारणम् ॥३४१॥
तथा स्तेयं स्त्रियाः सङ्गं महाद्रविणवाञ्छनम् । सर्वमेतत्परित्याज्यं पीडाकारणतां गतम् ॥३४२॥
श्रुत्वा धर्मं समाविष्टो वैराग्यं खेचराधिपः । पप्रच्छ प्रणतिं कृत्वा व्यतीतं भवमात्मनः ॥३४३॥

इतने वजनदार हो जाते हैं कि वे पानीमें लोहपिण्डके समान सीधे नरकमें ही पड़ते हैं ॥३३०॥ जो वचनसे तो मानो मधु झरते हैं पर हृदयमें विषके समान दारुण हैं । जो इन्द्रियोंके वशमें स्थित हैं और बाहरसे जिनका मन त्रैकालिक सन्ध्याओंमें निमग्न रहता है ॥३३१॥ जो योग्य आचारसे रहित हैं और इच्छानुसार मनचाही प्रवृत्ति करते हैं ऐसे दुष्ट जीव तिर्यञ्चयोनिमें परिभ्रमण करते हैं ॥३३२॥ सर्वप्रथम तो जीवोंको मनुष्यपद प्राप्त होना दुर्लभ है, उससे अधिक दुर्लभ सुन्दर रूपका पाना है, उससे अधिक दुर्लभ धनसमृद्धिका पाना है, उससे अधिक दुर्लभ आर्यकुलमें उत्पन्न होना है, उससे अधिक दुर्लभ विद्याका समागम होना है, उससे अधिक दुर्लभ हेयोपादेय पदार्थको जानना है और उससे अधिक दुर्लभ धर्मका समागम होना है ॥३३३-३३४॥ कितने ही लोग धर्म करके उसके प्रभावसे स्वर्गमें देवियों आदिके परिवारसे मानसिक सुख प्राप्त करते हैं ॥३३५॥ वहाँसे चयकर, विष्ठा तथा मूत्रसे लिप्त बिलबिलाते कीड़ाओंसे युक्त, दुर्गन्धित एवं अत्यन्त दुःसह गर्भगृहको प्राप्त होता है ॥३३६॥ गर्भमें यह प्राणी चर्मके जालसे आच्छादित रहते हैं, पित्त, श्लेष्मा आदिके बीचमें स्थित रहते हैं और नालद्वारसे च्युत माता द्वारा उपभुक्त आहारके द्रवका आस्वादन करते रहते हैं ॥३३७॥ वहाँ उनके समस्त आङ्गोपाङ्ग संकुचित रहते हैं, और दुःखके भारसे वे सदा पीड़ित रहते हैं, वहाँ रहनेके बाद निकलकर उत्तम मनुष्य पर्याय प्राप्त करते हैं ॥३३८॥ सो कितने ही ऐसे पापी मनुष्य जो कि जन्मसे ही क्रूर होते हैं, नियम, आचार-विचारसे विमुख रहते हैं और सम्यग्दर्शन से शून्य होते हैं, विषयोंका सेवन करते हैं ॥३३९॥ जो मनुष्य कामके वशीभूत होकर सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाते हैं वे महादुःख प्राप्त करते हुए संसाररूपी समुद्रमें परिभ्रमण करते हैं ॥३४०॥ दूसरे प्राणियोंको पीड़ा उत्पन्न करनेवाला वचन प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये क्योंकि ऐसा वचन हिंसाका कारण है और हिंसा संसारका कारण है ॥३४१॥ इसी प्रकार चोरी, परस्त्रीका समागम तथा महापरिग्रहकी आकांक्षा, यह सब भी छोड़नेके योग्य है क्योंकि यह सभी पीड़ाके कारण हैं ॥३४२॥ विद्याधरोंका राजा महारक्ष, मुनिराजके मुखसे धर्मका उपदेश सुनकर वैराग्यको प्राप्त हो गया । तदनन्तर उसने नमस्कार कर मुनिराजसे अपना पूर्व भव पूछा ॥३४३॥

---

१. त्रीन्वारान्, त्रिसन्ध्या-म० । २. समार्दिताः म० ।

चतुर्ज्ञानोपगूढात्मा विनयेनोपसेदुषे । इति तस्मै समासेन जगाद श्रुतसागरः ॥३४४॥
भरते पोदनस्थाने हितो नामधरोऽभवत्[1] । माधवीति च भार्यास्य प्रीत्याख्यस्त्वं तयोः सुतः ॥३४५॥
अथ तत्रैव नगरे नृपोऽभूदुदयाचलात् । अर्हच्छ्रियां समुत्पन्नो नाम्ना हेमरथो महान् ॥३४६॥
प्रासादे सोऽन्यदा जैने श्रद्धया परयान्वितः । चकार महतीं पूजां लोकविस्मयकारिणीम् ॥३४७॥
तस्मादुत्थितमाकर्ण्य जयशब्दं जनैः कृतम् । जयेत्यानन्दपूर्णेन त्वयापि परिघोषितम् ॥३४८॥
अमाते च ततस्तस्मिन् गृहाभ्यन्तरतो मुदा । शिखिनेव घनध्वानान्नर्तनं कृतमङ्गणे ॥३४९॥
तस्मादुपात्तकुशलो गतः कालेन पञ्चताम् । अजायत महान् यक्षो यक्षनेत्रसमुत्सवः ॥३५०॥
अवरस्मिन् विदेहेऽथ पुरे काञ्चननामनि । साधूनां शत्रुभिः कर्तुमुपसर्गः प्रवर्तितः ॥३५१॥
निर्घाट्य तान् त्वया शत्रून् मुनीनां धर्मसाधनम् । शरीरं रक्षितं तस्मात् पुण्यराशिरुपार्जितः ॥३५२॥
विजयार्द्धे ततश्च्युत्वा तडिदङ्गदखेचरात् । श्रीप्रभायां समुद्भूत उदितो नाम विश्रुतः ॥३५३॥
वन्दनाय समायातं नाम्ना चामरविक्रमम् । दृष्टवानसि विद्येशं निदानमकरोस्ततः ॥३५४॥
ततो महत्तपस्तप्त्वा कल्पमैशानमाश्रितः[2] । एष प्रच्युत्य भूतोऽसि साम्प्रतं घनवाहनिः[3] ॥३५५॥
भास्करस्यन्दनस्येव चक्रेण परिवर्तनम् । कृतं त्वया तु संसारे स्त्रीजिह्वावशवर्तिना ॥३५६॥
यावन्तः समतिक्रान्तास्तव देहा भवान्तरे । पिण्ड्यन्ते यदि ते लोके संभवेयुर्न जातुचित् ॥३५७॥
कल्पानां कोटिभिस्तृप्तिं सुरभोगैर्न यो गतः । खेचराणां च भोगेन स्वेच्छाकल्पितवृत्तिना ॥३५८॥

चार ज्ञानके धारी श्रुतसागरमुनि विनयसे समीपमें बैठे हुए महारक्ष विद्याधरसे संक्षेपपूर्वक कहने लगे ॥३४४॥

कि हे राजन् ! भरत क्षेत्रके पोदनपुर नगरमें एक हित नामका मनुष्य रहता था। माधवी उसकी स्त्रीका नाम था और तू उन दोनोंके प्रीति नामका पुत्र था ॥३४५॥ उसी पोदनपुर नगरमें उदयाचल राजा और अर्हच्छ्री नामकी रानीसे उत्पन्न हुआ हेमरथ नामका राजा राज्य करता था ॥३४६॥ एक दिन उसने जिनमन्दिरमें, बड़ी श्रद्धाके साथ, लोगोंको आश्चर्यमें डालनेवाली बड़ी पूजा की ॥३४७॥ उस पूजाके समय लोगोंने बड़े जोरसे जय-जय शब्द किया, उसे सुनकर तूने भी आनन्द विभोर हो जय-जय शब्द उच्चारण किया ॥३४८॥ तू इस आनन्दके कारण घरके भीतर ठहर नहीं सका इसलिए बाहर निकलकर आँगनमें इस तरह नृत्य करने लगा जिस प्रकार कि मयूर मेघका शब्द सुनकर नृत्य करने लगता है ॥३४९॥ इस कार्यसे तूने जो पुण्य बन्ध किया था उसके फलस्वरूप तू मरकर यक्षोंके नेत्रोंको आनन्द देनेवाला यक्ष हुआ ॥३५०॥ तदनन्तर किसी दिन पश्चिम विदेहक्षेत्रके काञ्चनपुर नगरमें शत्रुओंने मुनियोंके ऊपर उपसर्ग करना शुरू किया ॥३५१॥ सो तूने उन शत्रुओंको अलग कर धर्मसाधनमें सहायभूत मुनियोंके शरीरकी रक्षा की। इस कार्यसे तूने बहुत भारी पुण्यका संचय किया ॥३५२॥ तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर तू विजयार्ध पर्वतपर तडिदङ्गद विद्याधर और श्रीप्रभा विद्याधरीके उदित नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥३५३॥ एक बार अमरविक्रम नामक विद्याधरोंका राजा मुनियोंकी वन्दनाके लिए आया था सो उसे देखकर तूने निदान किया कि मेरे भी ऐसा वैभव हो ॥३५४॥ तदनन्तर महातपश्चरण कर तू दूसरे ऐशान स्वर्गमें देव हुआ और वहाँसे च्युत होकर मेघवाहनका पुत्र महारक्ष हुआ है ॥३५५॥ जिस प्रकार सूर्यके रथका चक्र निरन्तर भ्रमण करता रहता है इसी प्रकार तूने भी स्त्री तथा जिह्वा इन्द्रियके वशीभूत होकर संसारमें परिभ्रमण किया है ॥३५६॥ तूने दूसरे भवोंमें जितने शरीर प्राप्त कर छोड़े हैं यदि वे एकत्रित किये जावें तो तीनों लोकोंमें कभी न समावें ॥३५७॥ जो करोड़ों कल्प तक प्राप्त होनेवाले देवोंके भोगोंसे तथा विद्याधरोंके मनचाहे भोग-विलाससे

१. नाम नरोऽभवत् म० । २. -मुत्थितः म० । ३. मेघवाहनपुत्रः ।

अष्टभिर्दिवसैः स त्वं कथं प्राप्स्यसि तर्पणम्[1] । स्वप्नजालोपमैर्भोगैरधुना भज्यतां शमः ॥३५९॥
ततस्तस्य विषादोऽभून्नायुःक्षयसमुत्थितः । किन्तु संसारचक्रस्थजन्मान्तरविवर्तनात् ॥३६०॥
स्थापयित्वा ततो राज्ये तनयं देवरक्षसम् । युवराजप्रतिष्ठायां तथा भास्कररक्षसम् ॥३६१॥
त्यक्त्वा परिग्रहं सर्वं परमार्थपरायणः । स्तम्भतुल्यो महारक्षा लोभेनाभवदुज्झितः ॥३६२॥
पानाहारादिकं त्यक्त्वा सर्वं देहस्य पालनम् । समः शत्रौ च मित्रे च मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ॥३६३॥
मौनव्रतं समास्थाय जिनप्रासादमध्यगः । कृत्वा समहतीं पूजामर्हतामभिषेकिणीम् ॥३६४॥
अर्हत्पदपरिध्यानपवित्रीकृतचेतनः । कृत्वा समाधिना कालं स बभूव सुरोत्तमः ॥३६५॥
अथ किन्नरगीताख्ये[2] पुरे श्रीधरनामतः । विद्याजातां[3] रतिं जायां देवरक्षाः प्रपन्नवान् ॥३६६॥
गन्धर्वगीतनगरे[4] सुरसन्निभनामतः । गान्धारी गर्भसंभूतां गन्धर्वां भानुरूढवान् ॥३६७॥
सुता दश समुत्पन्ना मनोज्ञा देवरक्षसः । देवाङ्गनासरूपाश्च[5] षट् कन्या गुणभूषणाः ॥३६८॥
तावन्त एव चोत्पन्नाः सुताः कन्याश्च तत्समाः । आदित्यरक्षसो राज्ञः कीर्तिव्याप्तदिगन्तराः ॥३६९॥
स्वनामसदृनामानि महान्ति नगराणि तैः । निवेशितानि रम्याणि श्रेणिकैतानि जित्वरैः ॥३७०॥
सन्ध्याकारः सुवेलश्च मनोह्लादो मनोहरः । हंसद्वीपो हरिर्योधः समुद्रः काञ्चनस्तथा ॥३७१॥
अर्धस्वर्गोत्कटश्चापि[6] निविशाः स्वर्गसन्निभाः । गीर्वाणरक्षसः पुत्रैर्महाबुद्धिपराक्रमैः ॥३७२॥

सन्तुष्ट नहीं हो सका वह तू केवल आठ दिन तक प्राप्त होनेवाले स्वप्न अथवा इन्द्रजाल सदृश भोगोंसे कैसे तृप्त होगा ? इसलिए अब भोगोंकी अभिलाषा छोड़ और शान्ति भाव धारण कर ॥३५८-३५९॥ तदनन्तर मुनिराजके मुखसे अपनी आयुका क्षय निकटस्थ जानकर उसे विषाद नहीं हुआ किन्तु 'इस संसार-चक्रमें अब भी मुझे अनेक भव धारण करना है' यह जानकर कुछ खेद अवश्य हुआ ॥३६०॥ तदनन्तर उसने अमररक्ष नामक ज्येष्ठ पुत्रको राज्य पदपर स्थापितकर भानुरक्ष नामक लघु पुत्रको युवराज बना दिया ॥३६१॥ और स्वयं समस्त परिग्रहका त्यागकर परमार्थमें तत्पर हो स्तम्भके समान निश्चल होता हुआ लोभसे रहित हो गया ॥३६२॥ शरीरका पोषण करनेवाले आहार-पानी आदि समस्त पदार्थोंका त्यागकर वह शत्रु तथा मित्रमें सम—मध्यस्थ बन गया और मनको निश्चलकर मौन व्रत ले जिन-मन्दिरके मध्यमें बैठ गया। इन सब कार्योंके पहले उसने अर्हन्त भगवान्‌की अभिषेकपूर्वक विशाल पूजा की ॥३६३-३६४॥ अर्हन्त भगवान्‌के चरणोंके ध्यानसे जिसकी चेतना पवित्र हो गई थी ऐसा वह विद्याधर समाधिमरणकर उत्तम देव हुआ ॥३६५॥

अथानन्तर अमररक्षने, किन्नरगीत नामक नगरमें श्रीधर राजा और विद्या रानीसे समुत्पन्न रति नामक स्त्रीको प्राप्त किया अर्थात् उसके साथ विवाह किया ॥३६६॥ और भानुरक्षने गन्धर्वगीत नगरमें राजा सुरसन्निभ और गान्धारी रानीके गर्भसे उत्पन्न, गन्धर्वा नामकी कन्याके साथ विवाह किया ॥३६७॥ अमररक्षके अत्यन्त सुन्दर दश पुत्र और देवाङ्गनाओंके समान सुन्दर रूपवाली, गुणरूप आभूषणोंसे सहित छह पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं ॥३६८॥ इसी प्रकार भानुरक्षके भी अपनी कीर्तिके द्वारा दिग्दिगन्तको व्याप्त करनेवाले दश पुत्र और छह पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं ॥३६९॥ हे श्रेणिक ! उन विजयी राजपुत्रोंने अपने नामके समान नामवाले बड़े-बड़े सुन्दर नगर बसाये ॥३७०॥ उन नगरोंके नाम सुनो—१ सन्ध्याकार, २ सुवेल, ३ मनोह्लाद, ४ मनोहर, ५ हंसद्वीप, ६ हरि, ७ योध, ८ समुद्र, ९ काञ्चन और १० अर्धस्वर्गोत्कृष्ट। स्वर्गकी समानता रखनेवाले ये दश नगर, महाबुद्धि और पराक्रमको धारण करनेवाले अमररक्षके पुत्रोंने

१. तर्पणम् म० । २. किन्नरदान्ताख्ये ख०, किन्नरनादाख्ये म० । ३. जातामरिंजायां म० । ४. नगरेऽमरसन्निभ क० । ५. सुरूपाश्च क० । ६. दिवश्चापि ज०, दशश्चापि क० ।

आवर्तविघटाम्भोदा उत्कटस्फुटदुर्ग्रहाः । तटतोयावलीरत्नद्वीपाश्चाभान्ति राक्षसैः ॥३७३॥
नानारत्नकृतोद्योता हेमभित्तिप्रभासुराः । राक्षसानां बभूवुस्ते निवासाः क्रीडनार्थिनाम् ॥३७४॥
तत्रैव खेचरैरेभिर्द्वीपान्तरसमाश्रितैः । सन्निवेशा महोत्साहैर्नगराणां प्रकल्पिताः ॥३७५॥
ततस्तौ पुत्रयो राज्यं दत्त्वा दीक्षां समाश्रितौ । महातपोधनौ भूत्वा पदं यातौ सनातनम् ॥३७६॥
एवं महति सन्ताने प्रवृत्ते घनवाहने । महापुरुषनिर्व्यूढराज्यप्राव्रज्यवस्तुनि ॥३७७॥
[1]रक्षसस्तनयो जातो मनोवेगाङ्कधारिणः । राक्षसो नाम यस्यायं नाम्ना वंशः प्रकीर्त्यते ॥३७८॥
तस्यादित्यगतिर्जातो[2] बृहत्कीर्तिश्च नन्दनः । योषायां सुप्रभाख्यायां रविचन्द्रसमप्रभौ ॥३७९॥
वृषभौ तौ समासज्य[3] राज्यस्यन्दनजे भरे । श्रमणत्वं समाराध्य देवलोकं समाश्रितः ॥३८०॥
जाता सदनपद्माख्या भार्यादित्यगतेर्वरा । बृहत्कीर्तिस्तथा पुष्पनखेति परिकीर्तिता ॥३८१॥
अथादित्यगतेः पुत्रो नाम्ना भीमप्रभोऽभवत् । सहस्रं यस्य पत्नीनामभूद्देवाङ्गनारुचाम् ॥३८२॥
आसीदष्टोत्तरं तस्य पुत्राणां शतमूर्जितम् । स्तम्भैरिव निजं राज्यं धारितं यैः समन्ततः ॥३८३॥
आत्मजाय ततो राज्यं वितीर्य ज्यायसे प्रभुः । भीमप्रभः प्रवव्राज प्रापश्च परमं पदम् ॥३८४॥
देवेन राक्षसेन्द्रेण राक्षसद्वीपमण्डले । कृतानुकम्पना ऊषुः सुखेनाम्बरगामिनः ॥३८५॥
रक्षन्ति रक्षसां द्वीपं पुण्येन परिरक्षिताः । राक्षसा[5] नामतो द्वीपं प्रसिद्धं तदुपागतम् ॥३८६॥

बसाये थे ॥३७१-३७२॥ इसी प्रकार १ आवर्त, २ विघट, ३ अम्भोद, ४ उत्कट, ५ स्फुट, ६ दुर्ग्रह, ७ तट, ८ तोय, ९ आवली और रत्नद्वीप ये दशनगर भानुरक्षके पुत्रोंने बसाये थे ॥३७३॥ जिनमें नाना रत्नोंका उद्योत फैल रहा था तथा जो सुवर्णमयी दीवालोंके प्रकाशसे जगमगा रहे थे ऐसे वे सभी नगर क्रीड़ाके अभिलाषी राक्षसोंके निवास हुए थे ॥३७४॥ वहींपर दूसरे द्वीपोंमें रहनेवाले विद्याधरोंने बड़े उत्साहसे अनेक नगरोंकी रचना की थी ॥३७५॥

अथानन्तर—अमररक्ष और भानुरक्ष दोनों भाई, पुत्रोंको राज्य देकर दीक्षाको प्राप्त हुए और महातप रूपी धनके धारक हो सनातन सिद्ध पदको प्राप्त हुए ॥३७६॥ इस प्रकार जिसमें बड़े-बड़े पुरुषों द्वारा पहले तो राज्य पालन किया गया और तदनन्तर दीक्षा धारण की गई ऐसी राजा मेघवाहनकी बहुत बड़ी सन्तानकी परम्परा क्रमपूर्वक चलती रही ॥३७७॥ उसी सन्तान-परम्परामें एक मनोवेग नामक राक्षसके, राक्षस नामका ऐसा प्रभावशाली पुत्र हुआ कि उसके नामसे यह वंश ही राक्षस वंश कहलाने लगा ॥३७८॥ राजा राक्षसके सुप्रभा नामकी रानी थी, उससे उसके आदित्यगति और बृहत्कीर्ति नामके दो पुत्र हुए। ये दोनों ही पुत्र सूर्य और चन्द्रमाके समान कान्तिसे युक्त थे ॥३७९॥ राजा राक्षस, राज्यरूपी रथका भार उठानेमें वृषभके समान उन दोनों पुत्रोंको संलग्नकर तप धर स्वर्गको प्राप्त हुए ॥३८०॥ उन दोनों भाइयोंमें बड़ा भाई आदित्यगति राजा था और छोटा भाई बृहत्कीर्ति युवराज था। आदित्यगतिकी स्त्रीका नाम सदनपद्मा था और बृहत्कीर्तिकी स्त्री पुष्पनखा नामसे प्रसिद्ध थी ॥३८१॥ आदित्यगतिके भीमप्रभ नामका पुत्र हुआ जिसकी देवाङ्गनाओंके समान कान्तिवाली एक हजार स्त्रियाँ थीं ॥३८२॥ उन स्त्रियोंसे उसके एकसौ आठ बलवान् पुत्र हुए थे। ये पुत्र स्तम्भोंके समान चारों ओरसे अपने राज्यको धारण किये थे ॥३८३॥ तदनन्तर राजा भीमप्रभने अपने बड़े पुत्रके लिए राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली और क्रमसे तपश्चरण कर परमपद प्राप्त कर लिया ॥३८४॥ इस प्रकार राक्षस देवोंके इन्द्र भीम-सुभीमने जिनपर अनुकम्पा की थी ऐसे मेघवाहनकी वंश-परम्पराके अनेक विद्याधर राक्षसद्वीपमें सुखसे निवास करते रहे ॥३८५॥ पुण्य जिनकी रक्षा कर रहा था ऐसे राक्षसवंशी विद्याधर चूँकि उस राक्षसजातीय देवोंके द्वीपकी

१. राक्षसम् म० । २. यवोवेगाङ्कधारितः क० । मनोवेगाङ्कधारिणः म० । ३. यातो म० । ४. समासाद्य ख० । ५. राक्षसो ख० ।

एष राक्षसवंशस्य संभवः परिकीर्तितः । वंशप्रधानपुरुषान् कीर्तयिष्याम्यतः परम् ॥३८७॥
पुत्रो भीमप्रभस्याद्यः पूजार्हो नाम विश्रुतः । प्रवव्राज श्रियं न्यस्य तनये जितभास्करे ॥३८८॥
सोऽपि संपरिकीर्त्याख्ये स्थापयित्वा श्रियं सुते । प्राव्रत् जसोऽपि सुग्रीवे निधाय प्राप दीक्षणम् ॥३८९॥
सुग्रीवोऽपि हरिग्रीवं सन्निवेश्य निजे पदे । उग्रं तपः समाराध्य बभूव सुरसत्तमः ॥३९०॥
हरिग्रीवोऽपि निक्षिप्य श्रीग्रीवे राज्यसंपदम् । गृहीतश्रमणाचारो वनान्तरमशिश्रियत् ॥३९१॥
आरोप्य सुमुखे राज्यं श्रीग्रीवो जनकाश्रितम् । मार्गमाश्रितवान् वीरः सुव्यक्ते सुमुखस्तथा ॥३९२॥
सुव्यक्तोऽमृतवेगाख्ये न्यस्तवान् राक्षसीं श्रियम् । स चापि भानुगत्याह्वे स च चिन्तागतौ सुते ॥३९३॥
इन्द्र इन्द्रप्रभो मेघो मृगारिदमनः पविः । इन्द्रजिद्भानुवर्मा च भानुर्भानुसमप्रभः ॥३९४॥
सुरारिस्त्रिजटो भीमो मोहनोद्धारकौ रविः । चकारो वज्रमध्यश्च प्रमोदः सिंहविक्रमः ॥३९५॥
चामुण्डो मारणो भीष्मो द्विपवाहोऽरिमर्दनः । निर्वाणभक्तिरुग्रश्रीरर्हद्भक्तिरनुत्तरः ॥३९६॥
गतभ्रमोऽनिलश्चण्डो लङ्काशोको मयूरवान् । महाबाहुर्मनोरम्यो भास्कराभो बृहद्गतिः ॥३९७॥
बृहत्कान्तोऽरिसंत्रासश्चन्द्रावर्तो महारवः । मेघध्वानगृहक्षोभनक्षत्रदमनादयः ॥३९८॥
[1]अभिधाः कोटिशस्तेषां द्रष्टव्याम्बरचारिणाम् । मायावीर्यसमेतानां विद्याबलमहारुचाम् ॥३९९॥
विद्यानुयोगकुशलाः सर्वे श्रीसक्तवक्षसः । लङ्कायां स्वामिनः कान्ताः प्रायशः स्वर्गतश्च्युताः ॥४००॥
स्वेषु पुत्रेषु निक्षिप्य लक्ष्मीं वंशक्रमागताम् । संविग्ना राक्षसाधीशा महा[2]प्राव्रज्यमास्थिताः ॥४०१॥
केचित् कर्मावशेषेण त्रिलोकशिखरं गताः । दिवमीयुः परे केचित् पुण्यपाकानुभावतः ॥४०२॥

रक्षा करते थे इसलिए वह द्वीप राक्षस नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ और उस द्वीपके रक्षक विद्याधर राक्षस कहलाने लगे ॥३८६॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! यह राक्षसवंशकी उत्पत्ति मैंने तुझसे कही अब आगे इस वंशके प्रधान पुरुषोंका उल्लेख करूँगा। सो सुन ॥३८७॥ भीमप्रभका प्रथम पुत्र पूजार्ह नामसे प्रसिद्ध था सो वह अपने जितभास्कर नामक पुत्रके लिए राज्यलक्ष्मी सौंपकर दीक्षित हुआ ॥३८८॥ जितभास्कर संपरिकीर्ति नामक पुत्रको राज्य दे मुनि हुआ और संपरिकीर्ति सुग्रीवके लिए राज्य सौंप दीक्षाको प्राप्त हुआ ॥३८९॥ सुग्रीव, हरिग्रीवको अपने पदपर बैठाकर उग्र तपश्चरणकी आराधना करता हुआ उत्तम देव हुआ ॥३९०॥ हरिग्रीव भी श्रीग्रीवके लिए राज्यसम्पत्ति देकर मुनिव्रत धार वनमें चला गया ॥३९१॥ श्रीग्रीव सुमुखके लिए राज्य देकर पिताके द्वारा अङ्गीकृत मार्गको प्राप्त हुआ और बलवान् सुमुखने सुव्यक्त नामक पुत्रको राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली ॥३९२॥ सुव्यक्तने अमृतवेग नामक पुत्रके लिए राक्षसवंशकी सम्पदा सौंपकर तप धारण किया। अमृतवेगने भानुगतिको और भानुगतिने चिन्तागतिको वैभव समर्पितकर साधुपद स्वीकृत किया ॥३९३॥ इस प्रकार इन्द्र, इन्द्रप्रभ, मेघ, मृगारिदमन, पवि, इन्द्रजित्, भानुवर्मा, भानु, भानुप्रभ, सुरारि, त्रिजट, भीम, मोहन, उद्धारक, रवि, चकार, वज्रमध्य, प्रमोद, सिंहविक्रम, चामुण्ड, मारण, भीष्म, द्विपवाह, अरिमर्दन, निर्वाणभक्ति, उग्रश्री, अर्हद्भक्ति, अनुत्तर, गतभ्रम, अनिल, चण्ड, लङ्काशोक, मयूरवान्, महाबाहु, मनोरम्य, भास्कराभ, बृहद्गति, बृहत्कान्त, अरिसन्त्रास, चन्द्रावर्त, महारव, मेघध्वान, गृहक्षोभ और नक्षत्रदमन आदि करोड़ों विद्याधर उस वंशमें हुए। ये सभी विद्याधर माया और पराक्रमसे सहित थे तथा विद्या, बल और महाकान्तिके धारक थे ॥३९४-३९९॥ ये सभी लङ्काके स्वामी, विद्यानुयोगमें कुशल थे, सबके वक्षःस्थल लक्ष्मीसे सुशोभित थे, सभी सुन्दर थे और प्रायः स्वर्गसे च्युत होकर लङ्कामें उत्पन्न हुए थे ॥४००॥ ये राक्षसवंशी राजा, संसार से भयभीत हो वंश-परम्परासे आगत लक्ष्मी अपने पुत्रोंके लिए सौंपकर दीक्षाको प्राप्त हुए थे ॥४०१॥ कितने ही राजा कर्मोंको नष्टकर त्रिलोककी शिखरको प्राप्त हुए, और कितने ही पुण्यो-

१. संख्यैवं म० । २. महाप्राव्राज्यमाश्रिताः म० ।

एवं तेष्वप्यतीतेषु घनप्रभसुतोऽभवत् । लङ्कायामधिपः कीर्तिधवलो नाम विश्रुतः ॥४०३॥
पद्मागर्भे समुद्भूतः खेचरैः कृतशासनः । संभुङ्क्ते परमैश्वर्यं सुनासीरो यथा दिवि ॥४०४॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

एवं भवान्तरकृतेन तपोबलेन संप्राप्नुवन्ति पुरुषा मनुजेषु भोगान् ।
देवेषु चोत्तमगुणा गुणभूषिताङ्गा निर्दग्धकर्मपटलाश्च भवन्ति सिद्धाः ॥४०५॥
दुष्कर्मसक्तमतयः परमां लभन्ते निन्दां जना इह भवे मरणात्परं च ।
दुःखानि यान्ति बहुधा पतिताः कुयोनौ ज्ञात्वेति पापतमसो रवितां भजध्वम् ॥४०६॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते राक्षसवंशाधिकारः पञ्चमं पर्व ॥५॥

दयके प्रभावसे स्वर्गमें उत्पन्न हुए थे ॥४०२॥ इस प्रकार बहुतसे राजा व्यतीत हुए । उनमें लङ्का का अधिपति एक घनप्रभ नामक राजा हुआ । उसकी पद्मा नामक स्त्रीके गर्भमें उत्पन्न हुआ कीर्तिधवल नामका प्रसिद्ध पुत्र हुआ । समस्त विद्याधर उसका शासन मानते थे और जिस प्रकार स्वर्गमें इन्द्र परमैश्वर्यका अनुभव करता है उसी प्रकार वह कीर्तिधवल भी लङ्कामें परमैश्वर्य का अनुभव करता था ॥४०३-४०४॥

इस तरह पूर्वभवमें किये तपश्चरणके बलसे पुरुष, मनुष्यगति तथा देवगतिमें भोग भोगते हैं, वहाँ उत्तम गुणोंसे युक्त तथा नाना गुणोंसे भूषित शरीरके धारक होते हैं, कितने ही मनुष्य कर्मोंके पटलको भस्म कर सिद्ध हो जाते हैं, तथा जिनकी बुद्धि दुष्कर्ममें आसक्त है ऐसे मनुष्य इस लोकमें भारी निन्दाको प्राप्त होते हैं और मरनेके बाद कुयोनिमें पड़कर अनेक प्रकारके दुःख भोगते हैं । ऐसा जानकर हे भव्य जीवो ! पाप रूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यकी सदृशता प्राप्त करो ॥४०५-४०६॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य विरचित पद्मचरितमें राक्षसवंशका निरूपण करनेवाला पञ्चम पर्व समाप्त हुआ ॥५॥

षष्ठं पर्व

वंशो रक्षोनभोगानां मया ते परिकीर्तितः । शृणु वानरकेतूनां सन्तानमधुना नृप ॥१॥
विजयार्द्धगिरेर्भागे दक्षिणे स्वर्गसन्निभे । पुरं मेघपुरं नाम्ना तुङ्गप्रासादशोभितम् ॥२॥
विद्याभृतां पतिस्तस्मिन्नतीन्द्रो नाम विश्रुतः । [1]अतिक्रम्येव यः शक्रं स्थितो भोगादिसंपदा[2] ॥३॥
श्रीमती नाम तस्यासीत् कान्ता श्रीसमविभ्रमा । यस्याः सति मुखे पक्षो ज्योत्स्नयेव सदाभवत् ॥४॥
तयोः श्रीकण्ठनामाभूत् सुतः श्रुतिविशारदः । यस्य नाम्नि गते कर्णं हर्षमीयुर्विचक्षणाः ॥५॥
स्वसा तस्याभवच्चार्वी[3] देवी नाम कनीयसी । बाणतां नयने यस्या गते कुसुमधन्वनः ॥६॥
अथ रत्नपुरं नाम पुरं तत्र मनोहरम् । तत्र पुष्पोत्तरो नाम विद्याधारी महाबलः ॥७॥
तस्य पद्मोत्तराभिख्यः सुतो येन विलोचने । विषयान्तरसम्बन्धाज्जनानां [4]विनिवर्तिते ॥८॥
तस्मै पुष्पोत्तरः कन्यां बहुशस्तामयाचत । श्रीकण्ठेन न सा तस्मै दत्ता कर्मानुभावतः ॥९॥
सा तेन कीर्तिशुभ्राय दत्ता बान्धववाक्यतः । विवाहं च परेणास्या विधिना निरवर्तयत् ॥१०॥
न मेऽभिजनतो दोषो न मे दारिद्र्यसंभवः । न च पुत्रस्य वैरूप्यं न किञ्चिद्वैरकारणम् ॥११॥
तथापि मम पुत्राय वितीर्णा[5] तेन न स्वसा । इति पुष्पोत्तरो ध्यात्वा कोपावेशं परं गतः ॥१२॥

अथानन्तर—गौतम स्वामी कहते हैं कि हे राजन् श्रेणिक ! मैंने तेरे लिए राक्षसवंशी विद्याधरोंका वृत्तान्त तो कहा, अब तू वानरवंशियोंका वृत्तान्त सुन ॥१॥ स्वर्गके समान विजयार्ध पर्वतकी जो दक्षिण श्रेणी है उसमें एक मेघपुर नामका नगर है। यह नगर ऊँचे-ऊँचे महलोंसे सुशोभित है ॥२॥ वहाँ विद्याधरोंका राजा अतीन्द्र निवास करता था। राजा अतीन्द्र अत्यन्त प्रसिद्ध था और भोग-सम्पदाके द्वारा मानो इन्द्रका उल्लङ्घन करता था ॥३॥ उसकी लक्ष्मीके समान हाव-भाव विलाससे सहित श्रीमती नामकी स्त्री थी। उसका मुख इतना सुन्दर था कि उसके रहते हुए सदा चाँदनीसे युक्त पक्ष ही रहा करता था ॥४॥ उन दोनोंके श्रीकण्ठ नामका पुत्र था। वह पुत्र शास्त्रोंमें निपुण था और जिसका नाम कर्णगत होते ही विद्वान् लोग हर्षको प्राप्त कर लेते थे ॥५॥ उसके महामनोहरदेवी नामकी छोटी बहिन थी। उस देवीके नेत्र क्या थे मानो कामदेवके बाण ही थे ॥६॥

अथानन्तर—रत्नपुर नामका एक सुन्दर नगर था जिसमें अत्यन्त बलवान् पुष्पोत्तर नामका विद्याधर राजा निवास करता था ॥७॥ अपने सौन्दर्यरूपी सम्पत्तिके द्वारा देवकन्याके समान सबके मनको आनन्दित करनेवाली पद्माभा नामकी पुत्री और पद्मोत्तर नामका पुत्र था। यह पद्मोत्तर इतना सुन्दर था कि उसने अन्य मनुष्योंके नेत्र दूसरे पदार्थोंके सम्बन्धसे दूर हटा दिये थे अर्थात् सब लोग उसे ही देखते रहना चाहते थे ॥८॥ राजा पुष्पोत्तरने अपने पुत्र पद्मोत्तरके लिए राजा अतीन्द्रकी पुत्री देवीकी बहुत बार याचना की परन्तु श्रीकण्ठ भाईने अपनी बहिन पद्मोत्तरके लिए नहीं दी, लंकाके राजा कीर्तिधवलके लिए दी और बड़े वैभवके साथ विधिपूर्वक उसका विवाह कर दिया ॥९–१०॥ यह बात सुन राजा पुष्पोत्तरने बहुत कोप किया। उसने विचार किया कि देखो, न तो हमारे वंशमें कोई दोष है, न मुझमें दरिद्रतारूपी दोष है, न मेरे पुत्रमें कुरूपपना है और न मेरा उनसे कुछ वैर भी है फिर भी श्रीकण्ठने मेरे पुत्रके लिए अपनी बहिन नहीं दी ॥११–१२॥

१. अतिक्रम्य च म० । अतिक्रम्यैव ख० । २. संपदः क० । ३. चार्या क० । ४. सप्तमश्लोकादनन्तरं म० पुस्तके निम्नाङ्कितः श्लोकोऽधिको वर्तते । 'पद्माभासीत्सुता तस्य मनोह्लादनकारिणी । देवकन्येव सर्वेषां रूपलावण्यसम्पदा' । ५. विधिर्न म० ।

चैत्यानां वन्दनां कर्तुं श्रीकण्ठः सुरपर्वतम् । गतोऽन्यदा विमानेन वायुवेगेन चारुणा ॥१३॥
तस्मान्निवर्तमानोऽसौ चेतःश्रोत्रापहारिणम् । भृङ्गाणामिव झंकारमश्रृणोद् गीतनिःस्वनम् ॥१४॥
रम्यप्रक्वणमिश्रेण तेन गीतस्वनेन सः । धृतो ऋजुगुणेनेव बद्ध्वा निश्चलविग्रहः ॥१५॥
आलोकनमथो चक्रे ततोऽपश्यत् स कन्यकाम्[1] । गुरुणाधिष्ठितां कान्तां संगीतकगृहाङ्गणे ॥१६॥
तस्या रूपसमुद्रेऽसौ निमग्नं मानसं द्रुतम् । न शशाक समुद्धर्तुं धर्तुं नागानिव[2] प्रभुः ॥१७॥
स्थितश्चैषोऽन्तिकव्योम्नि तया नीलोत्पलाभया । वध्वेव पीवरस्कन्धो दृष्टयाकृष्टो मनोमुषा ॥१८॥
ततो दर्शनमन्योन्यं तयोर्माधुर्यपेशलम् । चकार वरणं प्रेमबद्धभावस्य सूचनम् ॥१९॥
ततस्तामिङ्गिताभिज्ञो भुजपञ्जरमध्यगाम् । कृत्वा नभस्तले यातः स्पर्शमीलितलोचनः ॥२०॥
परिवर्गस्ततस्तस्याः प्रलापमुखरीकृतः । पुष्पोत्तराय कन्यायाः श्रीकण्ठेन हृतिं जगौ ॥२१॥
सर्वोद्योगेन संनह्य ततः पुष्पोत्तरो रुषा । तस्यानुपदवीं यातो दन्तदष्टरदच्छदः ॥२२॥
तेनानुधावमानेन व्रजता सुनभस्तले । शशीव घनवृन्देन श्रीकण्ठः शुशुभेऽधिकम् ॥२३॥
आयान्तं पृष्ठतो दृष्ट्वा श्रीकण्ठस्तं महाबलम् । त्वरितं प्रस्थितो लङ्कां नीतिशास्त्रविशारदः ॥२४॥
तत्र स्वसुः पतिं गत्वा शरणं स समाश्रयत् । कालप्राप्तं नयं सन्तो युञ्जाना यान्ति तुङ्गताम् ॥२५॥
सोदरो मम कान्ताया इति स स्नेहनिर्भरम् । संभ्रमेण परिष्वज्य तं चकारातिपूजनम् ॥२६॥

किसी एक दिन श्रीकण्ठ अकृत्रिम प्रतिमाओंकी वन्दना करनेके लिए वायुके समान वेगवाले सुन्दर विमानके द्वारा सुमेरुपर्वत पर गया था ॥१३॥ वहाँसे जब वह लौट रहा था तब उसने मन और कानोंको हरण करनेवाला, भ्रमरोंकी झंकारके समान सुन्दर संगीतका शब्द सुना ॥१४॥ वीणाके स्वरसे मिले हुए संगीतके शब्दसे उसका शरीर ऐसा निश्चल हो गया मानो सीधी रस्सीसे ही बाँधकर उसे रोक लिया हो ॥१५॥ तदनन्तर उसने सब ओर देखा तो उसे संगीतगृहके आँगनमें गुरुके साथ बैठी हुई पुष्पोत्तरकी पुत्री पद्माभा दिखी ॥१६॥ उसे देखकर श्रीकण्ठका मन पद्माभाके सौन्दर्यरूपी सागरमें शीघ्र ही ऐसा निमग्न हो गया कि वह उसे निकालनेमें असमर्थ हो गया। जिस प्रकार कोई हाथियोंको पकड़नेमें समर्थ नहीं होता उसी प्रकार वह मनको स्थिर करनेमें समर्थ नहीं हो सका ॥१७॥ श्रीकण्ठ उस कन्याके समीप ही आकाशमें खड़ा रह गया। श्रीकण्ठ सुन्दर शरीरका धारक तथा स्थूल कन्धोंसे युक्त था। पद्माभाने भी चित्तको चुरानेवाली अपनी नीली-नीली दृष्टिसे उसे आकर्षित कर लिया था ॥१८॥ तदनन्तर दोनोंका परस्परमें जो मधुर अवलोकन हुआ उसीने दोनोंका वरण कर दिया अर्थात् मधुर अवलोकनसे ही श्रीकण्ठने पद्माभाको और पद्माभाने श्रीकण्ठको वर लिया। उनका यह वरना पारस्परिक प्रेम भावको सूचित करनेवाला था ॥१९॥ तदनन्तर अभिप्रायको जाननेवाला श्रीकण्ठ पद्माभाको अपने भुजपञ्जरके मध्यमें स्थितकर आकाशमें ले चला। उस समय पद्माभाके स्पर्शसे उसके नेत्र कुछ-कुछ बन्द हो रहे थे ॥२०॥ प्रलापसे चिल्लाते हुए परिजनके लोगोंने राजा पुष्पोत्तरको खबर दी कि श्रीकण्ठने आपकी कन्याका अपहरण किया है ॥२१॥ यह सुन पुष्पोत्तर भी बहुत क्रुद्ध हुआ। वह क्रोध वश दाँतोंसे ओठ चाबने लगा और सब प्रकारसे तैयार हो श्रीकण्ठके पीछे गया ॥२२॥ श्रीकण्ठ आगे-आगे जा रहा था और पुष्पोत्तर उसके पीछे-पीछे दौड़ रहा था जिससे आकाशके बीच श्रीकण्ठ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मेघसमूह जिसके पीछे उड़ रहा है ऐसा चन्द्रमा ही हो ॥२३॥ नीतिशास्त्रमें निपुण श्रीकण्ठने जब अपने पीछे महाबलवान् पुष्पोत्तरको आता देखा तो वह शीघ्र ही लंकाकी ओर चल पड़ा ॥२४॥ वहाँ वह अपने बहनोई कीर्तिधवलकी शरणमें पहुँचा सो ठीक ही है। क्योंकि जो समयानुकूल नीतियोग करते हैं वे उन्नतिको प्राप्त होते ही हैं ॥२५॥ 'यह मेरी स्त्रीका भाई है'

१. सुकन्यकाम् ख० । २. नाङ्गानि च म० ।

तयोः कुशलप्रवृत्तान्तप्रश्नो यावत्प्रवर्तते । तावत्पुष्पोत्तरः प्राप्तो महाबलसमन्वितः ॥२७॥
कीर्तिशुक्लस्ततोऽपश्यद् गगनं सर्वतश्रितम् । विद्याधरसमूहेन प्रदीप्तमुरुतेजसा ॥२८॥
असिकुन्तादिभिः शस्त्रैर्विकरालं महारवम् । स्थानभ्रंशमिवागच्छद्बलं खेचरसंगमात् ॥२९॥
वाजिभिर्वायुरंहोभिर्गजैश्च जलदोपमैः । विमानैश्च महामानैः सिंहैश्च प्रचलत्सटैः ॥३०॥
दृष्ट्वोत्तरां दिशं व्याप्तां विहस्य क्रोधमिश्रितम् । सचिवानां समादेशं कीर्तिशुक्लो युधे ददौ ॥३१॥
अकार्येण ततः स्वेन श्रीकण्ठोऽयं त्रपानतः । कीर्तिशुभ्रमिदं वाक्यं जगाद त्वरयान्वितम् ॥३२॥
एतं बन्धुजनं रक्ष त्वं मदीयमिहाधुना । करोमि निर्जितं यावत्प्रतिपक्षं तवाश्रयात् ॥३३॥
एवमुक्ते जगादासौ वचनं नयसंगतम् । तवायुक्तमिदं वक्तुं प्राप्य मां भीतिभेदनम्[1] ॥३४॥
यदि नामैष नो साम्ना शमं यास्यति दुर्जनः । ततः पश्य प्रविष्टोऽयं मृत्योर्वक्त्रं मदीरितः ॥३५॥
स्थापयित्वेति विश्रब्धं प्रियायाः सोदरं नृपः । उत्कृष्टवयसो धीरान्[2] दूतान् द्रुतमजीगमत् ॥३६॥
उपर्युपरि ते गत्वा क्रमेणेदं बभाषिरे । पुष्पोत्तरं महाप्राज्ञा मधुरालापकोविदाः ॥३७॥
पुष्पोत्तर वदत्येतद्भवन्तं कीर्तिनिर्मलः । अस्मद्वदनविन्यस्तैः पदैरादरसङ्गतैः ॥३८॥
महाकुलसमुत्पन्नो भवान् विमलचेष्टितः । सर्वस्मिन् जगति ख्यातिं गतः शास्त्रार्थकोविदः ॥३९॥
आगता गोचरं का ते न मर्यादा महामते । कर्णजाहे निधीयेत यास्माभिरधुना तव ॥४०॥
श्रीकण्ठोऽपि कुले जातः शशाङ्ककरनिर्मले । वित्तवान् विनयोपेतः कान्तः सर्वकलान्वितः ॥४१॥

यह जानकर कीर्तिधवलने बड़े स्नेहसे उसका आलिङ्गनकर अतिथिसत्कार किया ॥२६॥ जब तक उन दोनोंके बीच कुशल-समाचारका प्रश्न चलता है कि तब तक बड़ी भारी सेनाके साथ पुष्पोत्तर वहाँ जा पहुँचा ॥२७॥ तदनन्तर कीर्तिधवलने आकाशकी ओर देखा तो वह आकाश सब ओरसे विद्याधरोंके समूहसे व्याप्त था, विशाल तेजसे देदीप्यमान हो रहा था ॥२८॥ तलवार, भाले आदि शास्त्रोंसे महाभयंकर था, बड़ा भारी शब्द उसमें हो रहा था, विद्याधरोंके समागमसे वह सेना ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने स्थानसे भ्रष्ट होनेके कारण ही उसमें वह महाशब्द हो रहा था ॥२९॥ वायुके समान वेगवाले घोड़ों, मेघोंकी उपमा रखनेवाले हाथियों, बड़े-बड़े विमानों और जिनकी गरदनके बाल हिल रहे थे ऐसे सिंहोंसे उत्तर दिशाको व्याप्त देख कीर्तिधवलने क्रोधमिश्रित हँसी हँसकर मंत्रियोंके लिए युद्धका आदेश दिया ॥३०-३१॥

तदनन्तर अपने अकार्य—खोटे कार्यके कारण लज्जासे अवनत श्रीकण्ठने शीघ्रता करनेवाले कीर्तिधवलसे निम्नाङ्कित वचन कहे ॥३२॥ कि जब तक मैं आपके आश्रयसे शत्रुको परास्त करता हूँ तब तक आप यहाँ मेरे इष्टजन (स्त्री) की रक्षा करो ॥३३॥ श्रीकण्ठके ऐसा कहनेपर कीर्तिधवलने उससे नीतियुक्त वचन कहे कि भयका भेदन करनेवाले मुझको पाकर तुम्हारा यह कहना युक्त नहीं है ॥३४॥ यदि यह दुर्जन साम्यभावसे शान्तिको प्राप्त नहीं होता है तो तुम निश्चित देखना कि यह मेरे द्वारा प्रेरित होकर यमराजके ही मुखमें प्रवेश करेगा ॥३५॥ ऐसा कह अपनी स्त्रीके भाईको तो उसने निश्चिन्त कर महलमें रक्खा और शीघ्र ही उत्कृष्ट अवस्थावाले धीर-वीर दूतोंको पुष्पोत्तरके पास भेजा ॥३६॥ अतिशय बुद्धिमान् और मधुरभाषण करनेमें निपुण दूतोंने लगे हाथ जाकर पुष्पोत्तरसे यथाक्रम निम्नाङ्कित वचन कहे ॥३७॥ हे पुष्पोत्तर ! हम लोगोंके मुखमें स्थापित एवं आदरपूर्ण वचनोंसे कीर्तिधवल राजा आपसे यह कहता है ॥३८॥ कि आप उच्चकुलमें उत्पन्न हैं, निर्मल चेष्टाओंके धारक हैं, समस्त संसारमें प्रसिद्ध हैं और शास्त्रार्थमें चतुर हैं ॥३९॥ हे महाबुद्धिमान् ! कौन सी मर्यादा आपके कानोंमें नहीं पड़ी है जिसे इस समय हमलोग आपके कानोंके समीप रक्खें ॥४०॥ श्रीकण्ठ भी चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल कुलमें उत्पन्न हुआ है, धनवान् है, विनयसे युक्त है, सुन्दर है, और सब कलाओंसे

१. भीतिभेदिनम् । २. धीरो म० ।

तस्य योग्या गुणैः कन्या रूपेण च कुलेन च । समानयोः समायोगं करोतु विधिरिष्यताम् ॥४२॥
न चास्ति कारणं किञ्चित् सेनयोः संक्षये कृते । स्वभाव एव कन्यानां यत्परागारसेवनम् ॥४३॥
दूतो यावद्‌ब्रवीत्येवं तावद्दूती समागता । पद्मया प्रेषिता तस्य दुहित्रेदमभाषत ॥४४॥
ब्रवीति देव पद्मेदं कृत्वा चरणवन्दनम् । स्वयं ते गदितुं शक्ता त्रपया नेति नागता ॥४५॥
तात स्वल्पापि नास्त्यत्र श्रीकण्ठस्यापराधिता । मया कर्मानुभावेन स्वयमेव प्रचोदितः ॥४६॥
यतः सत्कुलजातानां गतिरेषैव योषिताम् । विमुच्यैनं मतोऽन्यस्य नरस्य नियमो मम ॥४७॥
इति विज्ञापितो दूत्या चिन्तामेतामसौ श्रितः । किंकर्तव्यं विमूढेन चेतसा विक्लवीकृतः ॥४८॥
[1]शुद्धाभिजनता मुख्या गुणानां वरभाजिनाम् । तस्मिञ्च संभवत्येष[2] पक्षं च बलिनं श्रितः[3] ॥४९॥
अभिमानात्तथाप्येनं विनेतुं शक्तिरस्ति मे । स्वयमेव तु कन्यायै रोचते क्रियतेऽत्र किम् ॥५०॥
अभिप्रायं ततस्तस्य ज्ञात्वा ते हर्षनिर्भराः । समं दूत्या गता दूता शशासुश्च यथोदितम् ॥५१॥
सुताविज्ञापनात् त्यक्तक्रोधभारोऽभिमानवान् । पुष्पोत्तरो गतः स्थानमात्मीयं परमार्थवित् ॥५२॥
शुक्लायां मार्गशीर्षस्य पक्षतावथ[4] शोभने । मुहूर्ते विधिना वृत्तं पाणिग्रहणमेतयोः ॥५३॥
इति श्रीकण्ठमाहेदं प्रीत्यात्यन्तमुदारया । प्रेरितः कीर्तिधवलो वचनं कृतनिश्चयम् ॥५४॥
वैरिणो बहवः सन्ति विजयार्द्धगिरौ तव । अप्रमत्ततया कालं कियन्तं गमयिष्यसि ॥५५॥
अतस्तिष्ठ त्वमत्रैव रम्ये रत्नालयान्तरे । निजाभिरुचिते स्थाने स्वेच्छया कृतचेष्टितः ॥५६॥
पर्याप्नोति परित्यक्तुं न च त्वां मम मानसम् । मत्प्रीतिवागुरां छित्वा कथं वा त्वं गमिष्यसि ॥५७॥

सहित है ॥४१॥ तुम्हारी कन्या गुण, रूप तथा कुल सभी बातोंमें उसके योग्य है । इस प्रकार अनुकूल भाग्य, दो समान व्यक्तियोंका संयोग करा दे तो उत्तम है ॥४२॥ जब कि दूसरेके घरकी सेवा करना यह कन्याओंका स्वभाव ही है तब दोनों पक्षकी सेनाओंका क्षय करनेमें कोई कारण दिखाई नहीं देता ॥४३॥ दूत इस प्रकार कह ही रहा था कि इतनेमें पुत्री पद्माभाके द्वारा भेजी हुई दूती आकर पुष्पोत्तरसे कहने लगी ॥४४॥ कि हे देव ! पद्मा आपके चरणोंमें नमस्कारकर कहती है कि मैं लज्जाके कारण आपसे स्वयं निवेदन करनेके लिए नहीं आ सकी हूँ ॥४५॥ हे तात ! इस कार्यमें श्रीकण्ठका थोड़ा भी अपराध नहीं है । कर्मोंके प्रभावसे मैंने इसे स्वयं प्रेरित किया था ॥४६॥ चूँकि सत्कुलमें उत्पन्न हुई स्त्रियोंकी यही मर्यादा है अतः इसे छोड़कर अन्य पुरुषका मेरे नियम है—त्याग है ॥४७॥ इस प्रकार दूतीके कहने पर 'अब क्या करना चाहिए' इस चिन्ताको प्राप्त हुआ । उस समय वह अपने किंकर्तव्यविमूढ़ चित्तसे बहुत दुःखी हो रहा था ॥४८॥ उसने विचार किया कि वरमें जितने गुण होना चाहिए उनमें शुद्ध वंशमें जन्म लेना सबसे प्रमुख है । यह गुण श्रीकण्ठमें है ही उसके सिवाय यह बलवान् पक्षकी शरणमें आ पहुँचा है ॥४९॥ यद्यपि इसका अभिमान दूर करनेकी मुझमें शक्ति है, पर जब कन्याके लिए यह स्वयं रुचता है तब इस विषयमें क्या किया जा सकता है ? ॥५०॥ तदनन्तर पुष्पोत्तरका अभिप्राय जानकर हर्षसे भरे दूत, दूतीके साथ वापिस चले गये और सबने जो बात जैसी थी वैसी ही राजा कीर्तिधवलसे कह दी ॥५१॥ पुत्रीके कहनेसे जिसने क्रोधका भार छोड़ दिया था ऐसा अभिमानी तथा परमार्थको जाननेवाला राजा पुष्पोत्तर अपने स्थानपर वापिस चला गया ॥५२॥ अथानन्तर मार्गशीर्ष शुक्ल पक्षकी प्रतिपदाके दिन शुभमुहूर्तमें दोनोंका विधिपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार हुआ ॥५३॥ एक दिन उदार प्रेमसे प्रेरित कीर्तिधवलने श्रीकण्ठसे निश्चयपूर्ण निम्नाङ्कित वचन कहे ॥५४॥ चूँकि विजयार्ध पर्वतपर तुम्हारे बहुतसे वैरी हैं अतः तुम सावधानीसे कितना काल बिता सकोगे ॥५५॥ लाभ इसीमें है कि तुम्हें जो स्थान रुचिकर हो वहीं स्वेच्छासे क्रिया करते हुए यहीं अत्यन्त सुन्दर रत्नमयी महलोंमें निवास करो ॥५६॥ मेरा मन

१. श्रद्धाभिजनिता म० । ४. -त्येषा म० । २. श्रिता । ३. पक्षे तावत्सुशोभने ख० ।

श्रीकण्ठमभिधायैवं सचिवं निजमब्रवीत् । पितामहक्रमायातमानन्दाख्यं महामतिम् ॥५८॥
सारासारं त्वया दृष्टं मदीयानां चिरं पुराम् । उपदिश्यतामतः सारं श्रीकण्ठायात्र यत्पुरम् ॥५९॥
इत्युक्तः सचिवः प्राह सितेन हृदयस्थितम् । कूर्चेन स्वामिनं भक्त्या चामरेणेव वीजयन् ॥६०॥
नरेन्द्र तव नास्त्येव पुरं यन्न मनोहरम् । तथापि स्वयमन्विष्य गृह्णातु रुचिदर्शनम् ॥६१॥
मध्ये सागरमेतस्मिन् द्वीपाः सन्त्यतिभूरयः । कल्पद्रुमसमाकारैः पादपैर्व्याप्तदिङ्मुखाः ॥६२॥
आचिता विविधै रत्नैस्तुङ्गशृङ्गा महौजसः । गिरयो येषु देवानां सन्ति क्रीडनहेतवः ॥६३॥
भीमातिभीमदाक्षिण्यात्ते चान्यैरपि वः कुले । अनुज्ञाताः सुरैः सर्वैः पूर्वमित्येवमागमः ॥६४॥
पुराणि तेषु रम्याणि सन्ति काञ्चनसद्मभिः । संपूर्णानि महारत्नैः करदष्टदिवाकरैः ॥६५॥
संध्याकारो मनोह्लादः सुवेलः काञ्चनो हरिः । योधनो जलधिध्वानो हंसद्वीपो भरक्षमः ॥६६॥
अर्द्धस्वर्गोत्कटावर्तौ विघटो[1] रोधनोऽमलः । कान्तः स्फुटतटो रत्नद्वीपस्तोयावली सरः ॥६७॥
अलङ्घनो नभोभानुः क्षेममित्येवमादयः । आसन् ये रमणोद्देशा देवानां निरुपद्रवाः ॥६८॥
त एव साम्प्रतं जाता भूरिपुण्यैरुपार्जिताः । पुराणां सन्निवेशा वो नानारत्नवसुन्धराः ॥६९॥
दूतोऽत्रवरोत्तरे भागे समुद्रपरिवेष्टिते । शतत्रयमतिक्रम्य योजनानामलं पृथुः ॥७०॥
अतिशाखामृगद्वीपः प्रसिद्धो भुवनत्रये । यस्मिन्नवान्तरद्वीपाः सन्ति रम्याः सहस्रशः ॥७१॥
पुष्परागमणेर्भाभिः[2] क्वचित् प्रज्वलतीव यः । सस्यैरिव क्वचिच्छन्नो हरिन्मणिमरीचिभिः ॥७२॥

तुम्हें छोड़नेको समर्थ नहीं है और तुम भी मेरे प्रेमपाशको छोड़कर कैसे जाओगे ॥५७॥ श्रीकण्ठसे ऐसा कहकर कीर्तिधवलने अपने पितामहके क्रमसे आगत महाबुद्धिमान् आनन्द नामक मन्त्रीको बुलाकर कहा ॥५८॥ कि तुम चिरकालसे मेरे नगरोंकी सारता और असारताको अच्छी तरह जानते हो अतः श्रीकण्ठके लिए जो नगर सारभूत हो सो कहो ॥५९॥ इस प्रकार कहनेपर वृद्ध मन्त्री कहने लगा। जब वह वृद्ध मन्त्री कह रहा था तब उसकी सफेद दाढ़ी वक्षःस्थलपर हिल रही थी और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो हृदयमें विराजमान स्वामीको चमर ही ढोर रहा हो ॥६०॥ उसने कहा कि हे राजन्! यद्यपि आपके नगरोंमें ऐसा एक भी नगर नहीं है जो सुन्दर न हो तथापि श्रीकण्ठ स्वयं ही खोजकर इच्छानुसार—जो इन्हें रुचिकर हो, ग्रहणकर लें ॥६१॥ इस समुद्रके बीचमें ऐसे बहुतसे द्वीप हैं जहाँ कल्पवृक्षोंके समान आकारवाले वृक्षोंसे दिशाएँ व्याप्त हो रही हैं ॥६२॥ इन द्वीपोंमें ऐसे अनेक पर्वत हैं जो नाना प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त हैं, ऊँची-ऊँची शिखरोंसे सुशोभित हैं, महादेदीप्यमान हैं और देवोंकी क्रीड़ाके कारण हैं ॥६३॥ राक्षसोंके इन्द्र भीम अतिभीम तथा उनके सिवाय अन्य सभी देवोंने आपके वंशजोंके लिए वे सब द्वीप तथा पर्वत दे रक्खे हैं ऐसा पूर्व परम्परासे सुनते आते हैं ॥६४॥ उन द्वीपोंमें सुवर्णमय महलोंसे मनोहर और किरणोंसे सूर्यको आच्छादित करनेवाले महारत्नोंसे परिपूर्ण अनेक नगर हैं ॥६५॥ उन नगरोंके नाम इस प्रकार है—संध्याकार, मनोह्लाद, सुवेल, काञ्चन, हरि, योधन, जलधिध्वान, हंसद्वीप, भरक्षम, अर्धस्वर्गोत्कट, आवर्त, विघट, रोधन, अमल, कान्त, स्फुटतट, रत्नद्वीप, तोयावली, सर, अलङ्घन, नभोभानु और क्षेम इत्यादि अनेक सुन्दर सुन्दर स्थान हैं। इन स्थानोंमें देव भी उपद्रव नहीं कर सकते हैं ॥६६-६८॥ जो बहुत भारी पुण्यसे प्राप्त हो सकते हैं और जहाँकी वसुधा नाना प्रकारके रत्नोंसे प्रकाशमान है ऐसे वे समस्त नगर इस समय आपके आधीन हैं ॥६९॥ यहाँ पश्चिमोत्तर भाग अर्थात् वायव्य दिशा में समुद्रके बीच तीन सौ योजन विस्तारवाला बड़ा भारी वानर द्वीप है। यह वानर द्वीप तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है और उसमें महामनोहर हजारों अवान्तर द्वीप हैं ॥७०-७१॥ यह द्वीप कहीं तो पुष्पराग मणियोंकी लाल-लाल प्रभासे ऐसा जान पड़ता है मानो जल ही रहा हो, कहीं हरे

१. वैघटो। २. मणिभाभिः म०।

इन्द्रनीलप्रभाजालैस्तमसेव चितः क्वचित् । पद्माकरश्रियं धत्ते पद्मरागचयैः क्वचित् ॥७३॥
भ्रमता यत्र वातेन गगने गन्धचारुणा । हृता जानन्ति नो यस्मिन्पताम इति पक्षिणः ॥७४॥
स्फटिकान्तरविन्यास्तैः पद्मरागैः समत्विषः । ज्ञायन्ते चलनाद्यत्र सरःसु कमलाकराः ॥७५॥
मत्तैर्मध्वासवास्वादाच्छकुन्तैः कलनादिभिः । संभाषत इति द्वीपान् यः समीपव्यवस्थितान् ॥७६॥
यत्रौषधिप्रभाजालैस्तमो दूरं निराकृतम् । चक्रे बहुलपक्षेऽपि समावेशं न रात्रिषु ॥७७॥
यत्रच्छत्रसमाकाराः फलपुष्पसमन्विताः । पादपा विपुलस्कन्धाः कलस्वनशकुन्तयः ॥७८॥
सस्यैः स्वभावसंपन्नैर्वीर्यकान्तिवितारिभिः । चलद्भिर्मन्दवातेन मही यत्र सकञ्चुका ॥७९॥
विकचेन्दीवरैर्यत्र षट्पदौघसमन्वितैः । नयनैरिव वीक्षन्ते[2] दीर्घिका भ्रूविलासिभिः ॥८०॥
पवनाकम्पनादस्मिन् [3]साकारश्रोत्रहारिभिः । पुण्ड्रेक्षोर्विपुलैर्वाटैः प्रदेशाः पवनोज्झिताः ॥८१॥
रत्नकाञ्चनविस्तीर्णशिलासंघातशोभनः । मध्ये तस्य महानस्ति किष्कुर्नाम महीधरः ॥८२॥
त्रिकूटेनेव तेनासौ शृङ्गबाहुभिरायतैः । आलिङ्गिता[4] दिशः कान्ताः श्रियमारोपिताः पराम् ॥८३॥
आनन्दवचनादेव सानन्दं परमं गतः । श्रीकण्ठः कीर्तिधवलं प्राहैवमति भारतीम् ॥८४॥
ततश्चैत्रस्य दिवसे प्रथमे मङ्गलार्चिते । ययौ सपरिवारोऽसौ द्वीपं वानरलाञ्छितम् ॥८५॥

मणियोंकी किरणोंसे आच्छादित होकर ऐसा सुशोभित होता है मानो धानके हरे भरे पौधोंसे ही आच्छादित हो ॥७२॥ कहीं इन्द्रनील मणियोंके कान्तिसे ऐसा लगता है मानो अन्धकार के समूहसे व्याप्त ही हो, कहीं पद्मरागमणियोंकी कान्तिसे ऐसा जान पड़ता है मानो कमलाकर की शोभा धारण कर रहा हो ॥७३॥ जहाँ आकाशमें भ्रमती हुई सुगन्धित वायुसे हरे गये पक्षी यह नहीं समझ पाते हैं कि हम गिर रहे हैं ॥७४॥ स्फटिकके बीच-बीचमें लगे हुए पद्म-राग मणियोंके समान जिनकी कान्ति है ऐसे तालाबोंके बीच प्रफुल्लित कमलोंके समूह जहाँ हलन-चलन रूप क्रियाके द्वारा ही पहिचाने जाते हैं ॥७५॥ जो द्वीप मकरन्द रूपी मदिराके आस्वादसे मनोहर शब्द करनेवाले मदोन्मत्त पक्षियोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो समीपमें स्थित अन्य-द्वीपोंसे वार्तालाप ही कर रहा हो ॥७६॥ जहाँ रात्रिमें चमकनेवाली औषधियोंकी कान्तिके समूहसे अन्धकार इतनी दूर खदेड़ दिया गया था कि वह कृष्ण पक्षकी रात्रियोंमें भी स्थान नहीं पा सका था ॥७७॥ जहाँके वृक्ष छत्रोंके समान आकारवाले हैं, फल और फूलोंसे सहित हैं, उनके स्कन्ध बहुत मोटे हैं और उनपर बैठे हुए पक्षी मनोहर शब्द करते रहते हैं ॥७८॥ स्वभावसम्पन्न—अपने आप उत्पन्न, वीर्य और कान्तिको देनेवाले, एवं मन्द-मन्द वायुसे हिलते धानके पौधोंसे जहाँकी पृथिवी ऐसी जान पड़ती है मानो उसने हरे रङ्गकी चोली ही पहिन रक्खी हो ॥७९॥ जहाँकी वापिकाओंमें भ्रमरोंके समूहसे सुशोभित नील कमल फूल रहे हैं और उनसे वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो भौंहोंके सञ्चारसे सुशोभित नेत्रोंसे ही देख रही हों ॥८०॥ हवाके चलनेसे समुत्पन्न अव्यक्त ध्वनिसे कानोंको हरनेवाले पौंडों और ईखोंके बड़े-बड़े बगीचों से जहाँके प्रदेश वायुके सञ्चारसे रहित हैं अर्थात् जहाँ पौंडे और ईखके सघन वनोंसे वायुका आवागमन रुकता रहता है ॥८१॥ उस वानरद्वीपके मध्यमें रत्न और सुवर्णकी लम्बी चौड़ी शिलाओंसे सुशोभित किष्कु नामका बड़ा भारी पर्वत है ॥८२॥ जैसा यह त्रिकूटाचल है वैसा ही वह किष्कु पर्वत है सो उसकी शिखर रूपी लम्बी-लम्बी भुजाओंसे आलिङ्गित दिशा रूपी स्त्रियाँ परम शोभाको प्राप्त हो रही हैं ॥८३॥ आनन्द मन्त्रीके ऐसे वचन सुनकर परम आनन्दको प्राप्त हुआ श्रीकण्ठ अपने बहनोई कीर्तिधवलसे कहने लगा कि जैसा आप कहते हैं वैसा मुझे स्वीकार है ॥८४॥

तदनन्तर चैत्र मासके मङ्गलमय प्रथम दिनमें श्रीकण्ठ अपने परिवारके साथ वानरद्वीप

२. वीक्ष्यन्ते म० । ३. सीत्कार म० । ४. आलिङ्गता म० ।

पश्यन्नीलमणिच्छायं गतं नभ इव क्षितिम् । महाग्राहकृताकम्पं समुद्रं विस्मयाकुलः ॥८६॥
ततश्च तं वरद्वीपं [1]प्राप्तः स्वर्गमिवापरम् । व्याहरन्तमिवात्युच्चैः स्वागतं निर्झरस्वनैः ॥८७॥
निर्झराणामतिस्थूलैः शीकरैर्व्योमगामिभिः । हसन्तमिव तोषेण श्रीकण्ठागमजन्मना ॥८८॥
विचित्रमणिसंभूतप्रभाजालेन चारुणा । [2]उच्छ्रिता इव संघातास्तोरणानां समुन्नताः ॥८९॥
ततस्तमवतीर्णोऽसौ द्वीपमाश्चर्यसंकुलम् । [3]विक्षिपन् दिक्षु सर्वासु दृष्टिं नीलोत्पलद्युतिम् ॥९०॥
खर्जूरामलकीनीपकपित्थागुरुचन्दनैः । प्लक्षार्जुनकदम्बाम्रप्रियालकदलीधवैः ॥९१॥
दाडिमीपूगकङ्कोललवङ्गवकुलैस्तथा । रम्यैरन्यैश्च विविधैः पादपैरुपशोभितम् ॥९२॥
मणिवृक्षा इवोद्भिद्य क्षितिं ते तत्र निःसृताः । स्वस्मिन् निपतितां दृष्टिं नेतुमन्यत्र नो ददुः ॥९३॥
प्रगुणाः काण्डदेशेषु विस्तीर्णाः स्कन्धबन्धने । उपरिच्छत्रसंकाशा घनपल्लवराशयः ॥९४॥
शाखाभिः सुप्रकाशाभिर्नताभिः कुसुमोत्करैः । फलैश्च सरसाः स्वादैः प्राप्ताः सन्तानमुत्तमम् ॥९५॥
नात्यन्तमुन्नतिं याता न च याता निखर्वताम् । अनायासाङ्गनाप्राप्य प्रसूनफलपल्लवाः ॥९६॥
स्तवकस्तनरम्याभिर्भृङ्गनेत्राभिरादरात् । आलिङ्गिताः सुवल्लीभिश्चलपल्लवपाणिभिः ॥९७॥
परस्परं[4]समुल्लापं कुर्वाणा इव पक्षिणाम् । मनोहरेण नादेन गायन्त इव षट्पदैः ॥९८॥
केचिच्छङ्खदलच्छायाः केचिद्धेमसमत्विषः । केचित्पङ्कजसंकाशाः केचिद्वैडूर्यसन्निभाः ॥९९॥

गया ॥८५॥ प्रथम ही वह समुद्रको देखकर आश्चर्यसे चकित हो गया। वह समुद्र नीलमणिके समान कान्तिवाला था इससे ऐसा जान पड़ता था मानो नीला आकाश ही पृथिवीपर आ गया हो तथा बड़े-बड़े मगरमच्छ उसमें कम्पन पैदा कर रहे थे ॥८६॥ तदनन्तर उसने वानरद्वीपमें प्रवेश किया। वह द्वीप क्या था मानो दूसरा स्वर्ग ही था, और झरनोंके उच्च स्वरसे ऐसा जान पड़ता था मानो स्वागत शब्दका उच्चारण ही कर रहा था ॥८७॥ झरनोंके बड़े-बड़े छींटे उछलकर आकाशमें पहुँच रहे थे उनसे वह द्वीप ऐसा लगता था मानो श्रीकण्ठके आगमनसे उत्पन्न सन्तोषसे हँस ही रहा हो ॥८८॥ नाना मणियोंकी सुन्दर कान्तिके समूहसे ऐसा जान पड़ता था मानो ऊँचे-ऊँचे तोरणोंके समूह ही वहाँ खड़े किये गये हों ॥८९॥ तदनन्तर समस्त दिशाओंमें अपनी नीली दृष्टि चलाता हुआ श्रीकण्ठ आश्चर्यसे भरे हुए उस वानरद्वीपमें उतरा ॥९०॥ वह द्वीप खजूर, आँवला, नीप, कैंथा, अगुरु चन्दन, बड़, कोहा, कदम्ब, आम, अचार, केला, अनार, सुपारी, कङ्कोल, लौंग तथा अन्य अनेक प्रकारके सुन्दर-सुन्दर वृक्षोंसे सुशोभित था ॥९१–९२॥ वहाँ वे सब वृक्ष इतने सुन्दर जान पड़ते थे मानो पृथिवीको विदीर्णकर मणिमय वृक्ष ही बाहर निकले हों और इसीलिए वे अपने ऊपर पड़ी हुई दृष्टिको अन्यत्र नहीं ले जाने देते थे ॥९३॥ उन सब वृक्षोंके तने सीधे थे, जहाँसे डालियाँ फूटती हैं ऐसे स्कन्ध अत्यन्त मोटे थे, ऊपर सघन पत्तोंकी राशियाँ छत्रोंके समान सुशोभित थीं, देदीप्यमान तथा कुछ नीचे की ओर झुकी हुई शाखाओंसे, फूलोंके समूहसे और मधुर फलोंसे वे सब उत्तम सन्तानको प्राप्त हुए से जान पड़ते थे ॥९४–९५॥ वे सब वृक्ष न तो अत्यन्त ऊँचे थे, न अत्यन्त नीचे थे, हाँ, इतने अवश्य थे कि स्त्रियाँ उनके फूल, फल और पल्लवोंको अनायास ही पा लेती थीं ॥९६॥ जो गुच्छे रूपी स्तनोंसे मनोहर थीं, भ्रमर ही जिनके नेत्र थे, और चञ्चल पल्लव ही जिनके हाथ थे ऐसी लता रूपी स्त्रियाँ बड़े आदरसे उन वृक्षोंका आलिङ्गन कर रहीं थीं ॥९७॥ पक्षियोंके मनोहर शब्दसे वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते थे मानो परस्परमें वार्तालाप ही कर रहे हों और भ्रमरों की मधुर झङ्कारसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो गा ही रहे हों ॥९८॥ कितने ही वृक्ष शङ्खके टुकड़ोंके समान सफ़ेद कान्तिवाले थे, कितने ही स्वर्णके समान पीले रङ्गके थे, कितने ही कमलके समान गुलाबी रङ्गके थे और कितने ही वैडूर्यमणिके समान नीले वर्णके थे ॥९९॥ इस तरह

१. प्राप्तस्वर्ग- म० । २. इच्छिता म० । ३. चिक्षिपन् म० । ४. समालापं ख० ।

एवं नानाविधास्तस्मिन् देशा विविधपादपैः । मण्डिता यान् समालोक्य स्वर्गभूरपि नेष्यते ॥१००॥
जीवंजीवकयुग्मानां[1] व्यक्तवाचां समं शुकैः । आलापः सारिकाभिश्च तस्मिन्नद्भुतकारणम् ॥१०१॥
ततः नानातरुच्छायामण्डलस्थेषु हारिषु । रत्नकाञ्चनदेहेषु पुष्पामोदानुलेपिषु ॥१०२॥
शिलातलेषु विश्रब्धं निविष्टः सेनया समम् । करणीयं च निःशेषं स चक्रे वपुषः सुखम् ॥१०३॥
ततो नानाप्रसूनानां हंससारसनादिनाम् । विमलोदकपूर्णानां सरसां मीनकम्पिनाम् ॥१०४॥
किरतां पुष्पनिकरं तरूणां च महात्विषाम्[2] । जयशब्दमिवोदात्तं[3] कुर्वतां पक्षिनिःस्वनैः ॥१०५॥
नानारत्नचितानां च भूभागानां सुशोभया । युक्तं भ्रमति स द्वीपमितश्चेतश्च तं सुखी ॥१०६॥
ततः स विहरंस्तस्मिन्वने नन्दनसन्निभे । यथेच्छं क्रीडतोऽपश्यद् वानरान् बहुविभ्रमान् ॥१०७॥
अचिन्तयच्च दृष्ट्वैतां सृष्टेरतिविचित्रताम् । तिर्यग्योनिगता ह्येते कथं मानुषसन्निभाः ॥१०८॥
वदनं पाणिपादं च शेषांश्चावयवानमी । दधते मानुषाकारांश्चेष्टां[4] तेषां च सन्निभाम् ॥१०९॥
ततस्तैर्महती रन्तुं प्रीतिरस्य समुच्छ्रिता[5] । यथा स्थिरोऽप्यसौ राजा नितान्तं प्रवणीकृतः ॥११०॥
जगाद च समासन्नान् पुरुषान् वदनेक्षिणः[6] । एतानानयत क्षिप्रमिति विस्मितमानसः ॥१११॥
इत्युक्तैः शतशस्तस्य प्लवङ्गा गगनायनैः । उपनीताः प्रमोदेन कृतकेलिकलस्वनाः ॥११२॥
सुशीलैस्तैरसौ साकं रन्तुं प्रववृते नृपः । नर्तयन् तालशब्देन बाहुभ्यां च परामृशन् ॥११३॥

नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित वहाँके प्रदेश नाना रङ्गके दिखाई देते थे । वे प्रदेश इतने सुन्दर थे कि उन्हें देखकर फिर स्वर्गके देखनेकी इच्छा नहीं रहती थी ॥१००॥ तोताओंके समान स्पष्ट बोलनेवाले चकोर और चकोरीका जो मैनाओंके साथ वार्तालाप होना था वह उस वानर-द्वीपमें अबसे बड़ा आश्चर्यका कारण था ॥१०१॥

तदनन्तर वह श्रीकण्ठ, नाना प्रकारके वृक्षोंकी छायामें स्थित, फूलोंकी सुगन्धिसे अनुलिप्त, रत्नमय तथा सुवर्णमय शिलातलोंपर सेनाके साथ बैठा और वहीं उसने शरीरको सुख पहुँचानेवाले समस्त कार्य किये ॥१०२-१०३॥ तदनन्तर—जिनमें नाना प्रकारके पुष्प फूल रहे थे, हंस और सारस पक्षी शब्द कर रहे थे, स्वच्छ जल भरा हुआ था और जो मछलियोंके संचारसे कुछ-कुछ कम्पित हो रहे थे ऐसे मालाओंकी, तथा फूलोंके समूहकी वर्षा करनेवाले, महाकान्तिमान्, और पक्षियोंकी बोलीके बहाने मानो जोर-जोरसे जय शब्दका उच्चारण करनेवाले वृक्षोंकी, एवं नाना प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त भूभागों—प्रदेशोंकी सुषमासे युक्त उस वानर द्वीपमें श्रीकण्ठ जहाँ तहाँ भ्रमण करता हुआ बहुत सुखी हुआ ॥१०४-१०६॥ तदनन्तर नन्दन वनके समान उस वनमें विहार करते हुए श्रीकण्ठने इच्छानुसार क्रीडा करनेवाले अनेक प्रकारके वानर देखे ॥१०७॥ सृष्टिकी इस विचित्रताको देखकर श्रीकण्ठ विचार करने लगा कि देखो ये वानर तिर्यञ्च योनिमें उत्पन्न हुए हैं फिर भी मनुष्यके समान क्यों हैं ? ॥१०८॥ ये वानर मुख, पैर, हाथ तथा अन्य अवयव भी मनुष्यके अवयवोंके समान ही धारण करते हैं । न केवल अवयव ही, इनकी चेष्टा भी मनुष्योंके समान है ॥१०९॥ तदनन्तर उन वानरोंके साथ क्रीड़ा करनेकी श्रीकण्ठके बहुत भारी इच्छा उत्पन्न हुई । यद्यपि वह स्थिर प्रकृतिका राजा था तो भी अत्यन्त उत्सुक हो उठा ॥११०॥ उसने विस्मित चित्त होकर मुखकी ओर देखनेवाले निकटवर्ती पुरुषोंको आज्ञा दी कि इन वानरोंको शीघ्र ही यहाँ लाओ ॥१११॥ कहनेकी देर थी कि विद्याधरोंने सैकड़ों वानर लाकर उसके समीप खड़े कर दिये । वे सब वानर हर्षसे कल-कल शब्द कर रहे थे ॥११२॥ राजा श्रीकण्ठ उत्तम स्वभावके धारक उन वानरोंके साथ क्रीड़ा करने लगा । कभी वह ताली बजाकर उन्हें नचाता था, कभी अपनी भुजाओंसे उनका स्पर्श करता था और कभी

१. चकोरयुगलाम् । २. महत्त्विषाम् म० । ३. -मिवोद्गातं म० । ४. मानुषाकारां म० । ५. समुत्थिता म० । ६. वदनेक्षणः म० ।

[1]वीक्षमाणः सितान् दन्तान् दाडिमीपुष्पलोहिते । [2]अवटीटे मुखे तेषां भास्वत्काञ्चनतारके ॥११४॥
यूकापनयनं पश्यन् विनयेन परस्परम् । प्रेम्णा च कलहं रम्यं [3]कृतखोत्कारनिःस्वनम् ॥११५॥
शालिशूकसमच्छायान्मृदिमातिशयान्वितान् । विधूतान् मृदुवातेन केशान् सीमन्तभाजिनः ॥११६॥
कर्णान् [4]विदूषकासक्तश्रवणाकारधारिणः । नितान्तकोमलश्लक्ष्णानचलद्वपुषां स्पृशन् ॥११७॥
विलोमानि नयँल्लोमान्युदरे मुष्टमापिनि । उत्क्षिपंश्च भ्रुवोऽपाङ्गदेशान् रेखावतस्तथा ॥११८॥
ततस्ते तेन बहवः पुरुषाणां समर्पिताः । मृष्टाशनादिभिः कर्तुं पोषणं रतिहेतवः ॥११९॥
ग्राहयित्वा च तान् किष्कुमारोहद्[5]धृतमानसः । ग्रावकूटैर्लताभिश्च निर्झरैस्तरुभिस्तथा ॥१२०॥
तत्रापश्यत् स विस्तीर्णां वैषम्यरहितां भुवम् । गुप्तां प्रान्ते महामानैर्ग्रावभिः सोन्नतद्रुमैः ॥१२१॥
पुरं तत्र महेच्छेन ख्यातं किष्कुपुराख्यया । निवेशितमरातीनां मानसस्यापि दुर्गमम् ॥१२२॥
प्रमाणं योजनान्यस्य चतुर्दश समन्ततः । त्रिगुणं परिवेषेण लेशतश्चाधिकं भवेत् ॥१२३॥
संमुखद्वारविन्यासा मणिकाञ्चनभित्तयः । प्रग्रीवकसमायुक्ता रत्नस्तम्भसमुच्छ्रिताः ॥१२४॥
[6]कपोतपाल्युपान्तेषु महानीलविनिर्मिताः । रत्नभाभिर्निरस्तस्य ध्वान्तस्येवानुकम्पिताः ॥१२५॥

अनारके फूलके समान लाल, चपटी नाकसे युक्त एवं चमकीली सुनहली कनीनिकाओंसे युक्त उनके मुखमें उनके सफ़ेद दाँत देखता था ॥११३-११४॥ वे वानर परस्परमें विनय पूर्वक एक दूसरेके जुएँ अलग कर रहे थे, और प्रेमसे खो खो शब्द करते हुए मनोहर कलह करते थे। राजा श्रीकण्ठने यह सब देखा ॥११५॥ उन वानरोंके बाल धानके छिलकेके समान पीले थे, अत्यन्त कोमल थे, मन्द-मन्द वायुसे हिल रहे थे और माँगसे सुशोभित थे। इसी प्रकार उनके कान विदूषकके कानोंके समान कुछ अटपटा आकार धारणवाले, अत्यन्त कोमल और चिकने थे। राजा श्रीकण्ठ उनका बड़े प्रेमसे स्पर्श कर रहा था और इस मोहनी सुरसुरीके कारण उनके शरीर निष्कम्प हो रहे थे ॥११६-११७॥ उन वानरोंके कृश पेटपर जो-जो रोम अस्तव्यस्त थे उन्हें यह अपने स्पर्शसे ठीक कर रहा था, साथ ही भौंहोंको तथा रेखासे युक्त कटाक्ष-प्रदेशोंको कुछ-कुछ ऊपरकी ओर उठा रहा था ॥११८॥ तदनन्तर श्रीकण्ठने प्रीतिके कारणभूत बहुतसे वानर मधुर अन्न पान आदिके द्वारा पोषण करनेके लिए सेवकोंको सौंप दिये ॥११९॥ इसके बाद पहाड़के शिखरों, लताओं, निर्झरनों और वृक्षोंसे जिसका मन हरा गया था ऐसा श्रीकण्ठ उन वानरोंके लिवाकर किष्कु पर्वतपर चढ़ा ॥१२०॥ वहाँ उसने लम्बी चौड़ी, विषमतारहित तथा अन्तमें ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे सुशोभित उत्तुङ्ग पहाड़ोंसे सुरक्षित भूमि देखी ॥१२१॥ उसी भूमिपर उसने किष्कुपुर नामका एक नगर बसाया। यह नगर शत्रुओंके शरीरकी बात तो दूर रहे मनके लिए दुर्गम था ॥१२२॥ यह नगर चौदह योजन लम्बा चौड़ा था और इसकी परिधि–गोलाई बयालीस योजनसे कुछ अधिक थी ॥१२३॥ इस नगरमें विद्याधरोंने महलोंकी ऐसी-ऐसी ऊँची श्रेणियाँ बनाकर तैयार की थी कि जिनके सामने उत्तुङ्ग दरवाजे थे, जिनकी दीवालें मणि और सुवर्णसे निर्मित थीं, जो अच्छे-अच्छे बरण्डोंसे सहित थीं, रत्नोंके खम्भोंपर खड़ी थीं। जिनकी कपोतपालीके समीपका भाग महानील मणियोंसे बना था और ऐसा जान पड़ता था कि रत्नोंकी कान्तिने जिस अन्धकारको सब जगहसे खदेड़कर दूर कर किया था मानो उसे यहाँ अनुकम्पा वश स्थान ही दिया गया था। जिन महलोंकी देहरी पद्मरागमणियोंसे निर्मित होनेके कारण लाल-लाल दिख रही थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थीं मानो ताम्बूलके द्वारा जिसकी लाली बढ़ गई थी ऐसा ओठ ही धारण कर रहीं हों। जिनके दरवाजोंके ऊपर अनेक मोतियोंकी मालाएँ लटकाई गई थीं और जिनकी किरणोंसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अन्य भवनोंकी सुन्दरताकी हँसी ही उड़ा

---

१. वीक्ष्यमाणः म०, ख० । २. नते । ३. कृतपोत्कारनिःस्वनं ख० । ४. विदूषकान् सक्त क० । ५. -द्धृतमानसः म० । ६. कपोल-म० ।

देहलीपिण्डिकाभागं पद्मरागविनिर्मितम् । ताम्बूलेनेव सच्छायं धारयन्त्यो रदच्छदम् ॥१२६॥
द्वारोपरि समायुक्तमुक्तादामांशुसम्पदा । हसन्त्य इव शेषाणां भवनानां सुरूपताम् ॥१२७॥
शशाङ्कसदृशाकारैर्मणिभिः शिखराहितैः । रजनीष्वपि कुर्वाणा सन्देहं रजनीकरे ॥१२८॥
चन्द्रकान्तमणिच्छायाकल्पितोदारचन्द्रिकाः । नानारत्नप्रभापंक्तिसंदिग्धोत्तुङ्गतोरणाः ॥१२९॥
मणिकुट्टिमविन्यस्तरत्नपद्मावलिक्रियाः । पङ्क्तयस्तत्र गेहानां खेचरैर्विनिवेशिताः ॥१३०॥
शुष्कसागरविस्तीर्णा मणिकाञ्चनवालुकाः । राजमार्गाः कृतास्तस्मिन् कौटिल्यपरिवर्जिताः ॥१३१॥
प्राकारस्तत्र विन्यस्तो रत्नच्छायाकृतावृतिः । शिखराग्रैः श्रिया दर्पात् सौधर्ममिव ताडयन् ॥१३२॥
गोपुराणि च तुङ्गानि न्यस्तान्यत्र मरीचिभिः । मणीनां यानि लक्ष्यन्ते स्थगितानीव सर्वदा ॥१३३॥
पुरन्दरपुराकारे पुरे तस्मिन् चिराय सः । पद्मया सहितो रेमे शच्येव विबुधाधिपः[1] ॥१३४॥
भद्रशालवने यानि[2] तथा सौमनसे वने । नन्दने वा न तान्यस्य द्रव्याण्यापुर्दुरापताम् ॥१३५॥
कदाचिदथ तत्रासौ तिष्ठन् प्रासादमूर्धनि । व्रजन्तं वन्दनाभक्त्या[3] द्वीपं नन्दीश्वरश्रुतिम् ॥१३६॥
पाकशासनमैक्षिष्ट सत्रा देवैश्चतुर्विधैः । मुकुटानां प्रभाजालैः पिशङ्गितनभस्तलम् ॥१३७॥
कुर्वन्तं बधिरं लोकं समस्तं तूर्यनिःस्वनैः । हस्तिभिर्वाजिभिर्हंसैर्मेषैरुष्ट्रैर्वृकैर्मृगैः ॥१३८॥
अन्यैश्च विविधैर्यानैः परिवर्गैरधिष्ठितैः । अन्वीयमानं दिव्येन गन्धेन व्याप्तविष्टपम् ॥१३९॥
ततस्तेन श्रुतं पूर्वं मुनिभ्यः[4] संकथागतम् । स्मृतं नन्दीश्वरद्वीपं नन्दनं स्वर्गवासिनाम् ॥१४०॥
स्मृत्वा च विबुधैः सार्द्धमकरोद् गमने मतिम् । खेचरैश्च समं सर्वैः समारूढो मरुत्पथम् ॥१४१॥
स गच्छन् क्रौञ्चयुक्तेन विमानेन सहाङ्गनः । मानुषोत्तरशैलेन निवारितगतिः कृतः ॥१४२॥

रहीं हों। शिखरोंके ऊपर चन्द्रमाके समान आकारवाले मणि लगे हुए थे उनसे जो रात्रिके समय असली चन्द्रमाके विषयमें संशय उत्पन्न कर रहे थे। अर्थात् लोग संशयमें पड़ जाते थे कि असली चन्द्रमा कौन है? चन्द्रकान्त मणियोंकी कान्तिसे जो भवन उत्तम चाँदनीकी शोभा प्रकट कर रहे थे तथा जिनमें लगे नाना रत्नोंकी प्रभासे ऊँचे-ऊँचे तोरण द्वारोंका सन्देह हो रहा था जिनके मणिनिर्मित फर्शोंपर रत्नमयी कमलोंके चित्राम किये गये थे ॥१२४-१३०॥ उस नगरमें कुटिलतासे रहित—सीधे ऐसे राजमार्ग बनाये गये थे जिनमें कि मणियों और सुवर्णकी धूलि बिखर रही थी तथा जो सूखे सागरके समान लम्बे-चौड़े थे ॥१३१॥ उस नगरमें ऊँचे-ऊँचे गोपुर बनाये गये थे जो मणियोंकी किरणोंसे सदा आच्छादितसे रहा करते थे ॥१३२॥ इन्द्रपुरके समान सुन्दर उस नगरमें राजा श्रीकण्ठ अपनी पद्माभा प्रियाके साथ, इन्द्र इन्द्राणीके समान चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥१३३॥ भद्रशालवन, सौमनसवन तथा नन्दनवनमें ऐसी कोई वस्तु नहीं थी जो उसे दुर्लभ रही हो ॥१३४॥

अथानन्तर किसी एक दिन राजा श्रीकण्ठ महलकी छतपर बैठा था उसी समय नन्दीश्वर द्वीपकी वन्दना करनेके लिए चतुर्विध देवोंके साथ इन्द्र जा रहा था। वह इन्द्र मुकुटोंकी कान्तिसे आकाशको पीतवर्ण कर रहा था, तुरही बाजोंके शब्दसे समस्त लोकको बधिर बना रहा था, अपने-अपने स्वामियोंसे अधिष्ठित हाथी, घोड़े, हंस, मेढ़ा, ऊँट, भेड़िया तथा हरिण आदि अन्य अनेक वाहन उसके पीछे-पीछे चल रहे थे, और उसकी दिव्य गन्धसे समस्त लोक व्याप्त हो रहा था ॥१३५-१३९॥ श्रीकण्ठने पहले मुनियोंके मुखसे नन्दीश्वरद्वीपका वर्णन सुना था सो देवोंको आनन्दित करनेवाला वह नन्दीश्वर द्वीप उसकी स्मृतिमें आ गया ॥१४०॥ स्मृतिमें आते ही उसने देवोंके साथ नन्दीश्वर द्वीप जानेका विचार किया। विचारकर वह समस्त विद्याधरोंके साथ आकाशमें आरूढ हुआ ॥१४१॥ जिसमें विद्यानिर्मित क्रौञ्चपक्षी जुते थे ऐसे विमानपर अपनी

१. इन्द्रः। २. याति म०, ख०। ३. वन्दनां म०। ४. मुनिभिः म०।

अतिक्रान्तांस्ततो दृष्ट्वा मानुषोत्तरपर्वतम् । गीर्वाणनिवहान् सर्वान् परमं शोकमागतः ॥१४३॥
परिदेवमथो चक्रे भग्नोत्साहो गतद्युतिः । हा कष्टं क्षुद्रशक्तीनां मनुष्याणां धिगुन्नतिम् ॥१४४॥
नन्दीश्वरे जिनेन्द्राणां प्रतिमानां महात्विषाम् । अकृत्रिमेण भावेन करिष्यामीति दर्शनम् ॥१४५॥
पूजां च विविधैः पुष्पैर्धूपैर्गन्धैश्च हारिभिः । नमस्कारं च शिरसा धरासंसक्तमौलिना ॥१४६॥
ये कृता मन्दभाग्येन मया चारुमनोरथाः । कथं ते कर्मभिर्भग्ना अशुभैः पूर्वसंचितैः ॥१४७॥
अथवा श्रुतमेवासीन्मया मानुषपर्वतम् । अतिक्रम्य न गच्छन्ति मानुषा इत्यनेकशः ॥१४८॥
तथापि श्रद्धया तन्मे नितान्तं वृद्धियुक्तया । विस्मृतं गन्तुमुद्युक्तो यतोऽस्मि स्वल्पशक्तिकः ॥१४९॥
तस्मात् करोमि कर्माणि तानि यैरन्यजन्मनि । यातुं नन्दीश्वरं द्वीपं गतिर्मे न विहन्यते ॥१५०॥
इति निश्चित्य मनसा न्यस्य राज्यभरं सुते । अभून्महामुनिर्धीरस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥१५१॥
वज्रकण्ठस्ततः सार्द्धं चारुण्या प्रियमुत्तमाम् । भुक्त्वा किष्कुपुरे रम्ये श्रुत्वोपाख्यानकं पितुः ॥१५२॥
[1]ऐश्वर्यं [2]तनये क्षिप्त्वा प्राप दैगम्बरीं क्रियाम् । कीदृशं तदुपाख्यानमित्युक्तो गणभृज्जगौ ॥१५३॥
वणिजौ भ्रातरावास्तां [3]प्रीतौ स्त्रीभ्यां वियोजितौ । कनीयान् दुर्विधो ज्येष्ठः [4]स्वापतेयी [5]गृहीतवाक् ॥१५४॥
श्रेष्ठिनः संगमादेव प्राप्तः श्रावकतां पराम् । मृगयाजीविना भ्रात्रा परमं दुःखितोऽभवत् ॥१५५॥

प्रिया पद्माभाके साथ बैठकर राजा श्रीकण्ठ आकाशमार्गसे जा रहा था परन्तु जब मानुषोत्तर पर्वतपर पहुँचा तो उसका आगे जाना रुक गया ॥१४३॥ इसकी गति तो रुक गई परन्तु देवोंके समूह मानुषोत्तर पर्वतको उल्लंघकर आगे निकल गये। यह देख श्रीकण्ठ परम शोकको प्राप्त हुआ ॥१४४॥ उसका उत्साह भग्न हो गया और कान्ति नष्ट हो गई। तदनन्तर वह विलाप करने लगा कि हाय-हाय क्षुद्रशक्तिके धारी मनुष्योंकी उन्नतिको धिक्कार हो ॥१४५॥ 'नन्दीश्वर द्वीपमें जो जिनेन्द्र भगवान्‌की महाकान्तिशाली प्रतिमाएँ हैं मैं निश्छलभावसे उसके दर्शन करूँगा, नाना प्रकारके पुष्प, धूप और मनोहारी गन्धसे उनकी पूजा करूँगा तथा पृथ्वीपर मुकुट झुकाकर शिरसे उन्हें नमस्कार करूँगा' मुझ मन्दभाग्यने ऐसे जो सुन्दर मनोरथ किये थे वे पूर्वसंचित अशुभ कर्मोंके द्वारा किस प्रकार भग्न कर दिये गये ? ॥१४६–१४७॥ अथवा यद्यपि यह बात मैंने अनेक बार सुनी थी कि मनुष्य मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन कर नहीं जा सकते हैं तथापि अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुई श्रद्धाके कारण मैं इस बातको भूल गया और अल्पशक्तिका धारी होकर भी जानेके लिए तत्पर हो गया ।१४८–१४९॥ इसलिए अब मैं ऐसे कार्य करता हूँ कि जिससे अन्य जन्ममें नन्दीश्वर द्वीप जानेके लिए मेरी गति रोकी न जा सके ॥१५०॥ ऐसा हृदयसे निश्चयकर श्रीकण्ठ, पुत्रके लिए राज्य सौंपकर, समस्त परिग्रहका त्यागी महामुनि हो गया ॥१५१॥

तदनन्तर श्रीकण्ठका पुत्र वज्रकण्ठ अपनी चारुणी नामक वल्लभाके साथ महा-मनोहर किष्कुपुरमें उत्कृष्ट राज्यलक्ष्मीका उपभोग कर रहा था कि उसने एक दिन वृद्धजनोंसे अपने पिताके पूर्वभव सुने। सुनते ही उसका वैराग्य बढ़ गया और पुत्रके लिए ऐश्वर्य सौंपकर उसने जिनदीक्षा धारण कर ली। यह सुनकर राजा श्रेणिकने गौतम गणधरसे पूछा कि श्रीकण्ठके पूर्वभवका वर्णन कैसा था जिसे सुनकर वज्रकण्ठ तत्काल विरक्त हो गया। उत्तरमें गणधर भगवान् कहने लगे ॥१५२–१५३॥ कि पूर्वभवमें दो भाई वणिक् थे, दोनोंमें परम प्रीति थी परन्तु स्त्रियोंने उन्हें जुदा-जुदा कर दिया। उनमें छोटा भाई दरिद्र था और बड़ा भाई धनसम्पन्न था। बड़ा भाई किसी सेठका आज्ञाकारी था सो उसके समागमसे वह श्रावक अवस्थाको प्राप्त हुआ परन्तु छोटा भाई शिकार आदि कुव्यसनोंमें फँसा

१. ऐश्वर्ये म० । २. तनयं म० । ३. प्रीते म० । ४. स्वापतेयं धनमस्ति यस्य स स्वापतेयी धनवानित्यर्थः । ५. गृहीतवान् ख० ।

[1]अलीकस्वाहतस्वामिपुरुषस्य विसर्जने[2] । परीक्ष्य भ्रातरं प्रीतं ददावस्मै महद्धनम् ॥१५६॥
दुष्टां ततः स्त्रियं त्यक्त्वा संगीर्यानुजबोधनम् । प्रव्रज्यायमभूदिन्द्रः कनीयांस्तु शमी मृतः ॥१५७॥
देवीभूयस्च्युतो जातः श्रीकण्ठस्तत्प्रबुद्धये । आत्मानं दर्शयन्निन्द्रः श्रीमान्नन्दीश्वरं गतः ॥१५८॥
सुरेन्द्रं वीक्ष्य पित्रा ते जातस्मरणमीयुषा । इदं कथितमस्माकमिति वृद्धास्तमूचिरे ॥१५९॥
एतदाख्यानकं श्रुत्वा वज्रकण्ठोऽभवन्मुनिः । इन्द्रायुधप्रभोऽप्येवं न्यस्य राज्यं शरीरजे ॥१६०॥
तत इन्द्रमतो जातो मेरुस्तस्माच्च मन्दरः । समीरणगतिस्तस्मात्तस्मादपि रविप्रभः ॥१६१॥
ततोऽमरप्रभो जातस्त्रिकूटेन्द्रसुतास्य च । परिणेतुं समानीता नाम्ना गुणवती शुभा ॥१६२॥
अथासौ दर्पणच्छाये वेदीसम्बन्धिभूतले । मणिभिः कल्पितं चित्रं पश्यन्नाश्चर्यकारणम् ॥१६३॥
भ्रमरालीपरिष्वक्तमारविंदं क्वचिद्वनम् । ऐन्दीवरं वनं चार्द्धपद्मेन्दीवरकं तथा ॥१६४॥
चञ्चूपात्तमृणालानां हंसानां युगलानि च । क्रौञ्चानां सारसानां च तथाऽन्येषां पतत्रिणाम् ॥१६५॥
रत्नचूर्णैरतिश्लक्ष्णैः पञ्चवर्णसमन्वितैः । रचितान् खेचरस्त्रीभिः तत्रापश्यत् प्लवङ्गमान् ॥१६६॥
स तान् दृष्ट्वा परं तोषं जगामाम्बरगाधिपः । मनोज्ञं प्रायशो रूपं धीरस्यापि मनोहरम् ॥१६७॥
अथ [3]पाणिगृहीत्यस्य दृष्ट्वा तान् विकृताननान् । प्रत्यङ्गवेपथुं प्राप्ता प्रचलत्सर्वभूषणा ॥१६८॥

था। छोटे भाईकी इस दशासे बड़ा भाई सदा दुःखी रहता था ॥१५४-१५५॥ एक दिन उसने अपने स्वामीका एक सेवक छोटे भाईके पास भेजकर झूठ-मूठ ही अपने आहत होनेका समाचार भेजा। उसे सुनकर प्रेमसे भरा छोटा भाई दौड़ा आया। इस घटनासे बड़े भाईने परीक्षा कर ली कि यह हमसे स्नेह रखता है। यह जानकर उसने छोटे भाईके लिए बहुत धन दिया। धन देनेका समाचार जब बड़े भाईकी स्त्रीको मिला तो वह बहुत ही कुपित हुई। इस अनबनके कारण बड़े भाईने अपनी दुष्ट स्त्रीका त्याग कर दिया और छोटे भाईको उपदेश देकर दीक्षा ले ली। समाधिसे मरकर बड़ा भाई इन्द्र हुआ और छोटा भाई शान्त परिणामोंसे मरकर देव हुआ। वहाँसे च्युत होकर छोटे भाईका जीव श्रीकण्ठ हुआ। श्रीकण्ठको सम्बोधनेके लिए बड़े भाईका जीव जो वैभवशाली इन्द्र हुआ था अपने आपको दिखाता हुआ नन्दीश्वरद्वीप गया था। इन्द्रको देखकर तुम्हारे पिता श्रीकण्ठको जातिस्मरण हो गया। यह कथा मुनियोंने हमसे कही थी ऐसा वृद्धजनोंने वज्रकण्ठसे कहा ॥१५६-१५९॥

यह कथा सुनकर वज्रकण्ठ अपने वज्रप्रभ पुत्रके लिए राज्य देकर मुनि हो गया। वज्रप्रभ भी अपने पुत्र इन्द्रमतके लिए राज्य देकर मुनि हुआ। तदनन्तर इन्द्रमतसे मेरु, मेरुसे मन्दर, मन्दरसे समीरणगति, समीरणगतिसे रविप्रभ, और रविप्रभसे अमरप्रभ नामक पुत्र हुआ। अमरप्रभ लङ्काके धनीकी पुत्री गुणवतीको विवाहनेके लिए अपने नगर ले गया ॥१६०-१६२॥ जहाँ विवाहकी वेदी बनी थी वहाँकी भूमि दर्पणके समान निर्मल थी तथा वहाँ विद्याधरोंकी स्त्रियों ने मणियोंसे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले अनेक चित्र बना रक्खे थे। कहीं तो भ्रमरोंसे आलिङ्गित कमलोंका वन बना हुआ था, कहीं नील कमलोंका वन था, कहीं आधे लाल और नीले कमलोंका वन था, कहीं चोंचसे मृणाल दबाये हुए हंसोंके जोड़े बने थे, और कहीं क्रौञ्च, सारस तथा अन्य पक्षियोंके युगल बने थे। उन्हीं विद्याधरोंने कहीं अत्यन्त चिकने पाँच वर्णके रत्नमयी चूर्णसे वानरोंके चित्र बनाये थे सो इन्हें देखकर विद्याधरोंका स्वामी राजा अमरप्रभ परम सन्तोषको प्राप्त हुआ सो ठीक ही है क्योंकि सुन्दररूप प्रायःकर धीर वीर मनुष्यके भी मनको हर लेता है ॥१६३-१६७॥ इधर राजा अमरप्रभ तो परम सन्तुष्ट हुआ, उधर वधू गुणवती विकृत मुखवाले उन वानरोंको देखकर भयभीत हो गई। उसका प्रत्येक अङ्ग काँपने लगा, सब आभूषण

---

१. व्यलीकं स्वाहितं ब० । २. विसर्जनम् म० । ३. पाणिगृहीतास्यं म०, ख० ।

निःशेषहरयविभ्रान्ततारकाकुललोचना । दर्शयन्तीव[1] रोमाञ्चप्रोद्गमाद्देहवद्भयम् ॥१६९॥
स्वेदोदबिन्दुसंबद्धविसर्पत्तिलकालिका । भीरप्यतिसच्चेष्टा प्राविशद्भुजपञ्जरम् ॥१७०॥
दृष्ट्वा यान् मुदितः पूर्वं तेभ्योऽकुप्यत् पुनर्वरः । कान्ताभिप्रायसामर्थ्यात् सुरूपमपि नेष्यते ॥१७१॥
ततोऽसावब्रवीत् केन विवाहे मम चित्रिताः । कपयो विविधाकारा अमी वित्रासकारिणः ॥१७२॥
नूनं कश्चिन्ममास्तेऽस्मिन् जनो मत्सरसंगतः । क्षिप्रमन्विष्यतामेष करोम्यस्य वधं स्वयम् ॥१७३॥
ततस्तं कोपगम्भीरगुहागह्वरवर्तिनम् । वर्षीयांसो महाप्राज्ञा मधुरं मन्त्रिणोऽब्रुवन् ॥१७४॥
तात नास्मिन् जनः कोऽपि विद्वेष्टा तव विद्यते । त्वयि वा यस्य विद्वेषः कुतस्तस्यास्ति जीवितम् ॥१७५॥
स त्वं भव प्रसन्नात्मा श्रूयतामत्र कारणम् । विवाहमङ्गले न्यस्ता यतः प्लवगपंक्तयः ॥१७६॥
अन्वये भवतामासीच्छ्रीकण्ठो नाम विश्रुतः । येनेदं नाकसंकाशं सृष्टं किष्कुपुरोत्तमम् ॥१७७॥
सकलस्यास्य देशस्य विविधाकारभाजिनः । अभवत् स नृपः स्रष्टा प्रपञ्चः कर्मणामिव ॥१७८॥
यस्याद्यापि वनान्तेषु लतागृहसुखस्थिताः । गुणान् गायन्ति किन्नर्यः स्थानकं प्राप्य किन्नराः[2] ॥१७९॥
चञ्चलत्वसमुद्भूतमयशो येन शोधितम् । स्थिरप्रकृतिना लक्ष्म्या वासवोपमशक्तिना ॥१८०॥
स एतान् प्रथमं दृष्ट्वा वानरानत्र रूपिणः । मानुषाकारसंयुक्तान् जगाम किल विस्मयम् ॥१८१॥
रेमे च मुदितोऽमीभिः समं विविधचेष्टितैः । मृष्टाशनादिभिश्चामी नितान्तं सुस्थिताः कृताः ॥१८२॥

चञ्चल हो उठे, सबके देखते-देखते ही उसकी आँखोंकी पुतलियाँ भयसे घूमने लगीं, उसके सारे शरीरसे रोमाञ्च निकल आये और उनसे वह ऐसे जान पड़ने लगीं मानो शरीरधारी भयको ही दिखा रही हो। उसके ललाट पर जो तिलक लगा था वह स्वेदजलकी बूँदोंसे मिलकर फैल गया। यद्यपि वह भयभीत हो रही थी तो भी उसकी चेष्टाएँ उत्तम थीं। अन्तमें वह इतनी भयभीत हुई कि राजा अमरप्रभसे लिपट गई ॥१६८–१७०॥ राजा अमरप्रभ पहले जिन वानरोंको देखकर प्रसन्न हुआ था अब उन्हीं वानरोंके प्रति अत्यन्त क्रोध करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रीका अभिप्राय देखकर सुन्दर वस्तु भी रुचिकर नहीं होती ॥१७१॥ तदनन्तर उसने कहा कि हमारे विवाहमें अनेक आकारोंके धारक तथा भय उत्पन्न करनेवाले ये वानर किसने चित्रित किये हैं? ॥१७२॥ निश्चित ही इस कार्यमें कोई मनुष्य मुझसे ईर्ष्या करनेवाला है सो शीघ्र ही उसकी खोज की जाय, मैं स्वयं ही उसका वध करूँगा ॥१७३॥ तदनन्तर राजा अमरप्रभको क्रोधरूपी गहरी गुहाके मध्य वर्तमान देखकर महाबुद्धिमान् वृद्ध मन्त्री मधुर शब्दोंमें कहने लगे ॥१७४॥ कि हे स्वामिन्! इस कार्यमें आपसे द्वेष करनेवाला कोई भी नहीं है। भला, आपके साथ जिसका द्वेष होगा उसका जीवन ही कैसे रह सकता है? ॥१७५॥ आप प्रसन्न हूजिये और विवाह-मङ्गलमें जिस कारणसे वानरोंकी पङ्क्तियाँ चित्रित की गई हैं वह कारण सुनिये ॥१७६॥ आपके वंशमें एक श्रीकण्ठ नामका प्रसिद्ध राजा हो गया है जिसने स्वर्गके समान सुन्दर इस किष्कुपुर नामक उत्तम नगरकी रचना की थी ॥१७७॥ जिस प्रकार कर्मोंका मूल कारण रागादि प्रपञ्च हैं उसी प्रकार अनेक आकारको धारण करनेवाले इस देशका मूल कारण वही श्रीकण्ठ राजा है ॥१७८॥ वनोंके बीच निकुञ्जोंमें सुखसे बैठे हुए किन्नर उत्तमोत्तम स्थान पाकर आज भी उस राजाके गुण गाया करते हैं ॥१७९॥ जिसकी प्रकृति स्थिर थी तथा जो इन्द्रतुल्य पराक्रमका धारक था ऐसे उस राजाने चञ्चलताके कारण उत्पन्न हुआ लक्ष्मीका अपयश दूर कर दिया था ॥१८०॥ सुनते हैं कि वह राजा सर्व प्रथम इस नगरमें सुन्दर रूपके धारक तथा मनुष्यके समान आकारसे संयुक्त इन वानरोंको देखकर आश्चर्यको प्राप्त हुआ था ॥१८१॥ वह राजा नाना प्रकारकी चेष्टाओंको धारण करनेवाले इन वानरोंके साथ बड़ी प्रसन्नतासे क्रीडा करता था तथा उसीने इन वानरोंको मधुर आहार-पानी आदिके द्वारा सुखी किया था ॥१८२॥

१. दर्शयन्ती च म० । २. किन्नरात् म० । किन्नरान् क० ।

ततः प्रभृति ये जाताः कुले तस्य महाद्युतेः । तस्य भक्त्या रतिं तेऽपि चक्रुरेभिर्नरोत्तमाः ॥१८३॥
युष्माकं पूर्वजैर्यस्मादमी मङ्गलवस्तुषु । प्रकल्पिताः ततस्तेऽपि मङ्गले सन्निधापिताः ॥१८४॥
मङ्गलं यस्य यत्पूर्वं पुरुषैः सेवितं कुले । प्रत्यवायेन सम्बन्धे निरासे तस्य जायते ॥१८५॥
क्रियमाणं तु तद्भक्त्या करोति शुभसम्पदम् । तस्मादासेव्यतामेतद्भवतापि सुचेतसा ॥१८६॥
इत्युक्ते मन्त्रिभिः सान्त्वं[1] प्रत्युवाचामरप्रभः[2] । त्यजन् क्षणेन कोपोत्थविकारं वदनार्पितम् ॥१८७॥
मङ्गलं सेविताः पूर्वैर्यदस्माकममी ततः । किमित्यालिखिता भूमौ यस्यां पादादिसंगमः ॥१८८॥
नमस्कृत्य वहाम्येतान् शिरसा गुरुगौरवात् । रत्नादिघटितान् कृत्वा लक्षणान्मौलिकोटिषु ॥१८९॥
ध्वजेषु गृहशृङ्गेषु तोरणानां च मूर्द्धसु । शिरस्सु चातपत्राणामेतानाशु प्रयच्छत ॥१९०॥
ततस्तैस्तत्प्रतिज्ञाय तथा सर्वमनुष्ठितम् । यथा दिगीक्ष्यते या या तत्र तत्र प्लवङ्गमाः ॥१९१॥
अथैतस्य समं देव्या भुञ्जानस्य परं सुखम् । विजयार्द्धजिगीषायामकरोन्मानसं पदम् ॥१९२॥
प्रतस्थे च ततो युक्तः सेनया चतुरङ्गया । कपिध्वजः कपिच्छत्रः कपिमौलिः कपिस्तुतः[3] ॥१९३॥
श्रेणिद्वयं विजित्यासौ रणे सत्त्वविमर्दिनि । आस्थापयद्वशे[4] राजा जग्राह न धनं तयोः ॥१९४॥
अभिमानेन तुङ्गानां पुरुषाणामिदं व्रतम् । नमयन्त्येव यच्छत्रुं द्रविणे विगताशयाः[5] ॥१९५॥
ततोऽसौ पुनरागच्छत् पुरं किष्कु प्रकीर्तितम् । विजयार्द्धप्रधानेन जनेनानुगतायनः ॥१९६॥

तदनन्तर महाकान्तिके धारक राजा श्रीकण्ठके वंशमें जो उत्तमोत्तम राजा हुए वे भी उसकी भक्तिके कारण इन वानरोंसे प्रेम करते रहे ॥१८३॥ चूँकि आपके पूर्वजोंने इन्हें माङ्गलिक पदार्थोंमें निश्चित किया था अर्थात् इन्हें मङ्गल स्वरूप माना था इसलिए ये सब चित्रामरूपसे इस मंगलमय कार्यमें उपस्थित किये गये हैं ॥१८४॥ जिस कुलमें जिस पदार्थकी पहलेसे पुरुषोंके द्वारा मङ्गलरूपमें उपासना होती आ रही है यदि उसका तिरस्कार किया जाता है तो नियमसे विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं ॥१८५॥ यदि वही कार्य भक्तिपूर्वक किया जाता है तो वह शुभ सम्पदाओंको देता है। हे राजन्! आप उत्तम हृदयके धारक हैं—विचारशील हैं अतः आप भी इन वानरोंके चित्रामकी उपासना कीजिये ॥१८६॥ मन्त्रियोंके ऐसा कहनेपर राजा अमरप्रभने बड़ी सान्त्वनासे उत्तर दिया। क्रोधके कारण उसके मुखपर जो विकार आ गया था उत्तर देते समय उसने उस विकारका त्याग कर दिया था ॥१८७॥ उसने कहा कि यदि हमारे पूर्वजोंने इनको मङ्गल रूपसे उपासना की है तो इन्हें इस तरह पृथिवीपर क्यों चित्रित किया गया है जहाँ कि पैर आदिका संगम होता है ॥१८८॥ गुरुजनोंके गौरवसे मैं इन्हें नमस्कारकर शिरपर धारण करूँगा। रत्न आदिके द्वारा वानरोंके चिह्न बनवाकर मुकुटोंके अग्रभागमें, ध्वजाओंमें, महलोंके शिखरोंमें, तोरणोंके अग्रभागमें तथा छत्रोंके ऊपर इन्हें शीघ्र ही धारण करो। इस प्रकार मन्त्रियोंको आज्ञा दी सो उन्होंने 'तथास्तु' कहकर राजाकी आज्ञानुसार सब कुछ किया। जिस दिशामें देखो उसी दिशामें वानर ही वानर दिखाई देते थे ॥१८९-१९१॥

अथानन्तर रानीके साथ परम सुखका उपभोग करते हुए राजा अमरप्रभके मनमें विजयार्ध पर्वतको जीतनेकी इच्छा हुई सो चतुरङ्ग सेनाके साथ उसने प्रस्थान किया। उस समय उसकी ध्वजामें वानरोंका चिह्न था और सब वानरवंशी उसकी स्तुति कर रहे थे ॥१९२-१९३॥ प्राणियोंका मान मर्दन करनेवाले युद्धमें दोनों श्रेणियोंको जीतकर उसने अपने वश किया पर उनका धन नहीं ग्रहण किया ॥१९४॥ सो ठीक ही है क्योंकि अभिमानी मनुष्योंका यह व्रत है कि वे शत्रुको नम्रीभूत ही करते हैं, उसके धनकी आकांक्षा नहीं करते ॥१९५॥ तदनन्तर विजयार्द्ध पर्वतके प्रधान पुरुष जिसके पीछे-पीछे आ रहे थे ऐसा राजा अमरप्रभ दिग्विजय कर

१. स्वान्तं ख० । २. -मरप्रभुः । ३. कपिस्मृतिः क०, ख० । ४. -द्वशो म० । ५. विगताशया म० ।

आधिपत्यं समस्तानां प्राप्य विद्याभृतामसौ । निश्चला बुभुजे लक्ष्मीं निगडैरिव संयुताम् ॥१९७॥
ततस्तस्य सुतो जातः कपिकेतुरभिख्यया । श्रीप्रभा कामिनी यस्य बभूव गुणधारिणी ॥१९८॥
ततो विक्रमसंपन्नं स तं वीक्ष्य शरीरजम् । राज्यलक्ष्म्यां समायोज्य निरगाद् गृहबन्धनात् ॥१९९॥
दत्त्वा प्रतिबलाख्याय लक्ष्मीं सोऽपि विनिर्ययौ । प्रायशो विषवल्लीव दृष्टा पूर्वैर्नृपश्रुतिः ॥२००॥
पूर्वोपार्जितपुण्यानां पुरुषाणां प्रयत्नतः । संजातासु न लक्ष्मीषु भावः संजायते महान् ॥२०१॥
यथैव ताः समुत्पन्नास्तेषामल्पप्रयत्नतः । तथैव त्यजतामेषां पीडा तासु न जायते ॥२०२॥
तथा कथञ्चिदासाद्य सन्तो विषयजं सुखम् । तेषु निर्वेदमागम्य वाञ्छन्ति परमं पदम् ॥२०३॥
[1]यन्नोपकरणैः साध्यमात्मायत्तं निरन्तरम् । [2]महदन्तेव निर्मुक्तं सुखं तत् को न वाञ्छति ॥२०४॥
सुतः प्रतिबलस्यापि गगनानन्दसंज्ञितः । तस्यापि खेचरानन्दस्तस्यापि गिरिनन्दनः ॥२०५॥
एवं वानरकेतूनां वंशे संख्या विवर्जिताः । आत्मीयैः कर्मभिः प्राप्ताः स्वर्गं मोक्षं च मानवाः ॥२०६॥
वंशानुसरणच्छाया मात्रमेतत्प्रकीर्त्यते । नामान्येषां समस्तानां शक्तः कः परिकीर्तितुम् ॥२०७॥
लक्षणं यस्य यल्लोके स तेन परिकीर्त्यते । सेवकः सेवया युक्तः कर्षकः कर्षणात्तथा ॥२०८॥
धानुष्को धनुषो योगाद् धार्मिको धर्मसेवनात् । क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद् ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः ॥२०९॥
इक्ष्वाकवो यथा चैते नमेश्च विनमेस्तथा । कुले विद्याधरा जाता विद्याधरणयोगतः ॥२१०॥

किष्कु नगर वापिस आया ॥१९६॥ इस प्रकार समस्त विद्याधरोंका आधिपत्य पाकर उसने चिर काल तक लक्ष्मीका उपभोग किया। लक्ष्मी चञ्चल थी सो उसने बेड़ी डालकर ही मानो उसे निश्चल बना दिया था ॥१९७॥

तदनन्तर राजा अमरप्रभके कपिकेतु नामका पुत्र हुआ। उसके अनेक गुणोंको धरनेवाली श्रीप्रभा नामकी रानी थी ॥१९८॥ पुत्रको पराक्रमी देख राजा अमरप्रभ उसे राज्यलक्ष्मी सौंपकर गृहरूपी बन्धनसे बाहर निकला ॥१९९॥ तदनन्तर कपिकेतु भी प्रतिबल नामक पुत्रके लिए राज्यलक्ष्मी देकर घरसे चला गया सो ठीक ही है क्योंकि पूर्व पुरुष राज्यलक्ष्मीको प्रायः विषकी वेलके समान देखते थे ॥२००॥ जिन्होंने पूर्व पर्यायमें पुण्य उपार्जित किया है ऐसे पुरुषोंका प्रयत्नोपार्जित लक्ष्मीमें बड़ा अनुराग नहीं होता ॥२०१॥ पुण्यात्मा मनुष्योंको चूँकि लक्ष्मी थोड़े ही प्रयत्नसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है इसलिए उसका त्याग करते हुए उन्हें पीड़ा नहीं होती ॥२०२॥ सत्पुरुष, विषय सम्बन्धी सुखको किसी तरह प्राप्त करते भी हैं तो उससे शीघ्र ही विरक्त हो परम पद—मोक्षकी इच्छा करने लगते हैं ॥२०३॥ जो सुख उपकरणोंके द्वारा साध्य न होकर आत्माके आधीन है, अन्तर रहित है, महान् है तथा अन्तसे रहित है उस सुखकी भला कौन नहीं इच्छा करेगा ॥२०४॥ प्रतिबलके गगनानन्द नामका पुत्र हुआ, गगनानन्दके खेचरानन्द और खेचरानन्दके गिरिनन्दन पुत्र हुआ ॥२०५॥ इस प्रकार ध्वजामें वानरोंका चिह्न धारण करनेवाले—वानरवंशियोंके वंशमें संख्यातीत राजा हुए सो उनमें अपने-अपने कर्मानुसार कितने ही स्वर्गको प्राप्त हुए और कितने ही मोक्ष गये ॥२०६॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि राजन्! यह तो वंशमें उत्पन्न हुए पुरुषोंका छाया मात्रका निरूपण है। इन सब पुरुषोंका नामोल्लेख करनेके लिए कौन समर्थ है? ॥२०७॥ लोकमें जिसका जो लक्षण होता है उसका उसी लक्षणसे उल्लेख होता है। जैसे सेवा करनेवाला सेवक, खेती करनेवाला किसान, धनुष धारण करनेवाला धानुष्क, धर्म सेवन करनेवाला धार्मिक, दुःखी जीवोंकी रक्षा करनेवाला क्षत्रिय और ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला ब्राह्मण कहा जाता है। जिस प्रकार इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न हुए पुरुष इक्ष्वाकु कहलाते हैं और नमि-विनमिके वंशमें उत्पन्न हुए

१. यन्नोप-म० । २. महदं तेन म० ।

परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान् । तपसा प्राप्य सम्बन्धं तपो हि श्रम उच्यते ॥२११॥
अयं तु व्यक्त एवास्ति शब्दोऽन्यत्र प्रयोगवान् । यष्टिहस्तो यथा यष्टिः कुन्तः कुन्तकरस्तथा ॥२१२॥
मञ्चस्थाः पुरुषा मञ्चा यथा च परिकीर्तिताः । साहचर्यादिभिर्धर्मैरेवमाद्या उदाहृताः ॥२१३॥
तथा वानरचिह्नेन छत्रादिविनिवेशिना । विद्याधरा गताः ख्यातिं वानरा इति विष्टपे ॥२१४॥
श्रेयसो देवदेवस्य वासुपूज्यस्य चान्तरे । अमरप्रभसंज्ञेन कृतं वानरलक्षणम् ॥२१५॥
तत्कृतात् सेवनाज्जाताः शेषा अपि तथाक्रियाः । परां हि कुरुते प्रीतिं पूर्वाचरितसेवनम् ॥२१६॥
एवं संक्षेपतः प्रोक्तः कपिवंशसमुद्भवः । प्रवक्ष्यामि परां वार्तामिमां श्रेणिक तेऽधुना ॥२१७॥
महोदधिरवो नाम खेचराणामभूत् पतिः । कुले वानरकेतूनां किष्कुनाम्नि पुरूत्तमे ॥२१८॥
विद्युत्प्रकाशा नामास्य पत्नी स्त्रीगुणसम्पदाम् । निधानमभवद् भावगृहीतपतिमानसा ॥२१९॥
रामाणामभिरामाणां शतशो योपरि स्थिता । सौभाग्येन तु रूपेण विज्ञानेन तु कर्मभिः ॥२२०॥
पुत्राणां शतमेतस्य साष्टकं वीर्यशालिनाम् । येषु राज्यभरं न्यस्य स भोगान् बुभुजे सुखम् ॥२२१॥
मुनिसुव्रतनाथस्य तीर्थे यः परिकीर्तितः । व्यापारैरद्भुतैर्नित्यमनुरञ्जितखेचरः ॥२२२॥
लङ्कायां [1]स तदा स्वामी रक्षोवंशनभोविधुः । विद्युत्केश इति ख्यातो बभूव जनताप्रियः ॥२२३॥
गत्यागमनसंवृद्धमभूत् प्रेम परं तयोः । यतश्चित्तमभूदेकं पृथक्त्वं देहमात्रतः ॥२२४॥
तडित्केशस्य विज्ञाय श्रामण्यमुदधिस्वनः । श्रमणत्वं परिप्राप्तः परमार्थविशारदः ॥२२५॥

पुरुष विद्या धारण करनेके कारण विद्याधर कहे गये हैं। जो राजा राज्य छोड़कर तपके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं वे श्रमण कहलाते हैं क्योंकि श्रम करे सो श्रमण और तपश्चरण ही श्रम कहा जाता है ॥२०८-२११॥ इसके सिवाय यह बात तो स्पष्ट ही है कि शब्द कुछ है और उसका प्रयोग कुछ अन्य अर्थमें होता है जैसे जिसके हाथमें यष्टि है वह यष्टि, जिसके हाथमें कुन्त है वह कुन्त और जो मञ्चपर बैठा है वह मञ्च कहलाता है। इस तरह साहचर्य आदि धर्मोंके कारण शब्दोंके प्रयोगमें भेद होता है इसके उदाहरण दिये गये हैं ॥२१२-२१३॥ इसी प्रकार जिन विद्याधरोंके छत्र आदिमें वानरके चिह्न थे वे लोकमें 'वानर' इस प्रसिद्धिको प्राप्त हुए ॥२१४॥ देवाधिदेव श्रेयान्सनाथ और वासुपूज्य भगवान्के अन्तरालमें राजा अमरप्रभने अपने मुकुट आदिमें वानरका चिह्न धारण किया था सो उसकी परम्परामें जो अन्य राजा हुए वे भी ऐसा ही करते रहे। यथार्थमें पूर्वजोंकी परिपाटीका आचरण करना परम प्रीति उत्पन्न करता है ॥२१५-२१६॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! इस तरह संक्षेपसे वानरवंशकी उत्पत्ति कही है अब एक दूसरी बात कहता हूँ सो सुन ॥२१७॥

अथानन्तर किष्कुनामक उत्तम नगरमें इसी वानर-वंशमें महोदधि नामक विद्याधर राजा हुआ। इसकी विद्युत्प्रकाशा नामकी रानी थी जो स्त्रियोंके गुणरूपी सम्पदाओंकी मानो खजाना थी। उसने अपनी चेष्टाओंसे पतिका हृदय वश कर लिया था, वह सौभाग्य, रूप, विज्ञान तथा अन्य चेष्टाओंके कारण सैकड़ों सुन्दरी स्त्रियोंकी शिरोमणि थी ॥२१८-२२०॥ राजा महोदधिके एक सौ आठ पराक्रमी पुत्र थे सो उनपर राज्यभार सौंपकर वह सुखसे भोगोंका उपभोग करता था ॥२२१॥ मुनिसुव्रत भगवान्के तीर्थमें राजा महोदधि प्रसिद्ध विद्याधर था वह अपने आश्चर्यजनक कार्योंसे सदा विद्याधरोंको अनुरक्त रखता था ॥२२२॥ उसी समय लङ्कामें विद्युत्केश नामक प्रसिद्ध राजा था। जो राक्षस वंशरूप आकाशका मानो चन्द्रमा था और लोगोंका अत्यन्त प्रिय था ॥२२३॥ महोदधि और विद्युत्केशमें परम स्नेह था जो कि एक दूसरेके यहाँ आने-जानेके कारण परम वृद्धिको प्राप्त हुआ था। उन दोनोंका चित्त तो एक था केवल शरीर मात्रसे ही दोनोंमें पृथकूपना था ॥२२४॥ विद्युत्केशने मुनिदीक्षा धारण कर ली

१. च म० । २. रक्षोवंशे नभोविधुः म० ।

तडित्केशः कुतो हेतोराश्रितो दुर्द्धराकृतिम् । संपृष्टः श्रेणिकेनैवमुवाच गणनायकः ॥२२६॥
अन्यदाथ तडित्केशः प्रमदाख्यं मनोहरम् । निष्क्रान्तो रन्तुमुद्यानं कृतक्रीडनकालयम् ॥२२७॥
पद्मेन्दीवररम्येषु सरःसु स्वच्छवारिषु । उद्यत्तरङ्गभङ्गेषु द्रोणीसंचारचारुषु ॥२२८॥
दोलासु च महार्हासु रचितासनभूमिषु । तुङ्गपादपसक्तासु दूरप्रेङ्खाप्रवृद्धिषु ॥२२९॥
ततः सोपानमार्गेषु रत्नरञ्जितसानुषु । द्रुमखण्डपरीतेषु हेमपर्वतकेषु च ॥२३०॥
फलपुष्पमनोज्ञेषु चलत्पल्लवशालिषु । लतालिङ्गितदेहेषु महीरुहचयेषु च ॥२३१॥
मुनिक्षोभनसामर्थ्ययुक्तविभ्रमसंपदाम् । पुष्पादिप्रचयासक्तपाणिपल्लवशोभिनाम् ॥२३२॥
नितम्बवहनायासजातस्वेदाम्बुविप्रुषाम् । कुचकम्पोच्छलत्[1]स्थूलमुक्ताहारपुरु[2]त्विषाम् ॥२३३॥
निमज्जदुद्भवत्सूक्ष्मवलिमध्यविराजिताम् । निःश्वासाकृष्टमत्तालिवारणाकुलचेतसाम् ॥२३४॥
स्रस्ताम्बरसमालम्बिकराणां चलचक्षुषाम् । मध्यमास्थाय दाराणां स रेमे राक्षसाधिपः ॥२३५॥
अथ क्रीडनसक्ताया देव्यास्तस्य पयोधरौ । श्रीचन्द्राख्यां दधानायाः कपिना नखकोटिभिः ॥२३६॥
विपाटितौ स्वभावेन विनयप्रच्युतात्मना । नितान्तं [3]खेद्यमानेन रुषा विकृतचक्षुषा ॥२३७॥
समाश्वास्य ततः कान्तां प्रगलत्स्तनशोणिताम् । निहतो बाणमाकृष्य तडित्केशेन वानरः ॥२३८॥

यह समाचार जानकर परमार्थके जाननेवाले महोदधिने मुनिदीक्षा धारण कर ली ॥२२५॥ यह कथा सुनकर श्रेणिक राजाने गौतम गणधरसे पूछा कि हे स्वामिन्! विद्युत्केशने किस कारण कठिन दीक्षा धारण की। इसके उत्तरमें गणधर भगवान् इस प्रकार कहने लगे ॥२२६॥ कि किसी समय विद्युत्केश जिसमें क्रीड़ाके अनेक स्थान बने हुए थे ऐसे अत्यन्त सुन्दर प्रमदनामक वनमें क्रीड़ा करनेके लिए गया था सो वहाँ कभी तो वह उन सरोवरोंमें क्रीड़ा करता था जो कमल तथा नील कमलोंसे मनोहर थे, जिनमें स्वच्छ जल भरा था, जिनमें बड़ी-बड़ी लहरें उठ रहीं थीं तथा नावोंके संचारसे महामनोहर दिखाई देते थे ॥२२७–२२८॥ कभी उन बेश-कीमती झूलोंपर झूलता था जिनमें बैठनेका अच्छा आसन बनाया गया था, जो ऊँचे वृक्षसे बँधे थे तथा जिनकी उछाल बहुत लम्बी होती थी ॥२२९॥ कभी उन सुवर्णमय पर्वतोंपर चढ़ता था जिनके ऊपर जानेके लिए सीढ़ियोंके मार्ग बने हुए थे, जिनके शिखर रत्नोंसे रञ्जित थे, और जो वृक्षोंके समूहसे वेष्टित थे ॥२३०॥ कभी उन वृक्षोंकी झुरमुटमें क्रीड़ा करता था जो फल और फूलोंसे मनोहर थे, जो हिलते हुए पल्लवोंसे सुशोभित थे और जिनके शरीर अनेक लताओंसे आलिङ्गित थे ॥२३१॥ कभी उन स्त्रियोंके बीच बैठकर क्रीड़ा करता था कि जिनके हाव-भाव-विलासरूप सम्पदाएँ मुनियोंको भी क्षोभित करनेकी सामर्थ्य रखती थीं, जो फूल आदि तोड़नेकी क्रियामें लगे हुए हस्तरूपी पल्लवोंसे शोभायमान थीं, स्थूल नितम्ब धारण करनेके कारण जिनके शरीरपर स्वेद जलकी बूँदें प्रकट हो रहीं थीं, स्तनोंके कम्पनसे ऊपरकी ओर उछलनेवाले बड़े-बड़े मोतियोंके हारसे जिनकी कान्ति बढ़ रही थी, जिसकी सूक्ष्म रेखाएँ कभी अन्तर्हित हो जाती थीं और कभी प्रकट दिखाई देती थीं ऐसी कमरसे जो सुशोभित थीं, श्वासोछ्वाससे आकर्षित मत्त भौंरोंके निराकरण करनेमें जिनका चित्त व्याकुल था, जो नीचे खिसके हुए वस्त्रको अपने हाथसे थामे हुई थीं तथा जिनके नेत्र इधर-उधर चल रहे थे। इस प्रकार राक्षसोंका राजा विद्युत्केश अनेक स्त्रियोंके बीच बैठकर क्रीड़ा कर रहा था ॥२३२–२३५॥ अथानन्तर राजा विद्युत्केशकी रानी श्रीचन्द्रा इधर क्रीड़ामें लीन थी उधर किसी वानरने आकर अपने नाखूनोंके अग्रभागसे उसके दोनों स्तन विदीर्ण कर दिये ॥२३६॥ जिस वानरने उसके स्तन विदीर्ण किये थे वह स्वभावसे ही अविनयी था, क्रोधसे अत्यन्त खेदको प्राप्त हो रहा था, उसके नेत्र विकृत दिखाई देते थे ॥२३७॥ तदनन्तर जिसके स्तनसे खून झड़ रहा था

१. कम्पोज्ज्वलत् म० । २. पुर म० । ३. विद्यमानेन म० ।

वेगेन स ततो गत्वा पतितस्तत्र भूतले । तिष्ठन्ति मुनयो यत्र विहायस्तलचारिणः ॥२३९॥
ततस्तं वेपथुग्रस्तं सवाणं वीक्ष्य वानरम् । मुनीनामनुकम्पाऽभूत् संसारस्थितिवेदिनाम् ॥२४०॥
तस्मै पञ्चनमस्कारः सर्वत्यागसमन्वितः । धर्मदानसमुद्युक्तैरुपदिष्टस्तपोधनैः ॥२४१॥
ततः स विकृतां त्यक्त्वा तनुं वानरयोनिजाम् । महोदधिकुमारोऽभूत् क्षणेनोत्तमविग्रहः ॥२४२॥
ततो यावदसौ हन्तुं खेचरोऽन्यान् समुद्यतः । कपींस्तावदयं प्राप्तः कृतस्वतनुपूजनः ॥२४३॥
हन्यमानां नरैः क्रूरैर्दृष्ट्वा वानरसंहतिम् । चक्रे वैक्रियसामर्थ्यात् कपीनां महतीं चमूम् ॥२४४॥
दंष्ट्राङ्कुरकरालैस्तैर्वदनैर्भ्रूविकारिभिः । सिन्दूरसदृशच्छायैः कृतभीषणनिःस्वनैः ॥२४५॥
उत्क्षिप्य पर्वतान् केचित् केचिदुन्मूल्य पादपान् । आहत्य धरणीं केचित् पाणिनास्फाल्य चापरे ॥२४६॥
क्रोधसंभाररौद्राङ्गा दूरोत्प्लवनकारिणः । बभणुर्वानराध्यक्षं खेचरं भिन्नचेतसम् ॥२४७॥
तिष्ठ तिष्ठ दुराचार मृत्योः सम्प्रति गोचरे । निहत्य वानरं पाप तवाद्य शरणं कुतः ॥२४८॥
अभिधायेति तैः सर्वं व्योम पर्वतपाणिभिः । व्याप्तं तथा यथा[1] तस्मिन् सूचीभेदोऽपि नेक्ष्यते ॥२४९॥
ततो विस्मयमापन्नस्तडित्केशो व्यचिन्तयत् । नेदं बलं प्लवङ्गानां किमप्यन्यदिदं भवेत् ॥२५०॥
ततो निरीहदेहोऽसौ माधुर्यमितया गिरा । वानरान्विनयेनेदमब्रवीन्नयपण्डितः ॥२५१॥
सन्तो वदत के यूयं महाभासुरविग्रहाः । न प्रकृत्या प्लवङ्गानां शक्तिरेषा समीक्ष्यते ॥२५२॥

ऐसी वल्लभाको सान्त्वना देकर उसने बाण द्वारा वानरको मार डाला ॥२३८॥ घायल वानर वेगसे भागकर वहाँ पृथ्वीपर पड़ा जहाँ कि आकाशगामी मुनिराज विराजमान थे ॥२३९॥ जिसके शरीरमें कँपकँपी छूट रही थी तथा वाण छिदा हुआ था ऐसे वानरको देखकर संसारकी स्थितिके जानकार मुनियोंके हृदयमें दया उत्पन्न हुई ॥२४०॥ उसी समय धर्मदान करनेमें तत्पर एवं तपरूपी धनके धारक मुनियोंने उस वानरके लिए सब पदार्थोंका त्याग कराकर पञ्चनमस्कार मन्त्रका उपदेश दिया ॥२४१॥ उसके फलस्वरूप वह वानर योनिमें उत्पन्न हुए अपने पूर्वविकृत शरीरको छोड़कर क्षणभरमें उत्तम शरीरका धारी महोदधिकुमार नामक भवनवासी देव हुआ ॥२४२॥ तदनन्तर इधर राजा विद्युत्केश जब तक अन्य वानरोंको मारनेके लिए उद्यत हुआ तब तक अवधिज्ञानसे अपना पूर्वभव जानकर महोदधिकुमार देव वहाँ आ पहुँचा। आकर उसने अपने पूर्व शरीरका पूजन किया ॥२४३॥ दुष्ट मनुष्योंके द्वारा वानरोंके समूह मारे जा रहे हैं यह देख उसने विक्रियाकी सामर्थ्यसे वानरोंकी एक बड़ी भारी सेना बनाई ॥२४४॥ उन वानरोंके मुख दाँढोंसे विकराल थे, उनकी भौंहें चढ़ी हुई थीं, सिन्दूरके समान लाल-लाल उनका रङ्ग था और वे भयंकर शब्द कर रहे थे ॥२४५॥ कोई वानर पर्वत उखाड़कर हाथमें लिये थे, कोई वृक्ष उखाड़कर हाथमें धारण कर रहे थे, कोई हाथोंसे जमीन कूट रहे थे और कोई पृथ्वी झुला रहे थे ॥२४६॥ क्रोधके भारसे जिनके अङ्ग महारुद्र—महाभयंकर दिख रहे थे और जो दूर-दूर तक लम्बी छलांगें भर रहे थे ऐसे मायामयी वानरोंने अतिशय कुपित वानरवंशी राजा विद्युत्केश विद्याधरसे कहा ॥२४७॥ कि अरे दुराचारी! ठहर-ठहर, तब तू मृत्युके वश आ पड़ा है, अरे पापी! वानरको मारकर अब तू किसकी शरणमें जायगा? ॥२४८॥ ऐसा कहकर हाथोंमें पर्वत धारण करनेवाले उन मायामयी वानरोंने समस्त आकाशको इस प्रकार व्याप्त कर लिया कि सुई रखनेको भी स्थान नहीं दिखाई देता था ॥२४९॥ तदनन्तर आश्चर्यको प्राप्त हुआ विद्युत्केश विचार करने लगा कि यह वानरोंका बल नहीं है, यह तो कुछ और ही होना चाहिए ॥२५०॥ तब शरीरकी आशा छोड़ नीतिशास्त्रका पण्डित विद्युत्केश मधुरवाणी द्वारा विनयपूर्वक वानरोंसे बोला ॥२५१॥ कि हे सत्पुरुषो! कहो आप लोग कौन हो? तुम्हारे शरीर अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे हैं,

१. यथास्मिंश्च म० ।

ततस्तं विनयोपेतं दृष्ट्वा खेचरपुङ्गवम् । महोदधिकुमारेण वाक्यमेतदुदाहृतम् ॥२५३॥
तिर्यग्जातिस्वभावेन नितान्तं चपलस्त्वया । [1]अपराद्धः स्वजायायां हतो योऽसौ प्लवङ्गमः ॥२५४॥
सोऽहं साधुप्रसादेन सम्प्राप्तो देवतामिमाम् । महाशक्तिसमायुक्तां यथेच्छावाप्तसंपदाम् ॥२५५॥
विभूतिं मम पश्य त्वमिति चोक्त्वा परां श्रियम् । स तस्मै प्रकटीचक्रे महोदधि[2]सुरोचिताम् ॥२५६॥
ततोऽसौ वेपथुं प्राप्तो भयात् सर्वशरीरगम् । विदीर्णहृदयो हृष्टरोमा विभ्रान्तलोचनः ॥२५७॥
महोदधिकुमारेण मा भैषीरिति चोदितः । जगाद गद्गदं वाक्यं किं करोमीति दुःखितः ॥२५८॥
ततस्तेन सुरेणासौ गुर्वन्तिकमुपाहृतः । ताभ्यां प्रदक्षिणीकृत्य कृतं तस्यांह्रिवन्दनम् ॥२५९॥
वानरेण सता प्राप्तं मया देवत्वमीदृशम् । गुरुं भवन्तमासाद्य वत्सलं सर्वदेहिनाम् ॥२६०॥
देवेनेत्यभिधायासौ स्तुतो वाग्भिः पुनः पुनः । अर्चितश्च महास्रग्भिः पादयोः प्रणतस्तथा ॥२६१॥
तदाश्चर्यं ततो दृष्ट्वा खेचरेण तपोधनः । संपृष्टः किं करोमीति जगाद वचनं हितम् ॥२६२॥
चतुर्ज्ञानोपगूढात्मा ममास्त्यत्र समीपगः । गुरुस्तस्यान्तिकं याम एष धर्मः सनातनः ॥२६३॥
आचार्ये भ्रियमाणे यस्तिष्ठत्यन्तिकगोचरे । करोत्याचार्यकं मूढः शिष्यतां दूरमुत्सृजन् ॥२६४॥
नासौ शिष्यो न चाचार्यो निर्धर्मः स कुमार्गगः । सर्वतो भ्रंशमायातः स्वाचारात् साधुनिन्दितः ॥२६५॥
इत्युक्ते विस्मयोपेतौ जातौ देवनभश्चरौ । चक्रतुश्चेतसीदं च परिवारसमन्वितौ ॥२६६॥

तुम्हारी यह शक्ति वानरोंकी स्वाभाविक शक्ति तो नहीं दिखाई पड़ती ॥२५२॥ तदनन्तर विद्याधरोंके राजा विद्युत्केशको विनयावनत देख कर महोदधिकुमारने यह वचन कहे ॥२५३॥ कि पशुजातिके स्वभावसे जो अत्यन्त चपल था तथा इसी चपलताके कारण जिसने तुम्हारी स्त्रीका अपराध किया था ऐसे जिस वानरको तूने मारा था वह मैं ही हूँ। साधुओंके प्रसादसे इस देवत्व पर्यायको प्राप्त हुआ हूँ। यह पर्याय महाशक्तिसे युक्त है तथा इच्छानुसार इसमें संपदाएँ प्राप्त होती हैं ॥२५४-२५५॥ तुम मेरी विभूतिको देखो यह कह कर उसने मनोदधि कुमारदेवके योग्य अपनी उत्कृष्ट लक्ष्मी उसके सामने प्रकट कर दी ॥२५६॥ यह देख भयसे विद्युत्केशका सर्व शरीर काँपने लगा, उसका हृदय विदीर्ण हो गया, रोमाञ्च निकल आये और आँखे घूमने लगी ॥२५७॥ तब महोदधिकुमारने कहा कि डरो मत। देवकी वाणी सुन, दुःखी होते हुए विद्युत्केशने गद्गद वाणीमें कहा कि मैं क्या करूँ ? जो आप आज्ञा करो सो करूँ ॥२५८॥ तदनन्तर वह देव राजा विद्युत्केशको जिन्होंने पञ्च नमस्कार मन्त्र दिया था उन गुरुके पास ले गया। वहाँ जाकर देव तथा राजा विद्युत्केश दोनोंने प्रदक्षिणा दे कर गुरुके चरणोंमें नमस्कार दिया ॥२५९॥ महोदधिकुमार देवने मुनिराजकी यह कह कर बार-बार स्तुति की कि मैं यद्यपि वानर था तो भी समस्त प्राणियोंसे स्नेह रखने वाले आप ऐसे गुरुको पा कर मैंने यह देव पर्याय प्राप्त की है। यह कह कर उसने महामालाओंसे मुनिराजकी पूजा की तथा चरणोंमें नमस्कार किया ॥२६०-२६१॥ यह आश्चर्य देखकर विद्याधर विद्युत्केशने मुनिराजसे पूछा कि हे देव! मैं क्या करूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? इसके उत्तरमें मुनिराजने निम्नांकित हितकारी वचन कहे कि चार ज्ञानके धारी हमारे गुरु पास ही विद्यमान हैं सो हम लोग उन्हींके समीप चलें, यही सनातन धर्म है ॥२६२-२६३॥ आचार्यके समीप रहने पर भी जो उनके पास नहीं जाता है और स्वयं उपदेशादि देकर आचार्यका काम करता है वह मूर्ख शिष्य, शिष्यपनाको दूरसे ही छोड़ देता है। वह न तो शिष्य रहता है और न आचार्य ही कहलाता है, वह धर्मरहित है, कुमार्गगामी है, अपने समस्त आचारसे भ्रष्ट है और साधुजनोंके द्वारा निन्दनीय है ॥२६४-२६५॥ मुनिराजके ऐसा कहनेपर देव और विद्याधर

---

१. अपराधः म०, ख० । २. महोदधिः सुरो-म० ।

अहो परममाहात्म्यं तपसो भुवनातिगम् । मुनेरेवंविधस्यापि यदन्यो विद्यते गुरुः ॥२६७॥
ततस्तस्योपकण्ठे ते साधुनाधिष्ठिता ययुः । देवाश्च व्योमयानाश्च धर्मोत्कण्ठितचेतसः ॥२६८॥
गत्वा प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्यादरतो मुनिम् । नातिदूरे न चात्यन्तसमीपे स्थितिमाश्रिताः ॥२६९॥
ततस्तां परमां मूर्तिं तपोराशिसमुत्थया । प्रज्वलन्तीं मुनेर्दीप्त्या[1] दृष्ट्वा देवनभश्चराः ॥२७०॥
चिन्तां कामपि संप्राप्ता धर्माचारसमुद्भवाम् । प्रफुल्लनयनाम्भोजा महाविनयसंगताः ॥२७१॥
ततो देवनभोयानावञ्जलिं न्यस्य मस्तके । पप्रच्छुस्तुर्मुनिं धर्मं फलं चास्य यथोचितम् ॥२७२॥
ततो जन्तुहितासक्तनित्यप्रस्थितमानसः । संसारकारणासङ्गदूरीकृतसमीहितः ॥२७३॥
सजलाम्भोदगम्भीरधीरया श्रमणो गिरा । जगाद परमं धर्मं जगतोऽभ्युदयावहम् ॥२७४॥
तस्मिन् गदति तद्देशे लतामण्डपसंश्रिताः । ननृतुः शिखिसंघाता मेघनादविशङ्किनः[2] ॥२७५॥
समाधाय मनो धर्मः श्रूयतां सुरखेचरौ । यथा जिनैः समुद्दिष्टो भुवनानन्दकारिभिः ॥२७६॥
धर्मशब्दनमात्रेण बहवः प्राणिनोऽधमाः । अधर्ममेव सेवन्ते विचारजडचेतसः ॥२७७॥
मार्गोऽयमिति यो गच्छेत् दिशमज्ञाय मोहवान् । द्राघीयसापि कालेन नेष्टं स्थानं स गच्छति ॥२७८॥
कथाकल्पितधर्माख्यमधर्मं मन्दमानसाः[3] । प्राणिघातादिभिर्जातं सेवन्ते विषयाश्रिताः ॥२७९॥
ते[4] तं भावेन संसेव्य मिथ्यादर्शनदूषिताः । तिर्यग्नरकदुःखानां प्रपद्यन्ते निधानताम् ॥२८०॥
कुहेतुजालसंपूर्णग्रन्थार्थैर्गुरुदण्डकैः । धर्मोपलिप्सया मूढास्ताडयन्ति नभस्तलम् ॥२८१॥

दोनों ही परम आश्चर्यको प्राप्त हुए । अपने अपने परिवारके साथ उन्होंने मनमें विचार किया कि अहो तपका कैसा लोकोत्तर माहात्म्य है कि ऐसे सर्वगुणसम्पन्न मुनिराजके भी अन्य गुरु विद्यमान हैं ॥२६६–२६७॥ तदनन्तर धर्मके लिए जिनका चित्त उत्कण्ठित हो रहा था ऐसे देव और विद्याधर उक्त मुनिराजके साथ उनके गुरुके समीप गये ॥२६८॥ वहाँ जाकर उन्होंने बड़े आदरके साथ प्रदक्षिणा देकर गुरुको नमस्कार किया और नमस्कारके अनन्तर न तो अत्यन्त दूर और न अत्यन्त पास किन्तु कुछ दूर हट कर बैठ गये ॥२६९॥ तदनन्तर तपकी राशिसे उत्पन्न दीप्तिसे देदीप्यमान मुनिराजकी उस उत्कृष्ट मुद्राको देख कर देव और विद्याधर धर्माचारसे समुद्भूत किसी अद्भुत चिन्ताको प्राप्त हुए । उस समय हर्ष और आश्चर्यसे सबके नेत्र-कमल प्रफुल्लित हो रहे थे तथा सभी महाविनयसे युक्त थे ॥२७०–२७१॥ तत्पश्चात् देव और विद्याधर दोनोंने हाथ जोड़ मस्तकसे लगाकर मुनिराजसे धर्म तथा उसके यथायोग्य फलको पूछा ॥२७२॥ तदनन्तर जिनका मन सदा प्राणियोंके हितमें लगा रहता था तथा जिनकी समस्त चेष्टाएँ संसारके कारणोंके संपर्कसे सदा दूर रहती थीं ऐसे मुनिराज सजल मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर वाणीसे जगत्का कल्याण करनेवाले उत्कृष्ट धर्मका निरूपण करने लगे ॥२७३–२७४॥ जब मुनिराज बोल रहे थे तब लतामण्डपमें स्थित मयूरोंके समूह मेघ गर्जनाकी शंका कर हर्षसे नृत्य करने लगे थे ॥२७५॥ मुनिराजने कहा कि हे देव और विद्याधरो ! संसारका कल्याण करनेवाले जिनेन्द्र भगवान्ने धर्मका जैसा स्वरूप कहा है वैसा ही मैं कहता हूँ आप-लोग मन स्थिर कर सुनो ॥२७६॥ जिनका चित्त विचार करनेमें जड़ है ऐसे बहुतसे अधम प्राणी धर्मके नाम पर अधर्मका ही सेवन करते हैं ॥२७७॥ जो मोही प्राणी गन्तव्य दिशाको जाने विना 'यही मार्ग है' ऐसा समझ विरुद्धदिशामें जाता है वह दीर्घकाल बीत जाने पर भी इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता है ॥२७८॥ विचार करनेकी क्षमतासे रहित विषयलम्पटी मनुष्य, कथा-कहानियों द्वारा जिसे धर्म संज्ञा दी गई है ऐसे जीवघात आदिसे उत्पन्न अधर्मका ही सेवन करते हैं ॥२७९॥ मिथ्यादर्शनसे दूषित मनुष्य ऐसे अधर्मका अभिप्रायपूर्वक सेवनकर तिर्यञ्च तथा नरकगतिके दुःखोंके पात्र होते हैं ॥२८०॥ कुयुक्तियोंके जालसे परिपूर्ण ग्रन्थोंके अर्थसे मोहित

१. दीप्ता म० । २. विशङ्किताः म० । ३. मदमानसाः म० । ४. ते ते म० ।

यद्यपि स्यात् क्वचित्किञ्चिद्धर्मं[1] प्रति कुशासने । हिंसादिरहिताचारे शरीरश्रमदेशिनि[2] ॥२८२॥
सम्यग्दर्शनहीनत्वान्मूलच्छिन्नं तथापि तत्[3] । [4]नाज्ञानं क्षुद्रचारित्रं तेषां भवति मुक्तये ॥२८३॥
पार्थिवो लोष्टलेशोऽपि वैडूर्यमपि पार्थिवम् । न पार्थिवत्वसामान्यात्तयोस्तुल्यं गुणादिकम् ॥२८४॥
लोष्टुलेशसमो धर्मो मिथ्यादृग्भिः प्रकीर्तितः । वैडूर्यसदृशो जैनो धर्मसंज्ञा तु सर्वगा ॥२८५॥
धर्मस्य हि दया मूलं तस्या मूलमहिंसनम् । परिग्रहवतां पुंसां हिंसनं सततोद्भवम्[5] ॥२८६॥
तथा सत्यवचो धर्मस्तच्च यन्न परासुखम् । अदत्तादानमुक्तिश्च परनार्याश्च वर्जनम् ॥२८७॥
द्रविणाप्तिषु संतोषो हृषीकाणां निवारणम् । तनूकृतिः कषायाणां विनयो ज्ञानसेविनाम् ॥२८८॥
व्रतमेतद् गृहस्थानां सम्यग्दर्शनचारिणाम् । आगाररहितानां तु शृणु धर्मं यथाविधि ॥२८९॥
पञ्चोदारव्रतोत्तुङ्गमातङ्गस्कन्धवर्तिनः । त्रिगुप्ति[6]दृढनीरन्ध्रकङ्कटच्छन्नविग्रहाः ॥२९०॥
पादातेन[7] समायुक्ताः समित्या पञ्चभेदया । नानातपोमहातीक्ष्ण[8]शस्त्रयुक्तमनस्कराः ॥२९१॥
वृतं कषायसामन्तैर्मोहवारणवर्तिनम् । भवारातिं विनिघ्नन्ति निरम्बरमहानृपाः ॥२९२॥
सर्वारम्भपरित्यागे सम्यग्दर्शनसंगते । धर्मः स्थितोऽनगाराणामेष[9] धर्मः समासतः ॥२९३॥
त्रिलोकश्रीपरिप्राप्तेर्धर्मोऽयं[10] हेतुतां गतः । एष एव परं प्रोक्तो मङ्गलं पुरुषोत्तमैः ॥२९४॥
अन्यः कस्तस्य कथ्येत धर्मस्य परमो गुणः । त्रिलोकशिखरं येन प्राप्यते सुमहासुखम् ॥२९५॥

प्राणी धर्म प्राप्त करनेकी इच्छासे बड़े-बड़े दण्डोंके द्वारा आकाशको ताडित करते हैं अर्थात् जिन कार्योंमें धर्मकी गन्ध भी नहीं उन्हें धर्म समझकर करते हैं ॥२८१॥ जिसमें प्रतिपादित आचार, हिंसादि पापोंसे रहित है तथा जिसमें शरीर-श्रम—कायक्लेशका उपदेश दिया गया है ऐसे किसी मिथ्याशासनमें भी यद्यपि थोड़ा धर्मका अंश होता है तो भी सम्यग्दर्शनसे रहित होनेके कारण वह निर्मूल ही है। ऐसे जीवोंका ज्ञानरहित क्षुद्र चारित्र मुक्तिका कारण नहीं है ॥२८२–२८३॥ मिट्टीका ढेला भी पार्थिव है और वैडूर्य मणि भी पार्थिव है सो पार्थिवत्व सामान्यकी अपेक्षा दोनोंके गुण आदिक एक समान नहीं हो जाते ॥२८४॥ मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा निरूपित धर्म मिट्टीके ढेलेके समान है और जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा निरूपित धर्म वैडूर्य मणिके समान है जब कि धर्म संज्ञा दोनोंमें ही समान है ॥२८५॥ धर्मका मूल दया है और दयाका मूल अहिंसा रूप परिणाम है। परिग्रही मनुष्योंके हिंसा निरन्तर होती रहती है ॥२८६॥ दयाके सिवाय सत्य वचन भी धर्म है परन्तु सत्य वचन वह कहलाता है कि जिससे दूसरेको दुःख न हो। अदत्तादानका त्याग करना, परस्त्रीका छोड़ना, धनादिकमें संतोष रखना, इन्द्रियोंका निवारण करना, कषायोंको कृश करना और ज्ञानी मनुष्योंकी विनय करना, यह सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंका व्रत अर्थात् धर्म है। अब गृहरहित मुनियोंके धर्मका विधिपूर्वक निरूपण करता हूँ सो सुनो ॥२८७–२८९॥ जो पञ्च महाव्रत रूपी उन्नत हाथीके स्कन्धपर सवार हैं, तीन गुप्ति रूपी मजबूत तथा निश्छिद्र कवचसे जिनका शरीर आच्छादित है, जो पञ्च समितिरूपी पैदल सिपाहियोंसे युक्त है, और जो नाना तपरूपी महातीक्ष्ण शस्त्रोंके समूहसे सहित हैं ऐसे दिगम्बर यति रूपी महाराजा, कषाय रूपी सामन्तोंसे परिवृत तथा मोह रूपी हाथीपर सवार संसार रूपी शत्रुको नष्ट करते हैं ॥२९०–२९२॥ जब सब प्रकारके आरम्भका त्याग किया जाता है और सम्यग्दर्शन धारण किया जाता है तभी मुनियोंका धर्म प्राप्त होता है। यह संक्षेपमें धर्मका स्वरूप समझो ॥२९३॥ यह धर्म ही त्रिलोक सम्बन्धी लक्ष्मीकी प्राप्तिका कारण है। उत्तम पुरुषोंने इस धर्मको ही उत्कृष्ट मङ्गलस्वरूप कहा है ॥२९४॥ जिस धर्मके द्वारा

---

१. धर्मस्य लेशः धर्मं प्रति (अव्ययीभावसमासः) । २. -देशिने म०, ख० । ३. च म० । ४. न ज्ञानं म० । ५. स तदोद्भवम् म० । ६. त्रिगुप्त म० । ७. पदातीनां समूहः पादातं तेन । ८. महीतीक्ष्ण म० । ९. धर्मस्थितानगाराणा -म० । १०. प्राप्ते धर्मोऽयं म० ।

सागारेण जनः स्वर्गे भुङ्क्ते भोगान्महागुणान् । देवीनिवहमध्यस्थो मानसेन समाहृतान् ॥२९६॥
निर्वाससां तु धर्मेण मोक्षं प्राप्नोति मानवः । अनौपम्यमनाबाधं सुखं यत्रान्तवर्जितम् ॥२९७॥
स्वर्गगास्तु पुनश्च्युत्वा प्राप्य दैगम्बरीं क्रियाम् । द्वित्रैर्भवैः प्रपद्यन्ते प्रकृष्टाः परमं पदम् ॥२९८॥
काकतालीययोगेन प्राप्ता अपि सुरालयम् । कुयोनिषु पुनः पापा भ्रमन्त्येव कुतीर्थिनः ॥२९९॥
जैनमेवोत्तमं वाक्यं जैनमेवोत्तमं तपः । जैन एव परो धर्मो जैनमेव परं मतम् ॥३००॥
नगरं व्रजतः पुंसो वृक्षमूलादिसंगमः । नान्तरीयकतामेति यथा खेदनिवारणः[1] ॥३०१॥
प्रस्थितस्य तथा मोक्षं जिनशासनवर्त्मना । देवविद्याधरादिश्रीरनुषङ्गेण जायते ॥३०२॥
विबुधेन्द्रादिभोगानां हेतुत्वं यत्प्रपद्यते । जिनधर्मो[2] न तच्चित्रं ते ह्यस्मात् सुकृतादपि ॥३०३॥
विपरीतं यदेतस्माद् गृहिश्रमणधर्मतः । चरितं तस्य संज्ञानमधर्म[3] इति कीर्तितम् ॥३०४॥
भ्रमन्ति येन तिर्यक्षु नानादुःखप्रदायिषु । वाहनात्ताडनाच्छेदाद्भेदाच्छीतोष्णसंगमात् ॥३०५॥
नित्यान्धकारयुक्तेषु नरकेषु च भूरिषु । तुषारपवनाघातकृतकम्पेषु केषुचित् ॥३०६॥
स्फुरत्स्फुलिङ्गरौद्राग्निज्वालालीढेषु केषुचित् । नानाकारमहारावयन्त्रव्याप्तेषु केषुचित् ॥३०७॥
सिंहव्याघ्रवृकश्येनगृध्ररुद्धेषु केषुचित् । चक्रक्रकचकुन्तासिमोचिवृक्षेषु केषुचित् ॥३०८॥

महासुखदायी त्रिलोकका शिखर अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है उस धर्मका और दूसरा कौन उत्कृष्ट गुण कहा जावे ? अर्थात् धर्मका सर्वोपरि गुण यही है कि उससे मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥२९५॥ गृहस्थ धर्मके द्वारा यह मनुष्य स्वर्गमें देवीसमूहके मध्यमें स्थित हो संकल्प मात्रसे प्राप्त उत्तमोत्तम भोगोंको भोगता है और मुनि धर्मके द्वारा उस मोक्षको प्राप्त होता है जहाँ कि इसे अनुपम, निर्बाध तथा अनन्त सुख मिलता है ॥२९६–२९७॥ स्वर्गगामी उत्कृष्ट मनुष्य स्वर्गसे च्युत होकर पुनः मुनिदीक्षा धारण करते हैं और दो तीन भवोंमें ही परम पद—मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥२९८॥ परन्तु जो पापी-मिथ्यादृष्टि जीव हैं वे काकतालीयन्यायसे यद्यपि स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं तो भी वहाँसे च्युत हो कुयोनियोंमें ही भ्रमण करते रहते हैं ॥२९९॥ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कथित वाक्य अर्थात् शास्त्र ही उत्तम वाक्य हैं, जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा निरूपित तप ही उत्तम तप है, जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्रोक्त धर्म ही परम धर्म है और जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदिष्ट मत ही परम मत है ॥३००॥ जिस प्रकार नगरकी ओर जानेवाले पुरुषको खेद निवारण करनेवाला जो वृक्षमूल आदिका संगम प्राप्त होता है वह अनायास ही प्राप्त होता है उसी प्रकार जिन शासन रूपी मार्गसे मोक्षकी ओर प्रस्थान करनेवाले पुरुषको जो देव तथा विद्याधर आदिकी लक्ष्मी प्राप्त होती है वह अनुषङ्गसे ही प्राप्त होती है—उसके लिए मनुष्यको प्रयत्न नहीं करना पड़ता है ॥३०१–३०२॥ 'जिनधर्म, इन्द्र आदिके भोगोंका कारण होता है' इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि इन्द्र आदिके भोग तो साधारण पुण्य मात्रसे भी प्राप्त हो जाते हैं ॥३०३॥ इस गृहस्थ और मुनिधर्मके विपरीत जो भी आचरण अथवा ज्ञान है वह अधर्म कहलाता है ॥३०४॥ इस अधर्मके कारण यह जीव वाहन, ताडन, छेदन, भेदन तथा शीत उष्णकी प्राप्ति आदि कारणोंसे नाना दुःख देनेवाले तिर्यञ्चोंमें भ्रमण करता है ॥३०५॥ इसी अधर्मके कारण यह जीव निरन्तर अन्धकारसे युक्त रहनेवाले अनेक नरकोंमें भ्रमण करता है। इन नरकोंमें कितने ही नरक तो ऐसे हैं जिनमें ठण्डी हवाके कारण निरन्तर शरीर काँपता रहता है। कितने ही ऐसे हैं जो निकलते हुए तिलगोंसे भयंकर दिखनेवाली अग्निकी ज्वालाओंसे व्याप्त हैं। कितने ही ऐसे हैं जो नाना प्रकारके महाशब्द करनेवाले यन्त्रोंसे व्याप्त हैं। कितने ही ऐसे हैं जो विक्रियानिर्मित सिंह, व्याघ्र, वृक, बाज तथा गीध आदि जीवोंसे भरे हुए हैं।

---

१. निवारिणः म०, क० । २. जिनधर्मान्न ख० । ३. संज्ञा न धर्म म० ।

विलीनत्रिपुसीसादिपानदायिषु केषुचित् । तीक्ष्णतुण्डस्फुरत्क्रूरमक्षिकादिषु केषुचित् ॥३०९॥
कृमिप्रकारसम्मिश्ररक्तपङ्केषु केषुचित् । परस्परसमुद्भूतबाधाहेतुषु केषुचित् ॥३१०॥
एवंविधेषु जीवानां सदा दुःखविधायिषु । दुःखं यन्नरकेषु स्यात् कः शक्तस्तत्प्रकीर्तितुम् ॥३११॥
यतो यथा पुरा भ्रान्तौ युवां दुःखासु योनिषु । तथा पर्यटनं भूयः प्राप्स्यतो धर्मवर्जितौ ॥३१२॥
इत्युक्ताभ्यां परिपृष्टस्ताभ्यां श्रमणसत्तमः । कथं कुयोनिषु भ्रान्तावावामिति मुने वद ॥३१३॥
जन्मान्तरं ततोऽवोचत्तयोः संयममण्डनः । मनो निधीयतां वत्साविन्युक्त्वा मधुरं वचः ॥३१४॥
पर्यटन्तौ युवामत्र संसारे दुःखदायिनि । परस्परस्य कुर्वाणौ वधं मोहपरायणौ ॥३१५॥
मानुष्यभवमायातौ कथंचित् कर्मयोगतः । अयं हि दुर्लभो लोके धर्मोपादानकारणम् ॥३१६॥
व्याधस्तयोरभूदेको विषये काशिनामनि । श्रावस्त्यामपरोऽमात्यपदे स्थैर्यमुपागतः ॥३१७॥
सुयशोदत्तनामासौ प्रव्रज्यामाश्रितः क्षितौ । चचार तपसा युक्तो महतात्यन्तरूपवान् ॥३१८॥
ततस्तं सुस्थितं देशे काश्यां प्राणविवर्जिते । पूजनार्थं समायाताः सम्यग्दृष्टिकुलाङ्गनाः ॥३१९॥
स्त्रीभिस्ततः परीतं तं व्याधोऽसौ वीक्ष्य योगिनम् । अतक्ष्णोद्वाग्भिरुग्राभिः शस्त्रैः कुर्वन् विभीतिकाम् ॥३२०॥
निर्लज्जो वस्त्रमुक्तोऽयं स्नानवर्जितविग्रहः । मृगयायां प्रवृत्तस्य जातो मेऽमङ्गलं महत् ॥३२१॥
वदत्येवं ततो व्याधे धनुर्भीषणकारिणि । मुनेः कलुषतां प्राप्तं ध्यानं दुःखेन संभृतम् ॥३२२॥
इति वाचिन्तयत् क्रोधान्मुष्टिघातेन पापिनम् । कणशश्चूर्णयाम्येनं व्याधं रूक्षवचोमुचम् ॥३२३॥

कितने ही ऐसे हैं जो चक्र, करोंत, भाला, तलवार आदिकी वर्षा करनेवाले वृक्षोंसे युक्त हैं। कितने ही ऐसे हैं जिनमें पिघलाया हुआ रांगा सीसा आदि पिलाया जाता है। कितने ही ऐसे हैं जिनमें तीक्ष्णमुखवाली दुष्ट मक्खियाँ आदि विद्यमान हैं। कितने ही ऐसे हैं जिनमें रक्तकी कीचमें कृमिके समान अनेक छोटे-छोटे जीव बिलबिलाते रहते हैं और कितने ही ऐसे हैं जिनमें परस्पर--एक दूसरेके द्वारा दुःखके कारण उत्पन्न होते रहते हैं ॥३०६–३१०॥ इस प्रकारके सदा दुखःदायी नरकोंमें जीवोंको जो दुःख प्राप्त होता है उसे कहनेके लिए कौन समर्थ है? ॥३११॥ जिस प्रकार तुम दोनोंने पहले दुःख देनेवाली अनेक कुयोनियोंमें भ्रमण किया था यदि अब भी तुम धर्मसे वञ्चित रहते हो तो पुनः अनेक कुयोनियोंमें भ्रमण करना पड़ेगा ॥३१२॥ मुनिराजके यह कहनेपर देव तथा विद्याधरने उससे पूछा कि हे भगवन्! हम दोनोंने किस कारण कुयोनियोंमें भ्रमण किया है? सो कहिए ॥३११–३१३॥

तदनन्तर—'हे वत्सो! मन स्थिर करो' इस प्रकारके मधुर वचन कहकर संयमरूपी आभूषणसे विभूषित मुनिराज उन दोनोंके भवान्तर कहने लगे ॥३१४॥ इस दुःखदायी संसारमें मोहसे उन्मत्त हो तुम दोनों एक दूसरेका वध करते हुए चिरकाल तक भ्रमण करते रहे ॥३१५॥ तदनन्तर किसी प्रकार कर्मयोगसे मनुष्य भवको प्राप्त हुए। निश्चयसे संसारमें धर्मप्राप्तिका कारणभूत मनुष्यभवका मिलना अत्यन्त कठिन है ॥३१६॥ उनमेंसे एक तो काशी देशमें श्रावस्ती नगरीमें राजाका सुयशोदत्तनामा मन्त्री हुआ। सुयशोदत्त अत्यन्त रूपवान् था, कारण पाकर उसने दीक्षा ले ली और महातपश्चरणसे युक्त हो पृथ्वीपर विहार करने लगा ॥३१८॥ विहार करते हुए सुयशोदत्तमुनि काशी देशमें आकर किसी निर्जन्तु स्थानमें विराजमान हो गये। उनकी पूजाके लिए अनेक सम्यग्दृष्टि स्त्रियाँ आई थीं सो पापी व्याध, स्त्रियोंसे घिरे उन मुनिको देख तीक्ष्ण वचनरूपी शस्त्रोंसे भय उत्पन्न करता हुआ बेधने लगा ॥३१९–३२०॥ यह निर्लज्ज नग्न, तथा स्नानरहित मलिन शरीरका धारक, शिकारके लिए प्रवृत्त हुए मुझको महा अमङ्गलरूप हुआ है ॥३२१॥ धनुषसे भय उत्पन्न करनेवाला व्याध जब उक्त प्रकारके वचन कह रहा था तब दुःखके कारण मुनिका ध्यान कुछ कलुषताको प्राप्त हो गया ॥३२२॥ क्रोधवश वे विचारने लगे कि रूक्ष वचन कहनेवाले इस पापी व्याधको मैं एक मुट्ठीके प्रहारसे कण-कणकर चूर्ण कर डालता

ततः कापिष्ठगामनं मुनिना यदुपार्जितम् । तदस्य क्रोधसंभारात् क्षणाद्[1] भ्रंशमुपागतम् ॥३२४॥
ततोऽसौ कालधर्मेण युक्तो ज्योतिःसुरोऽभवत् । ततः प्रच्युत्य जातस्त्वं विद्युत्केशो नभश्चरः ॥३२५॥
व्याधोऽपि सुचिरं भ्रान्त्वा भवद्रुममहावने । लङ्कायां प्रमदोद्याने शाखामृगगतिं गतः ॥३२६॥
ततोऽसौ निहतः स्त्र्यर्थं त्वया बाणेन चापलात् । प्राप्य पञ्चनमस्कारं जातोऽयं सागरामरः ॥३२७॥
एवं ज्ञात्वा पुनर्वैरं मुञ्चतं देवखेचरौ । मा भूद् भूयोऽपि संसारे भवतोः परिहिण्डनम् ॥३२८॥
[2]वाञ्छतं नरमात्रेण शक्यं यन्न प्रशंसितुम् । सिद्धानां तत्सुखं भद्रौ भद्राचारपरायणौ ॥३२९॥
नमतं प्रणतं देवैराखण्डलपुरस्सरैः । भक्त्या परमया युक्तौ मुनिसुव्रतमीश्वरम् ॥३३०॥
शरणं प्राप्य तं नाथं निष्ठितात्मप्रतिक्रियम् । परकृत्यसमुद्युक्तं प्राप्स्यथः परमं सुखम् ॥३३१॥
ततो मुनिमुखादित्यान्निर्गतेन वचोंऽशुना । परं प्रबोधमानीतस्तडित्केशः सरोजवत् ॥३३२॥
सुकेशसंज्ञके पुत्रे संक्रमय्य निजं पदम् । शिष्यतामगमद्धीरो[3] मुनेरम्बरचारिणः ॥३३३॥
सम्यग्दर्शनसंज्ञानसच्चारित्रत्रयं ततः । समाराध्यगतः कालं बभूवामरसत्तमः ॥३३४॥
ततः किष्कुपुरस्वामी महोदधिरवाभिधः । कान्ताभिः सहितस्तिष्ठन् विद्युल्लदशदीप्तिभिः ॥३३५॥
चन्द्रपादाश्रये रम्ये महाप्रासादमूर्द्धनि । चारुगोष्ठीसुधास्वादं विन्दन् देवेन्द्रवत्सुखम् ॥३३६॥
वेगेन महतागत्य धवलाम्बरधारिणा । खेचरेणाग्रतो भूत्वा कृत्वा प्रणतिमादरात् ॥३३७॥
निवेदितस्तडित्केशः प्रव्रज्यां कारणान्विताम् । प्राप्य भोगेषु निर्वेदं दीक्षणे मतिमादधे ॥३३८॥

हूँ ॥३२३॥ मुनिने तपश्चरणके प्रभावसे कापिष्ठ स्वर्गमें जाने योग्य जो पुण्य उपार्जन किया था वह क्रोधके कारण क्षणभरमें नष्ट हो गया ॥३२४॥ तदनन्तर कुछ समताभावसे मरकर वह ज्योतिषीदेव हुआ। वहाँसे आकर तू विद्युत्केश नामक विद्याधर हुआ है ॥३२५॥ और व्याधका जीव चिरकाल तक संसाररूपी अटवीमें भ्रमणकर लङ्काके प्रमदवनमें वानर हुआ ॥३२६॥ सो चपलता करनेके कारण स्त्रीके निमित्त तूने इसे वाणसे मारा। वही अन्तमें पञ्चनमस्कार मन्त्र प्राप्तकर महोदधि नामका देव हुआ है ॥३२७॥ ऐसा विचारकर हे देव विद्याधरो ! तुम दोनों अब अपना वैर-भाव छोड़ दो जिससे फिर भी संसारमें भ्रमण नहीं करना पड़े ॥३२८॥ हे भद्र-पुरुषो ! तुम भद्र आचरण करनेमें तत्पर हो इसलिए सिद्धोंके उस सुखकी अभिलाषा करो जिसकी मनुष्यमात्र प्रशंसा नहीं कर सकता ॥३२९॥ इन्द्र आदि देव जिन्हें नमस्कार करते हैं ऐसे मुनिसुव्रत भगवान्‌को परमभक्तिसे युक्त हो नमस्कार करो ॥३३०॥ वे भगवान् आत्महितका कार्य पूर्ण कर चुके हैं। अब परहितकारी कार्य करनेमें हो संलग्न हैं सो तुम दोनों उनकी शरणमें जाकर परम सुखको प्राप्त करोगे ॥३३१॥

तदनन्तर मुनिराजके मुखरूपी सूर्यसे निर्गत वचनरूपी किरणोंसे विद्युत्केश कमलके समान परम प्रबोधको प्राप्त हुआ ॥३३२॥ फलस्वरूप वह धीर वीर, सुकेश नामक पुत्रके लिए अपना पद सौंप कर चारण ऋद्धि धारी मुनिराजका शिष्य हो गया अर्थात् उनके समीप उसने दीक्षा धारण कर ली ॥३३३॥ तदनन्तर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी आराधना कर वह अन्तमें समाधिके प्रभावसे उत्तम देव हुआ ॥३३४॥

इधर किष्कपुरका स्वामी महोदधि, बिजलीके समान कान्तिको धारण करने वाली स्त्रियोंके साथ, जिस पर चन्द्रमाकी किरणें पड़ रहीं थीं ऐसे महामनोहर उत्तुङ्ग भवनके शिखरपर सुन्दर गोष्ठी रूपी अमृतका स्वाद लेता हुआ इन्द्रके समान सुखसे बैठा था ॥३३५–३३६॥ कि उसी समय शुक्ल वस्त्रको धारण करने वाले एक विद्याधरने बड़े वेगसे आकर तथा सामने खड़े होकर आदर पूर्वक प्रणाम किया और तदनन्तर विद्युत्केश विद्याधरके दीक्षा लेनेका समाचार कहा ! समाचार सुनते ही महोदधिने भोगोंसे विरक्त होकर दीक्षा लेनेका विचार किया ॥३३७–३३८॥

१. क्षणाद्भस्ममुपागतम् म० । २. वांछितं ख० । ३. -द्वीरो म० ।

प्रव्रजामीति चानेन गदितेऽन्तःपुरान्महान्। उदतिष्ठद् गृहान्तेषु विलापः प्रतिनादवान् ॥३३९॥
तन्त्रीवंशादिसम्मिश्रमृदङ्गध्वनितोपमः। प्रविलापः सुनारीणां मुनेरप्यहरन्मनः ॥३४०॥
तवार्पितः परप्रीत्या तडित्केशेन बालकः। सुकेशो नवराज्यस्थः पालनीयः सुतोऽधुना ॥३४१॥
इति विज्ञाप्यमानोऽपि युवराजेन सादरम्। [1]नेत्राम्भेयजलस्थूलधारावर्षविधायिना ॥३४२॥
निष्कण्टकमिदं राज्यं भुङ्क्ष्व तावन्महागुणम्। पुरन्दर इवोदारैर्भोगैर्मानय यौवनम् ॥३४३॥
एवं संचोद्यमानोऽपि मन्त्रिभिर्दूनमानसैः। बहुभेदान्युदाहृत्य शास्त्राणि नयकोविदैः ॥३४४॥
अनाथान्नाथ नः कृत्वा त्वन्मनःस्थितमानसान्। विहाय प्रस्थितः क्वासि लता इव महातरुः ॥३४५॥
इति प्रसाद्यमानोऽपि चरणानतमूर्द्धभिः। [2]गुणोद्यत्प्रियकारीभिर्नारीभिः स्रवदश्रुभिः ॥३४६॥
गुणैर्नाथ तवोदारैर्बद्धां कालं चिरं सतीम्। प्रतिभज्य महालक्ष्मीं योजितां ललितां सदा ॥३४७॥
व्रजसि क्वेति सामन्तैर्गण्डान्तैरश्रुधारिभिः। समं विज्ञाप्यमानोऽपि नृपाटोपविवर्जितैः ॥३४८॥
छित्त्वा स्नेहमयान् पाशान् त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहम्। प्रतिचन्द्राभिधानाय दत्त्वा पुत्राय सम्पदम् ॥३४९॥
विग्रहेऽपि निरासङ्गो जग्राहोग्रां समग्रधीः। धीरो दैगम्बरीं लक्ष्मीं क्ष्मातलस्थिरचन्द्रमाः ॥३५०॥
ततो ध्यानगजारूढस्तपस्तीक्ष्णपतत्रिणा। शिरश्छित्त्वा भवारातेः प्रविष्टः सिद्धकाननम् ॥३५१॥
प्रतीन्दुरपि पुत्राय किष्किन्धाय ददौ श्रियम्। यौवराज्यं कनिष्ठाय तस्मै चान्ध्रकरूढये ॥३५२॥

महोदधिके यह कहते ही कि मैं दीक्षा लेता हूँ अन्तःपुरसे विलापका बहुत भारी शब्द उठ खड़ा हुआ। उस विलापको प्रतिध्वनि समस्त महलोंमें गूँजने लगी ॥३३९॥ वीणा बाँसुरी आदिके शब्दोंसे मिश्रित मृदङ्ग ध्वनिकी तुलना करनेवाला स्त्रियोंका वह विलाप साधारण मनुष्यकी बात जाने दो मुनिके भी चित्तको हर रहा था अर्थात् करुणासे द्रवीभूत कर रहा था ॥३४०॥ उसी समय युवराज भी वहाँ आ गया। वह नेत्रोंमें नहीं समाने वाले जलकी बड़ी मोटी धाराको बरसाता हुआ आदरपूर्वक बोला कि विद्युत्केश अपने पुत्र सुकेशको परमप्रीतिके कारण आपके लिए सौंप गया है। वह नवीन राज्य पर आरूढ़ हुआ है इसलिए आपके द्वारा रक्षा करने योग्य है ॥३४१–३४२॥ जिनका हृदय दुखी हो रहा था ऐसे नीतिनिपुण मन्त्रियोंने भी अनेक शास्त्रोंके उदाहरण देकर प्रेरणा की कि इस महावैभवशाली निष्कण्टक राज्यका इन्द्रके समान उपभोग करो और उत्कृष्ट भोगोंसे यौवनको सफल करो ॥३४३–३४४॥ जिनके मस्तक चरणोंमें नम्रीभूत थे, जो अपने गुणोंके द्वारा उत्कट प्रेम प्रकट कर रही थीं तथा जिनकी आँखोंसे आँसू झर रहे थे ऐसी स्त्रियोंने भी यह कह कर उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया कि हे नाथ! जिनके हृदय आपके हृदयमें स्थित हैं ऐसी हम सबको अनाथ बनाकर लताओंको छोड़ वृक्षके समान आप कहाँ जा रहे हैं? ॥३४५–३४६॥ हे नाथ! यह मनोहर राज्यलक्ष्मी पतिव्रता स्त्रीके समान चिर कालसे आपके उत्कृष्ट गुणोंसे बद्ध है—आपमें आरक्त है इसे छोड़कर आप कहाँ जा रहे हैं? और जिनके कपोलोंपर अश्रु बह रहे थे ऐसे सामन्तोंने भी राजकीय आडम्बरसे रहित हो एक साथ प्रार्थना की पर सब मिलकर भी उसके मानसको नहीं बदल सके ॥३४७–३४८॥ अन्तमें उसने स्नेहरूपी पाशको छेदकर तथा समस्त परिग्रहका त्यागकर प्रतिचन्द्र नामक पुत्रके लिए राज्य सौंप दिया और शरीरमें भी निःस्पृह होकर कठिन दैगम्बरी लक्ष्मी—मुनिदीक्षा धारण कर ली। वह पूर्ण बुद्धिको धारण करनेवाला अतिशय गम्भीर था और अपनी सौम्यताके कारण ऐसा जान पड़ता था मानो पृथिवी तलपर स्थिर रहनेवाला चन्द्रमा ही हो ॥३४९–३५०॥ तदनन्तर ध्यानरूपी हाथीपर बैठे हुए मुनिराज महोदधि तपरूपी तीक्ष्ण बाणसे संसार रूपी शत्रुका शिर छेदकर सिद्धवन अर्थात् मोक्षमें प्रविष्ट हुए ॥३५१॥ तदनन्तर प्रतिचन्द्र भी अपने ज्येष्ठ पुत्र किष्किन्धके लिए राज्यलक्ष्मी और अन्ध्रक-

१. नेत्रमेघ म०। २. गुणौघप्रिय म०।

अन्येद्युः प्रतिपन्नश्च जैनमार्गं निरम्बरम् । सिद्धैरासेवितं स्थानं गतश्चामलयोगतः ॥३५३॥
ततस्तावुद्यतौ कृत्यं भ्रातरौ भुवि चक्रतुः । अन्योन्याक्रान्ततेजस्कौ सूर्याचन्द्रमसाविव ॥३५४॥
अत्रान्तरे नभोगानां पर्वते दक्षिणस्थितौ[1] । रथनूपुरनामास्ति पुरं सुरपुराकृति[2] ॥३५५॥
आसीत्तत्रोभयोः श्रेण्योः स्वामी भूरिपराक्रमः । दधावशनिवेगाख्यां यः शत्रुत्रासकारिणीम् ॥३५६॥
पुत्रो विजयसिंहोऽस्य[3] नाम्नाऽऽदित्यपुरं परम् । वाञ्छन् रूपावलेपेन प्रयातोऽथ स्वयंवरम् ॥३५७॥
विद्यामन्दरसंज्ञस्य सुतामम्बरचारिणः । वेगवत्यां समुत्पन्नां कान्तिदिग्धनभस्तलाम् ॥३५८॥
अथासौ यौवनप्राप्तां वीक्ष्य पुत्रीं मनोहराम् । स्वजनानुमतो मोहात् स्वयंवरमरीरचत् ॥३५९॥
अपरेऽपि खगाः सर्वे विमानैर्मणिशालिभिः । पूरयन्तो नभः शीघ्रं गता भूषितविग्रहाः ॥३६०॥
ततो मञ्चेषु रम्येषु रत्नस्तम्भघृतात्मसु । तुङ्गासनसमृद्धेषु स्फुरन्मणिमरीचिषु ॥३६१॥
मितेन परिवारेण युक्ता देहोपयोगिना । उपविष्टा यथास्थानं प्रधाना व्योमचारिणः ॥३६२॥
श्रीमालायां ततस्तेषां सर्वेषां व्योमचारिणाम् । मध्यस्थायां समं पेतुर्दृष्टीन्दीवरपङ्क्तयः[4] ॥३६३॥
अथ स्वयंवराशानां प्रवृत्ता व्योमचारिणाम् । मदनाश्लिष्टचित्तानामिति सुन्दरविभ्रमाः ॥३६४॥
निष्कम्पमपि मूर्द्धस्थं मुकुटं कश्चिदुन्नतम् । अकरोत् किल निष्कम्पं रत्नांशुच्छन्नपाणिना ॥३६५॥
कश्चित् कूर्परमाधाय कटिपार्श्वे लजृम्भणः । चक्र देहस्य वलनं स्फुटत्सन्धिकृतस्वनम् ॥३६६॥
प्रदेशेऽपि स्थितां कश्चिदुज्ज्वलामसिपुत्रिकाम् । असारयत् कराग्रेण कटाक्षकृतवीक्षणाम् ॥३६७॥

रूढि नामक छोटे पुत्रके लिए युवराज पद देकर निर्ग्रन्थ दीक्षाको प्राप्त हुआ और निर्मल ध्यानके प्रभावसे सिद्धालयमें प्रविष्ट हो गया अर्थात् मोक्ष चला गया ॥३५२-३५३॥

तदनन्तर—जिनका तेज एक दूसरेमें आक्रान्त हो रहा था ऐसे सूर्य चन्द्रमाके समान तेजस्वी दोनों भाई किष्किन्ध और अन्ध्रकरूढि पृथिवी पर अपना कार्यभार फैलानेको उद्यत हुए ॥३५४॥ इसी समय विजयार्धपर्वतकी दक्षिणश्रेणीमें इन्द्रके समान रथनूपुर नामका नगर था। ॥३५५॥ उसमें दोनों श्रेणियोंका स्वामी महापराक्रमी तथा शत्रुओंको भय उत्पन्न करनेवाला राजा अशनिवेग रहता था ॥३५३॥ अशनिवेगका पुत्र विजयसिंह था। आदित्यपुरके राजा विद्यामन्दर विद्याधरकी वेगवती रानीसे समुत्पन्न एक श्रीमाला नामकी पुत्री थी। वह इतनी सुन्दरी थी कि अपनी कान्तिसे आकाशतलको लिप्त करती थी। विद्यामन्दरने पुत्रीको यौवनवती देख आत्मीयजनोंकी अनुमतिसे स्वयंवर रचवाया। अशनिवेगका पुत्र विजयसिंह श्रीमालाको चाहता था इसलिए रूपके गर्वसे प्रेरित हो स्वयंवरमें गया ॥३५७-४५६॥ जिनके शरीर भूषित थे ऐसे अन्य समस्त विद्याधर भी मणियोंसे सुशोभित विमानोंके द्वारा आकाशको भरते हुए स्वयंवरमें पहुँचे ॥३६०॥ तदनन्तर जो रत्नमय खम्भोंपर खड़े थे, ऊँचे-ऊँचे सिंहासनोंसे युक्त थे तथा जिनमें खचित मणियोंकी किरणें फैल रही थीं ऐसे मनोहर मञ्चोंपर प्रमुख-प्रमुख विद्याधर यथास्थान आरूढ हुए। उन विद्याधरोंके साथ उनकी शरीर-रक्षाके लिए उपयोगी परिमित परिवार भी था ॥३६१-३६२॥ तदनन्तर मध्यमें विराजमान श्रीमाला पुत्रीपर सब विद्याधरोंके नेत्ररूपी नीलकमल एक साथ पड़े ॥३६३॥ तदनन्तर जिनकी आशा स्वयंवरमें लग रही थी और जिनका चित्त कामसे आलिङ्गित था ऐसे विद्याधरोंमें निम्नाङ्कित सुन्दर चेष्टाएँ प्रकट हुईं ॥३६४॥ किसी विद्याधरके मस्तकपर स्थित उन्नत मुकुट, यद्यपि निश्चल था तो भी वह उसे रत्नोंकी किरणोंसे आच्छादित हाथके द्वारा निश्चल कर रहा था ॥३६५॥ कोई विद्याधर कोहनी कमरके पास रख जमुहाई लेता हुआ शरीरको मोड़ रहा था—अँगड़ाई ले रहा था। उसकी इस क्रियासे शरीरके सन्धि स्थान चटककर शब्द कर रहे थे ॥३६६॥ कोई विद्याधर

१. दक्षिणे स्थितौ म० । २. कृतिः म०, ख० । ३. सिंहश्च म० । ४. दृष्टेन्दुवर म० ।

पार्श्वगे पुरुषे कश्चिच्चलयत्येव चामरम् । सलीलमंशुकान्तेन चक्रे वीजनमानने ॥३६८॥
सव्येन वक्त्रमाच्छाद्य कश्चिदुत्तलपाणिना । संकोच्य दक्षिणं बाहुं व्याक्षिपद् बद्धमुष्टिकम् ॥३६९॥
पादासनस्थितं कश्चिदुद्यम्य चरणं शनैः । वामोरुफलके चक्रे दक्षिणं रतिदक्षिणः ॥३७०॥
पादाङ्गुष्ठेन कश्चिच्च नेत्रान्तेक्षितकन्यकः । कृत्वा पाणितले गण्डं लिलेख चरणासनम् ॥३७१॥
गाढमप्यपरो बद्धमुन्मुच्य कटिसूत्रकम् । बबन्ध शनकैर्भूयः शेषाणमपि चक्रकम् ॥३७२॥
स्फुटदन्योऽन्यसंदष्ट[1]प्रोत्तानविकराङ्गुलिः । वक्षः कश्चित्समुद्यम्य बहुतोरणमू[2]र्दूर्ध्वयन् ॥३७३॥
पार्श्वस्थस्यापरो हस्तं सख्युरास्फाल्य सस्मितम् । कथां चक्रे विना हेतोः कन्याक्षिप्तचलेक्षणः ॥३७४॥
कृतचन्दनचर्चोऽन्यः कुङ्कुमस्थासकाचिते । चक्षुर्वक्षसि चिक्षेप विशाले कृतहस्तके ॥३७५॥
कश्चित्कुन्तलभालस्थां गृहीत्वा केशवल्लरीम् । कुटिलामपि वामायां प्रदेशिन्यामयोजयत् ॥३७६॥
अधरं कश्चिदाकृष्य वामहस्तेन मन्थरम् । स्वच्छताम्बूलसच्छायमैक्षिष्ट भ्रुवमुन्नयन् ॥३७७॥
अपरोऽभ्रमयत् पद्मं बद्धभ्रमरमण्डलम् । सव्येतरेण हस्तेन विसर्पन् कर्णिकारजः ॥३७८॥
वीणाभिर्वेणुभिः शङ्खैर्मृदङ्गैर्झल्लरैस्तथा । जनितोऽथ महानादः काहलानक[3]मर्दकैः ॥३७९॥
मङ्गलानि प्रयुक्तानि वन्दिभिर्व[4]द्धवृन्दकैः । महापुरुषचेष्टाभिर्निबद्धानि प्रमोदिभिः ॥३८०॥
महानादस्य तस्यान्ते धात्री नाम्ना सुमङ्गला । वामेतरकरोपात्तहेमवेत्रलता ततः ॥३८१॥

बगलमें रक्खी हुई देदीप्यमान छुरीको हाथके अग्रभागसे चला रहा था तथा बार-बार उसकी ओर कटाक्षसे देखता था ॥३६७॥ यद्यपि पासमें खड़ा पुरुष चमर ढौर रहा था तो भी कोई विद्याधर वस्त्रके अञ्चलसे लीलापूर्वक मुखके ऊपर हवा कर रहा था ॥३६८॥ कोई एक विद्याधर, जिसकी हथेली ऊपरकी ओर थी ऐसे बाँयें हाथसे मुँह ढँककर, जिसकी मुट्ठी बँधी थी ऐसी दाहिनी भुजाको संकुचित कर फैला रहा था ॥३६९॥ कोई एक रतिकुशल विद्याधर, पादासनपर रखे दाहिने पाँवको उठाकर धीरेसे बाँई जाँघपर रख रहा था ॥३७०॥ कन्याकी ओर कटाक्ष चलाता हुआ कोई एक युवा हथेलीपर कपोल रखकर पैरके अंगूठेसे पादासनको कुरेद रहा था ॥३७१॥ जिसमें लगा हुआ मणियोंका समूह शेषनागके समान जान पड़ता था ऐसे कसकर बँधे हुए कटिसूत्रको खोलकर कोई युवा उसे फिरसे धीरे-धीरे बांध रहा था ॥३७२॥ कोई एक युवा दोनों हाथोंकी चटचटाती अंगुलियोंको एक दूसरेमें फँसाकर ऊपरकी ओर कर रहा था तथा सीना फुलाकर भुजाओंका तोरण खड़ा कर रहा था ॥३७३॥ जिसकी चञ्चल आँखें कन्याकी ओर पड़ रही थीं ऐसा कोई एक युवा बगलमें बैठे हुए मित्रका हाथ अपने हाथमें ले मुसकराता हुआ निष्प्रयोजन कथा कर रहा था—गप-शप लड़ा रहा था ॥३७४॥ कोई एक युवा, जिसपर चन्दनका लेप लगानेके बाद केशरका तिलक लगाया गया था तथा जिसपर हाथ रक्खा था ऐसे विशाल वक्षस्थलपर दृष्टि डाल रहा था ॥३७५॥ कोई एक विद्याधर ललाटपर लटकते हुए घुँघराले बालोंको बाँयें हाथकी प्रदेशिनी अङ्गुलीमें फँसा रहा था ॥३७६॥ कोई एक युवा स्वच्छ ताम्बूल खानेसे लाल-लाल दिखनेवाले ओठको धीरे-धीरे बाँयें हाथसे खींचकर भौंह ऊपर उठाता हुआ देख रहा था ॥३७७॥ और कोई एक युवा कर्णिकाकी परागको फैलाता हुआ दाहिने हाथसे जिसपर भौंरे मँडरा रहे थे ऐसा कमल घुमा रहा था ॥३७८॥ उस समय स्वयंवर मण्डपमें वीणा, बाँसुरी, शङ्ख, मृदङ्ग, झालर, काहल, भेरी और मर्दक नामक बाजोंसे उत्पन्न महाशब्द हो रहा था ॥३७९॥ महापुरुषोंकी चेष्टाएँ देख जो मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे तथा जिन्होंने अलग-अलग अपने झुण्ड बना रक्खे थे ऐसे बन्दीजनोंके द्वारा मङ्गल पाठका उच्चारण हो रहा था ॥३८०॥ तदनन्तर महाशब्दके शान्त होनेके बाद दाहिने हाथमें स्वर्णमय

---

१. संदष्टः । २. मूर्द्धनि ख० । ३. मण्डलैः म०, मुड्डुकैः क० । ४ वृद्ध-म० ।

जगाद वचनं कन्यां विनयादानताननाम् । प्राप्तकल्पलताकारां मणिहेमविभूषणैः ॥३८२॥
सख्यं संन्यस्तविस्रंसिमृदुपाणिसरोरुहाम् । ऊर्ध्वस्थिता स्थितामूर्ध्वं मकरध्वजवर्णिनीम् ॥३८३॥
नभस्तिलकनाम्नोऽयं नगरस्य पतिः सुते । उत्पन्नो विमलायां च चन्द्रकुण्डलभूपतेः ॥३८४॥
मार्तण्डकुण्डलो नाम्ना मार्तण्डविजयी रुचा । प्रकाण्डतां परां प्राप्तो मण्डलाद्यो गुणात्मकः ॥३८५॥
गुणचिन्ताप्रवृत्तासु गोष्ठीष्वस्यादितो बुधाः । नाम गृह्णन्ति रोमाञ्चकण्टकव्याप्तविग्रहाः ॥३८६॥
साकमेतेन रन्तुं चेदस्ति ते मनसः स्पृहा । वृणीष्वैनं ततो दृष्टसमस्तग्रन्थगर्भकम् ॥३८७॥
ततस्तं यौवनादीषत्प्रच्युतं खेचराधिपम् । आननानतिमात्रेण प्रत्याख्यातवती शुभा ॥३८८॥
भूयोऽवदत्ततो धात्री तनये यच्छ लोचने । पुरुषाणामधीशेऽस्मिन् कान्तिर्दीप्तिविभूतिभिः ॥३८९॥
अयं रत्नपुराधीशो लक्ष्मीविद्याङ्कयोः सुतः । नाम्ना विद्यासमुद्घातो बहुविद्याधराधिपः ॥३९०॥
अस्य नाम्नि गते कर्णजाहं वीरप्रवर्तने[1] । शत्रवो गृह्णते वायुधूताश्वत्थदलस्थितम्[2][3] ॥३९१॥
अस्य वक्षसि विस्तीर्णे कृतहारोपधानके । कुनृपभ्रान्तिभिः खिन्ना लक्ष्मीविश्रान्तमागता ॥३९२॥
अस्याङ्के यदि ते प्रीतिः स्थातुमस्ति मनोहरे । गृहाणैनं तडिन्माला युज्यतां मन्दराद्रिणा ॥३९३॥
ततः प्रत्याचचक्षे तं चक्षुषैवर्जुदर्शनात् । वाञ्छिते हि वरत्वेन दृष्टिश्चञ्चलतां व्रजेत् ॥३९४॥
ततोऽसौ तदभिप्रायवेदिनी तां सुमङ्गला । अपरं दर्शनं[4] नित्ये नरेशमिति चावदत् ॥३९५॥

छड़ीको धारण करनेवाली सुमङ्गला धाय कन्यासे निम्न वचन बोली । उस समय कन्याका मुख विनयसे अवनत था तथा मणिमयी आभूषणोंसे वह कल्पलताके समान जान पड़ती थी ॥३८१-३८२॥ वह अपना कोमल हस्त कमल यद्यपि सखीके कन्धेपर रक्खी थी तो भी वह नीचेकी ओर खिसक रहा था । वह पालकीपर सवार थी और कामको प्रकट करनेवाली थी ॥३८३॥ आगत राजकुमारोंका परिचय देती हुई सुमङ्गला धाय बोली कि हे पुत्रि ! यह नभस्तिलक नगरका राजा, चन्द्रकुण्डल भूपालकी विमला नामक रानीसे उत्पन्न हुआ है ॥३८४॥ मार्तण्डकुण्डल इसका नाम है, अपनी कान्तिसे सूर्यको जीत रहा है, सन्धि विग्रह आदि गुणोंसे युक्त है तथा इन्हीं सब कारणोंसे यह अपने मण्डलमें परम प्रमुखताको प्राप्त हुआ है ॥३८५॥ जब गोष्ठियोंमें राजाओंके गुणोंकी चर्चा शुरू होती है तब विद्वज्जन सबसे पहले इसीका नाम लेते हैं और हर्षातिरेकके कारण उस समय विद्वज्जनोंके शरीर रोमाञ्चरूपी कण्टकोंसे व्याप्त हो जाते हैं ॥३८६॥ हे पुत्रि ! यदि इसके साथ रमण करनेकी तेरे मनकी इच्छा है तो जिसने समस्त शास्त्रोंका सार देखा है ऐसे इस मार्तण्डकुण्डलको स्वीकृत कर ॥३८७॥ तदनन्तर जिसका यौवन कुछ ढल चुका था ऐसे विद्याधरोंके राजा मार्तण्डकुण्डलका श्रीमालाने मुख नीचा करने मात्रसे ही निराकरण कर दिया ॥३८८॥ तदनन्तर सुमङ्गला धाय बोली कि हे पुत्रि ! कान्ति, दीप्ति और विभूतिके द्वारा जो समस्त पुरुषोंका अधीश्वर है ऐसे इस राजकुमारपर अपनी दृष्टि डालो ॥३८९॥ यह रत्नपुरका स्वामी है, राजा विद्याङ्क और रानी लक्ष्मीका पुत्र है विद्यासमुद्घात इसका नाम है तथा समस्त विद्याधरोंका स्वामी है ॥३९०॥ वीरोंमें हलचल मचानेवाला इसका नाम सुनते ही शत्रु, भयसे वायुके द्वारा कम्पित पीपलके पत्तेकी दशाको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीपलके पत्तेके समान काँपने लगते हैं ॥३९१॥ अनेक क्षुद्र राजाओंके पास भ्रमण करनेसे जो थक गई थी ऐसी लक्ष्मी, हाररूपी तकियासे सुशोभित इसके विस्तृत वक्षःस्थलपर मानो विश्रामको प्राप्त हुई है ॥३९२॥ यदि इसकी गोदमें बैठनेकी तेरी अभिलाषा है तो इसे स्वीकार कर । बिजली सुमेरुपर्वतके साथ समागमको प्राप्त हो ॥३९३॥ श्रीमाला उसे अपने नेत्रोंसे सरलतापूर्वक देखती रही इसीसे उसका निराकरण हो गया सो ठीक ही है क्योंकि कन्या जिसे वररूपसे पसन्द करती है उसपर उसकी दृष्टि चञ्चल हो जाती है ॥३९४॥ तदनन्तर उसका अभिप्राय जाननेवाली सुमङ्गला उसे दूसरे

१. प्रकीर्तने म० । २. वात- म० । ३. स्थितम् ख० । ४. दर्शयन्ती न -रेश म० ।

वज्रायुधस्य पुत्रोऽयं वज्रशीलाङ्गसंभवः । वज्रपञ्जरनामानमधितिष्ठति पत्तनम् ॥३९६॥
अस्य बाहुद्वये लक्ष्मीर्दिनेशकरभासुरे । चञ्चलापि स्वभावेन संयतेवावतिष्ठते ॥३९७॥
सत्यमन्येऽपि विद्यन्ते नाममात्रेण खेचराः । तेषां खद्योततुल्यानामयं भास्करतां गतः ॥३९८॥
मानेन तुङ्गतामस्य प्राप्तस्य शिरसः पराम् । संप्राप्तं पुनरुत्कर्षं मुकुटं स्फुटरत्नकम् ॥३९९॥
[1]सुरूपे प्रतिपद्यस्व पतिं विद्याभृतामिमम् । विषयांश्चेत्समान् शच्या भोक्तुं धीस्तव विद्यते ॥४००॥
ततः खेचरभानुं तं दृष्ट्वा कन्या कुमुद्वती । संकोचं परमं याता धात्र्येति गदिता पुनः ॥४०१॥
चित्राम्बरस्य पुत्रोऽयं पद्मश्रीकुक्षिसंभवः । नित्यं चन्द्रपुराधीशो नाम्ना चन्द्राननो नृपः ॥४०२॥
पश्य वक्षोऽस्य विस्तीर्णं चारुचन्दनचर्चितम् । चन्द्ररश्मिपरिष्वक्तं कैलासतटसन्निभम् ॥४०३॥
उच्छलत्करभारोऽस्य हारो वक्षसि राजते । उत्सर्पत्सीकरो दूरं कैलास इव निर्झरः ॥४०४॥
नामाक्षरकरैरस्य मनः श्लिष्टमरेरपि । प्रयाति परमं ह्लादं दुःखतापविवर्जितम् ॥४०५॥
याति चेदिह ते चेतः प्रसादं सौम्यदर्शने । रजनीव शशाङ्केन लभस्वैतेन सङ्गमम् ॥४०६॥
ततस्तस्मिन्नपि प्रीतिं न मनोऽस्याः समागतम् । कमलिन्या यथा चन्द्रे नयनानन्दकारिणि ॥४०७॥
पुनराह ततो धात्री कन्ये पश्य पुरन्दरम् । अवतीर्णं महीमेतं भवतीसंगलालसम् ॥४०८॥
सुतोऽयं मेरुकान्तस्य श्रीरम्भागर्भसंभवः । स्वामी मन्दरकुञ्जस्य पुरस्याम्भोधरध्वनिः ॥४०९॥

राजाके पास ले जाकर बोली ॥३९५॥ कि यह राजा वज्रायुध और रानी वज्रशीलाका पुत्र *खेचरभानु वज्रपञ्जर नामक नगरमें रहता है ॥३९६॥* लक्ष्मी यद्यपि स्वभावसे चञ्चल है तो भी सूर्यकी किरणोंके समान देदीप्यमान इसकी दोनों भुजाओंपर बँधी हुई के समान सदा स्थिर रहती है ॥३९७॥ यह सच है कि नाममात्रके अन्य विद्याधर भी हैं परन्तु वे सब जुगनूके समान हैं और यह उनके बीच सूर्यके समान देदीप्यमान है ॥३९८॥ यद्यपि इसका मस्तक स्वाभाविक प्रमाणसे ही परम ऊँचाईको प्राप्त है फिर भी इसपर जो जगमगाते रत्नोंसे सुशोभित मुकुट बाँधा गया है सो केवल उत्कर्ष प्राप्त करनेके लिए ही बाँधा गया है ॥३९९॥ हे सुन्दरि ! यदि इन्द्राणीके समान समस्त भोग भोगनेकी तेरी इच्छा है तो इस विद्याधरोंके अधिपतिको स्वीकृत कर ॥४००॥ तदनन्तर उस खेचरभानु रूपी सूर्यको देखकर कन्या रूपी कुमुदिनी परम संकोचको प्राप्त हो गई । यह देख सुमङ्गला धायने कुछ आगे बढ़ कर कहा ॥४०१॥ कि यह राजा चित्राम्बर और रानी पद्मश्रीका पुत्र चन्द्रानन है, चन्द्रपुर नगरका स्वामी है । देखो सुन्दर चन्दनसे चर्चित इसका वक्षःस्थल कितना चौड़ा है ? यह चन्द्रमाकी किरणोंसे आलिङ्गित कैलास पर्वतके तटके समान कितना भला मालूम होता है ? ॥४०२-४०३॥ छलकती हुई किरणों से सुशोभित हार इसके वक्षःस्थल पर ऐसा सुशोभित हो रहा है जैसा कि उठते हुए जलकणोंसे सुशोभित निर्झर कैलासके तट पर सुशोभित होता है ॥४०४॥ इसके नामके अक्षर रूपी किरणोंसे आलिङ्गित शत्रुका भी मन परम हर्षको प्राप्त होता है तथा उसका सब दुःख रूपी संताप छूट जाता है ॥४०५॥ हे सौम्यदर्शने ! यदि तेरा चित्त इस पर प्रसन्नताको प्राप्त है तो चन्द्रमाके साथ रात्रिके समान तू इसके साथ समागमको प्राप्त हो ॥४०६॥ तदनन्तर नेत्रोंको आनन्दित करने वाले चन्द्रमा पर जिस प्रकार कमलिनीका मन प्रीतिको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार राजा चन्द्रानन पर श्रीमालाका मन प्रीतिको प्राप्त नहीं हुआ ॥४०७॥ तब धाय बोली कि हे कन्ये ! इस राजा पुरन्दरको देखो । यह पुरन्दर क्या है मानो तुम्हारे संगमकी लालसासे पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ साक्षात् पुरन्दर अर्थात् इन्द्र ही है ॥४०८॥ यह राजा मेरुकान्त और रानी श्रीरम्भाका पुत्र है, मन्दरकुञ्ज नगरका स्वामी है, मेघके समान इसकी जोरदार आवाज़

१. स्वरूपे म० ।

करं करेण कश्चिच्च स्मितयुक्तमताडयत । तथा यथा गतः पान्थः श्रुतैर्बधिरतां चिरम् ॥४३८॥
मूलजालदृढाबद्धमहापीठस्य शाखिनः । कश्चिदुन्मूलनं चक्रे चलत्पल्लवधारिणः ॥४३९॥
मञ्चस्य स्तम्भमादाय बभञ्जांसे परः कपिः । क्षुद्रभंगैर्नभस्तस्य व्याप्तमन्तरवर्जितैः ४४०॥
गात्रं बलितमेकेन स्फुटद्दृढव्रणाङ्कितम् । शोणितोदारधाराभिरुत्पातघनसन्निभम् ॥४४१॥
कृताट्टहासमन्येन हसितं विवृताननम् । शब्दात्मकमिवाशेषं कुर्वता भुवनान्तरम् ॥४४२॥
धूतोऽन्येन जटाभारश्छन्नाशेषदिगाननः । छायया तस्य संजाता शर्वरीव तदा चिरम् ॥४४३॥
[1]संकोचिना भुजे कश्चिद्वामे दक्षिणपाणिना । चकार ताडनं घोरं निर्घातापातभीषणम् ॥४४४॥
सहध्वं [2] ध्वंसनं वाचः परुषायाः फलं खलाः । दुःखेगा इति तारेण ध्वनिना मुखराननः ॥४४५॥
अपूर्वायाः पराभूतेस्ततस्ते सहसा भृशम् । कपयोऽभिमुखीभूता हन्तुं खेचरवाहिनीम् ॥४४६॥
गजा गजैस्तथा सार्द्धं रथारूढा रथस्थितैः । पदातयश्च पादातैश्चक्रुर्युद्धं सुदारुणम् ॥४४७॥
सेनयोरुभयोर्जातस्ततस्तत्र रणो महान् । दूरस्थितामरव्रातजनितोदारविस्मयः ॥४४८॥
श्रुत्वा च तत्क्षणं युद्धं सुकेशो राक्षसाधिपः । मनोरथ इवायातः किष्किन्धान्ध्रकयोः सुहृत् ॥४४९॥
अकम्पनसुताहेतोर्यथा युद्धमभूत् परम् । तथेदमपि संवृत्तं बीजं युद्धस्य योषितः ॥४५०॥

पड़ता था मानो समस्त क्रूर कर्म करनेके लिए किसी बड़े स्थानकी खोज ही कर रहा हो ॥४३७॥ किसीने मुसकराते हुए अपने एक हाथसे दूसरे हाथको इतने जोरसे पीटा कि उसका शब्द सुनकर पथिक चिरकालके लिए बहरा हो गया ॥४३८॥ जिसका महापीठ जड़ोंके समूहसे पृथ्वीपर मजबूत बँधा था और जो चञ्चल पल्लव धारण कर रहा था ऐसे किसी वृक्षको कोई सैनिक जड़से उखाड़ने लगा ॥४३९॥ किसी वानरने मञ्चका खम्भा लेकर कन्धेपर इतने जोरसे तोड़ा कि उसके निरन्तर बिखरे हुए छोटे-छोटे टुकड़ोंसे आकाश व्याप्त हो गया ॥४४०॥ किसीने अपने शरीरको इतने जोरसे मोड़ा कि उसके पुरे हुए घाव फिरसे फट गये तथा खूनकी बड़ी मोटी धाराओंसे उसका शरीर उत्पात-कालके मेघके समान जान पड़ने लगा ॥४४१॥ किसीने मुँह फाड़कर इतने जोरसे अट्टहास किया कि मानो वह समस्त संसारके अन्तरालको शब्दमय ही करना चाहता था ॥४४२॥ किसीने अपनी जटाओंका समूह इतनी जोरसे हिलाया कि उससे समस्त दिशाएँ व्याप्त हो गईं और उससे ऐसा जान पड़ने लगा मानो चिरकालके लिए रात्रि ही हो गई हो ॥४४३॥ कोई सैनिक दाहिने हाथको संकुचित कर उससे बाईं भुजाको इतनी जोरसे पीट रहा था कि उससे वज्रपातके समान भयङ्कर घोर शब्द हो रहा था ॥४४४॥ 'अरे दुष्ट विद्याधरो ! तुमने जो कठोर वचन कहे हैं उसके फलस्वरूप इस विध्वंसको सहन करो' इस प्रकारके उच्च शब्दोंसे किसीका मुख शब्दायमान हो रहा था अर्थात् कोई चिल्ला-चिल्लाकर उक्त शब्द कह रहा था ॥४४५॥ तदनन्तर उस अपूर्व तिरस्कारके कारण वानरवंशी, विद्याधरोंकी सेनाको नष्ट करनेके लिए सम्मुख आये ॥४४६॥ तत्पश्चात् हाथी हाथियोंसे, रथोंके सवार रथके सवारोंसे और पैदल सिपाही पैदल सिपाहियोंके साथ भयङ्कर युद्ध करने लगे ॥४४७॥ इस प्रकार दोनों सेनाओंमें वहाँ महायुद्ध हुआ। ऐसा महायुद्ध कि जो दूर खड़े देवोंके समूहको महान् आश्चर्य उत्पन्न कर रहा था ॥४४८॥ किष्किन्ध और अन्धकका मित्र जो सुकेश नामका राक्षसोंका राजा था वह युद्धका समाचार सुन तत्काल ही मनोरथके समान वहाँ आ पहुँचा ॥४४९॥ पहले अकम्पनकी पुत्री सुलोचनाके निमित्त जैसा महायुद्ध हुआ था वैसा ही युद्ध उस समय हुआ सो ठीक ही है क्योंकि युद्धका कारण स्त्रियाँ ही हैं ॥४५०॥

---

१. संकोचिते म० । २. साम्प्रतम् म० । ३. दुष्टविद्याधराः । ४. मुखराननाः म० । ५. सहनात् म० ।

यावच्च तुमुलं तेषां वर्तते खगरक्षसाम् । तावदादाय तां कन्यां किष्किन्धः कृतितां[1] गतः ॥४५१॥
आहूय चाभिधातस्य तावदन्ध्रकभूभृता[2] । कृपाणेन शिरस्तुङ्गं जयसिंहस्य पातितम् ॥४५२॥
तेनैकेन विना सैन्यमितश्चेतश्च तद्गतम् । आत्मनेव विना देहे हृषीकाणां कुलं[3] घनम् ॥४५३॥
ततः सुतवधं श्रुत्वा वज्रेणेव समाहतः । शोकेनाशनिवेगोऽभून्मूर्च्छान्धतमसावृतः ॥४५४॥
ततः स्वदारनेत्राम्बुसिक्तवक्षःस्थलश्चिरात् । गतः प्रबोधमाकारं बभार क्रोधभीषणम् ॥४५५॥
ततस्तस्य समाकारं परिवर्गोऽपि नेक्षितुम् । शशाक प्रलयोत्पातभास्कराकारसन्निभम् ॥४५६॥
सर्वविद्याधरैः सार्द्धं ततोऽसौ शस्त्रभासुरैः । गत्वा किष्कुपुरस्याभूत्सालशाल इवापरः ॥४५७॥
विदित्वा नगरं रुद्धं ततस्तौ वानरध्वजौ । तडित्केशिसमायुक्तौ निष्क्रान्तौ रणलालसौ ॥४५८॥
गदाभिः शक्तिभिर्बाणैः पाशैः प्रासैर्महासिभिः । ततो दानवसैन्यं तद्ध्वस्तं वानरराक्षसैः ॥४५९॥
दिशा ययान्ध्रको यातः किष्किन्धो वा महाहवे । सुकेशो वा तया याता मार्गाश्चूर्णितखेचराः ॥४६०॥
तत्र पुत्रवधक्रोधवह्निज्वालाप्रदीपितः । अन्ध्रकाभिमुखो जातो वज्रवेगः[4] कृतध्वनिः ॥४६१॥
बालोऽयमन्ध्रकः पापोऽशनिवेगोऽयमुद्धतः । इति ज्ञात्वोत्थितो योद्धुं किष्किन्धोऽशनिरंहसा[5] ॥४६२॥
विद्युद्वाहननाम्नासौ तत्सुतेन पुरस्कृतः । अभवच्च तयोर्युद्धं दारजातं पराभवम् ॥४६३॥
यावच्च तत्तयोर्युद्धं वर्ततेऽत्यन्तभीषणम् । निहतोऽशनिवेगेन तावदन्ध्रकवानरः ॥४६४॥

इधर जब तक विद्याधर और राक्षसोंके बीच भयङ्कर युद्ध होता है उधर तब तक कन्याको लेकर किष्किन्ध कृतकृत्य हो गया अर्थात् उसे लेकर युद्धसे भाग गया ॥४५१॥ विद्याधरोंका राजा विजयसिंह ज्यों ही सामने आया त्यों ही अन्ध्रकरूढिने ललकारकर उसका उन्नत मस्तक तलवारसे नीचे गिरा दिया॥४५२॥ जिस प्रकार एक आत्माके विना शरीरमें इन्द्रियों का समूह जहाँ-तहाँ बिखर जाता है उसी प्रकार एक विजयसिंहके विना समस्त सेना इधर-उधर बिखर गई ॥४५३॥ जब अशनिवेगने पुत्रके वधका समाचार सुना तो वह शोकके कारण वज्रसे ताड़ित हुएके समान परम दुखी हो मूर्छा रूपी गाढ़ अन्धकारसे आवृत हो गया ॥४५४॥ तदनन्तर अपनी स्त्रियोंके नयन जलसे जिसका वक्षःस्थल भीग रहा था ऐसा अशनिवेग, जब प्रबोधको प्राप्त हुआ तब उसने क्रोधसे भयङ्कर आकार धारण किया ॥४५५॥ तदनन्तर प्रलयकालके उत्पात सूचक भयङ्कर सूर्यके समान उसके आकारको परिकरके लोग देखनेमें भी समर्थ नहीं हो सके ॥४५६॥ तदनन्तर उसने शस्त्रोंसे देदीप्यमान समस्त विद्याधरोंके साथ जाकर किसी दूसरे ऊँचे कोटके समान किष्कुपुरको घेर लिया ॥४५७॥ तदनन्तर नगरको घिरा जान दोनों भाई युद्धकी लालसा रखते हुए सुकेशके साथ बाहर निकले ॥४५८॥ फिर वानर और राक्षसोंकी सेनाने गदा, शक्ति, बाण, पाश, भाले तथा बड़ी-बड़ी तलवारोंसे विद्याधरोंकी सेनाको विध्वस्त कर दिया ॥४५९॥ उस महायुद्धमें अन्ध्रक, किष्किन्ध और सुकेश जिस दिशामें निकल जाते थे उसी दिशाके मार्ग चूर्णीकृत वानरोंसे भर जाते थे ॥४६०॥ तदनन्तर पुत्रवधसे उत्पन्न क्रोध रूपी अग्निकी ज्वालाओंसे प्रदीप्त हुआ अशनिवेग जोरका शब्द करता हुआ अन्ध्रकके सामने गया ॥४६१॥ तब किष्किन्धने विचारा कि अन्ध्रक अभी बालक है और यह पापी अशनिवेग महा उद्धत है, ऐसा विचारकर वह अशनिवेगके साथ युद्ध करनेके लिए स्वयं उठा ॥४६२॥ सो अशनिवेगके पुत्र विद्युद्वाहनने उसका सामना किया और फल स्वरूप दोनोंमें घोर युद्ध हुआ सो ठीक ही है क्योंकि संसारमें जितना पराभव होता है वह स्त्रीके निमित्त ही होता है ॥४६३॥ इधर जब तक किष्किन्ध और विद्युद्वाहनमें भयङ्कर युद्ध चलता है उधर तब तक अशनिवेगने अन्ध्रकको

---

१. कृतिनो भावः कृतिता ताम् । कृत्यतां म० । २. भूतिना क० । ३. बलम् म० । ४. अशनिवेगः । ५. अशनिवेगेन ।

ततोऽसौ पतितो बालः क्षितौ तेजोविवर्जितः । प्रत्यूषशशिनश्छायां बभार गतचेतनः ॥४६५॥
किष्किन्धेनापि निक्षिप्ता विद्युद्वाहनवक्षसि । शिला स ताडितो मूर्छां प्राप्य बोधं पुनर्गतः ॥४६६॥
आदाय तां शिलां तेन ततो वक्षसि ताडितः । किष्किन्धोऽपि गतो मूर्छां घूर्णितेक्षणमानसः ॥४६७॥
लङ्केन्द्रेण ततो नीतः प्रेमसंसक्तचेतसा । किष्कुं[1] प्रमादमुत्क्षिप्य चिरात् प्राप्तश्च चेतनाम् ॥४६८॥
उन्मील्य स ततो नेत्रे यदा नापश्यदन्धकम् । तदापृच्छन्मम भ्राता वर्तते क्वेति पार्श्वगान् ॥४६९॥
ततः प्रलयवातेन क्षोभितस्याम्बुधेः समम् । शुश्रावान्तःपुराक्रन्दमन्धकध्वंसहेतुकम् ॥४७०॥
विप्रलापं ततश्चक्रे प्रतप्तः शोकवह्निना । चिरं भ्रातृगुणध्यानकृतदुःखोर्मिसन्ततिः ॥४७१॥
हा भ्रातर्मयि सत्येवं कथं प्राप्तोऽसि पञ्चताम् । दक्षिणः पतितो बाहुस्त्वयि मे पातमागते ॥४७२॥
दुरात्मना कथं तेन पापेन विनिपातितम् । शस्त्रं बाले त्वयि क्रूरं धिक् तमन्यायवर्तिनम् ॥४७३॥
अपश्यन्नाकुलोऽभूवं यो भवन्तं निमेषतः । सोऽहं वद कथं प्राणान् धारयिष्यामि साम्प्रतम् ॥४७४॥
अथवा निर्मितं चेतो वज्रेण मम दारुणम् । यज्ज्ञात्वापि भवन्मृत्युं शरीरं न विमुञ्चति ॥४७५॥
बाल ते स्मितसंयुक्तं वीरगोष्ठीसमुद्भवम् । स्मरन् स्फुटसमुल्लासं दुःखं प्राप्नोमि दुःसहम् ॥४७६॥
यद्यद्विचेष्टितं सार्द्धं क्रियमाणं त्वया पुरा । प्रसेकममृतेनेव कृतवत्सर्वगात्रकम् ॥४७७॥
स्मर्यमाणं तदेवेदमधुना मरणं कथम् । प्रयच्छति विषेणेव सेकं मर्मविदारणम् ॥४७८॥

मार डाला ॥४६४॥ तदनन्तर बालक अन्धक, तेज रहित पृथिवीपर गिर पड़ा और निष्प्राण हो प्रातःकालके चन्द्रमाकी कान्तिको धारण करने लगा अर्थात् प्रातःकालीन चन्द्रमाके समान कान्ति हीन हो गया ॥४६५॥ इधर किष्किन्धने एक शिला विद्युद्वाहनके वक्षःस्थलपर फेंकी जिससे तड़ित हो वह मूर्च्छित हो गया परन्तु कुछ ही समयमें सचेत होकर उसने वही शिला किष्किन्धके वक्षस्थलपर फेंकी जिससे वह भी मूर्च्छाको प्राप्त हो गया। उस समय शिलाके आघातसे उसके नेत्र तथा मन दोनों ही घूम रहे थे ॥४६६-४६७॥ तदनन्तर प्रेमसे जिसका चित्त भर रहा था ऐसा लङ्काका राजा सुकेश उसे प्रमाद छोड़कर शीघ्र ही किष्कपुर ले गया। वहाँ चिरकालके बाद उसे चेतना प्राप्त हुई ॥४६८॥ जब उसने आँखें खोलीं और सामने अन्धकको नहीं देखा तब समीपवर्ती लोगोंसे पूछा कि हमारा भाई कहाँ है ? ॥४६९॥ उसी समय उसने प्रलयकी वायुसे क्षोभित समुद्रके समान, अन्धककी मृत्युसे उत्पन्न अन्तःपुरके रोनेका शब्द सुना ॥४७०॥ तदनन्तर जिसके हृदयमें भाईके गुणोंके चिन्तवनसे उत्पन्न दुःखकी लहरें उठ रहीं थी ऐसा किष्किन्ध शोकाग्निसे सन्तप्त हो चिर काल तक विलाप करता रहा ॥४७१॥ हे भाई ! मेरे रहते हुए तू मृत्युको कैसे प्राप्त हो गया ? तेरे मरनेसे मेरी दाहिनी भुजा ही भङ्गको प्राप्त हुई ॥४७२॥ उस पापी दुष्टने तुझ बालकपर शस्त्र कैसे चलाया ? अन्यायमें प्रवृत्ति करनेवाले उस दुष्टको धिक्कार है ॥४७३॥ जो तुझे निमेष मात्र भी नहीं देखता था तो आकुल हो जाता था वहीं मैं अब प्राणोंको किस प्रकार धारण करूँगा सो कह ॥४७४॥ अथवा मेरा कठोर चित्त वज्रसे निर्मित है इसीलिए तो वह तेरी मृत्यु जानकर भी शरीर नहीं छोड़ रहा है ॥४७५॥ हे बालक ! मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त, वीर पुरुषोंकी गोष्ठीमें समुत्पन्न जो तेरा प्रकट हर्षोल्लास था उसका स्मरण करता हुआ मैं दुःसह दुःख प्राप्त कर रहा हूँ ॥४७६॥ पहले तेरे साथ जो-जो चेष्टाएँ—कौतुक आदि किये थे वे समस्त शरीरमें मानो अमृतका ही सिंचन करते थे ॥४७७॥ पर आज वे ही सब स्मरणमें आते ही विषके सिंचनके समान मर्मघातक मरण क्यों प्रदान कर रहे हैं अर्थात् जो पहले अमृतके समान सुखदायी थे वे ही आज विषके समान

---

१ किष्कुं प्रमोद, -ख०, म० । किष्कुः ज०, ग० ।

ततोऽसौ विलपन् भूरि भ्रातृस्नेहातिविक्लवः । सुकेशादिभिरानीतः प्रबोधमिति भाषणात् ॥४७९॥
युक्तमेतच्च धीराणां कर्तुं क्षुद्रविचेष्टितम् । शोको हि पण्डितैर्दृष्टः पिशाचो भिन्ननामकः ॥४८०॥
कर्मणां विनियोगेन वियोगः सह बन्धुना । प्राप्ते तत्रापरं दुःखं शोको यच्छति सन्ततम् ॥४८१॥
[1]प्रेक्षापूर्वप्रवृत्तेन जन्तुना सप्रयोजनः । व्यापारः सततं कृत्यः शोकाश्चायमनर्थकः ॥४८२॥
प्रत्यागमः कृते शोके प्रेतस्य यदि जायते । ततोऽन्यानपि संगृह्य विदधीत जनः शुचम् ॥४८३॥
शोकः प्रत्युत देहस्य शोषीकरणमुत्तमम् । पापानामयमुद्रेको महामोहप्रवेशनः ॥४८४॥
तदेवं वैरिणं शोकं परित्यज्य प्रसन्नधीः । कृत्ये कुरु मतिन्यासं नानुबन्धं त्यजत्यरिः ॥४८५॥
मूढाः शोकमहापङ्के मग्नाः शेषामपि क्रियाम् । नाशयन्ति तदायत्तजीवितैर्वीक्षिता जनैः ॥४८६॥
बलीयान् वज्रवेगोऽयमस्मन्नाशस्य चिन्तकः । प्रतिकर्तव्यमस्माभिश्चिन्तनीयमिहाधुना ॥४८७॥
बलीयसि रिपौ गुप्तिं प्राप्य कालं नयेद् बुधः । तत्र तावदवाप्नोति न [2]निकारमरातिकम् ॥४८८॥
प्राप्य तत्र स्थितः कालं कुतश्चिद् द्विगुणं रिपुम् । साधयेत्तद्धि [3]भूतीनामेकस्मिन् सर्वदा रतिः ॥४८९॥
अतः परम्परायातमस्माकं कुलगोचरम् । अलङ्कारपुरं नाम स्थानं मे स्मृतिमागतम् ॥४९०॥
कुलवृद्धास्तदस्माकं शंसन्त्यविदितं परैः । प्राप्य तत् स्वर्गलोकेऽपि न कुर्वीत पदं मनः ॥४९१॥

दुःखदायी क्यों हो गये ? ॥४७८॥ इस प्रकार भाईके स्नेहसे दुःखी हुआ किष्किन्ध बहुत विलाप करता रहा। तदनन्तर सुकेश आदिने उसे इस प्रकार समझाकर प्रबोधको प्राप्त कराया ॥४७९॥ उन्होंने कहा कि धीर वीर मनुष्योंको क्षुद्र पुरुषोंके समान शोक करना उचित नहीं है। यथार्थमें पण्डितजनोंने शोकको भिन्न नामवाला पिशाच ही कहा है ॥४८०॥ कर्मोंके अनुसार इष्टजनोंके साथ वियोगका अवसर आनेपर यदि शोक होता है तो वह आगे के लिए और भी दुःख देता है ॥४८१॥ विचार पूर्वक कार्य करनेवाले मनुष्यको सदा वही कार्य करना चाहिए जो प्रयोजनसे सहित हो। यह शोक प्रयोजन रहित है अतः बुद्धिमान् मनुष्यके द्वारा करने योग्य नहीं है ॥४८२॥ यदि शोक करनेसे मृतक व्यक्ति वापिस लौट आता हो तो दूसरे लोगोंको भी इकट्ठाकर शोक करना उचित है ॥४८३॥ शोकसे कोई लाभ नहीं होता बल्कि शरीरका उत्कट शोषण ही होता है। यह शोक पापोंका तीव्रोदय करनेवाला और महामोहमें प्रवेश करानेवाला है ॥४८४॥ इसलिए इस वैरी शोकको छोड़कर बुद्धिको स्वच्छ करो और करने योग्य कार्यमें मन लगाओ क्योंकि शत्रु अपना संस्कार छोड़ता नहीं है ॥४८५॥ मोही मनुष्य शोकरूपी महापङ्कमें निमग्न होकर अपने शेष कार्योंको भी नष्ट कर लेते हैं। मोही मनुष्योंका शोक तब और भी अधिक बढ़ता है जब कि अपने आश्रित मनुष्य उनकी ओर दीनता भरी दृष्टिसे देखते हैं ॥४८६॥ हमारे नाशका सदा ध्यान रखनेवाला अशनिवेग चूँकि अत्यन्त बलवान् है इसलिए इस समय हम लोगोंको इसके प्रतिकारका विचार अवश्य करना चाहिए ॥४८७॥ यदि शत्रु अधिक बलवान् है तो बुद्धिमान् मनुष्य किसी जगह छिपकर समय बिता देता है। ऐसा करनेसे वह शत्रुसे प्राप्त होनेवाले पराभवसे बच जाता है ॥४८८॥ छिपकर रहनेवाला मनुष्य जब योग्य समय पाता है तब अपनेसे दूनी शक्तिको धारण करनेवाले शत्रुको भी वश कर लेता है सो ठीक ही है क्योंकि सम्पदाओंकी सदा एक ही व्यक्तिमें प्रीति नहीं रहती ॥४८९॥ अतः परम्परासे चला आया हमारे वंशका निवासस्थल अलंकारपुर (पाताल लंका) इस समय मेरे ध्यानमें आया है ॥४९०॥ हमारे कुलके वृद्धजन उसकी बहुत प्रशंसा करते हैं तथा शत्रुओंको भी उसका पता नहीं है। वह इतना सुन्दर है कि उसे पाकर फिर मन स्वर्ग लोकको आकांक्षा नहीं

१. प्रेक्षापूर्वप्रयत्नेन जन्तुनाशप्रयोजनः–ख० । २. विकार म० । ३० भीरुणा–ख० ।

तस्मादुत्तिष्ठ गच्छामस्तत्पुरं रिपुदुर्गमम् । अनयो हि महानेष यत्कालस्य [1]न यापनम् ॥४९२॥
एवमन्विष्य [2]नो शोको यदा तीव्रो निवर्तते । श्रीमालादर्शनादस्य ततोऽसौ विनिवर्तितः ॥४९३॥
ततस्तौ परिवर्गेण समस्तेन समन्वितौ । प्रस्थितौ दर्शनं प्राप्तौ विद्युद्वाहनविद्विषः ॥४९४॥
ततोऽसौ पृष्ठतो गन्तुं प्रवृत्तो धावतोस्तयोः । भ्रातृघातेन संक्रुद्धः शत्रुनिर्मूलनोद्यतः ॥४९५॥
भग्नाः किलानुसर्तव्याः शत्रवो नेति भाषितम् । नीतिशास्त्रशरीरज्ञैः पुरुषैः शुद्धबुद्धिभिः ॥४९६॥
निहतश्च तव भ्राता येन पापेन वैरिणा । प्रापितोऽसौ महानिद्रां विशिखैरन्धको मया ॥४९७॥
तस्मात्पुत्र निवर्तस्व नैतेऽस्माकं कृतागसः । अनुकम्पा हि कर्तव्या महता दुःखिते जने ॥४९८॥
पृष्ठस्य दर्शनं येन कारितं कातरात्मना । जीवन्मृतस्य तस्यान्यत्क्रियतां किं मनस्विना ॥४९९॥
यावदेवं सुतं शास्ति वज्रवेगो वशस्थितिम् । अलङ्कारपुरं प्राप्तास्तावद्वानरराक्षसाः ॥५००॥
पातालावस्थिते तत्र रत्नालोकचिते पुरे । तस्थुः शोकं प्रमोदं च वहन्तो भयवर्जिताः ॥५०१॥
अन्यदाशनिवेगोऽथ दृष्ट्वा शरदि तोयदम् । क्षणाद्विलयमायातं विरक्तो राज्यसंपदि ॥५०२॥
सुखं विषययोगेन विज्ञाय क्षणभङ्गुरम् । मनुष्यजन्म चात्यन्तदुर्लभं भवसंकटे ॥५०३॥
सहस्रारं सुतं राज्ये स्थापयित्वा विधानतः । समं विद्युत्कुमारेण बभूव श्रमणो महान् ॥५०४॥
शशासात्रान्तरे लङ्कां निर्घातो नाम खेचरः । नियुक्तोऽशनिवेगेन महाविद्यापराक्रमः ॥५०५॥

करता ॥४९१॥ इसलिए उठो हम लोग शीघ्र ही शत्रुओंके द्वारा अगम्य उस अलंकारपुर नगरमें चलें। इस स्थितिमें यदि वहाँ जाकर संकटका समय नहीं निकाला जाता है तो यह बड़ी अनीति होगी ॥४९२॥ इस प्रकार लंकाके राजा सुकेशने किष्किन्धको बहुत समझाया पर उसका शोक दूर नहीं हुआ। अन्तमें रानी श्रीमालाके देखनेसे उसका शोक दूर हो गया ॥४९३॥ तदनन्तर राजा किष्किन्ध और सुकेश अपने समस्त परिवारके साथ अलंकारपुरकी ओर चले परन्तु विद्युद्वाहन शत्रुने उन्हें देख लिया ॥४९४॥ वह भाई विजयसिंहके घातसे अत्यन्त क्रुद्ध था तथा शत्रुका निर्मूल नाश करनेमें सदा उद्यत रहता था इसलिए भागते हुए सुकेश और किष्किन्धके पीछे लग गया ॥४९५॥ यह देख नीतिशास्त्रके मर्मज्ञ तथा शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषोंने विद्युद्वाहनको समझाया कि भागते हुए शत्रुओंका पीछा नहीं करना चाहिए ॥४९६॥ पिता अशनिवेगने भी उससे कहा कि जिस पापी वैरीने तुम्हारे भाई विजयसिंहको मारा था उस अन्धकको मैंने बाणोंके द्वारा महानिद्रा प्राप्त करा दी है अर्थात् मार डाला है ॥४९७॥ इसलिए हे पुत्र ! लौटो, ये हमारे अपराधी नहीं हैं। महापुरुषको दुःखी जनपर दया करनी चाहिये ॥४९८॥ जिस भीरु मनुष्यने अपनी पीठ दिखा दी वह तो जीवित रहने पर भी मृतकके समान है, तेजस्वी मनुष्य भला उसका और क्या करेंगे ॥४९९॥ इधर इस प्रकार अशनिवेग जब तक पुत्रको अपने आधीन रहनेका उपदेश देता है उधर तब तक वानर और राक्षस अलंकारपुर (पाताललंका) में पहुँच गये ॥५००॥ वह नगर पातालमें स्थित था तथा रत्नोंके प्रकाशसे व्याप्त था सो उस नगरमें वे दोनों शोक तथा हर्षको धारण करते हुए रहने लगे ॥५०१॥

अथानन्तर एक दिन अशनिवेग शरद्ऋतुके मेघको क्षणभरमें विलीन होता देख राज्य-सम्पदासे विरक्त हो गया ॥५०२॥ विषयोंके संयोगसे जो सुख होता है वह क्षणभङ्गुर है तथा चौरासी लाख योनियोंके संकटमें मनुष्य जन्म पाना अत्यन्त दुर्लभ है ॥५०३॥ ऐसा जानकर उसने सहस्रार नामक पुत्रको तो विधिपूर्वक राज्य दिया और स्वयं विद्युत्कुमारके साथ वह महाश्रमण अर्थात् निर्ग्रन्थ साधु हो गया ॥५०४॥ इस अन्तरालमें अशनिवेगके द्वारा नियुक्त

---

१. स्यातिपातनम् म० । २. नः ख० ।

एकदोत्थाय बलिवत्पातालनगरोदरात् । सवनक्ष्माधरं पश्यन् शनैरवनिमण्डलम् ॥५०६॥
विदित्वोपशमप्राप्तान् शत्रून् भयविवर्जितः । सश्रीमालो गतो मेरुं किष्किन्धो वन्दितुं जिनम् ॥५०७॥
प्रत्यागच्छंस्ततोऽपश्यद्दक्षिणोदन्वतस्तटे । अटवीं सुरकुर्वाभां पृथ्वीकर्णतटाभिधाम् ॥५०८॥
श्रीमालां चाब्रवीदेवं वीणामिव सुखस्वराम् । वक्षःस्थलस्थितां वामबाहुना कृतधारणाम् ५०९॥
देवि पश्याटवीं रम्यां कुसुमाञ्चितपादपाम् । सीमन्तिनीमिव स्वच्छमन्दगत्यापगाम्भसाम् ॥५१०॥
शरज्जलधराकारो राजतेऽयं महीधरः । मध्येऽस्याः शिखरैस्तुङ्गैर्धरणीमौलिसंज्ञितः ॥५११॥
कुन्दशुभ्रसमावर्तफेनमण्डलमण्डितैः । निर्झरैर्हसतावायमट्टहासेन भासुरः ॥५१२॥
पुष्पाञ्जलिं प्रकीर्यायं तरुशाखाभिरादरात् । अभ्युत्थानं करोतीव चलत्तरुवनेन नौ[२] ॥५१३॥
पुष्पामोदसमृद्धेन वायुना घ्राणलेपिना । प्रत्युद्गतिं करोतीव नमनं च नमत्तरुः ॥५१४॥
बद्ध्वेव धृतवान् गाढं व्रजन्तं मामयं गुणैः । [३]अतिक्रम्य न शक्नोमि गन्तुमेनं[४] महीधरम् ॥५१५॥
आलयं कल्पयाम्यत्र भूचरैरतिदुर्गमम् । प्रसादं मानसं गच्छत्सूचयत्येव मे शुभम् ॥५१६॥
अलङ्कारपुरावासे पातालोदरवर्तिनि । खिन्नं खिन्नं मम स्वान्तं रतिमत्र प्रयास्यति ॥५१७॥
इत्युक्त्वानुमतालापः प्रियया विस्मयाकुलः । उत्सारयन् घनव्रातमवतीर्णो धराधरम् ॥५१८॥

महाविद्या और महा पराक्रमका धारी निर्घात नामका विद्याधर लंकाका शासन करता था ॥५०५॥ एक दिन किष्किन्ध बलिके समान पातालवर्ती अलंकारपुर नगरसे निकलकर वन तथा पर्वतोंसे सुशोभित पृथिवीमण्डलका धीरे-धीरे अवलोकन कर रहा था। इसी अवसरपर उसे पता चला कि शत्रु शान्त हो चुके हैं। यह जानकर वह निर्भय हो अपनी श्रीमाला रानीके साथ जिनेन्द्रदेवकी वन्दना करनेके लिए सुमेरु पर्वतपर गया ॥५०६-५०७॥ वन्दनाकर वापिस लौटते समय उसने दक्षिणसमुद्रके तटपर पृथिवी-कर्णतटा नामकी अटवी देखी। यह अटवी देवकुरुके समान सुन्दर थी ॥५०८॥ किष्किन्धने, जिसका स्वर वीणाके समान सुखदायी था, जो वक्षःस्थलसे सटकर बैठी थी और बाँयीं भुजासे अपनेको पकड़े थी ऐसी रानी श्रीमालासे कहा ॥५०९॥ कि हे देवि ! देखो, यह अटवी कितनी सुन्दर है, यहाँके वृक्ष फूलोंसे सुशोभित हैं, तथा नदियोंके जलकी स्वच्छ एवं मन्द गतिसे ऐसी जान पड़ती है मानो इसने सीमन्त—माँग ही निकाल रक्खी हो ॥५१०॥ इसके बीचमें यह शरदृऋतुके मेघका आकार धारण करनेवाला तथा ऊँची-ऊँची शिखरोंसे सुशोभित धरणीमौलि नामका पर्वत सुशोभित हो रहा है ॥५११॥ कुन्दके फूलके समान शुक्ल फेनपटलसे मण्डित निर्झरनोंसे यह देदीप्यमान पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो अट्टहास ही कर रहा हो ॥५१२॥ यह वृक्षकी शाखाओंसे आदर पूर्वक पुष्पाञ्जलि बिखेरकर वायुकम्पित वृक्षोंके वनसे हम दोनोंको आता देख आदरसे मानो उठ ही रहा है ॥५१३॥ फूलोंकी सुगन्धिसे समृद्ध तथा नासिकाको लिप्त करनेवाली वायुसे यह पर्वत मानो हमारी अगवानी ही कर रहा है तथा झुकते हुए वृक्षोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो हम लोगोंको नमस्कार ही कर रहा है ॥५१४॥ ऐसा जान पड़ता है कि आगे जाते हुए मुझे इस पर्वतने अपने गुणोंसे मजबूत बाँधकर रोक लिया है इसीलिए तो मैं इसे लाँघकर आगे जानेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥५१५॥ मैं यहाँ भूमिगोचरियोंके अगोचर सुन्दर महल बनवाता हूँ। इस समय चूँकि मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है इसलिए वह आगामी शुभकी सूचना देता है ॥५१६॥ पातालके बीचमें स्थित अलङ्कारपुरमें रहते-रहते मेरा मन खिन्न हो गया है सो यहाँ अवश्य ही प्रीतिको प्राप्त होगा ॥५१७॥ प्रिया श्रीमालाने किष्किन्धके इस

१. स्वस्थ ख० । २. आवयोः । ३. ख० पुस्तके अत्र 'स्थापयत्येव निभ्रान्तः प्रीतिं तद्गतचेतसा' इत्यधिकः पाठः । ४. मेतुं म० ।

सर्वबान्धवयुक्तेन तेन स्वर्गसमं पुरम् । क्षणात्तुङ्गप्रमोदेन रचितं गिरिमूर्द्धनि ॥५१९॥
अभिधानं कृतं चास्य निजमेव यशस्विना । यतोऽद्यापि पृथिव्यां तत् किष्किन्धपुरमुच्यते ॥५२०॥
पर्वतोऽपि स किष्किन्धः प्रख्यातस्तस्य संगमात् । पूर्वं तु मधुरित्यासीन्नाम तस्य जगद्गतम् ॥५२१॥
सम्यग्दर्शनयुक्तोऽसौ जिनपूजासमुद्यतः । भुञ्जानः परमान् भोगान् सुखेन न्यवसच्चिरम् ॥५२२॥
तस्माच्च संभवं प्राप श्रीमालायां सुतद्वयम् । ज्येष्ठः सूर्यरजा नाम ख्यातो[1] यक्षरजास्तथा ॥५२३॥
सुता च सूर्यकमला जाता कमलकोमला । यया विद्याधराः सर्वे शोभया विक्लवीकृताः ॥५२४॥
अथ मेघपुरे राजा मेरुर्नाम नभश्चरः । मघोन्यां तेन संभूतो मृगारिदमनः सुतः ॥५२५॥
तेन पर्यटता दृष्टा किष्किन्धतनयान्यदा । तस्यामुत्कण्ठितो लेभे न स नक्तंदिवा सुखम् ॥५२६॥
अभ्यर्थिता सुहृद्भिः सा तदर्थं सादरैस्ततः । [2]संप्रधार्य समं देव्या दत्ता किष्किन्धभूभृता ॥५२७॥
निर्वृत्तं च विधानेन तयोर्वीवाहमङ्गलम् । किष्किन्धनगरे रम्ये ध्वजादिकृतभूषणे ॥५२८॥
प्रतिगच्छन् स [3]तामूढ्वा न्यवसत्कर्णपर्वते । कर्णकुण्डलमेतेन नगरं तत्र निर्मितम् ॥५२९॥
अलङ्कारपुरेशस्य सुकेशस्याथ सूनवः । इन्द्राण्या जन्म संप्रापुः क्रमेण पुरुविक्रमाः ॥५३०॥
अमीषां प्रथमो माली सुमाली चेति म[4]ध्यमः । कनीयान् माल्यवान् ख्यातो विज्ञानगुणभूषणः ॥५३१॥

कथनका समर्थन किया तब आश्चर्यसे भरा किष्किन्ध मेघसमूहको चीरता हुआ पर्वतपर उतरा ॥५१८॥ समस्त बान्धवोंसे युक्त, भारी हर्षको धारण करनेवाले राजा किष्किन्धने पर्वतके शिखरपर क्षण भरमें स्वर्गके समान नगरकी रचना की ॥५१९॥ जो अपना नाम था यशस्वी किष्किन्धने वही नाम उस नगरका रक्खा। यही कारण है कि वह पृथिवीमें आज भी किष्किन्धपुर कहा जाता है ॥५२०॥ पहले उस पर्वतका 'मधु' यह नाम संसारमें प्रसिद्ध था परन्तु अब किष्किन्धपुरके समागमसे उसका नाम भी किष्किन्धगिरि प्रसिद्ध हो गया ॥५२१॥ सम्यग्दर्शनसे सहित तथा जिनपूजामें उद्यत रहनेवाला राजा किष्किन्ध उत्कृष्ट भोगोंको भोगता हुआ चिर काल तक उस पर्वतपर निवास करता रहा ॥५२२॥ तदनन्तर राजा किष्किन्ध और रानी श्रीमालाके दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें बड़ेका नाम सूर्यरज और छोटेका नाम यक्षरज था ॥५२३॥ इन दो पुत्रोंके सिवाय उनके कमलके समान कोमल अङ्गको धारण करनेवाली सूर्यकमला नामकी पुत्री भी उत्पन्न हुई। वह पुत्री इतनी सुन्दरी थी कि उसने अपनी शोभाके द्वारा समस्त विद्याधरोंको बेचैन कर दिया था ॥५२४॥

अथानन्तर मेघपुरनगरमें मेरु नामका विद्याधर राजा राज्य करता था। उसकी मघोनी नामकी रानीसे मृगारिदमन नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५२५॥ एक दिन मृगारिदमन अपनी इच्छानुसार भ्रमण कर रहा था कि उसने किष्किन्धकी पुत्री सूर्यकमलाको देखा। उसे देख मृगारिदमन इतना उत्कण्ठित हुआ कि वह न तो रातमें सुख पाता था और न दिनमें ही ॥५२६॥ तदनन्तर मित्रोंने आदरके साथ उसके लिए सूर्यकमलाकी याचना की और राजा किष्किन्धने रानी श्रीमालाके साथ सलाह कर देना स्वीकृत कर लिया ॥५२७॥ ध्वजा-पताका आदिसे विभूषित, महामनोहर किष्किन्ध नगरमें विधिपूर्वक मृगारिदमन और सूर्यकमलाका विवाह-मङ्गल पूर्ण हुआ ॥५२८॥ मृगारिदमन सूर्यकमलाको विवाहकर जब वापिस जा रहा था तब वह कर्ण नामक पर्वत पर ठहरा। वहाँ उसने कर्णकुण्डल नामका नगर बसाया ॥५२९॥

अलङ्कारपुरके राजा सुकेशकी इन्द्राणी नामक रानीसे क्रमपूर्वक तीन महाबलवान् पुत्रोंने जन्म प्राप्त किया ॥५३०॥ उनमेंसे पहलेका नाम माली, मझलेका नाम सुमाली और सबसे छोटेका नाम माल्यवान् था। ये तीनों ही पुत्र परमविज्ञानी तथा गुण रूपी आभूषणोंसे सहित थे ॥५३१॥ उन

१. ख्यातोऽक्षरजा म० । २. संचार्य क० । ३. तामूढा म० । ४. मध्यगाः म० ।

अहरम्मानसं पित्रोर्बन्धूनां द्विषतां तथा । तेषां क्रीडा कुमाराणां देवानामिव सान्द्भुता ॥५३२॥
सिद्धविद्यासमुद्भूतवीर्योद्वृत्तक्रियास्ततः । निवारिताः पितृभ्यां ते यत्नादिति पुनः पुनः ॥५३३॥
रन्तुं चेद्यात किष्किन्धं पुत्राः कौमारचापलात् । मा यासिष्ट समीपं त्वं जातुचिद्दक्षिणाम्बुधेः ॥५३४॥
ततः प्रणम्य तैः[3] पृष्टौ पितरौ तत्र कारणम् । कुतूहलस्य बाहुल्याद्वीर्यशैशवसंभृतान् ॥५३५॥
अनाख्येयमिदं वत्सा इति तौ विहितोत्तरौ । सुतरामनुबन्धेन सुतैः पृष्टौ सचाटुभिः ॥५३६॥
ततस्तेभ्यः सुकेशेन कथितं श्रृणुतात्मजाः । हेतुना विदितेनात्र यद्यवश्यं प्रयोजनम् ॥५३७॥
पुर्यामशनिवेगेन लङ्कायां स्थापितः पुरा । निर्घातो नामतः क्रूरः खेचरो बलवानलम् ॥५३८॥
कुलक्रमेण सास्माकमागता नगरी शुभा । रिपोस्तस्माद् भयात्यक्ता[4] नितान्तमसुवत् प्रिया ॥५३९॥
देशे देशे चरास्तेन नियुक्ताः पापकर्मणा । दत्तावधानाः सततमस्मच्छिद्रगवेषणे ॥५४०॥
यन्त्राणि च प्रयुक्तानि यानि कुर्वन्ति मारणम् । विदित्वा रमणासक्तान् भवतो गगनाङ्गणे ॥५४१॥
निघ्नन्ति तानि रन्ध्रेषु कृत्वा रूपेण लोभनम् । प्रमदाचरणानीवाशक्तं तपसि योगिनम् ॥५४२॥
एवं निगदितं श्रुत्वा पितृदुःखानुचिन्तनात् । निःश्वस्य मालिना दीर्घं समुद्भूताश्रुचक्षुषा ॥५४३॥
क्रोधसंपूर्णचित्तेन कृत्वा गर्वस्मितं चिरम् । निरीक्ष्य बाहुयुगलं प्रगल्भमिति भाषितम् ॥५४४॥
इयन्तं समयं तात कस्मान्नो[5] न निवेदितम् । अहो स्नेहापदेशेन गुरुणा वञ्चिता वयम् ॥५४५॥
अविधाय नराः कार्यं ये गर्जन्ति निरर्थकम् । महान्तं लाघवं लोके शक्तिमन्तोऽपि यान्ति ते ॥५४६॥

कुमारोंकी क्रीड़ा देवोंकी क्रीड़ाके समान अद्भुत थी तथा माता-पिता बन्धुजन और शत्रुओंके भी मनको हरण करती थी ॥५३२॥ सिद्ध हुई विद्याओंसे समुत्पन्न पराक्रमके कारण जिनकी क्रियाएँ अत्यन्त उद्धत हो रहीं थी ऐसे उन कुमारोंको माता-पिता बड़े प्रयत्नसे बार-बार मना करते थे कि हे पुत्रो ! यदि तुम लोग अपनी बालचपलताके कारण क्रीड़ा करनेके लिए किष्किन्धगिरि जाओ तो दक्षिण समुद्रके समीप कभी नहीं जाना ॥५३३–५३४॥ पराक्रम तथा बाल्य अवस्थाके कारण समुत्पन्न कुतूहलकी बहुलतासे वे पुत्र प्रणामकर माता-पितासे इसका कारण पूछते थे तो वे यही उत्तर देते थे कि हे पुत्रो ! यह बात कहनेकी नहीं है । एक बार पुत्रोंने बड़े अनुनय-विनयके साथ आग्रहकर पूछा तो पिता सुकेशने उनसे कहा कि हे पुत्रो ! यदि तुम्हें इसका कारण अवश्य ही जाननेका प्रयोजन है तो सुनो ॥५३५–५३७॥ बहुत पहलेकी बात है कि अशनिवेगने लङ्कामें शासन करनेके लिए निर्घात नामक अत्यन्त क्रूर एवं बलवान् विद्याधरको नियुक्त किया है । वह लंका नगरी कुल-परम्परासे चली आई हमारी शुभ नगरी है । वह यद्यपि हमारे लिए प्राणोंके समान प्रिय थी तो भी बलवान् शत्रुके भयसे हमने उसे छोड़ दिया ॥५३८–५३९॥ पाप कर्ममें तत्पर शत्रुने जगह-जगह ऐसे गुप्तचर नियुक्त किये हैं जो सदा हम लोगोंके छिद्र खोजनेमें सावधान रहते हैं ॥५४०॥ उसने जगह-जगह ऐसे यन्त्र बना रक्खे हैं कि जो आकाशांगणमें क्रीड़ा करते हुए आप लोगोंको जानकर मार देते हैं ॥५४१॥ वे यन्त्र अपने सौन्दर्यसे प्रलोभन देकर दर्शकोंको भीतर बुलाते हैं और फिर उस तरह नष्ट कर देते हैं कि जिस तरह तपश्चरणके समय होनेवाले प्रमाद पूर्ण आचरण असमर्थ योगीको नष्ट कर देते हैं ॥५४२॥ इस प्रकार पिताका कहा सुन और उनके दुःखका विचारकर माली लम्बी साँस छोड़ने लगा तथा उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे ॥५४३॥ उसका चित्त क्रोधसे भर गया, वह चिरकाल तक गर्वसे मन्द-मन्द हँसता रहा और फिर अपनी भुजाओंका युगल देख इस प्रकार गम्भीर स्वरसे बोला ॥५४४॥ हे पिता जी ! इतने समय तक यह बात तुमने हम लोगोंसे क्यों नहीं कही ? बड़े आश्चर्यकी बात है कि आपने बड़े भारी स्नेहके बहाने हम लोगोंको धोखा दिया ॥५४५॥ जो मनुष्य

१. चाद्भुता म० । २. वीर्योद्धत ख० । वीर्योद्धृत म० । ३. तौ म० । ४. त्यक्त्वा म० । ५. अस्मभ्यम् ।

आस्तां ततः फलेनैव शमतां तात यास्यसि । तन्मर्यादं कृतं चेदं मया चूडाविमोक्षणम् ॥५४७॥
अथामङ्गलभीताभ्यां वाचा ते न निवारिताः । पितृभ्यां तनया यात स्निग्धदृष्ट्यानुवीक्षिताः ॥५४८॥
पातालादथ निर्गत्य यथा भवनवासिनः । जग्मुः प्रत्यरि सोत्साहा भ्रातरः शस्त्रभासुराः ॥५४९॥
तेषामनुपदं लग्ना ततो राक्षसवाहिनी । चलदायुधधारोर्मिमाला व्याप्य नभस्तलम् ॥५५०॥
निरीक्षिताः पितृभ्यां ते यावल्लोचनगोचरम् । व्रजन्तः स्नेहसम्पूर्णमानसाभ्यां समङ्गलम् ॥५५१॥
त्रिकूटशिखरेणासौ ततस्तैरुपलक्षिता । दृष्ट्यैव प्रौढया[1] ज्ञाता गृहीतेति पुरी वरा ॥५५२॥
व्रजद्भिरेव तैः केचिद्धत्या मृत्युवशीकृताः । केचित्प्रणवतां नीताः केचित् स्थानान्निमोचिताः ॥५५३॥
विशद्भिः सैन्यमागत्य प्रणतैः शत्रुगोचरैः । ते सामन्तैरलं जाता महान्तः पृथुकीर्तयः ॥५५४॥
शत्रूणामागमं श्रुत्वा निर्घातो निर्ययौ ततः । युद्धशौण्डश्चलच्छत्रच्छायाच्छन्नदिवाकरः ॥५५५॥
ततोऽभवन्महायुद्धं सेनयोः सत्त्वदारुणम् । वाजिभिर्वारणैर्मत्तैर्विमानैः स्यन्दनैस्तथा ॥५५६॥
महीमयमिवोत्पन्नं गगनं दन्तिनां कुलैः । तथा जलात्मकं जातं तेषां गण्डच्युताम्भसा ॥५५७॥
वातात्मकं च तत्कर्णतालसंजातवायुना । तेजोमयं तथान्योऽन्यशस्त्राघातोत्थवह्निना ॥५५८॥
दीनैः किमपरैरत्र निहतैः क्षुद्रखेचरैः । क्वासौ क्वासौ गतः पापो निर्घात इति चोदयन् ॥५५९॥

कार्य न कर केवल निष्प्रयोजन गर्जना करते हैं वे लोकमें शक्तिशाली होनेपर भी महान् अनादरको पाते हैं ॥५४६॥ अथवा रहने दो, यह सब कहनेसे क्या ? हे तात ! आप फल देखकर ही शान्तिको प्राप्त होंगे । जब तक यह कार्य पूरा नहीं हो जाता है तब तकके लिए मैं यह चोटी खोल कर रखूँगा ॥५४७॥ अथानन्तर अमङ्गलसे भयभीत माता-पिताने उन्हें वचनोंसे मना नहीं किया । केवल स्नेह पूर्ण दृष्टिसे उनकी ओर देख कर कहा कि हे पुत्रो ! जाओ ॥५४८॥ तदनन्तर वे तीनों भाई भवनवासी देवोंके समान पातालसे निकल कर शत्रुकी ओर चले । उस समय वे तीनों भाई उत्साहसे भर रहे थे तथा शस्त्रोंसे देदीप्यमान हो रहे थे ॥५४९॥ तदनन्तर चञ्चल शस्त्रोंकी धारा ही जिसमें लहरोंका समूह था ऐसी राक्षसोंकी सेना रूपी नदी आकाशतलको व्याप्त कर उनके पीछे लग गई ॥५५०॥ तीनों पुत्र आगे बढ़े जा रहे थे और जिनके हृदय स्नेहसे परिपूर्ण थे ऐसे माता-पिता उन्हें जब तक वे नेत्रोंसे दिखते रहे तब तक मङ्गलाचार पूर्वक देखते रहे ॥५५१॥ तदनन्तर त्रिकूटाचलकी शिखरसे उपलक्षित लङ्कापुरीको उन्होंने गम्भीर दृष्टिसे देख कर ऐसा समझा मानो हमने उसे ले ही लिया है ॥५५२॥ जाते-जाते ही उन्होंने कितने ही दैत्य मौतके घाट उतार दिये, कितने ही वश कर लिये और कितने ही स्थानसे च्युत कर दिये ॥५५३॥ शत्रु पक्षके सामन्त नम्रीभूत हो कर सेनामें आकर मिलते जाते थे इससे विशालकीर्ति के धारक तीनों ही कुमार एक बड़ी सेनासे युक्त हो गये थे ॥५५४॥ युद्धमें निपुण तथा चञ्चल छत्रकी छायासे सूर्यको आच्छादित करने वाला निर्घात शत्रुओंका आगमन सुन लङ्कासे बाहर निकला ॥५५५॥ तदनन्तर दोनों सेनाओंमें महायुद्ध हुआ । उनका वह महायुद्ध घोड़ों, मदोन्मत्त हाथियों, तथा अपरिमित रथोंसे जीवोंको नष्ट करनेवाला था ॥५५६॥ हाथियोंके समूहसे आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो पृथिवीमय ही हो, उनके गण्डस्थलसे च्युत जलसे ऐसा जान पड़ता था मानों जलमय ही हो, उनके कर्णरूपी तालपत्रसे उत्पन्न वायुसे ऐसा जान पड़ता था मानो वायुरूप ही हो और परस्परके आघातसे उत्पन्न अग्निसे ऐसा जान पड़ता था मानो अग्नि रूप ही हो ॥५५७-५५८॥ युद्धमें दीन हीन अन्य क्षुद्र विद्याधरोंके मारनेसे क्या लाभ है ? वह पापी निर्घात कहाँ है ? कहाँ है ? इसप्रकार प्रेरणा करता हुआ माली आगे बढ़ रहा था

१. प्रौढ्या म० ।

दृष्ट्वा माली [1]शितैर्बाणैः कृत्वा स्यन्दनवर्जितम् । निर्घातमसिनिर्घातात्चक्रे संप्राप्तपञ्चतम् [2] ॥५६०॥
निर्घातं निहतं ज्ञात्वा दानवा भ्रष्टचेतसः । यथास्वं निलयं याता विजयार्द्धनगाश्रितम् ॥५६१॥
केचित्कण्ठे समासाद्य कृपणं कृपणोद्यताः । मालिनं त्वरया याताः शरणं रणकातराः ॥५६२॥
प्रविष्टास्ते ततो लङ्कां भ्रातरो मङ्गलार्चितम् । समागमं च संप्राप्ताः पितृप्रभृतिबान्धवैः ॥५६३॥
ततो हेमपुरेशस्य सुतां हेमखचारिणः । भोगवत्यां समुत्पन्नां नाम्ना चन्द्रवतीं शुभाम् ॥५६४॥
उवाह विधिना माली मानसोत्सवकारिणीम् । स्वभावचपलस्वान्तहृषीकमृगवागुराम् ॥५६५॥
प्रीतिकूटपुरेशस्य [3]प्रीतिकान्तस्य चात्मजाम् । प्रीतिमत्यङ्गजां लेभे सुमाली प्रीतिसंज्ञिताम् ॥५६६॥
कनकाभपुरेशस्य कनकस्य सुतां यथा । उवाह कनकश्रीजां माल्यवान् कनकावलीम् ॥५६७॥
एतेषां [4]प्रथमा जाया एता हृदयसंश्रयाः । अङ्गनानां सहस्रं तु प्रत्येकमधिकं स्मृतम् ॥५६८॥
श्रेणीद्वयं ततस्तेषां पराक्रमवशीकृतम् । शेषामिव बभाराज्ञां शिरसा रचिताञ्जलिम् ॥५६९॥
दृढबद्धपदायान्यनियुक्तनिजसम्पदौ । जातौ सुकेशकिष्किन्धौ निर्ग्रन्थौ शान्तचेतसौ ॥५७०॥

मन्दाक्रान्ताच्छन्दः

भुक्त्वा भुक्त्वा विषयजनितं सौख्यमेवं महान्तो
लब्ध्वा जैनं भवशतमलध्वंसनं मुक्तिमार्गम् ।
याताः प्रायः प्रियजनगुणस्नेहपाशादपेताः
सिद्धिस्थानं निरूपमसुखं राक्षसा वानराश्च ॥५७१॥

॥५५९॥ अन्तमें मालीने निर्घातको देख कर पहले तो उसे तीक्ष्ण बाणोंसे रथरहित किया और फिर तलवारके प्रहारसे उसे समाप्त कर दिया ॥५६०॥ निर्घातको मरा जानकर जिनका चित्त भ्रष्ट हो गया था ऐसे दानव विजयार्ध पर्वत पर स्थित अपने अपने भवनोंमें चले गये ॥५६१॥ युद्धसे डरने वाले कितने ही दीन हीन दानव कण्ठमें तलवार लटका कर शीघ्र ही मालीकी शरणमें पहुँचे ॥५६२॥ तदनन्तर माली आदि तीनों भाइयोंने मङ्गलमय पदार्थोंसे सुशोभित लंकानगरीमें प्रवेश किया । वहीं माता-पिता आदि इष्ट जनोंके साथ समागमको प्राप्त हुए ॥५६३॥

तदनन्तर हेमपुरके राजा हेमविद्याधरकी भोगवती रानीसे उत्पन्न चन्द्रवती नामक शुभ पुत्रीको मालीने विधिपूर्वक बिवाहा । चन्द्रवती मालीके मनमें आनन्द उत्पन्न करनेवाली थी तथा स्वभावसे ही चपल मन और इन्द्रिय रूपी मृगोंको बाँधनेके लिए जालके समान थी ॥५६४–५६५॥ प्रीतिकूटपुरके स्वामी राजा प्रीतिकान्त और रानी प्रीतिमतीकी पुत्री प्रीतिको सुमालीने प्राप्त किया ॥५६६॥ कनकाभनगरके स्वामी राजा कनक और रानी कनकश्रीकी पुत्री कनकावलीको माल्यवान्ने बिवाहा ॥५६७॥ सदा हृदयमें निवास करनेवाली ये इनकी प्रथम स्त्रियाँ थीं वैसे प्रत्येककी कुछ अधिक एक-एक हजार स्त्रियाँ थी ॥५६८॥ तदनन्तर विजयार्ध पर्वतकी दोनों श्रेणियाँ उनके पराक्रमसे वशीभूत हो शेषाक्षतके समान उनकी आज्ञाको हाथ जोड़कर शिरसे धारण करने लगीं ॥५६९॥ अन्तमें अपने-अपने पदोंपर अच्छी तरह आरूढ पुत्रोंके लिए अपनी-अपनी सम्पदा सौंपकर सुकेश और किष्किन्ध शान्त चित्त हो निर्ग्रन्थ साधु हो गये ॥५७०॥ इस प्रकार प्रायः कितने ही बड़े-बड़े राक्षसवंशी और वानरवंशी राजा विषय सम्बन्धी सुखका उपभोगकर अन्तमें संसारके सैकड़ों दोषोंको नष्ट करनेवाला जिनेन्द्र प्रणीत मोक्ष मार्ग पाकर, प्रियजनोंके गुणोत्पन्न स्नेह रूपी बन्धनसे दूर हट अनुपम सुखसे सम्पन्न मोक्ष

१. सितै- म० । २. पञ्चताम् म० । ३. प्रीतिका तस्य म० । ४. प्रथमं म० ।

कृत्वाप्येवं सुबहु दुरितं ध्यानयोगेन दग्ध्वा
सिद्धावासे [1]निहितमतयो योगिनस्त्यक्तसङ्गाः ।
एवं ज्ञात्वा सुचरितगुणं प्राणिनो यात [2]शान्ति
मोहोच्छेदात् कृतजयरविः प्राप्नुत ज्ञानराज्यम् ॥५७२॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते वानरवंशाभिधानं नाम षष्ठं पर्व ॥६॥

स्थानको प्राप्त हुए ॥५७१॥ कितने ही लोगोंने यद्यपि गृहस्थ अवस्थामें बहुत भारी पाप किया था तो भी उसे निर्ग्रन्थ साधु हो ध्यानके योगसे भस्म कर दिया था और मोक्षमें अपनी बुद्धि लगाई थी। इस प्रकार सम्यक्चारित्रके प्रभावको जानकर हे भक्त प्राणियो! शान्तिको प्राप्त होओ, मोहका उच्छेद कर विजय रूपी सूर्यको प्राप्त होओ और अन्तमें ज्ञानका राज्य प्राप्त करो ॥५७२॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध, रविषेणाचार्य प्रोक्त पद्मचरितमें वानरवंशका कथन करनेवाला छठवाँ पर्व पूर्ण हुआ ॥६॥

---

१. विदधितपदं म० (?)। २. शान्तं म०।

सप्तमं पर्व

अत्रान्तरे पुरे राजा रथनूपुरनामनि । सहस्रार इति ख्यातो बभूवान्तमुद्धतः ॥१॥
तस्य भार्या बभूवेष्टा नाम्ना मानससुन्दरी । सुन्दरी मानसेनालं शरीरेण च सद्गुणा ॥२॥
अन्तर्वत्नीं सतीमेतामत्यन्तकृशविग्रहाम् । भर्तापृच्छत् श्लथाशेषभूषणां वीक्ष्य सादरम् ॥३॥
बिभ्रत्यङ्गानि ते कस्मान्नितान्तं तनुतां प्रिये । किं तवाकाङ्क्षितं राज्ये मम जायेत दुर्लभम् ॥४॥
गत्वा प्रगल्भतां ब्रूहि तवाद्यैव समीहितम् । संपादयामि निःशेषं देवि प्राणगरीयसि ॥५॥
कर्तुं शक्तोऽस्मि ते कान्ते सुरस्त्रीकृतशासताम् । शचीमपि कराग्राभ्यां पादसंवाहकारिणीम् ॥६॥
इत्युक्ता सा ततस्तेन वरारोहाङ्कसंश्रिता । जगाद विनयादेवं वचनं लीलयान्वितम् ॥७॥
यस्मादारभ्य मे गर्भे संभवं कोऽप्ययं गतः । ततः प्रभृति वाञ्छामि भोक्तुमिन्द्रस्य सम्पदम् ॥८॥
इमे मनोरथा नाथ परित्यज्य मया त्रपाम् । परासतयात्यन्तं भवतो विनिवेदिताः ॥९॥
इत्युक्ते कल्पिता भोगसम्पत्तस्याः सुरेन्द्रजा । विद्याबलसमृद्धेन सहस्रारेण तत्क्षणात् ॥१०॥
सम्पूर्णदोहदा[1] जाता सा ततः पूर्णविग्रहा । धारयन्ती दुराख्यानां द्युतिं कान्तिञ्च भामिनी ॥११॥
व्रजता रविणाप्यूर्ध्वं खेदं जग्राह तेजसा । अभ्यवाञ्छच्च सर्वासां दातुमाज्ञां दिशामपि ॥१२॥
काले पूर्णे च संपूर्णलक्षणाङ्गमसूत सा । दारकं बान्धवानन्दसम्पदुत्तमकारणम् ॥१३॥
ततो महोत्सवं चक्रे सहस्रारः प्रमोदवान् । शङ्खतूर्यनिनादेन बधिरीकृतदिङ्मुखम् ॥१४॥
सनूपुररणत्कारचरणन्यासकुट्टनैः । नृत्यन्तीभिः पुरस्त्रीभिः कृतभूतलकम्पनम् ॥१५॥

अथानन्तर रथनूपुर नगरमें अत्यन्त पराक्रमका धारी राजा सहस्रार राज्य करता था ॥१॥ उसकी मानससुन्दरी नामक प्रिय स्त्री थी। मानससुन्दरी मन तथा शरीर दोनोंसे ही सुन्दर थी और अनेक उत्तमोत्तम गुणोंसे युक्त थी ॥२॥ वह गर्भिणी हुई। गर्भके कारण उसका समस्त शरीर कृश हो गया और समस्त आभूषण शिथिल पड़ गये। उसे बड़े आदरके साथ देखकर राजा सहस्रारने पूछा कि हे प्रिये! तेरे अङ्ग अत्यन्त कृशताको क्यों धारण कर रहे हैं? तेरी क्या अभिलाषा है? जो मेरे राज्यमें दुर्लभ हो ॥३-४॥ हे प्राणोंसे अधिक प्यारी देवि! कह तेरी क्या अभिलाषा है? मैं आज ही उसे अच्छी तरह पूर्ण करूँगा ॥५॥ हे कान्ते! देवाङ्गनाओंपर शासन करनेवाली इन्द्राणीको भी मैं ऐसा करनेमें समर्थ हूँ कि वह अपनी हथेलियोंसे तेरे पादमर्दन करे ॥६॥ पतिके ऐसा कहनेपर उसकी सुन्दर गोदमें बैठी मानससुन्दरी, विनयसे लीलापूर्वक इस प्रकारके वचन बोली ॥७॥ हे नाथ! जबसे यह कोई बालक मेरे गर्भमें आया है तभीसे इन्द्रकी सम्पदा भोगनेकी मेरी इच्छा है ॥८॥ हे स्वामिन्! अत्यन्त विवशताके कारण ही मैंने लज्जा छोड़कर ये मनोरथ आपके लिए प्रकट किये हैं ॥९॥ वल्लभाके ऐसा कहते ही विद्याबलसे समृद्ध सहस्रारने तत्क्षण ही उसके लिए इन्द्र जैसी भोग सम्पदा तैयार कर दी ॥१०॥ इसप्रकार दोहद-पूर्ण होनेसे उसका समस्त शरीर पुष्ट हो गया और वह कहनेमें न आवे ऐसी दीप्ति तथा कान्ति धारण करने लगी ॥११॥ उसका इतना तेज बढ़ा कि वह ऊपर आकाशमें जाते हुए सूर्यसे भी खिन्न हो उठती थी तथा समस्त दिशाओंको आज्ञा देनेकी उसकी इच्छा होती थी ॥१२॥ समय पूर्ण होनेपर उसने, जिसका शरीर समस्त लक्षणोंसे युक्त था तथा जो बान्धनजनोंके हर्ष और सम्पदाका उत्तम कारण था ऐसा पुत्र उत्पन्न किया ॥१३॥ तदनन्तर हर्षसे भरे सहस्रारने पुत्र-जन्मका महान् उत्सव किया। उस समय शङ्ख और तुरहीके शब्दोंसे दिशाएँ बहिरी हो गई थीं ॥१ ॥ नगरकी

---

१. दोहला ख० ।

यथेच्छं द्रविणं दत्तं विचारपरिवर्जितम् । प्रचलोद्ध्वंकरैर्नृत्तं गजैरपि सबृंहितम् ॥१६॥
उत्पाताः शत्रुगेहेषु संजाताः शोकसूचिनः । बन्धुगेहेषु चोत्पन्नाः सूचिका भूरिसम्पदः ॥१७॥
अभिलाषो यतस्तस्मिन्मातुर्गर्भस्थितेऽभवत् । इन्द्रभोगे ततः पित्रा कृतं तस्येन्द्रशब्दनम् ॥१८॥
बालक्रीडा बभूवास्य शक्तयूनोऽपि जित्वरी । भिदुरा रिपुदर्पाणां सत्वरी[2] चारुकर्मणि ॥१९॥
क्रमात् स यौवनं प्राप्तस्तेजोनिर्जितभास्करम् । कान्तिनिर्जितरात्रीशं स्थैर्यनिर्जितपर्वतम् ॥२०॥
ग्रस्ता इव दिशस्तेन सुविस्तीर्णेन वक्षसा । दिङ्नागकुम्भतुङ्गांसस्थवीयो वृत्तबाहुना ॥२१॥
ऊरुस्तम्भद्वयं तस्य सुवृत्तं गूढजानुकम् । जगाम परमस्थैर्यं वक्षोभवनधारणात् ॥२२॥
विजयार्द्धगिरौ तेन सर्वे विद्याधराधिपाः । ग्राहिता वैतसीं वृत्तिं महाविद्याबलर्द्धिना ॥२३॥
इन्द्रमन्दिरसंकाशं भवनं तस्य निर्मितम् । चत्वारिंशत्सहाष्टाभिः सहस्राणि च योषिताम् ॥२४॥
षड्विंशतिसहस्राणि ननृतुर्नाटकानि च । दन्तिनां व्योममार्गाणां वाजिनां च निरन्तता[3] ॥२५॥
शशाङ्कधवलस्तुङ्गो गगनाङ्गणगोचरः । दुर्निवार्यो महावीर्यो दंष्ट्राष्टकविराजितः ॥२६॥
दन्तिराजो महावृत्तकरार्गलितदिङ्मुखः । ऐरावताभिधानेन गुणैश्च प्रथितो भुवि ॥२७॥
शक्त्या परमया युक्तं लोकपालचतुष्टयम् । शची च महिषी रम्या सुधर्माख्या तथा सभा ॥२८॥
वज्रं[5] प्रहरणं त्रीणि सदांस्यप्सरसां गणाः । नाम्ना हरिणकेशी च सेनायास्तस्य चाधिपः ॥२९॥

स्त्रियाँ नृत्य करते समय जब नूपुरोंकी झनकारके साथ अपने पैर पृथिवीपर पटकती थीं तो पृथिवी तल काँप उठता था ॥१५॥ बिना विचार किये इच्छानुसार धन दानमें दिया गया। मनुष्योंकी बात दूर रही हाथियोंने भी उस समय अपनी चञ्चल सूँड ऊपर उठाकर गर्जना करते हुए नृत्य किया था ॥१६॥ शत्रुओंके घरोंमें शोक सूचक उत्पात होने लगे और बन्धुजनोंके घरोंमें बहुत भारी सम्पदाओंकी सूचना देनेवाले शुभ शकुन होने लगे ॥१७॥ चूँकि बालकके गर्भमें रहते हुए माताको इन्द्रके भोग भोगनेकी इच्छा हुई थी इसलिए पिताने उस बालकका इन्द्र नाम रक्खा ॥१८॥ वह बालक था फिर भी उसकी क्रीड़ाएँ शक्तिसम्पन्न तरुण मनुष्यको जीतने वाली थीं, शत्रुओंका मान खण्डित करनेवाली थीं और उत्तम कार्यमें प्रवृत्त थीं ॥१९॥ क्रम-क्रमसे वह उस यौवनको प्राप्त हुआ जिसने तेजसे सूर्यको, कान्तिसे चन्द्रमाको और स्थैर्यसे पर्वतको जीत लिया था ॥२०॥ उसके कन्धे दिग्गजके गण्डस्थलके समान स्थूल और भुजाएँ गोल थीं तथा उसने विशाल वक्षःस्थलसे समस्त दिशाएँ मानो आच्छादित ही कर रक्खी थीं ॥२१॥ जिनके घुटने मांसपेशियोंमें गूढ थे ऐसी उसकी दोनों गोल जाँघें स्तम्भोंकी तरह वक्षःस्थलरूपी भवनको धारण करनेके कारण परम स्थिरताको प्राप्त हुई थीं ॥२२॥ बहुत भारी विद्याबल और ऋद्धिसे सम्पन्न उस तरुण इन्द्रने विजयार्ध पर्वतके समस्त विद्याधर राजाओंको बेंतके समान नम्रवृत्ति धारण करा रक्खी थी अर्थात् सब उसके आज्ञाकारी थे ॥२३॥ उसने इन्द्रके महलके समान सुन्दर महल बनवाया। अड़तालीस हजार उसकी स्त्रियाँ थीं। छब्बीस हजार नृत्यकार नृत्य करते थे। आकाशमें चलनेवाले हाथियों और घोड़ोंकी तो गिनती ही नहीं थी ॥२४–२५॥ एक हाथी था, जो चन्द्रमाके समान सफेद था, ऊँचा था, आकाश रूपी आँगनमें चलनेवाला था, जिसे कोई रोक नहीं सकता था, महाशक्तिशाली था, आठ दाँतोंसे सुशोभित था, बड़ी मोटी गोल सूँड़से जो दिशाओंमें मानो अर्गल लगा रखता था, तथा गुणोंके द्वारा पृथिवीपर प्रसिद्ध था उसका उसने ऐरावत नाम रक्खा था ॥२६–२७॥ चारों दिशाओंमें परम शक्तिसे युक्त चार लोकपाल नियुक्त किये, पट्टरानीका नाम शची और सभाका नाम सुधर्मा रक्खा ॥२८॥ वज्र नामका शस्त्र, तीन सभाएँ, अप्सराओंके समूह, हरिणकेशी सेनापति,

१. शक्त्या म० । शक्ता ख० । २. सत्वरी म० । ३. निरंहसाम् म० । ४. ख्याता रम्या तथा सभा क० । ५. वक्रं क० ।

अश्विनौ वसवश्चाष्टौ चतुर्भेदा दिवौकसः । नारदस्तुम्बुरु[1] विश्वावसुप्रभृतिगायकाः ॥३०॥
उर्वशी मेनका मञ्जुस्वन्याद्यप्सरसो वराः । मन्त्री बृहस्पतिः सर्वमेवं तस्य सुरेन्द्रवत् ॥३१॥
ततोऽसौ नमिवज्जातः सर्वविद्याभृतां पतिः । ऐश्वर्यं सुरनाथस्य बिभ्राणः पुण्यसंभृतम् ॥३२॥
अत्रान्तरे महामानो माली लङ्कापुरीपतिः । पूर्ववैव धिया सर्वान् शास्ति खेचरपुङ्गवान् ॥३३॥
विजयार्द्धनगस्थेषु समस्तेषु पुरेषु वा । लङ्कागतः करोत्यैश्यं स्वभ्रातृबलगर्वितः ॥३४॥
वेश्या यानं विमानं वा कन्या वासांसि भूषणम् । यद्यच्छ्रेणीद्वये सारं वस्तु चारैर्निवेद्यते ॥३५॥
तत्तत्सर्वं बलाद्धीरः क्षिप्रमानययत्यसौ । पश्यन्नात्मानमेवैकं बलविद्याविभूतिभिः ॥३६॥
इन्द्राश्रयात् खगैराज्ञां भग्नां श्रुत्वास्य चान्यदा । प्रस्थितो भ्रातृकिष्किन्धसुतैः साकं महाबलः ॥३७॥
विमानैर्विविधच्छायैः संध्यामेघैरिवोन्नतैः । महाप्रासादसंकाशैः स्यन्दनैः काञ्चनाञ्चितैः ॥३८॥
गजैर्घनाघनाकारैः [2]सप्तिभिश्चित्तगामिभिः । शार्दूलैर्मृगरैर्गोभिर्मृगराजैः क्रमेलकैः ॥३९॥
[3]वालेयैर्महिषैर्हंसैर्वृकैरन्यैश्च वाहनैः । खाङ्गणं छादयन्सर्वं महाभासुरविग्रहैः ॥४०॥
अथ मालिनमित्यूचे सुमाली भ्रातृवत्सलः । प्रदेशेऽत्रैव तिष्ठामो भ्रातरद्य न गम्यते ॥४१॥
लङ्कां वा प्रतिगच्छामः शृणु कारणमत्र मे । अनिमित्तानि दृश्यन्ते पुनः पुनरिहायने[4] ॥४२॥
एकं संकोच्य चरणमत्यन्ताकुलमानसः । स्थितः शुष्कद्रुमस्याग्रे धुन्वन् पक्षान् पुनः पुनः ॥४३॥

अश्विनीकुमार वैद्य, आठ वसु, चार प्रकारके देव, नारद, तुम्बुरु, विश्वावसु आदि गायक, उर्वशी मेनका मञ्जुस्वनी आदि अप्सराएँ, और बृहस्पति मन्त्री आदि समस्त वैभव उसने इन्द्रके समान ही निश्चित किया था ॥२९–३१॥ तदनन्तर यह, नमि विद्याधरके पुण्योदयसे प्राप्त इन्द्रका ऐश्वर्य धारण करता हुआ समस्त विद्याधरोंका अधिपति हुआ ॥३२॥

इसी समय लंकापुरीका स्वामी महामानी माली था सो समस्त विद्याधरों पर पहले ही के समान शासन करता था ॥३३॥ अपने भाइयोंके बलसे गर्वको धारण करने वाला माली, लङ्कामें रह कर ही विजयार्धपर्वतके समस्त नगरोंमें अपना शासन करता था ॥३४॥ वेश्या, वाहन, विमान, कन्या, वस्त्र तथा आभूषण आदि जो जो श्रेष्ठ वस्तु, दोनो श्रेणियोंमें गुप्तचरोंसे इसे मालूम होती थी उस सबको धीर वीर माली जबरदस्ती शीघ्र ही अपने यहाँ बुलवा लेता था। वह बल विद्या विभूति आदिसे अपने आपको ही सर्व श्रेष्ठ मानता था ॥३५–३६॥ अब इन्द्रका आश्रय पाकर विद्याधर मालीकी आज्ञा भंग करने लगे सो यह समाचार सुन महाबलवान् माली भाई तथा किष्किन्धके पुत्रोंके साथ विजयार्ध गिरिको ओर चला ॥३७॥ कोई अनेक प्रकारकी कान्तिको धारण करनेवाले तथा संध्याकालके मेघोंके समान ऊँचे विमानों पर बैठ कर जा रहे थे, कोई बड़े बड़े महलोंके समान सुवर्णजटित रथोंमें बैठकर चल रहे थे, कोई मेघोंके समान श्यामवर्ण हाथियोंपर बैठे थे, कोई मनके समान शीघ्र गमन करनेवाले घोड़ोंपर सवार थे, कोई शार्दूलों पर, कोई चीतोंपर, कोई बैलोंपर, कोई सिंहोंपर, कोई ऊँटोंपर, कोई गधोंपर, कोई भैंसोंपर, कोई हंसोंपर, कोई भेड़ियोंपर तथा कोई अन्य वाहनोंपर बैठकर प्रस्थान कर रहे थे। इस प्रकार महादेदीप्यमान शरीरके धारक अन्यान्य वाहनोंसे समस्त आकाशाङ्गण को आच्छादित करता हुआ माली विजयार्धके निकट पहुँचा ॥३८–४०॥ अथानन्तर भाईके स्नेहसे भरे सुमालीने मालीसे कहा कि हे भाई ! हम सब आज यहीं ठहरें, आगे न चलें अथवा लङ्काको वापिस लौट चलें। इसका कारण यह है कि आज मार्गमें बार बार अपशकुन दिखाई देते हैं ॥४१–४२॥ देखो उधर सूखे वृक्षके अग्रभाग पर बैठा कौआ एक पैर सङ्कुचित कर बार-बार पंख फड़फड़ा रहा है। उसका मन अत्यन्त व्याकुल दिखाई देता है, सूखा काठ चोंचमें

१. तुम्बरो म० । २. अश्वैः । ३. खरैः । ४. मार्गे ।

शुष्ककाष्ठं दधच्चञ्च्वा [1]वीक्षमाणो दिवाकरम् । [2]रसन् क्रूरमयं ध्वाङ्क्षो निवारयति नो गतिम् ॥४४॥
ज्वालारौद्रमुखी चेयं शिवा नो भुजदक्षिणे । घोरं विरौति रोमाणि [3]हृष्टा निदधती मुहुः ॥४५॥
अयं पतङ्गबिम्बे च परिवेषिणि दृश्यते । कबन्धो भीषणो [4]वृष्टकीलाललवजालकः ॥४६॥
घोराः पतन्ति निर्घाताः कम्पिताखिलपर्वताः । दृश्यन्ते वनिताः कृत्स्ना मुक्तकेश्यो नभस्तले ॥४७॥
खरं खरः [5]खमुत्क्षिप्य मुखं मुखरयन्नभः । क्षितिं खनन् खुराग्रेण दक्षिणः कुरुते स्वरम् ॥४८॥
प्रत्युवाच ततो माली सुमालिनमिति स्फुटम् । कृत्वा स्मितं दृढं बाहू [6]केयूराभ्यां निपीडयन् ॥४९॥
अभिप्रेत्य वधं शत्रोरारुह्य जयिनं द्विपम् । प्रस्थितः पौरुषं बिभ्रत्कथं [7]भूयो निवर्तते ॥५०॥
दंष्ट्रयोः [8]प्रेङ्खणं कुर्वन् चरद्दानस्य दन्तिनः । चक्षुर्विंत्रासितारातिः [9]पूर्यमाणः शितैः शरैः ॥५१॥
दन्तदष्टाधरो बद्धभ्रकुटीकुटिलाननः । विस्मितैरमरैर्दृष्टो भटः किं विनिवर्तते ॥५२॥
कन्दरासु रतं मेरोर्नन्दने चारुन[10]न्दने । चैत्यालया जिनेन्द्राणां कारिता गगनस्पृशः ॥५३॥
दत्तं किमिच्छकं दानं भुक्ता भोगा महागुणाः । यशो धवलिताशेषभुवनं समुपार्जितम् ॥५४॥
जन्मनेत्थं कृतार्थोऽस्मि यदि प्राणान्महाहवे । परित्यजामि कियता कृतमन्येन वस्तुना ॥५५॥
असौ पलायितो भीतो वराक इति भाषितम् । कथमाकर्णयद्धीरो जनतायाः सुचेतसः ॥५६॥
इति संभाषमाणोऽसौ भ्रातरं भासुराननः । विजयार्द्धस्य मूर्द्धानं क्षणादविदितं ययौ ॥५७॥

दबाकर सूर्यकी ओर देखता हुआ क्रूर शब्द कर रहा है मानो हम लोगोंको आगे जानेसे रोक रहा है ॥४३–४४॥ इधर ज्वालाओंसे जिसका मुख अत्यन्त रुद्र मालूम होता है ऐसी यह शृगाली दक्षिण दिशामें रोमाञ्च धारण करती हुई भयङ्कर शब्द कर रही है ॥४५॥ देखो, परिवेष से युक्त सूर्यके बिम्बमें वह भयङ्कर कबन्ध दिखाई दे रहा है और उससे खूनकी बूँदोंका समूह वर्ष रहा है ॥४६॥ उधर समस्त पर्वतोंको कम्पित करनेवाले भयङ्कर वज्र गिर रहे हैं तो इधर आकाशमें खुले केश धारण करनेवाली समस्त स्त्रियाँ दिखाई दे रहीं हैं ॥४७॥ देखो, दाहिनी ओर वह गदृभ ऊपरको मुख उठाकर आकाशको बड़ी तीक्ष्णतासे मुखरित कर रहा है तथा खुरके अग्रभागसे पृथिवीको खोदता हुआ भयङ्कर शब्द कर रहा है ॥४८॥ तदनन्तर बाजूबन्दोंसे दोनों भुजाओंको अच्छी तरह पीड़ित करते हुए मालीने मुसकराकर सुमालीको इस प्रकार स्पष्ट उत्तर दिया कि शत्रुके वधका सङ्कल्पकर तथा विजयी हाथीपर सवार हो जो पुरुषार्थका धारी युद्धके लिए चल पड़ा है वह वापिस कैसे लौट सकता है ॥४९–५०॥ जो मदमत्त हाथीकी दाढ़ोंको हिला रहा है, अपनी आँखोंसे ही जिसने शत्रुओंको भयभीत कर दिया है, जो तीक्ष्ण बाणोंसे परिपूर्ण है, दाँतोंसे जिसने अधरोष्ठ चाब रक्खा है, तनी हुई भ्रकुटियोंसे जिसका मुँह कुटिल हो रहा है, तथा देव लोग जिसे आश्चर्य चकित हो देखते हैं ऐसा योद्धा क्या वापिस लौटता है ? ॥५१–५२॥ मैंने मेरु पर्वतकी कन्दराओं तथा सुन्दर नन्दन वनमें रमण किया है, गगनचुम्बी जिनमन्दिर बनवाये हैं ॥५३॥ किमिच्छक दान दिया है, उत्तमोत्तम भोग भोगे हैं, और समस्त संसारको उज्ज्वल करनेवाला यश उपार्जित किया है ॥५४॥ इस प्रकार जन्म लेनेका जो कार्य था उसे मैं कर चुका हूँ—कृतकृत्य हुआ हूँ, अब युद्धमें मुझे प्राण भी छोड़ना पड़े तो इससे क्या ? मुझे अन्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं ॥५५॥ 'वह बेचारा भयभीत हो युद्धसे भाग गया' जनताके ऐसे शब्दोंको धीरवीर मनुष्य कैसे सुन सकता है ॥५५॥ क्रोधसे जिसका मुख तमतमा रहा था ऐसा माली भाईसे इस प्रकार कहता हुआ तत्क्षण बिना जाने ही विजयार्ध के शिखरपर चला गया ॥५७॥ तदनन्तर जिन-जिन विद्याधरोंने उसका शासन नहीं ममना था

१. वीक्ष्यमाणः म०, ख० । २. रसक्रूरमयं म० । ३. हृष्टया म० । ४. मुञ्चत्कीलाल–म० । ५. आकाशं । ६. केशराभ्यां म० । ७. भूपो म० । ८. प्रेक्षणं म० । ततो हि प्रेक्षणं क० । ९. तर्यमाणः म० (?) । १०. चारुवन्दिने म० । चारनन्दनः क० ।

ततोऽपमानितं यैर्यैः शासनं खेचराधिपैः । तत्पुराणि स सामन्तैर्ध्वंसयामास[1] दारुणैः ॥५८॥
उद्यानानां महाध्वंसो जनितः क्रोधिभिः खगैः । यथा कमलखण्डानां मातङ्गैर्मदमन्थरैः ॥५९॥
ततः संबाध्यमाना सा प्रजा गगनचारिणाम् । जगाम शरणं त्रस्ता सहस्रारं सवेपथुः ॥६०॥
पादयोश्च प्रणम्योचे वचो दीनमिदं भृशम् । सुकेशस्य सुतैर्ध्वस्तां समस्तां नाथ पालय ॥६१॥
सहस्रारस्ततोऽवोचत् खगा गच्छत मत्सुतम् । विज्ञापयत युष्माकं सपरित्राणकारणम् ॥६२॥
त्रिविष्टपं यथा शक्रो रक्षत्यूर्जितशासनः[2] । एवं लोकमिमं पाति स सर्वं वृत्रसूदनः[3] ॥६३॥
एवमुक्तास्ततो जग्मुरिन्द्राभ्यासं नभश्चराः । कृत्वाञ्जलिं प्रणेमुश्च वृत्तान्तं च न्यवेदयन् ॥६४॥
इन्द्रस्ततोऽवदत् क्रुद्धो दर्पस्मितसिताननः । पार्श्वे व्यवस्थिते वज्रे दत्त्वा लोहितलोचने ॥६५॥
यत्नेन महतान्विष्य हन्तव्या लोककण्टकाः । किं पुनः स्वयमायाताः समीपं लोकपालिनः ॥६६॥
ततो मत्तद्विपालानस्तम्भभङ्गस्य कारणम् । रणसंज्ञाविधानार्थं विषमं तूर्यमाहतम् ॥६७॥
सन्नाहमण्डनोपेता निरीयुश्च नभश्चराः । हेतिहस्ताः परं हर्षं बिभ्राणा रणसंभ्रमम् ॥६८॥
रथैरश्वैर्गजैरुष्ट्रैः सिंहैर्व्याघ्रैर्वृकैर्मृगैः । हंसच्छागैर्वृषैर्मेषैर्विमानैर्बर्हिणैः खरैः ॥६९॥
लोकपालाश्च निर्जग्मुर्निजवर्गसमन्विताः । नानाहेतिप्रभाश्लिष्टा भ्रूभङ्गविषमाननाः ॥७०॥
ऐरावतं समारुह्य कङ्कटच्छन्नविग्रहः । समुच्छ्रितसितच्छत्रो निरैदिन्द्रः[4] समं सुरैः ॥७१॥

उन सबके नगर उसने क्रूर सामन्तोंके द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिये ॥५८॥ जिस प्रकार मदमाते हाथी कमल वनोंको विध्वस्त कर देते हैं उसी प्रकार क्रोधसे भरे विद्याधरोंने वहाँके उद्यान—बाग बगीचे विध्वस्त कर दिये ॥५९॥ तदनन्तर मालीके सामन्तों द्वारा पीडित विद्याधरोंकी प्रजा भयसे काँपती हुई सहस्रारकी शरणमें गई ॥६०॥ और उसके चरणोंमें नमस्कारकर इस प्रकार दीनता भरे शब्द कहने लगी—हे नाथ ! सुकेशके पुत्रोंने समस्त प्रजाको क्षत-विक्षत कर दिया है सो उसकी रक्षा करो ॥६१॥ तब सहस्रारने विद्याधरोंसे कहा कि आप लोग मेरे पुत्र—इन्द्रके पास जाओ और उससे अपनी रक्षाकी बात कहो ॥६२॥ जिस प्रकार बलिष्ठ शासनको धारण करनेवाला इन्द्र स्वर्गकी रक्षा करता है उसी प्रकार पापको नष्ट करनेवाला मेरा पुत्र इस समस्त लोककी रक्षा करता है ॥६३॥ इस प्रकार सहस्रारका उत्तर पाकर विद्याधर इन्द्रके समीप गये और हाथ जोड़कर प्रणाम करनेके बाद सब समाचार उससे कहने लगे ॥६४॥ तदनन्तर गर्वपूर्ण मुसकानसे जिसका मुख सफ़ेद हो रहा था ऐसे क्रुद्ध इन्द्रने पासमें रखे वज्रपर लाल-लाल नेत्र डालकर कहा कि ॥६५॥ जो लोकके कण्टक हैं मैं उन्हें बड़े प्रयत्नसे खोज-खोजकर नष्ट करना चाहता हूँ फिर आप लोग तो स्वयं ही मेरे पास आये हैं और मैं लोकका रक्षक कहलाता हूँ ॥६६॥ तदनन्तर जिसे सुनकर मन्दोन्मत्त हाथी अपने बन्धनके खम्भोंको तोड़ देते थे ऐसा तुरहीका विषम शब्द उसने युद्धका सङ्केत करनेके लिए कराया ॥६७॥ उसे सुनते ही जो कवच रूपी आभूषणसे सहित थे, हथियार जिनके हाथमें थे और जो युद्ध सम्बन्धी परम हर्ष धारण कर रहे थे ऐसे विद्याधर अपने-अपने घरोंसे बाहर निकल पड़े ॥६८॥ वे विद्याधर मायामयी रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, मृग, हंस, बकरा, बैल, मेढ़ा, विमान, मोर और गर्दभ आदि वाहनोंपर बैठे थे ॥६९॥ इनके सिवाय जो नाना प्रकारके शस्त्रोंकी प्रभासे आलिङ्गित थे तथा भौंहोंके भङ्गसे जिनके मुख विषम दिखाई देते थे ऐसे लोकपाल भी अपने-अपने परिकरके साथ बाहर निकल पड़े ॥७०॥ जिसका शरीर कवचसे आच्छादित था, और जिसके ऊपर सफ़ेद छत्र फिर रहा था ऐसा इन्द्र विद्याधर भी ऐरावत हाथीपर आरूढ हो देवोंके

---

१. शासयामास क०, ख०। २. रक्षत्यूर्जित म०। ३. वृत्तसूदनः म०, क०। पापहारकः। ४. निरगच्छत्।

युगान्तघनभीमानां ततः प्रववृते रणः । देवानां राक्षसानां च दुःप्रेक्ष्यः क्रूरचेष्टितः ॥७२॥
सप्तिना पात्यते वाजी रथेन चोद्यते रथः । भज्यते दन्तिना दन्ती पादातं च पदातिभिः ॥७३॥
प्रासमुद्गरचक्रासिभुषण्डीमुसलेषुभिः । गदाकनकपाशैश्च छन्नं कृत्स्नं नभस्तलम् ॥७४॥
महोत्साहमथो सैन्यं पुरस्सरणदक्षिणम् । दक्षिणं चलितोद्योगं देवानां निवहैः कृतम् ॥७५॥
विद्युत्वान् चारुयानश्च चन्द्रो नित्यगतिस्तथा । चलज्योतिःप्रभाढ्यश्च रक्षसामक्षिणोद् बलम् ॥७६॥
अथर्क्षसूर्यरजसावुत्तुङ्गकपिकेतुकौ । सीदतो राक्षसान् वीक्ष्य दुर्धरौ योद्धुमुद्यतौ ॥७७॥
दर्शिताः पृष्ठमेताभ्यां सर्वे ते सुरपुङ्गवाः । क्षणादन्यत्र दृष्टाभ्यां दधद्भ्यां वैद्युतं जवम् ॥७८॥
यातुधाना अपि प्राप्य बलं ताभ्यां समुद्यताः । योद्धुं शस्त्रसमूहेन कुर्वाणा ध्वान्तमम्बरे ॥७९॥
ध्वंस्यमानं ततः सैन्यं दैवं यातुकपिध्वजैः । दृष्ट्वा क्रुद्धः समुत्तस्थौ स्वयं योद्धुं सुराधिपः ॥८०॥
कपियातुधनैर्व्याप्तस्ततो देवेन्द्रभूधरः । शस्त्रवर्षं विमुञ्चद्भिस्तारगर्जनकारिभिः ॥८१॥
निजगाद ततः शक्रः पालयन् लोकपालिनः । सर्वतो विशिखैर्मुक्तैर्बभञ्ज कपिराक्षसान् ॥८२॥
अथ माली समुत्तस्थौ सैन्यं दृष्ट्वा समाकुलम् । तेजसा क्रोधजातेन दीपयन् सकलं नभः ॥८३॥
अभवच्च ततो युद्धं मालीन्द्रमतिदारुणम् । विस्मयव्याप्तचित्ताभ्यां सेनाभ्यां कृतदर्शनम् ॥८४॥
मालिनो भालदेशेऽथ स्वकनामाङ्कितं शरम् । आकर्णाकृष्टनिर्मुक्तं निचखान सुराधिपः ॥८५॥
संस्तम्भ्य वेदनां क्रोधान्मालिनाप्यमरोत्तमः । ललाटस्य तटे शक्त्या हतो वेगविमुक्तया ॥८६॥

साथ बाहर निकला ॥७१॥ तदनन्तर प्रलय कालके मेघोंके समान भयङ्कर देवों और राक्षसोंके बीच ऐसा विकट युद्ध हुआ कि जो बड़ी कठिनाईसे देखा जाता था तथा क्रूर चेष्टाओंसे भरा था ॥७२॥ घोड़ा घोड़ाको गिरा रहा था, रथ रथको चूर्ण कर रहा था, हाथी हाथीको भग्न कर रहा था और पैदल सिपाही पैदल सिपाहीको नष्ट कर रहा था ॥७३॥ भाले, मुद्गर, चक्र, तलवार, बन्दूक, मुसल, वाण, गदा, कनक और पाश आदि शस्त्रोंसे समस्त आकाश आच्छादित हो गया था ॥७४॥ तदनन्तर देव कहानेवाले विद्याधरोंने एक ऐसी सेना बनाई जो महान् उत्साहसे युक्त थी, आगे चलनेमें कुशल थी, उदार थी और शत्रुके उद्योगको विचलित करनेवाली थी ॥७५॥ देवोंकी सेनाके प्रधान विद्युत्वान् , चारुदान, चन्द्र, नित्यगति तथा चलज्ज्योति प्रभाढ्य आदि देवोंने राक्षसोंकी सेनाको क्षत-विक्षत बना दिया । तब वानरवंशियोंमें प्रधान दुर्धर पराक्रमके धारी ऋक्षरज और सूर्यरज राक्षसोंको नष्ट होते देख युद्ध करनेके लिए तैयार हुए ॥७६–७७॥ ये दोनों ही वीर विजयी जैसे वेगको धारण करते थे इसलिए क्षण-क्षणमें अन्यत्र दिखाई देते थे । इन दोनोंने देवोंको इतना मारा कि उनसे पीठ दिखाते ही बनी ॥७८॥ इधर राक्षस भी इन दोनोंका बल पाकर शस्त्रोंके समूहसे आकाशमें अन्धकार फैलाते हुए युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए ॥७९॥ उधर जब इन्द्रने देखा कि राक्षसों और वानरवंशियोंके द्वारा देवोंकी सेना नष्ट की जा रही है तब वह क्रुद्ध हो स्वयं युद्ध करनेके लिए उठा ॥८०॥ तदनन्तर शस्त्र वर्षा और गम्भीर गर्जना करनेवाले वानर तथा राक्षस रूपी मेघोंने उस इन्द्र रूपी पर्वतको घेर लिया ॥८१॥ तब लोकपालोंकी रक्षा करते हुए इन्द्रने जोरसे गर्जना की और सब ओर छोड़े हुए वाणोंसे वानर तथा राक्षसोंको नष्ट करना शुरू कर दिया ॥८२॥ तदनन्तर सेनाको व्याकुल देख माली स्वयं उठा । उस समय वह क्रोधसे उत्पन्न तेजसे समस्त आकाशको देदीप्यमान कर रहा था ॥८३॥ तदनन्तर माली और इन्द्रका अत्यन्त भयङ्कर युद्ध हुआ । आश्चर्यसे जिनके चित्त भर रहे थे ऐसी दोनों ओरकी सेनाएँ उनके उस युद्धको बड़े गौरवसे देख रही थीं ॥८४॥ तदनन्तर इन्द्रने, जो कान तक खींचकर छोड़ा गया था तथा अपने नामसे चिह्नित था ऐसा एक वाण मालीके ललाटपर गाड़ दिया ॥८५॥ इधर मालीने भी उसकी पीड़ा रोककर वेगसे छोड़ी हुई

१. जातु कपि म० ।

रक्तारुणितदेहश्च माली द्राक् तमुपागतः । क्रोधारुणः सहस्रांशुर्यथास्तधरणीधरम् ॥८७॥
भानुबिम्बसमानेन चक्रेणास्य ततः शिरः । आभिमुख्यमुपेतस्य लूनं पत्या दिवौकसाम् ॥८८॥
भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा नितान्तं दुःखितस्ततः । चिन्तयित्वा महावीर्यं चक्रिणं व्योमगामिनाम् ॥८९॥
परिवारेण सर्वेण निजेन सहितः क्षणात् । रणात् पलायनं चक्रे सुमाली नयपेशलः ॥९०॥
तद्वधार्थं गतं शक्रमनुमार्गेण गत्वरम्[1] । उवाच प्रणतः सोमः स्वामिभक्तिपरायणः ॥९१॥
विद्यमाने प्रभो भृत्ये मादृशे शत्रुमारणे । प्रयत्नं कुरुषे कस्मात् स्वयं मे यच्छ शासनम्[2] ॥९२॥
एवमस्त्विति चोक्तेऽसावनुमार्गं रिपोर्गतः । बाणपुञ्जं विमुञ्चंश्च करौघमिव शत्रुगम् ॥९३॥
ततस्तदाहतं सैन्यं विशिखैः कपिरक्षसाम् । धाराहतं गवां यद्वत्कुलमाकुलतां गतम् ॥९४॥
पाप न युद्धमर्यादां त्वं जानासि मनागपि । जडवर्गपरिक्षिप्त इत्युक्त्वा प्राप्तकारिणा[3] ॥९५॥
निवृत्त्य क्रोधदीप्तेन ततो माल्यवता शशी[4] । गाढं स्तनान्तरे भिन्नो भिण्डिमालेन मूर्च्छितः ॥९६॥
अयं त्वाश्वास्यते यावन्मूर्च्छामीलितलोचनः । अन्तर्द्धानं गतास्तावद् यातुधानप्लवङ्गमाः ॥९७॥
पुनर्जन्मेव ते प्राप्ता अलङ्कारोदयं[5] पुरम् । सिंहस्येव विनिःक्रान्ता जठरादागताः सुखम्[6] ॥९८॥
प्रतिबुद्धः शशाङ्कोऽपि दिशो वीक्ष्य रिपूज्झिताः । स्तूयमानो जयेनारेर्ययौ मघवतोऽन्तिकम् ॥९९॥
ध्वस्तशत्रुश्च सुत्रामा वन्दिना निवहैः स्तुतः । अन्वितो लोकपालानां चक्रवालेन तोषिणा ॥१००॥

शक्तिके द्वारा इन्द्रके ललाटके समीप ही जमकर चोट पहुँचाई ॥८६॥ खूनसे जिसका शरीर लाल हो रहा था ऐसा क्रोधयुक्त माली शीघ्र ही इन्द्रके पास इस तरह पहुँचा जिस तरह कि सूर्य अस्ताचलके समीप पहुँचता है ॥८७॥ तदनन्तर माली ज्योंही सामने आया त्योंही इन्द्रने सूर्य बिम्बके समान चक्रसे उसका शिर काट डाला ॥८८॥ भाईको मरा देख सुमाली, बहुत दुःखी हुआ। उसने विचार किया कि विद्याधरोंका चक्रवर्ती इन्द्र महाशक्तिशाली है अतः इसके सामने हमारा स्थिर रहना असम्भव है। ऐसा विचारकर नीतिकुशल सुमाली अपने समस्त परिवार के साथ उसी समय युद्धसे भाग गया ॥८९–९०॥ उसका वध करनेके लिए इन्द्र उसी मार्गसे जानेको उद्यत हुआ तब स्वामिभक्तिमें तत्पर सोमने नम्र होकर प्रार्थना की कि हे प्रभो! शत्रुको मारनेवाले मुझ जैसे भृत्यके रहते हुए आप स्वयं क्यों प्रयत्न करते हैं? मुझे आज्ञा दीजिए ॥९१–९२॥ 'ऐसा ही हो' इस प्रकार इन्द्रके कहते ही सोम शत्रुके पीछे उसी मार्गसे चल पड़ा। वह शत्रु तक पहुँचनेवाली किरणोंके समूहके समान वाणोंके समूहकी वर्षा करता जाता था ॥९३॥ तदनन्तर जिस प्रकार जल वृष्टिसे पीडित गायोंका समूह व्याकुलताको प्राप्त होता है उसी प्रकार सोमके वाणोंसे पीडित वानर और राक्षसोंकी सेना व्याकुलताको प्राप्त हुई ॥९४॥ तदनन्तर अवसरके योग्य कार्य करनेवाले, क्रोधसे देदीप्यमान माल्यवान्ने मुड़कर सोमसे कहा कि अरे पापी! तू मूर्ख लोगोंसे घिरा है अतः तू युद्धकी मर्यादाको नहीं जानता। यह कहकर उसने भिण्डिमाल नामक शस्त्रसे सोमके वक्षःस्थलमें इतनी गहरी चोट पहुँचाई कि वह वहीं मूर्च्छित हो गया ॥९५–९६॥ मूर्च्छाके कारण जिसके नेत्र निमीलित थे ऐसा सोम जब तक कुछ विश्राम लेता है तब तक राक्षस और वानर अन्तर्हित हो गये ॥९७॥ जिस प्रकार कोई सिंहके उदरसे सुरक्षित निकल आवे उसी प्रकार वे भी सोमकी चपेटसे सुरक्षित निकलकर अलङ्कारोदयपुर अर्थात् पाताल लङ्कामें वापिस आ गये। उस समय उन्हें ऐसा लगा मानो पुनर्जन्मको ही प्राप्त हुए हों ॥९८॥ इधर जब सोमकी मूर्च्छा दूर हुई तो उसने दिशाओंको शत्रुसे खाली देखा। निदान, शत्रुकी विजयसे जिसकी स्तुति हो रही थी ऐसा सोम इन्द्रके समीप वापिस पहुँचा ॥९९॥ जिसने शत्रुओंको नष्ट कर दिया था

---

१. सत्वरम् ख० । गत्वरा क० । २. शासतम् म० । ३. प्राप्तकारणम् क० । ४. सोमः । ५. अलंकाराह्वयं म० । ६. मुखम् ख० ।

ऐरावतं समारूढश्चामरानिलवीजितः । सितच्छत्रकृतच्छायो नृत्यत्सुरपुरःसरः ॥१०१॥
रत्नांशुकध्वजन्यस्तशोभमुच्छ्रिततोरणम् । आगुल्फपुष्पविशिखं सिक्तं कुङ्कुमवारिणा ॥१०२॥
गवाक्षन्यस्तसन्नारीनयनालीनिरीक्षितः । युक्तः परमया भूत्या विवेश रथनूपुरम् ॥१०३॥
पित्रोश्च विनयात् पादौ प्रणनाम कृताञ्जलिः । तौ च पस्पृशतुर्गात्रं कम्पिना तस्य पाणिना ॥१०४॥
शत्रूनेवं स निर्जित्य परमानन्दमागतः । आस्वादयन् परं भोगं प्रजापालनतत्परः ॥१०५॥
सुतरां स ततो लोके प्रसिद्धिं शक्रतां गतः । प्राप्तः स्वर्गप्रसिद्धिं च विजयार्द्धश्च[1] भूधरः ॥१०६॥
उत्पत्तिं लोकपालानां तस्य वक्ष्यामि साम्प्रतम् । एकाग्रं मानसं कृत्वा श्रेणिकैषां निबुध्यताम् ॥१०७॥
स्वर्गलोकाच्च्युतो जातो मकरध्वजखेचरात् । संभूतो जठरेऽदित्या लोकपालोऽभवच्छशी ॥१०८॥
कान्तिमानेष शक्रेण ज्योतिःसङ्गे पुरोत्तमे । पूर्वस्यां ककुभि न्यस्तो मुमुदे परमर्द्धिकः ॥१०९॥
जातो मेघरथाभिख्याद्वरुणायां महाबलः । खेचरो वरुणो नाम संप्राप्तो लोकपालताम् ॥११०॥
पुरे मेघपुरे न्यस्तः पश्चिमायामसौ दिशि । पाशं प्रहरणं श्रुत्वा यस्य बिभ्यति शत्रवः ॥१११॥
संभूतः कनकावल्यां किंसूर्येण महात्मना । कुबेराख्यो नभोगामी विभूत्या परयान्वितः ॥११२॥
काञ्चनाख्ये पुरे चायमुदीच्यां दिशि योजितः । संप्राप परमं भोगं प्रख्यातो जगति श्रिया ॥११३॥
संभूतः श्रीप्रभागर्भे कालाग्निव्योमचारिणः । चण्डकर्मा यमो नाम तेजस्वी परमोऽभवत् ॥११४॥
दक्षिणोदन्वतो द्वीपे किष्कुनाम्नि पुरोत्तमे । स्थापितोऽसौ स्वपुण्यानां प्राप्नुवन्नूर्जितं फलम् ॥११५॥

तथा वन्दीजनोंके समूह जिसकी स्तुति कर रहे थे ऐसे इन्द्र विद्याधरने सन्तोषसे भरे लोकपालोंके साथ रथनूपुर नगरमें प्रवेश किया। वह ऐरावत हाथीपर सवार था, उसके दोनों ओर चमर ढोले जा रहे थे, सफेद छत्रकी उसपर छाया थी, नृत्य करते हुए देव उसके आगे आगे चल रहे थे, तथा झरोखोंमें बैठी उत्तम स्त्रियाँ अपने नयनोंसे उसे देख रही थीं। उस समय रत्नमयी ध्वजाओंसे रथनूपुर नगरकी शोभा बढ़ रही थी, उसमें ऊँचे ऊँचे तोरण खड़े किये गये थे, उसकी गलियोंमें घुटनों तक फूल बिछाये गये थे और केशरके जलसे समस्त नगर सींचा गया था। ऐसे रथनूपुर नगरमें उसने बड़ी विभूतिके साथ प्रवेश किया ॥१००–१०३॥ राजमहलमें पहुँचनेपर उसने हाथ जोड़कर माता-पिताके चरणोंमें नमस्कार किया और माता-पिताने भी काँपते हुए हाथसे उसके शरीरका स्पर्श किया ॥१०४॥ इस प्रकार शत्रुओंको जीतकर वह परम हर्षको प्राप्त हुआ और उत्कृष्ट भोग भोगता हुआ प्रजापालनमें तत्पर रहने लगा ॥१०५॥ तदनन्तर वह लोकमें इन्द्रकी प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ और विजयार्द्ध पर्वत स्वर्ग कहलाने लगा ॥१०६॥

गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! अब लोकपालोंकी उत्पत्ति कहता हूँ सो मनको एकाग्र कर सुनो ॥१०७॥ स्वर्ग लोकसे च्युत होकर मकरध्वज विद्याधरकी अदिति नामा स्त्रीके उदरसे सोम नामका लोकपाल उत्पन्न हुआ था। यह बहुत ही कान्तिमान् था। इन्द्रने इसे ज्योतिःसङ्ग नामक नगरकी पूर्व दिशामें लोकपाल स्थापित किया था। इस तरह यह परम ऋद्धिका धारी होता हुआ हर्षसे समय व्यतीत करता था ॥१०८–१०९॥ मेघरथ नामा विद्याधरकी वरुणा नामा स्त्रीसे वरुण नामका लोकपाल विद्याधर उत्पन्न हुआ था। इन्द्रने इसे मेघपुर नगरकी पश्चिम दिशामें स्थापित किया था। इसका शस्त्र पाश था जिसे सुनकर शत्रु दूरसे ही भयभीत हो जाते थे ॥११०–१११॥ महात्मा किंसूर्य विद्याधरकी कनकावली स्त्रीसे कुबेर नामका लोकपाल विद्याधर उत्पन्न हुआ था। यह परम विभूतिसे युक्त था। इन्द्रने इसे काञ्चनपुर नगरकी उत्तर दिशामें स्थापित किया था। यह संसारमें लक्ष्मीके कारण प्रसिद्ध था तथा उत्कृष्ट भोगोंको प्राप्त था ॥११२–११३॥ कालाग्नि नामा विद्याधरकी श्रीप्रभा स्त्रीके गर्भसे यम नामका लोकपाल विद्याधर उत्पन्न हुआ था। यह रुद्रकर्मा तथा परम तेजस्वी था ॥११४॥ इन्द्रने इसे दक्षिण सागरके द्वीपमें विद्यमान किष्कु नामक नगरकी दक्षिण

१. विजयार्धोऽस्य ख० । विजयार्धस्स क० ।

पुरस्य यस्य यन्नाम पृथिव्यां ख्यातिमागतम् । तेनैव ख्यापिता नाम्ना पौरास्तत्र सुरेशिना ॥११६॥
असुराख्ये नभोगानां नगरे निवसन्ति ये । असुराख्या इमे जाताः सकले धरणीतले ॥११७॥
यक्षगीते पुरे यक्षाः किन्नराह्वे च किन्नराः । गन्धर्वसंज्ञया ख्याताः पुरे गन्धर्वनामनि ॥११८॥
अश्विनौ वसवो विश्वे वैश्वानरपुरस्सराः । कुर्वन्ति त्रिदशक्रीडां विद्याबलसमन्विताः ॥११९॥
अवाप्य संभवं योनौ प्राप्यश्रीविस्तरं भुवि । प्रणतो भूरिलोकेन मन्यते स्वं सुरेश्वरम् ॥१२०॥
इन्द्रः स्वर्गः सुराश्चान्ये समस्तास्तस्य विस्मृताः । संपद्भीरतिमेतस्य नित्योत्सवविधायिनः ॥१२१॥
स्वमिन्द्रं पर्वतं स्वर्गं लोकपालान् खगेश्वरान् । निजांश्च सकलान् देवान् स मेने भूतिगर्वितः ॥१२२॥
मत्तोऽस्ति न महान् कश्चित्पुरुषो भुवनत्रये । अहमेवास्य विश्वस्य प्रणेता विदिताखिलः ॥१२३॥
विद्याभृच्चक्रवर्तित्वमिति प्राप्य स गर्वितः । फलमन्वभवत् पूर्वजन्मोपात्तसुकर्मणः ॥१२४॥
भागेऽत्र यो व्यतिक्रान्तस्तं वृत्तान्तमतः शृणु । धनदस्य समुत्पत्तिः श्रेणिक ज्ञायते यथा ॥१२५॥
व्योमबिन्दुरिति ख्यातः पुरे कौतुकमङ्गले । भार्या नन्दवती तस्यामुत्पन्नं दुहितृद्वयम् ॥१२६॥
कौशिकी ज्यायसी तत्र केकसी च कनीयसी । ज्येष्ठा विश्रवसे दत्ता पुरे यक्षविनिर्मिते ॥१२७॥
तस्यां वैश्रवणो जातः शुभलक्षणविग्रहः । शतपत्रेक्षणः श्रीमानङ्गनानयनोत्सवः ॥१२८॥
एवमुक्तः स चाहूय शक्रेण कृतपूजनः । व्रज लङ्कापुरीं शाधि प्रियस्त्वं मम खेचरान् ॥१२९॥
चतुर्णां लोकपालानामद्य प्रभृति पञ्चमः । लोकपालो भव त्वं मे मत्प्रसादान्महाबलः ॥१३०॥

दिशामें स्थापित किया था। इस प्रकार यह अपने पुण्यके प्रबल फलको भोगता हुआ समय व्यतीत करता था ॥११५॥ जिस नगरका जो नाम पृथिवीपर प्रसिद्ध था इन्द्रने उस नगरके निवासियोंको उसी नामसे प्रसिद्ध कराया था ॥११६॥ विद्याधरोंके असुर नामक नगरमें जो विद्याधर रहते थे पृथिवी तल पर वे असुर नामसे प्रसिद्ध हुए ॥११७॥ यक्षगीत नगरके विद्याधर यक्ष कहलाये। किन्नर नामा नगरके निवासी विद्याधर किन्नर कहलाये और गन्धर्वनगरके रहनेवाले विद्याधर गन्धर्व नामसे प्रसिद्ध हुए ॥११८॥ अश्विनीकुमार, विश्वावसु तथा वैश्वानर आदि विद्याधर, विद्याबलसे सहित हो देवोंकी क्रीड़ा करते थे ॥११९॥ इन्द्र यद्यपि मनुष्य योनिमें उत्पन्न हुआ था फिर भी वह पृथिवी पर लक्ष्मीका विस्तार पाकर अपने आपको इन्द्र मानने लगा। सब लोग उसे नमस्कार करते थे ॥१२०॥ सम्पदाओंसे परम प्रीतिको प्राप्त तथा निरन्तर उत्सव करनेवाले उस इन्द्र विद्याधरकी समस्त प्रजा यह भूल गई थी कि यथार्थमें कोई इन्द्र है, स्वर्ग है अथवा देव हैं ॥१२१॥ वैभवके गर्वमें फँसा इन्द्र, अपने आपको इन्द्र, विजयार्द्ध गिरिको स्वर्ग, विद्याधरोंको लोकपाल और अपनी समस्त प्रजाको देव मानता था ॥१२२॥ तीनों ही लोकोंमें मुझसे अधिक महापुरुष और कोई दूसरा नहीं है। मैं ही इस समस्त जगत्का प्रणेता तथा सब पदार्थोंको जाननेवाला हूँ ॥१२३॥ इस प्रकार विद्याधरोंका चक्रवर्तीपना पाकर गर्वसे फूला इन्द्र विद्याधर अपने पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य कर्मका फल भोगता था ॥१२४॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! इस भागका जो वृत्तान्त निकल चुका है उसे सुनो जिसमें धनदकी उत्पत्तिका ज्ञान हो सके ॥१२५॥

कौतुकमङ्गल नामा नगरमें व्योमबिन्दु नामका विद्याधर रहता था। उसकी नन्दवती भार्याके उदरसे दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई ॥१२६॥ उनमें बड़ीका नाम कौशिकी और छोटीका नाम केकसी था। बड़ी पुत्री कौशिकी यक्षपुरके धनी विश्रवसके लिए दी गई। उससे वैश्रवण नामका पुत्र हुआ। इसका समस्त शरीर शुभ लक्षणोंसे सहित था, कमलके समान उसके नेत्र थे, वह लक्ष्मीसम्पन्न था तथा स्त्रियोंके नेत्रोंको आनन्द देनेवाला था ॥१२७–१२८॥ इन्द्र विद्याधरने वैश्रवणको बुलाकर उसका सत्कार किया और कहा कि तुम मुझे बहुत प्रिय हो इसलिए लङ्का नगरी जाकर विद्याधरों पर शासन करो ॥१२९॥ तुम चूँकि महाबलवान् हो अतः मेरे प्रसादके

यदाज्ञापयसीत्युक्त्वा कृत्वा चरणवन्दनाम् । आपृच्छ्य पितरौ नत्वा [1]निर्गतोऽसौ सुमङ्गम् ॥१३१॥
अध्यतिष्ठच्च मुदितो लङ्कां शङ्काविवर्जितः । विद्याधरसमूहेन शिरसा धृतशासनः ॥१३२॥
प्रीतिमत्यां समुत्पन्नः सुमालि तनयस्तु यः । नाम्ना रत्नश्रवाः शूरस्त्यागी भुवनवत्सलः ॥१३३॥
मित्रोपकरणं यस्य जीवितं तुङ्गचेतसः । भृत्यानामुपकाराय प्रभुत्वं भूरितेजसः ॥१३४॥
लब्धवर्णोपकाराय वैदग्ध्यं दग्धदुर्मतेः । बन्धूनामुपकाराय लक्ष्म्याश्च परिपालनम् ॥१३५॥
ईश्वरत्वं दरिद्राणामुपकारार्थमुन्नतम् । साधूनामुपकारार्थं सर्वस्वं सर्वपालिनः ॥१३६॥
सुकृतस्मरणार्थञ्च मानसं मानशालिनः । धर्मोपकरणं चायुः वीर्योपकृतये वपुः ॥१३७॥
पितेव प्राणिवर्गस्य यो बभूवानुकम्पकः । सुकाल इव चातीतः स्मर्यतेऽद्यापि जन्तुभिः ॥१३८॥
परस्त्री मातृवद् यस्य शीलभूषणधारिणः । परद्रव्यञ्च तृणवत्परश्च स्वशरीरवत् ॥१३९॥
गुणिनां गणनायां यः प्रथमं गणितो बुधैः । दोषिणां च समुल्लापे न स्मृतो नैव जन्तुभिः ॥१४०॥
अन्यैरिव महाभूतैः शरीरं तस्य निर्मितम् । अन्यथा सा कुतः शोभा बभूवास्य तथाविधा ॥१४१॥
प्रत्येकममृतेनेव चक्रे संभाषणेषु सः । महादानमिवोदात्तचरितो विततार च ॥१४२॥
धर्मार्थकामकार्याणां मध्ये तस्य महामतेः । धर्म एव महान् यत्नो जन्मान्तरगतावभूत् ॥१४३॥

कारण आजसे लेकर चार लोकपालोंके सिवाय पञ्चम लोकपाल हो ॥१३०॥ 'जो आपकी आज्ञा है वैसा ही करूँगा' यह कहकर वैश्रवणने उसके चरणोंमें नमस्कार किया । तदनन्तर माता पितासे पूछकर और उन्हें नमस्कारकर वैश्रवण मङ्गलाचार पूर्वक अपने नगरसे निकला ॥१३१॥ विद्याधरोंको समूह जिसकी आज्ञा शिरपर धारण करते थे ऐसा वैश्रवण निःशङ्क हो बड़ी प्रसन्नतासे लङ्कामें रहने लगा ॥१३२॥

इन्द्रसे हारकर सुमाली अलङ्कारपुर नगर (पाताललंका) में रहने लगा था । वहाँ उसकी प्रीतिमती रानीसे रत्नश्रवा नामका पुत्र हुआ । वह बहुत ही शूरवीर त्यागी और लोकवत्सल था ॥१३३॥ उस उदारहृदयका जीवन मित्रोंका उपकार करनेके लिए था, उस तेजस्वीका तेज भृत्योंका उपकार करनेके लिए था ॥१३४॥ दुर्बुद्धिको नष्ट करनेवाले उस रत्नश्रवाका चातुर्य विद्वानोंका उपकार करनेके लिए था, वह लक्ष्मीकी रक्षा बन्धुजनोंका उपकार करनेके लिए करता था ॥१३५॥ उसका बढ़ा चढ़ा ऐश्वर्य दरिद्रोंका उपकार करनेके लिए था । सबकी रक्षा करनेवाले उस रत्नश्रवाका सर्वस्व साधुओंका उपकार करनेके लिए था ॥१३६॥ उस स्वाभिमानी का मन पुण्य कार्योंका स्मरण करनेके लिए था । उसकी आयु धर्मका उपकार करनेवाली थी और उसका शरीर पराक्रमका उपकार करनेके लिए था ॥१३७॥ वह पिताके समान प्राणियोंके समूह पर अनुकम्पा करनेवाला था । बीते हुए सुकालकी तरह आज भी प्राणी उसका स्मरण करते हैं ॥१३८॥ शीलरूपी आभूषणको धारण करनेवाले उस रत्नश्रवाके लिए परस्त्री माताके समान थी । पर-द्रव्य तृणके समान था और पर-पुरुष अपने शरीरके समान था अर्थात् जिस प्रकार वह अपने शरीरकी रक्षा करता था उसी प्रकार पर-पुरुषकी भी रक्षा करता था ॥१३९॥ जब गुणी मनुष्योंकी गणना शुरू होती थी तब विद्वान् लोग सबसे पहले इसीको गिनते थे और जब दोषोंकी चर्चा होती थी तब प्राणी इसका स्मरण ही नहीं करते थे ॥१४०॥ उसका शरीर मानो पृथिवी आदिसे अतिरिक्त अन्य महाभूतोंसे रचा गया था, अन्यथा उसकी वह अनोखी शोभा कैसे होती ? ॥१४१॥ वह जब वार्तालाप करता था तब ऐसा जान पड़ता था मानो अमृत ही सींच रहा हो । वह इतना उदात्तचरित था कि मानो हमेशा महादान ही देता रहता हो ॥१४२॥ जन्मान्तरमें भी उस महाबुद्धिमान्ने धर्म अर्थ काममें से एक धर्ममें ही महान् प्रयत्न किया था

१. निर्गतासौ म० ।

यशो विभूषणं तस्य भूषणानां सुभूषणम् । गुणाः कीर्त्या समं तस्मिन् सकुटुम्बा इव स्थिताः ॥१४४॥
स भूतिं परमां वाञ्छन् क्रमाद् गोत्रसमागताम् । संत्याजितो निजं स्थानं पत्या स्वर्गनिवासिनाम् ॥१४५॥
परित्यज्य भयं धीरो विद्यां साधयितुं क्षमः । रौद्रं भूतपिशाचादिनादि [1]पुष्पादिकं वनम् ॥१४६॥
विद्यायां विदितां पूर्वमथो[2] तन्नामिनीं सुताम् । व्योमबिन्दुर्ददावस्मै तपसे परिचारिकाम् ॥१४७॥
तस्य सा योगिनः पार्श्वे विनीता समवस्थिता । कृताञ्जलिपुटादेशं वाञ्छन्ती तन्मुखोद्गतम् ॥१४८॥
ततः समाप्तनियमः कृतसिद्धनमस्कृतिः । एकाकिनीं सतीं[3] बालां दृष्ट्वा सरललोचनाम् ॥१४९॥
नीलोत्पलेक्षणां पद्मवक्त्रां कुन्ददलद्विजाम् । शिरीषमालिकाबाहुं पाटलादन्तवाससम्[4] ॥१५०॥
वकुलामोदनिःश्वासां चम्पकत्विक्समत्विषम् । कुसुमैरिव निःशेषां निर्मितां दधतीं तनुम् ॥१५१॥
मुक्तपद्मालयां पद्मां रूपेणैव वशीकृताम् । परमोत्कण्ठयानीतां पादविन्यस्तलोचनाम् ॥१५२॥
अपूर्वपुरुषालोकलज्जितानतविग्रहाम् । ससाध्वसविनिक्षिप्तनिःश्वासोत्कम्पितस्तनीम् ॥१५३॥
लावण्येन [5]विलिम्पन्तीं पल्लवानन्तिकागताम्[6] । निःश्वासाकृष्टमत्तालिकुलव्याकुलिताननाम् ॥१५४॥
सौकुमार्यादिवोदाराद्बिभ्यतानतिनिर्भरम् । यौवनेन कृताश्लेषां संभूतिं योषितः पराम् ॥१५५॥
गृहीत्वेवाखिलस्त्रैणं लावण्यं त्रिजगद्गतम् । कर्मभिर्निर्मितां कर्तुमद्भुतं सार्वलौकिकम् ॥१५६॥

॥१४३॥ सब आभूषणोंका आभूषण यश ही उसका आभूषण था। गुण उसमें कीर्तिके साथ इस प्रकार रह रहे थे मानो उसके कुटुम्बी ही हों ॥१४४॥ वह रत्नश्रवा, अपनी वंश-परम्परासे चली आई उत्कृष्ट विभूतिको प्राप्त करना चाहता था पर इन्द्र विद्याधरने उसे अपने स्थानसे च्युत कर रक्खा था ॥१४५॥ निदान, वह धीर-वीर विद्या सिद्ध करनेके लिए, जहाँ भूत पिशाच आदि शब्द कर रहे थे ऐसे महाभयङ्कर पुष्प वनमें गया ॥१४६॥ सो रत्नश्रवा तो इधर विद्या सिद्ध कर रहा था उधर विद्याके विषयमें पहलेसे ही परिज्ञान रखनेवाली तथा जो बादमें रत्नश्रवाकी पत्नी होनेवाली थी ऐसी अपनी छोटी कन्या केकसीको व्योमबिन्दुने उसकी तपकालीन परिचर्याके लिए भेजा ॥१४७॥ सो केकसी उस योगीके समीप बड़े विनयसे हाथ जोड़े खड़ी हुई उसके मुखसे निकलनेवाले आदेशकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥१४८॥

तदनन्तर जब रत्नश्रवाका नियम समाप्त हुआ तब वह सिद्ध भगवान्‌को नमस्कारकर उठा। उसी समय उसकी दृष्टि अकेली खड़ी केकसीपर पड़ी। केकसीकी आँखोंसे सरलता टपक रही थी ॥१४९॥ उसके नेत्र नील कमलके समान थे, मुख कमलके समान था, दाँत कुन्दकी कलीके समान थे, भुजाएँ शिरीषकी मालाके समान थीं, अधरोष्ठ गुलाबके समान था ॥१५०॥ उसकी श्वाससे मौलिश्रीके फूलोंकी सुगन्धि आ रही थी, उसकी कान्ति चम्पेके फूलके समान थी, उसका सारा शरीर मानो फूलोंसे ही बना था ॥१५१॥ रत्नश्रवाके पास खड़ी केकसी ऐसी जान पड़ती थी मानो उसके रूपसे वशीभूत हो लक्ष्मी ही कमल रूपी घरको छोड़कर बड़ी उत्कण्ठासे उसके पास आई हो और उसके चरणोंमें नेत्र गड़ाकर खड़ी हो ॥१५२॥ अपूर्व पुरुषके देखनेसे उत्पन्न लज्जाके कारण उसका शरीर नीचेकी ओर झुक रहा था तथा भय सहित निकलते हुए श्वासोच्छ्वाससे उसके स्तन कम्पित हो रहे थे ॥१५३॥ वह अपने लावण्यसे समीपमें पड़े पल्लवोंको लिप्त कर रही थी तथा श्वासोच्छ्वासकी सुगन्धिसे आकृष्ट मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे वनको आकुलित कर रही थी ॥१५४॥ वह अत्यधिक सौकुमार्यके कारण इतनी अधिक नीचेको झुक रही थी कि यौवन डरते-डरते ही उसका आलिङ्गन कर रहा था। केकसी क्या थी मानो स्त्रीत्वकी परम सृष्टि थी ॥१५५॥ समस्त संसार सम्बन्धी आश्चर्य इकट्ठा करनेके लिए ही मानो त्रिभुवनसम्बन्धी समस्त स्त्रियोंका सौन्दर्य एकत्रितकर कर्मोंने उसकी रचना की थी ॥१५६॥

---

१. पुष्पान्तकं म० । मद्योनाद्भाविनीं क० ख० ज० (मन्दोद्योतोद्भाविनीम्) । ३. सुतां म० । ४. वाससाम् म० । ५. विलंपन्तीं म० । ६. -नन्तिकीगतान् म० ।

शरीरेणेव संयुक्तां साक्षाद्विद्यामुपागताम् । वशीकृतामुदारेण तपसा कान्तिशालिनीम् ॥१५७॥
पप्रच्छ प्रियया वाचा करुणावान् स्वभावतः । प्रमदासु विशेषेण कन्यकासु ततोऽधिकम् ॥१५८॥
कस्यासि दुहिता बाले किमर्थं वा[1] महावने । एकाकिनी मृगीवास्मिन् यूथाद् भ्रष्टावतिष्ठसे ॥१५९॥
के वा भजन्ति ते वर्णा नाम पुण्यमनोरथे[2] । पक्षपातोभवत्येव योगिनामपि सज्जने ॥१६०॥
तस्मै साकथयद् वाचा गद्गदत्वमुपेतया । दधत्यात्यन्तमाधुर्यं चेतश्चोरणदक्षया ॥१६१॥
उत्पन्ना मन्दवत्यङ्गे व्योमबिन्दोरहं सुता । केकसीति भवत्सेवां कर्तुं पित्रा निरूपिता ॥१६२॥
तत्रैव समये तस्य सिद्धा विद्या महौजसः । मानसस्तम्भिनी नाम्ना क्षणदर्शितविग्रहा ॥१६३॥
ततो विद्याप्रभावेण तस्मिन्नेव महावने । पुरं पुष्पान्तकं नाम क्षणात्तेन निवेशितम् ॥१६४॥
कृत्वा पाणिगृहीतां च केकसीं विधिना ततः । रेमे तत्र पुरे प्राप्य भोगान् मानसकल्पितान् ॥१६५॥
बभूव च तयोः प्रीतिर्जाया पत्योरनुत्तरा । क्षणार्द्धमपि नो सेहे वियोगं या सुचेतसोः ॥१६६॥
मृतामिव स तां मेने लोचनागोचरस्थिताम् । निमेषादर्शनान्म्लानिं[3] व्रजन्तीं मृदुमानसाम् ॥१६७॥
वक्त्रचन्द्रेऽक्षिणी तस्यास्तस्य नित्यं व्यवस्थिते । सर्वेषां वा हृषीकाणां सा बभूवास्य बन्धनम् ॥१६८॥
[4]अनन्यजेन रूपेण यौवनेन धनश्रिया । विद्याबलेन धर्मेण सक्तिरासीत्परं तयोः ॥१६९॥
व्रजन्ती व्रज्यया[5] युक्ते तिष्ठन्ती स्थितिमागते । छायेव साभवत् पत्यावनुवर्तनकारिणी ॥१७०॥

वह केकसी ऐसी जान पड़ती थी मानो रत्नश्रवाके उत्कृष्ट तपसे वशीभूत हुई कान्तिसे सुशोभित साक्षात् विद्या ही शरीर धरकर सामने खड़ी हो ॥१५७॥ रत्नश्रवा स्वभावसे ही दयालु था और विशेषकर स्त्रियोंपर तथा उनसे भी अधिक कन्याओंपर अधिक दयालु था अतः उसने प्रिय वचनोंसे पूछा कि हे बाले ! तू किसकी लड़की है ? और इस महावनमें झुण्डसे बिछुड़ी हरिणीके समान अकेली किस लिए खड़ी है ? ॥१५८॥ हे पुण्य मनोरथे ! कौनसे अक्षर तेरे नामको प्राप्त हैं ? रत्नश्रवाने केकसीसे ऐसा पूछा सो उचित ही था क्योंकि सज्जनके ऊपर साधुओंका भी पक्षपात हो ही जाता है ॥१६०॥ इसके उत्तरमें अनन्त माधुर्यको धारण करनेवाली एवं चित्तके चुरानेमें समर्थ गद्गद वाणीसे केकसीने कहा कि मैं मन्दवतीके शरीरसे उत्पन्न राजा व्योमबिन्दुकी पुत्री हूँ, केकसी मेरा नाम है और पिताकी प्रेरणासे आपकी सेवा करनेके लिए आई हूँ ॥१६१-१६२॥ उसी समय महातेजस्वी रत्नश्रवाको मानसस्तम्भिनी नामकी विद्या सिद्ध हो गई सो उस विद्याने उसी समय अपना शरीर प्रकट कर दिखाया ॥१६३॥

तदनन्तर उस विद्याके प्रभावसे उसने उसी वनमें तत्क्षण ही पुष्पान्तक नामका नगर बसाया ॥१६४॥ और केकसीको विधिपूर्वक अपनी स्त्री बनाकर उसके साथ मनचाहे भोग भोगता हुआ वह उस नगरमें क्रीड़ा करने लगा ॥१६४-१६५॥ शोभनीय हृदयको धारण करनेवाले उन दोनों दम्पतियोंमें ऐसी अनुपम प्रीति उत्पन्न हुई कि वह आधे क्षणके लिए भी उनका वियोग सहन नहीं कर सकती थी ॥१६६॥ यदि केकसी क्षण भरके लिए भी रत्नश्रवाके नेत्रोंके ओझल होती थी तो वह उसे ऐसा मानने लगता था मानो मर ही गई हो । और केकसी भी यदि उसे पल भरके लिए नहीं देखती थी तो म्लानिको प्राप्त हो जाती थी—उसकी मुखकी कान्ति मुरझा जाती थी । कोमल चित्त तो उसका था ही ॥१६७॥ रत्नश्रवाके नेत्र सदा केकसीके मुखचन्द्रपर ही गड़े रहते थे अथवा यों कहना चाहिए कि केकसी, रत्नश्रवाकी समस्त इन्द्रियोंका मानो बन्धन ही थी ॥१६८॥ अनुपम रूप, यौवन, धन-सम्पदा, विद्याबल और पूर्वोपार्जित धर्मके कारण उन दोनोंमें परस्पर परम आसक्ति थी ॥१६९॥ जब रत्नश्रवा चलता था तब केकसी भी

---

१. त्वमिहावनौ ० । २. पुण्यमनोरथैः । ३. दर्शनम्लानिं म० । ४. अनन्यजैकरूपेण म० । ५. व्रजया म०, क० ।

अथासौ विपुले कान्ते क्षीराकूपारपाण्डुरे । रत्नदीपकृतालोके दुकूलपटकोमले ॥१७१॥
यथेष्टगल्लके[1] न्यस्त नानावर्णोपधानके । निःश्वासामोदनिर्णिद्रद्विरेफसमुपासिते[2] ॥१७२॥
परितः स्थितयामस्त्रीविनिद्रनयनेक्षिते[3] । तनुदन्तविनिर्माणपट्टके[4] शयनोत्तमे ॥१७३॥
चिन्तयन्ती गुणान् पत्युर्मनोबन्धनकारिणः । वाञ्छन्ती च सुतोत्पत्तिं सुखं निद्रामुपागता ॥१७४॥
ईक्षाञ्चक्रे परान् स्वप्नान् महाविस्मयकारिणः । अव्यक्तचलनाध्यायिसखीवीक्षितविग्रहा[5] ॥१७५॥
ततः प्रभाततूर्येण शङ्खशब्दानुकारिणा । मागधानां च वाणीभिः सुप्रबोधनमागता[6] ॥१७६॥
कृतमङ्गलकार्यार्थं नेपथ्यं दधती शुभम् । सखीभिरन्विताऽगच्छन् मनोज्ञा भर्तुरन्तिकम् ॥१७७॥
आसीना चाञ्जलिं कृत्वा पत्युः पार्श्वे सुविभ्रमा । भद्रासनेंऽशुकच्छन्ने क्रमात् स्वप्नान्न्यवेदयत् ॥१७८॥
अद्य रात्रौ मया यामे चरमे नाथ वीक्षिताः । त्रयः स्वप्नाः श्रुतौ तेषां प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥१७९॥
बृहद्‌वृन्दं गजेन्द्राणां ध्वंसयन् परमौजसा । कुक्षिमास्येन मे सिंहः प्रविष्टो नभसस्तलात् ॥१८०॥
विद्रावयन् मयूखैश्च ध्वान्तं गजकुलासितम् । स्थितो विहायसो मध्यादर्कः कमलबान्धवः ॥१८१॥
कुर्वन्मनोहरां लीलां दूरयन् तिमिरं करैः । अखण्डमण्डलो दृष्टः पुरः कुमुदनन्दनः ॥१८२॥
दृष्टमात्रेषु चैतेषु विस्मयाक्रान्तमानसा । प्रभाततूर्यनादेन गताहं वीतनिद्रताम् ॥१८३॥

चलने लगती थी और जब रत्नश्रवा बैठता था तो केकसी भी बैठ जाती थी। इस तरह वह छायाके समान पतिकी अनुगामिनी थी ॥१७०॥

अथानन्तर—एक दिन रानी केकसी रत्नोंके महलमें ऐसी शय्यापर पड़ी थी कि जो विशाल थी, सुन्दर थी, क्षीरसमुद्रके समान सफ़ेद थी, रत्नोंके दीपकोंका जिस प्रकार प्रकाश फैल रहा था, जो रेशमी वस्त्रसे कोमल थी, ॥१७१॥ जिसपर यथेष्ट गद्दा बिछा हुआ था, रंगबिरंगी तकियाँ रखी हुई थीं, जिसके आस-पास श्वासोच्छ्वासकी सुगन्धिसे जागरूक भौंरे मण्डरा रहे थे ॥१७२॥ चारों ओर पहरेपर खड़ीं स्त्रियाँ जिसे निद्रारहित नेत्रोंसे देख रही थीं, और जिसके समीप ही हाथी-दाँतकी बनी छोटी सी चौकी रखी हुई थी ऐसी उत्तम शय्यापर केकसी मनका बन्धन करनेवाले पतिके गुणोंका चिन्तवन करती और पुत्रोत्पत्तिकी इच्छा रखती हुई सुखसे सो रही थी ॥१७३-१७४॥ उसी समय स्थिर होकर ध्यान करनेवाली अर्थात् सूक्ष्म देख-रेख रखनेवाली सखियाँ जिसके शरीरका निरीक्षण कर रही थीं ऐसी केकसीने महा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले उत्कृष्ट स्वप्न देखे ॥१७५॥ तदनन्तर शङ्खोंके शब्दका अनुकरण करनेवाली प्रातःकालीन तुरहीकी मधुर ध्वनि और चारणोंकी रम्य वाणीसे केकसी प्रबोधको प्राप्त हुई ॥१७६॥ सो मङ्गल कार्य करनेके अनन्तर शुभ तथा श्रेष्ठ नेपथ्यको धारणकर मनको हरण करती हुई, सखियोंके साथ पतिके समीप पहुँची ॥१७७॥ वहाँ हाथ जोड़, हाव-भाव दिखाती हुई, पतिके समीप, उत्तम वस्त्रसे आच्छादित सोफापर बैठकर उसने स्वप्न देखनेकी बात कही ॥१७८॥ उसने कहा कि हे नाथ! आज रात्रिके पिछले पहर मैंने तीन स्वप्न देखे हैं सो उन्हें सुनकर प्रसन्नता कीजिए ॥१७९॥ पहले स्वप्नमें मैंने देखा है कि अपने उत्कृष्ट तेजसे हाथियोंके बड़े भारी झुण्डको विध्वस्त करता हुआ एक सिंह आकाशतलसे नीचे उतरकर मुख-द्वारसे मेरे उदरमें प्रविष्ट हुआ है ॥१८०॥ दूसरे स्वप्नमें देखा है कि किरणोंसे हाथियोंके समूहके समान काले अन्धकारको दूर हटाता हुआ सूर्य आकाशके मध्य भागमें स्थित है ॥१८१॥ और तीसरे स्वप्नमें देखा है कि मनोहर लीलाको करता और किरणोंसे अन्धकारको दूर हटाता हुआ पूर्ण चन्द्रमा हमारे सामने खड़ा है ॥१८२॥ इन स्वप्नोंके दिखते ही मेरा मन आश्चर्यसे भर गया और उसी

१. यथेष्टदेहविन्यस्त- म० । २. समुपासते म० । ३. यामश्री म० । ४. तत्र दन्त म० ।
५. अव्यक्तचलनादायि म० । अव्यक्तवलनादायि क० । ६. सापि प्रबोध म० ।

किमेतदिति नाथ त्वं ज्ञातुमर्हसि साम्प्रतम् । ज्ञातव्येषु हि नारीणां प्रमाणं प्रियमानसम् ॥१८४॥
ततोऽष्टाङ्गनिमित्तज्ञः कुशलो जिनशासने । रत्नश्रवाः प्रमोदेन स्वप्नार्थान् व्यवृणोत् क्रमात् ॥१८५॥
उत्पत्स्यन्ते त्रयः पुत्रास्त्रिजगद्गतकीर्तयः । तव देवि महासत्त्वाः कुलवृद्धिविधायिनः ॥१८६॥
भवान्तरनिबद्धेन सुकृतेनोत्तमक्रियाः । वल्लभत्वं प्रपत्स्यन्ते सुरेष्वपि सुरैः समाः ॥१८७॥
कान्त्युत्सारिततारेशा दीप्त्युत्सारितभास्कराः । गाम्भीर्यजिततोयेशाः [1]स्थैर्योत्सारितभूधराः ॥१८८॥
चारुकर्मफलं भुक्त्वा स्वर्गे शेषस्य कर्मणः । परिपाकमवाप्स्यन्ति सुरैरप्यपराजिताः ॥१८९॥
दानेन कामजलदाश्चक्रवर्तिसमर्द्धयः । वरस्त्रीमन्मिनीचेतोलोचनालीमलिम्लुचाः ॥१९०॥
श्रीवत्सलक्षणात्यन्तराजितोत्तुङ्गवक्षसः । नाममात्रश्रुतिध्वस्तमहासाधनशात्रवः ॥१९१॥
भविता प्रथमस्तेषां नितान्तं जगते हितः । साहसैकरसासक्तः शत्रुपद्मक्षपाकरः ॥१९२॥
संग्रामगमनात्तस्य भविष्यति समन्ततः । शरीरं [2]निचितं चारोरुक्चरोमाञ्चकण्टकैः ॥१९३॥
निधानं कर्मणामेष दारुणानां भविष्यति । वस्तुन्यूरीकृते तस्य न शक्रोऽपि निवर्तकः ॥१९४॥
कृत्वा स्मितं ततो देवी परमप्रमदान्विता । भर्तुराननमालोक्य विनयादित्यभाषत ॥१९५॥
अर्हन्मतामृतास्वादसुचिताभ्यां कथं प्रभो । आवाभ्यां प्राप्य जन्मायं क्रूरकर्मा भविष्यति ॥१९६॥
आवयोर्ननु मज्जापि जिनवाक्येन भाविता । भवेदमृतवल्लीतो विषस्य प्रसवः कथम् ॥१९७॥
प्रत्युवाच [3]स तामेवं प्रिये शृणु वरानने । कर्माणि कारणं तस्य न वयं कृत्यवस्तुनि ॥१९८॥

समय प्रातःकालीन तुरहीकी ध्वनिसे मेरी निद्रा टूट गई ॥१८३॥ हे नाथ ! यह क्या है ? इसे आप ही जाननेके योग्य हैं क्योंकि स्त्रियोंके जानने योग्य कार्योंमें पतिका मन ही प्रमाणभूत है ॥१८४॥ तदनन्तर अष्टाङ्ग निमित्तके जानकार एवं जिन-शासनमें कुशल रत्नश्रवाने बड़े हर्षसे क्रम पूर्वक स्वप्नोंका फल कहा ॥१८५॥ उन्होंने कहा कि हे देवि ! तुम्हारे तीन पुत्र होंगे । ऐसे पुत्र कि जिनकी कीर्ति तीनों लोकोंमें व्याप्त होगी, जो महापराक्रमके धारी तथा कुलकी वृद्धि करनेवाले होंगे ॥१८६॥ वे तीनों ही पुत्र पूर्व भवमें संचित पुण्यकर्मसे उत्तम कार्य करनेवाले होंगे, देवोंके समान होंगे और देवोंके भी प्रीतिपात्र होंगे ॥१८७॥ वे अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको दूर हटावेंगे, तेजसे सूर्यको दूर भगावेंगे और स्थिरतासे पर्वतको ठुकरावेंगे ॥१८८॥ स्वर्गमें पुण्य कर्मका फल भोगनेके बाद जो कुछ कर्म शेष बचा है अब उसका फल भोगेंगे । वे इतने बलवान् होंगे कि देव भी उन्हें पराजित नहीं कर सकेंगे ॥१८९॥ वे दानके द्वारा मनोरथको पूर्ण करनेवाले मेघ होंगे, चक्रवर्तियोंके समान ऋद्धिके धारक होंगे, और श्रेष्ठ स्त्रियोंके मन तथा नेत्रोंको चुरानेवाले होंगे ॥१९०॥ उनका उन्नत वक्षःस्थल श्रीवत्स चिह्नसे अत्यन्त सुशोभित होगा, और उनका नाम सुनते ही बड़ी-बड़ी सेनाओंके अधिपति शत्रु नष्ट हो जावेंगे ॥१९१॥ उन तीनों पुत्रोंमें प्रथम पुत्र जगत्का अत्यन्त हितकारी होगा, साहसके कार्यमें वह बड़े प्रेमसे आसक्त होगा तथा शत्रु रूपी कमलोंको निमीलित करनेके लिए चन्द्रमाके समान होगा ॥१९२॥ वह युद्धका इतना प्रेमी होगा कि युद्धमें जाते ही उसका सारा शरीर खड़े हुए रोमाञ्चरूपी कंटकोंसे व्याप्त हो जावेगा ॥१९३॥ वह घोर भयंकर कार्योंका भाण्डार होगा तथा जिस कार्यको स्वीकृत कर लेगा उससे उसे इन्द्र भी दूर नहीं हटा सकेगा ॥१९४॥ पतिके ऐसे वचन सुन परम प्रमोदको प्राप्त हुई केकसी, मन्द हासकर तथा पतिका मुख देखकर विनयसे इस प्रकार बोली कि हे नाथ ! हम दोनोंका चित्त तो जिनमत रूपी अमृतके आस्वादसे अत्यन्त निर्मल है फिर हम लोगोंसे जन्म पाकर यह पुत्र क्रूरकर्मा कैसे होगा ? ॥१९५-१९६॥ निश्चयसे हम दोनोंकी मज्जा भी जिनेन्द्र भगवान्के वचनोंसे संस्कारित है फिर हमसे ऐसे पुत्रका जन्म कैसे होगा ? क्या कहीं अमृतकी वेलसे विषकी भी उत्पत्ति होती है ? ॥१९७॥ इसके उत्तरमें राजा रत्नश्रवाने

१. स्थैर्यात्सादित म० । २. निश्चितं म० । ३. च म० ।

मूलं हि कारणं कर्मस्वरूपविनियोजने । निमित्तमात्रमेवास्य जगतः पितरौ स्मृतौ ॥१९९॥
भविष्यतोऽनुजावस्य जिनमार्गविशारदौ । गुणग्रामसमाकीर्णौ सुचेष्टौ शीलसागरौ ॥२००॥
सुदृढं सुकृते लग्नौ भवस्खलनभीतितः । सत्यवाक्यरतौ सर्वसत्त्वकारुण्यकारिणौ ॥२०१॥
तयोरपि पुरोपात्तं सौम्यकर्म मृदुस्वने । कारणं करुणोपेते यतो हेतुसमं फलम् ॥२०२॥
एवमुक्त्वा जिनेन्द्राणां ताभ्यां पूजाप्रवर्तिता । मनसापि प्रतीतेन [1]प्रयताभ्यामहर्दिवम् ॥२०३॥
ततो गर्भस्थिते सत्त्वे प्रथमे मातुरीहितम् । बभूव क्रूरमत्यन्तं हठनिर्जितपौरुषम् ॥२०४॥
अभ्यवाञ्छत्पदन्यासं [2]कर्तुं मूर्धसु विद्विषाम् । रक्तकर्दमदिग्धेषु परिस्फुरणकारिषु ॥२०५॥
आज्ञां दातुमभिप्रायः [3]सुरराजेऽप्यजायत । हुङ्कारमुखरं चास्यमन्तरेणापि कारणम् ॥२०६॥
निष्ठुरत्वं शरीरस्य निर्जितश्रमवत्तरा । कठोरा घर्घरा वाणी दृष्टिपाताः परिस्फुटाः ॥२०७॥
दर्पणे विद्यमानेऽपि सायकेऽपश्यदाननम् । कथमप्यानमन्मूर्द्धा गुरूणामपि वन्दने ॥२०८॥
प्रतिपक्षासनाकम्पं कुर्वन्नथ विनिर्गतः । संपूर्णे समये तस्याः कुक्षेः प्राणी [4]सदारुणः ॥२०९॥
प्रभया तस्य जातस्य दिवाकरदुरीक्षया । परिवर्गस्य नेत्रौघाः [5]सुवनस्थगिता इव ॥२१०॥
भूतैश्च ताडनाद् भूतो दुन्दुभेरुद्धतो ध्वनिः । कबन्धैः शत्रुगेहेषु कृतमुत्पातनर्तनम् ॥२११॥
ततो जन्मोत्सवस्तस्य महान् पित्रा प्रवर्तितः । उन्मत्तिकेव यत्रासीत् प्रजा स्वेच्छाविधायिनी ॥२१२॥

कहा कि हे प्रिये ! हे उत्कृष्टमुखि ! इस कार्यमें कर्म ही कारण हैं हम नहीं ॥१९८॥ संसारके स्वरूपकी योजनामें कर्म ही मूल कारण हैं माता-पिता तो निमित्त मात्र हैं ॥१९९॥ इसके दोनों छोटे भाई जिन मार्गके पण्डित, गुणोंके समूहसे व्याप्त, उत्तम चेष्टाओंके धारक तथा शीलके सागर होंगे ॥२००॥ संसारमें कहीं मेरा स्खलन न हो जाय इस भयसे वे सदा पुण्य कार्यमें अच्छी तरह संलग्न रहेंगे, सत्य वचन बोलनेमें तत्पर होंगे और सब जीवोंपर दया करनेवाले होंगे ॥२०१॥ हे कोमल शब्दोंवाली तथा दयासे युक्त प्रिये ! उन दोनों पुत्रोंका पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म ही उनके इस स्वभावका कारण होगा सो ठीक ही है क्योंकि कारणके समान ही फल होता है ॥२०२॥ ऐसा कहकर रात-दिन सावधान रहनेवाले माता-पिताने प्रसन्न चित्तसे जिनेन्द्र भगवान्की पूजा की ॥२०३॥

तदनन्तर जब गर्भमें प्रथम बालक आया तब माताकी चेष्टा अत्यन्त क्रूर हो गई । वह हठ पूर्वक पुरुषोंके समूहको जीतनेकी इच्छा करने लगी । वह चाहने लगी कि मैं खूनकी कीचड़ से लिप्त तथा छटपटाते हुए शत्रुओंके मस्तकोंपर पैर रक्खूँ ॥२०४–२०५॥ देवराज-इन्द्रके ऊपर भी आज्ञा चलानेका उसका अभिप्राय होने लगा । बिना कारण ही इसका मुख हुँकारसे मुखर हो उठता है ॥२०६॥ उसका शरीर कठोर हो गया था, शत्रुओंको जीतनेमें वह अधिक श्रम करती थी, उसकी वाणी कर्कश तथा घर्घर स्वरसे युक्त हो गई थी, उसके दृष्टिपात भी निःशब्द होनेसे स्पष्ट होते थे ॥२०७॥ दर्पण रहते हुए भी वह कृपाणमें मुख देखती थी और गुरुजनोंकी वन्दनामें भी उसका मस्तक किसी तरह बड़ी कठिनाईसे झुकता था ॥२०८॥ तदनन्तर समय पूर्ण होनेपर वह बालक शत्रुओंके आसन कँपाता हुआ माताके उदरसे बाहर निकला अर्थात् उत्पन्न हुआ ॥२०९॥ सूर्यके समान कठिनाईसे देखने योग्य उस बालककी प्रभासे प्रसूति-गृहमें काम करनेवाले परिजनोंके नेत्र ऐसे हो गये जैसे मानो किसी सघन वनसे ही आच्छादित हो गये हों ॥२१०॥ भूतजातिके देवोंद्वारा ताडित होनेके कारण दुन्दुभि बाजोंसे बहुत भारी शब्द उत्पन्न होने लगा और शत्रुओंके घरोंमें शिर रहित धड़ उत्पात सूचक नृत्य करने लगे ॥२११॥ तदनन्तर पिताने पुत्रका बड़ा भारी जन्मोत्सव किया । ऐसा जन्मोत्सव कि जिसमें

१. प्रयाताभ्या- म० । २. पदं न्यासं म० । ३. सुरराज्येऽप्यजायत म० । ४. सुदारुणः म० । ५. सघनस्थगिता इव म० । सुघनस्थगिता इव ख० ।

अथ मेरुगुहाकारे तस्मिन् सूतिगृहोदरे । शयने सस्मितस्तिष्ठन् रक्तपादतलश्चलः ॥२१३॥
उत्तानः कम्पयन् भूमिं लीलया शयनान्तिकाम् । सद्यः समुत्थितादित्यमण्डलोपमदर्शनः ॥२१४॥
दत्तं राक्षसनाथेन मेघवाहनरूढये । पुरा नागसहस्रेण रक्षितं प्रस्फुरत्करम् ॥२१५॥
पिनद्धं रक्षसां भीत्या न केनचिदिहान्तरे । आदरेण विना हारं करेणाकर्षदर्भकः ॥२१६॥
हारमुष्टिं ततो बालं दृष्ट्वा माता ससंभ्रमा । चकाराङ्के महास्नेहात् समाजघ्रौ च मूर्धनि ॥२१७॥
दृष्ट्वा पिता च तं बालं सहारं परमाद्भुतम् । महानेष नरः कोऽपि भवितेति व्यचिन्तयत् ॥२१८
नागेन्द्रकृतरक्षेण हारेण रमतेऽमुना । कोऽन्यथा यस्य नो शक्तिर्भविष्यति जनातिगा ॥२१९॥
चारणेन समादिष्टं साधुना यद्वचः पुरा । इदं तद्वितथं नैव जायते यतिभाषितम् ॥२२०॥
दृष्ट्वाश्चर्यं स हारोऽस्य जनन्या भीतिमुक्तया । पिनद्धो भासयन्नाशा दश जालेन रोचिषाम् ॥२२१॥
स्थूलस्वच्छेषु रत्नेषु नवान्यानि मुखानि यत् । हारे दृष्टानि यातोऽसौ तद्दशाननसंज्ञिताम् ॥२२२॥
भानुकर्णस्ततो जातः कालेऽतीते कियत्यपि । यस्य भानुरिव न्यस्तः कर्णयोर्गण्डशोभया ॥२२३॥
ततश्चन्द्रनखा जाता पूर्णचन्द्रसमानना । उद्यदर्द्धशशाङ्काभनखभासितदिङ्मुखा ॥२२४॥
ततो विभीषणो जातः कृतं येन विभीषणम् । जातमात्रेण पापानां सौम्याकारेण साधुना ॥२२५॥
देहवत्त्वं जगामासौ साक्षाद्धर्म इवोत्तमः । अद्यापि गुणजा यस्य कीर्तिर्जगति निर्मला ॥२२६॥

प्रजा पागलके समान अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार विभिन्न प्रकारके कार्य करती थी ॥२१२॥ अथानन्तर जिसके पैरके तलुए लाल-लाल थे ऐसा वह बालक मेरुपर्वतकी गुहाके समान आकार वाले प्रसूतिकागृहमें शय्याके ऊपर मन्द-मन्द हँसता हुआ पड़ा था। हाथ-पैर हिलानेसे चञ्चल था, चित्त अर्थात् ऊपरकी ओर मुख कर पड़ा था, अपनी लीलासे शय्याकी समीपवर्ती भूमिको कम्पित कर रहा था, और तत्काल उदित हुए सूर्यमण्डलके समान देदीप्यमान था ॥२१३–२१४॥ बहुत पहले मेघवाहनके लिए राक्षसोंके इन्द्र भीमने जो हार दिया था, हजार नागकुमार जिसकी रक्षा करते थे, जिसकी किरणें सब ओर फैल रही थीं और राक्षसोंके भयसे इस अन्तरालमें जिसे किसीने नहीं पहिना था ऐसे हारको उस बालकने अनायास ही हाथसे खींच लिया ॥२१५–२१६॥ बालकको मुट्ठीमें हार लिये देख माता घबड़ा गई उसने बड़े स्नेहसे उसे उठाकर गोदमें ले लिया और शीघ्र ही उसका मस्तक सूँघ लिया ॥२१७॥ पिताने भी उस बालकको हार लिये बड़े आश्चर्यसे देखा और विचार किया कि यह अवश्य ही कोई महापुरुष होगा ॥२१८॥ जिसकी शक्ति लोकोत्तर नहीं होगी ऐसा कौन पुरुष नागेन्द्रोंके द्वारा सुरक्षित इस हारके साथ क्रीड़ा कर सकता है ॥२१९॥ चारणऋद्धिधारी मुनिराजने पहले जो वचन कहे थे वे यही थे क्योंकि मुनियोंका भाषण कदापि मिथ्या नहीं होता ॥२२०॥ यह आश्चर्य देख माताने निर्भय होकर वह हार उस बालकको पहिना दिया। उस समय वह हार अपनी किरणोंके समूहसे दशों दिशाओं को प्रकाशमान कर रहा था ॥२२१॥ उस हारमें जो बड़े-बड़े स्वच्छ रत्न लगे हुए थे उनमें असली मुखके सिवाय नौ मुख और भी प्रतिबिम्बित हो रहे थे इसलिए उस बालकका दशानन नाम रक्खा गया ॥२२२॥

दशाननके बाद कितना ही समय बीत जानेपर भानुकर्ण उत्पन्न हुआ। भानुकर्णके कपोल इतने सुन्दर थे कि उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो उसके कानोंमें भानु अर्थात् सूर्य ही पहिना रक्खा हो ॥२२३॥ भानुकर्णके बाद चन्द्रनखा नामा पुत्री उत्पन्न हुई। उसका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान था और उगते हुए अर्धचन्द्रमाके समान सुन्दर नखोंकी कान्तिसे उसने समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर दिया था ॥२२४॥ चन्द्रनखाके बाद विभीषण हुआ। उसका आकार सौम्य था तथा वह साधु प्रकृतिका था। उसने उत्पन्न होते ही पापी लोगोंमें भय उत्पन्न कर दिया था ॥२२५॥ विभीषण ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् उत्कृष्ट धर्म ही शरीरवत्ताको प्राप्त हुआ

बालक्रीडापि भीमाभूद्दशग्रीवस्य भास्वतः । कनीयसोस्तु [1]सानन्दं विदधे विद्विषामपि ॥२२७॥
शुशुभे भ्रातृमध्ये सा कन्या सुन्दरविग्रहा । दिवसार्कशशाङ्कानां मध्ये संध्येव सत्क्रिया ॥२२८॥
मातुरङ्के स्थितोऽथासौ धृतचूडः कुमारकः । दशाननो दशाशानां कुर्वन् ज्योत्स्नां द्विजत्विषा ॥२२९॥
नभसा प्रस्थितं क्वापि द्योतयन्तं दिशस्त्विषा । युक्तं खेचरचक्रेण विभूतिबलशालिना ॥२३०॥
कक्षा विद्युत्कृतोद्योतैर्मदधाराविसर्जिभिः । वेष्टितं दन्तिजीमूतैः कर्णशङ्खबलाहकैः ॥२३१॥
महता तूर्यनादेन श्रुतिबाधिर्यकारिणा । कुर्वाणं मुखरं चक्रं [2]दिशामुरुपराक्रमम् ॥२३२॥
ग्रसित्वेव विमुञ्चन्तं बलेन पुरतो नभः । धीरो वैश्रवणं [3]वीक्षाञ्चक्रे दृष्ट्या प्रगल्भया ॥२३३॥
महिमानं च दृष्ट्वास्य पप्रच्छेति स मातरम् । निघ्नश्चपलभाव[4]स्य बालभावेन सस्मितः ॥२३४॥
अम्ब कोऽयमितो याति मन्यमानो निजौजसा । जगत्तृणमिवाशेषं बलेन महता वृतः ॥२३५॥
ततः साकथयत्तस्य मातृष्वसीय एष ते । सिद्धविद्यः श्रिया युक्तो महत्या लोककीर्तितः ॥२३६॥
शत्रूणां जनयन् कम्पं पर्यटत्येष विष्टपम् । महाविभवसम्पन्नो द्वितीय इव भास्करः ॥२३७॥
भवत्कुलक्रमायातां तवोद्वास्य पितामहम् । अयं पाति पुरीं लङ्कां दत्तामिन्द्रेण वैरिणा ॥२३८॥
मनोरथशतानेष जनकस्तव चिन्तयन् । तदर्थं न दिवा निद्रां न च रक्तमवाप्नुते ॥२३९॥
अहमप्यनया पुत्र चिन्तया शोषमागता । अवाप्तं मरणं पुंसां स्वस्थानभ्रंशतो वरम् ॥२४०॥

हो। उसकी गुणोंसे उत्पन्न उसकी निर्मल कीर्ति आज भी संसारमें सर्वत्र छाई हुई है ॥२२६॥ तेजस्वी दशाननकी बालक्रीड़ा भी भयङ्कर होती थी जब कि उसके दोनों छोटे भाइयोंकी बालक्रीड़ा शत्रुओंको भी आनन्द पहुँचाती थी ॥२२७॥ भाइयोंके बीच सुन्दर शरीरको धारण करनेवाली कन्या चन्द्रनखा, ऐसी सुशोभित होती थी मानो दिन सूर्य और चन्द्रमाके बीच उत्तम क्रियाओंसे युक्त सन्ध्या ही हो ॥२२८॥

अथानन्तर चोटीको धारण करनेवाला दशानन एक दिन माताकी गोदमें बैठा हुआ अपने दाँतोंकी किरणोंसे मानो दशों दिशाओंमें चाँदनी फैला रहा था उसी समय वैश्रवण आकाश-मार्गसे कहीं जा रहा था। वह अपनी कान्तिसे दिशाओंको प्रकाशमान कर रहा था, वैभव और पराक्रमसे सुशोभित विद्याधरोंके समूहसे युक्त था तथा उन हाथीरूपी मेघोंसे घिरा था जो कि माला रूपी बिजलीके द्वारा प्रकाश कर रहे थे, मदरूपी जलकी धाराको छोड़ रहे थे, और जिनके कानोंमें लटकते हुए शंख बलाकाओंके समान जान पड़ते थे। वैश्रवण कानोंको बहरा करने वाले तुरहीके विशाल शब्दसे दिशाओंके समूहको शब्दायमान कर रहा था। विशाल पराक्रमका धारक था और अपनी बड़ी भारी सेनासे ऐसा जान पड़ता था मानो सामने के आकाशको ग्रस कर छोड़ ही रहा हो। दशाननने उसे बड़ी गम्भीर दृष्टिसे देखा ॥२२९-२३३॥ दशानन लड़कपनके कारण चञ्चल तो था ही अतः उसने वैश्रवणकी महिमा देख हँसते-हँसते मातासे पूछा कि हे मा ! अपने प्रतापसे समस्त संसारको तृणके समान समझता हुआ, बड़ी भारी सेनासे घिरा यह कौन यहाँसे जा रहा है ॥२३४-२३५॥ तब माता उससे कहने लगी कि यह तेरी मौसीका लड़का है। इसे अनेक विद्याएँ सिद्ध हुई हैं, यह बहुत भारी लक्ष्मीसे युक्त है, लोकमें प्रसिद्ध है, महावैभवसे सम्पन्न हुआ दूसरे सूर्यके समान शत्रुओंको कँपकँपी उत्पन्न करता हुआ संसारमें घूमता फिरता है ॥२३६-२३७॥ इन्द्र विद्याधरने तेरे बाबाके भाई मालीको युद्धमें मारा और बाबाको तेरी कुल-परम्परासे चली आई लंकापुरीसे दूर हटा कर इसे दी सो यही लंकाका पालन करता है ॥२३८॥ इस लंकाके लिए तुम्हारे पिता सैकड़ों मनोरथोंका चिन्तवन करते हुए न दिनमें चैन लेते हैं न रात्रिमें नींद ॥२३९॥ हे पुत्र !

---

१. सा क्रीडा। २. दिशां सुरपराक्रमम् म०। ३. वीक्ष्याञ्चक्रे म०। ४. चपलभावश्च म०।

पुत्र लक्ष्मीं कदा तु त्वं प्राप्स्यसि स्वकुलोचिताम् । विशल्यमिव यां दृष्ट्वा भविष्यत्यावयोर्मनः ॥२४१॥
कदा नु भ्रातरावेतौ विभूत्या तव संगतौ । द्रक्ष्यामि विहितच्छन्दौ विष्टपे वीतकण्टके ॥२४२॥
मातुर्दीनवचः श्रुत्वा कृत्वा गर्वस्मितं ततः । विभीषणो बभाणेदमुद्यत्क्रोधविषाङ्कुरः ॥२४३॥
धनदो वा भवत्येष देवो वा कोऽस्य वीक्षितः । प्रभावो येन मातस्त्वं करोषि परिदेवनम् ॥२४४॥
वीरप्रसविनी वीरा विज्ञातजनचेष्टिता । एवंविधा सती कस्माद् वदसि त्वं यथेतरा ॥२४५॥
श्रीवत्समण्डितोरस्को ध्यायतात्ततविग्रहः[1] । अद्भुतैकरसासक्तनित्यचेष्टो[2] महाबलः ॥२४६॥
भस्मच्छन्नाग्निवद्भस्मीकर्तुं शक्तोऽखिलं जगत् । न मनोगोचरं प्राप्तो दशग्रीवः किमम्ब ते ॥२४७॥
गत्या जयेदयं चित्तमनादरसमुत्थया[3] । तटानि गिरिराजस्य पाटयेच्च चपेटया ॥२४८॥
राजमार्गौ प्रतापस्य स्तम्भौ भुवनवेश्मनः । अङ्कुरौ दर्पवृक्षस्य न ज्ञातावस्य ते भुजौ ॥२४९॥
एवंकृतस्तवोऽथासौ भ्रात्रा गुणकलाविदा । तेजोबहुतरं प्राप सर्पिषेव तनूनपात्[4] ॥२५०॥
जगाद चेति किं मातरात्मनोऽतिविकत्थया । वदामि शृणु यत्सत्यं वाक्यमेतदनुत्तरम् ॥२५१॥
गर्विता अपि विद्याभिः संभूय मम खेचराः । एकस्यापि न पर्याप्ता भुजस्य रणमूर्द्धनि ॥२५२॥
कुलोचितं तथापीदं विद्याराधनसंज्ञकम् । कर्म कर्तव्यमस्माभिस्तत्कुर्वाणैर्न लज्जयते[5] ॥२५३॥
कुर्वन्त्याराधनं यत्नात् साधवस्तपसो यथा । आराधनं तथा कृत्यं विद्यायाः खगगोत्रजैः ॥२५४॥

मैं भी इसी चिन्तासे सूख रही हूँ। अपने स्थानसे भ्रष्ट होने की अपेक्षा पुरुषोंका मरण हो जाना अच्छा है ॥२४०॥ हे पुत्र ! तू अपने कुलके योग्य लक्ष्मीको कब प्राप्त करेगा ? जिसे देख हम दोनोंका मन शल्य रहित सा हो सके ॥२४१॥ मैं कब तेरे इन भाइयोंको विभूतिसे युक्त तथा निष्कण्टक विश्वमें स्वच्छन्द विचरते हुए देखूँगी ? ॥२४२॥ माताके दीन वचन सुन कर जिसके क्रोध रूपी विषके अंकुर उत्पन्न हो रहे थे ऐसा विभीषण गर्वसे मुसकराता हुआ बोला ॥२४३॥ कि हे मा ! यह धनद हो चाहे देव हो, तुमने इसका ऐसा कौनसा प्रभाव देखा कि जिससे तुम इस प्रकार विलाप कर रही हो ॥२४४॥ तुम तो वीरप्रसू हो, स्वयं वीर हो, और मनुष्योंकी समस्त चेष्टाओंको जानने वाली हो। फिर ऐसी होकर भी अन्य स्त्रीकी तरह ऐसा क्यों कह रही हो ॥२४५॥ जरा ध्यान तो करो कि जिसका वक्षःस्थल श्रीवत्सके चिह्नसे चिह्नित है, विशाल शरीरको धारण करने वाला है, जिसकी प्रतिदिनकी चेष्टाएँ एक आश्चर्य रससे ही सनी रहती हैं, जो महाबलवान् है और भस्मसे आच्छादित अग्निके समान समस्त संसारको भस्म करनेमें समर्थ है ऐसा दशानन क्या कभी तुम्हारे मनमें नहीं आया ? ॥२४६–२४७॥ यह अनादरसे ही उत्पन्न गतिके द्वारा मनको जीत सकता है और हाथकी चपेटासे सुमेरुके शिखर विदीर्ण कर सकता है ॥२४८॥ तुम्हें पता नहीं कि इसकी भुजाएं प्रतापकी पक्की सड़क है, संसार रूपी रूपी घरके खम्भे हैं, और अहंकार रूपी वृक्षके अंकुर हैं ॥२४९॥ इस प्रकार गुण और कलाके जानकार विभीषण भाईके द्वारा जिसकी प्रशंसा की गई थी ऐसा रावण, घीके द्वारा अग्निके समान बहुत अधिक प्रतापको प्राप्त हुआ ॥२५०॥ उसने कहा कि माता ! अपनी बहुत प्रशंसा करनेसे क्या लाभ है ? परन्तु सच बात तुमसे कहता हूँ सो सुन ॥२५१॥ विद्याओंके अहंकारसे फूले यदि सबके सब विद्याधर मिलकर युद्धके मैदानमें आवें तो मेरी एक भुजाके लिए भी पर्याप्त नहीं हैं ॥२५२॥ फिर भी विद्याओंकी आराधना करना यह हमारे कुलके योग्य कार्य है अतः उसे करते हुए हमें लज्जित नहीं होना चाहिए ॥२५३॥ जिस प्रकार साधु बड़े प्रयत्नसे तपकी आराधना करते हैं उसी प्रकार विद्याधरोंके गोत्रज पुरुषोंको भी बड़े प्रयत्नसे विद्याकी आराधना

१. ध्यायिता ततविग्रहम् म० । २. रसासिक्त म० । ३. सुमच्छया म० । ४. अग्निः । १. लङ्घयते क०, ख० ।

इत्युक्त्वा धारयन्मानमनुजाभ्यां समन्वितः । पितृभ्यां चुम्बितो मूर्द्धिन कृतसिद्धनमस्कृतिः ॥२५५॥
प्राप्तमङ्गलसंस्कारो निश्चयस्थिरमानसः । निर्गत्य मुदितो गेहादुत्पपात नभस्तलम् ॥२५६॥
क्षणात् प्राप्तं प्रविष्टश्च भीमं नाम महावनम् । दंष्ट्राकरालवदनैः क्रूरसत्त्वैर्वि[1]नादितम् ॥२५७॥
सुप्ताजगरनिश्वासप्रेङ्खितोदारपादपम् । नृत्यद्व्यन्तरसंघातपादक्षोभितभूतलम् ॥२५८॥
महागह्वरदेशस्थ[2]सूच्यभेद्यतमश्चयम् । कालेनैव स्वयं क्लृप्तसन्निधानं सुभीषणम् ॥२५९॥
यस्योपरि न गच्छन्ति सुराश्चापि भयार्दिताः । यच्च भीमतया प्राप प्रसिद्धिं भुवनत्रये ॥२६०॥
गिरयो दुर्गमा यत्र ध्वान्तव्याप्तगुहाननाः । साराश्च तरवो लोकं ग्रसितुं प्रोद्यता इव ॥२६१॥
अभिन्नचेतसस्तत्र गृहीत्वा शममुत्तमम् । दुराशादूरितात्मानो धवलाम्बरधारिणः ॥२६२॥
पूर्णेन्दुसौम्यवदनाः शिखामणिविराजिताः । तपश्चरितुमारब्धास्त्रयोऽपि भ्रातरो महत् ॥२६३॥
विद्या चाष्टाक्षरा[3] नीता वशतां[4] जपलक्षया । सर्वकामान्नदा नाम दिवसार्द्धेन तैस्ततः ॥२६४॥
अन्नं यथेप्सितं तेभ्यः सोपनिन्ये यतस्ततः । क्षुधाजनितमेतेषां संबभूव न पीडनम् ॥२६५॥
ततो जपितुमारब्धाः सुचित्ताः षोडशाक्षरम् । मन्त्रं कोटिसहस्राणि यस्यावृत्तिर्दशोदिता[5] ॥२६६॥
जम्बूद्वीपपतिर्यक्षस्तमथ स्त्रीभिरावृतः । अनावृत इति ख्यातः प्राप्तः क्रीडितुमिच्छया ॥२६७॥
अङ्गनानां ततस्तस्य क्रीडन्तीनां सुविभ्रमम् । ते तपोनिहितात्मानः स्थिता लोचनगोचरे ॥२६८॥

करनी चाहिये ॥२५४॥ इसप्रकार कह कर मानको धारण करता हुआ रावण अपने दोनों छोटे भाइयोंके साथ विद्या सिद्ध करने के लिए घरसे निकल कर आकाशकी ओर चला गया। जाते समय माता-पिताने उसका मस्तक चूमा था, उसने सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार किया था, माङ्गलिक संस्कार उसे प्राप्त हुए थे, उसका मन निश्चयसे स्थिर था तथा प्रसन्नतासे भरा था ॥२५५–२५६॥ क्षण भरमें ही वह भीम नामक महावनमें जा पहुँचा। जिनके मुख दाँढ़ोंसे भयंकर थे ऐसे दुष्ट प्राणी उस वनमें शब्द कर रहे थे ॥२५७॥ सोते हुए अजगरोंके श्वासोच्छ्वास से वहाँ बड़े-बड़े वृक्ष कम्पित हो रहे थे तथा नृत्य करते हुए व्यन्तरोंके चरण-निक्षेपसे वहाँका पृथिवी तल क्षोभित हो रहा था ॥२५८॥ वहाँ की बड़ी-बड़ी गुफाओंमें सूचीके द्वारा दुर्भेद्य-सघन अन्धकारका समूह विद्यमान था। वह वन इतना भयंकर था कि मानो साक्षात् काल ही सदा उसमें विद्यमान रहता था ॥२५९॥ देव भी भयसे पीड़ित होकर उसके ऊपर नहीं जाते थे, तथा अपनी भयंकरताके कारण तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध था ॥२६०॥ जिनकी गुफाओंके अग्रभाग अन्धकारसे व्याप्त थे ऐसे वहाँ के पर्वत अत्यन्त दुर्गम थे और वहाँ के सुदृढ़ वृक्ष ऐसे जान पड़ते थे मानो लोकको ग्रसने के लिए ही खड़े हों ॥२६१॥ जिनके चित्तमें किसी प्रकारका भेद भाव नहीं था जिनकी आत्माएँ खोटी आशाओंसे दूर थीं, जो शुक्ल वस्त्र धारण कर रहे थे, जिनके मुख पूर्णचन्द्रमाके समान सौम्य थे और जो चूडामणिसे सुशोभित थे ऐसे तीनों भाइयोंने उस भीम महावनमें उत्तम शान्ति धारण कर महान् तपश्चरण करना प्रारम्भ किया ॥२६२–२६३॥ उन्होंने एक लाख जप कर सर्वकामान्नदा नामकी आठ अक्षरों वाली विद्या आधे ही दिनमें सिद्ध कर ली ॥२६४॥ यह विद्या उन्हें जहां-तहांसे मनचाहा अन्न लाकर देती रहती थी जिससे उन्हें क्षुधा सम्बन्धी पीड़ा नहीं होती थी ॥२६५॥ तदनन्तर हृदयको स्वस्थ कर उन्होंने सोलह अक्षर वाला वह मन्त्र जपना शुरू किया कि जिसकी दश हजार करोड़ आवृत्तियाँ शास्त्रोंमें कही गई हैं ॥२६६॥

तदनन्तर जम्बूद्वीपका अधिपति अनावृत नामका यक्ष अपनी स्त्रियोंसे आवृत हो इच्छानुसार क्रीड़ा करनेके लिए उस वनमें आया ॥२६७॥ जिनकी आत्मा तपश्चरणमें लीन थी ऐसे

१. विदारितम् म० । २. देशस्थं म० । ३. चाष्टाक्षरी म० । ४. वश्यतां म० । ५. -दिताः म० ।

रूपेण तास्ततस्तेषां समाकृष्य कचेष्विव । देव्यः समीपमानीताः कौतुकाकुलचेतसः ॥२६९॥
ऊचुस्तासामिदं काश्चित्कुञ्चितालकलासिना । वक्त्रेण सद्विरेफेण पद्मस्य श्रियमाश्रिताः ॥२७०॥
नितान्तं सुकुमाराङ्गा विसर्पत्कान्तितेजसः । तपश्चरत किं कार्यमपरित्यक्तवाससः ॥२७१॥
भोगैर्विना न गात्राणामीदृशी जायते रुचिः । ईदृग्देहतया नापि शक्यते परतो भयम् ॥२७२॥
जटामुकुटभारः क्व क्व चेदं प्रथमं वयः । विरुद्धसंप्रयोगस्य स्रष्टारो यूयमुद्गताः ॥२७३॥
पीनस्तनतटास्फालसुखसंगमनोचितौ । करौ शिलादिसंगेन किमर्थं प्रापितौ व्यथाम् ॥२७४॥
अहो हसीयसी बुद्धिर्युष्माकं रूपशालिनाम् । भोगोचितस्य देहस्य यत्कृतं दुःखयोजनम् ॥२७५॥
उत्तिष्ठत गृहं यामः किमद्यापि गतं बुधाः । सहास्माभिर्महाभोगान् प्राप्नुत प्रियदर्शनान् ॥२७६॥
ताभिरित्युदितं तेषां न चक्रे मानसे पदम् । यथा सरोजिनीपत्रे पयसो विन्दुजालकम् ॥२७७॥
एवमूचुस्ततश्चान्याः सख्यः काष्ठमया इमे । निश्चलत्वं तथा ह्येषां सर्वेष्वङ्गेषु दृश्यते ॥२७८॥
अभिधायेति संक्रुध्य रभसादुपसृत्य च । विशाले हृदये चक्रुरवतंसेन ताडनम् ॥२७९॥
तथापि ते गताः क्षोभं नैव[2] प्रवणचेतसः । यतः कापुरुषा एव स्खलन्ति प्रस्तुताशयात् ॥२८०॥
देवीनिवेदनाद् हृष्टो[3] जम्बूद्वीपेशिना ततः । कृत्वा च स्मितमित्युक्ताः प्राप्तविस्मयचेतसा ॥२८१॥
भो भोः सुपुरुषाः कस्मात्तपश्चरत दुष्करम् । आराधयत वा देवं कतरं वदताचिरात् ॥२८२॥

तीनों भाई, हाव-भाव पूर्वक क्रीड़ा करनेवाली उस यक्षकी स्त्रियोंके दृष्टिगोचर हुए ॥२६८॥ तदनन्तर कौतुकसे जिनका चित्त आकुल हो रहा था ऐसी देवियाँ शीघ्र ही उनके पास इस प्रकार आईं मानों उनके सौन्दर्यने चोटी पकड़कर ही उन्हें खींच लिया हो ॥२६९॥ उन देवियोंमें कुछ देवियाँ घुँघराले बालोंसे सुशोभित मुखसे भ्रमर सहित कमलकी शोभा धारण कर रही थीं। उन्होंने कहा कि जिनके शरीर अत्यन्त सुकुमार हैं, जिनकी कान्ति और तेज सब ओर फैल रहा है तथा वस्त्रका जिन्होंने त्याग नहीं किया है ऐसे आप लोग किस लिए तपश्चरण कर रहे हैं ॥२७०–२७१॥ शरीरोंकी ऐसी कान्ति भोगोंके बिना नहीं हो सकती। तथा आपके ऐसे शरीर हैं कि जिससे आपको किसी अन्यसे भय भी उत्पन्न नहीं हो सकता ॥२७२॥ कहाँ तो यह जटारूप मुकुटोंका भार और कहाँ यह प्रथम तारुण्य अवस्था ? निश्चित ही आप लोग विरुद्ध पदार्थोंका समागम सृजनेके लिए ही उत्पन्न हुए हैं ॥२७३॥ स्थूल स्तन-तटोंके आस्फालनसे उत्पन्न सुखकी प्राप्तिके योग्य अपने इन हाथोंको आप लोग शिला आदि कर्कश पदार्थोंके समागमसे पीड़ा क्यों पहुँचा रहे हैं ॥२७४॥ अहो आश्चर्य है कि रूपसे सुशोभित आप लोगोंकी बुद्धि बड़ी हलकी है कि जिससे भोगोंके योग्य शरीरको आप लोग इस तरह दुःख दे रहे हैं ॥२७५॥ उठो घर चलें, हे विज्ञ पुरुषो ! अब भी क्या गया है ? प्रिय पदार्थोंका अवलोकनकर हम लोगोंके साथ महाभोग प्राप्त करो ॥२७६॥ उन देवियोंने यह सब कहा अवश्य, पर उनके चित्तमें ठीक उस तरह स्थान नहीं पा सका कि जिस तरह कमलिनीके पत्रपर पानीके बूँदोंका समूह स्थान नहीं पाता है ॥२७७॥ तदनन्तर कुछ दूसरी देवियाँ परस्परमें इस प्रकार कहने लगीं कि हे सखियो ! निश्चय ही ये काष्ठमय हैं—लकड़ीके पुतले हैं इसीलिए तो इनके समस्त अंगोंमें निश्चलता दिखाई देती है ॥२७८॥ ऐसा कहकर तथा कुछ कुपित हो पासमें जाकर उन देवियोंने उनके विशाल हृदयमें अपने कर्णफूलोंसे चोट पहुँचाई ॥२७९॥ फिर भी निपुण चित्तको धारण करनेवाले तीनों भाई क्षोभको प्राप्त नहीं हुए सो ठीक ही है क्योंकि कायर पुरुष ही अपने प्रकृत लक्ष्यसे भ्रष्ट होते हैं ॥२८०॥ तदनन्तर देवियोंके कहनेसे जिसके चित्तमें आश्चर्य उत्पन्न हो रहा था ऐसे जम्बूद्वीपाधिपति अनावृत यक्षने भी हर्षित हो उन तीनों भाइयोंसे मुसकराते हुए कहा ॥२८१॥ कि हे सत्पुरुषो ! आप लोग किस प्रयोजनसे कठिन तपश्चरण कर रहे हो ? अथवा किस देवकी

१. पीतस्तन -म० । २. नैवं म० । ३. नाद् दृष्टा म० ।

इत्युक्तास्ते यदा तस्थुः पुस्तकर्मगता इव । तदा कोपेन यक्षाणां पतिरेवमभाषत ॥२८३॥
विस्मृत्य मामिमे देवं कमन्यं ध्यातुमुद्यताः । अहो चपलतामीषां परमेयममेधसाम् ॥२८४॥
उपद्रवार्थमेतेषां तत्क्षणं च प्रचण्डवाक् । किङ्कराणामदादाज्ञामाज्ञादानप्रतीक्षिणाम् ॥२८५॥
स्वभावेनैव ते क्रूराः प्राप्य स्वाज्ञां ततोऽधिकाम् । नानारूपधराश्चक्रुः पुरस्तेषामिति क्रियाः ॥२८६॥
कश्चिदुत्प्लुत्य वेगेन गृहीत्वा पर्वतोन्नतिम् । पुरः पपात निर्घातान् घातयन्निव सर्वतः ॥२८७॥
सर्पेण वेष्टनं कश्चिच्चक्रे सर्वशरीरगम् । भूत्वा च केसरी कश्चिद् व्यादायास्यं समागतः ॥२८८॥
चक्रुरन्ये रवं कर्णे बधिरीकृतदिङ्मुखम् । दंशहस्तिमरुद्दावसमुद्रत्वं गतास्तथा ॥२८९॥
एवंविधैरुपायैस्ते यदा जग्मुर्न विक्रियाम् । ध्यानस्तम्भसमासक्तनिश्चलस्वान्तधारणाः ॥२९०॥
तदा म्लेच्छबलं भीमं चण्डचण्डालसंकुलम् । करालमायुधैरुग्रैर्विकृतं तैस्तमोनिभम् ॥२९१॥
कृत्वा पुष्पान्तकं ध्वस्तं विजित्य च किलाहवे । बद्ध्वा रत्नश्रवास्तेषां दर्शितो बान्धवैः समम् ॥२९२॥
अन्तःपुरं च कुर्वाणं विप्रलापं मनश्छिदम् । युष्मासु सत्सु पुत्रेषु दुःखप्राप्तमिति ध्वनत् ॥२९३॥
पुत्रा रक्षत मां म्लेच्छैर्हन्यमानं महावने । तेषामिति पुरः पित्रा प्रयुक्तो भूरिविप्लवः ॥२९४॥
ताड्यमाना च चण्डालैर्माता निगडसंयुता । कचाकृष्टा विमुञ्चन्ती धारा नयनवारिणः ॥२९५॥
जगाद पश्यतावस्थामीदृशीं मे सुता वने । नीताहं शबरैः पल्लीं कथं युष्माकमग्रतः ॥२९६॥
संभूय मम सर्वेऽपि लब्धविद्याबला अपि । एकस्यापि न पर्याप्ता भुजस्य व्योमचारिणः ॥२९७॥

आराधना कर रहे हो ? सो शीघ्र ही कहो ॥२८२॥ यक्षके ऐसा कहनेपर भी जब वे मिट्टीसे निर्मित पुतलोंकी तरह निश्चल बैठे रहे तब वह कुपित हो इस प्रकार बोला कि ॥२८३॥ ये लोग मुझे भुलाकर अन्य किस देवका ध्यान करनेके लिए उद्यत हुए हैं । अहो ! इन मूर्खोंकी यह सबसे बड़ी चपलता है ॥२८४॥ इस तरह कठोर वचन बोलनेवाले उस यक्षेन्द्रने आज्ञा देनेकी प्रतीक्षा करनेवाले अपने सेवकोंको इन तीन भाइयोंपर उपद्रव करनेकी आज्ञा दे दी ॥२८५॥ वे किङ्कर स्वभावसे ही क्रूर थे फिर उससे भी अधिक स्वामीकी आज्ञा पा चुके थे इसलिए नाना रूप धारणकर उनके सामने तरह-तरहकी क्रियाएँ करने लगे ॥२८६॥ कोई यक्ष वेगसे पर्वतके समान ऊँचा उछलकर उनके सामने ऐसा गिरा मानो सब ओरसे वज्र ही गिर रहा हो ॥२८७॥ किसी यक्षने साँप बनकर उनके समस्त शरीरको लपेट लिया और कोई सिंह बनकर तथा मुँह फाड़कर उनके सामने आ पहुँचा ॥२८८॥ किन्हींने कानोंके पास ऐसा भयङ्कर शब्द किया कि उससे समस्त दिशाएँ बहरीं हो गईं । तथा कोई दंशमशक बनकर, कोई हाथी बनकर, कोई आँधी बनकर, कोई दावानल बनकर और कोई समुद्र बनकर भिन्न-भिन्न प्रकारके उपद्रव करने लगे ॥२८९॥ ध्यान रूपी खम्भेमें बद्ध रहनेके कारण जिनका चित्त अत्यन्त निश्चय था ऐसे तीनों भाई जब पूर्वोक्त उपायों से विकारको प्राप्त नहीं हुए ॥२९०॥ तब उन्होंने विक्रियासे म्लेच्छोंकी एक बड़ी भयङ्कर सेना बनाई । वह सेना अत्यन्त क्रोधी चाण्डालोंसे युक्त थी, तीक्ष्ण शस्त्रोंसे भयङ्कर थी और अन्धकारके समूहके समान जान पड़ती थी ॥२९१॥ उन्होंने दिखाया कि युद्धमें जीतकर पुष्पान्तक नगर को विध्वस्त कर दिया है तथा तुम्हारे पिता रत्नश्रवाको भाई-बन्धुओं सहित गिरफ्तार कर लिया गया है ॥२९२॥ अन्तःपुर भी हृदयको तोड़ देनेवाला विलाप कर रहा है और साथ ही साथ यह शब्द कर रहा है कि तुम्हारे जैसे पुत्रोंके रहते हुए भी हम दुःखको प्राप्त हुए हैं ॥२९३॥ पिता इस प्रकार चिल्ला-चिल्लाकर उनके सामने बहुत भारी बाधा उत्पन्न कर रहा है कि हे पुत्रो ! इस महावनमें म्लेच्छ मुझे मार रहे हैं सो मेरी रक्षा करो ॥२९४॥ उन्होंने दिखाया कि तुम्हारी माताको चाण्डाल बेड़ीमें डालकर पीट रहे हैं, चोटी पकड़कर घसीट रहे हैं और वह आँसुओं की धारा छोड़ रही है ॥२९५॥ माता कह रही है कि हे पुत्रो ! देखो, वनमें मैं ऐसी अवस्थाको प्राप्त हो रही हूँ । यही नहीं तुम लोगोंके सामने ही शबर लोग मुझे अपनी पल्ली-वसतिमें लिये जा रहे हैं ॥२९६॥ तुम यह पहले झूठ-मूठ ही कहा करते थे कि विद्याबलको प्राप्त सब विद्याधर

इत्युक्तं वितथं पूर्वमेकस्यापि यतोऽधुना । यूयं म्लेच्छस्य पर्याप्ता न त्रयोऽपि हतौजसः ॥२९८॥
दशग्रीव वृथा स्तोत्रमकरोत्ते विभीषणः । एकापि नास्ति ते ग्रीवा जननीं यो न रक्षति ॥२९९॥
कालेन यावता यातस्त्वं मे मानेन वर्जितः । निष्क्रान्तो जठरादस्मादुच्चारस्तावता वरम् ॥३००॥
भानुकर्णोऽप्ययं मुक्तः कर्णाभ्यां यो नमे स्वरम् । आर्त्तं शृणोति कुर्वत्या विगतक्रियविग्रहः ॥३०१॥
विभीषणोऽप्ययं व्यर्थं नाम धत्ते विभीषणः । शक्तो यो नैककस्यापि शबरस्य मृताकृतिः ॥३०२॥
म्लेच्छैर्विधर्म्यमाणायां दयां कुरुत नो कथम् । स्वसरि प्रेम हि प्रायः पितृभ्यां सोदरे परम् ॥३०३॥
विद्या हि साध्यते पुत्राः स्वजनानां समृद्धये । तेषां च पितरौ श्रेष्ठौ तयोश्चैषा व्यवस्थितिः ॥३०४॥
भ्रूक्षेपमात्रतोऽप्येते शबरा यान्ति भस्मताम् । भवतां दृग्विषव्यालचक्षुःपातादिव द्रुमाः ॥३०५॥
जठरेण मया यूयं धारिताः सुखलिप्सया । पुत्रा हि गदिताः पित्रोः प्ररोहा इव धारकाः ॥३०६॥
यदैवमपि न ध्यानभङ्गस्तेषामजायत । तदेति तैः समारब्धं मायाकर्मातिदारुणम् ॥३०७॥
छिन्नं पित्रोः शिरस्तेषां पुरः सायकधारया । पुरो दशाननस्यापि मूर्द्धा भ्रात्रोर्निपातितः ॥३०८॥
तयोरपि पुरो मूर्द्धा दशग्रीवस्य पातितः । येन तौ कोपतः प्राप्तावीषद्ध्यानविकम्पनम् ॥३०९॥
दशग्रीवस्तु भावस्य दधानोऽत्यन्तशुद्धताम् । महावीर्यो दधत्स्थैर्यं मन्दरस्य महारुचिः ॥३१०॥
अवभज्य[1] हृषीकाणां प्रसारं निजगोचरे । अचिराभाचलं चित्तं कृत्वा दासमिवाश्रवम् ॥३११॥

मिलकर भी मेरी एक भुजाके लिए पर्याप्त नहीं हैं। परन्तु इस समय तो तुम तीनों ही इतने निस्तेज हो रहे हो कि एक ही म्लेच्छके लिए पर्याप्त नहीं हो ॥२९७-२९८॥ हे दशग्रीव, यह विभीषण तेरी व्यर्थ ही स्तुति करता था। जब कि तू माताकी रक्षा नहीं कर पा रहा है तब तो मैं समझती हूँ कि तेरे एक भी ग्रीवा नहीं है ॥२९९॥ मानसे रहित तू जितने समय तक मेरे उदरमें रहकर बाहर निकला है उतने समय तक यदि मैं मलको भी धारण करती तो अच्छा होता ॥३००॥ जान पड़ता है यह भानुकर्ण भी कर्णोंसे रहित है इसलिए तो मैं चिल्ला रही हूँ और यहाँ मेरे दुःख भरे शब्दको सुन नहीं रहा है। देखो, कैसा निश्चल शरीर धारण किये है ॥३०१॥ यह विभीषण भी इस विभीषण नामको व्यर्थ ही धारण कर रहा है और मुर्दा जैसा इतना अकर्मण्य हो गया है कि एक भी म्लेच्छका निराकरण करनेमें समर्थ नहीं है ॥३०२॥ देखो, ये म्लेच्छ बहिन चन्द्रनखाको धर्म हीन बना रहे हैं सो इसपर भी तुम दया क्यों नहीं करते हो? माता-पिताकी अपेक्षा भाईका बहिनपर अधिक प्रेम होता है पर इसकी तुम्हें चिन्ता कहाँ है? ॥३०३॥ हे पुत्रो! विद्या सिद्ध की जाती है आत्मीयजनोंकी समृद्धिके लिए सो उन आत्मीयजनोंकी अपेक्षा माता-पिता श्रेष्ठ हैं और माता-पिताकी अपेक्षा बहिन श्रेष्ठ है यही सनातन व्यवस्था है ॥३०४॥ जिस प्रकार विषधर सर्पकी दृष्टि पड़ते ही वृक्ष भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार तुम्हारी भौंहके सञ्चार मात्रसे म्लेच्छ भस्म हो सकते हैं ॥३०५॥ मैंने तुम लोगोंको सुख पानेकी इच्छासे ही उदरमें धारण किया था क्यों कि पुत्र वही कहलाते हैं जो पायेकी तरह माता पिताको धारण करते हैं—उनकी रक्षा करते हैं ॥३०६॥ इतना सब कुछ करनेपर भी जब उनका ध्यान भङ्ग नहीं हुआ, तब उन देवोंने अत्यन्त भयङ्कर मायामयी कार्य करना शुरू किया ॥३०७॥ उन्होंने उन तीनोंके सामने तलवारकी धारसे माता-पिताका शिर काटा तथा रावणके सामने उसके अन्य दो भाइयोंका शिर काटकर गिराया ॥३०८॥ इसी प्रकार उन दो भाइयोंके सामने रावण का शिर काटकर गिराया। इस कार्यसे विभीषण और भानुकर्णके ध्यानमें क्रोधवश कुछ चञ्चलता आ गई ॥३०९॥ परन्तु दशानन भावोंकी शुद्धताको धारण करता हुआ मेरुके समान स्थिर बना रहा। वह महा शक्तिशाली तथा दृढ़श्रद्धानी जो था ॥३१०॥ उसने इन्द्रियोंके सञ्चारको अपने आपमें ही रोककर बिजलीके समान चञ्चल मनको दासके समान आज्ञाकारी बना

1. अववद्य ख० ।

कण्टकेन कृतत्राणः संम्बरेण समं ततः । ध्यानवक्तव्यताहीनो दध्यौ मन्त्रं प्रयत्नतः ॥३१२॥
यदि नाम तदा ध्यानमाविशेच्छ्रमणोत्तमः । अष्टकर्मसमुच्छेदं ततः कुर्वीत तत्क्षणात् ॥३१३॥
अत्रान्तरे सदेहानां कृताञ्जलिपुटस्थितम् । सहस्रं तस्य विद्यानामनेकं वशतामितम् ॥३१४॥
समाप्तिमेति नो यावत्संख्या मन्त्रविवर्तने । तावदेवास्य ताः सिद्धा निश्चयात् किं न लभ्यते ॥३१५॥
निश्चयोऽपि पुरोपात्तात्लभ्यते कर्मणः सितात् । कर्माण्येव हि यच्छन्ति विघ्नं दुःखानुभाविनः ॥३१६॥
काले दानविधिं पात्रे क्षेमे चायुःस्थितिक्षयम् । सम्यग्बोधिफलां विद्यां नाभव्यो लब्धुमर्हति ॥३१७॥
कस्यचिद्दशभिर्वर्षैर्विद्या मासेन कस्यचित् । क्षणेन कस्यचित्सिद्धिं यान्ति कर्मानुभावतः ॥३१८॥
धरण्यां स्वपितु त्यागं करोतु चिरमन्धसः । मज्जत्वप्सु दिवानक्तं गिरेः पततु मस्तकात् ॥३१९॥
विधत्तां पञ्चतायोग्यां क्रियां विग्रहशोषिणीम् । पुण्यैर्विरहितो जन्तुस्तथापि न कृती भवेत् ॥३२०॥
अक्षमात्रं क्रियाः पुंसां सिद्धेः सुकृतकर्मणाम् । अकृतोत्तमकर्माणो यान्ति मृत्युं निरर्थकाः ॥३२१॥
सर्वादरान्मनुष्येण तस्मादाचार्यसेवया । पुण्यमेव सदा कार्यं सिद्धिः पुण्यैर्विना कुतः ॥३२२॥
पश्य श्रेणिक पुण्यानां प्रभावं यद्दशाननः । असंपूर्णे गतः काले विद्यासिद्धिं महामनाः ॥३२३॥
संक्षेपेण करिष्यामि विद्यानां नामकीर्तनम् । अर्थसामर्थ्यतो लब्धं भवावहितमानसः ॥३२४॥
नभःसंचारिणी कामदायिनी कामगामिनी । दुर्निवारा जगत्कम्पा प्रज्ञप्तिर्भानुमालिनी ॥३२५॥

लिया था ॥३११॥ शत्रुसे बदला लेनेकी इच्छा रूपी कण्टक तथा जितेन्द्रियता रूपी संवर दोनों ही जिसकी रक्षा कर रहे थे ऐसा दशानन ध्यानसम्बन्धी दोषोंसे रहित होकर प्रयत्नपूर्वक मन्त्रका ध्यान करता रहा ॥३१२॥ आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा ध्यान कोई मुनिराज धारण करते तो वह उस ध्यानके प्रभावसे उसी समय अष्टकर्मोंका विच्छेद कर देते ॥३१३॥ इसी बीचमें हाथ जोड़कर सामने खड़ी हुई अनेक हजार शरीरधारिणी विद्याएँ दशाननको सिद्ध हो गईं ॥३१४॥ मन्त्र जपनेकी संख्या समाप्त नहीं हो पाई कि उसके पहले ही समस्त विद्याएँ उसे सिद्ध हो गईं, सो ठीक ही है क्योंकि दृढ़ निश्चयसे क्या नहीं मिलता है ? ॥३१५॥ दृढ़ निश्चय भी पूर्वोपार्जित उज्ज्वल कर्मसे ही प्राप्त होता है । यथार्थमें कर्म ही दुःखानुभवमें विघ्न उत्पन्न करते हैं ॥३१६॥ योग्य समय पात्रके लिए दान देना, क्षेत्रमें आयुकी स्थिति समाप्त होना तथा रत्नत्रयकी प्राप्ति रूपी फलसे युक्त विद्या प्राप्त होना, इन तीन कार्योंको अभव्य जीव कभी नहीं पाता है ॥३१७॥ किसीको दश वर्षमें, किसीको एक माहमें और किसीको एक क्षणमें ही विद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं सो यह सब कर्मोंका प्रभाव है ॥३१८॥ भले ही पृथिवीपर सोवे, चिर काल तक भोजनका त्याग रक्खे, रात-दिन पानीमें डूबे रहे, पहाड़की चोटीसे गिरे, और जिससे मरण भी हो जावे ऐसी शरीर सुखानेवाली क्रियाएँ करे तो भी पुण्यरहित जीव अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर सकता ॥३१९-३२०॥ जिन्होंने पूर्व भवमें अच्छे कार्य किये हैं उन्हें सिद्धि अनायास ही प्राप्त होती है । तपश्चरण आदि क्रियाएँ तो निमित्त मात्र हैं पर जिन्होंने पूर्वभवमें उत्तम कार्य नहीं किये वे व्यर्थ ही मृत्युको प्राप्त होते हैं—उनका जीवन निरर्थक जाता है ॥३२१॥ इसलिए मनुष्यको पूर्ण आदरसे आचार्यकी सेवा कर सदा पुण्यका ही सञ्चय करना चाहिए क्योंकि पुण्यके बिना सिद्धि कैसे हो सकती है ? ॥३२२॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! पुण्यका प्रभाव देखो कि महामनस्वी दशानन, समय पूर्ण न होनेपर भी विद्याओंकी सिद्धिको प्राप्त हो गया ॥३२३॥ अब मैं संक्षेपसे विद्याओंका नामोल्लेख करता हूँ । विद्याओंके ये नाम उनके अर्थ-कार्यकी सामर्थ्यसे ही प्राप्त हुए हैं—प्रचलित हैं । हे श्रेणिक ! सावधान चित्त होकर सुनो ॥३२४॥ संचारिणी, कामदायिनी, कामगामिनी, दुर्निवारा, जगत्कम्पा, प्रज्ञप्ति, भानुमालिनी, अणिमा,

२. शबरेण म० । ३. -माविशच्छ्रम म० । ४. वद्धात् । ५. कामदामिनी म० । ६. कायगामिनी म० ।

अणिमा लघिमा क्षोभ्या मनःस्तम्भनकारिणी । संवाहिनी सुरध्वंसी कौमारी वधकारिणी ॥३२६॥
सुविधाना तपोरूपा दहनी विपुलोदरी । शुभप्रदा रजोरूपा दिनरात्रिविधायिनी ॥३२७॥
वज्रोदरी समाकृष्टिरदर्शन्यजरामरा । अनलस्तम्भनी तोयस्तम्भनी गिरिदारिणी ॥३२८॥
अवलोकन्यरिध्वंसी घोरा धीरा भुजङ्गिनी । वारुणी भुवनावध्या दारुणा मदनाशिनी ॥३२९॥
भास्करी भयसंभूतिरैशानी विजया जया । बन्धनी मोचनी चान्या वराही कुटिलाकृतिः ॥३३०॥
चित्तोद्भवकरी शान्तिः कौबेरी वशकारिणी । योगेश्वरी बलोत्सादी चण्डा भीतिः प्रवर्षिणी ॥३३१॥
एवमाद्या महाविद्याः पुरासुकृतकर्मणा । स्वल्पैरेव दिनैः प्राप दशग्रीवः [1]सुनिश्चलः ॥३३२॥
सर्वाहा रतिसंवृद्धिर्जृम्भिणी व्योमगामिनी । निद्राणी चेति पञ्चैता भानुकर्णं समाश्रिताः ॥३३३॥
सिद्धार्था शत्रुदमनी निर्व्याघाता खगामिनी । विद्या विभीषणं प्राप्ताश्चतस्रो दयिता इव ॥३३४॥
ईश्वरत्वं ततः प्राप्ता विद्यायां ते सुविभ्रमाः । जन्मान्यदिवसं प्रापुर्महासंमदकारणम् ॥३३५॥
ततः पत्यापि यक्षाणां दृष्ट्वा विद्याः समागताः । पूजितास्ते महाभूत्या दिव्यालङ्कारभूषिताः ॥३३६॥
स्वयंप्रभमिति ख्यातं नगरं च निवेशितम् । मेरुशृङ्गसमुच्छ्रा[2]यसद्मपङ्क्तिविराजितम् ॥३३७॥
मुक्ताजालपरिक्षिप्तगवाक्षैर्दूरसुन्नतैः । रत्नजाम्बूनदस्तम्भैरञ्चितं चैत्यवेश्मभिः ॥३३८॥
अन्योन्यकरसम्बन्धजनितेन्द्रशरासनैः । रत्नैः कृतसमुद्योतं नित्यविद्युत्समप्रभैः ॥३३९॥
भ्रातृभ्यां सहितस्तत्र प्रासादे गगनस्पृशि । विद्याबलेन सम्पन्नः सुखं तस्थौ दशाननः ॥३४०॥
जम्बूद्वीपपतिः प्राह तत एवं दशाननम् । विस्मितस्तव वीर्येण प्रसन्नोऽहं महामते ॥३४१॥

लघिमा, क्षोभ्या, मनःस्तम्भनकारिणी, संवाहिनी, सुरध्वंसी, कौमारी, वधकारिणी, सुविधाना, तपोरूपा, दहनी, विपुलोदरी, शुभप्रदा, रजोरूपा, दिनरात्रिविधायिनी, वज्रोदरी, समाकृष्टि, अदर्शनी, अजरा, अमरा, अनलस्तम्भिनी, तोयस्तम्भिनी, गिरिदारणी, अवलोकिनी, अरिध्वंसी, घोरा, धीरा, भुजङ्गिनी, वारुणी, भुवना, अवध्या, दारुणा, मदनाशिनी, भास्करी, भयसंभूति, ऐशानी, विजया, जया, बन्धनी, मोचनी, वाराही, कुटिलाकृति, चित्तोद्भवकरी, शान्ति, कौबेरी, वशकारिणी, योगेश्वरी, बलोत्सादी, चण्डा, भीति और प्रवर्षिणी, आदि अनेक महाविद्याओंको निश्चल परिणामोंका धारी दशानन पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके उदयसे थोड़े ही दिनोंमें प्राप्त हो गया ॥३२५-३३२॥ सर्वाहा, इतिसंवृद्धि, जृम्भिणी, व्योमगामिनी और निद्राणीसे पाँच विद्याएँ भानुकर्णको प्राप्त हुईं ॥३३३॥ सिद्धार्था, शत्रुदमनी, निर्व्याघाता और आकाशगामिनी ये चार विद्याएँ प्रिय स्त्रियोंके समान विभीषणको प्राप्त हुईं ॥३३४॥ इस प्रकार विद्याओंके ऐश्वर्यको प्राप्त हुए वे तीनों भाई महाहर्षके कारणभूत नूतन जन्मको ही मानो प्राप्त हुए थे ॥३३५॥

तदनन्तर यक्षोंके अधिपति अनावृत यक्षने भी विद्याओंको आया देख महावैभवसे उन तीनों भाइयोंकी पूजा की और उन्हें दिव्य अलंकारोंसे अलंकृत किया ॥३३६॥ दशाननने विद्याके प्रभावसे स्वयंप्रभ नामका नगर बसाया। वह नगर मेरुपर्वतके शिखरके समान ऊँचे-ऊँचे मकानोंकी पंक्तिसे सुशोभित था ॥३३७॥ जिनके झरोखोंमें मोतियोंकी झालर लटक रही थी, जो बहुत ऊँचे थे तथा जिनके खम्भे रत्न और स्वर्णके बने थे ऐसे जिनमन्दिरोंसे अलंकृत था ॥३३८॥ परस्परकी किरणोंके सम्बन्धसे जो इन्द्रधनुष उत्पन्न कर रहे थे, तथा निरन्तर स्थिर रहनेवाली बिजलीके समान जिनकी प्रभा थी ऐसे रत्नोंसे वह नगर सदा प्रकाशमान रहता था ॥३३९॥ उसी नगरके गगनचुम्बी राजमहलमें विद्याबलसे सम्पन्न दशानन अपने दोनों भाइयोंके साथ सुखसे रहने लगा ॥३४०॥

तदनन्तर आश्चर्यसे भरे जम्बूद्वीपके अधिपति अनावृतयक्षने एक दिन दशाननसे कहा कि

---

१. सुनिश्चयः म०, क० । २. समुच्छ्रायं म० ।

चतुःसमुद्रपर्यन्ते नागव्यन्तरसंकुले । तिष्ठत्वत्र यथाच्छन्दं जम्बूद्वीपतले भवान् ॥३४२॥
द्वीपस्यास्य समस्तस्य वसिताहमकण्टकः । यथेप्सितं [1]चरेस्तस्मिन्नुद्धरन् शत्रुसंहतिम् ॥३४३॥
प्रसन्ने मयि ते वत्स स्मृतिमात्रपुरःस्थिते । ईप्सितव्याहतौ शक्तो न शक्रोऽपि कुतोऽपरे ॥३४४॥
द्राघिष्ठं जीव कालं त्वं भ्रातृभ्यां सहितः सुखी । वर्द्धन्तां भूतयो दिव्या बन्धुसेव्याः सदा तव ॥३४५॥
इत्याशीर्भिः समानन्द्य सत्याभिस्तान् पुनः पुनः । जगाम स्वालयं यक्षः परिवारसमन्वितः ॥३४६॥
तं रत्नश्रवसं[2] श्रुत्वा विद्यालिङ्गितविग्रहम् । सर्वतो रक्षसां सङ्घाः प्राप्ताः कृतमहोत्सवाः ॥३४७॥
उन्नतं ननृतुः केचित्करास्फोटनं तथा । केचित् प्रमोदसंपूर्णाः संभूता न स्वविग्रहे[3] ॥३४८॥
[4]उदात्तं नदितं कैश्चिच्छत्रुपक्षभयंकरम् । सुधयेव नभः कैश्चिल्लिम्पद्भिर्हसितं चिरम् ॥३४९॥
सुमाली माल्यवान् सूर्यरजा ऋक्षरजास्तथा । आगता नितरां प्रीताः समारुह्योत्तमान् रथान् ॥३५०॥
अन्ये च स्वजनाः सर्वे विमानैर्वाजिभिर्गजैः । स्वदेशेभ्यो विनिष्क्रान्तास्त्रासेन परिवर्जिताः ॥३५१॥
अथ रत्नश्रवाः पुत्रस्नेहसंपूर्णमानसः । वैजयन्तीभिराकाशं शुक्लीकुर्वन्निरन्तरम् ॥३५२॥
विभूत्या परया युक्तो वन्दिवृन्दैरभिष्टुतः । संप्राप्तो रथमारूढो [5]महाप्रासादसन्निभम् ॥३५३॥
एकीभूय व्रजन्तोऽमी पञ्चसङ्गमपर्वते । दुःखेन रजनीं निन्युररातिभययोगतः ॥३५४॥
ततो गुरून् प्रणामेन समाश्लेषणतः सखीन् । स्निग्धेन चक्षुषा भृत्यान् जगृहुः कैकसीसुताः ॥३५५॥

हे महाबुद्धिमन् ! मैं तुम्हारे वीर्यसे बहुत प्रसन्न हूँ ॥३४१॥ अतः जिसके अन्तमें पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण इस प्रकार चार समुद्र हैं तथा जो नागकुमार और व्यन्तर देवोंसे व्याप्त है ऐसे इस जम्बूद्वीपमें इच्छानुसार रहो ॥३४२॥ मैं इस समस्त दीपका अधिपति हूँ मेरा कोई भी प्रतिद्वन्द्वी नहीं है अतः तुम्हें वरदान देता हूँ कि तुम शत्रुसमूहको उखाड़ते हुए इस जम्बूद्वीपमें इच्छानुसार सर्वत्र विचरण करो ॥३४३॥ हे वत्स ! मैं तुझपर प्रसन्न हूँ और तेरे स्मरण मात्रसे सदा तेरे सामने खड़ा रहूँगा । मेरे प्रभावसे तेरे मनोरथमें बाधा पहुँचानेके लिए इन्द्र भी समर्थ नहीं हो सकेगा फिर साधारण मनुष्यकी तो बातकी क्या है ? ॥३४४॥ तू अपने दोनों भाइयोंके साथ सुखी रहता हुआ दीर्घ काल तक जीवित रह । तेरी दिव्य विभूतियाँ सदा बढ़ती रहें और बन्धुजन सदा उनका सेवन करते रहें ॥३४५॥ इस प्रकार यथार्थ आशीर्वादसे उन तीनों भाइयोंको आनन्दित कर वह यक्ष परिवारके साथ अपने स्थानपर चला गया ॥३४६॥

तदनन्तर दशाननको विद्याओंसे आलिङ्गित सुन चारों ओरसे राक्षसोंके समूह महोत्सव करते हुए उसके समीप आये ॥३४७॥ उनमें कोई तो नृत्य करते थे, कोई ताल बजाते थे, कोई हर्षसे इतने फूल गये थे कि अपने शरीरमें ही नहीं समाते थे ॥३४८॥ कितने ही लोग शत्रु पक्षको भयभीत करनेवाला जोरका सिंहनाद करते थे, कोई आकाशको चूनासे लिप्त करते हुए की तरह चिरकाल तक हँसते रहते थे, ॥३४९॥ प्रीतिसे भरे सुमाली, माल्यवान्, सूर्यरज और ऋक्षरज उत्तमोत्तम रथोंपर सवार हो उसके समीप आये ॥३५०॥ इनके सिवाय अन्य सभी कुटुम्बीजन, कोई विमानोंपर बैठकर, कोई घोड़ोंपर सवार होकर, और कोई हाथियोंपर आरूढ होकर आये । वे सब भयसे रहित थे ॥३५१॥ अथानन्तर पुत्रके स्नेहसे जिसका मन भर रहा था ऐसा रत्नश्रवा पताकाओंसे आकाशको निरन्तर शुक्ल करता हुआ बड़ी विभूतिके साथ आया । वन्दीजनोंके समूह उसकी स्तुति कर रहे थे, और वह किसी बड़े राजमहलके समान सुन्दर रथ पर सवार था ॥३५२-३५३॥ ये सब मिलकर साथ ही साथ आ रहे थे सो मार्गमें पञ्चसङ्गम नामक पर्वतपर उन्होंने शत्रुके भयके कारण बहुत ही दुखसे रात्रि बिताई ॥३५४॥ तदनन्तर केकसीके पुत्र दशानन आदिने आगे जाकर उन सबकी अगवानी की । उन्होंने गुरुजनोंको

१. भ्रमणं कुर्याः । २. श्रवजं म० । ३. प्रशशंसुश्च रावणम् म० । ४. चन्द्रकान्तिं तिरस्कुर्वत् म० । ५. महाप्रसाद-म० ।

शरीरक्षेमपृच्छादिसिद्धिवृत्तान्तसंकथा । न तेषामवगीतत्वं [1]प्राप्तारब्धा पुनः पुनः ॥३५६॥
ददृशुर्विस्मयापन्नाः स्वयंप्रभपुरोत्तमम् । देवलोकप्रतिच्छन्दं यातुधानप्लवङ्गमाः ॥३५७॥
सवेपथुकरैरेषां गात्रमस्पृशतां चिरम् । पितरौ सप्रणामानामानन्दास्राकुलेक्षणौ ॥३५८॥
नभोमध्ये गते भानौ तेषां स्नानविधिस्ततः । दिव्याभिः कर्तुमारब्धो वनिताभिर्महोत्सवः ॥३५९॥
मुक्ताजालपरीतेषु स्नानपीठेषु ते स्थिताः । नानारत्नसमृद्धेषु जात्यजाम्बूनदात्मसु ॥३६०॥
पादपीठेषु चरणौ निहितौ पल्लवच्छवी । उदयाद्रिशिरोवर्तिदिवाकरसमाकृती ॥३६१॥
ततो रत्नविनिर्माणैः सौवर्णै राजतात्मकैः । कुम्भैः पल्लवसंछन्नवक्त्रैर्हारविराजितैः ॥३६२॥
चन्द्रादित्यप्रतिस्पर्द्धि[2]च्छायावच्छादितात्मभिः । आमोदवासिताशेषदिक्चक्रजलपूरितैः ॥३६३॥
एकानेकमुखैः प्रान्तभ्रान्तभ्रमरमण्डलैः । गर्जद्भिर्जलपातेन गम्भीरजलदैरिव ॥३६४॥
गन्धैरुद्वर्तनैः कान्तिविधानकुशलैस्तथा । अभिषेकः कृतस्तेषां तूर्यनादादिनन्दितः ॥३६५॥
अलंकृतस्ततो देहो दिव्यवस्त्रविभूषणैः । मङ्गलानि प्रयुक्तानि कुलनारीभिरादरात् ॥३६६॥
ततो देवकुमाराभैः स्वजनानन्ददायिभिः । गुरूणां विनयादेतैः कृतं चरणवन्दनम् ॥३६७॥
अत्याशिषस्ततो दृष्ट्वा तेषां विद्योत्थसंपदः । जीवतातिचिरं कालमिति तान् गुरवोऽब्रुवन् ॥३६८॥

प्रणाम किया, मित्रोंका आलिङ्गन किया और भृत्योंकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखा ॥३५५॥ गुरुजनोंने भी दशानन आदिसे शरीरकी कुशल-क्षेम पूछी, विद्याएँ किस तरह सिद्ध हुई आदि का वृत्तान्त भी बार-बार पूछा सो ऐसे अवसरपर किसी बातको बार-बार पूछना निन्दनीय नहीं है ॥३५६॥ राक्षस तथा वानरवंशियोंने देवलोकके समान उस स्वयंप्रभनगरको बड़े आश्चर्यके साथ देखा ॥३५७॥ जिनके नेत्र आनन्दसे व्याप्त थे ऐसे माता-पिताने प्रणाम करते हुए दशानन आदिके शरीरका काँपते हुए हाथोंसे चिरकाल तक स्पर्श किया ॥३५८॥ जब सूर्य आकाशके मध्यभागमें था तब दिव्य वनिताओंने बड़े उत्सवके साथ उन तीनों कुमारोंकी स्नान विधि प्रारम्भ की ॥३५९॥ जिनके चारों ओर मोतियोंके समूह व्याप्त थे तथा जो नाना प्रकारके रत्नोंसे समृद्ध थे ऐसे उत्कृष्ट स्वर्णनिर्मित स्नानकी चौकियोंपर वे आसीन हुए ॥३६०॥ पल्लवोंके समान लाल-लाल कान्तिके धारक दोनों पैर उन्होंने पादपीठपर रक्खे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो उदयाचलके शिखरपर वर्तमान सूर्य ही हो ॥३६१॥ तदनन्तर रत्नमयी सुवर्णमयी और रजतमयी उन कलशोंसे उनका अभिषेक शुरू हुआ कि जिनके मुख पल्लवों से आच्छादित थे, जो हारोंसे सुशोभित थे, चन्द्रमा तथा सूर्यके साथ स्पर्द्धा करनेवाली कान्ति से जिनका आत्म-स्वरूप आच्छादित था, जो अपनी सुगन्धिसे दिङ्मण्डलको सुवासित करनेवाले जलसे पूर्ण थे, जिनमें एक तो प्रधान मुख था तथा अन्य छोटे-छोटे अनेक मुख थे, जिनके आस-पास भ्रमरोंके समूह मँडरा रहे थे और जो जलपातके कारण गम्भीर मेघके समान गरज रहे थे ॥३६२-३६४॥ तदनन्तर शरीरकी कान्ति बढ़ानेमें कुशल उबटना आदि लगाकर सुगन्धित जलसे उनका अभिषेक किया गया। उस समय तुरही आदि वादित्रोंके मङ्गलमय शब्दोंसे वहाँका वातावरण आनन्दमय हो रहा था ॥३६५॥ तत्पश्चात् दिव्य वस्त्राभूषणोंसे उनके शरीर अलंकृत किये गये और कुलाङ्गनाओंने बड़े आदरसे अनेक मङ्गलाचार किये ॥३६६॥ तदनन्तर जो देवकुमारोंके समान जान पड़ते थे और आत्मीयजनोंको आनन्द प्रदान कर रहे थे ऐसे उन तीनों कुमारोंने बड़ी विनयसे गुरुजनोंकी चरणवन्दना की ॥३६७॥ तदनन्तर गुरुजनोंने देखा कि इन्हें जो विद्याओंसे सम्पदाएँ प्राप्त हुई हैं वे हमारे आशीर्वादसे

---

१. प्राप्ताख्या म० । २. छायया छादितात्मभिः ख० ।

सुमाली माल्यवान् सूर्यरजा ऋक्षरजास्तथा । रत्नश्रवाश्च तान् स्नेहादालिलिङ्गुः पुनः पुनः ॥३६९॥
समं बान्धवलोकेन भृत्यवर्गेण चावृताः । चक्रुरभ्यवहारं ते स्वेच्छाकल्पितसंपदः ॥३७०॥
गुरुषु प्राप्तपूजेषु ततो वस्त्रादिदानतः । यथार्हं भृत्यवर्गे च संप्राप्तप्रतिमानने ॥३७१॥
विश्रब्धा गुरवोऽपृच्छंस्तान् प्रीतिविकचेक्षणाः । दिवसा नियतो वत्साः सुखेन सुस्थिता इति ॥३७२॥
ततस्ते मस्तके कृत्वा करयुग्मं प्रणामिनः । ऊचुर्नः कुशलं नित्यं प्रसादाद् भवतामिति ॥३७३॥
मालिनः संकथाप्राप्तं कथयन् मरणं ततः । सुमाली शोकभारेण सद्यो मूर्च्छा समागतः ॥३७४॥
रत्नश्रवःसुतेनासौ ततः शीतलपाणिना । संस्पृश्य पुनरानीतो ज्येष्ठेन व्यक्तचेतनाम् ॥३७५॥
आनन्दितश्च तद्वाक्यैरूर्जितैर्हिमशीतलैः । समस्तशत्रुसंघातघातबीजाङ्कुरोद्गमैः ॥३७६॥
पुण्डरीकेक्षणं पश्यन् सुमाली तं ततोऽर्भकम् । शोकं क्षणात्समुत्सृज्य पुनरानन्दमागतः ॥३७७॥
इति चोवाच तं हृद्यैर्वचोभिर्वितथेतरैः । अहो वत्स तवोदारं सत्त्वं तोषितदैवतम् ॥३७८॥
अहो द्युतिरियं जित्वा स्थिता तव दिवाकरम् । अहो गाम्भीर्यमुत्सार्य स्थितमेतन्नदीपतिम् ॥३७९॥
अहो पराक्रमः कान्त्या सहितोऽयं जनातिगः[2] । अहो रक्षःकुलस्यासि जातस्तात[3] विशेषकः ॥३८०॥
मन्दरेण यथा जम्बूद्वीपः कृतविभूषणः । नभस्तलं शशाङ्केन यथा तिग्मकरेण च ॥३८१॥
सुपुत्रेण तथा रक्षःकुलमेतद्दशानन । त्वया लोकमहाश्चर्यकारिचेष्टेन भूषितम् ॥३८२॥
आसंस्तोयदवाहाद्या नरास्त्वत्कुलपूर्वजाः । भुक्त्वा लङ्कापुरीं कृत्वा सुकृतं ये गताः शिवम् ॥३८३॥

भी अधिक है अतः उन्होंने यही कहा कि तुम लोग चिरकाल तक जीवित रहो ॥३६८॥ सुमाली, माल्यवान, सूर्यरज, ऋक्षरज और रत्नश्रवाने स्नेहवश उनका बार-बार आलिङ्गन किया था ॥३६९॥ तदनन्तर इच्छानुसार जिन्हें सब सम्पदाएँ प्राप्त थीं ऐसे उन सब लोगोंने बन्धुजनों तथा भृत्य-वर्गसे आवृत होकर भोजन किया ॥३७०॥ तदनन्तर दशाननने वस्त्र आदि देकर गुरुजनोंकी पूजा की और यथायोग्य भृत्यवर्गका भी सन्मान किया ॥३७१॥ तत्पश्चात् प्रीतिसे जिनके नेत्र फूल रहे थे ऐसे समस्त गुरुजन निश्चिन्ततासे बैठे थे। प्रकरण पाकर उन्होंने कहा कि हे पुत्रो ! इतने दिन तक तुम सब सुखसे रहे ? ॥३७२॥ तब दशानन आदि कुमारोंने हाथ जोड़ शिरसे लगाकर प्रणाम करते हुए कहा कि आप लोगोंके प्रसादसे हम सबकी कुशल है ॥३७३॥ तदनन्तर प्रकरणवश मालीके मरणकी चर्चा करते हुए सुमाली इतने शोकग्रस्त हुए कि उन्हें तत्काल ही मूर्च्छा आ गई ॥३७४॥ तत्पश्चात् रत्नश्रवाके जेष्ठ पुत्र दशाननने अपने शीतल हाथसे स्पर्शकर उन्हें पुनः सचेत किया ॥३७५॥ तथा बर्फके समान ठण्डे और समस्त शत्रुसमूहके घातरूपी बीजके अङ्कुरोद्गमके समान शक्तिशाली वचनोंसे उन्हें आनन्दित किया ॥३७६॥ तब कमलके समान नेत्रोंसे सुशोभित दशाननको देख, सुमाली तत्काल ही सब शोक छोड़कर पुनः आनन्दको प्राप्त हो गये ॥३७७॥ और दशाननसे हृदयहारी सत्य वचन कहने लगे कि अहो वत्स ! सच-मुच ही तुम्हारा उदार बल देवताओंको सन्तुष्ट करनेवाला है ॥३७८॥ अहो ! तुम्हारी यह कान्ति सूर्यको जीतकर स्थित है और तुम्हारा गाम्भीर्य समुद्रको दूर हटाकर विद्यमान है ॥३७९॥ अहो ! तुम्हारा यह कान्ति सहित पराक्रम सर्वजनातिगामी है अर्थात् सब लोगोंसे बढ़कर है। अहो पुत्र ! तुम राक्षसवंशके तिलकस्वरूप उत्पन्न हुए हो ॥३८०॥ हे दशानन ! जिस प्रकार सुमेरुपर्वतसे जम्बूद्वीप सुशोभित है और चन्द्रमा तथा सूर्यसे आकाश सुशोभित होता है उसी प्रकार लोगोंको महान् आश्चर्यमें डालनेवाली चेष्टाओंसे युक्त तुझ सुपुत्रसे यह राक्षसवंश सुशोभित हो रहा है ॥३८१-३८२॥ मेघवाहन आदि तुम्हारे कुलके पूर्वपुरुष थे जो लङ्कापुरीका पालन कर

१. -दालिलिङ्ग म०, क० । २. जिनातिगः म० । ३. जातस्तत म० ।

अस्मद्व्यसनविच्छेदपुण्यैर्जातोऽसि साम्प्रतम्[1] । वक्त्रेणैकेन ते तोषात् कथयामि कथं कथाम् ॥३८४॥
नभश्चरगणैरेभिः प्रत्याशा जीवितं प्रति । मुक्ता सती पुनर्बद्धा त्वय्युत्साहपरायणे ॥३८५॥
कैलासमन्दरायातैरस्माभिर्वन्दितुं जिनम् । प्रणम्यातिशयज्ञानः पृष्टः श्रमणसत्तमः ॥३८६॥
भविता पुनरस्माकं कदा नाथ समाश्रयः । लङ्कायामिति सद्वाक्यमेवमाहानुकम्पकः ॥३८७॥
लप्स्यते भवतः पुत्राज्जन्म यः पुरुषोत्तमः । संभूतायां वियद्बिन्दोः स लङ्कायां प्रवेशकः ॥३८८॥
भरतस्य स खण्डांस्त्रीन् भोक्ष्यते बलविक्रमः । सत्त्वप्रतापविनयश्रीकीर्तिरुचिसंश्रयः[2] ॥३८९॥
गृहीतां रिपुणा लक्ष्मीं मोचयिष्यत्यसावपि । नैतच्चित्रं यतस्तस्यां स प्राप्स्यति परां श्रियम् ॥३९०॥
स त्वं महोत्सवो जातः कुलस्य शुभलक्षणः । उपमानविमुक्तेन रूपेण हृतलोचनः ॥३९१॥
इत्युक्तोऽसौ जगादैवमस्त्विति प्रणताननः । शिरस्यञ्जलिमाधाय कृतसिद्धनमस्कृतिः ॥३९२॥
प्रभावात्तस्य बालस्य बन्धुवर्गस्ततः सुखम् । अध्युवास यथास्थानमरातिभयवर्जितः ॥३९३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एवं पूर्वभवार्जितेन पुरुषाः पुण्येन यान्ति श्रियं
कीर्तिच्छन्नदिगन्तरालभुवना नास्मिन् वयः कारणम् ।
अग्नेः किन्न कणः करोति विपुलं भस्म क्षणात् काननं
मत्तानां करिणां भिनत्ति निवहं सिंहस्य वा नार्भकः ॥३९४॥
बोधं ह्याशु कुमुद्वतीषु कुरुते शीतांशुरोचिर्लवः[3]
संतापं प्रणुदन् दिवाकरकरैरुत्पादितं प्राणिनाम् ।

तथा अन्तमें तपश्चरण कर मोक्ष गये हैं ॥३८३॥ अब हमारे दुःखोंको दूर करनेवाले पुण्यसे तू उत्पन्न हुआ है। हे पुत्र ! एक तेरे मुखसे मुझे जो सन्तोष हो रहा है उसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ ॥३८४॥ इन विद्याधरोंने तो जीवित रहनेकी आशा छोड़ दी थी अब तुझ उत्साही के उत्पन्न होनेपर फिरसे आशा बाँधी है ॥३८५॥ एक बार हम जिनेन्द्र भगवान्की वन्दना करनेके लिए कैलास पर्वतपर गये थे। वहाँ अवधिज्ञानके धारी मुनिराजको प्रणामकर हमने पूछा था कि हे नाथ ! लङ्कामें हमारा निवास फिर कब होगा ? इसके उत्तरमें दयालु मुनिराजने कहा था ॥३८६-३८७॥ कि तुम्हारे पुत्रसे वियद्बिन्दुकी पुत्रीमें जो उत्तम पुरुष जन्म प्राप्त करेगा वही तुम्हारा लङ्कामें प्रवेश करानेवाला होगा ॥३८८॥ वह पुत्र बल और पराक्रमका धारी तथा सत्त्व, प्रताप, विनय, लक्ष्मी, कीर्ति और कान्तिका अनन्य आश्रय होगा तथा भरतक्षेत्रके तीन खण्डोंका पालन करेगा ॥३८९॥ शत्रुके द्वारा अपने आधीन की हुई लक्ष्मीको यही पुत्र उससे मुक्त करावेगा इसमें आश्चर्यकी भी कोई बात नहीं है क्योंकि वह लङ्कामें परम लक्ष्मीको प्राप्त होगा ॥३९०॥ सो कुलके महोत्सवस्वरूप तू उत्पन्न हो गया है, तेरे सब लक्षण शुभ हैं तथा अनुपमरूपसे तू सबके नेत्रोंको हरनेवाला है ॥३९१॥ सुमालीके ऐसा कहनेपर दशाननने लज्जासे अपना मस्तक नीचा कर लिया और 'एवमस्तु' कह हाथ जोड़ शिरसे लगाकर सिद्ध भगवान्को नमस्कार किया ॥३९२॥ तदनन्तर उस बालकके प्रभावसे सब बन्धुजन शत्रुके भयसे रहित हो यथास्थान सुखसे रहने लगे ॥३९३॥

तदनन्तर गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! इस प्रकार पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मके प्रभावसे मनुष्य, कीर्तिके द्वारा दिग्दिगन्तराल तथा लोकको आच्छादित करते हुए लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं। इसमें मनुष्यकी आयु कारण नहीं है। क्या अग्निका एक कण क्षणभरमें विशाल वनको भस्म नहीं कर देता अथवा सिंहका बालक मदोन्मत्त हाथियोंके झुण्डको विदीर्ण नहीं कर देता ? ॥३९४॥ चन्द्रमाकी किरणोंका एक अंश, सूर्यकी किरणोंसे उत्पादित प्राणियोंके

१. विच्छेदः म०, ख० । २. समाश्रयः म० । ३. -रोचेर्लवः म० ।

निद्राविद्रुतिहेतुभिश्च समये जीमूतमालानिभं
ध्वान्तं दूरमपाकरोति किरणैरुद्योतमात्रो रविः ॥३६५॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते दशग्रीवाभिधानं नाम सप्तमं पर्व ॥७॥

सन्तापको दूर करता हुआ शीघ्र ही कुमुदिनियोंमें उल्लास पैदा कर देता है और सूर्य उदित होते ही निद्राको दूर हटानेवाली अपनी किरणोंसे मेघमालाके समान मलिन अन्धकारको दूर कर देता है ॥३६५॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्यविरचित पद्मचरितमें दशाननका वर्णन करनेवाला सातवाँ पर्व पूर्ण हुआ ॥७॥

अष्टमं पर्व

अथासोद्दक्षिणश्रेण्यां भास्करप्रतिमो द्युतौ । सुवीरोऽसुरसंगीते[1] पुरे मयखगेश्वरः ॥१॥
दैत्यत्वेन प्रसिद्धस्य [2]समस्ते तस्य भूतले । नाम्ना हेमवती भार्या योषिद्गुणसमन्विता ॥२॥
सुता मन्दोदरी नाम सर्वावयवसुन्दरी । तनूदरी विशालाक्षी लावण्यजलवेणिका ॥३॥
नवयौवनसंपूर्णां दृष्ट्वा तामन्यदा पिता । चिन्ताव्याकुलितः प्राह दयितामिति सादरम् ॥४॥
आरूढा नवतारुण्यं वत्सा मन्दोदरी प्रिये । गुणितेवैतदीया मे चिन्तामानसमाश्रिता ॥५॥
कन्यानां यौवनारम्भे संतापाग्निसमुद्भवे । इन्धनत्वं प्रपद्यन्ते पितरौ स्वजनैः समम् ॥६॥
एवमर्थं ददत्यस्या जन्मनोऽनन्तरं बुधाः । लोचनाञ्जलिभिस्तोयं दुःखाकुलितचेतसः ॥७॥
अहो भिनत्ति मर्माणि वियोगो देहनिःसृतैः[3] । अपत्यैर्जनितो नीतैरागत्या संस्तुतैर्जनैः ॥८॥
तद्ब्रूहि तरुणीं कस्मै ददामैतां प्रिये वयम् । गुणैः कुलेन कान्त्या च क एतस्याः समो भवेत् ॥९॥
इत्युक्ता प्राह तं देवी कन्यानां देहपालने । जनन्य उपयुज्यन्ते पितरो दानकर्मणि ॥१०॥
यत्र ते रुचितं दानं मह्यं तत्रैव रोचते । भर्तृच्छन्दानुवर्तिन्यो भवन्ति कुलबालिकाः ॥११॥
इत्युक्तो मन्त्रिभिः सार्धं चकारासौ प्रधारणम् । केनचिन्मन्त्रिणा कश्चिदुद्दिष्टः खेचरस्ततः ॥१२॥
अन्येनेन्द्रः समुद्दिष्टः सर्वविद्याधराधिपः । तस्माद्धि खेचराः सर्वे बिभ्यति प्रतिकूलने ॥१३॥

अथानन्तर विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें असुर-सङ्गीत नामका नगर है । वहाँ कान्ति में सूर्यकी उपमा धारण करनेवाला प्रबल योद्धा मय नामका विद्याधर रहता था । वह पृथिवी-तलमें दैत्य नामसे प्रसिद्ध था । उसकी हेमवती नामकी स्त्री थी जो कि स्त्रियोंके समस्त गुणोंसे सहित थी ॥१-२॥ उसकी मन्दोदरी नामकी पुत्री थी । उसके समस्त अवयव सुन्दर थे, उदर कृश था, नेत्र विशाल थे और वह सौन्दर्य रूपी जलकी धाराके समान जान पड़ती थी ॥३॥ एक दिन नवयौवनसे सम्पूर्ण उस पुत्रीको देखकर पिता चिन्तासे व्याकुल हो अपनी स्त्री मन्दोदरीसे बड़े आदरके साथ बोला कि हे प्रिये ! पुत्री मन्दोदरी नवयौवनको प्राप्त हो चुकी है इसे देख मेरी इस विषयकी मानसिक चिन्ता कई गुणी बढ़ गई है ॥४-५॥ किसीने ठीक ही कहा है कि सन्तापरूपी अग्निको उत्पन्न करनेवाले कन्याओंके यौवनारम्भमें माता-पिता अन्य परिजनोंके साथ ही साथ ईन्धनपनेको प्राप्त होते हैं ॥६॥ इसीलिए तो कन्या जन्मके बाद दुःखसे आकुलित है चित्त जिनका ऐसे विद्वज्जन इसके लिए नेत्र रूपी अञ्जलिके द्वारा जल दिया करते हैं ॥७॥ अहो, जिन्हें अपरिचितजन आकर ले जाते हैं ऐसे अपने शरीरसे समुत्पन्न सन्तान (पुत्री) के साथ जो वियोग होता है वह मर्मको भेदन कर देता है ॥८॥ इसलिए हे प्रिये ! कहो, यह तारुण्यवती पुत्री हम किसके लिए देवें । गुण, कुल और कान्तिसे कौन वर इसके अनुरूप होगा ॥९॥ पतिके ऐसा कहनेपर रानी हेमवतीने कहा कि माताएँ तो कन्याओंके शरीरकी रक्षा करनेमें ही उपयुक्त होती हैं और उनके दान करनेमें पिता उपयुक्त होते हैं ॥१०॥ जहाँ आपके लिए कन्या देना रुचता हो वहीं मेरे लिए भी रुचेगा क्योंकि कुलाङ्गनाएँ पतिके अभिप्रायके अनुसार ही चलती हैं ॥११॥ रानीके ऐसा कहनेपर राजाने मन्त्रियोंके साथ सलाह की तो किसी मन्त्रीने किसी विद्याधरका उल्लेख किया ॥१२॥ तदनन्तर किसी दूसरे मन्त्रीने कहा कि इसके लिए इन्द्र विद्याधर ठीक होगा क्यों कि वह समस्त विद्याधरोंका अधिपति है

१. संगीतिपुरे म० । २. समस्ति म० । ३. निःसृते म० ।

ततः स्वयं मयेनोक्तं युष्माकं वेद्मि नो मनः । मह्यं तु रुचितः ख्यातः सिद्धविद्यो दशाननः ॥१४॥
भविताऽसौ महान् कोऽपि जगतोऽद्भुतकारणम् । अन्यथा जायते सिद्धिर्विद्यानामाशु नाल्पके ॥१५॥
ततोऽनुमेनिरे तस्य तद्वाक्यं प्रमुदान्विताः । मारीचप्रमुखाः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रकोविदाः ॥१६॥
मन्त्रिणो भ्रातरश्चास्य मारीचाद्या महाबलाः । मारीचोऽस्य[1] ततश्चक्रे मानसं त्वरयान्वितम् ॥१७॥
ग्रहेष्वभिमुखस्थेषु सौम्येषु दिवसे शुभे । क्रूरग्रहेष्वपश्यत्सु लग्ने कुशलतावहे ॥१८॥
कृत्यं कालातिपातेन नेति ज्ञात्वा ततो मयः । पुष्पान्तकविमानेन प्रस्थितः कन्ययान्वितः ॥१९॥
ततो मङ्गलगीतेन प्रमदानां नभस्तलम् । तूर्यनादस्य विच्छेदे[2] शब्दात्मकमिवाभवत् ॥२०॥
पुष्पान्तकाद् विनिष्क्रम्य भीमारण्ये स्थिता इति । युवभिः कथितं तस्य निवृत्य प्रथमागतैः[3] ॥२१॥
तद्देशवेदिभिश्चारैः कथितं तद्वनं ततः । चलितोऽसावपश्यच्च मेघानामिव संचयम् ॥२२॥
चारः कश्चिदुवाचेति पश्येदं देव सद्वनम् । स्निग्धध्वान्तचयाकारं निविडोत्तुङ्गपादपम् ॥२३॥
अद्रेर्वलाहकाख्यस्य सन्ध्यावर्तस्य चान्तरे[4] । मन्दारुणमिवारण्यं सम्मेदाष्टापदागयोः ॥२४॥
वनस्य पश्य मध्येऽस्य शङ्खशुभ्रमहागृहम् । नगरं शरदम्भोदमहावृन्दसमद्युति ॥२५॥
समीपे च पुरस्यास्य पश्य प्रासादमुन्नतम् । सौधर्ममिव यः स्प्रष्टुमीहते शृङ्गकोटिभिः ॥२६॥

और सब विद्याधर उसके विरुद्ध जानेमें भयभीत भी रहेंगे ॥१३॥ तब राजा मयने स्वयं कहा कि मैं आप लोगोंके मनकी बात तो नहीं जानता पर मुझे जिसे समस्त विद्याएँ सिद्ध हुई हैं ऐसा प्रसिद्ध दशानन अच्छा लगता है ॥१४॥ निश्चित ही वह जगत्में कोई अद्भुत कार्य करनेवाला होगा अन्यथा उसे छोटी ही उमरमें शीघ्र ही अनेक विद्याएँ सिद्ध कैसे हो जातीं ॥१५॥ तदनन्तर मन्त्र करनेमें निपुण मारीच आदि समस्त प्रमुख मन्त्रियोंने बड़े हर्षके साथ राजा मय की बातका समर्थन किया ॥१६॥ तदनन्तर महाबलवान् मारीच आदि मन्त्रियों और भाइयोंने राजा मयके मनको शीघ्रतासे युक्त किया अर्थात् प्रेरणा की कि इस कार्यको शीघ्र ही सम्पन्न कर लेना चाहिए ॥१७॥ तब राजा मयने भी विचार किया कि समय बीत जानेसे कार्य सिद्ध नहीं हो पाता है ऐसा विचारकर वह किसी शुभ दिन, जब कि सौम्यग्रह सामने स्थित थे, क्रूर ग्रह विमुख थे और लग्न मङ्गलकारी थी, कन्याके साथ पुष्पान्तक विमानमें बैठकर चला। प्रस्थान करते समय तुरहीका मधुर शब्द हो रहा था और स्त्रियाँ मङ्गल गीत गा रहीं थी। बीच-बीचमें जब तुरहीका शब्द बन्द होता था तो स्त्रियोंके मङ्गल गीतोंसे आकाश ऐसा गूँज उठता था मानो शब्दमय ही हो गया हो ॥१८-२०॥ दशानन भीमवनमें है, यह समाचार, पुष्पान्तक विमानसे उतरकर जो जवान आगे गये थे उन्होंने लौटकर राजा मयसे कहा। तब राजा मय उस देशके जानकार गुप्तचरोंसे पता चलाकर भीमवनकी ओर चला। वहाँ जाकर उसने काली घटाके समान वह वन देखा ॥२१-२२॥ दशाननके खास स्थानका पता बताते हुए किसी गुप्तचरने कहा कि हे राजन्! जिस प्रकार सम्मेदाचल और कैलास पर्वतके बीचमें मन्दारुण नामका वन है उसी प्रकार वलाहक और सन्ध्यावर्त नामक पर्वतोंके बीचमें यह उत्तमवन देखिए। देखिए कि यह वन स्निग्ध अन्धकारकी राशिके समान कितना सुन्दर मालूम होता है और यहाँ कितने ऊँचे तथा सघन वृक्ष लग रहे हैं ॥२३-२४॥ इस वनके मध्यमें शङ्खके समान सफेद बड़े-बड़े घरोंसे सुशोभित जो वह नगर दिखाई दे रहा है वह शरद् ऋतुके बादलोंके समूहके समान कितना भला जान पड़ता है? ॥२५॥ उसी नगरके समीप देखो एक बहुत ऊँचा महल दिखाई दे रहा है। ऐसा महल कि जो अपनी शिखरोंके अग्रभागसे मानो सौधर्म स्वर्गको ही छूना

---

१. मारीचश्च म० । २. विच्छेदशब्दात्मक- म० । ३. प्रथमा गतिः म० । ४. चान्तरम् म० ।

अवतीर्य नभोभागात् समीपे तस्य वेश्मनः । सानीकिनी विशश्राम चकार च यथोचितम् ॥२७॥
तूर्यादिडम्बरं त्यक्त्वा दैत्यानामधिपस्ततः । आप्तैः कतिपयैर्युक्तो विनीताकल्पशोभितः ॥२८॥
अभिमानोदयं मुक्त्वा सकन्यः प्राप्तविस्मयः । तं प्रासादं समारुक्षत्प्रतीहारनिवेदितः ॥२९॥
सप्तमं च तलं प्राप्तः क्रमेण निभृतक्रमः । वनदेवीमिवैक्षिष्ट मूर्तामुत्तमकन्यकाम् ॥३०॥
अथेन्दुनखया तस्य कृताभ्यागतसत्क्रिया । प्रपद्यन्ते परिभ्रंशं कुलज्ञा नोपचारतः ॥३१॥
ततः सुखासनासीनः स्थितां कन्योचितासने । अपृच्छत् प्रश्रयादेवं तां मयो विनयान्विताम् ॥३२॥
वत्से कासि कुतो वासि कस्माद्वा कारणादिह । वससि प्रभयेऽरण्ये कस्य चेदं महागृहम् ॥३३॥
एकाकिन्या कथं चास्मिन् धृतिरुत्पद्यते तव । वपुरुत्कृष्टमेतत्ते पीडानां नैव भाजनम् ॥३४॥
एवं पृष्टा सती बाला स्त्रीणां स्वाभाविकी त्रपा । मन्दं वनमृगी मुग्धा जगादेति नतानना ॥३५॥
षष्ठभक्तेन संसाध्य चन्द्रहासमिमं मम । शैलराजं गतो भ्राता वन्दितुं जिनपुङ्गवान् ॥३६॥
दशवक्त्रेण तेनाहं पालनार्थं निरूपिता । आर्य तिष्ठामि चैत्येऽस्मिन् चन्द्रप्रभविराजिते ॥३७॥
यदि च स्युर्भवन्तोऽपि द्रष्टुमेतं समागताः । क्षणमात्रं ततोऽत्रैव स्थानं कुर्वन्तु सज्जनाः ॥३८॥
यावदेवं समालापो वर्तते मधुरस्तयोः । तेजसां मण्डलं तावद् दृश्यते स्म नभस्तले ॥३९॥
उक्तं च कन्यया नूनमागतोऽयं दशाननः । सहस्रकिरणं कुर्वन् प्रभया विगतप्रभम् ॥४०॥

चाहता है ॥२६॥ राजा मयकी सेना आकाशसे उतरकर उसी महलके समीप यथायोग्य विश्राम करने लगी ॥२७॥

तदनन्तर दैत्योंका अधिपति राजा मय तुरही आदि वादित्रोंका आडम्बर छोड़कर तथा विनीत मनुष्योंके योग्य वेष-भूषा धारणकर कुछ आप्तजनोंके साथ उस महलके समीप पहुँचा। कन्या मन्दोदरी उसके साथ थी। महलको देखते ही राजा मयका जहाँ अहंकार छूटा वहाँ उसे आश्चर्य भी कम नहीं हुआ। तदनन्तर द्वारपालके द्वारा समाचार भेजकर वह महलके ऊपर चढ़ा ॥२८–२९॥ सावधानीसे पैर रखता हुआ जब वह क्रमसे सातवें खण्डमें पहुँचा तब वहाँ उसने मूर्तिधारिणी वनदेवीके समान उत्तम कन्या देखी ॥३०॥ वह कन्या दशाननकी बहिन चन्द्रनखा थी सो उसने सबका अतिथि-सत्कार किया सो ठीक ही है क्योंकि कुलके जानकार मनुष्य योग्य उपचारसे कभी नहीं चूकते ॥३१॥ तदनन्तर जब मय सुखकारी आसनपर बैठ गया और चन्द्रनखा भी कन्याओंके योग्य आसनपर बैठ चुकी तब विनय दिखाती हुई उस कन्यासे मयने बड़ी नम्रतासे पूछा ॥३२॥ कि हे पुत्रि ! तू कौन है ? और किस कारणसे इस भयावह वनमें रहती है तथा यह बड़ा भारी महल किसका है ? ॥३३॥ इस महलमें अकेली रहते हुए तुझे कैसे धैर्य उत्पन्न होता है। तेरा यह उत्कृष्ट शरीर पीडाका पात्र तो किसी तरह नहीं हो सकता ॥३४॥ स्त्रियोंके लज्जा स्वभावसे ही होती है इसलिए मयके इस प्रकार पूछनेपर उस सती कन्याका मुख लज्जाने नत हो गया। साथ ही वनकी हरिणीके समान भोली थी ही अतः धीरे-धीरे इस प्रकार बोली कि मेरा भाई दशानन षष्ठोपवास अर्थात् तेलाके द्वारा इस चन्द्रहास खड्गको सिद्धकर जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दना करनेके लिए सुमेरु पर्वतपर गया है। दशानन मुझे इस खड्गकी रक्षा करनेके लिए कह गया है सो हे आर्य ! मैं चन्द्रप्रभ भगवान्‌से सुशोभित इस चैत्यालयमें स्थित हूँ। यदि आपलोग दशाननको देखनेके लिए आये हैं तो क्षण मात्र यहींपर विश्राम कीजिए ॥३५–३८॥

जब तक उन दोनोंमें इस प्रकारका मधुर आलाप चल रहा था तब तक आकाशतलमें तेजका मण्डल दिखाई देने लगा ॥३९॥ उसी समय कन्याने कहा कि जान पड़ता है अपनी

१. समारुह्य म० । २. -भ्यागम म० । ३. प्रपद्यान्तपरिभ्रंशं कुलजातोपचारतः म० । ४. स चासनासीनः म० । ५. -मेवं म० । ६. ददशाते म० ।

विद्युद्दण्डेन संयुक्तं मेघानामिव तं चयम् । अवलोक्य समासन्नमुत्तस्थौ संभ्रमान्मयः ॥४१॥
कृत्वा यथोचिताचारमासनेषु पुनः स्थिताः[1] । मण्डलाग्रप्रभाजालश्यामलीकृतविग्रहाः[2] ॥४२॥
मारीचो वज्रमध्यश्च वज्रनेत्रो नभस्तडित् । उग्रनक्रो मरुद्वक्त्रो मेधावी सारणः शुकः ॥४३॥
एवमाद्या गतास्तोषं परं दृष्ट्वा दशाननम् । इत्यूचुर्मङ्गलं वाक्यं दैत्यनाथस्य मन्त्रिणः ॥४४॥
अस्मभ्यं तव दैत्येश[3] धिषणातिगरीयसी । नराणामुत्तमो येन मनस्येष निवेशितः ॥४५॥
इति [4]चाहुर्दशग्रीवमहो ते रूपमुज्ज्वलम् । अहो प्रश्रयसंभारो वीर्यं चातिशयान्वितम् ॥४६॥
दक्षिणस्यामयं श्रेण्यामसुरप्रथिते पुरे । दैत्यानामधिपो नाम्ना मयो भुवनविश्रुतः ॥४७॥
गुणैरेष समाकृष्टः कुमार तव निर्मलैः । आयातः कं न कुर्वन्ति सज्जना दर्शनोत्सुकम् ॥४८॥
स्वागतादिकमित्याह ततो रत्नश्रवःसुतः । सतां हि कुलविद्येयं यन्मनोहरभाषणम् ॥४९॥
साधुना दैत्यनाथेन प्रेमदर्शनकारिणा । उचितेन नियोगेन जनोऽयमनुगृह्यताम् ॥५०॥
[5]वचः सोऽयं ततः प्राह तात युक्तमिदं तव । प्रतिकूलसमाचारा न भवन्त्येव साधवः ॥५१॥
दृष्टोऽसौ सचिवैस्तस्य कौतुकाक्रान्तमानसैः । कृतानन्दश्च सद्वाक्यैः पुनरुक्तैः समाकुलैः ॥५२॥
ततो गर्भगृहं रम्यं प्रविष्टोऽयं सुभावनः[6] । चकार महतीं पूजां जिनेन्द्राणां विशेषतः ॥५३॥
स्तवांश्च विविधानुक्त्वा रोमहर्षणकारिणः । मस्तकेऽञ्जलिमास्थाय चूडामणिविभूषिते ॥५४॥

प्रभासे सूर्यको निष्प्रभ करता हुआ दशानन आ गया है ॥४०॥ बिजलीके सहित मेघराशिके समान उस दशाननको निकटवर्ती देख मय हड़बड़ाकर आसनसे उठ खड़ा हुआ ॥४१॥ यथा योग्य आचार प्रदर्शित करनेके बाद सब पुनः आसनोंपर आरूढ़ हुए । तलवारकी कान्तिसे जिनके शरीर श्यामल हो रहे थे ऐसे मारीच, वज्रमध्य, वज्रनेत्र, नभस्तडित्, उग्रनक्र, मरुद्वक्त्र, मेधावी, सारस और शुक आदि मयके मन्त्री लोग दशाननको देखकर परम सन्तोषको प्राप्त हुए और निम्नलिखित मङ्गल वचन मयसे कहने लगे कि हे दैत्यराज ! आपकी बुद्धि हम सबसे अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि आपने ही इस पुरुषोत्तमको हृदयमें स्थान दिया था । अर्थात् हम लोगोंका इसकी ओर ध्यान नहीं गया जब कि आपने इसका अपने मनमें अच्छी तरह विचार रक्खा ॥४२–४५॥ मयसे इतना कहकर उन मन्त्रियोंने दशाननसे कहा कि अहो तुम्हारा उज्ज्वलरूप आश्चर्यकारी है, तुम्हारा विनयका भार अद्भुत है और तुम्हारा पराक्रम भी अतिशयसे सहित है ॥४६॥ यह दैत्योंका राजा दक्षिणश्रेणीके असुरसंगीत नामा नगरका रहनेवाला है तथा संसारमें मय नामसे प्रसिद्ध है । यह आपके गुणोंसे आकर्षित होकर यहाँ आया है सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष किसे दर्शनके लिए उत्कण्ठित नहीं करते ? ॥४७–४८॥ तब रत्नश्रवाके पुत्र दशाननने कहा कि आपका स्वागत है । आचार्य कहते हैं कि जो मधुर भाषण है वह सत्पुरुषोंकी कुल विद्या है ॥४९॥ दैत्योंके अधिपति उत्तम पुरुष हैं जिन्होंने कि हमें प्रेम पूर्वक दर्शन दिये । मैं चाहता हूँ कि ये उचित आदेश देकर इस जनको अनुगृहीत करें ॥५०॥ तदनन्तर मयने कहा कि हे तात ! तुम्हें यह कहना उचित है क्योंकि जो उत्तम पुरुष हैं वे विरुद्ध आचरण कभी नहीं करते ॥५१॥ जिनका चित्त कौतुकसे व्याप्त था ऐसे मयके मन्त्रियोंने भी दशाननके दर्शन किये और आकुलतासे भरे तथा बार-बार कहे हुए उत्तम वचनोंसे उसे आनन्दित किया ॥५२॥

तदनन्तर अच्छी भावनासे युक्त दशाननने चन्द्रप्रभजिनालयके महामनोहर गर्भगृहमें प्रवेश किया । वहाँ उसने प्रधानरूपसे जिनेन्द्र भगवान्‌की बड़ी भारी पूजा की ॥५३॥ रोमाञ्च उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके स्तवन पढ़े, हाथ जोड़कर चूडामणिसे सुशोभित मस्तकपर

१. स्थितः म० । २. विग्रहः म० । ३. दैत्यस्य म० । ४. चाह म० । ५. इदं मयस्ततः ख० । इदं मयसुतः म० । ६. स्वभावतः म० ।

स्पृशँल्ललाटपट्टेन जानुभ्यां च महीतलम् । पावनौ स जिनेन्द्राणां ननाम चरणौ चिरम् ॥५५॥
ततो गेहाज्जिनेन्द्राणां निष्क्रान्तः परमोदयः । संहितो[1] दैत्यनाथेन निविष्टः सुखमासने ॥५६॥
विजयार्धगिरिस्थानां पृच्छन् वार्तां खगामिनाम् । चक्षुषो गोचरीभावं निन्ये मन्दोदरीमसौ ॥५७॥
चारुलक्षणसंपूर्णां सौभाग्यमणिभूमिकाम् । तनुस्निग्धनखोत्तुङ्गपृष्ठपादसरोरुहाम् ॥५८॥
रम्भास्तम्भसमानाभ्यां तूणाभ्यां पुष्पधन्वनः । लावण्याम्भःप्रवाहाभ्यामूरुभ्यामतिराजिताम् ॥५९॥
युक्तविस्तारमुत्तुङ्गं मन्मथास्थानमण्डपम् । नितम्बं दधतीमग्र[2]कुकुन्दरै[3]र्मनोहरम् ॥६०॥
वज्रमध्यामधोवक्त्रां हेमकुम्भनिभस्तनीम् । शिरीषसुमनोमाला[4]मृदुबाहुलतायुगाम् ॥६१॥
कम्बुरेखानतग्रीवां पूर्णचन्द्रसमाननाम् । नेत्रकान्तिनदीसेतुबन्धसन्निभनासिकाम् ॥६२॥
रक्तदन्तच्छदच्छायाच्छुरिताच्छकपोलकाम् । वीणाभ्रमरसोन्मादपरपुष्टसमस्वनाम् ॥६३॥
इन्दीवरारविन्दानां कुमुदानां च संहतीः । विमुञ्चन्तीमिवाशासु दृष्ट्या दूत्या मनोभुवः ॥६४॥
अष्टमीशर्वरीनाथसमानालिकपट्टिकाम् । संगतश्रवणां स्निग्धनीलसूक्ष्मशिरोरुहाम् ॥६५॥
शोभयास्यांह्रिहस्तानां जङ्गमा[5]मिव पद्मिनीम् । जयन्तीं करिणीं हंसीं सिंहीं च गतिविभ्रमैः ॥६६॥
विद्यालिङ्गनजामीर्ष्यां धारयन्तीं दशानने । पद्मालयं परित्यज लक्ष्मीमिव समागताम् ॥६७॥

लगाये, और ललाटतट तथा घुटनोंसे पृथ्वीतलका स्पर्शकर जिनेन्द्र भगवान्के पवित्र चरणोंको देर तक नमस्कार किया ॥५४–५५॥ तदनन्तर परम अभ्युदयको धारण करनेवाला दशानन जिन-मन्दिरसे बाहर निकलकर दैत्यराज मयके साथ आसनपर सुखसे बैठा ॥५६॥ वार्तालापके प्रकरणमें जब वह विजयार्ध पर्वतपर रहनेवाले विद्याधरोंका समाचार पूछ रहा था तब मन्दो-दरी उसके दृष्टिगोचर हुई ॥५७॥ मन्दोदरी सुन्दर लक्षणोंसे पूर्ण थी, सौभाग्यरूपी मणियोंकी मानो भूमि थी, उसके चरणकमलोंका पृष्ठ भाग छोटे किन्तु स्निग्ध नखोंसे ऊपरको उठा हुआ जान पड़ता था ॥५८॥ वह जिन ऊरुओंसे सुशोभित थी वे केलेके स्तम्भके समान थे, कामदेवके तरकसके समान जान पड़ते थे अथवा सौन्दर्यरूपी जलके प्रवाहके समान मालूम होते थे ॥५९॥ वह जिस नितम्बको धारण कर रही थी वह योग्य विस्तारसे सहित था, ऊँचा उठा था, कामदेव के सभामण्डपके समान जान पड़ता था और कुछ ऊँचे उठे हुए कूल्हेंसे मनोहर था ॥६०॥ उसकी कमर वज्रके समान मजबूत अथवा हीराके समान देदीप्यमान थी, लज्जाके कारण उसका मुख नीचेकी ओर था, स्वर्णकलशके समान उसके स्तन थे, और शिरीषके फूलोंकी मालाके समान कोमल उसकी दोनों भुजाएँ थीं ॥६१॥ उसकी गरदन शङ्ख जैसी रेखाओंसे सुशोभित तथा कुछ नीचेकी ओर झुकी थी, मुख पूर्णचन्द्रमाके समान था और नाक तो ऐसी जान पड़ती थी मानो नेत्रोंकी कान्तिरूपी नदीके बीचमें पुल ही बाँध दिया गया हो ॥६२॥ उसके स्वच्छ कपोल ओंठोंकी लाल-लाल कान्तिसे व्याप्त थे तथा उसकी आवाज वीणा भ्रमर और उन्मत्त कोयलकी आवाजके समान थी ॥६३॥ उसकी दृष्टि कामदेवकी दूतीके समान थी और उससे वह दिशाओंमें नीलकमल, लालकमल तथा सफ़ेद कमलोंका समूह ही मानो बिखेरती थी ॥६४॥ उसका ललाट अष्टमीके चन्द्रमाके समान था, कान सुन्दर थे, तथा चिकने काले और बारीक बाल थे ॥६५॥ वह मुख तथा चरणोंकी शोभासे चलती फिरती कमलिनीको, हाथोंकी शोभासे हस्तिनीको तथा गति और विभ्रमके द्वारा क्रमशः हंसी और सिंहनीको जीत रही थी ॥६६॥ *विद्याओंने दशाननका आलिङ्गन प्राप्त कर लिया और मैं ऐसे ही रह गई इस प्रकार ईर्ष्याको* धारण करती हुई लक्ष्मी ही मानो कमलरूपी घरको छोड़कर मन्दोदरीके बहाने आ गई थी॥६७॥

१. सहितौ म० । २. मान ख० । ३. अदृश्यकटीपार्श्वसुन्दरम् इति ख० पुस्तके टिप्पणम् । ४. मालां म० । ५. जङ्गानामिव म० ।

अङ्गनाविषयां सृष्टि[1]मपूर्वामिव कर्मणा । आहृत्य जगतो[2]ऽशेषं लावण्यमिव निर्मिताम् ॥६८॥
दिवाकरकरस्पर्शस्वर्भानुग्रहभीतितः । तारापतिं परित्यज्य क्षितिं कान्तिमिवागताम् ॥६९॥
सीमन्तमणिभाजालरचितास्यावगुण्ठनाम् । हारेण वक्त्रलावण्यसेतुनेव विभूषिताम् ॥७०॥
कर्णयोर्बालिकाक्रोडों[3]न्मुक्ताफलसमुत्थितात्[4] । सितस्य सिन्दुवारस्य मञ्जरीमिव बिभ्रतीम् ॥७१॥
कन्दर्पदर्पसंक्षोभं सहते जघनं न यत् । इतीव वेष्टितं काञ्च्या [5]मणिचक्रककान्तया ॥७२॥
मनोज्ञामपि तां दृष्ट्वा दुःखितोऽभूत् स चिन्तया । नीयन्ते विषयैः प्रायः सत्त्ववन्तोऽपि वश्यताम् ॥७३॥
तस्यां माधुर्ययुक्तायां दृष्टिस्तस्य गता सती । अभवन्मधुमत्तेव प्रत्यानीतापि घूर्णिता ॥७४॥
अचिन्तयत्तदा नाम स्यादियं वनितोत्तमा । ह्रीः श्रीर्लक्ष्मीर्धृतिः कीर्तिः प्राप्तमूर्तिः सरस्वती ॥७५॥
किमूढेयमुतानूढा माया वा केनचित्कृता । अहो सृष्टिरियं मूर्ध्नि स्थिता निखिलयोषिताम् ॥७६॥
प्राप्नुयाद् यदि मामैतां कन्यामिन्द्रियहारिणीम् । कृतार्थं नस्ततो जन्म जायते तृणमन्यथा ॥७७॥
चिन्तयन्तमिमं चैवं मयोऽभिप्रायकोविदः । उपनीय सुतामाह प्रभुरस्या भवानिति ॥७८॥
तेन वाक्येन सिक्तोऽसावमृतेनेव तत्क्षणात् । तोषस्येवाङ्कुरान् जातान् दध्रे रोमाञ्चकण्टकान् ॥७९॥
ततोऽनयोः क्षणोद्भूतसर्ववस्तुसमागमम् । स्वजनानन्दितं वृत्तं पाणिग्रहणमङ्गलम् ॥८०॥
समं तया ततो यातः स्वयंप्रभपुरं कृती । मन्यमानः श्रियं प्राप्तां समस्तभुवनाश्रिताम्[6] ॥८१॥

कर्मरूपी विधाताने संसारके समस्त सौन्दर्यको इकट्ठाकर उसके बहाने स्त्रीविषयक अपूर्व सृष्टि ही मानो रची थी ॥६८॥ वह सूर्यकी किरणोंका स्पर्श तथा राहुग्रहके आक्रमणके भयसे चन्द्रमाको छोड़कर पृथ्वीपर आई हुई कान्तिके समान जान पड़ती थी ॥६९॥ उसने अपने सीमन्त (मांग) में जो मणि पहिन रक्खा था उसकी कान्तिका समूह उसके मुखपर घूँघटका काम देता था । वह जिस हारसे सुशोभित थी वह मुखके सौन्दर्यके प्रवाहके समान जान पड़ता था ॥७०॥ उसने अपने कानोंमें मोतीजड़ित बालियाँ पहिन रक्खी थीं सो उनकी प्रभासे ऐसी जान पड़ती थी मानो सफ़ेद सिन्दुवार (निर्गुण्डी) की मञ्जरी ही धारण कर रही हो ॥७१॥ चूँकि जघनस्थल कामके दर्पजन्य क्षोभको सहन नहीं करता था इसलिए ही मानो उसे मणिसमूहसे सुशोभित कटिसूत्रसे वेष्टित कर रखा था ॥७२॥ वह मन्दोदरी अत्यन्त सुन्दर थी फिर भी दशानन उसे देख चिन्तासे दुःखी हो गया सो ठीक ही है क्योंकि धैर्यवान् मनुष्य भी प्रायः विषयोंके आधीन हो जाते हैं ॥७३॥ मन्दोदरी माधुर्यसे युक्त थी इसलिए उसपर पड़ी दशानन की दृष्टि स्वयं भी मानो मधुसे मत्त हो गई थी, यही कारण था कि वह उसपरसे हटा लेनेपर भी नशामें झूमती थी ॥७४॥ दशानन विचारने लगा कि यह उत्तम स्त्री कौन हो सकती है ? क्या ह्री, श्री, लक्ष्मी, धृति, कीर्ति अथवा सरस्वती है ? ॥७५॥ यह विवाहित है या अविवाहित ? अथवा किसीके द्वारा की हुई माया है ? अहो, यह तो समस्त स्त्रियोंकी शिरोधार्य सर्वश्रेष्ठ सृष्टि है ॥७६॥ यदि मैं इन्द्रियोंको हरनेवाली इस कन्याको प्राप्त कर सकूँ तो मेरा जन्म कृतकृत्य हो जाय अन्यथा तृणके समान तुच्छ है ही ॥७७॥ इस प्रकार विचार करते हुए दशाननसे अभिप्रायके जाननेवाले मयने पुत्री मन्दोदरीको पास ले जाकर कहा कि इसके स्वामी आप हैं ॥७८॥ मयके इस वचनसे दशाननको इतना आनन्द हुआ मानो तत्क्षण अमृतसे ही सींचा गया हो । उसके सारे शरीरमें रोमाञ्च उठ आये मानो सन्तोषके अङ्कुर ही उत्पन्न हुए हों ॥७९॥

तदनन्तर जहाँ क्षणभरमें ही समस्त वस्तुओंका समागम हो गया था और कुटुम्बीजन जहाँ आनन्दसे फूल रहे थे ऐसा इन दोनोंका पाणिग्रहण-मङ्गल सम्पन्न हुआ ॥८०॥ तदनन्तर दशानन कृतकृत्य होता हुआ मन्दोदरीके साथ स्वयंप्रभनगर गया । वह मन्दोदरीको पाकर ऐसा

---

१. -मसर्वां म० । २. जगताशेष म० । ३. लोकां म० । ४. समुत्थिताम् म० । ५. मणिचक्राङ्ककान्तया ख० । ६. भुवनश्रिताम् म० ।

मयोऽपि तनयाचिन्ता[1]शल्योद्धारात्ससंमदः । तद्वियोगात् सशोकश्च स्थितः स्वोचितधामनि ॥८२॥
प्रापद्देवीसहस्रस्य प्राधान्यं चारुविभ्रमा । क्रमान्मन्दोदरी भर्तुर्गुणैराकृष्टमानसा ॥८३॥
अभिप्रेतेषु देशेषु स रेमे सहितस्तया । पुरन्दर इवेन्द्राण्या सर्वेन्द्रियमनोज्ञया ॥८४॥
प्रभावं वेदितुं वाञ्छन् विद्यायामपि भूरिशः । व्यापारानित्यसौ चक्रे समेतः परया रुचा ॥८५॥
एको भवत्यनेकश्च सर्वस्त्रीकृतसंगमः । वितनोत्यर्कवत्तापं ज्योत्स्नां मुञ्चति चन्द्रवत् ॥८६॥
वह्निवन्मुञ्चति ज्वालां वर्षत्यम्बुधरो यथा । वायुवच्चलयत्यद्रीन् कुरुते सुरनाथताम् ॥८७॥
आपगानाथतां याति पर्वतत्वं प्रपद्यते । मत्तवारणतामेति भवत्यश्वो महाजवः ॥८८॥
क्षणादारात् क्षणाद्दूरे क्षणाद् दृश्यः क्षणाच्च नो । क्षणान्महान् क्षणात्सूक्ष्मः क्षणाद्भीमो न च क्षणात् ॥८९॥
एवं च रममाणोऽसौ नाम्ना मेघरवं गिरिम् । प्राप्तत्र च सद्वापीमपश्यद् विमलाम्भसम्[2] ॥९०॥
कुमुदैरुत्पलैः पद्मैः स्वच्छैरन्यैश्च वारिजैः । पर्यन्तसंचरत्क्रौञ्चहंसचक्राह्वसारसाम् ॥९१॥
मृदुशष्पपटच्छन्नतटां सोपानमण्डिताम् । नभसेव विलीनेन पूरितां सवितुः करैः ॥९२॥
अर्जुनादिमहोत्तुङ्गपादपव्याप्तरोधसम्[3] । प्रस्फुरच्छफरीचक्रसमुच्छलितसीकराम् ॥९३॥
भ्रूक्षेपानिव कुर्वाणां तरङ्गैरतिभङ्गुरैः । जल्पन्तीमिव नादेन पक्षिणां श्रोत्रहारिणाम् ॥९४॥

भाव रहा था मानो समस्त संसारकी लक्ष्मी ही मेरे हाथ लग गई है ॥८१॥ पुत्रीकी चिन्ता रूपी शल्यके निकल जानेसे जिसे हर्ष हो रहा था तथा साथ ही उसके वियोगसे जिसे शोक हो रहा था ऐसा राजा मय भी अपने योग्य स्थानमें जाकर रहने लगा ॥८२॥ जिसके हाव-भाव सुन्दर थे तथा जिसने अपने गुणोंसे पतिका मन आकृष्ट कर लिया था ऐसी मन्दोदरीने क्रमसे हजारों देवियोंमें प्रधानता प्राप्त कर ली ॥८३॥ समस्त इन्द्रियोंको प्रिय लगने वाली उस रानी मन्दोदरीके साथ दशानन, इच्छित स्थानोंमें इन्द्राणीके साथ इन्द्रके समान क्रीड़ा करने लगा ॥८४॥ उत्कृष्ट कान्तिसे सहित दशानन अपनी विद्याओंका प्रभाव जाननेके लिए निम्नाङ्कित बहुत सारे कार्य करता था ॥८५॥ वह एक होकर भी अनेक रूप धरकर समस्त स्त्रियोंके साथ समागम करता था। कभी सूर्यके समान सन्ताप उत्पन्न करता था तो कभी चन्द्रमाके समान चाँदनी छोड़ने लगता था ॥८६॥ कभी अग्निके समान ज्वालाएँ छोड़ता था तो कभी मेघके समान वर्षा करने लगता था। कभी वायुके समान बड़े-बड़े पहाड़ोंको चला देता था तो कभी इन्द्र जैसा प्रभाव जमाता था ॥८७॥ कभी समुद्र बन जाता था, कभी पर्वत हो जाता था, कभी मन्दोन्मत्त हाथी बन जाता था और कभी महावेगशाली घोड़ा हो जाता था ॥८८॥ वह क्षणभरमें पास आ जाता था, क्षणभरमें दूर पहुँच जाता था, क्षणभरमें दृश्य हो जाता था, क्षण भरमें अदृश्य हो जाता था, क्षण भरमें महान् हो जाता था, क्षण भरमें सूक्ष्म हो जाता था, क्षण भरमें भयङ्कर दिखाई देने लगता था और क्षण भरमें भयङ्कर नहीं रहता था ॥८९॥ इस प्रकार रमण करता हुआ वह एक बार मेघरव नामक पर्वतपर गया और वहाँ स्वच्छ जल से भरी वापिकाके पास पहुँचा ॥९०॥ उस वापिकामें कुमुद, नीलकमल, लालकमल, सफेद कमल तथा अन्यान्य प्रकारके कमल फूल रहे थे और उसके किनारेपर क्रौञ्च, हंस, चकवा तथा सारस आदि पक्षी घूम रहे थे ॥९१॥ उसके तट हरी-हरी कोमल घास-रूपी वस्त्रसे आच्छादित थे, सीढ़ियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं और उसका जल तो ऐसा जान पड़ता था, मानो सूर्यकी किरणोंसे पिघल कर आकाश ही उसमें भर गया हो ॥९२॥ अर्जुन (कोहा) आदि बड़े-बड़े ऊँचे वृक्षोंसे उसका तट व्याप्त था। जब कभी उसमें मछलियोंके समूह ऊपरको उछलते थे तब उनसे जलके छींटे ऊपर उड़ने लगते थे ॥९३॥ अत्यन्त भङ्गुर अर्थात् जल्दी-जल्दी उत्पन्न होने और मिटनेवाली तरङ्गोंसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो भौंहें

---

१. शल्योद्गारात् म० । २. विमलाम्भसाम् म० । ३. रोधसाम् म० ।

तत्र क्रीडाप्रसक्तानां दधतीनां परां श्रियम् । षट् सहस्राणि कन्यानामपश्यत् कैकसीसुतः ॥९५॥
काश्चिच्छीकरजालेन रेमिरे दूरगामिना । [1]पर्यटन्ति स्म सत्कन्या दूरं सख्या कृतागसः ॥९६॥
प्रदर्श्य रदनं काचित्पद्मषण्डे सशैवले । कुर्वन्ती पङ्कजाशङ्कां सखीनां सुचिरं स्थिता ॥९७॥
मृदङ्गनिस्वनं काचिच्चक्रे करतलाहतम् । कुर्वाणा सलिलं मन्दं गायन्ती षट्पदैः समम् ॥९८॥
ततस्ता युगपद् दृष्ट्वा कन्या रत्नश्रवःसुतम् । क्षणं त्यक्तजलक्रीडा बभूवुः स्तम्भिता इव ॥९९॥
मध्यं तासां दशग्रीवो गतो रमणकाङ्क्षया । रन्तुमेतेन साकं ता व्यापारिण्योऽभवन् [2]मुदा ॥१००॥
आहताश्च समं सर्वा विशिखैः पुष्पधन्वनः । दृष्टिरासामभूदस्मिन् बद्धेवानन्यचारिणी ॥१०१॥
मिश्रे कामरसे तासां त्रपया पूर्वसंगमात् । मनो दोलामिवारूढं बभूवात्यन्तमाकुलम् ॥१०२॥
सुरसुन्दरतो जाता नाम्ना पद्मवती शुभा । सर्वश्रीयोषिति स्फीतनीलोत्पलदलेक्षणा ॥१०३॥
कन्याऽशोकलता नाम बुधस्य दुहिता वरा । मनोवेगा समुत्पन्ना नवाशोकलतासमा ॥१०४॥
संध्यायां कनकाज्जाता नाम्ना विद्युत्प्रभा परा । विद्युतं प्रभया लज्जां या नयेच्चारुदर्शना ॥१०५॥
महाकुलसमुद्भूता[3] ज्येष्ठास्तासामिमाः श्रिया । विभूत्या च त्रिलोकस्य मूर्ताः सुन्दरता इव ॥१०६॥
आकल्पकं च संप्राप्तास्तं ययुस्ताः सहेतराः । सह्यते तापत्रपा तावद् दुःसहाः स्मरवेदनाः ॥१०७॥
गान्धर्वविधिना सर्वा निराशङ्केन तेन ताः । परिणीताः शशाङ्केन ताराणामिव संहति[4]ः ॥१०८॥

ही चला रही हो तथा पक्षियोंके मधुर शब्दसे ऐसी मालूम होती थी मानो वार्तालाप ही कर रही हो ॥९४॥ उस वापिकापर परम शोभाको धारण करनेवाली छह हजार कन्याएँ क्रीड़ामें लीन थीं सो दशाननने उन सबको देखा ॥९५॥ उनमेंसे कुछ कन्याएँ तो दूर तक उड़नेवाले जलके फव्वारेसे क्रीड़ा कर रही थीं और कुछ अपराध करनेवाली सखियोंसे दूर हटकर अकेली-अकेली ही घूम रही थीं ॥९६॥ कोई एक कन्या शेवालसे सहित कमलोंके समूहमें बैठकर दाँत दिखा रही थी और उसकी सखियोंके लिए कमलकी आशङ्का उत्पन्न कर रही थी ॥९७॥ कोई एक कन्या पानीको हथेलीपर रख दूसरे हाथकी हथेलीसे उसे पीट रही थी और उससे मृदङ्ग जैसा शब्द निकल रहा था। इसके सिवाय कोई एक कन्या भ्रमरोंके समान गाना गा रही थी। तदनन्तर वे सबकी सब कन्याएँ एक साथ दशाननको देखकर जलक्रीड़ा भूल गईं और आश्चर्यसे चकित रह गईं ॥९८-९९॥ दशानन क्रीड़ा करनेकी इच्छासे उनके बीचमें चला गया तथा वे कन्याएँ भी उसके साथ क्रीड़ा करनेके लिए बड़े हर्षसे तैयार हो गईं ॥१००॥ क्रीडा करते-करते ही वे सब कन्याएँ एक साथ कामके बाणोंसे आहत (घायल) हो गईं और दशाननपर उनकी दृष्टि ऐसी बँधी कि वह फिर अन्यत्र संचार नहीं कर सकी ॥१०१॥ उस अपूर्व समागमके कारण उन कन्याओंका कामरूपी रस लज्जासे मिश्रित हो रहा था अतः उनका मन दोलापर आरूढ हुए के समान अत्यन्त आकुल हो रहा था ॥१०२॥ अब उन कन्याओंमें जो मुख्य हैं उनके नाम सुनो। राजा सुरसुन्दरसे सर्वश्री नामकी स्त्रीमें उत्पन्न हुई पद्मवती नामकी शुभ कन्या थी। उसके नेत्र किसी बड़े नीलकमलकी कलिकाके समान थे ॥१०३॥ राजा बुधकी मनोवेगा रानीसे उत्पन्न अशोकलता नामकी कन्या थी जो नूतन अशोकलताके समान थी ॥१०४॥ राजा कनकसे संध्या नामक रानीसे उत्पन्न हुई विद्युत्प्रभा नामकी श्रेष्ठ कन्या थी जो इतनी सुन्दरी थी कि अपनी प्रभासे बिजलीको भी लज्जा प्राप्त करा रही थी ॥१०५॥ ये कन्याएँ महाकुलमें उत्पन्न हुई थीं और शोभासे उन सबमें श्रेष्ठ थीं। विभूतिसे तो ऐसी जान पड़ती थीं मानो तीनो लोककी सुन्दरता ही रूप धरकर इकट्ठी हुई हो ॥१०६॥ उक्त तीनों कन्याएँ अन्य समस्त कन्याओंके साथ दशाननके समीप आईं सो ठीक ही है क्योंकि लज्जा तभी तक सही जाती है जब तक कि कामकी वेदना असह्य न हो उठे ॥१०७॥ तदनन्तर किसी प्रकारकी शङ्कासे रहित

१. पलायन्ते स्म म० । २. पुनः म० । ३. समुत्पन्ना ख० । ४. संहतीः म०, ख० ।

दशग्रीवेण सार्धं ताः पुनः क्रीडां प्रचक्रिरे । अन्योन्याहंयुतां प्राप्य प्रथमोपगमाकुलाः ॥१०९॥
संप्रत्येव हि सा क्रीडा क्रियते तेन या समम् । शशाङ्केन विमुक्तानां ताराणां काभिरूपता ॥११०॥
ततः कञ्चुकिभिस्तासामाशु गत्वा निवेदितम् । जनकेभ्य इदं वृत्तं रत्नश्रवससंभवम् ॥१११॥
ततस्तैः प्रहिताः क्रूराः पुरुषास्तद्विनाशने । संदष्टोष्ठपुटा बद्धभ्रकुटीकोटिसंकटाः ॥११२॥
विविधानि विमुञ्चन्तस्ते शस्त्राणि समं ततः । भ्रूक्षेपमात्रकेणैव कैकसेयेन निर्जिताः ॥११३॥
भयवेपितसर्वाङ्गास्ततस्तेऽमरसुन्दरम् । व्यज्ञापयन् समागत्य शस्त्रनिर्मुक्तपाणयः ॥११४॥
गृहाण जीवनं नाथ हर वा नः कुलाङ्गनाः । छिन्धि ता चरणौ पाणी ग्रीवां वा न वयं क्षमाः ॥११५॥
कन्यानिवहमध्यस्थः कोऽपि धीरो विराजते । सुरेन्द्रसुन्दरः कान्त्या समानो रजनीपतेः ॥११६॥
क्रुद्धस्य तस्य नो दृष्टिं देवाः शक्रपुरस्सराः । सहेरन् किमुत क्षुद्रा अस्मत्तुल्याः शरीरिणः ॥११७॥
रथनूपुरनाथेन्द्रप्रभृत्युत्तममानवाः । वीक्षिता बहवोऽस्माभिरयं तु परमादृतः ॥११८॥
एवं श्रुत्वा महाक्रोधरक्तास्योऽमरसुन्दरः । निरैत् संनद्ध संयुक्तो बुधेन कनकेन च ॥११९॥
अन्ये च बहवः शूराः पतयो व्योमगामिनाम् । निश्चक्रमुर्वियद्दीप्तं कुर्वाणाः शस्त्ररश्मिभिः ॥१२०॥
ततस्तानायतो दृष्ट्वा ता भयाकुलमानसाः । विद्याधरसुता ऊचुरिदं रत्नश्रवःसुतम् ॥१२१॥
अस्मत्प्रयोजनान्नाथ प्राप्तोऽस्यत्यन्तसंशयम् । पुण्यहीना वयं कष्टं सर्वा अप्यपलक्षणाः ॥१२२॥

दशाननने उन सब कन्याओंको गन्धर्व विधिसे उस प्रकार विवाह लिया कि जिस प्रकार चन्द्रमा ताराओंके समूहको विवाह लेता है ॥१०८॥

तदनन्तर 'मैं पहले पहुँचूँ, मैं पहले पहुँचूँ' इस प्रकार परस्परमें होड़ लगाकर वे कन्याएँ दशाननके साथ पुनः क्रीड़ा करने लगीं ॥१०९॥ जो कन्या दशाननके साथ क्रीड़ा करती थी वही भली मालूम होती थी सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमासे रहित ताराओंकी क्या शोभा है? ॥११०॥ तदनन्तर जो कञ्चुकी इन कन्याओंके साथ वापिकापर आये थे उन्होंने शीघ्र ही जाकर कन्याओंके पितासे दशाननका यह वृत्तान्त कह सुनाया ॥१११॥ तब कन्याओंके पिताने दशाननको नष्ट करनेके लिए ऐसे क्रूर पुरुष भेजे कि जो क्रोधवश ओठोंको डश रहे थे तथा बद्ध भौंहोंके अग्रभागसे भयानक मालूम होते थे ॥११२॥ वे सब एक ही साथ अनेक प्रकारके शस्त्र चला रहे थे पर दशाननने उन्हें भौंह उठाते ही जीत लिया ॥११३॥ तदनन्तर जिनका सारा शरीर भयसे काँप रहा था तथा जिनके हाथसे शस्त्र छूट गये थे ऐसे वे सब पुरुष राजा सुरसुन्दरके पास जाकर कहने लगे ॥११४॥ कि हे नाथ! चाहे हमारा जीवन हर लो, चाहे हमारे हाथ पैर तथा गरदन काट लो पर हम उस पुरुषको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥११५॥ इन्द्रके समान सुन्दर तथा कान्तिसे चन्द्रमाकी तुलना करनेवाला कोई एक धीरवीर मनुष्य कन्याओंके बीचमें बैठा हुआ सुशोभित हो रहा है ॥११६॥ सो जब वह क्रुद्ध होता है तब उसकी दृष्टिको इन्द्र आदि देव भी सहन नहीं कर सकते फिर हमारे जैसे क्षुद्र प्राणियोंकी तो बात ही क्या है? ॥११७॥ रथनूपुर नगरके राजा इन्द्र आदि बहुतसे उत्तम पुरुष हमने देखे हैं पर यह उन सबमें परम आदरको प्राप्त है ॥११८॥ यह सुनकर, बहुत भारी क्रोधसे जिसका मुँह लाल हो रहा था ऐसा राजा सुरसुन्दर राजा कनक और बुधके साथ तैयार होकर बाहर निकला ॥११९॥ इनके सिवाय और भी बहुतसे शूरवीर विद्याधरोंके अधिपति शस्त्रोंकी किरणोंसे आकाशको देदीप्यमान करते हुए बाहर निकले ॥१२०॥ तदनन्तर उन्हें आता देख, जिनका मन भयसे व्याकुल हो रहा था ऐसी वे विद्याधर कन्याएँ दशाननसे बोलीं कि हे नाथ! आप हमारे निमित्तसे अत्यन्त संशयको प्राप्त हुए हैं। यथार्थमें हम सब पुण्य हीन तथा शुभलक्षणोंसे रहित हैं ॥१२१-१२२॥

उत्तिष्ठ शरणं गच्छ [1]कंचिन्नाथ प्रसीद नः । उत्पत्य गगनं क्षिप्रं रक्ष प्राणान् सुदुर्लभान् ॥१२३॥
अस्मिन् वा भवने जैने भूत्वा प्रच्छन्नविग्रहः । तिष्ठ यावदिमे क्रूरा नेक्षन्ते भवतस्तनुम् ॥१२४॥
श्रुत्वा वाक्यमिदं दीनं दृष्ट्वा च निकटं बलम् । सिते कुमुदवत्तेन नेत्रे पद्मनिभे [2]कृते ॥१२५॥
उवाच च न मां नूनं विज्ञथद्रूदथेदृशम् । किमेभिः क्रियते काकैः संभूयापि गरुत्मतः ॥१२६॥
एकाकी पृथुकः सिंहः प्रस्फुरत्सितकेसरः । किं वा नानयते ध्वंसं यूथं [3]समददन्तिनाम् ॥१२७॥
इदं ताः पुनरूचुस्तं यद्येवं नाथ मन्यसे । ततोऽस्माकं पितॄन् रक्ष भ्रातॄंश्च स्वजनांस्तथा ॥१२८॥
एवमस्तु प्रिया यूयं मा भैष्टेति स सान्त्वनम् । कुरुते यावदेतासां तावद्बलमुपागतम् ॥१२९॥
ततो विमानमारुह्य क्षणाद्विद्याविनिर्मितम् । खमारुह्य दशग्रीवो दन्तदष्टरदच्छदः ॥१३०॥
त एवावयवास्तस्य प्राप्य युद्धमहोत्सवम् । दुःखेन मानमाकाशे प्राप्ता रोमाञ्चकर्कशाः ॥१३१॥
तस्योपरि ततो योधाश्चिक्षिपुः शस्त्रसंहतीः । धारा इव घनस्थूलाः पर्वतस्य घनाघनाः ॥१३२॥
ततोऽसौ शस्त्रसंघातं काभिश्चिद् विन्यवारयत् । काभिश्चित्तु रिपुव्रातं शिलाभिर्भयमानयत् ॥१३३॥
वराकैर्निहतैरेभिः [4]खेचरैः किं ममेत्यसौ । चिन्तयित्वा [5]प्रधानांस्त्रीन् तांश्चक्रे नेत्रगोचरम् ॥१३४॥
तामसेन ततोऽस्त्रेण मोहयित्वा गतक्रियाः । नागपाशैस्त्रयोऽप्येते बद्ध्वा तासामुपाहृताः ॥१३५॥
मोचितास्ते ततस्ताभिः पूजां च परिलम्भिताः । शूरस्वजनसंप्राप्तेः [6]संमदं च समागताः ॥१३६॥

हे नाथ ! उठो और किसीकी शरणमें जाओ । हम लोगोंपर प्रसन्न होओ और शीघ्र ही आकाशमें उड़कर अपने दुर्लभ प्राणोंकी रक्षा करो ॥१२३॥ अथवा ये क्रूरपुरुष जब तक आपका शरीर नहीं देख लेते हैं जब तक उसके पहले ही इस जिन-मन्दिरमें छिपकर बैठ रहो ॥१२४॥ कन्याओंके यह दीन वचन सुनकर तथा सेनाको निकट देख दशाननने अपने कुमुदके समान सफ़ेद नेत्र कमलके समान लाल कर लिये ॥१२५॥ उसने कन्याओंसे कहा कि निश्चय ही आप हमारा पराक्रम नहीं जानती हो इसीलिए ऐसा कह रही हो । जरा सोचो तो सही, बहुतसे कौए एक साथ मिलकर भी गरुड़का क्या कर सकते हैं ? ॥१२६॥ जिसकी सफ़ेद जटाएँ फहरा रहीं हैं ऐसा अकेला सिंहका बालक क्या मदोन्मत्त हाथियोंके झुण्डको नष्ट नहीं कर देता ? ॥१२७॥ दशाननके वीरता भरे वचन सुन उन कन्याओंने फिर कहा कि हे नाथ ! यदि आप ऐसा मानते हैं तो हमारे पिता, भाई तथा कुटुम्बीजनों की रक्षा कीजिये, अर्थात् युद्धमें उन्हें नहीं मारिये ॥१२८॥ 'हे प्रिया जनो ! ऐसा ही होगा, तुम सब भयभीत न होओ' इस प्रकार दशानन जब तक उन कन्याओंको सान्त्वना देता है कि तब तक वह सेना आ पहुँची ॥१२९॥ तदनन्तर क्षणभरमें विद्या निर्मित विमानपर आरूढ़ होकर रावण आकाशमें जा पहुँचा और दातोंसे ओठ चबाने लगा ॥१३०॥ दशाननके वे ही सब अवयव थे पर युद्धरूपी महोत्सवको पाकर इतने अधिक फूल गये और रोमाञ्चोंसे कर्कश हो गये कि आकाशमें बड़ी कठिनाईसे समा सके ॥१३१॥ तदनन्तर जिस प्रकार मेघ किसी पर्वतपर बड़ी मोटी जल की धाराएँ छोड़ते हैं उसी प्रकार सब योधा दशाननके ऊपर शस्त्रोंके समूह छोड़ने लगे ॥१३२॥ तब दशाननने शिलाएँ वर्षाना शुरू किया । उसने कितनी ही शिलाओंसे तो शत्रुओंके शस्त्रसमूहको रोका और कितनी ही शिलाओं-से शत्रुसमूह को भयभीत किया ॥१३३॥ इन बेचारे दीन-हीन विद्याधरोंको मारनेसे मुझे क्या लाभ है ? ऐसा विचारकर उसने सुरसुन्दर, कनक और बुध इन तीन प्रधान विद्याधरोंको अपनी दृष्टिका विषय बनाया अर्थात् उनकी ओर देखा ॥१३४॥ तदनन्तर उसने तामस शस्त्रसे मोहित कर उन्हें निश्चेष्ट बना दिया और नागपाशमें बाँधकर तीनोंको तीन कन्याओंके सामने रख दिया ॥१३५॥ तब कन्याओंने उन्हें छुड़वाकर उनका सत्कार कराया और तुम्हें शूरवीर वर

१. कं च म० । २. तते म० । ३. संमद-म० । ४. खचरैः म० । सेवकैः क० । ५. प्रधानां स्त्रीं तां चक्रे नेत्रगोचराम् म० (?) । त्रीन् प्रधानान् मत्वा तान् दृष्टिपथमानिनायेत्यर्थः । ६. संप्राप्ते म० ।

ततः पाणिग्रहश्चक्रे तस्य तासां च तैः पुनः । दिवसानां त्रयं विद्याजनितश्च महोत्सवः ॥१३७॥
गताश्चानुमतास्तेन यथा स्वं निलयानमी । मन्दोदरीगुणाकृष्टः स च यातः स्वयंप्रभम् ॥१३८॥
ततस्तं परया युक्तं दृष्ट्वा सयोषितम् । बान्धवाः परमं हर्षं जग्मुर्विस्तारितेक्षणाः ॥१३९॥
दूरादेव च तं दृष्ट्वा भानुकर्णविभीषणौ । अभिगत्या विनिष्क्रान्तौ सुहृदोऽन्ये च बान्धवाः ॥१४०॥
[1]वेष्टितश्च प्रविष्टस्तैः स्वयंप्रभपुरोत्तमम् । रेमे च स्वेच्छया तेऽत्र प्राप्नुवन् सुखमुत्तमम् ॥१४१॥
अथ कुम्भपुरे राजमहोदरसुतां वराम् । सुरूपाक्षीसमुद्भूतां तडिन्मालाभिधानकाम् ॥१४२॥
भास्करश्रवणो लेभे सुप्रीतः स तया समम् । चारुविभ्रमकारिण्या निमग्नो रतिसागरे ॥१४३॥
तत्र कुम्भपुरे तस्य केनचित् कृतशब्दने । श्वसुरस्नेहतः कर्णौ सततं पेततुर्यतः ॥१४४॥
कुम्भकर्ण इति ख्यातिं ततोऽसौ भुवने गतः । धर्मसक्तमतिर्वीरः कलागुणविशारदः ॥१४५॥
[2]अयं स प्रखलैः ख्यातिमन्यथा गमितो जनैः । मांसासृग्जीवनत्वेन तथा षण्मासनिद्रया ॥१४६॥
आहारोऽस्य शुचिः स्वादुर्यथाकामप्रकल्पितः । सुरभिर्बन्धुयुक्तस्य प्रथमं तर्पितातिथिः ॥१४७॥
संध्यासंवेशनोत्थानमध्यकालप्रवर्तिनी । निद्रास्य शेषकालस्तु धर्मव्यासक्तचेतसः ॥१४८॥
परमार्थावबोधेन वियुक्ताः पापचेतसः । कल्पयन्त्यन्यथा साधून् धिक् तान् दुर्गतिगामिनः ॥१४९॥
अथास्ति दक्षिणश्रेण्यां नाम्ना ज्योतिःप्रभं पुरम् । विशुद्धकमलस्तत्र राजा मयमहासुहृत् ॥१५०॥

प्राप्त हुआ है इस समाचारसे उन्हें हर्षित भी किया ॥१३६॥ तदनन्तर उन्होंने दशानन और उन कन्याओंका विधिपूर्वक पुनः पाणिग्रहण किया। इस उपलक्ष्यमें तीन दिनतक विद्याजनित महोत्सव होते रहे ॥१३७॥ तत्पश्चात् ये सब दशाननकी अनुमति लेकर अपने-अपने घर चले गये और दशानन भी मन्दोदरीके गुणोंसे आकृष्ट हुआ स्वयंप्रभनगर चला गया ॥१३८॥ तदनन्तर श्रेष्ठ कान्तिसे युक्त दशाननको अनेक स्त्रियों सहित आया देख, बान्धवजन परम हर्षको प्राप्त हुए। हर्षातिरेकसे उनके नेत्र विस्तृत हो गये ॥१३९॥ भानुकर्ण और विभीषण तथा अन्य मित्र और इष्टजन दूरसे ही उसे देख अगवानी करनेके लिए नगरसे बाहर निकले ॥१४०॥ उन सबसे घिरा दशानन, स्वयंप्रभनगरमें प्रविष्ट हो मनचाही क्रीड़ा करने लगा और भानुकर्ण विभीषण आदि बन्धुजन भी उत्तम सुखको प्राप्त हुए ॥१४१॥

अथानन्तर कुम्भपुर नगरमें राजा महोदरकी सुरूपाक्षी नामा स्त्रीसे उत्पन्न तडिन्माला नामकी कन्या थी सो भानुकर्णने बड़ी प्रसन्नतासे प्राप्त की। सुन्दर हाव-भाव दिखानेवाली तडिन्मालाके साथ भानुकर्ण रतिरूपी सागरमें निमग्न हो गया ॥१४२–१४३॥ एकबार कुम्भपुर नगरपर किसी प्रबल शत्रुने आक्रमण कर हल्ला मचाया तब श्वसुरके स्नेहसे भानुकर्णके कान कुम्भपुरपर पड़े अर्थात् वहाँके दुःखभरे शब्द इसने सुने तबसे संसारमें इसका कुम्भकर्ण नाम प्रसिद्ध हुआ। इसकी बुद्धि सदा धर्ममें आसक्त रहती थी, यह शूरवीर था तथा कलाओंमें निपुण था ॥१४४–१४५॥ दुष्टजनोंने इसके विषयमें अन्यथा ही निरूपण किया है। वे कहते हैं कि यह मांस और खूनका भोजन कर जीवित रहता था तथा छह माहकी निद्रा लेता था सो इसका आहार तो इच्छानुसार परम पवित्र मधुर और सुगन्धित होता था। प्रथम ही अतिथियोंको सन्तुष्टकर बन्धुजनोंके साथ आहार करता था ॥१४६–१४७॥ संध्याकाल शयन करने का और प्रातःकाल उठनेका समय है सो भानुकर्ण इसके बीचमें ही निद्रा लेता था। इसका अन्य समय धार्मिक कार्योंमें ही व्यतीत होता था ॥१४८॥ जो परमार्थज्ञानसे रहित पापी मनुष्य, सत्पुरुषों का अन्यथा वर्णन करते हैं वे दुर्गतिमें जाने वाले हैं ऐसे लोगोंको धिक्कार है ॥१४९॥

अथानन्तर दक्षिणश्रेणीमें ज्योतिःप्रभ नामका नगर है। वहाँ विशुद्धकमल राजा राज्य

१. वेष्टिताश्च प्रविष्टास्ते म० । २. अथ स म० ।

तस्य नन्दनमालायामुत्पन्ना वरकन्यका । राजीवसरसी नाम्ना पतिं प्राप्ता विभीषणम् ॥१५१॥
कान्तया कान्तया साकं न स प्राप रतिं कृती । देववत् परमाकारः पद्मया पद्मया तया ॥१५२॥
अथ मन्दोदरी गर्भं कालयोगाददीधरत् । सद्यः कल्पितचित्तस्थदोहदाहारिविभ्रमा ॥१५३॥
नीता च जनकागारं प्रसूता [1]बालकं वरम् । इन्द्रजित्ख्यातिमायातो यः समस्तमहीतले ॥१५४॥
मातामहगृहे वृद्धिं प्राप्तश्च जननन्दनः । स कुर्वन् निर्भरक्रीडां सिंहशाव इवोत्तमाम् ॥१५५॥
ततोऽसौ पुनरानीता सपुत्रा भर्तुरन्तिकम् । दत्तदुःखा पितुः [2]स्वस्य पुत्रस्य च वियोगतः ॥१५६॥
दशग्रीवोऽथ पुत्रास्यं दृष्ट्वा परममागतः । आनन्दं पुत्रतो नान्यत्प्रीतेरायतनं परम् ॥१५७॥
कालक्रमात् पुनर्गर्भं दधाना पितुरन्तिकम् । नीता [3]सुखं प्रसूता च मेघवाहनबालकम् ॥१५८॥
भर्तुरन्तिकमानीता पुनः सा भोगसागरे । पतिता स्वेच्छयातिष्ठद्[4] गृहीत[5]पतिमानसा ॥१५९॥
दारकौ स्वजनानन्दं कुर्वाणौ चारुविभ्रमौ । तौ युवत्वं परिप्राप्तौ महोक्षविपुलेक्षणौ ॥१६०॥
अथ वैश्रवणो यासां कुरुते स्वामितां पुराम् । व्यध्वंसयदिमा गत्वा कुम्भकर्णः सहस्रशः ॥१६१॥
तासु रत्नानि वस्त्राणि कन्यकाश्च मनोहराः । [6]गणिकाश्चानयद्वीरः स्वयंप्रभपुरोत्तमम् ॥१६२॥
अथ वैश्रवणः क्रुद्धो ज्ञात्वा पृथुकचेष्टितम् । सुमालिनोऽन्तिकं दूतं प्रजिघायातिगर्वितः ॥१६३॥
प्रविवेश ततो दूतः प्रतिहारनिवेदितः । उपचारं च संप्राप्तः कृतकं लोकमार्गतः ॥१६४॥

करता था जो मयका महामित्र था ॥१५०॥ उसकी नन्दनमाला नामकी स्त्रीसे राजीवसरसी नामकी कन्या उत्पन्न हुई थी वह विभीषणको प्राप्त हुई ॥१५१॥ देवोंके समान उत्कृष्ट आकारको धारण करनेवाला बुद्धिमान् विभीषण, लक्ष्मीके समान सुन्दरी उस राजीवसरसी स्त्रीके साथ क्रीड़ा करता हुआ तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ ॥१५२॥ तदनन्तर समय पाकर मन्दोदरीने गर्भ धारण किया। उस समय उसके चित्तमें जो दोहला उत्पन्न होते थे उनकी पूर्ति तत्काल की जाती थी। उसके हाव-भाव भी मनको हरण करनेवाले थे ॥१५३॥ राजा मय पुत्रीको अपने घर ले आया वहाँ उसने उस उत्तम बालकको जन्म दिया जो समस्त पृथ्वीतलमें इन्द्रजित् नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥१५४॥ लोगोंको आनन्दित करनेवाला इन्द्रजित् अपने नानाके घर ही वृद्धिको प्राप्त हुआ। वहाँ वह सिंहके बालकके समान उत्तम क्रीड़ा करता हुआ सुखसे रहता था ॥१५५॥ तदनन्तर मन्दोदरी पुत्रके साथ अपने भर्त्ता दशाननके पास लाई गई सो अपने तथा पुत्रके वियोगसे वह पिताको दुःख पहुँचानेवाली हुई ॥१५६॥ दशानन पुत्रका मुख देख परम आनन्दको प्राप्त हुआ। यथार्थमें पुत्रसे बढ़कर प्रीतिका और दूसरा स्थान नहीं है ॥१५७॥ कालक्रमसे मन्दोदरीने फिर गर्भ धारण किया सो पुनः पिताके समीप भेजी गई। अबकी बार वहाँ उसने सुखपूर्वक मेघवाहन नामक पुत्रको जन्म दिया ॥१५८॥ तदनन्तर वह पुनः पतिके पास आई और पतिके मनको वशकर इच्छानुसार भोगरूपी सागरमें निमग्न हो गई ॥१५९॥ सुन्दर चेष्टाओंके धारी दोनों बालक आत्मीयजनोंका आनन्द बढ़ाते हुए तरुण अवस्थाको प्राप्त हुए। उस समय उनके नेत्र किसी महावृषभके नेत्रोंके समान विशाल हो गये थे ॥१६०॥

अथानन्तर वैश्रवण जिन नगरोंका राज्य करता था, कुम्भकर्ण हजारों बार जा जाकर उन नगरोंको विध्वस्त कर देता था ॥१६१॥ उन नगरोंमें जो भी मनोहर रत्न, वस्त्र, कन्याएँ अथवा गणिकाएँ होती थी शूरवीर कुम्भकर्ण उन्हें स्वयंप्रभनगर ले आता था ॥१६२॥ तदनन्तर जब वैश्रवणको कुम्भकर्णकी इस बालचेष्टाका पता चला तब उसने कुपित होकर सुमालीके पास दूत भेजा। वैश्रवण इन्द्रका बल पाकर अत्यन्त गर्वित रहता था ॥१६३॥ तदनन्तर द्वारपालके द्वारा

---

१. बालकंदलम् म० । २. -स्तस्य ख० । ३. स्वयं म० । ४. तिष्ठन् म० । ५. गृहीता म० । ६. मणिका ख० ।

उवाचेदं तथा दूतो वाक्यालङ्कारसंज्ञितः । समक्षं दशवक्त्रस्य सुमालिनमिति क्रमात् ॥१६५॥
समस्तभुवनव्यापिकीर्तिर्वैश्रवणश्रुतिः[1] । [2]वदतीदं महाराजो भवन्तं कुरु चेतसि ॥१६६॥
पण्डितोऽसि कुलीनोऽसि लोकज्ञोऽसि महानसि । अकार्यसङ्गभीतोऽसि देशकोऽसि सुवर्त्मसु ॥१६७॥
एवंविधस्य ते युक्तं कुर्वन्तं शिशुचापलम् । प्रमत्तचेतसं पौत्रं निवारयितुमात्मनः ॥१६८॥
तिरश्चां मानुषाणां च प्रायो भेदोऽयमेव हि । कृत्याकृत्यं न जानन्ति यदेकेऽन्यत्तु तद्विदः ॥१६९॥
विस्मरन्ति च नो पूर्वं वृत्तान्तं दृढमानसाः । आतायामपि कस्याञ्चिद्भूतौ विद्युत्समद्युतौ ॥१७०॥
शान्तिर्मालिवधेनैव शेषस्य स्यात् कुलस्य ते । को हि स्वकुलनिर्मूलध्वंसहेतुक्रियां भजेत् ॥१७१॥
समुद्रवीचिसंसक्तः[3] शक्रस्य ध्वस्तविद्विषः । प्रतापो विस्मृतः किं ते यतोऽनुचितमीहसे ॥१७२॥
स त्वं क्रीडसि मण्डूको दंष्ट्राकण्टकसंकटे । वक्त्ररन्ध्रे भुजङ्गस्य विषाग्निकणमोचिनि ॥१७३॥
नियन्तुमथ शक्नोषि नैतं तस्करदारकम् । ततो ममार्पयाद्यैव करोम्यस्य नियन्त्रणम् ॥१७४॥
नैवं चेत् कुरुषे पश्य ततश्चारकवेश्मनि । निगडैः संयुतं पौत्रं यात्यमानमनेकधा ॥१७५॥
अलङ्कारोदयं त्यक्त्वा चिरं कालमवस्थितः । तदेव विवरं भूयः प्रवेष्टुमभिवाञ्छसि ॥१७६॥
कुपिते मयि शक्रे वा न तेऽस्ति शरणं भुवि । जलबुद्बुदवद्वाताद्चिरादेव नश्यसि ॥१७७॥
ततः परुषवाग्वातवेगाहतमनोजलः । क्षोभं परममायातो दशाननमहार्णवः ॥१७८॥

समाचार भेजकर दूतने भीतर प्रवेश किया । दूत लोकाचारके अनुसार योग्य विनयको प्राप्त था ॥१६४॥ दूतका नाम वाक्यालङ्कार था सो उसने दशाननके समक्ष ही सुमालीसे इस प्रकार क्रमसे कहना शुरू किया ॥१६५॥ जिनकी कीर्ति समस्त संसारमें फैल रही है ऐसे वैश्रवण महाराजने आपसे जो कहा है उसे चित्तमें धारण करो ॥१६६॥ उन्होंने कहा है कि तुम पण्डित हो, कुलीन हो, लोक व्यवहारके ज्ञाता हो, महान् हो, अकार्यके समागमसे भयभीत हो और सुमार्गका उपदेश देनेवाले हो ॥१६७॥ सो तुम्हें लड़कों जैसी चपलता करनेवाले अपने प्रमादी पौत्रको मना करना उचित है ॥१६८॥ तिर्यञ्च और मनुष्योंमें प्रायः यही तो भेद है कि तिर्यञ्च कृत्य और अकृत्यको नहीं जानते हैं पर मनुष्य जानते हैं ॥१६९॥ जिनका चित्त दृढ़ है ऐसे मनुष्य बिजलीके समान भङ्गुर किसी विभूतिके प्राप्त होने पर भी पूर्ववृत्तान्तको नहीं भूलते हैं ॥१७०॥ तुम्हारे कुलका प्रधान माली मारा गया इसीसे समस्त कुलको शान्ति धारण करना चाहिए थी—क्योंकि ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपने कुलका निर्मूल नाश करनेवाले काम करेगा ॥१७१॥ शत्रुओंको नष्ट करनेवाले इन्द्रका वह प्रताप जो कि समुद्रकी लहर-लहरमें व्याप्त हो रहा है तुमने क्यों भुला दिया ? जिससे कि अनुचित काम करनेकी चेष्टा करते हो ॥१७२॥ तुम मेंढकके समान हो और इन्द्र भुजङ्गके समकक्ष है, सो तुम इन्द्ररूपी भुजङ्गके उस मुखरूपी बिलमें क्रीड़ा कर रहे हो जो दाँढ़रूपी कंटकोंसे व्याप्त है तथा विषरूपी अग्निके तिलगे छोड़ रहा है ॥१७३॥ यदि तुम इस चोर बालकपर नियन्त्रण करनेमें समर्थ नहीं हो तो आज ही मुझे सौंप दो मैं स्वयं इसका नियन्त्रण करूँगा ॥१७४॥ यदि तुम ऐसा नहीं करते हो तो अपने पौत्रको जेलखानेके अन्दर बेड़ियोंसे बद्ध तथा अनेक प्रकारकी यातना सहते हुए देखोगे ॥१७५॥ जान पड़ता है कि तुमने अलङ्कारोदयपुर (पाताललङ्का) को छोड़कर बहुत समय तक बाहर रह लिया है अब फिरसे उसी बिलमें प्रवेश करना चाहते हो ॥१७६॥ यह निश्चित समझ लो कि मेरे या इन्द्रके कुपित होनेपर पृथ्वीमें तुम्हारा कोई शरण नहीं है, जिस प्रकार जरा-सी हवा चलनेसे पानीका बबूला नष्ट हो जाता है उसी प्रकार तुम भी नष्ट हो जाओगे ॥१७७॥

तदनन्तर उस दूतके कठोर वचनरूपी वायुके वेगसे जिसका मनरूपी जल आघातको प्राप्त

---

१. विश्रवणश्रुतिः म० । २. चरतीदं म० । ३. संसक्तशक्रस्य-म०, ख० ।

प्रतीकाग्राहवस्त्वास्य प्रस्फुरत्स्वेदमोचिनः । चक्षुषात्यन्तरक्तेन दिग्धं सकलमम्बरम् ॥१७९॥
ततो वधिरयन्नाशाः स्वरेणाम्बरगामिना । करिणो निर्मदीकुर्वन् बभाण प्रतिनादिना १८०॥
कोऽसौ वैश्रवणो नाम को वेन्द्रः परिभाष्यते । अस्मद् गोत्रक्रमायाता नगरी येन गृह्यते ॥१८१॥
सोऽयं श्येनायते काकः शृगालः शरभायते[1] । इन्द्रायते स्वभृत्यानां निस्त्रपः पुरुषाधमः ॥१८२॥
आः कुदूत पुरोऽस्माकं गदतः परुषं वचः । निःशङ्कस्य शिरस्तावत् पातयामि रुषे बलिम् ॥१८३॥
इत्युक्त्वा कोशतः खड्गमाचकर्ष कृतं वियत् । इन्दीवरवनेनेव येन व्याप्तं महासरः ॥१८४॥
कुर्वाणं क्वणनं वाताक्रोधादिव सकम्पनम् । [2]नीतं कालमिवा[3]सित्वं हिंसाया इव शावकम् ॥१८५॥
उद्‌गूर्णश्चायमेतेन वेगादागत्य चान्तरम् । बिभीषणेन संरुद्धः सान्त्वितश्चेति सादरम् ॥१८६॥
भृत्यस्यास्यापराधः कः क्लीवस्यापहृतात्मनः । विक्रीतनिजदेहस्य शुकस्येवानुभाषिणः ॥१८७॥
हृदयस्थेन नाथेन पिशाचेनेव चोदिताः । दूता वाचि प्रवर्तन्ते य[4]न्त्रदेहा इवावशाः ॥१८८॥
तत्प्रसीद दयामार्य कुरु प्राणिनि दुःखिते । अकीर्तिरुद्रवत्युर्वीलोके क्षुद्रवधे कृते ॥१८९॥
शिरस्सु विद्विषामेव तव खड्गः पतिष्यति । न हि गण्डूपदान् हन्तुं वैनतेयः प्रवर्तते ॥१९०॥
एवं कोपानलस्तस्य यावत्सद्वाक्यवारिणा । शममानीयते तेन साधुना न्यायवादिना ॥१९१॥

हुआ था ऐसा दशानन रूपी महासागर परम क्षोभको प्राप्त हुआ ॥१७८॥ दूतके वचन सुनते ही दशाननकी ऐसी दशा हो गई मानो किसीने उसके अङ्ग पकड़कर झकझोर दिया हो, उसके प्रत्येक अङ्गसे पसीना छूटने लगा और उसकी अत्यन्त लालदृष्टिने समस्त आकाशको लिप्त कर दिया ॥१७९॥ तदनन्तर आकाशमें गूँजनेवाले स्वरसे दिशाओंको बहरा करता हुआ दशानन, प्रतिध्वनिसे हाथियोंको मदरहित करता हुआ बोला ॥१८०॥ कि यह वैश्रवण कौन है ? अथवा इन्द्र कौन कहलाता है ? जो कि हमारी वंश-परम्परासे चली आई नगरीपर अधिकार किये बैठा है ? ॥१८१॥ निर्लज्ज नीचपुरुष अपने भृत्योंके सामने इन्द्र जैसा आचरण करता है सो मानो कौआ बाज बन रहा है और शृगाल अष्टापदके समान आचरण कर रहा है ॥१८२॥ अरे कुदूत ! हमारे सामने निशङ्क होकर कठोर वचन बोल रहा है सो मैं अभी क्रोधके लिए तेरे मस्तककी बलि चढ़ाता हूँ ॥१८३॥ यह कह कर उसने म्यानसे तलवार खींची जिससे आकाशरूपी सरोवर ऐसा दिखने लगा मानो नील कमलरूपी वनसे ही व्याप्त हो गया हो ॥१८४॥ दशाननकी वह तलवार हवासे बात कर रही थी, क्रोधसे मानो काँप रही थी, ऐसी जान पड़ती थी मानो तलवारका रूप धरकर यमराज ही वहाँ आया हो, अथवा मानो हिंसाका बेटा ही हो ॥१८५॥ दशाननने वह तलवार ऊपरको उठाई ही थी कि विभीषणने बीचमें आकर रोक दिया और बड़े आदरसे इस प्रकार समझाया कि ॥१८६॥ जिसने अपना शरीर बेच दिया है और जो तोतेके समान कही बातको ही दुहराता हो ऐसे इस पापी दीन-हीन भृत्यका अपराध क्या है ? ॥१८७॥ दूत जो कुछ वचन बोलते हैं सो पिशाच की तरह हृदयमें विद्यमान अपने स्वामीसे प्रेरणा पाकर ही बोलते हैं। यथार्थमें दूत यन्त्रमयी पुरुषके समान पराधीन है ॥१८८॥ इसलिए हे आर्य ! प्रसन्न होओ और दुःखी प्राणी पर दया करो। क्षुद्रका वध करनेसे संसारमें अकीर्ति ही फैलती है ॥१८९॥ आपकी तलवार तो शत्रुओंके ही शिर पर पड़ेगी क्योंकि गरुड़ जलमें रहनेवाले निर्विष सांपोंको मारनेके लिए प्रवृत्त नहीं होता ॥१९०॥ इस प्रकार न्याय-नीति को जानने वाले सत्पुरुष विभीषण, सदुपदेशरूपी जलसे जबतक दशाननकी क्रोधाग्निको शान्त करता है तबतक अन्य लोगोंने उस दूतके पैर खींचकर उसे सभाभवनसे शीघ्र ही बाहर निकाल दिया। आचार्य कहते हैं कि दुःखके लिए ही जिसकी रचना हुई है ऐसे भृत्यको धिक्कार

१. करभायते म० । २. नीत-म० । ३. -मिवासन्नं म० । ४. यत्र म० ।

पादयोस्तावदाकृष्य दूतोऽन्यैः सुखलीकृतः[1] । क्षिप्रं निष्कासितो गेहाद् धिग् भृत्यं दुःखनिर्मितम् ॥१९२॥
गत्वा वैश्रवणायेयमवस्था तेन वेदिता । दशग्रीवाद्विनिष्क्रान्ता वाणी चात्यन्तदुःकथा ॥१९३॥
तयेन्धनविभूत्यास्य कोपवह्निः समुत्थितः । अमात इव सोऽनेन[2] भृत्यचेतःसु वण्टितः ॥१९४॥
अचीकरच्च संग्रामसंज्ञां परुषतूर्यतः । रणसज्जा यया सद्यो मणिभद्रादयः कृताः ॥१९५॥
निरैद् वैश्रवणो योद्धुं यक्षयोधैस्ततो वृतः । विलसत्सायकप्रासचक्राद्यायुधपाणिभिः ॥१९६॥
स निर्भराञ्जनक्षोणीधराकारैर्मतङ्गजैः । संध्यारागसमाविष्टमेघाकारैर्महारथैः ॥१९७॥
प्रस्फुरच्चामरैरश्वैर्जयद्भिर्जवतोऽनिलम् । सुरावाससमाकारैर्विमानैर्दूरमुन्नतैः ॥१९८॥
लङ्घिताश्वविमानेभस्यन्दनेनोरुतेजसा । पादातेन च संघट्टमीयुषार्णवराविणा ॥१९९॥
पूर्वमेव च निष्क्रान्तो दशग्रीवो महाबलः । भानुकर्णादिभिः सार्धं स्थितो रणमहोत्सवः ॥२००॥
गुञ्जाख्यस्य ततो मूर्ध्नि पर्वतस्य तयोरभूत् । संपातः सेनयोः शस्त्रसंपातोद्गतपावकः ॥२०१॥
क्वणनेन ततोऽसीनां सप्तीनां हेषितेन च । पदातीनां च नादेन गजानां गर्जितेन च ॥२०२॥
अन्योऽन्यसंगमाद्भूतरथशब्देन चारुणा । तूर्यस्वरेण चोग्रेण शीत्कारेण च पत्रिणाम् ॥२०३॥
ध्वनिः कोऽपि विमिश्रोऽभूत् प्रतिनादेन बोधितः । व्याप्नुवन् रोदसी कुर्वन् भटानां मदमुत्तमम् ॥२०४॥
कृतान्तवन्दनाकारैश्चक्रैः स्फुरितधारकैः । खड्गैस्तद्द[3]समाकारै रक्तसीकरवर्षिभिः ॥२०५॥
तद्रोमसन्निभैः कुन्तैस्[4]तत्तर्जन्युपमैः[5] शरैः । परिघैस्तद्भुजाकारै[6]स्तन्मुष्टिसममुद्गरैः ॥२०६॥

हो ॥१९१-१९२॥ दूतने जाकर अपनी यह सब दशा वैश्रवणको बतला दी और दशाननके मुखसे निकली वह अभद्रवाणी भी सुना दी ॥१९३॥ दूतके वचनरूपी ईंधनसे वैश्रवणकी क्रोधाग्नि भभक उठी। इतनी भभकी कि वैश्रवणके मनमें मानो समा नहीं सकी इसलिए उसने भृत्यजनोंके चित्तमें बाँट दी अर्थात् दूतके वचन सुनकर वैश्रवण कुपित हुआ और साथ ही उसके भृत्य भी बहुत कुपित हुए ॥१९४॥ उसने तुरहीके कठोर शब्दोंसे युद्धकी सूचना करवा दी जिससे मणिभद्र आदि योद्धा शीघ्र ही युद्धके लिए तैयार हो गये ॥१९५॥ तदनन्तर जिनके हाथोंमें कृपाण, भाले, तथा चक्र आदि शस्त्र सुशोभित हो रहे थे ऐसे यक्षरूपी योधाओंसे घिरा हुआ वैश्रवण युद्धके लिए निकला ॥१९६॥ इधर अञ्जनगिरिका आकार धारण करनेवाले—बड़े-बड़े काले हाथियों, संध्याकी लालिमासे युक्त मेघोंके समान दिखनेवाले बड़े-बड़े रथों, जिनके दोनों ओर चमर ढुल रहे थे तथा जो वेगसे वायुको जीत रहे थे ऐसे घोड़ों, देवभवनके समान सुन्दर तथा ऊँची उड़ान भरनेवाले विमानों, तथा जो घोड़े, विमान, हाथी और रथ—सभीको उल्लङ्घन कर रहे थे अर्थात् इन सबसे आगे बढ़कर चल रहे थे, जिनका प्रताप बहुत भारी था, जो अधिकताके कारण एक दूसरेको धक्का दे रहे थे तथा समुद्रके समान गरज रहे थे ऐसे पैदल सैनिकों और भानुकर्ण आदि भाइयोंके साथ महाबलवान् दशानन, पहलेसे ही बाहर निकलकर तैयार बैठा था। युद्धका निमित्त पाकर दशाननके हृदयमें बड़ा उत्सव–उल्लास हो रहा था ॥१९७–२००॥

तदनन्तर गुञ्ज नामक पर्वतके शिखरपर दोनों सेनाओंका समागम हुआ। ऐसा समागम कि जिसमें शस्त्रोंके पड़नेसे अग्नि उत्पन्न हो रही थी ॥२०१॥ तदनन्तर तलवारोंकी खनखनाहट, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, पैदल सैनिकोंकी आवाज, हाथियोंकी गर्जना, परस्परके समागमसे उत्पन्न रथोंकी सुन्दर चीत्कार, तुरहीकी बुलन्द आवाज और बाणोंकी सनसनाहटसे उस समय कोई मिश्रित–विलक्षण ही शब्द हो रहा था। उसकी प्रतिध्वनि आकाश और पृथिवीके बीच गूँज रही थी तथा योद्धाओंमें उत्तम मद उत्पन्न कर रही थी ॥२०२–२०४॥ इस तरह जिनका आकार यमराजके मुखके समान था तथा जिनकी धार पैनी थी, ऐसे चक्रों, यमराजकी

---

१. -र्मुखलङ्घितः म०। २. सोतेन म०। ३. तद्दशनाकारैः क०। ४. कुम्भैः म०। ५. तत्तर्जन्योपमैः म०। ६. तनुमुष्टिभिर्मुद्गरैः म०।

बभूव सुमहज्जन्यं कृतविक्रान्तसंमदम् । कातरोत्पादितत्रासं शिरःक्रीतयशोधनम् ॥२०७॥
ततो निजं बलं नीतं खेदं यक्षभटैश्चिरात् । [1]स धारयितुमारब्धो दशास्यो रणमस्तकम् ॥२०८॥
[2]अभ्यायान्तं च तं दृष्ट्वा [3]सितातपनिवारणम् । कालमेघमिवोद्ध्वस्थरजनीकरमण्डलम् ॥२०९॥
सचापं तमिवासक्तशचीपतिशरासनम् । हेमकण्टकसंवीतं [4]विद्युतालमिवाचितम् ॥२१०॥
किरीटं बिभ्रतं नानारत्नसङ्गविराजितम् । युक्तं तमिव वज्रेण छादयन्तं नभस्त्विषा ॥२११॥
विलक्षाश्चाभवन् यक्षा विषण्णाशाः क्षतौजसः । पराङ्मुखक्रियायुक्ताः क्षणात् क्षीणरणाशयाः ॥२१२॥
त्रासाकुलितचित्तेषु ततो यक्षपदातिषु । आवर्तमिव यातेषु भ्रमत्सु सुमहारवम् ॥२१३॥
स्वसेनामुखतां जग्मुर्यक्षाणां बहवोऽधिपाः । पुनरेभिः कृतं सैन्यं रणस्याभिमुखं तथा ॥२१४॥
तत उच्छेत्तुमारब्धो यक्षनाथान् दशाननः । उत्पत्योत्पत्य गगने सिंहो मत्तगजानिव ॥२१५॥
प्रेरितः कोपवातेन दशाननतनूनपात् । शस्त्रज्वालाकुलः शत्रुसैन्यकक्षे व्यजृम्भत ॥२१६॥
न सोऽस्ति पुरुषो भूमौ रथे वाजिनि वारणे । विमाने वा न यश्छिद्रः कृतो दाशाननैः शरैः ॥२१७॥
ततोऽभिमुखम[5]मायातं दृष्ट्वा दशमुखं रणे । अभजद्भ्रातृबन्धस्नेहं परं वैश्रवणः क्षणात् ॥२१८॥
विषादमतुलं चागान्निर्वेदं च नृपश्रियः । यथा बाहुबली पूर्वं शमकर्मणि [6]संगतः ॥२१९॥

जिह्वाके समान दिखनेवाली तथा खूनकी बूँदें बरसानेवाली तलवारों, उसके रोमके समान दिखनेवाले भाले, यमराजको प्रदेशिनी अंगुलीकी उपमा धारण करनेवाले बाणों, यमराजकी भुजाके आकार परिघ नामक शस्त्रों और उनकी मुट्ठीके समान दिखनेवाले मुद्गरोंसे दोनों सेनाओंमें बड़ा भारी युद्ध हुआ। उस युद्धसे जहाँ पराक्रम मनुष्योंको हर्ष हो रहा था वहाँ कातर मनुष्यों-को भय भी उत्पन्न हो रहा था। दोनों ही सेनाओंके शूरवीर अपना शिर दे देकर यशरूपी महा-धन खरीद रहे थे ॥२०५-२०७॥ तदनन्तर चिरकाल तक यक्षरूपी भटोंके द्वारा अपनी सेनाको खेद खिन्न देख दशानन उसे संभालनेके लिए तत्पर हुआ ॥२०८॥ तदनन्तर जिसके ऊपर सफेद छत्र लग रहा था और उससे जो उस काले मेघके समान दिखाई देता था जिसपर कि चन्द्रमाका मण्डल चमक रहा था, जो धनुषसे सहित था और उससे इन्द्र धनुष सहित श्याम मेघके समान जान पड़ता था, सुवर्णमय कवचसे युक्त होनेके कारण जो बिजलीसे युक्त श्याम मेघके समान दिखाई देता था, जो नाना रत्नोंके समागमसे सुशोभित मुकुट धारण कर रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो कान्तिसे आकाशको आच्छादित करता हुआ वज्रसे युक्त श्याम मेघ ही हो। ऐसे दशाननको आता हुआ देख यक्षोंकी आँखें चौंधिया गईं, उनका सब ओज नष्ट हो गया, युद्धसे विमुख हो भागनेकी चेष्टा करने लगे और क्षण भरमें उनका युद्धका अभिप्राय समाप्त हो गया ॥२०९-२१२॥ तदनन्तर जिनके चित्त भयसे व्याकुल हो रहे थे ऐसे यक्षोंके पैदल सैनिक महाशब्द करते हुए जब भ्रमरमें पड़ेके समान घूमने लगे तब यक्षोंके बहुत सारे अधिपति अपनी सेनाके सामने आये और उन्होंने सेनाको फिरसे युद्धके सन्मुख किया ॥२१३-२१४॥ तदनन्तर जिस प्रकार सिंह आकाशमें उछल-उछलकर मत्त हाथियोंको नष्ट करता है उसी प्रकार दशानन यक्षाधिपतियोंको नष्ट करनेके लिए तत्पर हुआ ॥२१५॥ शस्त्ररूपी ज्वालाओंसे युक्त दशानन रूपी अग्नि, क्रोधरूपी वायुसे प्रेरित होकर शत्रुसेना रूपी वनमें वृद्धिको प्राप्त हो रही थी ॥२१६॥ उस समय पृथिवी, रथ, घोड़े, हाथी, अथवा विमानपर ऐसा एक भी आदमी नहीं बचा था जो रावणके बाणोंसे सच्छिद्र न हुआ हो ॥२१७॥ तदनन्तर युद्धमें दशाननको सामने आता देख वैश्रवण, क्षण भरमें भाईके उत्तम स्नेहको प्राप्त हुआ ॥२१८॥ साथ ही अनुपम विषाद

१. साधारयितु- म० । २. अभ्यायातं म० । ३. सितातपत्रवारणम् म० । ४. विद्युतात- म० । ५. -मायान्तं म० । ६. संगते ख० म० ।

विवेदेति च धिक्कष्टं संसारं दुःखभाजनम् । चक्रवत्परिवर्तन्ते प्राणिनो यत्र योनिषु ॥२२०॥
[1]पश्यैश्वर्यविमूढेन किं वस्तु प्रस्तुतं मया । बन्धुविध्वंसनं यत्र क्रियते गर्ववत्तया ॥२२१॥
उदात्तमिति चावोचद् भो भो शृणु दशानन । किमिदं क्रियते पापं क्षणिकश्रीप्रचोदितम् ॥२२२॥
मातृष्वसुः सुतोऽहं ते सोदरप्रीतिसंगतः । ततो बन्धुषु नो युक्तं व्यवहर्तुमसाम्प्रतम् ॥२२३॥
कृत्वा प्राणिवधं जन्तुर्मनोज्ञविषयाशया । प्रयाति नरकं भीमं सुमहादुःखसंकुलम् ॥२२४॥
यथैकदिवसं राज्यं प्राप्तं संवत्सरं वधम् । प्राप्नोति सदृशं तेन निश्चये विषयैः[2] सुखम् ॥२२५॥
चक्षुःपक्ष्मपुटासङ्गक्षणिकं ननु जीवितम् । न वेत्सि किं यतः कर्म कुरुते भोगकारणम् ॥२२६॥
ततो हसन्नुवाचेदं दशास्यः करुणोज्झितः । धर्मश्रवणकालोऽयं न वैश्रवण वर्तते ॥२२७॥
मत्तस्तम्बेरमारूढैर्मण्डलाग्रकरैर्नरैः । क्रियते मारणं शत्रोर्न तु धर्मनिवेदनम् ॥२२८॥
मार्गे तिष्ठ कृपाणस्य किं व्यर्थं बहु भाषसे । कुरु वा प्रणिपातं मे तृतीयास्ति न ते गतिः ॥२२९॥
अथवा धनपालस्त्वं द्रविणं मम पालय । कुर्वाणो हि निजं कर्म पुरुषो नैव लज्जते ॥२३०॥
ततो वैश्रवणो भूय उवाचेति दशाननम् । नूनमायुस्तव स्वल्पं क्रूरं येनेति भाषसे ॥२३१॥
भूयोऽपि मानसं बिभ्रत्तो रोषणरूषितम् । अस्ति चेत्तव सामर्थ्यं जहीत्याह दशाननः ॥२३२॥
जगाद स ततो ज्येष्ठस्त्वं मां प्रथममाजहि । वीर्यमक्षतकायानां शूराणां नहि वर्धते ॥२३३॥

और राज्य लक्ष्मीसे उदासीनताको प्राप्त हुआ । जिस प्रकार पहले बाहुबली अपने भाई भरतसे द्वेषकर पछताये उसी प्रकार वैश्रवण भी भाई दशाननसे विरोध कर पछताया । वह मन ही मन शान्त अवस्थाको प्राप्त होता हुआ विचार करने लगा कि जिस संसारमें प्राणी नाना योनियोंमें चक्रकी भाँति परिवर्तन करते रहते हैं वह संसार दुःखका पात्र है, कष्ट स्वरूप है, अतः उसे धिक्कार हो ॥२१९–२२०॥ देखो, ऐश्वर्यमें मत्त होकर मैंने यह कौन-सा कार्य प्रारम्भ कर रक्खा है कि जिसमें अहंकार वश अपने भाईका विध्वंस किया जाता है ॥२२१॥ वह इस प्रकार उत्कृष्ट वचन कहने लगा कि हे दशानन ! सुन, क्षणिक राज्य लक्ष्मीसे प्रेरित होकर यह कौन-सा पापकर्म किया जा रहा है ? ॥२२२॥ मैं तेरी मौसीका पुत्र हूँ अतः तुझपर सगे भाई जैसा स्नेह करता हूँ । भाइयोंके साथ अनुचित व्यवहार करना उचित नहीं है ॥२२३॥ यह प्राणी मनोहर विषयोंकी आशासे प्राणियोंका वधकर बहुत भारी दुःखोंसे युक्त भयंकर नरकमें जाता है ॥२२४॥ जिस प्रकार कोई मनुष्य एक दिनका तो राज्य प्राप्त करे और उसके फल स्वरूप वर्ष भर मृत्युको प्राप्त हो उसी प्रकार निश्चयसे यह प्राणी विषयोंके द्वारा क्षणस्थायी सुख प्राप्त करता है और उसके फल स्वरूप अपरिमित काल तक दुःख प्राप्त करता है ॥२२५॥ यथार्थमें यह जीवन नेत्रोंकी टिमकारके समान क्षणभङ्गुर है सो हे दशानन ! क्या तू यह जानता नहीं है जिससे भोगोंके निमित्त यह कार्य कर रहा है ? ॥२२६॥ तब दया हीन दशाननने हँसते हुए कहा कि हे वैश्रवण ! यह धर्म श्रवण करनेका समय नहीं है ॥२२७॥ मदोन्मत्त हाथियोंपर चढ़े तथा तलवारको हाथमें धारण करनेवाले मनुष्य तो शत्रुका संहार करते हैं न कि धर्मका उपदेश ॥२२८॥ व्यर्थ ही बहुत क्यों बक रहा है ? या तो तलवारके मार्गमें खड़ा हो या मेरे लिए प्रणाम कर । तेरी तीसरी गति नहीं है ॥२२९॥ अथवा तू धनपाल है सो मेरे धनकी रक्षा कर । क्योंकि जिसका जो अपना कार्य होता है उसे करता हुआ वह लज्जित नहीं होता ॥२३०॥ तब वैश्रवण फिर दशाननसे बोला कि निश्चय ही तेरी आयु अल्प रह गई है इसीलिए तू इस प्रकार क्रूर वचन बोल रहा है ॥२३१॥ इसके उत्तरमें रोषसे कलुषित मनको धारण करनेवाले दशाननने फिर कहा कि यदि तेरी सामर्थ्य है तो मार ॥२३२॥ तब वैश्रवणने कहा कि तू बड़ा है इसलिए प्रथम तू ही मुझे मार क्योंकि जिनके शरीरमें

---

१. पश्यैश्वर्यमूढेन म० । २. विषयी म० ।

ऊर्ध्वं ततो दशास्यस्य शरान् वैश्रवणोऽमुचत् । करानिवात्रनेर्मूर्ध्नि मध्याह्ने द्योतिषां पतिः ॥२३४॥
चिच्छेद सायकान् तस्य ततो बाणैर्दशाननः । मण्डपं च घनं चक्रे क्षणमात्रादनाकुलः ॥२३५॥
रन्ध्रं वैश्रवणः प्राप्य शशाङ्कार्धेषुणा ततः । दशास्यस्याच्छिनच्चापं चक्रे चैतं रथच्युतम् ॥२३६॥
ततोऽन्यं रथमारुह्य वेगादम्भोदनिस्वनम् । तथासत्त्वो दशग्रीवो ढुढौके पुष्पकान्तिकम् ॥२३७॥
उल्काकारैस्ततस्तेन वज्रदण्डैर्घनेरितैः[1] । कणशः कवचं कीर्णं धनदस्य महारुषा ॥२३८॥
हृदये शुक्लमालेऽथ भिण्डिमालेन वेगिना । जघान कैकसेयस्तं तथा मूर्च्छामितो यतः ॥२३९॥
ततो जातो महाक्रन्दः सैन्ये वैश्रवणाश्रिते । तोषाच्च रक्षसां सैन्ये जातः कलकलो महान् ॥२४०॥
ततो भृत्यैः समुद्धृत्य वीरशय्याप्रतिष्ठितः । क्षिप्रं यक्षपुरं नीतो धनदो भृशदुःखितः ॥२४१॥
दशास्योऽपि जितं शत्रुं ज्ञात्वा निववृते रणात् । वीराणां शत्रुभङ्गेन कृतत्वं न धनादिना ॥२४२॥
अथ प्रतिक्रिया चक्रे धनदस्य चिकित्सकैः । प्राप्तश्च पूर्ववद्देहमिति चक्रे स चेतसि ॥२४३॥
द्रुमस्य पुष्पमुक्तस्य[2] भग्नस्य वृषभस्य[3] च । सरसश्चाप्यपद्मस्य वर्तेऽहं सदृशोऽधुना ॥२४४॥
मानमुद्वहतः पुंसो जीवतः संसृतौ सुखम् । तच्च मे साम्प्रतं नास्ति तस्मान्मुक्त्यर्थमार्यते[4] ॥२४५॥
एतदर्थं न वाञ्छन्ति सन्तो विषयजं सुखम् । यदेतदध्रुवं स्तोकं सान्तरायं सदुःखकम् ॥२४६॥
नागः[5] कस्यचिदप्यत्र[6] कर्मणामिदमीहितम् । समस्तं प्राणिजातस्य कृतानामन्यजन्मनि ॥२४७॥

घाव नहीं लगता ऐसे शूर वीरोंका पराक्रम वृद्धिको प्राप्त नहीं होता ॥२३३॥ तदनन्तर मध्याह्नके समय जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणें पृथिवीके ऊपर छोड़ता है उसी प्रकार वैश्रवणने दशानन के ऊपर वाण छोड़े ॥२३४॥ तत्पश्चात् दशाननने अपने वाणोंसे उसके वाण छेद डाले और बिना किसी आकुलताके लगातार छोड़े हुए वाणोंसे उसके ऊपर मण्डप सा तान दिया ॥२३५॥ तदनन्तर अवसर पाकर वैश्रवणने अर्धचन्द्र वाणसे दशाननका धनुष तोड़ डाला और उसे रथसे च्युत कर दिया ॥२३६॥ तत्पश्चात् अद्भुत पराक्रमका धारी दशानन मेघके समान शब्द करनेवाले मेघनाद नामा दूसरे रथपर वेगसे चढ़कर वैश्रवणके समीप पहुँचा ॥२३७॥ वहाँ बहुत भारी क्रोधसे उसने जोर-जोरसे चलाये हुए उल्काके समान आकारवाले वज्रदण्डोंसे वैश्रवण का कवच चूर-चूर कर डाला ॥२३८॥ और सफ़ेद मालाको धारण करनेवाले उसके हृदयमें वेग-शाली भिण्डिमालसे इतने जमकर प्रहार किया कि वह वहीं मूर्छित हो गया ॥२३९॥ यह देख वैश्रवणकी सेनामें रुदनका महाशब्द होने लगा और राक्षसोंकी सेनामें हर्षके कारण बड़ा भारी कल-कल शब्द होने लगा ॥२४०॥ तब अतिशय दुःखी और वीरशय्यापर पड़े वैश्रवणको उसके भृत्यगण शीघ्र ही यक्षपुर ले गये ॥२४१॥ रावण भी शत्रुको पराजित जान युद्धसे विमुख हो गया सो ठीक ही है क्योंकि वीर मनुष्योंका कृतकृत्यपना शत्रुओंके पराजयसे ही हो जाता है। धनादिकी प्राप्तिसे नहीं ॥२४२॥

अथानन्तर वैद्योंने वैश्रवणका उपचार किया सो वह पहलेके समान स्वस्थ शरीरको प्राप्त हो गया। स्वस्थ होनेपर उसने मनमें विचार किया ॥२४३॥ कि इस समय मैं पुष्परहित वृक्ष, फूटे हुए घट अथवा कमल रहित सरोवरके समान हूँ ॥२४४॥ जब तक मनुष्य मानको धारण करता है तभी तक संसारमें जीवित रहते हुए उसे सुख होता है। इस समय मेरा वह मान नष्ट हो गया है इसलिए मुक्ति प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करता हूँ ॥२४५॥ चूँकि यह विषयजन्य सुख अनित्य है, थोड़ा है, सान्तराय है और दुःखोंसे सहित है इसलिए सत्पुरुष उसकी चाह नहीं रखते ॥२४६॥ इसमें किसीका अपराध नहीं है, यह तो, प्राणियोंने अन्य जन्ममें जो कर्म कर

१. घनेरितः म० । २. मुक्तपुष्पस्य । ३. घटस्य । ४. आ समन्ताद् यत्नं करोमि । ५. नापराधः । ६. कस्यचिदप्यस्य म० ।

निमित्तमात्रमन्ये[illegible]सुखस्य सुखस्य वा । बुधास्तेभ्यो न कुप्यन्ति संसारस्थितिवेदिनः ॥२४८॥
कल्याणमित्रतां प्राप्तः कैकसीतनयो मम । गृहावासमहापाशाद्येनाहं मोचितोऽमतिः ॥२४९॥
बान्धवो भानुकर्णोऽपि संवृत्तः साम्प्रतं मम । संग्रामकारणं येन कृतं परमसंविदे ॥२५०॥
इति संचिन्त्य जग्राह दीक्षां दैगम्बरीमसौ । आराध्य च तपः सम्यक् क्रमाद्धाम परं गतः ॥२५१॥
प्रक्षाल्य दशवक्त्रोऽपि पराभवमलं कुले । सुखासिकामगादुर्व्यां बन्धुभिः शेखरीकृतः ॥२५२॥
अथ प्रवर्तितं तस्य मनोज्ञं धानदाधिपम् । प्रत्युप्तरत्नशिखरं वातायनविलोचनम् ॥२५३॥
मुक्ताजालप्रमुक्तेन समूहेनामलत्विषाम् । समुत्सृजदिवाजस्रमश्रु स्वामिवियोगतः ॥२५४॥
पद्मरागविनिर्माणमग्रदेशं दधच्छुचा । ताडनादिव संप्राप्तं हृदयं रक्ततां पराम्[3] ॥२५५॥
इन्द्रनीलप्रभाजालकृतप्रावरणं[4] क्वचित् । शोकादिव परिप्राप्तं श्यामलत्वमुदारतः ॥२५६॥
चैत्यकाननवाद्याालीवाप्यन्तर्भवनादिभिः । सहितं नगराकारं नानाशस्त्रकृतक्षतम् ॥२५७॥
भृत्यैरुपाहृतं तुङ्गं सुरप्रासादसन्निभम् । विमानं पुष्पकं नाम विहायस्तलमण्डनम् ॥२५८॥
अरातिभङ्गचिह्नत्वादियेषेदं स मानवान्[5] । अन्यथा तस्य किं नास्ति यानं विद्याविनिर्मितम् ॥२५९॥
स तं विमानमारुह्य सामात्यः सहवाहनः । सपौरः सात्मजः सार्धं पितृभ्यां सहबन्धुभिः ॥२६०॥

रक्खे हैं उन्हींकी समस्त चेष्टा है ॥२४७॥ दुःख अथवा सुखके दूसरे लोग निमित्त मात्र हैं, इसलिए संसारकी स्थितिके जाननेवाले विद्वान् उनसे कुपित नहीं होते हैं अर्थात् निमित्तके प्रति हर्ष-विषाद नहीं करते हैं ॥२४८॥ वह दशानन मेरा कल्याणकारी मित्र है कि जिसने मुझ दुर्बुद्धिको गृहवास रूपी महाबन्धनसे मुक्त करा दिया ॥२४९॥ भानुकर्ण भी इस समय मेरा परम हितैषी हुआ है कि जिसके द्वारा किया हुआ संग्राम मेरे परम वैराग्यका कारण हुआ है ॥२५०॥ इस प्रकार विचारकर उसने दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली और समीचीन तपकी आराधना कर परम धाम प्राप्त किया ॥२५१॥

इधर दशानन भी अपने कुलके ऊपर जो पराभव रूपी मैल जमा हुआ था उसे धोकर पृथिवीमें सुखसे रहने लगा तथा समस्त बन्धुजनोंने उसे अपना शिरमौर माना ॥२५२॥ अथानन्तर वैश्रवणका जो पुष्पक विमान था उसे रावणके भृत्यजन रावणके समीप ले आये । वह पुष्पक विमान अत्यन्त सुन्दर था, वैश्रवण उसका स्वामी था, उसके शिखरमें नाना प्रकारके रत्न जड़े हुए थे, झरोखे उसके नेत्र थे, उसमें जो मोतियोंकी झालर लगी थी उससे निर्मल कान्तिका समूह निकल रहा था और उससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो स्वामीका वियोग हो जानेके कारण निरन्तर आँसू ही छोड़ता रहता हो । उसका अग्रभाग पद्मराग मणियोंसे बना था इसलिए उसे धारण करता हुआ वह ऐसा जान पड़ता था मानो शोकके कारण उसने हृदयको बहुत कुछ पीटा था इसीलिए वह अत्यन्त लालिमाको धारण कर रहा था । कहीं-कहीं इन्द्रनील मणियोंकी प्रभा उसपर आवरण कर रही थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो शोकके कारण ही वह अत्यन्त श्यामलताको प्राप्त हुआ हो । चैत्यालय, वन, मकानोंके अग्रभाग, वापिका तथा महल आदिसे सहित होनेके कारण वह किसी नगरके समान जान पड़ता था । नाना शस्त्रोंने उस विमानमें चोटें पहुँचाई थीं, वह बहुत ही ऊँचा था, देव भवनके समान जान पड़ता था और आकाशतलका मानो आभूषण ही था ॥२५३-२५८॥ मानी दशाननने शत्रुकी पराजयका चिह्न समझ उस पुष्पक विमानको अपने पास रखनेकी इच्छा की थी अन्यथा उसके पास विद्या निर्मित कौन-सा वाहन नहीं था ? ॥२५९॥ वह उस विमानपर आरूढ होकर मन्त्रियों, वाहनों,

१. दुर्व्यां क०, ख० । २. अथापवर्तितं म० । ३. परम् म० । ४. क्रतं प्रावरणं म० । ५. गर्वयुक्तः ।

अन्तःपुरमहापद्मखण्डमध्यगतः सुखी । अव्याहतगतिः स्वेच्छाकृतविभ्रमभूषणः ॥२६१॥
चापत्रिशूलनिस्त्रिंशप्रासपाशादिपाणिभिः । भृत्यैरनुगतो भक्तैर्विहिताद्भुतकर्मभिः ॥२६२॥
कृतशत्रुसमूहान्तैः सामन्तैर्बद्धमण्डलैः । गुणप्रवणचेतोभिर्महाविभवशोभितैः ॥२६३॥
वरविद्याधरीपाणिगृहीतैश्चारुचामरैः । वीज्यमानो विलिप्ताङ्गो गोशीर्षादिविलेपनैः ॥२६४॥
उच्छ्रितेनातपत्रेण रजनीकरशोभिना । यशसेवागतः[1] शोभां लब्धेनारातिभङ्गतः ॥२६५॥
उदारं भानुवत्तेजो दधानः पुण्यजं फलम् । विन्दन् दक्षिणमम्भोधिं ययाविन्द्रसमः श्रिया ॥२६६॥
तस्यानुगमनं चक्रे कुम्भकर्णो गजस्थितः । विभीषणो रथस्थश्च स्वगर्वविभवान्वितः ॥२६७॥
महादैत्यो मयोऽप्येनमन्वियाय सबान्धवः । सामन्तैः सहितः सिंहशरभादियुतै रथैः ॥२६८॥
मारीचोऽम्बरविद्युच्च वज्रो वज्रोदरो बुधः । वज्राक्षः क्रूरनक्रश्च सारणः सुनयः शुकः ॥२६९॥
मयस्य मन्त्रिणोऽन्ये च बहवः खेचराधिपाः । अनुजग्मुरुदारेण विभवेन समन्विताः ॥२७०॥
दक्षिणाशामशेषां स वशीकृत्य ततोऽन्यतः । विजहार महीं पश्यन् सवनाद्रिसमुद्रगाम् ॥२७१॥
अथासावन्यदापृच्छत् सुमालिनमुदद्भुतः[2] । उच्चैर्गगनमारूढो विनयानतविग्रहः ॥२७२॥
सरसीरहितेऽमुष्मिन् पूज्यपर्वतमूर्द्धनि । वनानि पश्य पद्मानां जातान्येतन्महाद्भुतम् ॥२७३॥
तिष्ठन्ति निश्चलाः[3] स्वामिन् कथमत्र महीतले । पतिता विविधच्छायाः सुमहान्तः पयोमुचः ॥२७४॥

नागरिकजनों, पुत्रों, माता-पिताओं तथा बन्धुजनोंके साथ चला ॥२६०॥ वह उस विमानके अन्दर अन्तःपुर रूपी महाकमलवनके बीचमें सुखसे बैठा था, उसकी गतिको कोई नहीं रोक सकता था, तथा अपनी इच्छानुसार उसने हावभाव रूपी आभूषण धारण कर रक्खे थे ॥२६१॥ चाप, त्रिशूल, तलवार, भाला तथा पाश आदि शस्त्र जिनके हाथमें थे तथा जिन्होंने अनेक आश्चर्यजनक कार्य करके दिखलाये थे ऐसे अनेक सेवक उसके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥२६२॥ जिन्होंने शत्रुओंके समूहका अन्त कर दिया था, जो चक्राकार मण्डल बनाकर पास खड़े थे, जिनका चित्त गुणोंके आधीन था तथा जो महावैभवसे शोभित थे ऐसे अनेक सामन्त उसके साथ जा रहे थे ॥२६३॥ गोशीर्ष आदि विलेपनोंसे उसका सारा शरीर लिप्त था तथा उत्तमोत्तम विद्याधरियाँ हाथमें लिये हुए सुन्दर चमरोंसे उसे हवा कर रही थीं ॥२६४॥ वह चन्द्रमाके समान सुशोभित ऊपर तने हुए छत्रसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो शत्रुकी पराजयसे उत्पन्न यशसे ही सुशोभित हो रहा हो ॥२६५॥ वह सूर्यके समान उत्कृष्ट तेजको धारण कर रहा था तथा लक्ष्मीसे इन्द्रके समान जान पड़ता था। इस प्रकार पुण्यसे उत्पन्न फलको प्राप्त होता हुआ वह दक्षिणसमुद्रकी ओर चला ॥२६६॥ हाथीपर बैठा हुआ कुम्भकर्ण और रथपर बैठा तथा स्वाभिमान रूपी वैभवसे युक्त विभीषण इस प्रकार दोनों भाई उसके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥२६७॥ भाई-बान्धवों एवं सामन्तोंसे सहित महादैत्य मय भी, जिनमें सिंह शरभ आदि जन्तु जुते थे ऐसे रथोंपर बैठकर जा रहा था ॥२६८॥ मरीच, अम्बरविद्युत्, वज्र, वज्रोदर, बुध, वज्राक्ष, क्रूरनक्र, सारण और सुनय ये राजा मयके मन्त्री तथा उत्कृष्ट वैभवसे युक्त अन्य अनेक विद्याधरोंके राजा, उसके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥२६९-२७०॥ इस प्रकार समस्त दक्षिण दिशाको वशकर वह वन, पर्वत तथा समुद्रसे सहित पृथिवीको देखता हुआ अन्य दिशाकी ओर चला ॥२७१॥

अथानन्तर एक दिन विनयसे जिसका शरीर झुक रहा था, ऐसा दशानन आकाशमें बहुत ऊँचे चढ़कर अपने दादा सुमालीसे आश्चर्यचकित हो पूछता है कि हे पूज्य ! इधर इस पर्वतके शिखरपर सरोवर तो नहीं है पर कमलोंका वन लहलहा रहा है सो इस महाआश्चर्यको आप देखें ॥२७२-२७३॥ हे स्वामिन् ! यहाँ पृथ्वीतलपर पड़े, रंगविरंगे, बड़े-बड़े मेघ, निश्चल

१. यशसा + इव + आगतः । २. उत्कटाश्चर्ययुक्तः । ३. निश्चलाश्चामी म०, क० ।

नमः सिद्धेभ्य इत्युक्त्वा सुमाली तमथागदत् । नामूनि शतपत्राणि न चैते वत्स तोयदाः ॥२७५॥
सितकेतुकृतच्छायाः सहस्राकारतोरणाः । शृङ्गेषु पर्वतस्यामी विराजन्ते जिनालयाः ॥२७६॥
कारिता हरिषेणेन सज्जनेन महात्मना । एतान् वत्स नमस्य त्वं भव पूतमनाः क्षणात् ॥२७७॥
ततस्तत्रस्थ एवासौ नमस्कृत्य जिनालयान् । उवाच विस्मयापन्नो धनदस्य विमर्दकः ॥२७८॥
आसीत्किं तस्य माहात्म्यं हरिषेणस्य कथ्यताम् । प्रतीष्यतम[1] येनासौ भवद्भिरिति कीर्तितः ॥२७९॥
सुमाली न्यगदच्चैवं साधु पृष्टं दशानन । चरितं हरिषेणस्य शृणु पापविदारणम् ॥२८०॥
काम्पिल्यनगरे राजा नाम्ना मृगपतिध्वजः । बभूव यशसा व्याप्तसमस्तभुवनो महान् ॥२८१॥
महिषी तस्य वप्राख्या प्रमदागुणशालिनी । अभूत् सौभाग्यतः प्राप्ता [2]पत्नीशतललामताम् ॥२८२॥
हरिषेणः समुत्पन्नः स ताभ्यां परमोदयः । चतुःषष्ट्याशुभैर्युक्तो[4] लक्षणैः क्षतदुष्कृतः ॥२८३॥
वप्रया चान्यदा जैने मते भ्रमयितुं रथे[5] । आष्टाह्निकमहानन्दे नगरे धर्मशीलया ॥२८४॥
महालक्ष्मीरिति ख्याता सौभाग्यमदविह्वला । अवृत्तमवदत्तस्याः सपत्नी दुर्विचेष्टिता ॥२८५॥
पूर्वं ब्रह्मरथो यातु मदीयः पुरवर्त्मनि । भ्रमिष्यति ततः पश्चाद्वप्रया कारितो रथः ॥२८६॥
इति श्रुत्वा ततो वप्रा कुलिशेनेव ताडिता । हृदये दुःखसंतप्ता प्रतिज्ञामकरोदिमाम् ॥२८७॥
भ्रमिष्यति रथोऽयं मे प्रथमं नगरे यदि । पूर्ववत्पुनराहारं करिष्येऽतोऽन्यथा तु न ॥२८८॥
इत्युक्त्वा च बबन्धासौ प्रतिज्ञा[6]लक्ष्मवेणिकाम् । व्यापाररहितावस्थाशोकम्लानास्यपङ्कजा ॥२८९॥

होकर कैसे खड़े हैं ? ॥२७४॥ तब सुमालीने 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर दशाननसे कहा कि हे वत्स ! न तो ये कमल हैं और न मेघ ही हैं ॥२७५॥ किन्तु सफ़ेद पताकाएँ जिनपर छाया कर रही हैं तथा जिनमें हजारों प्रकारके तोरण बने हुए हैं ऐसे ये जिन-मन्दिर पर्वतके शिखरोंपर सुशोभित हो रहे हैं ॥२७६॥ ये सब मन्दिर महापुरुष हरिषेण चक्रवर्तीके द्वारा बनवाये हुए हैं । हे वत्स ! तू इन्हें नमस्कार कर और क्षणभरमें अपने हृदयको पवित्र कर ॥२७७॥ तदनन्तर वैश्रवणका मानमर्दन करनेवाले दशाननने वहीं खड़े रहकर जिनालयोंको नमस्कार किया और आश्चर्यचकित हो सुमालीसे पूछा कि पूज्यवर ! हरिषेणका ऐसा क्या माहात्म्य था कि जिससे आपने उनका इस तरह कथन किया है ? ॥२७८-२७९॥ तब सुमालीने कहा कि हे दशानन ! तूने बहुत अच्छा प्रश्न किया । अब पापको नष्ट करनेवाला हरिषेणका चरित्र सुन ॥२८०॥

काम्पिल्य नगरमें अपने यशके द्वारा समस्त संसारको व्याप्त करनेवाला सिंहध्वज नामका एक बड़ा राजा रहता था ॥२८१॥ उसकी वप्रा नामकी पटरानी थी जो स्त्रियोंके योग्य गुणोंसे सुशोभित थी तथा अपने सौभाग्यके कारण सैकड़ों रानियोंमें आभूषणपनाको प्राप्त थी ॥२८२॥ उन दोनोंसे परम अभ्युदयको धारण करनेवाला हरिषेण नामका पुत्र हुआ । वह पुत्र उत्तमोत्तम चौंसठ लक्षणोंसे युक्त था तथा पापोंको नष्ट करनेवाला था ॥२८३॥ किसी एक समय आष्टाह्निक महोत्सव आया सो धर्मशील वप्रा रानीने नगरमें जिनेन्द्र भगवान्‌का रथ निकलवाना चाहा ॥२८४॥ राजा सिंहध्वजकी महालक्ष्मी नामक दूसरी रानी थी जो कि सौभाग्यके गर्वसे सदा विह्वल रहती थी । अनेक खोटी चेष्टाओंसे भरी महालक्ष्मी वप्राकी सौत थी इसलिए उसने उसके विरुद्ध आवाज उठाई कि पहले मेरा ब्रह्मरथ नगरकी गलियोंमें घूमेगा । उसके पीछे वप्रा रानीके द्वारा बनवाया हुआ जैनरथ घूम सकेगा ॥२८५-२८६॥ यह सुनकर वप्राको इतना दुःख हुआ कि मानो उसके हृदयमें वज्रकी ही चोट लगी हो । दुःखसे सन्तप्त होकर उसने प्रतिज्ञा की कि यदि मेरा यह रथ नगरमें पहिले घूमेगा तो मैं पूर्वकी तरह पुनः आहार करूँगी अन्यथा नहीं ॥२८७-२८८॥ यह कहकर उसने प्रतिज्ञाके चिह्नस्वरूप वेणी बाँध ली और सब काम छोड़

१. अतिशयेन पूज्य । २. पत्नी सा ललामताम् म० । ३. आभरणताम् । ४. चतुःषष्टिशुभै - म०, ख० । ५. रथम् म०, वप्रया जैने रथे भ्रमयितुं मते इष्टे सतीत्यर्थः । ६. प्रतिज्ञां लक्ष्य म० ।

ततः श्वासान् विमुञ्चन्तीमश्रुबिन्दूननारतम् । हरिषेणः समालोक्य जननीमित्यवोचत ॥२९०॥
मातः कस्मादिदं पूर्वं स्वप्नेऽपि न निषेवितम् । त्वया रोदनमारब्धममङ्गलमलं वद ॥२९१॥
तयोक्तं स ततः श्रुत्वा हेतुमेवं व्यचिन्तयत् । किं करोमि गुरोः पीडा प्राप्तेयं कथमीरिता ॥२९२॥
पितायं जननी चैषा द्वावप्येतौ महागुरू । करोमि कं प्रतिद्वेषमहो मग्नोऽस्मि संकटे ॥२९३॥
असमर्थस्ततो द्रष्टुं मातरं साश्रुलोचनाम् । निष्क्रम्य भवनाद्यातो वनं व्यालसमाकुलम् ॥२९४॥
तत्र मूलफलादीनि भक्षयन् विजने वने । सरस्सु च पिबन्नम्भो विजहार भयोज्झितः ॥२९५॥
रूपमेतस्य तं दृष्ट्वा पशवोऽपि सुनिर्दयाः । क्षणेनोपशमं जग्मुर्भव्यः कस्य न संमतः ॥२९६॥
तत्रापि स्मर्यमाणं तत्कृतं मात्रा प्ररोदनम् । [1]बबाधे तं प्रलापश्च कृतो गद्गदकण्ठया ॥२९७॥
रम्येष्वपि प्रदेशेषु वने तत्रास्य नो धृतिः । बभूव कुर्वतो नित्यं भ्रमणं मृदुचेतसा ॥२९८॥
वनदेव इति भ्रान्तिं कुर्वाणोऽसावनारतम् । दूरविस्तारिताक्षीभिर्मृगीभिः कृतवीक्षणः ॥२९९॥
[2]समियायाङ्गिरःशिष्यशतमन्युवनाश्रमम् । विरोधं दूरमुज्झित्वा वनप्राणिभिराश्रितम् ॥३००॥
चम्पायामथ रुद्धायां कालकल्पाख्यभूभृता । रुद्रेण साधनं भूरि बिभ्रता पुरुतेजसा ॥३०१॥
यावत्तेन समं युद्धं चकार जनमेजयः । पूर्वं रचितया तावत्सुदूरगसुरङ्गया ॥३०२॥

दिया । उसका मुखकमल शोकसे मुरझा गया, वह निरन्तर मुखसे श्वास और नेत्रोंसे आँसू छोड़ रही थी । माताकी ऐसी दशा देख हरिषेणने कहा कि हे मातः ! जिसका पहले कभी स्वप्नमें भी तुमने सेवन नहीं किया वह अमाङ्गलिक रुदन तुमने क्यों प्रारम्भ किया ? अब वश करो और रुदनका कारण कहो ॥२८९–२९१॥ तदनन्तर माताका कहा कारण सुनकर हरिषेणने इस प्रकार विचार किया कि अहो ! मैं क्या करूँ ? यह बहुत भारी पीड़ा प्राप्त हुई है सो पितासे इसे कैसे कहूँ ? ॥२९२॥ वह पिता हैं और यह माता हैं । दोनों ही मेरे लिए परम गुरु हैं । मैं किसके प्रति द्वेष करूँ ? आश्चर्य है कि मैं बड़े संकटमें आ पड़ा हूँ ॥२९३॥ कुछ भी हो पर मैं रुदन करती माताको देखनेमें असमर्थ हूँ । ऐसा विचारकर वह महलसे निकल पड़ा और हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए वनमें चला गया ॥२९४॥ वहाँ वह निर्जन वनमें मूल, फल आदि खाता और सरोवरमें पानी पीता हुआ निर्भय हो घूमने लगा ॥२९५॥ हरिषेणका ऐसा रूप था कि उसे देखकर दुष्ट पशु भी क्षणभरमें उपशम भावको प्राप्त हो जाते थे सो ठीक ही है क्योंकि भव्यजीव किसे नहीं प्रिय होता है ? ॥२९६॥ निर्जन वनमें भी जब हरिषेणको माताके द्वारा किये हुए रुदनकी याद आती थी तब वह अत्यन्त दुःखी हो उठता था । माताने गद्गद कण्ठसे जो भी प्रलाप किया वह सब स्मरण आनेपर उसे बहुत कुछ बाधा पहुँचा रहा था ॥२९७॥ कोमल चित्तसे निरन्तर भ्रमण करनेवाले हरिषेणको वनके भीतर एक-से-एक बढ़कर मनोहर स्थान मिलते थे पर उनमें उसे धैर्य प्राप्त नहीं होता था ॥२९८॥ क्या यह वनदेव है ? इस प्रकारकी भ्रान्ति वह निरन्तर करता रहता था और हरिणियाँ उसे दूर तक आँख फाड़-फाड़कर देखती रहती थीं ॥२९९॥ इस प्रकार घूमता हुआ हरिषेण, जहाँ वनमें प्राणी परस्परका वैरभाव दूर छोड़कर शान्तिसे रहते थे ऐसे अंगिरस् ऋषिके शिष्य शतमन्युके आश्रममें पहुँचा ॥३००॥

अथानन्तर एक कालकल्प नामका राजा था जो महाभयंकर, महाप्रतापी और बहुत बड़ी सेनाको धारण करनेवाला था सो उसने चारों ओरसे चम्पा नगरीको घेर लिया ॥३०१॥ चम्पाका राजा जनमेजय जब तक उसके साथ युद्ध करता है तब तक पहलेसे बनवाई हुई लम्बी सुरंगसे माता नागवती अपनी पुत्रीके साथ निकलकर शतमन्यु ऋषिके उस आश्रममें पहलेसे

---

१. बबाधैतं म० क० । २. स इयाय म० ।

नाम्ना नागवती तस्या माता तनुजया समम् । पूर्वमेव गता देशं शतमन्युयतिश्रितम् ॥३०३॥
नागवत्याः सुता तस्मिन् दृष्ट्वा तं रूपशालिनम् । मन्मथस्य शरैर्विद्धा तनुविक्लवताकरैः ॥३०४॥
ततस्तामन्यथाभूतां दृष्ट्वा नागवती जगौ । सुते भव विनीता त्वं स्मर वाक्यं महामुनेः ॥३०५॥
पूर्वं हि मुनिना प्रोक्तं यथा त्वं चक्रवर्तिनः । भविता वनितारत्नमिति संज्ञा न चक्षुषा ॥३०६॥
रक्तां च तस्य तां ज्ञात्वा भृशं भीतैरकीर्तितः । आश्रमात्तापसैर्मूढैर्हरिषेणो निराकृतः ॥३०७॥
ततो दग्धोऽपमानेन कन्यामादाय चेतसा । बभ्राम सततं श्लिष्टो भ्रामर्येव स विद्यया ॥३०८॥
नाशने शयनीये न पुष्पपल्लवकल्पिते । फलानां भोजने नैव पाने वा सरसोऽम्भसः ॥३०९॥
न ग्रामे नगरे नोपवने रम्यलतागृहे । धृतिं लेभे समुत्कण्ठभराक्रान्तः स शोकवान् ॥३१०॥
दावाग्निसदृशास्तेन पद्मखण्डा निरीक्षिताः । वज्रसूचीसमास्तस्य बभूवुश्चन्द्ररश्मयः ॥३११॥
विशालपुलिनाश्चास्य स्वच्छतोयाः समुद्रगाः । मनो वहन्ति चाकृष्टकन्याजघनसाम्यतः ॥३१२॥
मनोऽस्य केतकीसूची कुन्तयष्टिरिवाभिनत् । चक्रवच्च कदम्बानां पुष्पं सुरभि चिच्छिदे ॥३१३॥
कुटजानां विधूतानि कुसुमानि नभस्वता । मर्माणि चिच्छिदुस्तस्य मन्मथस्येव सायकाः ॥३१४॥
इति चाचिन्तयत्प्राप्स्ये स्त्रीरत्नं यदि नाम तत् । ततः शोकमहं मातुरपनेष्याम्यसंशयम् ॥३१५॥
प्राप्तमेव ततो मन्ये पतित्वं भरतेऽखिले । आकृतिर्न हि सा तस्याः स्तोकभोगविधायिनी ॥३१६॥
नदीकूलेष्वरण्येषु ग्रामेषु नगरेषु च । पर्वतेषु च चैत्यानि कारयिष्याम्यहं ततः ॥३१७॥
मातुः शोकेन संतप्तो मृतः स्यां यदि तामहम् । न पश्येयं धृतो जीवो मम तत्संगमाशया ॥३१८॥

ही पहुँच गई थी ॥३०२–३०३॥ वहाँ नागवतीकी पुत्री सुन्दर रूपसे सुशोभित हरिषेणको देखकर शरीरमें बेचैनी उत्पन्न करनेवाले कामदेवके बाणोंसे घायल हो गई ॥३०४॥ तदनन्तर पुत्रीको अन्यथा देख नागवतीने कहा कि हे पुत्रि ! सावधान रह, तू महामुनिके वचन स्मरण कर ॥३०५॥ सम्यग्ज्ञानरूपी चक्षुको धारण करनेवाले मुनिराजने पहले कहा था कि तू चक्रवर्तीका स्त्रीरत्न होगी ॥३०६॥ तापसियोंको जब मालूम हुआ कि नागवतीकी पुत्री हरिषेणसे बहुत अनुराग रखती है तो अपकीर्तिसे डरकर उन मूढ तापसियोंने हरिषेणको आश्रमसे निकाल दिया ॥३०७॥ तब अपमानसे जला हरिषेण हृदयमें कन्याको धारणकर निरन्तर इधर-उधर घूमता रहा। ऐसा जान पड़ता था मानो वह भ्रामरी विद्यासे आलिङ्गित होकर ही निरन्तर घूमता रहता था ॥३०८॥ उत्कण्ठाके भारसे दबा हरिषेण निरन्तर शोकग्रस्त रहता था। उसे न भोजनमें, न पुष्प और पल्लवोंसे निर्मित शय्यामें, न फलोंके भोजनमें, न सरोवरका जल पीनेमें, न गाँवमें, न नगरमें, और न मनोहर निकुञ्जोंसे युक्त उपवनमें धीरज प्राप्त होता था ॥३०९–३१०॥ कमलोंके समूहको वह दावानलके समान देखता था और चन्द्रमाकी किरणें उसे वज्रकी सुईके समान जान पड़ती थीं ॥३११॥ विशाल तटोंसे सुशोभित एवं स्वच्छ जलको धारण करनेवाली नदियाँ इसके मनको इसलिए आकर्षित करती थीं, क्योंकि उनके तट, इसके प्रति आकर्षित कन्याके नितम्बोंकी समानता रखते थे ॥३१२॥ केतकी की अनी भालेके समान इसके मनको भेदती रहती थी और कदम्बवृक्षोंके सुगन्धित फूल चक्रके समान छेदते रहते थे ॥३१३॥ वायुके मन्द-मन्द झोंकेसे हिलते हुए कुटज वृक्षोंके फूल कामदेवके बाणोंके समान उसके मर्मस्थल छेदते रहते थे ॥३१४॥ हरिषेण ऐसा विचार करता रहता था कि यदि मैं उस स्त्रीरत्नको पा सका तो निःसन्देह माताका शोक दूर कर दूँगा ॥३१५॥ यदि वह कन्या मिल गई तो मैं यही समझूँगा कि मुझे समस्त भरत क्षेत्रका स्वामित्व मिल गया है। क्योंकि उसकी जो आकृति है वह अल्पभोगोंको भोगनेवाली नहीं है ॥३१६॥ यदि मैं उसे पा सका तो नदियोंके तटोंपर, वनोंमें, गाँवोंमें, नगरोंमें और पर्वतों पर जिन-मन्दिर बनवाऊँगा ॥३१७॥ यदि मैं उसे नहीं देखता तो माताके शोकसे संतप्त होकर

१. नागमती म० । २. नद्यः । ३. पुष्पाणि च नभस्वता क० । ४. यदि चा - म० । ५. गतो क० ।

चिन्तयन्निति चान्यच्च बहुदुःखितमानसः । विस्मृतो जननीशोकं स बभ्राम ग्रही यथा ॥३१९॥
पर्यटंश्च बहून् देशान् प्राप्तः सिन्धुनदं पुरम् । तदवस्थोऽपि वीर्येण तेजसा [1]चोरुणान्वितः ॥३२०॥
बहिः क्रीडाविनिष्क्रान्तास्तत्र तं वीक्ष्य योषितः । स्तम्भिता इव निश्चेष्टाः [2]स्पष्टाक्षः शतशोऽभवन् ॥३२१॥
पुण्डरीकेक्षणं मेरुकटकोदारवक्षसम् । दिङ्मतङ्गजकुम्भांसमिभस्तम्भसमोरुकम् ॥३२२॥
उन्मत्तत्वमुपेतानामनन्यगतचेतसाम् । पश्यन्तीनां न तं तृप्तिर्बभूव पुरयोषिताम् ॥३२३॥
अथाञ्जनगिरिच्छायः प्रगलद्दाननिर्झरः । आजगाम गजस्तासां स्त्रीणामभिमुखो बलात् ॥३२४॥
न शक्नोमि गजं धर्तुं कुरुताशु पलायनम् । यदि [3]शक्तियुताः नार्यं इत्यारोहेण चोदितम् ॥३२५॥
नरवृन्दारकासक्तचेतनास्ता न तद्वचः । चक्रुः श्रवणयोर्नापि समर्थाः प्रपलायितुम् ॥३२६॥
मुहुः प्रचण्डमारोहे[4] ततो रटति चेतितम्[5] । वनिताभिर्बभूवुश्च भव्यव्याकुलचेतसः ॥३२७॥
ततस्ताः शरणं जग्मुस्तं नरं कृतकम्पनाः । भयेनोपकृतं तासां तत्समागमचेतसाम् ॥३२८॥
ततः स करुणायुक्तो हरिषेणो व्यचिन्तयत् । संभ्रान्तोत्तमरामाङ्गसंगमात् पुलकाञ्चितः ॥३२९॥
इतः सिन्धुर्गभीरोऽयमितः [6]शालो गजोऽन्यतः । संकटे तु परिप्राप्ते करोमि प्राणिपालनम् ॥३३०॥
वृषः खनति वल्मीकं शृङ्गाभ्यां न तु भूधरम् । पुरुषः कदलीं छिन्ते सायकेन शिलां तु न ॥३३१॥
मृदुं पराभवत्येष लोकः प्रखलचेष्टितः । [7]उद्धृत्याप्यसुखं कर्तुं नाभिवाञ्छति कर्कशे[8] ॥३३२॥

कभीका मर जाता । वास्तवमें मेरे प्राण उसीके समागमकी आशासे रुके हुए हैं ॥३१८॥ जिसका मन अत्यन्त दुःखी था ऐसा हरिषेण इस प्रकार तथा अन्य प्रकारकी चिन्ता करता हुआ माताका शोक भूल गया । अब तो वह भूताक्रान्त मानवके समान इधर-उधर घूमने लगा ॥३१९॥ इस प्रकार अनेक देशोंमें घूमता हुआ सिन्धुनद नामक नगरमें पहुँचा । यद्यपि उसकी वैसी अवस्था हो रही थी तो भी वह बहुत भारी पराक्रम और विशाल तेजसे युक्त था ॥३२०॥ उस नगरकी जो स्त्रियाँ क्रीड़ा करनेके लिए नगरके बाहर गईं थी वे हरिषेणको देखकर आश्चर्यचकितकी तरह निश्चेष्ट हो गईं । वे सैकड़ों बार आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखतीं थीं ॥३२१॥ जिसके नेत्र कमलके समान थे, जिसका वक्षःस्थल मेरुपर्वतके कटकके समान लम्बा चौड़ा था, जिसके कन्धे दिग्गजके गण्डस्थलके समान थे, और जिसकी जाँघें हाथी बाँधनेके खम्भेके समान सुपुष्ट थीं ऐसे हरिषेणको देखकर वे स्त्रियाँ पागल सी हो गईं, उनके चित्त ठिकाने नहीं रहे तथा उसे देखते-देखते उन्हें तृप्ति नहीं हुई ॥३२२-३२३॥

अथानन्तर—अञ्जनगिरिके समान काला और झरते हुए मदसे भरा एक हाथी बलपूर्वक उन स्त्रियोंके सामने आया ॥३२४॥ हाथीका महावत जोर-जोरसे चिल्ला रहा था कि हे स्त्रियो ! यदि तुम लोगोंमें शक्ति है तो शीघ्र ही भाग जाओ, मैं हाथीको रोकनेमें असमर्थ हूँ ॥३२५॥ पर स्त्रियाँ तो श्रेष्ठ पुरुष हरिषेणके देखनेमें आसक्त थीं इसलिए महावतके वचन नहीं सुन सकीं और न भागनेमें ही समर्थ हुईं ॥३२६॥ जब महावतने बार-बार जोरसे चिल्लाना शुरू किया तब स्त्रियोंने उस ओर ध्यान दिया और तब वे भयसे व्याकुल हो गईं ॥३२७॥ तदनन्तर काँपती हुई वे स्त्रियाँ हरिषेणकी शरणमें गईं । इस तरह उसके साथ समागमकी इच्छा करनेवाली स्त्रियोंका भयने उपकार किया ॥३२८॥ तत्पश्चात् घबड़ाई हुई उत्तम स्त्रियोंके शरीरके संपर्कसे जिसे रोमाञ्च उठ आये थे ऐसे हरिषेणने दयायुक्त हो विचार किया ॥३२९॥ कि इस ओर गहरा समुद्र है, उस ओर प्राकार है और उधर हाथी है इस तरह सङ्कट उपस्थित होनेपर मैं प्राणियोंकी रक्षा अवश्य करूँगा ॥३३०॥ जिस प्रकार बैल अपने सींगोंसे वामीको खोदता है पर्वतको नहीं । और पुरुष बाणसे केलेके वृक्षको छेदता है शिलाको नहीं ॥३३१॥ इसी प्रकार दुष्ट चेष्टाओंसे

१. च + ऊरुणा = विशालेन, चारुणा म० । २. स्पष्टाक्षाः । ३. शक्नुवतो म० । ४. हस्तिपके । ५. शातम् । ६. शालोऽयमेकतः क० । ७. उद्धृत्याप्य म० । ८. कर्कशः क० ।

क्लीबास्ते तापसा येन क्षमा तेषां मया कृता । सारङ्गसमवृत्तीनां निर्वासेन कृतागसाम् ॥३३३॥
वसतां गुरुगेहेषु क्षमात्यन्तगरीयसी । कृता सा हि हितात्यन्तं संजाता परमोदया ॥३३४॥
उक्तमेवं[1] ततस्तेन तारनिष्ठुरया गिरा । भो भो हस्तिपकान्येन नय देशेन वारणम् ॥३३५॥
ततो हस्तिपकेनोक्तमहो ते धृष्टता परा । यन्मनुष्यं गजं वेत्सि स्वं च वेत्सि मतङ्गजम् ॥३३६॥
नूनं मृत्युसमीपोऽसि यन्मदं वहसे गजे । ग्रहेण[2] वा गृहीतोऽसि व्रजास्माद्दाशु गोचरात् ॥३३७॥
विहस्य स ततः कोपाल्लीलया कृतनर्तनः । सान्त्वयित्वाङ्गनाः कृत्वा पृष्ठतो गजमभ्यगात् ॥३३८॥
विद्युद्विलसितेनासौ करणेन ततो नभः । उत्पत्य दशने पादं कृत्वाऽरुहन्मतङ्गजम् ॥३३९॥
ततः क्रीडितुमारेभे गजेन सह लीलया । दृष्टनष्टैः[3] समस्तेषु गात्रेष्वस्य पुनर्भुवि ॥३४०॥
पारम्पर्यं ततः श्रुत्वा कृत्वा कलकलं महत् । विनिष्क्रान्तं पुरं सर्वं द्रष्टुमेतन्महाद्भुतम् ॥३४१॥
वातायनगताश्चैनं चक्रिरे तं महाङ्गनाः । चक्रुर्मनोरथान् कन्यास्तत्समागमसंगतान् ॥३४२॥
आस्फालनैर्महाशब्दैर्मुहुर्गात्रविधूननैः । कृतोऽसौ निर्मदस्तेन क्षणमात्रेण वारणः ॥३४३॥
हर्म्यपृष्ठगतो दृष्ट्वा तदाश्चर्यं पुराधिपः । सिन्धुनामाखिलं तस्मै प्रजिघाय परिच्छदम् ॥३४४॥
ततः कुथाकृतच्छाये नानावर्णकभासुरे । आरूढः स गजे तस्मिन् विभूत्या परयान्वितः ॥३४५॥

भरा मानव कोमल प्राणीका ही पराभव करता है, कठोर प्राणीको दुःख पहुँचानेकी वह इच्छा भी नहीं करता ॥३३२॥ वे तापसी तो अत्यन्त दीन थे इस लिए मैंने उनपर क्षमा धारण की थी। उन तापसियोंने आश्रमसे निकालकर यद्यपि अपराध किया था पर उनकी वृत्ति हरिणोंके समान दीन थी साथ ही वे गुरुओंके घर रहते थे इसलिए उनपर क्षमा धारण करना अत्यन्त श्रेष्ठ था। यथार्थमें मैंने उनपर जो क्षमा की थी वह मेरे लिए अत्यन्त हितावह तथा परमाभ्युदयका कारण हुई है ॥३३३-३३४॥ तदनन्तर हरिषेणने बड़े जोरसे चिल्लाकर कहा कि रे महावत! तू हाथी दूसरे स्थानसे ले जा ॥३३५॥ तब महावतने कहा कि अहो! तेरी बड़ी धृष्टता है कि जो तू हाथीको मनुष्य समझता है और अपनेको हाथी मानता है ॥३३६॥ जान पड़ता है कि तू मृत्युके समीप पहुँचनेवाला है इसीलिए तो हाथीके विषयमें गर्व धारण कर रहा है अथवा तुझे कोई भूत लग रहा है। यदि भला चाहता है तो शीघ्र ही इस स्थानसे चला जा ॥३३७॥ तदनन्तर क्रोधवश लीलापूर्वक नृत्य करते हुए हरिषेणने जोरसे अट्टहास किया, स्त्रियोंको सान्त्वना दी और स्वयं स्त्रियोंको अपने पीछे कर हाथीके सामने गया ॥३३८॥ तदनन्तर बिजलीकी चमकके समान शीघ्र ही आकाशमें उछलकर और खीशपर पैर रखकर वह हाथीपर सवार हो गया ॥३३९॥ तदनन्तर उसने लीलापूर्वक हाथीके साथ क्रीड़ा करना शुरू किया। क्रीड़ा करते-करते कभी तो वह दिखाई देता था और कभी अदृश्य हो जाता था। इस तरह उसने हाथीके समस्त शरीरपर क्रीड़ा की पश्चात् पृथ्वीपर नीचे उतरकर भी उसके साथ नाना क्रीड़ाएँ कीं ॥३४०॥ तदनन्तर परम्परासे इस महान् कल-कलको सुनकर नगरके सब लोग इस महाआश्चर्यको देखनेके लिए बाहर निकल आये ॥३४१॥ बड़ी-बड़ी स्त्रियोंने झरोखोंमें बैठकर उसे देखा तथा कन्याओंने उसके साथ समागमकी इच्छाएँ कीं ॥३४२॥ आस्फालन अर्थात् पीठपर हाथ फेरनेसे, जोरदार डाँटडपटके शब्दोंसे और बार-बार शरीरके कम्पनसे हरिषेणने उस हाथीको क्षणभरमें मदरहित कर दिया ॥३४३॥ नगरका राजा सिन्धु, महलकी छतपर बैठा हुआ यह सब आश्चर्य देख रहा था। वह इतना प्रसन्न हुआ कि उसने हरिषेणको बुलानेके लिए अपना समस्त परिकर भेजा ॥३४४॥ तदनन्तर रङ्ग-बिरङ्गी झूलसे जिसकी शोभा बढ़ रही थी तथा नाना रङ्गोंके चित्रामसे जो शोभायमान था ऐसे उसी हाथी पर वह बड़े वैभवसे

१. -मेवं म० । २. ग्रहेण म० । ३. दृष्टनष्टसमस्तेषु म० ।

मनांसि पौरनारीणामुच्चिन्वन् रूपपाणिना । प्रविवेश पुरं स्वेदबिन्दुमुक्ताफलान्वितः ॥३४६॥
नराधिपस्य कन्यानां परिणीतं ततः शतम् । तेन सर्वत्र चासक्ता हरिषेणमयी कथा ॥३४७॥
महान्तमपि संप्राप्तः सन्मानं स नरेश्वरात् । स्त्रीरत्नेन विना मेने तां वर्षमिव शर्वरीम्[1] ॥३४८॥
अचिन्तयच्च नूनं सा मया विरहिताधुना । मृगीवाकुलतां प्राप्ता परमां विषमे वने ॥३४९॥
सकृदेषा कथंचिच्चेत् त्रियामा क्षयमेष्यति । गमिष्यामि ततो बालामेतां द्रागनुकम्पितुम्[2] ॥३५०॥
[3]विचिन्तत्येवमेतस्मिन् शयनीयेऽतिशोभने । चिरेण निद्रया लब्धं पदमत्यन्तकृच्छ्रतः ॥३५१॥
स्वप्नेऽपि च स तामेव ददर्शाम्भोजलोचनाम् । प्रायो हि मानसस्यास्य सैव गोचरतामगात् ॥३५२॥
अथ वेगवती नाम्ना कलागुणविशारदा । खेचराधिपकन्यायाः सखी तमहरत् क्षणात् ॥३५३॥
ततो निद्राक्षये दृष्ट्वा ह्रियमाणं स्वमम्बरे । पापे हरसि मां कस्मादिति व्याहृत्य कोपतः ॥३५४॥
दृष्टनिःशेषताराक्षः संदष्टरदनच्छदः । मुष्टिं बबन्ध तां हन्तुं वज्रमुद्गरसन्निभाम् ॥३५५॥
ततस्तं कुपितं दृष्ट्वा पुरुषं चारुलक्षणम् । विद्याबलसमृद्धापि शङ्किता सेत्यभाषत ॥३५६॥
आरूढस्तरुशाखायां छिन्ते[4] तस्या यथा नरः । मूलं तथा करोषि त्वं ममायुष्मन् विहिंसनम् ॥३५७॥
यदर्थं नीयते तात त्वं मया तद्गतो भवान् । सत्यं ज्ञास्यसि नह्यस्य वपुषस्तव दुःखिता ॥३५८॥
अचिन्तयच्च भद्रेयं वनिता चारुभाषिणी । आकृतिः कथयत्यस्याः परपीडा निवृत्तताम् ॥३५९॥

आरूढ़ हुआ ॥३४५॥ जो पसीनेकी बूँदोंके बहाने मानो मोतियोंसे सहित था ऐसा हरिषेण अपने सौन्दर्य रूपीसे हाथसे नगरकी स्त्रियोंका मन संचित् करता हुआ नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥३४६॥ तदनन्तर उसने राजाकी सौ कन्याओंके साथ विवाह किया। इस प्रकारसे जहाँ देखो वहीं–सर्वत्र हरिषेणकी चर्चा फैल गई ॥३४७॥ यद्यपि उसने राजासे बहुत भारी सन्मान प्राप्त किया था तो भी तापसियोंके आश्रममें जो स्त्रीरत्न देखा था उसके बिना उसने एक रातको वर्षके समान समझा ॥३४८॥ वह विचार करने लगा कि इस समय निश्चय ही वह कन्या मेरे बिना विषम वनमें हरिणीके समान परम आकुलताको प्राप्त होती होगी ॥३४९॥ यदि यह रात्रि किसी तरह एक बार भी समाप्त हो जाय तो मैं शीघ्र ही उस बालापर दया करनेके लिए दौड़ पड़ूँगा ॥३५०॥ यह अत्यन्त सुशोभित शय्यापर पड़ा हुआ ऐसा विचार करता रहा। विचार करते-करते बड़ी देर बाद बहुत कठिनाईसे उसे नींद आई ॥३५१॥ स्वप्नमें भी यह उसी कमल-लोचनाको देखता रहा सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः करके इसके मनका वही एक विषय रह गई थी ॥३५२॥

अथानन्तर विद्याधर राजाकी कन्याकी सहेली वेगवती जो कि सर्व प्रकारकी कलाओं और गुणोंमें विशारद थी, सोते हुए हरिषेणको क्षण एकमें हर कर ले गई ॥३५३॥ जब उसकी निद्रा भग्न हुई तो उसने अपने आपको आकाशमें हरा जाता देख क्रोधपूर्वक वेगवतीसे कहा कि री पापिनि! तू मुझे किस लिए हर लिये जा रही है? ॥३५४॥ जिसके नेत्रोंकी समस्त पुत-लियाँ दिख रही थीं तथा जिसने ओंठ डश रक्खा था ऐसे हरिषेणने उस वेगवतीको मारनेके लिए वज्रमय मुद्गरके समान मुट्ठी बाँधी ॥३५५॥ तदनन्तर सुन्दर लक्षणोंके धारक हरिषेणको कुपित देख वेगवती यद्यपि विद्याबलसे समृद्ध थी तो भी भयभीत हो गई। उसने उससे कहा कि हे आयुष्मन्! जिस प्रकार वृक्षकी शाखापर चढ़ा कोई मनुष्य उसीकी जड़को काटता है उसी प्रकार मुझपर आरूढ हुए तुम मेरा ही घात कर रहे हो ॥३५६–३५७॥ हे तात! मैं तुझे जिस लिए ले जा रही हूँ तुम जब उसको प्राप्त होओगे तब मेरे वचनोंकी यथार्थता जान सकोगे। यह निश्चित समझो कि वहाँ जाकर तुम्हारे इस शरीरको रञ्चमात्र भी दुःख नहीं होगा ॥३५८॥ वेगवतीका कहा सुनकर हरिषेणने विचार किया कि यह स्त्री मन्द्र तथा मधुरभाषिणी है।

१. शर्वरी म० । २. द्रागनुचिन्तनम् म० । ३. विचिन्तयत्येव म० । ४. छिन्ने म० ।

यथेदं स्पन्दते चक्षुर्दक्षिणं मम साम्प्रतम् । तथा च कल्पयाम्येषा प्रियसंगमकारिणी ॥३६०॥
पुनश्चानेन सा पृष्टा भद्रे वेदय कारणम् । ललामसंकथासंगात् कर्णौ तावत्प्रतर्पय ॥३६१॥
जगाद चेति राजास्ति पुरे सूर्योदये वरे । नाम्ना शक्रधनुस्तस्य भार्या धीरिति कीर्तिता ॥३६२॥
गुणरूपमदग्रस्ता जयचन्द्रा तयोः सुता । पुरुषद्वेषिणी जाता पितृवाक्यापकर्णिनी[1] ॥३६३॥
यो यस्तस्या मयालिख्य पट्टके दर्शितः पुरा । सकले भरतक्षेत्रे नासौ तस्या रुचौ स्थितः ॥३६४॥
ततो भवान् मया तस्या दर्शितः पट्टकस्थितः । [2]गाढाकल्पकशल्येन शल्यिता चेदमब्रवीत् ॥३६५॥
कामभोगोपमानेन समं यदि न युज्यते । मृत्युं ततः प्रपत्स्येऽहं नत्वन्यमधमं वरम् ॥३६६॥
प्रतिज्ञा च पुरस्तस्या मयेयं दुष्करा कृता । शोकमत्युत्कटं दृष्ट्वा तद्गुणाकृष्टचित्तया[3] ॥३६७॥
यदि तं नानये शीघ्रं त्वन्मानसमलिम्लुचम् । ज्वालाजटालमनिलं प्रविशामि ततः सखि[4] ॥३६८॥
प्रतिज्ञायेति पुण्येन प्राप्तोऽसि महता मया । त्वत्प्रसादात्करिष्यामि प्रतिज्ञां फलसंगताम् ॥३६९॥
सूर्योदयपुरं चैषा प्राप्ता स च निवेदितः । आनीतः शक्रचापाय कन्यायै च मनोहरः ॥३७०॥
ततः पाणिग्रहश्चक्रे तयोरद्भुतरूपयोः । विस्मयापन्नचेतोभिः स्वजनैरभिनन्दितः ॥३७१॥
संपादितप्रतिज्ञा च प्राप्ता वेगवती परम् । सन्मानं राजकन्याभ्यां प्रमदं च तथा यशः ॥३७२॥
त्यक्त्वा नौ धरणीवासो गृहीतः पुरुषोऽनया । इति संचिन्त्य कुपितौ तस्या [5]मैथुनिकौ च तौ ॥३७३॥

इसकी आकृति ही बतला रही है कि यह पर-पीड़ासे निवृत्त है अर्थात् कभी किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाती ॥३५९॥ और चूँकि इस समय मेरी दाहिनी आँख फड़क रही है इससे निश्चय होता है कि यह अवश्य ही प्रियजनोंका समागम करावेगी ॥३६०॥ तब हरिषेणने उससे फिर पूछा कि हे भद्रे ! तू ठीक-ठीक कारण बता और मनोहर कथा सुनाकर मेरे कानोंको सन्तुष्ट कर ॥३६१॥ इसके उत्तरमें वेगवतीने कहा कि सूर्योदय नामक श्रेष्ठ नगरमें राजा शक्रधनु रहता है। उसकी स्त्री धी नामसे प्रसिद्ध है। उन दोनोंके जयचन्द्रा नामकी पुत्री है जो कि गुण तथा रूपके अहङ्कारसे ग्रस्त है, पुरुषोंके साथ द्वेष रखती है और पिताके वचनोंकी अवहेलना करती है ॥३६२-३६३॥ समस्त भरत क्षेत्रमें जो-जो उत्तम पुरुष थे उन सबके चित्रपट बनाकर मैंने पहले उसे दिखलाये हैं पर उसकी रुचिमें एक भी नहीं आया ॥३६४॥ तब मैंने आपका चित्रपट उसे दिखलाया सो उसे देखते ही वह तीव्र उत्कण्ठा रूपी शल्यसे विद्ध होकर बोली कि कामदेवके समान इस पुरुषके साथ यदि मेरा समागम न होगा तो मैं मृत्युको भले ही प्राप्त हो जाऊँगी पर अन्य अधम मनुष्यको प्राप्त नहीं होऊँगी ॥३६५-३६६॥ उसके गुणोंसे जिसका चित्त आकृष्ट हो रहा था ऐसी मैंने उसका बहुत भारी शोक देखकर उसके आगे यह कठिन प्रतिज्ञा कर ली कि तुम्हारे मनको चुरानेवाले इस पुरुषको यदि मैं शीघ्र नहीं ले आऊँ तो हे सखि ! ज्वालाओंसे युक्त अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगी ॥३६७-३६८॥ मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की ही थी कि बड़े भारी पुण्योदय से आप मिल गये। अब आपके प्रसादसे अपनी प्रतिज्ञाको अवश्य ही सफल बनाऊँगी ॥३६९॥ ऐसा कहती हुई वह सूर्योदयपुर आ पहुँची। वहाँ आकर उसने राजा शक्रधनु और कन्या जयचन्द्राके लिए सूचना दे दी कि तुम्हारे मनको हरण करनेवाला हरिषेण आ गया है ॥३७०॥ तदनन्तर आश्चर्यकारी रूपको धारण करनेवाले दोनों-वरकन्याका पाणिग्रहण किया गया। जिनका चित्त आश्चर्यसे भर रहा था ऐसे सभी आत्मीय जनोंने उनके उस पाणिग्रहणका अभिनन्दन किया था ॥३७१॥ जिसकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो चुकी थी ऐसी वेगवतीने राजा और कन्या-दोनोंकी ओरसे परम सन्मान प्राप्त किया था। उसके हर्ष और सुयशका भी ठिकाना नहीं था ॥३७२॥ 'इस कन्याने हम लोगोंको छोड़कर भूमिगोचरी पुरुष स्वीकृत किया' ऐसा विचारकर

१. पितृवाक्यापकर्षिणी म० । २. गाढाकल्पकशिल्पेन म० । ३-४. म० पुस्तकेऽनयोः श्लोकयोः क्रमभेदो वर्तते । ५. मैथुनिकाचितौ म० ।

भावाञ्छतां रणं कर्तुं महासाधनसंयुतौ । दूषितावपमानेन गङ्गाधरमहीधरौ ॥२७४॥
ततः शक्रधनुः साकं सुचापाख्येन सूनुना । हरिषेणं जगादेवं करुणासक्तचेतनः ॥२७५॥
तिष्ठ त्वमिह जामातः [1]संख्यं कर्तुं व्रजाम्यहम् । त्वन्निमित्तं रिपू [2]क्रुद्धावुद्धतौ दुःखचारिणौ ॥२७६॥
स्मित्वा ततो जगादासौ परकार्येषु यो रतः । कार्ये तस्य कथं [3]स्वस्मिन्नौदासीन्यं भविष्यति ॥२७७॥
कुरु पूज्य प्रसादं मे यच्छ युद्धाय शासनम् । भृत्यं मत्सदृशं प्राप्य स्वयं किमिति युध्यसे ॥२७८॥
ततोऽमङ्गलभीतेन [4]वाञ्छताप्यनिवारितः । श्वसुरेण कृतासङ्गमश्वैः पवनगामिभिः ॥२७९॥
अस्त्रैर्नानाविधैः पूर्णं [5]शूरसारथिनेतृकम् । वेष्टितं योधचक्रेण हरिषेणो रथं ययौ ॥२८०॥
तस्य चानुपदं जग्मुरश्वैर्नागैश्च खेचराः । कृत्वा कलकलं तुङ्गं शत्रुमानसदुःसहम् ॥२८१॥
ततो महति संजाते संयुगे शूरधारिते । भग्नं शक्रधनुःसैन्यं [6]दृष्ट्वा वाप्रेय उत्थितः ॥२८२॥
ययो यया दिशा तस्य प्रावर्तत रथोत्तमः । [7]तस्यां नाश्वो न मातङ्गो न मनुष्यो रथो न च ॥२८३॥
शरैस्तेन समं युक्तैरातिबलमाहतम् । जगाम क्वाप्यनालोक्य पृष्ठं स्खलितजूतिकम् ॥२८४॥
पृथुवेपथवः केचिदिदमूचुर्भयार्दिताः । कृतं गङ्गाधरेणेदं भूधरेण[8] च दुर्मतम् ॥२८५॥
अयं कोऽपि रणे भाति सूर्यवत्पुरुषोत्तमः । करानिव शरान्मुञ्चन् सर्वाशासु समं बहून् ॥२८६॥
ध्वंस्यमानं ततः सैन्यं दृष्ट्वा तेन महात्मना । गतौ क्वापि भयग्रस्तौ गङ्गाधरमहीधरौ ॥२८७॥

कन्याके मामाके लड़के गङ्गाधर और महीधर बहुत ही कुपित हुए। कुपित ही नहीं हुए अपमान से प्रेरित हो बड़ी भारी सेना लेकर युद्ध करनेकी भी इच्छा करने लगे ॥२७३–२७४॥ तदनन्तर करुणामें आसक्त है चित्त जिसका ऐसे राजा शक्रधनुने अपने सुचाप नामक पुत्रके साथ हरिषेणसे इस प्रकार निवेदन किया कि हे जामातः! तुम यहीं ठहरो, मैं युद्ध करनेके लिए जाता हूँ। तुम्हारे निमित्तसे दो उत्कट शत्रु कुपित होकर दुःखका अनुभव कर रहे हैं ॥२७५–२७६॥ तब हँसकर हरिषेणने कहा कि जो परकीय कार्योंमें सदा तत्पर रहता है उसके अपने ही कार्यमें उदासीनता कैसे हो सकती है? ॥२७७॥ हे पूज्य! प्रसन्नता करो और मेरे लिए युद्धका आदेश दो। मेरे जैसा भृत्य पाकर आप इस प्रकार स्वयं क्यों युद्ध करते हो? ॥२७८॥ तदनन्तर अमङ्गलसे भयभीत श्वसुरने चाहते हुए भी उसे नहीं रोका। फलस्वरूप जिसमें हवाके समान शीघ्रगामी घोड़े जुते थे, जो नाना प्रकारके शस्त्रोंसे पूर्ण था, जिसका सारथि शूरवीर था, और जो योद्धाओंके समूहसे घिरा था ऐसे रथको हरिषेण प्राप्त हुआ ॥२७९–२८०॥ उसके पीछे विद्याधर लोग शत्रुके मनको असहनीय बहुत भारी कोलाहलकर घोड़ों और हाथियोंपर सवार होकर जा रहे थे ॥२८१॥ तदनन्तर शूरवीर मनुष्य जिसकी व्यवस्था बनाये हुए थे ऐसा महायुद्ध प्रवृत्त हुआ सो कुछ ही समय बाद शक्रधनुको सेनाको पराजित देख हरिषेण युद्धके लिए उठा ॥२८२॥ तदनन्तर जिस दिशासे उसका उत्तम रथ निकल जाता था उस दिशामें न घोड़ा बचता था, न हाथी दिखाई देता था, न मनुष्य शेष रहता था और न रथ ही बाकी बचता था ॥२८३॥ उसने एक साथ डोरी पर चढ़ाये हुए बाणोंसे शत्रुकी सेनाको इस प्रकार मारा कि वह पीछे बिना देखे ही एक दम सरपट कहींपर भाग खड़ी हुई ॥२८४॥ जिनके शरीरमें बहुत भारी कँपकँपी छूट रही थी ऐसे भयसे पीडित कितने ही योद्धा कह रहे थे कि गङ्गाधर और महीधरने यह बड़ा अनिष्ट कार्य किया है ॥२८५॥ यह कोई अद्भुत पुरुष युद्धमें सूर्यकी भाँति सुशोभित हो रहा है। जिस प्रकार सूर्य समस्त दिशाओंमें किरणें छोड़ता है उसी प्रकार यह भी समस्त दिशाओंमें बहुत बाण छोड़ रहा है ॥२८६॥ तदनन्तर अपनी सेनाको उस महात्माके द्वारा नष्ट होती देख भयसे ग्रस्त हुए गङ्गाधर और

---

१. युद्धम्। २. रिपुक्रुद्धौ दुर्वृत्तौ दुःखचारणौ म०। ३. स्वामिन् म०। ४. वाञ्छितोऽप्यनि- ख०। ५. सूरि-म०। ६. दृष्ट्वा म०। ७. तस्य म०। ८. महीधरेण।

ततो जातेषु रत्नेषु तत्क्षणं सुकृतोदयात् । दशमो हरिषेणोऽभूच्चक्रवर्ती महोदयः ॥३८८॥
तथापि परया युक्तश्चक्रलाञ्छनया श्रिया । रहितं मदनावल्या स्वं स मेने तृणोपमम् ॥३८९॥
ततः संवाहयन् प्राप्तो बलं द्वादशयोजनम् । ततापसवनोद्देशं नमयन् सर्वविद्विषः ॥३९०॥
ततः स तापसैर्भीतैर्विज्ञाय फलपाणिभिः । दत्तार्घः पूजितो वाक्यैराशीर्दानपुरस्सरैः ॥३९१॥
शतमन्योश्च पुत्रेण जनमेजयरूढिना । तुष्टया नागवत्या च सा कन्यास्मै समर्पिता ॥३९२॥
विधिना च ततो वृत्तं तयोर्वीवाहमङ्गलम्[2] । प्राप्य चैतां पुनर्जन्म प्राप्तं मेने नृपोत्तमः ॥३९३॥
ततः काम्पिल्यमागत्य युक्तश्चक्रधरश्रिया । द्वात्रिंशता नरेन्द्राणां सहस्राणां समन्वितः ॥३९४॥
शिरसा मुकुटन्यस्तमणिप्रकरभासिना । ननाम चरणौ मातुर्विनीतो रचिताञ्जलिः ॥३९५॥
ततस्तं तद्विधं दृष्ट्वा पुत्रं वप्रा दशानन । संभूता न स्वगात्रेषु तोषाश्रुव्याप्तलोचना ॥३९६॥
ततो भ्रामयता तेन सूर्यवर्णान् महारथान् । काम्पिल्यनगरे मातुः कृतं सफलमीप्सितम् ॥३९७॥
श्रमणश्रावकाणां च जातः परमसंमदः । बहवश्च परिप्राप्ताः शासनं जिनदेशितम् ॥३९८॥
तेनामी कारिता भान्ति नानावर्णजिनालयाः । भूपर्वतनदीसङ्गपुरग्रामादिषून्नताः ॥३९९॥
कृत्वा चिरमसौ राज्यं प्रव्रज्य सुमहामनाः । तपः कृत्वा परं प्राप्तस्त्रिलोकशिखरं विभुः ॥४००॥
हरिषेणस्य चरितं श्रुत्वा विस्मयमागतः । कृत्वा जिननमस्कारं दशास्यः प्रस्थितः पुनः ॥४०१॥

महीधर दोनों ही कहीं भाग खड़े हुए ।।३८७।। तदनन्तर उसी समय पुण्योदयसे रत्न प्रकट हो गये जिससे हरिषेण महान् अभ्युदयको धारण करनेवाला दसवाँ चक्रवर्ती प्रसिद्ध हुआ ।।३८८।। यद्यपि वह चक्ररत्नसे चिह्नित परम लक्ष्मीसे युक्त हो गया था तो भी मदनावलीसे रहित अपने आपको तृणके समान तुच्छ समझता था ।।३८९।। तदनन्तर बारह योजन लम्बी चौड़ी सेनाको चलाता और समस्त शत्रुओंको नम्रीभूत करता हुआ वह तापसियोंके आश्रममें पहुँचा ।।३९०।। जब तापसियोंको इस बातका पता चला कि यह वही है जिसे हम लोगोंने आश्रमसे निकाल दिया था तो बहुत ही भयभीत हुए । निदान, हाथोंमें फल लेकर उन्होंने हरिषेणको अर्घ दिया और आशीर्वादसे युक्त वचनोंसे उसका सन्मान किया ।।३९१।। शतमन्युके पुत्र जनमेजय और माता नागवतीने संतुष्ट होकर वह कन्या इसके लिए समर्पित कर दी ।।३९२।। तदनन्तर उन दोनोंका विधि पूर्वक विवाहोत्सव हुआ । इस कन्याको पाकर राजा हरिषेणने अपना पुनर्जन्म माना ।।३९३।।

तदनन्तर चक्रवर्तीकी लक्ष्मीसे युक्त होकर वह काम्पिल्यनगर आया । बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उसके साथ थे ।।३९४।। उसने मुकुटमें लगे मणियोंके समूहसे सुशोभित शिर झुकाकर तथा हाथ जोड़कर बड़ी विनयसे माताके चरणोंमें नमस्कार किया ।।३९५।। सुमाली दशाननसे कहते हैं कि हे दशानन ! उस समय उक्त प्रकारके पुत्रको देखकर वप्राके हर्षका पार नहीं रहा । वह अपने अङ्गोंमें नहीं समा सकी तथा हर्षके आँसुओंसे उसके दोनों नेत्र भर गये ।।३९६।। तदनन्तर उसने सूर्यके समान तेजस्वी बड़े-बड़े रथ काम्पिल्यनगरमें घुमाये और इस तरह अपनी माताका मनोरथ सफल किया ।।३९७।। इस कार्यसे मुनि और श्रावकोंको परम हर्ष हुआ तथा बहुतसे लोगोंने जिन-धर्म धारण किया ।।३९८।। पृथिवी, पर्वत, नदियोंके समागम स्थान, नगर तथा गाँव आदिमें जो नाना रङ्गके ऊँचे-ऊँचे जिनालय शोभित हो रहे हैं वे सब उसीके बनवाये हैं ।।३९९।। उदार हृदयको धारण करनेवाले हरिषेणने चिर काल तक राज्य कर दीक्षा ले ली और परम तपश्चरणकर तीन लोकका शिखर अर्थात् सिद्धालय प्राप्त कर लिया ।।४००।। इस प्रकार हरिषेण चक्रवर्तीका चरित्र सुनकर दशानन आश्चर्यको प्राप्त हुआ । तदनन्तर जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार वह आगे बढ़ा ।।४०१।।

१. मदनावल्याः म० । २. वैवाह-म० ।

अथ विज्ञाय जयिनं दशवक्त्रं दिवाकरः । नेत्रयोर्गोचरीभावं भयादिव समत्यजत् ॥४०२॥
सन्ध्यारागेण संछन्नं समस्तं भुवनान्तरम् । संजातेनानुरागेण कैकसेयादिवोरुणा ॥४०३॥
ध्वस्तसंध्येन च व्याप्तं ध्वान्तेन क्रमतो नभः । दशास्यस्येव कालेन कर्तुमेतेन सेवनम् ॥४०४॥
सम्मेदभूधरस्यान्ते ततः संस्थलिभूभृतः । चकार शिविरं कुम्भावतीर्य नभस्तलात् ॥४०५॥
घनौघादिव [1]निर्घातः प्रावृषेण्यादथ ध्वनिः । येन तत्सकलं सैन्यं कृतं साध्वसपूरितम् ॥४०६॥
भङ्गमालानवृक्षाणां चक्रुः स्तम्बेरमोत्तमाः । हेषितं सहयश्चोच्चैरूर्ध्वकर्णाः स्फुरत्त्वचः ॥४०७॥
किं किमेतदिति क्षिप्रं जगाद च दशाननः । अपराधनिभेनायं[3] मर्तुं कोऽद्य समुद्यतः ॥४०८॥
नूनं वैश्रवणः प्राप्तः सोमो वा रिपुचोदितः । विश्रब्धं वा स्थितं मत्वा ममान्यः शत्रुगोचरः ॥४०९॥
तदादिष्टः प्रहस्तोऽथ तं देशं समुपागतः । अपश्यत्पर्वताकारं लीलायुक्तमनेकपम् ॥४१०॥
निवेदितं ततस्तेन दशास्याय सविस्मयम् । महाराशिमिवाब्दानां देव पश्य मतङ्गजम् ॥४११॥
ईक्षितः पूर्वमप्येष दन्तिवृन्दारको मया । इन्द्रेणाप्युज्झितो धर्तुमसमर्थेन वारणः ॥४१२॥
मन्ये पुरन्दरस्यापि दुर्ग्रहोऽयं सुदुस्सहः । गजः किमुत तुल्यौजाः शेषाणां प्राणधारिणाम् ॥४१३॥
ततः प्रहस्य विश्रब्धं जगाद [5]धनदार्दनः । आत्मनो युज्यते कर्तुं न प्रहस्त प्रशंसनम् ॥४१४॥

अथानन्तर संध्या काल आया और सूर्य डूब गया सो ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्यने दशाननको विजयी जानकर भयसे ही उसके नेत्रोंका गोचर-स्थान छोड़ दिया था ॥४०२॥ संध्याकी लालिमासे समस्त लोक व्याप्त हो गया सो ऐसा जान पड़ता था मानो दशाननसे उत्पन्न हुए बहुत भारी अनुरागसे ही व्याप्त हो गया था ॥४०३॥ क्रम-क्रमसे संध्याको नष्ट कर काला अन्धकार आकाशमें व्याप्त हो गया सो ऐसा जान पड़ता था मानो दशाननकी सेवा करनेके लिए ही व्याप्त हुआ था ॥४०४॥ तदनन्तर दशाननने आकाशसे उतरकर सम्मेदाचलके समीप संस्थलि नामक पर्वतके ऊपर अपना डेरा डाला ॥४०५॥

अथानन्तर—जिस प्रकार वर्षाकालीन मेघोंके समूहसे वज्रका शब्द निकलता है इसी प्रकार कहींसे ऐसा भयंकर शब्द निकला कि जिसने समस्त सेनाको भयभीत कर दिया ॥४०६॥ बड़े-बड़े हाथियोंने अपने आलानभूत वृक्ष तोड़ डाले और घोड़े कान खड़े कर फरूरी लेते हुए हिनहिनाने लगे ॥४०७॥ वह शब्द सुनकर दशानन शीघ्रतासे बोला कि यह क्या है ? क्या है ? अपराधके बहाने मरनेके लिए आज कौन उद्यत हुआ है ? ॥४०८॥ जान पड़ता है कि वैश्रवण आया है अथवा शत्रुसे प्रेरित हुआ सोम आया है अथवा मुझे निश्चिन्त रूपसे ठहरा जानकर शत्रु पक्षका कोई दूसरा व्यक्ति यहाँ आया है ॥४०९॥ तदनन्तर दशाननकी आज्ञा पाकर प्रहस्त नामा मन्त्री उस स्थान पर गया जहाँसे कि वह शब्द आ रहा था। वहाँ जाकर उसने पर्वतके समान आकारवाला, क्रीडा करता हुआ एक हाथी देखा ॥४१०॥ वहाँसे लौटकर प्रहस्तने बड़े आश्चर्यके साथ दशानन को सूचना दी कि हे देव ! मेघोंकी महाराशिके समान उस हाथीको देखो ॥४११॥ ऐसा जान पड़ता है कि इस हाथीको मैंने पहले भी कभी देखा है, इन्द्र विद्याधर भी इसे पकड़नेमें समर्थ नहीं था इसी लिए उसने इसे छोड़ दिया है, अथवा इन्द्र विद्याधरकी बात जाने दो साक्षात् देवेन्द्र भी इसे पकड़नेमें असमर्थ है, इसे कोई सहन नहीं कर सकता। नहीं जान पड़ता कि यह हाथी है या समस्त प्राणियोंका एकत्रित तेजका समूह है ? ॥४१२-४१३॥ तब दशाननने हँसकर कहा कि हे प्रहस्त ! यद्यपि अपनी प्रशंसा स्वयं करना ठीक नहीं है फिर भी मैं इतना तो कहता ही हूँ कि यदि मैं इस हाथीको क्षणभरमें न पकड़ लूँ तो बाजूबन्दसे पीड़ित अपनी इन दोनों भुजाओंको काट

---

१. कक्षा-म० । २. निर्घाताः म० । ३ मिषेणायं म० । ४. विधुत्वं वा क०, ख० । ५. कुबेरविजेता ।

एतावत्तु ब्रवीम्येतौ भुजौ केयूरपीडितौ । छिनद्मि न क्षणादेनं गृह्णाम्यनेकपम् ॥४१५॥
ततः कामगमारुह्य विमानं पुष्पकाभिधम् । गत्वा पश्यति तं नागं सल्लक्षणसमन्वितम् ॥४१६॥
स्निग्धेन्द्रनीलसंकाशं राजीवप्रभतालुकम् । दीर्घवृत्तौ सुधाफेनवलक्षौ बिभ्रतं रदौ ॥४१७॥
हस्तानां सप्तकं तुङ्गं दशकं परिणाहतः । आयामतश्च नवकं मधुपिङ्गललोचनम् ॥४१८॥
निमग्नवंशमग्राङ्गतुङ्गमायतबालधिम् । द्राघिष्ठकरमत्यन्तस्निग्धपिङ्गनखाङ्कुरम् ॥४१९॥
वृत्तपीनमहाकुम्भं सुप्रतिष्ठाङ्घ्रिमूर्जितम् । अन्तर्मधुरधीरोरुगर्जितं विनयस्थितम् ॥४२०॥
गलद्गण्डस्थलामोदसमाकृष्टालिवेणिकम् । कुर्वन्तं दुन्दुभिध्वानं कर्णतालान्तताडनैः ॥४२१॥
भग्नावकाशमाकाशं कुर्वाणमिव पार्थवात्[1] । लीलां विदधतं चित्तचक्षुश्चोरणकारिणीम् ॥४२२॥
दृष्ट्वा च तं परां प्रीतिं प्राप रत्नश्रवःसुतः । कृतार्थमिव चात्मानं मेने हृष्टतनूरुहः ॥४२३॥
ततो विमानमुज्झित्वा बद्ध्वा परिकरं दृढम् । शङ्खं तस्य पुरो दध्मौ शब्दपूरितविष्टपम् ॥४२४॥
ततः शङ्खस्वनोद्भूतचित्तक्षोभः सगर्जितः । करी दशमुखोद्देशं चलितो बलगर्वितः ॥४२५॥
वेगादभ्यायतस्यास्य पिण्डीकृत्य सितांशुकम् । उत्तरीयं च चिक्षेप क्षिप्रं विभ्रमदक्षिणः ॥४२६॥
दन्ती जिघ्रति तं यावत्तावदुत्पत्य गण्डयोः । अस्पृशद्दशमदस्तं भृङ्गौघध्वनिचण्डयोः ॥४२७॥
करेण वेष्टितुं यावच्चक्रे वाञ्छां मतङ्गजः । तावद्दंष्ट्रान्तरेणासौ निःसृतो लाघवान्वितः ॥४२८॥
अङ्गेषु च चतुर्ष्वस्य स्पृशन् दन्ततले मुहुः । भ्रान्तिविद्युच्चलश्चक्रे प्रेङ्खणं रदनाग्रयोः ॥४२९॥

डालूँ ॥४१४-४१५॥ तदनन्तर वह इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पक विमानपर सवार हो, जाकर उत्तम लक्षणोंसे युक्त उस हाथीको देखता है ॥४१६॥ वह हाथी चिकने इन्द्रनील मणिके समान था, उसका तालु कमलके समान लाल था, वह लम्बे, गोल तथा अमृतके फेनके समान सफ़ेद दाँतोंको धारण कर रहा था ॥४१७॥ वह सात हाथ ऊँचा, दश हाथ चौड़ा और नौ हाथ लम्बा था। उसके नेत्र मधुके समान कुछ पीतवर्णके थे ॥४१८॥ उसकी पीठकी हड्डी मांसपेशियोंमें निमग्न थी, उसके शरीरका अगला भाग ऊँचा था, पूँछ लम्बी थी, सूँड़ विशाल थी, और नखरूपी अङ्कुर चिकने तथा पीले थे ॥४१९॥ उसका मस्तक गोल तथा स्थूल था, उसके चरण अत्यन्त जमे हुए थे, वह स्वयं बलवान् था, उसकी विशाल गर्जना भीतरसे मधुर तथा गम्भीर थी और वह विनयसे खड़ा था ॥४२०॥ उसके गण्डस्थलसे जो मद चू रहा था उसकी सुगन्धिके कारण भ्रमरोंकी पङ्क्तियाँ उसके समीप खिंची चली आ रहीं थीं। वह कर्णरूपी तालपत्रोंकी फटकारसे दुन्दुभिके समान विशाल शब्द कर रहा था ॥४२१॥ वह अपनी स्थूलताके कारण आकाशको मानो निरवकाश कर रहा था और चित्त तथा नेत्रोंको चुरानेवाली क्रीड़ा कर रहा था ॥४२२॥ उस हाथीको देख दशानन परम प्रीतिको प्राप्त हुआ। उसने अपने आपको कृतकृत्य-सा माना और उसका रोम-रोम हर्षित हो उठा ॥४२३॥ तदनन्तर दशाननने विमान छोड़कर अपना परिकर मजबूत बाँधा और उसके सामने शब्दसे लोकको व्याप्त करनेवाला शङ्ख फूँका ॥४२४॥ तत्पश्चात् शङ्खके शब्दसे जिसके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न हुआ था तथा जो बलके गर्वसे युक्त था ऐसा हाथी गर्जना करता हुआ दशाननके सम्मुख चला ॥४२५॥ जब हाथी वेगसे दशाननके सामने दौड़ा तो घूमनेमें चतुर दशाननने उसके सामने अपना सफ़ेद चद्दर घरियाकर फेंक दिया ॥४२६॥ हाथी जब तक उस चद्दरको सूँघता है तब तक दशाननने उछलकर भ्रमरसमूहके शब्दोंसे तीक्ष्ण उसके दोनों कपोलोंका स्पर्श कर लिया ॥४२७॥ हाथी जब तक दशाननको सूँड़से लपेटनेकी इच्छा करता है कि तब तक शीघ्रतासे युक्त दशानन उसके दाँतोंके बीचसे बाहर निकल गया ॥४२८॥ घूमनेमें बिजलीके समान चञ्चल दशानन उसके चारों ओरके अङ्गोंका स्पर्श करता था। बार-बार दाँतोंपर टक्कर लगाता था और कभी खीसोंपर

१. पृथोर्भावः पार्थवं तस्मात् स्थौल्यात्, पार्थवां (?) म०।

अथास्य पृष्ठमारूढ[1]: सविलासं दशाननः । विनीतश्च स्थितो दन्ती सच्छिष्य इव तत्क्षणात् ॥४३०॥
ततः सकुसुमा मुक्ताः साधुवादाः मुहुः सुरैः । सशब्दा च महामोदं प्राप्ता खेचरवाहिनी ॥४३१॥
त्रिलोकमण्डनाभिख्यां प्रापायं दशवक्त्रतः । त्रैलोक्यं मण्डितं तेन यतो मेने स मोदवान् ॥४३२॥
महोत्सवः कृतस्तस्य लाभे परम दन्तिनः । नृत्यद्भिः पर्वते रम्ये खेचरैः पुष्पसंकुलैः ॥४३३॥
तथैषां जाग्रतामेव मर्यादामात्रकारणम् । कृतः प्रभाततूर्येण नादो गह्वरपेशलः ॥४३४॥
दिवसेन ततो बिम्बं रवेः कलशमङ्गलम् । उपनीतं दशास्याय सेवाकौशलवेदिना ॥४३५॥
ततः सुखासनासीने विहितस्वाङ्गकर्मणि । स्थिते दशमुखे [2]दन्तिकथया खेचरावृते[3] ॥४३६॥
सहसा वियतः प्राप्तः पुरुषः पुरु वेपथुः । स्वेदबिन्दुसमाकीर्णः संभ्रान्तः खेदमुद्वहन् ॥४३७॥
सप्रहारव्रणः साश्रुर्दर्शयञ्जर्जरां तनुम् । व्यज्ञापयच्च कृच्छ्रेण ललाटे धारयन् करौ ॥४३८॥
दशमेऽह्नि दिनादस्माच्चित्ते कृत्वा भवद्बलम् । अलंकारपुरावासान्निष्क्रम्योत्साहतोऽधिकात् ॥४३९॥
निजगोत्रक्रमायातं नगरं किं कुसंज्ञकम् । गृहीतुं भ्रातरौ यातौ सूर्यर्क्षरजसावुभौ ॥४४०॥
महाभिमानसम्पन्नौ महाबलसमन्वितौ । विश्रब्धौ भवतो गर्वान्मन्यमानौ तृणं जगत् ॥४४१॥
एताभ्यां चोदितः क्षुब्धो नितान्तं विपुलो जनः । अवस्कन्देन संपत्य प्रचक्रे किष्कुलुण्टनम् ॥४४२॥
कृतान्तस्य ततो योद्धुमुत्थिता[4] भटसत्तमाः । [5]स्वप्नवद्यत्पुरोद्दिष्ट (?) हेतिव्यापृतपाणयः ॥४४३॥

मूला मूलने लगता था ॥४२९॥ तदनन्तर दशानन विलासपूर्वक उसकी पीठपर चढ़ गया और हाथी उसी क्षण उत्तम शिष्यके समान विनीतभावसे खड़ा हो गया ॥४३०॥ उसी समय देवोंने फूलोंकी वर्षा की, बार-बार धन्यवाद दिये, और विद्याधरोंकी सेना कल-कल करती हुई परम हर्षको प्राप्त हुई ॥४३१॥ वह हाथी, दशाननसे 'त्रिलोकमण्डन' इस नामको प्राप्त हुआ । यथार्थमें उस हाथीसे तीनों लोक मण्डित हुए थे इसलिए दशाननने बड़े हर्षसे उसका 'त्रिलोकमण्डन' नाम सार्थक माना था ॥४३२॥ फूलोंसे व्याप्त उस रमणीय पर्वतपर नृत्य करते हुए विद्याधरोंने उस श्रेष्ठ हाथीके मिलनेका महोत्सव किया था ॥४३३॥

इस हाथीके प्रकरणसे यद्यपि सब लोग जाग रहे थे तो भी रात्रि और दिवसकी मर्यादा बतलानेके लिए प्रभातकालीन तुरहीने ऐसा जोरदार शब्द किया कि वह पर्वतकी प्रत्येक गुफामें गूँज उठा ॥४३४॥ तदनन्तर सूर्य बिम्बका उदय हुआ सो ऐसा जान पड़ता था मानो सेवाकी चतुराईको जाननेवाले दिवसने दशाननके लिए मङ्गल-कलश ही समर्पित किया हो ॥४३५॥

तदनन्तर दशानन शारीरिक क्रियाएँ कर सोफापर बैठा था । साथ ही अन्य विद्याधर भी हाथीकी चर्चा करते हुए उसे घेरकर बैठे थे ॥४३६॥ उसी समय आकाशसे उतरकर एक पुरुष वहाँ आया । वह पुरुष अत्यन्त काँप रहा था, पसीनेकी बूँदोंसे व्याप्त था, खेदको धारण कर रहा था, प्रहारजन्य घावोंसे सहित था, आँसू छोड़ रहा था और अपना जर्जर शरीर दिखला रहा था । उसने हाथ जोड़ मस्तकसे लगा बड़े दुःखके साथ निवेदन किया ॥४३७–४३८॥ कि हे देव ! आजसे दश दिन पहले हृदयमें आपके बलका भरोसाकर सूर्यरज और ऋक्षरज दोनों भाई, अपनी वंश-परम्परासे चले आये किष्कु नगरको लेनेके लिए बड़े उत्साहसे अलंकारपुर अर्थात् पाताल लंकासे निकलकर चले थे ॥४३९–४४०॥ दोनों ही भाई महान् अभिमानसे युक्त, बड़ी भारी सेनासे सहित तथा निःशङ्क थे । वे आपके गर्वसे संसारको तृणके समान तुच्छ मानते थे ॥४४१॥ इन दोनों भाइयोंकी प्रेरणासे अत्यन्त क्षोभको प्राप्त हुए बहुतसे लोग एक साथ आक्रमणकर किष्कुपुरको लूटने लगे ॥४४२॥ तदनन्तर जिनके हाथोंमें नाना प्रकारके शस्त्र चमक

१. -मारुह्य म० । २. दन्ती म० । ३. खेचरावृतः म० । ४. -मुच्छ्रिता म० । ५. स्वप्नयद्यत्पुरो दृष्टा म० ।

ततस्तेषां महान् जातो मध्येशर्वरि संयुगः । अन्योन्यशस्त्रसंपातकृतभूरिजनक्षयः ॥४४४॥
श्रुत्वा कलकलध्वानं स्वयं योद्धुमथादरात् । यमः क्रोधेन निष्क्रान्तः संक्षुब्धार्णवदारुणः ॥४४५॥
आयातमात्रकेणैव तेन दुस्सहतेजसा । अस्मदीयं बलं भग्नं विविधायुधविक्षतम् ॥४४६॥
अथासौ कथयन्नेवं दूतो मूर्च्छामुपागतः । वीजितश्च पटान्तेन प्रबोधं पुनरागतः ॥४४७॥
किमेतदिति पृष्टश्च हृदयस्थकरोऽवदत् । जानामि देव तत्रैव वर्तेऽहमिति मूर्च्छितः ॥४४८॥
ततस्तत इति प्रोक्ते ततो विस्मयवाहिना । रक्षश्रवःसुतेनासौ विश्रम्य पुनरब्रवीत् ॥४४९॥
ततो नाथ बलं दृष्ट्वा नितान्तार्तरवाकुलम् । निजमृक्षरजा भग्नं वत्सलो योद्धुमुत्थितः[1] ॥४५०॥
चिरं च कृतसंग्रामो यमेनातिबलीयसा । चेतसा भेदमप्राप्तो गृहीतः शत्रुवञ्चितः ॥४५१॥
उत्थितो[2] युध्यमानेऽस्मिन्नथ सूर्यरजा अपि । चिरं कृतरणो गाढप्रहारो मूर्च्छितो भृशम् ॥४५२॥
उद्यम्य क्षिप्रमात्मीयैः सामन्तैर्मेखला वनम् । नीत्वा[3] स श्वासमानीतः शीतचन्दनवारिणा ॥४५३॥
यमेन स्वयमात्मानं सत्यमेवावगच्छता । कारितं यातनास्थानं वैतरण्यादि पूर्बहिः[4] ॥४५४॥
ततो ये निर्जितास्तेन संयतीन्द्रेण वा जिताः । प्रेषिताः दुःखमरणं प्राप्यन्ते तत्र ते नराः ॥४५५॥
वृत्तान्तं तमहं दृष्ट्वा कथमप्याकुलाकुलः । संभूतो दयितो भृत्यः क्रमादृक्षरजःकुले ॥४५६॥
नाम्ना शाखावली पुत्रः सुश्रेणीरणदक्षयोः । कृत्वा पलायनं प्राप्तो भवतस्त्रातुरन्तिकम् ॥४५७॥

रहे थे ऐसे यम नामा दिक्पालके उत्तम योद्धा युद्ध करनेके लिए उठे सो मध्य रात्रिमें उन सबके बीच बड़ा भारी युद्ध हुआ। उस युद्धमें परस्परके शस्त्र प्रहारसे अनेक पुरुषोंका क्षय हुआ ॥४४३-४४४॥ अथानन्तर बड़ी गौरसे उनका कल-कल शब्द सुनकर यम दिक्पाल स्वयं क्रोधसे युद्ध करनेके लिए निकला। उस समय वह यम क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रके समान भयंकर जान पड़ता था ॥४४५॥ जिसका तेज अत्यन्त दुःसह था ऐसे यमने आते हीके साथ हमारी सेनाको नाना प्रकारके शस्त्रोंसे घायलकर भग्न कर दिया ॥४४६॥ अथानन्तर वह दूत इस प्रकार कहता कहता बीचमें ही मूर्च्छित हो गया। वस्त्रके छोरसे हवा करनेपर पुनः सचेत हुआ ॥४४७॥ यह क्या है? इस प्रकार पूछे जानेपर उसने हृदयपर हाथ रखकर कहा कि हे देव! मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं वहीं पर हूँ। उसी दृश्यको सामने देख मैं मूर्च्छित हो गया ॥४४८॥

तदनन्तर आश्चर्यको धारण करनेवाले रावणने पूछा कि 'फिर क्या हुआ?' इस प्रश्नके उत्तरमें वह कुछ विश्रामकर फिर कहने लगा ॥४४९॥ कि हे नाथ! जब ऋक्षरजने देखा कि हमारी सेना अत्यन्त दुःख पूर्ण शब्दोंसे व्याकुल होती हुई पराजित हो रही है—नष्ट हुई जा रही है तब स्नेह युक्त हो वह युद्ध करनेके लिए स्वयं उद्यत हुआ ॥४५०॥ वह अत्यन्त बलवान् यमके साथ चिर काल तक युद्ध करता रहा। युद्ध करते-करते उसका हृदय नहीं टूटा था फिर भी शत्रुने छलसे उसे पकड़ लिया ॥४५१॥ तदनन्तर जब ऋक्षरज युद्ध कर रहा था उसी समय सूर्यरज भी युद्धके लिए उठा। उसने भी चिरकाल तक युद्ध किया पर अन्तमें वह शस्त्रकी गहरी चोट खा कर मूर्च्छित हो गया ॥४५२॥ आत्मीय लोग उसे उठा कर शीघ्र ही मेखला नामक वन में ले गये। वहाँ वह चन्दन मिश्रित शीतल जलसे श्वासको प्राप्त हो गया अर्थात् शीतलोपचार से उसकी मूर्च्छा दूर हुई ॥४५३॥ लोकपाल यमने अपने आपको सचमुच ही यमराज समझ कर नगरके बाहर वैतरणी नदी आदि कष्ट देनेके स्थान बनवाये ॥४५४॥ तदनन्तर उसने अथवा इन्द्र विद्याधरने जिन्हें युद्धमें जीता था उन सबको उसने उस कष्टदायी स्थानमें रक्खा सो वे वहाँ दुःख पूर्वक मरणको प्राप्त हो रहे हैं ॥४५५॥ इस वृत्तान्तको देख मैं बहुत ही व्याकुल हूँ। मैं ऋक्षरजकी वंशपरम्परासे चला आया प्यारा नौकर हूँ। शाखावली मेरा नाम है, मैं सुश्रोणी और रणदक्षका पुत्र हूँ। आप चूँकि रक्षक हो इसलिए किसी तरह भाग कर

१. - मुच्छ्रितः म० । २. उच्छ्रितः म० । ३. नीत्वा-श्वासन म० । ४. नगराद् बहिः, पूर्वकम् म० ।

इति स्वपक्षदौःस्थित्यमवगम्य मयोदितम् । देव प्रमाणमत्रार्थे कृत्यहं[1] त्वन्निवेदनात् ॥४५८॥
व्रणभङ्गं ततस्तस्य कर्तुमादिश्य सादरम् । उच्चचाल महाक्रोधः स्मितं कृत्वा दशाननः ॥४५९॥
जगाद चोद्यतान् क्लेशमहार्णवमुपागतान् । वैतरण्यादिनिक्षिप्तान् वारयाम्यसुधारिणः ॥४६०॥
अग्रस्कन्धेन चोदाराः प्रहस्तप्रमुखा नृपाः । प्रवृत्ताः शस्त्रतेजोभिः कुर्वाणाज्ज्वलितं नभः ॥४६१॥
विचित्रवाहनारूढाश्छत्रध्वजसमाकुलाः । तूर्यनादसमुद्भूतमहोत्साहा महौजसः ॥४६२॥
[2]नाथा गगनयात्राणां क्षितिं प्राप्ताः पुरान्तिकाम् । शोभया गृहपङ्क्तीनां परमं विस्मयं गताः ॥४६३॥
दिशि किष्कुपुरस्याथ दक्षिणस्यां दशाननः । ददर्श नरकावासगर्तक्षिप्ता नृसंहतीः ॥४६४॥
कृत्वा नरकपालानां ध्वंसनं दुःखसागरात् । उत्तारितास्ततः सर्वे बन्धुनेवामुना जनाः ॥४६५॥
श्रुत्वा परबलं प्राप्तं साटोपो नाम वीर्यवान् । निर्ययौ सर्वसैन्येन प्रक्षुब्ध इव सागरः ॥४६६॥
द्वीपैर्गिरिनिभैर्भीमैर्दानधारान्धकारिभिः । तुरङ्गैश्च चलच्चारुचामरप्राप्तभूषणैः ॥४६७॥
रथैरादित्यसंकाशैर्ध्वजपङ्क्तिविभूषितैः । पिनद्धकवचैः शस्त्रैर्भटैर्वीरैरधिष्ठितैः ॥४६८॥
ततस्तं स्यन्दनारूढो [3]हसन् यमभटं क्षणात् । भङ्क्त्वा विभीषणो निन्ये बाणै रणविशारदः ॥४६९॥
यमस्य किङ्करा दीनाः[4] कुर्वाणाः खमायतम् । बाणैः समाहताश्चक्रुः क्षिप्रं क्वापि पलायनम् ॥४७०॥

आपके पास आया हूँ ॥ ४५६–४५७ ॥ इस प्रकार अपने पक्षके लोगोंकी दुर्दशा जान कर मैंने आपसे कही है। इस विषयमें अब आप ही प्रमाण हैं अर्थात् जैसा उचित समझें सो करें। मैं तो आपसे निवेदन कर कृतकृत्य हो चुका ॥४५८॥ तदनन्तर महाक्रोधी रावणने अपने पक्षके लोगोंको बड़े आदरसे आदेश दिया कि इस शाखावलीके घाव ठीक किये जावें। तदनन्तर मुसकराता हुआ वह उठा और साथ ही उठे अन्य लोगोंसे कहने लगा कि मैं कष्ट रूपी महासागरमें पड़े तथा वैतरणी आदि कष्टदायी स्थानों में डाले गये लोगों का उद्धार करूँगा ॥४५९–४६०॥ प्रहस्त आदि बड़े-बड़े राजा सेनाके आगे दौड़े। वे शस्त्रोंके तेज से आकाशको देदीप्यमान कर रहे थे ॥४६१॥ नाना प्रकारके वाहनों पर सवार थे, छत्र और ध्वजाओंको धारण करने वाले थे। तुरहीके शब्दोंसे उनका बड़ा भारी उत्साह प्रकट हो रहा था और वे महातेजस्वी थे ही ॥४६२॥ इस प्रकार विद्याधरोंके अधिपति आकाशसे उतर कर पृथिवी पर आये और नगरके समीप महलोंकी पंक्तिकी शोभा देख परम आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥४६३॥ तदनन्तर रावणने किष्कुपुर नगरकी दक्षिण दिशामें कृत्रिम नरकके गर्तमें पड़े मनुष्योंके समूहको देखा ॥४६४॥ देखते ही उसने नरककी रक्षा करने वाले लोगोंको नष्ट किया और जिस प्रकार बन्धुजन अपने इष्ट लोगोंको कष्टसे निकालते हैं उसी प्रकार उसने सब लोगोंको नरकसे निकाला ॥४६५॥ तदनन्तर शत्रुसेनाको आया सुनकर बड़े भारी आडम्बरको धारण करने वाला, शक्तिशाली यम नाम लोकपालका साटोप नामका प्रमुख भट युद्ध करने के लिए अपनी सब सेनाके साथ बाहर निकला। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो क्षोभको प्राप्त हुआ सागर ही हो ॥४६६॥ पहाड़के समान ऊँचे, भयंकर और मदकी धारासे अन्धकार फैलाने वाले हाथी, चलते हुए सुन्दर चामर रूपी आभूषणोंको धारण करने वाले घोड़े, सूर्यके समान देदीप्यमान तथा ध्वजाओंकी पंक्तिसे सुशोभित रथ, और कवच धारण करने वाले एवं शस्त्रोंसे युक्त शूर वीर योद्धा इस प्रकार चतुरङ्ग सेना उसके साथ थी ॥४६७–४६८॥ तदनन्तर रथ पर आरूढ एवं रण कला में निपुण विभीषणने हँसते-हँसते ही बाणोंके द्वारा उस साटोपको क्षणभरमें मार गिराया ॥४६९॥ यमके जो दीन हीन किङ्कर थे वे भी बाणोंसे ताड़ित हो आकाशको लम्बा करते हुए

१. कृती+अहम्, कृत्योऽहं म०। कृतोऽहं तन्निवेदनात् क०, ख०। २. तथा म०। ३. हंसनैः सुभटं म०। ४. दीनं क०, ख०।

मोचितान् नारकान् श्रुत्वा साटोपं चावसादितम् । यमो यम इव क्रूरो महाशस्त्रोटवेगतः ॥४७१॥
रथोत्साहः समारुह्य चापं कोपं च धारयन् । उच्छ्रितेन प्रतापेन ध्वजेन च महाबलः ॥४७२॥
आकुलासितसर्पाभभ्रकुटीकुटिलालकः । चक्षुषात्यन्तरक्तेन दहन्निव जगद्वनम् ॥४७३॥
प्रतिबिम्बैरिवात्मीयैः सामन्तैः कृतवेष्टनः। योद्धुं वेगान्निचक्राम छादयन् तेजसा नभः ॥४७४॥
ततस्तं निर्गतं दृष्ट्वा विनिवार्य विभीषणम् । दशाननो रणं कर्तुमुत्थितः कोपमुद्वहन् ॥४७५॥
साटोपव्यसनेनातिदीपितोऽथ यमः समम् । दशास्येन रणं कर्तुमारेभे भीषणाननः ॥४७६॥
[2]दृष्ट्वा च तं ततो भीता जाता राक्षसवाहिनी । दशाननसमीपं सा ढुढौके मन्दचेष्टिता ॥४७७॥
रथारूढस्ततस्तस्य दशास्योऽभिमुखं ययौ । विमुञ्चन् शरसंघातं मुञ्चतः शरसंहतीः ॥४७८॥
ततस्तयोः शरैश्छन्नं भीमनिस्वनकारिभिः[3] । नभो घनैरिवाशेषं घनबद्धकदम्बकैः ॥४७९॥
कैकसीनन्दनेनाथ शरेण कृतताडनः । भूमौ ग्रह इवापुण्यः पपात यमसारथिः ॥४८०॥
ताडितस्तीक्ष्णबाणेन कृतान्तोऽप्यरथीकृतः । उत्पपात रवेर्मार्गमन्तर्हिततनुः क्षणात् ॥४८१॥
ततः सान्तःपुरः पुत्रसहितोऽमात्यसंयुतः । कम्पमानतनुर्भीत्या यातोऽसौ रथनूपुरम् ॥४८२॥
नमस्कृत्य च संभ्रान्त [4]इन्द्रमेवमभाषत । शृणु विज्ञापनं देव कृतं मे यमलीलया ॥४८३॥
प्रसीद भज वा कोपं हर वा जीवनं विभो । कुरु वा वाञ्छितं यत्ते यमतां न करोम्यहम् ॥४८४॥

शीघ्र ही कहीं भाग खड़े हुए ॥४७०॥ जब यम नाम लोकपालको पता चला कि सूर्यरज ऋक्षरज आदिको नरकसे छुड़ा दिया है तथा साटोप नामक प्रमुख भटको मार डाला है तब यमराजके समान क्रूर तथा महाशस्त्रोंको धारण करने वाला वह यम लोकपाल बड़े वेगसे रथ पर सवार हो युद्ध करनेके लिए बाहर निकला। वह धनुष तथा क्रोधको धारण कर रहा था, बढ़े हुए प्रताप और ऊँची उठी ध्वजासे युक्त था, महाबलवान् था, काले सर्पके समान भयंकर भौंहोंसे उसका ललाट कुटिल हो रहा था, वह अपने लाल-लाल नेत्रोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो जगत् रूपी वनको जला ही रहा हो। अपने ही प्रतिबिम्बके समान दिखने वाले अन्य सामन्त उसे घेरे हुए थे तथा तेजसे वह आकाशको आच्छादित कर रहा था ॥४७१-४७४॥ तदनन्तर यम लोकपालको बाहर निकला देख दशाननने विभीषणको मना किया और स्वयं ही क्रोधको धारण करता हुआ युद्ध करनेके लिए उठा ॥४७५॥ साटोपके मारे जानेसे जो अत्यन्त देदीप्यमान दिख रहा था ऐसे भयंकर मुखको धारण करनेवाले यमने दशाननके साथ युद्ध करना शुरू किया ॥४७६॥ यमको देख राक्षसोंकी सेना भयभीत हो उठी, उसकी चेष्टाएँ मन्द पड़ गई और वह निरुत्साह हो दशाननके समीप भाग खड़ी हुई ॥४७७॥ तदनन्तर रथपर बैठा हुआ दशानन बाणोंकी वर्षा करता हुआ यमके सम्मुख गया। यम भी बाणोंकी वर्षा कर रहा था ॥४७८॥ तदनन्तर सघन मण्डल बाँधनेवाले मेघोंसे जिस प्रकार समस्त आकाश व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार उन दोनोंके भयंकर शब्द करनेवाले बाणोंसे समस्त आकाश व्याप्त हो गया ॥४७९॥ अथानन्तर दशाननके बाणकी चोट खाकर यमका सारथि पुण्य हीन ग्रहके समान भूमिपर गिर पड़ा ॥४८०॥ यम लोकपाल भी दशाननके तीक्ष्ण बाणसे ताड़ित हो रथरहित हो गया। इस कार्यसे वह इतना घबड़ाया कि क्षण भरमें छिपकर आकाशमें जा उड़ा ॥४८१॥ तदनन्तर भयसे जिसका शरीर काँप रहा था ऐसा यम अपने अन्तःपुर, पुत्र और मन्त्रियोंको साथ लेकर रथनूपुर नगरमें पहुँचा ॥४८२॥ और बड़ी घबराहटके साथ इन्द्रको नमस्कारकर इस प्रकार कहने लगा कि हे देव! मेरी बात सुनिये। अब मुझे यमराजकी लीलासे प्रयोजन नहीं है ॥४८३॥ हे नाथ! चाहे आप प्रसन्न हों, चाहे क्रोध करें, चाहे मेरा जीवन हरण करें अथवा चाहे जो आपकी

१. महाशस्त्राटवीं गतः म० (महाशस्त्रोतितिवेगतः) । २. दृष्ट्वा च म० । ३. भीमनिश्चलकारिभिः म० । ४. इदमेवा- म० ।

युद्धे वैश्रवणो येन निर्जितः पुरुतेजसा । अहमप्यमुना नीतो भङ्गं कृतरणश्चिरम् ॥४८५॥
सृष्टं वीररसेनेव वपुस्तस्य महात्मनः । दुरीक्ष्यो[1] व्योममध्यस्थसवितेव निदाघजः ॥४८६॥
इति श्रुत्वा सुराधीशः संग्रामाय कृतोद्यतिः । निरुद्धो मन्त्रिवर्गेण नय याथात्म्यवेदिना ॥४८७॥
जगाद च स्मितं श्रुत्वा मातुलं क्व स यास्यति । भयं मुञ्च सुविश्रब्धो भवास्मिन्नासने सुखम् ॥४८८॥
जामातुरथ वाक्येन परित्यज्य रिपोर्भयम् । पुरं सुरवरोद्गीतमध्युवास यमः सुखी ॥४८९॥
विधायान्तकसम्मानं सुरेशोऽन्तःपुरं ययौ । कामभोगसमुद्रेऽसौ तत्र मग्नो महामदः ॥४९०॥
दशास्यचरितं तस्मै यत्प्रेतपतिनोदितम् । वनवासो धनपतेर्भङ्गिनो यश्च संयुगे ॥४९१॥
सर्वमैश्वर्यमत्तस्य विस्मृतं तस्य तत्क्षणात् । अभ्यग्रपठितं शास्त्रं यथाभ्यसनवर्जितम् ॥४९२॥
कृतोपलम्भं स्वप्नेऽपि ज्ञायते वस्तुलेशतः । निरन्वयं तु तस्येदं विस्मृतं पूर्वचोदितम् ॥४९३॥
प्राप्य वा सुरसंगीतपुरस्य पतितां यमः । विसस्मार परिप्राप्तां परिभूतिं दशाननात् ॥४९४॥
मेने च मम सर्वश्रीर्दुहिता रूपशालिनी । सा च गीर्वाणनाथस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥४९५॥
अत्यन्तमन्तरङ्गोऽयं सम्बन्धो महता सह । अतो जन्म कृतार्थं मे प्राप्य शक्रप्रतीक्ष्यताम् ॥४९६॥
ततो महोदयोत्साहः श्रीमानुद्वासितान्तकः । नगरं सूर्यरजसे ददौ किष्किन्धसंज्ञकम् ॥४९७॥
तथार्क्षरजसे किष्कुपुरं परमसंपदम् । प्राप्य गोत्रक्रमायाते नगरे तौ सुखं स्थितौ ॥४९८॥

इच्छा हो सो करें परन्तु अब मैं यमपना अर्थात् यम नामा लोकपालका कार्य नहीं करूँगा ॥४८४॥ विशाल तेजको धारण करनेवाले जिस योधाने पहले युद्धमें वैश्रवणको जीता था उसी योद्धा दशाननने मुझे भी पराजित किया है। यद्यपि मैं चिर काल तक उसके साथ युद्ध करता रहा पर स्थिर नहीं रह सका ॥४८५॥ उस महात्माका शरीर ऐसा जान पड़ता है मानो वीर रससे ही बना हो। वह आकाशके मध्यमें स्थित ग्रीष्मकालीन सूर्यके समान दुर्निरीक्ष्य है अर्थात् उसकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता है ॥४८६॥ यह सुनकर इन्द्र युद्धके लिए उद्यत हुआ परन्तु नीतिकी यथार्थताको जाननेवाले मन्त्रिमण्डलने उसे रोक दिया ॥४८७॥ इन्द्र, यमका जामाता था सो यमकी बात सुन मन्द हास्य करते हुए उसने कहा कि हे मातुल ! दशानन कहाँ जायगा ? तुम भयको छोड़ो और निश्चिन्त होकर इस आसनपर सुखसे बैठो ॥४८८॥ इस प्रकार जामाताके वचनसे शत्रुका भय छोड़कर यम इन्द्रके द्वारा बतलाये हुए नगरमें सुखसे रहने लगा ॥४८९॥ बहुत भारी गर्वको धारण करनेवाला इन्द्र यमका सन्मान कर अन्तःपुरमें चला गया और वहाँ जाकर कामभोग रूपी समुद्रमें निमग्न हो गया ॥४९०॥ यमने दशाननका जो चरित्र इन्द्रके लिए कहा था तथा युद्धमें दशाननसे पराजित होकर वैश्रवणको जो वनवास करना पड़ा था, ऐश्वर्यके मदमें मस्त रहनेवाले इन्द्रके लिए वह सब क्षण भरमें उस प्रकार विस्मृत हो गया जिस प्रकार कि पहले पढ़ा शास्त्र अभ्यास न करनेपर विस्मृत हो जाता है ॥४९१-४९२॥ स्वप्नमें उपलब्ध वस्तुका कुछ तो भी स्मरण रहता है परन्तु इन्द्रके लिए पूर्व कथित बातका निर्मूल विस्मरण हो गया ॥४९३॥ इधर इन्द्रका यह हाल हुआ उधर यम सुरसंगीत नामा नगरका स्वामित्व पाकर दशाननसे प्राप्त हुए तिरस्कारको बिलकुल भूल गया ॥४९४॥ वह मानता था कि मेरी पुत्री सर्वश्री अत्यन्त रूपवती है और इन्द्रको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है ॥४९५॥ इस प्रकार एक बड़े पुरुषके साथ मेरा अन्तरङ्ग सम्बन्ध है इसलिए इन्द्रका सन्मान पाकर मेरा जन्म कृतकृत्य अर्थात् सफल हुआ है ॥४९६॥

तदनन्तर महान् अभ्युदय और उत्साहको धारण करनेवाले दशाननने यमको हटाकर किष्किन्ध नामा नगर सूर्यरजके लिए दिया ॥४९७॥ और ऋक्षरजके लिए परम सम्पत्तिको

---

१. दुरीक्ष्यो म० ।

ते शक्रनगराभिख्ये पुरे काञ्चनसद्मनी[1] । उचितस्वामिसंयुक्ते जग्मतुः परमां श्रियम् ॥४९९॥
सौमालिरपि बिभ्राणः श्रियं कीर्तिं च भूयसीम् । प्रत्यवस्थितसामन्तैः प्रणमद्भिः समुत्तमः ॥५००॥
पूर्यमाणः सदा सेव्यैर्विभवैः प्रतिवासरम् । बन्धुः[2] कुमुदखण्डानां सितपक्षे करैरिव ॥५०१॥
रत्नदामाकुलं तुङ्गं शृङ्गपङ्क्तिविराजितम् । आरुह्य पुष्पकं चारु विमानं कामगत्वरम् ॥५०२॥
युक्तः परमधैर्येण प्राप्तपुण्यफलोदयः । त्रिकूटशिखरं भूत्या परया प्रस्थितः कृती ५०३॥
ततो रक्षोगणास्तस्य प्रमोदं परमं श्रिताः । चित्रालङ्कारसम्पन्ना वरीयोवस्त्रधारिणः ॥५०४॥
जय नन्द चिरं जीव वर्धस्वोदेहि सन्ततम् । इति मङ्गलवाक्यानि प्रयुञ्जाना महारवाः ॥५०५॥
सिंहशार्दूलमातङ्गवाजिहंसादिसंश्रिताः । नाना विभ्रमसंयुक्ताः प्रमोदविकचेक्षणाः ॥५०६॥
बिभ्राणास्त्रिदशाकारं तेजोव्याप्तविहायसः । आलोकितसमस्ताशाः काननाद्रिसमुद्रगाः ॥५०७॥
अदृष्टपारगम्भीरं महाग्राहसमाकुलम् । तमालवनसंकाशं गिरितुङ्गोर्मिसंहतिम् ॥५०८॥
रसातलमिवानेकनागनायकभीषणम् । नानारत्नकरव्रातरञ्जितोद्देशराजितम् ॥५०९॥
पश्यन्तो विस्मयापूर्णाः समुद्रं विविधाद्भुतम् । अनुजग्मुरहो हीति मुहुर्मुखरिताननाः ॥५१०॥

धारण करनेवाला किष्कुपुर नगर दिया। इस प्रकार सूर्यरज और ऋक्षरज दोनों ही अपनी कुलपरम्परासे आगत नगरोंको पाकर सुखसे रहने लगे ॥४९८॥ जिनकी शोभा इन्द्रके नगरके समान थी, और जिनमें सुवर्णमय भवन बने हुए थे ऐसे वे दोनों नगर योग्य स्वामीसे युक्त होकर परम लक्ष्मीको प्राप्त हुए ॥४९९॥ बहुत भारी लक्ष्मी और कीर्तिको धारण करनेवाले दशाननने कृतकृत्य होकर बड़े वैभवके साथ त्रिकूटाचलके शिखरकी ओर प्रस्थान किया। उस समय शत्रु राजा प्रणाम करते हुए उससे मिल रहे थे। वह स्वयं उत्तम था और जिस प्रकार शुक्ल पक्षमें चन्द्रमा किरणोंसे प्रतिदिन पूर्ण होता रहता है उसी प्रकार वह भी प्रतिदिन सेवनीय वैभवसे पूर्ण होता रहता था। रत्नमयी मालाओंसे युक्त, ऊँचे शिखरोंकी पंक्तिसे सुशोभित, सुन्दर और इच्छानुसार गमन करनेवाले पुष्पक विमानपर आरूढ़ होकर वह जा रहा था। वह परम धैर्यसे युक्त था तथा पुण्यके फलस्वरूप अनेक अभ्युदय उसे प्राप्त थे ॥५००-५०३॥

तदनन्तर परम हर्षको प्राप्त, नाना अलङ्कारोंसे युक्त एवं उत्तमोत्तम वस्त्र धारण करनेवाले राक्षसोंके झुण्डके झुण्ड जोर-जोरसे निम्नाङ्कित मङ्गल वाक्योंका उच्चारण कर रहे थे कि हे देव ! तुम्हारी जय हो, तुम समृद्धिको प्राप्त होओ, चिरकाल तक जीते रहो, बढ़ते रहो और निरन्तर अभ्युदयको प्राप्त होते रहो ॥५०४-५०५॥ वे राक्षस, सिंह, शार्दूल, हाथी, घोड़े तथा हंस आदि वाहनोंपर आरूढ़ थे। नाना प्रकारके विभ्रमोंसे युक्त थे। हर्षसे उनके नेत्र फूल रहे थे। वे देवों जैसी आकृतिको धारण कर रहे थे। अपने तेजसे उन्होंने दिशाओंको व्याप्त कर रक्खा था। उनकी प्रभासे समस्त दिशाएँ जगमगा रहीं थी और वे वन, पर्वत तथा समुद्र आदि सर्व स्थानोंमें चल रहे थे ॥५०६-५०७॥ जिसका किनारा नहीं दीख रहा था, जो अत्यन्त गहरा था, बड़े-बड़े ग्राह—मगर-मच्छोंसे व्याप्त था, तमाल वनके समान श्याम था, पर्वतों जैसी ऊँची-ऊँची तरङ्गोंके समूह उठ रहे थे, जो रसातलके समान अनेक बड़े-बड़े नागों—सर्पोंसे भयङ्कर था, और नाना-प्रकारके रत्नोंकी किरणोंके समूहसे अनुरक्त स्थलोंसे सुशोभित था ऐसे अनेक आश्चर्योंसे युक्त समुद्रको देखते हुए वे राक्षस आश्चर्यसे भर रहे थे। अहो, ही, आदि आश्चर्यव्यञ्जक शब्दोंसे उनके मुख बार-बार मुखरित हो रहे थे। इस प्रकार अनेक राक्षस दशाननके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥५०८-५१०॥

१. सद्मनि म० । २. बन्धः म० ।

अथ भास्वन्महाशालां गम्भीरपरिखावृताम् । कुन्दशुभ्रैर्महानीलनीलैर्जालककुक्षिषु ॥५११॥
पद्मरागारुणैरुद्धैः क्वचित्पुष्पमणिप्रभैः । गरुत्मणिसंकाशैरन्यत्र निचितां गृहैः ॥५१२॥
शोभमानां निसर्गेण पुनश्च कृतभूषणाम् । रक्षोनाथागमे भक्तैः पौरैरद्भुतसंमदैः ॥५१३॥
अत्यन्तमधिकां कुर्वन् शोभां गिरिनिभैर्गजैः । महाप्रासादसंकाशैः स्यन्दनै रत्नराजितैः ॥५१४॥
अश्ववृन्दैः क्वणद्धेमचक्रकैश्चलचामरैः । विमानैः शिखरारूढदूराकाशैर्बहुप्रभैः ॥५१५॥
छत्रैः शशाङ्कसंकाशैर्ध्वजैरुद्धूतकोटिभिः । वन्दिवृन्दारकौघेण कृतमङ्गलनिस्वनः ॥५१६॥
वीणावेणुविमिश्रेण शङ्खनादानुगामिना । तूर्यनादेन निःशेषं दिङ्नभोविदितात्मना ॥५१७॥
प्रविवेश निजामीशो लङ्कां शङ्काविवर्जितः । त्रिदशेश इवोदारो दशास्यः शासिता हितः ॥५१८॥
ततो गोत्रक्रमायातनाथदर्शनलालसाः । गृहीत्वार्घं[1] फलैः पुष्पैः पत्रै रत्नैश्च कल्पितम् ॥५१९॥
गृहीतभूषणात्यन्तचारुवस्त्रादिसंपदः । नृत्यद्भिर्गणिकासङ्घै रन्विता नेत्रहारिभिः ॥५२०॥
सर्वे पौराः समागत्य प्रयुक्ताशीर्गिरो मुहुः । [2]आनर्चुः सनमस्कारा यथावृद्धपुरस्सराः ॥५२१॥
विसर्जिताश्च ते तेन संप्राप्तप्रतिमाननाः[3] । यथास्वं निलयं जग्मुस्तद्गुणोत्कीर्तनाननाः ॥५२२॥
अथ तद्भवनं तस्य कौतुकव्याप्तबुद्धिभिः । नारीभिः कृतभूषाभिः पूरितं तद्दिदृक्षुभिः ॥५२३॥
गवाक्षाभिमुखाः काश्चित्त्वरा[4]विस्रस्तवाससः । अन्योऽन्यबाधविच्छिन्नमुक्ताहारविभूषणाः ॥५२४॥

अथानन्तर जिसमें बड़ी-बड़ी शालाएँ देदीप्यमान हो रहीं थीं, जो गम्भीर परिखासे आवृत थी, जो झरोखोंमें लगे हुए मणियोंसे कहीं तो कुन्दके समान सफ़ेद, कहीं महानील मणियोंके समान नील, कहीं पद्मरागमणिके समान लाल, कहीं पुष्परागमणियोंके समान प्रभास्वर और कहीं गरुड़मणियोंके समान गहरे नील वर्णवाले महलोंसे व्याप्त थी। जो स्वभावसे ही सुशोभित थी फिर राक्षसोंके अधिपति दशाननके शुभागमनके अवसरपर आश्चर्यकारी हर्षसे भरे भक्त नागरिकजनोंके द्वारा और भी अधिक सुशोभित की गई थी ऐसी अपनी लङ्का नगरीमें हितकारी उदार शासक दशाननने निःशङ्क हो इन्द्रके समान प्रवेश किया। प्रवेश करते समय दशानन, पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे हाथियों, बड़े-बड़े महलोंके समान रत्नोंसे रञ्जित रथों, जिनकी लगामके स्वर्णमयी छल्ले शब्द कर रहे थे एवं जिनके आजूबाजू चमर ढोले जा रहे थे ऐसे घोड़ों, जिनकी शिखरें दूर तक आकाशमें चली गई थीं ऐसे रङ्गबिरङ्गे विमानों, चन्द्रमाके समान उज्ज्वल छत्रों, और जिनका अञ्चल आकाशमें दूर-दूर तक फहरा रहा था ऐसी ध्वजाओंसे लङ्काकी शोभाको अत्यन्त अधिक बढ़ा रहा था। उत्तमोत्तम चारणोंके झुण्ड मङ्गल शब्दोंका उच्चारण कर रहे थे। वीणा, बाँसुरी और शङ्खोंके शब्दसे मिश्रित तुरहीकी विशालध्वनिसे समस्त दिशा और आकाश व्याप्त हो रहे थे ॥५११-५१८॥

तदनन्तर कुलक्रमसे आगत स्वामीके दर्शन करनेकी जिनकी लालसा बढ़ रही थी, जिन्होंने आभूषण तथा अत्यन्त सुन्दर वस्त्रादि सम्पदाएँ धारण कर रक्खी थीं और जो नृत्य करती हुई नयनाभिराम गणिकाओंके समूहसे युक्त थे, ऐसे समस्त पुरवासी जन, फलों फूलों, पत्तों और रत्नोंसे निर्मित अर्घ लेकर बार-बार आशीर्वादका उच्चारण करते हुए दशाननके समक्ष आये। उन पुरवासियोंने वृद्धजनोंको अपने आगे कर रक्खा था। उन्होंने आते ही दशाननको नमस्कार कर उसकी पूजा की ॥५१९-५२१॥ दशाननने सबका सन्मान कर उन्हें विदा किया और सब अपने मुखोंसे उसीका गुणगान करते हुए अपने-अपने घर गये ॥५२२॥ अथानन्तर जिनकी बुद्धि कौतुकसे व्याप्त हो रही थी और जिन्होंने तरह-तरहके आभूषण धारण कर रक्खे थे ऐसी उसकी दर्शनाभिलाषी स्त्रियोंसे दशाननका घर भर गया ॥५२३॥ उन स्त्रियोंमें कितनी ही स्त्रियाँ झरोखोंके सम्मुख आ रही थीं। शीघ्रताके कारण उनके वस्त्र खुल रहे थे और परस्परकी

१. गृहीतार्घं म० । २. आनतुः म० । ३. प्रतिमानताः म० । ४. त्वरां विभ्रस्त-म० ।

पीनस्तनकृतान्योन्यपीडनाचलकुण्डलाः । [1]रणत्कारि तुलाकोटिवाचालचरणद्वयाः ॥५२५॥
किं न पश्यसि हा मातः पार्श्वतो भव दुर्भगे । देहि मार्गं व्रजामुष्मादपि नारि न शोभसे ॥५२६॥
निगदन्त्येवमादीनि विकचाम्बुरुहाननाः । मुक्त्वा व्यापारजातानि तमैक्षन्त पुराङ्गनाः ॥५२७॥
[2]पुरचूडामणौ गेहे स्वस्मिन् सत्कृतभूषणे । सुखं सान्तः पुरस्तस्थौ कृतान्तस्य विमर्दकः ॥५२८॥
[3]शेषा अपि यथास्थानं स्थिता विद्याधराधिपाः । प्राप्नुवन्तो महानन्दं सततं त्रिदशा इव ॥५२९॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

विविधरत्नसमागमसम्पदः प्रबलशत्रुसमूलविमर्दनम् ।
सकलविष्टपगामि यशः सितं भवति निर्मितनिर्मलकर्मणाम् ॥५३०॥
रिपव उग्रतरा विषयाह्वया अपनयन्ति [4]भुवत्रितये स्मृतिम् ।
बहिरवस्थितशत्रुगणः पुनः सततमानमते[5] पदनन्तरम्[6] ॥५३१॥
इति विचिन्त्य न युक्तमुपासितुं विषयशत्रुगणं पुरुचेतसः ।
अवटमेति जनस्तमसा ततं न तु रवेः किरणैरवभासितम् ॥५३२॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्य प्रोक्ते पद्मचरिते दशग्रीवाभिधानं नामाष्टमं पर्व ॥८॥

धक्काधूमीसे उनके मोतियोंके हार तथा अन्य आभूषण टूट-टूटकर गिर रहे थे ॥५२४॥ कितनी ही स्त्रियाँ अपने स्थूल स्तनोंसे एक दूसरेको पीड़ा पहुँचा रही थीं और उससे उनके कुण्डल हिल रहे थे। कितनी ही स्त्रियोंके दोनों पैर रुनझुन करते हुए नूपुरोंसे झंकृत हो रहे थे ॥५२५॥ कोई स्त्री सामने खड़ी दूसरी स्त्रीसे कह रही थी कि हे माता ! क्या देख नहीं रही हो ? अरी दुर्भगे ! जरा बगलमें हो जा, मुझे भी रास्ता दे दे। कोई कह रही थी कि अरी भली आदमिन ! तू यहाँसे चली जा, तू यहाँ शोभा नहीं देती ॥५२६॥ इत्यादि शब्द वे स्त्रियाँ कर रहीं थीं। उस समय उनके मुखकमल हर्षसे खिल रहे थे। वे अन्य सब काम छोड़कर एक दशाननको ही देख रहीं थीं ॥५२७॥ इस प्रकार यमका मानमर्दन करनेवाला दशानन, लङ्का नगरीमें स्थित चूडामणिके समान मनोहर अपने सुसज्जित महलमें अन्तःपुर सहित सुखसे रहने लगा ॥५२८॥ इसके सिवाय अन्य विद्याधर राजा भी देवोंके समान निरन्तर महा आनन्दको प्राप्त हुए यथायोग्य स्थानोंमें रहने लगे ॥५२९॥

गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! जो निर्मल कार्य करते हैं उन्हें नाना-प्रकारके रत्नादि सम्पदाओंकी प्राप्ति होती है, उनके प्रबल शत्रुओंका समूह नष्ट होता है और समस्त संसारमें फैलनेवाला उज्ज्वल यश उन्हें प्राप्त होता है ॥५३०॥ पञ्चेन्द्रियोंके विषय सबसे प्रबल शत्रु हैं सो जो निर्मल कार्य करते हैं उनके ये प्रबल शत्रु भी तीनों लोकोंमें अपनी स्मृति नष्ट कर देते हैं अर्थात् इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं कि उनका स्मरण भी नहीं रहता। इसी प्रकार बाह्यमें स्थित होनेवाला जो शत्रुओंका समूह है वह भी निर्मल कार्य करनेवाले मनुष्योंके चरणोंके समीप निरन्तर नमस्कार करता रहता है। भावार्थ—निर्मल कार्य करनेवाले मनुष्योंके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों ही शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥५३१॥ ऐसा विचारकर हे श्रेष्ठ चित्तके धारक पुरुषो ! विषयरूपी शत्रु समूहकी उपासना करना उचित नहीं है। क्योंकि उनकी उपासना करनेवाला मनुष्य अन्धकारसे युक्त नरकरूपी गर्तमें पड़ता है न कि सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशमान उत्तम स्थानको प्राप्त होता है ॥५३२॥

इसप्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्यनिर्मित पद्मचरित ग्रन्थमें दशाननका कथन करनेवाला अष्टम पर्व समाप्त हुआ ॥८॥

---

१. रणत्करि म० । २. पुरे चूडामणौ म०, पुरश्चूडामणौ ब० । ३. शेषाश्चापि म० । ४. सुवस्तुनये म०, ब० । ५. -मानयते म० । ६. यततं नरम् म०, ब० ।

नवमं पर्व

अथ सूर्यरजाः[1] पुत्रं बालिसंज्ञमजीजनत् । इन्दुमालिन्यभिख्यायां[2] गुणसम्पूर्णयोषिति ॥१॥
परोपकारिणं नित्यं तथा[3] शीलयुतं बुधम्[4] । दक्षं धीरं श्रिया युक्तं शूरं ज्ञानसमन्वितम्[5] ॥२॥
कलाकलापसंयुक्तं सम्यग्दृष्टिं[6] महाबलम् । राजनीतिविदं वीरं कृपार्द्रीकृतचेतसम् ॥
[7]विद्यासमूहसम्पन्नं कान्तिमन्तं सुतेजसम्[8] ॥३॥
विरलस्तादृशां लोके पुरुषाणां[9] समुद्भवः । चन्दनानामिवोदारः प्रभावः प्रथितात्मनाम् ॥४॥
समस्तजिनबिम्बानां नमस्कारार्थमुद्यतः । [10]त्रिकालतीर्णसंदेहो भक्त्या युक्तोऽत्युदारया ॥५॥
चतुःसमुद्रपर्यन्तं जम्बूद्वीपं क्षणेन यः । [11]त्रिःपरिक्षिप्य किष्किन्धं नगरं पुनरागमत् ॥६॥
ईदृक्पराक्रमाधारः [12]शत्रुपक्षस्य मर्दकः । पौरनेत्रकुमुद्वत्याः शशाङ्कः शङ्कयोज्झितः ॥७॥
किष्किन्धनगरे रम्ये चित्रप्रासादतोरणे । विद्वज्जनसमाकीर्णे द्विपवाजिवराकुले ॥८॥
नानासंव्यवहाराभिरापणालीभिराकुले । रेमे कल्पे तथैशाने रत्नमालः सुरोत्तमः ॥९॥
अनुक्रमाच्च तस्याभूत् सुग्रीवाभिख्ययानुजः । वीरो धीरो मनोज्ञेन युक्तो रूपेण सन्नयः ॥१०॥

अथानन्तर सूर्यरजने अपनी चन्द्रमालिनी नामक गुणवती रानीमें बाली नामका पुत्र उत्पन्न किया ॥१॥ वह पुत्र परोपकारी था, निरन्तर शीलव्रतसे युक्त रहता था, विद्वान् था, कुशल था, धीर था, लक्ष्मीसे युक्त था, शूर-वीर था, ज्ञानवान् था, कलाओंके समूहसे युक्त था, सम्यग्दृष्टि था, महाबलवान् था, राजनीतिका जानकार था, वीर था, दयालु था, विद्याओंके समूहसे युक्त था, कान्तिमान् था और उत्तम तेजसे युक्त था ॥२-३॥ जिस प्रकार लोकमें उत्कृष्ट चन्दनकी उत्पत्ति विरल अर्थात् कहीं-कहीं ही होती है उसी प्रकार बाली जैसे उत्कृष्ट पुरुषोंका जन्म भी विरल अर्थात् कहीं-कहीं होता है ॥४॥ जिसका समस्त सन्देह दूर हो गया था ऐसा बाली उत्कृष्ट भक्तिसे युक्त होकर तीनों ही काल समस्त जिन-प्रतिमाओंकी वन्दना करनेके लिए उद्यत रहता था ॥५॥ जिसकी चारों दिशामें समुद्र घिरा हुआ है ऐसे जम्बूद्वीपकी वह क्षण भरमें तीन प्रदक्षिणाएँ देकर अपने किष्किन्ध नगरमें वापिस आ जाता था ॥६॥ इस प्रकारके अद्‌भुत पराक्रमका आधारभूत बाली शत्रुओंके पक्षका मर्दन करनेवाला था, पुरवासी लोगोंके नेत्र रूपी कुमुदिनियोंको विकसित करनेके लिए चन्द्रमाके समान था और निरन्तर शङ्कासे दूर रहता था ॥७॥ जहाँ रंग-बिरंगे महलोंके तोरणद्वार थे, जो विद्वज्जनोंसे व्याप्त था, एकसे एक बढ़कर हाथियों और घोड़ोंसे युक्त था, और अनेक प्रकारके व्यापारोंसे युक्त बाजारोंसे सहित था ऐसे मनोहर किष्किन्ध नगरमें वह बाली इस प्रकार क्रीड़ा करता था जिस प्रकार कि ऐशान स्वर्गमें रत्नोंकी माला धारण करनेवाला इन्द्र क्रीड़ा किया करता है ॥८-९॥

अनुक्रमसे बालीके सुग्रीव नामका छोटा भाई उत्पन्न हुआ । सुग्रीव भी अत्यन्त धीर

---

१. सूर्यरजा म० । सूर्यरजः ख० । २. चन्द्रमालिन्य-म० । ३. दयाशील म० । यथाशील- म० । ४. बुधाः क० । ५. शूरं ज्ञानसमन्वितम् म० । ६. सम्यग्दृष्टिं महाबलम् म० । ७. विद्यासमूहसंपन्नं कान्तिमन्तं सुतेजसम् क०, ख०, म० । ८. एष श्लोकः षट्पादात्मकः, रामायणमहाभारतादिषु षट्पादात्मका अपि अनुष्टुप्श्लोका दृश्यन्ते । ९. पुरुषाणां च समुद्भवः म० । १०. त्रिकाले क० । ११. त्रिः परीत्य म०, म पुस्तके एष श्लोकः 'त्रिकालतीर्ण संदेह—इत्यारभ्य-पुनरागमत्' पर्यन्तं षट्पादात्मको वर्तते । १२. शत्रुपक्ष-विमर्दकः ख० ।

विज्ञेयौ वालिसुग्रीवौ किष्किन्धकुलभूषणौ । तयोस्तु भूषणीभूता विनयप्रमुखा गुणाः ॥११॥
सुग्रीवानन्तरा कन्या [1]रूपेणाप्रतिमा भुवि । श्रीप्रभेति समुद्भूता [2]क्रमशः श्रीरिव स्वयम् ॥१२॥
किष्कुप्रमोदनगरे हरिकान्ताख्ययोषिति[3] । क्रमादृक्षरजाः पुत्रौ नलनीलावजीजनत् ॥१३॥
वितीर्णस्वजनानन्दौ रिपुशङ्कावितारिणौ । उदात्तगुणसंभारौ भूतौ तौ किष्कुमण्डनौ ॥१४॥
यौवनश्रियमालोक्य सुतस्य स्थितिपालिनीम् । विषमिश्रान्नसदृशान्विदित्वा विषयान् बुधः ॥१५॥
वितीर्य बालये राज्यं धर्मपालनकारणम् । सुग्रीवाय च सच्चेष्टो युवराजपदं कृती ॥१६॥
अवगम्य परं स्वं च जनं साम्येन सज्जनः । चतुर्गति जगज्ज्ञात्वा महादुःखनिपीडितम् ॥१७॥
मुनेः पिहितमोहस्य शिष्यः सूर्यरजा अभूत् । यथोक्तचरणाधारः शरीरेऽपि गतस्पृहः ॥१८॥
नभोवदमलस्वान्तः सङ्गमुक्तः समीरवत् । विजहार स निष्क्रोधो धरण्यां मुक्तिलालसः ॥१९॥
अथ बालेर्ध्रुवा नाम्ना साध्वी पाणिगृहीत्यभूत् । अङ्गनानां शतस्यापि प्राधान्यं या गुणोदयात् ॥२०॥
तया सह महैश्वर्यं सोऽन्वभूच्चारुविभ्रमः । श्रीवानराङ्कमुकुटः पूजिताज्ञः खगाधिपैः ॥२१॥
अत्रान्तरे छलान्वेषी मेघप्रभशरीरजः । हर्तुमिच्छति तां कन्यां लङ्केशस्य [4]सहोदराम् ॥२२॥
यदैव तेन सा दृष्टा सर्वगात्रमनोहरा । तदा प्रभृत्ययं देहमधत्तानङ्गपीडितम् ॥२३॥

वीर, नीतिज्ञ एवं मनोहर रूपसे युक्त था ॥१०॥ बाली और सुग्रीव-दोनों ही भाई किष्किन्ध नगरके कुलभूषण थे और विनय आदि गुण उन दोनोंके आभूषण थे ॥११॥ सुग्रीवके बाद श्रीप्रभा नामकी कन्या उत्पन्न हुई जो पृथिवीमें रूपसे अनुपम थी तथा साक्षात् श्री अर्थात् लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ॥१२॥

सूर्यरजका छोटा भाई ऋक्षरज किष्कुप्रमोद नामक नगरमें रहता था। सो उसने वहाँ हरिकान्ता नामक रानीमें क्रमसे नल और नील नामक दो पुत्र उत्पन्न किये ॥१३॥ ये दोनों ही पुत्र आत्मीय जनोंको आनन्द प्रदान करते थे, शत्रुओंको भय उत्पन्न करते थे, उत्कृष्ट गुणोंसे युक्त थे और किष्कुप्रमोद नगरके मानो आभूषण ही थे ॥१४॥ विद्वान् कुशल एवं समीचीन चेष्टाओंको धारण करनेवाले सूर्यरजने जब देखा कि पुत्रकी यौवन लक्ष्मी कुल-मर्यादाका पालन करनेमें समर्थ हो गई है, तब उसने पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंको विषमिश्रित अन्नके समान त्याज्य समझकर धर्म रक्षाका कारणभूत राज्य बालीके लिए दे दिया और सुग्रीवको युवराज बना दिया ॥१५-१६॥ सत्पुरुष सूर्यरज स्वजन और परिजनको समान जान तथा चतुर्गति रूप संसारको महा दुःखोंसे पीड़ित अनुभवकर पिहितमोह नामक मुनिराजका शिष्य हो गया। जिनेन्द्र भगवान्ने मुनियोंका जैसा चारित्र बतलाया है सूर्यरज वैसे ही चारित्रका आधार था। वह शरीरमें भी निःस्पृह था। उसका हृदय आकाशके समान निर्मल था, वह वायुके समान निःसङ्ग था, क्रोध रहित था और केवल मुक्तिकी ही लालसा रखता हुआ पृथिवीमें विहार करता था ॥१७-१९॥

अथानन्तर बालीकी ध्रुवा नामकी शीलवती स्त्री थी। वह ध्रुवा अपने गुणोंके अभ्युदयसे उसकी अन्य सौ स्त्रियोंमें प्रधानताको प्राप्त थी ॥२०॥ जिसके मुकुटमें वानरका चिह्न था, तथा विद्याधर राजा जिसकी आज्ञा बड़े सन्मानके साथ मानते थे ऐसा सुन्दर विभ्रमको धारण करने वाला बाली उस ध्रुवा रानीके साथ महान् ऐश्वर्यका अनुभव करता था ॥२१॥ इसी बीचमें मेघप्रभका पुत्र खरदूषण जो निरन्तर छलका अन्वेषण करता था दशाननकी बहिन चन्द्रनखाका अपहरण करना चाहता था ॥२२॥ जिसका सर्व शरीर सुन्दर था ऐसी चन्द्रनखाको जिस समयसे खरदूषणने देखा था उसी समयसे उसका

---

१. रूपेण प्रतिमा म० । २. समतः क० । ३. योषिता म० । ४. चन्द्रनखाम् ।

आवल्यां प्रवराज्जातां कन्यां नाम्ना तनूदरीम् । गतः [1]स्तेनयितुं याव[2]द्यमस्य परिमर्दकः ॥२४॥
ज्ञात्वाथ [3]निष्प्रभिस्तावल्लङ्कां वीतदशाननाम् । सुखं चन्द्रनखां जह्रे विद्यामायाप्रवीणधीः ॥२५॥
शूरौ किं कुरुतामत्र भानुकर्णविभीषणौ । यत्रारिश्छिद्रमासाद्य कन्यां हरति मायया ॥२६॥
पृष्ठतश्च [4]ततः सैन्यं[5]गच्छत्ताभ्यां निवर्तितम् । जीवन्नेष रणे शक्यो गृहीतुं नेति चेतसा ॥२७॥
शुश्राव चागतो वार्तां तादृशीं कैकसीसुतः । जगाम च [6]दुरीक्ष्यत्वं कोपावेशात् सुभीषणात् ॥२८॥
तत आगमनोद्भूतश्रमप्रस्वेदबिन्दुषु । स्थितेष्वेव पुनर्गन्तुमुद्यतो मानचोदितः ॥२९॥
सहायं खड्गमेकं च जग्राहान्यपराङ्मुखः । अन्तरङ्गः स एवैकः संग्रामे वीर्यशालिनाम् ॥३०॥
तावन्मन्दोदरी बद्ध्वा करद्वयसरोरुहम् । व्यज्ञापयदिति व्यक्तज्ञातलौकिकसंस्थितिः ॥३१॥
कन्या नाम प्रभो देया परस्मायेव निश्चयात् । उत्पत्तिरेव तासां हि तादृशी सार्वलौकिकी ॥३२॥
खेचराणां सहस्राणि सन्ति तस्य चतुर्दश । ये वीर्यकृतसन्नाहाः समरादनिवर्तिनः ॥३३॥
बहून्यस्य सहस्राणि विद्यानां दर्पशालिनः । सिद्धानीति न किं लोकाद्भवता श्रवणे कृतम् ॥३४॥
प्रवृत्ते दारुणे युद्धे भवतोः समशौर्ययोः । सन्देह एव जायेत जयस्यान्यतरं प्रति ॥३५॥
कथञ्चिच्च हतेऽप्यस्मिन् कन्याहरणदूषिता । अन्यस्मै नैव विश्राण्या केवलं [7]विधवीभवेत् ॥३६॥
किं च सूर्यरजोमुक्ते त्वत्पुरे [8]प्रत्यवस्थितम् । अलंकारोदये नाम्ना चन्द्रोदरनभश्चरम् ॥३७॥

शरीर कामसे पीडित हो गया था ॥२३॥ एक दिन यमका मान मर्दन करनेवाला दशानन राजा प्रवरकी आवली रानीसे समुत्पन्न तनूदरी नामा कन्या का अपहरण करनेके लिए गया था ॥२४॥ सो विद्या और माया दोनोंमें ही कुशल खरदूषणने लङ्काको दशाननसे रहित जान कर चन्द्रनखाका सुखपूर्वक—अनायास ही अपहरण कर लिया ॥२५॥ यद्यपि शूरवीर भानुकर्ण और विभीषण दोनों ही लंकामें विद्यमान थे पर जब शत्रु मायासे छिद्र पाकर कन्याका अपहरण कर रहा था तब वे क्या करते ? ॥२६॥ उसके पीछे जो सेना जा रही थी भानुकर्ण और विभीषणने उसे यह सोचकर लौटा लिया कि यह जिन्दा युद्धमें पकड़ा नहीं जा सकता ॥२७॥ लङ्कामें वापिस आने पर दशाननने जब यह बात सुनी तो भयंकर क्रोधसे वह दुरीक्ष्य हो गया अर्थात् उसकी ओर देखना कठिन हो गया ॥२८॥ तदनन्तर बाहरसे आनेके कारण उत्पन्न परिश्रमसे उसके शरीर पर पसीने की जो बूँदें उत्पन्न हुई थी वे सूख नहीं पाई थीं, कि अभिमानसे प्रेरित हो वह पुनः जानेके लिए उद्यत हो गया ॥२९॥ उसने अन्य किसीकी अपेक्षा न कर सहायताके लिए सिर्फ एक तलवार अपने साथ ली, सो ठीक ही है क्योंकि युद्धमें शक्तिशाली मनुष्योंका अन्तरङ्ग सहायक वही एक तलवार होती है ॥३०॥ ज्योंही दशानन जानेके लिए उद्यत हुआ त्योंही स्पष्ट रूपसे लोककी स्थिति को जानने वाली मन्दोदरी दोनों हस्त-कमल जोड़कर इस प्रकार निवेदन करने लगी ॥३१॥ कि हे नाथ ! निश्चयसे कन्या दूसरेके लिए ही दी जाती है क्योंकि समस्त संसारमें उनकी उत्पत्ति ही इस प्रकारकी होती है ॥३२॥ खरदूषणके पास चौदह हजार विद्याधर हैं जो अत्यधिक शक्तिशाली तथा युद्धसे कभी पीछे नहीं हटने वाले हैं ॥३३॥ इसके सिवाय उस अहंकारीको कई हजार विद्याएँ सिद्ध हुई हैं यह क्या आपने लोगोंसे नहीं सुना ? ॥३४॥ आप दोनों ही समान शक्तिके धारक हो अतः दोनोंके बीच भयंकर युद्ध होने पर एक दूसरेके प्रति विजयका सन्देह ही रहेगा ॥३५॥ यदि किसी तरह वह मारा भी गया तो हरणके दोषसे दूषित कन्या दूसरेके लिए नहीं दी जा सकेगी, उसे तो मात्र विधवा ही रहना पड़ेगा ॥३६॥ इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि तुम्हारे अलंकारोदय

१. चोरयितुम् । गतस्ते नयितुम् म० । २. रावणः । ३. खरदूषणः । ४. गतं म० । ५. गच्छताभ्यां म० । ६. दुरीक्षत्वं म० । ७. अविधवा विधवा संपद्यमाना भवेदिति विधवीभवेत् । विधवा भवेत् म०, ब० विधवीकृता ख० । ८. प्रत्यवस्थितः ब० ।

निर्वास्यासौ स्थितः सार्धं तव स्वस्रा महाबलः । उपकारित्वमेतस्मात्संप्राप्तः स्वजनः स ते ॥३८॥
ततो दशाननोऽवादीत् प्रिये युद्धाद् बिभेमि न । स्थितस्त्वद्वचने किन्तु शेषैरेवास्मि कारणैः ॥३९॥
अथ चन्द्रोदरे कालं प्राप्ते कर्मनियोगतः । वनितास्यानुराधाख्या[1] वराकी शरणोज्झिता ॥४०॥
हृतश्चेतश्च विद्याया बलेनाथ विवर्जिता । अन्तर्वत्नी वने भीमे बभ्राम हरिणी यथा ॥४१॥
असूत च सुतं कान्तं मणिकान्तमहीधरे । मृदुपल्लवपुष्पौघच्छन्ने समशिलातले ॥४२॥
ततोऽसौ क्रमतो वृद्धिं नीतो विपिनवासया । उद्विग्नचित्तया मात्रा तदाशास्थितजीवया ॥४३॥
[2]यतोऽयं प्रतिपक्षेण गर्भ एव विराधितः । ततो विराधिताभिख्यां प्रापितो भोगवर्जितः ॥४४॥
न तस्य गौरवं चक्रे कश्चिदप्यवनौ नरः । प्रच्युतस्य निजस्थानात् केशस्येवोत्तमाङ्गतः ॥४५॥
प्रतिकर्तुमशक्तोऽसौ वैरं चित्तेन धारयन् । आचारागतवृत्तिस्थो[3] देशान् पर्यटि वाञ्छितान् ॥४६॥
रेमे वर्षधराग्रेषु काननेषु च चारुषु । तथातिशयदेशेषु गीर्वाणागमनेषु च ॥४७॥
ध्वजच्छत्रादिरम्येषु संकुलेषु गजादिभिः । वीराणां विभ्रमं पश्यन् संग्रामेषु समं सुरैः ॥४८॥
नगर्यामथ लङ्कायां सुरेशस्येव तिष्ठतः । परान् प्राप्नुवतो भोगान् दशवक्त्रस्य भास्वतः ॥४९॥
प्रतिकूलितवानाज्ञां बालिर्बलसमन्वितः । विद्याभिरद्भुतं कर्म कुर्वतीभिरुपासितः ॥५०॥
दशास्येन ततो दूतः प्रेषितोऽस्मै महामतिः । जगाद वानराधीशं स्वामिनो मानमुद्वहन् ॥५१॥

नगरको जब राजा सूर्यरजने छोड़ा था तब चन्द्रोदर नामा विद्याधर तुम्हारी इच्छाके प्रतिकूल उस नगरमें जम गया था सो उसे निकाल कर महाबलवान् खरदूषण तुम्हारी बहिनके साथ उसमें रह रहा है इस प्रकार तुम्हारे स्वजन उससे उपकारको भी प्राप्त हुए हैं ॥३६-३८॥ यह कह कर जब मन्दोदरी चुप हो रही तब दशाननने कहा कि हे प्रिये ! यद्यपि मैं युद्धसे नहीं डरता हूँ तो भी अन्य कारणों को देखता हुआ मैं तुम्हारे वचनोंमें स्थित हूँ अर्थात् तुम्हारे कहे अनुसार उसका पीछा नहीं करता हूँ ॥३९॥

अथानन्तर कर्मोंके नियोगसे चन्द्रोदर विद्याधर कालको प्राप्त हुआ सो उसकी दीन-हीन अनुराधा नामकी गर्भवती स्त्री शरण रहित हो तथा विद्याके बलसे शून्य हो हरिणीकी नांई भयंकर वनमें इधर-उधर भटकने लगी ॥४०-४१॥ वह भटकती-भटकती मणिकान्त नामक पर्वत पर पहुँची । वहाँ उसने कोमल पल्लव और फूलोंके समूहसे आच्छादित समशिलातल पर एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया ॥४२॥ तदनन्तर जिसका चित्त निरन्तर उद्विग्न रहता था, और पुत्रकी आशा से ही जिसका जीवन स्थित था ऐसी उस वनवासिनी माताने क्रम-क्रमसे उस पुत्रको बड़ा किया ॥४३॥ चूँकि शत्रुने उस पुत्रको गर्भमें ही विराधित किया था इसलिए भोगोंसे रहित उस पुत्रका माताने विराधित नाम रक्खा ॥४४॥ जिसप्रकार अपने स्थान—मस्तकसे च्युत हुए केशका कोई आदर नहीं करता उसी प्रकार उस विराधितका पृथिवी पर कोई भी आदर नहीं करता था ॥४५॥ वह शत्रुसे बदला लेनेमें समर्थ नहीं था इसलिए मनमें ही वैर धारण करता था और कुछ परम्परागत आचारका पालन करता हुआ इच्छित देशोंमें घूमता रहता था ॥४६॥ वह कुलाचलोंके ऊपर, मनोहर वनोंमें तथा जहाँ देवोंका आगमन होता था ऐसे अतिशयपूर्ण स्थानों में क्रीड़ा किया करता था ॥४७॥ वह ध्वजा, छत्र आदिसे सुन्दर तथा हाथियों आदिसे व्याप्त देवोंके साथ होनेवाले युद्धोंमें वीर मनुष्योंकी चेष्टाएँ देखता हुआ घूमता फिरता था ॥४८॥

अथानन्तर उत्कृष्ट भोगोंको प्राप्त करता हुआ देदीप्यमान दशानन लङ्कानगरीमें इन्द्रके समान रहता था ॥४९॥ सो आश्चर्यजनक कार्य करने वाली विद्याओंसे सेवित बलवान् बाली उसकी आज्ञाका अतिक्रम करने लगा ॥५०॥ तदनन्तर दशाननने बालीके पास महाबुद्धिमान् दूत भेजा । सो स्वामीके गर्वको धारण करता हुआ दूत बालीके पास जाकर कहने लगा कि दशानन इस

---

१. -नुरोधाख्या म० । २. अतोऽयं म० । ३. वृत्तस्थो ख० ।

अनन्यसदृशः[1] क्षेत्रे भरतेऽस्मिन् प्रतापवान् । महाबलो महातेजाः श्रीमान्नयविशारदः ॥५२॥
महासाधनसम्पन्न उग्रदण्डो महोदयः । आज्ञापयति देवस्त्वां शत्रुमर्दी दशाननः ॥५३॥
यमारातिं समुद्वास्य भवतोऽर्करजाः पिता । यया किष्किन्धनाथत्वे स्थापितो वानरान्वये ॥५४॥
विस्मृत्य सुकृतं कृत्यं स त्वं जनयितुः परम् । कुरुषे[2] प्रत्यवस्थानमिति साधो[3] न युज्यते ॥५५॥
पितुस्ते सदृशीं प्रीतिमधिकां वा करोम्यहम् । अद्याप्येहि प्रणामं मे कुरु स्थातुं यथासुखम् ॥५६॥
स्वसारं च प्रयच्छेमां श्रीप्रभाख्यां मया सह । सम्बन्धं प्राप्य ते सर्वं भविष्यति सुखावहम् ॥५७॥
इत्युक्ते विमुखं ज्ञात्वा बालिं प्रणमनं प्रति । आननस्य विकारेण दूतः पुनरुदाहरत् ॥५८॥
किमत्र बहुनोक्तेन कुरु शाखामृग श्रुतौ । मदीयं निश्चितं वाक्यमल्पलक्ष्मीविडम्बितः[4] ॥५९॥
कुरु सज्जौ करं दातुमादातुं वायुधं करौ । गृहाण चामरं शीघ्रं ककुभां वा कदम्बकम् ॥६०॥
शिरो नमय चापं[5] वा नयाज्ञां कर्णपूरताम् । मौर्वीं वा दुस्सहारावामात्मजीवितदायिनीम् ॥६१॥
मत्पादजं रजो मूर्ध्नि शिरस्त्रमथवा कुरु । घटयाञ्जलिमुद्वृत्य करिणां वा महाचयम् ॥६२॥
विमुञ्चेषुं धरित्रीं वा भजैकं वेत्रकुन्तयोः । पश्य मेऽङ्घ्रिनखे वक्त्रमथवा खड्गदर्पणे ॥६३॥
ततः परुषवाक्येन दूतस्योद्धूतमानसः । नाम्ना व्याघ्रविलम्बीति बभाण भटसत्तमः ॥६४॥
समस्तधरणीव्यापिपराक्रमगुणोदयः । बालिदेवो न किं यातः कर्णजाहं[6] कुरक्षसः ॥६५॥

भरत क्षेत्रमें अपनी शानी नहीं रखता। वह अतिशय प्रतापी, महाबलवान्, महातेजस्वी, लक्ष्मीसम्पन्न, नीतिमें निपुण, महासाधन सम्पन्न, उग्रदण्ड देने वाला, महान् अभ्युदयसे युक्त, और शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाला है। वह तुम्हें आज्ञा देता है कि ॥५१-५३॥ मैंने यम रूपी शत्रुको हटाकर आपके पिता सूर्यरजको वानरवंशमें किष्किन्धपुरके राजपद पर स्थापित किया था ॥५४॥ तुम उस उपकारको भूलकर पिताके विरुद्ध कार्य करते हो। हे सत्पुरुष! तुम्हें ऐसा करना योग्य नहीं है ॥५५॥ मैं तेरे साथ पिताके समान अथवा उससे भी अधिक प्यार करता हूँ। तू आज भी आ और सुखपूर्वक रहनेके लिए मुझे प्रणामकर ॥५६॥ अथवा अपनी श्रीप्रभा नामक बहिन मेरे लिए प्रदान कर। यथार्थमें मेरे साथ सम्बन्ध प्राप्त कर लेनेसे तेरे लिए समस्त पदार्थ सुखदायक हो जावेंगे ॥५७॥ इतना कहनेपर भी बाली दशाननको नमस्कार करनेमें विमुख रहा। तब मुखकी विकृतिसे रोष प्रकट करता हुआ दूत फिर कहने लगा कि अरे वानर! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है? तू मेरे निश्चित वचन सुन, तू व्यर्थ ही थोड़ी-सी लक्ष्मी पाकर विडम्बना कर रहा है ॥५८-५९॥ तू अपने दोनों हाथोंको या तो कर देनेके लिए तैयार कर या शस्त्र ग्रहण करनेके लिए तैयार कर। तू या तो शीघ्र ही चामर ग्रहण कर अर्थात् दास बनकर दशाननके लिए चामर ढोल या दिशामण्डलको ग्रहण कर अर्थात् दिशाओंके अन्त तक भाग जा ॥६०॥ तू या तो शिरको नम्र कर या धनुषको नम्रीभूत कर। या तो आज्ञाको कानोंमें पूर्ण कर या असहनीय शब्दोंसे युक्त तथा अपना जीवन प्रदान करनेवाली धनुषकी डोरीको कानोंमें पूर्ण कर अर्थात् कानों तक धनुषकी डोरी खींच ॥६१॥ या तो मेरी चरणरजको मस्तकपर धारण कर अथवा शिरकी रक्षा करनेवाला टोप मस्तकपर धारण कर। या तो क्षमा माँगनेके लिए हाथ जोड़कर अञ्जलियाँ बाँध या हाथियोंका बड़ा भारी समूह एकत्रित कर ॥६२॥ या तो बाण छोड़ या पृथिवीको प्राप्त कर। या तो वेत्र ग्रहण कर या भाला ग्रहण कर। या तो मेरे चरणोंके नखोंमें अपना मुख देख या तलवार रूपी दर्पणमें मुख देख ॥६३॥ तदनन्तर दूतके कठोर वचनोंसे जिसका मन उद्धूत हो रहा था ऐसा व्याघ्रविलम्बी नामका प्रमुख योद्धा कहने लगा ॥६४॥ कि रे दूत! जिसके पराक्रम आदि गुणोंका

---

१. अनन्यसदृशो म० । सदृश ख० । २. कुरुते म० । ३. साधोर्न म० । ४. -विडम्बित म० । ५. चापरं ब०, म० । ६. कर्णयोः समीपमिति कर्णजाहम् 'तस्य मूले कुणब्जाहचौ' इति जाहच् प्रत्ययः ।

यद्येवं भाषते[1] व्यक्तं गृहीतो वा ग्रहेण सः । त्वं तु स्वस्थः किमित्येवं दूताधम विकत्थसे ॥६६॥
क्रोधमूर्च्छित इत्युक्त्वा दुःप्रेक्ष्यः[2] स्पष्टवेपथुः । गृह्णानः[3] सायकं रुद्धो बालिनेति च चोदितः ॥६७॥
किं दूतेन वराकेण हतेन प्रेषकारिणा । कुर्वन्त्येते हि नाथीयवचसः प्रतिशब्दकम् ॥६८॥
दशास्यस्यैव कर्तव्यं यदभिप्रायमाश्रितम् । आयुर्नूनमियत्तस्य कुरुते यत्कुभाषितम् ॥६९॥
ततो भीतो[4] भृशं दूतो गत्वा वृत्तान्तवेदनात् । दशास्यस्य परं क्रोधं[5] चक्रे दुःसहतेजसः ॥७०॥
सैन्यावृतश्च संनह्य प्रस्थितस्त्वरया पुरम् । परमाणुभिरारब्धः स हि दर्पमयैरिव ॥७१॥
ततः परबलध्वानं श्रुत्वा व्योमपिधायिनम् । निर्गन्तुं मानसं चक्रे बालिः संग्रामदक्षिणः ॥७२॥
तावत्सागरवृद्ध्यादिमन्त्रिभिर्नयशालिभिः । ज्वलत्क्रोधेन नीतोऽसाविति वागम्बुभिः शमम् ॥७३॥
अकारणेन देवालं विग्रहेण क्षमां कुरु । अनेके हि क्षयं याताः स्वच्छन्दं संयुगप्रियाः ॥७४॥
अर्ककीर्तिभुजाधारा रक्ष्यमाणाः सुरैरपि । अष्टचन्द्राः क्षयं प्राप्ता मेघेश्वरशरोत्करैः[6] ॥७५॥
बहुसैन्यं दुरालोकमसिरत्नगदाधरम् । अतुलां संशयतुलां ततो नारोढुमर्हसि ॥७६॥
जगादेति ततो बालिर्युक्तं नात्मप्रशंसनम् । तथापि परमार्थं वो मन्त्रिणः कथयाम्यहम् ॥७७॥
भ्रूलतोत्क्षेपमात्रेण दशवक्त्रं ससैन्यकम् । शक्तोऽस्मि कणशः कर्तुं वामपाणितलाहतम् ॥७८॥

अभ्युदय समस्त पृथिवीमें व्याप्त हो रहा है ऐसा बाली राजा क्या दुष्ट राक्षसके कर्णमूलको प्राप्त नहीं हुआ है ? अर्थात् उसने बालीका नाम क्या अभी तक नहीं सुना है ? ॥६५॥ यदि वह राक्षस ऐसा कहता है तो वह निश्चित ही भूतोंसे आक्रान्त है । अरे अधम दूत ! तू तो स्वस्थ है फिर क्यों इस तरह तारीफ हाँक रहा है ? ॥६६॥ इस प्रकार कहकर व्याघ्रविलम्बी क्रोधसे मूर्च्छित हो गया । उसकी ओर देखना भी कठिन हो गया । उसका शरीर स्पष्ट रूपसे काँपने लगा । इसी दशामें वह दूतको मारनेके लिए बाण उठाने लगा तो बालीने कहा ॥६७॥ कि कथित बातको कहनेवाले बेचारे दूतके मारनेसे क्या लाभ है ? यथार्थमें ये लोग अपने स्वामीके वचनोंकी प्रतिध्वनि ही करते हैं ॥६८॥ जो कुछ मनमें आया हो वह दशाननका ही करना चाहिए । निश्चय ही दशाननकी आयु अल्प रह गई है इसीलिए तो वह कुवचन कह रहा है ॥६९॥

तदनन्तर अत्यन्त भयभीत दूतने जाकर सब समाचार दशाननको सुनाये और दुःसह तेजके धारक उस दशाननके क्रोधको वृद्धिगत किया ॥७०॥ वह बड़ी शीघ्रतासे तैयार हो सेना साथ ले किष्किन्धपुरकी ओर चला सो ठीक ही है क्योंकि उसकी रचना अहंकारके परमाणुओंसे ही हुई थी ॥७१॥ तदनन्तर आकाशको आच्छादित करनेवाला शत्रुदलका कल-कल शब्द सुनकर युद्ध करनेमें कुशल बालिने महलसे बाहर निकलनेका मन किया ॥७२॥ तब क्रोधसे प्रज्वलित बालिको सागरवृद्धि आदि नीतिज्ञ मन्त्रियोंने वचनरूपी जलके द्वारा इस प्रकार शान्त किया कि हे देव ! अकारण युद्ध रहने दो, क्षमा करो, युद्धके प्रेमी अनेकों राजा अनायास ही क्षयको प्राप्त हो चुके हैं ॥७३–७४॥ जिन्हें अर्ककीर्तिकी भुजाओंका आलम्बन प्राप्त था तथा देव भी जिनकी रक्षा कर रहे थे ऐसे अष्टचन्द्र विद्याधर जयकुमारके बाणोंके समूहसे क्षयको प्राप्त हुए थे ॥७५॥ साथ ही जिसे देखना कठिन था, तथा जो उत्तमोत्तम तलवार और गदाओंको धारण करनेवाली थी ऐसी बहुत भारी सेना भी नष्ट हुई थी इसलिए संशयकी अनुपम तराजूपर आरूढ़ होना उचित नहीं है ॥७६॥ मन्त्रियोंके वचन सुनकर बालीने कहा कि यद्यपि अपनी प्रशंसा करना उचित नहीं है तथापि हे मन्त्रिगणो ! यथार्थ बात आपलोगोंको कहता हूँ ॥७७॥ मैं सेना सहित दशाननको भ्रकुटि रूपी लताके उत्क्षेपमात्रसे बायें हस्ततलकी चपेटसे

१. भाषसे म०, ख०, क० । २. दुःप्रेक्षः म० । ३. गृहाण म० । ४. भीती म० । ५. क्रोधः म० ।
६. मेघस्वरशरोत्करैः ख०, जयकुमारबाणसमूहैः ।

किं तर्हि दारुणं कृत्वा क्रोधाग्निज्वलितं मनः। कर्मणा येन लभ्यन्ते भोगाः क्षणविनश्वराः ॥७९॥
प्राप्य तान् कदलीस्तम्भनिस्साराम् मोहवाहिताः। पतन्ति नरके जीवा महादुःखमहाकुले ॥८०॥
हिंसित्वा जन्तुसंघातं नितान्तं प्रियजीवितम्। दुःखं कृतसुखाभिख्यं प्राप्यते तेन को गुणः ॥८१॥
अरघट्टघटीयन्त्रसदृशाः प्राणधारिणः। शश्वद्भवमहाकूपे भ्रमन्त्यत्यन्तदुःखिताः ॥८२॥
पादद्वयं जिनेन्द्राणां भवनिर्गमकारणम्। प्रणम्य कथमन्यस्य क्रियते प्रणतिर्मया ॥८३॥
प्रबुद्धेन सता चेयं कृता संस्था मया पुरा। अन्यं न प्रणमामीति जिनपादाब्जयुग्मतः ॥८४॥
भङ्गं करोमि नास्थाया न च प्राणिनिपातनम्। गृह्णामि सङ्गनिर्मुक्तां प्रव्रज्यां मुक्तिदायिनीम् ॥८५॥
यौ करौ वरनारीणां कृतौ स्तनतटोचितौ। भुजौ चालिङ्गितौ चारुरत्नकेयूरलक्षणौ ॥८६॥
अरातेर्यः प्रयुङ्क्ते तौ पुरुषोऽञ्जलिबन्धने। ऐश्वर्यं कीदृशं तस्य जीवितं वा हतात्मनः ॥८७॥
इत्युक्त्वाहूय सुग्रीवमुवाच शृणु बालक। कुरु तस्य नमस्कारं मा वा राज्यप्रतिष्ठितः ॥८८॥
स्वसारं यच्छ मा वास्मै न ममानेन कारणम्। एषोऽस्मि निर्गतोऽद्यैव पथ्यं यत्तव तत्कुरु ॥८९॥
इत्युक्त्वा निर्गतो गेहाद् बभूव च निरम्बरः। पार्श्वे गगनचन्द्रस्य गुरोर्गुणगरीयसः ॥९०॥
परमार्थहितस्वान्तःसंप्राप्तपरमोदयः। एकभावरतो वीरः सम्यग्दर्शननिर्मलः ॥९१॥
सम्यग्ज्ञानाभियुक्तात्मा सम्यक्चारित्रतत्परः। अनुप्रेक्षाभिरात्मानं भावयन्मोहवर्जितः ॥९२॥

ही चूर्ण करनेमें समर्थ हूँ ॥७८॥ फिर कठिन मनको क्रोधाग्निसे प्रज्वलित किया जाय तो कहना ही क्या है ? फिर भी मुझे उस कर्मकी आवश्यकता नहीं जिससे कि क्षण-भङ्गुर भोग प्राप्त होते हैं ॥७९॥ मोही जीव केलाके स्तम्भके समान निःसार भोगोंको प्राप्तकर महादुःखसे भरे नरकमें पड़ते हैं ॥८०॥ जिन्हें अपना जीवन अत्यन्त प्रिय है ऐसे जीवोंके समूहको मारकर सुख नामको धारण करनेवाला दुःख ही प्राप्त होता है, अतः उससे क्या लाभ है ? ॥८१॥ ये प्राणी अरहट (रहट) की घटीके समान अत्यन्त दुखी होते हुए संसार रूपी कूपमें निरन्तर घूमते रहते हैं ॥८२॥ संसारसे निकलनेमें कारणभूत जिनेन्द्र भगवान्के चरण युगलको नमस्कार कर अब मैं अन्य पुरुषके लिए नमस्कार कैसे कर सकता हूँ ? ॥८३॥ जब पहले मुझे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ था तब मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंके सिवाय अन्य किसीको नमस्कार नहीं करूँगा ॥८४॥ मैं न तो इस प्रतिज्ञाका भङ्ग करना चाहता हूँ और न प्राणियोंकी हिंसा ही। मैं तो मोक्ष-प्रदान करनेवाली निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण करता हूँ ॥८५॥ जो हाथ उत्तमोत्तम स्त्रियोंके स्तनतटका स्पर्श करनेवाले थे तथा मनोहर रत्नमयी बाजूबन्दोंसे सुशोभित जो भुजाएँ उत्तमोत्तम स्त्रियोंका आलिङ्गन करनेवाली थीं उन्हें जो मनुष्य शत्रुओंके समक्ष अञ्जलि बाँधनेमें प्रयुक्त करता है उस अधमका ऐश्वर्य कैसा ? और जीवन कैसा ? ॥८६-८७॥ इस प्रकार कहकर उसने छोटे भाई सुग्रीवको बुलाकर कहा कि हे बालक ! तू राज्यपर प्रतिष्ठित होकर दशाननको नमस्कार कर अथवा न कर और इसके लिए अपनी बहिन दे अथवा न दे, मुझे इससे प्रयोजन नहीं। मैं तो आज ही घरसे बाहर निकलता हूँ। जो तुझे हितकर मालूम हो वह कर ॥८८-८९॥ इतना कहकर बाली घरसे निकल गया और गुणोंसे श्रेष्ठ गगनचन्द्र गुरुके समीप दिगम्बर हो गया ॥९०॥ अब तो उसने अपना मन परमार्थमें ही लगा रक्खा था। उसे अनेक ऋद्धि आदि अभ्युदय प्राप्त हुए थे। वह एक शुद्ध भावमें ही सदा रत रहता था, परीषहोंके सहन करनेमें शूरवीर था, सम्यग्दर्शनसे निर्मल था अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि था, उसकी आत्मा सदा सम्यग्ज्ञानमें लीन रहती थी, वह सम्यक् चारित्रमें तत्पर रहता था और मोहसे रहित हो अनुप्रेक्षाओंके द्वारा आत्माका चिन्तवन करता रहता था ॥९१-९२॥ सूक्ष्म जीवोंसे रहित तथा निर्मल आचारके धारी महामुनियोंसे सेवित धर्माराधनके योग्य भूमियोमें ही वह विहार करता था। वह जीवों-

१. क्रोधाग्निं ज्वलितं म०। २. अरहट्ट ब०। ३. सदृशं ख०, सदृशो म०।

सूक्ष्मासु[1] मद्विमुक्तासु धर्मानुगुणभूमिषु । मुनिभिर्विमलाचारैः सेवितासु महात्मभिः ॥९३॥
विहरन् सर्वजीवानां दयमानः पिता यथा । बाह्येन तपसान्तःस्थं[2] वर्द्धयन् सततं तपः ॥९४॥
आवासतां महर्द्धीनां परिप्राप्तः प्रशान्तधीः । तपःश्रिया परिष्वक्तः परया कान्तदर्शनः ॥९५॥
उच्चैरुच्चैर्गुणस्थानसोपानारोहणोद्यतः । भित्त्वाध्यात्माखिलग्रन्थग्रन्थिर्ग्रन्थविवर्जितः ॥९६॥
श्रुतेन सकलं पश्यन् कृत्याकृत्यं महागुणः । महासंवरसंपन्नः शातयन् कर्मसन्ततिम् ॥९७॥
प्राणधारणमात्रार्थं भुञ्जानः सूत्रदेशितम् । धर्मार्थं धारयन् प्राणान् धर्मं मोक्षार्थमर्जयन् ॥९८॥
आनन्दं भव्यलोकस्य कुर्वन्नुत्तमविक्रमः । चरितेनोपमानत्वं जगामासौ तपस्विनाम् ॥९९॥
दशग्रीवाय सुग्रीवो वितीर्य श्रीप्रभां सुखी । चकारानुमतस्तेन राज्यमागतमन्वयात् ॥१००॥
विद्याधरकुमार्यो या धावाभूमौ मनोहराः । दशाननः समस्तास्ताः परिणिन्ये पराक्रमात्[3] ॥१०१॥
नित्यालोकेऽथ नगरे नित्यालोकस्य देहजाम् । श्रीदेवीलब्धजन्मानं नाम्नारत्नावलीं[4] सुताम् ॥१०२॥
उपयम्य पुरीं यातो निजां परमसंमदः । नभसा मुकुटन्यस्तरत्नरश्मिविराजिना[5] ॥१०३॥
सहसा पुष्पकं स्तम्भमार[6]मानसचञ्चलम् । मेरोरिव तटं प्राप्य सुमहद्वायुमण्डलम् ॥१०४॥
तस्योच्छिन्नगतेः शब्दे[7] भग्ने घण्टादिजन्मनि । वैलक्ष्यादिव संजातं मौनं पिण्डिततेजसः ॥१०५॥
भग्नप्रवृत्तिमालोक्य विमानं कैकसीसुतः । कः कोऽत्र भो इति क्षिप्रं बभाण क्रोधदीपितः ॥१०६॥
मारीचस्तत आचख्यौ सर्ववृत्तान्तकोविदः । शृणु देवैष कैलासे स्थितः प्रतिमया मुनिः ॥१०७॥

पर पिताके समान दया करता था । बाह्य तपसे अन्तरङ्ग तपको निरन्तर बढ़ाता रहता था ॥९३-९४॥ बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंकी आवासताको प्राप्त था अर्थात् उसमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ निवास करती थीं, प्रशान्त चित्त था, उत्कृष्ट तप रूपी लक्ष्मीसे आलिङ्गित था, अत्यन्त सुन्दर था ॥९५॥ ऊँचे-ऊँचे गुणस्थान रूपी सीढ़ियोंके चढ़ने में उद्यत रहता था, उसने अपने हृदयमें समस्त ग्रन्थोंकी ग्रन्थियाँ अर्थात् कठिन स्थल खोल रक्खे थे, समस्त प्रकारके परिग्रहसे रहित था ॥९६॥ वह शास्त्रके द्वारा समस्त कृत्य और अकृत्यको समझता था । महागुणवान् था, महासंवरसे युक्त था, और कर्मोंकी सन्ततिको नष्ट करनेवाला था ॥९७॥ वह प्राणोंकी रक्षाके लिए ही आगमोक्त विधिसे आहार ग्रहण करता था, धर्मके लिए ही प्राण धारण करता था और मोक्षके लिए ही धर्मका अर्जन करता था ॥९८॥ वह भव्य जीवोंको सदा आनन्द उत्पन्न करता था, उत्कृष्ट पराक्रमका धारी था और अपने चारित्रसे तपस्वीजनोंका उपमान हो रहा था ॥९९॥

इधर सुग्रीव दशाननके लिए श्रीप्रभा बहिन देकर उसकी अनुमतिसे सुखपूर्वक वंशपरम्परागत राज्यका पालन करने लगा ॥१००॥ पृथ्वीपर विद्याधरोंकी जो सुन्दर कुमारियाँ थीं दशाननने अपने पराक्रमसे उन सबके साथ विवाह किया ॥१०१॥ अथानन्तर एक बार दशानन नित्यालोक नगरमें राजा नित्यालोककी श्रीदेवीसे समुत्पन्न रत्नावली नामकी पुत्रीको विवाह कर बड़े हर्षके साथ आकाश मार्गसे अपनी नगरीकी ओर आ रहा था । उस समय उसके मुकुटमें जो रत्न लगे थे उनकी किरणोंसे आकाश सुशोभित हो रहा था ॥१०२-१०३॥ जिस प्रकार बड़ा भारी वायुमण्डल मेरुके तटको पाकर सहसा रुक जाता है उसी प्रकार मनके समान चञ्चल पुष्पक विमान सहसा रुक गया ॥१०४॥ जब पुष्पक विमानकी गति रुक गई और घण्टा आदिसे उत्पन्न होने वाला शब्द भंग हो गया तब ऐसा जान पड़ता था मानो तेजहीन होनेसे लज्जा के कारण उसने मौन ही ले रक्खा था ॥१०५॥ विमानको रुका देख दशाननने क्रोधसे दमकते हुए कहा कि अरे यहां कौन है ? कौन है ? ॥१०६॥ तब सर्व वृत्तान्तको जानने वाले मारीचने कहा कि हे देव ! सुनो, यहाँ कैलास पर्वत पर एक मुनिराज प्रतिमा योगसे विराजमान हैं ॥१०७॥

१. सूक्ष्मप्राणिरहितासु । २. तपसान्तस्थं म० । ३. परिक्रमात म० । ४. रम्भावलीं म० । ५. विराजिताम् म० । ६. जगाम । ७. शब्दभग्ने ।

आदित्याभिमुखस्तस्य करानात्मकरैः किरन् । समे शिलातले रत्नस्तम्भाकारोऽवतिष्ठते ॥१०८॥
कोऽप्ययं सुमहान् वीरः सुघोरं धारयंस्तपः । मुक्तिमाकाङ्क्षति क्षिप्रं वृत्तान्तोऽयमतोऽभवत् ॥१०९॥
निवर्तयाम्यतो देशाद्विमानं निर्विलम्बितम् । मुनेरस्य प्रभावेन यावन्नायाति खण्डशः ॥११०॥
श्रुत्वा मारीचवचनमथ कैलासभूधरम् । ईक्षाञ्चक्रे यमध्वंसः स्वपराक्रमगर्वितः ॥१११॥
नानाधातुसमाकीर्णं गणैर्युक्तं सहस्रशः । सुवर्णघटनारम्यं पदपंक्तिभिराचितम् ॥११२॥
प्रकृत्यनुगतैर्युक्तं विकारैर्विलसंयुतम् । स्वरैर्बहुविधैः पूर्णं लब्धव्याकरणोपमम् ॥११३॥
तीक्ष्णैः शिखरसंघातैः खण्डयन्तमिवाम्बरम् । उत्सर्पच्छीकरैः स्पष्टं हसन्तमिव निर्झरैः ॥११४॥
मकरन्दसुरामत्तमधुव्रतपरैर्धितम् । शालौघविततकाशं नानानोकहसंकुलम् ॥११५॥
सर्वर्तुजमनोहारिकुसुमादिभिराचितम् । धरप्रमोदवत्सत्त्वसहस्रसदुपत्यकम् ॥११६॥
औषधत्रासदूरस्थव्यालजालसमाकुलम् । मनोहरेण गन्धेन दधतं यौवनं सदा ॥११७॥
शिलाविस्तीर्णहृदयं स्थूलवृक्षमहाभुजम् । गुहागम्भीरवदनमपूर्वपुरुषाकृतिम् ॥११८॥

ये सूर्यके सम्मुख विद्यमान हैं और अपनी किरणोंसे सूर्यकी किरणोंको इधर-उधर प्रक्षिप्त कर रहे हैं। समान शिलातल पर ये रत्नोंके स्तम्भके समान अवस्थित हैं ॥१०८॥ घोर तपश्चरणको धारण करने वाले ये कोई महान् वीर पुरुष हैं और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं। इन्हींसे यह वृत्तान्त हुआ है ॥१०९॥ इन मुनिराजके प्रभावसे जब तक विमान खण्ड-खण्ड नहीं हो जाता है, तब तक शीघ्र ही इस स्थानसे विमानको लौटा लेता हूँ ॥११०॥ अथानन्तर मारीचके वचन सुनकर अपने पराक्रमके गर्वसे गर्वित दशाननने कैलास पर्वतकी ओर देखा ॥१११॥ वह कैलास पर्वत व्याकरणकी उपमा प्राप्त कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार व्याकरण भू आदि अनेक धातुओं से युक्त है उसी प्रकार वह पर्वत भी सोना चाँदी आदि अनेक धातुओंसे युक्त था। जिसप्रकार व्याकरण हजारों गणों—शब्द समूहोंसे युक्त है उसी प्रकार वह पर्वत भी हजारों गणों अर्थात् साधु समूहोंसे युक्त था। जिस प्रकार व्याकरण सुवर्ण अर्थात् उत्तमोत्तम वर्णोंकी घटनासे मनोहर है उसी प्रकार वह पर्वत भी सुवर्ण अर्थात् स्वर्णकी घटनासे मनोहर था। जिस प्रकार व्याकरण पदों अर्थात् सुबन्त तिङन्त रूप शब्दसमुदायसे युक्त है उसी प्रकार वह पर्वत भी अनेक पदों अर्थात् स्थानों या प्रत्यन्त पर्वतों अथवा चरणचिह्नोंसे युक्त था ॥११२॥ जिस प्रकार व्याकरण प्रकृति अर्थात् मूल शब्दोंके अनुरूप विकारों अर्थात् प्रत्ययादि जन्य विकारोंसे युक्त है उसी प्रकार वह पर्वत भी प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक रचनाके अनुरूप विकारोंसे युक्त था। जिस प्रकार व्याकरण विल अर्थात् मूलसूत्रोंसे युक्त है उसीप्रकार वह पर्वत भी विल अर्थात् ऊषरपृथिवी अथवा गर्त आदिसे युक्त था। और जिस प्रकार व्याकरण उदात्त-अनुदात्त-स्वरित आदि अनेक प्रकारके स्वरोंसे पूर्ण है उसी प्रकार वह पर्वत भी अनेक प्रकारके स्वरों अर्थात् प्राणियोंके शब्दोंसे पूर्ण था ॥११३॥ वह अपने तीक्ष्ण शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशके खण्ड ही कर रहा था। और ऊपरकी ओर उछलते हुए छींटोंसे युक्त निर्झरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो हँस ही रहा हो ॥११४॥ मकरन्द रूपी मदिरासे मत्त भ्रमरोंके समूहसे वह पर्वत कुछ बढ़ता हुआ सा जान पड़ता था। शालाओंके समूहसे उसने आकाशको व्याप्त कर रक्खा था। साथ ही नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त था ॥११५॥ वह सर्व ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पुष्प आदिसे व्याप्त था तथा उसकी उपत्यकाओंमें हर्षसे भरे हजारों प्राणी चलते-फिरते दिख रहे थे ॥११६॥ वह पर्वत औषधियोंके भयसे दूर स्थित सर्पोंके समूहसे व्याप्त था तथा मनोहर सुगन्धिसे ऐसा जान पड़ता था मानो सदा यौवनको ही धारण कर रहा हो ॥११७॥ बड़ी-बड़ी शिलाएँ ही उसका

१. गुणै- ब० । २. विलम्-उषरं मूलसूत्रं च (टिप्पणम्) । ३. -मिवाधरम् म० । ४. परिस्थितम् ख० ।

शरत्पयोधराकारतटसंघातसंकटम् । क्षीरेणेव जगत्सर्वं क्षालयन्तं करोत्करैः ॥११९॥
क्वचिद्विश्रब्धसंसुप्तमृगाधिपदरीमुखम् । क्वचित्सुप्तशयुश्वासवाताघूर्णितपादपम् ॥१२०॥
क्वचित्परिसर[1]क्रीडत्कुरङ्गककदम्बकम् । क्वचिन्मत्तद्विपव्रातकलिताधित्यकावनम् ॥१२१॥
क्वचित्पुलकिताकारं प्रसूनप्रकराचितम् । क्वचिदृक्षसटाभारैरुद्धतैर्भीषणाकृतिम् ॥१२२॥
क्वाचित्पद्मवनेनेव[2] युक्तं शाखामृगाननैः । क्वचित्खड्गि[3]क्षतस्यन्दिसालादिसुरभीकृतम् ॥१२३॥
क्वचिद्विद्युल्लताश्लिष्ट[4]संभवद्घनसन्ततिम् । क्वचिद्दिवाकराकारशिखरै[5]रोद्द्योतिताम्बरम् ॥१२४॥
पाण्डुकस्येव कुर्वाणं विजिगीषां क्वचिद्वनैः । सुरभिप्रसवोत्तुङ्गविस्तीर्णघनपादपैः ॥१२५॥
अवतीर्णश्च तत्रासावपश्यत्तं महामुनिम् । ध्यानार्णवसमाविष्टं तेजसाबद्धमण्डलम् ॥१२६॥
आशाकरिकराकारप्रलम्बितभुजद्वयम् । पन्नगाभ्यामिवाश्लिष्टं महाचन्दनपादपम् ॥१२७॥
आतापनशिलापीठमस्तकस्थं सुनिश्चलम् । कुर्वाणं प्राणिविषयं संशयं प्राणधारिणम् ॥१२८॥
ततो बालिरसावेष इति ज्ञात्वा दशाननः । अतीतं संस्मरन् वैरं जज्वाल क्रोधवह्निना ॥१२९॥
बद्ध्वा च भृकुटीं भीमां दष्टोष्ठः प्रखरस्वरः । बभाण भासुराकारो मुनिमेवं सुनिर्भयः ॥१३०॥
अहो शोभनमारब्धं त्वया कर्तुमिदं तपः । यदद्याप्यभिमानेन विमानं स्तम्भ्यते मम ॥१३१॥

लम्बा चौड़ा वक्षःस्थल था, बड़े-बड़े वृक्ष ही उसकी महाभुजाएँ थीं और गुफाएँ ही उसका गंभीर मुख थीं इस प्रकार वह पर्वत अपूर्व पुरुषकी आकृति धारण कर रहा था ॥११८॥ वह शरद्ऋतुके बादलोंके समान सफेद-सफेद किनारोंके समूहसे व्याप्त था तथा किरणोंके समूहसे ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त संसारको दूधसे ही धो रहा हो ॥११९॥ कहीं उसकी गुफाओंमें सिंह निःशङ्क होकर सो रहे थे और कहीं सोये हुए अजगरोंकी श्वासोच्छ्वासकी वायुसे वृक्ष हिल रहे थे ॥१२०॥ कहीं उसके किनारोंके वनोंमें हरिणोंका समूह क्रीड़ा कर रहा था और कहीं उसकी अधित्यकाके वनोंमें मदोन्मत्त हाथियोंके समूह स्थित थे ॥१२१॥ कहीं फूलोंके समूहसे व्याप्त होनेके कारण ऐसा जान पड़ता था मानो उसके रोमाञ्च ही उठ रहे हों और कहीं उद्धत रीछोंकी लम्बी-लम्बी सटाओंसे उसका आकार भयंकर हो रहा था ॥१२२॥ कहीं बन्दरोंके लाल-लाल मुँहोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो कमलोंके वनसे ही युक्त हो और कहीं गेंडा हाथियोंके द्वारा खण्डित साल आदि वृक्षोंसे जो पानी झर रहा था उससे सुगन्ध फैल रही थी ॥१२३॥ कहीं बिजली रूपी लताओंसे आलिङ्गित मेघोंकी सन्तति उत्पन्न हो रही थी और कहीं सूर्यके समान देदीप्यमान शिखरोंसे आकाश प्रकाशमान हो रहा था ॥१२४॥ जिनके लम्बे चौड़े सघन वृक्ष सुगन्धित फूलोंसे ऊँचे उठे हुए थे ऐसे वनोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो पाण्डुक-वनको जीतना ही चाहता हो ॥१२५॥ दशाननने उस पर्वतपर उतरकर उन महामुनिके दर्शन किये। वे महामुनि ध्यानरूपी समुद्रमें निमग्न थे और तेजके द्वारा चारों ओर मण्डल बाँध रहे थे ॥१२६॥ दिग्गजोंके शुण्डादण्डके समान उनकी दोनों भुजाएँ नीचेकी ओर लटक रही थीं और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो दो सर्पोंसे आवेष्टित चन्दनका बड़ा वृक्ष ही हो ॥१२७॥ वे आतापन योगमें शिलापीठके ऊपर निश्चल बठे थे और प्राणियोंके प्रति ऐसा संशय उत्पन्न कर रहे थे कि ये जीवित हैं भी या नहीं ॥१२८॥ तदनन्तर 'यह बालि है' ऐसा जानकर दशानन पिछले वैरका स्मरण करता हुआ क्रोधाग्निसे प्रज्वलित हो उठा ॥१२९॥ जो ओंठ चबा रहा था, जिसकी आवाज अत्यन्त कर्कश थी, और जो अत्यन्त देदीप्यमान आकारका धारक था ऐसा दशानन भृकुटी बाँधकर बड़ी निर्भयताके साथ मुनिराजसे कहने लगा ॥१३०॥ कि अहो! तुमने यह बड़ा अच्छा तप करना प्रारम्भ किया है कि अब भी अभिमानसे मेरा विमान

---

१. परिसरत् म० । २. वनेनैव म० । ३. खिङ्गकृतस्यन्दि म० । खड्गिकृतस्पर्श ब० । ४. संभवध्वनि-सन्तति म० । ५. शिखरद्योतिताम्बरम् म० ।

क्व धर्मः क्व च संक्रोधो वृथा श्राम्यसि दुर्मते । इच्छस्येकत्वमाधातुममृतस्य विषस्य च ॥१३२॥
तस्मादपनयाम्येनं दर्पमद्य तवोद्धतम् । कैलासनगमुन्मूल्य क्षिपाम्यब्धौ समं त्वया ॥१३३॥
ततोऽसौ सर्वविद्याभिर्ध्याताभिस्तत्क्षणादवृतः । विकृत्य सुमहद्रूपं सुरेन्द्र इव भीषणम् ॥१३४॥
[1]महाबाहुवनेनान्धध्वान्तं कृत्वा समन्ततः । प्रविष्टो धरणीं भित्त्वा पातालं पातकोद्यतः ॥१३५॥
आरेभे च समुद्धर्तुं भुजैर्भूरिपराक्रमः । क्रोधप्रचण्डरक्ताक्षो हुङ्कारमुखराननः ॥१३६॥
ततो विषकणक्षेपिलम्बमानोरगाधरः । केसरिक्रमसंत्रासभ्रश्यन्मत्तमतङ्गजः ॥१३७॥
संभ्रान्तनिश्चलोत्कर्णसारङ्गकदम्बकः । स्फुटितोद्देश[2]निष्पीतत्रुटिताखिलनिर्झरः ॥१३८॥
पर्यस्यदुद्धतारावमहानोकहसंहतिः । स्फुटीकृतशिलाजालसन्धिशब्दैः[3] सुदुःस्वरः ॥१३९॥
पतद्विकटपाषाणरवापूरितविष्टपः । चलितश्चालयन् क्षोणीं भृशं कैलासपर्वतः ॥१४०॥
स्फुटितावनिर्पीताम्बुः प्राप शोषं नदीपतिः । ऊहुः स्वच्छतया मुक्ता[4] विपरीतं समुद्रगाः ॥१४१॥
त्रस्ता व्यलोकयन्नाशाः प्रमथाः पृथुविस्मयाः । किं किमेतदहो हा-हा-हुं-हीति प्रसृतस्वराः ॥१४२॥
जहुरप्सरसो भीता लताप्रवरमण्डपम्[5] । वयसां निवहाः प्राप्ताः कृतकोलाहला नभः ॥१४३॥
पातालादुत्थितैः क्रूरैरट्टहासैरनन्तरैः । दशवक्त्रैः समं दिग्भिः पुस्फोटे च नभस्तलम् ॥१४४॥

रोका जा रहा है ॥१३१॥ धर्म कहाँ और क्रोध कहाँ ? अरे दुर्बुद्धि ! तू व्यर्थ ही श्रम कर रहा है और अमृत तथा विषको एक करना चाहता है ॥१३२॥ इसलिए मैं तेरे इस उद्धत अहङ्कार को आज ही नष्ट किये देता हूँ। तू जिस कैलास पर्वतपर बैठा है उसे उखाड़कर तेरे ही साथ अभी समुद्रमें फेंकता हूँ ॥१३३॥ तदनन्तर उसने समस्त विद्याओंका ध्यान किया जिससे आकर उन्होंने उसे घेर लिया। अब दशाननने इन्द्रके समान महाभयङ्कर रूप बनाया और महा बाहु रूपी वनसे सब ओर सघन अन्धकार फैलाता हुआ वह पृथिवीको भेदकर पातालमें प्रविष्ट हुआ। पाप करनेमें वह उद्यत था ही ॥१३४–१३५॥ तदनन्तर क्रोधके कारण जिसके नेत्र अत्यन्त लाल हो रहे थे, और जिसका मुख क्रोधसे मुखरित था ऐसे प्रबल पराक्रमी दशाननने अपनी भुजाओंसे कैलासको उठाना प्रारम्भ किया ॥१३६॥ आखिर, पृथिवीको अत्यन्त चञ्चल करता हुआ कैलास पर्वत स्वस्थानसे चलित हो गया। उस समय वह कैलास विषकणोंको छोड़नेवाले लम्बे-लम्बे लटकते हुए साँपोंको धारण कर रहा था। सिंहोंकी चपेटमें जो मत्त हाथी आ फँसे थे वे छूटकर अलग हो रहे थे। घबड़ाये हुए हरिणोंके समूह अपने कानोंको ऊपरकी ओर निश्चल खड़ाकर इधर-उधर भटक रहे थे। फटी हुई पृथिवीने झरनोंका समस्त जल पी लिया था इसलिए उनकी धाराएँ टूट गई थीं। बड़े-बड़े वृक्षोंका जो समूह टूट-टूटकर चारों ओर गिर रहा था उससे बड़ा भारी शब्द उत्पन्न हो रहा था। शिलाओंके समूह चटककर चट-चट शब्द कर रहे थे इससे वहाँ भयङ्कर शब्द हो रहा था। और बड़े-बड़े पत्थर टूट-टूटकर नीचे गिर रहे थे तथा उससे उत्पन्न होनेवाले शब्दोंसे समस्त लोक व्याप्त हो रहा था ॥१३७–१४०॥ विदीर्ण पृथिवीने समुद्रका सब जल पी लिया था इसलिए वह सूख गया था। समुद्रकी ओर जाने वाली नदियाँ स्वच्छतासे रहित होकर उल्टी बहने लगी थीं ॥१४१॥ प्रमथ लोग भयभीत होकर दिशाओंकी ओर देखने लगे तथा बहुत भारी आश्चर्यमें निमग्न हो 'यह क्या है ? क्या है ? हा हा हुँ ही आदि शब्द करने लगा ।१४२॥ अप्सराओंने भयभीत होकर उत्तमोत्तम लताओंके मण्डप छोड़ दिये और पक्षियोंके समूह कलकल शब्द करते हुए आकाशमें जा उड़े ॥१४३॥ पातालसे लगातार निकलनेवाले दशाननके दशमुखोंकी अट्टहाससे दिशाओंके साथ-साथ आकाश फट पड़ा ॥१४४॥

---

१. महावायुवनेनाथ म० । २. निस्फीत ख० । ३. सत्त्वैः सदुश्वरः म० । ४. भुक्त्वा म० । ५. मण्डपात् म० ।

ततः संवर्तकाभिख्यवायुनेवाकुलीकृते । भुवने भगवान् बालिरवधिज्ञातराक्षसः ॥१४५॥
अप्राप्तः पीडनं स्वस्य धीरः कोपविवर्जितः । तथावस्थितसर्वाङ्गश्चेतसीदं न्यवेशयत् ॥१४६॥
कारितं भरतेनेदं जिनायतनमुत्तमम् । सर्वरत्नमयं तुङ्गं बहुरूपविराजितम् ॥१४७॥
प्रत्यहं भक्तिसंयुक्तैः कृतपूजं सुरासुरैः । मा विनाशि चलत्यस्मिन् पर्वते भिन्नपर्वणि ॥१४८॥
ध्यात्वेति चरणाङ्गुष्ठपीडितं गिरिमस्तकम् । चकार शोभनध्यानाद्दूरीकृतचेतनः ॥१४९॥
[1]ततो महाभराक्रान्तभग्नबाहुवनो भृशम् । दुःखाकुलश्चलद्रक्तस्पष्टमञ्जुललोचनः ॥१५०॥
भग्नमौलिशिरोगाढ[2]निविष्टधरणीधरः । निमज्जन्भूतलन्यस्तजानुर्निर्भुग्नजङ्घकः ॥१५१॥
सद्यः प्रगलितस्वेदधाराधौतरसातलः । बभूव संकुचद्गात्रः कूर्माकारो दशाननः ॥१५२॥
रवं च सर्वयत्नेन कृत्वा रावितवान् जगत् । यतस्ततो गतः पश्चाद्रावणाख्यां समस्तगाम् ॥१५३॥
श्रुत्वा तं दीनभारावं स्वामिनः पूर्वमश्रुतम् । विद्याधरवधूलोको विललाप समाकुलः ॥१५४॥
मूढाः [3]संनद्धुमारब्धाः संभ्रान्ताः सचिवा वृथा । पुनः पुनः स्खलद्वाचो गृहीतगलदायुधाः ॥१५५॥
मुनिवीर्यप्रभावेण [4]सुरदुन्दुभयोऽनदन् । पपात सुमनोवृष्टिः खमाच्छाद्य [5]सषट्पदा ॥१५६॥
ननृतुर्गगने क्रीडाशीला देवकुमारकाः । गीतध्वनिः सुरस्त्रीणां वंशानुगतमुद्ययौ ॥१५७॥

तदनन्तर जब समस्त संसार संवर्तक नामक वायुसे ही मानो आकुलित हो गया था तब भगवान् वालि मुनिराजने अवधिज्ञानसे दशानन नामक राक्षसको जान लिया ॥१४५॥ यद्यपि उन्हें स्वयं कुछ भी पीड़ा नहीं हुई थी और पहलेकी तरह उनका समस्त शरीर निश्चल रूपसे अवस्थित था तथापि वे धीरवीर और क्रोधसे रहित हो अपने चित्तमें इस प्रकार विचार करने लगे कि ॥१४६॥ चक्रवर्ती भरतने ये नाना प्रकारके सर्वरत्नमयी ऊँचे-ऊँचे जिन-मन्दिर बनवाये हैं। भक्तिसे भरे सुर और असुर प्रतिदिन इनकी पूजा करते हैं सो इस पर्वतके विचलित हो जानेपर कहीं ये जिन-मन्दिर नष्ट न हो जावें ॥१४७॥ ऐसा विचारकर शुभध्यानके निकट ही जिनकी चेतना थी ऐसे मुनिराज बालीने पर्वतके मस्तकको अपने पैरके अङ्गूठेसे दबा दिया ॥१४८–१४९॥ तदनन्तर जिसकी भुजाओंका वन बहुत भारी बोझसे आक्रान्त होनेके कारण अत्यधिक टूट रहा था, जो दुखसे आकुल था, जिसकी लाल-लाल मनोहर आँखें चञ्चल हो रहीं थीं ऐसा दशानन अत्यन्त व्याकुल हो गया। उसके शिरका मुकुट टूटकर नीचे गिर गया और उस नङ्गे शिरपर पर्वतका भार आ पड़ा। नीचे धँसती हुई पृथिवीपर उसने घुटने टेक दिये। स्थूल होनेके कारण उसकी जङ्घाएँ मांसपेशियोंमें निमग्न हो गईं ॥१५०–१५१॥ उसके शरीरसे शीघ्र ही पसीनाकी धारा बह निकली और उससे उसने रसातलको धो दिया। उसका सारा शरीर कछुएके समान सङ्कुचित हो गया ॥१५२॥ उस समय चूँकि उसने सर्व प्रयत्नसे चिल्लाकर समस्त संसारको शब्दायमान कर दिया था इसलिए वह पीछे चलकर सर्वत्र प्रचलित 'रावण' इस नामको प्राप्त हुआ ॥१५३॥ रावणकी स्त्रियोंका समूह अपने स्वामीके उस अश्रुतपूर्व दीन हीन शब्दको सुनकर व्याकुल हो विलाप करने लगा ॥१५४॥ मन्त्री लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। वे युद्धके लिए तैयार हो व्यर्थ ही इधर-उधर फिरने लगे। उनके वचन बार-बार बीचमें ही स्खलित हो जाते थे और हथियार उनके हाथसे छूट जाते थे ॥१५५॥ मुनिराजके वीर्यके प्रभावसे देवोंके दुन्दुभि बजने लगे और भ्रमर सहित फूलोंकी वृष्टि आकाशको आच्छादित कर पड़ने लगी ॥१५६॥ क्रीडा करना जिनका स्वभाव था ऐसे देव कुमार आकाशमें नृत्य करने लगे और देवियोंकी संगीत ध्वनि वंशीकी

१. एष श्लोकः म० पुस्तके नास्ति। २. शिरोगाढं ब०। ३. संनद्ध- म०। ४. सुदुन्दुभयो म०। ५. सषट्पदाः म०।

[1]ततो मन्दोदरी दीना ययाचेति मुनीश्वरम् । प्रणम्य भर्तृभिक्षां[2] मे प्रयच्छाद्भुतविक्रम ॥१५८॥
ततोऽनुकम्पयाङ्गुष्ठं महामुनिरशश्लथत्[3] । रावणोऽपि विमुच्याद्रिं [4]क्लेशकान्तारतो निरैत् ॥१५९॥
गत्वा च प्रणतिं कृत्वा क्षमयित्वा पुनः पुनः । योगेशं स्तोतुमारब्धः परिज्ञाततपोबलः ॥१६०॥
जिनेन्द्रचरणौ मुक्त्वा करोमि न नमस्कृतिम् । अन्यस्येति त्वयोक्तं यत्सामर्थ्यस्यास्य तत्फलम् ॥१६१॥
अहो निश्चयसम्पन्नं तपसस्ते महद्बलम् । भगवन् येन शक्तोऽसि त्रैलोक्यं कर्तुमन्यथा ॥१६२॥
इन्द्राणामपि सामर्थ्यमीदृशं नाथ नेक्ष्यते । यादृक् तपःसमृद्धानां मुनीनामल्पयत्नजम् ॥१६३॥
अहो गुणा अहोरूपमहोकान्तिरहो बलम् । अहो दीप्तिरहो धैर्यमहो शीलमहो तपः ॥१६४॥
त्रैलोक्यादथ निःशेषं वस्त्वाहृत्य मनोहरम् । कर्मभिः सुकृताधारं शरीरं तव निर्मितम् ॥१६५॥
सामर्थ्येनामुना युक्तस्त्यक्तवानसि यत्क्षितिम् । इदमत्यद्भुतं कर्म कृतं सुपुरुष त्वया ॥१६६॥
एवंविधस्य ते कर्तुं यदसाधु मयेप्सितम् । तदशक्तस्य संजातं पापबन्धाय केवलम् ॥१६७॥
धिक्शरीरमिदं चेतो वचश्च मम पापिनः । [5]वृत्तावभिमुखं जातं यदसत्यामलं पुरा ॥१६८॥
भवादृशां नृरत्नानां मद्विधानां च [6]दुर्विशाम् । अन्तरं विगतद्वेष मेरुसर्षपयोरिव ॥१६९॥
मह्यं विपद्यमानाय दत्ताः प्राणास्त्वया मुने । अपकारिणि यस्येयं मतिस्तस्य किमुच्यताम् ॥१७०॥
शृणोमि वेद्मि पश्यामि संसारं दुःखभावकम् । पापस्तथापि निर्वेदं विषयेभ्यो न याम्यहम् ॥१७१॥
पुण्यवन्तो महासत्त्वा मुक्तिलक्ष्मीसमीपगाः । तारुण्ये विषयांस्त्यक्त्वा स्थिता ये मुक्तिवर्त्मनि ॥१७२॥

मधुर ध्वनिके साथ सर्वत्र उठने लगी ॥१५७॥ तदनन्तर मन्दोदरीने दीन होकर मुनिराजको प्रणामकर याचना की कि हे अद्‌भुत पराक्रमके धारी ! मेरे लिए पतिभिक्षा दीजिए ॥१५८॥ तब महामुनिने दया वश पैरका अंगूठा ढीला कर लिया और रावण भी पर्वतको जहाँका तहाँ छोड़ क्लेश रूपी अटवीसे बाहर निकला ॥१५९॥ तदनन्तर जिसने तपका बल जान लिया था ऐसे रावणने जाकर मुनिराजको प्रणामकर बार-बार क्षमा माँगी और इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥१६०॥ कि हे पूज्य ! आपने जो प्रतिज्ञा की थी कि मैं जिनेन्द्र देवके चरणोंको छोड़कर अन्यके लिए नमस्कार नहीं करूँगा यह उसीकी सामर्थ्यका फल है ॥१६१॥ हे भगवन् ! आपके तपका महाफल निश्चयसे सम्पन्न है इसीलिए तो आप तीन लोकको अन्यथा करनेमें समर्थ हैं ॥१६२॥ तपसे समृद्ध मुनियोंकी थोड़े ही प्रयत्नसे उत्पन्न जैसी सामर्थ्य देखी जाती है हे नाथ ! वैसी सामर्थ्य इन्द्रोंकी भी नहीं देखी जाती है ॥१६३॥ आपके गुण, आपका रूप आपकी कान्ति, आपका बल, आपकी दीप्ति, आपका धैर्य, आपका शील और आपका तप सभी आश्चर्यकारी हैं ॥१६४॥ ऐसा जान पड़ता है मानो कर्मोंने तीनों लोकोंसे समस्त सुन्दर पदार्थ ला ला कर पुण्यके आधारभूत आपके शरीरकी रचना की है ॥१६५॥ हे सत्पुरुष ! इस लोकोत्तर सामर्थ्यसे युक्त होकर भी जो आपने पृथिवीका त्याग किया है यह अत्यन्त आश्चर्यजनक कार्य है ॥१६६॥ ऐसी सामर्थ्यसे युक्त आपके विषयमें जो मैंने अनुचित कार्य करना चाहा था वह मुझ असमर्थके लिए केवल पाप-बन्धका ही कारण हुआ ॥१६७॥ मुझ पापीके इस शरीरको, हृदयको और वचनको धिक्कार है कि जो अयोग्य कार्य करनेके सन्मुख हुए ॥१६८॥ हे द्वेष रहित ! आप जैसे नर रत्नों और मुझ जैसे दुष्ट पुरुषोंके बीच उतना ही अन्तर है जितना कि मेरु और सरसोंके बीच होता है ॥१६९॥ हे मुनिराज ! मुझ मरते हुएके लिए आपने प्राण प्रदान किये हैं सो अपकार करनेवाले पर जिसकी ऐसी बुद्धि है उसके विषयमें क्या कहा जावे ? ॥१७०॥ मैं सुनता हूँ, जानता हूँ और देखता हूँ कि संसार केवल दुःखका अनुभव करानेवाला है फिर भी मैं इतना पापी हूँ कि विषयोंसे वैराग्यको प्राप्त नहीं होता ॥१७१॥ जो तरुण अवस्थामें ही

१. एष श्लोकः क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति । २. भर्तृभिक्षं म० । ३. -रशश्लथन् म० । ४. दुःखाटवीतः । ५. वृत्तान्ताभिमुखं जातं यदसत्यमलं पुरा क० । ६. दुष्टप्रजानाम् ।

इति स्तुत्वा मुनिं भूयः प्रणम्य त्रिःप्रदक्षिणम् । नितान्तं स्वं च निन्दित्वा छूत्कारमुखराननः ॥१७३॥
उपकण्ठं मुनेश्चैत्यभवनं त्रपयान्वितः । विरक्तो विषयासङ्गे प्रविष्टः कैकसीसुतः ॥१७४॥
अनादरेण विक्षिप्य चन्द्रहासमसिं भुवि । आवृतो निजनारीभिश्चक्रे जिनवरार्चनम् ॥१७५॥
निष्कृष्य च स्नसातन्त्रीं भुजे वीणामवीवदत् । भक्तिनिर्भरभावश्च जगौ स्तुतिशतैर्जिनम् ॥१७६॥
नमस्ते देवदेवाय लोकालोकावलोकिने । तेजसातीतलोकाय कृतार्थाय महात्मने ॥१७७॥
त्रिलोककृतपूजाय नष्टमोहमहारये । वाणीगोचरतामुक्तगुणसंघातधारिणे ॥१७८॥
महैश्वर्यसमेताय [1]विमुक्तिपथदेशिने । सुखकाष्ठासमृद्धाय [2]दूरीभूतकुवस्तवे ॥१७९॥
निःश्रेयसस्य भूतानां हेतवेऽभ्युदयस्य च । महाकल्याणमूलाय वेधसे सर्वकर्मणाम् ॥१८०॥
ध्याननिर्दग्धपापाय जन्मविध्वंसकारिणे । गुरवे गुरुमुक्ताय प्रणतायानतात्मने ॥१८१॥
आद्यन्तपरिमुक्ताय संततायन्तयोगिने । [3]अज्ञातपरमार्थाय परमार्थावबोधिने ॥१८२॥
सर्वशून्यप्रतिज्ञाय सर्वास्तिक्योप[4]देशिने । सर्वक्षणिकपक्षाय कृत्स्ननित्यत्वदर्शिने ॥१८३॥
पृथक्त्वैकत्व[5]वादाय सर्वानेकान्तदे[6]शिने । जिनेश्वराय सर्वस्मा एकस्मै शिवदायिने ॥१८४॥

विषयोंको छोड़कर मोक्ष-मार्गमें स्थित हुए हैं वे पुण्यात्मा हैं, महाशक्तिशाली हैं, और मुक्ति लक्ष्मीके समीपमें विचरनेवाले हैं ॥१७२॥ इस प्रकार स्तुतिकर उसने मुनिराजको प्रणामकर तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, अपने आपकी बहुत निन्दाकी और दुःख वश मुँहसे सू सू शब्दकर रुदन किया ॥१७३॥ मुनिराजके समीप जो जिन-मन्दिर था लज्जासे युक्त और विषयोंसे विरक्त रावण उसीके अन्दर चला गया ॥१७४॥ वहाँ उसने चन्द्रहास नामक खड्गको अनादरसे पृथिवीपर फेंक दिया और अपनी स्त्रियोंसे युक्त होकर जिनेन्द्रदेवकी पूजा की ॥१७५॥ उसके भाव भक्तिमें इतने लीन हो गये थे कि उसने अपनी भुजाकी नाड़ी रूपी तन्त्रीको खींचकर वीणा बजाई और सैकड़ों स्तुतियोंके द्वारा जिनराजका गुणगान किया ॥१७६॥ वह गा रहा था कि नाथ ! आप देवोंके देव हो, लोक और अलोकको देखनेवाले हो, आपने अपने तेजसे समस्त लोकको अतिक्रान्त कर दिया है, आप कृतकृत्य हैं, महात्मा हैं । तीनों लोक आपकी पूजा करते हैं, आपने मोह रूपी महा शत्रुको नष्ट कर दिया है, आप वचनागोचर गुणोंको समूहको धारण करनेवाले हैं । आप महान् ऐश्वर्यसे सहित हैं, मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं, सुखकी परम सीमासे समृद्ध हैं, आपने समस्त कुत्सित वस्तुओंको दूर कर दिया है । आप प्राणियोंके लिए मोक्ष तथा स्वर्गके हेतु हैं, महाकल्याणोंके मूल कारण हैं, समस्त कार्योंके विधाता हैं । आपने ध्यानाग्निके द्वारा समस्त पापोंको जला दिया है, आप जन्मका विध्वंस करनेवाले हैं, गुरु हैं, आपका कोई गुरु नहीं हैं, सब आपको प्रणाम करते हैं और आप स्वयं किसीको प्रणाम नहीं करते । आप आदि तथा अन्तसे रहित हैं, आप निरन्तर आदि तथा अन्तिम योगी हैं, आपके परमार्थको कोई नहीं जानता पर आप समस्त परमार्थको जानते हैं । आत्मा रागादिक विकारोंसे शून्य है ऐसा उपदेश आपने सबके लिए दिया है, 'आत्मा है' 'परलोक है' इत्यादि आस्तिक्य वादका उपदेश भी आपने सबके लिए दिया है, पर्यायार्थिकनयसे संसारके समस्त पदार्थ क्षणिक हैं इस पक्षका निरूपण आपने जहाँ किया है वहाँ द्रव्यार्थिक नयसे समस्त पदार्थोंको नित्य भी आपने दिखलाया है । हमारी आत्मा समस्तपर पदार्थोंसे पृथक् अखण्ड एक द्रव्य है ऐसा कथन आपने किया है, आप सबके लिए अनेकान्त धर्मका प्रतिपादन करनेवाले हैं, कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, सर्व पदार्थोंको जाननेवाले होनेसे सर्व रूप हैं, अखण्ड चैतन्य पुञ्जके धारक होनेसे एक रूप हैं और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥१७७-१८४॥

१. विमुक्तपथ -म० । २. दूरीभूत-दुरीहित ब० । ३. न ज्ञातः परमार्थो यस्य स तस्मै । ४. देशिने म० । ५. -मादाय क०, ब० । ६. -दर्शिने क० ।

ऋषभाय नमो नित्यमजिताय नमो नमः । संभवाय नमोऽजस्रमभिनन्दनसूक्तये ॥१८५॥
नमः सुमतये पद्मप्रभाय सततं नमः । सुपार्श्वाय नमः शश्वच्चन्द्रसमत्विषे ॥१८६॥
नमोऽस्तु पुष्पदन्ताय शीतलाय नमो नमः । श्रेयसे वासुपूज्याय नमो लब्धात्मतेजसे ॥१८७॥
विमलाय नमस्त्रेधा नमोऽनन्ताय सन्ततम् । नमो धर्माय सौख्यानां नमो मूलाय शान्तये ॥१८८॥
नमः कुन्थुजिनेन्द्राय नमोऽरस्वामिने सदा । नमो मल्लिमहेशाय नमः सुव्रतदायिने ॥१८९॥
अन्येभ्यश्च भविष्यद्भ्यो भूतेभ्यश्च सुभावतः । नमोऽस्तु जिननाथेभ्यः श्रमणेभ्यश्च[1] सर्वदा ॥१९०॥
नमः सम्यक्त्वयुक्ताय ज्ञानायैकान्तनाशिने । दर्शनाय नमोऽजस्रं सिद्धेभ्योऽनारतं नमः ॥१९१॥
पवित्राण्यक्षराण्येवं[2] लङ्कास्वामिनि गायति । चलितं नागराजस्य विष्टरं धरणश्रुतेः ॥१९२॥
ततोऽवधिकृतालोकस्तोषविस्तारितेक्षणः । स्फुरत्फणामणिच्छायादूरध्वस्ततमश्चयः ॥१९३॥
सकलामलतारेशप्रसन्नमुखशोभितः । पातालादुद्ययौ क्षिप्रं नागराजः सुमानसः ॥१९४॥
विधाय च नमस्कारं जिनेन्द्राणां विधानतः । पूजां च ध्यानसंजातसमस्तद्रव्यसंपदम् ॥१९५॥
जगाद रावणं साधो साधुर्गीतमिदं त्वया । जिनेन्द्रस्तुतिसम्बद्धं रोमहर्षणकारणम् ॥१९६॥
पश्य तोषेण मे जातं पुलकं घनकर्कशम् । पातालस्थस्य[3] यच्छान्तिर्नाद्यापि प्रतिपद्यते ॥१९७॥
राक्षसेश्वर धन्योऽसि यः[4] स्तौषि जिनपुङ्गवान् । बलादाकृष्य भावेन त्वदीयेनाहमाहृतः ॥१९८॥
वरं वृणीष्व तुष्टोऽस्मि तव भक्त्या जिनान्प्रति । ददाम्यभीप्सितं वस्तु सद्यः कुनरदुर्लभम् ॥१९९॥
ततः कैलासकम्पेन[5] प्रोक्तोऽसौ विदितो मम । धरणो नागराजस्त्वं पृष्टस्तावन्निवेदय ॥२००॥

ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयोनाथ, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, सौख्योंके मूल कारण शान्तिनाथ, कुन्थु जिनेन्द्र, अरनाथ, मल्लि महाराज और मुनिसुव्रत भगवान् इन वर्तमान तीर्थंकरोंको मन वचन कायसे नमस्कार हो। इनके सिवाय जो अन्य भूत और भविष्यत् काल सम्बन्धी तीर्थंकर हैं उन्हें नमस्कार हो। साधुओंके लिए सदा नमस्कार हो। सम्यक्त्व सहित ज्ञान और एकान्तवादको नष्ट करनेवाले दर्शनके लिए निरन्तर नमस्कार हो, तथा सिद्ध परमेश्वरके लिए सदा नमस्कार हो ॥१८५-१९१॥ लङ्काका स्वामी रावण जब इस प्रकारके पवित्र अक्षर गा रहा था तब नागराज धरणेन्द्रका आसन कम्पायमान हुआ ॥१९२॥ तदनन्तर उत्तम हृदयको धारण करनेवाला नागराज शीघ्र ही पातालसे निकलकर बाहर आया। उस समय अवधिज्ञानरूपी प्रकाशसे उसकी आत्मा प्रकाशमान थी, सन्तोषसे उसके नेत्र विकसित हो रहे थे, ऊपर उठे हुए फणामें जो मणि लगे हुए थे उनकी कान्तिसे वह अन्धकारके समूह दूर हटा रहा था और पूर्ण तथा निर्मल चन्द्रमाके समान प्रसन्न मुखसे शोभित था ॥१९३-१९४॥ उसने आकर जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार किया और तदनन्तर ध्यान मात्रसे ही जिसमें समस्त द्रव्य रूपी सम्पदा प्राप्त हो गई थी ऐसी विधिपूर्वक पूजा की ॥१९५॥ पूजाके बाद उसने रावणसे कहा कि हे सत्पुरुष ! तुमने जिनेन्द्रदेवकी स्तुतिसे सम्बन्ध रखनेवाला यह बहुत अच्छा गीत गाया है। तुम्हारा यह गीत रोमाञ्च उत्पन्न होनेका कारण है ॥१९६॥ देखो, सन्तोषके कारण मेरे शरीरमें सघन एवं कठोर रोमाञ्च निकल आये हैं। मैं पातालमें रहता था फिर भी तुझे अब भी शान्ति प्राप्त नहीं हो रही है ॥१९७॥ हे राक्षसेश्वर ! तू धन्य है जो जिनेन्द्र भगवान्की इस प्रकार स्तुति करता है। तेरी भावनाने मुझे बलपूर्वक खींचकर यहाँ बुलाया है ॥१९८॥ जिनेन्द्रदेवके प्रति जो तेरी भक्ति है उससे मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। तू वर माँग, मैं तुझे शीघ्र ही कुपुरुषोंको दुर्लभ इच्छित वस्तु देता हूँ ॥१९९॥ तदनन्तर कैलासको कम्पित करनेवाले रावणने कहा कि मुझे मालूम है-आप नागराज धरणेन्द्र हैं। सो

१. श्रवणेभ्यश्च म० । २. -ण्येव म० । ३. पातालस्य म० । ४. यस्तोषि म० । ५. रावणेन ।

जिनवन्दनया तुल्यं किमन्यद्विद्यते शुभम् । वस्तु यत्प्रार्थयिष्येऽहं भवन्तं दातुमुद्यतम् ॥२०१॥
ततो निगदितं नागपतिना श्रृणु रावण । जिनेन्द्रवन्दनात्तुल्यं कल्याणं नैव विद्यते ॥२०२॥
ददाति परिनिर्वाणसुखं या समुपासिता । [1]जिननत्या तया तुल्यं न भूतं न भविष्यति ॥२०३॥
ततो दशमुखेनोक्तं नास्ति चेज्जिनवन्दनात् । अधिकं किंत्वतः प्राप्ते तस्मिन् याचे महामते ॥२०४॥
उक्तं च नागपतिना सत्यमेतत्सुचेष्टितम् । असाध्यं जिनभक्तेर्यत्साधु तन्नैव विद्यते ॥२०५॥
त्वादृशा मादृशा ये च वासवाद्याश्च सन्निभाः । संपद्यन्ते सुखाधारा सर्वे ते जिनभक्तितः ॥२०६॥
आस्तां तावदिदं स्वल्पं व्याबाधि भवजं सुखम् । मोक्षजं लभ्यते भक्त्या जिनानामुत्तमं सुखम् ॥२०७॥
नितान्तं यद्यपि त्यागी महाविनयसंगतः । वीर्यवानुत्तमैश्वर्यो भवान् गुणविभूषितः ॥२०८॥
मद्दर्शनं तथाप्येतत्तव मा भूदनर्थकम् । अमोघमिति याचेऽहं भवन्तं ग्रहणं प्रति ॥२०९॥
अमोघविजया नाम शक्तिं रूपविकारिणीम् । विद्यां गृहाण लङ्केश मा वधीः प्रणयं मम ॥२१०॥
एकया दशया कस्य कालो गच्छति सज्जन[2] । विपदोऽनन्तरा संपत् संपदोऽनन्तरा विपत् ॥२११॥
अतो विपदि जातायामासन्नायां कुतोऽपि ते । कुर्वती परसंबाधं पालिकेयं भविष्यति ॥२१२॥
आसतां मानुषास्तावद्बिभ्यत्यस्याः सुरा अपि । वह्निज्वालापरीतायाः शक्तेर्विपुलशक्तयः ॥२१३॥
अशक्नुवंस्ततः कर्तुं प्रणयस्यास्य भञ्जनम्[3] । गृहीतृलाघवं लेभे कृच्छ्रात् कैलासकम्पन ॥२१४॥
कृत्वाञ्जलिं नमस्यां च संभाषितदशाननः । जगाम धरणः स्थानं निजं प्रकटसंमदः ॥२१५॥

मैं आपसे ही पूछता हूँ भला आप ही बतलाइए ॥२००॥ कि जिन-वन्दनाके समान और कौनसी शुभ वस्तु है जिसे देनेके लिए उद्यत हुए आपसे मैं माँगूँ ॥२०१॥ तब नागराजने कहा कि हे रावण ! सुन, जिनेन्द्र-वन्दनाके समान और दूसरी वस्तु कल्याणकारी नहीं है ॥२०२॥ जो जिन-भक्ति अच्छी तरह उपासना करनेपर निर्वाण सुख प्रदान करती है उसके तुल्य दूसरी वस्तु न तो हुई है और न होगी ॥२०३॥ यह सुन रावणने कहा कि जब जिनेन्द्र-वन्दनासे बढ़कर और कुछ नहीं है और वह मुझे प्राप्त है तब हे महाबुद्धिमान् ! तुम्हीं कहो इससे अधिक और किस वस्तुकी याचना तुमसे करूँ ॥२०४॥ नागराजने फिर कहा कि तुम्हारा यह कहना सच है। वास्तवमें जो वस्तु जिन-भक्तिसे असाध्य हो वह है ही नहीं ॥२०५॥ तुम्हारे समान, हमारे समान और इन्द्र आदिके समान जो भी सुखके आधार हैं वे सब जिन-भक्तिसे ही हुए हैं ॥२०६॥ यह संसारका सुख तो अत्यन्त अल्प तथा बाधासे सहित है अतः इसे रहने दो, जिन-भक्तिसे तो मोक्षका भी उत्तम सुख प्राप्त हो जाता है ॥२०७॥ यद्यपि तू त्यागी है, महाविनयसे युक्त है, वीर्यवान् है, उत्तम ऐश्वर्यसे सहित है और गुणोंसे विभूषित है तथापि तेरे लिए मेरा जो अमोघ दर्शन हुआ है वह व्यर्थ न हो इसलिए मैं तुझसे कुछ ग्रहण करनेकी याचना करता हूँ ॥२०८-२०९॥ हे लङ्केश ! जिससे मनचाहे रूप बनाये जा सकते हैं ऐसी अमोघविजया शक्ति नामकी विद्या मैं तुझे देता हूँ सो ग्रहण कर, मेरा स्नेह खण्डित मत कर ॥२१०॥ हे भलेमानुष ! एक ही दशामें किसका काल बीतता है ? विपत्तिके बाद सम्पत्ति और सम्पत्तिके बाद विपत्ति सभीको प्राप्त होती है ॥२११॥ इसलिए यदि कदाचित् किसी कारणवश विपत्ति तेरे समीप आयगी तो यह विद्या शत्रुको बाधा पहुँचाती हुई तेरी रक्षक होगी ॥२१२॥ मनुष्य तो दूर रहें अग्निकी ज्वालाओंसे व्याप्त इस शक्तिसे विपुल शक्तिके धारक देव भी भयभीत रहते हैं ॥२१३॥ आखिर, रावण नागराजके इस स्नेहको भङ्ग नहीं कर सका और उसने बड़ी कठिनाईसे ग्रहण करनेवालेकी लघुता प्राप्त की ॥२१४॥ तदनन्तर हाथ जोड़कर और पूजाकर रावणसे वार्तालाप करता हुआ नागराज बड़े हर्षसे अपने स्थानपर

---

१. जिनेन्द्राज्ञा ब० । २. सज्जनः म० । ३. भाजनम् म० ।

मासमात्रं दशास्योऽपि स्थित्वा कैलासमूर्धनि । प्रणिपत्य[1] जिनं देशं प्रययावभिवाञ्छितम् ॥२१६॥
विज्ञाय मनसः क्षोभादात्मानं बद्धदुष्कृतम् । प्रायश्चित्तं गुरोर्देशं गत्वा बालिरशिश्रियत् ॥२१७॥
निर्गतस्वान्तशल्यश्च[2] बभूव सुखितः पुनः । बालिर्नियमनं कृत्वा यथा विष्णुर्महामुनिः ॥२१८॥
चारित्राद् गुप्तितो धर्मादनुप्रेक्षणतः[3] सदा । समितिभ्यः पराभूतेः परीषहगणस्य च ॥२१९॥
महासंवरमासाद्य कर्मापूर्वमनर्जयन्[4] । नाशयंस्तपसा चात्तं प्राप्तः[5] केवलसंगतम् ॥२२०॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्तो ययौ त्रैलोक्यमस्तकम् । सुखं निरूपमं यस्मिन्नवसानविवर्जितम् ॥२२१॥
इन्द्रियाणां जये शक्तो यस्तेनास्मि पराजितः । इति विज्ञाय लङ्केशः साधूनां प्रणतोऽभवत् ॥२२२॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नो दृढभक्तिर्जिनेश्वरे । अतृप्तः परमैर्भोगैरतिष्ठत् स यथेप्सितम् ॥२२३॥

रथोद्धतावृत्तम्

बालिचेष्टितमिदं शृणोति यो भावतत्परमतिः शुभो जनः ।
नैष याति परतः पराभवं प्राप्नुते च रविभासुरं पदम् ॥२२४॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते बालिनिर्वाणाभिधानं नाम नवमं पर्व ॥९॥

चला गया ॥२१५॥ रावण भी एक माह तक कैलास पर्वतपर रहकर तथा जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर इच्छित स्थलको चला गया ॥२१६॥ मुनिराज बालिने मनमें क्षोभ उत्पन्न होनेसे अपने आपको पाप कर्मका बन्ध करनेवाला समझ गुरुके पास जाकर प्रायश्चित्त ग्रहण किया ॥२१७॥ जिस प्रकार विष्णुकुमार महामुनि प्रायश्चित्त कर सुखी हुए थे उसी प्रकार बालि मुनिराज भी प्रायश्चित्त द्वारा हृदयकी शल्य निकल जानेसे सुखी हुए ॥२१८॥ चारित्र, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, समिति और परीषह सहन करनेसे बालि मुनिराज महासंवरको प्राप्त हुए। नवीन कर्मोंका अर्जन उन्होंने बन्द कर दिया और पहलेके सञ्चित कर्मोंका तपके द्वारा नाश करना शुरू किया। इस तरह संवर और निर्जराके द्वारा वे केवलज्ञानको प्राप्त हुए ॥२१९–२२०॥ अन्तमें आठकर्मोंको नष्टकर वे तीन लोकके उस शिखरपर जा पहुँचे जहाँ अनन्त सुख प्राप्त होता है ॥२२१॥ जो इन्द्रियोंको जीतनेमें समर्थ है मैं उससे हारा हूँ यह जानकर अब रावण साधुओंके समक्ष नम्र रहने लगा ॥२२२॥ जो सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न था, और जिनेन्द्र देवमें जिसकी दृढ़ भक्ति थी ऐसा रावण परम भोगोंसे तृप्त न होता हुआ इच्छानुसार रहने लगा ॥२२३॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! जो उत्तम मनुष्य शुभभावोंमें तत्पर होता हुआ बालि मुनिके इस चरित्रको सुनता है वह कभी परसे पराभवको प्राप्त नहीं होता और सूर्यके समान देदीप्यमान पदको प्राप्त होता है ॥२२४॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य विरचित पद्मचरितमें बालि-निर्वाणका कथन करनेवाला नवम पर्व पूर्ण हुआ ॥९॥

---

१. प्रतिपत्य म० । २. शल्यस्य म० । ३. -दनुप्रेषणतः म०, ख० । ४. -मनिर्जयन् म० । ५. चात्तप्राप्तः केवलसंगमम् म० । चान्तमन्ते केवलसंगमः क० ।

दशमं पर्व

एवं तावदिदं वृत्तं[1] तव श्रेणिक वेदितम् । अतः परं प्रवक्ष्यामि शृणु ते परमीहितम् ॥१॥
हुताशनशिखस्यासीत् सुता [2]ज्योतिःपुरे वरा । ह्रीसंज्ञायां समुत्पन्ना योषिति श्रीगुणान्विता ॥२॥
सुतारेति गता ख्यातिं शोभया सकलावनौ । पद्मवासं परित्यज्य लक्ष्मीरिव समागता ॥३॥
चक्राङ्कतनयोऽपश्यत् पर्यटन् स्वेच्छयान्यदा । तां साहसगतिर्नाम्ना [3]दुष्टोऽनुमतिसंभवः ॥४॥
ततोऽसौ कामशल्येन शल्यितोऽत्यन्तदुःखितः । सुतारां मनसा नित्यमुवाहोन्मत्तविभ्रमः ॥५॥
उपर्युपरि [4]यातैश्च तां स दूतैरयाचत । सुग्रीवोऽपि [5]तथैवैतां याचते स्म मनोहराम् ॥६॥
द्वैधीभावमुपेतेन हुताशनशिखेन च । पृष्टो मुनिर्महाज्ञानो निश्चयव्याकुलात्मना ॥७॥
उक्तश्च मुनिचन्द्रेण न साहसगतिश्चिरम् । जीविष्यति चिरायुस्तु सुग्रीवः परमोदयः ॥८॥
चक्राङ्कपक्षसंप्रीत्या हुताशस्तु विनिश्चयः । दीपो वृषौ गजेन्द्रौ च निमित्तमकरोद् दृढम् ॥९॥
ततो मुनिगिरं ज्ञात्वा नियताममृतोपमाम् । सुग्रीवाय सुता दत्तानीय पित्रा समङ्गलम् ॥१०॥
कृत्वा पाणिगृहीतां तां सुग्रीवः पुण्यसंचयः । इयाय कामविषयं सारवत्तं [6]सुसंपदम् ॥११॥
ततः क्रमात्तयोः पुत्रौ जातौ रूपमहोत्सवौ । ज्यायानङ्गोऽनुजस्तस्य प्रथितोऽङ्गदसंज्ञया ॥१२॥

अथानन्तर—गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! इस तरह तुमने बालीका वृत्तान्त जाना । अब इसके आगे तेरे लिए सुग्रीव और सुताराका श्रेष्ठ चरित कहता हूँ सो सुन ॥१॥ ज्योतिःपुर नामा नगरमें राजा अग्निशिखकी रानी ह्री देवीके उदरसे उत्पन्न एक सुतारा नामकी कन्या थी । शोभासे समस्त पृथिवीमें प्रसिद्ध थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो कमलरूपी आवासको छोड़कर लक्ष्मी ही आ गई हो ॥२-३॥ एक दिन राजा चक्राङ्क और अनुमति रानीसे उत्पन्न साहसगति नामक दुष्ट विद्याधर अपनी इच्छासे इधर-उधर भ्रमण कर रहा था सो उसने सुतारा देखी ॥४॥ उसे देखकर वह कामरूपी शल्यसे विद्ध होकर अत्यन्त दुःखी हुआ । वह सुताराको निरन्तर अपने मनमें धारण करता था और उन्मत्त जैसी उसकी चेष्टा थी ॥५॥ इधर वह एकके बाद एक दूत भेजकर उसकी याचना करता था उधर सुग्रीव भी उस मनोहर कन्याकी याचना करता था ॥६॥ 'अपनी कन्या दो में से किसे दूँ' इस प्रकार द्वैधीभावको प्राप्त हुआ राजा अग्निशिख निश्चय नहीं कर सका इसलिए उसकी आत्मा निरन्तर व्याकुल रहती थी । आखिर महाज्ञानी मुनिराजसे पूछा ॥७॥ तब महाज्ञानी मुनिचन्द्रने कहा कि साहसगति चिर काल तक जीवित नहीं रहेगा—अल्पायु है और सुग्रीव इसके विपरीत परम अभ्युदयका धारक तथा चिरायु है ॥८॥ राजा अग्निशिख, साहसगतिके पिता चक्राङ्कका पक्ष प्रबल होनेसे मुनिचन्द्रके वचनोंका निश्चय नहीं कर सका तब मुनिचन्द्रने दो दीपक, दो वृष और गजराजोंको निमित्त बनाकर उसे अपनी बातका दृढ़ निश्चय करा दिया ॥९॥ तदनन्तर मुनिराजके अमृत तुल्य वचनोंका निश्चय कर पिता अग्निशिखने अपनी पुत्री सुतारा लाकर मङ्गलाचार पूर्वक सुग्रीवके लिए दे दी ॥१०॥ जिसका पुण्यका संचय प्रबल था ऐसा सुग्रीव उस कन्याको विवाहकर बड़ी सम्पदाके साथ श्रेष्ठ कामोपभोगको प्राप्त हुआ ॥११॥ तदनन्तर सुग्रीव और सुताराके क्रमसे दो पुत्र उत्पन्न हुए । दोनों ही अत्यन्त सुन्दर थे । उनमेंसे बड़े पुत्रका नाम अङ्ग था और छोटा पुत्र अङ्गदके नामसे प्रसिद्ध था ॥१२॥

१. पर्वं म० । २. द्योतिःपुरे म०, ब० । ३. दुष्टानुमति म० । ४. युक्तं च म० । ५. नीत्वा म० । ६. सुसंपदम् म०, क०, ख० ।

अद्यापि नैव निर्लज्जश्चक्राङ्कस्य शरीरजः । परित्यजति तत्राशां धिङ्मनोभवदूषिताम् ॥१३॥
दध्यौ [1]चेति स कामाग्निदग्धो निस्सारमानसः । केनोपायेन तां कन्यां लप्स्ये निर्वृतिदायिनीम् ॥१४॥
कदा नु वदनं तस्याः शोभाजितनिशाकरम् । चुम्बिष्यामि स्फुरच्छोणच्छविच्छन्नरदच्छदम् ॥१५॥
क्रीडिष्यामि कदा सार्धं तया [2]नन्दनवक्षसि । कदा वाप्स्यामि तत्पीनस्तनस्पर्शसुखोत्सवम् ॥१६॥
[3]इत्यभिध्यायतस्तस्य तत्समागमकारणम् । सस्मार सेमुखीविद्यामाकृतेः परिवर्तिनीम् ॥१७॥
हिमवन्तं ततो गत्वा गुहामाश्रित्य दुर्गमाम् । आराधयितुमारेभे दुःखितं प्रियमित्रवत् ॥१८॥
अत्रान्तरे विनिष्क्रान्तो दिशो जेतुं दशाननः । बभ्राम धरणीं पश्यन् गिरिकान्तारभूषिताम् ॥१९॥
जित्वा विद्याधराधीशान् द्वीपान्तरगतान् वशी । भूयो न्ययोजयत् स्वेषु राष्ट्रेषु पृथुशासनः ॥२०॥
वशीकृतेषु तस्यासीत् खगसिंहेषु मानसम् । पुत्रेष्विव महेच्छा हि तुष्यन्त्यानतिमात्रतः ॥२१॥
रक्षसामन्वये योऽभूद् यो वा शाखामृगान्वये । उद्वृत्तः खेचराधीशः सर्वं तं वशमानयत् ॥२२॥
महासाधनयुक्तस्य व्रजतोऽस्य विहायसा । वेगमारुतमप्यन्ये खेचराः सोढुमक्षमाः ॥२३॥
संध्याकाराः सुवेलाश्च हेमापूर्णाः [4]सुयोधनाः । हंसद्वीपाः परिह्लादा इत्याद्या जनताधिपाः ॥२४॥
गृहीतप्राभृता गत्वा नेमुस्तं मूर्धपाणयः । आश्वासिताः सुवाणीभिस्तथा[5]वस्थितसम्पदः ॥२५॥

राजा चक्राङ्कका पुत्र साहसगति इतना निर्लज्ज था कि वह अब भी सुताराकी आशा नहीं छोड़ रहा था सो आचार्य कहते हैं कि इस कामसे दूषित आशाको धिक्कार हो ॥१३॥ जो कामाग्निसे जल रहा था ऐसा, सारहीन मनका धारक साहसगति निरन्तर यही विचार करता रहता था कि मैं सुख देनेवाली उस कन्याको किस उपायसे प्राप्त कर सकूँगा ॥१४॥ जिसने अपनी शोभासे चन्द्रमाको जीत लिया है और जिसका ओंठ स्फुरायमान लाल कान्तिसे आच्छादित है ऐसे उसके मुखका कब चुम्बन करूँगा ? ॥१५॥ नन्दनवनके मध्यमें उसके साथ कब क्रीड़ा करूँगा, और उसके स्थूल स्तनोंके स्पर्शजन्य सुखोत्सवको कब प्राप्त होऊँगा ॥१६॥ इस प्रकार उसके समागमके कारणोंका ध्यान करते हुए उसने रूप बदलनेवाली सेमुखी नामक विद्याका स्मरण किया ॥१७॥ जिस प्रकार प्रिय मित्र अपने दुःखी मित्रकी निरन्तर आराधना करता है उसी प्रकार साहसगति हिमवान् पर्वतपर जाकर उसकी दुर्गम गुहाका आश्रय ले उस विद्याकी आराधना करने लगा ॥१८॥

अथानन्तर इसी बीचमें रावण दिग्विजय करनेके लिए निकला सो पर्वत और वनोंसे विभूषित पृथिवीको देखता हुआ भ्रमण करने लगा ॥१९॥ विशाल आज्ञाको धारण करनेवाले जितेन्द्रिय रावणने दूसरे-दूसरे द्वीपोंमें स्थित विद्याधर राजाओंको जीतकर उन्हें फिरसे अपने-अपने देशोंमें नियुक्त किया ॥२०॥ जिन विद्याधर राजाओंको वह वशमें कर चुका था उन सब पर उसका मन पुत्रोंके समान स्निग्ध था अर्थात् जिस प्रकार पिताका मन पुत्रोंपर स्नेह पूर्ण होता है उसी प्रकार दशाननका मन वशीकृत राजाओंपर स्नेहपूर्ण था। सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुष नमस्कार मात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥२१॥ राक्षसवंश और वानरवंशमें जो भी उद्धत विद्याधर राजा थे उन सबको उसने वशमें किया था ॥२२॥ बड़ी भारी सेनाके साथ जब रावण आकाशमार्गसे जाता था तब उसकी वेगजन्य वायुको अन्य विद्याधर सहन करनेमें असमर्थ हो जाते थे ॥२३॥ सन्ध्याकार, सुवेल, हेमापूर्ण, सुयोधन, हंसद्वीप और परिह्लाद आदि जो राजा थे वे सब भेंट ले-लेकर तथा हाथ जोड़ मस्तकसे लगा-लगाकर उसे नमस्कार करते थे और रावण भी अच्छे-अच्छे वचनोंसे उन्हें सन्तुष्ट कर उनकी सम्पदाओंको पूर्ववत्

१. चेतसि म० । २. नन्दनवनमध्ये । ३. इत्यभिधावतस्तस्य म० । ४. हेमापूर्णाश्च योधनाः क०, ख० । ५. तथावसितसम्पदः म० ।

श्रिता येऽपि सुदुर्गाणि स्थानान्यम्बरगाधिपाः । नमितास्तेऽपि तत्पादौ शोभनैः पूर्वकर्मभिः ॥२६॥
बलानां हि समस्तानां बलं कर्मकृतं परम् । तस्योदये स कं जेतुं न समर्थो [1]नरेश्वरः ॥२७॥
अथेन्द्रजितये गन्तुं प्रवृत्तेनामुना [2]स्मृता । स्वसात्यन्तघनस्नेहात् पारम्पर्याच्च तत्पतिः ॥२८॥
प्रस्थितश्च स तं देशं श्रुतः स्वस्रा समुत्कया । प्राप्तः स्थितः समासन्ने देशे प्रीतिसमुत्कटः ॥२९॥
ततश्चरमयामार्धे क्षपायाः शयितः सुखम् । कैकसेय्या[3] परप्रीत्या बोधितः खरदूषणः ॥३०॥
ततो निर्गत्य तेनासावलङ्कारोदयात् पुरात् । दशवक्त्रो महाभक्त्या पूजितः परमोत्सवैः ॥३१॥
रावणोऽपि स्वसुः प्रीत्या चक्रेऽस्य प्रतिपूजनम् । प्रायो हि सोदरस्नेहात् परः स्नेहो न विद्यते ॥३२॥
चतुर्दशसहस्राणि कामरूपविकारिणाम् । दर्शितानि दशास्याय तेन व्योमविचारिणाम् ॥३३॥
दूषणाख्यश्च सेनायाः पतिरात्मसमः कृती । शूरो गुणसमाकृष्टसर्वसामन्तमानसः ॥३४॥
एतैश्च प्रस्थितः साकं कृतसर्वास्त्रकौशलैः । आवृतोऽसुरसंघातैः पातालाच्चामरो यथा ॥३५॥
हिडम्बो हैहिडो डिम्बो विकटस्त्रिजटो हयः । माकोटः[4] सुजटष्टङ्कः किष्किन्धाधिपतिस्तथा ॥३६॥
त्रिपुरो मलयो हेमपालकोलवसुन्धराः । नानायानसमारूढा नानाशस्त्रविराजिताः ॥३७॥
एवमाद्यैः खगाधीशैरापूरे स निर्गतः । विद्युदिन्द्रधनुर्युक्तैर्घनौघैः श्रावणो यथा ॥३८॥
सहस्रमधिकं जातं विहायस्तलचारिणाम् । अक्षौहिणीप्रमाणानां [5]कैलासोल्लासकारिणः ॥३९॥

अवस्थित रखता था ॥२४-२५॥ जो विद्याधर राजा अत्यन्त दुर्गम स्थानोंमें रहते थे उन्होंने भी उत्तमोत्तम शिष्टाचारके साथ रावणके चरणोंमें नमस्कार किया था ॥२६॥ आचार्य कहते हैं कि सब बलोंमें कर्मोंके द्वारा किया हुआ बल ही श्रेष्ठ बल है सो उसका उदय रहते हुए रावण किसे जीतनेके लिए समर्थ नहीं हुआ था ? अर्थात् वह सभीको जीतनेमें समर्थ था ॥२७॥

अथानन्तर—रावण रथनूपुर नगरके राजा इन्द्र विद्याधरको जीतनेके लिए प्रवृत्त हुआ सो उसने इस अवसरपर अपनी बहिन चन्द्रनखा और उसके पति खरदूषणका बड़े भारी स्नेहसे स्मरण किया ॥२८॥ प्रस्थानकर पाताललङ्काके समीप पहुँचा। जब बहिनको इस बातका पता चला कि प्रीतिसे भरा हमारा भाई निकट ही आकर स्थित है तब वह उत्कण्ठासे भर गई ॥२९॥ उस समय रात्रिका पिछला पहर था और खरदूषण सुखसे सो रहा था सो चन्द्रनखाने बड़े प्रेमसे उसे जगाया ॥३०॥ तदनन्तर खरदूषणने अलङ्कारोदयपुर (पाताललङ्का) से निकलकर बड़ी भक्ति और बहुत भारी उत्सवसे रावणकी पूजा की ॥३१॥ रावणने भी बदलेमें प्रीतिपूर्वक बहिनकी पूजा की सो ठीक ही है क्योंकि संसारमें भाईके स्नेहसे बढ़कर दूसरा स्नेह नहीं है ॥३२॥ खरदूषणने रावणके लिए इच्छानुसार रूप बदलनेवाले चौदह हजार विद्याधर दिखलाये ॥३३॥ जो अत्यन्त कुशल था, शूरवीर था और जिसने अपने गुणोंसे समस्त सामन्तोंके मनको अपनी ओर खींच लिया था ऐसे खरदूषणको रावणने अपने समान सेनापति बनाया ॥३४॥ जिस प्रकार असुरोंके समूहसे आवृत चामरेन्द्र पातालसे निकलकर प्रस्थान करता है उसी प्रकार रावणने सर्वप्रकारके शस्त्रोंमें कौशल प्राप्त करनेवाले खरदूषण आदि विद्याधरोंके साथ पातालल‌ङ्कासे निकलकर प्रस्थान किया ॥३५॥ हिडम्ब, हैहिड, डिम्ब, विकट, त्रिजट, हय, माकोट, सुजट, टङ्क, किष्किन्धाधिपति, त्रिपुर, मलय, हेमपाल, कोल और वसुन्धर आदि राजा नाना प्रकारके वाहनोंपर आरूढ़ होकर साथ जा रहे थे। ये सभी राजा नाना प्रकारके शस्त्रोंसे सुशोभित थे ॥३६-३७॥ जिस प्रकार बिजली और इन्द्रधनुषसे युक्त मेघोंके समूहसे सावनका माह भर जाता है उसी प्रकार उन समस्त विद्याधर राजाओंसे दशानन भर गया था ॥३८॥ इस प्रकार

---

१. नरेश्वर म० । २. स्मृतः म०, ख० । ३. चन्द्रनखया । ४. माकोटस्त्रिजटष्टंकः म० । ५. कैलाशोल्लासकारिणाम् म० ।

अमराणां सहस्रेण प्रत्येकं कृतपालनैः । रत्नैरनुगतो नानागुणसंघातधारिभिः ॥४०॥
चन्द्ररश्मिचयाकारैश्चामरैरुपवीजितः । समुच्छ्रितसितच्छत्रश्चारुरूपमहाभुजः ॥४१॥
पुष्पकाग्रं समारूढो मन्दरस्थरविद्युतिः[1] । तिग्मांशुमालिनो मार्गं छादयन् यानसम्पदा ॥४२॥
इन्द्रध्वंसनमाधाय[2] मानसे पुरुविक्रमः । प्रयाणकैरभिप्रेतैः प्रयाति स्म दशाननः ॥४३॥
नानारत्नकृतच्छायं चामरोर्मिसमाकुलम् । तद्दण्डमीनसंघातं[3] छत्रावर्तशताचितम् ॥४४॥
वाजिमातङ्गपादातग्रहसंघातभीषणम् । उल्लसच्छस्त्रकल्लोलमकरोत् स खमर्णवम् ॥४५॥
तुङ्गैर्बर्हिणपिच्छौघशिरोभिर्भासुरैर्ध्वजैः । वज्रैरिव क्वचिद् व्याप्तं सुत्रामोपायनैर्नभः ॥४६॥
नानारत्नकृतोद्योतैस्तुङ्गशृङ्गविराजितैः । संचरत्सुरलोकाभं[4] विमाननिवहैः क्वचित् ॥४७॥
पृथ्व्या किं मगधाधीश गिरात्र परिकीर्णया । मन्ये तत्सैन्यमालोक्य बिभ्युस्त्रिदशा अपि ॥४८॥
इन्द्रजिन्मेघवाहश्च कुम्भकर्णो विभीषणः । खरदूषणनामा च निकुम्भः कुम्भसंज्ञकः ॥४९॥
एते चान्ये च बहवः स्वजना रणकोविदाः । सिद्धविद्यामहाभासः शस्त्रशास्त्रकृतश्रयाः ॥५०॥

कैलासको कम्पित करनेवाले रावणके कुछ अधिक एक हजार अक्षौहिणी प्रमाण विद्याधरोंकी सेना इकट्ठी हो गई थी ॥३९॥ प्रत्येकके हजार-हजार देव जिनकी रक्षा करते थे और जो नाना गुणोंके समूहको धारण करनेवाले थे ऐसे रत्न उसके साथ चलते थे ॥४०॥ चन्द्रमाकी किरणोंके समूहके समान जिनका आकार था ऐसे चमर उसपर ढोले जा रहे थे। उसके शिरपर सफ़ेद छत्र लग रहा था और उसकी लम्बी-लम्बी भुजाएँ सुन्दर रूपको धारण करनेवाली थीं ॥४१॥ वह पुष्पक विमानके अग्रभागपर आरूढ़ था जिससे मेरुपर्वतपर स्थित सूर्यके समान कान्तिको धारण कर रहा था। वह अपनी मानरूपी सम्पत्तिके द्वारा सूर्यका मार्ग अर्थात् आकाशको आच्छादित कर रहा था ॥४२॥ प्रबल पराक्रमका धारी रावण मनमें इन्द्रके विनाशका संकल्प कर इच्छानुकूल प्रयाणकोंसे निरन्तर आगे बढ़ता जाता था ॥४३॥ उस समय वह आकाशको ठीक समुद्रके समान बना रहा था क्योंकि जिस प्रकार समुद्रमें नानाप्रकारके रत्नोंकी कान्ति व्याप्त होती है उसी प्रकार आकाशमें नाना प्रकारके रत्नोंकी कान्ति फैल रही थी। जिस प्रकार समुद्र तरङ्गोंसे युक्त होता है उसी प्रकार आकाश चामररूपी तरङ्गोंसे युक्त होता था। जिस प्रकार समुद्रमें मीन अर्थात् मछलियोंका समूह होता है उसी प्रकार आकाशमें दण्डरूपी मछलियोंका समूह था। जिस प्रकार समुद्र सैकड़ों आवर्तों अर्थात् भ्रमरोंसे सहित होता है उसी प्रकार आकाश भी छत्ररूपी सैकड़ों भ्रमरोंसे युक्त था। जिस प्रकार समुद्र मगरमच्छोंके समूहसे भयङ्कर होता है उसी प्रकार आकाश भी घोड़े हाथी और पैदल योद्धारूपी मगरमच्छोंसे भयङ्कर था तथा जिस प्रकार समुद्रमें अनेक कल्लोल अर्थात् तरङ्ग उठते रहते हैं उसी प्रकार आकाशमें भी अनेक शस्त्ररूपी तरङ्ग उठ रहे थे ॥४४–४५॥ जिनके अग्रभागपर मयूरपिच्छोंका समूह विद्यमान था ऐसी चमकीली ऊँची ध्वजाओंसे कहीं आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रनीलमणियोंसे युक्त हीरोंसे ही व्याप्त हो ॥४६॥ जिनमें नाना प्रकारके रत्नोंका प्रकाश फैल रहा था और जो ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे सुशोभित थे ऐसे विमानोंके समूहसे आकाश कहीं चलते-फिरते स्वर्गलोकके समान जान पड़ता था ॥४७॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि मगधेश्वर! इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या? मुझे तो ऐसा लगता है कि रावणकी सेना देखकर देव भी भयभीत हो रहे थे ॥४८॥ जिन्हें विद्यारूपी महाप्रकाश प्राप्त था और शस्त्र तथा शास्त्रमें जिन्होंने परिश्रम किया था ऐसे इन्द्रजित्, मेघवाहन, कुम्भकर्ण, विभीषण, खरदूषण, निकुम्भ और कुम्भ, ये तथा इनके सिवाय युद्धमें कुशलमें अन्य अनेक आत्मीयजन रावणके पीछे-पीछे चल रहे थे। ये सभी लोग

---

१. मन्दरस्थिर-विद्युतिः म०। मन्दरस्थितविद्युतिः ख०, क०। २. इन्द्रध्वंसं समाधाय ख०, क०। ३. तद्दण्डमान म०। ४. सुरलोकान्तं म०।

महासाधनसंपन्ना ह्रेपयन्तः सुरश्रियम् । अनुजग्मुरतिप्रीता रावणं पृथुकीर्तयः ॥५१॥
ततो विन्ध्यान्तिके तस्य जगामास्तं दिवाकरः । वैलक्ष्यादिव निश्छायो जितो रावणतेजसा ॥५२॥
[1]उत्तमाङ्गे च विन्ध्यस्य तेन सैन्यं निवेशितम् । विद्याबलसमुद्भूतैर्नानाकृतसमाश्रयम् ॥५३॥
प्रदीप इव चानीतः क्षपया तस्य भीतया । करदूरीकृतध्वान्तपटलो रोहिणीपतिः ॥५४॥
तारागणशिरःपुष्पा शशाङ्कवदना निशा । प्राप्ता वराङ्गनेवैतं विमलाम्बरधारिणी ॥५५॥
संकथाभिर्विचित्राभिर्व्यापारैश्च तथोचितैः । सुखेन रजनी नीता निद्रया च नभश्चरैः ॥५६॥
ततः प्रभाततूर्येण मङ्गलैश्च प्रबोधितः । चकार रावणः कर्म सकलं तनुगोचरम् ॥५७॥
भ्रान्त्वेव भुवनं सर्वमदृष्ट्वान्यं समाश्रयम् । पुनः शरणमायातो रावणं पद्मबान्धवः ॥५८॥
ततो नानाशकुन्तौघैः कुर्वद्भिर्मधुरस्वरम् । संभाषणमिव [2]भ्रष्टमर्यादं कुर्वतीमयम् ॥५९॥
ददर्श नर्मदां फेनपटलैः सस्मितामिव । शुद्धस्फटिकसंकाशसलिलां द्विपभूषिताम् ॥६०॥
तरङ्गभ्रूविलासाढ्यामावर्तोत्तमनाभिकाम् । विस्फुरच्छफरीनेत्रां पुलिनोरुकलत्रिकाम् ॥६१॥
नानापुष्पसमाकीर्णां विमलोदकवाससम् । वराङ्गनामिवालोक्य महाप्रीतिमुपागतः ॥६२॥
उग्रनक्रकुलाक्रान्तां गंभीरां वेगिनीं क्वचित् । क्वचिच्च प्रस्थितां मन्दं क्वचित्कुण्डलगामिनीम् ॥६३॥
नानाचेष्टितसंपूर्णां कौतुकव्याप्तमानसः । अवतीर्णः स तां भीमां रमणीयां च सादरः ॥६४॥

बड़ी-बड़ी सेनाओंसे सहित थे, इन्द्रकी लक्ष्मीको लजाते थे, अत्यन्त प्रीतिसे युक्त थे और विशाल कीर्तिके धारक थे ॥४६–५१॥

तदनन्तर जब रावण विन्ध्याचलके समीप पहुँचा तब सूर्य अस्त हो गया सो रावणके तेजसे पराजित होनेके कारण लज्जासे ही मानो प्रभाहीन हो गया था ॥५२॥ सूर्यास्त होते ही उसने विन्ध्याचलके शिखरपर सेना ठहरा दी। वहाँ विद्याके बलसे सेनाको नाना प्रकारके आश्रय प्राप्त हुए थे ॥५३॥ किरणोंके द्वारा अन्धकारके समूहको दूर करनेवाला चन्द्रमा उदित हुआ सो मानो रावणसे डरी हुई रात्रिने उत्तम दीपक ही लाकर उपस्थित किया था ॥५४॥ तारागण ही जिसके शिरके पुष्प थे, चन्द्रमा ही जिसका मुख था, और जो निर्मल अम्बर (आकाश) रूपी अम्बर (वस्त्र) धारण कर रही थी ऐसी उत्तम नायिकाके समान रात्रि रावणके समीप आई ॥५५॥ विद्याधरोंने नाना प्रकारकी कथाओंसे, योग्य व्यापारोंसे तथा अनुकूल निद्रासे वह रात्रि व्यतीत की ॥५६॥ तदनन्तर प्रातःकालकी तुरही और वन्दीजनोंके माङ्गलिक शब्दोंसे जागकर रावणने शरीर सम्बन्धी समस्त कार्य किये ॥५७॥ सूर्योदय हुआ सो मानो सूर्य समस्त जगत् भ्रमणकर अन्य आश्रय न देख पुनः रावणकी शरणमें आया ॥५८॥

तदनन्तर रावणने नर्मदा नदी देखी। नर्मदा मधुर शब्द करनेवाले नाना पक्षियोंके समूहके साथ मानो अत्यधिक वार्तालाप ही कर रही थी ॥५९॥ फेनके समूहसे ऐसी जान पड़ती थी मानो हँस ही रही हो। उसका जल शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल था और वह हाथियोंसे सुशोभित थी ॥६०॥ वह नर्मदा तरङ्ग रूपी भ्रकुटीके विलाससे युक्त थी, आवर्त रूपी नाभिसे सहित थी, तैरती हुई मछलियाँ ही उसके नेत्र थे, दोनों विशाल तट ही स्थूल नितम्ब थे, नाना फूलोंसे वह व्याप्त थी और निर्मल जल ही उसका वस्त्र था। इस प्रकार किसी उत्तम नायिकाके समान नर्मदाको देख रावण महाप्रीतिको प्राप्त हुआ ॥६१–६२॥ वह नर्मदा कहीं तो उग्र मगरमच्छोंके समूहसे व्याप्त होनेके कारण गम्भीर थी, कहीं वेगसे बहती थी, कहीं मन्द गतिसे बहती थी और कहीं कुण्डलकी तरह टेढ़ी-मेढ़ी चालसे बहती थी ॥६३॥ नाना चेष्टाओंसे भरी हुई थी, तथा भयंकर होने पर भी रमणीय थी। जिसका चित्त कौतुकसे व्याप्त था ऐसे रावणने बड़े आदरके साथ उस नर्मदा नदीमें प्रवेश किया ॥६४॥

---

१. उत्तमाङ्गेन म० । २. -मिवाभ्रष्टमर्यादां कुर्वतीममूम् -म०, ब० ।

माहिष्मतीपुरेशोऽथ बलेन प्रथितो भुवि । सहस्ररश्मिरप्येतामवतीर्णोऽन्यया दिशा ॥६५॥
सहस्ररश्मिरेवैष सत्यं परमसुन्दरः । सहस्रं तस्य दाराणां यदत्यन्तसुतेजसाम् ॥६६॥
जलयन्त्राणि चित्राणि कृतानि वरशिल्पिभिः । समाश्रित्य स रेमेऽस्यामद्भुतानां विधायकः ॥६७॥
सागरस्यापि संरोद्धुमम्भः शक्तैर्नरैर्वृतः । यन्त्रसंवाहनाभिज्ञैः स्वेच्छयास्यां चचार सः ॥६८॥
जले यन्त्रप्रयोगेण क्षणेन विधृते सति । [1]भ्रमन्ति पुलिने नार्यो नानाक्रीडनकोविदाः ॥६९॥
कलत्रनिबिडाश्लिष्टसुसूक्ष्मविमलांशुकाः । बभूवुः सत्रपा [2]दृष्टा रमणेन वराङ्गनाः ॥७०॥
[3]विगतालेपना काचित् कुचौ नखपदाङ्कितौ । दर्शयन्ती चकारेर्ष्यां प्रतिपक्षस्य कामिनी ॥७१॥
काचिद्दृश्यसमस्ताङ्गा वरयोषित् त्रपावती । अभिप्रियं निचिक्षेप कराभ्यां जलमाकुला ॥७२॥
प्रतिपक्षस्य दृष्ट्वान्या जघने करजक्षतीः । लीलाकमलनालेन जघान प्रमदा प्रियम् ॥७३॥
काचित् कोपवती मौनं गृहीत्वा निश्चला स्थिता । पत्या पादप्रणामेन दयिता तोषमाहृता ॥७४॥
यावत्प्रसादयत्येकां तावदेत्यपरा रुषम् । यथाकथंचिदानिन्ये तोषं सर्वाः पुनर्नृपः ॥७५॥
दर्शनात् स्पर्शनात् कोपात् प्रसादाद्विविधोदितात् । प्रणामाद्वारिनिक्षेपादवतंसकताडनात् ॥७६॥
वञ्चनादंशुकाक्षेपान्मेखलादामबन्धनात् । पलायनान्महारावात् संपर्कान् कुचकम्पनात् ॥७७॥
हासाद्भूषणनिक्षेपात् प्रेरणाद् भ्रूविलासतः । अन्तर्धानात् समुद्भूतेरन्यस्माच्च सुविभ्रमात् ॥७८॥
रेमे बहुरसं तस्यां स मनोहरदर्शनः । आवृतो वरनारीभिर्देवीभिरिव वासवः ॥७९॥

अथानन्तर जो अपने बलसे पृथिवीपर प्रसिद्ध था ऐसा माहिष्मतीका राजा सहस्ररश्मि भी उसी समय अन्य दिशासे नर्मदामें प्रविष्ट हुआ ॥६५॥ यह सहस्ररश्मि यथार्थमें परम सुन्दर था क्योंकि उत्कृष्ट कान्तिको धारण करनेवाली हजारों स्त्रियाँ उसके साथ थीं ॥६६॥ उसने उत्कृष्ट कलाकारोंके द्वारा नाना प्रकारके जलयन्त्र बनवाये थे सो उन सबका आश्रय कर आश्चर्यको उत्पन्न करनेवाला सहस्ररश्मि नर्मदामें उतरकर नाना प्रकारकी क्रीड़ा कर रहा था ॥६७॥ उसके साथ यन्त्र निर्माणको जाननेवाले ऐसे अनेक मनुष्य थे जो समुद्रका भी जल रोकनेमें समर्थ थे फिर नदीकी तो बात ही क्या थी। इस प्रकार अपनी इच्छानुसार वह नर्मदामें भ्रमण कर रहा था ॥६८॥ यन्त्रोंके प्रयोगसे नर्मदाका जल क्षण भरमें रुक गया था इसलिए नाना प्रकारकी क्रीड़ामें निपुण स्त्रियाँ उसके तटपर भ्रमण कर रही थीं ॥६९॥ उन स्त्रियोंके अत्यन्त पतले और उज्ज्वल वस्त्र जलका सम्बन्ध पाकर उनके नितम्ब स्थलोंसे एक दम श्लिष्ट हो गये थे इसलिए जब पति उनकी ओर आँख उठाकर देखता था तब वे लज्जासे गड़ जाती थीं ॥७०॥ शरीरका लेप धुल जानेके कारण जो नखक्षतोंसे चिह्नित स्तन दिखला रही थी ऐसी कोई एक स्त्री अपनी सौतके लिए ईर्ष्या उत्पन्न कर रही थी ॥७१॥ जिसके समस्त अङ्ग दिख रहे थे ऐसी कोई उत्तम स्त्री लजाती हुई दोनों हाथोंसे बड़ी आकुलताके साथ पतिकी ओर पानी उछाल रही थी ॥७२॥ कोई अन्य स्त्री सौतके नितम्ब स्थलपर नखक्षत देखकर क्रीडाकमलकी नालसे पतिपर प्रहार कर रही थी ॥७३॥ कोई एक स्वभावकी क्रोधिनी स्त्री मौन लेकर निश्चल खड़ी रह गई थी तब पतिने चरणोंमें प्रणामकर उसे किसी तरह संतुष्ट किया ॥७४॥ राजा सहस्ररश्मि जब तक एक स्त्रीको प्रसन्न करता था तब तक दूसरी स्त्री रोषको प्राप्त हो जाती थी। इस कारण वह समस्त स्त्रियोंको बड़ी कठिनाईसे संतुष्ट कर सका था ॥७५॥ उत्तमोत्तम स्त्रियोंसे घिरा, मनोहर रूपका धारक वह राजा, किसी स्त्रीकी ओर देखकर, किसीका स्पर्श कर, किसीके प्रति कोप प्रकट कर, किसीके प्रति अनेक प्रकारकी प्रसन्नता प्रकट कर, किसीको प्रणाम कर, किसीके ऊपर पानी उछाल कर, किसीको कर्णाभरणसे ताड़ित कर, किसीका धोखेसे वस्त्र खींचकर, किसीको मेखलासे बाँधकर,

---

१. भवन्ति क०, ख० । २. दृष्ट्वा म० । ३. विगतालेखना म० । ४. तावत् + एति + अपरा, तावदेत्य परा रुषम् म० ।

पतितान् सिकतापृष्ठे नालंकारान् पुनः स्त्रियः । आचकाङ्क्षुर्महाचित्ता निर्माल्यस्रग्गुणानिव ॥८०॥
काचिच्चन्दनलेपेन चकार धवलं जलम् । अन्या कुङ्कुमपङ्केन द्रुतचामीकरप्रभम् ॥८१॥
धौतताम्बूलरागाणामधराणां सुयोषिताम् । चक्षुषां व्यञ्जनानां[1] च लक्ष्मीरभवदुत्तमा ॥८२॥
पुनश्च यन्त्रनिर्मुक्त[2]वारिमध्ये यथेप्सितम् । रेमे समं वरस्त्रीभिर्नरेशः स्मरहेतुभिः[3] ॥८३॥
क्रीडन्तीभिर्जले स्त्रीभिर्भूषणानां वरो रवः । शकुन्तेष्विव विन्यस्तः कूलकीलालचारिषु ॥८४॥
रावणोऽपि सुखं स्नात्वा वसानो धौतवाससी । विधाय प्रयतो [4]मौलिं शुक्लकर्पटसंयुतम् ॥८५॥
नियुक्तैः सर्वदा पुम्भिरुह्यमानां प्रयत्नतः । प्रतिमामर्हतो रत्नहेमनिर्मितविग्रहाम् ॥८६॥
[5]तरङ्गिणीनवे रम्ये पुलिने शुभ्रभासुरे । सिकतारचितोत्तुङ्गपीठबन्धविराजिते ॥८७॥
वैडूर्यदण्डिकासक्तमुक्ताफलवितानके । सर्वोपकरणव्यग्रपरिवर्गसमावृते ॥८८॥
स्थापयित्वा घनामोदसमाकृष्टमधुव्रतैः । धूपैरालेपनैः पुष्पैर्मनोज्ञैर्बहुभक्तिभिः ॥८९॥
विधाय महतीं पूजां सन्निविष्टः पुरोऽवनौ । [6]सगर्भं वदनं चक्रे पूतैः स्तुत्यक्षरैश्चिरम् ॥९०॥
अकस्मादथ पूरेण हता पूजा समन्ततः । फेनबुद्बुदयुक्तेन कलुषेण तरस्विना ॥९१॥

किसीके पाससे दूर हटकर, किसीको भारी डाँट दिखाकर, किसीके साथ सम्पर्क कर, किसीके स्तनोंमें कम्पन उत्पन्न कर, किसीके साथ हँसकर, किसीके आभूषण गिराकर, किसीको गुदगुदाकर, किसीके प्रति भौंह चलाकर, किसीसे छिपकर, किसीके समक्ष प्रकट होकर तथा किसीके साथ अन्य प्रकारके विभ्रम दिखाकर नर्मदा नदीमें बड़े आनन्दसे उस तरह क्रीड़ा कर रहा था जिस प्रकार कि देवियोंके साथ इन्द्र क्रीड़ा किया करता है ॥७६–७९॥ उदार हृदयको धारण करनेवाली उन स्त्रियोंके जो आभूषण बालूके ऊपर गिर गये थे उन्होंने निर्माल्यकी मालाके समान फिर उन्हें उठानेकी इच्छा नहीं की थी ॥८०॥ किसी स्त्रीने चन्दनके लेपसे पानीको सफ़ेद कर दिया था तो किसीने केशरके द्रवसे उसे सुवर्णके समान पीला बना दिया था ॥८१॥ जिनकी पानकी लालिमा धुल गई थी ऐसे स्त्रियोंके ओंठ तथा जिनका काजल छूट गया था ऐसे नेत्रोंकी कोई अद्‌भुत ही शोभा दृष्टि गोचर हो रही थी ॥८२॥ तदनन्तर यन्त्रके द्वारा छोड़े हुए जलके बीचमें वह राजा, काम उत्पन्न करनेवाली अनेक उत्कृष्ट स्त्रियोंके साथ इच्छानुसार क्रीडा करने लगा ॥८३॥ उस समय तटके समीपवर्ती जलमें विचरण करनेवाले पक्षी मनोहर शब्द कर रहे थे सो ऐसा जान पड़ता था मानो जलके भीतर क्रीड़ा करनेवाली स्त्रियोंने अपने आभूषणोंका शब्द उनके पास धरोहर ही रख दिया हो ॥८४॥

उधर यह सब चल रहा था इधर रावणने भी सुखपूर्वक स्नानकर धुले हुए उत्तम वस्त्र पहिने और अपने मस्तकको बड़ी सावधानीसे सफ़ेद वस्त्रसे युक्त किया ॥८५॥ जिसे नियुक्त मनुष्य सदा बड़ी सावधानीसे साथ लिये रहते थे ऐसी स्वर्ण तथा रत्न निर्मित अर्हन्त भगवान्‌की प्रतिमाको रावणने नदीके उस तीर पर स्थापित कराया जो कि नदीके बीच नया निकला था, मनोहर था, सफ़ेद तथा देदीप्यमान था, बालूके द्वारा निर्मित ऊँचे चबूतरेसे सुशोभित था, जहाँ वैडूर्यमणिकी छड़ियोंपर चन्दोवा तानकर उसपर मोतियोंकी झालर लटकाई गई थी, और जो सब प्रकारके उपकरण इकट्ठे करनेमें व्यग्र परिजनोंसे भरा था ॥८६–८८॥ प्रतिमा स्थापित कर उसने भारी सुगन्धिसे भ्रमरोंको आकर्षित करनेवाले धूप, चन्दन, पुष्प तथा मनोहर नैवेद्यके द्वारा बड़ी पूजा की और सामने बैठकर चिर काल तक स्तुतिके पवित्र अक्षरोंसे अपने मुखको सहित किया ॥८९–९०॥

अथानन्तर रावण पूजामें निमग्न था कि अचानक ही उसकी पूजा सब ओरसे फेन

---

१. कज्जलरहितानाम् । २. निर्मुक्ति—क०, ख० । निर्मुक्तं म० । ३. सुरहेतुभिः क०, ख० । स्तरुहेतुभिः म०, ब० । ४. मूलं म० । ५. तरङ्गिणीजवे म० । ६. सगर्भवदनं म० ।

ततो दशाननः क्षिप्रं गृहीत्वा [1]प्रतियातनाम् । क्रुद्धो जगाद किन्न्वेतदिति विज्ञायतामरम् ॥९२॥
ततोऽनुसृत्य वेगेन नरैः प्रतिनिवृत्य च । निवेदितमिदं नाथ कोऽप्ययं पुरुषो महान् ॥९३॥
मध्येललामनारीणां ललामपरमोदयः । दूरस्थेन नृलोकेन वेष्टितः खड्गधारिणा ॥९४॥
नानाकाराणि यन्त्राणि बृहन्ति सुबहूनि च । विद्यन्ते तस्य नूनं तैः कृतमेतद्विचेष्टितम् ॥९५॥
व्यवस्थामात्रकं तस्य पुरुषा इति नो[2] मतिः । [3]अवष्टम्भस्तु यस्तस्य स एवान्यस्य दुःसहः ॥९६॥
वार्तया श्रूयते कोऽपि [4]शक्रः स्वर्गे तथा गिरौ । अयं तु वीक्षितोऽस्माभिः शुनासीरः [5]समक्षतः ॥९७॥
श्रुत्वा संकुचितभ्रूश्च रवं मुरजसंभवम् । वीणावंशादिभिर्युक्तं जयशब्दविमिश्रितम् ॥९८॥
गजवाजिनराणाञ्च [6]ध्वानमाज्ञापयन्नृपान् । त्वरितं गृह्यतामेष दुरात्मेति दशाननः ॥९९॥
दत्त्वा चाज्ञां पुनश्चक्रे पूजां रोधसि सत्तमाम् । रत्नकाञ्चननिर्माणैः पुष्पैर्जिनवराकृतौ ॥१००॥
शेषामिव दशास्याज्ञां कृत्वा शिरसि संभ्रमात् । अभ्यमित्रं ससन्नद्धाः प्रसस्रुर्व्योमगाधिपाः ॥१०१॥
दृष्ट्वा परबलं प्राप्तं सहस्रकिरणः क्षणात् । क्षुब्धो दत्त्वाभयं स्त्रीणां निर्जगाम जलाशयात् ॥१०२॥
ततः कलकलं श्रुत्वा विदित्वा च नरौघतः । संनह्य निर्ययुर्वीरा माहिष्मत्याः ससंभ्रमम् ॥१०३॥
गजवाजिसमारूढाः [7]पादातेन समावृताः । रथारूढाश्च सामन्ता विविधायुधधारिणः ॥१०४॥
सहस्रकिरणं प्राप्ता नितान्तमनुरागिणः । ऋतवः क्रमनिर्मुक्ताः सम्मेदमिव पर्वतम् ॥१०५॥
आपतन्तीं ततो दृष्ट्वा विद्याधरवरूथिनीम् । सहस्ररश्मिसामन्तास्त्यक्त्वा जीवितलोभिताम् ॥१०६॥

तथा बबूलोंसे युक्त, मलिन एवं वेगशाली जलके पूरसे नष्ट हो गई ॥९१॥ तब रावणने शीघ्र ही प्रतिमा ऊपर उठाकर कुपित हो लोगोंसे कहा कि मालूम करो क्या बात है? ॥९२॥ तदनन्तर लोगोंने वेगसे जाकर और वापिस लौटकर निवेदन किया कि हे नाथ! आभूषणोंसे परम अभ्युदयको प्रकट करनेवाला कोई मनुष्य सुन्दर स्त्रियोंके बीच बैठा है। तलवारको धारण करनेवाले मनुष्य दूर खड़े रहकर उसे घेरे हुए हैं। नाना प्रकारके बड़े-बड़े यन्त्र उसके पास विद्यमान हैं। निश्चय ही यह कार्य उन सब यन्त्रोंका किया है ॥९३–९५॥ हमारा ध्यान है कि उसके पास जो पुरुष हैं वे तो व्यवस्था मात्रके लिए हैं यथार्थमें उसका जो बल है वही दूसरोंके लिए दुःखसे सहन करने योग्य है ॥९६॥ लोक-कथासे सुना जाता है कि स्वर्गमें अथवा सुमेरु पर्वतपर इन्द्र नामका कोई व्यक्ति रहता है पर हमने तो यह साक्षात् ही इन्द्र देखा है ॥९७॥ उसी समय रावणने वीणा बाँसुरी आदिसे युक्त तथा जय-जय शब्दसे मिश्रित मृदङ्गका शब्द सुना। साथ ही हाथी घोड़े और मनुष्योंका शब्द भी उसने सुना। सुनते ही उसकी भौंह चढ़ गई। उसी समय उसने राजाओंको आज्ञा दी कि इस दुष्टको शीघ्र ही पकड़ा जाय ॥९८–९९॥ आज्ञा देकर रावण फिर नदीके किनारे रत्न तथा सुवर्ण निर्मित पुष्पोंसे जिन-प्रतिमाकी उत्तम पूजा करने लगा ॥१००॥ विद्याधर राजाओंने रावणकी आज्ञा शेषाक्षतके समान मस्तकपर धारण की और तैयार हो वे शीघ्र ही शत्रुके सम्मुख दौड़ पड़े ॥१०१॥

तदनन्तर शत्रुदलको आया देख सहस्ररश्मि क्षण भरमें क्षुभित हो गया और स्त्रियोंको अभय देकर शीघ्र ही जलाशयसे बाहर निकला ॥१०२॥ तत्पश्चात् कल-कल सुनकर और जन समूहसे सब समाचार जानकर माहिष्मतीके वीर शीघ्र ही तैयार हो बाहर निकल पड़े ॥१०३॥ जिस प्रकार वसन्त आदि ऋतुएँ सम्मेदाचलके पास एक साथ आ पहुँचती हैं उसी प्रकार नाना तरह के शस्त्रोंको धारण करनेवाले बहुत भारी अनुरागसे भरे सामन्त सहस्ररश्मिके पास एक साथ आ पहुँचे। वे सामन्त हाथियों घोड़ों और रथोंपर सवार थे तथा पैदल चलनेवाले सैनिकों से युक्त थे ॥१०४–१०५॥ परस्पर एक दूसरेकी रक्षा करनेमें तत्पर तथा उत्साहसे भरे सहस्र-

१. प्रतिमां। २. अस्माकम्। ३. बलम्। ४. शक्रः म०। ५. प्रत्यक्षम्। ६. ध्वनिमाज्ञापयन् म०। ७. पदातीनां समूहस्तेन।

विरचय्य घनव्यूहमन्योऽन्यं पालनोद्यताः । विनापि भर्तृवाक्येन सोत्साहा योद्धुमुत्थिताः ॥१०७॥
बले च राक्षसेशस्य रणं कर्तुं समुद्यते । विचेरुरम्बरे वाचः सुराणामिति सत्वराः ॥१०८॥
अहो महानयं वीरैरन्यायः कर्तुमीप्सितः । भूगोचरैः समं योद्धुमुद्यता यन्नभश्चराः ॥१०९॥
अमी भूगोचराः स्वल्पा वराका ऋजुचेतसः । विद्यामायाकृतोऽत्यन्तं बहवश्च नभश्चराः ॥११०॥
इति श्रुत्वाथ खे शब्दं पुनरुक्तं समाकुलम् । त्रपायुक्ता भुवं याताः खेचराः साधुवृत्तयः ॥१११॥
असिर्बाण[1]गदाप्रासैरथ जघ्नुः परस्परम् । तुल्यप्रतिभटारब्धे रणे रावणमानवाः ॥११२॥
रथिनो रथिभिः सार्धं तुरङ्गास्तुरगैरमी[2] । साकं गजैर्गजाः सम्रा पादातं च पदातिभिः ॥११३॥
न्यायेन योद्धुमारब्धाः क्रमानीतपराजयाः । शस्त्रसंपात[3]निष्पेषसमुत्थापितवह्नयः ॥११४॥
भङ्गासन्नं ततः सैन्यं निजं वीक्ष्य परैर्द्रुतम् । सहस्ररश्मिरारुह्य रथमुख्यं[4] समागतः ॥११५॥
किरीटी कवची चापि तेजो बिभ्रदनुत्तमम् । विद्याधरबलं दृष्ट्वा स न बिभ्ये मनागपि ॥११६॥
स्वामिनाधिष्ठिताः सन्तस्ततः प्रत्यागतौजसः । उद्गूर्णविस्फुरच्छत्रा[5] विस्मृतक्षतवेदनाः ॥११७॥
प्रविष्टा रक्षसां सैन्यं रणशौण्डा महीचराः । स्तम्बेरमा इवोद्भूतमदा गम्भीरमर्णवम् ॥११८॥
ततः सहस्रकिरणो बिभ्राणः कोपमुत्तमम् । परांश्चिक्षेप बाणौघैर्घनानिव सदागतिः ॥११९॥
प्रतीहारेण चाख्यातमिति कैलासकम्पिने । देव पश्य नरेन्द्रेण केनाप्येतेन ते बलम् ॥१२०॥

रश्मिके सामन्तोंने जब विद्याधरोंकी सेना आती देखी तो वे जीवनका लोभ छोड़ मेघव्यूहकी रचनाकर स्वामीकी आज्ञाके विना ही युद्ध करनेके लिए उठ खड़े हुए ॥१०६-१०७॥ इधर जब रावणकी सेना युद्ध करनेके लिए उद्यत हुई तब आकाशमें सहसा देवताओंके निम्नाङ्कित वचन विचरण करने लगे ॥१०८॥ देवताओंने कहा कि अहो ! वीर लोग यह बड़ा अन्याय करना चाहते हैं कि भूमिगोचरियोंके साथ विद्याधर युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए हैं ॥१०९॥ ये बेचारे भूमिगोचरी थोड़े तथा सरल चित्त हैं और विद्याधर इनके विपरीत विद्या तथा मायाको करनेवाले एवं संख्यामें बहुत हैं ॥११०॥ इस प्रकार आकाशमें बार-बार कहे हुए इस आकुलता पूर्ण शब्दको सुनकर अच्छी प्रवृत्तिवाले विद्याधर लज्जासे युक्त होते हुए पृथिवीपर आ गये ॥१११॥ तदनन्तर समान योद्धाओंके द्वारा प्रारम्भ किये हुए युद्धमें रावणके पुरुष परस्पर तलवार, बाण, गदा और भाले आदिसे प्रहार करने लगे ॥११२॥ रथोंके सवार रथोंके सवारोंके साथ, घुड़सवार घुड़सवारोंके साथ, हाथियोंके सवार हाथियोंके सवारोंके साथ, और पैदल सैनिक पैदल सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे ॥११३॥ जिन्हें क्रम-क्रमसे पराजय प्राप्त हो रहा था और जिनके शस्त्र समूहकी टक्करसे अग्नि उत्पन्न हो रही थी ऐसे योद्धाओंने न्यायपूर्वक युद्ध करना शुरू किया ॥११४॥ जब सहस्ररश्मिने अपनी सेनाको शीघ्र ही नष्ट होनेके निकट देखा तब उत्तम रथपर सवार हो तत्काल आ पहुँचा ॥११५॥ उत्तम किरीट और कवचको धारण करनेवाला सहस्ररश्मि उत्कृष्ट तेजको धारण करता था इसलिए विद्याधरोंकी सेना देख वह जरा भी भयभीत नहीं हुआ ॥११६॥ तदनन्तर स्वामीसे सहित होनेके कारण जिनका तेज पुनः वापिस आ गया था, जिनके ऊपर खुले हुए छत्र लग रहे थे और जिन्होंने घावोंका कष्ट भुला दिया था ऐसे रणनिपुण भूमिगोचरी राक्षसोंकी सेनामें इस प्रकार घुस गये जिस प्रकार कि मदोन्मत्त हाथी गहरे समुद्रमें घुस जाते हैं ॥११७-११८॥ जिस प्रकार वायु मेघोंको उड़ा देता है उसी प्रकार अत्यधिक क्रोधको धारण करनेवाला सहस्ररश्मि बाणोंके समूहसे शत्रुओंको उड़ाने लगा ॥११९॥ यह देख द्वारपालने रावणसे निवेदन किया कि हे देव ! देखो

---

१. वाणि म० । २. सार्धम् । ३. निश्शेष ख०, म० । ४. श्रेष्ठम् । रथमुध्वंसमागतः म० । ५. प्रस्फुरच्छत्रा क० ।

धानुष्केण रथस्थेन पश्यता तृणवज्जगत् । योजनं यावदस्मानं शरौघैरपसारितम् ॥१२१॥
ततोऽभिमुखमायातं तमालोक्य यमार्दनः[1] । आरुह्य [2]त्रिजगद्भूषनामानं मत्तवारणम् ॥१२२॥
परैरालोकितो भीतैर्विमुक्तशरसंहतिः । सहस्रकिरणं चक्रे विरथं दुःसहद्युतिः[3] ॥१२३॥
ततः सहस्रकिरणः समारुह्य द्विपोत्तमम् । अभीयाय पुनः क्रुद्धस्तरसा राक्षसाधिपम् ॥१२४॥
सहस्ररश्मिना मुक्ता बाणा निर्भिद्य कङ्कटम् । अङ्गानि दशवक्त्रस्य बिभिदुर्निशिताननाः ॥१२५॥
रत्नश्रवःसुतेनास्तान्बाणानाकृष्य देहतः । सहस्रकिरणो हासं कृत्वेत्यवददुन्नतम् ॥१२६॥
अहो रावण धानुष्को महानसि कुतस्तव । उपदेशोऽयमायातो गुरोः परमकौशलात् ॥१२७॥
वत्स तावद्धनुर्वेदमधीष्व कुरु च श्रमम् । ततो मया समं युद्धं करिष्यसि [4]नयोज्झितः ॥१२८॥
ततः परुषवाक्येन प्राप्तः संरम्भमुत्तमम् । बिभेद यक्षमर्दस्तं कुन्तेनालिकपट्टके[5] ॥१२९॥
गलद्रुधिरधारोऽसौ घूर्णमाननिरीक्षणः । मोहं गत्वा [6]समाश्वस्तो यावद् गृह्णाति सायकम् ॥१३०॥
तावदुत्पत्य वेगेन तमष्टापदकम्पनः[7] । अनुज्झितमहाधैर्यं जीवग्राहं गृहीतवान् ॥१३१॥
नीतः स्वनिलयं बद्ध्वा खगैर्दृष्टः सविस्मयैः । यदि नामोत्पतेत् सोऽपि केन गृह्येत जन्तुना ॥१३२॥
सहस्ररश्मिवृत्तान्तादिव नीतिमुपागतः । [9]सहस्ररश्मिरैदस्तं सन्ध्याप्राकारवेष्टितः ॥१३३॥
दशवक्त्रविमुक्तेन कोपेनेव च भूरिणा । तमसा पिहितो लोकः सदसत्समताकृता ॥१३४॥

जगत्को तृणके समान तुच्छ देखनेवाले, रथपर बैठे धनुषधारी इस किसी राजाने बाणोंके समूह से तुम्हारी सेनाको एक योजन पीछे खदेड़ दिया है ॥१२०–१२१॥ तदनन्तर सहस्ररश्मिको सम्मुख आता देख दशानन त्रिलोकमण्डन नामक हाथीपर सवार हो चला। शत्रु जिसे भयभीत होकर देख रहे थे तथा जिसका तेज अत्यन्त दुःसह था ऐसे रावणने बाणोंका समूह छोड़कर सहस्ररश्मिको रथरहित कर दिया ॥१२२–१२३॥ तब सहस्ररश्मि उत्तम हाथीपर सवार हो क्रुद्ध होता हुआ वेगसे पुनः रावणके सम्मुख आया ॥१२४॥ इधर सहस्ररश्मिके द्वारा छोड़े हुए पैने बाण कवचको भेदकर रावणके अङ्गोंको विदीर्ण करने लगे ॥१२५॥ उधर रावणने सहस्ररश्मिके प्रति जो बाण छोड़े थे उन्हें वह शरीरसे खींचकर हँसता हुआ जोरसे बोला ॥१२६॥ कि अहो रावण ! तुम तो बड़े धनुर्धारी मालूम होते हो। यह उपदेश तुम्हें किस कुशल गुरुसे प्राप्त हुआ है ? ॥१२७॥ अरे छोकड़े ! पहले धनुर्वेद पढ़ और अभ्यास कर, फिर मेरे साथ युद्ध करना। तू नीतिसे रहित जान पड़ता है ॥१२८॥ तदनन्तर उक्त कठोर वचनोंसे बहुत भारी क्रोधको प्राप्त हुए रावणने एक भाला सहस्ररश्मिके ललाटपर मारा ॥१२९॥ जिससे रुधिरकी धारा बहने लगी तथा आँखें घूमने लगीं। मूर्छित हो पुनः सावधान होकर जब तक वह बाण ग्रहण करता है तब तक रावणने वेगसे उछलकर उस धैर्यशालीको जीवित ही पकड़ लिया ॥१३०–१३१॥ रावण उसे बाँधकर अपने डेरेपर ले गया। विद्याधर उसे बड़े आश्चर्यसे देख रहे थे। वे सोच रहे थे कि यदि यह किसी तरह उछलकर छूटता है तो फिर इसे कौन पकड़ सकेगा ? ॥१३२॥

तदनन्तर संध्यारूपी प्राकारसे वेष्टित होता हुआ सूर्य अस्त हो गया सो ऐसा जान पड़ता था मानो सहस्ररश्मिके इस वृत्तान्तसे उसने कुछ नीतिको प्राप्त किया था अर्थात् शिक्षा ग्रहण की थी ॥१३३॥ अच्छे और बुरेको समान करनेवाले अन्धकारसे लोक आच्छादित हो गया सो ऐसा जान पड़ता था मानो रावणके द्वारा छोड़े हुए बहुत भारी क्रोधसे ही आच्छादित हुआ

---

१. रावणः । २. त्रिलोकमण्डननामधेयम् । ३. श्रुतिः ख० । ४. नयोज्झतः म० । ५. भालतटे । ६. समास्वस्थो म० । ७. कैलासकम्पनो रावणः । ८. महो धैर्यं म०, ब०, क० । ९. सूर्यः, सहस्ररश्मिः + ऐत् + अस्तम् । ऐत् = अगच्छत् ।

तत्तो रणादिव प्राप्तमत्यन्तविमलं यशः । शशाङ्कबिम्बमुद्यातं तमोहरणपण्डितम् ॥१३५॥
व्रणभङ्गविधानेन भटानां वीर्यवर्णनैः । गवेषणैश्च भिन्नानां निद्रया चाक्षतात्मनाम् ॥१३६॥
गता राक्षससैन्यस्य रजनी सा यथायथम् । विबुद्धश्च दशग्रीवः प्रभातहततूर्यतः ॥१३७॥
ततो वार्तामिव ज्ञातुं दशवक्त्रस्य भास्करः । [2]बिभ्राणः परमं रागं कम्पमानः समागतः ॥१३८॥
शतबाहुरथ श्रुत्वा सुतं बद्धं दिगम्बरः । जङ्घाचारणलब्धीशो महाबाहुर्महातपाः ॥१३९॥
रजनीपतिवत्कान्तो दीप्तस्तिग्ममरीचिवत् । मेरुवत् स्थैर्यसम्पन्नो धीरो रत्नालयो यथा ॥१४०॥
कृतप्रत्यङ्गकर्माणं [3]सभामध्यसुखस्थितम् । प्रशान्तमानसः प्राप रावणं लोकवत्सलः ॥१४१॥
दूरादेव ततो दृष्ट्वा मुनिं कैलासकम्पनः । अभ्युत्तस्थौ प्रणामं च चक्रे भूमिस्थमस्तकः ॥१४२॥
वरासनोपविष्टे च यतौ भूमावुपाविशत् । करद्वयं समासाद्य विनयानतविग्रहः ॥१४३॥
जगाद चेति भगवन् कृतकृत्यस्य विद्यते । न तवागमने हेतुर्विहाय मम पावनम् ॥१४४॥
ततः प्रशंसनं कृत्वा कुलवीर्यविभूतिभिः । क्षरन्निवामृतं वाचा जगादेति दिगम्बरः ॥१४५॥
आयुष्मन्निदमस्त्येव शुभसङ्कल्पतस्तव । नान्तरीयकमेतत्तु वदामि यदिदं शृणु ॥१४६॥
पराभिभवमात्रेण क्षत्रियाणां कृतार्थता । यतः सहस्रकिरणं ततो मुञ्च ममाङ्गजम् ॥१४७॥
संप्रधार्य ततः सार्धमिङ्गितैरे[4]व मन्त्रिभिः । उवाच कैकसीपुत्रः प्रणतो मुनिपुङ्गवम् ॥१४८॥

हो ॥१३४॥ तदनन्तर अन्धकारके हरनेमें निपुण चन्द्रमाका बिम्ब उदित हुआ सो ऐसा जान पड़ता था मानो युद्धसे उत्पन्न हुआ रावणका अत्यन्त निर्मल यश ही हो ॥१३५॥ उस समय कोई तो घायल सैनिकोंके घावोंपर मरहमपट्टी लगा रहे थे, कोई योद्धाओंके पराक्रमका वर्णन कर रहे थे, कोई गुमे हुए सैनिकोंकी तलाश कर रहे थे और कोई, जिन्हें घाव नहीं लगे थे सो रहे थे। इस प्रकार यथायोग्य कार्योंसे रावणकी सेनाकी रात्रि व्यतीत हुई। प्रभात हुआ तो प्रभात सम्बन्धी तुरहीके शब्दसे रावण जागृत हुआ ॥१३६–१३७॥ तदनन्तर परम रागको धारण करता हुआ सूर्य काँपता-काँपता उदित हुआ सो ऐसा जान पड़ता था मानो रावणका समाचार जाननेके लिए उदित हुआ हो ॥१३८॥

अथानन्तर सहस्ररश्मिके पिता शतबाहु, जो दिगम्बर थे, जिन्हें जङ्घाचारण ऋद्धि प्राप्त थी जो महाबाहु, महातपस्वी, चन्द्रमाके समान सुन्दर, सूर्यके समान तेजस्वी, मेरुके समान स्थिर और समुद्रके समान गम्भीर थे, पुत्रको बँधा सुनकर रावणके समीप आये। उस समय रावण अपने शरीरसम्बन्धी कार्योंसे निपटकर सभाके बीचमें सुखसे बैठा था और मुनिराज शतबाहु प्रशान्तचित्त एवं लोगोंसे स्नेह करनेवाले थे ॥१३९–१४१॥ रावण, मुनिराजको दूरसे ही देखकर खड़ा हो गया उसने सामने जाकर तथा पृथ्वीपर मस्तक टेककर नमस्कार किया ॥१४२॥ जब मुनिराज उत्कृष्ट प्रासुक आसनपर विराजमान हो गये तब रावण पृथ्वीपर दोनों हाथ जोड़कर बैठ गया। उस समय उसका सारा शरीर विनयसे नम्रीभूत था ॥१४३॥ रावणने कहा कि हे भगवन्! आप कृतकृत्य हैं अतः मुझे पवित्र करनेके सिवाय आपके यहाँ आनेमें दूसरा कारण नहीं है ॥१४४॥ तब कुल, वीर्य और विभूतिके द्वारा रावणकी प्रशंसा कर वचनोंसे अमृत झराते हुए की तरह मुनिराज कहने लगे कि ॥१४५॥ हे आयुष्मन्! तुम्हारे शुभ संकल्पसे यही बात है फिर भी मैं एक बात कहता हूँ सो सुन ॥१४६॥ यतश्च शत्रुओंका पराभव करने मात्रसे क्षत्रियोंके कृतकृत्यपना हो जाता है अतः तुम मेरे पुत्र सहस्ररश्मिको छोड़ दो ॥१४७॥ तदनन्तर रावणने मन्त्रियोंके साथ इशारोंसे सलाहकर नम्र हो मुनिराजसे कहा कि हे नाथ! मेरा निम्नप्रकार निवेदन है। मैं इस समय राजलक्ष्मीसे उन्मत्त एवं हमारे पूर्वजोंका

१. -मुद्योतं म०, ख०, ब० । २. बिभ्राणं म० । ३. सभामध्ये म० । ४. -रेव ख० । -रिव म० ।

विज्ञापयामि नाथाहं प्रस्थितः खेचराधिपम् । वशीकर्तुं श्रिया मत्तं कृतास्मत्पूर्वजागसम् ॥१४९॥
तत्र याते[1] हि रेवायां रम्यायां जिनपूजनम् । मया तटस्थचक्रेण कृतं विमलसैकते ॥१५०॥
सहोपकरणै[2]श्चासौ नीता[3] पूजा सुरंहसा । सहसा पयसा यन्त्ररचितेनास्य भोगिनः ॥१५१॥
ततो मया जिनेन्द्रार्चाध्वंसोद्भूतमहारुषा । कृतं कर्मेदमर्थेन न विना द्वेष्मि मानवान् ॥१५२॥
न चानेनोदितं[4] मह्यं संप्राप्ताय प्रमादिना । यथा ज्ञातं मया नेदं क्षम्यतामिति मानिना ॥१५३॥
भूचरान्मानुषाञ्जेतुं यो न शक्तः स खेचरान् । कथं जेष्यामि विद्याभिः कृतनानाविचेष्टितान् ॥१५४॥
वशीकरोम्यतस्तावद्भूचरान्मानशालिनः । ततो विद्याधराधीशं सोपानक्रमयोगतः ॥१५५॥
ततो वशीकृतस्यास्य मुक्तिर्न्याय्यैव किं पुनः । [5]भवत्स्वाज्ञां प्रयच्छत्सु पुण्यवद्दृश्यमूर्तिषु ॥१५६॥
अथेन्द्रजिदुवाचेदं साधु देवेन भाषितम् । को वा नयविदं नाथं मुक्त्वा जानाति भाषितुम् ॥१५७॥
ततो दशमुखादिष्टो मारीचोऽधिकृतैर्नरैः । आनाययत्सहस्रांशुं नग्नसायकपाणिभिः ॥१५८॥
तातस्य चरणौ नत्वा भूमौ चासावुपाविशत् । सम्मान्य च दशास्येन विरोषेणेति भाषितः ॥१५९॥
अद्य प्रभृति मे भ्राता तुरीयस्त्वं महाबलः । जेष्यामि भवता साकं कृताखण्डलविभ्रमम् ॥१६०॥
स्वयंप्रभां च ते दास्ये मन्दोदर्याः कनीयसीम् । कृतं यत्त्वया तन्न प्रमाणं मे वराकृते ॥१६१॥
सहस्ररश्मिरूचे च धिङ् मे राज्यमशाश्वतम् । [6]आपातमात्ररम्यांश्च विषयान् दुःखभूयसः ॥१६२॥

अपराध करनेवाले विद्याधराधिपति इन्द्रको वश करनेके लिए प्रयाण कर रहा हूँ ॥१४८-१४९॥ सो इस प्रयाणकालमें मनोहर रेवा नदीके किनारे चक्ररत्न रखकर मैं बालूके निर्मल चबूतरेपर जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेके लिए बैठा था सो इस भोगी—विलासी सहस्ररश्मिके यन्त्ररचित वेगशाली जलसे उपकरणोंके साथ-साथ मेरी वह सब पूजा अचानक बह गई ॥१५०-१५१॥ जिनेन्द्र भगवान्की पूजाके नष्ट हो जानेसे मुझे बहुत क्रोध उत्पन्न हुआ सो इस क्रोधके कारण ही मैंने यह कार्य किया है। प्रयोजनके बिना मैं किसी मनुष्यसे द्वेष नहीं करता ॥१५२॥ जब मैं पहुँचा तब इस मानी एवं प्रमादीने यह भी नहीं कहा कि मुझे ज्ञान नहीं था अतः क्षमा कीजिए ॥१५३॥ जो भूमिगोचरी मनुष्योंको जीतनेके लिए समर्थ नहीं है वह विद्याओंके द्वारा नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करनेवाले विद्याधरोंको कैसे जीत सकेगा ? ॥१५४॥ यही सोचकर मैं पहले अहंकारी भूमिगोचरियोंको वश कर रहा हूँ। उसके बाद श्रेणीके क्रमसे विद्याधराधिपति इन्द्रको वश करूँगा ॥१५५॥ इसे मैं वश कर चुका हूँ अतः इसको छोड़ना न्यायोचित ही है फिर जिनके दर्शन केवल पुण्यवान् मनुष्योंको ही हो सकते हैं ऐसे आप आज्ञा प्रदान कर रहे हैं अतः कहना ही क्या है ? ॥१५६॥ तदनन्तर रावणके पुत्र इन्द्रजित्ने कहा कि आपने बिलकुल ठीक कहा है सो उचित ही है क्योंकि आप जैसे नीतिज्ञ राजाको छोड़कर दूसरा ऐसा कौन कह सकता है ? ॥१५७॥

तदनन्तर रावणका आदेश पाकर मारीच नामा मन्त्रीने हाथमें नंगी तलवार लिये हुए अधिकारी मनुष्योंके द्वारा सहस्ररश्मिको सभामें बुलवाया ॥१५८॥ सहस्ररश्मि पिताके चरणोंमें नमस्कारकर भूमिपर बैठ गया। रावणने क्रोध रहित होकर बड़े सन्मानके साथ उससे कहा ॥१५९॥ कि आजसे तुम मेरे चौथे भाई हो। चूँकि तुम महाबलवान् हो अतः तुम्हारे साथ मैं इन्द्रकी विडम्बना करनेवाले राजा इन्द्रको जीतूँगा ॥१६०॥ मैं तुम्हारे लिए मन्दोदरीकी छोटी बहिन स्वयंप्रभा दूँगा। हे सुन्दर आकृतिके धारक ! तुमने जो किया है वह मुझे प्रमाण है ॥१६१॥ सहस्ररश्मि बोला कि मेरे इस क्षणभङ्गुर राज्यको धिक्कार है। जो प्रारम्भमें रमणीय दिखते

१. जाते ख०, क० । २. महोपकरणै- म०, ब० । ३. अपहृता । ४. कथितम् । ५. भवत्सु + आज्ञां । ६. आपातरम्यांश्च विषयान्पश्चाद्दुःखभूयसः क०, ख० ।

स्वर्गं धिक्च्युतियोगेन धिग्देहं दुःखभाजनम् । धिङ् मां वञ्चितमत्यन्तं चिरकालं कुकर्मभिः ॥१६३॥
तत्करोमि पुनर्येन न पतामि भवार्णवे । गतिष्वत्यन्तदुःखासु निर्विण्णः पर्यटन्नहम् ॥१६४॥
उवाचेति दशास्यश्च ननु प्रवयसां नृणाम् । प्रव्रज्या शोभते भद्र त्वं च प्रत्यग्रयौवनः ॥१६५॥
सहस्रांशुरुवाचेति नैव मृत्युर्विवेकवान् । शरदभ्र इवाकस्माद्देहो नाशं प्रपद्यते ॥१६६॥
यदि नाम भवेत् सारः कश्चिद्भोगेषु रावण । तातेनैव न मे त्यक्तास्ते स्युरुत्तमबुद्धिना ॥१६७॥
इत्युक्त्वा तनये न्यस्य राज्यं परमनिश्चयः । क्षमितो दशवक्त्रेण प्राव्रजत्पितुरन्तिके ॥१६८॥
तेन चाभिहितः पूर्वमयोध्यायाः पतिः सुहृत् । अनरण्योऽनगारत्वं प्रपत्स्येऽहं यदा तदा ॥१६९॥
तुभ्यं वेदयितास्मीति तथायं तेन भाषितः । ज्ञापनार्थमतोऽनेन तस्मै संप्रेषिता नराः ॥१७०॥
ततोऽसौ कथिते पुम्भिः श्रुत्वा बाष्पाकुलेक्षणः । विललाप चिरं स्मृत्वा गुणांस्तस्य महात्मनः ॥१७१॥
विषादे च गते मान्द्यमित्युवाच महाबुधः । बन्धुस्तस्य समायातो रिपुवेषेण रावणः ॥१७२॥
ऐश्वर्यपञ्जरान्तस्थो विषयैर्मोहितश्चिरम् । येनात्यन्तानुकूलेन नरपक्षी विमोचितः ॥१७३॥
माहिष्मतीपतिर्धन्यः साम्प्रतं यो भवार्णवम् । तितीर्षति यमध्वंसबोधपोतसमाश्रितः ॥१७४॥
कृतार्थः साम्प्रतं जातो यदन्तेऽत्यन्तदुःखदम् । पापं राज्याख्यमुज्झित्वा व्रतं जैनेश्वरं श्रितः ॥१७५॥

हैं और अन्तमें जो दुःखोंसे बहुल होते हैं उन विषयोंको धिक्कार है ॥१६२॥ उस स्वर्गके लिए धिक्कार है जिससे कि च्युति अवश्यम्भावी है। दुःखके पात्र स्वरूप इस शरीरको धिक्कार है और जो चिरकाल तक दुष्ट कर्मोंसे ठगा गया ऐसे मुझे भी धिक्कार है ॥१६३॥ अब तो मैं वह काम करूँगा जिससे कि फिर संसारमें नहीं पड़ूँ। अत्यन्त दुःखदायी गतियोंमें घूमता-घूमता मैं बहुत खिन्न हो चुका हूँ ॥१६४॥ इसके उत्तरमें रावणने कहा कि हे भद्र ! दीक्षा तो वृद्ध मनुष्योंके लिए शोभा देती है अभी तो तुम नव यौवनसे सम्पन्न हो ॥१६५॥ सहस्ररश्मिने रावणकी बात काटते हुए बीचमें ही कहा कि मृत्युको ऐसा विवेक थोड़ा ही है कि वह वृद्ध जनको ही ग्रहण करे यौवन वालेको नहीं। अरे ! यह शरीर शरद् ऋतुके बादलके समान अकस्मात् ही नष्ट हो जाता है ॥१६६॥ हे रावण ! यदि भोगोंमें कुछ सार होता तो उत्तम बुद्धिके धारक पिताजीने ही उनका त्याग नहीं किया होता ॥१६७॥ ऐसा कहकर उसने दृढ़ निश्चयके साथ पुत्रके लिए राज्य सौंपा और दशाननसे क्षमा याचनाकर पिता शतबाहुके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥१६८॥ सहस्ररश्मिने अपने मित्र अयोध्याके राजा अनरण्यसे पहले कह रक्खा था कि जब मैं दिगम्बर दीक्षा धारण करूँगा तब तुम्हारे लिए खबर दूँगा और अनरण्यने भी सहस्ररश्मिसे ऐसा ही कह रक्खा था सो इस कथनके अनुसार सहस्ररश्मिने खबर देनेके लिए अनरण्यके पास आदमी भेजे ॥१७०॥ गये हुए पुरुषोंने जब अनरण्यसे सहस्ररश्मिके वैराग्यकी वार्ता कही तो उसे सुनकर उसके नेत्र आँसुओंसे भर गये। उस महापुरुषके गुणोंका स्मरणकर वह चिर काल तक विलाप करता रहा ॥१७१॥ जब विषाद कम हुआ तो महाबुद्धिमान् अनरण्यने कहा कि उसके पास रावण क्या आया मानो शत्रुके वेषमें भाई ही उसके पास आया ॥१७२॥ वह रावण कि जिसने अत्यन्त अनुकूल होकर विषयोंसे मोहित हो चिरकाल तक ऐश्वर्य रूपी पिंजड़ेके अन्दर स्थित रहनेवाले इस मनुष्य रूपी पक्षीको मुक्त किया है ॥१७३॥ माहिष्मतीके राजा सहस्ररश्मिको धन्य है जो रावणके सम्यग्ज्ञान रूपी जहाजका आश्रय ले संसार रूपी सागरको तैरना चाहता है ॥१७४॥ जो अन्तमें अत्यन्त दुख देनेवाले राज्य नामक पापको छोड़कर जिनेन्द्र प्रणीत व्रतको प्राप्त हुआ है अब

१. सुवियोगेन ब० । द्युतियोगेन म० । २. प्रव्रज्यां म० । ३. ततो नैव न मे म० । तातेनैव हि मे ख०, क० । ४. यमध्वंसं क०, ख० । यमध्वंसेन रावणेन निमित्तेन बोधपोतं सम्यग्ज्ञानतरणिं समाश्रितः प्राप्तः इत्यर्थः ।

अभिनन्द्येति संविग्नः क्षिप्त्वा लक्ष्मीं शरीरजे[1]। सुतेन ज्यायसा साकमनरण्योऽभवन्मुनिः ॥१७६॥

रथोद्धतावृत्तम्

येन केनचिदुदात्तकर्मणा कारणेन रिपुणेतरेण वा।
निर्मितेन समवाप्यते मतिः श्रेयसी न तु [2]निकृष्टकर्मणा ॥१७७॥
यः प्रयोजयति मानसं शुभे यस्य तस्य परमः स बान्धवः।
भोगवस्तुनि तु यस्य मानसं यः करोति परमारिरस्य सः ॥१७८॥
भावयन्निति सहस्रदीधितिं योऽनरण्यनृपतिं शृणोति च।
[3]संयुतं [4]श्रमणशीलसंपदा स प्रजत्यमलतां यथा रविः ॥१७९॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते दशग्रीवप्रस्थाने सहस्ररश्म्यनरण्य-श्रामण्याभिधानं नाम दशमं पर्व ॥१०॥

उसकी कृत-कृत्यताका क्या पूछना ॥१७५॥ इस प्रकार सहस्ररश्मिकी प्रशंसाकर अनरण्य भी संसारसे भयभीत हो पुत्रके लिए राज्यलक्ष्मी सौंप बड़े पुत्रके साथ मुनि हो गया ॥१७६॥

गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! जब उत्कृष्ट कर्मका निमित्त मिलता है तब शत्रु अथवा मित्र किसीके भी द्वारा इस जीवको कल्याणकारी बुद्धि प्राप्त हो जाती है पर जब तक निकृष्ट कर्मका उदय रहता है तब तक प्राप्त नहीं होती ॥१७७॥ जो जिसके मनको अच्छे कार्यमें लगा देता है यथार्थ में वही उसका बान्धव है और जो जिसके मनको भोगोपभोगकी वस्तुओंमें लगाता है वही उसका वास्तविक शत्रु है ॥१७८॥ इस प्रकार सहस्ररश्मिका ध्यान करता हुआ जो मनुष्य मुनियोंके समान शीलरूपी सम्पदासे युक्त राजा अनरण्यका चरित्र सुनता है वह सूर्यके समान निर्मलताको प्राप्त होता है ॥१७९॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्यके द्वारा कथित पद्मचरितमें दशाननके प्रयाणके समय राजा सहस्ररश्मि और अनरण्यकी दीक्षाका वर्णन करनेवाला दशम पर्व पूर्ण हुआ ॥१०॥

---

१. पुत्रे। २. विकृष्ट - म०। ३. संयतं क०, ख०, म०। ४. श्रवणशीलसंपदा म०।

एकादशं पर्व

अथ कैलाससंक्षोभो यान् यान् मानवतो नृपान् । शृणोति धरणीयातांस्तांस्तान्सर्वाननीनमत् ॥१॥
वशीकृतैश्च सन्मानं प्रापितैर्वेष्टितो नृपैः । पश्यन् स्फीतपुरामुर्वीं सुभूमश्चक्रभृद्यथा[1] ॥२॥
नानादेशसमुत्पन्नैर्नानाकारैर्नरैर्वृतः । नानाभूषाधरैर्नानाभाषैर्विविधवाहनैः ॥३॥
कारयन् जीर्णचैत्यानां[2] संस्कारान् परमां तथा । पूजां देवाधिदेवानां जिनेन्द्राणां सुभावितः[3] ॥४॥
ध्वंसयन् जिनविद्वेषकारिणः खलमानवान् । दुर्विधान्[4] करुणायुक्तो धनेन परिपूरयन् ॥५॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धान् वत्सलः पूजयञ्जनान् । प्रणमन् श्रमणान् भक्त्या रूपमात्रश्रितानपि ॥६॥
उदीचीं प्रस्थितः काष्ठां प्रतापं दुस्सहं किरन् । यथोत्तरायणे भानुः पुण्यकर्मानुभावतः ॥७॥
बलवांश्च श्रुतस्तेन राजा राजपुराधिपः । अभिमानं परं बिभ्रत्परप्रणतिवर्जितः ॥८॥
जन्मप्रभृति[5] दुश्चेता[6] लौकिकोन्मार्गमोहितः । प्रविष्टः प्राणिविध्वंसं यज्ञदीक्षाख्यपातकम् ॥९॥
अथ यज्ञध्वनिं श्रुत्वा श्रेणिको गणपालिनम् । इत्यपृच्छद् विभो तावदास्तां रावणकीर्तनम् ॥१०॥
उत्पत्तिं भगवन्नस्य यज्ञस्येच्छामि वेदितुम् । प्रवृत्तो दारुणो यस्मिन् जनो[7] जन्तुविनाशने ॥११॥
उवाच च गणाधीशः शृणु श्रेणिक शोभनम् । भवता पृष्टमेतेन बहवो मोहिता जनाः ॥१२॥

अथानन्तर रावणने पृथ्वीपर जिन-जिन राजाओंको मानी सुना उन सबको नम्रीभूत किया ॥१॥ जिन राजाओंको इसने वश किया था उनका सम्मान भी किया और ऐसे उन समस्त राजाओंसे वेष्टित होकर उसने बड़े-बड़े ग्रामोंसे सहित पृथ्वीको देखते हुए सुभूमचक्रवर्तीके समान भ्रमण किया ॥२॥ इसके साथ नाना देशोंमें उत्पन्न हुए नाना आकारके मनुष्य थे। वे मनुष्य नाना प्रकारके आभूषण पहने हुए थे, नाना प्रकारकी उनकी चेष्टाएँ थीं और नाना प्रकारके वाहनोंपर वे आरूढ़ थे ॥३॥ वह जीर्ण मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराता जाता था और देवाधिदेव जिनेन्द्रदेवकी बड़े भावसे पूजा करता था ॥४॥ जैनधर्मके साथ द्वेष रखनेवाले दुष्ट मनुष्योंको नष्ट करता था और दरिद्र मनुष्योंको दयासे युक्त हो धनसे परिपूर्ण करता था ॥५॥ सम्यग-दर्शनसे शुद्ध जनोंकी बड़े स्नेहसे पूजा करता था और जो मात्र जैनमुद्राको धारण करनेवाले थे ऐसे मुनियोंको भी भक्तिपूर्वक प्रणाम करता था ॥६॥ जिस प्रकार उत्तरायणके समय सूर्य दुःसह प्रताप बिखेरता हुआ उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान करता है उसी प्रकार रावणने भी पुण्य कर्मके उदयसे दुःसह प्रताप बिखेरते हुए उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥७॥

अथानन्तर रावणने सुना कि राजपुरका राजा बहुत बलवान् है। वह बहुत भारी अहं-कारको धारण करता हुआ कभी किसीको प्रणाम नहीं करता है ॥८॥ जन्मसे ही लेकर दुष्ट चित्त है, लौकिक मिथ्या मार्गसे मोहित है, और प्राणियोंका विध्वंस करानेवाले यज्ञ दीक्षा नामक महापापको प्राप्त है अर्थात् यज्ञक्रियामें प्रवृत्त है ॥९॥ तदनन्तर यज्ञका कथन सुन राजा श्रेणिकने गौतम गणधरसे पूछा कि हे विभो ! अभी रावणकी कथा रहने दीजिए। पहले मैं इस यज्ञकी उत्पत्ति जानना चाहता हूँ कि जीवोंका विघात करनेवाले जिस यज्ञमें दुष्टजन प्रवृत्त हुए हैं ॥१०-११॥ तब गणधर बोले कि हे श्रेणिक ! सुन, तूने बहुत अच्छा प्रश्न किया है इस यज्ञके द्वारा बहुतसे जन मोहित हो रहे हैं ॥१२॥

१. चक्रवद्यथा म० । २. शीर्ण क०, ख०, म० । ३. सभावितः क०, ख० । सुभाविताम् म० । ४. दरिद्रान् । ५. जन्मनः प्रभृति म० । ६. दुश्चेतो-क०, ख० । ७. जना म० ।

विनीतायां महानासीदिक्ष्वाकुकुलभूषणः । ययातिर्नाम राजास्य सुरकान्तेति भामिनी ॥१३॥
वसुर्नामाभवत्तस्य गुरोर्योग्यः स चार्पितः । नाम्ना[1] क्षीरकदम्बस्य यस्य स्वस्तिमती प्रिया ॥१४॥
अन्यदारण्यकं शास्त्रं सर्वशास्त्रविशारदः[2] । अध्यापयत्यसौ शिष्यान्नारदादीन् वनान्तरे ॥१५॥
अथ चारणसाधूनां[3] प्रस्थितानां विहायसा । एकेन यतिना प्रोक्तमेवं कारुण्यकारिणा ॥१६॥
चतुर्णां प्राणिनामेषामेको नरकभागिति । श्रुत्वा क्षीरकदम्बस्तद्वचो भीतोऽभवद् भृशम् ॥१७॥
ततोऽन्तेवासिनस्तेन प्रेषिताः स्वस्वमालयम् । ययुस्तुष्टा यथा वत्सा मुक्ता दामकबन्धनात्[4] ॥१८॥
स्वस्तिमत्यथ पप्रच्छ पुत्रं पर्वतसंज्ञकम् । क्व तवासौ पिता पुत्र येनैकाकी त्वमागतः ॥१९॥
[5]पश्चादेमीति तेनोक्तमिति तस्यै जगाद सः । तदागमं च काङ्क्षन्त्यास्तस्या यातमहःक्षयम् ॥२०॥
नायातः स दिनान्तेऽपि यदा तिमिरगह्वरे । तदा शोकभराक्रान्ता पतितासौ महीतले ॥२१॥
चक्रवाकीव दुःखार्ता विलापं चाकरोदिति । हा हता मन्दभाग्यास्मि प्राणानां स्वामिनोज्झिता ॥२२॥
पापेन केनचिन्मृत्युं किमसौ प्रापितो भवेत् । किं वा देशान्तरं यातः कान्तः केनापि हेतुना ॥२३॥
सर्वशास्त्रार्थकुशलः किं वा वैराग्यमाश्रितः । सर्वसङ्गान् परित्यज्य प्रव्रज्यां समशिश्रियत् ॥२४॥
विलापमिति कुर्वन्त्यास्तस्याः सा रजनी गता । [6]अन्वेष्टुं पितरं चाद्यावद्धः पर्वतको गतः ॥२५॥
दृष्ट्वा सरित्तटोद्याने दिनैः कैश्चिद् गुरुं मुनिम् । गुरोः सङ्घसमेतस्य समीपे विनयस्थितम् ॥२६॥
आरादेव निवृत्याख्यन्मातरं च पिता मम । विप्रलब्धोऽभवन्नग्नः श्रमणैस्तत्परायणैः ॥२७॥

अयोध्यानगरीमें इक्ष्वाकुकुलका आभूषण स्वरूप एक ययाति नामका राजा था और सुरकान्ता नामकी उसकी रानी थी ॥१३॥ उन दोनोंके वसु नामका पुत्र हुआ । जब वह पढ़नेके योग्य हुआ तब क्षीरकदम्बक नामक गुरुके लिए सौंपा गया । क्षीरकदम्बककी स्त्रीका नाम स्वस्तिमती था ॥१४॥ किसी एक दिन सर्वशास्त्रोंमें निपुण क्षीरकदम्बक, वनके मध्यमें नारद आदि शिष्योंको आरण्यकशास्त्र पढ़ा रहा था ॥१५॥ वहीं आकाशमार्गसे विहार करनेवाले चारण मुनियोंका संघ विराजमान था । उनमेंसे एक दयालु मुनिने इस प्रकार कहा कि इन चार प्राणियोंमें से एक नरकको प्राप्त होगा । मुनिके वचन सुन क्षीरकदम्बक अत्यन्त भयभीत हो गया ॥१६–१७॥ तदनन्तर उसने नारद पर्वत और वसु इन तीनों शिष्योंको अपने-अपने घर भेज दिया और वे शिष्य भी बन्धनसे छोड़े गये बछड़ोंके समान सन्तुष्ट होते हुए अपने-अपने घर गये ॥१८॥ जब पर्वत अकेला ही घर पहुँचा तब उसकी माता स्वस्तिमतीने पूछा कि हे पुत्र ! तुम्हारे पिता कहाँ हैं ? जिससे कि तुम अकेले ही आये हो ॥१९॥ पर्वतने माताको उत्तर दिया कि उन्होंने कहा था कि पीछे आते हैं । पतिके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए स्वस्तिमतीका दिन समाप्त हो गया ॥२०॥ जब दिनका बिलकुल अन्त हो गया और सघन अन्धकार फैल चुका फिर भी वह नहीं आया तब स्वस्तिमती शोकके भारसे आक्रान्त हो पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥२१॥ वह दुःखसे पीडित हो चकवीके समान इस प्रकार विलाप करने लगी कि हाय-हाय मैं बड़ी मन्दभाग्य हूँ जो पतिके द्वारा छोड़ी गई ॥२२॥ क्या मेरा पति किसी पापी मनुष्यके द्वारा मृत्युको प्राप्त हुआ है अथवा किसी कारण परदेशको चला गया है ? ॥२३॥ अथवा समस्त शास्त्रोंमें कुशल होनेसे वैराग्यको प्राप्त हो सर्व परिग्रहका त्यागकर मुनिदीक्षाको प्राप्त हुआ है ? ॥२४॥ इस प्रकार विलाप करते-करते स्वस्तिमतीकी रात्रि भी व्यतीत हो गई । जब प्रातःकाल हुआ तब पर्वत पिताको खोजनेके लिए गया ॥२५॥ लगातार कुछ दिनों तक खोज करनेके बाद पर्वतने देखा कि हमारे पिता नदीके तटवर्ती उद्यानमें मुनि होकर विद्यमान हैं । सङ्घसहित गुरुके समीप विनयसे बैठे हैं ॥२६॥ उसने दूरसे ही लौटकर मातासे कहा कि मेरा पिता नग्नमुनियों और उनके भक्तों द्वारा

१. नामा क०, ख० । २. विशारदं म०, ब० । ३. प्रथितानां म० । ४. दामकबन्धनान् म० । ५. पश्चादागति क०, ख० । ६. अन्वेष्टं म० ।

ततो निश्चयविज्ञाततत्सङ्गमदुःखिता । कराभ्यां भृशमाघ्नाना स्तनावकरुत् स्वनम् ॥२८॥
नारदस्तमथ श्रुत्वा वृत्तान्तं धर्मवत्सलः । द्रष्टुमागादुपाध्यायीं वर्णं शोकसमाकुलः ॥२९॥
तं दृष्ट्वा सुतरां चक्रे स्तनताडनरोदनम् । निसर्गोऽयं यदाप्तस्य पुरः शोको विवर्धते ॥३०॥
जगाद नारदो मातः किं शोकं कुरुषे वृथा । कृते शोकेऽधुना नासावागच्छति विशुद्धधीः ॥३१॥
कर्मणानुगृहीतोऽसौ चारुणा चारुचेष्टितः । जीवितं चञ्चलं ज्ञात्वा यस्तपः कर्तुमुद्यतः ॥३२॥
[2]तनुतां बोध्यमानायाः शोकस्तस्या गतः क्रमात् । [3]द्विषती च स्तुवाना च भर्तारं सा स्थिता गृहे ॥३३॥
एतस्मादेव चोदन्ताद् ययातिस्तत्त्वकोविदः । राज्यभारं वसोर्न्यस्य बभूव श्रमणो महान् ॥३४॥
सुप्रतिष्ठोऽभवद् राजा पृथिव्यां प्रथितो वसुः । नभःस्फटिकविस्तीर्णशिलास्थहरिविष्टरः ॥३५॥
समं पर्वतकेनाथ नारदस्यान्यदाभवत् । कथेयं शास्त्रतत्त्वार्थनिरूपणपरायणा ॥३६॥
जगाद नारदोऽर्हद्भिः[4] सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः । द्विविधो विहितो धर्मः सूक्ष्मोदारविशेषतः[5] ॥३७॥
हिंसाया[6] अनृतात् स्तेयात्[7] स्मरसङ्गात्[8] परिग्रहात् । विरतेर्व्रतमुद्दिष्टं भावनाभिः समन्वितम् ॥३८॥
विरतिं सर्वतः कर्तुं ये शक्तास्ते महाव्रतम् । सेवन्तेऽणुव्रतं शेषा जन्तवो गृहमाश्रिताः ॥३९॥
संविभागोऽतिथीनां च तेषामुक्तो जिनाधिपैः । यज्ञाख्यावस्थितास्तस्मिन् भेदैः पात्रादिभिर्युतैः ॥४०॥

प्रतारित हो नग्न हो गया है ॥२७॥ तदनन्तर स्वस्तिमतीने जब निश्चयसे यह जान लिया कि अब पतिका समागम मुझे प्राप्त नहीं होनेवाला है तब वह अत्यन्त दुःखी हुई। वह दोनों हाथोंसे स्तनोंको पीटती एवं जोरसे चिल्लाती हुई रुदन करने लगी ॥२८॥ यह वृत्तान्त सुन धर्मस्नेही नारद शोकसे व्याकुल होता हुआ अपनी गुरानीको देखनेके लिए आया ॥२९॥ उसे देख वह और भी अधिक स्तन पीटकर रोने लगी सो ठीक ही है क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि आप्तजनोंके समक्ष शोक बढ़ने लगता है ॥३०॥ नारदने कहा कि हे माताजी ! व्यर्थ ही शोक क्यों करती हो ? क्योंकि इस समय शोक करनेसे निर्मल बुद्धिके धारक गुरुजी वापिस नहीं आवेंगे ॥३१॥ सुन्दर चेष्टाओंके धारक गुरूजीपर पुण्यकर्मने बड़ा अनुग्रह किया है कि जिससे वे जीवनको चञ्चल जानकर तप करनेके लिए उद्यत हुए हैं ॥३२॥ इस प्रकार नारदके समझानेपर उसका शोक क्रम-क्रमसे हलका हो गया। स्वस्तिमती कभी तो पतिकी निन्दा करती थी कि वे एक अबलाको असहाय छोड़कर चल दिये और कभी उनके गुणोंका चिन्तवन कर स्तुति करती थी कि इनकी निर्लेपता कितनी उच्चकोटिकी थी। इस प्रकार निन्दा और स्तुति करती हुई वह घरमें रहने लगी ॥३३॥

इसी घटनासे तत्त्वोंका जानकार ययाति राजा भी वसुके लिए राज्यभार सौंपकर महामुनि हो गया ॥३४॥ नवीन राजा वसुकी पृथिवीपर बड़ी प्रतिष्ठा बढ़ी। आकाशस्फटिककी लम्बी चौड़ी शिलापर उसका सिंहासन स्थित था सो लोकमें ऐसी प्रसिद्धि हुई कि सत्यके बलपर वसु आकाशमें निराधार स्थित है ॥३५॥ अथानन्तर एक दिन नारदकी पर्वतके साथ शास्त्रका वास्तविक अर्थ प्रकट करनेपर तत्पर निम्नलिखित चर्चा हुई ॥३६॥ नारदने कहा कि सबको जानने देखनेवाले अर्हन्त भगवान्ने अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे धर्म दो प्रकारका कहा है ॥३७॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंसे विरक्त होनेको व्रत कहते हैं। यह व्रत प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाओंसे सहित होता है ॥३८॥ जो उक्त पापोंका सर्वदेश त्याग करनेमें समर्थ हैं वे महाव्रत ग्रहण करते हैं और जो घरमें रहते हैं ऐसे शेषजन अणुव्रत धारण करते हैं ॥३९॥ जिनेन्द्र भगवान्ने गृहस्थोंका एक व्रत अतिथिसंविभाग बतलाया

१. दृष्टा म० । २. कृशताम् । ३. द्विषतीव क०, म०, ब० । ४. दृग्भिः (?) म० ।
५. अणुव्रतमहाव्रतविशेषतः । ६. हिंसया म० । ७. स्तेया म० । ८. दारसंगात् म० ।

अजैर्यष्टव्यमित्यस्य वाक्यस्यार्थो दयापरैः । अयं मुनिभिराख्यातो ग्रन्थार्थग्रन्थिभेदिभिः ॥४१॥
अजास्ते जायते येषां नाङ्कुरः सति कारणे । सस्यानां यजनं कार्यमेतैरिति विनिश्चयः ॥४२॥
अजाः पशव उद्दिष्टा इति पर्वतकोऽवदत् । तेषामालम्भनं कार्यं [1]तच्च यागोऽभिधीयते[2] ॥४३॥
नारदः कुपितोऽत्रोचत्ततः पर्वतकं खलम् । मैवं वोचः पतस्येवं नरके घोरवेदने ॥४४॥
प्रतिज्ञां चाकरोदेवमावयोर्योऽवसीदति । वसुं प्राश्निकमासाद्य तस्य जिह्वा निकृन्त्यते[3] ॥४५॥
अतिक्रान्ता वसुं द्रष्टुं[4] वेलाद्य श्वो विनिश्चयः । भवितेत्यभिधायागात् पर्वतो मातुरन्तिकम् ॥४६॥
तस्यै चाकथयन्मूलं कलहस्याभिमानवान् । ततो जगाद सा पुत्र त्वया निगदितं मृषा ॥४७॥
कुर्वतोऽनेकशो [5]व्याख्यां मया तव पितुः श्रुतम् । अजाः किलाभिधीयन्ते व्रीहयो [6]येऽप्ररोहकाः ॥४८॥
देशान्तरं प्रयातेन मांसभक्षणकारिणा । मानाच्च वितथं प्रोक्तं तवेदं दुःखकारणम् ॥४९॥
रसनाच्छेदनं पुत्र नियतं ते भविष्यति । अपुण्या किं करिष्यामि पतिपुत्रविवर्जिता ॥५०॥
सस्मार[7] सा पुरा प्रोक्तां वसुना गुरुदक्षिणाम् । [8]न्यासभूतां गता चाशु वसोरन्तकमाकुला ॥५१॥
उपाध्यायीति चोदारमादरं विदधे वसुः । प्रणम्य च सुखासीनां पप्रच्छ रचिताञ्जलिः ॥५२॥
[9]उपाध्यायि नियच्छाज्ञामायाता येन हेतुना । सर्वं सम्पादयाम्याशु दुःखितेव च दृश्यते ॥५३॥
उवाच स्वस्तिमत्येवं नित्यं पुत्रास्मि दुःखिता । प्राणनाथपरित्यक्ता का वा स्त्री सुखमृच्छति ॥५४॥

है जो पात्रादिके भेदसे अनेक प्रकारका है। यज्ञका अन्तर्भाव इसी अतिथिसंविभाग व्रतमें होता है ॥४०॥ ग्रन्थोंके अर्थकी गाँठ खोलनेवाले दयालु मुनियोंने 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्यका यह अर्थ बतलाया है ॥४१॥ कि अज उस पुराने धानको कहते हैं जिसमें कि कारण मिलनेपर भी अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते। ऐसे धानसे ही यज्ञ करना चाहिए ॥४२॥ नारदकी इस व्याख्याको सुनकर तमककर पर्वत बोला कि नहीं अज नाम पशुका है अतः उनकी हिंसा करनी चाहिए यही यज्ञ कहलाता है ॥४३॥ इसके उत्तरमें नारदने कुपित होकर दुष्ट पर्वतसे कहा कि ऐसा मत कहो क्योंकि ऐसा कहनेसे भयङ्कर वेदनावाले नरकमें पड़ोगे ॥४४॥ अपने पक्षकी प्रबलता सिद्ध करते हुए नारदने यह प्रतिज्ञा भी की कि हम दोनों राजा वसुके पास चलें, वहाँ जो पराजित होगा उसकी जिह्वा काट ली जावे ॥४५॥ 'आज राजा वसुके मिलनेका समय निकल चुका है इसलिए कल इस बातका निश्चय होगा' इतना कहकर पर्वत अपनी माताके पास गया ॥४६॥ अभिमानी पर्वतने कलहका मूल कारण माताके लिए कह सुनाया। इसके उत्तरमें माताने कहा कि हे पुत्र! तूने मिथ्या बात कही है ॥४७॥ अनेकों बार व्याख्या करते हुए तेरे पितासे मैंने सुना है कि अज उस धानको कहते हैं कि जिसमें अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते ॥४८॥ तू देशान्तरमें जाकर मांस भक्षण करने लगा इसलिए अभिमानसे तूने यह मिथ्या बात कही है। यह बात तुझे दुःखका कारण होगी ॥४९॥ हे पुत्र! निश्चित ही तेरी जिह्वाका छेद होगा। मैं अभागिनी पति और पुत्रसे रहित होकर क्या करूँगी? ॥५०॥ उसी क्षण उसे स्मरण आया कि एक बार राजा वसुने मुझे गुरु दक्षिणा देना कहा था और मैंने उसे धरोहरके रूपमें उन्हींके पास रख दिया था। स्मरण आते ही वह तत्काल घबड़ाई हुई राजा वसुके पास पहुँची ॥५१॥ 'यह हमारी गुरानी है' यह विचारकर राजा वसुने उसका बहुत सत्कार किया, उसे प्रणाम किया और जब वह आसनपर सुखसे बैठ गई तब हाथ जोड़कर विनयसे पूछा ॥५२॥ कि हे गुरानी! मुझे आज्ञा दीजिए। जिस कारण आप आई हैं मैं उसे अभी सिद्ध करता हूँ। आप दुःखी सी क्यों दिखाई देती हैं? ॥५३॥ इसके उत्तरमें स्वस्तिमतीने कहा कि हे पुत्र! मैं तो निरन्तर दुःखी

१. स च म०। २. विधीयते म०। ३. छिद्यते। निकृन्त्यते म०। ४. द्रष्टुं म०। ५. व्याख्या म०। ६. ये प्ररोहकाः म०। ७. सस्मार च क०, ख०। सस्मार पुरा म०। ८. न्याय-म०। ९. उपाध्यायीति म०।

सम्बन्धो द्विविधो यौनः शास्त्रीयश्च तयोः परम् । शास्त्रीयमेव मन्येऽहमयं मलविवर्जितः ॥५५॥
अतो नाथस्य मे शिष्यः पुत्र एव भवानपि । [1]पश्यन्ती भवतो लक्ष्मीं करोमि धृतिमात्मनः ॥५६॥
[2]दक्षिणां च गृहाणेति पुत्र प्रोक्तं त्वया सुत । मया चोक्तं गृहीष्यामि कालेऽन्यस्मिन्निति स्मर ॥५७॥
सत्यं वदन्ति राजानः पृथिवीपालनोद्यताः । [3]ऋषयस्ते हि भाष्यन्ते ये स्थिता जन्तुपालने ॥५८॥
[4]सत्येन श्रावितः स त्वं मह्यं तां यच्छ दक्षिणाम् । इत्युक्तश्चावदद्राजा विनयानतमस्तकः ॥५९॥
अम्ब ते वचनादद्य करोम्यथ जुगुप्सितम् । वद यत्ते स्थितं चित्ते मा कृथा मतिमन्यथा ॥६०॥
तमुदन्तं ततोऽशेषं निवेद्यास्मै जगाद सा । पुत्रस्यानृतमप्येतदनुमान्यं त्वया मम ॥६१॥
जानतापि ततो राज्ञा नीतेन स्थिरतां पुनः । मूढसत्यगृहीतेन प्रतिपन्नं तयोदितम् ॥६२॥
पुनरुक्तं प्रियं भूरि भाषित्वाशीः पुरस्सरम् । आनच्छं निलयं तुष्टा भृशं स्वस्तिमती ततः ॥६३॥
अथान्यस्य दिनस्यादौ गतौ नारदपर्वतौ । समीपं क्षितिपालस्य [5]कुतूहलिजनावृतौ ॥६४॥
चतुर्विधो जनपदो नाना प्रकृतयस्तथा । सामन्ता मन्त्रिणश्चाशु विविशुर्जल्पमण्डलम् ॥६५॥
ततस्तयोः सतां मध्ये विवादः सुमहानभूत् । व्रीहयोऽजा निर्बीजा ये पशवश्चेति वस्तुनि ॥६६॥
ततस्ताभ्यां वसुः पृष्टो यदुपाध्याय उक्तवान् । तत्त्वं वद महाराज सत्येन श्रावितो भवान् ॥६७॥
यदेतत्पर्वतेनोक्तं तदुपाध्याय उक्तवान् । इत्युक्ते स्फटिकं यातं वसोः क्षिप्रं महीतले ॥६८॥

रहती हूँ क्योंकि पतिके द्वारा छोड़ी हुई कौन सी स्त्री सुख पाती है ? ॥५४॥ सम्बन्ध दो प्रकार का है एक योनिसम्बन्धी और दूसरा शास्त्रसम्बन्धी । इन दोनोंमें मैं शास्त्रीय सम्बन्धको ही उत्तम मानती हूँ क्योंकि यह निर्दोष सम्बन्ध है ॥५५॥ चूँकि तुम मेरे पतिके शिष्य हो अतः तुम भी मेरे पुत्र हो । तुम्हारी लक्ष्मीको देखते हुए मुझे सन्तोष होता है ॥५६॥ हे पुत्र ! एक बार तुमने कहा था कि दक्षिणा ले लो तब मैंने कहा था कि फिर किसी समय ले लूँगी । स्मरण करो ॥५७॥ पृथिवीकी रक्षा करनेमें तत्पर राजा लोग सदा सत्य बोलते हैं । यथार्थमें जो जीवोंकी रक्षा करनेमें तत्पर हैं वे ही ऋषि कहलाते हैं ॥५८॥ तुम सत्यके कारण जगत्में प्रसिद्ध हो अतः मेरे लिए वह दक्षिणा दो । गुरानीके ऐसा कहनेपर राजा वसुने विनयसे मस्तक झुकाते हुए कहा ॥५९॥ कि हे माता ! तुम्हारे कहनेसे मैं आज घृणित कार्य भी कर सकता हूँ । जो बात तुम्हारे मनमें हो सो कहो अन्यथा विचार मत करो ॥६०॥ तदनन्तर स्वस्तिमतीने उसके लिए नारद और पर्वतके विवादका सब वृत्तान्त कह सुनाया और साथ ही इस बातकी प्रेरणा की कि यद्यपि मेरे पुत्रका पक्ष मिथ्या ही है तो भी तुम इसका समर्थन करो ॥६१॥ राजा वसु यद्यपि शास्त्रके यथार्थ अर्थको जानता था पर स्वस्तिमतीने उसे बार-बार प्रेरणा देकर अपने पक्षमें स्थिर रक्खा । इस तरह मूर्ख सत्यके वश हो राजाने उसकी बात स्वीकृत कर ली ॥६२॥ तदनन्तर स्वस्तिमती राजा वसुके लिए बार-बार अनेकों प्रिय आशीर्वाद देकर अत्यन्त सन्तुष्ट होती हुई अपने घर गई ॥६३॥

अथानन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल ही नारद और पर्वत राजा वसुके पास गये । कुतूहलसे भरे अनेकों लोग उनके साथ थे ॥६४॥ चार प्रकारके जनपद, नाना प्रजाजन, सामन्त और मन्त्री लोग शीघ्र ही उस वादस्थलमें आ पहुँचे ॥६५॥ तदनन्तर सज्जनोंके बीच नारद और पर्वतका बड़ा भारी विवाद हुआ उनमेंसे नारद कहता था कि अजका अर्थ बीज रहित धान है और पर्वत कहता था कि अजका अर्थ पशु है ॥६६॥ जब विवाद शान्त नहीं हुआ तब उन्होंने राजा वसुसे पूछा कि हे महाराज ! इस विषयमें गुरु क्षीरकदम्बकने जो कहा था सो आप कहो । आप अपनी सत्यवादितासे प्रसिद्ध हैं ॥६७॥ इसके उत्तरमें राजा वसुने कहा कि पर्वतने

---

१. पश्यन्तो म० । २. दक्षिणां च गृहीष्यामि पुरा प्रोक्तं च या सुत म० । ३. ऋषयस्तेहि (?) म० । ४. सत्येव म० । ५. कुतूहल- म० ।

नाज्ञासीत् किल तल्लोकः स्फटिकं गगने ततः। स्थितं सिंहासनं[1] तस्य विवेदेति ततोऽवदत् ॥६९॥
वसो वितथसामर्थ्यात्तव सिंहासनं गतम्। भूमिमद्यापि ते युक्तं परमार्थनिवेदनम् ॥७०॥
ततो मोहमदाविष्टस्तदैव पुनरभ्यधात्। प्रविष्टो धरणीं सद्यः सिंहासनसमन्वितः ॥७१॥
महापापभराक्रान्तो हिंसाधर्मप्रवर्तनात्। गतस्तमस्तमोऽभिख्यां पृथिवीं घोरवेदनाम् ॥७२॥
ततो धिग् धिग् ध्वनिः प्रायो[2] जातः कलकलो महान्। जनानां पापभीतानामुद्दिश्य वसुपर्वतौ ॥७३॥
संप्राप्तो नारदः पूजामहिंसाचारदेशनात्। एवमेव हि सर्वेषां यतो धर्मस्ततो जयः ॥७४॥
पापः पर्वतको लोके धिग्धिग्दण्डसमाहतः। दुःखितः शोषयन् देहमकरोत् कुत्सितं तपः ॥७५॥
कालं कृत्वाभवत् क्रूरो राक्षसः पुरुविक्रमः। अपमानं च [3]सस्मार धिग्दण्डाधिकमात्मनः ॥७६॥
अचिन्तयच्च लोकेन ममानेन पराभवः। कृतस्ततः करिष्यामि प्रतिकर्मास्य दुःखदम् ॥७७॥
वितानं [4]दम्भरचितं कृत्वा कर्म करोमि तत्। [5]यत्रासक्तो जनो याति तिर्यङ्नरकदुर्गतीः ॥७८॥
ततो मानुषवेषस्थो वामस्कन्धस्थसूत्रकः। कमण्डल्वक्षमालादिमानोपकरणावृतः ॥७९॥
हिंसाकर्मपरं शास्त्रं घोरं क्रूरजनप्रियम्। अधीयानः सुदुष्टात्मा नितान्तामङ्गलस्वरम् ॥८०॥
तापसान् दुर्विधान् मुग्ध्वा सूत्रकण्ठादिकांस्तथा। व्यामोहयितुमुद्युक्तो हिंसाधर्मेण निर्दयः ॥८१॥
तस्य पक्षे ततः पेतुः प्राणिनो मूढमानसाः। भविष्यद्दुःखसंभाराः शलभा इव पावके ॥८२॥

जो कहा है वही गुरुने कहा था। इतना कहते ही राजा वसुका स्फटिक पृथिवीपर गिर पड़ा ॥६८॥ लोग उस स्फटिकको नहीं जानते थे इसलिए यही समझते थे कि राजा वसुका सिंहासन आकाशमें निराधार स्थित है ॥६९॥ नारदने राजाको सम्बोधते हुए कहा कि वसो! मिथ्या पक्षका समर्थन करनेसे तुम्हारा सिंहासन पृथिवीपर आ पड़ा है। अतः अब भी सत्य पक्षका समर्थन करना तेरे लिए उचित है ॥७०॥ परन्तु राजा वसु तो मोह रूपी मदिराके नशामें इतना निमग्न था कि उसने फिर भी वही बात कही। इस पापके फल स्वरूप राजा वसु शीघ्र ही सिंहासनके साथ ही साथ पृथिवीमें धँस गया ॥७१॥ हिंसाधर्मकी प्रवृत्ति चलानेसे वह बहुत भारी पापके भारसे आक्रान्त हो बहुत भारी वेदनावाली तमस्तमःप्रभानामक सातवीं पृथिवीमें गया ॥७२॥ तदनन्तर पापसे भयभीत मनुष्य राजा वसु और पर्वतको लक्ष्यकर धिक्-धिक् कहने लगे जिससे बड़ा भारी कोलाहल उत्पन्न हुआ ॥७३॥ अहिंसापूर्ण आचारका उपदेश देनेके कारण नारद सन्मानको प्राप्त हुआ। सब लोगोंके मुखसे यही शब्द निकल रहे थे कि 'यतो धर्मस्ततो जयः' जहाँ धर्म वहाँ विजय ॥७४॥ पापी पर्वत, लोकमें धिक्कार रूपी दण्डकी चोट खाकर दुःखी हो शरीरको सुखाता हुआ कुतप करने लगा ॥७५॥ अन्तमें मरणकर प्रबल पराक्रमका धारक दुष्ट राक्षस हुआ। उसे पूर्व पर्यायमें जो अपमान और धिक्कार रूपी दण्ड प्राप्त हुआ था उसका स्मरण हो आया ॥७६॥ वह विचार करने लगा कि लोगोंने मेरा पराभव किया था इसलिए मैं इसका दुःखदायी बदला लूँगा ॥७७॥ मैं कपट पूर्ण शास्त्र रचकर ऐसा कार्य करूँगा कि जिसमें आसक्त हुए मनुष्य तिर्यञ्च अथवा नरक जैसी दुर्गतियोंमें जावेंगे ॥७८॥ तदनन्तर उस राक्षसने मनुष्यका वेष रक्खा, बाँये कन्धेपर यज्ञोपवीत पहिना और हाथमें कमण्डलु तथा अक्षमाला आदि उपकरण लिये ॥७९॥ इस प्रकार हिंसा कार्योंकी प्रवृत्ति करानेमें तत्पर तथा क्रूर मनुष्योंको प्रिय भयावह शास्त्रका अत्यन्त अमाङ्गलिक स्वरमें उच्चारण करता हुआ वह दुष्ट राक्षस पृथिवीपर भ्रमण करने लगा ॥८०॥ वह स्वभावसे निर्दय था तथा बुद्धि हीन तापसियों और ब्राह्मणोंको मोहित करनेमें सदा तत्पर रहता था ॥८१॥ तदनन्तर जिन्हें भविष्यमें दुःख प्राप्त होनेवाला था ऐसे मूर्ख प्राणी उसके

---

१. सिंहासने म०। २. ध्वनिस्तावज्जातः म०। ३. संस्मार म०। ४. विधानं-डम्भचरितं म० कंडभरतं (?) ख०। ५. यत्राशक्तो म०।

तेभ्यो जगाद यज्ञस्य विधानार्थमहं स्वयम्। ब्रह्मा लोकमिमं प्राप्तो येन सृष्टं चराचरम् ॥८३॥
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव मयादरात्। यज्ञो हि भूत्यै स्वर्गस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥८४॥
सौत्रामणिविधानेन सुरापानं न दुष्यति। अगम्यागमनं कार्यं यज्ञे गोसवनामनि ॥८५॥
मातृमेधे वधो मातुः पितृमेधे वधः पितुः। अन्तर्वेदि विधातव्यं दोषस्तत्र न विद्यते ॥८६॥
आशुशुक्षणिमाधाय[1] पृष्ठे कूर्मस्य तर्पयेत्। हविषा[2] जुह्वकाख्याय स्वाहेत्युक्त्वा प्रयत्नतः ॥८७॥
यदा न प्राप्नुयात् कूर्मं तदा शुद्धद्विजन्मनः। [3]खलतेः पिङ्गलाभस्य विक्लवस्य शुचौ जले ॥८८॥
[4]आस्यदघ्नेऽवतीर्णस्य मस्तके कूर्मसंनिभे। प्रज्वाल्य ज्वलनं दीप्तमाहुतिं निक्षिपेद् द्विजः ॥८९॥
सर्वं पुरुष एवेदं यद्भूतं यद्भविष्यति। ईशानो [5]योऽमृतत्वस्य यदन्नेनातिरोहति ॥९०॥
एवमेकत्र पुरुषे [6]किं केनात्र विपाद्यते। [7]कुरुतातो यथाभीष्टं यज्ञे प्राणिनिपातनम् ॥९१॥
मांसस्य भक्षणं तेषां कर्तव्यं यज्ञकर्मणि। [8]यायजूकेन पूतं हि देवोद्देश्येन तत्कृतम् ॥९२॥
एवम्प्रकारमत्यन्तपापकर्म प्रदर्शयन्। प्राणिनः प्रवणांश्चक्रे राक्षसो धरणीतले ॥९३॥
[9]श्रद्दधानास्ततो भूत्वा जन्तवः सुखवाञ्छया। हिंसायज्ञस्थलीं भूमिं [10]दीक्षिताः प्रविशन्ति ये ॥९४॥
काष्ठभारं यथा सर्वं प्राञ्चीकृत्य स तान् दृढम्। भयोद्भूतमहाकम्पान् चलत्तारकलोचनान् ॥९५॥
पृष्ठस्कन्धशिरोजङ्घा[11]पादाग्रस्थान्विधाय खम्। उत्पपात पतद्रक्तधारानिकरदुःखितान् ॥९६॥

पड़ने लगे जिस प्रकार कि अग्निपर पतंगे पड़ते हैं ॥८२॥ वह उन लोगोंसे कहता था कि मैं वह ब्रह्मा हूँ जिसने इस चराचर विश्वकी रचना की है। यज्ञकी प्रवृत्ति चलानेके लिए मैं स्वयं इस लोकमें आया हूँ ॥८३॥ मैंने बड़े आदरसे स्वयं ही यज्ञके लिए पशुओंकी रचना की है। यथार्थमें यज्ञ स्वर्गकी विभूति प्राप्त करानेवाला है इसलिए यज्ञमें जो हिंसा होती है वह हिंसा नहीं है ॥८४॥ सौत्रामणि नामक यज्ञमें मदिरा पीना दोषपूर्ण नहीं है और गोसव नामक यज्ञमें अगम्या अर्थात् परस्त्रीका भी सेवन किया जा सकता है ॥८५॥ मातृमेध यज्ञमें माताका और पितृमेध यज्ञमें पिताका वध वेदीके मध्यमें करना चाहिए इसमें दोष नहीं है ॥८६॥ कछुएकी पीठपर अग्नि रखकर जुह्वक नामक देवको बड़े प्रयत्नसे स्वाहा शब्दका उच्चारण करते हुए साकल्यसे संतृप्त करना चाहिए ॥८७॥ यदि इस कार्यके लिए कछुआ न मिले तो एक गंजे शिरवाले पीले रङ्गके शुद्ध ब्राह्मणको पवित्र जलमें मुख प्रमाण नीचे उतारे अर्थात् उसका शरीर मुख तक पानीमें डूबा रहे ऊपर केवल कछुआके आकार मस्तक निकला रहे उस मस्तकपर प्रचण्ड अग्नि जलाकर आहुति देना चाहिए ॥८८-८९॥ जो कुछ हो चुका है अथवा जो आगे होगा जो अमृतत्वका स्वामी है अर्थात् देवपर्यायी है और जो अन्नजीवी है अर्थात् भूचारी है वह सब पुरुष ही है ॥९०॥ इस प्रकार जब सर्वत्र एक ही पुरुष है तब किसके द्वारा कौन मारा जाता है? अर्थात् कोई किसीको नहीं मारता इसलिए यज्ञमें इच्छानुसार प्राणियोंकी हिंसा करो ॥९१॥ यज्ञमें यज्ञ करनेवालेको उन जीवोंका मांस खाना चाहिए क्योंकि देवताके उद्देश्यसे निर्मित होनेके कारण वह मांस पवित्र माना जाता है ॥९२॥ इस प्रकार अत्यन्त पापपूर्ण कार्य दिखाता हुआ वह राक्षस पृथिवी तलपर प्राणियोंको यज्ञादि कार्योंमें निपुण करने लगा ॥९३॥ तदनन्तर उसकी बातोंका विश्वासकर जो लोग सुखकी इच्छासे दीक्षित हो हिंसामयी यज्ञकी भूमिमें प्रवेश करते थे उन सबको वह लकड़ियोंके भारके समान मजबूत बाँधकर आकाशमें उड़ जाता था। उस समय उनके शरीर भयसे काँप उठते थे, उनकी आँखोंकी पुतलियाँ घूमने लगती थीं। उन्हें वह उल्टाकर ऐसा झुकाता था कि उनकी जङ्घाएँ पीठ तथा ग्रीवापर और पैरके पञ्जे शिर पर आ लगते थे

१. -मादाय म०। २. हविष्यजुह्वकाख्याय म०। ३. खल्वाटस्य। ४. मुखप्रमाणे। ५. मृतस्तस्य क०, ज०। ६. किं किं नात्र क०। ७. कुरुत + अतो। ८. याजकेन म०। ९. श्रद्धानस्ततो म०। १०. वीक्षिताः क०। ११. जङ्घान् म०।

ततस्ते [1]विस्वरोदारं क्रोशन्तोऽभिदधुः स्वरम् । किमर्थं देव रुष्टोऽसि येनास्मान् हतुमुद्यतः ॥९७॥
प्रसीद मुञ्च निर्दोषानस्मान् देव महाबल । भवदाज्ञां वयं सर्वां कुर्मः प्रणतमूर्तयः ॥९७॥
ततो बभाण तान् रक्षः यथैव पशवो हताः । भवद्भिरियृ[2]ति स्वर्गं तथा यूयं मया हताः ॥९९॥
इत्युक्त्वा निर्जने कांश्चिद् द्वीपेऽन्यस्मिन्निरक्षिपत्[3] । महार्णवे परानन्यान्क्रूरप्राणिगणान्तरे ॥१००॥
एकानास्फालयन् क्षोणीधरमूर्ध्नि शिलातले । कुर्वन् बहुविधं शब्दं वासांसि रजको यथा ॥१०१॥
दुःखेन मरणावस्थां प्राप्तास्ते त्रस्तचेतसः । पितरौ तनयान् भ्रातॄन् स्मरन्तो मृत्युमापिता[4]ः ॥१०२॥
तद्व्यापादितशेषा ये मूढाः कुग्रन्थकन्थया । र[5]क्षसा दर्शितो हिंसायज्ञस्तै[6]र्वृद्धिमाहृतः ॥१०३॥
हिंसायज्ञमिमं घोरमाचरन्ति न ये जनाः । दुर्गतिं ते न गच्छन्ति महादुःखविधायिनीम् ॥१०४॥
उदाहृतो [6]मया यस्ते हिंसायज्ञसमुद्भवः । [7]श्रेणिकैनं पुराज्ञासीत् प्राज्ञो रत्नश्रवःसुतः ॥१०५॥
अथ राजपुरं प्राप्तो रावणः स्वर्गसन्निभम् । बहिर्यस्य [8]मरुत्वाख्यो यज्ञवाटे[9] स्थितो नृपः ॥१०६॥
हिंसाधर्मप्रवीणश्च संवर्तो नाम विश्रुतः । ऋत्विक् तस्मै ददौ कृत्स्नमुपदेशं यथाविधि ॥१०७॥
सूत्रकण्ठाः पृथिव्यां ये सर्वे तेऽत्र निमन्त्रिताः । पुत्रदारादिभिः सार्धमागता [10]लोभवाहिताः ॥१०८॥
सा तैर्यज्ञमही सर्वा वेदमङ्गलनिःस्वनैः । लाभाकाङ्क्षा प्रसन्नास्यैर्वृता क्षुभ्यत्सुभूरिभिः ॥१०९॥

तथा पड़ती हुई खूनकी धाराओंसे वे बहुत दुःखी हो जाते थे ॥९४–९६॥ इस कार्यसे वे सब बहुत भयंकर शब्द करते हुए चिल्लाते थे और कहते थे कि हे देव ! तुम किस लिए रुष्ट हो गये हो जिससे हम सबको मारनेके लिए उद्यत हुए हो ॥९७॥ हे देव ! तुम महाबलवान् हो, प्रसन्न होओ, हम सब निर्दोष हैं अतः हम लोगोंको छोड़ो । हम सब आपके समक्ष नतशरीर हैं और आप जो आज्ञा देंगे उस सबका पालन करेंगे ॥९८॥ तदनन्तर राक्षस उनसे कहता था कि जिस प्रकार तुम्हारे द्वारा मारे हुए पशु स्वर्ग जाते हैं उसी प्रकार मेरे द्वारा मारे गये आप लोग भी स्वर्ग जावेंगे ॥९९॥ ऐसा कहकर उसने कितने ही लोगोंको जहाँ मनुष्योंका सद्भाव नहीं था ऐसे दूसरे द्वीपोंमें डाल दिया । कितने ही लोगोंको समुद्रमें फेंक दिया, कितने ही लोगोंको सिंहादिक दुष्ट जीवोंके मध्य डाल दिया और जिस प्रकार धोबी अनेक प्रकारके शब्द करता हुआ शिलातलपर वस्त्र पछाड़ता है उसी तरह कितने ही लोगोंको घुमा-घुमाकर पर्वतकी चोटीपर पछाड़ दिया ॥१००–१०१॥ दुःखसे वे मरणासन्न अवस्थाको प्राप्त हो गये थे, उन सबके चित्त भयभीत थे, और अन्तमें माता पिता पुत्र और भाई आदिका स्मरण करते हुए मृत्युको प्राप्त हो गये ॥१०२॥ जो मरनेसे बाकी बचे थे वे मिथ्या शास्त्र रूपी कन्यासे मोहित थे अतः उन्होंने राक्षसके द्वारा दिखलाये हुए हिंसायज्ञकी वृद्धि की ॥१०३॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! जो मनुष्य इस भयंकर हिंसायज्ञको नहीं करते वे महा दुःख देनेवाली दुर्गतिमें नहीं जाते हैं ॥१०४॥ हे श्रेणिक ! मैंने यह तेरे लिए हिंसायज्ञकी उत्पत्ति कही । रावण इसे पहलेसे ही जानता था ॥१०५॥

अथानन्तर रावण, स्वर्गकी तुलना करनेवाले उस राजपुर नगरमें पहुँचा जहाँ मरुत्वान् नामका राजा नगरके बाहर यज्ञशालामें बैठा था ॥१०६॥ हिंसाधर्ममें प्रवीण संवर्त नामका प्रसिद्ध ब्राह्मण उस यज्ञका प्रधान याजक था जो राजाके लिए विधिपूर्वक सब उपदेश दे रहा था ॥१०७॥ पृथ्वीमें जो ब्राह्मण थे वे सब इस यज्ञमें निमन्त्रित किये गये थे इसलिए लोभके वशीभूत हो स्त्री पुत्रादिके साथ वहाँ आये थे ॥१०८॥ लाभकी आशासे जिनके मुख प्रसन्न थे

१. विश्वरोदारं म०, ब०, क०, ख० । २. ऋ गतौ इत्यस्य लङ्बहुवचने रूपम् । बहुलं छन्दसीत्येव सिद्धे 'अर्तिपिपर्त्योश्चेतीत्व-विधानादयं भाषायामपि । 'अभ्यासस्यासवर्णे' इतीयङ् इयर्ति, इयृतः, इयृति । गच्छन्तीत्यर्थः । रियति म० । ३. निरक्षिपेत् म० । ४. मीयूति म० । मीप्रति क०, ख० । ५. रक्षिता ख० । ६. पास्त म० । ७. श्रेणिकेन ख० । ८. मरुत्ताख्यो म० । ९. यज्ञवादे क०, ख । १०. लोकवाहिताः म० ।

उपनीताश्च तत्रैव पशवो दीनमानसाः । वराकाः शतशो बद्धाः श्वसत्कुक्षिपुटा भयात् ॥११०॥
नारदोऽथान्तरे[1] तस्मिन्निच्छया नभसा व्रजन् । [2]अपश्यद् घनपृष्ठस्थो जनं तं तत्र संगतम् ॥१११॥
अचिन्तयच्च दृष्ट्वैवं विस्मयाकुलमानसः । कुर्वन् विभ्रममङ्गस्य कुतूहलसमुद्भवम् ॥११२॥
एतत्सुनगरं कस्य कस्य चेयमनीकिनी । इयं च सागराकारा प्रजा[3] कस्मादिह स्थिता[4] ॥११३॥
नगराणि जनौघाश्च वरूथिन्यश्च भूरिशः । मयेक्षाञ्चक्रिरे जातु नेदृग्दृष्टो जनोत्करः ॥११४॥
कुतूहलादिति ध्यात्वाऽवतीर्णोऽसौ विहायसः । [5]कर्मैतदेव तस्यासीद्यत्कुतूहलदर्शनम् ॥११५॥
पप्रच्छ मागधेशोऽथ भगवन् कः स नारदः । उत्पत्तिर्वा कुतस्तस्य गुणा वा तस्य कीदृशाः ॥११६॥
जगाद च गणाधीशः श्रेणिक ब्राह्मणोऽभवत् । नाम्ना ब्रह्मरुचिस्तस्य कूर्मी नाम कुटुम्बिनी ॥११७॥
तापसेन सता तेन श्रितेन वनवासिताम् । एतस्यामाहितो गर्भः फलमूलादिवृत्तिना ॥११८॥
वीतसङ्गास्तमुद्देशमथाजग्मुर्महर्षयः । यान्तो मार्गवशात् क्वा[6]पि संयमासक्तमानसाः ॥११९॥
विशश्रमुः क्षणं तस्मिन्नाश्रमे श्रमनोदिनि । [7]अपश्यन् दम्पती तौ च स्वाकारौ कर्मगर्हितौ ॥१२०॥
आपाण्डुरशरीरां च दृष्ट्वा योषां पृथुस्तनीम् । कृशां गर्भभरम्लानां श्वसन्तीं पन्नगीमिव ॥१२१॥
संसारप्रकृतिज्ञानां श्रमणानां महात्मनाम् । कृपया संबभूवैतौ[8] धर्मं बोधयितुं मतिः ॥१२२॥
तेषां मध्ये ततो ज्येष्ठो जगाद मधुरं यतिः । कष्टं पश्यत नर्त्यन्ते कर्मभिर्जन्तवः कथम् ॥१२३॥
त्यक्त्वा धर्मधिया बन्धून् संसारोत्तरणाशया । स्त्रयं खलीकृतोऽरण्ये किमात्मा तापस त्वया ॥१२४॥

तथा जो वेदका मङ्गलपाठ कर रहे थे ऐसे बहुत सारे ब्राह्मणोंसे यज्ञकी समस्त भूमि आवृत होकर क्षोभको प्राप्त हो रही थी ॥१०९॥ सैकड़ों दीनहीन पशु भी वहाँ लाकर बाँधे गये थे। भयसे उन पशुओंके पेट दुःखकी साँसें भर रहे थे ॥११०॥ उसी समय अपनी इच्छासे आकाशमें भ्रमण करते हुए नारदने वहाँ एकत्रित लोगोंका समूह देखा ॥१११॥ उसे देख नारद आश्चर्यसे चकित हो, कुतूहलजनित शरीरकी चेष्टाओंको धारण करता हुआ इस प्रकार विचार करने लगा ॥११२॥ यह उत्तम नगर कौन है ? यह किसकी सेना है ? और यह सागरके आकार किसकी प्रजा यहाँ किस प्रयोजनसे ठहरी हुई है ? ॥११३॥ मैंने बहुतसे नगर, बहुतसे लोगोंके समूह और बहुत सारी सेनाएँ देखीं पर कभी ऐसा जनसमूह नहीं देखा ॥११४॥ ऐसा विचारकर नारद कुतूहलवश आकाशसे नीचे उतरा सो ठीक ही है क्योंकि कुतूहल देखना ही उसका खास काम है ॥११५॥ यह सुनकर राजा श्रेणिकने गौतमस्वामीसे पूछा कि भगवन् ! वह नारद कौन है ? उसकी उत्पत्ति किससे हुई है और उसके कैसे गुण हैं ? ॥११६॥ इसके उत्तरमें गणधर कहने लगे कि श्रेणिक ! ब्रह्मरुचि नामका एक ब्राह्मण था और उसकी कूर्मी नामक स्त्री थी ॥११७॥ ब्राह्मण तापस होकर वनमें रहने लगा और फल तथा कन्दमूल आदि भक्षण करने लगा । ब्राह्मणी भी इसके साथ रहती थी सो ब्राह्मणने इसमें गर्भ धारण किया ॥११८॥ अथानन्तर किसी दिन संयमके धारक निर्ग्रन्थमुनि कहीं जा रहे थे सो मार्गवश उस स्थानपर आये ॥११९॥ और श्रमको दूर करनेवाले उस आश्रममें थोड़ी देरके लिए विश्राम करने लगे । उसी आश्रममें उन मुनियोंने उस ब्राह्मण दम्पतीको देखा जिनका कि आकार तो उत्तम था पर कार्य निन्दनीय था ॥१२०॥ जिसका शरीर पीला था, स्तन स्थूल थे, जो दुर्बल थी, गर्भके भारसे म्लान थी और साँसें भरती हुई सर्पिणीके समान जान पड़ती थी ऐसी स्त्रीको देखकर संसारके स्वभावको जाननेवाले उदार हृदय मुनियोंके मनमें दयावश उक्त दम्पतीको धर्मोपदेश देने का विचार उत्पन्न हुआ ॥१२१–१२२॥ उन मुनियोंके बीचमें जो बड़े मुनि थे वे मधुर शब्दोंमें उपदेश देने लगे । उन्होंने कहा कि बड़े खेदकी बात है देखो, ये प्राणी कर्मोंके द्वारा कैसे नचाये जाते हैं ? ॥१२३॥ हे तापस ! तूने

---

१. -थान्तरे यस्मिन्नि- म० । २. अपश्यद्यान- म० । ३. प्रजाः म० । ४. स्थिताः म० । ५. कस्मैचिदेव ख० । ६. केऽपि म० । ७. अपश्यं म० । ८. दम्पती ।

भद्र प्रव्रजितो जातः कस्ते भेदो गृहस्थतः । चारित्रं प्रतियातस्य केवलं वेषमन्यथा ॥१२५॥
यथा हि छर्दितं नान्नं भुज्यते मानुषैः पुनः । तथा त्यक्तेषु कामेषु न कुर्वन्ति मतिं बुधाः ॥१२६॥
त्यक्त्वा लिङ्गी पुनः पापो योषितं यो निषेवते । सुभीमायामरण्यान्यां वृकतां स [1]समश्नुते ॥१२७॥
सर्वारम्भस्थितः कुर्वन्नब्रह्म[2] मदनिर्भरः । दीक्षितोऽस्मीति यो वेत्ति स्वं नितान्तं स मोहवान् ॥१२८॥
ईर्ष्यामन्मथदग्धस्य दुष्टदृष्टेर्दुरात्मनः । आरम्भे वर्तमानस्य प्रव्रज्या वद कीदृशी ॥१२९॥
कुदृष्ट्या गर्वितो लिङ्गी विषयासवमानसः । ब्रुवन्नहं तपस्वीति मिथ्यावादी कथं व्रती ॥१३०॥
सुखासनविहारः सन् सदाकशिपुसक्तधीः[3] । सिद्धंमन्यो विमूढात्मा जनोऽयं स्वस्य वञ्चकः ॥१३१॥
[4]दह्यमाने यथागारे[5] कथञ्चिदपि निःसृतः । तत्रैव पुनरात्मानं प्रक्षिपेन्मूढमानसः ॥१३२॥
यथा च विवरं प्राप्य निष्क्रान्तः पञ्जरात् खगः । निवृत्य प्रविशेद् भूयस्तत्रैवाज्ञान[6]चोदितः ॥१३३॥
तथा प्रव्रजितो भूत्वा यो यातीन्द्रियवश्यताम् । निन्दितः स भवेल्लोके न च स्वार्थं समश्नुते ॥१३४॥
ध्येयमेकाग्रचित्तेन सर्वग्रन्थविवर्जिना । मुनिना ध्यायते तत्त्वं सारम्भैर्न भवद्विधैः ॥१३५॥
प्राणिनो ग्रन्थसङ्गेन रागद्वेषसमुद्भवः । रागात् संजायते कामो द्वेषाज्जन्तुविनाशनम् ॥१३६॥
कामक्रोधाभिभूतस्य मोहेनाक्रम्यते मनः । कृत्याकृत्येषु[7] मूढस्य मतिर्न स्याद्विवेकिनी ॥१३७॥

संसार-सागरसे पार होनेकी आशासे धर्म समझ भाई-बन्धुओंका त्यागकर स्वयं अपने आपको इस वनके मध्य क्यों कष्टमें डाला है ? ॥१२४॥ अरे भलेमानुष ! तूने प्रव्रज्या धारण की है पर तुझमें गृहस्थसे भेद ही क्या है ? तूने जो चारित्र धारण किया था उसके तू प्रतिकूल चल रहा है। केवल वेष ही तेरा दूसरा है पर चारित्र तो गृहस्थ जैसा ही है ॥१२५॥ जिस प्रकार मनुष्य वमन किये हुए अन्नको फिर नहीं खाते हैं उसी प्रकार विज्ञजन जिन विषयोंका परित्याग कर चुकते हैं फिर उनकी इच्छा नहीं करते ॥१२६॥ जो लिङ्गधारी साधु एक बार स्त्रीका त्यागकर पुनः उसका सेवन करता है वह पापी है और मरकर भयङ्कर अटवीमें भेड़िया होता है ॥१२७॥ जो सब प्रकारके आरम्भमें स्थित रहता हुआ, अब्रह्म सेवन करता हुआ और नशामें निमग्न रहता हुआ भी 'मैं दीक्षित हूँ' ऐसा अपने आपको जानता है वह अत्यन्त मोही है ॥१२८॥ जो ईर्ष्या और कामसे जल रहा है, जिसकी दृष्टि दुष्ट है, जिसकी आत्मा दूषित है, और जो आरम्भमें वर्तमान है अर्थात् जो सब प्रकारके आरम्भ करता है उसकी प्रव्रज्या कैसी ? तुम्हीं कहो ॥१२९॥ जो कुदृष्टिसे गर्वित है, मिथ्यावेशधारी है, और जिसका मन विषयोंके आधीन है फिर भी अपने आपको तपस्वी कहता है वह झूठ बोलनेवाला है वह व्रती कैसे हो सकता है ? ॥१३०॥ जो सुखपूर्वक उठता-बैठता और विहार करता है तथा जो सदा भोजन एवं वस्त्रोंमें बुद्धि लगाये रखता है फिर भी अपने आपको सिद्ध मानता है वह मूर्ख अपने आपको धोखा देता है ॥१३१॥ जिस प्रकार जलते हुए मकानसे कोई किसी तरह बाहर निकले और फिरसे अपने आपको उसी मकानमें फेंक दे तो वह मूर्ख ही समझा जाता है ॥१३२॥ अथवा जिस प्रकार कोई पक्षी छिद्र पाकर पिंजड़ेसे बाहर निकल आवे और अज्ञानसे प्रेरित हो पुनः उसीमें लौट आवे तो यह उसकी मूर्खता ही है ॥१३३॥ उसी प्रकार कोई मनुष्य दीक्षित होकर पुनः इन्द्रियोंकी आधीनताको प्राप्त हो जावे तो वह लोकमें निन्दित होता है और आत्मकल्याणको प्राप्त नहीं होता ॥१३४॥ जिनका चित्त एकाग्र है ऐसे सर्वपरिग्रहका त्याग करनेवाले मुनि ही ध्यान करने योग्य तत्त्वका ध्यान कर सकते हैं तुम्हारे जैसे आरम्भी मनुष्य नहीं ॥१३५॥ परिग्रहकी संगतिसे प्राणीके रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है। रागसे काम उत्पन्न होता है और द्वेषसे जीवोंका विघात होता है ॥१३६॥ जो काम और क्रोधसे अभिभूत हो रहा है उसका मन मोहसे

१. प्राप्नोति। २. व्यभिचारं । कुर्वन् न ब्रह्म- म० । ३. भोजनाच्छादनमग्नमनाः । ४. दह्यमानो ब० । ५. यथाङ्गारैः ख० । ६. तत्रैव ज्ञान- म० । ७. कृत्यकृत्येषु म० ।

यत्किञ्चित्कुर्वतस्तस्य कर्मोपार्जयतोऽशुभम् । संसारसागरे घोरे भ्रमणं न निवर्तते ॥१३८॥
एतान् संसर्गजान् दोषान्विदित्वाशु विपश्चितः । वैराग्यमधिगच्छन्ति नियम्यात्मानमात्मना ॥१३९॥
एवं संबोधितो वाक्यैः परमार्थोपदेशनैः । उपेतः [1]श्रामणीं दीक्षां [2]मोहाद् ब्रह्मरुचिश्च्युतः ॥१४०॥
निरक्षेपमतिः कूर्म्यां महावैराग्यसम्मतः[3] । विजहार सुखं सार्धं गुरुणा गुरुवत्सलः ॥१४१॥
सापि शुद्धमतिः कूर्मी कर्मणः कृष्णतश्च्युता । ज्ञात्वा रागवशं जन्तोः संसारपरिवर्तनम् ॥१४२॥
कुमार्गसङ्गमुत्सृज्य जिनभक्तिपरायणा । सिंहीव शोभतेऽरण्ये भर्त्रा विरहिता सती ॥१४३॥
मासे च दशमे धीरा प्रसूता दारकं शुभम् । अचिन्तयच्च वीक्ष्यैनं ज्ञातकर्म विचेष्टिता ॥१४४॥
संपर्कोऽयमनर्थोऽसौ कथितो [4]यन्महर्षिभिः । तस्मान्मुक्त्वाधुना सङ्गं करोमि हितमात्मने ॥१४५॥
अनेनापि भवे [5]स्वस्मिन्यः कर्मविधिरर्जितः । फलं तस्य शिशुर्भोक्ता मनोज्ञमथवेतरत्[6] ॥१४६॥
अरण्यान्यां समुद्रे वा स्थितं वारातिपञ्जरे । स्वयंकृतानि कर्माणि रक्षन्ति न परो जनः ॥१४७॥
यः [7]पुनः प्राप्तकालः स्याज्जनन्यङ्कगतोऽपि सः । ह्रियते मृत्युना जीवः स्वकर्मवशतां गतः ॥१४८॥
एवं विदिततत्त्वा सा बुद्ध्यातिनिरपेक्षया । बालकं विपिने त्यक्त्वा तापसी वीतमत्सरा ॥१४९॥
आनर्च्छालोकनगरे [9]क्षान्त्यार्यामिन्दुमालिनीम् । शरणं [10]भूरिसंवेगाद् [11]भूतार्या चारुचेष्टिता ॥१५०॥

आक्रान्त हो जाता है और जो करने योग्य तथा न करने योग्य कर्मोंके विषयमें मूढ़ है उसकी बुद्धि विवेकयुक्त नहीं हो सकती ॥१३७॥ जो मनुष्य इच्छानुसार चाहे जो कार्य करता हुआ अशुभ कर्मका उपार्जन करता है इस भयंकर संसार सागरमें उसका भ्रमण कभी भी बन्द नहीं होता ॥१३८॥ ये सब दोष संसर्गसे ही उत्पन्न होते हैं ऐसा जानकर विद्वान् लोग अपने आपके द्वारा अपने आपका नियन्त्रण कर वैराग्यको धारण करते हैं ॥१३९॥ इस प्रकार परमार्थका उपदेश देनेवाले वचनोंसे संबोधा गया ब्रह्मरुचि ब्राह्मण मिथ्यात्वसे च्युत हो दैगम्बरी दीक्षाको प्राप्त हुआ और अपनी कूर्मी नामक स्त्रीसे निःस्पृह हो महावैराग्यसे युक्त होता हुआ गुरुके साथ सुखपूर्वक विहार करने लगा । उसका गुरुस्नेह ऐसा ही था ॥१४०–१४१॥ कूर्मीने भी जान लिया कि जीवका संसारमें जो परिभ्रमण होता है वह रागके वश ही होता है । ऐसा जानकर वह पाप कार्यसे विरत हो शुद्धाचारमें निमग्न हो गई ॥१४२॥ वह मिथ्यामार्गियोंका संसर्ग छोड़कर सदा जिन-भक्तिमें ही तत्पर रहने लगी और पतिसे रहित होनेपर भी निर्जन वनमें सिंहिनीके समान सुशोभित होने लगी ॥१४३॥ उस धैर्यशालिनीने दशवें मासमें शुभ पुत्र उत्पन्न किया । पुत्रको देखकर कर्मोंकी चेष्टाको जाननेवाली कूर्मीने विचार किया ॥१४४॥ कि चूँकि महर्षियोंने इस संपर्कको अनर्थका कारण कहा था इसलिए मैं इस संपर्क अर्थात् पुत्रकी संगतिको छोड़कर आत्माका हित करती हूँ ॥१४५॥ इस शिशुने भी अपने भवान्तरमें जो कर्मोंकी विधि अर्जित की है उसीका यह अच्छा या बुरा फल भोगेगा ॥१४६॥ घनघोर अटवी, समुद्र अथवा शत्रुओंके पिंजड़ेमें स्थित जन्तुकी अपने आपके द्वारा किये हुए कर्म ही रक्षा करते हैं अन्य लोग नहीं ॥१४७॥ जिसका काल आ जाता है ऐसा स्वकृत कर्मोंकी आधीनताको प्राप्त हुआ जीव माताकी गोदमें स्थित होता हुआ भी मृत्युके द्वारा हर लिया जाता है ॥१४८॥ इस प्रकार तत्त्वको जाननेवाली तापसीने निरपेक्ष बुद्धिसे उस बालकको वनमें छोड़ दिया । तदनन्तर मत्सर भावसे रहित

१. दैगम्बरीम् । २. क०, ख०, म० पुस्तकेषु 'मोहाद् ब्रह्मरुचिश्च्युतः' इति पाठ उपलभ्यते, न० पुस्तके तु प्राग् 'मोहाब्रह्मरुचिश्च्युतः, इत्येव पाठः स्वीकृतः पश्चात्केनापि टिप्पणकर्त्रा मोहात्—इति पाठः शोधितः । ३. सम्पदः म० । ४. यो महर्षिभिः क०, ख०, ब० । ५. भवेद्यस्मिन् म० । ६. मभवेतरम् म० । मथवेतरं क०,ख०,ब० । ७. स्वयं म० । ८. जन्मन्यङ्कगतो- म० । ९. कान्त्यार्यामिन्दु क०,ख०, म० । १०. भूरिसंवेगा म० । ११. चारुचेष्टिता आर्या भूता = बभूवेति भावः ।

सत्कर्मा बालकश्चासौ रोदनादिविवर्जितः। व्रजद्भिर्नभसा दृष्टः सुरैर्जृम्भकसंज्ञकैः ॥१५१॥
गृहीत्वा च कृपायुक्तैरादरात् परिपालितः। अध्यापितश्च शास्त्राणि [1]सरहस्यान्यशेषतः ॥१५२॥
लेभे च लब्धवर्णः सन् विद्यामाकाशगामिनीम्। यौवनं च परं प्राप्तः स्थितिश्चाणुव्रतीं[2] दृढाम्[3] ॥१५३॥
दृष्ट्वा च मातरं चिह्नैः प्रत्यभिज्ञानकारिणीम्। तत्प्रीत्योपेत्य निर्ग्रन्थं सम्यग्दर्शनतत्परः ॥१५४॥
प्राप्य क्षुल्लकचारित्रं जटामुकुटमुद्वहन्। [4]अवद्वारसमो जातो न गृहस्थो न संयतः ॥१५५॥
यश्च [5]कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्य्यात्यन्तवत्सलः। कलहप्रेक्षणाकाङ्क्षी [6]गीतचुञ्चुः प्रभाववान् ॥१५६॥
पूजितो राजलोकस्य परैरव्याहतायतिः। चचार रोदसीं नित्यं कुतूहलगतेक्षणः ॥१५७॥
देवैः संवर्धितत्वाच्च देवसन्निभविभ्रमः। देवर्षिः प्रथितः सोऽभूद्विद्या विद्योतिताद्भुतः ॥१५८॥
कथञ्चित्संचरंश्चासाविच्छया तां मखावनीम्। समीप गगनोद्देशस्थितोऽपश्यज्जनाकुलाम् ॥१५९॥
दृष्ट्वा च तान् पशून् बद्धान् समाश्लिष्टोऽनुकम्पया। अवतीर्णो मखक्षोणीं जल्पाकपथपण्डितः ॥१६०॥
उवाचेति [7]मरुत्वन्तं किं प्रारब्धमिदं नृप। हिंसनं प्राणिवर्गस्य द्वारं दुर्गतिगामिनाम् ॥१६१॥
उवाचासावयं वेत्ति सर्वशास्त्रार्थकोविदः। ऋत्विग् मम यदेतेन कर्मणा प्राप्यते फलम् ॥१६२॥

होकर वह बड़ी शान्तिसे आलोक नगरमें इन्द्रमालिनी नामक आर्यिकाकी शरणमें गई और उनके पास बहुत भारी संवेगसे उत्तम चेष्टाकी धारक आर्यिका हो गई ॥१४९-१५०॥

अथानन्तर—आकाशमें जृम्भक नामक देव जाते थे सो उन्होंने रोदनादि क्रियासे रहित उस पुण्यात्मा बालकको देखा ॥१५१॥ उन दयालु देवोंने आदरसे ले जाकर उसका पालन किया और उसे रहस्य सहित समस्त शास्त्र पढ़ाये ॥१५२॥ विद्वान् होनेपर उसने आकाशगामिनी विद्या प्राप्त की और परम यौवन प्राप्तकर अत्यन्त दृढ़ अणुव्रत धारण किये ॥१५३॥ उसने चिह्नोंसे पहिचाननेवाली माताके दर्शन किये और उसकी प्रीतिसे अपने पिता निर्ग्रन्थ गुरुके भी दर्शन कर सम्यग्दर्शन धारण किया ॥१५४॥ क्षुल्लकका चारित्र प्राप्तकर वह जटारूपी मुकुटको धारण करता हुआ अवद्वारके समान हो गया अर्थात् न गृहस्थ ही रहा और न मुनि ही किन्तु उन दोनोंके मध्यका हो गया ॥१५५॥ वह कन्दर्प कौत्कुच्य और मौखर्य्यसे अधिक स्नेह रखता था, कलह देखनेकी सदा उसे इच्छा बनी रहती थी, वह संगीतका प्रेमी और प्रभावशाली था ॥१५६॥ राजाओंके समूह उसका सम्मान करते थे, उसके आगमनमें कभी कोई रुकावट नहीं करते थे अर्थात् वह राजाओंके अन्तःपुर आदि सुरक्षित स्थानोंमें भी बिना किसी रुकावटके आ जा सकता था। और निरन्तर कुतूहलोंपर दृष्टि डालता हुआ आकाश तथा पृथिवीमें भ्रमण करता रहता था ॥१५७॥ देवोंने उसका पालन पोषण किया था इसलिए उसकी सब चेष्टाएँ देवोंके समान थीं। वह देवर्षि नामसे प्रसिद्ध था और विद्याओंसे प्रकाशमान तथा आश्चर्यकारी था ॥१५८॥

अपनी इच्छासे संचार करता हुआ वह नारद किसी तरह राजपुर नगरकी यज्ञशालाके समीप पहुँचा और वहाँ पास ही आकाशमें खड़ा होकर मनुष्योंसे भरी हुई यज्ञभूमिको देखने लगा ॥१५९॥ वहाँ बँधे हुए पशुओंको देखकर वह दयासे युक्त हो यज्ञभूमिमें उतरा। वाद-विवाद करनेमें वह पण्डित था ही ॥१६०॥ उसने राजा मरुत्वान्से कहा कि हे राजन्! तुमने यह क्या प्रारम्भ कर रक्खा है? तुम्हारा यह प्राणिसमूहकी हिंसाका कार्य दुर्गतिमें जानेवालोंके लिए द्वारके समान है ॥१६१॥ इसके उत्तरमें राजाने कहा कि इस कार्यसे मुझे जो फल प्राप्त होगा वह समस्त शास्त्रोंका अर्थ जाननेमें निपुण यह याजक (पुरोहित) जानता है ॥१६२॥

---

१. सरहस्याण्यशेषतः म०, ब०। २. अणुव्रतानामियम् आणुव्रती ताम्। ३. दृढाम् म०। ४. न यतिर्न गृहस्थः किन्तु तयोर्मध्यगतः अवद्वारसमः। ५. कान्दर्प- ख०, म०। ६. गीतेन वित्तो गीतचुञ्चुः 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चुञ्चुप्प्रत्ययः। गीतचञ्चुः म०, क०, ख०, ब०। ७. मरुतश्च म०।

आर्त्विजीनं[1] ततोऽवादीदहो माणवक त्वया । किमिदं प्रस्तुतं दृष्टं सर्वज्ञैर्दुःखकारणम् ॥१६३॥
संवर्तः[2] कुपितोऽवोचदहोऽत्यन्तविमूढता । यदत्यंतमसंबद्धं भाषसे हेतुवर्जितम् ॥१६४॥
भवतो यो मतः कोऽपि सर्वज्ञो रागवर्जितः । वक्तृत्वाद्युपपत्तिभ्यो[3] नासावेवं तथेतरः ॥१६५॥
अशुद्धैः कर्तृभिः प्रोक्तं वचनं स्यान्मलीमसम् । अनीदृशश्च नो कश्चिदुपपत्तेरभावतः ॥१६६॥
तस्मादकर्तृकोः वेदः प्रमाणं स्यादतीन्द्रिये[4] । वर्णत्रयस्य यज्ञे[5] च कर्म तेन प्रकीर्तितम् ॥१६७॥
अपूर्वाख्यो ध्रुवो धर्मो यागेन प्रकटीकृतः । प्रयच्छति फलं स्वर्गे मनोज्ञविषयोत्थितम् ॥१६८॥
अन्तर्वेदि पशूनां च प्रत्यवायाय नो वधः । शास्त्रेण चोदितो यस्माद्यायाद्यागादिसेवनम् ॥१६९॥
पशूनां च वितानार्थं कृता सृष्टिः स्वयंभुवा । तस्मात्तदर्थसर्गाणां को दोषो विनिपातने ॥१७०॥
इत्युक्ते नारदोऽवोचदवद्यं[6] निखिलं त्वया । भाषितं श्रृणु दुर्ग्रन्थभावनादूषितात्मना ॥१७१॥
यदि सर्वप्रकारोऽपि सर्वज्ञो नास्ति स त्रिधा । शब्दार्थबुद्धिभेदेन [7]स्ववाचा स्थितितो हताः ॥१७२॥
अथ शब्दश्च बुद्धिश्च विद्यतेऽर्थस्तु नेष्यते । नैवमेतत्त्रयं दृष्टं यस्मात् सर्वगवादिषु ॥१७३॥
असत्यर्थे नितान्तं च कुरुते क्व पदं मतिः । शब्दो वा स तथाभूतो व्रजेद्धीवाग्व्यतिक्रमम् ॥१७४॥

नारदने याजकसे कहा कि अरे बालक ! तू ने यह क्या प्रारम्भ कर रक्खा है ? सर्वज्ञ भगवान्ने तेरे इस कार्यको दुःखका कारण देखा है ॥१६३॥ नारदकी बात सुन संवर्त नामक याजकने कुपित होकर कहा कि अहो तेरी बड़ी मूर्खता है जो इस तरह बिना किसी हेतुके अत्यन्त असंबद्ध बात बोलता है ॥१६४॥ तुम्हारा जो यह मत है कि कोई पुरुष सर्वज्ञ वीतराग है सो वह सर्वज्ञ वक्ता आदि होनेसे दूसरे पुरुषके समान सर्वज्ञ वीतराग सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जो सर्वज्ञ वीतराग है वह वक्ता नहीं हो सकता और जो वक्ता है वह सर्वज्ञ वीतराग नहीं हो सकता ॥१६५॥ अशुद्ध अर्थात् रागी द्वेषी मनुष्योंके द्वारा कहे हुए वचन मलिन होते हैं और इनसे विलक्षण कोई सर्वज्ञ है नहीं, क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। इसलिए अकर्तृक वेद ही तीन वर्णोंके लिए अतीन्द्रिय पदार्थके विषयमें प्रमाण है। उसीमें यज्ञ कर्मका कथन किया है। यज्ञके द्वारा अपूर्व नामक ध्रुवधर्म प्रकट होता है जो जीवको स्वर्गमें इष्ट विषयोंसे उत्पन्न फल प्रदान करता है ॥१६६-१६८॥ वेदीके मध्य पशुओंका जो वध होता है वह पापका कारण नहीं है क्योंकि उसका निरूपण शास्त्रमें किया गया है इसलिए निश्चिन्त होकर यज्ञ आदि करना चाहिए ॥१६९॥ ब्रह्माने पशुओंकी सृष्टि यज्ञके लिए ही की है इसलिए जो जिस कार्यके लिए रचे गये हैं उस कार्यके लिए उनका विघात करनेमें दोष नहीं है ॥१७०॥ संवर्तके इतना कह चुकनेपर नारदने कहा कि तूने सब मिथ्या कहा है। तेरी आत्मा मिथ्या शास्त्रोंकी भावनासे दूषित हो रही है इसीलिए तूने ऐसा कहा है सुन ॥१७१॥ तू कहता है कि सर्वज्ञ नहीं है सो यदि सर्व प्रकारके सर्वज्ञका अभाव है तो शब्दसर्वज्ञ, अर्थसर्वज्ञ और बुद्धि सर्वज्ञ इस प्रकार सर्वज्ञके तीन भेद तूने स्वयं अपने शब्दों द्वारा क्यों कहे ? स्ववचनसे ही तू बाधित होता है ॥१७२॥ यदि तू कहता है कि शब्दसर्वज्ञ और बुद्धिसर्वज्ञ तो है पर अर्थ-सर्वज्ञ कोई नहीं है तो यह कहना नहीं बनता क्योंकि गो आदि समस्त पदार्थोंमें शब्द अर्थ और बुद्धि तीनों साथ ही साथ देखे जाते हैं ॥१७३॥ यदि पदार्थका बिलकुल अभाव है तो उसके बिना बुद्धि और शब्द कहाँ टिकेंगे अर्थात् किसके आश्रयसे उस प्रकारकी बुद्धि होगी और उस प्रकार शब्द बोला जावेगा। और उस प्रकारका अर्थ बुद्धि और वचनके व्यतिक्रमको प्राप्त हो

---

१. होतारम् । आर्तिजीनं क०ख० । अर्तिजीनं म० । २. होता । संधर्ता म० । ३. यत्कृत्वाद्युप (?) । ४. स्यादतीन्द्रियैः म० । ५. यज्ञार्थम् । ६. कुत्सितम् । ७. स्ववाचा स्थानतो हताः म०, स्ववाचास्था हतोहता ख० ।

बुद्धेः सर्वज्ञ इत्येष व्यवहारो गुणागतः । मुख्यापेक्षो यथा चैत्रे सिंहशब्दप्रवर्तनम् ॥१७५॥
एतेन चानुमानेन प्रतिज्ञेयं विरोधिनी । अभावश्च ममात्यन्तं प्रसिद्धिं न क्वचिद्गतः ॥१७६॥
सर्वज्ञः सर्वदृक् क्वासौ यस्यैष महिमा भुवि । [1]दिवि ब्रह्मपुरे ह्येष [2]व्योम्नात्मा सुप्रतिष्ठितः ॥१७७॥
आगमेन[3] तवानेन विरोधं याति संगरः । अनेकान्ते च साध्येऽर्थे भवेत्सिद्धप्रसाधकम् ॥१७८॥
वक्तृत्वं सर्वथाऽयुक्तं न परं प्रतिसिध्यति । असिद्धं च भवेत् स्वस्य स्याद्वादेन समागतम् ॥१७९॥
[4]नासावभिमतोऽस्माकं वक्तृत्वाद्देवदत्तवत् । इत्याद्यपि भवेत्सिद्धं विरुद्धं साधनं यतः ॥१८०॥
प्रजापत्यादिभिश्चायमुपदेशो न निश्चयः । [5]तेऽप्येवमिति चैतेभ्यो दोषवानागमो भवेत् ॥१८१॥
एकं यो वेद तेन स्याज्ज्ञातं सत्तात्मनाखिलम् । अतः साध्यविहीनोऽयं दृष्टान्तो गदितस्त्वया ॥१८२॥
अथ चैकान्तयुक्तोक्तिदृष्टान्तो वो यतस्ततः । साध्यसाधनवैकल्यमुदाहार्यं [6]सधर्मणि ॥१८३॥
श्रुत्वा वस्तुन्यदृष्टे च प्रमाणं वेदमागतम् । न समाश्रयणं युक्तं हेतोः सर्वज्ञदूषणे ॥१८४॥

जायगा ॥१७४॥ बुद्धिमें जो सर्वज्ञका व्यवहार होता है वह गौण है और गौण व्यवहार सदा मुख्यकी अपेक्षा करके प्रवृत्त होता है । जिस प्रकार चैत्रके लिए सिंह कहना मुख्य सिंहकी अपेक्षा रखता है उसी प्रकार बुद्धिसर्वज्ञ वास्तविक सर्वज्ञकी अपेक्षा रखता है ॥१७५॥ इस प्रकार इस अनुमानसे तुम्हारी 'सर्वज्ञ नहीं है' इस प्रतिज्ञामें विरोध आता है तथा हमारे मतमें सर्वथा अभाव माना नहीं गया है ॥१७६॥ 'पृथिवीमें जिसकी महिमा व्याप्त है ऐसा यह सर्वदर्शी सर्वज्ञ कहाँ रहता है' इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि दिव्य ब्रह्मपुरमें आकाशके समान निर्मल आत्मा सुप्रतिष्ठित है ॥१७७॥ तुम्हारे इस आगमसे भी प्रतिज्ञावाक्य विरोधको प्राप्त होता है । यदि सर्वथा सर्वज्ञका अभाव होता तो तुम्हारे आगममें उसके स्थान आदिकी चर्चा क्यों की जाती ? और इस प्रकार साध्य अर्थके अनेकान्त हो जानेपर अर्थात् कथञ्चित् सिद्ध हो जानेपर वह हमारे लिए सिद्धसाधन है क्योंकि यही तो हम कहते हैं ॥१७८॥ सर्वज्ञके अभावमें तुमने जो वक्तृत्व हेतु दिया है सो वक्तृत्व तीन प्रकारका होता है—सर्वथाअयुक्त-वक्तृत्व, युक्त वक्तृत्व और सामान्य वक्तृत्व । उनमेंसे सर्वथाअयुक्तवक्तृत्व तो बनता नहीं, क्योंकि प्रतिवादीके प्रति वह सिद्ध नहीं है । यदि स्वाद्वादसम्मत वक्तृत्व लेते हो तो तुम्हारा हेतु असिद्ध हो जाता है, क्योंकि इससे निर्दोष वक्ताकी सिद्धि हो जाती है । दूसरे आपके जैमिनि आदिक वेदार्थ वक्ता हम लोगोंको भी इष्ट नहीं हैं । वक्तृत्व हेतुसे देवदत्तके समान वे भी सदोष वक्ता सिद्ध होते हैं, इसलिए आपका यह वक्तृत्व हेतु विरुद्ध अर्थको सिद्ध करनेवाला होनेसे विरुद्ध हो जाता है ॥१७९-१८०॥ तथा प्रजापति आदिके द्वारा दिया गया यह उपदेश प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वे भी देवदत्तादिके समान रागी द्वेषी ही हैं और ऐसे रागी द्वेषी पुरुषोंसे जो आगम कहा जावेगा वह भी सदोष ही होगा अतः निर्दोष आगमका तुम्हारे यहाँ अभाव सिद्ध होता है ॥१८१॥ एकको जिसने जान लिया उसने सद्रूपसे अखिल पदार्थ जान लिये, अतः सर्वज्ञके अभावकी सिद्धिमें जो तुमने दूसरे पुरुष का दृष्टान्त दिया है उसे तुमने ही साध्यविकल कह दिया है, क्योंकि वह चूँकि एकको जानता है इसलिए वह सबको जानता है इसकी सिद्धि हो जाती है ॥१८२॥ दूसरे तुम्हारे मतसे सर्वथा युक्त वचन बोलनेवाला पुरुष दृष्टान्त रूपसे है नहीं, अतः आपको दृष्टान्तमें साध्यके अभावमें साधनका अभाव दिखलाना चाहिए । अर्थात् जिस प्रकार आप अन्वय दृष्टान्तमें अन्वयव्याप्ति करके घटित बतलाते हैं उसी प्रकार व्यतिरेक दृष्टान्तमें व्यतिरेकव्याप्ति भी घटित करके बतलानी चाहिए । तभी साध्यकी सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥१८३॥ तथा आपके यहाँ सुनकर अदृष्ट वस्तुके

१. दिव्यब्रह्मपुरे म० । २. व्योमात्मा म० । ३. आगमेनानुमानेन ख० । ४. न शोचति ततोऽस्माकं ख० । ५. तथैवमिति ज० । ६. सधर्मिणि म०, क०, ख० ।

वक्तृत्वस्य विरोधो वा सर्वज्ञत्वेन कः समम् । सति सर्वज्ञतायोगे वक्ता हि सुतरां भवेत् ॥१८५॥
यो न वेत्ति स किं वक्ति वराको मतिदुर्विधः । व्यतिरेकाविनाभावो भावान्न स्यान्न साधनम् ॥१८६॥
स्वपक्षोऽयमविद्येयं तथा [1]रागादिकं मलम् । क्षीयतेऽलं क्वचिद्धेतोर्धातुहेममलं यथा ॥१८७॥
अस्मदादिमते [2]धर्मा अपेक्षितविपर्ययाः । धर्मत्वादुत्पलद्रव्ये यथा नीलविशेषणम् ॥१८८॥
कर्त्रभावश्च, वेदस्य युक्त्यभावान्न युज्यते । कर्तृमत्त्वे तु संसाध्ये दृश्यवद्धेतुसंभवः ॥१८९॥
[3]युक्तिश्च, [4]कर्तृमान् वेदः पदवाक्यादिरूपतः । [5]विधेयप्रतिषेध्यार्थयुक्तत्वान्मैत्रकाव्यवत् ॥१९०॥
ब्रह्मप्रजापतिप्रायः पुरुषेभ्यश्च संभवः । श्रूयते वेदशास्त्रस्य नापनेतुं स शक्यते ॥१९१॥
स्यात्ते मतिर्न कर्तारः प्रवक्तारः श्रुतेः स्मृताः । तथा नाम प्रवक्तारो रागद्वेषादिभिर्युताः ॥१९२॥

विषयमें वेदमें प्रमाणता आती है, अतः वक्तृत्व हेतुके बलसे सर्वज्ञके विषयमें दूषण उपस्थित करनेमें इसका आश्रय करना उचित नहीं है अर्थात् वेदार्थका प्रत्यक्ष ज्ञान न होनेसे उसके बलसे सर्वज्ञके अभावकी सिद्धि नहीं की जा सकती ॥१८४॥ फिर थोड़ा विचार तो करो कि सर्वज्ञताके साथ वक्तृत्वका क्या विरोध है ? मैं तो कहता हूँ कि सर्वज्ञताका सुयोग मिलनेपर यह पुरुष अधिक वक्ता अपने आप हो जाता है ॥१८५॥ जो बेचारा स्वयं नहीं जानता है वह बुद्धिका दरिद्र दूसरोंके लिए क्या कह सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं । इस प्रकार व्यतिरेक और अविनाभावका अभाव होनेसे वह साधक नहीं हो सकता ॥१८६॥ हमारा पक्ष तो यह है कि जिस प्रकार कि सुवर्णादिक धातुओंका मल किसीमें बिलकुल ही क्षीण हो जाता है उसी प्रकार यह अविद्या अर्थात् अज्ञान और रागादिक मल कारण पाकर किसी पुरुषमें अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं । जिसमें क्षीण हो जाते हैं वही सर्वज्ञ कहलाने लगता है ॥१८७॥ हमारे सिद्धान्तसे पदार्थोंके जो धर्म अर्थात् विशेषण हैं वे अपनेसे विरुद्ध धर्मकी अपेक्षा अवश्य रखते हैं जिस प्रकार कि उत्पल आदिके लिए जो नील विशेषण दिया जाता है उससे यह सिद्ध होता है कि कोई उत्पल ऐसा भी होता है जो कि नील नहीं है । इसी प्रकार पुरुषके लिए जो आपके यहाँ असर्वज्ञ विशेषण है वह सिद्ध करता है कि कोई पुरुष ऐसा भी है जो असर्वज्ञ नहीं है अर्थात् सर्वज्ञ है । यथार्थमें विशेषणकी सार्थकता सम्भव और व्यभिचार रहते ही होती हैं जैसा कि अन्यत्र कहा गया है 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत् । न शैत्येन न चौष्ण्येन वह्निः क्वापि विशिष्यते ।' अर्थात् सम्भव और व्यभिचारके कारण ही विशेषण सार्थक होता है । अग्निके लिए कहीं भी शीत विशेषण नहीं दिया जाता क्योंकि वह सम्भव नहीं है इसी प्रकार कहीं भी उष्ण विशेषण नहीं दिया जाता क्योंकि अग्नि सर्वत्र उष्ण ही होती है । इसी प्रकार तुम्हारे सिद्धान्तानुसार यदि पुरुष असर्वज्ञ ही होता तो उसके लिए असर्वज्ञ विशेषण देना निरर्थक था । उसकी सार्थकता तभी है जब किसी पुरुषको सर्वज्ञ माना जावे ॥१८८॥ 'वेदका कोई कर्ता नहीं है' यह बात युक्तिके अभावमें सिद्ध नहीं होती अर्थात् अकर्तृत्वकी सङ्गति नहीं बैठती जब कि 'वेदका कर्ता है' इस विषयमें अनेक हेतु सम्भव हैं । जिस प्रकार दृश्यमान घट पटादि पदार्थ सहेतुक होते हैं उसी प्रकार 'वेद सकर्ता है' इस विषयमें भी अनेक हेतु सम्भव हैं ॥१८९॥ चूँकि वेद पद और वाक्यादि रूप है तथा विधेय और प्रतिषेध्य अर्थसे युक्त है अतः कर्तृमान् है किसीके द्वारा बनाया गया है । जिस प्रकार मैत्रका काव्य पदवाक्य रूप होनेसे सकर्तृक है उसी प्रकार वेद भी पदवाक्य रूप होनेसे सकर्तृक है ॥१९०॥ इसके साथ लोकमें यह सुना जाता है कि वेदकी उत्पत्ति ब्रह्मा तथा प्रजापति आदि पुरुषोंसे हुई है सो इस प्रसिद्धिका दूर किया जाना शक्य नहीं है ॥१९१॥ सम्भवतः तुम्हारा यह विचार हो कि ब्रह्मा आदि वेदके

---

१. यागादिकं म० । २. धर्मे आपेक्षित विपर्ययः म०, ख०, ब० । ३. युक्तेश्च म० । युक्तश्च ख० । ४. कृत्रिमो ख० । ५. विधेयप्रतिषेधार्थं म० ।

सुसर्वज्ञाश्च किं कुर्युरन्यथा ग्रन्थदेशनम् । अर्थस्य [1]चान्यथाख्यानं प्रमाणं [2]तन्मतं यतः ॥१९३॥
चातुर्विध्यं च यज्जात्या [3]तन्न युक्तमहेतुकम् । [4]ज्ञानं देहविशेषस्य न [5]च श्लोकाग्निसंभवात् ॥१९४॥
दृश्यते जातिभेदस्तु यत्र तत्रास्य संभवः । मनुष्यहस्तिवालेयगोवाजिप्रभृतौ यथा ॥१९५॥
न च जात्यन्तरस्थेन पुरुषेण स्त्रियां क्वचित् । क्रियते गर्भसंभूतिर्विप्रादीनां तु जायते ॥१९६॥
अश्वायां रासभेनास्ति संभवोऽस्येति चेन्न सः । नितान्तमन्यजातिस्थः [6]शफादितनुसाम्यतः ॥१९७॥
यदि वा तद्वदेव स्याद् द्वयोर्विसदृशः सुतः । नात्र दृष्टं तथा तस्माद् गुणैर्वर्णव्यवस्थितिः ॥१९८॥
मुखादिसंभवश्चापि ब्रह्मणो योऽभिधीयते । निर्हेतुः स्वगेहेऽसौ शोभते भाषमाणकः ॥१९९॥
ऋषिश्रृङ्गादिकानां च मानवानां प्रकीर्त्यते । ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसंभवात् ॥२००॥
बृहत्त्वाद् भगवान् ब्रह्मा [7]नाभेयस्तस्य ये जनाः । भक्ताः सन्तस्तु पश्यन्ति ब्राह्मणास्ते प्रकीर्तिताः ॥२०१॥
क्षत्रियास्तु क्षतत्राणाद् वैश्याः शिल्पप्रवेशनात् । श्रुतात् सदागमाद् ये तु द्रुतास्ते शूद्रसंज्ञिताः ॥२०२॥

कर्ता नहीं हैं किन्तु प्रवक्ता अर्थात् प्रवचन करनेवाले हैं तो वे प्रवचनकर्ता आपके मतसे राग द्वेषादिसे युक्त ही ठहरेंगे ॥१९२॥ और यदि सर्वज्ञ हैं तो वे ग्रन्थका अन्यथा उपदेश कैसे देंगे और अन्यथा व्याख्यान कैसे करेंगे, क्योंकि सर्वज्ञ होनेसे उनका मत प्रमाण है। इस प्रकार विचार करनेपर सर्वज्ञकी ही सिद्धि होती है ॥१९३॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रके भेदसे जो जातिके चार भेद हैं वे विना हेतुके युक्तिसङ्गत नहीं हैं। यदि कहो कि वेदवाक्य और अग्निके संस्कारसे दूसरा जन्म होनेके कारण उनके देहविशेषका ज्ञान होता है सो यह कहना भी युक्त नहीं है ॥१९४॥ हाँ जहाँ-जहाँ जाति-भेद देखा जाता है वहाँ-वहाँ शरीरमें विशेषता अवश्य पाई जाती है जिस प्रकार कि मनुष्य, हाथी, गधा, गाय, घोड़ा आदिमें पाई जाती है ॥१९५॥ इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि अन्य जातीय पुरुषके द्वारा अन्य जातीय स्त्रीमें गर्भोत्पत्ति नहीं देखी जाती परन्तु ब्राह्मणादिकमें देखी जाती है। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणादिकमें जातिवैचित्र्य नहीं है ॥१९६॥ इसके उत्तरमें यदि तुम कहो कि गधेके द्वारा घोड़ीमें गर्भोत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए उक्त युक्ति ठीक नहीं है? तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि गधा और घोड़ा दोनों अत्यन्त भिन्न जातीय नहीं है क्योंकि एक खुर आदिकी अपेक्षा उनके शरीरमें समानता पाई जाती है ॥१९७॥ अथवा दोनोंमें भिन्नजातीयता ही है यदि ऐसा पक्ष है तो दोनोंकी जो सन्तान होगी वह विसदृश ही होगी जैसे कि गधा और घोड़ीके समागमसे जो सन्तान होगी वह न घोड़ा ही कहलावेगी और न गधा ही। किन्तु खच्चर नामकी धारक होगी किन्तु इस प्रकार सन्तानकी विसदृशता ब्राह्मणादिमें नहीं देखी जाती इससे सिद्ध होता है कि वर्णव्यवस्था गुणोंके आधीन है जातिके आधीन नहीं है ॥१९८॥ इसके अतिरिक्त जो यह कहा जाता है कि ब्राह्मणकी उत्पत्ति ब्रह्माके मुखसे हुई है, क्षत्रियकी उत्पत्ति भुजासे हुई है, वैश्यकी उत्पत्ति जंघासे हुई है और शूद्रकी उत्पत्ति पैरसे हुई है सो ऐसा हेतुहीन कथन करनेवाला अपने घरमें ही शोभा देता है सर्वत्र नहीं ॥१९९॥ तथा ऋषिश्रृङ्ग आदि मानवोंमें जो ब्राह्मणता कही जाती है वह गुणोंके संयोगसे कही जाती है ब्राह्मण योनिमें उत्पन्न होनेसे नहीं कही जाती ॥२००॥ वास्तवमें समस्त गुणोंके वृद्धिगत होनेके कारण भगवान् ऋषभदेव ब्रह्मा कहलाते हैं और जो सत्पुरुष उनके भक्त हैं वे ब्राह्मण कहे जाते हैं ॥२०१॥ क्षत अर्थात् विनाशसे त्राण अर्थात् रक्षा करनेके कारण क्षत्रिय कहलाते हैं, शिल्प अर्थात् वस्तुनिर्माण या व्यापारमें प्रवेश करनेसे लोग वैश्य कहे जाते हैं और

१. चान्यथाख्यानं ख०। अर्थस्येवान्यथाख्यानं ब० । २. तन्मयं क०, ब० । ३. तत्र म० । ४. ज्ञानं देह—म० 'ज' ज्ञानदेहस्य शेषस्य न च—ख० । ५. न श्लोकस्याग्निसंभवात् क० । ६. जातिस्थशफादि म० । ७. वृषभजिनेन्द्रः ।

न जातिर्गर्हिता काचिद्गुणाः कल्याणकारणम् । व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२०३॥
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥२०४॥
चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् । सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम् ॥२०५॥
अपूर्वाख्यश्च धर्मो न व्यज्यते यागकर्मणा । नित्यत्वाद् व्योमवद् व्यक्तेरनित्यो वा घटादिवत् ॥२०६॥
फलं रूपपरिच्छेदः प्रदीपव्यक्त्यनन्तरम् । दृष्टं यथेह चापूर्वव्यक्तिकालं फलं भवेत् ॥२०७॥
शास्त्रेण चोदितत्वाच्च वेदीमध्ये पशोर्वधः । प्रत्यवायाय नेत्येतदयुक्तं येन तच्छृणु ॥२०८॥
वेदागमस्य शास्त्रत्वमसिद्धं शास्त्रमुच्यते । तद्धि यन्मातृवच्छास्ति सर्वस्मै जगते हितम् ॥२०९॥
प्रायश्चित्तं च निर्दोषे वक्तुं कर्मणि नोचितम् । अत्र तूक्तं ततो दुष्टं तच्चेदमभिधीयते[1] ॥२१०॥
राजानं हन्त्यसौ सोमं वीरं[2] वा नाकवासिनाम् । सोमेन यो यजेत्तस्य दक्षिणा द्वादशं शतम्[3] ॥२११॥
शोधयन्त्यत्र देवानां शतं वीरं प्रतर्पणम् । प्राणानां दश कुर्वन्ति यैकादश्यात्मनस्तु[4] सा ॥२१२॥
द्वादशी दक्षिणा या तु दक्षिणा सैव केवलम् । इतरासां च दोषाणां व्यापारो विनिवर्तते ॥२१३॥

श्रुत अर्थात् प्रशस्त आगमसे जो दूर रहते हैं वे शूद्र कहलाते हैं ॥२०२॥ कोई भी जाति निन्दनीय नहीं है, गुण ही कल्याण करनेवाले हैं। यही कारण है कि व्रत धारण करनेवाले चाण्डालको भी गणधरादि देव ब्राह्मण कहते हैं ॥२०३॥ विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल आदिके विषयमें जो समदर्शी हैं वे पण्डित कहलाते हैं अथवा जो पण्डितजन हैं वे इन सबमें समदर्शी होते हैं ॥२०४॥ इस प्रकार ब्राह्मणादिक चार वर्ण और चाण्डाल आदि विशेषणोंका जितना अन्य वर्णन है वह सब आचारके भेदसे ही संसारमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है ॥२०५॥

इसके पूर्व तुमने कहा था कि यज्ञसे अपूर्व अथवा अदृष्ट नामका धर्म व्यक्त होता है सो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अपूर्व धर्म तो आकाशके समान नित्य है वह कैसे व्यक्त होगा ? और यदि व्यक्त होता ही है तो फिर वह नित्य न रहकर घटादिके समान अनित्य होगा ॥२०६॥ जिस प्रकार दीपकके व्यक्त होनेके बाद रूपका ज्ञान उसका फल होता है उसी प्रकार स्वर्गादिकी प्राप्ति रूपी फल भी अपूर्वधर्मके व्यक्त होनेके बाद ही होना चाहिए पर ऐसा नहीं है ॥२०७॥

तुमने कहा है कि वेदीके मध्यमें पशुओंका जो वध होता है वह शास्त्र निरूपित होनेसे पापका कारण नहीं है सो ऐसा कहना अयुक्त है उसका कारण सुनो ॥२०८॥ सर्वप्रथम तो वेद शास्त्र हैं यही बात असिद्ध है क्योंकि शास्त्र वह कहलाता है जो माताके समान समस्त संसारके लिए हितका उपदेश दे ॥२०९॥ जो कार्य निर्दोष होता है उसमें प्रायश्चित्तका निरूपण करना उचित नहीं है परन्तु इस याज्ञिक हिंसामें प्रायश्चित्त कहा गया है इसलिए वह सदोष है। उस प्रायश्चित्तका कुछ वर्णन यहाँ किया जाता है ॥२१०॥ जो सोमयज्ञमें सोम अर्थात् चन्द्रमाके प्रतीक रूप सोम लतासे यज्ञ करता है जिसका तात्पर्य होता है कि वह देवोंके वीर सोम राजाका हनन करता है उसके इस यज्ञकी दक्षिणा एकसौ बारह गौ है ॥२११॥ इन एकसौ बारह दक्षिणाओंमेंसे सौ दक्षिणाएँ देवोंके वीर सोमका शोधन करती हैं, दस दक्षिणाएँ प्राणोंका तर्पण करती हैं, ग्यारहवीं दक्षिणा आत्माके लिए है और जो बारहवीं दक्षिणा है वह केवल दक्षिणा ही

१. -मभिधीयते म० । २. 'अस्माकं सोमो राजा' इति श्रुत्या विशेषणविशेष्यभावः । ३. द्वादशा क० । 'गवां शतं द्वादशं वाऽतिक्रामति' का० श्रौ० १०।२।१० । 'यथारम्भं द्वादश द्वादशाद्येभ्यः षड् षट् द्वितीयेभ्यश्चतस्रश्चतस्रस्तृतीयेभ्यस्तिस्रस्तिस्र इतरेभ्यः ।' कात्यायनश्रौतसूत्र. १०।२।२४ । ४. शुभा क० ।

[1]तथा च यत्पशुर्मायु[2]मकृतोरोदवाहना (?) । पादाभ्यामेनसस्तस्माद्विश्वस्मान्मुञ्च[3] त्वनलः[4] ॥२१४॥
एवमादि च बह्वेव गदितं दोषनोदनम् । आगमेन ततोऽन्येन व्यभिचारोऽत्र विद्यते ॥२१५॥
पशोर्मध्ये वधो वेद्याः प्रत्यवायाय कल्प्यते । तस्य दुःखनिमित्तत्वाद् यथा व्याधकृतो वधः ॥२१६॥
स्वयंभुवा च लोकस्य सर्गो नेयर्ति सत्यताम् । विचार्यमाणमेतद्धि पुराणतृणदुर्बलम् ॥२१७॥
कृतार्थो यद्यसौ सृष्टौ तस्यां किं स्यात्प्रयोजनम्। क्रीडेति चेत्कृतार्थोऽसौ न भवत्यर्भको यथा ॥२१८॥
साक्षादेव रतिं कस्मान्न सृजेत् स विनेतरैः । सृजतो वास्य के भावा भजेयुः करणादिताम् ॥२१९॥
किञ्चोपकारिणः केचित् केचिद्वास्यापकारिणः । सुखिनः कुरुते कांश्चिद् येन कांश्चिच्च दुःखिनः ॥२२०॥
अथ [5]नैव कृतार्थोऽसावेवं तर्हि स नेश्वरः । कर्मणां परतन्त्रत्वाद् यथा कश्चिद् भवद्विधः ॥२२१॥
सुबुद्धिनरयत्नोत्थसंस्थानाः कमलादयः । विशिष्टाकारयुक्तत्वाद् रथ वेश्मादयो यथा ॥२२२॥
यद्बुद्धिपूर्वका एते भविष्यन्ति स ईश्वरः । इत्येतच्च न सम्यक्त्वं भजत्येकान्तवादिनः ॥२२३॥

है । अन्य दक्षिणाओंका व्यापार तो दोषोंके निवारण करनेमें होता है ॥२१२–१३॥ तथा पशु यज्ञमें यदि पशु यज्ञके समय शब्द करे या अपने अगले दोनों पैरोंसे छाती पीटे तो हे अनल! तुम मुझे इससे होनेवाले समस्त दोषसे मुक्त करो ॥२१४॥ इत्यादि रूपसे जो दोषोंके बहुतसे प्रायश्चित्त कहे गये हैं उनके विषयमें अन्य आगमसे प्रकृतमें विरोध दिखाई देता है ॥२१५॥

जिस प्रकार व्याधके द्वारा किया हुआ वध दुःखका कारण होनेसे पापबन्धका निमित्त है उसी प्रकार वेदीके बीचमें पशुका जो वध होता है वह भी उसे दुःखका कारण होनेसे पापबन्धका ही निमित्त है ॥२१६॥

'ब्रह्माके द्वारा लोककी सृष्टि हुई है' यह कहना भी सत्य नहीं है क्योंकि विचार करनेपर ऐसा कथन जीर्णतृणके समान निस्सार जान पड़ता है ॥२१७॥ हम पूछते हैं कि जब ब्रह्मा कृतकृत्य है तो उसे सृष्टिकी रचना करनेसे क्या प्रयोजन है? कहो कि क्रीडावश वह सृष्टिकी रचना करता है तो फिर कृतकृत्य कहाँ रहा? जिस प्रकार क्रीड़ाका अभिलाषी बालक अकृतकृत्य है उसी प्रकार क्रीड़ाका अभिलाषी ब्रह्मा भी अकृतकृत्य कहलायगा ॥२१८॥ फिर ब्रह्मा अन्य पदार्थोंके बिना स्वयं ही रतिको क्यों नहीं प्राप्त हो जाता? जिससे सृष्टि निर्माणकी कल्पना करनी पड़ी। इसके सिवाय एक प्रश्न यह भी उठता है कि जब ब्रह्मा सृष्टिकी रचना करता है तो इसके सहायक करण अधिकरण आदि कौनसे पदार्थ हैं? ॥२१९॥ फिर संसारमें सब लोग एक सदृश नहीं हैं, कोई सुखी देखे जाते हैं और कोई दुखी देखे जाते हैं। इससे यह मानना पड़ेगा कि कोई लोग तो ब्रह्माके उपकारी हैं और कोई अपकारी हैं। जो उपकारी हैं उन्हें यह सुखी करता है और कोई अपकारी हैं उन्हें यह दुःखी करता है ॥२२०॥ इस सब विसंवादसे बचनेके लिए यदि यह माना जाय कि ईश्वर कृतकृत्य नहीं है तो वह कर्मोंके परतन्त्र होनेके कारण ईश्वर नहीं कहलावेगा जिस प्रकार कि आप कर्मोंके परतन्त्र होनेके कारण ईश्वर नहीं है ॥२२१॥ जिस प्रकार रथ मकान आदि पदार्थ विशिष्ट आकारसे सहित होनेके कारण किसी बुद्धिमान् मनुष्यके प्रयत्नसे निर्मित माने जाते हैं उसी प्रकार कमल आदि पदार्थ भी विशिष्ट आकारसे युक्त होनेके कारण किसी बुद्धिमान् मनुष्यके प्रयत्नसे रचित होना चाहिए। "जिसकी बुद्धिसे इन सबकी रचना होती है वही ईश्वर है" इस अनुमानसे सृष्टिकर्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है सो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि एकान्तवादीका उक्त अनुमान समीचीनताको प्राप्त नहीं

१. तथापि ख० । २. माय म० । ३. मुञ्चातनलः म० । ४. नल क० । 'यत्पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते । अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चत्व्̐हसः । (कात्यायन श्रौतसूत्र २५।९।१३। ५. च नैव ख० ।

सुबुद्धिनरयत्नोत्थाः सर्वथा न रथादयः । व्यवस्थितं यतस्तत्र द्रव्यं चैवोपजन्यते ॥२२४॥
क्लेशादियुक्तता चास्य व्यश्नुते तक्षकादिवत् । नामकर्म च मैवं स्यादीश्वरो यस्त्वयेष्यते ॥२२५॥
विशिष्टाकारसंबद्धमीश्वरस्य पुनर्वपुः । ईश्वरान्तरयत्नोत्थमिष्यतेऽतो न निश्चयः ॥२२६॥
अपरेश्वरयत्नोत्थमथैतदपि कल्प्यते । सत्येवमनवस्था स्यान्न च स्वस्याभिसर्जनम् ॥२२७॥
शरीरमथ नैवास्य विद्यते नैष सर्जकः । अमूर्तत्वाद् यथाकाशं तक्षवद् वा सविग्रहः ॥२२८॥
यजनार्थं च सृष्टानां पशूनां वाहनादिकम् । क्रियमाणं विरुद्धयेत तद्धि स्तेयं प्रकल्प्यते ॥२२९॥
अतः कर्मभिरेवेदं रागादिभिरुपार्जितैः । वैचित्र्यं व्यश्नुते विश्वमनादौ भवसागरे ॥२३०॥
कर्म किं पूर्वमाहोस्विच्छरीरमिति नेदृशः । युक्तः प्रश्नो भवेऽनादौ बीजपादपयोर्यथा ॥२३१॥
अन्तोऽपि तर्हि न स्याच्चेत्तन्न बीजविनाशतः । दृष्टा हि पादपोद्भूतेरसंभूतिरिदं तथा ॥२३२॥
तस्माद् द्विष्टेन केनापि प्राणिना पापकर्मणा । कुग्रन्थरचनां कृत्वा यज्ञकर्म प्रवर्तितम् ॥२३३॥
संप्राप्तोऽसि कुले जन्म बुद्धिमानसि मानवः । निवर्तस्व ततः पापादेतस्माद् व्याधकर्मणः ॥२३४॥
यदि प्राणिवधः स्वर्गसंप्राप्तौ कारणं भवेत् । ततः शून्यो भवेदेष लोकोऽल्पैरेव वासरैः ॥२३५॥

है ॥२२२–२२३॥ विचार करनेपर जान पड़ता है कि रथ आदि जितने पदार्थ हैं वे सब एकान्तसे बुद्धिमान् मनुष्यके प्रयत्नसे ही उत्पन्न होते हैं ऐसी बात नहीं है । क्योंकि रथ आदि वस्तुओंमें जो लकड़ी आदि पदार्थ अवस्थित है वही रथादि रूप उत्पन्न होता है ॥२२४॥ जिस प्रकार रथ आदिके बनानेमें बढ़ई आदिको क्लेश उठाना पड़ता है उसी प्रकार ईश्वरको भी सृष्टिके बनानेमें क्लेश उठाना पड़ता होगा । इस तरह उसके सुखी होनेमें बाधा प्रतीत होती है । यथार्थमें तुम जिसे ईश्वर कहते हो वह नाम कर्म है ॥२२५॥ एक प्रश्न यह भी उठता है कि ईश्वर सशरीर है या अशरीर ? यदि अशरीर है तो उससे मूर्तिक पदार्थोंका निर्माण सम्भव नहीं है । यदि सशरीर है तो उसका वह विशिष्टाकारवाला शरीर किसके द्वारा रचा गया है ? यदि स्वयं रचा गया है तो फिर दूसरे पदार्थ स्वयं क्यों नहीं रचे जाते ? यदि यह माना जाय कि वह दूसरे ईश्वरके यत्नसे रचा गया है तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि उस दूसरे ईश्वरका शरीर किसने रचा ? इस तरह अनवस्था दोष उत्पन्न होगा । इस विसंवादसे बचनेके लिए यदि यह माना जाय कि ईश्वरके शरीर है ही नहीं तो फिर अमूर्तिक होनेसे वह सृष्टिका रचयिता कैसे होगा ? जिस प्रकार अमूर्तिक होनेसे आकाश सृष्टिका कर्ता नहीं है उसी प्रकार अमूर्तिक होनेसे ईश्वर भी सृष्टिका कर्ता नहीं हो सकता । यदि बढ़ईके समान ईश्वरको कर्ता माना जाय तो वह सशरीर होगा न कि अशरीर ॥२२६–२२८॥

और तुमने जो कहा कि ब्रह्माने पशुओंकी सृष्टि यज्ञके लिए ही की है सो यदि यह सत्य है तो फिर पशुओंसे बोझा ढोना आदि काम क्यों लिया जाता ? इसमें विरोध आता है विरोध ही नहीं यह तो चोरी कहलावेगी ॥२२९॥ इससे यह सिद्ध होता है कि रागादि भावोंसे उपार्जित कर्मोंके कारण ही समस्त लोग अनादि संसारसागरमें विचित्र दशाका अनुभव करते हैं ॥२३०॥ कर्म पहले होता है कि शरीर पहले होता है ? ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है क्योंकि इन दोनोंका सम्बन्ध बीज और वृक्षके समान अनादि कालसे चला आ रहा है ॥२३१॥ कर्म और शरीरका सम्बन्ध अनादि है इसलिए इसका कभी अन्त नहीं होगा ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार बीजके नष्ट हो जानेसे वृक्षकी उत्पत्तिका अभाव देखा जाता है उसी प्रकार कर्मके नष्ट होनेसे शरीरका अभाव भी देखा जाता है ॥२३२॥ इसलिए पाप कार्य करनेवाले किसी द्वेषी पुरुषने खोटे शास्त्रकी रचनाकर इस यज्ञ कार्यको प्रचलित किया है ॥२३३॥ तुम उच्च कुलमें उत्पन्न हुए हो और बुद्धिमान् मनुष्य हो इसलिए शिकारियोंके कार्यके समान इस पाप कार्यसे विरत होओ ॥२३४॥ यदि प्राणियोंका वध स्वर्ग प्राप्तिका कारण होता तो थोड़े ही दिनोंमें

प्राप्तेन वापि किं तेन च्युतिर्यस्मात् पुनर्भवेत् । दुःखेन च समासक्तं सुखं स्वल्पं च बाह्यजम् ॥२३६॥
यदि प्राणिवधाद् ब्रह्मलोकं गच्छन्ति मानवाः । तस्यानुमननात् कस्मात् पतितो नरके वसुः ॥२३७॥
उत्तिष्ठ भो वसो स्वर्गं व्रजेति कृतनिस्वनैः । सूत्रकण्ठैर्दुराचारैः स्वपराशुभकारिभिः ॥२३८॥
स्वपक्षानुमति[1]प्रीतेरद्युष्याद्यापि यद्द्विजैः । आहुतिः क्षिप्यते वह्नौ नितान्तं क्रूरमानसैः ॥२३९॥
पिष्टेनापि पशुं कृत्वा निघ्नन्तो नरकं गताः । संकल्पादशुभात् कैव कथेतरपशोर्वधे ॥२४०॥
यज्ञकल्पनया नैव किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् । अथापि स्यात्तथाप्येत्रं न कर्तव्या बुधोत्तमैः ॥२४१॥
यजमानो भवेदात्मा शरीरं[2] तु वितर्दिका । पुरोडाशस्तु संतोषः परित्यागस्तथा हविः ॥२४२॥
मूर्धजा एव दर्भाणि दक्षिणा प्राणिरक्षणम् । प्राणायामः सितं ध्यानं यस्य सिद्धपदं फलम् ॥२४३॥
सत्यं यूपस्तपो[3] वह्निर्मानसं चपलं पशुः । समिधश्च हृषीकाणि धर्मयज्ञोऽयमुच्यते ॥२४४॥
यज्ञेन क्रियते तृप्तिर्देवानामिति चेन्मतिः । [4]तन्न तेषां यतोऽस्त्येव दिव्यमन्नं यथेप्सितम्[5] ॥२४५॥
स्पर्शतो रसतो रूपाद्गन्धाद्येषां मनोहरम् । अन्नमस्ति किमेतेन तेषां मांसादिवस्तुना ॥२४६॥
शुक्रशोणितसंभूतममेध्यं कृमिसंभवम् । दुर्गन्धदर्शनं मांसं भक्षयन्ति कथं सुराः ॥२४७॥
त्रयोऽग्नयो वपुष्येव ज्ञानदर्शनजाठराः । दक्षिणाग्न्यादिविज्ञानं कार्यं तेष्वेव सूरिभिः ॥२४८॥

यह संसार शून्य हो जाता ॥२३५॥ और फिर उस स्वर्गके प्राप्त होनेसे भी क्या लाभ है ? जिससे फिर च्युत होना पड़ता है । यथार्थमें बाह्य पदार्थोंसे जो सुख उत्पन्न होता है वह दुःखसे मिला हुआ तथा परिमाणमें थोड़ा होता है ॥२३६॥ यदि प्राणियोंका वध करनेसे मनुष्य स्वर्ग जाते हैं तो फिर प्राणिवधकी अनुमति मात्रसे वसु नरकमें क्यों पड़ा ? ॥२३७॥ वसु नरक गया है इसमें प्रमाण यह है कि दुराचारी, निज और परका अकल्याण करनेवाले दुष्टचेता ब्राह्मण, अपने पक्षके समर्थनसे प्रसन्न हो आज भी 'हे वसो ! उठो, स्वर्ग जाओ' इस प्रकार जोर-जोरसे चिल्लाते हुए अग्निमें आहुति डालते हैं । यदि वसु नरक नहीं गया होता तो उक्त मन्त्र द्वारा आहुति देनेकी क्या आवश्यकता थी ? ॥२३८–२३९॥ चूर्णके द्वारा पशु बनाकर उसका घात करनेवाले लोग भी नरक गये हैं फिर अशुभ संकल्पसे साक्षात् अन्य पशुके वध करनेवाले लोगोंकी तो कथा ही क्या है ? ॥२४०॥ प्रथम तो यज्ञकी कल्पनासे कोई प्रयोजन नहीं है अर्थात् यज्ञकी कल्पना करना ही व्यर्थ है दूसरे यदि कल्पना करना ही है तो विद्वानोंको इस प्रकारके हिंसायज्ञकी कल्पना नहीं करनी चाहिए ॥२४१॥ उन्हें धर्मयज्ञ ही करना चाहिए । आत्मा यजमान है, शरीर वेदी है, संतोष साकल्य है, त्याग होम है, मस्तकके बाल कुशा हैं, प्राणियोंकी रक्षा दक्षिणा है, शुक्लध्यान प्राणायाम है, सिद्धपदकी प्राप्ति होना फल है, सत्य बोलना स्तम्भ है, तप अग्नि है, चञ्चल मन पशु है और इन्द्रियाँ समिधाएँ हैं । इन सबसे यज्ञ करना चाहिए यही धर्मयज्ञ कहलाता है ॥२४२–२४४॥ यज्ञसे देवोंकी तृप्ति होती है यदि ऐसा तुम्हारा ख्याल है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि देवोंको तो मनचाहा दिव्य अन्न उपलब्ध है ॥२४५॥ जिन्हें स्पर्श, रस, गन्ध और रूपकी अपेक्षा मनोहर आहार प्राप्त होता है उन्हें इस मांसादि घृणित वस्तुसे क्या प्रयोजन है ? ॥२४६॥ जो रज और वीर्यसे उत्पन्न है, अपवित्र है, कीड़ोंका उत्पत्तिस्थान है तथा जिसकी गन्ध और रूप दोनों ही अत्यन्त कुत्सित हैं ऐसे मांसको देव लोग किस प्रकार खाते हैं अर्थात् किसी प्रकार नहीं खाते ॥२४७॥ ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और जठराग्नि इस तरह तीन अग्नियाँ शरीरमें सदा विद्यमान रहती हैं; विद्वानोंको उन्हींमें दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्नि इन तीन अग्नियोंकी स्थापना करना

१. -मतप्रीते- म० । २. शरीरस्तु वितर्दिकः म० । ३. यूपस्ततो म० । ४. तत्र म० । ५. यथेप्सितम् म० ।

सुरा यदि हुतेनाग्नौ तृप्तिं यान्ति बुभुक्षिताः । [1]स्वतो नाम ततो देवास्तृप्तिं किमिति नागताः ॥२४९॥
ब्रह्मलोकात्किलागत्य दुर्गन्धं योनिजं वपुः । यखाद ध्वाङ्क्षगोमायुसारमेयसमो भवेत् ॥२५०॥
लालाक्लिन्ने मुखे क्षिप्तं कथं वान्नं द्विजातिभिः । विट्पूर्णकुक्षिसंप्राप्तं तर्पयेत् स्वर्गवासिनः ॥२५१॥
एवं ततो गदन्तं तमनेकान्तदिवाकरम् । देवर्षितेजसा दीप्तं शास्त्रार्थज्ञानजन्मना ॥२५२॥
ऋत्विक्पराजयोद्भूतक्रोधसंभारकम्पिताः । वेदार्थाभ्यसनात्यन्तदयानिर्मुक्तमानसाः ॥२५३॥
आशीविषसमाशेषदृष्टतारकलोचनाः । आवृत्य सर्वतः क्षुब्धाः कृत्वा कलकलं महत् ॥२५४॥
बद्ध्वा परिकरं पापाः सूत्रकण्ठाः समुद्धताः । हस्तपादादिभिर्हन्तुं वायसा इव कौशिकम् ॥२५५॥
नारदोऽपि ततः कांश्चिन्मुष्टिमुद्गरताडनैः । पार्ष्णिनिर्घातपातैश्च कांश्चिदन्यान् यथागतान् ॥२५६॥
शस्त्रायमाणैर्निःशेषैर्गात्रैरेव सुदुःसहैः । द्विजान् जघान कुर्वाणो रेचकं भ्रमणं बहून् ॥२५७॥
अथ घ्नन् स चिरात्खिन्नः क्रूरैर्बहुभिरावृतः । गृहीतः सर्वगात्रेषु भजन्नाकुलतां पराम् ॥२५८॥
पक्षीव निबिडं बद्धः पाशकैरतिदुःखितः । वियदुत्पतनाशक्तः संप्राप्तः प्राणसंशयम् ॥२५९॥
एतस्मिन्नन्तरे दूतो [2]दाशवक्त्रः समागतः । हन्यमानमिमं दृष्ट्वा प्रत्यभिज्ञाय नारदम् ॥२६०॥
निवृत्य त्वरयात्यन्तमेवं रावणमब्रवीत् । यस्यान्तिकं महाराज दूतोऽहं प्रेषितस्त्वया ॥२६१॥

चाहिए ॥२४८॥ यदि भूखे देव होम किये गये पदार्थसे तृप्तिको प्राप्त होते हैं तो वे स्वयं ही क्यों नहीं तृप्तिको प्राप्त हो जाते, मनुष्योंके होमको माध्यम क्यों बनाते हैं ? ॥२४९॥ जो देव ब्रह्मलोकसे आकर योनिसे उत्पन्न होनेवाले दुर्गन्ध युक्त शरीरको खाता है वह कौए, शृगाल और कुत्तेके समान है ॥२५०॥

इसके सिवाय तुम श्राद्धतर्पण आदिके द्वारा मृत व्यक्तियोंकी तृप्ति मानते हो सो जरा विचार तो करो । ब्राह्मण लोग लारसे भीगे हुए अपने मुखमें जो अन्न रखते हैं वह मलसे भरे पेटमें जाकर पहुँचता है । ऐसा अन्न स्वर्गवासी देवताओंको तृप्त कैसे करता होगा ? ॥२५१॥ इस प्रकार शास्त्रोंके अर्थज्ञानसे उत्पन्न, देवर्षिके तेजसे देदीप्यमान, उक्त कथन करते हुए नारदजी अनेकान्तके सूर्यके समान जान पड़ते थे ॥२५२॥ ब्राह्मणोंने उन्हें सब ओरसे घेर लिया । उस समय वे ब्राह्मण याजककी पराजयसे उत्पन्न क्रोधके भारसे कम्पित थे, वेदार्थका अभ्यास करनेके कारण उनके हृदय दयासे रहित थे ॥२५३॥ सर्पके समान उनकी आँखोंकी पुतलियाँ सबको दिख रही थीं और क्षुभित हो सब ओरसे बड़ा भारी कल-कल कर रहे थे ॥२५३-२५४॥ वे सब ब्राह्मण कमर कसकर हस्तपादादिकसे नारदको मारनेके लिए ठीक उस तरह तैयार हो गये जिस प्रकार कि कौए उल्लूको मारनेके लिए तैयार हो जाते हैं ॥२५५॥ तदनन्तर नारद भी उनमेंसे कितने ही लोगोंको मुट्ठियोंरूपी मुद्गरोंकी मारसे और कितने ही लोगोंको एड़ीरूपी वज्रपातसे मारने लगा ॥२५६॥ उस समय नारदके समस्त अवयव अत्यन्त दुःसह शस्त्रोंके समान जान पड़ते थे उन सबसे उसने घूम-घूमकर बहुतसे ब्राह्मणोंको मारा ॥२५७॥ अथानन्तर चिरकाल तक ब्राह्मणोंको मारता हुआ खेद खिन्न हो गया उसे बहुतसे दुष्ट ब्राह्मणोंने घेर लिया, वे उसे समस्त शरीरमें मारने लगे जिससे वह परम आकुलताको प्राप्त हुआ ॥२५८॥ जिस प्रकार जालसे कसकर बँधा पक्षी अत्यन्त दुखी हो जाता है और आकाशमें उड़नेमें असमर्थ होता हुआ प्राणोंके संशयको प्राप्त होता है ठीक वही दशा उस समय नारदकी थी ॥२५९॥

इसी बीचमें रावणका दूत आ रहा था सो उसने पिटते हुए नारदको देखकर पहिचान लिया ॥२६०॥ उसने शीघ्र ही लौटकर रावणसे इस प्रकार कहा कि हे महाराज ! मुझ दूतको आपने जिसके पास भेजा था वह अकेला ही राजाके देखते हुए बहुतसे दुष्ट ब्राह्मणोंके द्वारा उस

---

१. श्वेतो म० । स्वेनो क० । स्वेतो ब० । २. रावणसम्बन्धी ।

राज्ञः पश्यत[1] एवास्य नारदो बहुभिर्द्विजैः । एकाकी हन्यते क्रूरैः शलभैरिव पन्नगः ॥२६२॥
अशक्तस्तत्र राजानमहं दृष्ट्वा भयार्दितः । निवेदयितुमायातो वृत्तान्तमिति दारुणम् ॥२६३॥
तमुदन्तं ततः श्रुत्वा रावणः कोपमागतः । [2]वितानधरणीं गन्तुं प्रवृत्तो जविवाहनः ॥२६४॥
समीररंहसश्चास्य पुरः संप्रस्थिता नराः । परि[3]वारविनिर्मुक्तखड्गाः सूत्कारभासि[4]ताः २६५॥
निमेषेण मखक्षोणीं प्राप्ता दर्शनमात्रतः । [5]व्यमोचयन् दयायु[6]क्ता नारदं शत्रुपञ्जरात् ॥२६६॥
निस्त्रिंशनरवृन्दैश्च र[7]क्षिता पशुसंहतिः । मोचिता[8] तैः सहुंकारं चक्षुर्निक्षेपमात्रतः ॥२६७॥
भज्यमानैस्ततो यूपैस्ताड्यमानैर्द्विजातिभिः । पशुभिर्मुच्यमानैश्च जातं सांरावि[9]णं महत् ॥२६८॥
अब्रह्मण्यकृतारावास्ताड्यन्ते तावदेकशः । यावन्निपतिता भूमौ विश्वे[10] निस्पन्दविग्रहाः ॥२६९॥
भटैश्च [11]पर्यचोद्यन्त यथा [12]वो दुःखमप्रियम् । सुखं च दयितं[13] तद्वत्पशूनामपि दृश्यताम् ॥२७०॥
यथा हि जीवितं कान्तं त्रैलोक्यस्यापि भावतः । [14]भवतात् सर्वजन्तूनामियमेव[15] व्यवस्थितिः ॥२७१॥
भवतां ताड्यमानानां कष्टा तावदियं व्यथा । शस्त्रैर्विशस्यमानानां पशूनां तु किमुच्यताम् ॥२७२॥
दुष्कृतस्याधुना पापाः सहध्वं फलमागतम् । येन नो पुनरप्येवं कुरुध्वं पुरुषाधमाः ॥२७३॥
सुत्रामापि समं देवैर्यद्यायाति तथापि न । अस्मत्स्वामिनि वः क्रुद्धे जायते परिरक्षणम् ॥२७४॥
अश्वैर्मतङ्गजैस्तत्स्थै रथस्थैर्गगनस्थितैः । भूमिस्थैः पुरुषैरन्यैराहन्यन्ते द्विजातयः ॥२७५॥

तरह मारा जा रहा है जिस प्रकार कि बहुतसे दुष्ट पतंगे किसी साँपको मारते हैं ॥२६१॥–२६२॥ मैं शक्तिहीन था और राजाको वहाँ देख भयसे पीड़ित हो गया इसलिए यह दारुण वृत्तान्त आपसे कहनेके लिए दौड़ा आया हूँ ॥२६३॥ यह समाचार सुनते ही रावण क्रोधको प्राप्त हुआ और वेगशाली वाहनपर सवार हो यज्ञभूमिमें जानेके लिए तत्पर हुआ ॥२६४॥ वायुके समान जिनका वेग था, जो म्यानोंसे निकली हुई नंगी तलवारें हाथमें लिये थे और सू सू शब्दसे सुशोभित थे ऐसे रावणके सिपाही पहले ही चल दिये थे ॥२६५॥ वे पलभरमें यज्ञभूमिमें जा पहुँचे । वहाँ जाकर उन दयालु पुरुषोंने दृष्टिमात्रसे नारदको शत्रुरूपी पिंजड़ेसे मुक्त करा दिया ॥२६६॥ क्रूर मनुष्य जिस पशुओंके झुण्डकी रक्षा कर रहे थे उसे उन्होंने आँखके इशारे मात्रसे छुड़वा दिया ॥२६७॥ यज्ञके खम्भे तोड़ डाले, ब्राह्मणोंको पिटाई लगाई और पशुओंको बन्धनसे छोड़ दिया । इन सब कारणोंसे वहाँ बड़ा भारी कोलाहल मच गया ॥२६८॥ 'अब्रह्मण्यं' 'अब्रह्मण्यं' की रट लगानेवाले एक-एक ब्राह्मणको इतना पीटा कि जब तक वे निश्चेष्ट शरीर होकर भूमिपर गिर न पड़े तब तक पीटते ही गये ॥२६९॥ रावणके योद्धाओंने उन ब्राह्मणोंसे पूछा कि जिस प्रकार आप लोगोंको दुःख अप्रिय लगता है और सुख प्रिय जान पड़ता है उसी तरह इन पशुओंको भी लगता होगा ॥२७०॥ जिस प्रकार तीन लोकके समस्त जीवोंको हृदयसे अपना जीवन अच्छा लगता है उसी प्रकार इन समस्त जन्तुओंकी भी व्यवस्था जाननी चाहिए ॥२७१॥ आप लोगोंको जो पिटाई लगी है उससे आप लोगोंकी यह कष्टकारी अवस्था हुई है फिर शस्त्रोंसे मारे गये पशुओंकी क्या दशा होती होगी सो आप ही कहो ॥२७२॥ अरे पापी नीच पुरुषो ! इस समय तुम्हारे पापका जो फल प्राप्त हुआ है उसे सहन करो जिससे फिर ऐसा न करोगे ॥२७३॥ देवोंके साथ इन्द्र भी यहाँ आ जाय तो भी हमारे स्वामीके कुपित रहते तुम लोगोंकी रक्षा नहीं हो सकती ॥२७४॥ हाथी, घोड़े, रथ, आकाश और पृथिवीपर जो भी जहाँ स्थित था वह

---

१. पश्यतः सतः । २. यज्ञभूमिम् । ३. कोशाद्बहिर्गतकृपाणाः । ४. ......भासिनः म० । ५. विमोचयन् म० । ६. दयायुक्तो म० । ७. वधाय धृता रक्षिताः पशुसंहतीः म० । ८. मोचितास्तैः म० । ९. कलकलम् । १०. विप्राः म०, ब० । ११. पर्यवोच्यन्त क० । १२. युष्माकम् । १३. प्रियम् । १४. भवतां क०, ख०, ब० म० । १५. -जन्तूनां नियमे च व्यवस्थितिः ख० ।

अब्रह्मण्यमहो राजन् हा मातर्यज्ञपालये[1] । [2]जीवामि मुञ्च मां नैवं करिष्यामि पुनर्भटाः ॥२७६॥
एवंविधमलं दीनं विलपन्तो विचेष्टितम् । गण्डूपदा इव प्राप्ताः समताड्यन्त ते भटैः ॥२७७॥
हन्यमानं ततो दृष्ट्वा [3]सूत्रकण्ठकदम्बकम् । [4]सहस्रकिरणग्राहमित्यवोचत नारदः ॥२७८॥
कल्याणमस्तु ते राजन् येनाहं मोचितस्त्वया । हन्यमान[5] इमैर्व्याधैः सूत्रकण्ठैर्दुरात्मभिः ॥२७९॥
अवश्यमेवमेतेन भवितव्यं यतस्ततः । [6]कुर्वेतेषां दयां क्षुद्रा जीवन्तु प्रियजीविताः ॥२८०॥
[7]ज्ञातं किं न तथोत्पन्नाः कुपाखण्डा यथा नृप । शृण्वस्यामवसर्पिण्यां [8]तुरीयसमयागमे ॥२८१॥
ऋषभो नाम विख्यातो बभूव त्रिजगन्नतः[9] । कृत्वा कृतयुगं येन कलानां कल्पितं शतम् ॥२८२॥
जातमात्रश्च यो देवैर्नीत्वा [10]मन्दरमस्तकम् । क्षीरोदवारिणा तुष्टैरभिषिक्तो महाद्युतिः ॥२८३॥
ऋषभस्य विभोर्दिव्यं चरितं पापनोदनम् । स्थितं लोकत्रयं व्याप्य पुराणं[11] न श्रुतं त्वया ॥२८४॥
भर्ता बभूव कौमारः स भुवो भूतवत्सलः । गुणांस्तस्य क्षमो वक्तुं न सुरेन्द्रोऽपि विस्तरात् ॥२८५॥
उद्वहन्तीं स्तनौ तुङ्गौ विन्ध्यप्रालेयपर्वतौ । आर्यदेशमुखीं रम्यां [12]नगरीवलयैर्युताम् ॥२८६॥
अब्धिकाञ्चीगुणां नीलसत्काननशिरोरुहाम् । नानारत्नकृतच्छायामत्यन्तप्रवणां सतीम् ॥२८७॥
यः परित्यज्य भूभार्यां मुमुक्षुर्भवसंकटम् । प्रतिपेदे विशुद्धात्मा श्रामण्यं जगते हितम् ॥२८८॥

वहींसे शस्त्रों द्वारा ब्राह्मणोंको मार रहा था ॥२७५॥ और ब्राह्मण चिल्ला रहे थे कि 'अब्रह्मण्यम्' बड़ा अनर्थ हुआ । हे राजन् ! हे माता यज्ञपालि ! हमारी रक्षा करो । हे योद्धाओ ! हम जीवित रह सकें इसलिए छोड़ दो, अब ऐसा नहीं करेंगे' ॥२७६॥ इस प्रकार दीनताके साथ अत्यन्त विलाप करते हुए वे ब्राह्मण केंचुए जैसी दशाको प्राप्त थे फिर भी रावणके योद्धा उन्हें पीटते जाते थे ॥२७७॥ तदनन्तर ब्राह्मणोंके समूहको पिटता देख नारदने रावणसे इस प्रकार कहा ॥२७८॥ कि हे राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो । मैं इन दुष्ट शिकारी ब्राह्मणोंके द्वारा मारा जा रहा था जो आपने मुझे इनसे छुड़ाया ॥२७९॥ यह कार्य चूँकि ऐसा ही होना था सो हुआ अब इनपर दया करो । ये क्षुद्र जीव जीवित रह सकें ऐसा करो, अपना जीवन इन्हें प्रिय है ॥२८०॥ हे राजन् ! इन कुपाखण्डियोंकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है ? यह क्या आप नहीं जानते हैं । अच्छा सुनो मैं कहता हूँ । इस अवसर्पिणी युगका जब चौथा काल आनेवाला था तब भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर हुए । तीनों लोकोंके जीव उन्हें नमस्कार करते थे । उन्होंने कृत युगकी व्यवस्था कर सैकड़ों कलाओंका प्रचार किया ॥॥२८१–२८२॥ जिस समय ऋषभदेव उत्पन्न हुए थे उसी समय देवोंने सुमेरु पर्वतके मस्तकपर ले जाकर सन्तुष्ट हो क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक किया था । वे महाकान्तिके धारक थे ॥२८३॥ भगवान् ऋषभदेवका पापापहारी चरित्र तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर स्थित है क्या तुमने उनका पुराण नहीं सुना ? ॥२८४॥ प्राणियोंके साथ स्नेह करनेवाले भगवान् ऋषभदेव कुमार-कालके बाद इस पृथिवीके स्वामी हुए थे । उनके गुण इतने अधिक थे कि इन्द्र भी उनका विस्तारके साथ वर्णन करनेमें समर्थ नहीं था ॥२८५॥ जब उन्हें वैराग्य आया और वे संसाररूपी सङ्कटको छोड़नेकी इच्छा करने लगे तब जो विन्ध्याचल और हिमाचलरूपी उन्नत स्तनोंको धारण कर रही थी, आर्य देश ही जिसका मुख था, जो नगरीरूपी चूड़ियोंसे युक्त होकर बहुत मनोहर जान पड़ती थी, समुद्र ही जिसकी करधनी थी, हरे भरे वन जिसके शिरके बाल थे, नाना रत्नोंसे जिसकी कान्ति बढ़ रही थी और जो अत्यन्त निपुण थी ऐसी पृथिवी रूपी स्त्रीको छोड़कर उन्होंने

१. पालये म० । २. जीवं विमुञ्च मा नैव ख० । ३. विप्रसमूहम् । ४. रावणम् । ५. अपाणिनीय एष प्रयोगः । ६. कुरु + एतेषां । ७. ज्ञानं म० । ८. चतुर्थकालागमे । ९. त्रिजगतोन्नतः (?) म० । १०. मन्दिर -म० । सुमेरुशिखरम् । ११. पुराणां म० । १२. नगरीं वलयै -म० ।

स्थितो वर्षसहस्रं च वज्राङ्गो स्थिरयोगभृत् । प्रलम्बितमहाबाहुः प्राप्तभूमिजटाचयः ॥२८९॥
स्वामिनश्चानुरागेण गृहीतोग्रपरीषहैः । कच्छाद्यैर्नग्नता मुक्ता वल्कलादिसमाश्रितम् ॥२९०॥
अज्ञातपरमार्थैस्तैः क्षुधादिपरिपीडितैः । फलाद्याहारसंतुष्टैः प्रणीतास्तापसादयः ॥२९१॥
ऋषभस्य तु संजातं केवलं सर्वभासनम् । महान्यग्रोधवृक्षस्य स्थितस्यासन्नगोचरे ॥२९२॥
तत्प्रदेशे कृता देवैस्तस्मिन् काले विभोर्यतः । पूजा तेनैव मार्गेण लोकोऽद्यापि प्रवर्तते ॥२९३॥
प्रतिमाश्च सुरैस्तस्य तस्मिन्देशे सुमानसैः । स्थापिता रम्यचैत्येषु मनुजैश्च महोत्सवैः ॥२९४॥
भरतेनास्य पुत्रेण सृष्टा ये चक्रवर्तिना । पुरा मरीचिना ये च प्रमादस्मययोगतः ॥२९५॥
विसर्पणमिमे सूत्रकण्ठास्तु भुवने गताः । प्राणिनां दुःखदा यद्वत्सलिले विषबिन्दवः ॥२९६॥
[1]उद्वृत्तकुहुकाचारैर्बहु[2]दम्भैः कुलिङ्गकैः[3] । प्रचण्डदण्डैरत्यन्तं तैरिदं मोहितं जगत् ॥२९७॥
जातं शश्वत्प्रवृत्तातिक्रूरकर्मतमश्रितम् । प्रनष्टसुकृतालोकं [4]साधवसत्कारतत्परम् ॥२९८॥
एकविंशतिवारान् ये निधनं प्रापिताः क्षितौ । सूभूमचक्रिणा प्राप्ता न नितान्तमभावताम् ॥२९९॥
ते कथं वद शाम्यन्ते त्वया विप्रा दशानन । [5]उपशाम्यानया किञ्चिन्न [6]कृत्यं प्राणिहिंसया ॥३००॥
जिनैरपि कृतं नैतत्सर्वज्ञैर्निःकुमार्गकम् । जगत् किमुत [7]शक्येत कर्तुमस्मद्विधैर्जनैः ॥३०१॥

विशुद्धात्मा हो जगत्के लिए हितकारी मुनिपद धारण किया था ॥२८६–२८८॥ उनका शरीर वज्रमय था, वे स्थिर योगको धारणकर एक हजार वर्ष तक खड़े रहे । उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ नीचेकी ओर लटक रही थीं और जटाओंका समूह पृथिवीको छू रहा था ॥२८९॥ स्वामीके अनुरागसे कच्छ आदि चार हजार राजाओंने भी उनके साथ नग्न व्रत धारण किया था परन्तु कठिन परीषहोंसे पीड़ित होकर अन्तमें उन्होंने वह व्रत छोड़ दिया और वल्कल आदि धारण कर लिये ॥२९०॥ परमार्थको नहीं जाननेवाले उन राजाओंने क्षुधा आदिसे पीडित होनेपर फल आदिके आहारसे सन्तोष प्राप्त किया । उन्हीं भ्रष्ट लोगोंने तापस आदि लोगोंकी रचना की ॥२९१॥ जब भगवान् ऋषभदेव महा वट वृक्षके समीप विद्यमान थे तब उन्हें समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान प्रकट हुआ ॥२९२॥ उस समय उस स्थानपर चूँकि देवोंके द्वारा भगवानकी पूजा की गई थी इसलिए उसी पद्धतिसे आज भी लोग पूजा करनेमें प्रवृत्त हैं अर्थात् आज जो वट वृक्षकी पूजा होती है उसका मूल स्रोत भगवान् ऋषभदेवके केवलज्ञानकल्याणक से है ॥२९३॥ उत्तम हृदयके धारक देवोंने उस स्थानपर उनकी प्रतिमा स्थापित की तथा महान् उत्सवोंसे युक्त मनुष्योंने मनोहर चैत्यालयोंमें उनकी प्रतिमाएँ विराजमान कीं ॥२९४॥ भगवान् ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्तीने तथा इनके पुत्र मरीचिने पहले प्रमाद और अहङ्कारके योग से जिन ब्राह्मणोंकी रचना की थी वे पानीमें विषकी बूँदोंके समान प्राणियोंको दुःख देते हुए संसारमें सर्वत्र फैल गये ॥२९५–२९६॥ जिन्होंने कुत्सित आचारकी परम्परा चलाई है, जो अनेक प्रकारके कपटोंसे युक्त हैं, जो नाना प्रकारके खोटे-खोटे वेष धारण करते हैं और प्रचण्ड—अत्यन्त तीक्ष्ण दण्डके धारक हैं ऐसे इन ब्राह्मणोंने इस संसारको मोहित कर रक्खा है—भ्रममें डाल रक्खा है ॥२९७॥ यह समस्त संसार निरन्तर प्रवृत्त रहनेवाले अत्यन्त क्रूर कार्यरूपी अन्धकारसे व्याप्त है, इसका पुण्य रूपी प्रकाश नष्ट हो चुका है और साधुजनोंका अनादर करनेमें तत्पर है ॥२९८॥ इस पृथिवीपर सुभूम चक्रवर्तीने इक्कीस बार इन ब्राह्मणोंका सर्वनाश किया फिर भी ये अत्यन्ताभावको प्राप्त नहीं हुए ॥२९९॥ इसलिए हे दशानन ! तुम्हारे द्वारा ये किस तरह शान्त किये जा सकेंगे—सो तुम्हीं कहो । तुम स्वयं उपशान्त होओ । इस प्राणिहिंसासे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥३००॥ जब सर्वज्ञ जिनेन्द्र भी इस संसारको कुमार्गसे रहित नहीं कर सके

१. प्रवृत्तकुत्सिताचारैः । २. बहुडिम्भैः म० । ३. कुलिङ्गिकैः ख० । ४. साधुसत्कार- क०,ख०,म० । ५. उपशान्तो भव । ६. कृतिम् -ख० । ७. शक्यते म० ।

इति [1]देवयतेः श्रुत्वा कैकसीकुक्षिसंभवः । पुराणकथया प्रीतो नमश्चक्रे जिनाधिपम् ॥३०२॥
संकथाभिश्च रम्याभिर्महापुरुषजन्मभिः । स्थितः क्षणं विचित्राभिर्नारदेन समं सुखी ॥३०३॥
[2]मरुत्वोऽथाञ्जलिं बद्ध्वा क्षितिसक्तशिरोरुहः । प्रणनाम [3]यमोत्सादं नयविच्चैवमब्रवीत् ॥३०४॥
भृत्योऽहं तव लङ्केश ! भज नाथ ! प्रसन्नताम् । अज्ञानेन हि जन्तूनां भवत्येव दुरीहितम् ॥३०५॥
गृह्यतां कन्यका चेयं नाम्ना मे कनकप्रभा । वस्तूनां दर्शनीयानां भवानेव हि भाजनम् ॥३०६॥
प्रणतेषु दयाशीलस्तां [4]प्रतीयेष रावणः । उपयेमे च [5]सातत्यप्रवृत्तपरमोदयः ॥३०७॥
तत्सामन्ताश्च तुष्टेन [6]मरुत्वेन यथोचितम् । भटाश्च पूजिता [7]यानवासोलङ्करणादिभिः ॥३०८॥
कनकप्रभया सार्धं रममाणस्य चाजनि । सुता संवत्सरस्यान्ते कृतचित्रेति नामतः ॥३०९॥
रूपेण हि कृतं चित्रं तया लोकस्य पश्यतः । मूर्तियुक्तेव सा शोभा चक्रे चित्तस्य चोरणम् ॥३१०॥
जयार्जितसमुत्साहाः [8]शूरास्तेजस्विविग्रहाः । सामन्ता दशवक्त्रस्य रेमिरे धरणीतले ॥३११॥
धत्ते यो नृपतिख्यातिं तान् दृष्ट्वा स बलीयसः । जगामात्यन्तदीनत्वं स्वभोगभ्रंशकातरः ॥३१२॥
मध्यभागं समालोक्य [9]वर्षस्याम्बरगोचराः[10] । कनकाद्रिनदीरम्यं विस्मयं प्रापुरुत्तमम् ॥३१३॥
ऊचुः केचिद्वरं भद्रा अत्रैवावस्थिता वयम् । नूनं स्वर्गोऽपि नैतस्माद्व्रजते रामणीयकम् ॥३१४॥
अन्येऽवदन्निमं देशं दृष्ट्वा लङ्कानिवर्तने । कुटुम्बदर्शनं शुद्धं कारणं नो भविष्यति ॥३१५॥

तब फिर हमारे जैसे लोग कैसे कर सकते हैं ? ॥३०१॥ इस प्रकार नारदके मुखसे पुराणकी कथा सुनकर रावण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार किया ॥३०२॥ इस प्रकार वह नारदके साथ महापुरुषोंसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक प्रकारकी मनोहर और विचित्र कथाएँ करता हुआ क्षण भर सुखसे बैठा ॥३०३॥

अथानन्तर नीतिके जानकार राजा मरुत्वने हाथ जोड़कर तथा शिरके बाल जमीनपर लगा कर रावणको प्रणाम किया और निम्नाङ्कित वचन कहे ॥३०४॥ हे लङ्केश ! मैं आपका दास हूँ। आप मुझपर प्रसन्न हुजिए। अज्ञानवश जीवोंसे खोटे काम बन ही जाते हैं ॥३०५॥ मेरी कनकप्रभा नामकी कन्या है सो इसे आप स्वीकृत कीजिए क्योंकि सुन्दर वस्तुओंके पात्र आप ही हैं ॥३०६॥ नम्र मनुष्योंपर दया करना जिसका स्वभाव था और निरन्तर जिसका अभ्युदय बढ़ रहा था ऐसे रावणने कनकप्रभाको विवाहना स्वीकृत कर विधिपूर्वक उसके साथ विवाह कर लिया ॥३०७॥ राजा मरुत्वने सन्तुष्ट होकर रावणके सामन्तों और योद्धाओंका वाहन वस्त्र तथा अलङ्कार आदिसे यथायोग्य सत्कार किया ॥३०८॥ कनकप्रभाके साथ रमण करते हुए रावणके एक वर्ष बाद कृतचित्रा नामकी पुत्री हुई ॥३०९॥ चूँकि उसने देखनेवाले मनुष्योंको अपने रूपसे चित्र अर्थात् आश्चर्य उत्पन्न किया था इसलिए उसका कृतचित्रा नाम सार्थक था। वह मूर्तिमती शोभाके समान सबका चित्त चुराती थी ॥३१०॥ विजयसे जिनका उत्साह बढ़ रहा था तथा जिनका शरीर अत्यन्त तेजःपूर्ण था ऐसे दशाननके शूरवीर सामन्त पृथ्वीतल पर जहाँ-तहाँ क्रीड़ा करते थे ॥३११॥ जो मनुष्य 'राजा' इस ख्यातिको धारण करता था वह दशाननके उन बलवान् सामन्तोंको देखकर अपने भोगोंके नाशसे कातर होता हुआ अत्यन्त दीनताको प्राप्त हो जाता था ॥३१२॥ विद्याधर लोग, सुवर्णमय पर्वत तथा नदियोंसे मनोहर भारतवर्षका मध्यभाग देखकर परम आश्चर्यको प्राप्त हुए थे ॥३१३॥ कितने ही विद्याधर कहने लगे कि यदि हमलोग यहीं रहने लगें तो अच्छा हो। निश्चय ही स्वर्ग भी इस स्थानसे बढ़कर अधिक सौन्दर्यको प्राप्त नहीं है ॥३१४॥ कितने ही लोग कहते थे कि हम लोग इस देशको

१. नारदात् । २. एतन्नामा नृपः मरुतोऽथा म० । ३. यमोन्मादं म० । रावणम् । ४. स्वीचकार । ५. सात्यन्त -म० । ६. मरुतेन म० । ७. कान (?) म० । ८. सूरास् म० । ९. भरतक्षेत्रस्य । १०. विद्याधराः । वर्षस्यान्तरगोचराः क० ।

एकेऽवोचन् गृहे वासो न मनागपि शोभते । दृश्यतामस्य देशस्य पार्थवं¹ चित्तहारिणः ॥३१६॥
समुद्रविपुलं सैन्यं पश्यतात्र कथं स्थितम् । मरुत्वमखभङ्गस्य यथाऽन्योऽन्यं न दृश्यते ॥३१७॥
अहो धैर्यमहोदारं लोकस्येक्षणहारिणः² । एतस्य खेचराणां च प्रशस्तोऽयं निरूप्यते ॥३१८॥
मरुत्वमखविध्वंसो³ यं यं देशमुपागतः । रम्यं तस्याकरोल्लोकः पन्थानं तोरणादिभिः ॥३१९॥
शशाङ्कसौम्यवक्त्राभिर्नेत्रै सरसिजोपमे । बिभ्रतीभिः सुलावण्यपूर्णदेहाभिरादरात् ॥३२०॥
महीगोचरनारीभिर्विद्याधरकुतूहलात् । वीक्ष्यमाणा ययुर्भूम्यां खेचरास्तद्दिदृक्षया ॥३२१॥
नगरस्य समीपेन व्रजन्तं कैकसीसुतम् । निर्धौतसायकश्यामं पक्वबिम्बफलाधरम् ॥३२२॥
मुकुटन्यस्तमुक्तांशुसलिलक्षालितालिकम् । इन्द्रनीलप्रभोदारस्फुरत्कुन्तलभारकम्⁴ ॥३२३॥
सहस्रपत्रनयनं शर्वरीतिलकाननम्⁵ । सज्यचापानतस्निग्धनीलभ्रूयुगराजितम्⁶ ॥३२४॥
कम्बुग्रीवं हरिस्कन्धं पीनविस्तीर्णवक्षसम् । दिग्नागनासिकाबाहुं वज्रवन्मध्यदुर्विधम् ॥३२५॥
नागभोगसमाकारप्रसृतं⁷ मग्नजानुकम् । सरोजचरणं न्याय्यप्रमाणस्थितविग्रहम् ॥३२६॥
श्रीवत्सप्रभृतिस्तुत्यद्वात्रिंशल्लक्षणाञ्चितम् । रत्नरश्मिज्वलन्मौलिं विचित्रमणिकुण्डलम् ॥३२७॥
केयूरकरदीप्तांसं⁸ हारराजितवक्षसम् । प्रत्यर्धचक्रभृद्भोगं द्रष्टुमुत्सुकमानसाः ॥३२८॥
आपूरयन् परित्यक्तसमस्तप्रस्तुतक्रियाः । वातायनानि सद्वेषाः स्त्रियोऽन्योऽन्यविपीडिता ॥३२९॥

देखकर लङ्का लौटेंगे इसमें अपने कुटुम्बका दर्शन ही मुख्य कारण होगा ॥३१५॥ कुछ लोग कहते थे कि घरमें रहना तो कुछ भी शोभा नहीं देता। जरा इस मनोहर देशका विस्तार तो देखो ॥३१६॥ देखो, रावणकी समुद्रके समान विशाल सेना यहाँ किस प्रकार ठहर गई कि परस्परमें दिखाई हीं नहीं देती ॥३१७॥ नेत्रोंको हरण करनेवाले इस लोकके धैर्यकी महानता आश्चर्यकारी है। इस लोक तथा विद्याधरोंके लोकका जब विचार करते हैं तो यह लोक ही उत्तम मालूम होता है ॥३१८॥ राजा मरुत्वके यज्ञको नष्ट करनेवाला रावण जिस-जिस देशमें जाता था वहींके निवासीजन तोरण आदिके द्वारा उसके मार्गको मनोहर बना देते थे ॥३१९॥ जिनके मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर थे जो कमलतुल्य नेत्र धारण कर रही थीं और जिनका शरीर सौन्दर्यसे परिपूर्ण था ऐसी भूमिगोचरी स्त्रियाँ विद्याधरोंके कुतूहलसे जिन्हें बड़े आदरसे देख रहीं थीं ऐसा विद्याधर भी रावणको देखनेकी इच्छासे पृथ्वीपर चल रहे थे ॥३२०–३२१॥ जो अत्यन्त धुले हुए बाणके अग्रभाग अथवा तलवारके समान श्यामवर्ण था, जिसके ओठ पके हुए बिम्ब फलके समान थे, मुकुटमें लगे हुए मोतियोंकी किरणों रूपी जलसे जिसका ललाट धुला हुआ था, जिसके घुँघराले बालोंका समूह इन्द्रनीलमणिकी प्रभासे भी अधिक चमकीला था, जिसके नेत्र कमलके समान थे, मुख चन्द्रमाके समान था, जो प्रत्यञ्चा सहित धनुषके समान टेढ़ी चिकनी एवं नीली-नीली भौंहोंके युगलसे सुशोभित था, जिसकी ग्रीवा शङ्खके समान थी, कन्धे सिंहके समान थे, जिसका वक्षःस्थल मोटा और चौड़ा था, जिसकी भुजाएँ दिग्गजकी सूँडके समान मोटीं थी जिसका कमर वज्रके समान मजबूत एवं पतली थी, जिसकी जँघाएं साँपके फणके समान थीं, जिसकी घुटने अपनी मांसपेशियोंमें निमग्न थीं, पैर कमलके समान थे, जिसका शरीर योग्य ऊँचाईसे सहित था, जो श्रीवत्स आदि उत्तमोत्तम बाईस लक्षणोंसे युक्त था, जिसका मुकुट रत्नोंकी किरणोंसे जगमगा रहा था जिसके कुण्डल चित्रविचित्र मणियोंसे निर्मित थे, जिसके कन्धे बाजूबन्दोंकी किरणोंसे देदीप्यमान थे, जिसका वक्षःस्थल हारसे सुशोभित था, और जिसे अर्धचक्रीके भोग प्राप्त थे ऐसा रावण जब नगरके समीपमें गमन करता हुआ आगे जाता था तब उसे देखने के लिए स्त्रियां अत्यन्त उत्कंठितचित्त हो जाती थीं! उत्तमवेषको धारण

१. पृथुत्वं विस्तारम्। पार्थिवं म०, ख०, ब०। २. लोकस्य क्षणहारिणः म०। ३. रावणः। ४. तारकम् म०। ५. चन्द्रमुखम्। ६. सद्य म०, ख०। ७. 'जङ्घा तु प्रसृता समे' इत्यमरः। ८. दीप्तांशं म०।

निश्चिक्षिपुश्च पुष्पाणि [1]समेतानि मधुव्रतैः । तुष्टाश्च विविधालापाश्चक्रुस्तद्वर्णनामिति ॥३३०॥
अयं स रावणो येन जितो मातृष्वसुः सुतः । यमश्च यश्च कैलासं समुत्क्षेप्तुं समुद्यतः ॥३३१॥
नीतः सहस्ररश्मिश्च राज्यभारविमुक्तताम् । मरुत्वस्य च विध्वस्तो वितानः शौर्यशालिना ॥३३२॥
अहो समागमः साधुः कृतोऽयं कर्मभिश्चिरात् । रूपस्य केकसीसूनौ गुणानां च जनोत्सवः ॥३३३॥
योषित्पुण्यवती सोऽयं धृतो गर्भे ययोत्तमः । पिताप्यसौ कृतार्थत्वं प्राप्तः कृत्वास्य संभवम् ॥३३४॥
श्लाघ्यः स बन्धुलोकोऽपि यस्यायं प्रेमगोचरः । अनेनोपयता यास्तु तासां स्त्रीणां किमुच्यते ॥३३५॥
आलापमिति कुर्वन्त्यस्तावद्दैक्षन्त ताः स्त्रियः । गोचरत्वमवापायं यावद्विततचक्षुषाम् ॥३३६॥
गते तस्मिन्मनश्चौरे चक्षुर्गोचरतात्ययम् । मुहूर्तमभवन्नार्यः [7]पुस्तकर्मगता इव ॥३३७॥
[8]तेनापहृतचित्तानां वाञ्छन्तीनां मनोगतम् । कर्तुमन्यदभूत्कर्म कियताचिदनेहसा ॥३३८॥
बभूवेति दशग्रीवे देशे तत्संगमोज्झिते । नारीणां पुरुषाणां च त्यक्तान्याशेषसंकथा ॥३३९॥
विषये नगरे ग्रामे घोषे वा ये प्रधानताम् । भजन्ते पुरुषास्ते तमुपायनभृतोऽगमन् ॥३४०॥
गत्वा जनपदाश्चैवमुपनीय यथोचितम् । रचिताञ्जलयो नत्वा परितुष्टा व्यजिज्ञपन् ॥३४१॥
नन्दनादिषु रम्याणि यानि द्रव्याणि पार्थिव । सुलभत्वं प्रपन्नानि तव तान्यपि चिन्तनात् ॥३४२॥
महाविभवपात्रस्य किमपूर्वं भवेत्तव । उपनीय प्रमोदं ते यत्कुर्मो द्रविणं वयम् ॥३४३॥

करनेवाली स्त्रियां परस्पर एक दूसरेको पीडा पहुँचाती हुई प्रारब्ध समस्त कार्योंको छोड़ कर झरोखोंमें आ डटी थीं ॥३२२–३२९॥ वे संतुष्ट होकर भौंरोंसे सहित फूल रावण पर फेंक रही थी और विविध प्रकारके शब्दोंसे उसका इस प्रकार वर्णन कर रही थीं ॥३३०॥ कोई कह रही थी कि देखो यह वही रावण है जिसने मौसीके लड़के वैश्रवण और यमको जीता था। जो कैलास पर्वतको उठानेके लिए उद्यत हुआ था। जिसने सहस्ररश्मिको राज्यभारसे विमुक्त किया था यह बड़ा पराक्रमी है ॥३३१–३३२॥ अहो बड़े आश्चर्यकी बात है कि कर्मोंने चिर काल बाद रावणमें रूप तथा अनेक गुणोंका लोकानन्दकारी समागम किया है। अर्थात् जैसा इसका सुन्दर रूप है वैसे ही इसमें गुण विद्यमान है ॥३३३॥ वह स्त्री पुण्यवती है जिसने इस उत्तम पुत्रको गर्भमें धारण किया है और वह पिता भी कृतकृत्यपनाको प्राप्त है जिसने इसे जन्म दिया है ॥३३४॥ वे बन्धुजन प्रशंसनीय हैं जिनका कि यह प्रेमपात्र है जो स्त्रियां इसके साथ विवाहित हैं उनका तो कहना ही क्या है? ॥३३५॥ वार्तालाप करती हुई स्त्रियां उसे तब तक देखतीं रही जब तक कि वह उनके विस्तृत नेत्रोंका विषय रहा अर्थात् नेत्रोंके ओझल नहीं हो गया ॥३३६॥ मनको चुराने वाला रावण जब नेत्रोंसे अदृश्य हो गया तब मुहूर्त भरके लिए स्त्रियां चित्र लिखितकी तरह निश्चेष्ट हो गई ॥३३७॥ रावणके द्वारा उन स्त्रियोंका चित्त हरा गया था इसलिए कुछ दिन तक तो उन का यह हाल रहा कि उनके मनमें कुछ कार्य था और वे कर बैठती थीं कोई दूसरा ही कार्य॥३३८॥ रावण जिस देशका समागम छोड़ आगे बढ़ जाता था उस देशके स्त्री पुरुषोंमें एक रावणकी ही कथा शेष रह जाती थी अन्य सबकी कथा छूट जाती थीं ॥३३९॥ देश, नगर, ग्राम अथवा अहीरोंकी वस्तीमें जो पुरुष प्रधानताको प्राप्त थे वे उपहार ले लेकर रावणके समीप गये ॥३४०॥ जनपदोंमें रहनेवाले लोग यथा योग्य भेंट लेकर रावणके पास गये और हाथ जोड़ नमस्कार कर सन्तुष्ट होते हुए निम्न प्रकार निवेदन करने लगे ॥३४१॥ उन्होंने कहा कि हे राजन्! नन्दन आदि वनोंमें जो भी मनोहर द्रव्य हैं वे इच्छा करने मात्रसे ही आपको सुलभ हैं अर्थात् अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ॥३४२॥ चूँकि आप महावैभवके पात्र है इसलिए ऐसा कौन-सा

१. समेधानि म० । २. विविधालापाश्चक्रु -म० । ३. वैश्रवणः । ४. मरुतस्य म० । ५. परिणीता विवाहिता इत्यर्थः । ६. -दैक्ष्यन्त म० । दैक्ष्यं गताः स्त्रियः क०, ख० । ७. दारुनिर्मिता ख० । ८. तेनोपहृत -म० ।

तथापि शून्यहस्तानामस्माकं तव दर्शनम् । न युक्तमिति यत्किञ्चिदुपादाय समागताः ॥३४४॥
जिनेन्द्रः प्रापितः पूजाममरैः कनकाम्बुजैः । द्रुमपुष्पादिभिः किन्न पूज्यतेऽस्मद्विधैर्जनैः ॥३४५॥
नानाजनपदैरेवं[1] सामन्तैश्च महर्द्धिभिः । पूजितः प्रतिसन्मानं तेषां चक्रे प्रियोदितैः ॥३४६॥
परां प्रीतिमवापासौ पश्यन् रम्यां वसुन्धराम् । कान्तामिव निजां नानारत्नालङ्कारशालिनीम् ॥३४७॥
सङ्गं देशेन येनासौ ययौ मार्गवशाद्विभुः । अकृष्टपच्यसस्याढ्यं तत्रासीद् वसुधातलम् ॥३४८॥
प्रमोदं परमं बिभ्रज्जनोऽस्य धरणीतलम् । अनुरागाम्भसा कीर्तिमभ्यसिञ्चत् सुनिर्मलाम्[2] ॥३४९॥
कृषीबलजनाश्चैवमूचुः पुण्यजुषो वयम् । येन देशमिमं प्राप्तो देवो रत्नश्रवःसुतः ॥३५०॥
अन्यदा कृषिसक्तानां रूक्षाङ्गानां कुवाससाम् । वहतां कर्कशस्पर्शं पाणिपादं सवेदनम् ॥३५१॥
क्लेशात् कालो गतोऽस्माकं सुखस्वादविवर्जितः । प्रभावादस्य भव्यस्य साम्प्रतं वयमीश्वराः ॥३५२॥
पुण्येनानुगृहीतास्ते देशाः सम्पत्समाश्रिताः । येषु कल्याणसंभारो विचरत्येष रावणः ॥३५३॥
कृत्यं किं बान्धवैर्ये न समर्था दुःखनोदने । अयमेव महाबन्धुः सर्वेषां प्राणिनामभूत् ॥३५४॥
अनुरागं गुणैरेवं स लोकस्य प्रवर्धयन् । चकार तस्य हेमन्तं निदाघं च सुखप्रदम् ॥३५५॥
आसतां चेतनास्तावद्येऽपि भावा विचेतनाः । तेऽपि भीता इवामुष्माद् बभूवुर्लोकसौख्यदाः ॥३५६॥
तावच्च व्रजतस्तस्य प्रादुरासीद्घनागमः । अभ्युत्थानं दशास्यस्य कुर्वन्निव ससंभ्रमः ॥३५७॥
बलाकाविद्युदिन्द्रास्त्रकृतभूषा घनाघनाः । महानीलगिरिच्छायाः कुर्वन्तः पटुनिस्वनम् ॥३५८॥

अपूर्व धन है जिसे भेंट देकर हम आपको प्रसन्न कर सकते हैं ॥३४३॥ फिर भी हम लोगोंको खाली हाथ आपका दर्शन करना उचित नहीं है इसलिए कुछ तो भी लेकर समीप आये हैं ॥३४४॥ देवोंने जिनेन्द्र भगवान्‌की सुवर्ण कमलोंसे पूजा की थी तो क्या हमारे जैसे लोग उनकी साधारण वृक्षोंके फूलोंसे पूजा नहीं करते ? अर्थात् अवश्य करते हैं ॥३४५॥ इस प्रकार नाना जनपदवासी और बड़ी-बड़ी सम्पदाओंको धारण करनेवाले सामन्तोंने रावणकी पूजा की तथा रावणने भी प्रिय वचन कहकर बदलेमें उनका सन्मान किया ॥३४६॥ नाना रत्नमयी, अलङ्कारोंसे सुशोभित अपनी स्त्रीके समान सुन्दर पृथिवीको देखता हुआ रावण परम प्रीतिको प्राप्त हुआ ॥३४७॥ रावण मार्गके कारण जिस-जिस देशके साथ समागमको प्राप्त हुआ था वहाँकी पृथिवी अकृष्टपच्य धान्यसे युक्त हो गई थी ॥३४८॥ परम हर्षको धारण करनेवाले लोग रावणके द्वारा छोड़े हुए पृथिवीतलको तथा उसकी अत्यन्त निर्मल कीर्तिको अनुराग रूपी जलसे सींचते थे ॥३४९॥ किसान लोग इस प्रकार कह रहे थे कि हम लोग बड़े पुण्यात्मा हैं जिससे कि रावण इस देशमें आया ॥३५०॥ हम लोग अब तक खेतीमें लगे रहे, हम लोगोंका सारा शरीर रूखा हो गया। हमें फटे पुराने वस्त्र पहिननेको मिले, हम कठोर स्पर्श और तीव्र वेदनासे युक्त हाथ-पैरोंको धारण करते रहे और आज तक कभी सुखसे अच्छा भोजन हमें प्राप्त नहीं हुआ। इस तरह हम लोगोंका काल बड़े क्लेशसे व्यतीत हुआ परन्तु इस भव्य जीवके प्रभावसे हम लोग इस समय सर्व प्रकारसे सम्पन्न हो गये हैं ॥३५१-३५२॥ जिन देशोंमें यह कल्याणकारी रावण विचरण करता है वे देश पुण्यसे अनुगृहीत तथा सम्पत्तिसे सुशोभित हैं ॥३५३॥ मुझे उन भाइयोंसे क्या प्रयोजन जो कि दुःख दूर करनेमें समर्थ नहीं हैं। यह रावण ही हम सब प्राणियोंका बड़ा भाई है ॥३५४॥ इस प्रकार गुणोंके द्वारा लोगोंके अनुरागको बढ़ाते हुए रावणने हेमन्त और ग्रीष्म ऋतुको भी लोगोंके लिए सुखदायी बना दिया था ॥३५५॥ चेतन पदार्थ तो दूर रहे जो अचेतन पदार्थ थे वे भी मानो रावणसे भयभीत होकर ही लोगोंके लिए सुखदायी हो गये थे ॥३५६॥ रावणका प्रयाण जारी था कि इतनेमें वर्षा ऋतु आ गई जो ऐसी जान पड़ती थी मानो हर्षके साथ रावणकी अगवानी करनेके लिए ही आई थी ॥३५७॥ बलाका बिजली

१. जनपदैरेव म० । २. सुनिर्मलम् ख०, ब०, म० ।

हेमकक्षाभृतः कम्बुध्वजभूषितविग्रहाः । प्रहिताभा व[1] शक्रेण रावणस्य गजा इव ॥३५९॥
दिशोऽन्धकारिताः सर्वा जीमूतपटलैस्तथा । रात्रिन्दिवस्य न ज्ञातो भेद एव यथा जनैः ॥३६०॥
अथवा युक्तमेवेदं कर्तुं मलिनताभृताम् । यत्प्रकाशतमोयुक्तान् कुर्वन्ति भुवने समान् ॥३६१॥
भूमिर्जीमूतसंसक्ताः स्थूला विच्छेदवर्जिताः । नाज्ञायन्त घना धारा उत्पतन्ति पतन्ति नु ॥३६२॥
मानसे मानसम्भारो मानिनीभिश्चिरं धृतः । पटुनो मेघरटितात्[2] क्षणेन ध्वंसमागतः ॥३६३॥
घनध्वनितवित्रस्ता मानिन्यो रमणं भृशम् । आलिलिङ्गू रणत्कारि वलयाकुलबाहवः ॥३६४॥
शीतला मृदवो धाराः पथिकानां घनोज्झिताः । द्रष्टृणां समतां जग्मुः कुर्वन्त्यो मर्मदारणम् ॥३६५॥
भिन्नं धाराकदम्बेन हृदयं दूरवर्तिनः । चक्रेणेव सुतीक्ष्णेन पथिकस्याकुलात्मनः ॥३६६॥
नीतो [3]नवेन नीपेन [4]मूढतां पथिको यथा । पुस्तकर्मसमो जातो वराकः क्षणमात्रकम् ॥३६७॥
क्षीरोदपायिनो मेघा प्रविष्टा इव धेनुषु । अन्यथा क्षीरधारास्ताश्चक्षरुः सततं कथम् ॥३६८॥
वर्षाणां समये तस्मिन्न बभूवुः कृषीबलाः । समाकुलाः प्रभावेण रावणस्य महाधनाः ॥३६९॥
अन्नमेकस्य हेतोर्यत्कुटुम्बिन्या प्रसाधितम् । भुज्यमानं [5]कुटुम्बेन न तन्निष्ठामुपागमत् ॥३७०॥
महोत्सवो दशग्रीवो बभूव प्राणधारिणाम् । पुण्यसंपूर्णदेहानां सौभाग्यं केन कथ्यते ॥३७१॥
इन्दीवरचयश्यामः स्त्रीणामौत्सुक्यमाहरन्[6] । साक्षादिव बभूवासौ वर्षाकालो महाध्वनिः ॥३७२॥

और इन्द्रधनुपसे शोभित, महानीलगिरिके समान काले-काले मेघ जोरदार गर्जना करते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो सुवर्णमालाओंको धारण करनेवाले शङ्ख और पताकाओंसे सुशोभित हाथी ही इन्द्रने रावणके लिए उपहारमें भेजे हों ॥३५८-३५९॥ मेघोंके समूहसे समस्त दिशाएँ इस प्रकार अन्धकार युक्त हो गई थीं कि लोगोंको रात-दिनका भेद ही नहीं मालूम होता था ॥३६०॥ अथवा जो मलिनताको धारण करनेवाले हैं उन्हें ऐसा ही करना उचित है कि वे संसार में प्रकाश और अन्धकारसे युक्त सभी पदार्थोंको एक समान कर देते हैं ॥३६१॥ पानीकी बड़ी मोटी धाराएँ रुकावटरहित पृथिवी और आकाशके बीचमें इस तरह संलग्न हो रही थीं कि पता ही नहीं चलता था कि ये मोटी धाराएँ ऊपरको जा रही हैं या ऊपरसे नीचे फिर रही हैं ॥३६२॥ मानवती स्त्रियोंने जो मानका समूह चिरकालसे अपने मनमें धारण कर रक्खा था वह मेघोंकी जोरदार गर्जनासे क्षण भरमें नष्ट हो गया था ॥३६३॥ जिनकी भुजाएँ रुनझुन करनेवाली चूड़ियोंसे युक्त थीं ऐसी मानवती स्त्रियाँ मेघगर्जनासे डरकर पतिका गाढ़ आलिङ्गन कर रही थीं ॥३६४॥ मेघोंके द्वारा छोड़ी हुई जलकी धाराएँ यद्यपि शीतल और कोमल थीं तथापि वे पथिक जनोंका मर्म विदारण करती हुई दर्शकोंकी समानताको प्राप्त हो रही थीं ॥३६५॥ जिसकी आत्मा अत्यन्त व्याकुल थी ऐसे दूरवर्ती पथिकका हृदय धाराओंके समूहसे इस प्रकार खण्डित हो गया था मानो अत्यन्त पैनेचक्रसे ही खण्डित हुआ हो ॥३६६॥ कदम्बके नये फूलसे बेचारा पथिक इतना अधिक मोहित हो गया कि वह क्षणभरके लिए मिट्टीके पुतलेके समान निश्चेष्ट हो गया ॥३६७॥ ऐसा जान पड़ता था कि क्षीरसमुद्रसे जल ग्रहण करनेवाले मेघ मानो गायोंके भीतर जा घुसे थे। यदि ऐसा न होता तो वे निरन्तर दूधकी धाराएँ कैसे झराते रहते ? ॥३६८॥ उस समयके किसान रावणके प्रभावसे महाधनवान् हो गये थे इसलिए उस वर्षाके समय भी वे व्याकुल नहीं हुए थे ॥३६९॥ घरकी मालकिन एक व्यक्तिके लिए जो भोजन तैयार करती थी उसे सारा कुटुम्ब खाता था फिर भी वह समाप्त नहीं होता था ॥३७०॥ इस प्रकार रावण समस्त प्राणियोंके लिए महोत्सव स्वरूप था सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यात्मा जीवोंका सौभाग्य कौन कह सकता है ? ॥३७१॥ रावण नील कमलोंके समूहके समान श्याम

१. व पादपूर्तौ । प्रहिता भान्ति शक्रेण म० । २. मेघरटितान् म० । ३. वनेन पीतेन म० । ४. कदम्बकुसुमेन । ५. कुटुम्बेन तन्निष्ठां समुपागमत् म० । ६. -माहरत् म० ।

गर्जितेन पयोदानां रावणस्येव शासनात् । घोषणेन कृता सर्वैः प्रणतिः पतिभिर्नृणाम् ॥३७३॥
कन्या दृष्टिहराः प्रापुर्दशवक्त्रं स्वयंवराः । भूगोचराः परित्यक्तगगना इव विद्युतः ॥३७४॥
रेमिरे तास्तमासाद्य महीधरणतत्परम् । [1]पयोधरभराक्रान्ता सद्वर्षा इव भूभृतम् ॥३७५॥
जिगीषोर्यक्षमर्दस्य[2] दृष्ट्वैव परमां द्युतिम् । भास्वान् पलायितः क्वापि त्रपात्राससमाकुलः ॥३७६॥
दशाननस्य यद्वक्त्रं तदेव कुरुते क्रियाम् । मदीयामिति मत्वेव जगाम क्वापि चन्द्रमाः ॥३७७॥
दशवक्त्रस्य वक्त्रेण जितं ज्ञात्वा निजं पतिम् । भयेनेव समाक्रान्तास्तारा: क्वापि पलायिताः ॥३७८॥
सुरक्तं पाणिचरणं कैकसेयस्य योषिताम् । विदित्वेव त्रपायुक्ता तिरोऽभूदब्जसंहतिः ॥३७९॥
[3]रशनाविद्युता युक्ता रक्तांशुकसुरायुधाः । नार्यः पयोधराक्रान्तास्तस्य[4] वर्षा इवाभवन् ॥३८०॥
आमोदं रावणो जज्ञे केतकीनां न योषिताम् । निःश्वासमरुताकृष्टगुञ्जद्भ्रमरपङ्क्तिना ॥३८१॥

मन्दाक्रान्तावृत्तम्

भागीरथ्यास्तटमतितरां रम्यमासाद्य दूरं
प्रान्तोद्भूतप्रचुरविलसत्कान्तिशष्पं[5] विशालम् ।
नानापुष्पप्रभवनिविडघ्राणसंरोधिगन्धं
[6]चोर्णाबन्धुर्जलदसमयं सर्वसौख्येन निन्ये ॥३८२॥

वर्ण था और जोरदार शब्द करता था इससे ऐसा जान पड़ता था मानो स्त्रियोंको उत्सुक करता हुआ साक्षात् वर्षाकाल ही हो ॥३७२॥ मेघोंकी गर्जनाके बहाने मानो रावणका आदेश पाकर ही समस्त राजाओंने रावणको नमस्कार किया था ॥३७३॥ नेत्रोंको हरण करनेवाली भूमि-गोचरियोंकी अनेक कन्याएँ रावणको प्राप्त हुई सो ऐसी जान पड़ती थीं मानो आकाशको छोड़कर बिजलियाँ ही उसके पास आई हों ॥३७४॥ जिस प्रकार पयोधरभराक्रान्ता अर्थात् मेघोंके समूहसे युक्त उत्तम वर्षाएँ किसी पर्वतको पाकर क्रीडा करती हैं उसी प्रकार पयोधरभराक्रान्ता अर्थात् स्तनोंके भारसे आक्रान्त कन्याएँ पृथिवीका भार धारण करनेमें समर्थ रावणको पाकर क्रीडा करती थीं ॥३७५॥ वर्षा ऋतुमें सूर्य छिप गया सो ऐसा जान पड़ता था मानो विजयाभिलाषी रावणकी उत्कृष्ट कान्ति देख लज्जा और भयसे व्याकुल होता हुआ कहीं भाग गया था ॥३७६॥ चन्द्रमाने देखा कि जो काम मैं करता हूँ वही रावण का मुख करता है ऐसा मानकर ही मानो वह कहीं चला गया था ॥३७७॥ तारा भी अन्तर्हित हो गये थे सो ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंने देखा कि रावणके मुखसे हमारा स्वामी—चन्द्रमा जीत लिया गया है इस भयसे युक्त होकर ही वे कहीं भाग गई थीं ॥३७८॥ रावणकी स्त्रियोंके हाथ और पैर हमसे कहीं अधिक लाल हैं ऐसा जानकर ही मानो कमलोंका समूह लजाता हुआ कहीं छिप गया था ॥३७९॥ जो मेखला रूपी बिजलीसे युक्त थीं तथा रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्र रूपी इन्द्रधनुषको धारण कर रही थीं और पयोधर अर्थात् स्तनों (पक्षमें मेघों) से आक्रान्त थीं ऐसी रावणकी स्त्रियाँ ठीक वर्षा ऋतुके समान जान पड़ती थीं ॥३८०॥ जिसने गूँजती हुई भ्रमरपङ्क्तिको आकृष्ट किया था ऐसे श्वासोच्छ्वासकी वायुसे रावण केतकीके फूल और स्त्रियोंकी गन्धको अलग-अलग नहीं पहिचान सका था ॥३८१॥ जिसके दूर-दूर तक प्रचुर मात्रामें सुन्दर घास उत्पन्न हुई थी और जहाँ नाना फूलोंसे समुत्पन्न गन्ध घ्राणको व्याप्त कर रही थी ऐसे गङ्गा नदीके लम्बे चौड़े सुन्दर तटको पाकर रावणने सुखपूर्वक वर्षा काल व्यतीत किया ॥३८२॥ गौतम स्वामी राजा

१. स्तनभारावनताः पक्षे मेघसमूहाक्रान्ताः । २. रावणस्य । ३. रसना विद्युता युक्ता म० । ४. क्रान्ता तस्य म० । ५. शिष्यं म० । संख्यं ख० । सेव्यं क० । ६. रावणः ।

नाम श्रुत्वा प्रणमति जनः पुण्यभाजां नराणां-
चारुस्त्रीणां निखिलविषयप्रापिसङ्घा[1] भवन्ति ।
उत्पद्यन्ते परमविभवा विस्मयानां निवासाः
शैत्यं [2]यायाद् रविरपि ततः पुण्यबन्धे यतध्वम् ॥३८३॥

*इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते मरुत्वयज्ञध्वंसन-
पदानुगाभिधानं नामैकादशं पर्व ॥११॥*

श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! पुण्यात्मा मनुष्योंका नाम सुनकर ही लोग उन्हें प्रणाम करने लगते हैं, अनेक विषयोंको प्राप्त करानेवाले सुन्दर स्त्रियोंके समूह उन्हें प्राप्त होते रहते हैं, आश्चर्यके निवासभूत अनेक ऐश्वर्य उनके घर उत्पन्न होते हैं और कहाँ तक कहा जाय सूर्य भी उनके प्रभावसे शीतल हो जाता है इसलिए सबको पुण्यबन्धके लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥३८३॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्यके द्वारा कथित पद्मचरितमें राजा मरुत्वके यज्ञके विध्वंसका वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥११॥

---

१. निखिलविषय प्राप्यसङ्घो म० । २. यात्राद् म०

द्वादशं पर्व

तत्राथ मन्त्रिभिः सार्धं चक्रेऽसौ संप्रधारणम् । कस्मै तु दीयतामेषा कन्येति रहसि स्थितः ॥१॥
इन्द्रेण सह संग्रामे जीविते नास्ति निश्चयः । अतो वरं कृतं बालापाणिग्रहणमङ्गलम् ॥२॥
तञ्च चिन्तापरं ज्ञात्वा कन्यावरगवेषणे । हरिवाहनराजेन[1] सूनुरा[2]ह्वानितोऽन्तिकम् ॥३॥
दृष्ट्वा तं सुन्दराकारं प्रणतं तोषमागतः । दशाननः सुतां चास्मै दातुं चक्रे मनोरथम् ॥४॥
उचिते चासने तस्मिन्नासीने सचिवान्विते । अचिन्तयद्दशग्रीवो नयशास्त्रविशारदः ॥५॥
मथुरानगरीनाथः सुगोत्रो हरिवाहनः । अ[3]स्मद्गुणगणोत्कीर्तिसततासक्तमानसः ॥६॥
अस्य च प्राणभूतोऽयं बन्धूनां च मधुः सुतः । श्लाघ्यो विनयसम्पन्नो योग्यः प्रीत्यनुवर्तने[4] ॥७॥
ज्ञात्वा चेतीव वृत्तान्तमयं सुन्दरविभ्रमः । प्रख्यातगुणसंघातः परिप्राप्तो मदन्तिकम् ॥८॥
ततो मधोरिदं प्राह मन्त्री देव तवाग्रतः । अस्य दुःखेन वर्ण्यन्ते गुणा विक्रमशालिनः ॥९॥
तथापि भवतु ज्ञाता स्वामिनोऽस्य यथात्मना । इत्यावेदयितुं किञ्चित्क्रियते प्रक्रमो मया ॥१०॥
आमोदं परमं बिभ्रत्सर्वलोकमनोहरः । मधुशब्दमयं धत्ते यथार्थं पृथिवीगतम् ॥११॥
गुणा एतावतैवास्य ननु पर्या[5]प्तवर्णनाः । असुरेन्द्रेण यद्दत्तं शूलरत्नं महागुणम् ॥१२॥
यत्प्रत्यरिबलं क्षिप्तममोघं भासुरं भृशम् । द्विपत्सहस्रं नी[6]त्वान्तं करं प्रतिनिवर्तते ॥१३॥

अथानन्तर—उसी गङ्गा तटपर रावणने एकान्तमें मन्त्रियोंके साथ सलाह की कि यह कृतचित्रा कन्या किसके लिए दी जाय ? ॥१॥ इन्द्रके साथ संग्राममें जीवित रहनेका निश्चय नहीं है इसलिए कन्याका विवाह रूप मङ्गल कार्य प्रथम ही कर लेना योग्य है ॥२॥ तब रावणको कन्याके योग्य वर खोजनेमें चिन्तातुर जानकर राजा हरिवाहनने अपना पुत्र निकट बुलाया ॥३॥ सुन्दर आकारके धारक उस विनयवान् पुत्रको देखकर रावणको बड़ा सन्तोष हुआ और उसने उसके लिए पुत्री देनेका विचार किया ॥४॥ जब वह मन्त्रियोंके साथ योग्य आसनपर बैठ गया तब नीतिशास्त्रका विद्वान् रावण इस प्रकार विचार करने लगा कि यह मथुरा नगरीका राजा हरिवाहन उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ है, इसका मन सदा हमारे गुण-कथन करनेमें आसक्त रहता है और यह इसका तथा इसके बन्धुजनोंका प्राणभूत मधु नामका पुत्र है । यह अत्यन्त प्रशंसनीय, विनयसंपन्न और प्रीतिके निर्वाह करनेमें योग्य है ॥५-७॥ यह वृत्तान्त जानकर ही मानो इसकी चेष्टाएँ सुन्दर हो रही हैं । इसके गुणोंका समूह अत्यन्त प्रसिद्ध है । यह मेरे समीप आया सो बहुत अच्छा हुआ ॥८॥ तदनन्तर राजा मधुका मन्त्री बोला कि हे देव ! आपके आगे इस पराक्रमीके गुण बड़े दुःखसे वर्णन किये जाते हैं अर्थात् उनका वर्णन करना सरल नहीं है ॥९॥ फिर भी आप कुछ जान सकें इसलिए कुछ तो भी वर्णन करनेका प्रयत्न करता हूँ ॥१०॥ सब लोगोंके मनको हरण करनेवाला यह कुमार वास्तविक मधु शब्दको धारण करता है क्योंकि यह सदा मधु जैसी उत्कृष्ट गन्धको धारण करनेवाला है ॥११॥ इसके गुणोंका वर्णन इतनेसे ही पर्याप्त समझना चाहिए कि असुरेन्द्रने इसके लिए महागुणशाली शूलरत्न प्रदान किया है ॥१२॥ ऐसा शूलरत्न कि जो कभी व्यर्थ नहीं जाता, अत्यन्त देदीप्यमान है और शत्रुसेनाकी ओर

१. 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् समासान्तः । २. आह्वानं प्रापितः आह्वानितः । ३. अस्मद्गुणगणे कीर्ति- म०, ख० । ४. प्रीत्यनुवर्तते म०, ब०, ख० । प्रीतेरनुवर्तनं तस्मिन् । ५. गुणपर्याप्तवर्णना म० । ६. नीत्वा तं म० ।

क्रिययैव च देवोऽस्य गुणान् ज्ञास्यति वाचिरात् । वाचा हि प्रकटीकारस्तेषां हास्यस्य कारणम् ॥१४॥
तदस्य युक्तये बुद्धिं करोतु परमेश्वरः । सम्बन्धं भवतो लब्ध्वा कृतार्थोऽयं भविष्यति ॥१५॥
इत्युक्ते निश्चितो बुद्ध्या जामातासौ निरूपितः । समस्तं च यथायोग्यं [1]कृत्यं तस्य प्रकल्पितम् ॥१६॥
चिन्तितप्राप्तनिःशेषकारणश्च तयोरभूत् । विवाहविधिरत्यन्तप्रीतलोकसमाकुलः ॥१७॥
पुष्पलक्ष्मीमिव प्राप्य [2]दुराख्यानां समागतः । आमोदं जगतो हृद्यं मधुस्तां नेत्रहारिणीम् ॥१८॥
इन्द्रभूतिमिहोद्देशे प्रत्युत्पन्नकुतूहलः । अपृच्छन्मगधाधीशः कृत्वाभिनवमादरम् ॥१९॥
असुराणामधीशेन मधवे केन हेतुना । शूलरत्नं मुनिश्रेष्ठ ! दत्तं दुर्लभसङ्गमम् ॥२०॥
इत्युक्तः पुरुणा युक्तस्तेजसा धर्मवत्सलः । शूलरत्नस्य संप्राप्तेः कारणं गौतमोऽवदत् ॥२१॥
धातकीलक्ष्मणि द्वीपे क्षेत्रे चैरावतश्रुतौ । शतद्वारपुरेऽभूतां मित्रे सुप्रेमबन्धने ॥२२॥
एकः सुमित्रनामासीदपरः प्रभवश्रुतिः । उपाध्यायकुले चैतौ जातावतिविचक्षणौ ॥२३॥
सुमित्रस्याभवद् राज्यं सर्वसामन्तसेवितम् । पुण्योपार्जितसत्कर्मप्रभावात् परमोदयम् ॥२४॥
दरिद्रकुलसंभूतः कर्मभिर्दुष्कृतैः[3] पुरा । सुमित्रेण महास्नेहात्प्रभवोऽपि कृतः प्रभुः ॥२५॥
सुमित्रोऽथान्यदारण्ये हृतो दुष्टेन वाजिना । दृष्टो द्विरदंष्ट्रेण म्लेच्छेन स्वैरचारिणा ॥२६॥
आनीयासौ ततः [4]पल्लीं संप्राप्य समयं दृढम् । पत्या म्लेच्छवरूथिन्या[5]स्तनयां परिणायितः ॥२७॥

फेंका जाय जो हजारों शत्रुओंको नष्टकर हाथमें वापिस लौट आता है ॥१३॥ अथवा आप कार्यके द्वारा ही शीघ्र इसके गुण जानने लगेंगे । वचनोंके द्वारा उनका प्रकट करना हास्यका कारण है ॥१४॥ इसलिए आप इसके साथ पुत्रीका सम्बन्ध करनेका विचार कीजिए । आपका सम्बन्ध पाकर यह कृतकृत्य हो जायगा ॥१५॥ मन्त्रीके ऐसा कहनेपर रावणने उसे बुद्धि पूर्वक अपना जामाता निश्चित कर लिया और जामाताके यथायोग्य सब कार्य कर दिये ॥१६॥ इच्छा करते ही जिसके समस्त कारण अनायास मिल गये थे ऐसा उन दोनोंका विवाह अत्यन्त प्रसन्न लोगोंसे व्याप्त था अर्थात् उनके विवाहोत्सवमें प्रीतिसे भरे अनेक लोक आये थे ॥१७॥ मधुनाम उस राजकुमारका था और वसन्तऋतुका भी । इसी प्रकार आमोदका अर्थ सुगन्धि है और हर्ष भी । सो जिस प्रकार वसन्तऋतु नेत्रोंको हरण करने वाली अकथनीय पुष्पसम्पदाको पाकर जगत्प्रिय सुगन्धिको प्राप्त होती है उसीप्रकार राजकुमार मधु भी नेत्रोंको हरण करनेवाली कृतचित्राको पाकर परम हर्षको प्राप्त हुआ था ॥१८॥

इसी अवसर पर जिसे कुतूहल उत्पन्न हुआ था ऐसे राजा श्रेणिकने फिरसे नमस्कार कर गौतमस्वामीसे पूछा ॥१९॥ कि हे मुनिश्रेष्ठ ! असुरेन्द्रने मधुके लिए दुर्लभ शूलरत्न किस कारण दिया था ? ॥२०॥ श्रेणिकके ऐसा कहने पर विशाल तेजसे युक्त तथा धर्मसे स्नेह रखने वाले गौतम स्वामी शूलरत्नकी प्राप्तिका कारण कहने लगे ॥२१॥ उन्होंने कहा कि धातकीखण्ड द्वीपके ऐरावतक्षेत्र सम्बन्धी शतद्वार नामक नगरमें प्रीतिरूपी बन्धनसे बँधे दो मित्र रहते थे ॥२२॥ उन में से एकका नाम सुमित्र था और दूसरेका नाम प्रभव । सो ये दोनों एक गुरुकी चटशालामें पढ़ कर बड़े विद्वान् हुए ॥२३॥ कई एक दिनमें पुण्योपार्जित सत्कर्मके प्रभावसे सुमित्रको सर्व सामन्तोंसे सेवित तथा परम अभ्युदयसे युक्त राज्य प्राप्त हुआ ॥२४॥ यद्यपि प्रभव पूर्वोपार्जित पापकर्मके उदयसे दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुआ था तथापि महास्नेहके कारण सुमित्रने उसे भी राजा बना दिया ॥२५॥

अथानन्तर एक दिन एक दुष्ट घोड़ा राजा सुमित्रको हरकर जंगलमें ले गया सो वहाँ अपनी इच्छासे भ्रमण करनेवाले द्विरदंष्ट्र नाम म्लेच्छोंके राजाने उसे देखा ॥२६॥ द्विरद-

१. कृतान्तस्य म० । २. दूराख्यानां ब० । दूरान्मानं समागतः क०, ख० । ३. दुष्कुलै-म० । ४. पल्लि क०, ब०, म० । ५. -विरूथिन्या म० ।

तां च कन्यां समासाद्य साक्षादिव वनश्रियम् । वनमालाश्रुतिं तत्र स्थितोऽसौ मासमात्रकम् ॥२८॥
अनुज्ञातस्ततस्तेन शतद्वारपुरोत्तमम् । प्रस्थितः कान्तया साकं वृतः शबरसेनया ॥२९॥
गवेषणे विनिष्क्रान्तः प्रभवोऽथ तदैक्षत । कान्तया सहितं मित्रं स्मरस्येव पताकया ॥३०॥
चक्रे च मित्रभार्यायां मानसं पापकर्मणः । उदयान्नष्टनिःशेषकृत्याकृत्यविचेतनः ॥३१॥
मनोभवशरैरुग्रैस्ताड्यमानः समन्ततः । अवाप न क्वचित्सौख्यं मनसा भृशमाकुलः ॥३२॥
ज्येष्ठो व्याधिसहस्राणां मदनो मतिसूदनः । येन संप्राप्यते दुःखं नरैरक्षतविग्रहैः ॥३३॥
प्रधानं दिवसाधीशः सर्वेषां ज्योतिषां यथा । तथा समस्तरोगाणां मदनो मूर्ध्नि वर्तते ॥३४॥
विचित्तोऽसि किमित्येवमित्युक्तः सुहृदा च सः । जगाद सुन्दरीं दृष्ट्वा विक्लवत्वस्य कारणम् ॥३५॥
श्रुत्वा प्राणसमस्यास्य दुःखं स्वस्त्रीनिमित्तकम् । तामाशुप्राहिणोत् प्राज्ञः सुमित्रो मित्रवत्सलः ॥३६॥
प्रेष्य च प्रभवागारं गवाक्षे गूढविग्रहः । स तामैक्षत[1] किं कुर्यादियमस्येति तत्परः ॥३७॥
अचिन्तयच्च यद्येषा भवेन्नास्यानुकूलिका । ततो निग्रहमेतस्याः कर्तास्मि सुविनिश्चितम् ॥३८॥
अथैतस्याश्रवा[2] भूत्वा कामं संपादयिष्यति । ततो ग्रामसहस्रेण पूजयिष्यामि सुन्दरीम् ॥३९॥
समीपं प्रभवस्यापि वनमाला च सोत्सुका । प्रदोषसमये स्पष्टे[3] ताराप्रकरमण्डिते ॥४०॥
आसीनां चासने रम्ये पुरोदोषविवर्जितः । तामपृच्छदहो भद्रे का त्वमित्युत्कटादरः ॥४१॥
ततो विवाहपर्यन्तं तस्याः श्रुत्वा विचेष्टितम् । प्रभवो निष्प्रभो जातो निर्वेदं च गतः परम् ॥४२॥

दंष्ट्र उसे अपनी पल्ली (भीलोंकी बस्ती) में ले गया और एक पक्की शर्त कर उसने अपनी पुत्री राजा सुमित्रको विवाह दी ॥२७॥ जो साक्षात् वनलक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ऐसी वनमाला नामा कन्याको पाकर राजा सुमित्र वहाँ एक माह तक रहा ॥२८॥ तदनन्तर द्विरदर्दंष्ट्रकी आज्ञा ले कर वह अपनी कान्ताके साथ शतद्वार नगरकी ओर वापिस आ रहा था । भीलोंकी सेना उसके साथ थी ॥२९॥ इधर प्रभव अपने मित्रकी खोजके लिए निकला था सो उसने कामदेवकी पताका के समान सुशोभित कान्तासे सहित मित्रको देखा ॥३०॥ पापकर्मके उदयसे जिसके समस्त करने और न करने योग्य कार्योंका विचार नष्ट हो गया था ऐसे प्रभवने मित्रकी स्त्रीमें अपना मन किया ॥३१॥ सब ओरसे कामके तीक्ष्ण बाणोंसे ताडित होने के कारण उसका मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा था इसलिए वह कहीं भी सुख नहीं पा रहा था ॥३२॥ बुद्धिको नष्ट करने वाला काम हजारों बीमारियोंमें सबसे बड़ी बीमारी है क्योंकि उससे मनुष्योंका शरीर तो नष्ट होता नहीं है पर वे दुःख पाते रहते हैं ॥३३॥ जिस प्रकार सूर्य समस्त ज्योतिषियोंमें प्रधान है उसी प्रकार काम समस्त रोगोंमें प्रधान है ॥३४॥ 'बेचैन क्यों हो रहे हो' इस तरह जब मित्रने बेचैनीका कारण पूछा तब उसने सुन्दरीको देखना ही अपनी बेचैनीका कारण कहा ॥३५॥ मित्रवत्सल सुमित्रने जब सुना कि मेरे प्राणतुल्य मित्रको जो दुःख हो रहा है उसमें मेरी स्त्री ही निमित्त है तब उस बुद्धिमान्ने उसे प्रभवके घर भेज दिया और आप झरोखेमें छिपकर देखने लगा कि देखें यह वनमाला इसका क्या करती है ॥३६-३७॥ साथ ही वह यह भी सोचता जाता था कि यदि यह वनमाला इसके अनुकूल नहीं हुई तो मैं निश्चित ही इसका निग्रह करूँगा अर्थात् इसे दण्ड दूँगा ॥३८॥ और यदि अनुकूल हो कर इसका मनोरथ पूर्ण करेगी तो हजार ग्राम देकर इस सुन्दरी की पूजा करूँगा ॥३९॥ तदनन्तर जब रात्रिका प्रारम्भ हो गया और आकाशमें ताराओंके समूह छिटक गये तब वनमाला बड़ी उत्कण्ठाके साथ प्रभवके समीप पहुँची ॥४०॥ वनमालाको उसने सुन्दर आसनपर बैठाया और स्वयं निर्दोष भावसे उसके सामने बैठ गया । तदनन्तर उसने बड़े आदरके साथ उससे पूछा कि हे भद्रे ! तू कौन है ? ॥४१॥ वनमालाने विवाह तकका सब समाचार कह सुनाया । उसे सुनकर प्रभव प्रभाहीन हो गया और परम निर्वेदको प्राप्त हुआ ॥४२॥

१. सतीमैक्षत म० । २. वशंवदा आज्ञाकारिणीति यावत् । ३. स्पृष्टे म०, ख० ।

अचिन्तयच्च हा कष्टं मया मित्रस्य कामिनी । किमपि प्रार्थिता कर्तुं धिङ्मामुच्छिन्नचेतनम् ॥४३॥
पापादस्मान्नमुच्येऽहमृते स्वस्य विपादनात्[1] । किं वा कलङ्कयुक्तेन जीवितेन ममाधुना ॥४४॥
इति संचिन्त्य मूर्धानं स्वं लुलूष्यं चकर्ष सः । कोशतः सायकं[2] सान्द्रच्छायादिग्धदिगन्तरम् ॥४५॥
उपकण्ठं च कण्ठस्य यावदेनं चकार सः । निपत्य सहसा तावत्सुमित्रेण न्यरुध्यत[3] ॥४६॥
जगाद च त्वरायुक्तं परिष्वज्य स तं सुहृद् । आत्मघातितया दोषं[4] प्राज्ञः किं नाम बुध्यसे ॥४७॥
[5]आमगर्भेषु दुःखानि प्राप्नुवन्ति चिरं जनाः । ये शरीरस्य कुर्वन्ति स्वस्याविधिनिपातनम् ॥४८॥
इत्युक्त्वा सुहृदः खड्गं करान्नाश्य[6] सुचेतसा । सान्त्वितश्च चिरं वाक्यैर्मनोहरणकारिभिः ॥४९॥
ईदृशी च तयोः प्रीतिरन्योऽन्यगुणयोजिता । प्राप्स्यत्यन्तमहो कष्टः संसारः सारवर्जितः ॥५०॥
पृथक् पृथक् प्रपद्यन्ते सुखदुःखकरीं गतिम् । जीवाः स्वकर्मसंपन्नाः कोऽत्र कस्य सुहृज्जनः ॥५१॥
अन्यदाथ विबुद्धात्मा श्रमणत्वं समाश्रितः । ईशानकल्प ईशत्वं सुमित्रः प्राप्तवान् सुखी ॥५२॥
ततश्च्युत्वेह संभूतो द्वीपे जम्बूपदान्तिके । हरिवाहनराजस्य मथुरायां[7] सुरः पुरि ॥५३॥
माधव्यास्तनयो नाम्ना मधुः स मधुमोहितः । नभसो हरिवंशस्य यश्चन्द्रत्वमुपागतः ॥५४॥
मिथ्यादृक् प्रभवो मृत्वा दुःखमासाद्य दुर्गतौ । विश्वावसोरभूत् पुत्रो ज्योतिष्मत्यां शिखिश्रुतिः ॥५५॥
[8]श्रमणत्वधरः कृत्वा तपः कष्टं निदानतः । दैत्यानामधिपो जातश्चमराख्योऽधमामरः ॥५६॥
ततोऽवधिकृतालोकः स्मृत्वा पूर्वभवान् निजान् । गुणान् सुमित्रमित्रस्य चक्रे मनसि निर्मलान् ॥५७॥

वह विचार करने लगा कि हाय-हाय बड़े कष्टकी बात है कि मैंने मित्रकी स्त्रीसे कुछ तो भी करनेकी इच्छा की। मुझ अविवेकीके लिए धिक्कार है ॥४३॥ आत्मघातके सिवाय अन्य तरह मैं इस पापसे मुक्त नहीं हो सकता। अथवा मुझे अब इस कलङ्की जीवनसे प्रयोजन ही क्या है? ॥४४॥ ऐसा विचारकर उसने अपना मस्तक काटनेके लिए म्यानसे तलवार खींची। उसकी वह तलवार अपनी सघन कान्तिसे दिशाओंके अन्तरालको व्याप्त कर रही थी। ॥४५॥ वह इस तलवारको कण्ठके पास ले ही गया था कि सुमित्रने सहसा लपककर उसे रोक दिया ॥४६॥ सुमित्रने शीघ्रतासे मित्रका आलिङ्गन कर कहा कि तुम तो पण्डित हो, आत्मघातसे जो दोष होता है उसे क्या नहीं जानते हो? ॥४७॥ जो मनुष्य अपने शरीरका अविधिसे घात करते हैं वे चिरकाल तक कच्चे गर्भमें दुख प्राप्त करते हैं अर्थात् गर्भ पूर्ण हुए बिना ही असमय में मर जाते हैं ॥४८॥ ऐसा कहकर उसने मित्रके हाथसे तलवार छीनकर नष्ट कर दी और चिर काल तक उसे मनोहारी वचनोंसे समझाया ॥४९॥ आचार्य कहते हैं कि परस्परके गुणोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उन दोनों मित्रोंकी प्रीति इस तरह अन्तको प्राप्त होगी इससे जान पड़ता है कि यह संसार असार है ॥५०॥ अपने-अपने कर्मोंसे युक्त जीव सुख-दुःख उत्पन्न करनेवाली पृथक्-पृथक् गतिको प्राप्त होते हैं इसलिए इस संसारमें कौन किसका मित्र है? ॥५१॥ तदनन्तर जिसकी आत्मा प्रबुद्ध थी ऐसा राजा सुमित्र मुनि दीक्षा धारणकर अन्तमें ऐशान स्वर्गका अधिपति हो गया ॥५२॥ वहाँसे च्युत होकर जम्बूद्वीपकी मथुरा नगरीमें राजा हरिवाहनकी माधवी रानीसे मधु नामका पुत्र हुआ। यह पुत्र मधुके समान मोह उत्पन्न करनेवाला था और हरिवंश रूपी आकाशमें चन्द्रमाके समान सुशोभित था ॥५३-५४॥ मिथ्यादृष्टि प्रभव मरकर दुर्गतिमें दुःख भोगता रहा और अन्तमें विश्वावसुकी ज्योतिष्मती स्त्रीके शिखी नामा पुत्र हुआ ॥५५॥ सो द्रव्यलिङ्गी मुनि हो महातपकर निदानके प्रभावसे असुरोंका अधिपति चमरेन्द्र हुआ ॥५६॥ तदनन्तर अवधिज्ञानके द्वारा अपने पूर्व भवोंका स्मरणकर सुमित्र नामक मित्रके निर्मल

१. मारणात् । २. खड्गम् । ३. निरुध्यते म० । ४. दोषः म० । ५. अपरिपूर्णगर्भेषु । ६. करात्तस्य म० । ७. मथुरायामुरौ पुरि क०, ख० । ८. श्रवणत्व- म० ।

सुमित्रराजचरितं स्मर्यमाणं सुपेशलम् । असुरेन्द्रस्य हृदयं [1]चकर्त्त करपत्रवत् ॥५८॥
दध्यौ चेति पुनर्भद्रः सुमित्रोऽसौ महागुणः । आसीन्मम महामित्रः सहायः सर्ववस्तुषु ॥५९॥
तेन सार्धं मया विद्या गृहीता गुरुवेश्मनि । दरिद्रकुलसंभूतस्तेनाहं स्वसमः कृतः ॥६०॥
आत्मीया तेन मे [2] पत्नी द्वेषवर्जितचेतसा । प्रेषिता पापचित्तस्य वितृष्णेन दयावता ॥६१॥
ज्ञात्वा वयस्यपत्नीति परमुद्वेगमागतः । शिरः स्वमसिना छिन्दंस्तेनाहं परिरक्षितः ॥६२॥
अश्रद्दधज्जिनेन्द्राणां शासनं पञ्चतां गतः । प्राप्तोऽस्मि दुर्गतौ दुःखं स्मरणेनापि दुःसहम् ॥६३॥
निन्दनं साधुवर्गस्य सिद्धिमार्गानुवर्तिनः । यत्कृतं तस्य तत्प्राप्तं फलं दुःखासु योनिषु ॥६४॥
स चापि चरितं [3] कृत्वा निर्मलं सुखमुत्तमम् । ऐशाननिलये भुक्त्वा च्युतोऽयं वर्तते मधुः ॥६५॥
उपकारसमाकृष्टस्ततोऽसौ [4]भवनान्निजात् । निर्जगाम क्षणोद्भूतपरप्रेमार्द्रमानसः ॥६६॥
दृष्ट्वादरेण कृत्वा च [5]महारत्नादिपूजनम् । शूलरत्नं ददावस्मै [6]सहस्रान्तकसंज्ञितम् ॥६७॥
शूलरत्नं स तत्प्राप्य परां प्रीतिं गतः क्षितौ । अस्त्रविद्याधिराजश्च सिंहवाहनजोऽभवत् ॥६८॥
एतन्मधोरुपाख्यानमधीते यः शृणोति वा । दीप्तिमर्थं परं चायुः सोऽधिगच्छति मानवः ॥६९॥
सामन्तानुगतोऽथासौ [7]मरुत्वमखनाशकृत् । प्रभावं प्रथयँल्लोके प्रवणीकृतविद्विषम् ॥७०॥
संवत्सरान् दशाष्टौ च विहरञ्जनिताद्भुतम् । भुवने जनितप्रेम्णि देवेन्द्रस्त्रिदिवे यथा ॥७१॥

गुणोंका हृदयमें चिन्तवन करने लगा ॥५७॥ ज्यों ही उसे सुमित्र राजाके मनोहर चरित्रका स्मरण आया ज्योंही वह करोंतके समान उसके हृदयको विदीर्ण करने लगा ॥५८॥ वह विचार करने लगा कि सुमित्र बड़ा ही भला और महागुणवान् था। वह समस्त कार्योंमें सहायता करनेवाला मेरा परम मित्र था ॥५९॥ उसने मेरे साथ गुरुके घर विद्या पढ़ी थी। मैं दरिद्रकुल में उत्पन्न हुआ था सो उसने मुझे अपने समान धनवान् बना लिया था ॥६०॥ मेरे चित्तमें पाप समाया सो द्वेषरहित चित्तके धारक उस दयालुने तृष्णारहित होकर मेरे पास अपनी स्त्री भेजी ॥६१॥ 'यह मित्रकी स्त्री है' ऐसा जानकर जब मैं परम उद्वेगको प्राप्त होता हुआ तलवारसे अपना शिर काटनेके लिए उद्यत हुआ तो उसीने मेरी रक्षा की थी ॥६२॥ मैंने जिन-शासनकी श्रद्धा बिना मरकर दुर्गतिमें ऐसे दुःख भोगे कि जिनका स्मरण करना भी दुःसह है ॥६३॥ मैंने मोक्षमार्गका अनुवर्तन करनेवाले साधुओंके समूहकी जो निन्दा की थी उसका फल अनेक दुःखदायी योनियोंमें प्राप्त किया ॥६४॥ और वह सुमित्र निर्मल चारित्रका पालनकर ऐशान स्वर्गमें उत्तम सुखका उपभोग करनेवाला इन्द्र हुआ तथा अब वहाँसे च्युत होकर मधु हुआ है ॥६५॥ इस प्रकार क्षणभरमें उत्पन्न हुए परम प्रेमसे जिसका मन आर्द्र हो रहा था ऐसा चमरेन्द्र सुमित्र मित्रके उपकारोंसे आकृष्ट हो अपने भवनसे बाहर निकला ॥६६॥ उसने बड़े आदरके साथ मिलकर महारत्नोंसे मित्रका पूजन किया और उसके लिए सहस्रान्तक नामक शूलरत्न भेंटमें दिया ॥६७॥ हरिवाहनका पुत्र मधु चमरेन्द्रसे शूलरत्न पाकर पृथिवीपर परम प्रीतिको प्राप्त हुआ और अस्त्रविद्याका स्वामी कहलाने लगा ॥६८॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन्! जो मनुष्य मधुके इस चरित्रको पढ़ता अथवा सुनता है वह विशाल दीप्ति, श्रेष्ठ धन और उत्कृष्ट आयुको प्राप्त होता है ॥६९॥

अथानन्तर अनेक सामन्त जिसके पीछे-पीछे चल रहे थे ऐसा रावण लोकमें शत्रुओंको वशीभूत करनेवाला अपना प्रभाव फैलाता और अनेक आश्चर्य उत्पन्न करता हुआ प्रेमसे भरे संसारमें अठारह वर्ष तक इस प्रकार भ्रमण करता रहा जिस प्रकार कि इन्द्र स्वर्गमें भ्रमण करता

---

१. विच्छेद । २. मदर्थम् । ३. श्रुत्वा म० । ४. भुवनाग्नि- म० । ५. महारत्नातिपूजनम् म० । ६. सहस्रांशक ख० । सहस्रान्तिक म० । ७. रावणः । ८. प्रलयं म० ।

मुञ्चन्नाराःसमुद्रस्य धरणीं धरणीपतिः । चिरेण जिनचैत्याढ्यं प्राप्ताष्टापदभूधरम्[1] ॥७२॥
प्रसन्नसलिला तत्र भाति मन्दाकिनी भृशम् । महिषी सिन्धुनाथस्य कनकाब्जरजस्तता[2] ॥७३॥
सन्निवेश्य समीपेऽस्या वाहिनीं परमाप ताम् । मनोज्ञं रमणं चक्रे कैलासस्य स कुक्षिषु ॥७४॥
नुनुदुः खेचराः खेदं भूचराश्च यथाक्रमम् । मन्दाकिन्याः सुखस्पर्शसलिले स्फटिकामले ॥७५॥
न मेरुपल्लवापास्तलोठनोपात्तपांशवः[3] । [4]स्नपिताः सप्तयः पीतपयसो [5]विनयस्थिताः ॥७६॥
शीकरार्द्रितदेहत्वाद् ग्राहिताः सुघनं रजः । [6]तटिन्यस्तमहाखेदाः स्नपिताः कुञ्जराश्चिरम् ॥७७॥
स्मृत्वा तु बालिवृत्तान्तं नमस्कृतजिनालयः । यमध्वंसः स्थितः कुर्वंश्चेष्टां धर्मानुगामिनीम् ॥७८॥
अथ योऽसौ सुरेन्द्रेण नियुक्तो नलकूबरः । लोकपालतया ख्यातः पुरे दुर्लङ्घ्यसंज्ञके ॥७९॥
[7]उपशल्यं स विज्ञाय रावणं चरवर्गतः । जिगीषया समायातं सैन्यसागरवर्तिनम् ॥८०॥
लेखारोपितवृत्तान्तं प्राहिणोदाशुगामिनम् । खेचरं सुरनाथाय त्रासाध्यासितमानसः ॥८१॥
[8]मन्दरं प्रस्थितायास्मै वन्दितुं जिनपुङ्गवान् । प्रणम्य लेखवाहेन लेखोऽवस्थापितः पुरः ॥८२॥
वाचयित्वा च तं कृत्वा हृदयेऽर्थमशेषतः । आज्ञापयत् सुराधीशो [9]वस्त्विदं लेखदानतः ॥८३॥
यत्नात्तावदिहास्स्व[10] त्वममोघास्त्रस्य पालकः । जिनानां पाण्डुके कृत्वा वन्दनां यावदेम्यहम् ॥८४॥

है ॥७०-७१॥ तदनन्तर रावण क्रम-क्रमसे समुद्रकी निकटवर्तिनी भूमिको छोड़ता हुआ चिरकाल के बाद जिनमन्दिरोंसे युक्त कैलास पर्वतपर पहुँचा ॥७२॥ वहाँ स्वच्छ जलसे भरी समुद्रकी पत्नी एवं सुवर्ण कमलोंकी परागसे व्याप्त गङ्गा नदी अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥७३॥ सो उसके समीप ही अपनी विशाल सेना ठहराकर कैलासकी कन्दराओंमें मनोहर क्रीड़ा करने लगा ॥७४॥ पहले विद्याधर और फिर भूमिगोचरी मनुष्योंने यथाक्रमसे गङ्गा नदीके स्फटिकके समान स्वच्छ सुखकर स्पर्शवाले जलमें अपना खेद दूर किया था अर्थात् स्नानकर अपनी थकावट दूर की थी ॥७५॥ पृथ्वीपर लोटनेके कारण लगी हुई जिनकी धूलि नमेरुवृक्षके नये-नये पत्तोंसे झाड़कर दूर कर दी गई थी और पानी पिलानेके बाद जिन्हें खूब नहलाया गया था ऐसे घोड़े विनयसे खड़े थे ॥७६॥ जल के छींटोंसे गीला शरीर होनेके कारण जिनपर बहुत गाढ़ी धूलि जमी हुई थी तथा नदीके द्वारा जिनका बड़ा भारी खेद दूर कर दिया गया था ऐसे हाथियोंको महावतोंने चिरकाल तक नहलाया था ॥७७॥ कैलासपर आते ही रावणको बालिका वृत्तान्त स्मृत हो उठा इसलिए उसने समस्त चैत्यालयोंको बड़ी सावधानीसे नमस्कार किया और धर्मानुकूल क्रियाओंका आचरण किया ॥७८॥

अथानन्तर इन्द्रने दुर्लङ्घ्यपुर नामा नगरमें नलकूबरको लोकपाल बनाकर स्थापित किया था सो गुप्तचरोंसे जब उसे यह मालूम हुआ कि सेना रूपी सागरके मध्य वर्तमान रहनेवाला रावण जीतनेकी इच्छासे निकट ही आ पहुँचा है तब उसने भयभीतचित्त होकर पत्रमें सब समाचार लिख एक शीघ्रगामी विद्याधर इन्द्रके पास पहुँचाया ॥७९-८१॥ सो इन्द्र जिस समय जिन-प्रतिमाओंकी वन्दना करनेके लिए सुमेरु पर्वतपर जा रहा था उसी समय पत्रवाहक विद्याधरने प्रणामकर नलकूबरका पत्र उसके सामने रख दिया ॥८२॥ इन्द्रने पत्र बाँचकर तथा समस्त अर्थ हृदयमें धारणकर प्रतिलेख द्वारा आज्ञा दी कि मैं जबतक पाण्डुकवनमें स्थित जिन-प्रतिमाओंकी वन्दनाकर वापिस आता हूँ तबतक तुम बड़े यत्नसे रहना। तुम अमोघ अस्त्रके धारक

---

१. कैलासगिरिम् । २. रजस्तथा म० । ३. पल्लवायास्त म० । ४. नमिताः म० । ५. विनयास्थिताः म० । ६. तटिन्या नद्या अस्तो महाखेदो येषां ते । तटन्यस्तमहाभेदाः क०, ख० । तटन्यस्तमहाखेदाः ब० । ७. समीपं । ८. मेरुम् । मन्दिरं म०, ब० । ९. वास्त्विदं म० । १०. इह+आस्स्व । -दिहास्व म० । -दिहस्थ ब० ।

इति संदिश्य गर्वेण सेनामगणयन् द्विषः । गतोऽसौ पाण्डुकोद्यानं वन्दनासक्तमानसः ॥८५॥
समस्ताप्तसमेतश्च प्रयत्नान्नलकूबरः । पुरस्याचिन्तयद् रक्षामिति कर्तव्यतत्परः ॥८६॥
योजनानां शतं तुङ्गः प्राकारो विद्यया कृतः । वज्रशाल इति ख्यातः परिधिस्त्रिगुणान्वितः ॥८७॥
रावणेन च विज्ञाय नगरं शत्रुगोचरम् । [1]गृहीतुं प्रेषितो दण्डं प्रहस्तोऽनीकिनीपतिः ॥८८॥
निवृत्य रावणायासावाख्यद्देव न शक्यते । गृहीतुं तत्पुरं तुङ्गप्राकारकृतवेष्टनम् ॥८९॥
पश्य दृश्यत एवायं दिक्षु सर्वासु दारुणः । शिखरी विवरी दंष्ट्राकरालास्यशयूपमः ॥९०॥
दह्यमानमिवोदारं कीचकानां घनं वनम् । स्फुलिङ्गराशिदुष्प्रेक्ष्यज्वालाजालसमाकुलम् ॥९१॥
दंष्ट्राकरालवेतालरूपाण्यस्य नरान् बहून् । हरन्त्युदारयन्त्राणि योजनाभ्यन्तरस्थितान्[2] ॥९२॥
तेषां वक्त्राणि ये प्राप्ता यन्त्राणां प्राणिनां गणाः । तेषां जन्मान्तरे भूयः शरीरेण समागमः ॥९३॥
इति विज्ञाय कर्तव्यस्त्वया कुशलसंगमः । उपायो विजिगीषुत्वं क्रियते दीर्घदर्शिना[3] ॥९४॥
निःसर्पणमरं[4] तावदस्माद्देशाद् विराजते । संशयः परमोऽप्यत्र दृश्यते दुर्निराकृतः ॥९५॥
ततः कैलासकुक्षिस्था दशवक्त्रस्य मन्त्रिणः । उपायं चिन्तयाञ्चक्रुर्नयशास्त्रविशारदाः ॥९६॥
अथ रम्भागुणाकारा नलकूबरकामिनी । उपरम्भेति विख्याता शुश्रावान्ते दशाननम् ॥९७॥
पूर्वमेव गुणै रक्ता तत्रोत्कण्ठां परामसौ । जगाम रजनीनाथे यथा कुमुदसंहतिः ॥९८॥

हो ॥८३-८४॥ ऐसा सन्देश देकर जिसका मन वन्दनामें आसक्त था ऐसा इन्द्र गर्ववश शत्रुकी सेनाको कुछ नहीं गिनता हुआ पाण्डुकवन चला गया ॥८५॥ इधर समयानुसार कार्य करनेमें तत्पर रहनेवाले नलकूबरने समस्त आप्तजनोंके साथ मिलकर बड़े प्रयत्नसे नगरकी रक्षाका उपाय सोचा ॥८६॥ उसने सौ योजन ऊँचा और तिगुनी परिधिसे युक्त वज्रशाल नामा कोट, विद्याके प्रभावसे नगरके चारों ओर खड़ा कर दिया ॥८७॥ यह नगर शत्रुके आधीन है ऐसा जानकर रावणने दण्ड वसूल करनेके लिए प्रहस्त नामा सेनापति भेजा ॥८८॥ सो उसने लौटकर रावणसे कहा कि हे देव ! शत्रुका नगर बहुत ऊँचे प्राकारसे घिरा हुआ है इसलिए वह नहीं लिया जा सकता है ॥८९॥ देखो वह भयङ्कर प्राकार यहाँ से ही समस्त दिशाओंमें दिखाई दे रहा है। वह बड़ी ऊँची शिखरों और गम्भीर बिलोंसे युक्त है तथा जिसका मुख दाँढ़ोंसे भयङ्कर है ऐसे अजगरके समान जान पड़ता है ॥९०॥ उड़ते हुए तिलगोंसे जिनकी ओर देखना भी कठिन है ऐसी ज्वालाओंके समूहसे वह प्राकार भरा हुआ है तथा बाँसोंके जलते हुए किसी सघन बड़े वनके समान दिखाई देता है ॥९१॥ इस प्राकारमें भयङ्कर दाँढ़ोंको धारण करनेवाले वेतालों के समान ऐसे-ऐसे विशाल यन्त्र लगे हुए हैं जो एक योजनके भीतर रहनेवाले बहुतसे मनुष्यों को एक साथ पकड़ लेते हैं ॥९२॥ प्राणियोंके जो समूह उन यन्त्रोंके मुखमें पहुँच जाते हैं फिर उसके शरीरका समागम दूसरे जन्ममें ही होता है ॥९३॥ ऐसा जानकर आप नगर लेनेके लिए कोई कुशल उपाय सोचिए। यथार्थमें दीर्घदर्शी मनुष्यके द्वारा ही विजिगीषुपना किया जाता है अर्थात् जो दीर्घदर्शी होता है वही विजिगीषु हो सकता है ॥९४॥ इस स्थानसे तो शीघ्र ही निकल भागना शोभा देता है क्योंकि यहाँ पर जिसका निरावरण नहीं किया जा सकता ऐसा बहुत भारी संशय विद्यमान है ॥९५॥ तदनन्तर कैलासकी गुफाओंमें बैठे रावणके नीतिनिपुण मन्त्री उपायका विचार करने लगे ॥९६॥

अथानन्तर जिसके गुण और आकार रम्भा नामक अप्सराके समान थे ऐसी नलकूबरकी उपरम्भा नामक प्रसिद्ध स्त्री ने सुना कि रावण समीप ही आकर ठहरा हुआ है ॥९७॥ वह रावणके गुणोंसे पहले ही अनुरक्त थी इसलिए जिस प्रकार कुमुदोंकी पंक्ति चन्द्रमाके विषयमें

---

१. गृहीतं प्रेषितो दण्डः प्रहस्तो नाकिनीपतिः म० । २. स्थितं म० । स्थिता ख० । ३. दर्शिता म०, दर्शिना ख०, ब० । दर्शिनः ज० । ४. शीघ्रम् ।

सखीं विचित्रमालाख्यामेकान्ते चेत्यभाषत । शृणु सुन्दरि काऽस्त्यन्या[1] सखी प्राणसमा मम ॥९९॥
समानं ख्याति येनातः सखिशब्दः प्रवर्तते । अतो न मे मतेर्भेदं कर्तुमर्हसि शोभने ॥१००॥
नियमात् कुरुषे यस्माद्दक्षे मत्कार्यसाधनम् । ततो ब्रवीमि सख्यो हि जीविताल्म्बनं परम् ॥१०१॥
एवमुक्ता जगादासौ किमेवं देवि भाषसे । भृत्याहं विनियोक्तव्या त्वया वाञ्छितकर्मणि ॥१०२॥
न करोमि स्तुतिं स्वस्य सा हि लोकेऽतिनिन्दिता[2] । एतावन्नु ब्रवीम्येषा सिद्धिरेवास्मि रूपिणी ॥१०३॥
वद[3] विश्रब्धिका भूत्वा यत्ते मनसि वर्तते । मयि सत्यां वृथा खेदः स्वामिन्या धार्यते त्वया ॥१०४॥
उपरम्भा ततोऽत्रार्दाश्विस्यायतमन्थरम् । पद्माभे [4]चन्द्रमःकान्तं करे न्यस्य कपोलकम् ॥१०५॥
निष्क्रान्तस्तम्भितान् वर्णान् प्रेरयन्ती पुनः पुनः । आरूढपतितं धाष्टर्ये कृच्छ्राद्विदधती मनः ॥१०६॥
सखि बाल्यत आरभ्य रावणे [5]मन्मनो गतम् । लोकावतायिनस्तस्य[6] गुणाः कान्ता मया श्रुताः ॥१०७॥
अप्रगल्भतया प्राप्ता साहमप्रियसङ्गमम् । वहामि [7]परमप्रीतेः पश्चात्तापमनारतम् ॥१०८॥
जानामि च तथा नैतत्प्रशस्यमिति रूपिणि । तथापि मरणं सोढुं नास्मि शक्ता सुभाषिते ॥१०९॥
सोऽयमासन्नदेशस्थो वर्तते मे मनोहरः । कथंचिदमुना योगं प्रसीद कुरु मे सखि ॥११०॥
एषा नमामि ते पादावित्युक्ता तावदुद्यता । शिरो नमयितुं[8] तावत्सख्या तत्संभ्रमाद्धृतम्[9] ॥१११॥

उत्कण्ठाको प्राप्त रहती है उसी प्रकार वह भी रावण के विषयमें परम उत्कण्ठाको प्राप्त हुई ॥९८॥ उसने एकान्तमें विचित्रमाला नामक सखीसे कहा कि हे सुन्दरि, सुन । तुझे छोड़कर मेरी प्राण-तुल्य दूसरी सखी कौन है ? ॥९९॥ जो समान बात कहे वहीं सखी शब्द प्रवृत्त होता है अर्थात् समान बात कहनेवाली ही सखी कहलाती है इसलिए हे शोभने ! तू मेरी मनसाका भेद करनेके योग्य नहीं है ॥१००॥ हे चतुरे ! तू अवश्य ही मेरा कार्य सिद्ध करती है इसलिए तुझसे कहती हूँ । यथार्थमें सखियाँ ही जीवनका बड़ा आलम्बन हैं—सबसे बड़ा सहारा हैं ॥१०१॥ ऐसा कहनेपर विचित्रमालाने कहा कि हे देवि ! आप ऐसा क्यों कहती हैं । मैं तो आपकी दासी हूँ, मुझे आप इच्छित कार्यमें लगाइये ॥१०२॥ मैं अपनी प्रशंसा नहीं करती क्योंकि लोकमें उसे निन्दनीय बताया है पर इतना अवश्य कहती हूँ कि मैं साक्षात् रूपधारिणी सिद्धि ही हूँ ॥१०३॥ जो कुछ तुम्हारे मनमें हो उसे निःशङ्क होकर कहो मेरे रहते आप खेद व्यर्थ ही उठा रही हैं ॥१०४॥ तदनन्तर उपरम्भा लम्बी और धीमी साँस लेकर तथा कमल तुल्य हथेलीपर चन्द्रमा के समान सुन्दर कपोल रखकर कहने लगी ॥१०५॥ जो अक्षर उपरम्भाके मुखसे निकलते थे वे लज्जाके कारण बीच-बीचमें रुक जाते थे अतः वह उन्हें बार-बार प्रेरित कर रही थी—तथा उसका मन धृष्टताके ऊपर बार-बार चढ़ता और बार-बार गिरता था सो उसे वह बड़े कष्टसे धृष्टताके ऊपर स्थित कर रही थी ॥१०६॥ उसने कहा कि हे सखि ! बाल्य अवस्थासे ही मेरा मन रावणमें लगा हुआ है । यद्यपि मैंने उसके समस्त लोकमें फैलनेवाले मनोहर गुण सुने हैं तो भी मैं उसका समागम प्राप्त नहीं कर सकी । किन्तु उसके विपरीत भाग्यकी मन्दतासे मैं नलकूबरके साथ अप्रिय संगमको प्राप्त हुई हूँ सो अप्रीतिके कारण निरन्तर भारी पश्चात्तापको धारण करती रहती हूँ ॥१०७–१०८॥ हे रूपिणि ! यद्यपि मैं जानती हूँ कि यह कार्य प्रशंसनीय नहीं है तथापि हे सुभाषिते ! मैं मरण सहन करनेके लिए भी समर्थ नहीं हूँ ॥१०९॥ मेरे मनको हरण करनेवाला वह रावण इस समय निकट ही स्थित है इसलिए हे सखि ! मुझपर प्रसन्न हो और इसके साथ किसी तरह मेरा समागम करा ॥११०॥ 'यह मैं तेरे चरणोंमें नमस्कार करती हूँ' इतना कहकर ज्योंही वह शिर झुकानेके लिए उद्यत हुई त्योंही सखीने बड़ी शीघ्रतासे उसका शिर बीचमें पकड़

१. कास्त्यन्यसखी ख०, म० । २. निन्दिताः म० । ३. निश्चिन्ता । ४. चन्द्रवत्सुन्दरं । ५. मे मनो म० । ६. लोकावगामिनः म० । लोकविस्तारिणः । ७. परम् + अप्रीतेः । परमं प्रीतेः ख०, ब०, म० । ८. नमायितं म० । ९. संभ्रमाद्वृतम् म० ।

वरं स्वामिनि कामं ते साधयामि क्षणादिति । गदित्वा निर्गता गेहाद् दूती ज्ञाताखिलस्थितिः ॥११२॥
साम्भोजीमूतसंकाशसूक्ष्मवस्त्रावगुण्ठिता । खमुत्पत्य क्षणात्प्राप वसतिं रक्षसां प्रभोः ॥११३॥
अन्तःपुरं प्रविष्टा च प्रतीहार्या निवेदिता । कृत्वा प्रणतिमासीना दत्ते सविनयासने ॥११४॥
ततो जगाद देवस्य भुवनं सकलं गुणैः । दोषसङ्गोज्झितैर्व्याप्तं यत्तद्युक्तं तवेदृशः ॥११५॥
उदारो विभवो यस्ते याचकांस्तर्पयन् भुवि । कारणेनामुना वेद्मि सर्वेषां त्वां हिते स्थितम् ॥११६॥
आकारस्यास्य जानामि न ते प्रार्थनभञ्जनम् । भूतिर्भवद्विधानां हि [1]परोपकृतिकारणम् ॥११७॥
स त्वमुत्सारिताशेषपरिवर्गो विभो क्षणम् । अवधानस्य दानेन प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥११८॥
तथा कृते ततः कर्णे दशवक्त्रस्य सा जगौ । सकलं पूर्ववृत्तान्तं सर्ववृत्तान्तवेदिनी ॥११९॥
ततः पिधाय पाणिभ्यां श्रवणौ पुरुषोत्तमः । धुन्वन् शिरश्चिरं चक्षुःसंकोचं [2]परमानयन् ॥१२०॥
विचित्रवनितावाञ्छाचिन्ताखिन्नमतिः क्षणम् । बभूव केकसीसूनुः सदाचारपरायणः ॥१२१॥
जगाद च स्मितं कृत्वा भद्रे चेतसि ते कथम् । स्थितमीदृगिदं वस्तु पापसंगमकारणम् ॥१२२॥
ईदृशे याचितेऽत्यन्तं दरिद्रः किं करोम्यहम् । अभिमानं परित्यज्य तथेदमुदितं त्वया ॥१२३॥
विधवा भर्तृसंयुक्ता प्रमदा कुलबालिका[3] । वेश्या च रूपयुक्तापि परिहार्या प्रयत्नतः ॥१२४॥
विरोधवदिदं कर्म परत्रेह च जन्मनि । लोकद्वयपरिभ्रष्टः कीदृशो वद मानवः ॥१२५॥

लिया ॥१११॥ 'हे स्वामिनी ! मैं आपका मनोरथ शीघ्र ही सिद्ध करती हूँ' यह कहकर सब स्थितिको जाननेवाली दूती घरसे बाहर निकली ॥११२॥ सजल मेघके समान सूक्ष्म वस्त्रका घूँघट धारण करनेवाली दूती आकाशमें उड़कर क्षणभरमें रावणके डेरेमें जा पहुँची ॥११३॥ द्वारपालिनीके द्वारा सूचना देकर वह अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुई । वहाँ प्रणामकर, रावणके द्वारा दिये आसनपर विनयसे बैठी ॥११४॥ तदनन्तर कहने लगी कि हे देव ! आपके निर्दोष गुणोंसे जो समस्त संसार व्याप्त हो रहा है वह आपके समान प्रभावक पुरुषके अनुरूप ही है ॥११५॥ चूँकि आपका उदार वैभव पृथिवीपर याचकोंको संतुष्ट कर रहा है इस कारण मैं जानती हूँ कि आप सबका हित करनेमें तत्पर हैं ॥११६॥ मैं खूब समझती हूँ कि इस आकारको धारण करनेवाले आप मेरी प्रार्थनाको भङ्ग नहीं करेंगे । यथार्थमें आप जैसे लोगोंकी सम्पदा परोपकारका ही कारण है ॥११७॥ हे विभो ! आप क्षणभरके लिए समस्त परिजनको दूर कर दीजिये और ध्यान देकर मुझपर प्रसन्नता कीजिए ॥११८॥ तदनन्तर जब सर्व परिजन दूर कर दिये गये और बिलकुल एकान्त हो गया तब सब वृत्तान्त जाननेवाली दूतीने रावणके कानमें पहलेका सब समाचार कहा ॥११९॥

तदनन्तर दूतीकी बात सुन रावणने दोनों हाथोंसे दोनों कान ढक लिये । वह चिर काल तक शिर हिलाता रहा और नेत्र सकोड़ता रहा ॥१२०॥ सदाचारमें तत्पर रहनेवाला रावण परस्त्रीकी वाञ्छा सुन चिन्तासे क्षणभरमें खिन्न चित्त हो गया ॥१२१॥ उसने हँसते हुए कहा कि हे भद्रे ! पापका संगम करानेवाली यह ऐसी बात तुम्हारे मन आई ही कैसे ? ॥१२२॥ तू ने यह बात अभिमान छोड़कर कही है । ऐसी याचनाके पूर्ण करनेमें मैं अत्यन्त दरिद्र हूँ, क्या करूँ ? ॥१२३॥ चाहे विधवा हो, चाहे पतिसे सहित हो, चाहे कुलवती हो और चाहे रूपसे युक्त वेश्या हो परस्त्री मात्रका प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिए ॥१२४॥ यह कार्य इस लोक तथा परलोक दोनों ही जगह विरुद्ध है । तथा जो मनुष्य दोनों लोकोंसे भ्रष्ट हो गया वह मनुष्य

---

१. परोपकृतिकारिणाम् ख० । परोपकृतिकर्मणाम् क० । २. परमानयत् म०, ब० । ३. कुलबालिके ख० ।

नरान्तरमुखक्लेदपूर्णेऽन्याङ्गविमर्दिते । उच्छिष्टभोजने भोक्तुं[1] भद्रे वाञ्छति को नरः ॥१२६॥
मिथो विभीषणायेदं प्रीत्यानेनाथ वेदितम् । नयज्ञः स जगादैवं सततं मन्त्रिगणाग्रणीः ॥१२७॥
देव प्रक्रम एवायमीदृशो वर्तते यतः । अलीकमपि वक्तव्यं राज्ञा नयवता सदा ॥१२८॥
तुष्टाभ्युपगमात् किञ्चिदुपायं कथयिष्यति । उपरम्भा परिप्राप्तौ विश्रम्भं परमागता ॥१२९॥
ततस्तद्वचनात्तेन दूती छद्मानुगामिना । इत्यभाष्यत तन्नाम भद्रे यदुचितं त्वया ॥१३०॥
वराकी मद्गतप्राणा वर्तते सा सुदुःखिता । रक्षणीया ममोदारा भवन्ति हि दयापराः ॥१३१॥
ततश्चानय तां गत्वा प्राणैर्यावन्न मुच्यते । प्राणिनां रक्षणे धर्मः श्रूयते प्रकटो भुवि ॥१३२॥
इत्युक्त्वा[2] परिसृष्टा[3] सा गत्वा तामानयत् क्षणात् । आदरश्च महानस्याः[4] कृतो यमविमर्दिना ॥१३३॥
ततो मदनसंप्राप्ता[5] सा तेनैवमभाष्यत । दुर्लङ्घ्यनगरे देवि रन्तुं मम परा स्पृहा ॥१३४॥
अटव्यामिह किं सौख्यं किं वा मदनकारणम् । तथा कुरु यथैतस्मिंस्त्वया सह पुरे रमे ॥१३५॥
ततस्तस्य कौटिल्यमविज्ञाय स्मरातुरा । स्त्रीणां स्वभावमुग्धत्वात्पुरस्यागमनाय सा ॥१३६॥
ददावाशालिकां विद्यां प्राकारत्वेन कल्पिताम् । व्यन्तरैः कृतरक्षाणि नानास्त्राणि च सादरा ॥१३७॥
अपयातश्च शालोऽसौ विद्यालाभादनन्तरम् । स्थितं प्रकृतिशालेन केवलेनावृतं पुरम् ॥१३८॥
बभूव रावणः साकं सैन्येन महतान्तिकः[6] । पुरस्य निनदं[7] श्रुत्वा क्षुब्धश्च नलकूबरः ॥१३९॥

ही क्या सो तू ही कह ॥१२५॥ हे भद्रे ! दूसरे मनुष्यके मुखकी लारसे पूर्ण तथा अन्य मनुष्यके अङ्गसे मर्दित जूठा भोजन खानेकी कौन मनुष्य इच्छा करता है ? ॥१२६॥

तदनन्तर रावणने यह बात प्रीतिपूर्वक विभीषणसे भी एकान्तमें कही सो नीतिको जाननेवाले एवं निरन्तर मन्त्रिगणोंमें प्रमुखता धारण करनेवाले विभीषणने इस प्रकार उत्तर दिया ॥१२७॥ कि हे देव ! चूँकि यह कार्य ही ऐसा है अतः सदा नीतिके जाननेवाले राजाको कभी झूठ भी बोलना पड़ता है ॥१२८॥ सम्भव है स्वीकारकर लेनेसे सन्तोषको प्राप्त हुई उपरम्भा उत्कट विश्वास करती हुई, किसी तरह नगर लेनेका कोई उपाय बता दे ॥१२९॥ तदनन्तर विभीषणके कहनेसे कपटका अनुसरण करनेवाले रावणने दूतीसे कहा कि हे भद्रे ! तूने जो कहा है वह ठीक है ॥१३०॥ चूँकि उस बेचारीके प्राण मुझमें अटक रहे हैं और वह अत्यन्त दुःखसे युक्त है अतः मेरे द्वारा रक्षा करनेके योग्य है। यथार्थमें उदार मनुष्य दयालु होते हैं ॥१३१॥ इसलिए जब तक प्राण उसे नहीं छोड़ देते हैं तब तक जाकर उसे ले आ। 'प्राणियोंकी रक्षा करनेमें धर्म है' यह बात पृथिवीपर खूब सुनी जाती है ॥१३२॥ इतना कहकर रावणके द्वारा विदा की हुई दूती क्षणभरमें जाकर उपरम्भाको ले आई। आनेपर रावणने उसका बहुत आदर किया ॥१३३॥

तदनन्तर कामके वशीभूत हो जब उपरम्भा रावणके समीप पहुँची तब रावणने कहा कि हे देवि ! मेरी उत्कट इच्छा दुर्लङ्घ्यनगरमें ही रमण करने की है ॥१३४॥ तुम्हीं कहो इस जङ्गलमें क्या सुख है ? और क्या कामवर्धक कारण है ? हे देवि ! ऐसा करो कि जिससे मैं तुम्हारे साथ नगरमें ही रमण करूँ ॥१३५॥ स्त्रियाँ स्वभावसे ही मुग्ध होती हैं इसलिए उपरम्भा रावणकी कुटिलताको नहीं समझ सकी। निदान, उसने कामसे पीडित हो उसे नगरमें आनेके लिए आशालिका नामकी वह विद्या जो कि प्राकार बनकर खड़ी हुई थी तथा व्यन्तर देव जिनकी रक्षा किया करते थे ऐसे नाना शस्त्र बड़े आदरके साथ दे दिये ॥१३६-१३७॥ विद्या मिलते ही वह मायामय प्राकार दूर हो गया और उसके अभावमें वह नगर केवल स्वाभाविक प्राकारसे ही आवृत रह गया ॥१३८॥ रावण बड़ी भारी सेना लेकर नगरके निकट पहुँचा सो

१. वक्तुं म० । २. इत्युक्ता म०, ब०, क० । ३. परिहृष्टा क०, म०, ब० । ४. महा तस्याः म० । ५. मदनसंप्राप्तौ क०,ख०,म० । ६. निकटस्थः । ७. निन्दनं म० ।

तमदृष्ट्वा ततः शालं लोकपालो विषादवान् । गृहीतमेव नगरं मेने यक्षविमर्दिना ॥१४०॥
तथापि पौरुषं बिभ्रद् योद्धुं [1]श्रमभरेण सः । निष्क्रान्तोऽत्यन्तविक्रान्त[2] सर्व[3] सामन्तवेष्टितः ॥१४१॥
ततो महति संग्रामे प्रवृत्ते शस्त्रसङ्कुले । अदृष्टपद्मिनीनाथकिरणे क्रूरनिःस्वने ॥१४२॥
विभीषणेन वेगेन [4]निपत्य नलकूबरः । गृहीतः कूबरं भङ्क्त्वा स्यन्दनस्याङ्घ्रिताडनात् ॥१४३॥
सहस्रकिरणे कर्म दशवक्त्रेण यत्कृतम् । विभीषणेन क्रुद्धेन तत्कृतं नलकूबरे ॥१४४॥
देवासुरभयोत्पादे दक्षं चक्रं च रावणः । त्रिदशाधिपसम्बन्धि [5]प्राप नाम्ना सुदर्शनम् ॥१४५॥
उपरम्भा दशास्येन रहसीदमथोदिता । विद्यादानाद् गुरुत्वं मे वर्तते प्रवराङ्गने ! ॥१४६॥
जीवति प्राणनाथे ते न युक्तं कर्तुमीदृशम् । ममापि सुतरामेव न्यायमार्गोपदेशिनः ॥१४७॥
समाश्वास्य ततो नीतो [6]भार्यान्तं नलकूबरः । शस्त्रदारितसन्नाह[7]दृष्टविक्षतविग्रहः ॥१४८॥
अनेनैव समं भर्त्रा भुङ्क्ष्व भोगान् यथेप्सितान् । कामवस्तुनि को भेदो मम [8]वास्य च भोजने[9] ॥१४९॥
मलीमसा च मे कीर्तिः कर्मेदं कुर्वतो भवेत् । अपरोऽपि जनः कर्म कुर्वीतेदं मया कृतम् ॥१५०॥
सुताकाशध्वजस्यासि संभूता विमले कुले । संजाता मृदुकान्तायां शीलं रक्षितुमर्हसि ॥१५१॥
उच्यमानेति सा तेन नितान्तं त्रपयान्विता । स्वभर्तरि भृशं[10] चक्रे मानसं प्रतिबोधिनी ॥१५२॥
व्यभिचारमविज्ञाय कान्ताया नलकूबरः । रेमे तया समं प्राप्तः सन्मानं दशवक्त्रतः १५३॥

उसका कलकल सुनकर नलकूबर क्षोभको प्राप्त हुआ ॥१३९॥ तदनन्तर उस मायामय प्राकारको न देखकर लोकपाल नलकूबर बड़ा दुःखी हुआ। यद्यपि उसने समझ लिया था कि अब तो हमारा नगर रावणने ले ही लिया तो भी उसने उद्यम नहीं छोड़ा। वह पुरुषार्थको धारण करता हुआ बड़े श्रमसे युद्ध करनेके लिए बाहर निकला। अत्यन्त पराक्रमी सब सामन्त उसके साथ थे ॥१४०-१४१॥ तदनन्तर जो शस्त्रोंसे व्याप्त था, जिसमें सूर्यकी किरणें नहीं दिख रही थीं और भयंकर कठोर शब्द हो रहा था ऐसे महायुद्धके होनेपर विभीषणने वेगसे उछलकर पैरके आघातसे रथका धुरा तोड़ दिया और नलकूबरको जीवित पकड़ लिया ॥१४२-१४३॥ रावणने राजा सहस्ररश्मिके साथ जो काम किया था वही काम क्रोधसे भरे विभीषणने नलकूबरके साथ किया ॥१४४॥ उसी समय रावणने देव और असुरोंको भय उत्पन्न करनेमें समर्थ इन्द्र सम्बन्धी सुदर्शन नामका चक्ररत्न प्राप्त किया ॥१४५॥

तदनन्तर रावणने एकान्तमें उपरम्भासे कहा कि हे प्रवराङ्गने! विद्या देनेसे तुम मेरी गुरु हो ॥१४६॥ पतिके जीवित रहते तुम्हें ऐसा करना योग्य नहीं है और नीतिमार्गका उपदेश देनेवाले मुझे तो बिलकुल ही योग्य नहीं है ॥१४७॥ तत्पश्चात् शस्त्रोंसे विदारित कवचके भीतर जिसका अक्षत शरीर दिख रहा था ऐसे नलकूबरको वह समझाकर स्त्रीके पास ले गया ॥१४८॥ और कहा कि इस भर्ताके साथ मन चाहे भोग भोगो। काम सेवनके विषयमें मेरे और इसके साथ उपभोगमें विशेषता ही क्या है? ॥१४९॥ इस कार्यके करनेसे मेरी कीर्ति मलिन हो हो जायगी और मैंने यह कार्य किया है इसलिए दूसरे लोग भी यह कार्य करने लग जावेंगे ॥१५०॥ तुम राजा आकाशध्वज और मृदुकान्ताकी पुत्री हो, निर्मल कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है अतः शीलकी रक्षा करना ही योग्य है ॥१५१॥ रावणके ऐसा कहनेपर वह अत्यधिक लज्जित हुई और प्रतिबोधको प्राप्त हो अपने पतिमें ही संतुष्ट हो गई ॥१५२॥ इधर नलकूबरको अपनी स्त्रीके व्यभिचारका पता नहीं चला इसलिए रावणसे सन्मान प्राप्तकर वह पूर्ववत् उसके साथ रमण करने लगा ॥१५३॥

१. समभरेण ख०, म०, ब० । २. विक्रान्तः क०, ब०, म० । ३. सामन्तशतवेष्टितः क०, ब०, म० । ४. निपात्य ख०, म० । ५. प्रापन्नाम्ना म०, ब० । ६. भार्यां तां ख०, म०, ब० । ७. दिष्ट ख०, म०, ब० । ८. चास्य म० । ९. भोगे । १०. समं चक्रे म० ।

रावणः संयुगे लब्ध्वा परध्वंसात्परं यशः । वर्धमानश्रिया प्राप विजयार्धगिरेर्महीम् ॥१५४॥
अभ्यर्णं रावणं श्रुत्वा शक्रः प्रचलितुं ततः । देवानास्थानसंप्राप्तान् समस्तानिदमभ्यधात् ॥१५५॥
वस्वश्विप्रमुखा देवाः संनह्यतं किमासताम् । विश्रब्धं कुरुत प्राप्तः प्रभुरेष स रक्षसाम् ॥१५६॥
इत्युक्त्वा जनकोद्देशं संप्रधारयितुं ययौ । उपविष्टो नमस्कृत्य धरण्यां विनयान्वितः ॥१५७॥
उवाच च विधातव्यं किमस्मिन्नन्तरे मया । प्रबलोऽयमरिः प्राप्तो बहुशो विजिताहितः ॥१५८॥
आत्मकार्यविरुद्धोऽयं तातात्यन्तं मया कृतः । अनयः स्वल्प एवासौ प्रलयं यन्न लम्भितः ॥१५९॥
उत्तिष्ठतो मुखं भङ्क्तुमधरेणापि शक्यते । कण्टकस्यापि यत्नेन परिणाममुपेयुषः ॥१६०॥
उत्पन्नावेव रोगस्य क्रियते ध्वंसनं सुखम् । व्याधौ तु बद्धमूलः स्यादूर्ध्वं स क्षेत्रियोऽथवा ॥१६१॥
अनेकशः कृतोद्योगस्तस्यास्मि विनिपातने । निवारितस्त्वया व्यर्थं येन क्षान्तिर्मया कृता ॥१६२॥
नयमार्गं प्रपन्नेन मयेदं तात भाष्यते । मर्यादैषेति पृष्टोऽसि न त्वशक्तोऽस्मि तद्वधे ॥१६३॥
स्मयरोषविमिश्रं तच्छ्रुत्वा वाक्यं सुतेरितम् । सहस्रारोऽगदत् पुत्र त्वरावानिति मा स्म भूः ॥१६४॥
तावद्विमृश्य कार्याणि प्रवरैर्मन्त्रिभिः सह । जायते विफलं कर्मप्रेक्षापूर्वकारिणाम् ॥१६५॥
भवत्यर्थस्य संसिद्धयै केवलं च न पौरुषम् । कर्षकस्य विना वृष्ट्या का सिद्धिः कर्मयोगिनः ॥१६६॥
समानमहिमानानां पठतां च समादरम् । अर्थभाजो भवन्त्येके नापरे कर्मणां वशात् ॥१६७॥

तदनन्तर रावण युद्धमें शत्रुके संहारसे परम यशको प्राप्त करता हुआ बढ़ती हुई लक्ष्मीके साथ विजयार्ध गिरिकी भूमिमें पहुँचा ॥१५४॥ अथानन्तर इन्द्रने रावणको निकट आया सुन सभामण्डपमें स्थित समस्त देवोंसे कहा ॥१५५॥ कि हे वस्वश्वि आदि देव जनो ! युद्धकी तैयारी करो, आप लोग निश्चिन्त क्यों बैठो हो ? यह राक्षसोंका स्वामी रावण यहाँ आ पहुँचा है ॥१५६॥ इतना कहकर इन्द्र पितासे सलाह करनेके लिए उसके स्थानपर गया और नमस्कार कर विनयपूर्वक पृथिवीपर बैठ गया ॥१५७॥ उसने कहा कि इस अवसरपर मुझे क्या करना चाहिए। जिसे मैंने अनेक बार पराजित किया पुनः स्थापित किया ऐसा यह शत्रु अब प्रबल होकर यहाँ आया है ॥१५८॥ हे तात ! मैंने आत्म कार्यके विरुद्ध यह बड़ी अनीति की है कि जब यह शत्रु छोटा था तभी इसे नष्ट नहीं कर दिया ॥१५९॥ उठते हुए कण्टकका मुख एक साधारण व्यक्ति भी तोड़ सकता है पर जब वही कण्टक परिपक्व हो जाता है तब बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है ॥१६०॥ जब रोग उत्पन्न होता है तब उसका सुखसे विनाश किया जाता है पर जब वह रोग जड़ बाँधकर व्याप्त हो जाता है तब मरनेके बाद ही उसका प्रतिकार हो सकता है ॥१६१॥ मैंने अनेक बार उसके नष्ट करनेका उद्योग किया पर आपके द्वारा रोक दिया गया। आपने व्यर्थ ही मुझे क्षमा धारण कराई ॥१६२॥ हे तात ! नीतिमार्गका अनुसरण कर ही मैं यह कह रहा हूँ। बड़ोंसे पूछकर कार्य करना यह कुलकी मर्यादा है और इसलिए ही मैंने आपसे पूछा है। मैं उसके मारनेमें असमर्थ नहीं हूँ ॥१६३॥

अहंकार और क्रोधसे मिश्रित पुत्रके वचन सुनकर सहस्रारने कहा कि हे पुत्र ! इस तरह उतावला मत हो ॥१६४॥ पहले उत्तम मन्त्रियोंके साथ सलाह कर क्योंकि बिना विचारे कार्य करनेवालोंका कार्य निष्फल हो जाता है ॥१६५॥ केवल पुरुषार्थ ही कार्यसिद्धिका कारण नहीं है क्योंकि निरन्तर कार्य करनेवाले—पुरुषार्थी किसानके वर्षाके विना क्या सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥१६६॥ एक ही समान पुरुषार्थ करनेवाले और एक ही समान आदरसे

१. प्रचलितं म० । २. विश्वाश्व म० । ३. संनह्यन्त किमासनम् म० । ४. जनकादेशं म० । ५. तवात्यन्तं मया कृतः म० । ततोत्यन्तं मया कृतः ब० । तातात्यन्तमयाकृतः ख० । ६. क्षत्रियोऽथवा क०, ख०, म०, ब० । शरीरान्तरे चिकित्स्यः अप्रतीकार्य इत्यर्थः 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः' । ७. नयमार्गप्रयत्नेन क०, नयमार्गप्रयत्नेन ख० । ८. स्मयरोषविमुक्तं म० । ९. कृष्ट्या म० ।

एवं गतेऽपि संधानं रावणेन समं कुरु । तस्मिन् सति जगत्सर्वं विधत्स्वोद्धृतकण्टकम् ॥१६८॥
रूपिणीं च सुतां तस्मै यच्छ रूपवतीं सुताम् । एवं सति न दोषोऽस्ति तथावस्था च राजताम्[1] ॥१६९॥
विविक्तधिषणेनासाविति पित्रा प्रचोदितः[2] । रोषराशिवशोदा[3]रशोणचक्षुः क्षणादभूत्[4] ॥१७०॥
रोषज्वलनसंतापसंजातस्वेदसन्ततिः । बभाण भासुरः शक्रः स्फोटयन्निव खं गिरा ॥१७१॥
वध्यस्य दीयते कन्येत्येतत्तात क्व युज्यते । प्रकृष्टवयसां पुंसां धीर्यात्येवाथवा क्षयम् ॥१७२॥
वद केनाधरस्तस्मादहं जनक वस्तुना । अत्यन्तकातरं वाक्यं येनेदं भाषितं त्वया ॥१७३॥
रवेरपि कृतस्पर्शः पादैर्मूर्ध्नाति[5] खिद्यते । [6]योगे स कथमन्यस्य तुङ्गः प्रणतिमाचरेत् ॥१७४॥
पौरुषेणाधिकस्तावदेतस्मान्नितरामहम् । दैवं तस्यानुकूलं ते कथं बुद्धाववस्थितम् ॥१७५॥
विजिता बहवोऽनेन विपक्षा इति चेन्मतिः । हतानेककुरङ्गं किं शबरो हन्ति नो हरिम् ॥१७६॥
संग्रामे शस्त्रसंपातजातज्वलनजालके । वरं प्राणपरित्यागो न तु प्रतिनरानतिः ॥१७७॥
सोऽयमिन्द्रो दशास्यस्य राक्षसस्यानतिं गतः । इति लोके च हास्यत्वं न दृष्टं मे[7] कथं त्वया ॥१७८॥
नभश्चरत्वसामान्यं न च सन्धानकारणम् । वनगोचरसामान्यं यथा सिंहशृगालयोः ॥१७९॥
इति ब्रुवत एवास्य शब्दः पूरितविष्टपः । प्रविष्टः श्रोत्रयोः शत्रुबलजो [8]वासरानने ॥१८०॥

पढ़नेवाले छात्रोंमें से कुछ तो सफल हो जाते हैं और कुछ कर्मोंकी विवशतासे सफल नहीं हो पाते ॥१६७॥ ऐसी स्थिति आनेपर भी तुम रावणके साथ सन्धि कर लो क्योंकि सन्धिके होनेपर तुम समस्त संसारको निष्कण्टक बना सकते हो ॥१६८॥ साथ ही तू रूपवती नामकी अपनी सुन्दरी पुत्री रावणके लिए दे दे । ऐसा करनेमें कुछ भी दोष नहीं है । बल्कि ऐसा करनेसे तेरी यही दशा बनी रहेगी ॥१६९॥

पवित्र बुद्धिके धारक पिताने इस प्रकार इन्द्रको समझाया अवश्य परन्तु क्रोधके समूहके कारण उसके नेत्र क्षण भरमें लाल-लाल हो गये ॥१७०॥ क्रोधाग्निके संतापसे जिसके शरीरमें पसीनेकी परम्परा उत्पन्न हो गई थी ऐसा देदीप्यमान इन्द्र अपनी वाणीसे मानो आकाशको फोड़ता हुआ बोला कि हे तात ! जो वध करने योग्य है उसीके लिए कन्या दी जावे यह कहाँ तक उचित है ? अथवा वृद्ध पुरुषोंकी बुद्धि क्षीण हो ही जाती है ॥१७१-१७२॥ हे तात ! कहो तो सही मैं किस वस्तुमें उससे हीन हूँ ? जिससे आपने यह अत्यन्त दीन वचन कहे हैं ॥१७३॥ जो मस्तकपर सूर्यकी किरणोंका स्पर्श होनेपर भी अत्यन्त खेदखिन्न हो जाता है वह उदार मानव मिलनेपर अन्य पुरुषके लिए प्रणाम किस प्रकार करेगा ? ॥१७४॥ मैं पुरुषार्थकी अपेक्षा रावणसे हर एक बातमें अधिक हूँ फिर आपकी बुद्धिमें यह बात कैसे बैठ गई कि भाग्य उसके अनुकूल है ? ॥१७५॥ यदि आपका यह ख्याल है कि इसने अनेक शत्रुओंको जीता है तो अनेक हरिणोंको मारनेवाले सिंहको क्या एक भील नहीं मार देता ? ॥१७६॥ शस्त्रोंके प्रहारसे जहाँ ज्वालाओंके समूह उत्पन्न हो रहे हैं ऐसे युद्धमें प्राण त्याग करना भी अच्छा है पर शत्रुके लिए नमस्कार करना अच्छा नहीं है ॥१७७॥ 'वह इन्द्र रावण राक्षसके सामने नम्र हो गया' इस तरह लोकमें जो मेरी हँसी होगी उस ओर भी आपने दृष्टि क्यों नहीं दी ? ॥१७८॥ 'वह विद्याधर है और मैं भी विद्याधर हूँ' इस प्रकार विद्याधरपनाकी समानता सन्धिका कारण नहीं हो सकती । जिस प्रकार सिंह और शृगालमें वनचारित्वकी समानता होनेपर भी एकता नहीं होती है उसी प्रकार विद्याधरपनाकी समानता होनेपर भी हम दोनोंमें एकता नहीं हो सकती ॥१७९॥ इस प्रकार प्रातःकालके समय इन्द्र पिताके समक्ष कह रहा था कि उसी समय समस्त संसारको व्याप्त करनेवाला शत्रु सेनाका जोरदार शब्द उसके कानोंमें प्रविष्ट हुआ ॥१८०॥

१. राजते ब० । राज्यतां म० । राजता क० । २. प्रबोधितः म० । ३. वशोद्दार-म० । ४. १७० तमः श्लोकः ख० पुस्तके नास्ति । ५. मूर्धाभि- ख० । ६. यो मेरुः ख०,म० । ७. ते कथं मया म० । ८. प्रातःकाले ।

रावणः संयुगे लब्ध्वा परध्वंसात्परं यशः । वर्धमानश्रिया प्राप विजयार्धगिरेर्महीम् ॥१५४॥
अभ्यर्णं रावणं श्रुत्वा शक्रः प्रचलितुं[1] ततः । देवानास्थानसंप्राप्तान् समस्तानिदमभ्यधात् ॥१५५॥
वस्त्रशिवप्रमुखा[2] देवाः संनह्यत[3] किमासताम् । विश्रब्धं कुरुत प्राप्तः प्रभुरेष स रक्षसाम् ॥१५६॥
इत्युक्त्वा जनकोद्देशं[4] संप्रधारयितुं ययौ । उपविष्टो नमस्कृत्य धरण्यां विनयान्वितः ॥१५७॥
उवाच च विधातव्यं किमस्मिन्नन्तरे मया । प्रबलोऽयमरिः प्राप्तो बहुशो विजिताहितः ॥१५८॥
आत्मकार्यविरुद्धोऽयं तातात्यन्तं[5] मया कृतः । अनयः स्वल्प एवासौ प्रलयं यन्न लम्भितः ॥१५९॥
उत्तिष्ठतो मुखं भङ्क्तुमधरेणापि शक्यते । कण्टकस्यापि यत्नेन परिणाममुपेयुषः ॥१६०॥
उत्पत्तावेव रोगस्य क्रियते ध्वंसनं सुखम् । व्यापी तु बद्धमूलः स्यादूर्ध्वं स क्षेत्रियोऽथवा[6] ॥१६१॥
अनेकशः कृतोद्योगस्तस्यास्मि विनिपातने । निवारितस्त्वया व्यर्थं येन क्षान्तिर्मया कृता ॥१६२॥
नयमार्गं[7] प्रपन्नेन मयेदं तात भाष्यते । मर्यादैषेति पृष्टोऽसि न त्वशक्तोऽस्मि तद्वधे ॥१६३॥
स्मयरोषविमिश्रं[8] तच्छ्रुत्वा वाक्यं सुतेरितम् । सहस्रारोऽगदत् पुत्र त्वरावानिति मा स्म भूः ॥१६४॥
तावद्विमृश्य कार्याणि प्रवरैर्मन्त्रिभिः सह । जायते विफलं कर्माप्रेक्षापूर्वकारिणाम् ॥१६५॥
भवत्यर्थस्य संसिद्ध्यै केवलं च न पौरुषम् । कर्षकस्य विना वृष्ट्या[9] का सिद्धिः कर्मयोगिनः ॥१६६॥
समानमहिमानानां पठतां च समादरम् । अर्थभाजो भवन्त्येके नापरे कर्मणां वशात् ॥१६७॥

तदनन्तर रावण युद्धमें शत्रुके संहारसे परम यशको प्राप्त करता हुआ बढ़ती हुई लक्ष्मीके साथ विजयार्ध गिरिकी भूमिमें पहुँचा ॥१५४॥ अथानन्तर इन्द्रने रावणको निकट आया सुन सभामण्डपमें स्थित समस्त देवोंसे कहा ॥१५५॥ कि हे वस्त्वशिव आदि देव जनो ! युद्धकी तैयारी करो, आप लोग निश्चिन्त क्यों बैठो हो ? यह राक्षसोंका स्वामी रावण यहाँ आ पहुँचा है ॥१५६॥ इतना कहकर इन्द्र पितासे सलाह करनेके लिए उसके स्थानपर गया और नमस्कार कर विनयपूर्वक पृथिवीपर बैठ गया ॥१५७॥ उसने कहा कि इस अवसरपर मुझे क्या करना चाहिए। जिसे मैंने अनेक बार पराजित किया पुनः स्थापित किया ऐसा यह शत्रु अब प्रबल होकर यहाँ आया है ॥१५८॥ हे तात ! मैंने आत्म कार्यके विरुद्ध यह बड़ी अनीति की है कि जब यह शत्रु छोटा था तभी इसे नष्ट नहीं कर दिया ॥१५९॥ उठते हुए कण्टकका मुख एक साधारण व्यक्ति भी तोड़ सकता है पर जब वही कण्टक परिपक्व हो जाता है तब बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है ॥१६०॥ जब रोग उत्पन्न होता है तब उसका सुखसे विनाश किया जाता है पर जब वह रोग जड़ बाँधकर व्याप्त हो जाता है तब मरनेके बाद ही उसका प्रतिकार हो सकता है ॥१६१॥ मैंने अनेक बार उसके नष्ट करनेका उद्योग किया पर आपके द्वारा रोक दिया गया। आपने व्यर्थ ही मुझे क्षमा धारण कराई ॥१६२॥ हे तात ! नीतिमार्गका अनुसरण कर ही मैं यह कह रहा हूँ। बड़ोंसे पूछकर कार्य करना यह कुलकी मर्यादा है और इसलिए ही मैंने आपसे पूछा है। मैं उसके मारनेमें असमर्थ नहीं हूँ ॥१६३॥

अहंकार और क्रोधसे मिश्रित पुत्रके वचन सुनकर सहस्रारने कहा कि हे पुत्र ! इस तरह उतावला मत हो ॥१६४॥ पहले उत्तम मन्त्रियोंके साथ सलाह कर क्योंकि बिना विचारे कार्य करनेवालोंका कार्य निष्फल हो जाता है ॥१६५॥ केवल पुरुषार्थ ही कार्यसिद्धिका कारण नहीं है क्योंकि निरन्तर कार्य करनेवाले—पुरुषार्थी किसानके वर्षाके विना क्या सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥१६६॥ एक ही समान पुरुषार्थ करनेवाले और एक ही समान आदरसे

१. प्रचलितं म० । २. विश्वाश्व म० । ३. संनह्यन्त किमासनम् म० । ४. जनकादेशं म० । ५. तवात्यन्तं मया कृतः म० । ततोत्यन्तं मया कृतः ब० । तातात्यन्तमयाकृतः ख० । ६. क्षत्रियोऽथवा क०, ख०, म०, ब० । शरीरान्तरे चिकित्स्यः अप्रतीकार्य इत्यर्थः 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः' । ७. नयमार्गप्रयत्नेन क०, नयमार्गप्रयत्नेन ख० । ८. स्मयरोषविमुक्तं म० । ९. कृष्ट्या म० ।

एवं गतेऽपि संधानं रावणेन समं कुरु । तस्मिन् सति जगत्सर्वं विधत्स्वोद्धृतकण्टकम् ॥१६८॥
रूपिणीं च सुतां तस्मै यच्छ रूपवतीं सुताम् । एवं सति न दोषोऽस्ति तथावस्था च राजताम्[1] ॥१६९॥
विविक्तधिषणेनासाविति पित्रा प्रचोदितः[2] । रोषराशिवशोदारशोणचक्षुः[3] क्षणादभूत्[4] ॥१७०॥
रोषज्वलनसंतापसंजातस्वेदसन्ततिः । बभाण भासुरः शक्रः स्फोटयन्निव खं गिरा ॥१७१॥
वध्यस्य दीयते कन्येत्येतत्तात क्व युज्यते । प्रकृष्टवयसां पुंसां धीर्यात्येवाथवा क्षयम् ॥१७२॥
वद केनाधरस्तस्मादहं जनक वस्तुना । अत्यन्तकातरं वाक्यं येनेदं भाषितं त्वया ॥१७३॥
रवेरपि कृतस्पर्शः पादैर्मूर्ध्नाति[5] खिद्यते । [6]योगे स कथमन्यस्य तुङ्गः प्रणतिमाचरेत् ॥१७४॥
पौरुषेणाधिकस्तावदेतस्मान्नितरामहम् । दैवं तस्यानुकूलं ते कथं बुद्धाववस्थितम् ॥१७५॥
विजिता बहवोऽनेन विपक्षा इति चेन्मतिः । हतानेककुरङ्गं किं शबरो हन्ति नो हरिम् ॥१७६॥
संग्रामे शस्त्रसंपातजातज्वलनजालके । वरं प्राणपरित्यागो न तु प्रतिनरानतिः ॥१७७॥
सोऽयमिन्द्रो दशास्यस्य राक्षसस्यानतिं गतः । इति लोके च हास्यत्वं न दृष्टं मे[7] कथं त्वया ॥१७८॥
नभश्चरत्वसामान्यं न च सन्धानकारणम् । वनगोचरसामान्यं यथा सिंहश्रृगालयोः ॥१७९॥
इति ब्रुवत एवास्य शब्दः पूरितविष्टपः । प्रविष्टः श्रोत्रयोः शत्रुबलजो [8]वासरानने ॥१८०॥

पढ़नेवाले छात्रोंमें से कुछ तो सफल हो जाते हैं और कुछ कर्मोंकी विवशतासे सफल नहीं हो पाते ॥१६७॥ ऐसी स्थिति आनेपर भी तुम रावणके साथ सन्धि कर लो क्योंकि सन्धिके होनेपर तुम समस्त संसारको निष्कण्टक बना सकते हो ॥१६८॥ साथ ही तू रूपवती नामकी अपनी सुन्दरी पुत्री रावणके लिए दे दे । ऐसा करनेमें कुछ भी दोष नहीं है । बल्कि ऐसा करनेसे तेरी यही दशा बनी रहेगी ॥१६९॥

पवित्र बुद्धिके धारक पिताने इस प्रकार इन्द्रको समझाया अवश्य परन्तु क्रोधके समूहके कारण उसके नेत्र क्षण भरमें लाल-लाल हो गये ॥१७०॥ क्रोधाग्निके संतापसे जिसके शरीरमें पसीनेकी परम्परा उत्पन्न हो गई थी ऐसा देदीप्यमान इन्द्र अपनी वाणीसे मानो आकाशको फोड़ता हुआ बोला कि हे तात ! जो वध करने योग्य है उसीके लिए कन्या दी जावे यह कहाँ तक उचित है ? अथवा वृद्ध पुरुषोंकी बुद्धि क्षीण हो ही जाती है ॥१७१-१७२॥ हे तात ! कहो तो सही मैं किस वस्तुमें उससे हीन हूँ ? जिससे आपने यह अत्यन्त दीन वचन कहे हैं ॥१७३॥ जो मस्तकपर सूर्यकी किरणोंका स्पर्श होनेपर भी अत्यन्त खेदखिन्न हो जाता है वह उदार मानव मिलनेपर अन्य पुरुषके लिए प्रणाम किस प्रकार करेगा ? ॥१७४॥ मैं पुरुषार्थकी अपेक्षा रावणसे हर एक बातमें अधिक हूँ फिर आपकी बुद्धिमें यह बात कैसे बैठ गई कि भाग्य उसके अनुकूल है ? ॥१७५॥ यदि आपका यह ख्याल है कि इसने अनेक शत्रुओंको जीता है तो अनेक हरिणोंको मारनेवाले सिंहको क्या एक भील नहीं मार देता ? ॥१७६॥ शस्त्रोंके प्रहारसे जहाँ ज्वालाओंके समूह उत्पन्न हो रहे हैं ऐसे युद्धमें प्राण त्याग करना भी अच्छा है पर शत्रुके लिए नमस्कार करना अच्छा नहीं है ॥१७७॥ 'वह इन्द्र रावण राक्षसके सामने नम्र हो गया' इस तरह लोकमें जो मेरी हँसी होगी उस ओर भी आपने दृष्टि क्यों नहीं दी ? ॥१७८॥ 'वह विद्याधर है और मैं भी विद्याधर हूँ' इस प्रकार विद्याधरपनाकी समानता सन्धिका कारण नहीं हो सकती । जिस प्रकार सिंह और शृगालमें वनचारित्वकी समानता होनेपर भी एकता नहीं होती है उसी प्रकार विद्याधरपनाकी समानता होनेपर भी हम दोनोंमें एकता नहीं हो सकती ॥१७९॥ इस प्रकार प्रातःकालके समय इन्द्र पिताके समक्ष कह रहा था कि उसी समय समस्त संसारको व्याप्त करनेवाला शत्रु सेनाका जोरदार शब्द उसके कानोंमें प्रविष्ट हुआ ॥१८०॥

१. राजते ब० । राज्यतां म० । राजता क० । २. प्रबोधितः म० । ३. वशोदार-म० । ४. १७० तमः श्लोकः ख० पुस्तके नास्ति । ५. मूर्ध्नाभि- ख० । ६. यो मेरुः ख०,म० । ७. ते कथं मया म० । ८. प्रातःकाले ।

[1]ततोऽपकर्णनं कृत्वा पितुः सन्नाहमण्डपम् । गत्वा सन्नाहसंज्ञार्थं तूर्यं तारमवीवदत् ॥१८१॥
उपाहर गजं शीघ्रं सप्तिं पर्याणय द्रुतम् । मण्डलाग्रमितो देहि पटु चाहर [2]कङ्कटम् ॥१८२॥
धनुराहर धावस्व शिरस्त्राणमितः कुरु । [3]यच्छार्धबाहुकां क्षिप्रं देहि सायकपुत्रिकाम् ॥१८३॥
चेट यच्छ [4]समायोगं सज्जमाशु रथं कुरु । एवमादि कृतारा[5]वः सुरलोकश्चलोऽभवत् ॥१८४॥
अथ क्षुब्धेषु वीरेषु रटत्सु पटहेषु च । तुङ्गं रणत्सु शङ्खेषु सान्द्रं गर्जत्सु दन्तिषु ॥१८५॥
मुञ्चत्सु दीर्घहुङ्कारं स्पृष्टवेत्रेषु सप्तिषु । संक्रीडत्सु रथौघेषु ज्याजाले पटु गुञ्जति ॥१८६॥
भटानामट्टहासेन जयशब्देन वादिनाम् । अभूत्तदा जगत्सर्वं शब्देनेव विनिर्मितम् ॥१८७॥
असिभिस्तोमरैः पाशैर्ध्वजैश्छत्रैः शरासनैः । ककुभश्छादिताः सर्वाः प्रभावोऽपहृतो रवेः ॥१८८॥
निष्क्रान्ताश्च सुसंनद्धाः सुरा रभसरागिणः । गोपुरे कृतसंघट्टा घण्टाभिर्वरदन्तिनाम् ॥१८९॥
स्यन्दनं परतो धेहि[6] प्राप्तोऽयं मत्तवारणः । आधोरण गजं देशादस्मात्सारय सत्वरम् ॥१९०॥
स्तम्भितोऽसीह किं सादिन्नयाश्वं द्रुतमग्रतः । मुञ्च मुग्धे निवर्तस्व कुरु [7]मां मा समाकुलम् ॥१९१॥
एवमादिसमालापाः सत्वरा मन्दिरात् सुराः । निष्क्रान्ता [8]गर्वनिर्मुक्तशुभारभटगर्जिताः ॥१९२॥
आलीने च यथा[9]जातप्रतिपक्षं चमूमुखे । विषमाहततूर्येण परमुत्साहमाहृते[10] ॥१९३॥
ततो राक्षससैन्यस्य मुखभङ्गः सुरैः कृतः । मुञ्चद्भिः शस्त्रसंघातमन्तर्हितनभस्तलम् ॥१९४॥
सेनामुखावसादेन कुपिता राक्षसास्ततः । अध्यूषुः पृतनावक्त्रं निजमूर्जितविक्रमाः ॥१९५॥

तदनन्तर पिताकी बात अनसुनीकर वह आयुधशालामें गया और वहाँ युद्धकी तैयारीका संकेत करनेके लिए उसने जोरसे तुरही बजवाई ॥१८१॥ 'हाथी शीघ्र लाओ, घोड़ापर शीघ्र ही पलान बाँधो, तलवार यहाँ देओ, अच्छा-सा कवच लाओ, दौड़कर धनुष लाओ, शिरकी रक्षा करनेवाला टोप इधर बढ़ाओ, हाथपर बाँधनेकी पट्टी शीघ्र देओ, छुरी भी जल्दी देओ, अरे चेट घोड़े जोत और रथको तैयार करो' इत्यादि शब्द करते हुए देव नामधारी विद्याधर इधर उधर चलने लगे ॥१८२–१८४॥ अथानन्तर—जब वीर सैनिक क्षुभित हो रहे थे, बाजे बज रहे थे, शङ्ख जोरदार शब्द कर रहे थे, हाथी बार-बार चिंघाड़ रहे थे, वेतके छूते ही घोड़े दीर्घ हुंकार छोड़ रहे थे, रथोंके समूह चल रहे थे और प्रत्यञ्चाओंके समूह जोरदार गुञ्जन कर रहे थे, तब योद्धाओंके अट्टहास और चारणोंके जयजयकारसे समस्त संसार ऐसा हो गया था मानो शब्दसे निर्मित हो ॥१८५-१८७॥ तलवारों, तोमरों, पाशों, ध्वजाओं, छत्रों और धनुषोंसे समस्त दिशाएँ आच्छादित हो गईं और सूर्यका प्रभाव जाता रहा ॥१८८॥ शीघ्रताके प्रेमी देव तैयार हो होकर बाहर निकल पड़े और हाथियोंके घंटाओंके शब्द सुन-सुनकर गोपुरके समीप धक्कम-धक्का करने लगे ॥१८९॥ 'रथको उधर खड़ा करो, इधर यह मदोन्मत्त हाथी आ रहा है। अरे महावत ! हाथीको यहाँसे शीघ्र ही हटा। अरे सवार ! यहीं क्यों रुक गया ? शीघ्र ही घोड़ा आगे ले जा। अरी मुग्धे ! मुझे छोड़ तू लौट जा, व्यर्थ ही मुझे व्याकुल मत कर' इत्यादि वार्तालाप करते हुए शीघ्रतासे भरे देव, अपने-अपने मकानोंसे बाहर निकल पड़े। उस समय वे अहंकारके कारण शुभ गर्जना कर रहे थे ॥१९०–१९२॥ कभी धीमी और कभी जोरसे बजाई हुई तुरहीसे जिसका उत्साह बढ़ रहा था ऐसी सेना जब शत्रुके सम्मुख जाकर यथास्थान खड़ी हो गई तब आकाशको आच्छादित करने वाले शस्त्रसमूहको छोड़ते हुए देवोंने राक्षसोंकी सेनाका मुख भङ्ग कर दिया अर्थात् उसके अग्र भागपर जोरदार प्रहार किया ॥१९३–१९४॥ सेनाके

१. तत्रोपकर्णयन् ख० । ततोपकर्णलं ब० । ततोपकर्णभं म० । २. कवचम् । ३. यच्छार्धवाहकां म० । ४. अश्वम् । ५. कृतारावं म०, ख० । ६. देहि म० । ७. मा मां म० । ८. गर्भनिर्मुक्तसुतारभट- म०, । गर्वनिर्मुक्तसुतारभट- ख०, ब० । ९. यातप्रतिपक्षं ख० । १०. माहते म० ।

वज्रवेगः प्रहस्तोऽथ हस्तो मारीच उद्भवः । वज्रवक्त्रः शुको घोरः सारणो गगनोज्ज्वलः ॥१९६॥
महाजठरसंध्याभ्रक्रूरप्रभृतयस्तथा । सुसंनद्धाः[1] सुयानाश्च[2] सुशस्त्राश्च[3] पुरःस्थिताः ॥१९७॥
ततस्तैरुत्थितैः[5] सैन्यं सुराणां क्षणमात्रतः । कृतं [4]विहतविभ्रस्तशस्त्रसंगतशत्रुकम् ॥१९८॥
भज्यमानं ततः सैन्यवक्त्रं दृष्ट्वा महासुराः । उत्थिता योद्धुमत्युग्रकोपापूरितविग्रहाः ॥१९९॥
मेघमाली तडित्पिङ्गो ज्वलिताक्षोऽरिसंज्वरः । पावकस्यन्दनाद्याश्च सुराः प्रकटतां ययुः ॥२००॥
उत्थाय राक्षसास्तैस्ते [5]मुञ्चद्भिः शस्त्रसंहतिम् । अवष्टब्धाः समुद्भूततीव्रकोपातिभासुरैः ॥२०१॥
ततो भङ्गं परिप्राप्ताश्चिरं कृतमहाहवाः । प्रत्येकं राक्षसा देवैर्बहुभिः कृतवेष्टनाः ॥२०२॥
आवर्तेष्विव निक्षिप्ता राक्षसा वेगशालिषु । बभ्रमुर्विगलच्छस्त्रशिथिलस्थित[6]पाणयः ॥२०३॥
परावृत्तास्तथाप्यन्ये राक्षसा मानशालिनः । प्राणानभिमुखीभूता मुञ्चन्ति न तु सायकान् ॥२०४॥
ततोऽवसादनाद् [7]भग्नं दृष्ट्वा तद्रक्षसां बलम् । सूनुर्महेन्द्रसेनस्य कपिकेतोर्महाबलः ॥२०५॥
दक्षः प्रसन्नकीर्त्याख्यां धारयन्नर्थसंगताम् । त्रासयन् द्विषतां सैन्यं जन्यस्य शिरसि स्थितम् ॥२०६॥
रक्षता बलमात्मीयं तेन तत्र[8] दृशं बलम् । शूरैः पराङ्मुखं चक्रे निष्कामद्भिरनन्तरम् ॥२०७॥
अतिमात्रं ततो भूरि विजयार्धनिवासिनाम् । सैन्यं प्राप्तं महोत्साहं नानाशस्त्रसमुज्ज्वलम् ॥२०८॥
दृष्ट्वैव कपिलक्ष्मास्य ध्वजे छत्रे च भीषणम् । अवाप मानसे भेदं विजयार्धाद्रिजं बलम् ॥२०९॥
तत्तेन विशिखैः पश्चात्स्फुरत्तेजःशिखैः क्षणात् । भिन्नं कुतीर्थहृदयं यथा मन्मथविभ्रमैः ॥२१०॥

अग्रभागका विनाश देख प्रबल पराक्रमके धारक राक्षस कुपित हो अपनी सेनाके आगे आ डटे ॥१९५॥ वज्रवेग, प्रहस्त, हस्त, मारीच, उद्भव, वज्रमुख, शुक, घोर, सारण, गगनोज्ज्वल, महाजठर, सन्ध्याभ्र और क्रूर आदि राक्षस आ आकर सेनाके सामने खड़े हो गये। ये सभी राक्षस कवच आदिसे युक्त थे, उत्तमोत्तम सवारियोंपर आरूढ़ थे और अच्छे-अच्छे शस्त्रोंसे युक्त थे ॥१९६–१९७॥ तदनन्तर इन उद्यमी राक्षसोंने देवोंकी सेनाको क्षणमात्रमें मारकर भयभीत कर दिया। उसके छोड़े हुए अस्त्र-शस्त्र शत्रुओंके हाथ लगे ॥१९८॥ तब अपनी सेनाके अग्रभागको नष्ट होता देख बड़े-बड़े देव युद्ध करनेके लिए उठे। उस समय उन सबके शरीर अत्यन्त तीव्र क्रोधसे भर रहे थे ॥१९९॥ मेघमाली, तडित्पिङ्ग, ज्वलिताक्ष, अरिसंज्वर और अग्निरथ आदि देव सामने आये ॥२००॥ जो शस्त्रोंके समूह की वर्षा कर रहे थे और उत्पन्न हुए तीव्र क्रोधसे अतिशय देदीप्यमान थे ऐसे देवोंने उठकर राक्षसोंको रोका ॥२०१॥ तदनन्तर चिरकाल तक युद्ध करनेके बाद राक्षस भङ्गको प्राप्त हुए। एक-एक राक्षसको बहुतसे देवोंने घेर लिया ॥२०२॥ वेगशाली भँवरोंमें पड़े हुएके समान राक्षस इधर-उधर घूम रहे थे तथा उनके ढीले हाथोंसे शस्त्र छूट-छूटकर नीचे गिर रहे थे ॥२०३॥ कितने ही राक्षस युद्धसे पराङ्मुख हो गये पर जो अभिमानी राक्षस थे वे सामने आकर प्राण तो छोड़ रहे थे पर उन्होंने शस्त्र नहीं छोड़े ॥२०४॥ तदनन्तर देवोंकी विकट मारसे राक्षसोंकी सेनाको नष्ट होता देख वानरवंशी राजा महेन्द्रका महाबलवान् पुत्र, जो कि अत्यन्त चतुर था और प्रसन्नकीर्ति इस सार्थक नामको धारण करता था, युद्धके अग्रभागमें स्थित शत्रुओंकी सेनाको भयभीत करता हुआ सामने आया ॥२०५–२०६॥ अपनी सेनाकी रक्षा करते हुए उसने निरन्तर निकलनेवाले बाणोंसे शत्रुकी सेनाको पराङ्मुख कर दिया ॥२०७॥ विजयार्ध पर्वतपर रहनेवाले देवोंकी जो सेना नाना प्रकारके शस्त्रोंसे देदीप्यमान थी वह प्रथम तो प्रसन्नकीर्तिसे अत्यधिक महान् उत्साहको प्राप्त हुई ॥२०८॥ पर उसके बाद ही जब उसने उसकी ध्वजा और छत्रमें वानरका चिह्न देखा तो उसका मन टूक-टूक हो गया ॥२०९॥ तदनन्तर जिस प्रकार कामके बाणोंसे कुगुरुका हृदय

१. सुसंवद्धाः म० । २. सुपानाश्च म० । ३. सुशास्त्राश्च म० । ४. विहतविभ्रस्तं शस्त्रसंघातशत्रुकम् म० । ५. -स्तैस्तै- ख० । ६. शिथिलास्थितपाणयः म० । ७. भङ्गं म० । ८. छत्रेण म० ।

ततोऽन्यदपि संप्राप्तं सैन्यं त्रिदशगोचरम् । कनकासिगदाशक्तिचापमुद्गरसंकुलम् ॥२११॥
ततोऽन्तराल एवातिवीरो माल्यवतः सुतः । श्रीमालीति प्रतीतात्मा पुरोऽस्य समवस्थितः ॥२१२॥
तेन ते क्षणमात्रेण सुराः सूर्यसमत्विषा[1] । क्व नीता इति न ज्ञाता मुञ्चता शरसंहतीः ॥२१३॥
दृष्ट्वा [2]तमभ्यमित्रीणमनिवार्यरयं ततः । क्षोभयन्तं द्विषां सैन्यं महाग्राहमिवार्णवम् ॥२१४॥
मत्तद्विपेन्द्रसंघट्टघटितारातिमण्डलम् । करवालकरोदारभटमण्डलमध्यगम् ॥२१५॥
अमी समुत्थिता देवा निजं पालयितुं बलम् । महाक्रोधपरीताङ्गाः समुल्लासितहेतयः ॥२१६॥
शिखिकेशरिदण्डोग्रकनकप्रवरादयः । छादयन्तो नभो दूरं प्रावृषेण्या इवाम्बुदाः ॥२१७॥
[3]स्वस्रीयाश्च सुरेन्द्रस्य मृगचिह्नादयोऽधिकम् । दीप्यमाना रणोद्भूततेजसा सुमहाबलाः ॥२१८॥
ततः श्रीमालिना तेषां शिरोभिः कमलैरिव । सशैवलैर्महीछन्नाछिन्नैश्चन्द्रार्ध[4]सायकैः ॥२१९॥
अचिन्तयत्ततः शक्रो येनैते नरपुङ्गवाः । कुमाराः क्षयमानीताः सममेभिर्वरैः[5] सुरैः ॥२२०॥
तस्यास्य को रणे स्थातुं पुरो वाञ्छेद्दिवौकसाम् । राक्षसस्य [[6]महातेजो दुरीक्ष्यस्यातिवीर्यवान् ॥२२१॥
तस्मादस्य स्वयं युद्धश्रद्धाध्वंसं करोम्यहम् । अपरानमरान् यावन्नयते नैव [7]पञ्चताम् ॥२२२॥
इति ध्यात्वा समाश्वास्य] बलं स त्रासकम्पितम् । योद्धुं समुद्यतो यावत्त्रिदशानामधीश्वरः ॥२२३॥

खण्डित हो जाता है उसी प्रकार जिनसे अग्निकी देदीप्यमान शिखा निकल रही थी ऐसे प्रसन्नकीर्तिके बाणोंसे देवोंकी सेना खण्डित हो गई ॥२१०॥ तदनन्तर देवोंकी और दूसरी सेना सामने आई । वह सेना कनक, तलवार, गदा, शक्ति, धनुष और मुद्गर आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त थी ॥२११॥ तत्पश्चात् माल्यवान्का पुत्र श्रीमाली जो अत्यन्त वीर और निःशङ्कहृदय वाला था देवोंकी सेनाके आगे खड़ा हो गया ॥२१२॥ जिसकी सूर्यके समान कान्ति थी तथा जो निरन्तर बाणोंका समूह छोड़ रहा था ऐसे श्रीमालीने देवोंको क्षणमात्रमें कहीं भेज दिया इसका पता नहीं चला ॥२१३॥ तदनन्तर जो शत्रु पक्षकी ओरसे सामने खड़ा था, जिसका वेग अनिवार्य था, जो शत्रुओंकी सेनाको इस तरह क्षोभयुक्त कर रहा था जिस प्रकार की महाग्राह किसी समुद्रको क्षोभयुक्त करता है, जो अपना मदोन्मत्त हाथी शत्रुओं की सेना पर हूल रहा था और जो तलवार हाथमें लिये उद्दण्ड योद्धाओंके बीचमें घूम रहा था ऐसे श्रीमालीको देख कर देव लोग अपनी सेनाकी रक्षा करनेके लिए उठे । उस समय उन सबके शरीर बहुत भारी क्रोधसे व्याप्त थे तथा उनके हाथोंमें अनेक शस्त्र चमक रहे थे ॥२१४–२१६॥ शिखी, केशरी, दण्ड, उग्र, कनक, प्रवर आदि इन्द्रके योद्धाओंने आकाशको दूर तक ऐसा आच्छादित कर लिया जैसा कि वर्षाऋतु के मेघ आच्छादित कर लेते हैं ॥२१७॥ इनके सिवाय मृगचिह्न आदि इन्द्रके भानेज भी जो कि रणसे समुत्पन्न तेजके द्वारा अत्यधिक देदीप्यमान और महाबलवान् थे, आकाशको दूर-दूर तक आच्छादित कर रहे थे ॥२१८॥ तदनन्तर श्रीमालीने अपने अर्द्धचन्द्राकार बाणोंसे काटे हुए उनके शिरोंसे पृथिवीको इस प्रकार ढक दिया मानो शेवाल सहित कमलोंसे ही ढक दिया हो ॥२१९॥

अथानन्तर इन्द्रने विचार किया कि जिसने इन श्रेष्ठ देवोंके साथ-साथ इन नरश्रेष्ठ राजकुमारोंका क्षय कर दिया है तथा अपने विशाल तेजसे जिसकी ओर आँख उठाना भी कठिन है ऐसे इस राक्षसके आगे युद्धमें देवोंके बीच ऐसा कौन है जो सामने खड़ा होनेकी भी इच्छा कर सके ? इसलिए जब तक यह दूसरे देवोंको नहीं मारता है उसके पहले ही मैं स्वयं इसके युद्धकी श्रद्धाका नाश कर देता हूँ ॥२२०–२२२॥ ऐसा विचारकर देवोंका स्वामी इन्द्र भयसे

१. त्विषः म० । २. तमभ्रमित्रीणं म० । ३. भागिनेयाः । ४. चित्रचन्द्रार्ध म० । ५. शरैः ख० । ६. [ ] कोष्ठकान्तर्गतः पाठः क०पुस्तके नास्ति । ७. मृत्युम् ।

निपत्य पादयोस्तावज्जानु[1]स्पृष्टमहीतलः । समुवाच महावीरो जयन्त इति विश्रुतः ॥२२४॥
सत्येव मयि देवेन्द्र करोषि यदि संयुगम् । ततो भवत्कृतं जन्म त्वया मम निरर्थकम् ॥२२५॥
बालकोऽङ्के [2]भजन्क्रीडां पुत्रप्रीत्या यदीक्षितः । स्नेह[3]स्यानृण्यमेतस्य जनयामि तवाधुना ॥२२६॥
स त्वं निराकुलो भूत्वा तिष्ठ तात [4]यथेप्सितम् । शत्रून् क्षणेन निःशेषानयं व्यापादयाम्यहम् ॥२२७॥
नखेन प्राप्यते छेद्यं वस्तु यत्स्वल्पयत्नतः । व्यापारः परशोस्तत्र ननु तात निरर्थकः ॥२२८॥
वारयित्वेत्यसौ तातं संयुगाय समुद्यतः । कोपावेशाच्छरीरेण [5]ग्रसमान इवाम्बरम् ॥२२९॥
प्रतिश्रीमालि चायासीदायासपरिवर्जितः । गुप्तः पवनवेगेन सैन्येनोज्ज्वलहेतिना ॥२३०॥
श्रीमाली चापि संप्राप्तं चिराद्योग्यं प्रतिद्विषम् । दृष्ट्वा तुष्टो [6]दधावास्य संमुखं सैन्यमध्यगः ॥२३१॥
अमुञ्चतां ततः क्रुद्धौ शरासारं परस्परम् । कुमारौ [7]सतताकृष्टदृष्टकोदण्डमण्डलौ ॥२३२॥
तयोः कुमारयोर्युद्धं निश्चलं [8]पृतनाद्वयम् । ददर्श विस्मयप्राप्तमानसं रेखया स्थितम् ॥२३३॥
कनकेन ततो भित्त्वा जयन्तो विरथीकृतः । श्रीमालिना स्वसैन्यस्य कुर्वता [9]संमदं परम् ॥२३४॥
मूर्च्छया पतिते तस्मिन् स्ववर्गस्यापतन्मनः । मूर्च्छायाश्च परित्यागादुत्थिते पुनरुत्थितम् ॥२३५॥
आहत्य भिण्डमालेन जयन्तेन ततः कृतः । [10]श्रीमाली विरथो रोषात्प्रहारेणातिवर्द्धितात् [11]॥२३६॥
ततः परबले तोषनिर्घोषो निर्गतो महान् । निजे च यातुधानस्य समाक्रन्दध्वनिर्बले[12] ॥२३७॥

काँपती हुई सेवाको सान्त्वना देकर ज्योंही युद्धके लिए उठा त्योंही उसका महाबलवान् जयन्त नामका पुत्र चरणोंमें गिरकर तथा पृथिवीपर घुटने टेककर कहने लगा कि हे देवेन्द्र ! यदि मेरे रहते हुए आप युद्ध करते हैं तो आपसे जो मेरा जन्म हुआ है वह निरर्थक है ॥२२३-२२५॥ जब मैं बाल्य अवस्थामें आपकी गोदमें क्रीड़ा करता था और आप पुत्रके स्नेहसे बार-बार मेरी ओर देखते थे आज मैं उस स्नेहका बदला चुकाना चाहता हूँ उस ऋणसे मुक्त होना चाहता हूँ ॥२२६॥ इसलिए हे तात ! आप निराकुल होकर घर पर रहिये । मैं क्षणभरमें समस्त शत्रुओंका नाश कर डालता हूँ ॥२२७॥ हे तात ! जो वस्तु थोड़े ही प्रयत्नसे नखके द्वारा छेदी जा सकती है वहाँ परशुका चलाना व्यर्थ ही है ॥२२८॥ इस प्रकार पिताको मनाकर जयन्त युद्धके लिए उद्यत हुआ । उस समय वह क्रोधावेशसे ऐसा जान पड़ता था मानो शरीरके द्वारा आकाशको ही ग्रस रहा हो ॥२२९॥ पवनके समान वेगशाली एवं देदीप्यमान शस्त्रोंको धारण करनेवाली सेना जिसकी रक्षा कर रही थी ऐसा जयन्त बिना किसी खेदके सहज ही श्रीमालीके सन्मुख आया ॥२३०॥ श्रीमाली चिर काल बाद रणके योग्य शत्रुको आया देख बहुत संतुष्ट हुआ और सेनाके बीच गमन करता हुआ उसकी ओर दौड़ा ॥२३१॥

तदनन्तर जिनके धनुर्मण्डल निरन्तर खिंचते हुए दिखाई देते थे ऐसे क्रोधसे भरे दोनों कुमारोंने एक दूसरेपर बाणोंकी वर्षा छोड़ी ॥२३२॥ जिनका चित्त आश्चर्यसे भर रहा था और जो अपनी-अपनी रेखाओंपर खड़ी थीं ऐसी दोनों ओरकी सेनाएँ निश्चल होकर उन दोनों कुमारोंका युद्ध देख रही थीं ॥२३३॥ तदनन्तर अपनी सेनाको हर्षित करते हुए श्रीमालीने कनक नामक हथियारसे जयन्तका रथ तोड़कर उसे रथरहित कर दिया ॥२३४॥ जयन्त मूर्च्छासे नीचे गिर पड़ा सो उसे गिरा देख उसकी सेनाका मन भी गिर गया और मूर्च्छा दूर होनेपर जब वह उठा तो सेनाका मन भी उठ गया ॥२३५॥ तदनन्तर जयन्तने भिण्डमाल नामक शस्त्र चलाकर श्रीमालीको रथरहित कर दिया और अत्यन्त बढ़े हुए क्रोधसे ऐसा प्रहार किया कि वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ॥२३६॥ तब शत्रुसेनामें बड़ा भारी हर्षनाद हुआ और इधर राक्षसोंके सेनामें

१. जनस्पृष्ट म० । २. जनत्क्रीडां म० । ३. त्वयाहं फलमेतस्य । ४. यथेक्षितम् म० । ५. यसमान क० । ६. दधाव = धावति स्म । ७. स तदाकृष्ट म० । ८. पृतनीद्वयम् य० । ९. शर्मदं म० । संमतं ख० । १०. श्रीमालिर् म० । ११. वर्धितान् म० । १२. बभौ म० ।

गतमूर्च्छस्तु संक्रुद्धः श्रीमाली भृशभीषणः । किरन् प्रहरणव्रातं जयन्ताभिमुखो ययौ ॥२३८॥
मुञ्चन्तौ हेतिजालं तौ कुमारौ रेजतुस्तराम् । सिंहार्भकाविवोद्धूत[1]दीप्तकेसरसंचयौ ॥२३९॥
ततो माल्यवतः पुत्रः सुरराजस्य सूनुना । स्तनान्तरे हतो गाढं गदया पतितो भुवि ॥२४०॥
वदनेन ततो रक्तं विमुञ्चन् धरणीं गतः । अस्तङ्गत इवाभाति कमलाकरबान्धवः ॥२४१॥
हत[2]श्रीमालिकः प्राप्य रथं वासवनन्दनः । दध्मौ शङ्खं मुदा भीता राक्षसाश्च विदुद्रुवुः ॥२४२॥
माल्यवत्तनयं दृष्ट्वा ततो निर्गतजीवितम् । जयन्तं च सुसन्नद्धं तोषमुक्तभटस्वनम् ॥२४३॥
आश्वासयन्निजं सैन्यं पलायनपरायणम् । इन्द्रजित्संमुखीभूतो जयन्तस्योत्कटो रुषा ॥२४४॥
ततोऽभिभवने सक्तं जनानां तं कलिं यथा । जयन्तमिन्द्रजिच्चक्रे जर्जरं [3]वर्मवच्छरैः ॥२४५॥
दृष्ट्वा च छिन्नवर्माणं रुधिरारुणविग्रहम् । जयन्तं शरसंघातैः प्राप्तं शल[4]लितुल्यताम् ॥२४६॥
अमरेन्द्रः स्वयं योद्धुमुत्थितश्छादयन्नभः । नीरन्ध्रं वाहनैस्तैरायुधैश्च चलत्करैः ॥२४७॥
अवादीत् सारथिश्चैवं रावणं सम्मतिश्रुतिः । अयं स देव संप्राप्तः स्वयं नाथो दिवौकसाम् ॥२४८॥
चक्रेण लोकपालानां परितः कृतपालनः । मत्तैरावतपृष्ठस्थो मौलिरत्नप्रभावृतः ॥२४९॥
पाण्डुरेणोपरिस्थेन छत्रेणावृतभास्करः । क्षुब्धेन सागरेणेव सैन्येन कृतवेष्टनः ॥२५०॥

रुदन शब्द सुनाई पड़ने लगा ॥२३७॥ जब मूर्च्छा दूर हुई तब श्रीमाली अत्यन्त कुपित हो शस्त्र-समूहकी वर्षा करता हुआ जयन्तके सन्मुख गया । उस समय वह अत्यन्त भयंकर दिखाई देता था ॥२३८॥ शस्त्रसमूहको छोड़ते हुए दोनों कुमार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनकी चमकीली सटाओंका समूह उड़ रहा था ऐसे सिंहके दो बालक ही हों ॥२३९॥ तदनन्तर इन्द्रके पुत्र जयन्तने माल्यवान्‌के पुत्र श्रीमालीके वक्षःस्थलपर गदाका ऐसा प्रहार किया कि वह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥२४०॥ मुखसे खूनको छोड़ता पृथिवीपर पड़ा श्रीमाली ऐसा जान पड़ता था मानो अस्त होता हुआ सूर्य ही हो ॥२४१॥ श्रीमालीको मारनेके बाद जयन्तने रथपर सवार हो हर्षसे शङ्ख फूँका जिससे राक्षस भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे ॥२४२॥

तदनन्तर श्रीमालीको निष्प्राण और जिसके योद्धा हर्षनाद कर रहे थे ऐसे जयन्तको आगामी युद्धके लिए तत्पर देख रावणका पुत्र इन्द्रजित् अपनी भागती हुई सेनाको आश्वासन देता हुआ जयन्तके सन्मुख आया । उस समय वह क्रोधसे बड़ा विकट जान पड़ता था ॥२४३–२४४॥ तदनन्तर इन्द्रजित्‌ने कलिकालकी तरह लोगोंके अनादर करनेमें संलग्न जयन्तको अपने बाणोंसे कवचकी तरह जर्जर कर दिया अर्थात् जिस प्रकार बाणोंसे उसका कवच जर्जर किया था उसी प्रकार उसका शरीर भी जर्जर कर दिया ॥२४५॥ जिसका कवच टूट गया था, जिसका शरीर खूनसे लाल-लाल हो रहा था और जो गड़े हुए बाणोंसे सेहीकी तुलना प्राप्त कर रहा था ऐसे जयन्तको देखकर इन्द्र स्वयं युद्ध करनेके लिए उठा । उस समय इन्द्र अपने वाहनों और चमकते हुए तीक्ष्ण शस्त्रोंसे नीरन्ध्र आकाशको आच्छादित कर रहा था ॥२४६–२४७॥ इन्द्रको युद्धके लिए उद्यत देख सन्मति नामक सारथिने रावणसे कहा कि हे देव ! यह देवोंका अधिपति इन्द्र स्वयं ही आया है ॥२४८॥ लोकपालोंका समूह चारों ओरसे इसकी रक्षा कर रहा है, यह मदोन्मत्त ऐरावत हाथीपर सवार है, मुकुटके रत्नोंकी प्रभासे आवृत है, ऊपर लगे हुए सफ़ेद छत्रसे सूर्यको ढक रहा है, तथा क्षोभको प्राप्त हुए महासागरके समान सेनासे घिरा हुआ

---

१. विवोद्भूत म० । २. हतः श्रीमाली येन सः । हतः श्रीमालिकः म०, क०, ब० । ३. कवचवत् । ४. 'श्वावित्तु शल्यस्तल्लोम्नि शलली शललं शलम्' इत्यमरः । शलली 'सेही' इति हिन्दी । सलिलतुल्यताम् क०, ख०, म०, ब० ।

महाबलोऽयमेतस्य कुमारो नोचितो रणे । [1]उत्तिष्ठ स्वयमेव त्वं जहि शत्रोरहंयुताम्[2] ॥२५१॥
ततोऽभिमुखमायान्तं दृष्ट्वाखण्डलमूर्जितम् । संस्मृत्य मालिमरणं श्रीमालिवधदीपितः ॥२५२॥
दृष्ट्वा च शत्रुभिः पुत्रं वेष्ट्यमानं समन्ततः । दधाव रावणः क्रोधाद् रथेनानिलरंहसा ॥२५३॥
भटानामभवद्युद्धमेतयो रोमहर्षणम् । तुमुलं शस्त्रसंघातघनध्वान्तसमावृतम् ॥२५४॥
ततः शस्त्रकृतध्वान्ते रक्तनीहारवर्षिणि । अज्ञायन्त भटाः शूरास्[3]तारारावेण केवलम् ॥२५५॥
प्रेरिताः स्वामिनो भक्त्या [4]पूर्वानादरचोदिताः । प्रहारोत्थेन कोपेन भटा युयुधिरे भृशम् ॥२५६॥
गदाभिः शक्तिभिः कुन्तैर्मुसलैरसिभिः शरैः । परिघैः कनकैश्चक्रैः [5]करवालीभिरंह्रिपैः ॥२५७॥
शूलैः पाशैर्भुशुण्डीभिः कुठारैर्मुद्गरैर्घनैः । ग्रावभिर्लाङ्गलैर्दण्डैः कौणैः सायकवेणुभिः ॥२५८॥
अन्यैश्च विविधैः शस्त्रैरन्योन्यच्छेदकारिभिः । करालमभवद् व्योम तदाघातोत्थितानलम् ॥२५९॥
क्वचिद्भ्रसदिति ध्वानो भवत्यन्यत्र शूदिति । क्वचिद्रणरणारावः क्वचित्किणिकिणिस्वनः ॥२६०॥
त्रपत्रपायतेऽन्यत्र तथा दमदमायते । छमाछमायतेऽन्यत्र तथा पटपटायते ॥२६१॥
छलछलायतेऽन्यत्र टहटहायते तथा । तटतटायतेऽन्यत्र तथा चटचटायते ॥२६२॥
घगघगघगायतेऽन्यत्र रणं शस्त्रोत्थितैः स्वरैः । शब्दात्मकमिवोद्भूतं तदा त्वजिरमण्डलम् ॥२६३॥
हन्यते वाजिना वाजी वारणेन मतङ्गजः । तन्नस्थेन च तत्रस्थो रथेन ध्वस्यते रथः ॥२६४॥
पदातिभिः समं युद्धं कर्तुं पादातमुद्यतम् । यथा पुरोगतैकैकभटपाटनतत्परम् ॥२६५॥

है ॥२४९–२५०॥ यह चूँकि महाबलवान् है इसलिए कुमार इन्द्रजित् युद्ध करनेके लिए इसके योग्य नहीं है अतः आप स्वयं ही उठिये और शत्रुका अहंकार नष्ट कीजिये ॥२५१॥

तदनन्तर बलवान् इन्द्रको सामने आता देख रावण वायुके समान वेगशाली रथसे सामने दौड़ा। उस समय रावण मालीके मरणका स्मरण कर रहा था और अभी हालमें जो श्रीमालीका वध हुआ था उससे देदीप्यमान हो रहा था। उस समय इन दोनों योद्धाओंका रोमाञ्चकारी भयङ्कर युद्ध हो रहा था। वह युद्ध शस्त्र समुदायसे उत्पन्न सघन अन्धकारसे व्याप्त था। रावणने देखा कि उसका पुत्र इन्द्रजित् सब ओरसे शत्रुओं द्वारा घेर लिया गया है अतः वह कुपित हो आगे दौड़ा ॥२५२–२५४॥ तदनन्तर जहाँ शस्त्रोंके द्वारा अन्धकार फैल रहा था और रुधिरका कुहरा छाया हुआ था ऐसे युद्धमें यदि शूरवीर योद्धा पहिचाने जाते थे तो केवल अपनी जोरदार आवाज से ही पहिचाने जाते थे ॥२५५॥ जिन योद्धाओंने पहले अपेक्षा भावसे युद्ध करना बन्द कर दिया था उनपर भी जब चोटें पड़ने लगीं तब वे स्वामीकी भक्तिसे प्रेरित हो प्रहारजन्य क्रोधसे अत्यधिक युद्ध करने लगे ॥२५६॥ गदा, शक्ति, कुन्त, मुसल, कृपाण, बाण, परिघ, कनक, चक्र, छुरी, अंह्रिप, शूल, पाश, भुशुण्डी, कुठार, मुद्गर, घन, पत्थर, लाङ्गल, दण्ड, कौण, बाँसके बाण, तथा एक दूसरेको काटनेवाले अन्य अनेक शस्त्रोंसे उस समय आकाश भयङ्कर हो गया था और शस्त्रोंके पारस्परिक आघातसे उसमें अग्नि उत्पन्न हो रही थी ॥२५७–२५९॥ उस समय कहीं तो भ्रसद्-भ्रसद्, कहीं शूद्-शूद्, कहीं रण्-रण्, कहीं किण-किण, कहीं त्रप-त्रप, कहीं दम-दम, कहीं छम-छम, कहीं पट-पट, कहीं छल-छल, कहीं टह-टह, कहीं तड़-तड़, कहीं चट-चट और कहीं घग-घगघकी आवाज आ रही थी। यथार्थ बात यह थी कि शस्त्रोंसे उत्पन्न स्वरोंसे उस समय रणाङ्गण शब्दमय हो रहा था ॥२६०–२६३॥ घोड़ा घोड़ाको मार रहा था, हाथी हाथीको मार रहा था, घुड़सवार घुड़सवारको, हाथीका सवार हाथीके सवारको और रथ रथको नष्ट कर रहा था ॥२६४॥ जो जिसके सामने आया उसीको चीरनेमें

१. उत्तिष्ठ। २. गर्वम्। ३. तारारावेण-ब०। ४. पूर्वमारव म०, पूर्वमारद ब०। ५. करवालिभि-रङ्घ्रिपैः म०।

गजशूत्कृतनिस्सर्प[1]च्छीकरासारसंहतिः । शस्त्रपातसमुद्भूतधूमकेतुमशीशमत् ॥२६६॥
प्रतिमागुरवो दन्ता भ्रष्टा अपि गजाननात् । पतन्तः कुर्वते भेदं भटपङ्क्तेरधोमुखाः ॥२६७॥
प्रहारं मुञ्च भो शूर मा भूः पुरुष कातरः । प्रहारं [2]भटसिंहासेः सहस्व मम साम्प्रतम् ॥२६८॥
अयं मृतोऽसि मां प्राप्य गतिस्तव कुतोऽधुना । दुःशिक्षित न जानासि गृहीतुमपि सायकम् ॥२६९॥
रक्षात्मानं व्रजामुष्माद् रणकण्डूर्मुधा तव । कण्डूरेव न मे भ्रष्टा क्षतं स्वल्पं त्वया कृतम् ॥२७०॥
मुधैव जीवनं भुक्तं [3]पण्डकेन प्रभोस्त्वया । किं गर्जसि फले व्यक्तिर्भटतायाः करोम्यहम् ॥२७१॥
किं कम्पसे [4]भंज स्थैर्यं गृहाण त्वरितं शरम् । दृढमुष्टिं [5]कुरु स्रंसत्खड्गोऽयं तव यास्यति ॥२७२॥
एवमादिसमालापाः परमोत्साहवर्तिनाम् । भटानामाहवे जाताः स्वामिनामग्रतो मुहुः ॥२७३॥
अलसः कस्यचिद्बाहुराहतो गदया [6]द्विषा । बभूव विशदोऽत्यन्तं क्षणनर्तनकारिणः ॥२७४॥
प्रयच्छत्प्रतिपक्षस्य साधुकारं मुहुः शिरः । पपात कस्यचिद्वेगनिष्क्रामद्भूरिशोणितम् ॥२७५॥
अभिद्यत शरैर्वक्षो भटानां न तु मानसम् । शिरः पपात नो मानः कान्तो मृत्युर्न जीवितम् ॥२७६॥
कुर्वाणा यशसो रक्षां दक्षा वीरा महौजसः । भटाः संकटमायाताः प्राणान् शस्त्रभृतोऽमुचन् ॥२७७॥
म्रियमाणो भटः कश्चिच्छत्रुमारणकाङ्क्षया । पपात देहमाक्रम्य रिपोः कोपेन पूरितः ॥२७८॥
च्युते शस्त्रान्तराघाताच्छस्त्रे कश्चिद्भटोत्तमः । मुष्टिमुद्गरघातेन चक्रे शत्रुं गतासुकम् ॥२७९॥

तत्पर रहनेवाला पैदल सिपाहियोंका झुण्ड पैदल सिपाहियोंके साथ युद्ध करनेके लिए उद्यत था ॥२६५॥ हाथियोंकी शूत्कारके साथ जो जलके छींटोंका समूह निकल रहा था वह शस्त्रपातसे उत्पन्न अग्निको शान्त कर रहा था ॥२६६॥ प्रतिमाके समान भारी-भारी जो दाँत हाथियोंके मुखसे नीचे गिरते थे वे गिरते-गिरते ही अनेक योद्धाओंकी पङ्क्तिका कचूमर निकाल देते थे ॥२६७॥ अरे शूर पुरुष ! प्रहार छोड़, कायर क्यों हो रहा है ? हे सैनिकशिरोमणे ! इस समय जरा मेरी तलवारका भी तो वार सहन कर ॥२६८॥ ले अब तू मरता ही है, मेरे पास आकर अब तो जा ही कहाँ सकता है ? अरे दुःशिक्षित ! तलवार पकड़ना भी तो तुझे आता नहीं है, युद्ध करनेके लिए चला है ॥२६९॥ जा यहाँसे भाग जा और अपने आपकी रक्षा कर । तेरी रणकी खाज व्यर्थ है, तूने इतना थोड़ा घाव किया कि उससे मेरी खाज ही नहीं गई ॥२७०॥ तुझ नपुंसकने स्वामीका वेतन व्यर्थ ही खाया है, चुप रह, क्यों गरज रहा है ? अवसर आनेपर शूरवीरता अपने आप प्रकट हो जायगी ॥२७१॥ काँप क्यों रहा है ? जरा स्थिरताको प्राप्त हो, शीघ्र ही वाण हाथ में ले, मुट्ठीको मजबूत रख, देख यह तलवार खिसक कर नीचे चली जायेगी ॥२७२॥ उस समय युद्धमें अपने-अपने स्वामियोंके आगे परमोत्साहसे युक्त योद्धाओंके बार-बार उल्लिखित वार्तालाप हो रहे थे ॥२७३॥ किसीकी भुजा आलस्यसे भरी थी—उठती ही नहीं थी पर जब शत्रुने उसमें गदाकी चोट जमाई तब वह क्षणभरमें नाच उठा और उसकी भुजा ठीक हो गई ॥२७४॥ जिससे बड़े वेगसे अत्यधिक खून निकल रहा था ऐसा किसीका शिर शत्रुके लिए बार-बार धन्यवाद देता हुआ नीचे गिर पड़ा ॥२७५॥ वाणोंसे योद्धाओंका वक्षःस्थल तो खण्डित हो गया पर मन खण्डित नहीं हुआ । इसी प्रकार योद्धाओंका शिर तो गिर गया पर मान नहीं गिरा । उन्हें मृत्यु प्रिय थी पर जीवन प्रिय नहीं था ॥२७६॥ जो महातेजस्वी कुशल वीर थे उन्होंने सङ्कट आनेपर शस्त्र लिये यशकी रक्षा करते-करते अपने प्राण छोड़ दिये थे ॥२७७॥ कोई एक योद्धा मर तो रहा था पर शत्रुको मारनेकी इच्छासे क्रोधयुक्त हो जब गिरने लगा तो शत्रुके शरीर पर आक्रमण कर गिरा ॥२७८॥ शत्रुके शस्त्रकी चोटसे जब किसी योद्धाका शस्त्र

१. शीकराकार-म० । २. भटसहासेः म० । ३. क्लीबेन 'तृतीयाप्रकृतिः शण्ढः क्लीबः पण्डो नपुंसके' इत्यमरः । पाण्डुकेन म०, पण्डुकेन क०, ख०, ब० । ४. भव म० । ५. कुरुस्त्रंशं म० (?) । ६. द्विषः म० ।

आलिङ्ग्य मित्रवत्कश्चिद्दोर्भ्यां गाढं महाभटः । चकार विगलद्रक्तधारं शत्रुं विजीवितम् ॥२८०॥
कश्चिच्चकार पन्थानमृजुं निघ्नन् भटावलीम् । समरे पुरुषैरन्यैर्भयादकृतसङ्गमम् ॥२८१॥
पतन्तोऽपि न पृष्ठस्य दर्शनं भटसत्तमाः । वितेरुः प्रतिपक्षस्य गर्वोत्तानितवक्षसः ॥२८२॥
अश्वै रथैर्भटैर्नागैः पतद्भिरतिरंहसा । अश्वा रथा भटा नागा न्यपात्यन्त सहस्रशः ॥२८३॥
रजोभिः शस्त्रनिक्षेपसमुद्भूतैः सशोणितैः । दानाम्भसा च संच्छन्नं शक्रचापैरभून्नभः ॥२८४॥
कश्चित्करेण संरुध्य[1] वामेनान्त्राणि सन्नटः । तरसा खड्गमुद्यम्य ययौ प्रत्यरि भीषणः ॥२८५॥
कश्चिन्निजैः पुरीतद्भिर्बद्ध्वा परिकरं दृढम् । दष्टोष्ठोऽभिययौ शत्रुं दृष्टाशेषकनीनिकः[2] ॥२८६॥
कश्चित्कीलालमादाय निजं रोषपरायणः । कराभ्यां द्विषतो मूर्ध्नि चिक्षेप गलितायुधः ॥२८७॥
गृहीत्वा कीकसं कश्चिन्निजं [3]छिन्नमरातिना । ढुढौके तं गलद्रक्तधारांशुकविराजितः[4] ॥२८८॥
पाशेन कश्चिदानीय रिपुं युद्धसमुत्सुकः । मुमोच दूरनिर्मुक्तं रणसंभवसंभ्रमः ॥२८९॥
कश्चिच्च्युतायुधं दृष्ट्वा प्रतिपक्षमनिच्छया । ढुढौके शस्त्रमुज्झित्वा न्याय्यसंग्रामतत्परः ॥२९०॥
पिनाकाननलग्नेन रिपून् कश्चित्प्रतिद्विषा । जघान घनकीलालधारानिकरवर्षिणा ॥२९१॥
कश्चित्कबन्धतां प्राप्तः शिरसा स्फुटरंहसा । मुञ्चंस्तद्दिशि[5] कीलालं प्रतिपक्षमताडयत् ॥२९२॥

छूटकर नीचे गिर गया तब उसने मुट्ठीरूपी मुद्गरकी मारसे ही शत्रुको प्राणरहित कर दिया ॥२७९॥ किसी महायोद्धाने मित्रकी तरह भुजाओंसे शत्रुका गाढ़ आलिङ्गन कर उसे निर्जीव कर दिया—आलिङ्गन करते समय शत्रुके शरीरसे खूनकी धारा बह निकली थी ॥२८०॥ किसी योद्धाने योद्धाओंके समूहको मारकर युद्धमें अपना सीधा मार्ग बना लिया था। भयके कारण अन्य पुरुष उसके उस मार्गमें आड़े नहीं आये थे ॥२८१॥ गर्वसे जिनका वक्षःस्थल तना हुआ था ऐसे उत्तम योद्धाओंने गिरते-गिरते भी शत्रुके लिए अपनी पीठ नहीं दिखलाई थी ॥२८२॥ बड़े वेगसे नीचे गिरनेवाले घोड़ों, रथों, योद्धाओं और हाथियोंने हजारों घोड़ों, रथों, योद्धाओं और हाथियोंको नीचे गिरा दिया था ॥२८३॥ शस्त्रोंके निक्षेपसे उठी हुई रुधिराक्त धूलि और हाथियोंके मदजलसे आकाश ऐसा व्याप्त हो गया था मानो इन्द्रधनुषोंसे ही आच्छादित हो रहा हो ॥२८४॥ कोई एक भयंकर योद्धा अपनी निकलती हुई आँतोंको बायें हाथसे पकड़कर तथा दाहिने हाथसे तलवार उठा बड़े वेगसे शत्रुके सामने जा रहा था ॥२८५॥ जो ओठ चाब रहा था तथा जिसके नेत्रोंकी पूर्ण पुतलियाँ दिख रही थीं ऐसा कोई योद्धा अपनी ही आँतोंसे कमरको मजबूत कसकर शत्रुकी ओर जा रहा था ॥२८६॥ जिसके हथियार गिर गये थे ऐसे किसी योद्धाने क्रोधनिमग्न हो अपना खून दोनों हाथोंमें भरकर शत्रुके शिरपर डाल दिया था ॥२८७॥ जो निकलते हुए खूनकी धारासे लथपथ वस्त्रोंसे सुशोभित था ऐसा कोई योद्धा शत्रुके द्वारा काटी हुई अपनी हड्डी लेकर शत्रुके सामने जा रहा था ॥२८८॥ जो युद्धमें उत्सुक तथा युद्धकालमें उत्पन्न होनेवाली अनेक चेष्टाओंसे युक्त था ऐसे किसी योद्धाने शत्रुको पाशमें बाँधकर दूर ले जाकर छोड़ दिया ॥२८९॥ जो न्यायपूर्ण युद्ध करनेमें तत्पर था ऐसे किसी योद्धाने जब देखा कि हमारे शत्रुके शस्त्र नीचे गिर गये हैं और वह निरस्त्र हो गया है तब वह स्वयं भी अपना शस्त्र छोड़कर अनिच्छासे शत्रुके सामने गया था ॥२९०॥ कोई योद्धा धनुषके अग्रभागमें लगे एवं खूनकी बड़ी मोटी धाराओंकी वर्षा करनेवाले शत्रुके द्वारा ही दूसरे शत्रुओंको मार रहा था ॥२९१॥ कोई एक योद्धा शिर कट जानेसे यद्यपि कबन्ध दशाको प्राप्त हुआ था तथापि उसने शत्रुकी दिशामें वेगसे उछलते हुए शिरके द्वारा ही रुधिरकी

१. संरुद्ध म० । २. कनीनिकाः म० । ३. छन्न- म० । ४. विराजितं ब० । ५. तं दिशि म० ।

[1]कृत्तोऽपि कस्यचिन्मूर्धा गर्वनिर्भर[2]चेतसः । दष्टदन्तच्छदोऽपतद्धुङ्कारमुखरश्चिरम् ॥२९३॥
अन्येनाशीविषेणेव पतताऽत्यन्तभीषणा । दृष्टिरुल्कानिभा क्षेपि प्रतिपक्षस्य विग्रहे ॥२९४॥
अर्धकृत्तं शिरोऽन्येन धृत्वा वामेन पाणिना । पातितं प्रतिपक्षस्य शिरो विक्रमशालिना ॥२९५॥
कश्चिद्विक्षिप्य कोपेन शस्त्रमप्राप्तशत्रुकम् । हन्तुं परिघतुल्येन [3]बाहुनैव समुद्यतः ॥२९६॥
अरातिं मूर्च्छितं कश्चित्सिषेच स्वासृजा भृशम् । शीतीकृतेन वस्त्रान्तवायुना संभ्रमान्वितः ॥२९७॥
विश्रान्तं मूर्च्छया शूरैः शस्त्रघातैः सुखायितम् । मरणेन कृतार्थत्वं मेने कोपेन कम्पितैः ॥२९८॥
एवं महति संग्रामे प्रवृत्ते भीतिभीषणे । भटानामुत्तमानन्दसंपादनपरायणे ॥२९९॥
गजनासासमाकृष्टवीरकल्पितसत्करे । जवनाश्वखुराघातपतत्सत्कर्तनोद्यते ॥३००॥
सारथि[4]प्रेरणाकृष्टरथवि[5]त्ततवाजिनि । जङ्घावष्टम्भसङ्क्रान्तक्षतकुम्भमहागजे ॥३०१॥
परस्परजवाघातदलत्पादातविग्रहे । भटोत्तमकराकृष्टपुच्छनिष्पन्दवाजिनि ॥३०२॥
कराघातदलत्कुम्भिकुम्भनिष्ठ्यूतमौक्तिके । पतन्मातङ्गनिर्भग्नरथाहतपतद्भटे ॥३०३॥

वर्षाकर शत्रुको मार डाला था ॥२९२॥ जिसका चित्त गर्वसे भर रहा था ऐसे किसी योद्धाका शिर यद्यपि कट गया था तो भी वह ओठोंको डशता रहा और हुंकारसे मुखर होता हुआ चिर काल बाद नीचे गिरा था ॥२९३॥ जो साँपके समान जान पड़ता था ऐसे किसी योद्धाने गिरते समय उल्काके समान अत्यन्त भयंकर अपनी दृष्टि शत्रुके शरीरपर डाली थी ॥२९४॥ किसी पराक्रमी योद्धाने शत्रुके द्वारा आधे काटे हुए अपने शिरको बायें हाथसे थाम लिया और दाहिने हाथसे शत्रुका शिर काटकर नीचे गिरा दिया ॥२९५॥ किसी योद्धाका शस्त्र शत्रु तक नहीं पहुँच रहा था इसलिए क्रोधमें आकर उसने उसे फेंक दिया और अर्गलके समान लम्बी भुजासे ही शत्रुको मारनेके लिए उद्यत हो गया ॥२९६॥ किसी एक दयालु योद्धाने देखा कि हमारा शत्रु सामने मूर्च्छित पड़ा है जब उसे सचेत करनेके लिए जल आदि अन्य साधन न मिले तब उसने संभ्रमसे युक्त हो वस्त्रके छोरकी वायुसे शीतल किये गये अपने ही रुधिरसे उसे बार-बार सींचना शुरू कर दिया ॥२९७॥ क्रोधसे काँपते हुए शूर वीर मनुष्योंको जब मूर्च्छा आती थी तब वे समझते थे कि विश्राम प्राप्त हुआ है, जब शस्त्रोंकी चोट लगती थी तब समझते थे कि सुख प्राप्त हुआ और जब मरण प्राप्त होता था तब समझते थे कि कृतकृत्यता प्राप्त हुई है ॥२९८॥

इस प्रकार जब योद्धाओंके बीच महायुद्ध हो रहा था, ऐसा महायुद्ध कि जो भयको भी भय उत्पन्न करनेवाला था तथा उत्तम मनुष्योंको आनन्द उत्पन्न करनेमें तत्पर था ॥२९९॥ जहाँ हाथी अपनी सूंडोंमें कसकर वीर पुरुषोंको अपनी ओर खींचते थे पर वे वीर पुरुष उनकी सूँड़ स्वयं काट डालते थे। जहाँ लोग घोड़ोंको काटनेके लिए उद्यत होते अवश्य थे पर वे वेग-शाली घोड़े अपने खुरोंके आघातसे उन्हें वहीं गिरा देते थे ॥३००॥ जहाँ घोड़े सारथियोंकी प्रेरणा पाकर रथ खींचते थे पर उनसे उनका शरीर घायल हो जाता था। जहाँ मस्तकरहित बड़े-बड़े हाथी पड़े हुए थे और लोग उनपर पैर रखते हुए चलते थे ॥३०१॥ जहाँ पैदल सिपाहियोंके शरीर एक दूसरेके वेगपूर्ण आघातसे खण्डित हो रहे थे। जहाँ उत्तम योद्धा अपने हाथोंसे घोड़ोंकी पूँछ पकड़कर इतने जोरसे खींचते थे कि वे निश्चल खड़े रह जाते थे ॥३०२॥ जहाँ हाथोंकी चोटसे हाथियोंके गण्डस्थल फट जाते थे तथा उनसे मोती निकलने लगते थे। जहाँ गिरते हुए हाथियोंसे रथ टूट जाते थे और उनकी चपेटमें आकर अनेक योद्धा घायल

१. कृतोऽपि म० । २. गर्वनिर्भर म० । ३. बाहुनेव म० । ४. प्रेरणात् म० । ५. वीक्षित- म० ।

कोलालपटलच्छन्न[1]गगनाशाकदम्बके । गजकर्णसमुद्भूततीव्राकुलसमीरणे ॥३०४॥
उवाच सारथिं वीरः सुमतिं कैकसीसुतः । न किञ्चिदिव मन्वानो रणं रणकुतूहली ॥३०५॥
तस्यैव शक्रसंज्ञस्य संमुखो वाह्यतां रथः । असमानैः किमन्यान्यैः सामन्तैस्तस्य मारितैः ॥३०६॥
तृणतुल्येषु नामीषु मम शस्त्रं प्रवर्तते । मनश्च सुमहावीरग्रासग्रहणघस्मरम् ॥३०७॥
आखण्डलत्वमस्याद्य कृतं क्षुद्राभिमानतः । करोमि मृत्युना दूरं स्वविडम्बनकारिणः ॥३०८॥
अयं शक्रो महानेते लोकपालाः प्रकल्पिताः । अन्ये च मानुषा देवा नाकश्च धरणीधरः[2] ॥३०९॥
अहो लोकावहासस्य[3] मत्तस्य क्षुद्रया श्रिया । आत्मा विस्मृत एवास्य भ्रुकुंसस्येव दुर्मतेः ॥३१०॥
शुक्रशोणितमांसास्थिमज्जादिघटिते चिरम् । उषित्वा जठरे पापस्त्रिदशंमन्यतां गतः ॥३११॥
विद्याबलेन यत्किञ्चित्कुर्वाणो धैर्यदुर्विधः । एष देवायतो ध्वाङ्क्षो वैनतेयायते यथा ॥३१२॥
एवमुक्तेन शक्रस्य बलं सम्मतिना[4] रथः । प्रवेशितो [5]महाशूरसामन्तपरिपालितः ॥३१३॥
पश्यन्निन्द्रस्य सामन्तान्युद्धाशक्तपलायितान् । ऋजुना चक्षुषा राजा कीटकोपमचेष्टितान् ॥३१४॥
अशक्यः शत्रुभिर्धर्तुं कूलैः पूरो यथाम्भसः । चेतोवेगश्च सक्रोधो मिथ्यादृष्टिव्रताश्रितैः ॥३१५॥
दृष्टातपत्रमेतस्य क्षीरोदावर्तपाण्डुरम् । नष्टं सुरबलं क्वापि तमश्चन्द्रोदये यथा ॥३१६॥

होकर नीचे गिर जाते थे ॥३०३॥ जहाँ लोगोंकी नासिकाओंके समूह पड़ते हुए खूनके समूहसे आच्छादित हो रहे थे अथवा जहाँ आकाश और दिशाओंके समूह खूनके समूहसे आच्छादित थे और जहाँ हाथियोंके कानोंकी फटकारसे प्रचण्ड वायु उत्पन्न हो रही थी ॥३०४॥ इस प्रकार योद्धाओंके बीच भयंकर युद्ध हो रहा था पर युद्धके कुतुहलसे भरा वीर रावण उस युद्धको ऐसा मान रहा था जैसा कि मानो कुछ हो ही न रहा हो । उसने अपने सुमति नामक सारथिसे कहा कि उस इन्द्रके सामने ही रथ ले जाया जाय क्योंकि जो हमारी समानता नहीं रखते ऐसे उसके अन्य सामन्तोंके मारनेसे क्या लाभ है ? ॥३०५–३०६॥ तृणके समान तुच्छ इन सामन्तोंपर न तो मेरा शस्त्र उठता है और न महा भटरूपी ग्रासके ग्रहण करनेमें तत्पर मेरा मन ही इनकी ओर प्रवृत्त होता है ॥३०७॥ अपने आपकी विडम्बना करानेवाले इस विद्याधरने क्षुद्र अभिमानके वशीभूत हो अपने आपको जो इन्द्र मान रक्खा है सो इसके उस इन्द्रपनाको आज मृत्युके द्वारा दूर करता हूँ ॥३०८॥ यह बड़ा इन्द्र बना है, ये लोकपाल इसीने बनाये हैं । यह अन्य मनुष्योंको देव मानता है और विजयार्ध पर्वतको स्वर्ग समझता है ॥३०९॥ बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिस प्रकार कोई दुर्बुद्धि नट उत्तम पुरुषका वेष धर अपने आपको भुला देता है उसी प्रकार यह दुर्बुद्धि क्षुद्र लक्ष्मीसे मत्त होकर अपने आपको भुला रहा है, तथा लोगोंकी हँसीका पात्र हो रहा है ॥३१०॥ शुक्र, शोणित, मांस, हड्डी और मज्जा आदिसे भरे हुए माताके उदरमें चिर काल तक निवासकर यह अपने आपको देव मानने लगा है ॥३११॥ विद्याके बलसे कुछ तो भी करता हुआ यह अधीर व्यक्ति अपने आपको देव समझ रहा है जो इसका यह कार्य ऐसा है कि जिस प्रकार कौआ अपने आपको गरुड़ समझने लगता है ॥३१२॥ ऐसा कहते ही सुमति नामक सारथिने महाबलवान् सामन्तोंके द्वारा सुरक्षित रावणके रथको इन्द्रकी सेनामें प्रविष्ट कर दिया ॥३१३॥ वहाँ जाकर रावणने इन्द्रके उन सामन्तों को सरल दृष्टिसे देखा कि जो युद्धमें असमर्थ होकर भाग रहे थे, तथा कीड़ोंके समान जिनकी दयनीय चेष्टाएँ थीं ॥३१४॥ जिस प्रकार किनारे नीरके प्रवाहको नहीं रोक सकते हैं और जिस प्रकार मिथ्यादर्शनके साथ व्रताचरण करनेवाले मनुष्य क्रोध सहित मनके वेगको नहीं रोक पाते हैं उसी प्रकार शत्रु भी रावणको आगे बढ़नेसे नहीं रोक सके थे ॥३१५॥ जिस प्रकार चन्द्रमाका उदय होनेपर अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी

१. गगनाशा- म० । २. विजयार्धगिरिः । ३. लोकापहासस्य म० । ४. सन्मतिना ब० । ५. महाशूरः सामन्तः म० ।

इन्द्रोऽपि गजमारूढः कैलासगिरिसन्निभम् । शरं समुद्धरंस्तूणादभीयाय दशाननम् ॥३१७॥
शरानाकर्णमाकृष्टान् चिक्षेप च समद्विषि । महीधर इवाम्भोदः स्थूलधारामहाचयम् ॥३१८॥
दशवक्त्रोऽपि [1]तान्बाणैराच्छिदत्तान्तर [2]वर्तिनः । ततस्तैर्गगनं चक्रे निखिलं मण्डपाकृतिम् ॥३१९॥
आच्छिद्यन्त शरा बाणैरभिद्यन्त च भूरिशः । [3]भीता इव रवेः पादाः क्वापि नष्टा निरन्वयाः ॥३२०॥
अन्तरेऽस्मिन्नवद्वारगतिर्निःशरगोचरम् [4] । ननर्त कलहप्रेक्षासंभूतपुरुसम्मदः ॥३२१॥
असाध्यं प्रकृतास्त्राणां ततो ज्ञात्वा दशाननम् । चिक्षिपमस्त्रमाग्नेयं नाथेन स्वर्गवासिनाम् ॥३२२॥
इन्धनत्वं गतं तस्य खमेव विततात्मनः । धनुरादौ तु किं शक्यं वक्तुं पुद्गलवस्तुनि ॥३२३॥
कीचकानामिवोदारो दह्यमाने वने ध्वनिः । ज्वालावलीकरालस्य संबभूवाशुशुक्षणेः ॥३२४॥
ततस्तेनाकुलं दृष्ट्वा स्वबलं कैकसीसुतः । चिक्षेप चेपनिर्मुक्तमस्त्रं वरुणलक्षितम् ॥३२५॥
तेन क्षणसमुद्भूतमहाजीमूतराशिना । पर्वतस्थूलधारौघवर्षिणा रावशालिना ॥३२६॥
रावणस्येव कोपेन विलीनेन विहायसा । क्षणात्तद्धूमल[6]क्ष्मास्त्रं विध्यापितमशेषतः ॥३२७॥
सुरेन्द्रेण ततोऽसर्जि तामसास्त्रं समन्ततः । तेनान्धकारिता चक्रे ककुभां नभसा समम् ॥३२८॥
ततस्तेन दशास्यस्य विततं सकलं बलम् । स्वदेहमपि नापश्यत्कुतः शत्रोरनीकिनीम् ॥३२९॥
ततो निजबलं मूढं दृष्ट्वा रत्नश्रवःसुतः । प्रभास्त्रममुचत्काल[7]वस्तुयोजनकोविदः ॥३३०॥

प्रकार क्षीरसमुद्रकी आवर्तके समान धवल रावणका छत्र देखकर देवोंकी सेना न जाने कहाँ नष्ट हो गई ॥३१६॥ कैलास पर्वतके समान ऊँचे हाथीपर सवार हुआ इन्द्र भी तरकससे बाण निकालता हुआ रावणके सम्मुख आया ॥३१७॥ जिस प्रकार मेघ बड़ी मोटी धाराओंके समूहको किसी पर्वतपर छोड़ता है उसी प्रकार इन्द्र भी कान तक खींचे हुए बाण रावणके ऊपर छोड़ने लगा ॥३१८॥ इधर रावणने भी इन्द्रके उन बाणोंको बीचमें ही अपने बाणोंसे छेद डाला और अपने बाणोंसे समस्त आकाशमें मण्डप-सा बना दिया ॥३१९॥ इस प्रकार बाणोंके द्वारा बाण छेदे भेदे जाने लगे और सूर्यकी किरणें इस तरह निर्मूल नष्ट हो गईं मानो भयसे कहीं जा छिपी हों ॥३२०॥ इसी समय युद्धके देखनेसे जिसे बहुत भारी हर्ष उत्पन्न हो रहा था ऐसा नारद जहाँ बाण नहीं पहुँच पाते थे वहाँ आनन्द विभोर हो नृत्य कर रहा था ॥३२१॥

अथानन्तर जब इन्द्रने देखा कि रावण सामान्य शस्त्रोंसे साध्य नहीं है तब उसने आग्नेय बाण चलाया ॥३२२॥ वह आग्नेय बाण इतना विशाल था कि स्वयं आकाश ही उसका ईंधन बन गया, धनुष आदि पौद्गलिक वस्तुओंके विषयमें तो कहा ही क्या जा सकता है ? ॥३२३॥ जिस प्रकार बाँसोंके वनके जलनेपर विशाल शब्द होता है उसी प्रकार ज्वालाओंके समूहसे भयङ्कर दिखनेवाली आग्नेय बाणकी अग्निसे विशाल शब्द हो रहा था ॥३२४॥ तदनन्तर जब रावणने अपनी सेनाको आग्नेय बाणसे आकुल देखा तब उसने शीघ्र ही वरुण अस्त्र चलाया ॥३२५॥ उस बाणके प्रभावसे तत्क्षण ही महामेघोंका समूह उत्पन्न हो गया। वह मेघसमूह पर्वतके समान बड़ी मोटी धाराओंके समूहकी वर्षा कर रहा था, गर्जनासे सुशोभित था और ऐसा जान पड़ता था मानो रावणके क्रोधसे आकाश ही पिघल गया हो। ऐसे मेघसमूहने इन्द्रके उस आग्नेय बाणको उसी क्षण सम्पूर्ण रूपसे बुझा दिया ॥३२६-३२७॥ तदनन्तर इन्द्रने तामस बाण छोड़ा जिससे समस्त दिशाओं और आकाशमें अन्धकार ही अन्धकार छा गया ॥३२८॥ उस बाणने रावणकी सेनाको इस प्रकार व्याप्त कर लिया कि वह अपना शरीर भी देखनेमें असमर्थ हो गई फिर शत्रुकी सेनाको देखनेकी तो बात ही क्या थी ? ॥३२९॥ तब अवसरके

१. तैर्बाणै ख० । तां म०, ब०, क० । २. राच्छिदन्तरवर्तिनः ख०, ब०, म० । राच्छादन्तर- क०, छिदिर द्वैधीकरणे इत्यस्य लङि आत्मनेपदे रूपम्, आ उपसर्गेण सहितम् । ३. भ्रान्ता इव म० । ४. नारदः । ५. गोचरे ब०, निस्सारगोचरं म० । ६. लक्ष्मांसं म० । ७. काल-वस्त्र-म० ।

तेन तन्निखिलं ध्वान्तं विध्वस्तं क्षणमात्रतः । जिनशासनतत्त्वेन मतं मिथ्यादृशामिव ॥३३१॥
ततो यमविमर्देन कोपान्नागास्त्रमुज्झितम् । विलेने गगनं तेन भोगिभी[1] रत्नभासुरैः ॥३३२॥
कामरूपभृतो बाणास्ते गत्वा वृत्रविद्विषः । चेष्टया रहितं चक्रुः शरीरं कृतवेष्टनाः ॥३३३॥
महानीलनिभैरेभिर्वलयाकारधारिभिः । जगामाकुलतां शक्रश्चलद्रसनभीषणैः ॥३३४॥
प्रययावस्वतन्त्रत्वं कुलिशी[2] व्यालवेष्टितः[3] । वेष्टितः कर्मजालेन यथा जन्तुर्भवोदधौ ॥३३५॥
गरुडास्त्रं ततो दध्यौ सुरेन्द्रस्तदनन्तरम् । हेमपक्षप्रभाजालैः पिङ्गतां गगनं गतम् ॥३३६॥
पक्षवातेन तस्याभूज्जितान्तोदाररंहसा । दोलारूढमिवाशेषं प्रेङ्खण[4]प्रवणं बलम् ॥३३७॥
स्पृष्टा गरुडवातेन न ज्ञाता नागसायकाः । क्व गता इति विस्पष्टबन्धस्थानोपलक्षिताः ॥३३८॥
गरुत्मता कृताश्लेषो बन्धलक्षणवर्जितः । बभूव दारुणः शक्रो निदाघरविसन्निभः ॥३३९॥
विमुक्तं सर्प[5]जालेन दृष्ट्वा शक्रं दशाननः । आरूढस्त्रिजगद्भूषं वरदानं जयद्विपम्[6] ॥३४०॥
शक्रोऽप्यैरावतं रोषादस्यात्यासन्नमानयत् । ततो महदभूद्युद्धं दन्तिनोः[7] पुरुदर्पयोः ॥३४१॥
क्षरद्दानौ स्फुरद्धेमकक्षाविद्युद्गुणान्वितौ । दधतुस्तौ घनाकारं सान्द्रगर्जितकारिणौ[8] ॥३४२॥
परस्पररदाघातनिर्घातैरिव दारुणैः । पतद्भिर्भुवनं कम्पं प्रययौ शब्दपूरितम् ॥३४३॥
पिण्डयित्वा स्थवीयांसौ करौ चपलविग्रहौ । पुनः प्रसारयन्तौ च ताडयन्तौ महारवौ ॥३४४॥

योग्य वस्तुकी योजना करनेमें निपुण रावणने अपनी सेनाको मोहग्रस्त देख प्रभास्त्र अर्थात् प्रकाशबाण छोड़ा ॥३३०॥ सो जिस प्रकार जिन-शासनके तत्त्वसे मिथ्यादृष्टियोंका मत नष्ट हो हो जाता है उसी प्रकार उस प्रभास्त्रसे क्षणभरमें ही वह समस्त अन्धकार नष्ट हो गया ॥३३१॥ तदनन्तर रावणने क्रोधवश नागास्त्र छोड़ा जिससे समस्त आकाश रत्नोंसे देदीप्यमान सर्पोंसे व्याप्त हो गया ॥३३२॥ इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन बाणोंने जाकर इन्द्रके शरीरको निश्चेष्ट कर दिया तथा सब उससे लिपट गये ॥३३३॥ जो महानीलमणिके समान श्याम थे, वलयका आकार धारण करनेवाले थे और चञ्चल जिह्वाओंसे भयङ्कर दिखते थे ऐसे सर्पोंसे इन्द्र बड़ी आकुलताको प्राप्त हुआ ॥३३४॥ जिस प्रकार कर्मजालसे घिरा प्राणी संसाररूपी सागरमें विवश हो जाता है उसी प्रकार व्याल अर्थात् सर्पोंसे घिरा इन्द्र विवशताको प्राप्त हो गया ॥३३५॥ तदनन्तर इन्द्रने गरुडास्त्रका ध्यान किया जिसके प्रभावसे उसी क्षण आकाश सुवर्णमय पङ्खोंकी कान्तिके समूहसे पीला हो गया ॥३३६॥ जिसका वेग अत्यन्त तीव्र था ऐसी गरुडके पङ्खोंकी वायुसे रावणकी समस्त सेना ऐसी चञ्चल हो गई मानो हिंडोला ही झूल रही हो ॥३३७॥ गरुडकी वायुका स्पर्श होते ही पता नहीं चला कि नागबाण कहाँ चले गये। वे शरीरमें कहाँ-कहाँ बँधे थे उन स्थानोंका पता भी नहीं रहा ॥३३८॥ गरुडका आलिङ्गन होनेसे जिसके समस्त बन्धन दूर हो गये थे ऐसा इन्द्र ग्रीष्मऋतुके सूर्यके समान भयङ्कर हो गया ॥३३९॥ जब रावणने देखा कि इन्द्र नागपाशसे छूट गया है तब वह जिससे मद झर रहा था ऐसे त्रिलोकमण्डन नामक विजयी हाथी पर सवार हुआ ॥३४०॥ उधरसे इन्द्र भी क्रोधवश अपना ऐरावत हाथी रावणके निकट ले आया। तदनन्तर बहुत भारी गर्वको धारण करनेवाले दोनों हाथियोंमें महायुद्ध हुआ ॥३४१॥ जिनसे मद झर रहा था, जो चमकती हुई स्वर्णकी मालारूपी बिजलीके सहित थे, तथा जो लगातार विशाल गर्जना कर रहे थे ऐसे दोनों हाथी मेघका आकार धारण कर रहे थे ॥३४२॥ परस्परके दाँतोंके आघातसे ऐसा लगता था मानो भयङ्कर वज्र गिर रहे हों और उनसे शब्दायमान हो समस्त संसार कम्पित हो रहा हो ॥३४३॥ जिनका शरीर अत्यन्त

१. भोगिनीरत्न म० । सर्पैः । २. इन्द्रः । ३. व्यालचेष्टितः म० । ४. प्रेक्षणप्रवणं म० । ५. शक्रजालेन (?) म० । ६. जैत्रगजमित्यर्थः । जगद्विपम् म० । ७. पुरदर्पयोः म० । ८. कारणौ म० ।

दन्तिनौ दृष्टविस्पष्टतारकाक्रूरवीक्षणौ । चक्रतुः सुमहद्युद्धं स्तब्धकर्णौ महाबलौ ॥३४५॥
तत उत्पत्य विन्यस्य पादमिन्द्रेभमूर्धनि । नितान्तं लाघवोपेतपादनिर्धूतसारथिः ॥३४६॥
वस्त्रांशुकेन देवेन्द्रं मुहुराश्वासयन्विभुः । आरोपयद्दशमध्वंसो निजं वाहनमूर्जितः ॥३४७॥
राक्षसाधिपपुत्रोऽपि गृहीत्वा वासवात्मजम् । समर्प्य किङ्करौघस्य सुरसैन्यस्य संमुखः[1] ॥३४८॥
धावमानो जयोद्भूतमहोत्साहः[2] परंतपः । उक्तो द्विषंतपेनैवं मरुत्वमखविद्विषा ॥३४९॥
अलं वत्स ! प्रयत्नेन निवर्तस्व रणादरात् । शिरो गृहीतमेतस्याः सेनाया गिरिवासिनाम् ॥३५०॥
गृहीतेऽस्मिन् परिष्यन्दमत्र कः कुरुते परः । क्षुद्रा जीवन्तु सामन्ता गच्छन्तु स्थानमीप्सितम् ॥३५१॥
तन्दुलेषु गृहीतेषु ननु शालिकलापतः । त्यागस्तुषपलालस्य क्रियते कारणाद् विना ॥३५२॥
इत्युक्तः समरोत्साहादिन्द्रजिद्विनिवर्तनम् । चक्रे चक्रेण महता नृपाणां बद्धमण्डलः ॥३५३॥
ततः सुरबलं सर्वं विशीर्णं क्षणमात्रतः । शारदानामिवाब्दानां वृन्दमत्यन्तमायतम् ॥३५४॥
सैन्येन दशवक्त्रस्य जयशब्दो महान् कृतः । पटुभिः पटलैः शङ्खैर्झर्झरैर्वन्दिनां[3] गणैः ॥३५५॥
शब्देन तेन विज्ञाय गृहीतममराधिपम् । सैन्यं राक्षसनाथस्य बभूवाकुलितोज्झितम् ॥३५६॥
ततः परमया युक्तो विभूत्या कैकसीसुतः । प्रतस्थे निर्वृतो लङ्कां साधनाच्छादिताम्बरः ॥३५७॥
आदित्यरथसंकाशैरथैर्ध्वजविराजितैः । नानारत्नकरोद्भूतसुनासीरशरासनैः ॥३५८॥

चञ्चल था तथा वेग भारी था ऐसे दोनों हाथी अपनी मोटी सूँड़ोंको फैलाते सकोड़ते और ताड़ित कर रहे थे ॥३४४॥ साफ-साफ दिखनेवाली पुतलियोंसे जिनके नेत्र अत्यन्त क्रूर जान पड़ते थे, जिनके कान खड़े थे और जो महाबलसे युक्त थे ऐसे दोनों हाथियोंने बहुत भारी युद्ध किया ॥३४५॥

तदनन्तर शक्तिशाली रावणने उछलकर अपना पैर इन्द्रके हाथीके मस्तकपर रक्खा और बड़ी शीघ्रतासे पैरकी ठोकर देकर सारथिको नीचे गिरा दिया। बार-बार आश्वासन देते हुए रावणने इन्द्रको वस्त्रसे कसकर बाँध अपने हाथी पर चढ़ा लिया ॥३४६–३४७॥ उधर इन्द्रजित्ने भी जयन्तको बाँधकर किङ्करोंके लिए सौंप दिया। तदनन्तर विजयसे जिसका उत्साह बढ़ रहा था तथा जो शत्रुओंको संतप्त कर रहा था ऐसा इन्द्रजित् देवोंकी सेनाके सम्मुख दौड़ा। उसे दौड़ता देख शत्रुओंको सन्ताप पहुँचानेवाले रावणने कहा कि हे वत्स ! अब प्रयत्न करना व्यर्थ है, युद्धके आदरसे निवृत्त होओ, विजयार्धवासी लोगोंकी इस सेनाका शिर अपने हाथ लग चुका है ॥३४८–३५०॥ इसके हाथ लग चुकनेपर दूसरा कौन हलचल कर सकता है ? ये क्षुद्र-सामन्त जीवित रहें और अपने इच्छित स्थानपर जावें ॥३५१॥ जब धानके समूहसे चावल निकाल लिये जाते हैं तब छिलकोंके समूहको अकारण ही छोड़ देते हैं ॥३५२॥ रावणके इस प्रकार कहने पर इन्द्रजित् युद्धके उत्साहसे निवृत्त हुआ। उस समय राजाओंका बड़ा भारी समूह इन्द्रजित्को घेरे हुए था ॥३५३॥ तदनन्तर जिस प्रकार शरदृऋतुके बादलोंका बड़ा लम्बा समूह क्षणभरमें विशीर्ण हो जाता है उसी प्रकार इन्द्रकी सेना क्षणभरमें विशीर्ण हो गई—इधर-उधर बिखर गई ॥३५४॥ रावणकी सेनामें उत्तमोत्तम पटल, शङ्ख, झर्झर बाजे तथा बन्दीजनोंके समूहके द्वारा बड़ा भारी जयनाद किया गया ॥३५५॥ उस जयनादसे इन्द्रको पकड़ा जानकर रावणकी सेना निराकुल हो गई ॥३५६॥

तदनन्तर परम विभूतिसे युक्त रावण, सेनासे आकाशको आच्छादित करता हुआ लङ्का की ओर चला। उस समय वह बड़ा संतुष्ट था ॥३५७॥ जो सूर्यके रथके समान थे, ध्वजाओंसे सुशोभित थे और नाना रत्नोंकी किरणोंसे जिनपर इन्द्रधनुष उत्पन्न हो रहे थे ऐसे रथ उसके

१. संमुखम् म० । २. महोत्साहपरंतपः ख०, म० । महोत्साहं क० । ३. वृन्दिनां म० ।

तुरङ्गैश्चञ्चलच्चारुचामरालीविभूषितैः । नृत्यद्भिरिव विस्रब्धकृतविभ्रमहारिभिः ॥३५९॥
महानिनदसंघट्टैः प्रवृत्तमदनिर्झरैः । गर्जद्भिर्मधुरं नागैः षट्पदालीनिषेवितैः ॥३६०॥
[1]अनुयानसमारूढैर्महासाधनखेचरैः । उपकण्ठं क्षणात्प्राप लङ्कायाः[2] राक्षसाधिपः ॥३६१॥
ततो दृष्ट्वा समासन्नं गृहीतार्घा विनिर्ययुः । पुरस्य पालकाः पौरा बान्धवाश्च समुत्सुकाः ॥३६२॥
[3]कृतपूजस्ततः कैश्चित्केषाञ्चित्कृतपूजनः । नम्यमानोऽपरैः कांश्चित्प्रणमन्मदवर्जितः ३६३॥
दृष्टया सन्मानयन् कांश्चित्स्निग्धया नतवत्सलः । स्मितेन कांश्चिद्वाचान्यान्परिज्ञातजनान्तरः ॥३६४॥
[4]मनोहरां निसर्गेण [5]विशेषेण विभूषिताम्[6] । समुच्छ्रितसमुत्तुङ्गरत्ननिर्मिततोरणाम् ॥३६५॥
मन्दानिलविधूतान्तबहुवर्णध्वजाकुलाम् । कुङ्कुमादिमनोज्ञाम्बुसिक्तनिःशेषभूतलाम् ॥३६६॥
सर्वर्तुकुसुमव्याप्तराजमार्गविराजिताम् । अनेकभक्तिभिः पञ्चवर्णैश्चूर्णैरलङ्कृताम् ॥३६७॥
द्वारदेशसुविन्यस्तपूर्णकुम्भां महाद्युतिम् । सरसैः पल्लवैर्बद्धमालां वस्त्रविभूषिताम् ॥३६८॥
वृत्तो विद्याधरैर्देवैर्यथेन्द्रोऽत्यन्तभूरिभिः । सुखमासादयन् प्राज्यं पूर्वोपार्जितकर्मणा ॥३६९॥
आरूढः परमेकान्ते पुष्पके कामगामिनि । स्फुरन्मौलिमहारत्नकेयूरधरसद्भुजः ॥३७०॥

साथ थे ॥३५८॥ जो हिलते हुए सुन्दर चमरोंके समूहसे सुशोभित थे, निश्चिन्ततासे किये हुए अनेक विलासोंसे मनोहर थे तथा नृत्य करते हुएसे जान पड़ते थे ऐसे घोड़े उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥३५९॥ जिनके गलेमें विशाल शब्द करनेवाले घंटा बँधे हुए थे, जिनसे मदके निर्झरने झर रहे थे, जो मधुर गर्जना कर रहे थे तथा भ्रमरोंकी पंक्ति जिनकी उपासना कर रही थी ऐसे हाथी उसके साथ थे ॥३६०॥ इनके सिवाय अपनी-अपनी सवारियोंपर बैठे हुए बड़ी-बड़ी सेनाओंके अधिपति विद्याधर उसके साथ चल रहे थे। इन सबके साथ रावण क्षणभरमें ही लङ्काके समीप जा पहुँचा ॥३६१॥ तब रावणको निकट आया जान नगरकी रक्षा करनेवाले लोग पुरवासी और भाई-बान्धव उत्सुक हो अर्घ ले-लेकर बाहर निकले ॥३६२॥ तदनन्तर कितने ही लोगोंने रावणकी पूजा की तथा रावणने भी कितने ही वृद्धजनों की पूजा की। कितने ही लोगोंने रावणको नमस्कार किया और रावणने भी कितने ही वृद्धजनोंको मदरहित हो नमस्कार किया ॥३६३॥ लोगोंकी विशेषताको जाननेवाला तथा नम्र मनुष्योंसे स्नेह रखने वाला रावण कितने ही मनुष्योंको स्नेहपूर्ण दृष्टिसे सन्मानित करता था। कितने ही लोगोंको मन्द मुसकानसे और कितने ही लोगोंको मनोहर वचनोंसे समादृत कर रहा था ॥३६४॥

तदनन्तर जो स्वभावसे ही सुन्दर थी तथा उस समय विशेषकर सजाई गई थी, जिसमें रत्ननिर्मित बड़े ऊँचे-ऊँचे तोरण खड़े किये गये थे ॥३६५॥ जो मन्द-मन्द वायुसे हिलती हुई रंगविरंगी ध्वजाओंसे युक्त थी, केशर आदि मनोज्ञ वस्तुओंसे मिश्रित जलसे जहाँकी समस्त पृथिवी सींची गई थी ॥३६६॥ जो सब ऋतुओंके फूलोंसे व्याप्त राजमार्गोंसे सुशोभित थी, काले पीले नीले लाल हरे आदि पञ्चवर्णीय चूर्णसे निर्मित्त अनेक वेल-बूटोंसे जो अलंकृत थी ॥३६७॥ जिसके दरवाजोंपर पूर्ण कलश रक्खे गये थे, जो महाकान्तिसे युक्त थी, सरस पल्लवोंकी जिसमें बन्दनमालाएँ बाँधी गई थीं, जो उत्तमोत्तम वस्त्रोंसे विभूषित थी तथा जहाँ बहुत भारी उत्सव हो रहा था ऐसी लङ्कानगरीमें रावणने प्रवेश किया ॥३६८॥ जिस प्रकार अनेक देवोंसे इन्द्र घिरा होता है उसी प्रकार रावण भी अनेक विद्याधरोंसे घिरा था। उस समय वह अपने पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके प्रभावसे उत्तम सुखको प्राप्त हो रहा था ॥३६९॥ अत्यन्त सुन्दर तथा इच्छानुकूल गमन करनेवाले पुष्पक विमानपर सवार था। उसके मुकुटमें बड़े-बड़े रत्न

---

१. अनुयातः समारूढैः म० । २. लङ्कायां म० । ३. कृतपूजनस्ततः म० । ४. मनोहरान् ख०, ब० । ५. विशेषण- म० । ६. विभूषितान् ब०, ख० ।

दधानो वक्षसा हारं प्रस्फुरद्विमलप्रभम् । वसन्त इव संजातकुसुमौघविराजितः ॥३७१॥
वितृप्तिहर्षपूर्णाभिर्वधूभिः कृतवीक्षणः । स्वयं मृदुसमुद्धूतचामराभिः ससंभ्रमम् ॥३७२॥
नानावादित्रशब्देन जयशब्देन चारुणा । आनन्दितः सुवेश्याभिर्नृत्यन्तीभिः समन्वितः ॥३७३॥
प्रविष्टो मुदितो लङ्कां समुद्भूतमहोत्सवाम् । भवनं च निजं बन्धुभृत्यवर्गाभिवन्दितः ॥३७४॥

शिखरिणीच्छन्दः

सुसन्नद्धान् जित्वा तृणमिव समस्तानरिगणान्
पुरोपात्तात् पुण्यात् समधिगतसुप्राज्यविभवः ।
क्षयं प्राप्ते तस्मिन् विगलितरुचिर्भ्रष्टविभवो
बभूवासौ शक्रो धिगतिचपलं मानुषसुखम् ॥३७५॥
असौ प्राप्तौ वृद्धिं दशमुखखगः पूर्वचरिता-
च्छुभाद्विर्धूयालं प्रबलमहितव्रातमखिलम् ।
इति ज्ञात्वा भव्या जगति निखिलं कर्मजनितं
विमुक्तान्यासक्ता रविरुचिकरं यातु सुकृतम् ॥३७६॥

*इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते इन्द्रपराभवा-
भिधानं नाम द्वादशं पर्व ॥१२॥*

देदीप्यमान हो रहे थे तथा उसकी भुजाएँ बाजूबन्दोंसे सुशोभित थीं ॥३७०॥ जिसकी उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैल रही थी ऐसे हारको वह वक्षःस्थलपर धारण कर रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो उत्पन्न हुए फूलोंके समूहसे सुशोभित वसन्त ऋतु ही हो ॥३७१॥ जो अतृप्तिकर हर्षसे पूर्ण थीं तथा धीरे-धीरे चमर ऊपर उठा रही थीं ऐसी स्त्रियाँ हाव-भाव पूर्वक उसे देख रही थीं ॥३७२॥ वह नाना प्रकारके बाजोंके शब्द तथा मनोहर जय-जयकारसे आनन्दित हो रहा था और नृत्य करती हुई उत्तमोत्तम वेश्याओंसे सहित था ॥३७३॥ इस प्रकार उसने बड़ी प्रसन्नतासे, अनेक महोत्सवोंसे भरी लङ्कामें प्रवेश किया और बन्धुजन तथा भृत्य-समूहसे अभिनन्दित हो अपने भवनमें भी पदार्पण किया ॥३७४॥

गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि जिसने पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके प्रभावसे, सब प्रकारकी तैयारीसे युक्त समस्त शत्रुओंको तृणके समान जीतकर उत्तम वैभव प्राप्त किया था ऐसा इन्द्र विद्याधर पुण्यकर्मके क्षीण होनेपर कान्तिहीन तथा विभवसे रहित हो गया सो इस अत्यन्त चञ्चल मनुष्यके सुखको धिक्कार है ॥३७५॥ तथा विद्याधर रावण अपने पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके प्रभावसे समस्त बलवान् शत्रुओंको निर्मूल नष्ट कर वृद्धिको प्राप्त हुआ। इस प्रकार संसारके समस्त कार्य कर्म जनित हैं ऐसा जानकर हे भव्यजनो! अन्य पदार्थोंमें आसक्ति छोड़कर सूर्यके समान कान्तिको उत्पन्न करनेवाले एक पुण्य कर्मका ही संचय करो ॥३७६॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्यके द्वारा कथित पद्मचरितमें इन्द्र विद्याधरके पराभवका वर्णन करनेवाला बारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१२॥

१. आनन्दितसुवेश्याभिः म० । २. विगतरुचिप्रभ्रष्टविभवो म० ।

त्रयोदशं पर्व

ततः शक्रस्य सामन्ताः स्वामिदुःखसमाकुलाः । पुरस्कृतसहस्त्राराः[1] प्राप्ता रावणमन्दिरम् ॥१॥
प्रविष्टाश्च प्रतीहारज्ञापिता विनयान्विताः । प्रणम्य च स्थिता दत्तेष्वासनेषु यथोचितम् ॥२॥
दृष्टोऽथ गौरवेणोचे सहस्त्रारो दशाननम् । जितस्तातस्त्वया शक्रो मुञ्चेदानीं गिरा मम ॥३॥
बाह्वोः[2] पुण्यस्य चोदात्तं सामर्थ्यं दर्शितं त्वया । परगर्वापसादं हि सर्मीहन्ते नराधिपाः ॥४॥
इत्युक्ते लोकपालानां वदनेभ्यः समुत्थितः । शब्दोऽयमेव विस्पष्टः प्रतिनिःस्वनसंनिभः ॥५॥
लोकपालानथोवाच विहस्योद्भासितान्तकः । समयोऽस्ति विमुञ्चामि येन नाथं दिवौकसाम् ॥६॥
अद्य प्रभृति मे सर्वे यूयं कर्म यथोचितम् । संमार्जनादि सेवध्वं सर्वमन्तर्बहिःपुरः ॥७॥
पुरीयं साम्प्रतं कृत्या[3] भवद्भिः प्रतिवासरम् । परागाशुचिपाषाणतृणकण्टकवर्जिता ॥८॥
गृहीत्वा कुम्भमिन्द्रोऽपि वारिणा मोदचारुणा । महीं सिञ्चतु कर्मेदमस्य लोके प्रकीर्त्यते ॥९॥
पञ्चवर्णैश्च कुर्वन्तु पुष्पैर्गन्धमनोहरैः । संभ्रान्ताः प्रकरं देव्यः सर्वालङ्कारभूषिताः ॥१०॥
समयेनामुना युक्ता यदि तिष्ठन्ति सादराः । विमुञ्चामि ततः शक्रं कुतो निर्मुक्तिरन्यथा ॥११॥
इत्युक्त्वा वीक्षमाणोऽसौ लोकपालांस्त्रपानतान् । जहास मुहुराप्तानां ताडयन् पाणिना करम् ॥१२॥
ततो विनयनम्रः सन् सहस्त्रारमवोचत । सभाहृदयहारिण्या क्षरन्निव गिरामृतम् ॥१३॥
यथा तात प्रतीक्ष्यस्त्वं वासवस्य तथा मम । अधिकं वा ततः कुर्यां कथमाज्ञाविलङ्घनम्[4] ॥१४॥

अथानन्तर स्वामीके दुःखसे आकुल इन्द्रके सामन्त, सहस्त्रारको आगे कर रावणके महलमें पहुँचे ॥१॥ द्वारपालके द्वारा समाचार देकर बड़ी विनयसे सबने भीतर प्रवेश किया और सब प्रणाम कर दिये हुए आसनोंपर यथायोग्य रीतिसे बैठ गये ॥२॥ तदनन्तर रावणने सहस्त्रारकी ओर बड़े गौरवसे देखा। तब सहस्त्रार रावणसे बोला कि तूने मेरे पुत्र इन्द्रको जीत लिया है अब मेरे कहनेसे छोड़ दे ॥३॥ तूने अपनी भुजाओं और पुण्यकी उदार महिमा दिखलाई सो ठीक ही है क्योंकि राजा दूसरेका अहंकार नष्ट करने की ही चेष्टा करते हैं ॥४॥ सहस्त्रारके ऐसा कहने पर लोकपालोंके मुखसे भी यही शब्द निकला सो मानो उसके शब्द की प्रतिध्वनि ही निकली थी ॥५॥तदनन्तर रावणने हँसकर लोकपालोंसे कहा कि एक शर्त है उस शर्तसे ही मैं इन्द्रको छोड़ सकता हूँ ॥६॥ वह शर्त यह है कि आजसे लेकर तुम सब, मेरे नगरके भीतर और बाहर बुहारी देना आदि जो भी कार्य हैं उन्हें करो ॥७॥ अब आप सबको प्रतिदिन ही यह नगरी धूलि, अशुचिपदार्थ, पत्थर, तृण तथा कण्टक आदिसे रहित करनी होगी ॥८॥ तथा इन्द्र भी घड़ा लेकर सुगन्धित जलसे पृथिवी सींचे। लोकमें इसका यही कार्य प्रसिद्ध है ॥९॥ और सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित इनकी संभ्रान्त देवियाँ पञ्चवर्णके सुगन्धित फूलोंसे नगरी को सजावें ॥१०॥ यदि आपलोग आदरके साथ इस शर्तसे युक्त होकर रहना चाहते हैं तो इन्द्रको अभी छोड़े देता हूँ। अन्यथा इसका छूटना कैसे हो सकता है? ॥११॥ इतना कह रावण लज्जासे झुके हुए लोकपालोंकी ओर देखता तथा आप्तजनोंके हाथको अपने हाथमें ताडित करता हुआ बार-बार हँसने लगा ॥१२॥

तदनन्तर उसने विनयावनत होकर सहस्त्रारसे कहा। उस समय रावण सभाके हृदयको हरने वाली अपनी मधुर वाणीसे मानो अमृत ही झरा रहा था ॥१३॥ उसने कहा कि हे तात! जिस प्रकार आप इन्द्रके पूज्य हैं उसी प्रकार मेरे भी पूज्य हैं, बल्कि उससे भी अधिक।

१. पुरस्कृत्य ब० । २. बह्वोः ख० । ३. कृत्वा म० । ४. महं न ते म० ।

गुरवः परमार्थेन यदि न स्युर्भवादृशाः। अधस्ततो धरित्रीयं व्रजेन्मुक्ता धरैरिव ॥१५॥
पुण्यवानस्मि यत्पूज्यो ददाति मम शासनम्। भवद्विधनियोगानां न पदं पुण्यवर्जिताः[1] ॥१६॥
तदद्यारभ्य संचिन्त्य मनोज्ञं क्रियतां तथा। यथा शक्रस्य सौस्थित्यं जायते मम च प्रभो ॥१७॥
अयं शक्रो मम भ्राता तुरीयः साम्प्रतं बली। एनं प्राप्य करिष्यामि पृथिवीं वीतकण्टकाम् ॥१८॥
लोकपालास्तथैवास्य तच्च राज्यं यथा पुरा। ततोऽधिकं वा गृह्णातु विवेकेन किमावयोः ॥१९॥
आज्ञा च मम शक्रे वा दातव्या कृत्यवस्तुनि[2]। गुरुभिः सा हि शेषेव रत्नालङ्कारकारणम्[3] ॥२०॥
आस्यतामिह वा च्छन्दादथवा रथनूपुरे[4]। यत्र वेच्छत का भूमिर्भृत्ययोरावयोर्मता[5] ॥२१॥
इति प्रियवचोवारिसमार्द्रीकृतमानसः। अवोचत सहस्रारस्ततोऽपि मधुरं वचः[6] ॥२२॥
नूनं भद्र समुत्पत्तिः सज्जनानां[7] भवादृशाम्। सममेव गुणैः सर्वलोकाह्लादनकारिभिः ॥२३॥
आयुष्मन्नस्य शौर्यस्य विनयोऽयं तवोत्तमः। अलंकारसमस्तेऽस्मिन् भुवने श्लाघ्यतां गतः ॥२४॥
भवतो दर्शनेनेदं जन्म मे सार्थकं कृतम्। पितरौ पुण्यवन्तौ तौ त्वया यौ कारणीकृतौ ॥२५॥
क्षमावता समर्थेन कुन्दनिर्मलकीर्तिना। दोषाणां संभवाशङ्का त्वया दूरमपाकृता ॥२६॥
एवमेतद्यथा वक्षि[8] सर्वं संपद्यते[9] त्वयि। ककुप्करिकराकारौ कुरुतः[10] किं न ते भुजौ ॥२७॥
किन्तु मातेव नो शक्या त्यक्तुं जन्मवसुन्धरा। सा हि क्षणाद्वियोगेन कुरुते चित्तमाकुलम् ॥२८॥

इसलिए मैं आपकी आज्ञाका उल्लंघन कैसे कर सकता हूँ ? ॥१४॥ यदि यथार्थमें आप जैसे गुरुजन न होते तो यह पृथिवी पर्वतोंसे छोड़ी गई के समान रसातलको चली जाती ॥१५॥ चूँकि आप जैसे पूज्यपुरुष मुझे आज्ञा दे रहे हैं अतः मैं पुण्यवान् हूँ। यथार्थमें आप जैसे पुरुषोंकी आज्ञाके पात्र पुण्यहीन मनुष्य नहीं हो सकते ॥१६॥ इसलिए हे प्रभो ! आज आप विचार कर ऐसा उत्तम कार्य कीजिए जिससे इन्द्र और मुझमें सौहार्द उत्पन्न हो जाय। इन्द्र सुखसे रहे और मैं भी सुखसे रह सकूँ ॥१७॥ यह बलवान् इन्द्र मेरा चौथा भाई है, इसे पाकर मैं पृथ्वीको निष्कण्टक कर दूँगा ॥१८॥ इसके लोकपाल पहलेकी तरह ही रहें तथा इसका राज्य भी पहलेकी तरह ही रहे अथवा उससे भी अधिक ले ले। हम दोनोंमें भेदकी आवश्यकता ही क्या है ? ॥१९॥ आप जिस प्रकार इन्द्रको आज्ञा देते हैं उसी प्रकार मुझमें करने योग्य कार्यकी आज्ञा देते रहें क्योंकि गुरुजनोंकी आज्ञा ही शेषाक्षतकी तरह रक्षा एवं शोभाको करनेवाली है ॥२०॥ आप अपने अभिप्रायके अनुसार यहाँ रहें अथवा रथनूपुर नगरमें रहें अथवा जहाँ इच्छा हो वहाँ रहे। हम दोनों आपके सेवक हैं हमारी भूमि ही कौन है ? ॥२१॥ इस प्रकारके प्रियवचन रूपी जलसे जिसका मन भींग रहा था ऐसा सहस्रार रावणसे भी अधिक मधुर वचन बोला ॥२२॥

उसने कहा कि हे भद्र ! आप जैसे सज्जनोंकी उत्पत्ति समस्त लोगोंको आनन्दित करनेवाले गुणोंके साथ ही होती है ॥२३॥ हे आयुष्मन् ! तुम्हारी यह उत्तम विनय इस संसारमें प्रशंसाको प्राप्त है तथा तुम्हारी इस शूरवीरताके आभूषणके समान है ॥२४॥ आपके दर्शनने मेरे इस जन्मको सार्थक कर दिया। वे माता-पिता धन्य हैं जिन्हें तूने अपनी उत्पत्तिमें कारण बनाया है ॥२५॥ जो समर्थ होकर भी क्षमावान् है, तथा जिसकी कीर्ति कुन्दके फूलके समान निर्मल है ऐसे तूने दोषोंके उत्पन्न होनेकी आशङ्का दूर हटा दी है ॥२६॥ तू जैसा कह रहा है वह ऐसा ही है। तुझमें सर्व कार्य सम्भव हैं। दिग्गजोंकी सूँडके समान स्थूल तेरी भुजाएँ क्या नहीं कर सकती हैं ॥२७॥ किन्तु जिस प्रकार माता नहीं छोड़ी जा सकती उसी प्रकार जन्मभूमि भी नहीं

---

१. पुण्यवर्जितः म०। २. भृत्यवस्तुनि म०। ३. रक्ष्यालंकार- म०। ४. सच्छन्दा म०। ५. नते म०। मते क०, ब०। ६. तातोऽपि माधुरं वचः म०। ७. सुजनानां ख०। ८. कथयसि। ९. संपाद्यते म०। १०. किन्तु म०।

अशक्ताः स्वभुवं त्यक्तुं तत्र नो मित्रबान्धवाः । चातका इव सोत्कण्ठास्तिष्ठन्त्यध्वावलोकिनः ॥२९॥
कुलक्रमसमायातां सेवमानो [1]गुणालय । लङ्कां यासि परां प्रीतिं [2]जन्मभूमेः किमुच्यताम् ॥३०॥
तस्मात्तामेव गच्छामो [3]महाभोगोद्भवावनिम् । देवानांप्रिय निर्विघ्नं रक्षताद्भुवनं चिरम् ॥३१॥
इत्युक्त्वानुगतो दूरं कैलासक्षोभकारिणा । सहस्रारो गतः सेन्द्रो लोकपालैः समं गिरिम् ॥३२॥
यथास्वं च स्थिताः सर्वे पूर्ववल्लोकपालिनः । भङ्गादसारतां प्राप्ताश्चलयन्त्रमया इव ॥३३॥
विजयार्धजलोकेन दृश्यमाना महात्रपाः । नाज्ञासिषुः क गच्छाम इति भोगद्विषः सुराः ॥३४॥
इन्द्रोऽपि न पुरे प्रीतिं लेभे नोद्यानभूमिषु । न दीर्घिकासु राजीवरजःपिञ्जरवारिषु ॥३५॥
न दृष्टिमपि कान्तासु चक्रे प्रगुणवर्तिनीम् । तनौ तु संकला कैव त्रपानिर्भरचेतसः ॥३६॥
[4]अथाप्युद्विग्नमानस्य तस्य लोकोऽनुवर्तनम् । चकारान्यकथासङ्गैः कुर्वन् भङ्गस्य विस्मृतिम् ॥३७॥
अथैकस्तम्भमूर्धस्थे स्वसद्मान्तरवर्तिनि । गन्धमादनशृङ्गाभे स्थितो जिनवरालये ॥३८॥
बुधैः परिवृतो दध्याविति शक्रो निरादरम् । [5]वहन्नङ्गं गतच्छायं स्मरन् भङ्गमनारतम् ॥३९॥
धिग्विद्यागोचरैश्वर्यं विलीनं यदिति क्षणात् । शारदानामिवाब्दानां वृन्दमत्यन्तमुन्नतम् ॥४०॥
तानि शस्त्राणि ते नागास्ते भटास्ते तुरङ्गमाः । सर्वं तृणसमं जातं मम पूर्वं कृताद्भुतम् ॥४१॥

छोड़ी जा सकती क्योंकि वह क्षणभरके वियोगसे चित्तको आकुल करने लगती है ॥२८॥ हम अपनी भूमिको छोड़नेके लिए असमर्थ हैं क्योंकि वहाँ हमारे मित्र तथा भाई-बान्धव चातककी तरह उत्कण्ठासे युक्त हो मार्ग देखते हुए स्थित होंगे ॥२९॥ हे गुणालय ! आप भी तो अपनी कुल-परम्परासे चली आई लङ्काकी सेवा करते हुए परम प्रीतिको प्राप्त हो रहे हैं सो बात ही ऐसी है जन्म भूमिके विषयमें क्या कहा जाय ? ॥३०॥ इसलिए हम जहाँ महाभोगोंकी उत्पत्ति होती है अपनी उसी भूमिको जाते हैं। हे देवोंके प्रिय ! तुम चिर काल तक संसारकी रक्षा करो ॥३१॥

इतना कहकर सहस्रार इन्द्र नामा पुत्र तथा लोकपालोंके साथ विजयार्ध पर्वतपर चला गया। रावण भेजनेके लिए कुछ दूर तक उसके साथ गया ॥३२॥ सब लोकपाल पहलेकी तरह ही अपने-अपने स्थानोंपर रहने लगे परन्तु पराजयके कारण निःसार हो गये और चलते फिरते यन्त्रके समान जान पड़ने लगे ॥३३॥ बहुत भारी लज्जासे भरे देव लोगोंकी ओर जब विजयार्ध वासी लोग देखते थे तब वे यह नहीं जान पाते थे कि हम कहाँ जा रहे हैं ? इस तरह देव लोग सदा भोगोंसे उदास रहते थे ॥३४॥ इन्द्र भी न नगरमें, न बागबगीचोंमें, और न कमलोंकी परागसे पीले जलवाली वापिकाओंमें ही प्रीतिको प्राप्त होता था अर्थात् पराजयके कारण उसे कहीं अच्छा नहीं लगता था ॥३५॥ अब वह स्त्रियोंपर भी अपनी सरल दृष्टि नहीं डालता था फिर शरीरकी तो गिनती ही क्या थी ? उसका चित्त सदा लज्जासे भरा रहता था ॥३६॥ यद्यपि लोग अन्यान्य कथाओंके प्रसङ्ग छेड़कर उसके पराजय सम्बन्धी दुःखको भुला देनेके लिए सदा अनुकूल चेष्टा करते थे तो भी उसका चित्त स्वस्थ नहीं होता था ॥३७॥

अथानन्तर एक दिन इन्द्र, अपने महलकी भीतर विद्यमान, एक खम्भेके अग्रभागपर स्थित, गन्धमादन पर्वतके शिखरके समान सुशोभित जिनालयमें बैठा था ॥३८॥ विद्वान् लोग उसे घेरकर बैठे थे। वह निरन्तर पराजयका स्मरण करता हुआ शरीरको निरादर भावसे धारण कर रहा था। बैठे-बैठे ही उसने इस प्रकार विचार किया कि ॥३९॥ विद्याओंसे सम्बन्ध रखनेवाले इस ऐश्वर्यको धिक्कार है जो कि शरद् ऋतुके बादलोंके अत्यन्त उन्नत समूहके समान क्षणभरमें विलीन हो गया ॥४०॥ वे शस्त्र, वे हाथी, और वे योद्धा, और वे घोड़े जो कि

---

१. गुणाल्यां ख० । गुणालयः म० । २. जन्मभूमिः म० । ३. महाभागो भवावनिम् म० । ४. अथाप्युद्विग्नमनसस्तस्य ख० । ५. वदन्नङ्गं म० ।

अथवा कर्मणामेतद्वैचित्र्यं कोऽन्यथा नरः । कर्तुं शक्नोति तेषां हि सर्वमन्यद्बलाधरम् ॥४२॥
नूनं पुराकृतं कर्म भोगसम्पादनक्षमम् । परिक्षयं मम प्राप्तं येनैषा वर्तते दशा ॥४३॥
वरं समर एवास्मिन्मृतः स्याच्छत्रुसंकटे । नाकीर्तिर्यत्र जायेत सर्वविष्टपगामिनी ॥४४॥
चरणं शिरसि न्यस्य शत्रूणां येन जीवितम् । शत्रुणानुमतां सोऽहं सेवे लक्ष्मीं कथं हरिः ॥४५॥
परित्यज्य सुखे तस्मादभिलाषं [२]भवोद्भवे । निश्रेयसं[३]पदप्राप्तिकारणानि भजाम्यहम् ॥४६॥
रावणो मे महाबन्धुरागतः शत्रुवेषभृत् । येनासारसुखास्वादसक्तोऽस्मि परिबोधितः ॥४७॥
अत्रान्तरे मुनिः प्राप्तो नाम्ना निर्वाणसङ्गमः । विहरन् क्वापि योग्यानि स्थानानि गुणवाससाम् ॥४८॥
सहसा व्रजतस्तस्य गतिः[४] स्तम्भमुपागता । प्रणिधाय ततश्चक्षुरधोऽसौ चैत्यमैक्षत ॥४९॥
प्रत्यक्षज्ञानसम्पन्नस्तस्मिंश्च जिनपुङ्गवम् । वन्दितुं नभसः शीघ्रमवतीर्णो महायतिः ॥५०॥
संतोषेण च शक्रेण कृताभ्युत्थानपूजनः । चक्रे जिननमस्कारं विधिना यतिसत्तमः ॥५१॥
आसीनस्य ततो जोषं वन्दित्वा चरणौ मुनेः । पुरः स्थित्वा हरिश्चक्रे चिरमात्मनिगर्हणम् ॥५२॥
सर्वसंसारवृत्तान्तवेदनात्यन्तकोविदैः । मुनिना परमैर्वाक्यैः [५]परिसान्त्वनमाहृतः ॥५३॥
अपृच्छत् स भवं पूर्वमात्मनो मुनिपुङ्गवम् । स चेत्यकथयत्तस्मै गुणग्रामविभूषितः ॥५४॥
चतुर्गतिगतानेकयोनिदुःखमहावने । भ्राम्यन् शिखापदाभिख्ये नगरे मानुषीं गतिम् ॥५५॥
प्राप्तो [६]जीवः कुले जातो [७]दरिद्रे स्त्रैणसंगतः । [८]कुलवान्तेति विख्याता नामार्थेन समागतम् ॥५६॥

पहले मुझे आश्चर्य उत्पन्न करते थे आज सबके सब तृणके समान तुच्छ जान पड़ते हैं ॥४१॥ अथवा कर्मोंकी इस विचित्रताको अन्यथा करनेके लिए कौन मनुष्य समर्थ है ? यथार्थमें अन्य सब पदार्थ कर्मोंके बलसे ही बल धारण करते हैं ॥४२॥ निश्चय ही मेरा पूर्वसंचित पुण्यकर्म जो कि नाना भोगोंकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है परिक्षीण हो चुका है इसीलिए तो यह अवस्था हो रही है ॥४३॥ शत्रुके संकटसे भरे युद्धमें यदि मर ही जाता तो अच्छा होता क्योंकि उससे समस्त लोकमें फैलने वाली अपकीर्ति तो उत्पन्न नहीं होती ॥४४॥ जिसने शत्रुओंके शिरपर पैर रखकर जीवन बिताया वह मैं अब शत्रु द्वारा अनुमत लक्ष्मीका कैसे उपभोग करूँ ? ॥४५॥ इसलिए अब मैं संसार सम्बन्धी सुखकी अभिलाषा छोड़ मोक्षपदकी प्राप्तिके जो कारण हैं उन्हींकी उपासना करता हूँ ॥४६॥ शत्रुके वेशको धारण करने वाला रावण मेरा महाबन्धु बन कर आया था जिसने कि इस असार सुखके स्वादमें लीन मुझको जागृत कर दिया ॥४७॥

इसी बीचमें गुणी मनुष्योंके योग्य स्थानोंमें विहार करते हुए निर्वाणसंगम नामा चारण-ऋद्धि धारी मुनि वहाँ आकाशमार्गसे जा रहे थे ॥४८॥ सो चलते-चलते उनकी गति सहसा रुक गई । तदनन्तर उन्होंने जब नीचे दृष्टि डाली तो मन्दिरके दर्शन हुए ॥४९॥ प्रत्यक्ष ज्ञानके धारी महामुनि मन्दिरमें विराजमान जिन-प्रतिमा की वन्दना करनेके लिए शीघ्र ही आकाशसे नीचे उतरे ॥५०॥ राजा इन्द्रने बड़े संतोषसे उठकर जिनकी पूजा की थी ऐसे उन मुनिराजने विधि-पूर्वक जिनप्रतिमाको नमस्कार किया ॥५१॥ तदनन्तर जब मुनिराज जिनेन्द्रदेवकी वन्दना कर चुप बैठ गये तब इन्द्र उनके चरणोंको नमस्कार कर सामने बैठ गया और अपनी निन्दा करने लगा ॥५२॥ मुनिराजने समस्त संसारके वृत्तान्तका अनुभव करानेमें अतिशय निपुण उत्कृष्ट वचनोंसे उसे संतोष प्राप्त कराया ॥५३॥

अथानन्तर इन्द्रने मुनिराजसे अपना पूर्वभव पूछा सो गुणोंके समूहसे विभूषित मुनिराज उसके लिए इस प्रकार पूर्वभव कहने लगे ॥५४॥ हे राजन् ! चतुर्गति सम्बन्धी अनेक योनियोंके

१. सर्वमन्यद्बलाद्वरम् क० । २. भवेद्भुवि म० । ३. निश्रेयसः म० । ४. गतिस्तम्भ- म० । ५. परिशान्तत्व ख० । ६. जीवं म० । ७. दरिद्रस्त्रैण म० । ८. कुलं कान्तेति म० ।

सा [1]चिल्ला चिपिटा[2] व्याधिशतसंकुलविग्रहा । कथंचित्कर्मसंयोगाल्लोकोच्छिष्टेन जीविता ॥५७॥
दुश्चेला दुर्भगा रूक्षा स्फुटिताङ्गा कुमूर्धजा । उत्त्रास्यमाना लोकेन लेभे सा शर्म न क्वचित् ॥५८॥
मुहूर्तं परिवर्ज्यान्नं शरीरं च सुमानसा । जाता किंपुरुषस्य स्त्री क्षीरधारेति नामतः ॥५९॥
च्युता च रत्ननगरे धरणीगोमुखाख्ययोः । विप्रस्सहस्रभागाख्यां तनयोऽभूत्कुटुम्बिनोः ॥६०॥
लब्ध्वा परमसम्यक्त्वमणुव्रतसमन्वितः । पञ्चतां प्राप्य शुक्राह्वे जातो विबुधसत्तमः ॥६१॥
च्युतो महाविदेहेऽथ नगरे रत्नसंचये । गुणावल्यां मणेर्जातोऽमात्यात् सामन्तवर्द्धनः ॥६२॥
निष्क्रान्तो विभुना सार्धं महाव्रतधरोऽभवत् । अतितीव्रतया नित्यं तत्त्वार्थगतमानसः ॥६३॥
परीषहगणस्यालं सोढा निर्मलदर्शनः । कषायरहितः प्रेत्य परं ग्रैवेयकं गतः ॥६४॥
अहमिन्द्रैः[3] परं सौख्यं तत्र भुक्त्वा चिरं च्युतः । जातो हृदयसुन्दर्यां सहस्राराख्यखेचरात् ॥६५॥
पूर्वाभ्यासेन शक्रस्य सुखे संसक्तमानसः । इन्द्रस्त्वं खेचराधीशो नगरे रथनूपुरे ॥६६॥
स त्वमिन्द्र विषण्णः किं वृथैव परितप्यसे । विद्याधिको जितोऽस्मीति वहन्नात्मन्यनादरम् ॥६७॥
[4]निर्बुद्धे ! कोद्रवानुप्त्वा शालीन् प्रार्थयसे वृथा । कर्मणामुचितं तेषां जायते प्राणिनां फलम् ॥६८॥
क्षीणं पुराकृतं कर्म तव भोगस्य साधनम् । हेतुना न विना कार्यं भवतीति किमद्भुतम् ॥६९॥

दुःखरूपी महावनमें भ्रमण करता हुआ एक जीव शिखापदनामा नगरमें मनुष्य गतिको प्राप्त हो दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुआ। वहाँ स्त्री पर्यायसे युक्त हो वह जीव 'कुलवान्ता' इस सार्थक नामको धारण करनेवाला हुआ ॥५५-५६॥ कुलवान्ताके नेत्र सदा कींचरसे युक्त रहते थे, उसकी नाक चपटी थी और उसका शरीर सैकड़ों बीमारियोंसे युक्त था। इतना होने पर भी उसके भोजनका ठिकाना नहीं था वह कर्मोदयके कारण जिस किसी तरह लोगोंकी जूँठन खाकर जीवित रहती थी ॥५७॥ उसके वस्त्र अत्यन्त मलिन थे, दौर्भाग्य उसका पीछा कर रहा था, सारा शरीर अत्यन्त रूक्ष था, हाथ पैर आदि अङ्ग फटे हुए थे, और खोटे केश बिखरे हुए थे। वह जहाँ जाती थी वहीं लोग उसे तंग करते थे इस तरह वह कहीं भी सुख नहीं प्राप्त कर सकती थी ॥५८॥ अन्त समय शुभमति हो उसने एक मुहूर्तके लिए अन्नका त्याग कर अनशन धारण किया जिससे शरीर त्यागकर किंपुरुषनामा देवकी क्षीरधारा नामकी स्त्री हुई ॥५९॥ वहाँसे च्युत होकर रत्नपुर नगरमें धरणी और गोमुख नामा दम्पतीके सहस्रभाग नामक पुत्र हुआ ॥६०॥ वहाँ उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन प्राप्तकर अणुव्रतोंका धारी हुआ और अन्तमें मरकर शुक्र नामा स्वर्गमें उत्तम देव हुआ ॥६१॥ वहाँसे च्युत होकर महाविदेह क्षेत्रके रत्नसंचयनामा नगरमें मणिनामक मन्त्रीकी गुणावली नामक स्त्रीसे सामन्तवर्धन नामक पुत्र हुआ ॥६२॥ सामन्तवर्धन अपने राजाके साथ विरक्त हो महाव्रतका धारक हुआ। वहाँ उसने अत्यन्त कठिन तपश्चरण किया, तत्त्वार्थके चिन्तनमें निरन्तर मन लगाया, अच्छी तरह परीषह सहन किये, निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और कषायों पर विजय प्राप्त की। अन्त समय मर कर वह ग्रैवेयक गया सो अहमिन्द्र होकर चिरकाल तक वहाँके सुख भोगता रहा। अन्त समयमें वहाँसे च्युत हो रथनूपुर नगरमें सहस्रारनामक विद्याधरकी हृदयसुन्दरी रानीसे इन्द्र नामको धारण करनेवाला तू विद्याधरोंका राजा हुआ है। पूर्व अभ्यासके कारण ही तेरा मन इन्द्रके सुखमें लीन रहा है ॥६३-६६॥ सो हे इन्द्र ! *मैं विद्याओंसे युक्त होता हुआ भी शत्रुसे हार गया हूँ*, इस प्रकार अपने आपके विषयमें अनादरको धारण करता हुआ तू विषादयुक्त हो व्यर्थ ही क्यों सन्ताप कर रहा है ॥६७॥ अरे निर्बुद्धि ! तू कोदों बोकर धानकी व्यर्थ ही इच्छा करता है। प्राणियोंको सदा कर्मोंके अनुकूल ही फल प्राप्त होता है ॥६८॥ तुम्हारे भोगोपभोगका साधन जो पूर्वोपार्जित कर्म था वह अब

1. क्लिन्ने चक्षुषी यस्याः सा चिल्ला 'क्लिन्नस्य चिल् पिल् लश्चास्य चक्षुषी' इति वार्तिकम्। 2. नता नासिका यस्याः सा चिपिटा 'इनच् पिटच्चिक चि च' इति सूत्रम्। 3. अहमिन्द्र परं म०। 4. निर्बुद्धि -म०।

निमित्तमात्रमेतस्मिन् रावणस्ते पराभवे । जन्मन्यत्रैव यत्कर्म कृतं तेनैव लम्भितम् ॥७०॥
किं न स्मरसि यत्पूर्वं क्रीडता दुर्नयं कृतम् । ऐश्वर्यजनितो भ्रष्टो मदस्ते स्मर साम्प्रतम् ॥७१॥
चिरवृत्ततया बुद्धौ वृत्तान्तस्ते [1]स्वयं कृतः । नारोहति यतस्तस्माच्छृण्वेकाग्रचेतसा ॥७२॥
अरिञ्जयपुरे वह्निवेगाख्यः खेचरोऽभवत् । स्वयंवरार्थमा[2]हल्यां चक्रे वेगवतीसुताम् ॥७३॥
तत्र विद्याधराः सर्वे यथाविभवशोभिताः । समागताः परित्यज्य [3]श्रेण्यावत्यन्तमुत्सुकाः ॥७४॥
भवानपि गतस्तत्र युक्तः परमसंपदा । अन्यश्चानन्दमालाख्यश्चन्द्रावर्तपुराधिपः ॥७५॥
संत्यज्य खेचरान् सर्वान् पूर्वकर्मानुभावतः । कन्ययानन्दमालोऽसौ वृतः सर्वाङ्गकान्तया ॥७६॥
परिणीय स तां भोगान् प्राप चिन्तितसंगतान्[4] । यथामराधिपः स्वर्गे प्रतिवासरवर्द्धिनः ॥७७॥
ततः प्रभृति कोपेन [5]त्वमीर्ष्याजेन भूरिणा । गृहीतो वैरितामस्य संप्राप्तोऽतिगरीयसीम् ॥७८॥
ततोऽस्य सहसा बुद्धिरियं जाता स्वकर्मतः । देहोऽयमध्रुवः किंचित्कृत्यमेतेन नो मम ॥७९॥
तपः करोमि संसारदुःखं येन विनश्यति । का वा भोगेषु प्रत्याशा विप्रलम्भनकारिषु ॥८०॥
अवधार्येदमत्यन्तं विबुद्धेनान्तरात्मना । त्यक्त्वा परिग्रहं सर्वं चचार परमं तपः ॥८१॥
हंसावलीनदीतीरे स्थितः प्रतिमयान्यदा । स त्वया प्रत्यभिज्ञातो रथावर्तमहीधरे ॥८२॥
दर्शनेन्धनसंवृद्धपूर्वक्रोपाग्निना ततः । त्वयासौ [6]कुर्वता नर्म गर्वेण हसितो मुहुः ॥८३॥

क्षीण हो गया है सो कारणके बिना कार्य नहीं होता है इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥६९॥ तेरे इस पराभवमें रावण तो निमित्तमात्र है। तूने इसी जन्ममें कर्म किये हैं उन्हींसे यह पराभव प्राप्त हुआ है ॥७०॥ तूने पहले क्रीड़ा करते समय जो अन्याय किया है उसका स्मरण क्यों नहीं करता है ? ऐश्वर्यसे उत्पन्न हुआ तेरा मद चूँकि अब नष्ट हो चुका है इसलिए अब तो पिछली बातका स्मरण कर ॥७१॥ जान पड़ता है कि बहुत समय हो जानेके कारण वह वृत्तान्त स्वयं तेरी बुद्धिमें नहीं आ रहा है इसलिए एकाग्रचित्त होकर सुन, मैं कहता हूँ ॥७२॥

अरिंजयपुर नगरमें वह्निवेग नामा विद्याधर राजा था सो उसने वेगवती रानीसे उत्पन्न आहल्या नामक पुत्रीका स्वयंवर रचा था ॥७३॥ उत्सुकतासे भरे तथा यथा योग्य वैभवसे शोभित समस्त विद्याधर उत्तर दक्षिण श्रेणी छोड़-छोड़कर उस स्वयंवरमें आये थे ॥७४॥ उत्कृष्ट सम्पदासे युक्त होकर आप भी वहाँ गये थे तथा चन्द्रावर्त नगरका राजा आनन्दमाल भी वहाँ आया था ॥७५॥ सर्वांगसुन्दरी कन्याने पूर्व कर्मके प्रभावसे समस्त विद्याधरोंको छोड़कर आनन्दमालको वरा ॥७६॥ सो आनन्दमाल उसे विवाहकर इच्छा करते ही प्राप्त होनेवाले भोगोंका उस तरह उपभोग करने लगा जिस तरह कि इन्द्र स्वर्गमें प्रति दिन वृद्धिको प्राप्त होनेवाले भोगोंका उपभोग करता है ॥७७॥ ईर्ष्याजन्य बहुत भारी क्रोधके कारण तू उसी समयसे उसके साथ अत्यधिक शत्रुता करने लगा ॥७८॥ तदनन्तर कर्मोंकी अनुकूलताके कारण आनन्दमाल को सहसा यह बुद्धि उत्पन्न हुई कि यह शरीर अनित्य है अतः इससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥७९॥ मैं तो तप करता हूँ जिससे संसार सम्बन्धी दुःखका नाश होगा। धोखा देनेवाले भोगोंमें क्या आशा रखना है ? ॥८०॥ प्रबोधको प्राप्त हुई अन्तरात्मासे ऐसा विचारकर उसने सर्व परिग्रहका त्यागकर उत्कृष्ट तप धारण कर लिया ॥८१॥

एक दिन हंसावली नदीके किनारे रथावर्त नामा पर्वतपर वह प्रतिमा योगसे विराजमान था सो तूने पहिचान लिया ॥८२॥ दर्शनरूपी ईन्धनसे जिसकी पिछली क्रोधाग्नि भड़क उठी

१. त्वया म० । २. साहल्यां ख० । ३. श्रेण्यामत्यन्त म० । ४. संगता म० । ५. त्वमीर्ष्या येन ख०, म०, ब० । ६. कुर्वतां म० ।

आहल्यारमणः स त्वं कामभोगातिवत्सलः । अधुना किं स्थितोऽस्येवमिति भाषणकारिणा ॥८४॥
वेष्टितो रज्जुभिः क्षोणीधरनिष्कम्पविग्रहः । तत्त्वार्थचिन्तनासक्तनितान्तस्थिरमानसः ॥८५॥
दृष्ट्वाभिभूयमानं तं त्वयास्य निकटस्थितः । कल्याणसंज्ञको भ्राता साधुः क्रोधेन दुःखितः ॥८६॥
संहृत्य प्रतिमायोगमृद्धिप्राप्तः स ते ददौ । शापमेवमलं दीर्घं निश्वस्योष्णं च दुःखितः ॥८७॥
अयं निरपराधः संस्त्वया यन्मुनिपुङ्गवः । तिरस्कृतस्तदत्यन्तं तिरस्कारमवाप्स्यसि ॥८८॥
निश्वासेनामितेनासीद्‌भस्मैव निरूपितः । सर्वश्रीसंज्ञया किन्तु शामितस्तव कान्तया ॥८९॥
सम्यग्दृष्टिरलं सा हि साधुपूजनकारिणी । मुनयोऽपि [1]वचस्तस्याः कुर्वते साधुचेतसः ॥९०॥
यदि नाम तया साध्व्या नासौ नीतः शमं भवेत् । ततस्तस्य स कोपाग्निः केन शक्येन वारितुम् ॥९१॥
लोकत्रयेऽपि तन्नास्ति तपसा यन्न साध्यते । बलानां हि समस्तानां स्थितं मूर्ध्नि तपोबलम् ॥९२॥
न सा त्रिदशनाथस्य शक्तिः कान्तिर्द्युतिर्धृतिः । तपोधनस्य या साधोर्यथाभिमतकारिणः ॥९३॥
विधाय साधुलोकस्य तिरस्कारं जना महत् । दुःखमत्र प्रपद्यन्ते तिर्यक्षु नरकेषु च ॥९४॥
मनसापि हि साधूनां पराभूतिं करोति यः । तस्य सा परमं दुःखं परत्रेह च यच्छति ॥९५॥
यस्त्वाक्रोशति निर्ग्रन्थं हन्ति वा क्रूरमानसः । तत्र किं शक्यते वक्तुं जन्तौ दुष्कृतकर्मणि ॥९६॥
कायेन मनसा वाचा यानि कर्माणि मानवाः । कुर्वते तानि यच्छन्ति निकटानि फलं ध्रुवम् ॥९७॥
कर्मणामिति विज्ञाय पुण्यापुण्यात्मिकां गतिम् । दृढां कृत्वा मतिं धर्मे स्वमुत्तारय दुःखतः ॥९८॥

थी ऐसे तूने क्रीड़ा करते हुए अहंकारवश उसकी बार-बार हँसी की थी ॥८३॥ तू कह रहा था कि अरे! तू तो कामभोगका अतिशय प्रेमी आहल्याका पति है, इस समय यहाँ इस तरह क्यों बैठा है? ॥८४॥ ऐसा कहकर तूने उन्हें रस्सियोंसे कसकर लपेट लिया फिर भी उनका शरीर पर्वतके समान निष्कम्प बना रहा और उनका मन तत्त्वार्थकी चिन्तनामें लीन होनेसे स्थिर रहा आया ॥८५॥ इसप्रकार आनन्दमाल मुनि तो निर्विकार रहे पर उन्हींके समीप कल्याण नामक दूसरे मुनि बैठे थे जो कि उनके भाई थे तेरे द्वारा उन्हें अनादृत होता देख क्रोधसे दुःखी हो गये ॥८६॥ वे मुनि ऋद्धिधारी थे तथा प्रतिमायोगसे विराजमान थे सो तेरे कुकृत्यसे दुःखी होकर उन्होंने प्रतिमायोगका संकोचकर तथा लम्बी और गरम श्वास भरकर तेरे लिए इस प्रकार शाप दी ॥८७॥ कि चूँकि तूने इन निरपराध मुनिराजका तिरस्कार किया है इसलिए तू भी बहुत भारी तिरस्कारको प्राप्त होगा ॥८८॥ वे मुनि अपनी अपरिमित श्वाससे तुझे भस्म ही कर देना चाहते थे पर तेरी सर्वश्रीनामक स्त्रीने उन्हें शान्त कर लिया ॥८९॥ वह सर्वश्री सम्यग्दर्शनसे युक्त तथा मुनिजनोंकी पूजा करनेवाली थी इसलिए उत्तम हृदयके धारक मुनि भी उसकी बात मानते थे ॥९०॥ यदि वह साध्वी उन मुनिराजको शान्त नहीं करती तो उनकी क्रोधाग्निको कौन रोक सकता था? ॥९१॥ तीनों लोकोंमें वह कार्य नहीं है जो तपसे सिद्ध नहीं होता हो। यथार्थमें तपका बल सब बलोंके शिरपर स्थित है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है ॥९२॥ इच्छानुकूल कार्य करनेवाले तपस्वी साधुकी जैसी शक्ति, कान्ति, द्युति, अथवा धृति होती है वैसी इन्द्रके भी सम्भव नहीं है ॥९३॥ जो मनुष्य साधुजनोंका तिरस्कार करते हैं वे तिर्यञ्च गति और नरक गतिमें महान् दुःख पाते हैं ॥९४॥ जो मनुष्य मनसे भी साधुजनोंका पराभव करता है वह पराभव उसे परलोक तथा इस लोकमें परम दुःख देता है ॥९५॥ जो दुष्ट चित्तका धारी मनुष्य निर्ग्रन्थ मुनिको गाली देता है अथवा मारता है उस पापी मनुष्यके विषयमें क्या कहा जाय? ॥९६॥ मनुष्य मन वचन कायसे जो कर्म करते हैं वे छूटते नहीं हैं और प्राणियोंको अवश्य ही फल देते हैं ॥९७॥ इस प्रकार कर्मोंके पुण्य पापरूप फलका विचारकर अपनी बुद्धि धर्ममें धारण

---

१. वचस्त्वस्याः म० ।

इत्युक्ते पूर्वजन्मानि स्मरन् विस्मय संगतः । शक्रः प्रणम्य निर्ग्रन्थमिदमाह महादरः ॥९९॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन लब्ध्वा बोधिमनुत्तमाम् । साम्प्रतं दुरितं सर्वं मन्ये त्यक्तमिव क्षणात् ॥१००॥
साधोः संगमनाल्लोके न किञ्चिद् दुर्लभं भवेत् । बहुजन्मसु न प्राप्ता बोधिर्येनाधिगम्यते ॥१०१॥
इत्युक्त्वा वन्दितस्तेन मुनिर्यातो यथेप्सितम् । शक्रोऽपि परमं प्राप्तो निर्वेदं गृहवासतः ॥१०२॥
पुण्यकर्मोदयाज्ज्ञात्वा रावणं परमोदयम् । स्तुत्वा च वीर्यदंष्ट्राय महाभूभृत्तटस्थितौ ॥१०३॥
जलबुद्बुदनिस्सारामवबुध्य मनुष्यताम् । कृत्वा सुनिश्चलां धर्मे मतिं निन्दन् दुरीहितम् ॥१०४॥
श्रियमिन्द्रः सुते न्यस्य महात्मा रथनूपुरे । ससुतो लोकपालानां समूहेन समन्वितः ॥१०५॥
दीक्षां जैनेश्वरीं प्राप सर्वकर्मविनाशिनीम् । विशुद्धमानसोऽत्यन्तं त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥१०६॥
ततस्तत्तादृशेनापि भोगेनाप्युपलालितम् । वपुस्तस्य तपोभारमुवाहेतरदुर्वहम् ॥१०७॥
प्रायेण महतां शक्तिर्यादृशी रौद्रकर्मणि । कर्मण्येवं विशुद्धेऽपि परमा चोपजायते ॥१०८॥
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा विशुद्धध्यानसंगतः । कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा निर्वाणं वासवोऽगमत् ॥१०९॥

दोधकवृत्तम्

पश्यत चित्रमिदं पुरुषाणां चेष्टितमूर्जितवीर्यसमृद्धम् ।
यच्चिरकालमुपार्जितभोगा यान्ति पुनः पदमुत्तमसौख्यम् ॥११०॥

करो और अपने आपको दुःखोंसे बचाओ ॥९८॥ इस प्रकार मुनिराजके कहनेपर इन्द्रको अपने पूर्व जन्मोंका स्मरण हो आया। उन्हें स्मरण करता हुआ वह आश्चर्यको प्राप्त हुआ। तदनन्तर बहुत भारी आदरसे भरे इन्द्रने निर्ग्रन्थ मुनिराजको नमस्कार कर कहा कि ॥९९॥ हे भगवन्! आपके प्रसादसे मुझे उत्कृष्ट रत्नत्रयकी प्राप्ति हुई है इसलिए मैं मानता हूँ कि अब मेरे समस्त पाप मानो क्षण भरमें ही छूट जानेवाले हैं ॥१००॥ जो बोधि अनेक जन्मोंमें भी प्राप्त नहीं हुई वह साधु समागमसे प्राप्त हो जाती है इसलिए कहना पड़ता है कि साधुसमागमसे संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती ॥१०१॥ इतना कहकर निर्वाणसंगम मुनिराज तो उधर इन्द्रके द्वारा वन्दित हो यथेच्छ स्थानपर चले गये इधर इन्द्र भी गृहवाससे अत्यन्त निर्वेदको प्राप्त हो गया ॥१०२॥ उसने जान लिया कि रावण पुण्यकर्मके उदयसे परम अभ्युदयको प्राप्त हुआ है। उसने महापर्वतके तटपर विद्यमान वीर्यदंष्ट्रकी बार-बार स्तुति की ॥१०३॥ मनुष्य पर्यायको जलके बबूलाके समान निःसार जानकर उसने धर्ममें अपनी बुद्धि निश्चल की। अपने पाप कार्योंकी बार-बार निन्दा की ॥१०४॥ इस प्रकार महापुरुष इन्द्रने रथनूपुर नगरमें पुत्रके लिए राज्य-सम्पदा सौंपकर अन्य अनेक पुत्रों तथा लोकपालोंके समूहके साथ समस्त कर्मोंको करनेवाली जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उस समय उसका मन अत्यन्त विशुद्ध था तथा समस्त परिग्रहका उसने त्याग कर दिया था ॥१०५-१०६॥ यद्यपि उसका शरीर इन्द्रके समान लोकोत्तर भोगोंसे लालित हुआ था तो भी उसने अन्यजन जिसे धारण करनेमें असमर्थ थे ऐसा तपका भार धारण किया था ॥१०७॥ प्रायः करके महापुरुषोंकी रुद्र कार्योंमें जैसी अद्भुत शक्ति होती है वैसी ही शक्ति विशुद्ध कार्योंमें भी उत्पन्न हो जाती है ॥१०८॥ तदनन्तर दीर्घ काल तक तपकर शुक्ल ध्यानके प्रभावसे कर्मोंका क्षयकर इन्द्र निर्वाण धामको प्राप्त हुआ ॥१०९॥

गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि राजन्! देखो, बड़े पुरुषोंके चरित्र अतिशय शक्तिसे सम्पन्न तथा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं। ये चिर काल तक भोगोंका उपार्जन करते हैं

स्तोकमपीह न चाद्भुतमस्ति [1]न्यस्य समस्तपरिग्रहसङ्गम् ।
यत्क्षणतो दुरितस्य विनाशं ध्यानबलाज्जनयन्ति बृहन्तः ।।१११।।

अर्जितमत्युरुकालविधानादिन्धनराशिमुदारमशेषम् ।
प्राप्य परं क्षणतो महिमानं किं न दहत्यनिलः [2]कणमात्रः ।।११२।।

इत्यवगम्य जनाः सुविशुद्धं यत्नपराः करणं वहतान्तः ।
मृत्युदिनस्य न केचिदपेता ज्ञानरवेः कुरुत प्रतिपत्तिम् ।।११३।।

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते इन्द्रनिर्वाणाभिधानं नाम त्रयोदशं पर्व ।।१३।।

और अन्तमें उत्तमसुखसे युक्त निर्वाण पदको प्राप्त हो जाते हैं ।।११०।। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि बड़े पुरुष समस्त परिग्रहका संग छोड़कर ध्यानके बलसे क्षणभरमें पापोंका नाश कर देते हैं ।।१११।। क्या बहुत कालसे इकट्ठी की हुई ईन्धनकी बड़ी राशिको कणमात्र अग्नि क्षणभरमें विशाल महिमाको प्राप्त हो भस्म नहीं कर देती ? ।।११२।। ऐसा जानकर हे भव्य जनो ! यत्नमें तत्पर हो अन्तःकरणको अत्यन्त निर्मल करो। मृत्युका दिन आनेपर कोई भी पीछे नहीं हट सकते अर्थात् मृत्युका अवसर आनेपर सबको मरना पड़ता है। इसलिए सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्यकी प्राप्ति करो ।।११३।।

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य कथित पद्मचरितमें इन्द्रके निर्वाणका कथन करनेवाला तेरहवाँ पर्व समाप्त हुआ ।।१३।।

---

१. न्यस्त- ख० । २. क्षणमात्रः म० ।

चतुर्दशं पर्व

अथ [1]नाकाधिपप्रख्यो भोगसंमूढमानसः । यथाभिमतनिर्वृत्तः परदुर्ललितक्रियः ॥१॥
असौ देवाधिपग्राहो[3] यातो मन्दरमन्यदा । जिनेन्द्रवन्दनां कृत्वा प्रत्यागच्छन्निजेच्छया ॥२॥
विभक्तपर्वतान् पश्यन् [4]वास्यानां विविधांह्रिपान् । सरितश्चातिचक्षुष्याः स्फटिकादपि निर्मलाः ॥३॥
आदित्यभवनाकारविमानस्य विभूषणः । संगतः परया लक्ष्म्या लङ्कासङ्गमनोत्सुकः ॥४॥
सहसा निनदं तुङ्गं शुश्राव परुषेतरम् । पप्रच्छ च महाक्षुब्धो मारीचमतिसत्वरः ॥५॥
अयि मारीच मारीच कुतोऽयं निनदो महान् । एताश्च ककुभः कस्मान्महारजतलोहिताः ॥६॥
ततो जगाद मारीचो देव ! देवगमो मुनेः । महाकल्याणसंप्राप्तावेष कस्यापि वर्तते ॥७॥
देवानामेष तुष्टानां नानासंपातकारिणाम् । आकुलो भुवनव्यापी प्रशस्तः श्रूयते ध्वनिः ॥८॥
एताश्च ककुभस्तेषां मुकुटादिमरीचिभिः । निचिता दधते मासं कौसुम्भीमिव [5]भास्वराम् ॥९॥
सुवर्णपर्वतेऽमुष्मिन्ननन्तबलसंज्ञया । कथितो मुनिरुत्पन्नं नूनं तस्याद्य केवलम् ॥१०॥
ततस्तद् वचनं श्रुत्वा सम्यग्दर्शनभावितः । परं पुरन्दरग्राहः प्रमोदं प्रतिपन्नवान् ॥११॥
अवतीर्णश्च खाद्देशाद्विप्रकृष्टान्महाद्युतिः । द्वितीय इव देवेन्द्रो वन्दनाय महामुनेः ॥१२॥
वन्दित्वा तुष्टुवुः साधुमिन्द्रप्राग्रहरास्ततः । आसीनाश्च यथास्थानं बद्धाञ्जलिपुटाः सुराः ॥१३॥

अथानन्तर जो इन्द्रके समान शोभाका धारक था, जिसका मन भोगोंमें मूढ़ रहता था, जिसे इच्छानुसार कार्योंकी प्राप्ति होती थी तथा जिसकी क्रियाएँ शत्रुओंको प्राप्त होना कठिन था ऐसा रावण एक समय मेरुपर्वत पर गया था। वहाँ जिनेन्द्रदेवकी वन्दना कर वह अपनी इच्छानुसार वापिस आ रहा था ॥१-२॥ मार्गमें वह भरतादि क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले एवं अनेक प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित हिमवत् आदि पर्वतोंको तथा स्फटिकसे भी अधिक निर्मल एवं अत्यन्त सुन्दर नदियोंको देखता हुआ चला आ रहा था ॥३॥ सूर्यम्बिबके आकार विमानको अलंकृत कर रहा था, उत्कृष्ट लक्ष्मीसे युक्त था तथा लङ्काकी प्राप्तिमें अत्यन्त उत्सुक था ॥४॥ अचानक ही उसने जोरदार कोमल शब्द सुना जिसे सुनकर वह अत्यन्त क्षुभित हो गया। उसने शीघ्र ही मारीचसे पूछा भी ॥५॥ अरे मारीच ! मारीच !! यह महाशब्द कहाँसे आ रहा है ? और दिशाएँ सुवर्णके समान लाल-पीली क्यों हो रहीं हैं ॥६॥ तब मारीचने कहा कि हे देव ! किसी महामुनिके महाकल्याणकमें सम्मिलित होनेके लिए यह देवोंका आगमन हो रहा है ॥७॥ सन्तोषसे भरे एवं नानाप्रकारसे गमन करनेवाले देवोंका यह संसारव्यापी प्रशस्त शब्द सुनाई दे रहा है ॥८॥ ये दिशाएँ उन्हींके मुकुट आदिकी किरणोंसे व्याप्त होकर कुसुम्भ रङ्गकी देदीप्यमान कान्तिको धारण कर रही हैं ॥९॥ इस सुवर्णगिरि पर अनन्तबल नामक मुनिराज रहते थे जान पड़ता है उन्हें ही आज केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ॥१०॥

तदनन्तर मारीचके वचन सुनकर सम्यग्दर्शनकी भावनासे युक्त रावण परम हर्षको प्राप्त हुआ ॥११॥ महाकान्तिको धारण करनेवाला रावण उन महामुनिकी वन्दना करनेके लिए दूरवर्त्ती आकाश प्रदेशसे इस प्रकार नीचे उतरा मानो दूसरा इन्द्र ही उतर रहा हो ॥१२॥ तत्पश्चात् इन्द्र आदि देवोंने हाथ जोड़कर मुनिराजको नमस्कार किया। स्तुति की और फिर सब यथास्थान

१. नाकाभिधप्रख्यो-म० । परदुर्लडितक्रियः क०, ख०, ब० । ३. रावणः । ४. भरतादिक्षेत्राणाम् । ५. भासुराम् क० ।

रावणोऽपि नमस्कृत्य स्तुत्वा चोदात्तभक्तितः । विद्याधरजनाकीर्णः स्थितः समुचितावनौ ॥१४॥
ततश्चतुर्विधैर्देवैस्तिर्यग्भिर्मनुजैस्तथा । कृतशंसं मुनिश्रेष्ठः शिष्येणैवमपृच्छ्यत ॥१५॥
भगवान् ज्ञातुमिच्छन्ति धर्माधर्मफलं जनाः । समस्ता मुक्तिहेतुं च तत्सर्वं वक्तुमर्हथ ॥१६॥
ततः सुनिपुणं शुद्धं विपुलार्थं मिताक्षरम् । अप्रधृष्यं जगौ वाक्यं यतिः सर्वहितप्रियम् ॥१७॥
कर्मणाष्टप्रकारेण संततेन निरादिना । बद्धेनान्तर्हितात्मीयशक्तिर्भ्राम्यति चेतनः ॥१८॥
सुभूरि[1]लक्षसंख्यासु योनिष्वनुभवन्[2]सदा । वेदनीयं यथोपात्तं नानाकरणसंभवम् ॥१९॥
रक्तो द्विष्टोऽथवा मूढो मन्दमध्यविपाकतः । कुलालचक्रवत्प्राप्तचतुर्गतिविवर्तनः ॥२०॥
बुध्यते स्वहितं[3] नासौ ज्ञानावरणकर्मणा । मनुष्यतामपि प्राप्तोऽत्यन्तदुर्लभसंगमाम्[4] ॥२१॥
रसस्पर्शपरिग्राहिहृषीकवशतां गताः[5] । कृत्वातिनिन्दितं कर्म पापभारगुरूकृताः[6] ॥२२॥
अनेकोपायसंभूतमहादुःखविधायिनि । पतन्ति नरके जीवा ग्रावाण इव वारिणि ॥२३॥
मातरं पितरं भ्रातॄन् सुतां पत्नीं सुहृज्जनान् । धनादिचोदिताः केचिद् विश्व[7]निन्दितमानसाः ॥२४॥
गर्भस्थानर्भकान् वृद्धांस्तरुणान् योषितो नराः । घ्नन्ति केचिन्महाक्रूरा मानुषान्[8] पक्षिणो मृगान् ॥२५॥
स्थलजान् जलजान् धर्मच्युतचित्ताः[9] कुमेधसः । मीत्वा[10] पतन्ति ते सर्वे नरके पुरुवेदने ॥२६॥
मधुघातकृतश्चण्डा[11] श्चाण्डाला वनदाहिनः । हिंसापरायणाः पापाः कैवर्ताधमलुब्धकाः ॥२७॥

बैठ गये ॥१३॥ विद्याधरोंसे युक्त रावण भी बड़ी भक्तिसे नमस्कार एवं स्तुतिकर योग्य भूमिमें बैठ गया ॥१४॥ तदनन्तर विनीत शिष्यके समान रावणने मुनिराजसे इस प्रकार पूछा कि हे भगवन्! समस्त प्राणी धर्म-अधर्मका फल और मोक्षका कारण जानना चाहते हैं सो आप यह सब कहनेके योग्य हैं। रावणके इस प्रश्नकी चारों प्रकारके देवों मनुष्यों और तिर्यञ्चोंने भारी प्रशंसा की ॥१५-१६॥ तदनन्तर मुनिराज निम्नप्रकार वचन कहने लगे। उनके वे वचन निपुणतासे युक्त थे, शुद्ध थे, महाअर्थसे भरे थे, परिमित अक्षरोंसे सहित थे, अखण्डनीय थे और सर्वहितकारी तथा प्रिय थे ॥१७॥

उन्होंने कहा कि अनादिकालसे बँधे हुए ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे जिसकी आत्मीय शक्ति छिप गई है ऐसा यह प्राणी निरन्तर भ्रमण कर रहा है ॥१८॥ अनेक लक्ष योनियोंमें नाना इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखका सदा अनुभव करता रहता है ॥१९॥ कर्मोंका जब जैसा तीव्र मन्द या मध्यम उदय आता है वैसा रागी द्वेषी अथवा मोही होता हुआ कुम्हारके चक्रके समान चतुर्गतिमें घूमता रहता है ॥२०॥ यह जीव अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य पर्यायको भी प्राप्त कर लेता है फिर भी ज्ञानावरण कर्मके कारण आत्महितको नहीं समझ पाता है ॥२१॥ रसना और स्पर्शन इन्द्रियके वशीभूत हुए प्राणी अत्यन्त निन्दित कार्य करके पापके भारसे इतने वजनदार हो जाते हैं कि वे अनेक साधनोंसे उत्पन्न महादुःख देनेवाले नरकोंमें उस प्रकार जा पड़ते हैं जिस प्रकार कि पानीमें पत्थर पड़ जाते हैं—डूब जाते हैं ॥२२-२३॥ जिनके मनकी सभी निन्दा करते हैं ऐसे कितने ही मनुष्य धनादिसे प्रेरित होकर माता, पिता, भाई, पुत्री, पत्नी, मित्रजन, गर्भस्थ बालक, वृद्ध, तरुण एवं स्त्रियोंको मार डालते हैं तथा कितने ही महादुष्ट मनुष्य मनुष्यों, पक्षियों और हरिणोंकी हत्या करते हैं ॥२४-२५॥ जिनका चित्त धर्मसे च्युत है ऐसे कितने ही दुर्बुद्धि मनुष्य स्थलचारी एवं जलचारी जीवोंको मारकर भयङ्कर वेदनावाले नरकमें पड़ते हैं ॥२६॥ मधुमक्खियोंका घात करनेवाले, तथा वनमें आग लगानेवाले दुष्ट

१. स भूरि- क० । २. -ष्वनुभवत् ख०, म०, ब० । ३. स्वहितान्नासौ ख० । ४. संज्ञकम् म० । ५. गतः म० । ६. कृतः म० । ७. घ्नन्ति निर्दयमानसाः ख० । ८. मानसाः म० । ९. धर्मगतचित्तान् कुचेतसः म० । धर्मगतचित्ताः कुमेधसः ख०, क० । १०. मारयित्वा । ११. कृतश्रामी म० ।

वितथव्याहृतासक्ताः परस्वहरणोद्यताः । पतन्ति नरके घोरे प्राणिनः शरणोज्झिताः ॥२८॥
येन येन प्रकारेण कुर्वते मांसभक्षणम् । तेनैव ते विधानेन भक्ष्यन्ते नरके परैः ॥२९॥
महापरिग्रहोपेता महारम्भाश्च ये जनाः । प्रचण्डाध्यवसायास्ते वसन्ति नरके चिरम् ॥३०॥
साधूनां द्वेषकाः पापा मिथ्यादर्शनसंगताः । रौद्रध्यानमृता जीवा गच्छन्ति नरकं ध्रुवम् ॥३१॥
कुठारैरसिभिश्चक्रैः करपत्रैर्विदारिताः । अन्यैश्च विविधैः शस्त्रैस्तीक्ष्णतुण्डैश्च पक्षिभिः ॥३२॥
सिंहैर्व्याघ्रैः श्वभिः सर्पैः शरभैर्वृश्चिकैर्वृकैः । अन्यैश्च प्राणिभिश्चित्रैः प्राप्यन्ते दुःखमुत्तमम् ॥३३॥
नितान्तं ये तु कुर्वन्ति सङ्गं शब्दादिवस्तुनि । मायिनस्ते प्रपद्यन्ते तिर्यक्त्वं प्राणधारिणः ॥३४॥
परस्परवधास्तत्र शस्त्रैश्च विविधैः [1]क्षताः । प्रपद्यन्ते महादुःखं [2]वाहदोहादिभिस्तथा ॥३५॥
सुसमेतेन जीवेन स्थलेऽम्भसि गिरौ तरौ । गहनेषु च देशेषु भ्राम्यता भवसंकटे ॥३६॥
एकद्वित्रिचतुःपञ्चहृषीककृतसंगतिः । अनादिनिधनो जन्तुः सेवते मृत्युजन्मनी ॥३७॥
तिलमात्रोऽपि देशोऽसौ नास्ति यत्र न जन्तुना । प्राप्तं जन्म विनाशो वा संसारावर्तपातिना ॥३८॥
मार्दवेनान्विताः केचिदार्जवेन च जन्तवः । स्वभावलब्धसंतोषाः प्रपद्यन्ते मनुष्यताम् ॥३९॥
क्षणमात्रसुखस्यार्थे हित्वा पापं प्रकुर्वते । श्रेयः परमसौख्यस्य कारणं मोहसंगताः ॥४०॥
आर्या म्लेच्छाश्च तत्रापि जायन्ते पूर्वकर्मतः । तथा केचिद्धनेनाढ्याः [3]केचिदत्यन्तदुर्विधाः ॥४१॥

चाण्डाल, निरन्तर हिंसामें तत्पर रहनेवाले पापी कहार और नीच शिकारी, झूठ वचन बोलनेमें आसक्त एवं पराया धन हरण करनेमें उद्यत प्राणी शरण रहित हो भयङ्कर नरकमें पड़ते हैं ॥२७–२८॥ जो मनुष्य जिस-जिस प्रकारसे मांस भक्षण करते हैं नरकमें दूसरे प्राणी उसी-उसी प्रकारसे उनका भक्षण करते हैं ॥२९॥ जो मनुष्य बहुत भारी परिग्रहसे सहित हैं, बहुत बड़े आरम्भ करते हैं और तीव्र संकल्प-विकल्प करते हैं वे चिरकाल तक नरकमें वास करते हैं ॥३०॥ जो साधुओंसे द्वेष रखते हैं, पापी हैं, मिथ्यादर्शनसे सहित हैं, एवं रौद्रध्यानसे जिनका मरण होता है वे निश्चय ही नरकमें जाते हैं ॥३१॥ ऐसे जीव नरकोंमें कुल्हाड़ियों, तलवारों, चक्रों, करोंतों, तथा अन्य अनेक प्रकारके शस्त्रोंसे चीरे जाते हैं। तीक्ष्ण चोंचोंवाले पक्षी उन्हें चूँथते हैं ॥३२॥ सिंह, व्याघ्र, कुत्ते, सर्प, अष्टापद, बिच्छू, भेड़िया तथा विक्रियासे बने हुए विविध प्रकारके प्राणी उन्हें बहुत भारी दुःख पहुँचाते हैं ॥३३॥

जो शब्द आदि विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति करते हैं ऐसे मायावी जीव तिर्यञ्च गतिको प्राप्त होते हैं ॥३४॥ उस तिर्यञ्च गतिमें जीव एक दूसरेको मार डालते हैं। मनुष्य विविध प्रकारके शस्त्रोंसे उनका घात करते हैं तथा स्वयं भार ढोना एवं दोहा जाना आदि कार्योंसे महा दुःख पाते हैं ॥३५॥ संसारके संकटमें भ्रमण करता हुआ यह जीव स्थलमें, जलमें, पहाड़पर, वृक्षपर, और अन्यान्य सघन स्थानोंमें सोया है ॥३६॥ यह जीव अनादिकालसे एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियोंमें उत्पन्न होता हुआ जन्म-मरण कर रहा है ॥३७॥ ऐसा तिलमात्र भी स्थान बाकी नहीं है जहाँ संसाररूपी भँवरमें पड़े हुए इस जीवने जन्म और मरण प्राप्त न किया हो ॥३८॥

यदि कोई प्राणी मृदुता और सरलतासे सहित होते हैं तथा स्वभावसे ही सन्तोष प्राप्त करते हैं तो वे मनुष्य गतिको प्राप्त होते हैं ॥३९॥ मनुष्य गतिमें भी मोही जीव परम सुखके कारण भूत कल्याण मार्गको छोड़कर क्षणिक सुखके लिए पाप करते हैं ॥४०॥ अपने पूर्वोपार्जित कर्मोंके अनुसार कोई आर्य होते हैं और कोई म्लेच्छ होते हैं। कोई धनाढ्य होते हैं और कोई

---

१. कृताः ख०, म०, ब० । २. वाहा देहादिभिस्तथा म० । ३. वनेनाढ्याः म० ।

मनोरथशतान्यन्ये[1] कुर्वते कर्मवेष्टिताः । कालं नयन्ति कृच्छ्रेण प्राणिनः परवेश्मसु ॥४२॥
विरूपा धनिनः केचिन्निर्धनाः रूपिणोऽपरे । केचिद्दीर्घायुषः केचिदत्यन्तस्तोकजीविनः ॥४३॥
इष्टा यशस्विनः[2] केचित्केचिदत्यन्तदुर्भगाः । केचिदाज्ञां प्रयच्छन्ति तामन्ये कुर्वते जनाः ॥४४॥
प्रविशन्ति रणं केचित्केचिद्गच्छन्ति वारिणि । यान्ति देशान्तरं केचित्केचित्कृष्यादि कुर्वते ॥४५॥
एवं तत्रापि वैचित्र्यं जायते सुखदुःखयोः । सर्वं तु दुःखमेवात्र सुखं तत्रापि कल्पितम् ॥४६॥
सरागसंयमाः केचित्संयमासंयमास्तथा । अकामनिर्जरातश्च तपसश्च समोहतः ॥४७॥
देवत्वं च प्रपद्यन्ते चतुर्भेदसमन्वितम् । केचिन्महर्द्धयोऽत्रापि केचिदल्पपरिच्छदाः ॥४८॥
स्थित्या द्युत्या प्रभावेण धिया सौख्येन लेश्यया । अभिमानेन मानेन ते पुनः कर्मसंग्रहम् ॥४९॥
कृत्वा चतुर्गतौ नित्यं भवे भ्राम्यन्ति जन्तवः । अरघट्टघटीयन्त्रसमानत्वमुपागताः ॥५०॥
संकल्पादशुभाद् दुःखं प्राप्नोति शुभतः सुखम् । कर्मणोऽष्टप्रकारस्य जीवो मोक्षमुपक्षयात् ॥५१॥
दानेनापि प्रपद्यन्ते जन्तवो भोगभूमिषु । भोगान् पात्रविशेषेण वैश्वरूप्यमुपागताः[3] ॥५२॥
प्राणातिपातविरतं परिग्रहविवर्जितम् । उद्धमाचक्षते पात्रं रागद्वेषोज्झितं जिनाः ॥५३॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धं तपसापि विवर्जितम् । पात्रं प्रशस्यते[4] मिथ्यादृष्टेः कायस्य शोधनात् ॥५४॥
आपद्भ्यः पाति यस्तस्मात्पात्रमित्यभिधीयते । सम्यग्दर्शनशक्त्या च त्रायन्ते मुनयो जनान् ॥५५॥
दर्शनेन विशुद्धेन ज्ञानेन च यदन्वितम्[5] । चारित्रेण च तत्पात्रं परमं परिकीर्तितम् ॥५६॥

अत्यन्त दरिद्र होते हैं ॥४१॥ कर्मोंसे घिरे कितने ही प्राणी सैकड़ों मनोरथ करते हुए दूसरेके घरोंमें बड़ी कठिनाईसे समय बिताते हैं ॥४२॥ कोई धनाढ्य होकर भी कुरूप होते हैं, कोई रूपवान् होकर भी निर्धन रहते हैं, कोई दीर्घायु होते हैं और कोई अल्पायु होते हैं ॥४३॥ कोई सबको प्रिय तथा यशके धारक होते हैं, कोई अत्यन्त अप्रिय होते हैं, कोई आज्ञा देते हैं और कोई उस आज्ञाका पालन करते हैं ॥४४॥ कोई रणमें प्रवेश करते हैं, कोई पानीमें गोता लगाते हैं, कोई विदेशमें जाते हैं और कोई खेती आदि करते हैं ॥४५॥ इस प्रकार मनुष्य गतिमें भी सुख और दुःखकी विचित्रता देखी जाती है। वास्तवमें तो सब दुःख ही है सुख तो कल्पना मात्र है ॥४६॥

कोई जीव सरागसंयम तथा संयमासंयमके धारक होते हैं, कोई अकाम निर्जरा करते हैं और कोई बालतप करते हैं, ऐसे जीव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक इन चार भेदोंसे युक्त देव गतिमें उत्पन्न होते हैं सो वहाँ भी कितने ही महर्द्धियोंके धारक होते हैं और कितने ही अल्प ऋद्धियोंके धारक ॥४७–४८॥ स्थिति, कान्ति, प्रभाव, बुद्धि, सुख, लेश्या, अभिमान और मानके अनुसार वे पुनः कर्मोंका बन्धकर चतुर्गति रूप संसारमें निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं। जिस प्रकार अरघटकी घड़ी निरन्तर घूमती रहती है इसी प्रकार ये प्राणी भी निरन्तर घूमते रहते हैं ॥४९–५०॥ यह जीव अशुभ संकल्पसे दुःख पाता है, शुभ संकल्पसे सुख पाता है और अष्टकर्मोंके क्षयसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥५१॥ पात्रकी विशेषतासे अनेक रूपताको प्राप्त हुए जीव दानके प्रभावसे भोग-भूमियोंमें भोगोंको प्राप्त होते हैं ॥५२॥ जो प्राणिहिंसासे विरत परिग्रहसे रहित और राग द्वेषसे शून्य हैं उन्हें जिनेन्द्र भगवान्ने उत्तम पात्र कहा है ॥५३॥ जो तपसे रहित होकर भी सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है ऐसा पात्र भी प्रशंसनीय है क्योंकि उससे मिथ्यादृष्टि दाताके शरीरकी शुद्धि होती है ॥५४॥ जो आपत्तियोंसे रक्षा करे वह पात्र कहलाता है (पातीति पात्रम्) इस प्रकार पात्र शब्दका निरुक्त्यर्थ है। चूँकि मुनि, सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे लोगोंकी रक्षा करते हैं अतः पात्र हैं ॥५५॥ जो निर्मल सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

१. मनोरथशतानन्ये म० । २. यथास्विनः म० (?) । ३. -मुपागतः म० । ४. प्रशस्तम्, उत्तमाश्रयते म० । ५. यदञ्चितम् ख० ।

मानापमानयोस्तुल्यस्तथा यः सुखदुःखयोः । तृणकाञ्चनयोश्चैव साधुः पात्रं प्रशस्यते ॥५७॥
सर्वग्रन्थविनिर्मुक्ता महातपसि ये रताः । श्रमणस्ते परं पात्रं तत्त्वध्यानपरायणाः ॥५८॥
तेभ्यो भावेन यद्दत्तं शक्त्या पानान्नभेषजम् । यथोपयोगमन्यच्च तद्यच्छति महाफलम् ॥५९॥
क्षिप्तं यथैव सत्क्षेत्रे बीजं तत्संपदं पराम् । प्रयच्छति तथा दत्तं सत्पात्रे शुद्धचेतसा ॥६०॥
रागद्वेषादिभिर्युक्तं [1]यत्तु पात्रं न तन्मतम् । प्रयच्छति फलं दूरं [2]तत्र लाभविचिन्तितम् ॥६१॥
क्षिप्तं [3]यथोषरे बीजं न किञ्चित्तत्र[4] जायते । मिथ्या[5]दर्शनसंयुक्तपापपात्रेऽर्पितं तथा ॥६२॥
कूपादुद्धृतमेकस्मात्सलिलं प्रतिपद्यते । माधुर्यमिक्षुभिः पीतं निम्बपीतं तु तिक्तताम् ॥६३॥
सरस्यां जलमेकस्यां गवात्तं पन्नगेन च । क्षीरभावमवाप्नोति विषतां च यथा तथा ॥६४॥
विन्यस्तं भावतो दानं सम्यग्दर्शनभाविते । मिथ्यादर्शनयुक्ते तु शुभाशुभफलं भवेत् ॥६५॥
दीनान्धादिजनेभ्यस्तु करुणापरिचोदितम् । दानमुक्तं फलं तस्माद् यद्यपि स्यान्न सत्तमम् ॥६६॥
वदन्ति लिङ्गिनः सर्वे स्वानुकूलं प्रयत्नतः । धर्मं स तु विशेषेण परीक्ष्यः शुभमानसैः ॥६७॥
द्रव्यं यदात्मतुल्येषु गृहस्थेषु विसृज्यते । कामक्रोधादियुक्तेषु तत्र का फलभोगिता ॥६८॥

और सम्यक्चारित्रसे सहित होता है वह उत्तम पात्र कहलाता है ॥५६॥ जो मान, अपमान, सुख-दुःख और तृण-काञ्चनमें समान दृष्टि रखता है ऐसा साधु पात्र कहलाता है ॥५७॥ जो सब प्रकारके परिग्रहसे रहित हैं, महातपश्चरणमें लीन हैं और तत्त्वोंके ध्यानमें सदा तत्पर रहते हैं ऐसे श्रमण अर्थात् मुनि उत्तम पात्र कहलाते हैं ॥५८॥ उन मुनियोंके लिए अपनी सामर्थ्यके अनुसार भावपूर्वक जो भी अन्न, पान, औषधि अथवा उपयोगमें आनेवाले पीछी कमण्डलु आदि अन्य पदार्थ दिये जाते हैं वे महाफल प्रदान करते हैं ॥५९॥ जिस प्रकार उत्तम क्षेत्रमें बोया हुआ बीज अत्यधिक सम्पदा प्रदान करता है उसी प्रकार उत्तम पात्रके लिए शुद्ध हृदयसे दिया हुआ दान अत्यधिक सम्पदा प्रदान करता है ॥६०॥ जो राग द्वेष आदि दोषोंसे युक्त है वह पात्र नहीं है और न वह इच्छित फल ही देता है अतः उसके फलका विचार करना दूरकी बात है ॥६१॥ जिस प्रकार ऊषर जमीनमें बीज बोया जाय तो उससे कुछ भी उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार मिथ्यादर्शनसे सहित पापी पात्रके लिए दान दिया जाय तो उससे कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता ॥६२॥ एक कुएँसे निकाले हुए पानीको यदि ईखके पौधे पीते हैं तो वह माधुर्यको प्राप्त होता है और यदि नीमके पौधे पीते हैं तो कडुआ हो जाता है ॥६३॥ अथवा जिस प्रकार एकही तालाबमें गायने पानी पिया और साँपने भी। गायके द्वारा पिया पानी दूध हो जाता है और साँपके द्वारा पिया पानी विष हो जाता है उसी प्रकार एक ही गृहस्थसे उत्तम पात्रने दान लिया और नीच पात्रने भी। जो दान उत्तम पात्रको प्राप्त होता है उसका फल उत्तम होता है और जो नीच पात्रको प्राप्त होता है उसका फल नीचा होता है ॥६४॥ कोई-कोई पात्र मिथ्यादर्शनसे युक्त होने पर भी सम्यग्दर्शनकी भावनासे युक्त होते हैं ऐसे पात्रोंके लिए भावसे जो दान दिया जाता है उसका फल शुभ-अशुभ अर्थात् मिश्रित प्रकारका होता है ॥६५॥ दीन तथा अन्धे आदि मनुष्योंके लिए करुणा दान कहा गया है और उससे यद्यपि फलकी भी प्राप्ति होती है पर वह फल उत्तम फल नहीं कहा जाता ॥६६॥ सभी वेषधारी प्रयत्नपूर्वक अपने अनुकूल धर्मका उपदेश देते हैं पर उत्तम हृदयके धारक मनुष्योंको विशेषकर उसकी परीक्षा करनी चाहिए ॥६७॥ काम क्रोधादिसे युक्त तथा अपनी

१. यत्तु पात्रं न तन्मतम् म०, ख०, ज०। यत्तु पात्रं न तत्समम् ब०। २. तत्र लाभविचिन्तनम् म०। ३. 'क्षिप्तं यदि रणे बीजं' म०, ख०, क०। ४. न किञ्चिदुपजायते म०। ५. मिथ्यादर्शनसंयुक्तं पापं पात्रेऽर्पितं तथा न०।

अहो महानयं मोहः [1]सर्वावस्थेषु यज्जनाः । [2]स्वापतेयं विमुञ्चन्ति विप्रलब्धाः कुशासनैः ॥६९॥
धिगस्तु तान् खलानेष जनो यैर्विप्रतारितः । लोभात् कुग्रन्थकन्थाभिर्वराको नेयमानसः ॥७०॥
मृष्टत्वाद् बलकारित्वान्मांसं भक्ष्यमुदाहृतम् । पापैर्दम्भप्रसिद्ध्यर्थं परिसंख्या च कीर्तिता ॥७१॥
क्रूरास्ते दापयित्वा तद्भक्षयित्वा च लोभिनः । गच्छन्ति नरकं सार्धं दातृभिर्घोरवेदनम् ॥७२॥
जीवदानं च यत्प्रोक्तं [3]गर्द्धावद्भिर्दुरात्मभिः । ऋषिंमन्यैस्तदत्यन्तं निन्दितं तत्त्ववेदिभिः ॥७३॥
तस्मिन् हि दीयमानस्य वहनाङ्कनताडनैः । सम्पद्यते महादुःखं तेनान्येषां च भूयसाम् ॥७४॥
भूमिदानमपि क्षिप्तं [4]तद्गतप्राणिपीडनात् । प्राणिघातनिमित्तेन पुण्यं पाषाणतः पयः ॥७५॥
सर्वेषामभयं तस्माद्देयं प्राणभृतां सदा । [5]ज्ञानं भेषजमन्नञ्च वस्त्रादि च गतासुकम् ॥७६॥
दानं निन्दितमप्येति प्रशंसां पात्रभेदतः । शुक्तिपीतं यथा वारि [6]मुक्तीभवति निश्चयम् ॥७७॥
पशुभूम्यादिकं दत्तं जिनानुद्दिश्य भावतः । ददाति परमान् भोगानत्यन्तचिरकालगान् ॥७८॥
अन्तरङ्गं हि संकल्पः[7] कारणं पुण्यपापयोः । विना तेन बहिर्दानं वर्षः पर्वतमूर्धनि ॥७९॥
वीतरागान् समस्तज्ञानतो ध्यात्वा जिनेश्वरान् । दानं यद्दीयते तस्य कः शक्तो भाषितुं फलम् ॥८०॥
आयुधग्रहणादन्ये देवा द्वेषसमन्विताः । रागिणः कामिनीसङ्गाद् भूषणानां च धारणात् ॥८१॥

समानता रखनेवाले गृहस्थोंके लिए जो द्रव्य दिया जाता है उसका क्या फल भोगनेको मिलता है ? सो कहा नहीं जा सकता ॥६८॥ अहो ! यह कितना प्रबल मोह है कि मिथ्यामतोंसे ठगाये गये लोग सभी अवस्थाओंवाले लोगोंको अपना धन दे देते हैं ॥६९॥ उन दुष्टजनोंको धिक्कार है जिन्होंने कि इस भोले प्राणीको ठग रक्खा है तथा लोभ दिखाकर मिथ्या शास्त्रोंकी चर्चासे उसके मनको विचलित कर दिया है ॥७०॥ मीठा तथा बलकारी होनेसे पापी मनुष्योंने मांसको भक्ष्य बताया है और अपना कपट बतानेके लिए जिनका मांस खाना चाहिए उनकी संख्या भी निर्धारित की है ॥७१॥ सो ऐसे दुष्ट लोभी जीव दूसरोंको मांस दिलाकर तथा स्वयं खाकर दाताओंके साथ-साथ भयङ्कर वेदनासे युक्त नरकमें जाते हैं ॥७२॥ लोभके वशीभूत, दुष्ट अभिप्रायसे युक्त तथा झूठ-मूठ ही अपने आपको ऋषि माननेवाले कितने ही लोगोंने हाथी, घोड़ा, गाय आदि जीवोंका दान भी बतलाया है पर तत्त्वके जानकार मनुष्योंने उसकी अत्यन्त निन्दा की है ॥७३॥ उसका कारण भी यह है कि जीव दानमें जो जीव दिया जाता है उसे बोझा ढोना पड़ता है, नुकीली अरी आदिसे उसके शरीरको आँका जाता है तथा लाठी आदिसे उसे पीटा जाता है इन कारणोंसे उसे महा दुःख होता है और उसके निमित्तसे बहुतसे अन्य जीवोंको भी बहुत दुःख उठाना पड़ता है ॥७४॥ इसी प्रकार भूमिदान भी निन्दनीय है क्योंकि उससे भूमिमें रहने वाले जीवोंको पीड़ा होती है । और प्राणिपीड़ाके निमित्त जुटाकर पुण्यकी इच्छा करना मानो पत्थरसे पानी निकालना है ॥७५॥ इसलिए समस्त प्राणियोंको सदा अभयदान देना चाहिए साथ ही ज्ञान, प्रासुक, औषधि, अन्न और वस्त्रादि भी देना चाहिए ॥७६॥ जो दान निन्दित बताया है वह भी पात्र के भेदसे प्रशंसनीय हो जाता है जिस प्रकार कि शुक्ति (सीप) के द्वारा पिया हुआ पानी निश्चयसे मोती हो जाता है ॥७७॥ पशु तथा भूमिका दान यद्यपि निन्दित दान है फिर भी यदि वह जिन-प्रतिमा आदिको उद्देश्य कर दिया जाता है तो वह दीर्घ काल तक स्थिर रहनेवाले उत्कृष्ट भोग प्रदान करता है ॥७८॥ भीतरका संकल्प ही पुण्य-पापका कारण है उसके बिना बाह्यमें दान देना पर्वतकी शिखरपर वर्षा करनेके समान है ॥७९॥ इसलिए वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देवका ध्यान कर जो दान दिया जाता है उसका फल कहनेके लिए कौन समर्थ है ॥८०॥ जिनेन्द्रके सिवाय

१. सर्वविधपात्रेषु । २. धनम् । ३. गर्वावद्धैः ख० । ४. तद्गतं प्राणि- म० । ५. ज्ञानभेषजमन्नं म० ख० । ६. अमुक्ता मुक्ता संपद्यते मुक्तीभवति । ७. संकल्पं क० ।

रागद्वेषानुमेयश्च तेषां मोहोऽपि विद्यते । तयोर्हि कारणं मोहो दोषाः शेषास्तु तन्मयाः ॥८२॥
मनुष्या एव ये [1]केचिद्देवा [2]भोजनभाजनम् । कषायतनवः [3]काले देशकामादिसेविनः ॥८३॥
एवंविधाः कथं देवा दानगोचरतां गताः । अधमा यदि वा तुल्याः फलं कुर्युर्मनोहरम् ॥८४॥
[4]दृष्टोऽपि तावदेतेषां [5]विपाकः शुभकर्मणः । कुत एव [6]शिवस्थानसम्प्राप्तिर्दुःखितात्मनाम् ॥८५॥
तदेतत्सिकतामुष्टिपीडनात्तैलवाञ्छितम् । विनाशनं च तृष्णाया सेवनादाशुशुक्षणेः ॥८६॥
पङ्गुना नीयते पङ्गुर्यदि देशान्तरं ततः । एतेभ्यः क्लिश्यतो जन्तोर्देवेभ्यः जायते फलम् ॥८७॥
एषां तावदियं वार्ता देवानां पापकर्मणाम् । तद्भक्तानां तु दूरेण सत्पात्रत्वं न युज्यते ॥८८॥
लोभेन चोदितः पापो जनो यज्ञे प्रवर्तते । कुर्वतो हि तथा लोको धनं तर्हि प्रयच्छति ॥८९॥
तस्मादुद्दिश्य यद्दानं दीयते जिनपुङ्गवम् । सर्वदोषविनिर्मुक्तं तद्ददाति फलं महत् ॥९०॥
वाणिज्यसदृशो धर्मस्तत्रान्वेष्यात्पभूरिता । बहुना हि पराभूतिः क्रियतेऽल्पस्य वस्तुनः ॥९१॥
यथा विषकणः प्राप्तः सरसीं नैव दुष्यति । जिनधर्मोद्यतस्यैवं हिंसालेशो वृथोद्भवः ॥९२॥

जो अन्य देव हैं वे द्वेषी रागी तथा मोही हैं क्योंकि वे शस्त्र लिये रहते हैं इससे द्वेषी सिद्ध होते हैं और स्त्री साथमें रखते हैं तथा आभूषण धारण करते हैं इससे रागी सिद्ध होते हैं। राग-द्वेषके द्वारा उनके मोहका भी अनुमान हो जाता है क्योंकि मोह राग-द्वेषका कारण है। इस प्रकार राग-द्वेष और मोह ये तीन दोष उनमें सिद्ध हो गये बाकी अन्य दोष इन्हींके रूपान्तर हैं ॥८१-८२॥ लोकमें जो कुछ मनुष्य देवके रूपमें प्रसिद्ध हैं वे साधारण जनके समान ही भोजनके पात्र हैं अर्थात् भोजन करते हैं, कषायसे युक्त हैं और अवसर पर आंशिक कामादिका सेवन करते हैं सो ऐसे देव दानके पात्र कैसे हो सकते हैं ? वे कितनी ही बातोंमें जब कि अपने भक्त जनोंसे गये गुजरे अथवा उनके समान ही हैं तब उन्हें उत्तम फल कैसे दे सकते हैं ? ॥८३-८४॥ यद्यपि वर्तमानमें उनके शुभ कर्मोंका उदय देखा जाता है तो भी उनसे अन्य दुःखी मनुष्योंको मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥८५॥ ऐसे कुदेवोंसे मोक्षकी इच्छा करना बालूकी मुट्ठी पेरकर तेल प्राप्त करनेकी इच्छाके समान है अथवा अग्निकी सेवासे प्यास नष्ट करनेकी इच्छाके तुल्य है ॥८६॥ यदि एक लँगड़ा मनुष्य दूसरे लँगड़े मनुष्यको देशान्तरमें ले जा सकता हो तो इन देवोंसे दूसरे दुःखी जीवोंको भी फलकी प्राप्ति हो सकती है ॥८७॥ जब इन देवोंकी यह बात है तब पाप कार्य करनेवाले उनके भक्तोंकी बात तो दूर ही रही। उनमें सत्पात्रता किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकती ॥८८॥ लोभसे प्रेरित हुए पापी जन यज्ञमें प्रवृत्त होते हैं और लोग ऐसा करने वालोंको दक्षिणा आदिके रूपमें धन देते हैं सो यह निर्दोष कैसे हो सकता है ? ॥८९॥ इसलिए जिनेन्द्र देवको उद्देश्यकर जो दान दिया जाता है वही सर्वदोष रहित है और वही महाफल प्रदान करता है ॥९०॥ धर्म तो व्यापारके समान है जिस प्रकार व्यापारमें सदा हीनाधिकताका विचार किया जाता है उसी प्रकार धर्ममें भी सदा हीनाधिकताका विचार रखना चाहिए अर्थात् हानि लाभपर दृष्टि रखना चाहिए। जिस धर्ममें पुण्यकी अधिकता हो और पापकी न्यूनता हो गृहस्थ उसे स्वीकृत कर सकता है क्योंकि अधिक वस्तुके द्वारा हीन वस्तुका पराभव हो जाता है ॥९१॥ जिस प्रकार विषका एक कण तालाबमें पहुँचकर पूरे तालाबको दूषित नहीं कर सकता उसी प्रकार जिनधर्मानुकूल आचरण करनेवाले पुरुषसे जो थोड़ी हिंसा होती है वह उसे दूषित नहीं कर सकती। उसकी वह अल्प हिंसा व्यर्थ रहती

---

१. केचिदेभ्यः म० । २. भजनभाजनम् ख० । पूजनभाजनम् म०, ब० । ३. कालदेशकामादि- म०, ख०, ब० । ४. दृष्टेऽपि ख०, म०, ब०, ज० । ५. विपाके ख०, म०, ब०, ज० । ६. शिवस्थानं संप्राप्तौ म० । शिवस्थानं प्राप्तौ ख० । शिवस्थानं संप्राप्तौ ब० ।

प्रासादादि ततः कार्यं जिनानां भक्तितत्परैः । माल्यधूपप्रदीपादि सर्वं च कुशलैर्जनैः ॥९३॥
स्वर्गे मनुष्यलोके च भोगानत्यन्तमुत्कटान् । जन्तवः प्रतिपद्यन्ते जिनानुद्दिश्य दानतः ॥९४॥
सन्मार्गप्रस्थितानाञ्च दत्तं दानं यथोचितम् । करोति विपुलान् भोगान् गुणानामिति भाजनम् ॥९५॥
यथाशक्ति ततो भक्त्या सम्यग्दृष्टिषु यत्कृतः । दानं तदेकमात्रास्ति शेषं चोरैर्विलुण्ठितम् ॥९६॥
स्थितं ज्ञानस्य साम्राज्ये केवलं परिकीर्त्यते । निर्वाणं तस्य संप्राप्तावुपैति ध्यानयोगतः ॥९७॥
विमुक्ताशेषकर्माणः सर्वबाधाविवर्जिताः । अनन्तसुखसम्पन्ना अनन्तज्ञानदर्शनाः[२] ॥९८॥
अशरीराः स्वभावस्था लोकमूर्ध्नि प्रतिष्ठिताः । प्रत्यापत्तिविनिर्मुक्ताः सिद्धा वक्तव्यवर्जिताः ॥९९॥
[३]गर्द्धापवनसंवृद्धदुःखपावकमध्यगाः । क्लिश्यन्ते [४]पापिनो नित्यं विना सुकृतवारिणा ॥१००॥
पापान्धकारमध्यस्थाः कुदर्शनवशीकृताः । बोधं केचित्प्रपद्यन्ते धर्मादित्यमरीचिभिः ॥१०१॥
अशुभायोमयात्यन्त[५]दृढपञ्जरमध्यगाः[६] । आशापाशवशा जीवा मुच्यन्ते धर्मबन्धुना[७] ॥१०२॥
सिद्धो व्याकरणाल्लोकविन्दुसारैकदेशतः । धारणार्थो धृतो [८]धर्मशब्दो वाचि परिस्थितः ॥१०३॥
पतन्तं दुर्गतौ यस्मात्सम्यगाचरितो [९]भवन् । प्राणिनं धारयत्यस्माद्धर्म इत्यभिधीयते ॥१०४॥
लभिर्धातुः स्मृतः प्राप्तौ प्राप्तिः संपर्क उच्यते । तस्य धर्मस्य यो लाभो धर्मलाभः स उच्यते ॥१०५॥

है ॥९२॥ इसलिए भक्तिमें तत्पर रहनेवाले कुशल मनुष्योंको जिन-मन्दिर आदि बनवाना चाहिए और माला धूप दीप आदि सबकी व्यवस्था करनी चाहिए ॥९३॥ जिनेन्द्र भगवान्‌को उद्देश्य कर जो दान दिया जाता है उसके फलस्वरूप जीव स्वर्ग तथा मनुष्यलोक सम्बन्धी उत्तमोत्तम भोग प्राप्त करते हैं ॥९४॥ सन्मार्गमें प्रयाण करनेवाले मुनि आदिके लिए जो यथा योग्य दान दिया जाता है वह उत्कृष्ट भोग प्रदान करता है। इस प्रकार यही दान गुणोंका पात्र है ॥९५॥ इसलिए सामर्थ्यके अनुसार भक्तिपूर्वक सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके लिए जो दान देता है उसीका दान एक दान है बाकी तो चोरोंको धन लुटाना है ॥९६॥ केवलज्ञान ज्ञानके साम्राज्य पद पर स्थित है। ध्यानके प्रभावसे जब केवलज्ञानकी प्राप्ति हो चुकती है तभी यह जीव निर्वाणको प्राप्त होता है ॥९७॥ जिनके समस्त कर्म नष्ट हो चुकते हैं, जो सर्व प्रकारकी बाधाओंसे परे हो जाते हैं, जो अनन्त सुखसे सम्पन्न रहते हैं, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन जिनकी आत्मामें प्रकाशमान रहते हैं, जिनके तीनों प्रकारके शरीर नष्ट हो जाते हैं, निश्चयसे जो अपने स्वभावमें ही स्थित रहते हैं और व्यवहारसे लोक-शिखरपर विराजमान हैं, जो पुनरागमनसे रहित हैं और जिनका स्वरूप शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता वे सिद्ध भगवान् हैं ॥९८-९९॥ लोभ रूपी पवनसे बढ़े दुःख रूपी अग्निके बीचमें पड़े पापी जीव पुण्य रूपी जलके विना निरन्तर क्लेश भोगते रहते हैं ॥१००॥ पापरूपी अन्धकारके बीचमें रहनेवाले तथा मिथ्यादर्शनके वशीभूत कितने ही जीव धर्मरूपी सूर्यकी किरणोंसे प्रबोधको प्राप्त होते हैं ॥१०१॥ जो अशुभभाव रूपी लोहेके मजबूत पिंजरेके मध्यमें रह रहे हैं तथा आशारूपी पाशके अधीन हैं ऐसे जीव धर्मरूपी बन्धुके द्वारा ही मुक्त किये जाते हैं—बन्धनसे छुड़ाये जाते हैं ॥१०२॥ जो लोकबिन्दुसार नामक पूर्वका एक देश है ऐसे व्याकरणसे सिद्ध है कि जो धारण करे सो धर्म है। 'धरतीति धर्मः' इस प्रकार उसका निरुक्त्यर्थ है ॥१०३॥ और यह ठीक भी है क्योंकि अच्छी तरहसे आचरण किया हुआ धर्म दुर्गतिमें पड़ते हुए जीवको धारण कर लेता है—बचा लेता है इसलिए वह धर्म कहलाता है ॥१०४॥ लभ धातुका अर्थ प्राप्ति है और प्राप्ति संपर्कको कहते हैं, अतः

१. धूम म० । २. आनन्द- म० । ३. गृद्धा म० । ४. पापतः क०, ख०, म० । ५. अशुभभावरूप लोहनिर्मितसुदृढपञ्जरमध्यगताः । ६. धर्मपञ्जर म० । ७. धर्मबन्धना म० । ८. धर्मः ख० । ९. भवेत् म० । भवत् ख०, ब० ।

जिनैरभिहितं धर्मं कथयामि समासतः। कांश्चित्तत्फलभेदांश्च शृणुतैकाग्रमानसाः ॥१०६॥
हिंसातोऽलीकतः स्तेयान्मैथुनाद् द्रव्यसंगमात्। विरतिर्व्रतमुद्दिष्टं विधेयं तस्य धारणम् ॥१०७॥
ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गरूपिका। समितिः पालनं तस्याः कार्यं यत्नेन साधुना ॥१०८॥
वाङ्मनःकायवृत्तीनामभावो [1]ऽप्रदिमाथवा। गुप्तिराचरणं तस्यां विधेयं परमादरात् ॥१०९॥
क्रोधो मानस्तथा माया लोभश्चेति महाद्विषः। [2]कषाया यैरयं लोकः संसारे [3]परिवर्त्यते ॥११०॥
क्षमातो [4]मृदुतासङ्गादृजुत्वाद्धृतियोगतः। विधेयो निग्रहस्तेषां सूत्रनिर्दिष्टकारिणा ॥१११॥
धर्मसंज्ञमिदं सर्वं व्रतादि परिकीर्तितम्। त्यागश्चोदितो धर्मो विशेषोऽस्य निवेदितः ॥११२॥
रसनस्पर्शनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानतः[5]। प्रसिद्धानीन्द्रियाण्येषां निर्जयो धर्म उच्यते ॥११३॥
उपवासोऽवमौदर्यं परिसंख्यानवृत्तिता। रसानां च परित्यागो विविक्तं शयनासनम् ॥११४॥
कायक्लेश इति प्रोक्तं बाह्यं षोढा तपः स्थितम्। तपसोऽभ्यन्तरस्यैतद्[6]वृत्तिस्थानीयमिष्यते ॥११५॥
प्रायश्चित्तं विनीतिश्च वैयावृत्यकृतिस्तथा। स्वाध्यायेन च सम्बन्धो व्युत्सर्गो ध्यानमुत्तमम् ॥११६॥
[7]एतदाभ्यन्तरं षोढा तपश्चरणमिष्यते। तपः समस्तमप्येतद्धर्म इत्यभिधीयते ॥११७॥
धर्मेणानेन कुर्वन्ति भव्याः कर्मवियोजनम्। कर्म चाद्भुतमत्यन्तव्यवस्थापरिवर्तनम् ॥११८॥
शक्नोति बाधितुं सर्वान्मानुषानमरांस्तथा। लोकाकाशं च संरोद्धुं वपुषा विक्रियात्मना ॥११९॥
एकग्रासत्वमानेतुं त्रैलोक्यं च महाबलः। अष्टभेदमहैश्वर्यं योगं चाप्नोति दुर्लभम् ॥१२०॥

धर्मकी प्राप्तिको धर्मलाभ कहते हैं ॥१०५॥ अब हम जिन-भगवान्‌के द्वारा कहे हुए धर्मका संक्षेपसे निरूपण करते हैं। साथ ही उसके कुछ भेदों और उनके फलोंका भी निर्देश करेंगे सो तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥१०६॥ हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रहसे विरक्त होना सो व्रत कहलाता है। ऐसा व्रत अवश्य ही धारण करना चाहिए ॥१०७॥ ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं। साधुको इनका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए ॥१०८॥ वचन, मन और कायकी प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव हो जाना अथवा उसमें कोमलता आ जाना गुप्ति है। इसका आचरण बड़े आदरसे करना चाहिए ॥१०९॥ क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय महाशत्रु हैं, इन्हींके द्वारा जीव संसारमें परिभ्रमण करता है ॥११०॥ आगमके अनुसार कार्य करनेवाले मनुष्यको क्षमासे क्रोधका, मृदुतासे मानका, सरलतासे मायाका और संतोषसे लोभका निग्रह करना चाहिए ॥१११॥ अभी ऊपर जिन व्रत समिति आदिका वर्णन किया है वह सब धर्म कहलाता है। इसके सिवाय त्याग भी विशेषधर्म कहा गया है ॥११२॥ स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं। इनका जीतना धर्म कहलाता है ॥११३॥ उपवास, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्यतप हैं। बाह्यतप अन्तरङ्ग तपकी रक्षाके लिए वृति अर्थात् बाड़ीके समान हैं ॥११४-११५॥ प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं। यह समस्त तप धर्म कहलाता है ॥११६-११७॥ भव्य जीव इस धर्मके द्वारा कर्मोंका वियोजन अर्थात् विनाश तथा अनन्त व्यवसायोंको परिवर्तित करनेवाले अनेक आश्चर्यजनक कार्य करते हैं ॥११८॥ यह जीव धर्मके प्रभावसे ऐसा विक्रियात्मक शरीर प्राप्त करता है कि जिसके द्वारा समस्त मनुष्य और देवोंको बाधा देने तथा लोकाकाशको व्याप्त करनेमें समर्थ होता है ॥११९॥ धर्मके प्रभावसे यह जीव इतना महाबलवान् हो जाता है कि तीनों लोकोंको एक ग्रास बना सकता है। अणिमा, महिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्य तथा अनेक

---

१. -मभाव इति साथवा क०, ख०, ब०। २. कषायाश्चैरयं म०। ३. परिवर्तते म०, ख०। ४. मृदुतः संगादृजुत्वाद्धेतियोगतः म०। ५. -भिधावतः म०। ६. बाह्यं तपोऽभ्यन्तरतपसो रक्षणाय वृतितुल्यमस्तीति भावः। ७. एतदभ्यन्तरे म०।

हन्ति तापं सहस्रांशोस्तुषारस्वमुडुप्रभोः[1] । करोति पूरणं वृष्ट्या सर्वस्य जगतः क्षणात् ॥१२१॥
भस्मतां नयते लोकमाशीविषवदीक्षणात् । कुरुते मन्दरोत्क्षेपं विक्षेपणमुदन्वताम् ॥१२२॥
ज्योतिश्चक्रं समुद्धर्तुमिन्द्ररुद्रादिसाध्वसम् । रत्नकाञ्चनवर्षं च ग्रावसंघातसर्जनम् ॥१२३॥
व्याधीनामतितीव्राणां शमनं पादपांसुना[2] । नृणामद्भुतहेतूनां विभवानां समुद्भवम् ॥१२४॥
जीवः करोति धर्मेण तथान्यदपि दुष्करम् । नैव किञ्चिदसाध्यत्वं धर्मस्य प्रतिपद्यते ॥१२५॥
धर्मेण मरणं प्राप्ता ज्योतिश्चक्रतिरस्कृतिम् । कृत्वा कल्पान्प्रपद्यन्ते सौधर्मादीन् गुणालयान् ॥१२६॥
सामानिकाः सुराः केचिद्भवन्त्यन्ये सुराधिपाः । अहमिन्द्रास्तथान्ये च कृत्वा धर्मस्य संग्रहम् ॥१२७॥
हेमस्फटिकवैडूर्यस्तम्भसंभारनिर्मितान् । तद्भित्तिभासुराँस्तुङ्गान् प्रासादान्बहुभूमिकान् ॥१२८॥
अम्भोजदधिमध्वादिविचित्रमणिकुट्टिमान् । मुक्ताकलापसंयुक्तान् वातायनविराजितान् ॥१२९॥
रुरुभिश्चमरैः सिंहैर्गजैरन्यैश्च चारुभिः । रूपैर्निचितपार्श्वाभिर्वेदिकाभिरलंकृतान् ॥१३०॥
चन्द्रशालादिभिर्युक्तान् ध्वजमालाविभूषितान्[3] । सोपाश्रयमनोहारिशयनासनसंगतान् ॥१३१॥
आतोद्यवरसम्पूर्णानिच्छासंचारकारिणः । युक्तान्सत्परिवर्गेण पुण्डरीकादिलक्षितान् ॥१३२॥
विमानप्रभृतीन् जीवा निलयान् धर्मकारिणः । प्रपद्यन्तेऽर्कशीतांशुदीप्तिकान्त्यभिभाविनः ॥१३३॥
सुखनिद्राक्षये यद्वद्विबुद्धं विमलेन्द्रियम् । अचिरोदिततिग्मांशुदीप्तं कान्त्या समं विधोः ॥१३४॥

दुर्लभ योग भी यह धर्मके प्रभावसे प्राप्त करता है ॥१२०॥ यह जीव धर्मके प्रभावसे सूर्यके सन्तापको और चन्द्रमाकी शीतलताको नष्ट कर सकता है तथा वृष्टिके द्वारा समस्त संसारको क्षणभरमें भर सकता है ॥१२१॥ यह धर्मके प्रभावसे आशीविष साँपके समान दृष्टिमात्रसे लोकको भस्म कर सकता है, मेरु पर्वतको उठा सकता है और समुद्रको बिखेर सकता है ॥१२२॥ धर्मके ही प्रभावसे ज्योतिश्चक्रको उठा सकता है, इन्द्र रुद्र आदि देवोंको भयभीत कर सकता है रत्न और सुवर्णकी वर्षा कर सकता है, तथा पर्वतोंके समूहकी सृष्टि कर सकता है ॥१२३॥ धर्मके ही प्रभावसे अत्यन्त भयंकर बीमारियोंकी शान्ति अपने पैरकी धूलिसे कर सकता है तथा मनुष्योंको अन्य अनेक आश्चर्य कारक वैभवकी प्राप्ति करा सकता है ॥१२४॥ जीव धर्मके प्रभावसे और भी कितने ही कठिन कार्य कर सकता है। यथार्थमें धर्मके लिए कोई भी कार्य असाध्य नहीं है ॥१२५॥ जो जीव धर्म पूर्वक मरण करते हैं वे ज्योतिश्चक्रको उल्लंघनकर गुणोंके निवास भूत सौधर्मादि स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं ॥१२६॥ धर्मका उपार्जन कर कितने ही सामानिक देव होते हैं, कितने ही इन्द्र होते हैं, और कितने ही अहमिन्द्र बनते हैं ॥१२७॥ धर्मके प्रभावसे जीव उन महलोंमें उत्पन्न होते हैं जो कि स्वर्ण, स्फटिक और वैडूर्य मणिमय खम्भोंके समूहसे निर्मित होते हैं जिनकी स्वर्णादिनिर्मित दीवालें सदा देदीप्यमान रहती हैं जो, अत्यन्त ऊँचे और अनेक भूमियों (खण्डों) से युक्त होते हैं ॥१२८॥ जिनके फर्श पद्मराग, दधिराग तथा मधुराग आदि विचित्र-विचित्र मणियों से बने होते हैं, जिनमें मोतियोंकी मालाएँ लटकती रहती हैं, जो झरोखोंसे सुशोभित होते हैं ॥१२९॥ जिनके किनारोंपर हरिण, चमरी गाय, सिंह, हाथी तथा अन्यान्य जीवोंके सुन्दर-सुन्दर चित्र चित्रित रहते हैं ऐसी वेदिकाओंसे जो अलंकृत होते हैं ॥१३०॥ जो चन्द्रशाला आदिसे सहित होते हैं, ध्वजाओं और मालाओंसे अलंकृत रहते हैं तथा जिनकी कक्षाओंमें मनोहारी शय्याएँ और आसन बिछे रहते हैं ॥१३१॥ धर्म धारण करनेवाले लोग ऐसे विमान आदि स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं जो वादित्र आदि संगीतके साधनोंसे युक्त रहते हैं, इच्छानुसार जिनमें गमन होता है, जो उत्तम परिकरसे सहित होते हैं, कमल आदि प्रसाधन सामग्रीसे युक्त रहते हैं और अपनी प्रभासे सूर्यकी दीप्ति और चन्द्रमाकी कान्तिको तिरस्कृत करते रहते हैं ॥१३२-१३३॥ धर्मके प्रभावसे प्राणियोंको देव-भवनोंमें ऐसा वैक्रियिक

---

१. चन्द्रस्य । २. चरणरजसा । ३. ध्वजामाला म० ।

रजःस्वेदरुजामुक्तं [1]स्वामोदममलं मृदु । श्रिया परमया युक्तं [2]चक्षुष्यमुपपादजम् [3] ॥१३५॥
शरीरं लभ्यते धर्मात् प्राणिभिः सुरसद्मसु । अलंकाराश्च आचक्रतिरोहितदिगन्तराः [4] ॥१३६॥
सरोरुहदलस्पर्शचरणाः कान्तिवन्नखाः । तुलाकोटिकसंदष्ट[5]रक्तांशुकदशाननाः [6] ॥१३७॥
रम्भास्तम्भसमस्पर्शजङ्घान्तर्गतजानुकाः । काञ्चीगुणाञ्चितोदारनितम्बा द्विरदक्रमाः [7] ॥१३८॥
अनुदारवलीभङ्गतनुमध्यविराजिताः । नवोदितशशानाथप्रतिमस्तनमण्डलाः ॥१३९॥
रत्नावलीप्रभाजालनिर्मुक्तघनचन्द्रिकाः । मालतीमार्दवोपेततनुबाहुलताभृतः ॥१४०॥
महार्घमणिवाचालवलयाकुलपाणयः । अशोकपल्लवस्पर्शकराङ्गुलिगलत्प्रभाः ॥१४१॥
कम्बुकण्ठा रदच्छायापिहितद्विजवाससः [8] । लावण्यलिप्तसर्वांशकपोलामलदर्पणाः ॥१४२॥
लोचनान्तघनच्छायाकृतकर्णावतंसकाः । मुक्तापरीतपद्माभिमणिसीमन्तभूषणाः ॥१४३॥
भ्रमरासितसूक्ष्मातिमृदुकेशकलापिकाः । मृणालकोमलस्पर्शवपुषो मधुरस्वराः ॥१४४॥
अत्यन्तमुपचारज्ञा नितान्तसुभगक्रियाः । नन्दनप्रभवामोदसमनिश्वाससौरभाः ॥१४५॥
इङ्गितज्ञानकुशलाः पञ्चेन्द्रियसुखावहाः । कामरूपधरा धर्मात्प्राप्यन्तेऽप्सरसो दिवि ॥१४६॥

शरीर प्राप्त होता है जो कि सुखमय निद्राके दूर होनेपर जागृत हुए के समान जान पड़ता है, जिसकी इन्द्रियाँ अत्यन्त निर्मल होती हैं। जो तत्काल उदित सूर्यके समान देदीप्यमान होता है जो कान्तिसे चन्द्रमाकी तुलना प्राप्त करता है, रज, पसीना तथा बीमारीसे रहित होता है, अत्यन्त सुगन्धित निर्मल और कोमल होता है, उत्कृष्ट लक्ष्मीसे युक्त, नयनाभिराम और उपपाद जन्मसे उत्पन्न होता है। इसके सिवाय अपनी कान्तिके समूहसे दिगन्तरालको आच्छादित करनेवाले आभूषण भी प्राप्त होते हैं ॥१३४-१३६॥

धर्मके प्रभावसे स्वर्गमें ऐसी अप्सराएँ प्राप्त होती हैं जिनके कि चरणोंका स्पर्शन कमल दलके समान कोमल होता है, जिनके नख अत्यन्त कान्तिमान् होते हैं, जिनके लाल-लाल वस्त्रोंके अञ्चल नूपुरोंमें उलझते रहते हैं ॥१३७॥ जिनकी जङ्घाएँ केलेके स्तम्भके समान स्निग्ध स्पर्शसे युक्त होती हैं, जिनके घुटने मांस-पेशियोंमें अन्तर्निहित रहते हैं, जिनके स्थूल नितम्ब मेखलाओंसे सुशोभित होते हैं, जिनकी चाल हाथीकी चालके समान मस्तीसे भरी रहती है ॥१३८॥ जो सूक्ष्म त्रिवलिसे युक्त मध्यभागसे सुशोभित होती हैं, जिनके स्तनोंके मण्डल नवीन उदित चन्द्रमाके समान होते हैं ॥१३९॥ जिनकी रत्नावलीकी कान्तिसे सदा चाँदनी छिटकती रहती है, जो मालतीके समान कोमल और पतली भुजा रूपी लताओंको धारण करती हैं ॥१४०॥ जिनके हाथ महामूल्य मणियोंकी खनकती हुई चूड़ियोंसे सदा युक्त रहते हैं, अशोक पल्लवके समान कोमलता धारण करनेवाली जिनकी अङ्गुलियोंसे मानो कान्ति चूती रहती है ॥१४१॥ जिनके कण्ठ शङ्खके समान होते हैं, जिनके ओठ दाँतोंकी कान्तिसे आच्छादित रहते हैं, जिनके कपोल रूपी निर्मल दर्पणोंका समस्त भाग लावण्यसे संलिप्त रहता है ॥१४२॥ जिनके नयनान्तकी सघन कान्ति सदा कर्णाभरणकी शोभा बढ़ाया करती है, मोतियोंसे व्याप्त पद्मराग मणि, जिनकी माँगको अलंकृत करते रहते हैं ॥१४३॥ जिनके केशोंके समूह भ्रमरके समान काले, सूक्ष्म और अत्यन्त कोमल हैं, जिनके शरीरका स्पर्श मृणालके समान कोमल है, जिनकी आवाज अत्यन्त मधुर है ॥१४४॥ जो सब प्रकारका उपचार जानती हैं, जिनकी समस्त क्रियाएँ अत्यन्त मनोहर हैं, जिनके श्वासोच्छ्वासकी सुगन्धि नन्दनवनकी सुगन्धिके समान है ॥१४५॥ जो अभिप्रायके समझनेमें कुशल पञ्चेन्द्रियोंको सुख पहुँचानेवाली और इच्छानुसार रूपको धारण करनेवाली

---

१. सामोद म० । २. नयनाभिरामम् । ३. उपपादजन्मजातम् । ४. दिगन्तरम् म० । ५. संदष्ट ख० ।
६. तुलाकोटिकगृहीतरक्तवस्त्रान्ताः । ७. गजगामिन्यः । ८. दन्तप्रभाच्छादिताधराः ।

संकल्पमात्रसंभूतसर्वोपकरणं गुरु । विषयोत्थं सुखं ताभिः प्राप्नुवन्ति समं सुराः ॥१४७॥
सुखं यन्त्रिदशावासे यच्च मानुषविष्टपे । फलं तद्गदितं सर्वं धर्मस्य जिनपुङ्गवैः ॥१४८॥
ऊर्ध्वाधोमध्यलोकेषु यो नाम सुखसंज्ञितः । भोक्तॄणां जायते भावः स सर्वो धर्मसंभवः ॥१४९॥
दाता भोक्ता स्थितेः कर्ता यो नरः प्रतिवासरम् । रक्ष्यते नृसहस्रौघैः सर्वं तद्धर्मजं फलम् ॥१५०॥
यत्तत्सुरसहस्राणां हरिर्भूषणधारिणाम् । प्रभुत्वं कुरुते शक्रस्तत्फलं धर्मसंभवम् ॥१५१॥
यन्मोहरिपुमुद्वास्य रत्नत्रयसमन्विताः । सिद्धस्थानं प्रपद्यन्ते शुद्धधर्मस्य तत्फलम् ॥१५२॥
अप्राप्य मानुषं जन्म [1]स च धर्मो न लभ्यते । तस्मान्मनुष्यसंप्राप्तिः परमा सर्वजन्मसु ॥१५३॥
राजा श्रेष्ठो मनुष्याणां मृगाणां केसरी यथा । पक्षिणां [2]विनतापुत्रः भवानां मानुषो भवः ॥१५४॥
सारस्त्रिभुवने धर्मः सर्वेन्द्रियसुखप्रदः । क्रियते मानुषे देहे ततो मनुजता परा ॥१५५॥
तृणानां शालयः श्रेष्ठाः पादपानां च चन्दनाः । उपलानां च रत्नानि भवानां मानुषो भवः ॥१५६॥
उत्सर्पिणीसहस्राणि परिभ्रम्य कथञ्चन । लभ्यते वा न वा जन्म मनुष्याणां शरीरिणा ॥१५७॥
अवाप्य दुर्लभं तच्च क्लेशनिर्मोक्षकारणम् । जनो न कुरुते धर्मं यात्यसौ दुर्गतीः पुनः ॥१५८॥
पतितं तन्मनुष्यत्वं पुनर्दुर्लभसङ्गमम् । समुद्रसलिले नष्टं यथा रत्नं महागुणम् ॥१५९॥
इहैव मानुषे लोके कृत्वा धर्मं यथोचितम् । स्वर्गादिषु प्रपद्यन्ते [3]सर्वं प्राणभृतः फलम् ॥१६०॥
सर्वज्ञोक्तमिदं श्रुत्वा भानुकर्णः ससंमदः । भक्त्या प्रणम्य पद्माक्षः पर्यपृच्छत्कृताञ्जलिः ॥१६१॥

हैं ॥१४६॥ देव लोग, उन अप्सराओंके साथ जहाँ संकल्पमात्रसे ही समस्त उपकरण उपस्थित हो जाते हैं ऐसा विषयजन्य विशाल सुख भोगते हैं ॥१४७॥ अथवा मनुष्य लोकमें जो सुख प्राप्त होता है जिनेन्द्र देवने उस सबको धर्मका फल कहा है ॥१४८॥ ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोकमें उपभोक्ताओंको जो भी सुख नामका पदार्थ प्राप्त होता है वह सब धर्मसे ही उत्पन्न होता है ॥१४९॥ दान देनेवाले, उपभोग करनेवाले, एवं मर्यादा स्थापित करनेवाले मनुष्यकी जो हजारों मनुष्योंके झुण्ड रक्षा करते हैं वह सब धर्मसे उत्पन्न हुआ फल समझना चाहिए ॥१५०॥ मनोहर आभूषण धारण करनेवाले हजारों देवोंपर इन्द्र जो शासन करता है वह धर्मसे उत्पन्न हुआ फल है ॥१५१॥ सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयसे युक्त जो पुरुष मोहरूपी शत्रुको नष्टकर मोक्ष स्थान प्राप्त करते हैं वह शुद्ध धर्मका फल है ॥१५२॥ मनुष्य-जन्मके बिना अन्यत्र वह धर्म प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए मनुष्यभवकी प्राप्ति सब भवोंमें श्रेष्ठ है ॥१५३॥ जिस प्रकार मनुष्योंमें राजा, मृगोंमें सिंह, और पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ है उसी प्रकार सब भवोंमें मनुष्यभव श्रेष्ठ है ॥१५४॥ तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ एवं समस्त इन्द्रियोंको सुख देनेवाला धर्म मनुष्य शरीरमें ही किया जाता है इसलिए मनुष्य देह ही सर्व श्रेष्ठ है ॥१५५॥ जिस प्रकार तृणोंमें धान, वृक्षोंमें चन्दन और पत्थरोंमें रत्न श्रेष्ठ है उसी प्रकार सब भवोंमें मनुष्यभव श्रेष्ठ है ॥१५६॥ हजारों उत्सर्पिणियोंमें भ्रमण करनेके बाद यह जीव किसी तरह मनुष्य जन्म प्राप्त करता है और नहीं भी प्राप्त करता है ॥१५७॥ क्लेशोंसे छुटकारा देनेवाले उस मनुष्य जन्मको पाकर जो मनुष्य धर्म नहीं करता है वह पुनः दुर्गतियोंको प्राप्त होता है ॥१५८॥ जिस प्रकार समुद्रके पानीमें गिरा महामूल्य रत्न दुर्लभ हो जाता है उसी प्रकार नष्ट हुए मनुष्य-जन्मका पुनः पाना भी दुर्लभ है ॥१५९॥ इसी मनुष्य पर्यायमें यथायोग्य धर्मकर प्राणी स्वर्गादिकमें समस्त फल प्राप्त करते हैं ॥१६०॥

सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे हुए इस उपदेशको सुनकर भानुकर्ण बहुत ही हर्षित हुआ। उसके नेत्र कमलके समान विकसित हो गये। उसने भक्तिपूर्वक प्रणामकर तथा हाथ जोड़कर पूछा

१. सत्त्वधर्मो म० । २. गरुडः । ३. सर्वप्राणभृतः क०, ख०, म० ।

भगवन्न ममाद्यापि जायते प्राप्ततृप्तिता । अतो विधानतो धर्मं निवेदयितुमर्हसि ॥१६२॥
ततोऽनन्तबलोऽवोचद्विशेषं [1]सौकृतं शृणु । संसाराद्येन मुच्यन्ते प्राणिनो भव्यतां गताः ॥१६३॥
द्विविधो गदितो धर्मो महत्त्वादागवात्तथा । आद्योऽगारविमुक्तानामन्यश्च भववर्तिनाम् ॥१६४॥
विसृष्टसर्वसङ्गानां श्रमणानां महात्मनाम् । कीर्तयामि समाचारं दुरितक्षोदनक्षमम् ॥१६५॥
मते सुव्रतनाथस्य लीना [2] निखिलवेदिनः । मृत्युजन्मसमुद्भूत[3]महात्राससमन्विताः ॥१६६॥
एरण्डसदृशं ज्ञात्वा मनुष्यत्वमसारकम् । सङ्गेन[4] रहिता धन्या [5]श्रमणत्वमुपाश्रिताः ॥१६७॥
रता महत्त्वयुक्तेषु पञ्चसंख्येषु साधवः । व्रतेष्वाविग्रहत्यागात्तत्त्वावगमतत्पराः ॥१६८॥
समितिष्वपि तत्संख्यासंगतासु सुचेतसः । अभियुक्ता महासत्त्वास्त्रिसंख्यासु च गुप्तिषु ॥१६९॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं यथोदितम् । येषामस्ति न तेषां स्यात्परिग्रहसमाश्रयः ॥१७०॥
देहेऽपि ये न कुर्वन्ति निजे [6]रागं मनीषिणः । कः स्यात्परिग्रहस्तेषां [7]यत्रास्तमितशायिनाम्[8] ॥१७१॥
अपि वालाग्रमात्रेण पापोपार्जनकारिणा । ग्रन्थेन रहिता धीरा मुनयः सिंहविक्रमाः ॥१७२॥
[9]समस्तप्रतिबन्धेन समीरणवदुज्झिताः । खगानामपि सङ्गः स्यान्न तु तेषां मनागपि ॥१७३॥
व्योमवन्मलसम्बन्धरहिताः श्लाघ्यचेष्टिताः । रजनीनाथवत्सौम्या दीप्ता दिवसनाथवत् ॥१७४॥
निम्नगानाथगम्भीरा धीरा भूधरनाथवत् । भीतकूर्मवदत्यन्तगुप्तेन्द्रियकदम्बकाः ॥१७५॥

कि ॥१६१॥ हे भगवन् ! अभी जो उपदेश प्राप्त हुआ है उससे मुझे तृप्ति नहीं हुई है अतः भेद-प्रभेदके द्वारा धर्मका निरूपण कीजिए ॥१६२॥ तब अनन्तबल केवली कहने लगे कि अच्छा धर्मका विशेष वर्णन सुनो जिसके प्रभावसे भव्यप्राणी संसारसे मुक्त हो जाते हैं ॥१६३॥ महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे धर्म दो प्रकारका कहा गया है। उनमेंसे पहला अर्थात् महाव्रत गृहत्यागी मुनियोंके होता है और दूसरा अर्थात् अणुव्रत संसारवर्ती गृहस्थोंके होता है ॥१६४॥ अब मैं समस्त परिग्रहोंसे रहित महान् आत्माके धारी मुनियोंका वह चरित्र कहता हूँ जो कि पापोंको नष्ट करनेमें समर्थ है ॥१६५॥ समस्त पदार्थोंको जाननेवाले मुनि सुव्रतनाथ तीर्थङ्करके तीर्थमें ऐसे कितने ही महापुरुष हैं जो जन्म-मरण सम्बन्धी महाभयसे युक्त हैं ॥१६६॥ ये मनुष्य पर्यायको एरण्ड वृक्षके समान निःसार जानकर परिग्रहसे रहित हो मुनिपदको प्राप्त हुए हैं ॥१६७॥ वे साधु सदा पञ्च महाव्रतोंमें लीन रहते हैं और शरीर त्याग पर्यन्त तत्त्वज्ञानके प्राप्त करनेमें तत्पर होते हैं ॥१६८॥ शुद्ध हृदयको धारण करनेवाले ये धैर्यशाली मुनि पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंमें सदा लीन रहते हैं ॥१६९॥ अहिंसा, सत्य, अचौर्य और आगमानुमोदित ब्रह्मचर्य उन्हींके होता है जिनके कि परिग्रहका आलम्बन नहीं होता ॥१७०॥ जो बुद्धिमान् जन अपने शरीरमें भी राग नहीं करते हैं और सूर्यास्त हो जाने पर यत्नपूर्वक विश्राम करते हैं उनके परिग्रह क्या हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥१७१॥ मुनि, पाप उपार्जन करनेवाले बालाग्रमात्र परिग्रहसे रहित होते हैं तथा अत्यन्त धीरवीर और सिंहके समान पराक्रमी होते हैं ॥१७२॥ ये वायुके समान सब प्रकारके प्रतिबन्धसे रहित होते हैं। पक्षियोंके तो परिग्रह हो सकता है पर मुनियोंके रञ्चमात्र भी परिग्रह नहीं होता ॥१७३॥ ये आकाशके समान मलके संसर्गसे रहित होते हैं, इनकी चेष्टाएँ अत्यन्त प्रशंसनीय होती हैं, ये चन्द्रमाके समान सौम्य और दिवाकरके समान देदीप्यमान होते हैं ॥१७४॥ ये समुद्रके समान गम्भीर, सुमेरुके समान धीरवीर, और भयभीत कछुएके समान समस्त इन्द्रियोंके समूहको अत्यन्त गुप्त रखनेवाले होते

---

१. सुकृतस्येदं सौकृतम् । २. लीला- म० । ३. महत्त्रास म० । ४. संज्ञेन म० । ५. श्रवणत्व- म०, ब०, क० । ६. रागे म० । ७. यत्रास्तमित-म०, यशस्तमित-ख० । ८. यत्नेनास्तमिते शेरत इत्येवं शीलनाम् । ९. प्रतिबन्धरहितत्वेन ।

[1]क्षमया [2]क्षमया तुल्याः कषायोद्रेकवर्जिताः । अशीत्या गुणलक्षाणां चतुःसहितयान्विताः ॥१७६॥
अष्टादशजिनोद्दिष्ट[3]शीललक्षसमन्विताः । अत्यन्ताढ्यास्तपोभूत्या सिद्ध्याकाङ्क्षणतत्पराः ॥१७७॥
जिनोदितार्थसंसक्ता विदितापरशासनाः । श्रुतसागरपारस्था मुनयो यमधारिणः ॥१७८॥
नियमानां विधातारः समुद्धततयोज्झिताः । नानालब्धिकृतासङ्गा महामङ्गलमूर्तयः ॥१७९॥
एवंगुणाः समस्तस्य जगतः कृतमण्डनाः । श्रमणास्तनुकर्माणः प्रयान्त्युत्तमदेवताम् ॥१८०॥
द्वित्रैर्भवैश्च निःशेषं कलुषं ध्यानवह्निना । निर्दह्य[4] प्रतिपद्यन्ते सुखं सिद्धसमाश्रितम् ॥१८१॥
स्नेहपञ्जररुद्धानां गृहाश्रमनिवासिनाम् । धर्मोपायं प्रवक्ष्यामि शृणु द्वादशधा स्थितम् ॥१८२॥
[5]व्रतान्यणूनि पञ्चैषां [6]शिक्षा चोक्ता चतुर्विधा । गुणास्त्रयो यथाशक्तिनियमास्तु[7] सहस्रशः ॥१८३॥
प्राणातिपाततः स्थूलाद्विरतिर्वितथात्तथा[8] । ग्रहणात्परवित्तस्य परदारसमागमात् ॥१८४॥
अनन्तायाश्च गर्द्धायाः पञ्चसंख्यमिदं व्रतम् । भावना चेयमेतेषां कथिता जिनपुङ्गवैः ॥१८५॥
इष्टो यथात्मनो देहः सर्वेषां प्राणिनां तथा । एवं ज्ञात्वा सदा कार्या दया [9]सर्वासुधारिणाम् ॥१८६॥
एषैव हि पराकाष्ठा धर्मस्योक्ता जिनाधिपैः । दयारहितचित्तानां धर्मः स्वल्पोऽपि नेष्यते ॥१८७॥
वचनं परपीडायां हेतुत्वं यत्प्रपद्यते । अलीकमेव तत्प्रोक्तं सत्यमस्माद्विपर्यये[10] ॥१८८॥
वधादि कुरुते जन्मन्यस्मिन्स्तेयमनुष्ठितम् । कर्तुः परत्र दुःखानि विविधानि कुयोनिषु ॥१८९॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मतिमान् वर्जयेन्नरः । लोकद्वयविरोधस्य निमित्तं क्रियते कथम् ॥१९०॥

हैं ॥१७५॥ ये क्षमाधर्मके कारण क्षमा अर्थात् पृथ्वीके तुल्य हैं, कषायोंके उद्रेकसे रहित हैं और चौरासीलाख गुणोंसे सहित हैं ॥१७६॥ जिनेन्द्र प्रतिपादित शीलके अठारहलाख भेदोंसे सहित हैं, तपरूपी विभूतिसे अत्यन्त सम्पन्न हैं तथा मुक्तिकी इच्छा करनेमें सदा तत्पर रहते हैं ॥१७७॥ ये मुनि जिनेन्द्रनिरूपित पदार्थोंमें लीन रहते हैं, अन्य धर्मोंके भी अच्छे जानकार होते हैं, श्रुतरूपी सागरके पारगामी और यमके धारी होते हैं ॥१७८॥ ये मुनि अनेक नियमोंके करनेवाले, उद्दण्डतासे रहित, नाना ऋद्धियोंसे सम्पन्न और महामङ्गलमय शरीरके धारक होते हैं ॥१७९॥ इस तरह जो पूर्वोक्त गुणोंको धारण करनेवाले हैं, समस्त जगत्के आभरण हैं और जिनके कर्म क्षीण हो गये हैं ऐसे मुनि उत्तम देव पदको प्राप्त होते हैं ॥१८०॥ तदनन्तर दो-तीन भवोंमें ध्यानाग्निके द्वारा समस्त कलुषताको जलाकर निर्वाण-सुखको प्राप्त कर लेते हैं ॥१८१॥

अब स्नेहरूपी पिंजड़ेमें रुके हुए गृहस्थाश्रमवासी लोगोंका बारह प्रकारका धर्म कहता हूँ सो सुनो ॥१८२॥ गृहस्थोंको पाँच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत, तीन गुणव्रत और यथाशक्ति हजारों नियम धारण करने पड़ते हैं ॥१८३॥ स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल परद्रव्यग्रहण, परस्त्री समागम और अनन्ततृष्णासे विरत होना ये गृहस्थोंके पाँच अणुव्रत कहलाते हैं। इन व्रतोंकी रक्षाके लिए जिनेन्द्रदेवने निम्नाङ्कित भावनाका निरूपण किया है ॥१८४-१८५॥ गृहस्थको ऐसा जानकर कि जिस प्रकार मुझे अपना शरीर इष्ट है उसी प्रकार समस्त प्राणियोंको भी अपना-अपना शरीर इष्ट होता है सब प्राणियों पर दया करनी चाहिए ॥१८६॥ जिनेन्द्रदेवने दयाको ही धर्मकी परम सीमा बतलाई है। यथार्थमें जिनके चित्त दयारहित हैं उनके थोड़ा भी धर्म नहीं होता है ॥१८७॥ जो वचन दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें निमित्त है वह असत्य ही कहा गया है, क्योंकि सत्य इससे विपरीत होता है ॥१८८॥ की गई चोरी इस जन्ममें वध, बन्धन आदि कराती है और मरनेके बाद कुयोनियोंमें नाना प्रकारके दुःख देती है ॥१८९॥ इसलिए बुद्धिमान्

---

१. क्षान्त्या । २. पृथिव्या । ३. सहस्रशीलयान्विताः ख० । शीलसहस्रचान्विताः ब०, म० । ४. निर्दह्यं म० । ५. व्रतान्यमूनि म० । ६. शिखा म० । ७. निर्यमास्तु म० । ८. वितथा म० । ९. सर्वप्राणिनाम् । १०. -मस्मद्विपर्यये म० ।

परिवर्ज्या भुजङ्गीव वनितान्यस्य दूरतः । सा हि लोभवशा पापा पुरुषस्य विनाशिका ॥१९१॥
यथा च जायते दुःखं रुद्धायामात्मयोषिति । नरान्तरेण सर्वेषामियमेव व्यवस्थितिः ॥१९२॥
[1]उदारश्च तिरस्कारः प्राप्यतेऽत्रैव जन्मनि । तिर्यङ्नरकयोर्दुःखं प्राप्यमेवातिदुस्सहम् ॥१९३॥
प्रमाणं कार्यमिच्छायाः सा हि दद्यान्निरंकुशा । [2]महाःदुःखमिहाख्येयौ भद्रकाञ्चनसंज्ञकौ ॥१९४॥
विक्रेता बदरादीनां भद्रो दीनारमात्रकम् । द्रविणं प्रत्यजानीत दृष्ट्वातो[3] वर्त्मनि च्युतम् ॥१९५॥
[4]प्रसेवकमितोऽगृह्णाद्दीनारं तु कुतूहली । तत्र काञ्चननामा तु सर्वमेव प्रसेवकम् ॥१९६॥
दीनारस्वामिना राजा काञ्चनो वीक्ष्य नाशितः । स्वयमर्पितदीनारो भद्रस्तु परिपूजितः ॥१९७॥
विगमोऽनर्थदण्डेभ्यो दिग्विदिक्परिवर्जनम् । भोगोपभोगसंख्यानं त्रयमेतद्गुणव्रतम् ॥१९८॥
सामायिकं [5]प्रयत्नेन प्रोषधानशनं तथा । संविभागोऽतिथीनां च [6]सल्लेखश्चायुषः क्षये ॥१९९॥
संकेतो न तिथौ यस्य कृतो यश्चापरिग्रहः । गृहमेति गुणैर्युक्तैः[7] श्रमणः सोऽतिथिः स्मृतः ॥२००॥
संविभागोऽस्य कर्तव्यो यथाविभवमादरात् । विधिना लोभमुक्तेन[8] भिक्षोपकरणादिभिः ॥२०१॥
मधुनो मद्यतो मांसाद् द्यूततो रात्रिभोजनात् । वेश्यासंगमनाच्चास्य विरतिर्नियमः स्मृतः ॥२०२॥

मनुष्यको चाहिए कि वह चोरीका सर्व प्रकारसे त्याग करे। जो कार्य दोनों लोकोंमें विरोधका कारण है वह किया ही कैसे जा सकता है? ॥१९०॥ परस्त्रीका सर्पिणीके समान दूरसे ही त्याग करना चाहिए क्योंकि वह पापिनी लोभके वशीभूत हो पुरुषका नाश कर देती है ॥१९१॥ जिस प्रकार अपनी स्त्रीको कोई दूसरा मनुष्य छेड़ता है और उससे अपने आपको दुःख होता है उसी प्रकार सभीकी यह व्यवस्था जाननी चाहिए ॥१९२॥ परस्त्री सेवन करनेवाले मनुष्यको इसी जन्ममें बहुत भारी तिरस्कार प्राप्त होता है और मरने पर तिर्यञ्च तथा नरकगतिके अत्यन्त दुःसह दुःख प्राप्त करने ही पड़ते हैं ॥१९३॥ अपनी इच्छाका सदा परिमाण करना चाहिए क्योंकि इच्छा पर यदि अंकुश नहीं लगाया गया तो वह महादुःख देती है। इस विषयमें भद्र और काञ्चनका उदाहरण प्रसिद्ध है ॥१९४॥ बेर आदिको बेचनेवाला एक भद्र नामक पुरुष था। उसने प्रतिज्ञा की थी कि मैं एक दीनारका ही परिग्रह रक्खूँगा। एक बार उसे मार्गमें पड़ा हुआ बटुआ मिला। उस बटुएमें यद्यपि बहुत दीनारें रक्खीं थी पर भद्रने अपनी प्रतिज्ञाका ध्यान कर कुतूहलवश उनमेंसे एक दीनार निकाल ली। शेष बटुआ वहीं छोड़ दिया। वह बटुआ काञ्चन नामक दूसरे पुरुषने देखा तो वह सबका सब उठा लिया। दीनारोंका स्वामी राजा था जब उसने जाँच-पड़ताल की तो काञ्चनको मृत्युकी सजा दी गई और भद्रने जो एक दीनार ली वह स्वयं ही जाकर राजाको वापिस कर दी जिससे राजाने उसका सन्मान किया ॥१९५–१९७॥

अनर्थदण्डोंका त्याग करना, दिशाओं और विदिशाओंमें आवागमकी सीमा निर्धारित करना और भोगोपभोगका परिमाण करना ये तीन गुणव्रत हैं ॥१९८॥ प्रयत्न पूर्वक सामायिक करना, प्रोषधोपवास धारण करना, अतिथिसंविभाग और आयुका क्षय उपस्थित होनेपर सल्लेखना धारण करना ये चार शिक्षाव्रत हैं ॥१९९॥ जिसने अपने आगमनके विषयमें किसी तिथिका संकेत नहीं किया है, जो परिग्रहसे रहित है और सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे युक्त होकर घर आता है ऐसा मुनि अतिथि कहलाता है ॥२००॥ ऐसे अतिथिके लिए अपने वैभवके अनुसार आदरपूर्वक लोभरहित हो भिक्षा तथा उपकरण आदि देना चाहिए यही अतिथिसंविभाग है ॥२०१॥ इनके सिवाय गृहस्थ मधु, मद्य, मांस, जुआ, रात्रिभोजन और वेश्यासमागमसे जो

---

१. अधिकः। २. महद्दुःख- म०। ३. दृष्ट्वा तौ ब०। ४. बटुआ इति हिन्दी। ५. प्रयत्नेन म०। ६. संलेखश्चायुषः म०। ७. युक्ताः म०। ८. लोभयुक्तेन म०।

गृहधर्ममिमं कृत्वा समाधिप्राप्तपञ्चतः[1] । प्रपद्यते सुदेवत्वं च्युत्वा च सुमनुष्यताम् ॥२०३॥
भवानामेवमष्टानामन्तः[2] कृत्वानुवर्तनम् । रत्नत्रयस्य निर्ग्रन्थो भूत्वा सिद्धिं समश्नुते ॥२०४॥
नरत्वं दुर्लभं प्राप्य यथोक्ताचरणाक्षमः । श्रद्धाति जिनोक्तं यः सोऽप्यासन्नशिवालयः ॥२०५॥
सम्यग्दर्शनलाभेन केवलेनापि मानवः । सर्वलाभवरिष्ठेन दुर्गतित्रासमुज्झति ॥२०६॥
कुरुते यो जिनेन्द्राणां नमस्कारं स्वभावतः । पुण्याधारः स पापस्य लवेनापि न युज्यते ॥२०७॥
यः स्मरत्यपि भावेन जिनांस्तस्याशुभं क्षयम् । सद्यः समस्तमायाति भवकोटिभिरर्जितम् ॥२०८॥
प्रशस्ताः सततं तस्य ग्रहाः[3] स्वप्नाः शकुन्तयः । [4]त्रैलोक्यसाररत्नं यो दधाति हृदये जिनम् ॥२०९॥
अर्हते नम इत्येतत्प्रयुङ्क्ते यो वचो जनः । भावात्तस्याचिरात् कृत्स्नकर्ममुक्तिरसंशया ॥२१०॥
जिनचन्द्रकथारश्मिसंगमादेति फुल्लताम् । [5]सिद्धियोग्यासुमत्स्वान्तःकुमुदं परमामलम्[6] ॥२११॥
अर्हत्सिद्धमुनिभ्यो यो नमस्यां कुरुते जनः । स परीतभवो ज्ञेयः सुशासनजनप्रियः ॥२१२॥
जिनबिम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम् । यः करोति जनस्तस्य न किञ्चिद् दुर्लभं भवेत् ॥२१३॥
नरनाथः कुटुम्बी वा धनाढ्यो दुर्विधोऽथवा । जनो धर्मेण यो युक्तः स पूज्यः सर्वविष्टपे ॥२१४॥
महाविनयसम्पन्नाः कृत्याकृत्यविचक्षणाः । जनाः गृहाश्रमस्थानां प्रधाना धर्मसंगमात् ॥२१५॥
मधुमांससुरादीनामुपयोगं न कुर्वते । ये जनास्ते गृहस्थानां ललामत्वे[7] प्रतिष्ठिताः ॥२१६॥

विरक्त होता है उसे नियम कहा है ॥२०२॥ इस गृहस्थ धर्मका पालनकर जो समाधिपूर्वक मरण करता है, वह उत्तमदेव पर्यायको प्राप्त होता है और वहाँसे च्युत होकर उत्तम मनुष्यत्व प्राप्त करता है ॥२०३॥ ऐसा जीव अधिकसे अधिक आठ भवोंमें रत्नत्रयका पालनकर अन्तमें निर्ग्रन्थ हो सिद्धिपदको प्राप्त होता है ॥२०४॥ जो दुर्लभ मनुष्यपर्याय पाकर यथोक्त आचरण करनेमें असमर्थ है, केवल जिनेन्द्रदेवके द्वारा कथित आचरणकी श्रद्धा करता है वह भी निकट कालमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥२०५॥ जिसका लाभ सब लाभोंमें श्रेष्ठ है ऐसे केवल सम्यग्दर्शनके द्वारा भी मनुष्य दुर्गतिके भयसे छूट जाता है ॥२०६॥ जो स्वभावसे ही जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार करता है वह पुण्यका आधार होता है तथा पापके अंशमात्रका भी उससे सम्बन्ध नहीं होता ॥२०७॥ नमस्कार तो दूर रहा जो जिनेन्द्र देवका भाव पूर्वक स्मरण भी करता है उसके करोड़ों भवोंके द्वारा संचित पाप कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥२०८॥ जो मनुष्य तीन लोकमें श्रेष्ठ रत्नस्वरूप जिनेन्द्र देवको हृदयमें धारण करता है उसके सब ग्रह, स्वप्न और शकुन की सूचना देनेवाले पक्षी सदा शुभ ही रहते हैं ॥२०९॥ जो मनुष्य 'अर्हते नमः' अर्हन्तके लिए नमस्कार हो, इस वचनका भाव पूर्वक उच्चारण करता है उसके समस्त कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं इसमें संशय नहीं है ॥२१०॥ जिनेन्द्र चन्द्रकी कथा रूपी किरणोंके समागमसे भव्य जीवका निर्मल हृदयरूपी कुमुद शीघ्र ही प्रफुल्ल अवस्थाको प्राप्त होता है ॥२११॥ जो मनुष्य अर्हन्त सिद्ध और मुनियोंके लिए नमस्कार करता है वह जिनशासनके भक्त जनोंसे स्नेह रखने-वाला अतीतसंसार है अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करनेवाला है ऐसा जानना चाहिए ॥२१२॥ जो पुरुष जिनेन्द्र देवकी प्रतिमा बनवाता है, जिनेन्द्र देवका आकार लिखवाता है, जिनेन्द्र देवकी पूजा करता है अथवा जिनेन्द्रदेवकी स्तुति करता है उसके लिए संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं होता ॥२१३॥ यह मनुष्य चाहे राजा हो चाहे साधारण कुटुम्बी, धनाढ्य हो चाहे दरिद्र, जो भी धर्मसे युक्त होता है वह समस्त संसारमें पूज्य होता है ॥२१४॥ जो महाविनयसे सम्पन्न तथा कार्य और अकार्यके विचारमें निपुण हैं वे धर्मके समागमसे गृहस्थोंमें प्रधान होते हैं ॥२१५॥ जो मनुष्य मधु मांस और मदिरा आदिका उपयोग नहीं करते हैं वे गृहस्थोंके आभूषण

१. समाधिप्राप्तमरणः । २. मध्ये । ३. ग्रहाः सर्वे शकुन्तयः म० । ४. त्रैलोक्यं साररत्नं म० । ५. भव्यप्राणिहृदयकुमुदम् । ६. परमालयम् म० । ७. अलंकारत्वे ।

शङ्कया काङ्क्षया युक्ता तथा ये विचिकित्सया। सुदूररहितात्मानः परदृष्टिप्रशंसया ॥२१७॥
अन्यशासनसंबद्धसंस्तवेन विवर्जिताः। जन्तवस्ते गृहस्थानां प्रधानपदमाश्रिताः ॥२१८॥
सुचारुवसनोऽत्यन्तसुरभिः प्रियदर्शनः। शस्यमानः पुरस्त्रीभिर्याति यो वन्दितुं जिनम् ॥२१९॥
ईक्षमाणो महीं मुक्तविकारश्चारुभावनः। साधुकृत्यसमुद्युक्तः पुण्यं तस्यान्तवर्जितम् ॥२२०॥
तृणोपमं परद्रव्यं पश्यन्ति स्वसमं परम्। परयोषां समां मातुर्ये ते धन्यतमा जनाः ॥२२१॥
प्रतिपद्य कदा दीक्षां विहरिष्यामि मेदिनीम्। क्षयित्वा कदा कर्म प्रपत्स्ये सिद्धसंश्रयम् ॥२२२॥
एवं प्रतिदिनं यस्य ध्यानं विमलचेतसः। भीतानीव न कुर्वन्ति तेन कर्माणि संगतिम् ॥२२३॥
सप्ताष्टजन्मभिः केचित्सिद्धिं गच्छन्ति जन्तवः। केचिदुग्रतपः कृत्वा द्वित्रैरेव सुचेतसः ॥२२४॥
क्षिप्रं यान्ति महानन्दं मध्यमा भव्यजन्तवः। असमर्थास्तु विश्रम्य मार्गस्य यदि वेदकाः[1] ॥२२५॥
अह्नोऽपि योजनशतमविद्वान् वर्त्म यो जनः। भ्राम्यतीष्टमवाप्नोति स पदं न चिरादपि ॥२२६॥
तथोग्रमपि कुर्वाणास्तपो वितथदर्शनाः[2]। प्राप्नुवन्ति पदं नैव जन्ममृत्युविवर्जितम् ॥२२७॥
मोहान्धकारसंछन्ने कषायोरगसंकुले। ते भ्रमन्ति भवारण्ये नष्टमुक्तिपथा जनाः ॥२२८॥
न शीलं न च सम्यक्त्वं न त्यागः साधुगोचरः। यस्य तस्य भवाम्भोधितरणं जायते कथम् ॥२२९॥
विन्ध्यस्य स्रोतसा नागा यत्रोह्यन्ते नगोन्नताः[3]। वराकाः शशकास्तत्र चिरं नीता विसंशयम् ॥२३०॥
मृत्युजन्मजरावर्तभवस्रोतो विवर्तिनः। कुतीर्थ्या यत्र नीयन्ते तद्भक्तेष्वत्र का कथा ॥२३१॥

पद पर स्थित हैं अर्थात् गृहस्थोंके आभूषण हैं ॥२१६॥ जो शङ्का काङ्क्षा और विचिकित्सासे रहित हैं, जिनकी आत्मा अन्यदृष्टियोंकी प्रशंसासे दूर है और जो अन्य शासन सम्बन्धी स्तवनसे वर्जित हैं वे गृहस्थोंमें प्रधान पदको प्राप्त हैं ॥२१७-२१८॥ जो उत्तम वस्त्रका धारक है, जिसके शरीरसे सुगन्धि निकल रही है, जिसका दर्शन सबको प्रिय लगता है, नगरकी स्त्रियाँ जिसकी प्रशंसा कर रही हैं, जो पृथिवीको देखता हुआ चलता है, जिसने सब विकार छोड़ दिये हैं, जो उत्तम भावनासे युक्त है और अच्छे कार्योंके करनेमें तत्पर है ऐसा होता हुआ जो जिनेन्द्रदेवकी वन्दनाके लिए जाता है उसे अनन्त पुण्य प्राप्त होता है ॥२१९-२२०॥ जो पर द्रव्यको तृणके समान, पर पुरुषको अपने समान और परस्त्रीको माताके समान देखते हैं वे धन्य हैं ॥२२१॥ 'मैं दीक्षा लेकर पृथिवीपर कब विहार करूँगा ? और कब कर्मोंको नष्टकर सिद्धालयमें पहुँचूँगा' जो निर्मल चित्तका धारी मनुष्य प्रति दिन ऐसा विचार करता है कर्म भयभीत होकर ही मानो उसकी संगति नहीं करते ॥२२२-२२३॥ कोई-कोई गृहस्थ प्राणी, सात आठ भवोंमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और उत्तम हृदयको धारण करनेवाले कितने ही मनुष्य तीक्ष्ण तपकर दो तीन भवमें ही मुक्त हो जाते हैं ॥२२४॥ मध्यम भव्य प्राणी शीघ्र ही महान् आनन्द अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं पर जो असमर्थ हैं किन्तु मार्गको जानते हैं वे कुछ विश्राम करनेके बाद महा आनन्द प्राप्त कर पाते हैं ॥२२५॥ जो मनुष्य मार्गको न जानकर दिनमें सौ-सौ योजन तक गमन करता है वह भटकता ही रहता है तथा चिरकाल तक भी इष्ट स्थानको नहीं प्राप्त कर सकता है ॥२२६॥ जिनका श्रद्धान मिथ्या है ऐसे लोग उग्र तपश्चरण करते हुए भी जन्ममरणसे रहित पद नहीं प्राप्त कर पाते हैं ॥२२७॥ जो मोक्षमार्ग अर्थात् रत्नत्रयसे भ्रष्ट हैं वे मोहरूपी अन्धकारसे आच्छादित तथा कषाय रूपी सर्पोंसे व्याप्त संसार रूपी अटवीमें भटकते रहते हैं ॥२२८॥ जिसके न शील है, न सम्यक्त्व है, और न उत्तम त्याग ही है उसका संसार सागरसे संतरण किस प्रकार हो सकता है ? ॥२२९॥ विन्ध्याचलके जिस प्रवाहमें पहाड़के समान ऊँचे-ऊँचे हाथी बह जाते हैं उसमें बेचारे खरगोश तो निःसन्देह ही बह जाते हैं ॥२३०॥ जहाँ कुतीर्थका उपदेश देने वाले कुगुरु भी जन्म-

१. वेदना ख०। २. मिथ्यादृशः। ३. गिरिवदुन्नताः।

यथा तारयितुं शक्ता न शिला सलिले शिलाम् । तथा परिग्रहासक्ताः कुतीर्थ्याः शरणागतान् ॥२३२॥
तपोनिर्दग्धपापा ये लघवस्तत्त्ववेदिनः[1] । त एव तारणे शक्ता जनानामुपदेशतः ॥२३३॥
संसारसागरे भीमे रत्नद्वीपोऽयमुत्तमः । यदेतन्मानुषं क्षेत्रं[2] तद्धि दुःखेन लभ्यते ॥२३४॥
तस्मिन्नियमरत्नानि गृहीतव्यानि धीमता । अवश्यं देहमुत्सृज्य कर्तव्यो भवसंक्रमः ॥२३५॥
अतो यथात्र सूत्रार्थं कश्चित् संचूर्णयेन्मणीन् । विषयार्थं तथा धर्मरत्नानां चूर्णको जनः ॥२३६॥
अनित्यत्वं शरीरादेरभावं शरणस्य च । अशुचित्वं तथान्यत्वमात्मनो देहपञ्जरात् ॥२३७॥
एकत्वमथ संसारो लोकस्य च विचित्रता । आस्रवः संवरः पूर्वकर्मणां निर्जरा तथा ॥२३८॥
बोधिदुर्लभताधर्मस्वाख्यातत्वं जिनेश्वरैः । द्वादशैवमनुप्रेक्षाः कर्तव्या हृदये सदा ॥२३९॥
आत्मनः शक्तियोगेन धर्मं यो यादृशं भजेत् । स तस्य तादृशं भुङ्क्ते फलं देवादिभूमिषु ॥२४०॥
एवं वदन्नसौ पृष्टो भानुकर्णेन केवली । सभेदं नियमं नाथ ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥२४१॥
ततो जगाद भगवान्भानुकर्णावधारय । नियमश्च तपश्चेति द्वयमेतन्न भिद्यते ॥२४२॥
तेन युक्तो जनः शक्त्या तपस्वीति निगद्यते । तत्र सर्वं प्रयत्नेन मतिः कार्या सुमेधसा ॥२४३॥
स्वल्पं स्वल्पमपि प्राज्ञैः कर्तव्यं सुकृतार्जनम् । पतद्भिर्बिन्दुभिर्जाता महानद्यः समुद्रगाः ॥२४४॥
अह्नो मुहूर्तमात्रं यः कुरुते भुक्तिवर्जनम् । फलं तस्योपवासेन समं मासेन जायते ॥२४५॥

जरा-मृत्युरूपी आवर्तों से युक्त संसार रूपी प्रवाहमें चक्कर काटते हैं, वहाँ उनके भक्तोंकी कथा ही क्या है ? ॥२३१॥ जिस प्रकार पानीमें पड़ी शिलाको शिला ही तारनेमें समर्थ नहीं है उसी प्रकार परिग्रही साधु शरणागत परिग्रही भक्तोंको तारनेमें समर्थ नहीं हैं ॥२३२॥ जो तपके द्वारा पापोंको जलाकर हलके हो गये हैं ऐसे तत्त्वज्ञ मनुष्य ही अपने उपदेशसे दूसरोंको तारनेमें समर्थ होते हैं ॥२३३॥ जो यह मनुष्य क्षेत्र है सो भयंकर संसार-सागरमें मानो उत्तम रत्नद्वीप है। इसकी प्राप्ति बड़े दुःखसे होती है ॥२३४॥ इस रत्नद्वीपमें आकर बुद्धिमान् मनुष्यको अवश्य ही नियम रूपी रत्न ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वर्तमान शरीर छोड़कर पर्यायान्तरमें अवश्य ही जाना होगा ॥२३५॥ इस संसारमें जो विषयोंके लिए धर्मरूपी रत्नोंका चूर्ण करता है वह वैसा ही है जैसा कि कोई सूत प्राप्त करनेके लिए मणियोंका चूर्ण करता है ॥२३६॥ शरीरादि अनित्य है, कोई किसीका शरण नहीं हैं, शरीर अशुचि है, शरीर रूपी पिंजड़ेसे आत्मा पृथक् है, यह अकेला ही सुख दुःख भोगता है, संसारके स्वरूपका चिन्तवन करना, लोक की विचित्रताका विचार करना, आस्रवके दुर्गुणोंका ध्यान करना, संवरकी महिमाका चिन्तवन करना, पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जराका उपाय सोचना ? बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी दुर्लभताका विचार करना और धर्मका माहात्म्य सोचना—जिनेन्द्र भगवान्ने ये बारह भावनाएं कहीं हैं सो इन्हें सदा हृदयमें धारण करना चाहिये ॥२३७–२३९॥ जो अपनी शक्तिके अनुसार जैसे धर्मका सेवन करता है वह देवादि गतियोंमें उसका वैसा ही फल भोगता है ॥२४०॥

इस प्रकार उपदेश देते हुए अनन्तबल केवलीसे भानुकर्णने पूछा कि हे नाथ ! मैं अब नियम तथा उसके भेदोंको जानना चाहता हूँ ॥२४१॥ इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि हे भानुकर्ण ! ध्यान देकर अवधारण करो। नियम और तप ये दो पदार्थ जुदे-जुदे नहीं हैं ॥२४२॥ जो मनुष्य नियमसे युक्त है वह शक्तिके अनुसार तपस्वी कहलाता है इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यको सब प्रकारसे नियम अथवा तपमें प्रवृत्त रहना चाहिए ॥२४३॥ बुद्धिमान् मनुष्योंको थोड़ा-थोड़ा भी पुण्यका संचय करना चाहिए क्योंकि एक-एक बूँदके पड़नेसे समुद्र तक बहनेवाली बड़ी-बड़ी नदियाँ बन जाती हैं ॥२४४॥ जो दिनमें एक मुहूर्तके लिए भी भोजनका त्याग करता है उसे एक

१. स्तोककर्माणः । २. शरीरम् ।

तत्र स्वर्गे सहस्राणि समानां दश कीर्तितम् । भुञ्जानस्य जनस्योद्यद्भोगं चित्तोपपादितम्[2] ॥२४६॥
श्रद्दधानो मतं जैनं यः करोति पुरोदितम् । पल्यैस्तस्योपमानो[3] यः कालः स्वर्गे महात्मनः ॥२४७॥
च्युत्वा तत्र मनुष्यत्वे लभते भोगमुत्तमम् । यथोपवनया लब्धं तापसान्वयजातया ॥२४८॥
दुःखिन्युपवनाऽबन्धुर्बदराद्युपजीविनी । आदरादीक्षिता राज्ञा मुहूर्तव्रतसंभवात् ॥२४९॥
कुमारी व्रतकस्यान्ते परया द्रव्यसम्पदा । योजिता सुतरां जाता धर्मसंविग्नमानसा ॥२५०॥
जिनेन्द्रवचनं यस्तु कुरुतेऽन्तरवर्जितम् । अनन्तरमसौ सौख्यं परलोके गतोऽश्नुते ॥२५१॥
मुहूर्तद्वितयं यस्तु न भुङ्क्ते प्रतिवासरम् । षष्ठोपवासिता तस्य जन्तोर्मासेन जायते ॥२५२॥
मुहूर्तत्रिंशतं कृत्वा काले यावति तावति । आहारवर्जनं जन्तुरुपवासफलं भजेत् ॥२५३॥
मुहूर्तयोजनं कार्यमेवमेवाष्टमादिषु । अधिकं तु फलं वाच्यं हेतुवृद्ध्यनुरूपतः ॥२५४॥
अवाप्यास्य फलं नाके नियमस्य शरीरिणः । मनुष्यतां समासाद्य जायन्तेऽद्भुतचेष्टिताः ॥२५५॥
लावण्यपङ्कलिप्तानां हारिविभ्रमकारिणाम् । भवन्ति कुलदाराणां पतयो धर्मशेषतः ॥२५६॥
स्त्रियोऽपि स्वर्गतश्च्युत्वा मनुष्यभवमागताः । महापुरुषसंसेव्या यान्ति लक्ष्मीसमानताम् ॥२५७॥
आदित्येऽस्तमनुप्राप्ते[4] कुरुते योऽन्नवर्जनम् । भवेदभ्युदयोऽस्यापि सम्यग्दृष्टेर्विशेषतः ॥२५८॥
अप्सरोमण्डलान्तःस्थो विमाने रत्नभासुरे । बहुपल्योपमं कालं धर्मेणानेन तिष्ठति ॥२५९॥

महीनेमें उपवासके समान फल प्राप्त होता है ॥२४५॥ संकल्प मात्रसे प्राप्त होनेवाले उत्कृष्ट भोगोंका उपभोग करते हुए इस जीवको कमसे कम दशहजार वर्ष तो लगते ही हैं ॥२४६॥ और जो जैनधर्मकी श्रद्धा करता हुआ पूर्वप्रतिपादित व्रतादि धारण करता है उस महात्माका स्वर्गमें कमसे कम एक पल्य प्रमाण काल बीतता है २४७॥ वहाँसे च्युत होकर वह मनुष्य गतिमें उस प्रकार उत्तम भोग प्राप्त करता है जिस प्रकार तापसवंशमें उत्पन्न हुई उपवनाने प्राप्त किये थे ॥२४८॥

एक उपवना नामकी दुःखिनी कन्या थी जो भाई-बन्धुओंसे रहित थी और बेर आदि खाकर अपनी जीविका करती थी। एक बार उसने मुहूर्त भरके लिए आहारका त्याग किया उस व्रतके प्रभावसे राजाने उसका बड़ा आदर किया तथा व्रतके अनन्तर उसे उत्कृष्ट धनसम्पदासे युक्त किया। इस घटनासे उसका मन धर्ममें अत्यन्त उत्साहित हो गया ॥२४९-२५०॥ जो मनुष्य निरन्तर जिनेन्द्रभगवान्के वचनोंका पालन करता है वह परलोकमें निर्बाध सुखका उपभोग करता है ॥२५१॥ जो प्रतिदिन दो मुहूर्तके लिए आहारका त्याग करता है उसे महीनेमें दो उपवासका फल प्राप्त होता है ॥२५२॥ इस प्रकार जो एक-एक मुहूर्त बढ़ाता हुआ तीस मुहूर्त तकके लिए आहारका त्याग करता है उसे तीन-चार आदि उपवासोंका फल प्राप्त होता है ॥२५३॥ तेला आदि उपवासोंमें भी इसी तरह मुहूर्तकी योजना कर लेनी चाहिए। जो अधिक कालके लिए त्याग होता है उसका कारणके अनुसार अधिक फल कहना चाहिए ॥२५४॥ प्राणी स्वर्गमें इस नियमका फल प्राप्तकर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं और वहाँ अद्भुत चेष्टाओंके धारक होते हैं ॥२५५॥ स्वर्गमें फल भोगनेसे जो पुण्य शेष बचता है उसके फलस्वरूप वे कुलवती स्त्रियोंके पति होते हैं जिनका कि शरीर लावण्यरूपी पङ्कसे लिप्त रहता है तथा जो मनको हरण करनेवाले हाव-भाव विभ्रम किया करती हैं ॥२५६॥ नियमवाली स्त्रियाँ भी स्वर्गसे चयकर मनुष्य भवमें आती हैं और महापुरुषोंके द्वारा सेवनीय होती हुई लक्ष्मीकी समानता प्राप्त करती हैं ॥२५७॥ जो सूर्यास्त होने पर अन्नका त्याग करता है उस सम्यग्दृष्टिको भी विशेष अभ्युदयकी प्राप्ति होती है ॥२५८॥ यह जीव इस धर्मके कारण रत्नोंसे जगमगाते विमानोंमें अप्सराओंके

---

१. जनस्योर्ध्वं भोगं म० । जनस्योर्द्ध ब०, क० । २. इच्छामात्रेण प्राप्तम् । ३. तस्योपमानीयः म० । ४. -ऽस्तमनप्राप्ते म० ।

मनुष्यत्वं समासाद्य दुर्लभं तत्परायणैः । महेशानस्य कर्तव्यं जिनस्य समुपासनम् ॥२६०॥
यस्य काञ्चननिर्माणा योजनं जायते मही । आसने जायते देवतिर्यग्मानुषसेविता ॥२६१॥
प्रातिहार्याणि यस्याष्टौ चतुस्त्रिंशन्महाद्भुताः[1] । सहस्रभास्कराकारं रूपं लोचनसौख्यदम् ॥२६२॥
भव्यः प्रणाममेतस्य[2] यः करोति विचक्षणः । समुत्तरति कालेन स स्तोकेन भवार्णवम् ॥२६३॥
उपायमेतं[3] मुक्त्वा शान्तिप्राप्तौ शरीरिणाम् । नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति तस्मात्सेव्यः स यत्नतः ॥२६४॥
मार्गा गोदण्डकाकाराः सन्त्यन्येऽपि सहस्रशः । कुतीर्थसंश्रिता[4] येषु विमुह्यन्ति प्रमादिनः ॥२६५॥
न सम्यक्करुणा तेषु मधुमांसादिसेवनात् । जैने तु कणिकाप्यस्ति न दोषस्य प्ररूपणे ॥२६६॥
त्याज्यमेतत्परं लोके यत्प्रपीड्य दिवा क्षुधा । आत्मानं रजनीभुक्त्या नाशयत्यर्जितं शुभम् ॥२६७॥
निशिभुक्तिरधर्मो यैर्धर्मत्वेन प्रकल्पितः । पापकर्मकठोराणां तेषां दुःखं[5] प्रबोधनम्[6] ॥२६८॥
दर्शनागोचरीभूते सूर्ये परमलालसः । भुङ्क्ते पापमना जन्तुर्दुर्गतिं[7] नावबुध्यते ॥२६९॥
मक्षिकाकीटकेशादि भक्ष्यते पापजन्तुना । तमःपटलसंछन्नचक्षुषा पापबुद्धिना ॥२७०॥
डाकिनीप्रेतभूतादिकुत्सितप्राणिभिः समम् । भुक्तं[8] तेन भवेद्येन क्रियते रात्रिभोजनम् ॥२७१॥
सारमेयाखुमार्जारप्रभृतिप्राणिभिः समम् । मांसाहारैर्भवेद्भुक्तं तेन यो निशि [9]वल्भते ॥२७२॥
अथवा किं प्रपञ्चेन पुलाकेनेह भाष्यते[10] । क्षपायामश्नता सर्वं भवेदशुचि भक्षितम् ॥२७३॥

मध्यमें बैठकर अनेक पल्योपमकाल व्यतीत करता है ॥२५६॥ इसलिए दुर्लभ मनुष्य पर्याय पाकर धर्ममें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको महाप्रभु श्रीजिनेन्द्र देवकी उपासना करनी चाहिए ॥२६०॥ जिनके आसनस्थ होने पर देव तिर्यञ्च और मनुष्योंसे सेवित एक योजनकी पृथ्वी स्वर्णमयी हो जाती है ॥२६१॥ जिनके आठ प्रातिहार्य और चौंतीस महाअतिशय प्रकट होते हैं। तथा जिनका रूप हजार सूर्योंके समान देदीप्यमान एवं नेत्रोंको सुख देनेवाला होता है ॥२६२॥ ऐसे महाप्रभु जिनेन्द्र भगवानको जो बुद्धिमान् भव्य प्रणाम करता है वह थोड़े ही समयमें संसार सागरसे पार हो जाता है ॥२६३॥ जीवोंको शान्ति प्राप्त करनेके लिए यह उपाय छोड़कर और दूसरा कोई उपाय नहीं है इसलिए यत्नपूर्वक इसीकी सेवा करनी चाहिए ॥२६४॥ इनके सिवाय कुतीर्थियोंसे सेवित गोदण्डकके समान जो अन्य हजारों मार्ग हैं उनमें प्रमादी जीव मोहित हो रहे हैं—यथार्थ मार्ग भूल रहे हैं ॥२६५॥ उन मार्गाभासोंमें समीचीन दया तो नाम-मात्रको नहीं है क्योंकि मधुमांसादिका सेवन खुलेआम होता है पर जिनेन्द्रदेवकी प्ररूपणामें दोष की कणिका भी दृष्टिगत नहीं होती ॥२६६॥ लोकमें यह कार्य तो बिलकुल ही त्यागने योग्य है कि दिनभर तो भूखसे अपनी आत्माको पीड़ा पहुँचाते हैं और रात्रिको भोजन कर संचित पुण्यको तत्काल नष्ट कर देते हैं ॥२६७॥ रात्रिमें भोजन करना अधर्म है फिर भी इसे जिन लोगोंने धर्म मान रक्खा है, उनके हृदय पापकर्मसे अत्यन्त कठोर हैं उनका समझना कठिन है ॥२६८॥ सूर्यके अदृश हो जानेपर जो लंपटी पापी मनुष्य भोजन करता है वह दुर्गतिको नहीं समझता ॥२६९॥ जिसके नेत्र अन्धकारके पटलसे आच्छादित हैं और बुद्धि पापसे लिप्त है ऐसे पापी प्राणी रातके समय मक्खी, कीड़े तथा बाल आदि हानिकारक पदार्थ खा जाते हैं ॥२७०॥ जो रात्रिमें भोजन करता है वह डाकिनी प्रेत भूत आदि नीच प्राणियोंके साथ भोजन करता है ॥२७१॥ जो रात्रिमें भोजन करता है वह कुत्ते चूहे बिल्ली आदि मांसाहारी जीवोंके साथ भोजन करता है ॥२७२॥ अथवा अधिक कहनेसे क्या ? संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि जो रातमें भोजन करता है

१. महातिशयाः । महाद्भुतं म० । २. प्रणामं भावेन ब० । ३. मेन—ब० । ४. संचिता म० । ५. दुःखप्रबोधनम् म० । ६. प्रबन्धनम् क० । ७. दुर्गतिर्नावबुध्यते ख० । ८. भक्तं म० । ९. भुङ्क्ते । वल्भ भोजने । वल्गते म० । १०. माष्यते म०, क० ।

विरोचनेऽस्तसंसर्गं गते ये भुञ्जते जनाः । ते मानुषतया बद्धाः पशवो गदिता बुधैः ॥२७४॥
नक्तं दिवा च भुञ्जानो विमुखो जिनशासने । कथं सुखी परत्र स्यान्निर्व्रतो नियमोज्झितः ॥२७५॥
दयामुक्तो जिनेन्द्राणां पापः [1]कुत्सामुदाहरन् । अन्यदेहं गतो जन्तुः पूतिगन्धमुखो भवेत् ॥२७६॥
मांसं मद्यं निशाभुक्तिं स्तेयमन्यस्य योषितम् । सेवते यो जनस्तेन भवे जन्मद्वयं हृतम् ॥२७७॥
ह्रस्वायुर्वित्तमुक्तश्च व्याधिपीडितविग्रहः । परत्र सुखहीनः स्यान्नक्तं यः [2]प्रत्यवस्यति ॥२७८॥
प्राप्नोति जन्ममृत्युं च दीर्घकालमनन्तरम् । पच्यते गर्भवासेषु दुःखेन निशि भोजनात् ॥२७९॥
वराहवृकमार्जारहंसकाकादियोनिषु । जायते सुचिरं कालं रात्रिभोजी कुदर्शनः ॥२८०॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः सहस्राणि कुयोनिषु । आपनीपद्यते दुःखं कुधीर्यो निशि वल्भते ॥२८१॥
अवाप्य यो मतं जैनं नियमेऽवतिष्ठते । अशेषं किल्बिषं दग्ध्वा सुस्थानं सोऽधिगच्छति ॥२८२॥
रत्नत्रितयसंपूर्णा अणुव्रतपरायणाः । [3]तरणावुदिते भव्या भुञ्जते दोषवर्जितम् ॥२८३॥
अपापास्तेऽधिगच्छन्ति विमानेशास्त्रिविष्टपाः । परं भोगं न ये रात्रौ भुञ्जते करुणा पराः ॥२८४॥
ततश्च्युत्वा मनुष्यत्वं प्राप्य निन्दाविवर्जितम् । भुञ्जते चक्रवर्त्यादिविभवोपहृतं सुखम् ॥२८५॥
सौधर्मादिषु कल्पेषु [4]मानसानीतकारणम् । प्राप्नुवन्ति परं भोगं सिद्धिं च शुभचेष्टिताः ॥२८६॥
जगद्धिता महामात्या राजानः पीठमर्दिनः । संमताः सर्वलोकस्य भवन्ति दिनभोजनात् ॥२८७॥
धनवन्तो गुणोदाराः सुरूपा दीर्घजीविताः । जिनबोधिसमायुक्ताः प्रधानपदसंस्थिताः ॥२८८॥

वह सब अपवित्र पदार्थ खाता है ॥२७३॥ सूर्यके अस्त हो जानेपर जो भोजन करते हैं उन्हें विद्वानोंने मनुष्यतासे बँधे हुए पशु कहा है ॥२७४॥ जो जिनशासनसे विमुख होकर रात दिन चाहे जब खाता रहता है वह नियमरहित अव्रती मनुष्य परलोकमें सुखी कैसे हो सकता है ? ॥२७५॥ जो पापी मनुष्य दयारहित होकर जिनेन्द्र देवकी निन्दा करता है वह अन्य शरीरमें जाकर दुर्गन्धित मुखवाला होता है अर्थात् परभवमें उसके मुखसे दुर्गन्ध आती है ॥२७६॥ जो मनुष्य मांस मद्य रात्रिभोजन चोरी और परस्त्रीका सेवन करता है वह अपने दोनों भवोंको नष्ट करता है ॥२७७॥ जो मनुष्य रात्रिमें भोजन करता है वह पर-भवमें अल्पायु, निर्धन, रोगी और सुखरहित अर्थात् दुःखी होता है ॥२७८॥ रात्रिमें भोजन करनेसे यह जीव दीर्घ काल तक निरन्तर जन्म-मरण प्राप्त करता रहता है और गर्भवासमें दुःखसे पकता रहता है ॥२७९॥ रात्रिमें भोजन करनेवाला मिथ्यादृष्टि पुरुष शूकर, भेड़िया, बिलाव, हंस तथा कौआ आदि योनियोंमें दीर्घ काल तक उत्पन्न होता रहता है ॥२८०॥ जो दुर्बुद्धि रात्रिमें भोजन करता है वह हजारों उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल तक कुयोनियोंमें दुःख उठाता रहता है ॥२८१॥ जो जैन धर्म पाकर उसके नियमोंमें अटल रहता है वह समस्त पापोंको जलाकर उत्तम स्थानको प्राप्त होता है ॥२८२॥ रत्नत्रयके धारक तथा अणुव्रतोंका पालन करनेमें तत्पर भव्य जीव सूर्योदय होनेपर ही निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं ॥२८३॥ जो दयालु मनुष्य रात्रिमें भोजन नहीं करते वे पापहीन मनुष्य स्वर्गमें विमानोंके अधिपति होकर उत्कृष्ट भोग प्राप्त करते हैं ॥२८४॥ वहाँसे च्युत होकर तथा उत्तम मनुष्य पर्याय पाकर चक्रवर्ती आदिके विभवसे प्राप्त होनेवाले सुखका उपभोग करते हैं ॥२८५॥ शुभ चेष्टाओंके धारक पुरुष सौधर्मादि स्वर्गोंमें मनमें विचार आते ही उपस्थित होने वाले उत्कृष्ट भोगों तथा अणिमा महिमा आदि आठ सिद्धियोंको प्राप्त होते हैं ॥२८६॥ दिनमें भोजन करनेसे मनुष्य जगत्का हित करने वाले महामन्त्री, राजा, पीठमर्द तथा सर्व लोकप्रिय व्यक्ति होते हैं ॥२८७॥ धनवान्, गुणवान्, रूपवान्, दीर्घायुष्क, रत्नत्रयसे युक्त तथा प्रधान पद पर आसीन

---

१. निन्दाम् । २. भुङ्क्ते, प्रत्यवस्यति ख० । ३. सूर्ये । ४. मानुषातीतकारणं म०, मानुषानीतकारणं ब० ।

असह्यतेजसः संख्ये[1] पुराद्रीनामधीश्वराः । विचित्रवाहनोपेताः सामन्तकृतपूजनाः ॥२८९॥
भवनेशाः सुरेशाश्च चक्राङ्कविभवाश्रिताः । महालक्षणसम्पन्ना भवन्ति दिनभोजनात् ॥२९०॥
आदित्यवत्प्रभावन्तश्चन्द्रवत्सौम्यदर्शनाः । अनस्तमितभोगाढ्यास्ते[2] येऽनस्तमितोद्यताः ॥२९१॥
अनाथा दुर्भगा मातृपितृभ्रातृविवर्जिताः । शोकदारिद्र्यसम्पूर्णाः स्त्रियः स्युर्निशि भोजनात् ॥२९२॥
रूक्षस्फुटितहस्तादिस्वाङ्गाश्चिपिटनासिकाः । बीभत्सदर्शनाः क्लिन्नचक्षुषो दुष्टलक्षणाः ॥२९३॥
दुर्गन्धविग्रहा भग्नसुमहादशनच्छदाः । उत्स्वणश्रुतयः पिङ्गस्फुटिताग्रशिरोरुहाः ॥२९४॥
अलाबूबीजसंस्थानदशनाः शुक्लविग्रहाः । काणकुण्ठ[3]गतच्छाया विवर्णाः परुषत्वचः ॥२९५॥
अनेकरोगसंपूर्णमलिनाश्छिद्रवाससः । कुत्सिताशनजीविन्यः परकर्मसमाश्रिताः ॥२९६॥
उत्कृत्तश्रवणं[4] विघ्नं धनबन्धुविवर्जितम् । प्राप्नुवन्ति पतिं नार्यो रात्रिभोजनतत्पराः ॥२९७॥
दुःखभारसमाक्रान्ता बालवैधव्यसंगताः । अम्बुकाष्ठादिवाहिन्यो दुःपूरोदरतत्पराः ॥२९८॥
सर्वलोकपराभूता वाग्वासीनष्टचेतसः । अङ्कव्रणशताधारा भवन्ति निशि भोजनात् ॥२९९॥
उपशान्ताशया यास्तु नार्यः शीलसमन्विताः । साधुवर्गहिता रात्रिभोजनाद्विरतात्मिकाः[5] ॥३००॥
लभन्ते ता यथाभीष्टं भोगं स्वर्गे समावृताः । परिवारेण मूर्धस्थपाणिना शासनैषिणा[6] ॥३०१॥
ततश्च्युताः स्फुरन्त्युच्चैः कुले विभवधारिणि । शुभलक्षणसंपूर्णा गुणैः सर्वैः समन्विताः ॥३०२॥
कलाविशारदा नेत्रमानसस्नेहविग्रहाः । विमुञ्चन्त्योऽमृतं वाचा ह्लादयन्त्योऽखिलं जनम् ॥३०३॥

व्यक्ति भी दिनमें भोजन करने से ही होते हैं ॥२८८॥ जिनका तेज युद्धमें असह्य है, जो नगर आदिके अधिपति हैं, विचित्र वाहनोंसे सहित हैं तथा सामन्तगण जिनका सत्कार करते हैं ऐसे पुरुष भी दिनमें भोजन करनेसे ही होते हैं ॥२८९॥ इतना ही नहीं, भवनेन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती और महालक्षणोंसे सम्पन्न व्यक्ति भी दिनमें भोजन करने से ही होते हैं ॥२९०॥ जो रात्रिभोजन-त्यागव्रतमें उद्यत रहते हैं वे सूर्यके समान प्रभावान्, चन्द्रमाके समान सौम्य और स्थायी भोगोंसे युक्त होते हैं ॥२९१॥ रात्रिमें भोजन करने से स्त्रियाँ अनाथ, दुर्भाग्यशाली, मातापिता भाईसे रहित तथा शोक और दारिद्र्यसे युक्त होती हैं ॥२९२॥ जिनकी नाक चपटी है, जिनका देखना ग्लानि उत्पन्न करता है, जिनके नेत्र कीचड़से युक्त हैं, जो अनेक दुष्टलक्षणोंसे सहित हैं, । जिनके शरीरसे दुर्गन्ध आती रहती है, जिनके ओंठ फटे और मोटे हैं, कान खड़े हैं, शिरके बाल पीले तथा चटके हैं, दाँत तूँबड़ीके बीजके समान हैं और शरीर सफेद है, जो कानी, शिथिल तथा कान्तिहीन हैं, रूपरहित हैं, जिनका चर्म कठोर है । जो अनेक रोगोंसे युक्त तथा मलिन हैं, जिनके वस्त्र फटे हैं, जो गन्दा भोजन खाकर जीवित रहती हैं, और जिन्हें दूसरेकी नौकरी करनी पड़ती है । ऐसी स्त्रियाँ रात्रि भोजनके ही पापसे होती हैं ॥२९३–२९६॥ रात्रिभोजनमें तत्पर रहनेवाली स्त्रियाँ बूचे नकटे और धन तथा भाई बन्धुओंसे रहित पतिको प्राप्त होती हैं ॥२९७॥ जो दुःखके भारसे निरन्तर आक्रान्त रहती हैं, बाल अवस्थामें ही विधवा हो जाती हैं, पानी लकड़ी आदि ढो ढो कर पेट भरती हैं, अपना पेट बड़ी कठिनाईसे भर पाती हैं, सब लोग जिनका तिरस्कार करते हैं, जिनका चित्त वचन रूपी वसूलासे नष्ट होता रहता है और जिनके शरीरमें सैकड़ों घाव लगे रहते हैं, ऐसी स्त्रियाँ रात्रि भोजनके कारण ही होती हैं ॥२९८–२९९॥ जो स्त्रियाँ शान्त चित्त, शील सहित, मुनिजनोंका हित करनेवाली और रात्रि भोजनसे विरत रहती हैं वे स्वर्गमें यथेच्छ भोग प्राप्त करती हैं । शिरपर हाथ रखकर आज्ञाकी प्रतीक्षा करनेवाले परिवारके लोग उन्हें सदा घेरे रहते हैं ॥३००–३०१॥ स्वर्गसे च्युत होकर वे वैभवशाली उच्च कुलमें उत्पन्न होती हैं, शुभ लक्षणोंसे युक्त तथा समस्त गुणोंसे सहित होती हैं ॥३०२॥ अनेक कलाओंमें

---

१. युद्धे । २. अभङ्गुरभोगयुक्ताः । ३. 'कुण्ठो मन्दः क्रियासु यः' इत्यमरः । ४. छिन्नकर्णम् । उत्कृत-श्रवणं म०, ब० । उत्कृष्टश्रवणं ख० । ५. विरतात्मिका म० । ६. शासनैषिणः म० ।

भवन्त्युत्कण्ठया युक्तास्तासु विद्याधराधिपाः । हरयो[1] बलदेवाश्च तथा चक्राङ्कितश्रियः ॥३०४॥
विद्युद्रक्तोत्पलच्छायाः स्फुरल्ललितकुण्डलाः । नरेन्द्रकृतसम्बन्धा भवन्ति दिनभोजनात् ॥३०५॥
अन्नं यथेप्सितं तासां जायते भृत्यकल्पितम् । निशासु या न कुर्वन्ति भोजनं करुणापराः ॥३०६॥
श्रीकान्तासुप्रभातुल्याः सुभद्रालक्ष्मीसत्तथा । लक्ष्मीसमत्विषो योषा भवन्ति दिनभोजनात् ॥३०७॥
तस्मान्नरेण नार्या वा नियमस्थेन[2] चेतसा । वर्जनीया निशाभुक्तिरनेकापायसंगता ॥३०८॥
अत्यल्पेन प्रयासेन शर्मैवमुपलभ्यते । ततो भजत तं नित्यं स्वसुखं को न वाञ्छति ॥३०९॥
धर्मो मूलं सुखोत्पत्तेरधर्मो दुःखकारणम् । इति ज्ञात्वा भजेद्धर्ममधर्मं च विवर्जयेत् ॥३१०॥
आगोपालाङ्गनं लोके प्रसिद्धिमिदमागतम्[3] । यथा धर्मेण शर्मेति विपरीतेन दुःखितम्[4] ॥३११॥
धर्मस्य पश्य माहात्म्यं येन नाकच्युता नराः । उत्पद्यन्ते महाभोगा मनुष्यत्वे मनोहराः ॥३१२॥
जलस्थलसमुद्भूतरत्नानां ते समाश्रयाः । औदासीन्यमपि प्राप्ता भवन्ति सुखिनः सदा ॥३१३॥
सुवर्णवस्त्रसस्यादिभाण्डागाराणि मानवैः । रक्ष्यन्ते सततं तेषां विचित्रायुधपाणिभिः ॥३१४॥
प्रभूतं गोमहिष्यादिवारणास्तुरगा रथाः । भृत्या जनपदा ग्रामाः प्रासादा नगराणि च ॥३१५॥
दासवर्गो विशाला श्रीर्विष्टरं हरिभिर्धृतम् । मानसस्येन्द्रियाणाञ्च विषयाहरणक्षमाः ॥३१६॥
हंसीविभ्रमगामिन्यो घनलावण्यविग्रहाः । माधुर्ययुक्तनिस्वानाः पीनस्तन्यः सुलक्षणाः ॥३१७॥
चक्षुषां वागुरातुल्यास्तरुण्यो हारिचेष्टिताः[5] । नानालङ्कारधारिण्यो दास्यः पुण्यफलात्मिकाः ॥३१८॥

निपुण रहती हैं,उनके शरीर नेत्र और मनमें स्नेह उत्पन्न करनेवाले होते हैं,अपने वचनोंसे मानो वे अमृत छोड़ती हैं,समस्त लोगोंको आनन्दित करती हैं॥३०३॥विद्याधरोंके अधिपति,नारायण,बलदेव और चक्रवर्ती भी उनमें उत्कण्ठित रहते हैं—उन्हें प्राप्त करनेके लिए उत्सुक रहते हैं॥३०४॥जिनके शरीरकी कान्ति बिजली तथा लाल कमलके समान मनोहारी है, जिनके सुन्दर कुण्डल सदा हिलते रहते हैं, तथा राजाओंके साथ जिनके विवाह सम्बन्ध होते हैं ऐसी स्त्रियाँ दिनमें भोजन करनेसे ही होती हैं ॥३०५॥ जो दयावती स्त्रियाँ रात्रिमें भोजन नहीं करती हैं उन्हें सदा भृत्यजनोंके द्वारा तैयार किया हुआ मनचाहा भोजन प्राप्त होता है ॥३०६॥ दिनमें भोजन करनेसे स्त्रियाँ श्रीकान्ता, सुप्रभा, सुभद्रा और लक्ष्मीके समान कान्ति युक्त होती हैं ॥३०७॥ इसलिए नर हो चाहे नारी, दोनोंको अपना चित्त नियममें स्थिरकर अनेक दुःखोंसे सहित जो रात्रि भोजन है उसका त्याग करना चाहिए ॥३०८॥ इस प्रकार थोड़े ही प्रयाससे जब सुख मिलता है तो उस प्रयासका निरन्तर सेवन करो । ऐसा कौन है जो अपने लिए सुखकी इच्छा न करता हो ॥३०९॥ 'धर्म सुखोत्पत्तिका कारण है और अधर्म दुःखोत्पत्तिका' ऐसा जानकर धर्मकी सेवा करनी चाहिए और अधर्मका परित्याग ॥३१०॥ यह बात गोपालकों तकमें प्रसिद्ध है कि धर्मसे सुख होता है और अधर्मसे दुःख ॥३११॥ धर्मका माहात्म्य देखो कि जिसके प्रभावसे प्राणी स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं और वहाँ महाभोगोंसे युक्त तथा मनोहर शरीरके धारक होते हैं ॥३१२॥ वे जल तथा स्थलमें उत्पन्न हुए रत्नोंके आधार होते हैं और उदासीन होनेपर भी सदा सुखी रहते हैं ॥३१३॥ ऐसे मनुष्योंके स्वर्ण, वस्त्र तथा धान आदिके भाण्डारोंकी रक्षा हाथोंमें विविध प्रकारके शस्त्र धारण करनेवाले लोग किया करते हैं॥३१४॥उन्हें अत्यधिक गाय भैंस आदि पशु, हाथी, घोड़,रथ, पयादे, देश,ग्राम, महल, नौकरोंके समूह, विशाल लक्ष्मी और सिंहासन प्राप्त होते हैं । साथ ही जो मन और इन्द्रियोंके विषय उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं, जिनकी चाल हंसीके समान विलास पूर्ण है,जिनका शरीर अत्यधिक सौन्दर्यसे युक्त है, जिनकी आवाज मीठी है, जिनके स्तन स्थूल हैं, जो अनेक शुभ लक्षणोंसे युक्त हैं, जो नेत्रोंको पराधीन करनेके लिए जालके समान हैं, तथा जिनकी चेष्टाएँ

१. नारायणाः । २. नियमस्तेन म० । ३. प्रसिद्ध -म० । ४. दुःखिता क०, ख०, म० ।
५. मनोरमचेष्टायुक्ताः । हारचेष्टिताः म०, ख० ।

उपायं केचिदज्ञात्वा धर्माख्यं सुखसन्ततेः । मूढा तस्य समारम्भे न यतन्तेऽसुधारिणः ॥३१९॥
पापकर्मवशात्मानः केचिच्छ्रुत्वापि मानवाः । शर्मोपायं न सेवन्ते धर्मं दुष्कृततत्पराः ॥३२०॥
उपशान्ति गते केचित्सच्चेष्टारोधिकर्मणि । अभिगम्य गुरुं धर्मं पृच्छन्त्युत्सुकचेतसः ॥३२१॥
उपशान्तेरशुद्धस्य[1] कर्मणस्तद्गुरोर्वचः । अर्थवज्जायते तेषु श्रेष्ठानुष्ठानकारिषु ॥३२२॥
इमं ये नियमं प्राज्ञाः कुर्वते मुक्तदुष्कृताः । एके[2] भवन्ति ते नाके द्वितीया वा महागुणाः ॥३२३॥
समयं येऽनगाराणां भुञ्जतेऽतीत्य भक्तितः । तेषां स्वर्गे सुखप्रेक्षामाकाङ्क्षन्ति सुराः सदा ॥३२४॥
इन्द्रत्वं देवसङ्घानां ते प्रयान्ति सुतेजसः । जनाः सामानिकत्वं वा संपादितयथेप्सिताः ॥३२५॥
न्यग्रोधस्य यथा स्वल्पं बीजमुच्चैस्तरुर्भवेत् । तपोऽल्पमपि तद्वत्स्यान्महाभोगफलावहम् ॥३२६॥
समः कुबेरकान्तस्य नेत्रबन्धनविग्रहः । [3]धर्मसक्तमतिर्नित्यं जायते पूर्वधर्मतः ॥३२७॥
मुनिवेलाव्रतो दत्वा मुनेर्भिक्षां समागतः । रत्नवृष्टिं सहस्राख्यः कुबेरदयितोऽभवत्[4] ॥३२८॥
महीमण्डलविख्यातो नामोदारपराक्रमः । धनेन महता युक्तो भृत्यमण्डलमध्यगः ॥३२९॥
पौर्णमास्यां यथा [5]चन्द्रः कान्तदर्शनविग्रहः । भुञ्जानः परमं भोगं सर्वशास्त्रार्थकोविदः ॥३३०॥
पूर्वधर्मानुभावेन परं निर्वेदमागतः । अभीयाय महादीक्षां जिनेन्द्र[6]मुखनिर्गताम् ॥३३१॥

मनोहर हैं ऐसी अनेक तरुण स्त्रियाँ और नाना अलङ्कार धारण करनेवाली दासियाँ पुण्यके फल-स्वरूप प्राप्त होती हैं ॥३१५-३१८॥ कितने ही मूर्ख प्राणी ऐसे हैं कि जो सुख-समूहकी प्राप्तिका कारण धर्म है उसे जानते ही नहीं हैं अतः वे उसके साधनके लिए प्रयत्न ही नहीं करते ॥३१९॥ और जिनकी आत्मा पाप कर्मके वशीभूत है तथा जो पाप कर्मोंमें निरन्तर तत्पर रहते हैं ऐसे भी कितने ही लोग हैं कि जो धर्मको सुख प्राप्तिका साधन सुनकर भी उसका सेवन नहीं करते ॥३२०॥ उत्तम कार्योंके बाधक पापकर्मके उपशान्त हो जानेपर कुछ ही जीव ऐसे होते हैं कि जो उत्सुक चित्त हो गुरुके समीप जाकर धर्मका स्वरूप पूछते हैं ॥३२१॥ तथा पाप कर्मके उपशान्त होनेसे यदि वे जीव उत्तम आचरण करने लगते हैं तो उनमें सद्गुरुके वे वचन सार्थक हो जाते हैं ॥३२२॥ जो बुद्धिमान् मनुष्य पापका परित्याग कर इस नियमका पालन करते हैं वे स्वर्गमें महागुणोंके धारक होते हुए प्रथम अथवा द्वितीय होते हैं ॥३२३॥ जो मनुष्य भक्ति-पूर्वक मुनियोंके भोजन करनेका समय बिताकर बादमें भोजन करते हैं स्वर्गमें देव लोग सदा उन्हें सुखी देखनेकी इच्छा करते हैं ॥३२४॥ उत्तम तेजको धारण करनेवाले वे पुरुष देवोंके समूहके इन्द्र होते हैं अथवा मनचाहे भोग प्राप्त करनेवाले सामानिक पदको प्राप्त करते हैं ॥३२५॥ जिस प्रकार वट वृक्षका छोटा-सा बीज आगे चलकर ऊँचा वृक्ष हो जाता है उसी प्रकार छोटा-सा तप भी आगे चलकर महाभोग रूपी फलको धारण करता है ॥३२६॥ जिसकी बुद्धि निरन्तर धर्ममें आसक्त रहती है ऐसा मनुष्य अपने पूर्वाचरित धर्मके प्रभावसे कुबेरकान्तके समान नेत्रोंको आकर्षित करनेवाले सुन्दर शरीरका धारक होता है ॥३२७॥ एक सहस्रभट नामका पुरुष था। उसने मुनिवेलाव्रत धारण किया था अर्थात् मुनियोंके भोजन करनेका समय बीत जानेके बाद ही वह भोजन करता था। एक बार उसने मुनिके लिए आहार दिया। उसके प्रभावसे उसके घर रत्नवृष्टि हुई और वह मरकर परभवमें कुबेरकान्त सेठ हुआ ॥३२८॥ जो कि भूमण्डलमें प्रसिद्ध, उत्कृष्ट पराक्रमी, महाधनसे युक्त और सेवक समूहके मध्यमें स्थित रहनेवाला था ॥३२९॥ पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान उसका शरीर अत्यन्त सुन्दर था और वह उत्कृष्ट भोगोंको भोगता हुआ समस्त शास्त्रोंका अर्थ जाननेमें निपुण था ॥३३०॥ पूर्व धर्मके प्रभावसे ही उसने परम

१. रधर्मस्य म० । २. अद्वितीयाः । ३. धर्मे सक्तमति ख० । धर्मशक्तमति म० । ४. भवेत् म०, सहस्रभटो मुनेर्दानप्रभावात् कुबेरकान्तनामा श्रेष्ठी अभवत् । ५. चन्द्रकान्तदर्शन म० । चन्द्रःकान्तिदर्शन ख०, ब० । ६. सुख म० ।

अनगारमहर्षीणां वेलामर्चन्ति ये जनाः । भोगोत्सवं प्रपद्यन्ते परं ते हरिषेणवत् ॥३३२॥
मुनिवेलाप्रतीक्ष्यत्वादुपार्ज्य सुकृतं महत् । हरिषेणः परिप्राप्तो लक्ष्मीमत्यन्तमुन्नताम् ॥३३३॥
मुनेरन्तिकमासाद्य समाधानप्रचोदिताः । एकभक्तं जना ये तु कुर्वते शुद्धदर्शनाः ॥३३४॥
एकभक्तेन ते कालं नीत्वा पञ्चत्वमागताः । उत्पद्यन्ते विमानेषु रत्नभाचक्रवर्तिषु ॥३३५॥
नित्यालोकेषु ते तेषु विमानेषु सुचेतसः । रमन्ते सुचिरं कालमप्सरोमध्यवर्तिनः[1] ॥३३६॥
हारिणः कटकाधारप्रकोष्ठाः[2] कटिसूत्रिणः । मौलिमन्तो भवन्त्येते छत्रचामरिणोऽमराः ॥३३७॥
उत्तमव्रतसंसक्ता ये चाणुव्रतधारिणः । शरीरमध्रुवं ज्ञात्वा प्रशान्तहृदया जनाः ॥३३८॥
उपवासं चतुर्दश्यामष्टम्यां च सुमानसाः । सेवन्ते [3]ते निबध्नन्ति चिरमायुस्त्रिविष्टपे ॥३३९॥
सौधर्मादिषु कल्पेषु यान्ति केचित्समुद्भवम् । अपरे त्वहमिन्द्रत्वं मुक्तिमन्ये विशुद्धितः ॥३४०॥
विनयेन परिष्वक्ता गुणशीलसमन्विताः । तपःसंयोजितस्वान्ता यान्ति नाकमसंशयम् ॥३४१॥
तत्र कामेन भुक्त्वासौ भोगान्प्राप्तो मनुष्यताम् । भुङ्क्ते राज्यं महज्जैनं मतं च प्रतिपद्यते ॥३४२॥
जिनशासनमासाद्य स क्रमात्साधुचेष्टितः । सर्वकर्मविमुक्तानामालयं प्रतिपद्यते ॥३४३॥
स्तुत्वा कालत्रये यस्तु नमस्यति जिनं त्रिधा । शैलराजवदक्षोभ्यः कुतीर्थमतवायुभिः ॥३४४॥

वैराग्यको प्राप्त हो जिनेन्द्र-प्रतिपादित दीक्षाको धारण किया था ॥३३१॥ जो मनुष्य अनगार महर्षियोंके कालकी प्रतीक्षा करते हैं वे हरिषेण चक्रवर्तीके समान उत्कृष्ट भोगोंको प्राप्त होते हैं ॥३३२॥ हरिषेणने मुनिवेलामें मुनिके आगमनकी प्रतीक्षा कर बहुत भारी पुण्यका सञ्चय किया था इसलिए वह अत्यन्त उन्नत लक्ष्मीको प्राप्त हुआ था ॥३३३॥

शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले जो मनुष्य ध्यानकी भावनासे प्रेरित हो मुनिके समीप जाकर एकभक्त करते हैं अर्थात् एक बार भोजन करनेका नियम लेते हैं और एक भक्तसे ही समय पूराकर मृत्युको प्राप्त होते हैं वे रत्नोंकी कान्तिसे जगमगाते हुए विमानोमें उत्पन्न होते हैं ॥३३४-३३५॥ शुद्ध हृदयको धारण करनेवाले वे देव, निरन्तर प्रकाशित रहनेवाले उन विमानोंमें अप्सराओंके बीच बैठकर चिरकाल तक क्रीडा करते हैं ॥३३६॥ जो उत्तम हार धारण किये हुए हैं, जिनकी कलाइयोंमें उत्तम कड़े सुशोभित हैं, जो कमरमें कटिसूत्र और शिरपर मुकुट धारण करते हैं, जिनके ऊपर छत्र फिरता है और पार्श्वमें चमर ढोले जाते हैं ऐसे देव, एक भक्त व्रतके प्रभावसे होते हैं ॥३३७॥

जो महाव्रत धारण करनेकी भावना रखते हुए वर्तमानमें अणुव्रत धारण करते हैं तथा शरीरको अनित्य समझकर जिनके हृदय अत्यन्त शान्त हो चुके हैं ऐसे जो मनुष्य हृदयपूर्वक अष्टमी और चतुर्दशीके दिन उपवास करते हैं वे स्वर्गकी दीर्घायुका बन्ध करते हैं ॥३३८-३३९॥ उनमेंसे कोई तो सौधर्मादि स्वर्गोंमें जन्म लेते हैं, कोई अहमिन्द्र पद प्राप्त करते हैं और कोई विशुद्धताके कारण मोक्ष जाते हैं ॥३४०॥ जो निरन्तर विनयसे युक्त रहते हैं, गुण और शीलव्रतसे सहित होते हैं तथा जिनका चित्त सदा तपमें लगा रहता है ऐसे मनुष्य निःसन्देह स्वर्ग जाते हैं वहाँ इच्छानुसार भोग भोगकर मनुष्य होते हैं, बड़े भारी राज्यका उपभोग करते हैं और जैनमतको प्राप्त होते हैं ॥३४१-३४२॥ जैनमतको पाकर क्रम-क्रमसे मुनियोंका चरित्र धारण करते हैं और उसके प्रभावसे सर्व कर्मरहित सिद्धोंका निकेतन प्राप्त कर लेते हैं ॥३४३॥

जो प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल इन तीनों कालोंमें मन, वचन, कायसे स्तुति कर जिन देवको नमस्कार करता है अर्थात् त्रिकाल वन्दनाका नियम लेता है वह सुमेरुपर्वतके

---

१. रमन्ते मध्यवर्तिनः म० । २. कटकाधाराः प्रकोष्ठाः म० । ३. ते न विघ्नन्ति ख० । तेन बध्नन्ति म० ।

गुणालङ्कारसंपन्नः सुशीलसुरभीकृतः । सर्वेन्द्रियहरं भोगं भजते त्रिदशालये ॥३४५॥
ततः कतिचिदावृत्तीः कृत्वा शुभगतिद्वये । प्रयाति परमं स्थानं सर्वकर्मविवर्जितः ॥३४६॥
विषया हि समभ्यस्ताश्चिरं सकलजन्तुभिः । ततस्तैर्मोहिताः कर्तुं विरतिं बिभ्यो[1] न ते ॥३४७॥
इदं तत्र परं चित्रं ये तान् दृष्ट्वा विषान्नवत् । निर्वाणकारणं कर्म सेवन्ते पुरुषोत्तमाः ॥३४८॥
संसारे भ्रमतो जन्तोरेकापि विरतिः कृता । सम्यग्दर्शनयुक्तस्य मुक्तेरायाति बीजताम् ॥३४९॥
एकोऽपि नास्ति येषां तु नियमः प्राणधारिणाम् । पशवस्तेऽथवा भग्नकुम्भा गुणविवर्जिताः ॥३५०॥
गुणव्रतसमृद्धेन[2] नियमस्थेन[3] जन्तुना । भाव्यं प्रमादयुक्तेन संसारतरणैषिणा ॥३५१॥
दुष्कर्म ये न मुञ्चन्ति मानवा मतिदुर्विधाः । भ्रमन्ति भवकान्तारं जात्यन्धा इव ते चिरम् ॥३५२॥
ततस्तेऽनन्तवीर्येन्दुवाङ्मरीचिसमागमात् । प्रमोदं परमं प्राप्तास्तिर्यङ्मानवनाकजाः ॥३५३॥
सम्यग्दर्शनमायाताः केचित्केचिदणुव्रतम् । महाव्रतधराः केचिज्जाता विक्रमशालिनः ॥३५४॥
अथ धर्मरथाख्येन मुनिनाभाषि रावणः । गृहाण नियमं भव्य कञ्चिदित्यात्मशक्तितः ॥३५५॥
द्वीपोऽयं धर्मरत्नानामनगारमहेश्वरः[4] । गृह्यतामेकमप्यस्माद्रत्नं नियमसंज्ञकम् ॥३५६॥
किमर्थमेव[5] मास्से त्वं चिन्ताभारवशीकृतः । महतां हि ननु त्यागो न मतेः खेदकारणम् ॥३५७॥
रत्नद्वीपं प्रविष्टस्य यथा भ्रमति मानसम् । इदं वृत्तं तथैवास्य परमाकुलतां गतम् ॥३५८॥

समान मिथ्यामत रूपी वायुसे सदा अक्षोभ्य रहता है ॥३४४॥ जो गुणरूपी अलङ्कारोंसे सुशोभित है तथा जिसका शरीर शीलव्रत रूपी चन्दनसे सुगन्धित है ऐसा वह पुरुष स्वर्गमें समस्त इन्द्रियोंको हरनेवाले भोग भोगता है ॥३४५॥ तदनन्तर मनुष्य और देव इन दो शुभगतियोंमें कुछ आवागमन कर सर्वकर्मरहित हो परम धाम (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ॥३४६॥ चूँकि पञ्चेन्द्रियोंके विषय सब जीवोंके द्वारा चिरकालसे अभ्यस्त हैं इसलिए इनसे मोहित हुए प्राणी विरति (त्याग–आखड़ी) करनेके लिए समर्थ नहीं हो पाते हैं ॥३४७॥ यहाँ बड़ा आश्चर्य तो यही है कि फिर भी उत्तम पुरुष उन विषयोंको विषमिश्रित अन्नके समान देखकर मोक्ष प्राप्तिके साधक कार्यका सेवन करते हैं ॥३४८॥ संसारमें भ्रमण करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवको यदि एक ही विरति (आखड़ी) प्राप्त हो जाती है तो वह मोक्षका बीज हो जाती है ॥३४९॥ जिन प्राणियोंके एक भी नियम नहीं है वे पशु हैं अथवा रस्सीसे रहित (पक्षमें व्रतशील आदि गुणोंसे रहित) फूटे घड़ेके समान हैं ॥३५०॥ गुण और व्रतसे समृद्ध तथा नियमोंका पालन करनेवाले प्राणीको यदि वह संसारसे पार होनेकी इच्छा रखता है तो प्रमादरहित होना चाहिए ॥३५१॥ जो बुद्धिके दरिद्र मनुष्य दुष्कर्म—खोटे कार्य नहीं छोड़ते हैं वे जन्मान्ध मनुष्योंके समान चिरकाल तक संसाररूपी अटवीमें भटकते रहते हैं ॥३५२॥

तदनन्तर वहाँ जो भी तिर्यञ्च मनुष्य और देव विद्यमान थे वे उन अनन्तबल केवली रूपी चन्द्रमाके वचन रूपी किरणोंके समागमसे परम हर्षको प्राप्त हुए ॥३५३॥ उनमेंसे कोई तो सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए, कोई अणुव्रती हुए और कोई बलशाली महाव्रतोंके धारक हुए ॥३५४॥ अथानन्तर धर्मरथ नामक मुनिने रावणसे कहा कि हे भव्य ! अपनी शक्तिके अनुसार कोई नियम ले ॥३५५॥ ये मुनिराज धर्मरूपी रत्नोंके द्वीप हैं सो इनसे अधिक नहीं तो कमसे कम एक ही नियम रूपी रत्न ग्रहण कर ॥३५६॥ इस प्रकार चिन्ताके वशीभूत होकर क्यों बैठा है ? निश्चयसे त्याग महापुरुषोंकी बुद्धिके खेदका कारण नहीं है अर्थात् त्यागसे महापुरुषोंको खिन्नता नहीं होती प्रत्युत प्रसन्नता होती है ॥३५७॥ जिस प्रकार रत्नद्वीपमें प्रविष्ट हुए पुरुषका चित्त 'यह लूँ या यह लूँ' इस तरह चञ्चल होकर घूमता है उसी प्रकार इस चारित्र रूपी द्वीपमें

---

१. समर्थाः । २. गुणवृत्तसमृद्धेन म० । ३. नियमस्तेन म० । ४. मुनिराजः । ५. मारेमे म० ।

अथास्य मानसं चिन्ता समारूढेयमुत्कटा । भोगानुरक्तचित्तस्य व्याकुलत्वमुपेयुषः ॥३५९॥
स्वभावेनैव मे शुद्धम[1]न्धो गन्धमनोहरम् । स्वादु वृष्यं परित्यक्तमांसादिमलसंगमम् ॥३६०॥
स्थूलप्राणिवधादिभ्यो विरतिं गृहवासिनाम् । एकामपि न शक्तोऽहं कर्तुं कान्यत्र संकथा ॥३६१॥
मत्तेभसदृशं चेतस्तद्धावत्सर्ववस्तुषु । हस्तेनेवात्मभावेन धर्तुं न प्रभवाम्यहम् ॥३६२॥
हुताशनशिखा पेया बद्धव्यो वायुरंशुके । उत्क्षेप्तव्यो धराधीशो निर्ग्रन्थत्वमभीप्सता ॥३६३॥
शूरोऽपि न समर्थोऽहं सेवितुं [2]यत्तपोव्रतम् । अहो चित्रमिदं तद्ये धारयन्ति नरोत्तमाः ॥३६४॥
किमेकमाश्रयाम्येतं नियमं शोभनामपि । अवष्टम्भामि नानिच्छामन्ययोषां बलादिभिः ॥३६५॥
अथवा [3]न ननु क्षुद्रे कुतः शक्तिरियं मयि । स्वस्याप्यस्य न शक्नोमि वोढुं चित्तस्य निश्चयम् ॥३६६॥
यद्वा लोकत्रये नासौ विद्यते प्रमदोत्तमा । दृष्ट्वा मां विकलत्वं या न व्रजेन्मन्मथार्दिता ॥३६७॥
का वा नरान्तराश्लेषदूषितप्रमदातनौ । ओष्ठचर्म दधानायां परदन्तकृतव्रणम् ॥३६८॥
दुर्गन्धायां स्वभावेन वर्चोराशौ भवेद्[4]धृतिः । नरस्य दधतश्चित्तं मानसंस्कारभाजनम् ॥३६९॥
अवधार्येतिभावेन प्रणम्यानन्तविक्रमम् । देवासुरसमक्षं स प्रकाशमिदमभ्यधात् ॥३७०॥
भगवन्न मया नारी परस्येच्छाविवर्जिता । गृहीतव्येति नियमो ममायं कृतनिश्चयः ॥३७१॥
चतुःशरणमाश्रित्य भानुकर्णोऽपि कर्णवान् । इमं नियममातस्थे मन्दरस्थिरमानसः ॥३७२॥

प्रविष्ट हुए पुरुषका भी चित्त 'यह नियम लूँ या यह नियम लूँ' इस तरह परम आकुलताको प्राप्त हो घूमता रहता है ॥३५८॥

अथानन्तर जिसका चित्त सदा भोगोंमें अनुरक्त रहता था और इसी कारण जो व्याकुलताको प्राप्त हो रहा था ऐसे रावणके मनमें यह भारी चिन्ता उत्पन्न हुई कि ॥३५९॥ मेरा भोजन तो स्वभावसे ही शुद्ध है, सुगन्धित है, स्वादिष्ट है, गरिष्ठ है और मांसादिके संसर्गसे रहित है ॥३६०॥ स्थूल हिंसा त्याग आदि जो गृहस्थोंके व्रत हैं उनमेंसे मैं एक भी व्रत धारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ फिर अन्य व्रतोंकी चर्चा ही क्या है ? ॥३६१॥ मेरा मन मदोन्मत्त हाथीके समान सर्व वस्तुओंमें दौड़ता रहता है सो उसे मैं हाथके समान अपनी भावनासे रोकनेमें समर्थ नहीं हूँ ॥३६२॥ जो निर्ग्रन्थ व्रत धारण करना चाहता है वह मानो अग्निकी शिखाको पीना चाहता है, वायुको वस्त्रमें बाँधना चाहता है, और सुमेरुको उठाना चाहता है ॥३६३॥ बड़ा आश्चर्य है कि मैं शूर वीर होकर भी जिस तप एवं व्रतको धारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ उसी तप एवं व्रतको अन्य पुरुष धारण कर लेते हैं। यथार्थमें वे ही पुरुषोत्तम हैं ॥३६४॥ रावण सोचता है कि क्या मैं एक यह नियम ले लूँ कि परस्त्री कितनी ही सुन्दर क्यों न हो यदि वह मुझे नहीं चाहेगी तो मैं उसे बलपूर्वक नहीं छेड़ूँगा ॥३६५॥ अथवा मुझ क्षुद्र व्यक्तिमें इतनी शक्ति कहाँसे आई ? मैं अपने ही चित्तका निश्चय वहन करनेमें समर्थ नहीं हूँ ॥३६६॥ अथवा तीनों लोकोंमें ऐसी उत्तम स्त्री नहीं है जो मुझे देखकर कामसे पीड़ित होती हुई विकलताको प्राप्त न हो जाय ? ॥३६७॥ अथवा जो मनुष्य मान और संस्कारके पात्र स्वरूप मनको धारण करता है उसे अन्य मनुष्यके संसर्गसे दूषित स्त्रीके उस शरीरमें धैर्य—सन्तोष हो ही कैसे सकता है कि जो अन्य पुरुषके दाँतों द्वारा किये हुए घावसे युक्त ओठको धारण करता है, स्वभावसे ही दुर्गन्धित है और मलकी राशि स्वरूप है ॥३६८–३६९॥ ऐसा विचारकर रावणने पहले तो अनन्तबल केवलीको भाव पूर्वक नमस्कार किया। फिर देवों और असुरोंके समक्ष स्पष्ट रूपसे यह कहा कि ॥३७०॥ हे भगवन् ! 'जो परस्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे ग्रहण नहीं करूँगा' मैंने यह दृढ़ नियम लिया है ॥३७१॥ जो समस्त बातोंको सुन रहा था तथा जिसका मन सुमेरुके समान स्थिर था ऐसे भानुकर्ण (कुम्भकर्ण) ने भी अरहन्त सिद्ध साधु और जिन धर्म इन चारकी

---

१. भोजनम् । २. संयतव्रतम् ज० । ३. ननु न म० । नन न क०, ख० । ४. भवेद्रतिः म० ।

करोमि प्रातरुत्थाय साम्प्रतं प्रतिवासरम् । स्तुत्वा पूजां जिनेन्द्राणामभिषेकसमन्विताम् ॥३७३॥
[1]वरिवस्यामेव[2]णामकृत्वा विधिनान्वितम् । अद्य प्रभृति नाहारं करोमीति ससंमदः ॥३७४॥
जानुभ्यां भुवमाक्रम्य प्रणम्य मुनिमादरात् । अन्यानपि महाशक्तिनियमान् स समार्जयत् ॥३७५॥
ततो देवा सुरा भक्ताः प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् । यथास्वं निलयं जग्मुर्हर्षविस्तारितेक्षणाः ॥३७६॥
अभि लङ्कां दशास्योऽपि प्रतस्थे पृथुविक्रमः । समुत्पत्य दधल्लीलां सुरनाथसमुद्भवाम् ॥३७७॥
वरस्त्रीजनसंघातैः कृतप्रणतिपूजनः । नगरीं स्वां विवेशासौ वस्त्रादिकृतभूषणाम् ॥३७८॥
प्रविश्य वसतिं स्वां च समस्तविभवार्चिताम् । [3]अनावृत इवातिष्ठद्गम्भीरां [4]मान्दरीं गुहाम् ॥३७९॥

वंशस्थवृत्तम्

भवन्ति कर्माणि यदा शरीरिणां प्रशान्तियुक्तानि विमुक्तिभाविनाम् ।
ततोपदेशं परमं गुरोर्मुखादवाप्नुवन्ति प्रभवं शुभस्य ते ॥३८०॥
इति प्रबुद्धोद्यतमानसा जना जिनश्रुतौ सज्जत भो पुनः पुनः ।
परेण धर्मं विनयेन शृण्वतां भवत्यमन्दोऽवगमो यथा रविः ॥३८१॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते अनन्तबलधर्माभिधानं नाम चतुर्दशं पर्व ॥१४॥

शरणमें जाकर यह नियम लिया कि 'मैं प्रति दिन प्रातः काल उठकर तथा स्तुतिकर अभिषेक पूर्वक जिनेन्द्र देवकी पूजा करूँगा । साथ ही जब तक मैं निर्ग्रन्थ साधुओंकी पूजा नहीं कर लूँगा तब तक आजसे लेकर आहार नहीं करूँगा' । भानुकर्णने यह प्रतिज्ञा बड़े हर्षसे की ॥३७२–३७४॥ इसके सिवाय उसने पृथिवीपर घुटने टेक मुनिराजको आदर पूर्वक नमस्कारकर और भी बड़े-बड़े नियम लिये ॥३७५॥ तदनन्तर हर्षसे जिनके नेत्र फूल रहे थे ऐसे भक्त देव और असुर मुनिराजको नमस्कारकर अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥३७६॥ विशाल पराक्रमका धारी रावण भी आकाशमें उड़कर इन्द्रकी लीला धारण करता हुआ लङ्काकी ओर चला ॥३७७॥ उत्तमोत्तम स्त्रियोंके समूहने प्रणाम पूर्वक जिसकी पूजा की थी ऐसे रावणने वस्त्रादिसे सुसज्जित अपनी नगरीमें प्रवेश किया ॥३७८॥ जिस प्रकार अनावृत देव मेरुपर्वतकी गंभीर गुहामें रहता है उसी प्रकार रावण भी समस्त वैभवसे युक्त अपने निवासगृहमें प्रवेश कर रहने लगा ॥३७९॥

गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! जब भव्य जीवोंके कर्म उपशम भावको प्राप्त होते हैं तब वे सुगुरुके मुखसे कल्याणकारी उत्तम उपदेश प्राप्त करते हैं ॥३८०॥ ऐसा जानकर हे प्रबुद्ध एवं उद्यमशील हृदयके धारक भव्य जनो ! तुम लोग बार-बार जिन धर्मके सुननेमें तत्पर होओ क्योंकि जो उत्तम विनयपूर्वक धर्म श्रवण करते हैं उन्हें सूर्यके समान विपुल ज्ञान प्राप्त होता है ॥३८१॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्यके द्वारा कथित पद्मचरितमें अनन्तबल केवलीके द्वारा धर्मोपदेशका निरूपण करनेवाला चौदहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१४॥

---

१. पूजाम् । २. निर्ग्रन्थगुरूणाम् । ३. अनावृतदेव इव । ४. मेरुसम्बन्धिनीम् ।

पञ्चदशं पर्व

तस्यैव च मुनेः पार्श्वे हनूमान् गृहिणां व्रतम् । विभीषणश्च जग्राह कृत्वा भावं सुनिश्चितम् ॥१॥
न तथा गिरिराजस्य स्थिरत्वं शस्यते बुधैः । हनूमच्छीलसम्यक्त्वं यथा परमनिश्चलम् ॥२॥
सौभाग्यादिभिरत्यन्तं हनूमति [1]ततः स्तुते । इत्यूचे मगधाधीशो रोमाञ्चं बिभ्रदुत्कटम् ॥३॥
हनूमान् को गणाधीश किंविशिष्टः कुतः क्व वा । भगवंस्तस्य तत्त्वेन ज्ञातुमिच्छामि चेष्टितम् ॥४॥
ततः सत्पुरुषाभिख्यासंजातपुलसम्मदः । वाचाह्लादनकारिण्या [2]गणप्राग्रहरोऽवदत् ॥५॥
दक्षिणस्यां नृप श्रेण्यां विजयार्धस्य भूभृतः । दशयोजनमध्वानमतिक्रम्य व्यवस्थितम् ॥६॥
आदित्यनगराभिख्यं पुरमस्ति मनोहरम् । प्रह्लादस्तत्र राजास्य नाम्ना केतुमती प्रिया ॥७॥
शुभो वायुगतिर्नाम बभूव तनयोऽनयोः । लक्ष्म्या वक्षस्थलं यस्य विपुलं निलयीकृतम्[3] ॥८॥
सम्पूर्णयौवनं दृष्ट्वा तं तद्दारक्रियां प्रति । चकार जनकश्चिन्तां सन्तानच्छेदकातरः ॥९॥
आस्तां तावदिदं राजन्निदमन्यन्मतौ कुरु । वचनं येन तद्दारसंभवः परिकीर्त्यते ॥१०॥
[4]वासस्य भरतस्यान्ते सन्निकृष्टे महोदधेः । पूर्वदक्षिणदिग्भागे दन्तीत्यस्ति महीधरः ॥११॥
विपुलाभ्रंलिहोदारतेजःशिखरसंकटः । नानाद्रुमौषधिव्याप्तः सुनिर्झरमहातटः ॥१२॥
यतः प्रभृति [5]तत्रास्थात्संनिवेश्य वरं पुरम् । विद्याधरो महेन्द्राख्यो महेन्द्रोपमविक्रमः ॥१३॥

अथानन्तर उन्हीं मुनिराजके पास हनूमान और विभीषणने भी अभिप्रायको सुदृढ़ कर गृहस्थोंके व्रत ग्रहण किये ॥१॥ गौतमस्वामी कहते हैं कि विद्वान् लोग सुमेरुपर्वतकी स्थिरताकी उस प्रकार प्रशंसा नहीं करते जिस प्रकार कि परमनिश्चलताको प्राप्त हुए हनूमानके शील और सम्यग्दर्शनकी करते हैं ॥२॥ इस प्रकार जब गौतमस्वामीने सौभाग्य आदिके द्वारा हनूमानकी अत्यधिक प्रशंसा की तब उत्कट रोमाञ्चको धारण करता हुआ श्रेणिक बोला कि ॥३॥ हे गणनाथ ! हनूमान कौन ? इसकी क्या विशेषता है ? कहाँ किससे इसकी उत्पत्ति हुई है ? हे भगवन् ! मैं इसका चरित्र यथार्थमें जानना चाहता हूँ ॥४॥ तदनन्तर सत्पुरुषका नाम सुननेसे जिन्हें अत्यधिक हर्ष उत्पन्न हो रहा था ऐसे गणधर भगवान् आह्लाद उत्पन्न करनेवाली वाणीमें कहने लगे ॥५॥

हे राजन् ! विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें दशयोजनका मार्ग लाँघकर आदित्यपुर नामक एक मनोहर नगर है । वहाँके राजा प्रह्लाद और उनकी रानीका नाम केतुमती था ॥६–७॥ इन दोनोंके पवनगति नामका उत्तम पुत्र हुआ । पवनगतिके विशाल वक्षःस्थलको लक्ष्मीने अपना निवासस्थल बनाया था ॥८॥ उसे पूर्णयौवन देख, सन्तान-विच्छेदका भय रखनेवाले पिताने उसके विवाहकी चिन्ता की ॥९॥ गौतमस्वामी कहते हैं कि हे राजन् ! यह कथा तो अब रहने दो । दूसरी कथा हृदयमें धारण करो जिससे कि पवनगतिके विवाहकी चर्चा सम्भव हो सके ॥१०॥

इसी भरत क्षेत्रके अन्तमें महासागरके निकट आग्नेय दिशामें एक दन्ती नामका पर्वत है ॥११॥ जो बड़ी-बड़ी गगनचुम्बी चमकीली शिखरोंसे युक्त है, नाना प्रकारके वृक्ष और औषधियोंसे व्याप्त है, तथा जिसके लम्बे-चौड़े किनारे उत्तमोत्तम झरनोंसे युक्त हैं ॥१२॥ महेन्द्रके समान पराक्रमको धारण करनेवाला महेन्द्र विद्याधर उत्तम नगर बसाकर जबसे उस पर्वतपर

१. ततस्तुते क०, म०, ब०, ज० । ततोस्तुते ख० । २. गणधरः । ३. गृहीकृतम् । ४. क्षेत्रस्य । ५. तत्र-स्थात् म० ।

तत आरभ्य संप्राप महेन्द्राख्यां रसाधरः[1] । महेन्द्रनगरं तच्च पुरं तत्र प्रकीर्तितम् ॥१४॥
नार्यां हृदयवेगायामजायन्त[2] महेन्द्रतः । गुणवन्तः शतं पुत्रा नामतोऽरिंदमादयः ॥१५॥
उदपाद्यनुजा[3] तेषां कीर्तिताञ्जनसुन्दरी । त्रैलोक्यसुन्दरीरूपसन्दोहेनैव निर्मिता[4] ॥१६॥
नीलनीरजनिर्भासा प्रशस्तकरपल्लवा । पद्मगर्भाभचरणा कुम्भिकुम्भनिभस्तनी ॥१७॥
तनुमध्या पृथुश्रोणी[5] सुजानूरूः[6] सुलक्षणा । प्रफुल्लमालतीमालामृदुबाहुलतायुगा ॥१८॥
कर्णान्तसंगते कान्तिकूलपुञ्जे सुदूरगे । इषू ते कामदेवस्य ननु तस्या विलोचने ॥१९॥
गन्धर्वादिकलाभिज्ञा साक्षादिव सरस्वती । लक्ष्मीरिव च रूपेण सा बभूव गुणान्विता ॥२०॥
अन्यदा कन्दुकेनासौ रममाणा[7] सरेचकम् । जनकेनेक्षिताभ्यग्रयौवनाश्रितविग्रहा ॥२१॥
सुलोचनासुताभर्तृवरचिन्तासिदुःखिनः[8] । अकम्पननृपस्येव सद्गुणार्पितचेतसः ॥२२॥
तद्वरान्वेषणे तस्य ततः सक्ताभवन्मतिः । अत्यन्तव्याकुलप्रायः कन्यादुःखं मनस्विनाम् ॥२३॥
गमिष्यति पतिं श्लाघ्यं रमयिष्यति तं चिरम् । भविष्यत्युज्झिता दोषैरितिचिन्ता नृणां सुता ॥२४॥
आहूय सुहृदः सर्वांस्ततो विज्ञानभूषणान् । राजा वरविनिश्चित्यै रहोगेहमशिश्रियत्[9] ॥२५॥
जगाद मन्त्रिणश्चैव महो निखिलवेदिनः । सूरयो मम कन्याया वदत प्रवरं वरम् ॥२६॥

रहने लगा था तभीसे उस पर्वतका 'महेन्द्रगिरि' नाम पड़ गया था और उस नगरका महेन्द्र-नगर नाम प्रसिद्ध हो गया था ॥१३–१४॥ राजा महेन्द्रकी हृदयवेगा रानीमें अरिंदम आदि सौ गुणवान् पुत्र उत्पन्न हुए ॥१५॥ उनके अञ्जनासुन्दरी नामसे प्रसिद्ध छोटी बहिन उत्पन्न हुई। वह ऐसी जान पड़ती थी मानो तीन लोककी सुन्दर स्त्रियोंका रूप इकट्ठाकर उसके समूहसे ही उसकी रचना हुई थी ॥१६॥ उसकी प्रभा नील कमलके समान सुन्दर थी, हस्त रूप पल्लव अत्यन्त प्रशस्त थे, चरण कमलके भीतरी भागके समान थे, स्तन हाथीके गण्डस्थलके तुल्य थे ॥१७॥ उसकी कमर पतली थी, नितम्ब स्थूल थे, जङ्घाएँ उत्तम घुटनोंसे युक्त थीं, उसके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण थे, उसकी दोनों भुजलताएँ प्रफुल्ल मालतीकी मालाके समान कोमल थीं ॥१८॥ कानों तक लम्बे एवं कान्तिरूपी मूठसे युक्त उसके दोनों नेत्र ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवके सुदूर-गामी बाण ही हों ॥१९॥ वह गन्धर्व आदि कलाओंको जाननेवाली थी इसलिए साक्षात् सरस्वतीके समान जान पड़ती थी और रूपसे लक्ष्मीके तुल्य लगती थी ॥२०॥ इस प्रकार अनेक गुणोंसे सहित वह कन्या किसी समय गोलाकार भ्रमण करती हुई गेंद खेल रही थी कि पिताकी उसपर दृष्टि पड़ी। पिताने देखा कि कन्याका शरीर नव-यौवनसे सुशोभित हो रहा है। उसे देख जिस प्रकार उत्तम गुणोंमें चित्त लगानेवाले राजा अकम्पनको अपनी पुत्री सुलोचनाके योग्य वर ढूँढ़नेकी चिन्ता हुई थी और उससे वह अत्यन्त दुःखी हुआ था उसी प्रकार राजा महेन्द्रको भी पुत्रीके योग्य वर ढूँढ़नेकी चिन्ता हुई सो ठीक ही है क्योंकि स्वाभिमानी मनुष्योंको कन्याका दुःख अत्यन्त व्याकुलता उत्पन्न करनेवाला होता है ॥२१–२३॥ कन्याके पिताको सदा यह चिन्ता लगी रहती है कि कन्या उत्तम पतिको प्राप्त होगी या नहीं, यह उसे चिरकाल तक रमण करा सकेगी या नहीं और निर्दोष रह सकेगी या नहीं। यथार्थमें पुत्री मनुष्यके लिए बड़ी चिन्ता है ॥२४॥

अथानन्तर राजा महेन्द्र ज्ञानरूपी अलङ्कारसे अलंकृत समस्त मित्रजनोंको बुलाकर वरका निश्चय करनेके लिए एकान्त घरमें गये ॥२५॥ वहाँ उन्होंने मन्त्रियोंसे कहा कि अहो मन्त्रिजनो! आप लोग सब कुछ जानते हैं तथा विद्वान् हैं अतः मेरी कन्याके योग्य उत्तम

---

१. पृथिवीधरः पर्वतः । २. प्रतिषु '-आयत' इति पाठः । ३. उदयाद्यनुजास्तेषां म० । ४. निर्मिताः म० । ५. पृथुश्रेणी म० । ६. सलक्षणा ख० । ७. स भ्रमणम् । ८. दुःखितः म० । ९. एकान्तगृहम्-स० ।

तत्र मन्त्री जगादैकः कन्येयं भरताधिपे । योज्यतां रक्षसामीश इति मे [1]निश्चितं मतम् ॥२७॥
रावणं स्वजनं प्राप्य सर्वविद्याधराधिपम् । जगत्यां सागरान्तायां प्रभावस्ते भ्रमिष्यति ॥२८॥
अथवेन्द्रजिते यूने मेघनादाय वा नृप । दीयतामेवमप्येष रावणस्तत्र बान्धवः ॥२९॥
[2]अथैतन्न तवाभीष्टं ततः कन्या स्वयंवरा । विमुच्यतां न वैरी ते तथा सत्युपजायते ॥३०॥
इत्युक्त्वा विरतिं याते[3] मन्त्रिण्यमरसागरे । विद्वान्सुमतिसंज्ञाको जगाद वचनं स्फुटम् ॥३१॥
दशास्योऽनेकपत्नीको महाहङ्कारगोचरः । इमां प्राप्यापि नो तस्य प्रीति[4]रस्मासु जायते ॥३२॥
षोडशाब्दसमानेऽपि सत्याकारेऽस्य भोगिनः । [5]उत्कृष्टमेव विज्ञेयं वयः परमतेजसः ॥३३॥
इन्द्रजिन्मेघवाहाय सति दाने प्रकुप्यति । मेघवाहस्तथा तस्मै तस्मात्तावपि नो वरौ ॥३४॥
श्रीषेणसुतयोरासीद् गणिकार्थं तदा महत् । पितृदुःखकरं युद्धं स्त्रीहेतोः किं न वेष्यते ॥३५॥
वाक्यं ततोऽनुमन्येदं नाम्ना [6]ताराधरायणः । जगाद वचनं [7]चैनं भावेन [8]धृतमानसः ॥३६॥
अथाद्रिदक्षिणे स्थानं कनकं नाम विद्यते । राजा तत्र हिरण्याभः सुमनास्तस्य भामिनी ॥३७॥
अभवत्तनयस्तस्य नाम्ना सौदामिनीप्रभः । महता यशसा कान्त्या वयसा चातिशोभनः ॥३८॥
सर्वविद्याकलापारो लोकनेत्रमहोत्सवः । गुणैरनुपमश्चेष्टारञ्जिताखिलविष्टपः ॥३९॥

वर बतलाइए ॥२६॥ तब एक मन्त्रीने कहा कि यह कन्या भरत क्षेत्रके स्वामी राक्षसोंके अधिपति रावणके लिए दी जानी चाहिए ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥२७॥ समस्त विद्याधरोंके स्वामी रावण जैसे स्वजनको पाकर आपका प्रभाव समुद्रान्त पृथिवीमें फैल जायगा ॥२८॥ अथवा हे राजन्! रावणके पुत्र इन्द्रजित् और मेघनाद तरुण हैं सो इन्हें यह कन्या दीजिए क्योंकि उन्हें देनेपर भी रावण स्वजन होगा ॥२९॥ अथवा यह बात भी आपको इष्ट नहीं है तो फिर कन्याको स्वयं पति चुननेके लिए छोड़ दीजिए अर्थात् इसका स्वयंवर कीजिए। ऐसा करनेसे आपका कोई वैरी नहीं बन सकेगा ॥३०॥ इतना कहकर जब अमरसागर मन्त्री चुप हो गया तब सुमति नामका दूसरा विद्वान् मन्त्री स्पष्ट वचन बोला ॥३१॥ उसने कहा कि रावणके अनेक पत्नियाँ हैं, साथ ही वह महा अहङ्कारी है इसलिए इसे पाकर भी उसकी हम लोगोंमें प्रीति उत्पन्न नहीं होगी ॥३२॥ यद्यपि इस परम प्रतापी भोगी रावणका आकार सोलह वर्षके पुरुषके समान है तो भी उसकी आयु अधिक तो है ही ॥३३॥ अतः इसके लिए कन्या देना मैं उचित नहीं समझता। दूसरा पक्ष इन्द्रजित् और मेघनादका रक्खा सो यदि मेघनादके लिए कन्या दी जाती है तो इन्द्रजित् कुपित होता है और इन्द्रजित्के लिए देते हैं जो मेघनाद कुपित होता है इसलिए ये दोनों वर भी ठीक नहीं हैं ॥३४॥ पहले राजा श्रीषेणके पुत्रोंमें एक गणिकाके निमित्त पिताको दुःखी करनेवाला बड़ा युद्ध हुआ था यह सुननेमें आता है सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रीका निमित्त पाकर क्या नहीं होता है? ॥३५॥

तदनन्तर जिसका हृदय सदभिप्रायसे युक्त था ऐसा ताराधरायण नामका मन्त्री, पूर्व मन्त्रीके वचनोंकी अनुमोदनाकर इस प्रकारके वचन बोला ॥३६॥ उसने कहा कि विजयार्ध-पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक कनकपुर नामका नगर है। वहाँ राजा हिरण्याभ रहते हैं उनकी रानीका नाम सुमना है ॥३७॥ उन दोनोंके विद्युत्प्रभ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ है जो बहुत भारी यश, कान्ति और अवस्थासे अत्यन्त सुन्दर है ॥३८॥ वह समस्त विद्याओं और कलाओंका पारगामी है, लोगोंके नेत्रोंका मानो महोत्सव ही है, गुणोंसे अनुपम है और अपनी चेष्टाओंसे

---

१. निश्चयम्- म० । २. अथ तं न क०, ख०, म०, ब०, ज० । ३. याति म० । ४. प्रीतिरस्थां सुखायते ख० । ५. अधिकमेव । ६. तारान्धरायणः क०, म० । ७. स्वेन क०, म०, ब०, ज० । ८. हतमानसः ब० । हृतमानसः क०, म०, ज० ।

सुरविद्याधरैः सर्वैरेकीभूयापि यत्नतः। अजय्यस्त्रिजगच्छक्तिसंग्रहेणेव[1] निर्मितः ॥४०॥
कन्येयं दीयतां तस्मै भवतां यदि सम्मतम्। चिरादुत्पद्यतां योगो दम्पत्योरनुरूपयोः ॥४१॥
उत्तमाङ्गं ततो धूत्वा[2] संमील्य नयने चिरम्। जगाद वचनं मन्त्री नाम्ना सन्देहपारगः ॥४२॥
भव्योऽयं पूर्वजा याता मम क्वेति विचिन्तयत्। संसारप्रकृतिं बुद्ध्वा निर्वेदं परमेष्यति ॥४३॥
विषयेष्वप्रसक्तात्मा वर्षेऽष्टादशसंख्यके[3]। भङ्क्त्वा[4] भोगमहालानं[5] गृहितां[6] परिहास्यति ॥४४॥
बहिरन्तश्च स सङ्गं परित्यज्य महामनाः। केवलज्ञानमुत्पाद्य किल निर्वाणमेष्यति ॥४५॥
वियुक्तानेन बालेयं भ्रष्टशोभा भविष्यति। शर्वरीव शशाङ्केन जगदालोककारिणा ॥४६॥
[7]शृणुतातोऽस्ति नगरमादित्यपुरसंज्ञकम्। पुरन्दरपुराकारं रत्नैरादित्यभासुरम् ॥४७॥
नभश्चरशशाङ्कोऽत्र प्रह्लादो नाम भोगवान्। तस्य केतुमती पत्नी केतु[8]र्मानसवासिनः ॥४८॥
तयोर्विक्रमसंभारो रूपशीलो गुणाम्बुधिः। पवनञ्जयनामास्ति तनयो नयमण्डनः ॥४९॥
शुभलक्षणसंच्छन्नविशालोत्तुङ्गविग्रहः[9]। कलानां निलयो वीरो दूरीभूतदुरीहितः ॥५०॥
संवत्सरशतेनापि यस्य वक्तुं न शक्यते। गुणग्रामोऽखिलः[10] प्राप्तसमस्तजनचेतसः ॥५१॥
अथवा वचनज्ञानमस्पष्टमुपजायते। अतो गत्वैव वीक्षध्वमिमं देवसमद्युतिम् ॥५२॥

उसने समस्त लोकको अनुरञ्जित कर रक्खा है ॥३९॥ समस्त देव विद्याधर एक होकर भी उसे प्रयत्नपूर्वक नहीं जीत सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मानो वह तीनों लोकोंकी शक्ति इकट्ठी कर ही बनाया गया है ॥४०॥ यदि आपकी सम्मति हो तो यह कन्या उसे दी जावे जिससे योग्य दम्पतियोंका चिर कालके लिए संयोग उत्पन्न हो सके ॥४१॥

तदनन्तर संदेहपारग नामका मन्त्री शिर हिलाकर तथा चिर काल तक नेत्र बन्द कर निम्नांकित वचन बोला ॥४२॥ उसने कहा कि यह निकट भव्य है तथा निरन्तर ऐसा विचार करता रहता है कि मेरे पूर्वज कहाँ गये ? सो इससे जान पड़ता है कि यह संसारका स्वभाव जानकर परम वैराग्यको प्राप्त हो जायगा ॥४३॥ जिसकी आत्मा विषयोंमें अनासक्त रहती है ऐसा यह कुमार अठारह वर्षकी अवस्थामें भोगरूपी महा आलानका भङ्ग कर गृहस्थ अवस्था छोड़ देगा ॥४४॥ वह महामना बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग परिग्रहका त्यागकर तथा केवलज्ञान उत्पन्नकर निर्वाणको प्राप्त होगा ॥४५॥ सो जिस प्रकार जगत्को प्रकाशित करनेवाले चन्द्रमासे रहित होनेपर रात्रि शोभाहीन हो जाती है उसी प्रकार इससे वियुक्त होनेपर यह बाला शोभाहीन हो जावेगी ॥४६॥ इसलिए मेरी बात सुनो, इन्द्रके नगरके समान सुन्दर तथा रत्नोंसे सूर्यके समान देदीप्यमान एक आदित्यपुर नामका नगर है इसमें प्रह्लाद नामका राजा रहता है जो भोगोंसे युक्त है तथा विद्याधरोंके बीच चन्द्रमाके समान जान पड़ता है। प्रह्लादकी रानी केतुमती है जो कि सौन्दर्यके कारण कामदेवकी पताकाके समान सुशोभित है ॥४७-४८॥ उन दोनोंके एक पवनञ्जय नामका पुत्र है जो कि अत्यन्त पराक्रमी, रूपवान्, गुणोंका सागर तथा नयरूपी आभूषणोंसे विभूषित है ॥४९॥ उसका अतिशय ऊँचा शरीर अनेक शुभलक्षणोंसे व्याप्त है, वह कलाओंका घर, शूरवीर तथा खोटी चेष्टाओंसे दूर रहनेवाला है ॥५०॥ वह सब लोगोंके चित्तमें बसा हुआ है तथा सौ वर्षमें भी उसके समस्त गुणोंका समूह कहा नहीं जा सकता है ॥५१॥ अथवा वचनोंके द्वारा जो किसीका ज्ञान कराया जाता है वह अस्पष्ट ही रहता है इसलिए देव तुल्य कान्तिको धारण करनेवाले इस युवाको स्वयं जाकर ही देख लीजिए ॥५२॥

१. संग्रहेण विनिर्मितः म०। २. कम्पयित्वा। ३. संज्ञके म०। ४. भुक्त्वा म०। ५. महालाभं ज०, म०। महालीनां ख०। ६. गृहे तां ख०। ७. शृणुत + अतः + अस्ति। ८. कामस्य। ९. विशालो तुङ्ग म०। १०. खिलप्राप्तसमस्त म०, क०, ब०।

ततः कैतुमतस्योच्चैर्गुणैः श्रोत्रपथं गतैः । सर्वे ते परमं प्राप्ताः प्रमोदं कृतसम्मदाः ॥५३॥
श्रुत्वा कन्यापि तां वार्तां विचकास प्रमोदतः । निशाकरकरालोकमात्रादिव कुमुद्वती ॥५४॥
अत्रान्तरेऽथयं प्राप्तः कालो हिमकणान्वितः । कामिनीवदनाम्भोजलावण्यहरणोद्यतः ॥५५॥
नवं पटलमब्जानां नलिनीनामजायत । चिरोत्कण्ठितमध्वाशसमूहकृतसङ्गमम् ॥५६॥
घनः शाखाभृतां जज्ञे पत्रपुष्पाङ्कुरोद्भवः । मधुलक्ष्मीपरिष्वङ्गसंजातपुलकाकृतिः ॥५७॥
चूतस्य मञ्जरीजालं मधुव्रतकृतस्वनम् । मनोलोकस्य विव्याध पटलं मारसायकम्[४] ॥५८॥
कोकिलानां स्वनश्चक्रे मानिनीमानभञ्जनः । जनस्य व्याकुलीभावं वसन्तालापतां गतः ॥५९॥
रमणद्विजदष्टानामोष्ठानां वेदनाभृताम् । [५]उदपद्यत वैशद्यं चिरेण वरयोषिताम् ॥६०॥
स्नेहो बभूव चात्यन्तमन्योन्यं जगतः परम् । उपकारसमाधानपरेहाप्रकटीकृतः ॥६१॥
भ्रमरीं भ्रमणश्रान्तां रमणः पक्षवायुना । परितो भ्रमणं कुर्वश्चकार विगतश्रमाम् ॥६२॥
दूर्वाप्रवालमुद्धृत्य[६] सारङ्गश्च पृषतो ददौ । तस्यास्तेनामृतेनेव कापि प्रीतिरजायत ॥६३॥
[७]करिकण्डूयनं रेजे [८]वदनभ्रंशिपल्लवम् । करिण्याः[९] सुखसंभारनिमीलितविलोचनम् ॥६४॥
स्तवकस्तननम्राभिश्चलत्पल्लवपाणिभिः । [१०]समालिङ्ग्यन्त वल्लीभिर्भ्रमराक्षीभिरङ्घ्रिपाः ॥६५॥
दक्षिणाशामुखोद्गीर्णः[११] प्रावर्तत समीरणः । प्रेर्यमाण इवानेन रविरासीदुदग्गतिः ॥६६॥

तदनन्तर कर्ण मार्गको प्राप्त हुए पवनञ्जयके उत्कृष्ट गुणोंसे सब लोग परम हर्षको प्राप्त हो आन्तरिक प्रसन्नता प्रकट करने लगे ॥५३॥ तथा कन्या भी उस वार्ताको सुनकर हर्षसे इस तरह खिल उठी जिस तरह कि चन्द्रमाकी किरणोंके देखने मात्रसे कुमुदिनी खिल उठती है ॥५४॥

अथानन्तर इसी बीचमें वसन्त ऋतु आई और स्त्रियोंके मुख कमलकी सुन्दरताके अपहरणमें उद्यत शीतकाल समाप्त हुआ ॥५५॥ कमलिनी प्रफुल्लित हुई और नये कमलोंके समूह चिरकालसे उत्कण्ठित भ्रमर-समूहके साथ समागम करने लगे अर्थात् उनपर भ्रमरोंके समूह गूँजने लगे ॥५६॥ वृक्षोंके पत्र पुष्प अङ्कुर आदि घनी मात्रामें उत्पन्न हुए जो ऐसे जान पड़ते थे मानो वसन्त लक्ष्मीके आलिङ्गनसे उनमें रोमाञ्च ही उत्पन्न हुए हों ॥५७॥ जिनपर भ्रमर गुंजार कर रहे थे ऐसे आमके मौरोंके समूह कामदेवके बाणोंके पटलके समान लोगोंका मन बेधने लगे ॥५८॥ मानवती स्त्रियोंके मानको भङ्ग करनेवाला कोकिलाओंका मधुर शब्द लोगोंको व्याकुलता उत्पन्न करने लगा। वह कोकिलाओंका शब्द ऐसा जान पड़ता था मानो उसके बहाने वसन्त ऋतु ही वार्तालाप कर रही हो ॥५९॥ स्त्रियोंके जो ओंठ पतिके दाँतोंसे डसे जानेके कारण पहले वेदनासे युक्त रहते थे अब चिरकाल बाद उनमें विशदता उत्पन्न हुई ॥६०॥ जगत्के जीवोंमें परस्पर बहुत भारी स्नेह प्रकट होने लगा। उनका यह स्नेह उपकारपरक चेष्टाओंसे स्पष्ट ही प्रकट हो रहा था ॥६१॥ चारों ओर भ्रमण करता हुआ भ्रमर अपने पङ्खोंकी वायुसे, थकी हुई भ्रमरीको श्रमरहित करने लगा ॥६२॥ उस समय हरिण दूर्वाके प्रवाल उखाड़-उखाड़ कर हरिणीके लिए दे रहा था और उससे हरिणीको ऐसा प्रेम उत्पन्न हो रहा था मानो अमृत ही उसे मिल रहा हो ॥६३॥ हाथी हथिनीके लिए खुजला रहा था इस कार्यमें उसके मुखका पल्लव छूटकर नीचे गिर गया था और हथिनीके नेत्र सुखके भारसे निमीलित हो गये थे ॥६४॥ जो गुच्छे रूपी स्तनोंसे झुक रही थीं, जिनके पल्लवरूपी हाथ हिल रहे थे और ऊपर बैठे हुए भ्रमर ही जिनके नेत्र थे ऐसी लतारूपी स्त्रियाँ वृक्षरूप पुरुषोंका आलिङ्गन कर रही थीं ॥६५॥ दक्षिण दिशाके मुखसे प्रकट हुआ मलयसमीर बहने लगा और सूर्य उत्तरायण

१. केतुमत्या अयमिति कैतुमतस्तस्य पवनञ्जयस्य । २. कैतुमतस्योच्चै- । ३. भ्रमर । ४. स्मरपत्रिणाम् म० । ५. उपपद्यत म० । ६. -मुद्दत्य म० । ७. करिकण्डूयितं म० । ८. वदनं भ्रंशि म० । ९. करिण्यां म० । १०. समलिङ्ग्यन्त म० । ११. मुखोद्गीर्गाः म० ।

समीरणकृताकम्पः[1] केसरप्रकरः पतन् । मधुसिंहस्य पान्थेन दद‍ृशे केसरोत्करः[2] ॥६७॥
दंष्ट्रा वसन्तसिंहस्य मानस्तम्बेरमाङ्कुशः । अङ्कोलकेशरं रेजे [3]प्रोषितस्त्रीभयङ्करम् ॥६८॥
घनं [4]कैरवजं जालं क्वणद्भृङ्गकदम्बकम् । वियोगिनीमनांसीव मधुनाकृ[5]ष्टुमुज्झितम् ॥६९॥
कुड्मलोद्दीपितोऽशोकः[6] प्रचलन्नवपल्लवः । प्राचुर्याद्गनितोद्गीर्णरागराशिरिवाबभौ ॥७०॥
किंशुकं घनमत्यन्तं दिदीपे वनराजिषु । वियोगिनीमनःस्थातिरिक्तदुःखानिलोपमम् ॥७१॥
व्याप्तदिक्चक्रवालेन रजसा पुष्पजन्मना । वसन्तः पटवासेन चकारेव महोत्सवम् ॥७२॥
निमेषमपि सेहाते न स्त्रीपुंसावदर्शनम् । कुत एवान्यदेशेन सङ्गमं प्रेमबन्धनौ ॥७३॥
गन्तुमारेभिरे देवा जिनभक्तिप्रचोदिताः । नन्दीश्वरं महामोदाः फाल्गुनाष्टदिनोत्सवे ॥७४॥
जग्मुरष्टापदे तत्र काले विद्याधराधिपाः । पूजोपकरणव्यग्रकरभृत्यगणान्विताः ॥७५॥
पूज्यं नाभेयनिर्वृत्या[7] तमद्रिं भक्तिनिर्भरः । समेतो बन्धुवर्गेण महेन्द्रोऽपि समीयिवान् ॥७६॥
स तत्र जिनमर्चित्वा स्तुत्वा नत्वा च भावतः । रौक्मे[8] शिलातले श्रीमानासाञ्चक्रे यथासुखम् ॥७७॥
प्रह्लादोऽपि तदायासीत्तं गिरिं वन्दितुं जिनम् । कृताभीष्टं भ्रमन्नासीन्महेन्द्रेक्षणगो[9]चरः ॥७८॥
महेन्द्रस्य ततोऽभ्याशं सुतप्रीत्या महादरः । ससर्प विकसन्नेत्रः प्रह्लादः प्रीतिमानसः ॥७९॥
अभ्युत्थाय महेन्द्रोऽपि मुदितः पुरुसंभ्रमः । आलिङ्गन्तं समालिङ्गत् प्रह्लादं ह्लादकारणम् ॥८०॥

हो गया सो ऐसा जान पड़ता था मानो इस मलयसमीरसे प्रेरित होकर ही सूर्य उत्तरायण हो गया था ॥६६॥ वायुसे हिलते हुए मौलश्रीके फूलोंका समूह नीचे गिर रहा था जिसे पथिक लोग ऐसा समझ रहे थे मानो वसन्तरूपी सिंहकी जटाओंका समूह ही हो ॥६७॥ विरहिणी स्त्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाली अंकोल वृक्षके पुष्पोंकी केशर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो वसन्तरूपी सिंहकी दंष्ट्रा अर्थात् जबड़े ही हों अथवा मानरूपी हाथीका अङ्कुश ही हो ॥६८॥ जिस पर भ्रमर गूँज रहे थे ऐसा कुमुदोंका सघनजाल ऐसा जान पड़ता था मानो वियोगिनी स्त्रियांके मनको खींचनेके लिए वसन्तने जाल ही छोड़ रक्खा था ॥६९॥ जिसके नये-नये पत्ते हिल रहे थे ऐसा बोंडियोंसे सुशोभित अशोकका वृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अधिकताके कारण स्त्रियोंके द्वारा उगला हुआ रागका समूह ही हो ॥७०॥ वनश्रेणियोंमें पलाशके सघन वृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो विरहिणी स्त्रियांके मनमें ठहरनेसे बाकी बचे हुए दुःखरूपी अग्निके समूह ही हों ॥७१॥ समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाला फूलोंका पराग सब ओर फैल रहा था उससे ऐसा जान पड़ता था मानो वसन्त सुगन्धित चूर्णके द्वारा महोत्सव ही मना रहा था ॥७२॥ जब प्रेमरूपी बन्धनसे बँधे स्त्री पुरुष पलभरके लिए भी एक दूसरेका अदर्शन नहीं सहन कर पाते थे तब अन्य देशमें गमन किस प्रकार सहन करते ? ॥७३॥ फाल्गुन मासके अन्तिम आठ दिनमें आष्टाह्निक महोत्सव आया सो जिनभक्तिसे प्रेरित तथा महाहर्ष से भरे देव नन्दीश्वर द्वीपको जाने लगे ॥७४॥ उसी समय पूजाके उपकरणोंसे व्यग्र हाथोंवाले सेवकोंसे सहित विद्याधर राजा कैलाशपर्वत पर गये ॥७५॥ वह पर्वत भगवान् ऋषभदेवके मोक्ष जानेसे अत्यन्त पूजनीय था इसलिए भक्तिसे भरा राजा महेन्द्र भी बन्धुवर्गके साथ वहाँ गया था ॥७६॥ उसी समय राजा प्रह्लाद भी जिनेन्द्र देवकी वन्दना करनेके लिए कैलास पर्वतपर गया था सो पूजाके अनन्तर भ्रमण करता हुआ राजा महेन्द्रको दिखाई दिया ॥७८॥ तदनन्तर जिसके नेत्र विकसित हो रहे थे और मन प्रीतिसे भर रहा था ऐसा प्रह्लाद पुत्रकी प्रीतिसे बड़े आदरके साथ राजा महेन्द्रके पास गया ॥७९॥ सो हर्षसे भरे महेन्द्रने भी सहसा उठकर उसकी अग-

१. वकुलकुसुमसमूहः । २. जटासमूहः । ३. प्रेषित-म० । ४. कौरवजङ्घालं ज०, ख० । कौरवकं जालं म० । ५. कृष्ट-म० । ६. शोकप्रचलन्नव-म० । ७. ऋषभदेवनिर्वाणेन । ८. रौक्म्ये म० । ९. महेन्द्रेण खगोचरः म० ।

उपविष्टौ च विश्रब्धौ तौ मनोज्ञशिलातले । परस्परं शरीरादिकुशलं पर्यपृच्छताम् ॥८१॥
उवाचेति महेन्द्रोऽथ सखे किं कुशलं मम । कन्यानुरूपसम्बन्धचिन्ताव्याकुलितात्मनः ॥८२॥
अस्ति मे दुहिता योग्या वरं प्राप्तुं मनोहरा । कस्मै तां प्रददामीति मम भ्राम्यति मानसम् ॥८३॥
रावणो बहुपत्नीकस्तत्सुतौ [1]भजतो रुषम् । दानेनान्यतरस्यातो न तेषु रुचिरस्ति मे ॥८४॥
पुरे हेमपुराभिख्ये तनयः कनकद्युतेः । विद्युत्प्रभो दिनैरल्पैर्निर्वाणं प्रतिपत्स्यते ॥८५॥
मयेयं विदिता वार्ता प्रकटा सर्वविष्टपे । केनापि कथितं नूनं संज्ञानेनेति योगिना ॥८६॥
मन्त्रिमण्डलयुक्तस्य ततो मम विनिश्चितः । पुत्रस्तव वरत्वेन निर्वाच्यः पवनञ्जयः ॥८७॥
मनोरथोऽयमायाता त्वया[2] प्रह्लाद पूरितः । समयेनास्मि संजातः क्षणेन परिनिर्वृतः ॥८८॥
ततोऽवोचदलं प्रीतः प्रह्लादो लब्धवाञ्छितः । चिन्ता ममापि पुत्रस्य [3]द्वितीयान्वेषणं प्रति ॥८९॥
ततोऽहमपि वाक्येन त्वदीयेनामुना सुहृत् । शब्दगोचरतायु[4]क्तां परिप्राप्तः सुखासिकाम् ॥९०॥
सरसो मानसाख्यस्य तटेऽथात्यन्तचारुणि । [5]गुरुभ्यां वाञ्छितं कर्तुं तयोर्वैवाहमङ्गलम् ॥९१॥
स्थिते तत्रोभयोः सेने क्षणकल्पितसंश्रये । गजवाजिपदातीनामनुकूलरवाकुले ॥९२॥
दिनेषु त्रिषु यातेषु तयोः सांवत्सरा जगुः । कल्याणदिवसं ज्ञातनिखिलज्योतिरीहिताः ॥९३॥
श्रुत्वा परिजनादेतां सर्वावयवसुन्दरीम् । दिवसानां त्रयं सेहे न [6]प्राह्लादिः प्रतीक्षितुम् ॥९४॥

वानी की और आनन्दके कारण आलिङ्गन करते हुए प्रह्लादका आलिङ्गन किया ॥८०॥ तदनन्तर दोनों ही राजा निश्चित होकर मनोहर शिलातलपर बैठे और परस्पर शरीरादिकी कुशलता पूछने लगे ॥८१॥

अथानन्तर राजा महेन्द्रने कहा कि हे मित्र ! मेरा मन तो निरन्तर कन्याके अनुरूप सम्बन्ध ढूँढ़नेकी चिन्तासे व्याकुल रहता है अतः कुशलता कैसे हो सकती है ? ॥८२॥ मेरी एक कन्या है जो वर प्राप्त करने योग्य अवस्थामें है किसके लिए उसे दूँ इसी चिन्तामें मन घूमता रहता है ॥८३॥ रावण बहुपत्नीक है अर्थात् अनेक पत्नियोंका स्वामी है और इसके पुत्र इन्द्रजित् तथा मेघनाद किसी एकके लिए देनेसे शेष रोषको प्राप्त होते हैं अतः उन तीनोंमें मेरी रुचि नहीं है ॥८४॥ हेमपुर नगरमें राजा कनकद्युतिके विद्युत्प्रभ नामका पुत्र है सो वह थोड़े ही दिनोंमें निर्वाण प्राप्त करेगा ॥८५॥ यह बात किसी सम्यग्ज्ञानी मुनिने कही है सो समस्त लोकमें प्रसिद्ध है और परम्परा वश मुझे भी विदित हुई है ॥८६॥ अतः मन्त्रिमण्डलके साथ बैठकर मैंने निश्चय किया है कि आपके पुत्र पवनञ्जयको ही कन्याका वर चुनना चाहिए ॥८७॥ सो हे प्रह्लाद ! यहाँ पधारकर तुमने मेरे इस मनोरथको पूर्ण किया है । मैं तुम्हें देखकर क्षण भरमें ही सन्तुष्ट हो गया हूँ ॥८८॥

तदनन्तर जिसे अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति हो रही है ऐसे प्रह्लादने बड़ी प्रसन्नतासे कहा कि पुत्रके अनुरूप वधू ढूँढ़नेकी मुझे भी चिन्ता है ॥८९॥ सो हे मित्र ! आपके इस वचन से मैं जो शब्दोंसे न कही जाय ऐसी निश्चिन्तताको प्राप्त हुआ हूँ ॥९०॥ अथानन्तर अञ्जना और पवनञ्जयके पिताने वहीं मानुषोत्तर पर्वतके अत्यन्त सुन्दर तटपर उनका विवाह-मङ्गल करनेकी इच्छा की ॥९१॥ इसलिए क्षणभरमें ही जिनके डेरे तम्बू तैयार हो गये थे तथा जो हाथी घोड़े और पैदल सैनिकोंके अनुकूल शब्दोंसे व्याप्त था ऐसी उन दोनोंकी सेनाएँ वहीं ठहर गईं ॥९२॥ समस्त ज्योतिषियोंकी गतिविधिको जाननेवाले ज्योतिषियोंने तीन दिन बीतनेके बाद विवाहके योग्य दिन बतलाया था ॥९३॥ पवनञ्जयने परिजनोंके मुखसे सुन रक्खा था कि

---

१. व्रजतौ म० । २. मायाता ज०, ब० । मायातस्त्वया म०, क०, ख० । ३. भार्यान्वेषणम् । ४. मुक्ता म० । ५. पितृभ्याम् । ६. पवनञ्जयः ।

सङ्गमोत्कण्ठितः सोऽयमेभिर्मन्मथसंभवैः । पूरितो दशभिर्वेगैर्भटो बाणैरिवाहवे ॥९५॥
आद्ये तद्विषया चिन्ता वेगे समुपजायते । द्वितीये द्रष्टुमाकारो बहिः समभिलष्यते ॥९६॥
तृतीये मन्ददीर्घोष्णनिःश्वासानां विनिर्गमः । चतुर्थे संज्वरो दृष्टज्वलनोपमचन्दनः ॥९७॥
विवर्तः पञ्चमेऽङ्गस्य कुसुमप्रस्तरादिषु । मन्यते विविधं स्वादु षष्ठे भक्तं विषोपमम् ॥९८॥
सप्तमे तत्कथासक्त्या विप्रलापसमुद्भवः । उन्मत्तताष्टमे गीतनृत्यविभ्रमकारिणी ॥९९॥
मदनोरगदष्टस्य नवमे मूर्च्छनोद्भवः । दशमे दुःखसंभारः स्वसंवेद्यः प्रवर्तते ॥१००॥
विवेकिनोऽपि तस्येदं तदा जातमनङ्कुशम् । चरितं वायुवेगस्य[1] हताशं धिगनङ्गकम् ॥१०१॥
अथ चेतोभुवो वेगैरसौ धैर्यात्परिच्युतः । उद्वर्तितकरच्छन्ननिश्वासप्रचलाननः ॥१०२॥
करसङ्गारुणीभूतस्वेदवद्गण्डमण्डलः । उष्णातिदीर्घनिश्वासग्लपितासनपल्लवः ॥१०३॥
जृम्भणं कम्पनं जम्भां मन्दं कुर्वन् पुनः पुनः । निःसहं धारयन्कायं गाढाकल्पकशल्यतः ॥१०४॥
रामाभिध्यानतो मोघं हृषीकपटलं दधत् । मनोज्ञेष्वपि देशेषु महतीमधृतिं व्रजन् ॥१०५॥
दधानः शून्यमात्मानं परित्यक्ताखिलक्रियः । क्षणमात्रधृतां भूयः परिमुञ्चन्नपत्रपाम् ॥१०६॥
तनुभूत[2]समस्ताङ्गः परिभ्रष्टविभूषणः । दध्याविति सचिन्तेन परिवारेण वीक्षितः ॥१०७॥

अञ्जनासुन्दरी सर्वाङ्गसुन्दरी है इसलिए उसे देखनेके लिए वह तीन दिनका व्यवधान सहन नहीं कर सका ।।९४।। निरन्तर समागमकी उत्कण्ठा रखनेवाला यह पवनञ्जय कामके दश वेगों से इस प्रकार पूर्ण हो गया जिस प्रकार कि युद्धमें कोई योद्धा शत्रुके बाणोंसे पूर्ण हो जाता है—भर जाता है ।।९५।। प्रथम वेगमें उसे अञ्जनाविषयक चिन्ता होने लगी अर्थात् मनमें अञ्जना की इच्छा उत्पन्न हुई । दूसरे वेगके समय बाह्यमें उसकी आकृति देखनेकी इच्छा हुई ।।९६।। तीसरे वेगमें मन्द लम्बी और गरम साँसें निकलने लगीं । चौथे वेगमें ऐसा ज्वर उत्पन्न हो गया कि जिसमें चन्दन अग्निके समान सन्तापकारी जान पड़ने लगा ।।९७।। पञ्चम वेगमें उसका शरीर फूलोंकी शय्यापर करवटें बदलने लगा । छठवें वेगमें अनेक प्रकारके स्वादिष्ट भोजनको वह विषके समान मानने लगा ।।९८।। सातवें वेगमें उसीकी चर्चामें आसक्त रहकर विप्रलाप—बकबाद करने लगा । आठवें वेगमें उन्मत्तता प्रकट हो गई जिससे कभी गाने लगता और कभी नाचने लगता था ।।९९।। कामरूपी सर्पके द्वारा डसे हुए उस पवनञ्जयको नौवें वेगमें मूर्च्छा आने लगी और दशवें वेगमें जिसका स्वयं ही अनुभव होता था ऐसा दुःखका भार प्राप्त होने लगा ।।१००।। गौतम स्वामी कहते हैं कि यद्यपि वह पवनञ्जय विवेकसे युक्त था तो भी उस समय उसका चरित्र स्वच्छन्द हो गया था सो ऐसे दुष्ट कामके लिए धिक्कार हो ।।१०१।।

अथानन्तर कामके उपर्युक्त वेगोंके कारण पवनञ्जयका धैर्य छूट गया । उसका मुख निरन्तर निकलनेवाले श्वासोच्छ्वासोंसे चञ्चल हो गया और वह उसे अपनी हथेलियोंसे ढँकने लगा।।१०२।। वह स्वेदसे भरे अपने कपोलमण्डलको सदा हथेलीपर रखे रहता था जिससे उसमें लालिमा उत्पन्न हो गई थी । वह शीतलता प्राप्त करने के उद्देश्यसे पल्लवोंके आसनपर बैठता था तथा उसे गरम-गरम लम्बी श्वासोंसे म्लान करता रहता था ।।१०३।। बाणोंके गहरे प्रहारसे असहनीय कामको धारण करनेवाला वह पवनञ्जय बार-बार जमुहाई लेता था, बार-बार सिहर उठता था और बार-बार अङ्गड़ाई लेता था ।।१०४।। निरन्तर स्त्रीका ध्यान रखनेसे उसकी इन्द्रियोंका समूह व्यर्थ हो गया था अर्थात् उसकी कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य नहीं करती थी और अच्छे-से-अच्छे स्थानोंमें भी उसे धैर्य प्राप्त नहीं होता था—वह सदा अधीर ही बना रहता था ।।१०५।। उसने शून्य हृदय होकर सब काम छोड़ दिये थे । क्षण भरके लिए वह लज्जाको धारण करता भी था तो पुनः उसे छोड़ देता था ।।१०६।। जिसके समस्त अङ्ग दुर्बल हो गये थे और जिसने

१. पवनञ्जयस्य । २. कृशीभूत ।

कदा नु तामहं कान्तां वीक्षे स्वाङ्कनिवेशिताम् । स्पृशन्[1] कमलतुल्यानि गात्राणि कृतसंकथः ॥१०८॥
श्रुत्वा तावदियं जाता ममावस्थातिदुःखदा । आलोक्य तां तु नो[2] पश्यन् भवेयं पञ्चतां गतः ॥१०९॥
अहो महदिदं चित्रं मनोज्ञापि सखी मम । यदसौ दुःखभारस्य कारणत्वमुपागता ॥११०॥
अयि भद्रे कथं यस्मिन्नु[3]ष्यते हृदये त्वया । [4]दग्धुं तदेव [5]सक्तासि पण्डिते दुःखवह्निना ॥१११॥
मृदुचित्ताः स्वभावेन भवन्ति किल योषितः । मद्दुःखदानतो जातं विपरीतमिदं तव ॥११२॥
अनङ्गः सन् व्यथामेतामनङ्ग त्वं करोषि मे । यदि नाम भवेत्साङ्गस्ततः कष्टतमं भवेत् ॥११३॥
[6]व्रतं न चास्ति मे देहे वेदना च गरीयसी । तिष्ठन्नेकत्र चोद्देशे [7]भ्रमामि क्वापि संततम् ॥११४॥
दिवसानां त्रयं नैतन्मम क्षेमेण गच्छति । यदि तां विषयीभावमानयामि न चक्षुषः ॥११५॥
अतस्तद्दर्शनोपायः कतरो मे भविष्यति । यस्याधिगमतश्चित्तं प्रशान्तिमधियास्यति ॥११६॥
अथवा सर्वकार्येषु साधनीयेषु विष्टपे । मित्रं परममुज्झित्वा कारणं नान्यदीक्ष्यते ॥११७॥
इति ध्यात्वा स्थितं पार्श्वे छायाबिम्बमिवानुगम् । विक्रियातः समुत्पन्नं शरीरं स्वमिवापरम् ॥११८॥
नाम्ना प्रहसितं मित्रं सर्वविश्रम्भभाजनम् । मन्दगद्गदया वाचा जगाद पवनञ्जयः ॥११९॥
जानास्येव ममाकूतमतः किं ते निवेद्यते । केवलं मुखरत्वं मे करोत्यत्यन्तदुःखिताम् ॥१२०॥
सखे कस्य वदान्यस्य दुःखमेतन्निवेद्यते । मुक्त्वा त्वां विदिताशेषजगत्त्रयविचेष्टितम् ॥१२१॥

सब आभूषण उतारकर अलग कर दिये थे ऐसा पवनञ्जय निरन्तर स्त्रीका ही ध्यान करता रहता था। परिवारके लोग बड़ी चिन्तासे उसकी इस दशाको देखते थे ॥१०७॥ वह सोचा करता था कि मैं उस कान्ताको अपनी गोदमें बैठी कब देखूँगा और उसके कमलतुल्य शरीरका स्पर्श करता हुआ उसके साथ कब वार्तालाप करूँगा ॥१०८॥ उसकी चर्चा सुनकर तो हमारी यह अत्यन्त दुःख देनेवाली अवस्था हो गई है फिर साक्षात् देखकर तो न जाने क्या होगा ? उसे देखकर तो अवश्य ही मृत्युको प्राप्त हो जाऊँगा ॥१०९॥ अहो ! यह बड़ा आश्चर्य है कि वह मेरी सखी मनोहर होकर भी मेरे लिए दुःखका कारण बन रही है ॥११०॥ अरी भली आदमिन ? तू तो बड़ी पण्डिता है फिर जिस हृदयमें निवास कर रही है उसे ही दुःख रूपी अग्निसे जलानेके लिए तैयार क्यों बैठी है ॥१११॥ स्त्रियाँ स्वभावसे ही कोमलचित्त होती हैं पर मेरे लिए दुःख देनेके कारण तुम्हारे विषयमें यह बात विपरीत मालूम होती है ॥११२॥ हे अनङ्ग ! जब तुम शरीर रहित होकर भी इतनी पीड़ा उत्पन्न कर सकते हो तब फिर यदि शरीर सहित होते तो बड़ा ही कष्ट होता ॥११३॥ मेरे शरीरमें यद्यपि घाव नहीं है तो भी पीड़ा अत्यधिक हो रही है और यद्यपि एक स्थानपर बैठा हूँ तो भी निरन्तर कहीं घूमता रहता हूँ ॥११४॥ यदि मैं उसे नेत्रोंका विषय नहीं बनाता हूँ—उसे देखता नहीं हूँ तो मेरे ये तीन दिन कुशलता पूर्वक नहीं बीत सकेंगे ॥११५॥ इसलिए उसके दर्शनका उपाय क्या हो सकता है जिसे प्राप्तकर चित्त शान्ति प्राप्त करेगा ॥११६॥ अथवा इस संसारमें करने योग्य समस्त कार्योंमें परममित्रको छोड़कर और दूसरा कारण नहीं दिखाई देता ॥११७॥ ऐसा विचारकर पवनंजयने पास ही बैठे हुए प्रहसित नामक मित्रसे धीमी एवं गद्गद वाणीमें कहा। वह मित्र छायाके समान सदा पवनञ्जयके साथ रहता था। विक्रियासे उत्पन्न हुए उन्हींके दूसरे शरीरके समान जान पड़ता था और सर्व विश्वासका पात्र था ॥११८-११९॥

उसने कहा कि मित्र ! तुम मेरा अभिप्राय जानते ही हो अतः तुमसे क्या कहा जाय ? मेरी मुखरता केवल तुम्हें दुःखी ही करेगी ॥१२०॥ हे सखे ! तीनों लोकोंकी समस्त चेष्टाओंको

१. स्पृशे कमल म० । २. नोऽपश्यद्भवेयं म० । ३. निवासः क्रियते । यस्मिन् तुष्यते म० । ४. दग्धं म० । ५. शक्तासि म० । ६. कृतं न चात्र म० । ७. भ्रमसि म० ।

कुटुम्बी क्षितिपालाय गुरवेऽन्तेवसन् प्रिया । पत्यै वैद्याय रोगार्तो मात्रे शैशवसंगतः ॥१२२॥
निवेद्य मुच्यते दुःखाद्यथात्यन्तपुरोरपि । मित्रायैवं नरः प्राज्ञस्ततस्ते कथयाम्यहम् ॥१२३॥
श्रुत्वैव तामहं ह्यां महेन्द्रतनुसंभवाम् । मन्मथस्य शरैर्दूरं विकलत्वमुपागतः ॥१२४॥
तामदृष्ट्वातिचक्षुष्यां प्रियां मानसहारिणीम् । अतिवाहयितुं नाहं प्रभवामि दिनत्रयम् ॥१२५॥
अतो विधत्स्व तं यत्नं येन पश्यामि तामहम् । तद्दर्शनादहं स्वस्थो मयि स्वस्थे भवानपि ॥१२६॥
जीवितं ननु सर्वस्यादिष्टं सर्वशरीरिणाम् । सति तत्रान्यकार्याणामात्मलाभस्य संभवः ॥१२७॥
एवमुक्तस्ततोऽवोचदाशु प्रहसितो हसन् । लब्धार्थमिव कुर्वाणः सद्यो मित्रस्य मानसम् ॥१२८॥
सखे किं बहुनोक्तेन कृत्यकालातिपातिना । वद किं करवाणीति ननु नान्यत्वमावयोः ॥१२९॥
यावत्तयोः समालापो वर्ततेऽयं सुचित्तयोः । तावत्तदुपकारीव गतोऽस्तं घर्मदीधितिः[1] ॥१३०॥
[2]प्राह्लादेरिव रागेण सन्ध्यालोकेन भानुमान्[3] । प्रेरितो ध्वान्तसम्भूतिमिच्छता प्रियकारिणा ॥१३१॥
कान्तया रहितस्यास्य दुःखं दृष्ट्वैव संध्यया । करुणायुक्तया भर्त्ता तेजसामनुवर्तितः ॥१३२॥
ततो भास्करनाथस्य वियोगादिव [4]कृष्णताम् । आशा पौरन्दरी[5] प्राप तमसात्यन्तभूरिणा ॥१३३॥
नीलेनेव च वस्त्रेण क्षणाल्लोकस्तिरस्कृतः । रजो नीलाञ्जनस्येव प्रवृत्तं पतितुं घनम् ॥१३४॥

जाननेवाले एक आपको छोड़कर दूसरा ऐसा कौन उदारचेता है जिसके लिए यह दुःख बताया जाय ? ॥१२१॥ जिस प्रकार गृहस्थ राजाके लिए, विद्यार्थी गुरुके लिए, स्त्री पतिके लिए, रोगी वैद्यके लिए, और बालक माताके लिए प्रकटकर बड़े भारी दुःखसे छूट जाता है उसी प्रकार मनुष्य मित्रके लिए प्रकटकर दुःखसे छूट जाता है इसी कारण मैं आपसे कुछ कह रहा हूँ ॥१२२-१२३॥ जबसे मैंने अनवद्य सुन्दरी राजा महेन्द्रकी पुत्रीकी चर्चा सुनी है तभीसे मैं कामके बाणोंसे अत्यधिक विकलता प्राप्त कर रहा हूँ ॥१२४॥ मनको हरनेवाली उस सुन्दरी प्रियाको देखे बिना मैं तीन दिन बितानेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥१२५॥ इसलिए ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे मैं उसे देख सकूँ। क्योंकि उसके देखनेसे मैं स्वस्थ हो सकूँगा और मेरे स्वस्थ रहनेसे आप भी स्वस्थ रह सकेंगे ॥१२६॥ निश्चयसे सब प्राणियोंके लिए अन्य समस्त वस्तुओंकी अपेक्षा अपना जीवन ही इष्ट होता है क्योंकि उसके रहते हुए ही अन्य कार्योंका होना सम्भव है ॥१२७॥

तदनन्तर मित्रके मनको मानो कृतकृत्य करता हुआ प्रहसित हँसकर शीघ्र ही बोला ॥१२८॥ कि हे मित्र ! करने योग्य कार्यका उल्लंघन करनेवाले बहुत कहनेसे क्या मतलब है कहो, मैं क्या करूँ ? यथार्थमें हम दोनोंमें पृथक्पना नहीं हैं ॥१२९॥ उत्तम चित्तके धारक उन मित्रोंके बीच जबतक यह वार्तालाप चलता है तबतक सूर्य अस्त हो गया सो मानो उनका उपकार करनेके ही लिए ही अस्त हो गया था ॥१३०॥ जो पवनञ्जयके रागके समान लाल-लाल था, अन्धकारके प्रसारको चाहता था और प्रिय करनेवाला था ऐसे सन्ध्याके आलोकसे प्रेरित होकर ही मानो सूर्य अस्त हुआ था ॥१३१॥ कान्तासे रहित पवनञ्जयका दुःख देखकर ही मानो जिसे करुणा उत्पन्न हो गई थी ऐसी सन्ध्या अपना पति जो सूर्य सो उसके पीछे चलने लगी थी—उसके अनुकूल हो गई थी ॥१३२॥ तदनन्तर पूर्व दिशा अत्यधिक अन्धकारसे कृष्णता को प्राप्त हो गई सो मानो सूर्य रूप पतिके वियोगसे ही मलिन अवस्थाको प्राप्त हुई थी ॥१३३॥ क्षण भरमें लोक ऐसा दिखने लगा मानो नील वस्त्रसे ही आच्छादित हो गया हो अथवा नीलाञ्जनकी सघन पराग ही सब ओर उड़-उड़कर गिरने लगी हो ॥१३४॥

---

१. सूर्यः । २. प्राह्लादेरपि म० । प्राह्लादेनेव ख० । ३. भानुना म० । ४. कृष्णता म० । ५. पूर्वा ।

ततः समुचिते काले तस्मिन् [1]प्रस्तुतकर्मणः । इत्यवोचत सोत्साहः सुहृदं पवनञ्जयः ॥१३५॥
उत्तिष्ठाग्रे सखे तिष्ठ कुरु मार्गोपदेशनम् । व्रजावस्तत्र सा यत्र तिष्ठति स्वान्तहारिणी ॥१३६॥
इत्युक्ते प्रस्थितौ गन्तुं पूर्वप्रस्थितमानसौ । मीनाविव महानीलनीलव्योमतलार्णवे ॥१३७॥
क्षणेन च परिप्राप्तौ गृहमा[2]ञ्जनसुन्दरम् । सुन्दरं [3]तत्समासत्त्या रत्नौघसममन्दरम् ॥१३८॥
सप्तमं स्कन्धमारुह्य तस्य वातायनस्थितौ । मुक्ताजालतिरोधानावञ्जनां तामपश्यताम् ॥१३९॥
[4]सम्पूर्णवक्त्रचन्द्रांशुविफलीकृतदीपिकाम् । सितासितारुणच्छायचक्षुःशारितदिङ्मुखाम् ॥१४०॥
आभोगिनौ समुत्तुङ्गौ प्रियार्थं हारिणौ कुचौ । कलशाविव बिभ्राणां[5] शृङ्गाररसपूरितौ ॥१४१॥
नवपल्लवसच्छायं पाणिपादं सुलक्षणम् । समुद्गिरदिवाभाति लावण्यं नखरश्मिभिः ॥१४२॥
स्तनभारादिवोदारान्मध्यं भङ्गाभिशङ्कया । त्रिवलीदामभिर्बद्धं दधतीं तनुताम्भृतम्[6] ॥१४३॥
तूणौ मनोभुवः स्तम्भौ बन्धनं मदकामयोः । सुवृत्तौ बिभ्रतीमूरू नदौ लावण्यवाहिनौ ॥१४४॥
इन्दीवरावलीछायां युक्तां मुक्ताफलोडुभिः । आसक्तां प्रियचन्द्रेण मूर्तामिव[7] विभावरीम् ॥१४५॥
आसेचनकवीक्ष्यां तामेकतानस्थितेक्षणः । संप्राप्तः सुखितामुर्वीमैक्षिष्ट पवनञ्जयः ॥१४६॥

तदनन्तर जब प्रकृत कार्यके योग्य समय आ गया तब उत्साहसे भरे पवनञ्जयने मित्रसे इस प्रकार कहा ॥१३५॥ हे मित्र ? उठो, मार्ग दिखलाओ, हम दोनों वहाँ चलें जहाँ कि वह हृदयको हरनेवाली विद्यमान है ॥१३६॥ इतना कहनेपर दोनों मित्र वहाँके लिए चल पड़े। उनके मन उनके जानेके पूर्व ही प्रस्थान कर चुके थे और वे महानील मणिके समान नील आकाशतल रूपी समुद्रमें मछलियोंकी तरह जा रहे थे ॥१३७॥ दोनों मित्र क्षणभरमें ही अञ्जना सुन्दरीके घर जा पहुँचे। उसका वह घर अञ्जनासुन्दरीके सन्निधानसे ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि रत्नोंके समूहसे सुमेरु पर्वत सुशोभित होता है ॥१३८॥ उस भवनके सातवें खण्डमें चढ़कर दोनों मित्र मोतियोंकी जालीसे छिपकर झरोखेमें बैठ गये और वहींसे अञ्जनासुन्दरीको देखने लगे ॥१३९॥ वह अञ्जनासुन्दरी अपने मुख रूपी पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंसे भवनके भीतर जलनेवाले दीपकोंको निष्फल कर रही थी तथा उसके सफेद काले और लाल-लाल नेत्रोंकी कान्तिसे दिशाएँ रङ्ग-विरङ्गी हो रही थीं ॥१४०॥ वह स्थूल, उन्नत एवं सुन्दर स्तनोंको धारण कर रही थी उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो पतिके स्वागतके लिए शृङ्गार रससे भरे हुए दो कलश ही धारण कर रही थी ॥१४१॥ नवीन पल्लवोंके समान लाल-लाल कान्तिको धारण करनेवाले तथा अनेक शुभ लक्षणोंसे परिपूर्ण उसके हाथ और पैर ऐसे जान पड़ते थे मानो नख रूपी किरणोंसे सौन्दर्यको ही उगल रहे हों ॥१४२॥ उसकी कमर पतली तो थी ही ऊपरसे उसपर स्तनोंका भारी बोझ पड़ रहा है इसलिए वह कहीं टूट न जाय इस भयसे ही मानो उसे त्रिवलिरूपी रस्सियोंसे उसने कसकर बाँध रक्खा था ॥१४३॥ वह अञ्जना जिन गोल-गोल जाँघोंको धारण कर रही थी वे कामदेवसे तरकसके समान, अथवा मद और कामके बाँधनेके स्तम्भके समान अथवा सौन्दर्य-रूपी जलको बहानेवाली नदियोंके समान जान पड़ती थीं ॥१४४॥ उसकी कान्ति इन्दीवर अर्थात् नील कमलोंके समूहसे समान थी, वह मुक्ता फल-रूपी नक्षत्रोंसे सहित थी तथा पतिरूपी चन्द्रमा उसके पास ही विद्यमान था इसलिए वह मूर्तिधारिणी रात्रिके समान जान पड़ती थी ॥१४५॥ इस प्रकार जिसके देखनेसे तृप्ति ही नहीं होती थी ऐसी अञ्जनाको पवनञ्जय एकटक नेत्रोंसे देखता हुआ परम सुखको प्राप्त हुआ ॥१४६॥

१. प्रकृतकार्यस्य । २. अञ्जनसुन्दर्या इदमाञ्जनसुन्दरम् । ३. अञ्जनसुन्दरीसन्निधानेन । तत्समा भक्त्या क०, ब०, म०, ज० । ४. संपूर्णवक्त्र -म० । ५. बिभ्राणा म० । ६. तनुताम्भृताम् ख० । तनुतां भृशम् म० । ७. मूर्तामेव म० ।

अत्रान्तरे प्रियात्यन्तं वसन्ततिलकाभिधा । अभाषत सखी वाक्यमिदमञ्जनसुन्दरीम् ॥१४७॥
अहो परमधन्या[1] त्वं सुरूपे भर्तृदारिके । पिता वायुकुमाराय यद्दत्तासि महौजसे ॥१४८॥
गुणैस्तस्य जगत्सर्वं शशाङ्ककिरणामलैः । व्याप्तमन्यगुणख्यातितिरस्करणकारणैः ॥१४९॥
कलशब्दा[2] महारत्नप्रभापटलरञ्जिता । अङ्के स्थास्यति वीरस्य तस्य वेलेव वारिधेः ॥१५०॥
पतिता वसुधारा त्वं तटे रत्नमहीभृतः । [3]श्लाघ्यसम्बन्धजस्तोषो वधूनामभवत्परः ॥१५१॥
कीर्तयन्त्यां गुणानेवं तस्य सख्या सुमानसा । लिलेख लज्जयाङ्गुल्या कन्याङ्घ्रिनखमानता ॥१५२॥
नितान्तं च हृतो दूरं पूरेणानन्दवारिणः । विकसन्नयनाम्भोजच्छन्नास्यः पवनञ्जयः ॥१५३॥
नाम्नाथ मिश्रकेशीति वाक्यं सख्यपरावदत् । संकुचत्पृष्ठबिम्बोष्ठं धूतधम्मिलपल्लवम्[4] ॥१५४॥
अहो परममज्ञानं त्वया कथितमात्मनः । विद्युत्प्रभं परित्यज्य वायोर्गृह्णासि यद्गुणान् ॥१५५॥
कथा विद्युत्प्रभस्यास्मिन्मया स्वामिगृहे श्रुता । तस्मै देया न देयेयं कन्येति मुहुरुद्गता ॥१५६॥
उदन्वदम्भसो बिन्दुसंख्यानं योऽवगच्छति । तद्गुणानां मतिः पारं व्रजेत्तस्यामलत्विषाम् ॥१५७॥
युवा सौम्यो विनीतात्मा दीप्तो धीरः प्रतापवान् । पारेविद्यं[5] स्थितः सर्वजगद्वाञ्छितदर्शनः ॥१५८॥
विद्युत्प्रभो भवेदस्याः कन्याया यदि पुण्यतः । भर्ता ततोऽनया लब्धं जन्मनोऽस्य फलं भवेत् ॥१५९॥
वसन्तमालिके भेदो वायोर्विद्युत्प्रभस्य च । स गतो जगति ख्यातिं गोष्पदस्याम्बुधेश्च यः ॥१६०॥

इसी बीचमें उसकी वसन्ततिलका नामकी अत्यन्त प्यारी सखीने अञ्जना सुन्दरीसे यह वचन कहे कि हे सुन्दरी ! राजकुमारी ! तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो जो पिताने तुम्हे महाप्रतापी पवनञ्जयके लिए समर्पित किया है ॥१४७–१४८॥ चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल एवं अन्य मनुष्योंके गुणोंकी ख्यातिको तिरस्कृत करनेवाले उसके गुणोंसे यह समस्त संसार व्याप्त हो रहा है ॥१४९॥ बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि तुम समुद्रकी बेलाके समान महारत्नोंकी कान्तिके समूहसे प्रभासित हो, मनोहर शब्द करती हुई उसकी गोदमें बैठोगी ॥१५०॥ तुम्हारा उसके साथ सम्बन्ध होनेवाला है सो मानो रत्नाचलके तटपर रत्नोंकी धारा ही बरसने वाली है । यथार्थमें स्त्रियोंके प्रशंसनीय सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला सन्तोष ही सबसे बड़ा सन्तोष होता है ॥१५१॥ इस प्रकार जब सखी वसन्तमाला पवनञ्जय के गुणोंका वर्णन कर रही थी तब अञ्जना मन ही मन प्रसन्न हो रही थी और लज्जाके कारण मुख नीचाकर अङ्गुलीसे पैरका नख कुरेद रही थी ॥१५२॥ और खिले हुए नेत्रकमलोंसे जिसका मुख व्याप्त था ऐसे पवनञ्जयको आनन्दरूपी जलका प्रवाह बहुत दूर तक बहा ले गया था ॥१५३॥

अथानन्तर मिश्रकेशी नामक दूसरी सखीने निम्नाङ्कित वचन कहे । कहते समय वह अपने लाल-लाल ओंठोंको भीतरकी ओर संकुचित कर रही थी तथा शिर हिलानेके कारण उसकी चोटीमें लगा पल्लव नीचे गिर गया था ॥१५४॥ उसने कहा कि चूँकि तू विद्युत्प्रभको छोड़कर पवनञ्जयके गुण ग्रहण कर रही है इससे तूने अपना बड़ा अज्ञान प्रकट किया है ॥१५५॥ मैंने राजमहलमें विद्युत्प्रभकी चर्चा कई बार सुनी है कि उसके लिए यह कन्या दी जाय अथवा नहीं दी जाय ॥१५६॥ जो समुद्रके जलकी बूँदोंकी संख्या जानता है उसीकी बुद्धि उसके निर्मल गुणोंका पार पा सकती है ॥१५७॥ वह युवा है, सौम्य है, नम्र है, कान्तिमान् है, धीर-वीर है, प्रतापी है, विद्याओंका पारगामी है और समस्त संसार उसके दर्शनकी इच्छा करता है ॥१५८॥ यदि पुण्ययोगसे विद्युत्प्रभ इस कन्याका पति होता तो इसे इस जन्मका फल प्राप्त हो जाता ॥१५९॥ हे वसन्तमालिके ! पवनञ्जय और विद्युत्प्रभके बीच संसारमें वही भेद प्रसिद्ध है जो कि गोष्पद

---

१. परमधन्यत्वं म० । २. कलशब्दमहारत्न -ख०, ज० । ३. श्लाघ्या सम्बन्धजः म० । ४. पल्लवा ब० । ५. पारे विद्यास्थितः म० । पारेविद्यां ख० ।

असौ संवत्सरैरल्पैर्मुनितां यास्यतीति सः । अस्याः पित्रा परित्यक्तस्तन्मे नाभाति शोभनम् ॥१६१॥
वरं विद्युत्प्रभेणामा क्षणोऽपि सुखकारणम् । सत्रानन्तोऽपि नान्येन कालः क्षुद्रासुधारिणा ॥१६२॥
ततः [1]प्राह्लादिरित्युक्ते क्रोधानलविदीपितः । क्षणाच्छायापरीवर्तं[2] सम्प्राप्तः पुरुवेपथुः ॥१६३॥
दष्टाधरः समाकर्षन् सायकं[3] परिवारतः । निरीक्षणस्फुरच्छोणच्छायाच्छन्नदिगाननः ॥१६४॥
ऊचे प्रहसितावश्यमस्या एवेदमीप्सितम् । कन्याया यद्वदत्येवमियं नारी जुगुप्सितम् ॥१६५॥
लुनाम्यतोऽनयोः पश्य मूर्द्धानमुभयोरपि । विद्युत्प्रभोऽधुना रक्षां करोतु हृदयप्रियः ॥१६६॥
समाकर्ण्य ततो वाक्यं मैत्रं प्रहसितो रुषा । जगाद भ्रकुटीबन्धभीषणालिकपट्टिकः ॥१६७॥
सखे सखेऽलमेतेन यत्नेनागोचरे तव । ननु ते सायकस्यारिनरनाशः प्रयोजनम् ॥१६८॥
अतः पश्यत वाक्रोशप्रसक्तां दुष्टयोषितम् । इमामेतेन दण्डेन करोमि गतजीविताम् ॥१६९॥
ततो दृष्ट्वास्य संरम्भं महान्तं पवनञ्जयः । विस्मृतात्मीयसंरम्भः खड्गं कोशं प्रतिक्षिपन् ॥१७०॥
निजप्रकृतिसंप्राप्तिप्रवणाशेषविग्रहः । जगाद सुहृदं क्रूरकर्मनिश्चितमानसम् ॥१७१॥
अयि मित्र शमं गच्छ तवाप्येष न गोचरः । कोपस्यानेकसंग्रामजयोपार्जनशालिनः ॥१७२॥
इतरस्यापि नो युक्तं कर्तुं नारीविपादनम् । किं पुनस्तव मत्तेभकुम्भदारणकारिणः ॥१७३॥
पुंसां कुलप्रसूतानां गुणख्यातिमुपेयुषाम् । यशो मलिनताहेतुं कर्तुमेवमसाम्प्रतम् ॥१७४॥
तस्मादुत्तिष्ठ गच्छावस्तेनैव पुनरध्वना । विचित्रा चेतसो वृत्तिर्जनस्यात्र न कुप्यते ॥१७५॥

और समुद्रके बीच होता है ॥१६०॥ वह थोड़े ही वर्षोंमें मुनिपद धारण कर लेगा इस कारण इसके पिताने उसकी उपेक्षा की है पर यह बात मुझे अच्छी नहीं मालूम होती ॥१६१॥ विद्युत्प्रभ के साथ इसका एक क्षण भी बीतता तो वह सुखका कारण होता और अन्य क्षुद्र प्राणीके साथ अनन्त भी काल बीतेगा तो भी वह सुखका कारण नहीं होगा ॥१६२॥

तदनन्तर मिश्रकेशीके ऐसा कहते ही पवञ्जय क्रोधाग्निसे देदीप्यमान हो गया, उसका शरीर काँपने लगा और क्षण भरमें ही उसकी कान्ति बदल गई ॥१६३॥ ओंठ चाबते हुए उसने म्यानसे तलवार बाहर खींच ली, और नेत्रोंसे निकलती हुई लाल-लाल कान्तिसे दिशाओंका अग्रभाग व्याप्त कर दिया ॥१६४॥ उसने मित्रसे कहा कि हे प्रहसित ! यह बात अवश्य ही इस कन्याके लिए इष्ट होगी तभी तो यह स्त्री इसके समक्ष इस घृणित बातको कहे जा रही है ॥१६५॥ इसलिए देखो, मैं अभी इन दोनोंका मस्तक काटता हूँ। हृदयका प्यारा विद्युत्प्रभ इस समय इनकी रक्षा करे ॥१६६॥ तदनन्तर मित्रके वचन सुनकर क्रोधसे जिसका ललाट तट भौंहोंसे भयंकर हो रहा था ऐसा प्रहसित बोला कि मित्र ! मित्र ! अस्थानमें यह प्रयत्न रहने दो। तुम्हारी तलवारका प्रयोजन तो शत्रुजनोंका नाश करना है न कि स्त्रीजनोंका नाश करना ॥१६७-१६८॥ अतः देखो, निन्दामें तत्पर इस दुष्ट स्त्रीको मैं इस डंडेसे ही निर्जीव किये देता हूँ ॥१६९॥ तदनन्तर पवनंजय, प्रहसितके महाक्रोधको देखकर अपना क्रोध भूल गया, उसने तलवार म्यानमें वापिस डाल ली ॥१७०॥ और उसका समस्त शरीर अपने स्वभावकी प्राप्तिमें निपुण हो गया अर्थात् उसका क्रोध शान्त हो गया। तदनन्तर उसने क्रूर कार्यमें दृढ़ मित्रसे कहा ॥१७१॥ कि हे मित्र ! शान्तिको प्राप्त होओ। अनेक युद्धोंमें विजय प्राप्त करनेसे सुशोभित रहनेवाले तुम्हारे क्रोधका भी ये स्त्रियाँ विषय नहीं हैं ॥१७२॥ अन्य मनुष्यके लिए भी स्त्रीजनका घात करना योग्य नहीं है फिर तुम तो मदोन्मत्त हाथियोंके गण्डस्थल चीरनेवाले हो अतः तुम्हें युक्त कैसे हो सकता है ? ॥१७३॥ उच्च कुलमें उत्पन्न तथा गुणोंकी ख्यातिको प्राप्त पुरुषोंके लिए इस प्रकार यशकी मलिनता करनेवाला कार्य करना योग्य नहीं है ॥१७४॥ इसलिए उठो उसी मार्गसे पुनः वापिस चलें। मनुष्यकी मनोवृत्ति भिन्न प्रकारकी होती है अतः उसपर क्रोध करना उचित नहीं है ॥१७५॥

---

१. प्राह्लादिमित्यु -म० । २. परावृत्तं म० । ३. सायकः म० ।

नूनमस्याः प्रियोऽसौ ना[1] कन्याया येन पार्श्वगाम् । मज्जुगुप्सनसंसक्तां न मनागप्यवीवदत् ॥१७६॥
ततः समागतौ ज्ञातौ न केनचिदिमौ भृशम् । स्वैरं निःसृत्य [2]निर्व्यूहाद् गतौ वसतिमात्मनः ॥१७७॥
ततः परममापन्नो विरागं पवनञ्जयः । इति चिन्तनमारेभे प्रशान्तहृदयो भृशम् ॥१७८॥
संदेहविषमावर्ता दुर्भावग्राहसंकुला । दूरतः परिहर्तव्या पररक्ताङ्गनापगा ॥१७९॥
कुभावगहनात्यन्तं हृषीकव्यालजालिनी । बुधेन नार्यरण्यानी सेवनीया न जातुचित् ॥१८०॥
किं राजसेवनं शत्रुसमाश्रयसमागमम् । श्लथं मित्रं स्त्रियं चान्यसक्तां प्राप्य कुतः सुखम् ॥१८१॥
[3]इष्टान् बन्धून् सुतान् दारान् बुधा मुञ्चन्त्यसत्कृताः । पराभवजलाध्माताः क्षुद्राः नश्यन्ति तत्र तु ॥१८२॥
मदिरारागिणं वैद्यं द्विपं शिक्षाविवर्जितम् । अहेतुवैरिणं क्रूरं धर्मं हिंसनसंगतम् ॥१८३॥
मूर्खगोष्ठीं कुमर्यादं देशं चण्डं शिशुं नृपम् । वनितां च परासक्तां सूरिर्दूरेण वर्जयेत् ॥१८४॥
एवं चिन्तयतस्तस्य कन्याप्रीतिरिवागता । क्षयं विभावरी तूर्यमाहतं च प्रबोधकम् ॥१८५॥
ततः सन्ध्या प्रकाशेन कौशिकीया[4] दिगावृता । पवनञ्जयनिर्मुक्तरागेणेव निरन्तरम् ॥१८६॥
उदियाय च तिग्मांशुः स्त्रीकोपादिव लोहितम् । दधानस्तरलं बिम्बं जगच्चेष्टितकारणम् ॥१८७॥
ततो वहन्विरागेण नितान्तमलसां तनुम् । ऊचे प्रहसितं जायाविमुखः पवनञ्जयः ॥१८८॥
सखेऽत्र न समीपेऽपि युज्यतेऽवस्थितिर्मम । तत्सक्तपवनासङ्गो माभूदिति ततः शृणु ॥१८९॥

निश्चित ही वह विद्युत्प्रभ इस कन्याके लिए प्यारा होगा तभी तो पास बैठकर मेरी निन्दा करनेवाली इस स्त्रीसे उसने कुछ नहीं कहा ॥१७६॥ तदनन्तर जिनके आनेका किसीको कुछ भी पता नहीं था ऐसे दोनों मित्र झरोखेसे बाहर निकलकर अपने डेरेमें चले गये ॥१७७॥

तदनन्तर जिसका हृदय अत्यन्त शान्त था ऐसा पवनञ्जय परम वैराग्यको प्राप्त होकर इस प्रकार विचार करने लगा कि ॥१७८॥ जिसमें सन्देह रूपी विषम भँवरें उठ रही हैं और जो दुष्टभाव रूपी मगरमच्छोंसे भरी हुई हैं ऐसी पर-पुरुषासक्त स्त्री रूपी नदीका दूरसे ही परित्याग करना चाहिए ॥१७९॥ जो खोटे भावोंसे अत्यन्त सघन है तथा जिसमें इन्द्रियरूपी दुष्ट जीवोंका समूह व्याप्त है ऐसी यह स्त्री एक बड़ी अटवीके समान है, विद्वज्जनोंको कभी इसकी सेवा नहीं करनी चाहिए ॥१८०॥ जिसका अपने शत्रुके साथ सम्पर्क है ऐसे राजाकी सेवा करनेसे क्या लाभ है ? इसी प्रकार शिथिल मित्र और परपुरुषासक्त स्त्रीको पाकर सुख कहाँसे हो सकता है ? ॥१८१॥ जो विज्ञ पुरुष हैं वे अनादृत होनेपर इष्ट-मित्रों, बन्धुजनों, पुत्रों और स्त्रियोंको छोड़ देते हैं पर जो क्षुद्र मनुष्य हैं वे पराभव रूपी जलमें डूबकर वहीं नष्ट हो जाते हैं ॥१८२॥ मदिरा पानमें राग रखनेवाला वैद्य, शिक्षा रहित हाथी, अहेतुक वैरी, हिंसापूर्ण दुष्ट धर्म, मूर्खोंकी गोष्ठी, मर्यादाहीन देश, क्रोधी तथा बालक राजा, और परपुरुषासक्त स्त्री, बुद्धिमान् मनुष्य इन सबको दूरसे ही छोड़ देवे ॥१८३–१८४॥ ऐसा विचार करते हुए पवनञ्जयकी रात्रि कन्याकी प्रीतिके समान क्षयको प्राप्त हो गई और जगानेवाले बाजे बज उठे ॥१८५॥

तदनन्तर सन्ध्याकी लालीसे पूर्व दिशा आच्छादित हो गई सो ऐसी जान पड़ती थी मानो पवनञ्जयके द्वारा छोड़े हुए रागसे ही निरन्तर आच्छादित हो गई थी ॥१८६॥ और जो स्त्रीके क्रोधके कारण ही मानो लाल-लाल दिख रहा था तथा जो जगत्की चेष्टाओंका कारण था ऐसे चञ्चल बिम्बको धारण करता हुआ सूर्य उदित हुआ ॥१८७॥ तदनन्तर विरागके कारण अत्यन्त अलस शरीरको धारण करता स्त्रीविमुख पवनञ्जय प्रहसित मित्रसे बोला कि ॥१८८॥ हे मित्र ! उससे सम्पर्क रखनेवाली वायुका स्पर्श न हो जाय इसलिए यहाँ समीपमें भी मेरा

---

१. पुरुषः । २. निर्मूहाद् क०, ख०, ग०, म०, ज० । गवाक्षात् । ३. इष्टा म० । ४. ऐन्द्री, पूर्वदिशेत्यर्थः ।

उत्तिष्ठ स्वपुरं यामो न युक्तमवलम्बनम् । सेना प्रयाणशङ्खेन कार्यतामवबोधिनी ॥१९०॥
तथेति कारिते तेन क्षुब्धसागरसन्निभा । चचाल सा चमूः क्षिप्रं कृतयानोचितक्रिया ॥१९१॥
ततो रथाश्वमातङ्गपादातप्रभवो महान् । शब्दो भेर्यादिजन्मा च कन्यायाः श्रवणेऽविशत् ॥१९२॥
प्रयाणसूचिना तेन नितान्तं दुःखिताभवत् । विशता मुद्गराघातवेगतः शङ्कुनेव सा ॥१९३॥
अचिन्तयच्च हा कष्टं दत्त्वा मे विधिना [1]हृतम् । निधानं किं करोम्यत्र कथमेतद्भविष्यति ॥१९४॥
अङ्केऽस्य पुरुषेन्द्रस्य क्रीडिष्यामीति ये कृताः । तेऽन्यथैव परावृत्ता [2]मन्दाया मे मनोरथाः ॥१९५॥
क्रियमाणमिमं ज्ञात्वा [3]कथञ्चिन्निन्दमेतया । वैरिणीभूतया सख्या मयि स्याद्[4] द्वेषमागतः ॥१९६॥
विवेकरहितामेतां धिक्पापां क्रूरभाषिणीम् । यया मे दयितोऽवस्थामीदृशीमेष लम्भितः ॥१९७॥
कुर्यान्मह्यं हितं तातो जीवितेशं निवर्तयेत् । अपि नाम भवेदस्य बुद्धिर्व्यावर्तनं प्रति ॥१९८॥
तत्त्वतो यदि नाथो मे परित्यागं करिष्यति । आहारवर्जनं कृत्वा ततो यास्यामि पञ्चताम् ॥१९९॥
इति संचिन्तयन्ती सा प्राप्ता मूर्च्छां महीतले । पपाताश्रयनिर्मुक्ता लूनमूललता यथा ॥२००॥
ततः किमिदमित्युक्त्वा संभ्रमं परमागते । शीतलक्रियया सख्यौ चक्रतुस्तां [5]विमूर्च्छिताम् ॥२०१॥
पृच्छ्यमाना च यत्नेन मूर्च्छाहेतुं श्लथाङ्गिका । शशाक त्रपया वक्तुं न सा स्तिमितलोचना ॥२०२॥
अथ वायुकुमारस्य सेनायामिति [6]मानवाः । आकुला मानसे चक्रुरहेतुगतिविस्मिताः ॥२०३॥

रहना उचित नहीं है अतः सुनो और उठो—अपने नगरकी ओर चलें, यहाँ विलम्ब करना उचित नहीं है । प्रस्थान कालमें बजनेवाले शङ्खसे सेनाको सावधान कर दो ॥१८६–१९०॥

तदनन्तर शङ्खध्वनि होनेपर जो क्षुभित सागरके समान जान पड़ती थी तथा जिसने प्रस्थान कालके योग्य सर्व कार्य कर लिये थे ऐसी सेना शीघ्र ही चल पड़ी ॥१९१॥ तत्पश्चात् रथ, घोड़े, हाथी, पैदल सिपाही और भेरी आदिसे उत्पन्न हुआ शब्द कन्याके कानमें प्रविष्ट हुआ ॥१९२॥ प्रस्थानको सूचित करनेवाले उस शब्दसे कन्या अत्यन्त दुःखी हुई मानो मुद्गर प्रहार सम्बन्धी वेगसे प्रवेश करनेवाली कीलसे पीड़ित ही हुई थी ॥१९३॥ वह विचार करने लगी कि हाय-हाय बड़े खेदकी बात है कि विधाताने मेरे लिए खजाना देकर छीन लिया । मैं क्या करूँ ? अब कैसा क्या होगा ? ॥१९४॥ इस श्रेष्ठ पुरुषकी गोदमें क्रीड़ा करूँगी इस प्रकारके जो मनोरथ मैंने किये थे मुझ अभागिनीके वे सब मनोरथ अन्यथा ही परिणत हो गये और रूप ही बदल गये ॥१९५॥ इस वैरिन सखीने जो उनकी निन्दा की थी जान पड़ता है कि किसी तरह उन्हें इसका ज्ञान हो गया है इसीलिए वे मुझपर द्वेष करने लगे हैं ॥१९६॥ विवेकरहित, पापिनी तथा क्रूर वचन बोलनेवाली इस सखीको धिक्कार है जिसने कि मेरे प्रियतमको यह अवस्था प्राप्त करा दी ॥१९७॥ पिताजी यदि हृदयवल्लभको लौटा सकें तो मेरा बड़ा हित करेंगे और क्या इनकी भी लौटनेकी बुद्धि होगी ॥१९८॥ यदि सचमुच ही हृदयवल्लभ मेरा परित्याग करेंगे तो मैं आहार त्यागकर मृत्युको प्राप्त हो जाऊँगी ॥१९९॥ इस प्रकार विचार करती हुई अञ्जना मूर्छित हो छिन्नमूल लताके समान पृथिवीपर गिर पड़ी ॥२००॥ तदनन्तर 'यह क्या है ?' ऐसा कहकर परम उद्वेगको प्राप्त हुई दोनों सखियोंने शीतलोपचारसे उसे मूर्छारहित किया ॥२०१॥ उस समय उसका समस्त शरीर ढीला हो रहा था और नेत्र निश्चल थे । सखियों ने प्रयत्न पूर्वक उससे मूर्छाका कारण पूछा पर वह लज्जाके कारण कुछ कह न सकी ॥२०२॥

अथानन्तर वायुकुमार (पवनञ्जय) की सेनाके लोग इस अकारण गमनसे चकित हो बड़ी आकुलताके साथ मनमें विचार करने लगे कि यह कुमार इच्छित कार्यको पूरा किये

---

१. हृतम् म० । २. निर्भाग्यायाः । ३. कथंचिद्भेदमेतया म० । ४. विद्वेषमागतः म०, ब० । ५. विमूर्छताम् म० । ६. मानवः म० ।

अविधायेप्सितं कस्मादयं गन्तुं समुद्यतः। कोपोऽस्य जनितः केन केन वा चोदितोऽन्यथा ॥२०४॥
विद्यते सर्वमेवास्य कन्योपादानकारणम्। अतः किमित्ययं कस्मादभूदपगताशयः ॥२०५॥
हसित्वा केचिदित्यूचुर्नामास्येदं सहार्थकम्। पवनञ्जय इत्येष यस्माज्जेतास्य वेगतः ॥२०६॥
ऊचुरन्येऽयमद्यापि न जानात्यङ्गनारसम्। नूनं येन विहायैमां कन्यां गन्तुं समुद्यतः ॥२०७॥
यदि स्यादस्य विज्ञाता रतिः परमुदारजा। बद्धः स्यात्प्रेमबन्धेन ततो वनगजो यथा ॥२०८॥
इत्युपांशुकृतालापसामन्तशतमध्यगः। वेगवद्वाहनो गन्तुं प्रवृत्तः पवनञ्जयः ॥२०९॥
ततः कन्यापिता ज्ञात्वा प्रयाणं तस्य संभ्रमात्। समस्तैर्बन्धुभिः सार्धमाजगाम समाकुलैः ॥२१०॥
प्रह्लादेन समं तेन ततोऽसावित्यभाष्यत। भद्रेदं गमनं कस्मात्क्रियते शोककारणम् ॥२११॥
ननु केन किमुक्तोऽसि[2] कस्य नेष्टोऽसि शोभन। चिन्तयत्यपि नो कश्चिद्यत्ते बुध न रोचते ॥२१२॥
पितुर्मम च ते वाक्यं दोषे सत्यपि युज्यते। कर्तुं किमुत निःशेषदोषसङ्गविवर्जितम्[3] ॥२१३॥
ततः सूरे[4] निवर्तस्व क्रियतां नावभीप्सितम्[5]। भवादृशां गुरोराज्ञा नन्वानन्दस्य[6] कारणम् ॥२१४॥
इत्युक्त्वापत्यरागेण वीरो विनतमस्तकः। श्वसुरेण धृतः पाणौ जनकेन च सादरम् ॥२१५॥
ततस्तद्गौरवं भङ्क्तुमसमर्थो[7] न्यवर्तत। दध्याविति च कन्यायाः कोपाद्दुःखस्य कारणम् ॥२१६॥
समुह्य शातयाम्येनां दुःखेनासङ्गजन्मना। येनान्यतोऽपि नैवेषा प्राप्नोति पुरुषात्सुखम् ॥२१७॥

बिना ही जानेके लिए उद्यत क्यों हो गया है? इसे किसने क्रोध उत्पन्न कर दिया? अथवा किसने इसे विपरीत प्रेरणा दी है? ॥२०३-२०४॥ इसके कन्या ग्रहण करनेकी समस्त तैयारी है ही फिर यह किस कारण उदासीन हो गया है? ॥२०५॥ कितने ही लोग हँसकर कहने लगे कि चूँकि इसने वेगसे पवनको जीत लिया है इसलिए इसका 'पवनञ्जय' यह नाम सार्थक है ॥२०६॥ कुछ लोग कहने लगे कि यह अभी तक स्त्रीका रस जानता नहीं है इसीलिए तो यह इस कन्याको छोड़कर जानेके लिए उद्यत हुआ है ॥२०७॥ यदि इसे उत्तम रतिका ज्ञान होता तो यह जङ्गली हाथीके समान उसके प्रेमपाशमें सदा बँधा रहता ॥२०८॥ इस प्रकार एकान्तमें वार्तालाप करनेवाले सैकड़ों सामन्तोंके बीच खड़ा हुआ पवनञ्जय वेगशाली वाहनपर आरूढ हो चलनेके लिए प्रवृत्त हुआ ॥२०९॥

तदनन्तर जब कन्याके पिताको इसके प्रस्थानका पता चला तब वह हड़बड़ाकर घबड़ाये हुए समस्त बन्धुजनोंके साथ वहाँ आया ॥२१०॥ उसने प्रह्लादके साथ मिलकर कुमारसे इस प्रकार कहा कि हे भद्र! शोकका कारण जो यह गमन है सो किसलिए किया जा रहा है? आपसे किसने क्या कह दिया? हे भद्र पुरुष! आप किसे प्रिय नहीं हैं? हे विद्वन्! जो बात आपके लिए नहीं रुचती हो उसका तो यहाँ कोई विचार ही नहीं करता ॥२११-२१२॥ दोष रहते हुए भी आपको मेरे तथा पिताके वचन मानना उचित हैं फिर यह कार्य तो समस्त दोषोंसे रहित है अतः इसका करना अनुचित कैसे हो सकता है? ॥२१३॥ इसलिए हे विद्वन्! लौटो और हम दोनोंका मनोरथ पूर्ण करो! आप जैसे पुरुषोंके लिए पिताकी आज्ञा तो आनन्दका कारण होना चाहिए ॥२१४॥ इतना कहकर श्वसुर तथा पिताने सन्तानके राग वश नतमस्तक वीर पवनंजयका बड़े आदरसे हाथ पकड़ा ॥२१५॥ तत्पश्चात् श्वसुर और पिताके गौरवका भंग करनेके लिए असमर्थ होता हुआ पवनञ्जय वापिस लौट आया और क्रोधवश कन्याको दुःख पहुँचानेवाले कारणका इस प्रकार विचार करने लगा ॥२१६॥ अब मैं इस कन्याको विवाह कर

१. इत्येवं तस्माज्जेतास्य म०। २. विमुक्तोसि। ३. सङ्घातविवर्जितम् ख०। ४. हे विद्वन्। ५. नौ आवयोः। तावदीप्सितम् ख०। नवमीप्सितम् म०। ६. नत्वानन्दस्य म०। ७. भक्तु म०।

चकार विदितार्थं च मित्रं तेन[1] च भाषितः । साधु ते विदितं बुद्ध्या मयाप्येतन्निरूपितम् ॥२१८॥
निवृत्तं दयितं श्रुत्वा कन्यायाः संमदोऽभवत् । निरन्तरसमुद्भिन्नरोमाञ्चाशेषविग्रहः ॥२१९॥
ततः समयमासाद्य तयोर्वैवाहमङ्गलम् । प्रस्तुतं[2] बन्धुभिः कर्तुं प्राप्तसर्वसमीहितम्[3] ॥२२०॥
अशोकपल्लवस्पर्शः कन्यायाः स करोऽभवत् । विरक्तचेतसस्तस्य कृशानुरशनोपमः ॥२२१॥
अनिच्छतो गता दृष्टिः कथञ्चित्तस्य तत्तनौ । क्षणमात्रमपि स्थातुं न सेहे तुल्यविद्युति[4] ॥२२२॥
एष भावं न वेत्त्यस्या इति विज्ञाय पावकः । स्फुटल्लाजसमूहेन जहासैव कृतस्वनम् ॥२२३॥
ततो विधानयोगेन कृत्वोपयमनं तयोः । परमं प्रमदं प्राप्ताः सशब्दाः सर्वबान्धवाः ॥२२४॥
नानाद्रुमलताकीर्णे फलपुष्पविराजिते । मासं तत्र वने कृत्वा विभूत्या परमोत्सवम् ॥२२५॥
यथोचितं कृतालापाः कृतपूजाः परस्परम् । यथास्वं ते ययुः सर्वे वियोगाद् दुःखिताः क्षणम् ॥२२६॥

आर्याच्छन्दः

अविदिततत्त्वस्थितयो विदधति यज्जन्तवः परेऽशर्म ।
तत्तत्र मूलहेतौ कर्मरवौ तापके दृष्टम् ॥२२७॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरितेऽञ्जनासुन्दरीविवाहाभिधानं नाम पञ्चदशं पर्व ॥१५॥

असमागमसे उत्पन्न दुःखके द्वारा सदा दुःखी करूँगा । क्योंकि विवाहके बाद यह अन्य पुरुषसे भी सुख प्राप्त नहीं कर सकेगी ॥२१७॥ पवनञ्जयने अपना यह विचार मित्रके लिए बतलाया और उसने भी उत्तर दिया कि ठीक है यही बात मैं कह रहा था जिसे तुमने अपनी बुद्धिसे स्वयं समझ लिया ॥२१८॥

प्रियतमको लौटा सुनकर कन्याको बहुत हर्ष हुआ उसके समस्त शरीरमें रोमाञ्च निकल आये ॥२१९॥ तदनन्तर समय पाकर बन्धुजनोंने दोनोंका विवाहरूप मङ्गल किया जिससे सबके मनोरथ पूर्ण हुए ॥२२०॥ यद्यपि कन्याका हाथ अशोकपल्लवके समान शीत स्पर्शवाला था पर उस विरक्त चित्तके लिए वह अग्निकी मेखलाके समान अत्यन्त उष्ण जान पड़ा ॥२२१॥ बिजलीकी तुलना करनेवाले अञ्जनाके शरीरपर किसी तरह इच्छाके बिना ही पवनञ्जयकी दृष्टि गई तो सही पर वह उस क्षण भरके लिए भी नहीं ठहर सकी ॥२२२॥ यह पवनञ्जय इस कन्याके भावको नहीं समझ रहा है यह जानकर ही मानो चटकती हुई लाईके बहाने अग्नि शब्द करती हुई हँस रही थी ॥२२३॥ इस तरह विधिपूर्वक दोनोंका विवाहकर शब्द करते हुए समस्त बन्धुजन परम हर्षको प्राप्त हुए ॥२२४॥ नाना वृक्ष और लताओंसे व्याप्त तथा फल-फूलोंसे सुशोभित उस वनमें सब लोग बड़े वैभवसे महोत्सव करते रहे ॥२२५॥ तदनन्तर परस्पर वार्तालाप और यथा योग्य सत्कारकर सब लोग यथा स्थान गये । जाते समय सब लोग वियोगके कारण क्षण भरके लिए दुःखी हो उठे थे ॥२२६॥

गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! तत्त्वकी स्थितिको नहीं समझनेवाले प्राणी दूसरेके लिए जो दुःख अथवा सुख पहुँचाते हैं उसमें मूल कारण सन्ताप पहुँचानेवाला कर्म रूपी सूर्य ही है अर्थात् कर्मके अनुकूल या प्रतिकूल रहनेपर ही दूसरे लोग किसीको सुख या दुःख पहुँचा सकते हैं ॥२२७॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य कथित पद्मचरितमें अञ्जनासुन्दरीके विवाहका कथन करनेवाला पन्द्रहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१५॥

१. तेनेति भाषितः म० । २. प्रारब्धम् । प्रश्रुतं म०, ज०, । ३. प्राप्तं सर्वसमीहितम् ख० । ४. विद्युतिः क०, ख०, ज०, म० ।

षोडशं पर्व

ततोऽसंभाषणादस्याश्चक्षुषश्चानिपातनात् । चकार परमं दुःखं [1]वायुरज्ञाततन्मनाः ॥१॥
रात्रावपि न सा लेभे निद्रां विद्राणलोचना । अनारतगलद्बाष्पमलिनौ दधती स्तनौ ॥२॥
वायुमप्यभिनन्दन्ती दयितेनैकनामकम् । तन्नामश्रवणोत्कण्ठावष्टब्धश्रवणा भृशम् ॥३॥
कुर्वती मानसे रूपं तस्य वेद्यां निरूपितम् । अस्पष्टं क्षणनिश्चेष्टस्थिता स्तिमितलोचना ॥४॥
अन्तर्निरूप्य वाञ्छन्ती बहिरप्यस्य दर्शनम् । कुर्वती लोचने स्पष्टे[2] यात्यदृष्टे पुनः शुचम् ॥५॥
सकृद्दृष्टस्वरूपत्वाच्चित्रकर्माणि कृच्छ्रतः । लिखन्ती वेपथुग्रस्तहस्तप्रच्युतवर्तिका[3] ॥६॥
संचारयन्ती कृच्छ्रेण वदनं करतः करम् । कृशीभूतसमस्ताङ्गश्लथसस्वनभूषणा ॥७॥
दीर्घोष्णतरनिश्वासदग्धपाणिकपोलिका । अंशुकस्यापि भारेण खेदमङ्गेषु बिभ्रति ॥८॥
निन्दन्ती भृशमात्मानं स्मरन्ती पितरौ मुहुः । दधाना हृदयं शून्यं क्षणं निष्पन्दविग्रहा ॥९॥
दुःखनिःसृतया वाचा वाष्पसंरुद्धकण्ठतः । उपालम्भं प्रयच्छन्ती दैवायात्यन्तविक्लवा ॥१०॥
[4]करैः शीतकरस्यापि बिभ्रती दाहमुत्तमम्[5] । प्रासादेऽपि विनिर्यान्ती[6] याति मूर्च्छां पुनःपुनः ॥११॥

अथानन्तर पवनञ्जयने अञ्जनाको विवाह कर ऐसा छोड़ा कि उससे कभी बात भी नहीं करते थे, बात करना तो दूर रहा आँख उठाकर भी उस ओर नहीं देखते थे। इस तरह वे उसे बहुत दुःख पहुँचा रहे थे। इस घटनासे अञ्जनाके मनमें कितना दुःख हो रहा था इसका उन्हें बोध नहीं था ॥१॥ उसे रात्रिमें भी नींद नहीं आती थी, सदा उसके नेत्र खुले रहते थे। उसके स्तन निरन्तर अश्रुओंसे मलिन हो गये थे ॥२॥ पतिके समान नामवाले पवन अर्थात् वायुको भी वह अच्छा समझती थी—सदा उसका अभिनन्दन करती थी और पतिका नाम सुननेके लिए सदा अपने कान खड़े रखती थी ॥३॥ उसने विवाहके समय वेदीपर जो पतिका अस्पष्टरूप देखा था उसीका मनमें ध्यान करती रहती थी। वह क्षण-क्षणमें निश्चेष्ट हो जाती थी और उसके नेत्र निश्चल रह जाते थे ॥४॥ वह हृदयमें पतिको देखकर बाहर भी उनका दर्शन करना चाहती थी इसलिए नेत्रोंको पोंछकर ठीक करती थी पर जब बाह्यमें उनका दर्शन नहीं होता था तो पुनः शोकको प्राप्त हो जाती थी ॥५॥ उसने एकही बार तो पतिका रूप देखा था इसलिए बड़ी कठिनाईसे वह उनका चित्र खींच पाती थी उतने पर भी हाथ बीच-बीचमें काँपने लगता था जिससे तूलिका छूट कर नीचे गिर जाती था ॥६॥ वह इतनी निर्बल हो चुकी थी कि मुखको एक हाथसे दूसरे हाथ पर बड़ी कठिनाईसे ले जा पाती थी। उसके समस्त अङ्ग इतने कृश हो गये थे कि उनसे आभूषण ढीले हो हो कर शब्द करते हुए नीचे गिरने लगे थे ॥७॥ उसकी लम्बी और अतिशय गरम सांससे हाथ तथा कपोल दोनों ही जल गये थे। उसके शरीर पर जो महीन वस्त्र था उसीके भारसे वह खेदका अनुभव करने लगी थी ॥८॥ वह अपने आपकी अत्यधिक निन्दा करती हुई बार-बार माता-पिताका स्मरण करती थी तथा शून्य हृदयको धारण करती हुई क्षण-क्षणमें निश्चेष्ट अर्थात् मूर्च्छित हो जाती थी ॥९॥ कण्ठके वाष्पावरुद्ध होनेके कारण दुःखसे निकले हुए वचनोंसे वह सदा अपने भाग्यको उलाहना देती रहती थी। अत्यन्त दुःखी जो वह थी ॥१०॥ वह चन्द्रमाकी किरणोंसे भी अधिक दाहका अनुभव करती थी और

---

१. पवनञ्जयः । २. स्पृष्टे म०, ज० । ३. विग्रहा म० । ४. किरणैः । ५. अधिकम् । ६. चलन्ती । विनिर्याति ख० । विनिर्यन्ती क०, ज० ।

अयि नाथ तवाङ्गानि मनोज्ञानि कथं मम । अङ्गानां हृदयस्थानि कुर्वते तापमुत्तमम् ॥१२॥
ननु ते [1]जनितः कश्चिन्नापराधो मया प्रभो । कारणेन विना कस्मात्कोपं यातोऽसि मे परम् ॥१३॥
प्रसीद तव भक्तास्मि कुरु मे चित्तनिर्वृतिम् । बहिर्दर्शनदानेन रचितोऽञ्जलिरेष ते ॥१४॥
[2]द्यौरिवादित्यनिर्मुक्ता चन्द्रहीनेव शर्वरी । त्वया विना न शोभेऽहं विद्येव च गुणोज्झिता ॥१५॥
प्रयच्छन्तीत्युपालम्भं पत्ये मानसवासिने । बिन्दून् मुक्ताफलस्थूलान् मुञ्चन्ती लोचनाम्भसः ॥१६॥
खिद्यमाना [3] [4]म्रदिष्ठेषु कुसुमस्रस्तरेष्वपि । गुरुवाक्यानुरोधेन कुर्वती वपुषः स्थितिम् ॥१७॥
चक्रारूढमिवाजस्रं स्वं [5]दधाना कृतभ्रमम् । संस्कारविरहाद्रूक्षं भ्रमन्ती केशसंचयम् ॥१८॥
तेजोमयीव संतापाज्जलात्मेवाश्रुसन्ततेः । शून्यत्वाद्गगनात्मेव पार्थिवीवाक्रियात्मतः ॥१९॥
संततोत्कलिकायोगाद्वायुनेव विनिर्मिता । तिरोऽवस्थितचैतन्याद्भूत[6]मात्रोपमात्मिका ॥२०॥
भूमौ निक्षिप्तसर्वाङ्गा नोपवेष्टुमपि क्षमा । उपविष्टा च नोत्थातुं देहं नो[7]द्वर्तुमुत्थिता ॥२१॥
सखीजनांसविन्यस्तविगलत्पाणिपल्लवा । [8]भ्राम्यन्ती कुट्टिमाङ्केऽपि प्रस्खलच्चरणा मुहुः ॥२२॥
स्पृहयन्त्यनुयाताभ्यः प्रियैश्चाटुविधायिभिः । वराकी छेककान्ताभ्यस्तद्गतास्पन्दवीक्षणा ॥२३॥
प्रियात्परिभवं प्राप्ता कारणेन विवर्जिता । निन्ये सा दिवसान् कृच्छ्राद्दीना संवत्सरोपमान् ॥२४॥

महलमें भी चलती थी तो बार बार मूर्च्छित हो जाती थी ॥११॥ हे नाथ ! तुम्हारे मनोहर अङ्ग मेरे हृदयमें विद्यमान हैं फिर वे अत्यधिक संताप क्यों उत्पन्न कर रहे हैं ? ॥१२॥ हे प्रभो ! मैंने आपका कोई अपराध नहीं किया है फिर अकारण अत्यधिक क्रोधको क्यों प्राप्त हुए हो ? ॥१३॥ हे नाथ ! मैं आपकी भक्त हूँ अतः प्रसन्न होओ और बाह्यमें दर्शन देकर मेरा चित्त संतुष्ट करो । लो, मैं आपके लिए यह हाथ जोड़ती हूँ ॥१४॥ जिस प्रकार सूर्यसे रहित आकाश, चन्द्रमा से रहित रात्रि और गुणोंसे रहित विद्या शोभा नहीं देती उसी प्रकार आपके विना मैं भी शोभा नहीं देती ॥१५॥ इसप्रकार वह मनमें निवास करने वाले पतिके लिए उलाहना देती हुई मुक्ता फलके समान स्थूल आसुओंकी बूंदें छोड़ती रहती थी ॥१६॥ वह अत्यन्त कोमल पुष्पशय्या पर भी खेदका अनुभव करती थी और गुरुजनोंका आग्रह देख बड़ी कठिनाईसे भोजन करती थी ॥१७॥ वह चक्रपर चढ़े हुएके समान निरन्तर घूमती रहती थी और तेल कंघी आदि संस्कारके अभावमें जो अत्यन्त रूक्ष हो गये थे ऐसे केशोंके समूहको धारण करती थी ॥१८॥ उसके शरीर में निरन्तर संताप विद्यमान रहता था इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो तेजःस्वरूप ही है । निरन्तर अश्रु निकलते रहनेसे ऐसी जान पड़ती थी मानो जलरूप ही हो । निरन्तर शून्य मनस्क रहनेसे ऐसी जान पड़ती थी मानो आकाश रूप ही हो और अक्रिय अर्थात् निश्चल होनेके कारण ऐसी जान पड़ती थी मानो पृथिवी रूप ही हो ॥१९॥ उसके हृदयमें निरन्तर उत्कलिकाएं अर्थात् उत्कण्ठाएं (पक्षमें तरङ्गें) उठती रहती थीं इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो वायुके द्वारा रची गई हो और चेतना शक्तिके तिरोभूत होनेसे ऐसी जान पड़ती थी मानो पृथिवी आदि भूत-चतुष्टय रूप ही हो ॥२०॥ वह पृथिवीपर समस्त अवयव फैलाये पड़ी रहती थी, बैठनेके लिए भी समर्थ नहीं थी। यदि बैठ जाती थी तो उठनेके लिए असमर्थ थी और जिस किसी तरह उठती भी तो शरीर संभालने की उसमें क्षमता नहीं रह गई थी ॥२१॥ यदि कभी चलती थी तो सखी जनोंके कन्धों पर हाथ रख कर चलती थी। चलते समय उसके हाथ सखियोंके कन्धों से बार बार नीचे गिर जाते थे और मणिमय फर्श पर भी बार बार उसके पैर लड़खड़ा जाते थे ॥२२॥ चापलूसी करने वाले पति सदा जिनके साथ रहते थे ऐसी चतुर स्त्रियोंको वह बड़ी स्पृहाके साथ देखती थी और उन्हींकी ओर उसके निश्चल नेत्र लगे रहते थे ॥२३॥ जो पतिसे

---

१. जानतः म० । २. द्यौरेवा-म० । ३. खिद्यमानात्र दिष्टेषु म० । ४. अतिशयेन मृदुषु । ५. संदधाना म० । ६. द्रपमात्रोपमात्मिका म० । ७. नोद्वर्तुं म० । ८. भ्राम्यन्ति म० ।

तस्यामेतदवस्थायां समोऽस्या दुःखितोऽथवा । अधिकः परिवारोऽभूत्किंकर्तव्याकुलात्मकः ॥२५॥
अचिन्तयच्च किन्त्वेतत्कारणेन विनाभवत् । किं वा जन्मान्तरोपात्तं कर्म स्यात्पक्वमीदृशम् ॥२६॥
किं वान्तरायकर्म स्याज्जनितं जन्मान्तरे । जातं वायुकुमारस्य फलदानपरायणम् ॥२७॥
येनायमनया सार्कं मुग्धया वीतदोषया । न भुङ्क्ते परमान्भोगान्सर्वेन्द्रियसुखावहान् ॥२८॥
शृणु दुःखं यया पूर्वं न प्राप्तं भवने पितुः । सेयं कर्मानुभावेन दुःखभारमिमं श्रिता[1] ॥२९॥
उपायमत्र कं कुर्मो वयं भाग्यविवर्जिताः । अस्मत्प्रयतनासाध्यो[2] गोचरो ह्येष कर्मणाम् ॥३०॥
राजपुत्री भवत्वेषा प्रेमसंभारभाजनम् । भर्तुरस्मत्कृतेनापि पुण्यजातेन सर्वथा ॥३१॥
अथवा विद्यते नैव पुण्यं नोऽत्यन्तमण्वपि । निमग्ना येन तिष्ठामो बालादुःखमहार्णवे ॥३२॥
भविष्यति कदा श्लाघ्यः स मुहूर्तोऽङ्कवर्तिनीम्[3] । बालामिमां प्रियो नर्मगिरा यत्र लपिष्यति ॥३३॥
अत्रान्तरे विरोधोऽभूद्दृप्तानां विभुना सह । वरुणस्य परं गर्वं केवलं बिभ्रतो बलम् ॥३४॥
कैकसीसूनुना दूतः प्रेषितोऽथेत्यभाषत । वरुणं स्वामिनः शक्त्या दधानः परमां द्युतिम् ॥३५॥
श्रीमान् विद्याधराधीशो वरुण त्वाह[4] रावणः । यथा कुरु प्रणामं मे सज्जीभव रणाय वा ॥३६॥
प्रकृतिस्थिरचित्तोऽथ विहस्य वरुणोऽवदत् । दूत को रावणो नाम क्रियते तेन का क्रिया ॥३७॥
नाहमिन्द्रो जगन्निन्द्यवीर्यो वैश्रवणोऽथवा[5] । सहस्ररश्मिसंज्ञो वा मरुत्तो वाथवा यमः ॥३८॥
देवताधिष्ठितैः रत्नैर्दर्पोऽस्याभवदुत्तमः । आयातु सममेभिस्तं नयाम्यद्य विसंज्ञताम् ॥३९॥

तिरस्कारको प्राप्त थी तथा अकारण ही जिसका त्याग किया गया था ऐसी दीन हीन अञ्जना दिनों को वर्षोंके समान बड़ी कठिनाईसे बिताती थी ॥२४॥ उसकी ऐसी अवस्था होने पर उसका समस्त परिवार उस के समान अथवा उससे भी अधिक दुःखी था तथा 'क्या करना चाहिए' इस विषयमें निरन्तर व्याकुल रहता था ॥२५॥ परिवारके लोग सोचा करते थे कि क्या यह सब कारणके बिना ही हुआ है अथवा जन्मान्तरमें संचित कर्म ऐसा फल दे रहा है ॥२६॥ अथवा वायुकुमारने जन्मान्तरमें जिस अन्तराय कर्मका उपार्जन किया था अब वह फल देनेमें तत्पर हुआ है ॥२७॥ जिससे कि वह इस निर्दोष सुन्दरीके साथ समस्त इन्द्रियोंको सुख देने वाले उत्कृष्ट भोग नहीं भोग रहा है ॥२८॥ सुनो, जिस अञ्जनाने पहले पिताके घर कभी रञ्चमात्र भी दुःख नहीं पाया वही अब कर्मके प्रभावसे इस दुःखके भारको प्राप्त हुई है ॥२९॥ इस विषयमें हम भाग्यहीन क्या उपाय करें सो जान नहीं पड़ता। वास्तवमें यह कर्मोंका विषय हमारे प्रयत्न द्वारा साध्य नहीं है ॥३०॥ हमलोगोंने जो पुण्य किया है उसीके प्रभावसे यह राजपुत्री अपने पतिकी प्रेम भाजन हो जाय तो अच्छा हो ॥३१॥ अथवा हमलोगोंके पास अणुमात्र भी तो पुण्य नहीं है क्योंकि हम स्वयं इस बालाके दुःखरूपी महासागरमें डूबे हुए हैं ॥३२॥ वह प्रशंसनीय मुहूर्त कब आवेगा जब इसका पति इसे गोदमें बैठाकर इसके साथ हास्य भरी वाणीमें वार्तालाप करेगा ॥३३॥

इसी बीचमें बहुत भारी अहङ्कारको धारण करनेवाले वरुणका रावणके साथ विरोध हो गया ॥३४॥ सो रावणने वरुणके पास दूत भेजा। स्वामीके सामर्थ्यसे परम तेजको धारण करने-वाला दूत वरुणसे कहता है कि ॥३५॥ हे वरुण ! विद्याधरोंके अधिपति श्रीमान् रावणने तुमसे कहा है कि या तो तुम मेरे लिए प्रणाम करो या युद्धके लिए तैयार हो जाओ ॥३६॥ तब स्वभावसे ही स्थिर चित्तके धारक वरुणने हँसकर कहा कि हे दूत ! रावण कौन है ? और क्या काम करता है ? ॥३७॥ लोकनिन्द्य वीर्यको धारण करनेवाला मैं इन्द्र नहीं हूँ, अथवा वैश्रवण नहीं हूँ, अथवा सहस्ररश्मि नहीं हूँ, अथवा राजा मरुत्व या यम नहीं हूँ ॥३८॥ देवताधिष्ठित रत्नोंसे इसका गर्व

---

१. श्रिताः म० । २. अस्मत्प्रयत्नतासाध्यो ब० । ३. सुमुहूर्तोऽङ्क म० । ४. त्वा + आह 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वादेशः । ५. वीर्यवैश्रवण -म० ।

नूनमासन्नमृत्युस्त्वं येनैवं भाषसे स्फुटम् । अभिधायेति तं दूतो गत्वा भर्त्रे न्यवेदयत् ॥४०॥
ततः परमकोपेन परितो वारुणं पुरम् । अरुणद्रावणो युक्तः सेनयोदधिकल्पया ॥४१॥
प्रतिज्ञां च चकारेमां रत्नैरेष मया विना । नेतव्यश्चपलो भङ्गं मृत्युं वेति ससंभ्रमः ॥४२॥
राजीवपौण्डरीकाद्याः क्षुब्धा वरुणनन्दनाः । विनिर्ययुः सुसन्नद्धाः श्रुत्वा प्राप्तं बलं द्विषः ॥४३॥
रावणस्य बलेनामा तेषां युद्धमभूत्परम् । अन्योन्यापातसंछिन्नविविधायुधसंहतिः ॥४४॥
गजा गजैः समं सक्ता वाजिनोऽश्वै रथा रथैः । भटा भटैः कृतारावा दष्टोष्ठा रक्तलोचनाः ॥४५॥
[1]पराचीनं ततः सैन्यं [2]त्रैकूटैर्वारुणं कृतम् । चिराय कृतसंग्रामं [3]दत्तसोढायुधोत्करम् ॥४६॥
[4]जलकान्तस्ततः क्रुद्धः कालाग्निरिव दारुणः । अधावद्रक्षसां सैन्यं हेतिपञ्जरमध्यगः ॥४७॥
ततो दुर्वारवेगं तं दृष्ट्वायान्तं रणाङ्गणे । गोपायितः स्ववाहिन्या रावणो दीप्तशस्त्रया ॥४८॥
वरुणेन कृताश्वासास्ततस्तस्य सुताः पुनः । परमं योद्धुमारब्धा विध्वस्तभटकुञ्जराः ॥४९॥
ततो यावद्दशग्रीवः क्रोधदीपितमानसः । गृह्णाति कार्मुकं क्रूरः भ्रुकुटीकुटिलालिकः ॥५०॥
दत्तयुद्धश्चिरं तावत्खेदवर्जितमानसः । [5]वारुणीनां शतेनाशु गृहीतः खरदूषणः ॥५१॥
ततश्चिन्ते दशग्रीवश्चकारात्यन्तमाकुलः । यथा न शोभतेऽस्माकमधुना रणवारिति ॥५२॥

बहुत बढ़ गया है इसलिए वह इन रत्नोंके साथ आवे मैं आज उसे बिना नामका कर दूँ अर्थात् लोकसे उसका नाम ही मिटा दूँ ॥३९॥ 'निश्चय ही तुम्हारी मृत्यु निकट आ गई है इसलिए ऐसा स्पष्ट कह रहे हो' इतना कहकर दूत चला गया और जाकर उसने रावणसे सब समाचार कह सुनाया ॥४०॥

तदनन्तर समुद्रके समान भारी सेनासे युक्त रावणने तीव्र क्रोधवश जाकर वरुणके नगरको चारों ओरसे घेर लिया ॥४१॥ और सहसा उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं देवोपनीत रत्नोंके बिना ही इस चपलको पराजित करूँगा अथवा मृत्युको प्राप्त कराऊँगा ॥४२॥ राजीव पौण्डरीक आदि वरुणके लड़के बहुत क्षोभको प्राप्त हुए और शत्रुकी सेना आई सुन तैयार हो-होकर युद्धके लिए बाहर निकले ॥४३॥ तदनन्तर रावणकी सेनाके साथ उनका घोर युद्ध हुआ। युद्धके समय नाना शस्त्रोंके समूह परस्परकी टक्करसे टूट-टूटकर नीचे गिर रहे थे ॥४४॥ हाथी हाथियोंसे, घोड़े घोड़ोंसे, रथ रथोंसे और योद्धा योद्धाओंके साथ भिड़ गये। उस समय योद्धा बहुत अधिक हल्ला कर रहे थे, ओंठ डस रहे थे तथा क्रोधके कारण उनके नेत्र लाल-लाल हो रहे थे ॥४५॥ तदनन्तर जिसने चिरकाल तक युद्ध किया था और शस्त्र समूहका प्रहार कर स्वयं भी उसकी चोट खाई थी ऐसी वरुणकी सेना, रावणकी सेनासे पराङ्मुख हो गई ॥४६॥ तत्पश्चात् जो क्रुद्ध होकर प्रलय कालकी अग्निके समान भयङ्कर था और शस्त्र रूपी पञ्जरके बीचमें चल रहा था ऐसा वरुण राक्षसोंकी सेनाकी ओर दौड़ा ॥४७॥ तदनन्तर जिसका वेग बड़ी कठिनाईसे रोका जाता था ऐसे वरुणको रणाङ्गणमें आता देख देदीप्यमान शस्त्रोंकी धारक सेनाने रावणकी रक्षा की ॥४८॥ तत्पश्चात् वरुणका आश्वासन पाकर उसके पुत्र पुनः तेजीके साथ युद्ध करने लगे और उन्होंने अनेक योद्धा रूपी हस्तियोंको मार गिराया ॥४९॥ तदनन्तर जिसका चित्त खेदसे देदीप्यमान हो रहा था और ललाट भौंहोंसे कुटिल था ऐसे क्रूर रावणने जबतक धनुष उठाया तबतक वरुणके सौ पुत्रोंने शीघ्र ही खरदूषणको पकड़ लिया। खरदूषण चिरकालसे युद्ध कर रहा था फिर भी उसका चित्त खेदरहित था ॥५०–५१॥ तदनन्तर रावणने अत्यन्त व्याकुल होकर मनमें

---

१. पराङ्मुखम्। २. त्रिकूटाचलवासिभिः रावणीयैरिति यावत्। त्रिकूटै -म०। ३. संग्रामसोढा-म०। ४. वरुणः। ५. वरुणस्यापत्यानि पुमांसो वारुणयस्तेषां वारुणीनाम्।

खरदूषणभङ्गस्य प्रवृत्ते परमाहवे । माभून्मरणसंप्राप्तिस्तस्माच्छान्तिरिहोचिता ॥५३॥
इति निश्चित्य संग्रामशिरसोऽपससार सः[1] । नोदाराणां यतः कृत्ये मुच्यते चेतसा रसः ॥५४॥
ततः स मन्त्रिभिः साकं प्रवीणैर्मन्त्रवस्तुनि । संमन्त्र्य निजसामन्तान्स्वदेशसमवस्थितान् ॥५५॥
समग्रबलसंयुक्तान्सर्वान् दीर्घाध्वगामिभिः । आह्वाययच्छिरोबद्धलेखमालैरिति द्रुतम् ॥५६॥
प्रह्लादमपि तत्रायाद्रावणप्रेषितो नरः । स्वामिभक्त्या[2] कृतं चास्य करणीयं यथोचितम् ॥५७॥
विद्यावतां प्रभोर्भद्र[3] ! भद्रमित्यथ[4] चोदितः । सादरं भद्रमित्युक्त्वा स लेखं न्यक्षिपत्पुरः ॥५८॥
ततः स्वयं समादाय कृत्वा शिरसि संभ्रमात् । प्रह्लादोऽवाचयल्लेखमस्यार्थस्याभिधायकम् ॥५९॥
स्वस्ति स्थाने पुरस्यारादलङ्कारस्य नामतः । निविष्टपृतनः क्षेमी विद्याभृत्स्वामिनां पतिः ॥६०॥
सौमालिनन्दनो रक्षःसन्तानाम्बरचन्द्रमाः । आदित्यनगरे भद्रं प्रह्लादं न्यायवेदिनम् ॥६१॥
कालदेशविधानज्ञमस्मत्प्रीतिपरायणम् । आज्ञापयति देहादिकुशलप्रश्नपूर्वकम् ॥६२॥
यथा मे प्रणताः सर्वे क्षिप्रं विद्याधराधिपाः । कराङ्गुलिनखच्छायाकपिलीकृतमूर्धजाः ॥६३॥
पातालनगरेऽयं तु सुसन्नद्धः स्वशक्तितः । वरुणः प्रत्यवस्थानमकरोदिति दुर्मतिः ॥६४॥
हृदयव्यथविद्याभृच्चक्रेण परिवारितः । समुद्रमध्यमासाद्य दुरात्मायं सुखी किल ॥६५॥
[5]ततोऽतिगहने युद्धे प्रवृत्ते खरदूषणः । शतेनैतस्य पुत्राणां कथञ्चिदपवर्तितः[6] ॥६६॥

विचार किया कि इस समय युद्धकी भावना रखना मेरे लिए शोभा नहीं देती ॥५२॥ यदि परम युद्ध जारी रहता है तो खरदूषणके मरणकी आशङ्का है इसलिए इस समय शान्ति धारण करना ही उचित है ॥५३॥ ऐसा निश्चयकर रावण युद्धके अग्रभागसे दूर हट गया सो ठीक ही है क्योंकि उदार मनुष्योंका चित्त करने योग्य कार्यमें रसको नहीं छोड़ता अर्थात् करने न करने योग्य कार्यका विचार अवश्य रखता है ॥५४॥

तदनन्तर मन्त्र कार्यमें निपुण मन्त्रियोंके साथ सलाह कर उसने अपने देशमें रहनेवाले समस्त सामन्तोंको सर्व प्रकारकी सेनाके साथ शीघ्र ही बुलवाया। बुलवानेके लिए उसने लम्बा मार्ग तय करनेवाले तथा शिरपर लेख बाँधकर रखनेवाले दूत भेजे ॥५५-५६॥ रावणके द्वारा भेजा हुआ एक आदमी प्रह्लादके पास भी आया सो उसने स्वामीकी भक्तिसे उसका यथायोग्य सत्कार किया ॥५७॥ तथा पूछा कि हे भद्र ! विद्याधरोंके अधिपति रावणकी कुशलता तो है ? तदनन्तर उस आदमीने 'कुशलता है' इस प्रकार कहकर आदर पूर्वक रावणका पत्र प्रह्लादके सामने रख दिया ॥५८॥ तत्पश्चात् प्रह्लादने सहसा स्वयं ही उस पत्रको उठाकर मस्तकसे लगाया और फिर प्रकृत अर्थको कहनेवाला वह पत्र पढ़वाया ॥५९॥ पत्रमें लिखा था कि अलङ्कारपुर नगरके समीप जिसकी सेना गहरी है, जो कुशलतासे युक्त है, सौमालीका पुत्र है, तथा राक्षस वंशरूपी आकाशका चन्द्रमा है ऐसा विद्याधर राजाओंका स्वामी रावण, आदित्य नगरमें रहनेवाले न्याय-नीतिज्ञ, देश कालकी विधिके ज्ञाता एवं हमारे साथ प्रेम करनेमें निपुण भद्र प्रकृतिके धारी राजा प्रह्लादको शरीरादिकी कुशल कामनाके अनन्तर आज्ञा देता है कि हाथकी अङ्गुलियोंके नखोंकी कान्तिसे जिनके केश पीले हो रहे हैं ऐसे समस्त विद्याधर राजा तो शीघ्र ही आकर मेरे लिए नमस्कार कर चुके हैं पर पाताल नगरमें जो दुर्बुद्धि वरुण रहता है वह अपनी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण प्रतिकूलता कर रहा है—विरोधमें खड़ा है। वह हृदयमें चोट पहुँचानेवाले विद्याधरोंके समूहसे घिरकर समुद्रके मध्यमें सुखसे रहता है। इसी विद्वेषके कारण इसके साथ अत्यन्त भयङ्कर युद्ध हुआ था सो इसके सौ पुत्रोंने खरदूषणको किसी तरह

१. शिरसोसमसाहसः म० । २. स्वामिभक्तिकृतं ख० । ३. भर्तुर्भद्र ब० । भद्रं भद्रमित्यथ म०, ज० । ४. मित्यर्थचोदितः म०, ब० । ५. ततो निगूहने म० । ६. वेष्टितः ।

संग्रामे संशयो[1] माभूत्प्रमादोऽस्येति निश्चयः । परित्यक्ता[2] महायुद्धधिषणा कालवेदिना ॥६७॥
अतस्तत्प्रतिकाराय त्वयात्रश्यमिहागमः । कर्तव्यो नैव कर्तव्ये प्रस्खलन्ति भवादृशाः ॥६८॥
अवधार्य त्वया सार्धं विधास्यामोऽत्र साम्प्रतम् । [3]भर्तापि तेजसां कृत्यं कुरुतेऽरुणसङ्गतः ॥६९॥
ततो लेखार्थमावेद्य वायवे निर्विलम्बितम् । गमने सम्मतिं चक्रे कृतमन्त्रः सुमन्त्रिभिः ॥७०॥
अथ तं गमने सक्तं जानुस्पृष्टमहीतलः । वायुर्व्यज्ञापयत्कृत्वा प्रणामं रचिताञ्जलिः ॥७१॥
नाथ ते गमनं युक्तं विद्यमाने कथं मयि । आलिङ्गनफलं कृत्यं जनकस्य सुतैर्ननु ॥७२॥
ततो न जात एवास्मि यदि ते न करोमि तत् । गमनाज्ञाप्रदानेन प्रसादं कुरु मे ततः ॥७३॥
ततः पिता जगादैनं कुमारोऽसि रणे भवान् । आगतो न क्वचित्खेदं तस्मादास्स्व व्रजाम्यहम् ॥७४॥
उन्नमय्य ततो वक्षः कनकाद्रितटोपमम् । पुनरोजोधरं[5] वाक्यं जगाद पवनञ्जयः ॥७५॥
तात मे लक्षणं शक्तेस्त्वयैव जननं ननु । जगद्दाहे स्फुलिङ्गस्य किं वा वीर्यं परीक्ष्यते ॥७६॥
भवच्छासनशेषातिपवित्रीकृतमस्तकः । भङ्क्ते पुरन्दरस्यापि समर्थोऽस्मि न संशयः ॥७७॥
अभिधायेति कृत्वा च प्रणामं प्रमदी पुनः । उत्थायानुष्ठितस्नानभोजनादिवपुःक्रियः ॥७८॥
सादरं कुलवृद्धाभिर्दत्ताशीः कृतमङ्गलः । प्रणम्य भावतः सिद्धान् दधानः परमां द्युतिम् ॥७९॥

पकड़ लिया है ॥६०–६६॥ 'युद्धमें इसका मरण न हो जाय' इस विचारसे समयकी विधिको जानते हुए मैंने महायुद्धकी भावना छोड़ दी है ॥६७॥ इसलिए उसका प्रतिकार करनेके लिए तुम्हें अवश्य ही यहाँ आना चाहिए क्योंकि आप जैसे पुरुष करने योग्य कार्यमें कभी भूल नहीं करते ॥६८॥ अब मैं तुम्हारे साथ सलाह कर ही आगेका कार्य करूँगा और यह उचित भी है क्योंकि सूर्य भी तो अरुणके साथ मिलकर ही कार्य करता है ॥६९॥

अथानन्तर प्रह्लादने पवनञ्जयके लिए पत्रका सब सार बतलाकर तथा उत्तम मन्त्रियोंने साथ सलाहकर शीघ्र ही जानेका विचार किया ॥७०॥ पिताको गमनमें उद्यत देख पवनञ्जयने पृथिवीपर घुटने टेककर तथा हाथ जोड़ प्रणामकर निवेदन किया कि ॥७१॥ हे नाथ ! मेरे रहते हुए आपका जाना उचित नहीं है । पिता पुत्रोंका आलिङ्गन करते हैं सो पुत्रोंको उसका फल अवश्य ही चुकाना चाहिए ॥७२॥ यदि मैं वह फल नहीं चुकाता हूँ तो पुत्र ही नहीं कहला सकता अतः आप जानेकी आज्ञा देकर मुझपर प्रसन्नता कीजिए ॥७३॥ इसके उत्तरमें पिताने कहा कि अभी तुम बालक ही हो युद्धमें जो खेद होता है उसे तुमने कहीं प्राप्त नहीं किया है इसलिए सुखसे यहीं बैठो मैं जाता हूँ ॥७४॥ तदनन्तर सुमेरुके तटके समान चौड़ा सीना तानकर पवनञ्जयने निम्नाङ्कित ओजस्वी वचन कहे ॥७५॥ उसने कहा कि हे नाथ ! मेरी शक्तिका सबसे प्रथम लक्षण यही है कि मेरा जन्म आपसे हुआ है । अथवा संसारको भस्म करनेके लिए क्या कभी अग्निके तिलगेकी परीक्षा की जाती है ? ॥७६॥ आपकी आज्ञा रूपी शेषाक्षतसे जिसका मस्तक पवित्र हो रहा है ऐसा मैं इन्द्रको भी पराजित करनेमें समर्थ हूँ इसमें संशयकी बात नहीं है ॥७७॥ ऐसा कहकर उसने पिताको प्रणाम किया और फिर बड़ी प्रसन्नतासे उठकर उसने स्नान भोजन आदि शारीरिक क्रियाएँ कीं ॥७८॥

तदनन्तर कुलकी वृद्धा स्त्रियोंने बड़े आदरसे आशीर्वाद देकर जिसका मङ्गलाचार किया था, जो उत्कृष्ट कान्तिको धारण कर रहा था। और 'मङ्गलाचारमें बाधा न आ जाय' इस भयसे जिनके नेत्र आँसुओंसे आकुलित थे ऐसे आशीर्वाद देनेमें तत्पर माता-पिताने जिसका मस्तक

---

१. संयमो ब० । मरणमित्यर्थः । २. परित्यक्तं महायुद्धं धिषणाकालवेदिना ब० । महायुद्धमित्यत्र 'मया युद्ध' मित्यपि ब० पुस्तके पाठान्तरम् । ३. सूर्योऽपि । ४. कुरुते रणसंगतः म० । ५. तेजःपूर्णम् । पुना राज्योद्धरं म० ।

बाष्पाकुलितनेत्राभ्यां मङ्गलध्वंसभीतितः । आशीर्दानप्रवृत्ताभ्यां पितृभ्यां मूर्ध्नि चुम्बितः ॥८०॥
आपृच्छ्य बान्धवान् सर्वानभिवाद्य च सस्मितः । संभाष्य प्रणतं भक्तं परिवर्गमशेषतः ॥८१॥
दक्षिणेनाङ्घ्रिणा पूर्वं कृतोच्चालः स्वभावतः । दक्षिणेन कृतानन्दः स्फुरता बाहुना मुहुः ॥८२॥
सपल्लवमुखे पूर्णकुम्भे निहितलोचनः । क्रामन् (वै) भवनादेष सहसैक्षत गेहिनीम् ॥८३॥
द्वारस्तम्भनिषण्णाङ्गीं बाष्पस्थगितलोचनाम् । नितम्बनिहितभ्रंसिनिरादरचलद्भुजाम् ॥८४॥
ताम्बूलरागनिर्मुक्तधूसरद्विजवाससम् । तस्मिन्नेव समुत्कीर्णां मलिनां सालभञ्जिकाम् ॥८५॥
विद्युतीव ततो दृष्टिं तस्यामापतितां क्षणात् । संहृत्य कुपितोऽवादीदिति प्रह्लादनन्दनः ॥८६॥
अमुष्मादपसर्पाशु देशादपि दुरीक्षणे । उल्कामिव समर्थोऽहं भवतीं न निरीक्षितुम् ॥८७॥
अहो कुलाङ्गनायास्ते प्रगल्भत्वमिदं परम् । यत्पुरो[1]ऽनिष्यमाणापि तिष्ठसि त्रपयोज्झिते ॥८८॥
ततोऽत्यन्तमपि क्रूरं तद्वाक्यं भर्तृभक्तितः । तृषितेव चिराल्लब्धममृतं मनसा पपौ ॥८९॥
जगाद चाञ्जलिं कृत्वा तत्पादगतलोचना । संस्खलन्ती मुहुर्वाचमुद्गिरन्ती प्रयत्नतः ॥९०॥
तिष्ठतापि त्वया नाथ भवनेऽत्र[2] विवर्जिता । त्वत्सामीप्यकृताश्वासा जीवितास्म्यतिकृच्छ्रतः ॥९१॥
जीविष्याम्यधुना स्वामिन्कथं दूरं गते त्वयि । त्वत्सद्वचोऽमृतास्वादस्मरणेन विनातुरा ॥९२॥
कृतं छेकगणस्यापि[3] त्वया संभाषणं प्रभो । यियासुना परं देशमतिस्नेहार्द्रचेतसा ॥९३॥

चूमा था ऐसा पवनञ्जय भावपूर्वक सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कारकर, समस्त बन्धुजनोंसे पूछकर गुरुजनोंका अभिवादनकर तथा भक्तिसे नम्रीभूत समस्त परिजनसे वार्तालापकर मन्द-मन्द हँसता हुआ घरसे निकला ॥७६-८१॥ उसने स्वभावसे ही सर्व प्रथम दाहिना पैर ऊपर उठाया था। बार-बार फड़कती हुई दाहिनी भुजा से उसका हर्ष बढ़ रहा था ॥८२॥ और जिसके मुख पर पल्लव रखे हुए थे ऐसे पूर्णकलशपर उसके नेत्र पड़ रहे थे। महलसे निकलते ही उसने सहसा अञ्जनाको देखा ॥८३॥ अञ्जना द्वारके खम्भेसे टिककर खड़ी थी, उसके नेत्र आँसुओंसे आच्छादित थे, कमरको सहारा देनेके लिए वह अपनी भुजा नितम्बपर रखती भली थी पर दुर्बलताके कारण वह भुजा नितम्बसे नीचे हट जाती था ॥८४॥ पानकी लालीसे रहित होनेके कारण उसके ओंठ अत्यन्त धूसरवर्ण थे और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो उसी खम्भेमें उकेरी हुई एक मैली पुतली ही हो ॥८५॥

तदनन्तर मनुष्य जिस प्रकार बिजलीपर पड़ी दृष्टिको सहसा सङ्कुचित कर लेता है उससे दूर हटा लेता है उसी प्रकार पवनञ्जयने अञ्जनापर पड़ी अपनी दृष्टिको शीघ्र ही सङ्कुचित कर लिया तथा कुपित होकर कहा कि ॥८६॥ हे दुखलोकने ! तू इस स्थानसे शीघ्र ही हट जा। उल्काकी तरह तुझे देखनेके लिए मैं समर्थ नहीं हूँ ॥८७॥ अहो, कुलाङ्गना होकर भी तेरी यह परम धृष्टता है जो मेरे न चाहनेपर भी सामने खड़ी है। बड़ी निर्लज्ज है ॥८८॥ पवनञ्जयके उक्त वचन यद्यपि अत्यन्त क्रूर थे तो भी जिस प्रकार चिरकालका प्यासा मनुष्य प्राप्त हुए जलको बड़े मनोयोगसे पीता है उसी प्रकार अञ्जना स्वामीमें भक्ति होनेके कारण उसके उन क्रूर वचनोंको बड़े मनोयोगसे सुनती रही ॥८९॥ उसने स्वामीके चरणोंमें नेत्र गड़ाकर तथा हाथ जोड़कर कहा। कहते समय वह यद्यपि प्रयत्न पूर्वक वचनोंका उच्चारण करती थी तो भी बार-बार चूक जाती थी चुप रह जाती थी अथवा कुछका कुछ कह जाती थी ॥९०॥ उसने कहा कि हे नाथ ! इस महलमें रहते हुए भी मैं आपके द्वारा त्यक्त हूँ फिर भी 'मैं आपके समीप ही रह रही हूँ' इतने मात्रसे ही सन्तोष धारणकर अब तक बड़े कष्टसे जीवित रही हूँ ॥९१॥ पर हे स्वामिन् ! अब जब कि आप दूर जा रहे हैं निरन्तर दुःखी रहनेवाली मैं आपके सद्वचन रूपी अमृतके स्वादके बिना किस प्रकार जीवित रहूँगी ? ॥९२॥ हे प्रभो ! परदेश जाते समय आपने

१. निष्ठ्यमाणापि म० । २. भुवनेऽत्र म० । ३. सेवकगणस्यापि ।

अनन्यगतचित्ताहं त्वदसङ्गमदुःखिता । कथं [1]नान्यमुखेनापि त्वया संभाषिता विभो ॥६४॥
त्यक्ताया मे त्वया नाथ समस्तेऽप्यत्र विष्टपे । विद्यते शरणं नान्यदथवा मरणं भवेत् ॥६५॥
ततस्तेन म्रियस्वेति संकोचितमुखेन सा । सती निगदितापप्तद्विषण्णा धरणीतले ॥६६॥
वायुरप्युत्तमामृद्धिं दधानः कृपयोज्झितः । परमं नागमारुह्य सामन्तैः प्रस्थितः समम् ॥६७॥
वासरे प्रथमे वासो संप्राप्तौ मानसं सरः । आवासयत्तटे तस्य सेनामश्रान्तवाहनः ॥६८॥
तस्यावतरतः सेना शुशुभे हि नभस्तलात् । सुरसन्ततिवन्नानायानशस्त्रविभूषणा ॥६९॥
आत्मनो वाहनानां च चक्रे कार्यं यथोचितम् । स्नानप्रत्यवसानादिविद्याभृद्भिः सुमानसैः ॥१००॥
अथ विद्याबलादाशु रचिते बहु[2]भूमिके । युक्तविस्तारतुङ्गत्वे प्रासादे चित्तहारिणि ॥१०१॥
सहोपरितले कुर्वन् स्वैरं मित्रेण संकथाम् । वरासनगतो भाति संग्रामकृतसंमदः ॥१०२॥
गवाक्षजालमार्गेण छिद्रेण तटभूरुहान् । ईक्षाञ्चक्रे सरो वायुर्मन्दवायुविघट्टितम् ॥१०३॥
भीमैः कूर्मैर्झषैर्नक्रैर्मकरैर्दर्पधारिभिः । भिन्नवीचिकमन्यैश्च यादोभिरिति भूरिभिः ॥१०४॥
धौतस्फटिकसंतुल्यपयःमः कमलोत्पलभूषितम् । हंसैः कारण्डवैः क्रौञ्चैः सारसैश्चोपशोभितम् ॥१०५॥
[3]मन्द्रकोलाहलादेषा मनःश्रोत्रमलिम्लुचम् । तदन्तरश्रुतोदात्त[4]भ्रमरीकुलझङ्कृतम् ॥१०६॥

स्नेहसे आर्द्र चित्त होकर सेवक जनोंसे भी सम्भाषण किया है फिर मेरा चित्त तो एक आपमें ही लग रहा है और आपके ही वियोगसे निरन्तर दुःखी रहती हूँ फिर स्वयं न सही दूसरेके मुखसे भी आपने मुझसे सम्भाषण क्यों नहीं किया ? ॥९३–९४॥ हे नाथ ! आपने मेरा त्याग किया है इसलिए इस समस्त संसारमें दूसरा कोई भी मेरा शरण नहीं है अथवा मरण ही शरण है ॥९५॥

तदनन्तर पवनञ्जयने मुख सकोड़कर कहा कि 'मरो' उनके इतना कहते ही वह खेद खिन्न हो मूर्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़ी ॥९६॥ इधर उत्तम ऋद्धिको धारण करता हुआ निर्दय पवनञ्जय उत्तम हाथीपर सवार हो सामन्तोंके साथ आगे बढ़ गया ॥९७॥ प्रथम दिन वह मानसरोवरको प्राप्त हुआ सो यद्यपि उसके वाहन थके नहीं थे तो भी उसने मानसरोवरके तटपर सेना ठहरा दी ॥९८॥ आकाशसे उतरते हुए पवनञ्जयकी नाना प्रकारके वाहन और शस्त्रोंसे सुशोभित सेना ऐसी जान पड़ती थी मानो देवोंका समूह ही नीचे उतर रहा हो ॥९९॥ प्रसन्नतासे भरे विद्याधरोंने अपने तथा वाहनोंके स्नान भोजनादि समस्त कार्य यथायोग्य रीतिसे किये ॥१००॥

अथानन्तर विद्याके बलसे शीघ्र ही एक ऐसा मनोहर महल बनाया गया कि जिसमें अनेक खण्ड थे तथा जिसकी लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाई अनुरूप थी उस महलके ऊपरके खण्डपर मित्रके साथ स्वच्छन्द वार्तालाप करता हुआ पवनञ्जय उत्कृष्ट आसनपर विराजमान था। युद्धकी वार्तासे उसका हर्ष बढ़ रहा था ॥१०१–१०२॥ पवनञ्जय झरोखोंके मार्गसे किनारेके वृक्षोंको तथा मन्द-मन्द वायुसे हिलते हुए मानसरोवरको देख रहा था ॥१०३॥ भयंकर कछुए, मीन, नक्र, गर्वको धारण करनेवाले मगर तथा अन्य अनेक जल-जन्तु उस सरोवरमें लहरें उत्पन्न कर रहे थे ॥१०४॥ धुले हुए स्फटिकके समान स्वच्छ तथा कमलों और नील कमलोंसे सुशोभित उस सरोवरका जल हंस, कारण्डव, क्रौञ्च और सारस पक्षियोंसे अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥१०५॥ इन सब पक्षियोंके गम्भीर कोलाहलसे वह सरोवर मन और कर्ण—दोनोंको चुरा रहा था। तथा उसके मध्यमें भ्रमरियोंका उत्कृष्ट झंकार सुनाई देता था ॥१०६॥ उसी सरोवरके किनारे पवनञ्जयने एक चकवी देखी। वह चकवी अकेली होनेसे

१. नान्यसुखेनापि। २. हेमभूमिके म०। ३. मन्दकोलाहलं देशं म०। ४. भ्रमरीकुलझंकृतिं ख०।

तत्र चैकाकिनीमेकामाकुलां चक्रवाकिकाम् । वियोगानलसंतप्तां नानाचेष्टितकारिणीम् ॥१०७॥
अस्ताचलसमासन्नभानुबिम्बगतेक्षणाम् । पद्मिनीदलरन्ध्रेषु मुहुर्न्यस्तनिरीक्षणाम् ॥१०८॥
धुन्वानां पक्षती वेगात्पातोत्पातकृतश्रमाम् । मृणालशकलस्वादु पश्यन्तीं दुःखितां विषम् ॥१०९॥
प्रतिबिम्बं निजं दृष्ट्वा जले दयितशङ्किनीम् । आह्वयन्तीं तदप्राप्त्या व्रजतीं परमां शुचम् ॥११०॥
नानादेशोद्भवं श्रुत्वा प्रतिशब्दं प्रियाशया । भ्रमं चक्रमिवारूढां कुर्वन्तीं साधुलोचनाम् ॥१११॥
तटपादपमारुह्य न्यस्यन्तीं दिक्षु लोचने । तत्रादृष्ट्वा पुनः पातमाचरन्तीं महाजवम् ॥११२॥
उन्नयन्तीं रजो दूरं पद्मानां पक्षधूतिभिः । चिरं तद्गतया दृष्ट्या ददर्शासौ [1]कृपाहतः ॥११३॥
इति चाचिन्तयत्कष्टं प्राप्तमस्या इदं परम् । यत्प्रियेण विमुक्तेयं दह्यते शोकवह्निना ॥११४॥
तदेवेदं सरो रम्यं चन्द्रचन्दनशीतलम् । दावकल्पमभूदस्याः प्राप्य नाथवियुक्तताम् ॥११५॥
रमणेन वियुक्तायाः पल्लवोऽप्येति खड्गताम् । चन्द्रांशुरपि वज्रत्वं स्वर्गोऽपि नरकायते ॥११६॥
इति चिन्तयतस्तस्य प्रियायां मानसं गतम् । तत्प्रीत्या वीक्षतो देशांस्तद्विवाहे निषेवितान् ॥११७॥
चक्षुषो गोचरीभूतास्तस्य ते शोकहेतवः । बभूवुर्मर्मभेदानां कर्तार इव दुःसहाः ॥११८॥
अध्यासीच्चेति हा कष्टं मया सा क्रूरचेतसा । मुक्तेयमिव चक्राह्वा वैक्लव्यं दयितागमत् ॥११९॥
यदि नाम तदा तस्याः सख्याभाष्यत निष्ठुरम् । ततोऽन्यदीयदोषेण कस्मात्सा वर्जिता मया ॥१२०॥

अत्यन्त व्याकुल थी, वियोग रूपी अग्निसे संतप्त थी, नाना प्रकारकी चेष्टाएँ कर रही थी, अस्ताचलके निकटवर्ती सूर्यबिम्बपर उसके नेत्र पड़ रहे थे, वह बार-बार कमलिनीके पत्तोंके विवरोंमें नेत्र डालती थी, वेगसे पङ्खोंको फड़फड़ाती थी, बार-बार ऊपर उड़कर तथा नीचे उतरकर खेदखिन्न हो रही थी, मृणालके टुकड़ोंसे स्वादिष्ट जलकी ओर देखकर दुःखी हो रही थी, पानीके भीतर अपना प्रतिबिम्ब देखकर पतिकी आशंकासे उसे बुलाती थी और अन्तमें उसके न आनेसे अत्यधिक शोक करती थी, नानास्थानोंसे जो प्रतिध्वनि आती थी उसे सुनकर 'कहीं पति तो नहीं बोल रहा है' इस आशासे वह चक्रारूढ़की तरह गोल चक्कर लगाती थी, उसके नेत्र सुन्दर थे, वह किनारेके वृक्षपर चढ़कर सब दिशाओंमें नेत्र डालती थी और वहाँ जब पतिको नहीं देखती थी तब बड़े वेगसे पुनः नीचे आ जाती थी, तथा पङ्खोंकी फड़फड़ाहटसे कमलोंकी परागको दूर तक उड़ा रही थी। पवनञ्जय दयाके वशीभूत हो उसीकी ओर दृष्टि लगाकर देर तक देखता रहा ॥१०७–११३॥ चकवीको जो अत्यधिक दुःख प्राप्त हो रहा था उसीका वह इस प्रकार चिन्तवन करने लगा। वह विचारने लगा कि पतिसे वियुक्त हुई यह चकवी शोक रूपी अग्निसे जल रही है ॥११४॥ यह वही चन्द्रमा और चन्दनके समान शीतल, मनोहर सरोवर है पर पतिका वियोग पाकर इसे दावानलके समान हो रहा है ॥११५॥ पतिसे रहित स्त्रियोंके लिए पल्लव भी तलवारका काम करता है, चन्द्रमाकी किरण भी वज्र बन जाती है और स्वर्ग भी नरक जैसा हो जाता है ॥११६॥

ऐसा विचार करते हुए उसका मन अपनी प्रिया अञ्जनासुन्दरीपर गया और उसीमें प्रेम होनेके कारण उसने विवाहके समय सेवित स्थानोंको बड़े गौरसे देखा ॥११७॥ वे सब स्थान उसके नेत्रोंके सामने आनेपर शोकके कारण हो गये और मर्म भेद करनेवालोंके समान दुःसह हो उठे ॥११८॥ वह मन ही मन सोचने लगा कि हाय हाय बड़े कष्टकी बात है—मुझ दुष्ट चित्तके द्वारा छोड़ी हुई वह प्रिया भी इस चकवीके समान दुःखको प्राप्त हो रही होगी ॥११९॥ यदि उस समय उसकी सखीने कठोर शब्द कहे थे तो दूसरेके दोषसे मैंने उसे क्यों छोड़

१. कृपाहतः म० ।

धिगस्मत्सदृशान्मूर्खानप्रेक्षापूर्वकारिणः। जनस्य[1] ये विना हेतुं यत्कुर्वन्त्यसुखासनम् ॥१२१॥
मम वज्रमयं नूनं हृदयं पापचेतसः। प्रत्यवस्थित यत्कालमियन्तं तां प्रियां प्रति ॥१२२॥
किं करोम्यधुना तातमापृच्छ्य निरितो गृहात्। कथं नु विनिवर्तेऽहमहो प्राप्तोऽस्मि संकटम् ॥१२३॥
व्रजेयं यदि संग्रामं जीवेन्नासौ ततः स्फुटम्। तदभावे ममाभावः स्वतश्च गुरु नापरम् ॥१२४॥
अथवा सर्वसन्देहग्रन्थिभेदनकारणम्। विद्यते मे परं मित्रं तत्रेदं तिष्ठते[2] शुभे ॥१२५॥
तस्मात्पृच्छाम्यमुं तावत्सर्वाचारविशारदम्। निश्चित्ये विहिते कार्ये लभन्ते प्राणिनः सुखम् ॥१२६॥
इति च ध्यातमेतेन दृष्ट्वा चैवं विचेतसम्। मन्दं प्रहसितोऽपृच्छदेवं तद्दुःखदुःखितः ॥१२७॥
सखे ! प्रतिनरोच्छेदकृतये प्रस्थितस्य ते। कस्माद्वदनमद्यैवं विषण्णमिव दृश्यते ॥१२८॥
[3]अपत्रपां विमुच्याशु मह्यं सुजन वेदय। नितान्तमाकुलीभावो जातो मे भवतीदृशि ॥१२९॥
ततोऽसावेवमुक्तः सन् [4]कृच्छ्रनिःसृतया गिरा। जगादेति [5]परिभ्रंशं दूरं धैर्या[6]दुपागतः ॥१३०॥
शृणु सुन्दर कस्यान्यत्कथनीयमिदं मया। ननु सर्वरहस्यानां त्वमेव मम भाजनम् ॥१३१॥
स त्वं कथयितुं नैतदन्यस्मै सुहृदर्हसि। त्रपा हि वस्तुनानेन जायते परमा मम ॥१३२॥
ततः प्रहसितोऽवोचद् विश्रब्धस्त्वं निवेदय। त्वया हि वेदितो मेऽर्थस्तप्तायोगतवारिवत् ॥१३३॥
ततो वायुरुवाचेदं शृणु मित्राञ्जना मया। न कदाचित्कृतप्रीतिरिति मे दुःखितं मनः ॥१३४॥

दिया ? ॥१२०॥ बिना विचारे काम करनेवाले मुझ जैसे मूर्खोंके लिए धिक्कार है। जो बिना कारण ही लोगोंको दुःखी करते हैं ॥१२१॥ निश्चय ही मुझ पापीका चित्त वज्रका बना है इसीलिए तो वह इतने समय तक प्रियाके विरुद्ध रह सका है ॥१२२॥ अब क्या करूँ ? मैं पितासे पूछकर घरसे बाहर निकला हूँ इसलिए अब लौटकर वापिस कैसे जाऊँ ? अहो ! मैं बड़े संकटमें आ पड़ा हूँ ॥१२३॥ यदि मैं युद्धके लिए जाता हूँ तो निश्चित है कि वह जीवित नहीं बचेगी और उसके अभावमें मेरा भी अभाव स्वयमेव हो जायगा। इसलिए इससे बढ़कर और दूसरा कष्ट नहीं है ॥१२४॥ अथवा समस्त सन्देहकी गाँठको खोलनेवाला मेरा परम मित्र विद्यमान है सो यही इस शुभ कार्यका निर्णायक है ॥१२५॥ इसलिए सब प्रकारके व्यवहारमें निपुण इस मित्रसे पूछता हूँ क्योंकि जो कार्य विचार कर किया जाता है उसीमें प्राणी सुख पाते हैं सर्वत्र नहीं ॥१२६॥

इधर पवनञ्जय इस प्रकार विचार कर रहा था उधर प्रहसित मित्रने उसे अन्यमनस्क देखा। तब उसके दुःखसे दुखी होकर उसने स्वयं ही धीरेसे पूछा ॥१२७॥ कि हे सखे ! तुम तो शत्रुका उच्छेद करनेके लिए निकले हो फिर आज इस तरह तुम्हारा मुख खिन्न-सा क्यों दिखाई दे रहा है ? ॥१२८॥ हे सत्पुरुष ! लज्जा छोड़कर शीघ्र ही मेरे लिए इसका कारण बताओ। आपके इस तरह खिन्न रहते हुए मुझे बहुत आकुलता उत्पन्न हो रही है ॥१२९॥ तदनन्तर जो धैर्यसे भ्रष्ट होकर बहुत दूर जा पड़ा था ऐसा पवनञ्जय मित्रके इस प्रकार कहनेपर कठिनाईसे निकलती हुई वाणीसे कहने लगा कि ॥१३०॥ हे सुन्दर ! सुनो, तुम्हें छोड़कर और किससे कहूँगा ? यथार्थमें मेरे समस्त रहस्योंके तुम्हीं एक पात्र हो ॥१३१॥ हे मित्र ! यह बात तुम किसी दूसरेसे कहनेके योग्य नहीं हो क्योंकि इससे मुझे अधिक लज्जा उत्पन्न होती है ॥१३२॥ इसके उत्तरमें प्रहसितने कहा कि तुम निःशङ्क होकर कहो क्योंकि तुम्हारे द्वारा कहा हुआ पदार्थ मेरे लिए संतप्त लोहेपर पड़े पानीके समान है ॥१३३॥

तदनन्तर पवनञ्जयने कहा कि हे मित्र ! सुनो, मैंने आज तक कभी अञ्जनासे प्रेम नहीं

१. जीविना युक्तं ये म०। जनस्योर्जो विना ज०। २. निर्णेतृत्वेनावलम्बते। ३. लज्जाम्। ४. कृच्छ्र-निस्त्रपया म०। ५. परं भ्रंशं म० ख। ६. धैर्यमुपागतः क०।

क्रूरेऽपि मयि सामीप्यादियन्तं समयं तया । आत्मा [1]सन्धारितो नित्यं प्रवृत्तनयनाम्भसा ॥१३५॥
आगच्छता मया दृष्टा तस्याश्चेष्टाधुना तु या । तया जानामि सा नूनं न प्राणिति वियोगिनी ॥१३६॥
तस्या विनापराधेन मया परिभवः कृतः । द्वयग्रं विंशतिमब्दानां पाषाणसमचेतसा ॥१३७॥
आगच्छता मया दृष्टं तस्यास्तन्मुखपङ्कजम् । शोकप्रालेयसंपर्कान्मुक्तं लावण्यसम्पदा ॥१३८॥
तस्यास्ते नयने दीर्घे नीलोत्पलसमप्रभे । इषुवत्स्मृतिमारूढे हृदयं विध्यतेऽधुना ॥१३९॥
तदुपायं कुरु त्वं तमावयोर्येन संगमः । जायेत मरणं माभूदुभयोरपि सज्जन ॥१४०॥
ऊचे [2]प्रहसितोऽथैवं [3]क्षणं निश्चलविग्रहः । उपायचिन्तनात्यन्तचलदोलास्थमानसः ॥१४१॥
कृत्वा गुरुजनापृच्छां निर्गतस्य तवाधुना । [4]शत्रुं निर्जेतुकामस्य [5]साम्प्रतं न निवर्तनम् ॥१४२॥
समक्षं गुरुलोकस्य नानीता प्रथमं च या । लज्यते तामिहानेतुमधुनाञ्जनसुन्दरीम् ॥१४३॥
तस्मादविदितो गत्वा तत्रैवैतां त्वमानय । नेत्रयोर्गोचरीभावं संभाषणसुखस्य च ॥१४४॥
जीविताल्म्बनं कृत्वा चिरात्तस्याः समागमम् । ततः क्षिप्रं निवर्तस्व शीतलीभूतमानसः ॥१४५॥
निरपेक्षस्ततो भूत्वा वहन्नुत्साहमुत्तमम् । गमिष्यसि रिपुं जेतुमुपायोऽयं सुनिश्चितः ॥१४६॥
ततः परममित्युक्त्वा सेनान्यं मुद्गराभिधम् । नियुज्य बलरक्षायां व्याजतो मेरुवन्दनात् ॥१४७॥
माल्यानुलेपनादीनि गृहीत्वा त्वरयान्वितः । पुरः प्रहसितं कृत्वा वायुर्गगनमुद्ययौ ॥१४८॥
तावच्च भानुरैदस्तं कृपयेव प्रचोदितः । विश्रब्धमेतयोर्योगो निशीथे जायतामिति ॥१४९॥

किया इसलिए मेरा मन दुखी हो रहा है ॥१३४॥ यद्यपि मैं क्रूर हूँ और क्रूरतावश उससे बोलता-चालता नहीं था तो भी मात्र समीपमें रहनेके कारण उसने निरन्तर आँसू डाल-डालकर अपने आपको जीवित रक्खा है ॥१३५॥ परन्तु उस दिन आते समय मैंने उसकी जो चेष्टा देखी थी उससे जानता हूँ कि वह वियोगिनी अब जीवित नहीं रहेगी ॥१३६॥ मुझ पाषाणचित्तने अपराधके बिना ही उसका बाईस वर्ष तक अनादर किया है ॥१३७॥ आते समय मैंने उसका वह मुख देखा था जो कि शोक रूपी तुषारसे सम्पर्क होनेके कारण सौन्दर्य रूपी सम्पदासे रहित था ॥१३८॥ उसके जब नीलोत्पलके समान नीले एवं दीर्घ नेत्र स्मृतिमें आते हैं तो बाणकी तरह हृदय विध जाता है ॥१३९॥ इसलिए हे सज्जन ! ऐसा उपाय करो कि जिससे हम दोनोंका समागम हो जाय और मरण न हो सके ॥१४०॥

अथानन्तर क्षणभरके लिए जिसका शरीर तो निश्चल था और मन उपायकी चिन्तनामें मानो अत्यन्त चञ्चल झूलापर ही स्थित था ऐसा प्रहसित बोला कि ॥१४१॥ चूँकि तुम गुरुजनोंसे पूछकर निकले हो और शत्रुको जीतना चाहते हो इसलिए इस समय तुम्हारा लौटना उचित नहीं है ॥१४२॥ इसके सिवाय गुरुजनोंके समक्ष तुम कभी अञ्जनाको अपने पास नहीं लाये हो इसलिए इस समय उसका यहाँ लाना भी लज्जाकी बात है ॥१४३॥ अतः अच्छा उपाय यही है कि तुम गुप्त रूपसे वहीं जाकर उसे अपने दर्शन तथा संभाषणजन्य सुखका पात्र बनाओ ॥१४४॥ तुम्हारा समागम उसके जीवनका आलम्बन है सो उसे चिर काल तक प्राप्त कराकर तथा अपने मनको ठण्डाकर शीघ्र ही वहाँसे वापिस लौट आना ॥१४५॥ और इस तरह तुम उस ओरसे निश्चिन्त हो उत्तम उत्साहको धारण करते हुए शत्रुको जीतनेके लिए जा सकोगे ॥१४६॥

तदनन्तर 'बहुत ठीक है' ऐसा कहकर शीघ्रतासे भरा पवनंजय, मुद्गर नामक सेनापति को सेनाकी रक्षामें नियुक्त कर माला अनुलेपन आदि अन्य सुगन्धित पदार्थ लेकर और प्रहसित मित्रको आगे कर मेरुवन्दनाके बहाने आकाशमें जा उड़ा ॥१४७-१४८॥ इतने में ही सूर्य अस्त

१. सन्धारिता म० । २. प्रहसितोऽप्येवं म० । ३. क्षणनिश्चल म० । ४. शत्रुनिर्जेतु, -म० । ५. युक्तम् ।

[1]सन्ध्यालोकपरिध्वंसहेतुना तमसान्वितम्[2] । जगत् स्पर्शनविज्ञेयपदार्थमभवत्ततः ॥१५०॥
प्राप्तश्चाञ्जनसुन्दर्या गृहे [3]प्रग्रीवकोदरे । वायुरस्थात्प्रविष्टस्तु तस्याः प्रहसितोऽन्तिकम् ॥१५१॥
ततस्तं सहसा दृष्ट्वा मन्दद्वीपप्रकाशतः । अञ्जना विव्यथेऽत्यर्थं कः कोऽयमिति वादिनी ॥१५२॥
सखीं वसन्तमालाञ्च सुप्तां पार्श्वे व्यनिद्रयत् । कुशलोत्थाय सा तस्याश्चकार भयनाशनम् ॥१५३॥
ततः प्रहसितोऽस्मीति गदित्वाऽसौ नमस्कृतिम् । प्रयुज्याकथयत्तस्मै पवनञ्जयमागतम् ॥१५४॥
ततः स्वप्नसमं श्रुत्वा प्राणनाथस्य सागमम् । ऊचे प्रहसितं दीनमिदं गद्गदया गिरा ॥१५५॥
किं मां प्रहसितापुण्यां हससि प्रियवर्जिताम् । ननु कर्मभिरेवाहं हसितातिमलीमसैः ॥१५६॥
प्रियेण परिभूतेति विदित्वा वद केन नो । परिभूतास्मि निर्भाग्या दुःखावस्थानविग्रहा ॥१५७॥
विशेषतस्त्वया कान्तः प्रोत्साह्य क्रूरचेतसा । एतामारोपितोऽवस्थां मम कृच्छ्रविधायिनीम् ॥१५८॥
अथवा भद्र ते कोऽत्र दोषः कर्मवशीकृतम् । जगत्सर्वमवाप्नोति दुःखं वा यदि वा सुखम् ॥१५९॥
इति साश्रु वदन्तीं तामात्मनिन्दनतत्पराम् । नत्वा प्रहसितोऽवोचद् दुःखार्द्रीकृतमानसः ॥१६०॥
कल्याणि मा भणीरेवं क्षमस्व जनितं मया । आगो विचारशून्येन पापावष्टब्धचेतसा ॥१६१॥
प्राप्तानि विलयं नूनं दुष्कर्माणि तवाधुना । येन प्रेमगुणाकृष्टो जीवितेशः समागतः ॥१६२॥
अधुनास्मिन् प्रसन्ने[4] ते किं न जातं सुखावहम् । ननु चन्द्रेण शर्वर्याः संगमे का न चारुता ॥१६३॥

हो गया सो रात्रिके समय इन दोनोंका निश्चिन्ततासे समागम हो सके इस करुणासे प्रेरित हो कर ही मानो अस्त हो गया था ॥१४९॥ तदनन्तर संध्याके प्रकाशको नष्ट करनेका कारण जो अन्धकार उससे युक्त हो कर समस्त संसार श्याम वर्ण हो गया और समस्त पदार्थ मात्रस्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानने योग्य रह गये ॥१५०॥ अञ्जनासुन्दरीके घर पहुँच कर पवनञ्जय तो बाह्य बरण्डामें रह गया और प्रहसित उसके पास गया ॥१५१॥

तदनन्तर दीपकके मन्द प्रकाशमें उसे सहसा देख कर 'यह कौन है कौन है, ऐसा कहती हुई अञ्जना अत्यधिक भयभीत हुई ॥१५२॥ उसने पासमें सोई वसन्तमाला सखीको जगाया सो उस चतुरने उठकर उसका भय नष्ट किया ॥१५३॥ तत्पश्चात् 'मैं प्रहसित हूँ' ऐसा कह कर उसने नमस्कार किया और पवनंजयके आनेकी सूचना दी ॥१५४॥ तब वह स्वप्नके समान प्राणनाथके समागमका समाचार सुन गद्गद वाणीमें दीनताके साथ प्रहसितसे कहने लगी कि ॥१५५॥ हे प्रहसित ! मुझ पुण्यहीना तथा पतित्यक्ताकी हँसी क्यों करते हो ? मैं तो अपने मलिन कर्मोंसे स्वयं ही हास्यका पात्र हो रही हूँ ॥१५६॥ यह हृदयवल्लभके द्वारा तिरस्कृत है—पतिके द्वारा ठुकराई गई है ऐसा जानकर मुझ अभागिनी एवं दुःखिनीका किसने नहीं तिरस्कार किया है ? ॥१५७॥ खास कर दुष्ट चित्तको धारण करने वाले तुम्हींने प्राणनाथको प्रोत्साहित कर मुझे अत्यन्त दुःख देने वाली इस अवस्था तक पहुँचाया है ॥१५८॥ अथवा हे भद्र ! इसमें तुम्हारा क्या दोष है ? क्योंकि कर्मके वशीभूत हुआ समस्त संसार दुःख अथवा सुख प्राप्त कर रहा है ॥१५९॥ इस प्रकार जो अश्रु ढालती हुई कह रही थी तथा अपने आपकी निन्दा करनेमें तत्पर थी ऐसी अञ्जना सुन्दरीको नमस्कार कर प्रहसित बोला । उस समय प्रहसितका मन दुःख से द्रवीभूत हो रहा था ॥१६०॥ उसने कहा कि हे कल्याणि ! ऐसा मत कहो मुझ निर्विचार तथा पापयुक्त चित्तके धारकने जो अपराध किया है उसे क्षमा करो ॥१६१॥ इस समय तुम्हारे दुष्कर्म निश्चय ही नष्ट हो गये हैं क्योंकि प्रेमरूपी गुणसे खिंचा हुआ तुम्हारा हृदयवल्लभ स्वयं आया है ॥१६२॥ अब इसके प्रसन्न रहने पर तुम्हें कौन सी वस्तु सुखदायक नहीं होगी ? वास्तवमें चन्द्रमाके साथ समागम होने पर रात्रिमें कौनसी सुन्दरता नहीं आ जाती ? ॥१६३॥

---

१. सन्ध्यां म० । २. तपसान्विताम् म० । ३. प्रग्रीवो मत्तवारणः । ४. प्रसन्नेति ।

ततः [1]क्षणं स्थिता चेदं जगादाञ्जनसुन्दरी । प्रतिनिस्वनवत्येवं सख्यनूदितया गिरा ॥१६४॥
असंभाव्यमिदं भद्र यथा वर्षं जलोज्झितम् । भवत्यप्यथवा काले कल्याणं कर्मचोदितम् ॥१६५॥
तथास्तु स्वागतं तस्य जीवितस्येशितुर्मम । अद्य मे फलितः पूर्वशुभानुष्ठानपादपः ॥१६६॥
वदन्त्यामेवमेतस्या[2]मानन्दाम्भ्रासचक्षुषि । तत्सख्येवान्तिकं नीतस्तस्याः करुणया प्रियः ॥१६७॥
त्रस्तसारङ्गकान्ताक्षी दृष्ट्वा तं परमोत्सवम् । जानुद्वयालग्नन्यस्तस्रस्तपाणिसरोरुहा ॥१६८॥
स्तम्भव[3]त्स्रस्तकाण्डा वेपथुभिन्नविग्रहा । शनैरुत्थातुमारब्धा शयनस्था प्रयासिनी ॥१६९॥
अयालमलमेतेन देवि क्लेशविधायिना । संभ्रमेणेति वचनं विमुञ्चन्नमृतोपमम् ॥१७०॥
समुत्थितां प्रियां कृच्छ्रादञ्जलिं बद्धुमुद्यताम् । गृहीत्वा दयितः पाणौ शयने समुपाविशत् ॥१७१॥
[4]स्वेदी पाणिरसौ तस्याः परमं पुलकं वहन् । प्रियस्पर्शामृतेनेव सिक्तो व्यामुञ्चदङ्कुरान् ॥१७२॥
नत्वा वसन्तमाला तं कृत्वा भाषणमादरात् । साकं प्रहसितेनास्थाद्रम्ये कक्षान्तरे सुखम् ॥१७३॥
अथानादरतः पूर्वं त्रपमाणः स्वयंकृतात् । पवनः कुशलं प्रष्टुं न प्रावर्तत चेतसा ॥१७४॥
विलक्षस्तु प्रिये मृष्य[5] मया कर्मानुभावतः । निकारं कृतमित्यूचे तत्क्षणाकुलमानसः ॥१७५॥
आद्यसंभाषणत्रस्तापि वहन्ती नतमाननम् । जगाद मन्दया वाचा निश्चलाखिलविग्रहा ॥१७६॥

तदनन्तर अञ्जनासुन्दरी क्षण भरके लिए चुप हो रही। उसके बाद उसने सखीके द्वारा अनूदित वचनोंके द्वारा उत्तर दिया। सखी जो वचन कह रही थी वे अञ्जनाकी प्रतिध्वनिके समान जान पड़ते थे ॥१६४॥ उसने कहा कि हे भद्र! जिस प्रकार जलसे रहित वर्षाका होना असम्भव है उसी प्रकार उनका आना भी असम्भव है। अथवा इस समय मेरे किसी शुभ-कार्यका उदय हुआ हो जिससे तुम्हारा कहना सम्भव भी हो सकता है ॥१६५॥ अस्तु, यदि प्राणनाथ आये हैं तो मैं उनका स्वागत करती हूँ। मेरा पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मरूपी वृक्ष आज फलीभूत हुआ है ॥१६६॥ इस प्रकार नेत्रोंमें हर्षके आँसू भरे हुई अञ्जनासुन्दरी यह कह ही रही थी कि सखीके समान करुणा प्राणनाथको उसके समीप ले आई ॥१६७॥ उस समय अञ्जना शय्यापर बैठी थी। ज्यों ही उसने परम आनन्दके देनेवाले प्राणनाथको समीप आते देखा त्यों ही वह उठनेका प्रयास करने लगी। उसके नेत्र भयभीत हरिणके समान सुन्दर थे, वह खड़ी होनेके लिए अपने घुटनोंपर बार-बार हस्त-कमल रखती थी पर वे दुर्बलताके कारण नीचे खिसक जाते थे। उसकी जाँघें खम्भेके समान अकड़ गई थीं और सारा शरीर काँपने लगा था ॥१६८-१६९॥ यह देख पवनञ्जयने अमृततुल्य निम्न वचन कहे कि हे देवि! रहने दो, क्लेश उत्पन्न करनेवाले इस सम्भ्रमसे क्या प्रयोजन है? ॥१७०॥ इतना कहनेपर भी अञ्जना बड़े कष्टसे खड़ी होकर हाथ जोड़नेका उद्यम करने लगी कि पवनञ्जयने उसका हाथ पकड़कर उसे शय्यापर बैठा दिया ॥१७१॥ अञ्जनाका वह हाथ पसीनासे युक्त होगया और रोमाञ्च धारण करने लगा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पतिके स्पर्शरूपी अमृतसे सींचा जाकर अङ्कुर ही धारण कर रहा था ॥१७२॥ वसन्तमालाने पवनञ्जयको नमस्कारकर आदरपूर्वक उसके साथ वार्तालाप किया। तदनन्तर वह प्रहसितके साथ एक दूसरे सुन्दर कमरेमें सुखसे बैठ गई ॥१७३॥

अथानन्तर चूँकि पवनञ्जय अपने द्वारा किये हुए अनादरसे लज्जित हो रहा था अतः सर्वप्रथम कुशल समाचार पूछनेके लिए वह हृदयसे प्रवृत्त नहीं हो सका ॥१७४॥ तदनन्तर लज्जित होते हुए उसने कहा कि हे प्रिये! मैंने कर्मोदयके प्रभावसे तुम्हारा जो तिरस्कार किया है उसे क्षमा करो। यह कहते समय पवनञ्जयका मन अत्यन्त आकुल हो रहा था ॥१७५॥ अञ्जनाका पतिके साथ वार्तालाप करनेका प्रथम अवसर था इसलिए वह भी लज्जाके कारण मुख

१. क्षणस्थिता ख० । २. -मानन्दात्मासचक्षुषि म० । ३. जङ्घाकाण्डा । ४. स्वेदयुक्तः । ५. क्षमस्व ।

न कश्चिज्जनितो नाथ त्वया परिभवो मम । अधुना कुर्वता स्नेहं मनोरथसुदुर्लभम् ॥१७७॥
त्वत्स्मृति[1]प्रतिबद्धं मे वहन्त्या ननु जीवितम् । त्वदायत्तो निकारोऽपि महानन्दसमोऽभवत् ॥१७८॥
[2]अथैवं भाषमाणाया विधाय चिबुकेऽङ्गुलिम् । उन्नमय्य मुखं पश्यन् जगाद पवनञ्जयः ॥१७९॥
देवि सर्वापराधानां विस्मृत्यै तव पादयोः । प्रणाममेष यातोऽस्मि प्रसादं परमं भज ॥१८०॥
इत्युक्त्वा स्थापितं तेन मूर्धानं पादयोः प्रिया । त्वरया करपद्माभ्यामुन्नेतुं व्यापृताभवत् ॥१८१॥
तथावस्थित एवासौ ततोऽवोचत्प्रियं वचः । [3]प्रसन्नास्मीति येनाहमुत्थापयामि शिरः प्रिये ॥१८२॥
क्षान्तमित्युदितोऽथासावुन्नमय्याङ्गमुत्तमम् । चक्रे प्रियासमाश्लेषं [4]सुखामीलितलोचनः ॥१८३॥
आश्लिष्टा दयितस्यासौ तथा गात्रेष्वलीयत । पुनर्वियोगभीतेव [5]गतान्तर्विग्रहं यथा ॥१८४॥
आलिङ्गनविमुक्तायास्तस्याः स्तिमितलोचनम् । मुखं मुक्तनिमेषाभ्यां लोचनाभ्यां पपौ प्रियः ॥१८५॥
पादयोः करयोर्नाभ्यां स्तनयोश्चिबुकेऽलिके । गण्डयोर्नेत्रयोश्चास्याश्चुम्बनं मदनातुरः ॥१८६॥
पुनः पुनश्चकारासौ स्वेदिना पाणिना स्पृशन् । आप्तसेवा हि सा नूनं क्रियते वक्त्रचुम्बने ॥१८७॥
ततः प्रबुद्धराजीवगर्भच्छदसमप्रभम् । स पपावधरं तस्या विमुञ्चन्तमिवामृतम् ॥१८८॥
नीवीविमोचनव्यग्रपाणिमस्य त्रपावती । रोद्धुमैच्छन्न[6] सा शक्ता पाणिना वेपथुश्रिता ॥१८९॥

नीचा किये थी। उसका सारा शरीर निश्चल था। इसी दिशामें उसने धीरे-धीरे उत्तर दिया ॥१७६॥ कि हे नाथ! चूँकि इस समय आप जिसकी मुझे आशा ही नहीं थी ऐसा दुर्लभ स्नेह कर रहे हैं इसलिए यही समझना चाहिए कि आपने मेरा कुछ भी तिरस्कार नहीं किया है ॥१७७॥ मैंने अबतक जो जीवन धारण किया है वह एक आपकी स्मृतिके आश्रय ही धारण किया है। इसलिए आपके द्वारा किया हुआ तिरस्कार भी मेरे लिए महान् आनन्द स्वरूप ही रहा है ॥१७८॥

अथानन्तर ऐसा कहती हुई अञ्जनाकी चिबुकपर अँगुली रख उसके मुखको कुछ ऊँचा उठाकर उसीकी ओर देखते हुए पवनञ्जयने कहा कि ॥१७९॥ हे देवि! समस्त अपराध भूल जाओ इसलिए मैं तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, परम प्रसन्नताको प्राप्त होओ ॥१८०॥ इतना कहकर पवनञ्जयने अपना मस्तक अञ्जनाके चरणोंमें रख दिया और अञ्जना उसे अपने कर-कमलोंसे शीघ्र ही उठानेका प्रयत्न करने लगी ॥१८१॥ परन्तु पवनञ्जय उसी दशामें पड़े रहे। उन्होंने कहा कि हे प्रिये! जब तुम यह कहोगी 'कि मैं प्रसन्न हूँ' तभी शिर ऊपर उठाऊँगा ॥१८२॥ तदनन्तर 'क्षमा किया' अञ्जनाके ऐसा कहते ही पवनञ्जयने शिर ऊपर उठाकर उसका आलिङ्गन किया। उस समय उसके दोनों नेत्र सुखसे निमीलित हो रहे थे ॥१८३॥ आलिङ्गित अञ्जना पतिके शरीरमें इस प्रकार लीन हो गई मानो फिरसे वियोग न हो जावे इस भयसे शरीरके भीतर ही प्रविष्ट होना चाहती थी ॥१८४॥ पवनञ्जयने अञ्जनाको आलिङ्गनसे छोड़ा तो निश्चल नेत्रोंसे युक्त उसके मुखको अपने टिमकाररहित नेत्रोंसे देखने लगे ॥१८५॥ तदनन्तर कामसे व्याकुल हो उन्होंने अञ्जनाके पैरों, हाथों, नाभि, स्तन, दाढी, ललाट, कपोलों और नेत्रोंका चुम्बन किया ॥१८६॥ एक ही बार नहीं, किन्तु पसीनासे युक्त हाथसे स्पर्श करते हुए उन्होंने पुनः उन स्थानोंका चुम्बन किया जो ठीक ही है क्योंकि मुखका चुम्बन करनेके लिए वह आप्त सेवा है सो प्रेमीजनोंको करना ही पड़ता है ॥१८७॥ तदनन्तर खिले हुए कमलके भीतरी दलके समान जिसकी कान्ति थी और मानो जो अमृत ही छोड़ रहा था ऐसे उसके अधरोष्ठका पान किया ॥१८८॥ नीवीकी गाँठ खोलनेके लिए उतावली करनेवाले पवनञ्जयके हाथको लज्जा

---

१. त्वत्स्मृतिबद्धं म० । २. अथैव म० । ३. प्रसन्नोऽस्मीति म०, ब० । ४. सुखमीलित-म० । ५. ज्ञातान्तर्विग्रहं यथा ख०, म०, ब०, ज० । ६. न चाशक्ता म० ।

ततो नितम्बफलकं दृष्ट्वास्या वसनोज्झितम् । उवाह हृदयं वायुर्मनोभूवेगरङ्गितम् ॥१९०॥
अथ केनापि वेगेन परायत्तीकृतात्मना । गृहीता दयिता गाढं पवनेनाब्जकोमला ॥१९१॥
यथा ब्रवीति वैदग्ध्यं यथाज्ञापयति स्मरः । अनुरागो यथा शिक्षां प्रयच्छति महोदयः ॥१९२॥
तथा तयो रतिः प्राप्ता दम्पत्योर्वृद्धिमुत्तमाम् । काले तत्र हि यो भावो नैवाख्यातुं स पार्यते ॥१९३॥
स्तनयोः कुम्भयोरेष जघने चाङ्गनोत्तमाम् । आस्फालयन् समारूढो मनोभवमहागजम् ॥१९४॥
तिष्ठ मुञ्च गृहाणेति नानाशब्दसमाकुलम् । तयोर्युद्धमिवोदारं रतमासीत्सविभ्रमम् ॥१९५॥
अधरग्रहणे तस्याः पुत्सीत्कारपूर्वकम् । प्रविधूतः करो रेजे लताया इव पल्लवः ॥१९६॥
प्रियदत्ता नवास्तस्य नखाङ्का जघने बभुः । वैडूर्यजगतीभागे पद्मरागोद्गमा इव ॥१९७॥
तस्याः [1]सेचनकत्वं तु जगाम जघनस्थलम् । निमेषमुक्तनिष्ठमुकुलीभूतचक्षुषः ॥१९८॥
वलयानां रणत्कारः कलालापसमन्वितः । तदा मनोहरो जज्ञे भ्रमरौघरवोपमः ॥१९९॥
तस्यास्ते काम्यमानाया नेत्रकेकरतारके । मुकुले दधतुः शोभां चलालीन्दीवरस्थिताम् [2] ॥२००॥
प्रस्वेदबिन्दुनिकरस्तस्या मुखकुचोद्गतः । स्वच्छमुक्ताफलाकारो रतस्यान्तेऽस्यराजत ॥२०१॥
रदग्रहारुणीभूतं साधरं बिभ्रती बभौ । पलाशवनराजीव समुद्भूतैककिंशुका [3] ॥२०२॥
प्रियभुक्ता तनुस्तस्या ऊहे कान्तिमनुत्तमाम् । कनकाद्रितटाश्लिष्टघनपङ्क्तिकृतोपमाम् ॥२०३॥

से भरी अञ्जना रोकना तो चाहती थी पर उसका हाथ इतना अधिक काँप रहा था कि उससे वह रोकनेमें समर्थ नहीं हो सकी ॥१८९॥

तदनन्तर वस्त्ररहित अञ्जनाका नितम्बफलक देखकर पवनञ्जयका हृदय कामके वेग से चञ्चल हो गया ॥१९०॥ तत्पश्चात् किसी अद्भुत वेगसे जिसकी आत्मा विवश हो रही थी ऐसे पवनञ्जयने कमलके समान कोमल अञ्जनाको कसकर पकड़ लिया ॥१९१॥ तदनन्तर चतुराई जो बात कहती थी, काम जैसी आज्ञा देता था, और बढ़ा हुआ अनुराग जैसी शिक्षा देता था 'वैसो ही उन दोनों' दम्पतियोंकी रति-क्रिया उत्तम वृद्धिको प्राप्त हुई। उस समय उन दोनोंके मनका जो भाव था वह शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता ॥१९२-१९३॥ परम सुन्दरी अञ्जनाके स्तन रूपी कलश तथा नितम्ब-स्थलका आस्फालन करते हुए पवनञ्जय कामदेव रूपी मदोन्मत्त हाथीपर आरूढ़ थे ॥१९४॥ 'ठहरो', 'छोड़ो, 'पकड़ो' आदि नाना शब्दोंसे युक्त तथा हाव-भाव विभ्रमसे भरा उनका रत किसी महायुद्धके समान जान पड़ता था ॥१९५॥ अधरोष्ठको ग्रहण करते समय जोरसे सी-सी करती हुई अञ्जना जो हाथ हिलाती थी वह ऐसा जान पड़ता था मानो किसी लताका पल्लव ही हिल रहा हो ॥१९६॥ अञ्जनाके नितम्ब-स्थलपर पवनञ्जयने जो नये-नये नख क्षत दिये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो नीलमणिकी भूमिमें पद्मरागमणि ही निकल रहे हों ॥१९७॥ अञ्जनाका जघन-स्थल देखते-देखते पवनञ्जयको तृप्ति ही नहीं होती थी। वह अपने टिमकाररहित नेत्र उसीपर गड़ाये बैठे थे ॥१९८॥ मधुर आलाप से सहित उसकी चूड़ियोंकी मनोहर रुनझुन ऐसी जान पड़ती थी मानो भ्रमरोंके समूह ही गुञ्जार कर रहे हों ॥१९९॥ अञ्जनाके नेत्रोंके कटाक्ष और पुतलियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो चञ्चल भ्रमरोंसे युक्त नील कमलोंकी शोभा ही धारण कर रही हो ॥२००॥ संभोगके अनन्तर अञ्जनाके मुख तथा स्तनोंके ऊपर जो पसीनोंकी बूँदोंका समूह प्रकट हुआ था वह ऐसा जान पड़ता था मानो स्वच्छ मोतियोंका समूह ही हो ॥२०१॥ दन्ताघातके कारण उसका अधरोष्ठ लाल-लाल हो गया था। उसे धारण करती हुई वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जिसमें एक फूल आया है ऐसे टेसूके वनकी पंक्ति ही हो ॥२०२॥ पतिके द्वारा उपभुक्त अञ्जनाका शरीर सुमेरु

---

१. अतृप्तिकरत्वम् । २. स्थिती म० । ३. किंशुकः म० ।

ततः संप्राप्तकृत्ये तौ समाप्ते सुरतोत्सवे । दम्पती सेवितुं निद्रां खिन्नदेहाववाञ्छताम् ॥२०४॥
परस्परगुणध्यानवशमानसयोस्तु सा । ईर्ष्ययेव तयोर्दूरं कोपात् क्वापि पलायिता ॥२०५॥
ततः प्रियांसदेशस्थदयितामूर्धदेशकम् । कृतान्योन्यभुजाश्लेषं परमप्रेमकीलितम् ॥२०६॥
महासौरभनिश्वासवासितास्यसरोरुहम् । विकटोरःपरिष्वङ्ग[1]चक्रितस्तनमण्डलम् ॥२०७॥
नरोर्वन्तरनिक्षिप्तवनितैकोरुभारकम् । यथेष्टदेशविन्यस्तनानाकारोपधानकम् ॥२०८॥
नागीयमिव तत्कान्तं मिथुनं कथमप्यगात् । निद्रां स्पर्शसुखाम्भोधिनिमग्नालीनविग्रहम् ॥२०९॥
जाते मन्दप्रभातेऽथ शयनीयात्समुत्थिता । पार्श्वासन्नस्थिता कान्तमञ्जना पर्यसेवत ॥२१०॥
दृष्ट्वा परिमलं देहे स्वस्मिन् साभूत् त्रपावती । प्रमदं च परिप्राप्ता चिराल्लब्धमनोरथा ॥२११॥
तयोरज्ञातयोरेवं यथोचितविधायिनोः । अतीयाय निशानेका क्षणादर्शनभीतयोः ॥२१२॥
[2]दोदुन्दुकसुरौपम्यं प्राप्तयोरुभयोस्तदा । इन्द्रियाण्यन्यकार्येभ्यः प्राप्तानि विनिवर्तनम् ॥२१३॥
अन्यदा सौख्यसंभारविस्मृतस्वामिशासनम् । मित्रं प्रमादवद् बुद्ध्वा तद्धितध्यानतत्परः ॥२१४॥
सुधीर्वसन्तमालायां प्रविष्टायां कृतध्वनिः । प्रविश्य वासभवनं मन्दं प्रहसितोऽवदत् ॥२१५॥
सुन्दरोत्तिष्ठ किं शेषे [3]नन्वेष रजनीपतिः । जितस्त्वन्मुखकान्त्यैव गतो विच्छायतां पराम् ॥२१६॥

पर्वतके द्वारा आलिङ्गित मेघपंक्तिके समान उत्तम कान्तिको धारण कर रहा था ॥२०३॥ तदनन्तर जिसके समस्त कार्य पूर्ण हो चुके थे ऐसे सुरतोत्सवके समाप्त होनेपर खिन्न शरीरसे युक्त दोनों दम्पति निद्रा-सेवनकी इच्छा करने लगे ॥२०४॥ परन्तु उन दोनोंके मन एक दूसरेके गुणोंका ध्यान करनेमें निमग्न थे इसलिए निद्रा ईर्ष्याके कारण ही मानो क्रोधवश कहीं भाग गई थी ॥२०५॥

तदनन्तर जिसमें पतिके कन्धेपर वल्लभाका शिर रक्खा था, जिसमें भुजाओंका परस्पर आलिङ्गन हो रहा था, जो पारस्परिक प्रेमसे मानो कीलित था, महासुगन्धित श्वासोच्छ्वासके कारण जिसमें मुख-कमल सुवासित थे, विशाल वक्ष-स्थलकी चपेटसे जिसमें स्तन-मण्डल चक्रके आकार चपटे हो रहे थे, जिसमें पुरुषकी जाँघोंके बीचमें स्त्रीकी एक जाँघका भार अवस्थित था और इच्छित स्थानोंमें जहाँ नाना प्रकारके तकिया लगाये गये थे, ऐसी अवस्थामें नागकुमार देव-देवियोंके युगलके समान वह अञ्जना और पवनञ्जयका युगल किसी तरह निद्राको प्राप्त हुआ। उस समय उन दोनोंके शरीर स्पर्श-जन्य सुखरूपी सागरमें निमग्न होनेसे अत्यन्त निश्चल थे ॥२०६–२०९॥

अथानन्तर जब कुछ-कुछ प्रभात हुआ तब अञ्जना शय्यासे उठकर तथा बगलमें निकट बैठकर पतिकी सेवा करने लगी ॥२१०॥ अपने शरीरमें सम्भोगजन्य सुगन्धि देखकर वह लज्जित हो गई और साथ ही चूँकि उसके मनोरथ चिरकाल बाद पूर्ण हुए थे इसलिए हर्षको भी प्राप्त हुई ॥२११॥ इस प्रकार जो पहले एक दूसरेके दर्शन-मात्रसे भयभीत रहते थे ऐसे उन दम्पतियोंकी अज्ञातरूपसे यथेच्छ उपभोग करते हुए अनेक रात्रियाँ व्यतीत हो गईं ॥२१२॥ दोदुन्दुक नामक देवकी उपमाको धारण करनेवाले उन दोनों दम्पतियोंकी इन्द्रियाँ उस समय अन्य कार्योंसे व्यावृत्त होकर परस्पर एक दूसरेकी ओर ही लगी हुई थीं ॥२१३॥

अथानन्तर सुखके सम्भारसे जिसने स्वामीका आदेश भुला दिया था ऐसे मित्रको प्रमादी जान उसके हितका चिन्तन करनेमें तत्पर रहनेवाला बुद्धिमान् प्रहसित मित्र वसन्तमालाके प्रवेश करनेपर आवाज देता हुआ महलके भीतर प्रवेश कर धीरे-धीरे बोला ॥२१४–२१५॥ कि हे सुन्दर ! उठो, क्यों शयन कर रहे हो ? जान पड़ता है कि मानो तुम्हारे मुखकी कान्तिसे

---

१. वक्रित ख०, ज० । २. कुतूहलधारिदेवसदृशम् । ३. न त्वेव म० ।

इति वाचास्य जातोऽसौ प्रबोधं[1] श्लथविग्रहः । कृत्वा विजृम्भणं निद्राशेषारुणनिरीक्षणः ॥२१७॥
श्रवणं वामतर्जन्या कण्डूयन्मुकुलेक्षणः । संकोच्य दक्षिणं बाहुं निक्षिपञ्जनितस्वनम् ॥२१८॥
कान्तायां निदधत्क्षेत्रे त्रपाविनतचक्षुषि । एहीति निगदन्मित्रमुत्तस्थौ पवनञ्जयः ॥२१९॥
कृत्वा स्मितमथापृच्छद्[2] सुखरात्रिं कृतस्मितम् । पृच्छन्तं रात्रिकुशलं तद्वेदी[3] तन्निवेदनम् ॥२२०॥
निवेश्य तत्प्रियोद्दिष्टे समासन्ने सुखासने । सुहृदेनं जगादैवं नयशास्त्रविशारदः ॥२२१॥
उत्तिष्ठ मित्र गच्छावः साम्प्रतं बहवो गताः । दिवसास्ते प्रसक्तस्य प्रियासम्मानकर्मणि ॥२२२॥
यावत्कश्चिन्न जानाति प्रत्यागमनमावयोः । गमनं युज्यते तावदन्यथा लज्जनं भवेत् ॥२२३॥
तिष्ठत्युदीक्षमाणश्च रथनूपुरकस्तव । नृपः कैन्नरगीतश्च यियासुः स्वामिनोऽन्तिकम् ॥२२४॥
मन्त्रिणश्च किलाजस्रं[4] पृच्छत्यादरसंगतः । पवनो वर्तते क्वेति[5] मरुत्वमखसूदनः ॥२२५॥
उपायो गमनस्यायं मया विरचितस्तव । दयितासङ्गमस्तस्मादिदानीं तत्र त्यज्यताम् ॥२२६॥
आज्ञेयं करणीया ते स्वामिनो जनकस्य च । क्षेमादागत्य सततं दयितां मानयिष्यति ॥२२७॥
एवं करोमि साधूक्तं सुहृदेत्यभिधाय सः । कृत्वा तनुगतं कर्म सन्निधापितमङ्गलम् ॥२२८॥
रहस्यालिङ्ग्य दयितां चुम्बित्वा स्फुरिताधरम् । अगाद देवि माकार्षीरुद्वेगं त्वं व्रजाम्यहम् ॥२२९॥
अचिरेणैव कालेन विधाय स्वामिशासनम् । आगमिष्यामि निर्वृत्या[6] तिष्ठेति मधुरस्वरः ॥२३०॥

पराजित होकर ही यह चन्द्रमा अत्यन्त निष्प्रभताको प्राप्त हुआ है ॥२१६॥ मित्रके यह वचन सुनते ही पवनञ्जय जाग उठा। उस समय उसका शरीर शिथिल था, निद्राके शेष रहनेसे उसके नेत्र लाल थे तथा जमुहाई आ रही थी ॥२१७॥ उसने नेत्र बन्द किये ही वाम हस्तकी तर्जनी नामा अङ्गुलीसे कान खुजाया तथा दाहिनी भुजाको पहले सङ्कोचकर फिर जोरसे फैलाया जिससे चटाकका शब्द हुआ ॥२१८॥ तदनन्तर लज्जासे जिसके नेत्र नीचे हो रहे थे ऐसे कान्ताके मुख पर दृष्टि डालता हुआ पवनञ्जय 'आओ मित्र' ऐसा कहता हुआ शय्यासे उठ खड़ा हुआ ॥२१९॥ तदनन्तर प्रहसितने हँसकर पूछा कि रात्रि सुखसे व्यतीत हुई ? इसके उत्तरमें पवनञ्जयने भी हँसते हुए प्रहसितसे पूछा कि तुम्हारी भी रात्रि कुशलतासे बीती ? इस प्रकार वार्तालापके अनन्तर समस्त वृत्तान्तको जाननेवाला एवं नीतिशास्त्रका पण्डित प्रहसित अञ्जना के द्वारा बतलाये हुए निकटवर्त्ती सुखासनपर बैठकर पवनञ्जयसे इस प्रकार बोला कि हे मित्र ! उठो, अब चलें, प्रियाके सम्मान-कार्यमें लगे हुए आपके बहुत दिन निकल गये ॥२२०–२२२॥ जब तक हम लोगोंका वापिस आना कोई जान नहीं पाता है तब तक चला जाना ठीक है अन्यथा लज्जाकी बात हो जावेगी ॥२२३॥ तुम्हारा सेनापति रथनूपुरक तथा स्वामीके समीप जानेका इच्छुक राजा कैन्नरगीत तुम्हारी प्रतीक्षा करते हुए ठहरे हैं ॥२२४॥ आदरसे भरा रावण निरन्तर मन्त्रियोंसे पूछता रहता है कि पवनञ्जय कहाँ है ? ॥२२५॥ मैंने तुम्हारे जानेका यह उपाय रचा था सो इस समय वल्लभाका समागम छोड़ दिया जाय ॥२२६॥ तुम्हें स्वामी रावण और पिता प्रह्लादकी यह आज्ञा माननी चाहिए। तदनन्तर कुशलतापूर्वक वापिस आकर निरन्तर वल्लभाका सम्मान करते रहना ॥२२७॥

इसके उत्तरमें पवनञ्जयने कहा कि हे मित्र ! ऐसा ही करता हूँ तुमने बहुत ठीक कहा है। ऐसा कहकर उसने मङ्गलाचारपूर्वक शरीरसम्बन्धी क्रियाएँ कीं ॥२२८॥ एकान्तमें वल्लभाका आलिङ्गन किया, उसके फड़कते हुए अधरोष्ठका चुम्बन किया और कहा कि हे देवि ! तुम उद्वेग नहीं करना, मैं जाता हूँ और शीघ्र ही स्वामीकी आज्ञाका पालनकर वापिस आ जाऊँगा। तुम

---

१. प्रबुध्य। २. सुखरात्रिकृतस्मितम् म०। ३. तन्निवेदिनम् ब०। ४. पृच्छन्त्यादर म०। ५. रावणः। ६. संतोषेण

ततो विरहतो भीता तद्वक्त्रगतलोचना । कृत्वा करयुगाम्भोजं जगादाञ्जनसुन्दरी ॥२३१॥
आर्यपुत्रर्तुमत्यस्मि[3] भवता कृतसंगमा । ततस्त्वद्विरहे गर्भो ममावाच्यो[2] भविष्यति ॥२३२॥
तस्मान्निवेद्य गच्छ त्वं गुरुभ्यो गर्भसंभवम् । क्षेमाय दीर्घदर्शित्वं कल्पते प्राणधारिणाम् ॥२३३॥
एवमुक्तो जगादासौ देवि पूर्वं त्वया विना । निष्क्रान्तो निश्चितो गेहाद् गुरूणां सन्निधावहम् ॥२३४॥
अधुना गमनं तेभ्यस्तदर्थं गदितुं त्रपे । चित्रचेष्टं च विज्ञाय मां जनः स्मेरतां व्रजेत् ॥२३५॥
तस्माद्यावदयं गर्भस्तव नैति प्रकाशताम् । तावदेवागमिष्यामि मा व्रजीर्विमनस्कताम् ॥२३६॥
इमं प्रमादनोदार्थं मन्नामकृतलक्षणम् । गृहाण वलयं भद्रे शान्तिस्तेऽतो भविष्यति ॥२३७॥
इत्युक्त्वा वलयं दत्त्वा सान्त्वयित्वा मुहुः प्रियाम् । उक्त्वा वसन्तमालां च तदर्थं समुपासनम् ॥२३८॥
रतव्यतिकरच्छिन्नहारमुक्ताफलाचितात् । पुष्पगन्धपरागोरुसौरभाकृष्टषट्पदात् ॥२३९॥
तरङ्गिप्रच्छदपटाद् दुग्धाब्धिद्वीपसन्निभात् । शयनीयात् समुत्तस्थौ प्रियावस्थितमानसः ॥२४०॥
मङ्गलध्वंसभीत्या च प्रियया साश्रुनेत्रया । अदृष्टिगोचरं दृष्टः समित्रो वियदुद्ययौ ॥२४१॥

पृथिवीच्छन्दः

कदाचिदिह जायते स्वकृतकर्मपाकोदयात्
सुखं जगति संगमादभिमतस्य सद्वस्तुनः ।
कदाचिदपि संभवत्यसुभृतामसौख्यं परं
भवे भवति न स्थितिः समगुणा यतः सर्वदा ॥२४२॥

सुखसे रहो। पवनञ्जयने यह शब्द बड़ी मधुर आवाजसे कहे थे ॥२२९–२३०॥ तदनन्तर जो विरहसे भयभीत थी तथा जिसके नेत्र पवनञ्जयके मुखपर लग रहे थे ऐसी अञ्जनासुन्दरी दोनों हस्तकमल जोड़कर बोली कि हे आर्य पुत्र ! ऋतु कालके बाद ही मैंने आपके साथ समागम किया है इसलिए यदि मेरे गर्भ रह गया तो वह आपके विरह-कालमें निन्दाका पात्र होगा ॥२३१–२३२॥ अतः आप गुरुजनोंको गर्भ सम्भवताकी सूचना देकर जाइए। दीर्घदर्शिता मनुष्योंके कल्याणका कारण है ॥२३३॥

अञ्जनाके ऐसा कहनेपर पवनञ्जयने कहा कि हे देवि ! मैं पहले गुरुजनोंके समीप तुम्हारे बिना घरसे निकला था और ऐसा ही सबको निश्चय है। इसलिए इस समय उनके पास जाने और यह सब समाचार कहनेमें मुझे लज्जा आती है। इसकी चेष्टाएँ विचित्र हैं ऐसा जानकर लोग मेरी हँसी करेंगे ॥२३४–२३५॥ अतः जबतक तुम्हारा यह गर्भ प्रकट नहीं हो पाता है तबतक मैं वापिस आ जाऊँगा। विषाद मत करो ॥२३६॥ हे भद्रे ! प्रमाद दूर करनेके लिए मेरे नामसे चिह्नित यह कड़ा ले लो इसमें तुम्हें शान्ति रहेगी ॥२३७॥ ऐसा कहकर, कड़ा देकर, बार-बार सान्त्वना देकर और वसन्तमालाको ठीक-ठीक सेवा करनेका आदेश देकर पवनञ्जय शय्यासे उठा। उस समय उसकी वह शय्या सुरतकालीन सम्मर्दसे टूटे हुए हारके मोतियोंसे व्याप्त थी, फूलोंकी सुगन्धित पराग सम्बन्धी भारी सुगन्धिसे भौंरे खिंचकर उसपर इकट्ठे हो रहे थे, उसके ऊपर बिछा हुआ चद्दर लहरा रहा था, और वह क्षीरसमुद्रके मध्यमें स्थित द्वीपके समान जान पड़ती थी। पवनञ्जय उठा तो सही पर उसका मन अपनी प्रियामें ही लग रहा था ॥२३८–२४०॥ पृथ्वीपर अश्रु गिरनेसे कहीं मङ्गलाचारमें बाधा न आ जाय इस भयसे अञ्जनाने अपने अश्रु नेत्रोंमें ही समेटकर रक्खे थे और इसलिए जाते समय वह पवनञ्जयको आँख खोलकर नहीं देख सकती थी फिर भी मित्रके साथ वह आकाशकी ओर उड़ गया ॥२४१॥

गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि इस संसारमें प्राणियोंको कभी तो अपने पूर्वो-

---

१. -मत्यस्मिन् म० । २. निन्दनीयः । ३. कल्प्यते प्राणधारणम् म० ।

अथापि जननात्प्रभृत्यविरतं सुखं प्राणिनां
मृतेरविरतो भवेत्तनु[1] तथाप्यमुत्रासुखम् ।
ततो भजत भो जनाः[2] सततभूरिसौख्यावहं
भवासुखतमश्छिदं जिनवरोक्तधर्मं रविम् ॥२४३॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते पवनाञ्जनासंभोगाभिधानं नाम षोडशं पर्व ॥१६॥

पार्जित पुण्य-कर्मके उदयसे इष्ट वस्तुका समागम होनेसे सुख होता है और कभी पाप कर्मके उदयसे परम दुःख प्राप्त होता है क्योंकि इस संसारमें सदा किसीकी स्थिति एक-सी नहीं रहती ॥२४२॥ फिर भी, धर्मके प्रसादसे कितने ही जीवोंको जन्मसे लेकर मरण-पर्यन्त निरन्तर सुख प्राप्त होता रहता है और मरनेके बाद परलोकमें भी उन्हें सुख मिलता रहता है। इसलिए हे भव्य जीवो ! निरन्तर अत्यधिक सुख देनेवाले एवं संसारके दुःखरूपी अन्धकारको छेदनेवाले जिनेन्द्रोक्त धर्मरूपी सूर्यकी सेवा करो ॥२४३॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य विरचित पद्मचरितमें पवनञ्जय और अञ्जनाके संभोगका वर्णन करनेवाला सोलहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१६॥

---

१. भवेत्तनु म० । २. जनः म० ।

सप्तदशं पर्व

कियत्यपि प्रयातेऽथ काले गर्भस्य सूचकाः । विशेषाः प्रादुरभवन्महेन्द्रतनयातनौ ॥१॥
इयाय पाण्डुतां छाया यशसेव हनूमतः । गतिर्मन्दतरत्वं च मत्तदिग्नागविभ्रमा ॥२॥
स्तनावत्युन्नतिं प्राप्तौ श्यामलीभूतचूचुकौ । आलस्याद् भ्रूसमुत्क्षेपं चकार विषये गिरः ॥३॥
ततस्तां लक्षणैरेभिः श्वश्रूर्विज्ञाय गर्भिणीम् । पप्रच्छ तव केनेदं कृतं कर्मेत्यसूयिका ॥४॥
साञ्जलिः सा प्रणम्योचे निखिलं पूर्वचेष्टितम् । प्रतिषिद्धापि कान्तेन गतिमन्यामविन्दती ॥५॥
ततः केतुमती क्रुद्धा जगादेति सुनिष्ठुरम् । वार्णाभिर्ग्रावदेहाभिस्ताडयन्तीव यष्टिभिः ॥६॥
यो न त्वत्सदृशं पापे द्रष्टुमाकारमिच्छति । शब्दं वा श्रवणे कर्तुमतिद्वेषपरायणः ॥७॥
स कथं स्वजनापृच्छां कृत्वा गेहाद्विनिर्गतः । भवत्या संगमं धीरः कुर्वीत विगतत्रपे ॥८॥
धिक् त्वां पापां शशाङ्कांशुशुभ्रसन्तानदूषिणीम् । आचरन्तीं क्रियामेतां लोकद्वितयनिन्दिताम् ॥९॥
सखी वसन्तमाला ते साध्वीमेतां मतिं ददौ । वेश्यायाः कुलटानां किं कुर्वन्ति परिचारिकाः ॥१०॥
दर्शितेऽपि तदा तस्मिन्कटके क्रूरमानसा । प्रतीयाय न सा श्वश्रूश्चुकोपात्यन्तमुग्रवाक् ॥११॥

अथानन्तर कितना ही समय बीतने पर राजा महेन्द्रकी पुत्री अञ्जनाके शरीरमें गर्भको सूचित करने वाले विशेष चिह्न प्रकट हुए ॥१॥ उसकी कान्ति सफ़ेदीको प्राप्त हो गई सो मानो गर्भमें स्थित हनुमान्के यशसे ही प्राप्त हुई थी। मदोन्मत्त दिग्गजके समान विभ्रमसे भरी उसकी मन्द चाल और भी अधिक मन्द हो गई ॥२॥ जिनका अग्रभाग श्यामल पड़ गया था ऐसे स्तन अत्यन्त उन्नत हो गये और आलस्यके कारण वह जहाँ बात करना आवश्यक था वहाँ केवल भौंह ऊपर उठाकर संकेत करने लगी ॥३॥ तदनन्तर इन लक्षणोंसे उसे गर्भवती जान ईर्ष्यासे भरी सासने उससे पूछा कि तेरे साथ यह कार्य किसने किया है ? ॥४॥ इसके उत्तरमें अंजनाने हाथ जोड़ प्रणाम कर पहलेका समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। यद्यपि पवनंजयने यह वृत्तान्त प्रकट करने के लिए उसे मना कर दिया था तथापि जब उसने कोई दूसरा उपाय नहीं देखा तब विवश हो संकोच छोड़ सब समाचार प्रकट कर दिया ॥५॥

तदनन्तर केतुमतीने कुपित होकर बड़ी निष्ठुरताके साथ पत्थर जैसी कठोर वाणीमें उससे कहा। जब केतुमती अंजनासे कठोर शब्द बोल रही थी तब ऐसा जान पड़ता था मानो वह लाठियोंसे उसे ताड़ित कर रही थी ॥६॥ उसने कहा कि अरी पापिन् ! अत्यन्त द्वेषसे भरा होनेके कारण जो तुझ जैसा आकार भी नहीं देखना चाहता और तेरा शब्द भी कानमें नहीं पड़ने देना चाहता वह धीर-वीर पवनञ्जय तो आत्मीय जनोंसे पूछकर घरसे बाहर गया हुआ है। हे निर्लज्जे ! वह तेरे साथ समागम कैसे कर सकता है ? ॥७-८॥ चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल संतानको दूषित करने वाली तथा दोनों लोकोंमें निन्दनीय इस क्रियाको करनेवाली तुझ पापिनको धिक्कार है ॥९॥ जान पड़ता है कि सखी वसन्तमालाने ही तेरे लिए यह उत्तम बुद्धि दी है सो ठीक ही है क्योंकि वेश्या और कुलटा स्त्रियोंकी सेविकाएँ इसके सिवाय करती ही क्या हैं ॥१०॥ उस समय अञ्जनाने यद्यपि पवनञ्जयका दिया कड़ा भी दिखाया पर उस दुष्ट हृदयाने उसका विश्वास नहीं किया। विश्वास तो दूर रहा तीक्ष्ण शब्द कहती हुई अत्यन्त

१. मतिर्मन्द म० । २. मतिर्दिग्नाग म० । ३. विषयो गिरः म० । ४. भवत्यां म० । ५. वेश्या वा । ६. परिचारिका म० । ७. श्वश्रूकोपात्यन्त म० ।

इत्युक्त्वा क्रूरनामानं क्रूरमाहूय किङ्करम् । कृतप्रणाममित्यूचे कोपारुणनिरीक्षणा ॥१२॥
अयि क्रूराशु नीत्वेमां महेन्द्रपुरगोचरम् । यानेन सहितां सख्या निक्षिप्यैहि निरन्तरम् ॥१३॥
ततस्तद्वचनादेतां पृथुवेपथुविग्रहाम् । महापवननिर्धूतां लतामिव निराश्रयाम् ॥१४॥
ध्यायन्तीमाकुलं भूरिदुःखमागामि निष्प्रभाम् । विलीनमिव बिभ्राणां हृदयं दुःखवह्निना ॥१५॥
भीत्या निरुत्तरीभूतां सखीनिहितलोचनाम् । निन्दन्तीमशुभं कर्म मनसा पुनरुद्गतम् ॥१६॥
अश्रुधारां विमुञ्चन्तीं [1]शलाकां स्फटिकीमिव । स्तनमध्ये क्षणं न्यस्तपर्यन्तामनवस्थिताम् ॥१७॥
सख्या समं समारोप्य यानं तत्कर्मदक्षिणः । क्रूरः प्रववृते गन्तुं महेन्द्रनगरं प्रति ॥१८॥
दिनान्ते तत्पुरस्यान्तं संप्राप्योवाच सुन्दरीम् । एवं मधुरया वाचा क्रूरः कृतनमस्कृतिः ॥१९॥
स्वामिनीशासनाद्देवि कृतमेतन्मया तव । दुःखस्य कारणं कर्म ततो न क्रोद्धुमर्हसि ॥२०॥
एवमुक्त्वावतार्यैतां यानात्सख्या समन्विताम् । स्वामिन्यै द्रुतमागत्य कृतामाज्ञां न्यवेदयत् ॥२१॥
ततोऽङ्गनां[2] समालोक्य दुःखभाराद्विवोत्तमाम् । मन्दीभूतप्रभाचक्रो[3] रविरस्तमुपागमत् ॥२२॥
लोचनच्छाययेवास्या रोदनात्यन्तशोणया । [4]रविं त्राणाय पश्यन्त्याः[5] पश्चिमाशारुणाऽभवत् ॥२३॥
ततस्तद्दुःखतो[6] मुक्तैर्बाष्पैरिव घनैरलम् । दिग्भिर्निरन्तरं चक्रे श्यामलं नभसस्तलम् ॥२४॥

कुपित हो उठी ॥११॥ उसने उसी समय क्रूर नामधारी दुष्ट सेवकको बुलाया। सेवकने आकर उसे प्रणाम किया। तदनन्तर क्रोधसे जिसके नेत्र लाल हो रहे थे ऐसी केतुमतीने सेवकसे कहा कि हे क्रूर! तू सखीके साथ इस अञ्जनाको शीघ्र ही ले जाकर राजा महेन्द्रके नगरके समीप छोड़कर बिना किसी विलम्बके वापिस आ जा ॥१२-१३॥

तदनन्तर आज्ञा पालनमें तत्पर रहनेवाला क्रूर केतुमतीके वचन सुन अञ्जनाको वसन्तमालाके साथ गाड़ीपर सवारकर राजा महेन्द्रके नगरकी ओर चला। उस समय अञ्जनाका शरीर भयसे अत्यन्त कम्पित हो रहा था, वह प्रचण्ड वायुके द्वारा झकझोरकर नीचे गिराई हुई निराश्रय लताके समान जान पड़ती थी, आगामी कालमें प्राप्त होनेवाले भारी दुःखका वह बड़ी व्याकुलतासे चिन्तन कर रही थी, उसका हृदय दुःखरूपी अग्निसे मानो पिघल गया था, भयके कारण वह निरुत्तर थी, सखी वसन्तमालापर उसके नेत्र लग रहे थे, वह पुनः उदयमें आये अशुभ कर्मकी मन-ही-मन निन्दा कर रही थी, और जिसका एक छोर स्तनोंके बीचमें रक्खा हुआ था ऐसी स्फटिककी चञ्चल शलाकाके समान आँसुओंकी धारा छोड़ रही थी ॥१४-१८॥

तदनन्तर जब दिन समाप्त होनेको आया तब क्रूर राजा महेन्द्रके नगरके समीप पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने अञ्जना सुन्दरीको नमस्कार कर निम्नाङ्कित मधुर वचन कहे ॥१९॥ उसने कहा कि हे देवि! मैंने तुम्हारे लिए दुःख देनेवाला यह कार्य स्वामिनीकी आज्ञासे किया है अतः मुझपर क्रोध करना योग्य नहीं है ॥२०॥ ऐसा कहकर उसने सखीसहित अंजनाको गाड़ीसे उतारकर तथा शीघ्र ही वापिस आकर स्वामिनीके लिए सूचित कर दिया कि मैं आपकी आज्ञाका पालन कर चुका ॥२१॥ तदनन्तर उत्तम नारी अञ्जनाको देखकर ही मानो दुःखके भारसे जिसका प्रभामण्डल फीका पड़ गया था ऐसा सूर्य अस्त हो गया ॥२२॥ पश्चिम दिशा लाल हो गई सो ऐसा जान पड़ता था मानो अञ्जना सुन्दरी, निरन्तर रोती रहनेके कारण अत्यन्त लाल दिखनेवाले नेत्रोंसे रक्षा करनेके उद्देश्यसे सूर्यकी ओर देख रही थी सो उन्हींकी लालीसे लाल हो गई थी ॥२३॥ तदनन्तर दिशाओंने आकाशको श्यामल कर दिया सो ऐसा जान पड़ता था मानो अञ्जनाके दुःखसे दुःखी होकर उन्होंने अत्यधिक बाष्प ही छोड़े थे, उन्हींसे आकाश श्यामल

१. शलाका म० । शिलाङ्कां ख० । २. ततोऽङ्गना म० । ३. प्रभाचक्ररवि म० । ४. रवित्राणाय म० । ५. पश्यन्त्या म० । ६. दुःखितो म० ।

तद्दुःखादिव संप्राप्ता [१]दुःखं संघातकारिणः । कुलायेष्वाकुलाश्चक्रुर्वयः कोलाहलं परम् ॥२५॥
ततो दुःखमविज्ञाय सा क्षुदादिसमुद्भवम् । अभ्याख्यानमहादुःखसागरप्लवकारिणी ॥२६॥
भीतान्तर्वदनं साश्रु कुर्वती परिदेवनम् । सख्या विरचिते तस्थौ [२]पल्लवैः संस्तरेऽञ्जना ॥२७॥
न तस्या नयने निद्रा तस्यां रात्रावढौकत । दाहादिव भयं प्राप्ता संततोष्णाश्रुसंभवात् ॥२८॥
पाणिसंवाहनात् सख्या विनिर्धूतपरिश्रमा । [३]सान्त्व्यमाना निशां निन्ये कृच्छ्रेणासौ [४]समंसमम् ॥२९॥
ततो दीर्घोष्णनिश्वासनितान्तम्लानपल्लवम् । प्रभाते शयनं त्यक्त्वा नानाशङ्कातिविक्लवा ॥३०॥
कृतानुगमना सख्या छाययेवानुकूलया । [५]ऐत्पितुर्मन्दिरद्वारं सकृपं वीक्षिता जनैः ॥३१॥
ततस्तत्प्रविशन्ती सा निरुद्धा द्वाररक्षिणा । प्राप्ता रूपान्तरं दुःखादविज्ञाता[६] व्यवस्थिता ॥३२॥
ततो निखिलमेतस्याः सख्या कृतनिवेदितम् । विज्ञाय स्थापयित्वा[७]न्यं नरं द्वारे ससंभ्रमः ॥३३॥
गत्वा शिलाकवाटाख्यो द्वारपालः कृतानतिः । सुतागमं महीपाणिरुपांशवीशं व्यजिज्ञपत् ॥३४॥
ततः प्रसन्नकीर्त्या[८]ख्यं महेन्द्रः पार्श्वगं सुतम् । आज्ञापयन् महाभूत्या तस्याः शीघ्रं प्रवेशनम् ॥३५॥
पुरस्य क्रियतां शोभा साधनं परिसज्ज्यताम्[९] । स्वयं प्रवेशयामीति पुनरूचे नराधिपः ॥३६॥
जगादासौ ततस्तस्मै द्वारपालो यथास्थितम् । सुतायाश्चरितं कृत्वा वदने पाणिपल्लवम् ॥३७॥

हो गया था ॥२४॥ घोंसलोंमें इकट्ठे होनेवाले पक्षी बड़ी आकुलतासे अत्यधिक कोलाहल करने लगे सो ऐसा मालूम होता था मानो अञ्जनाके दुःखसे दुःखी होकर ही वे चिल्ला रहे हों ॥२५॥ तदनन्तर वह अञ्जना भूख-प्यास आदिसे उत्पन्न होनेवाला दुःख तो भूल गई और अपवाद-जन्य महादुःखरूपी सागरमें उतराने लगी ॥२६॥ वह भयभीत होनेके कारण जोरसे तो नहीं चिल्लाती थी पर मुखके भीतर-ही-भीतर अश्रु ढालती हुई विलाप कर रही थी । तत्पश्चात् सखीने वृक्षोंके पल्लवोंसे एक आसन बनाया सो वह उसीपर बैठ गई ॥२७॥ उस रात्रिमें अञ्जनाके नेत्रोंमें निद्रा नहीं आई सो ऐसा जान पड़ता था मानो निरन्तर निकलनेवाले उष्ण आँसुओंसे समुत्पन्न दाहसे डरकर ही नहीं आई थी ॥२८॥ सखीने हाथसे दाबकर जिसकी थकावट दूर कर दी थी तथा जिसे निरन्तर सान्त्वना दी थी ऐसी अञ्जनाने बड़े कष्टके साथ पूर्ण रात्रि बितायी अथवा 'समा समां निशां कृच्छ्रेण निन्ये' एक वर्षके समान रात्रि बड़े कष्टसे व्यतीत की ॥२९॥

तदनन्तर प्रभात हुआ सो लम्बी और गरम-गरम साँसोंसे जिसके पल्लव अत्यन्त मुरझा गये थे ऐसी शय्या छोड़कर अञ्जना पिताके महलके द्वारपर पहुँची । छायाकी तरह अनुकूल चलनेवाली सखी उसके पीछे-पीछे चल रही थी और लोग उसे दयाभरी दृष्टिसे देख रहे थे ॥३०-३१॥ दुःखके कारण अञ्जनाका रूप बदल गया था सो द्वारपालकी पहिचानमें नहीं आयी। अतः द्वारमें प्रवेश करते समय उसने उसे रोक दिया। जिससे वह वहीं खड़ी हो गई ॥३२॥ तदनन्तर सखीने सब समाचार सुनाया सो उसे जानकर शिलाकपाट नामका द्वारपाल द्वारपर किसी दूसरे मनुष्यको खड़ाकर भीतर गया और राजाको नमस्कार कर हाथसे पृथिवीको छूता हुआ एकान्तमें पुत्रीके आनेका समाचार कहने लगा ॥३३-३४॥ तत्पश्चात् राजा महेन्द्रने समीपमें बैठे हुए प्रसन्नकीर्ति नामक पुत्रको आज्ञा दी कि पुत्रीका बड़े वैभवके साथ शीघ्र ही प्रवेश कराओ ॥३५॥ तदनन्तर राजाने फिर कहा कि नगरकी शोभा करायी जाय तथा सेना सजायी जाय मैं स्वयं ही पुत्रीका प्रवेश कराऊँगा ॥३६॥ तत्पश्चात् द्वारपालने पुत्रीका जैसा चरित्र सुन रक्खा था वैसा मुँहपर हाथ लगाकर राजाके लिए कह सुनाया ॥३७॥

---

१. दुःखसंघात म०, ब० । २. पल्लवे म० । ३. सान्त्वमाना म० । ४. समा समम् म०, ब०, ज० । कृच्छ्रेण समं साकं समां पूर्णां निशां निन्ये । ५. अगच्छत् । ६. अविज्ञाता व्यवस्थितौ ब० । ७. न्यवरं म० । ८. प्रसन्नकीर्ताख्यं म० । ९. परिसजताम् म० ।

ततः श्रुत्वा त्रपाहेतुं पिता तस्या विचेष्टितम् । प्रसन्नकीर्तिमित्यूचे परमं कोपमागतः ॥३८॥
निर्वास्यतां पुरादस्मात्वरं सा पापकारिणी । यस्या मे चरितं श्रुत्वा वज्रेणेवाहते श्रुती ॥३९॥
ततो नाम्ना महोत्साहः सामन्तोऽस्यातिवल्लभः । जगाद नाथ नो कर्तुमेवं कर्तुमिमां प्रति ॥४०॥
वसन्तमालया ख्यातं यथास्मै द्वाररक्षिणे । एवमेव न युक्ता तु विचिकित्सा[1] विकारणा[2] ॥४१॥
श्वश्रूः केतुमती क्रूरा लौकिकश्रुतिभाविता । अत्यन्तमविचारास्या विना दोषात्कृतोज्झिता[3] ॥४२॥
क्रूरयेयं यथा त्यक्ता कल्याणाचारतत्परा । भवतापि विनिर्धूता शरणं कं प्रपद्यताम् ॥४३॥
व्याघ्रदृष्टमृगीवेयं मुग्धास्या त्रासमागता । श्वश्रूतस्त्वां महाकक्षसमं शरणमागता ॥४४॥
सेयं निदाघसूर्यांशुसंतापादिव दुःखिता । महातरूपमं बाला विदित्वा त्वां समागता ॥४५॥
श्रीवत् स्वर्गात् परिभ्रष्टा वराकी विह्वलात्मिका । अभ्याख्यानातपालीढा[4] कल्पवल्लीव कम्पिनी ॥४६॥
द्वारपालनिरोधेन सुतरामागता त्रपाम् । वैलक्ष्यादंशुकेनाङ्गमवगुण्ठ्य समूर्धकम् ॥४७॥
पितृस्नेहान्वितं द्वारे सदा दुर्लडितात्मिका । तिष्ठतीत्यमुनाख्यातं द्वारपालेन पार्थिव ॥४८॥
स त्वं कुरु दयामस्यां निर्दोषेयं प्रवेश्यताम् । ननु केतुमती ज्ञाता क्रूरा कस्य न विष्टपे ॥४९॥
तस्य तद्वचनं श्रोत्रे राज्ञश्चक्रे न संश्रयम् । नलिनीदलविन्यस्तं बिन्दुजालमिवाम्भसः ॥५०॥
जगाद च सखी स्नेहात् कदाचित् सत्यमप्यदः । अन्यथाकथयत्केन निश्चयोऽत्रावधार्यते ॥५१॥

तदनन्तर पिता पुत्रीकी लज्जाजनक चेष्टा सुनकर परम क्रोधको प्राप्त हुआ और प्रसन्नकीर्ति नामक पुत्रसे बोला ॥३८॥ कि उस पापकारिणीको इस नगरसे शीघ्र ही निकाल दो। उसका चरित्र सुनकर मेरे कान मानो वज्रसे ही ताड़ित हुए हैं ॥३९॥ तदनन्तर महोत्साह नामका सामन्त जो राजा महेन्द्रको अत्यन्त प्यारा था बोला, हे नाथ ! इसके प्रति ऐसा करना योग्य नहीं है ॥४०॥ वसन्तमालाने द्वारपालके लिए जैसी बात कही है कदाचित् वह वैसी ही हो तो अकारण घृणा करना उचित नहीं है ॥४१॥ इसकी सास केतुमती अत्यन्त क्रूर है, लौकिक श्रुतियोंसे प्रभावित होनेवाली है और बिलकुल ही विचाररहित है। उसने बिना दोषके ही इसका परित्याग किया है ॥४२॥ कल्याण रूप आचारका पालन करनेमें तत्पर रहनेवाली इस पुत्रीका जिस प्रकार उस दुष्ट सासने परित्याग किया है उसी प्रकार यदि आप भी तिरस्कार कर त्याग करते हैं तो फिर यह किसकी शरणमें जावेगी ? ॥४३॥ जिस प्रकार व्याघ्रके द्वारा देखी हुई हरिणी भयभीत होकर किसी महा वनकी शरणमें पहुँचती है उसी प्रकार यह मुग्ध-वदना साससे भयभीत होकर महावनके समान जो तुम हो सो तुम्हारी शरणमें आई है ॥४४॥ यह बाला मानो ग्रीष्मऋतुके सूर्यकी किरणोंके सन्तापसे ही दुःखी हो रही है और तुम्हें महावृक्षके समान जानकर तुम्हारे पास आई है ॥४५॥ यह बेचारी स्वर्गसे परिभ्रष्ट लक्ष्मीके समान अत्यन्त विह्वल हो रही है और अपवादरूपी घामसे युक्त हो कल्पलताके समान काँप रही है ॥४६॥ द्वारपालके रोकनेसे यह अत्यन्त लज्जाको प्राप्त हुई है। इसीलिए इसने लज्जावश मस्तकके साथ-साथ अपना सारा शरीर वस्त्रसे ढँक लिया है ॥४७॥ पिताके स्नेहसे युक्त होकर जो सदा लाड-प्यारसे भरी रहती थी वही अञ्जना आज दरवाजेपर रुकी खड़ी है। हे राजन् ! इस द्वारपालने यह समाचार आपसे कहा है ॥४८॥ सो तुम इस पर दया करो, यह निर्दोष है, इसलिए इसका भीतर प्रवेश कराओ। यथार्थमें केतुमती दुष्ट है यह लोकमें कौन नहीं जानता ? ॥४९॥ जिस प्रकार कमलिनीके पत्र पर स्थित पानीके बूँदोंका समूह उसपर स्थान नहीं पाता है उसी प्रकार महोत्साह नामक सामन्तके वचन राजाके कानोंमें स्थान नहीं पा सके ॥५०॥ राजाने कहा कि कदाचित् सखीने स्नेहके कारण इस

१. ग्लानिः । २. अकारणा । विकारिणा म०, ज० । ३. कुतोज्झिता म० । ४. अभ्याख्यानतया लीढा म० ।

तस्मात् संदिग्धशीलेयमाशु निर्वास्यतामतः । नगराद्यावदमले कुले नो जायते मलम् ॥५२॥
विशुद्धविनया चार्वी चारुचेष्टाविधायिनी । भवेदत्यहितात्यन्तं कस्य नो कुलबालिका ॥५३॥
पुण्यवन्तो महासत्त्वा पुरुषास्तेऽतिनिर्मलाः । यैः कृतो दोषमूलानां दाराणां न परिग्रहः ॥५४॥
परिग्रहे तु दाराणां भवत्येवंविधं फलम् । यस्मिन् गते सति ख्यातिं [1]भूप्रवेशोऽभिवाञ्छ्यते ॥५५॥
दुःखप्रत्यायनस्वान्तस्तावल्लोकोऽवतिष्ठताम् । जातमेव ममाप्यत्र मनोऽद्य कृतशङ्कनम् ॥५६॥
एषा भर्तुरक्षुष्या श्रुता पूर्वं मयाऽसकृत् । ततस्तेन न संभूतिरस्या गर्भस्य निश्चिता ॥५७॥
तस्मादन्योऽपि यस्तस्मै प्रयच्छति समाश्रयम् । वियोज्यः स मया प्राणैरित्येष मम संगरः ॥५८॥
कुपितेनेति सा तेन द्वाराद्विदिता परैः । निर्घाटिता समं सख्या दुःखपूरितविग्रहा ॥५९॥
यद्यस्वजनगेहं सा जगामाश्रयकाङ्क्षया । तत्र तत्र[2] प्यधीयन्त द्वाराणि नृपशासनात्[3] ॥६०॥
यत्रैव जनकः क्रुद्धो विदधाति निराकृतिम् । तत्र शेषजने काऽऽस्था तच्छन्दकृतचेष्टिते ॥६१॥
एवं [4]निर्घाट्यमाना सा सर्वत्रात्यन्तविक्लवा । सखीं जगाद बाष्पौघसमार्द्रीकृतदेहिका ॥६२॥
"[5]अम्बे इहात्र किं भ्रान्तिं कुर्वन्त्यावास्वहे सखि । पाषाणहृदयो लोको जातोऽयं नः कुकर्मभिः ॥६३॥
वनं तदेव गच्छावस्तत्रैवास्तु यथोचितम् । अपमानात्ततो दुःखान्मरणं परमं सुखम् ॥६४॥

सत्य बातको भी अन्यथा कह दिया हो तो इसका निश्चय कैसे किया जाय ? ॥५१॥ इसलिए यह संदिग्धशीला है अर्थात् इसके शीलमें सन्देह है अतः जब तक हमारे निर्मल कुलमें कलङ्क नहीं लगता है उसके पहले ही इसे नगरसे शीघ्र निकाल दिया जाय ॥५२॥ निर्दोष, विनयको धारण करनेवाली, सुन्दर और उत्तम चेष्टाओंसे युक्त घरकी लड़की किसे अत्यन्त प्रिय नहीं होती ? पर ये सब गुण इसमें कहाँ रहे ? ॥५३॥ वे महान् धैर्यको धारण करनेवाले अत्यन्त निर्मल पुरुष बड़े पुण्यात्मा हैं जिन्होंने दोषोंके मूल कारणभूत स्त्रियोंका परिग्रह ही नहीं किया अर्थात् उन्हें स्वीकृत ही नहीं किया ॥५४॥ स्त्रियोंके स्वीकार करनेमें ऐसा ही फल होता है । यदि कदाचित् स्त्री अपवादको प्राप्त होती है तो पृथिवीमें प्रवेश करनेकी इच्छा होने लगती है ॥५५॥ जिनके हृदयमें बड़े दुःखसे विश्वास उत्पन्न कराया जाता है ऐसे अन्य मनुष्य तो दूर रहें आज मेरा हृदय ही इस विषयमें शङ्काशील हो गया है ॥५६॥ यह अपने पतिकी द्वेषपात्र है अर्थात् इसका पति इसे आँखसे भी नहीं देखना चाहता । यह मैंने कई बार सुना है । इसलिए यह तो निश्चित है कि इसके गर्भकी उत्पत्ति पतिसे नहीं है ॥५७॥ इस दशामें यदि और कोई भी इसके लिए आश्रय देगा तो मैं उसे प्राणरहित कर दूँगा ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है ॥५८॥ इस प्रकार कुपित हुए राजाने जब तक दूसरोंको पता नहीं चल पाया उसके पहले ही अञ्जनाको सखीके साथ द्वारसे बाहर निकलवा दिया । उस समय अञ्जनाका शरीर दुःखसे भरा हुआ था ॥५९॥ आश्रय पानेकी इच्छासे वह जिस-जिस आत्मीयजनके घर जाती थी राजाकी आज्ञासे वह वहीं-वहींके द्वार बन्द पाती थी ॥६०॥ जो ठीक ही है क्योंकि जहाँ पिता ही क्रुद्ध होकर तिरस्कार करता है वहाँ उसीके अभिप्रायके अनुसार कार्य करनेवाले दूसरे लोगोंका क्या विश्वास किया जा सकता है ?—उनमें क्या आशा रक्खी जा सकती है ? ॥६१॥ इस तरह सब जगहसे निकाली गई अञ्जना अत्यन्त अधीर हो गई । अश्रुओंके समूहसे उसका शरीर गीला हो गया । उसने सखीसे कहा कि हे माता ! हम दोनों यहाँ भटकती हुई क्यों पड़ी हैं ? हे सखि ! हमारे पापोदयके कारण यह समस्त संसार पाषाणहृदय हो गया है अर्थात् सबका हृदय पत्थरके समान कड़ा हो गया है ॥६२-६३॥ इसलिए हम लोग उसी वनमें चलें । जो कुछ होना होगा सो वहीं हो लेगा ।

१. भूप्रदेशोऽभि -म० । २. तत्राप्यधीयन्त म० । ३. नृपशासनान् म० । ४. निर्द्धार्यमाणा क०, ख, ब०, ज० । अम्बाशब्दस्य सम्बुद्धौ 'अम्ब' इति रूपं भवति । अत्र 'अम्बे' इति प्रयोगश्चिन्त्यः ।

इत्युक्त्वासौ समं सख्या तदेव प्राविशद्वनम् । मृगीव मोहसंप्राप्ता मृगराजविभीषिता ॥६५॥
वातातपपरिश्रान्ता दुःखसंभारपीडिता । उपविश्य वनस्यान्तं सा चक्रे परिदेवनम् ॥६६॥
हा हता मन्दभाग्यास्मि विधिना दुःखदायिना । अहेतुवैरिणा कष्टं कं परित्राणमाश्रये ॥६७॥
दौर्भाग्यसागरस्यान्ते प्रसादं कथमप्यगात् । नाथो मे स गतस्त्यक्त्वा दुष्कर्मपरिचोदितः ॥६८॥
श्वश्र्वादिकृतदुःखानां नारीणां पितुरालये । अवस्थानं ममापुण्यैरिदमप्यवसारितम् ॥६९॥
मात्रापि न कृतं किंचित्परित्राणं कथं मम । भर्तृच्छन्दानुवर्तिन्यो जायन्ते च कुलाङ्गनाः ॥७०॥
त्वय्यविज्ञातगर्भायामेष्यामीति[1] त्वयोदितम् । हा नाथ वचनं कस्मात्स्मर्यते न कृपावता ॥७१॥
अपरीक्ष्य कथं श्वश्रु त्यक्तुं मामुचितं तव । ननु संदिग्धशीलानां सन्त्युपायाः[2] परीक्षणे ॥७२॥
उत्सङ्गलालितां[3] बाल्ये सदा दुर्लडितात्मिकाम् । निष्परीक्ष्य पितस्त्यक्तुं मां कथं तेऽभवन्मतिः ॥७३॥
हा मातः साधु वाक्यं ते न कथं निर्गतं मुखात् । सकृदप्युत्तमा प्रीतिरधुना सा किमुज्झिता ॥७४॥
एकोदरोषितां भ्रातस्त्रातुं ते मां सुदुःखिताम् । कथं न काचिदुद्भूता चेष्टा निष्ठुरचेतसः ॥७५॥
यत्र यूयमिदंचेष्टाः प्रधाना बन्धुसंहतेः[4] । तत्र कुर्वन्तु किं शेषा वराका दूरबान्धवाः ॥७६॥
अथवा कोऽत्र वो[5] दोषः पुण्यर्तौ मम निष्ठिते । फलितोऽपुण्यवृक्षोऽयं निषेव्योऽवशया मया ॥७७॥
प्रतिशब्दसमं तस्या विलापमकरोत् सखी । तदाक्रन्दविनिर्धूतधैर्यदूरितमानसा ॥७८॥

इस अपमानसे तथा तज्जन्य दुःखसे तो मर जाना ही परम सुख है ॥६४॥ इतना कहकर अञ्जना सखीके साथ उसी वनमें प्रविष्ट हो गई जिसमें केतुमतीका सेवक उसे छोड़ गया था । जिस प्रकार कोई मृगी सिंहसे भयभीत हो वनसे भागे और कुछ समय बाद भ्रान्तिवश उसी वनमें फिर जा पहुँचे उसी प्रकार फिरसे अञ्जनाका वनमें जाना हुआ ॥६५॥ दुःखके भारसे पीड़ित अंजना जब वायु और घामसे थक गई तब वनके समीप बैठकर विलाप करने लगी ॥६६॥ हाय-हाय ! मैं बड़ी अभागिनी हूँ, अकारण वैर रखनेवाले दुःखदायी विधाताने मुझे योंही नष्ट कर डाला । बड़े दुःखकी बात है, मैं किसकी शरण गहूँ ॥६७॥ दौर्भाग्यरूपी सागरको पार करनेके बाद मेरा नाथ किसी तरह प्रसन्नताको प्राप्त हुआ सो दुष्कर्मसे प्रेरित हो अन्यत्र चला गया ॥६८॥ जिन्हें सास आदि दुःख पहुँचाती हैं ऐसी स्त्रियाँ जाकर पिताके घर रहने लगती हैं पर मेरे दुर्भाग्यने पिताके घर रहना भी छुड़ा दिया ॥६९॥ माताने भी मेरी कुछ भी रक्षा नहीं की सो ठीक ही है क्योंकि कुलवती स्त्रियाँ अपने भर्तारके अभिप्रायानुसार ही चलती हैं ॥७०॥ हे नाथ ! तुमने कहा था कि मैं तुम्हारा गर्भ प्रकट नहीं हो पायगा और मैं आ जाऊँगा सो वह वचन याद क्यों नहीं रखा ? तुम तो बड़े दयालु थे ॥७१॥ हे सास ! बिना परीक्षा किये ही क्या मेरा त्याग करना तुम्हें उचित था ? जिनके शीलमें संशय होता है उनकी परीक्षा करनेके भी तो बहुत उपाय हैं ॥७२॥ हे पिता ! आपने मुझे बाल्यकालमें गोदमें खिलाया है और सदा बड़े लाड-प्यारसे रक्खा है फिर परीक्षा किये बिना ही मेरा परित्याग करनेकी बुद्धि आपकी कैसे हो गई ? ॥७३॥ हाय माता ! इस समय तेरे मुखसे एकबार भी उत्तम वचन क्यों नहीं निकला ? तूने वह अनुपम प्रीति इस समय क्यों छोड़ दी ? ॥७४॥ हे भाई ! मैं तेरी एक ही माताके उदरमें वास करनेवाली अत्यन्त दुःखिनी बहिन हूँ सो मेरी रक्षा करनेके लिए तेरी कुछ भी चेष्टा क्यों नहीं हुई ? तू बड़ा निष्ठुर हृदय है ॥७५॥ जब बन्धुजनोंमें प्रधानता रखनेवाले तुम लोगोंकी यह दशा है तब जो बेचारे दूरके बन्धु हैं वे तो कर ही क्या सकते हैं ? ॥७६॥ अथवा इसमें तुम सबका क्या दोष है ? पुण्यरूपी ऋतुके समाप्त होनेपर अब मेरा यह पापरूपी वृक्ष फलीभूत हुआ है सो विवश होकर मुझे इसकी सेवा करनी ही है ॥७७॥ अञ्जनाका विलाप सुनकर जिसके हृदयका धैर्य दूर हो

१. त्वया विज्ञात- म० । २. सन्त्यपायाः म० । ३. उत्सङ्गलालिता म० । ४. बन्धुसंहतिः म० । ५. वा दोषः ब०, ज० ।

अत्यन्तदीनमेतस्यां रुदन्त्यां तारनिस्वनम् । मृगीभिरपि निर्मुक्ताः सुस्थूला बाष्पबिन्दवः ॥७९॥
ततश्चिरं रुदित्वैनामरुणीभूतलोचनाम् । सखी दोर्भ्यां समालिङ्ग्य जगादैवं विचक्षणा ॥८०॥
स्वामिन्यलं रुदित्वा ते नन्ववश्यं पुराकृतम् । नेत्रे निमील्य सोढव्यं कर्म पाकमुपागतम् ॥८१॥
सर्वेषामेव जन्तूनां पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः । कर्म तिष्ठति यद्देवि तत्र कोऽवसरः शुचः ॥८२॥
अप्सरःशतनेत्रालीनिलयीभूतविग्रहाः । प्राप्नुवन्ति परं दुःखं सुकृतान्ते सुरा अपि ॥८३॥
चिन्तयत्यन्यथा लोकः प्राप्नोति फलमन्यथा । लोकव्यापारस[1]क्तात्मा परमो हि गुरुर्विधिः ॥८४॥
हितङ्करमपि प्राप्तं विधिर्नाशयति क्षणात् । कदाचिदन्यदा धत्ते मानसस्याप्यगोचरम् ॥८५॥
गतयः कर्मणां कस्य विचित्राः परिनिश्चिताः । तस्मात्त्वमस्य मा कार्षीर्व्यथां गर्भस्य दुःखिता[2] ॥८६॥
आक्रम्य दशनैर्दन्तान्कृत्वा ग्रावसमं मनः । कर्म स्वयं कृतं देवि सहस्वाशक्यवर्जनम् ॥८७॥
ननु स्वयं विबुद्धाया मया ते शिक्षणं कृतम् । अधिक्षेप इवाभाति वद ज्ञातं न किं तव ॥८८॥
अभिधायेति सा तस्या नयने शोणरोचिषी । न्यमार्ष्टं वेप[3]थुयुतपाणिना सान्त्वतत्परा ॥८९॥
भूयश्चोचे प्रदेशोऽयं देवि संश्रयवर्जितः । तस्मादुत्तिष्ठ गच्छावः पार्श्वमस्य महीभृतः ॥९०॥
गुहायामत्र कस्याञ्चिदगम्यायां कुजन्तुभिः । सूतिकल्याणसंप्राप्त्यै समयं [4]कञ्चिदास्वहे ॥९१॥
ततस्तयोपदिष्टा सा पदवीं पादचारिणी । गर्भभाराद् वियच्चारमसमर्था निषेवितुम् ॥९२॥

गया था ऐसी सखी वसन्तमाला भी प्रतिध्वनिके समान विलाप कर रही थी ॥७८॥ यह अञ्जना बड़ी दीनताके साथ इतने जोर-जोरसे विलाप कर रही थी कि उसे सुनकर वनकी हरिणियोंने भी आँसुओंकी बड़ी-बड़ी बूँदें छोड़ी थीं ॥७९॥

तदनन्तर चिरकाल तक रोनेसे जिसके नेत्र लाल हो गये थे ऐसी अञ्जनाका दोनों भुजाओंसे आलिङ्गन कर बुद्धिमती सखीने कहा कि हे स्वामिनि ! रोना व्यर्थ है । पूर्वोपार्जित कर्म उदयमें आया है सो उसे आँख बन्दकर सहन करना ही योग्य है ॥८०-८१॥ हे देवि ! समस्त प्राणियोंके पीछे आगे तथा बगलमें कर्म विद्यमान हैं इसलिए यहाँ शोकका अवसर ही क्या है ? ॥८२॥ जिनके शरीरपर सैकड़ों अप्सराओंके नेत्र विलीन रहते हैं ऐसे देव भी पुण्यका अन्त होनेपर परम दुःख प्राप्त करते हैं ॥८३॥ लोक अन्यथा सोचते हैं और अन्यथा ही फल प्राप्त करते हैं । यथार्थमें लोगोंके कार्यपर दृष्टि रखनेवाला विधाता ही परम गुरु है ॥८४॥ कभी तो यह विधाता प्राप्त हुई हितकारी वस्तुको क्षण भरमें नष्ट कर देता है और कभी ऐसी वस्तु लाकर सामने रख देता है जिसकी मनमें कल्पना ही नहीं थी ॥८५॥ कर्मोंकी दशाएँ बड़ी विचित्र हैं । उनका पूर्ण निश्चय कौन कर पाया है ? इसलिए तुम दुःखी होकर गर्भको पीड़ा मत पहुँचाओ ॥८६॥ हे देवि ! दाँतोंसे-दाँतोंको दबाकर और मनको पत्थरके समान बनाकर जिसका छूटना अशक्य है ऐसा स्वोपार्जित कर्मका फल सहन करो ॥८७॥ वास्तवमें आप स्वयं विशुद्ध हैं अतः आपके लिए मेरा शिक्षा देना निन्दाके समान जान पड़ता है । तुम्हीं कहो कि आप क्या नहीं जानती हैं ? ॥८८॥ इतना कहकर सान्त्वना देनेमें तत्पर रहनेवाली सखीने अपने काँपते हुए हाथोंसे उसके लाल-लाल नेत्र पोंछ दिये ॥८९॥ फिर कहा कि हे देवि ! यह प्रदेश आश्रय से रहित है अर्थात् यहाँ ठहरने योग्य स्थान नहीं है इसलिए उठो इस पर्वतके पास चलें ॥९०॥ वहाँ किसी ऐसी गुफामें जिसमें दुष्ट जीव नहीं पहुँच सकेंगे गर्भके कल्याणके लिए कुछ समय तक निवास करेंगी ॥९१॥

तदनन्तर सखीका उपदेश पाकर वह पैदल ही मार्ग चलने लगी । क्योंकि गर्भके भार

१. शक्तात्मा म० । २. दुःखिताः म० । दुःखितः ब० । ३. वेपथोर्युक्ता म० । वेपथुर्युक्ता ब० । ४. किञ्चिदा- म० ।

अनुयान्ती महारण्यधरणीं समयागिरिम् । व्यालजालसमाकीर्णां तन्नादात्यन्तभीषणाम् ॥९३॥
महानोकहसंरुद्धदिवाकरकरोत्कराम् । महीभृत्पादसंकीर्णां दर्भसूचीसुदुश्चराम् ॥९४॥
युक्तां मातङ्गमालाभिर्न्यस्यन्ती कृच्छ्रतः पदम् । मातङ्गमालिनीं नाम प्राप मानसदुर्गमाम् ॥९५॥
शक्तापि गगने गन्तुं पद्भ्यां तस्याः सखी ययौ । प्रेमबन्धनसंबद्धा छायावृत्तिमुपाश्रिता ॥९६॥
भयानकां ततः प्राप्य तामसौ संकटाटवीम् । वेपमानसमस्ताङ्गा [1]कांदिशीकत्वमागमत् ॥९७॥
ततस्तामाकुलां ज्ञात्वा गृहीत्वा करपल्लवे । आली जगाद मा भैषीः स्वामिन्येहीति सादरात् ॥९८॥
ततः सख्यंसविन्यस्तविस्रंसिकरपल्लवा । दर्भसूचीमुखस्पर्शकूणितेक्षणकोणिका ॥९९॥
तत्र तत्रैव भूदेशे न्यस्यन्ती चरणौ पुनः । स्तनन्ती दुःखसंभारादेहं कृच्छ्रेण बिभ्रती ॥१००॥
उत्तरन्ती प्रयासेन निर्झरान् वेगवाहिनः । स्मरन्ती स्वजनं सर्वं निष्ठुराचारकारिणम् ॥१०१॥
निन्दन्ती स्वमुपालम्भं प्रयच्छन्ती मुहुर्विधेः । कारुण्यादिव वल्लीभिः श्लिष्यमाणाखिलाङ्गिका ॥१०२॥
त्रस्तसारङ्गजायाक्षी श्रमजस्वेदवाहिनी । सक्तं [3]कण्टकिगुच्छेषु मोचयन्त्यंशुकं चिरात् ॥१०३॥
क्षतजेनाचितौ पादौ लाक्षिताविव बिभ्रती । शोकाग्निदाहसंभूतां श्यामतां [4]दधती पराम् ॥१०४॥
दलेऽपि चलिते त्रासं व्रजन्ती चलविग्रहा । संत्रासस्तम्भितावूरू वहन्ती खेददुर्वहौ ॥१०५॥

के कारण वह आकाशमें चलनेके लिए समर्थ नहीं थी ॥९२॥ वह पर्वतकी समीपवर्त्तिनी महावनकी भूमिमें चलती-चलती मातङ्गमालिनी नामकी उस भूमिमें पहुँची जो हिंसक जन्तुओंसे व्याप्त थी और उनके शब्दोंसे भय उत्पन्न कर रही थी। बड़े-बड़े वृक्षोंने जहाँ सूर्यकी किरणोंका समूह रोक लिया था, जो छोटी-छोटी पहाड़ियोंसे व्याप्त थी, डाभकी अनियोंके कारण जहाँ चलना कठिन था, जो हाथियोंकी श्रेणियोंसे युक्त थी तथा शरीरकी बात तो दूर रही मनसे भी जहाँ पहुँचना कठिन था। अञ्जना बड़े कष्टसे एक-एक डग रखकर चल रही थी ॥९३–९५॥ यद्यपि उसकी सखी आकाशमें चलनेमें समर्थ थी तो भी वह प्रेमरूपी बन्धनमें बँधी होनेसे छायाके समान पैदल ही उसके साथ-साथ चल रही थी ॥९६॥ उस भयानक सघन अटवीको देखकर अञ्जनाका समस्त शरीर काँप उठा। वह अत्यन्त भयभीत हो गई ॥९७॥

तदनन्तर उसे व्यग्र देख सखीने हाथ पकड़कर बड़े आदरसे कहा कि स्वामिनि ! डरो मत, इधर आओ ॥९८॥ अञ्जना सहारा पानेकी इच्छासे सखीके कन्धेपर हाथ रखकर चल रही थी पर उसका हाथ सखीके कन्धेसे बार-बार खिसककर नीचे आ जाता था। चलते-चलते जब कभी डाभकी अनी पैरमें चुभ जाती थी तब बेचारी आँख मींचकर खड़ी रह जाती थी ॥९९॥ वह जहाँसे पैर उठाती थी दुःखके भारसे चीखती हुई वहीं फिर पैर रख देती थी। वह अपना शरीर बड़ी कठिनतासे धारण कर रही थी ॥१००॥ वेगसे बहते हुए झरनोंको वह बड़ी कठिनाईसे पार कर पाती थी। उसे निष्ठुर व्यवहार करनेवाले अपने समस्त आत्मीयजनोंका बार-बार स्मरण हो आता था ॥१०१॥ वह कभी अपनी निन्दा करती थी तो कभी भाग्यको बार-बार दोष देती थी। लताएँ उसके शरीरमें लिपट जाती थीं सो ऐसा जान पड़ता था कि दयासे वशीभूत होकर मानो उसका आलिङ्गन ही करने लगती थीं ॥१०२॥ उसके नेत्र भयभीत हरिणीके समान चञ्चल थे, थकावटके कारण उसके शरीरमें पसीना निकल आया था, काँटेदार वृक्षोंमें वस्त्र उलझ जाता था तो देर तक उसे ही सुलझाती खड़ी रहती थी ॥१०३॥ उसके पैर रुधिरसे लाल-लाल हो गये थे, सो ऐसे जान पड़ते थे मानो लाखका महावर ही उनमें लगाया गया हो। शोकरूपी अग्निकी दाहसे उसका शरीर अत्यन्त साँवला हो गया था ॥१०४॥ पत्ता भी हिलता था तो वह भयभीत हो जाती थी, उसका शरीर काँपने लगता था, भयके कारण

---

१. कांदिशीकत्वमुपागमत् म० । २. क्वणितेक्षण- म० । ३. कण्टकगुच्छेषु म० । ४. दधतीम् म० ।

मुहुर्विश्रम्यमानालया[1] नितान्तप्रियवाक्यया। गिरेः प्रापाञ्जना मूलं शनकैरिति दुःखिता[2] ॥१०६॥
तत्र धारयितुं देहमसक्ता साश्रुलोचना। अपकर्ण्य सखीवाक्यं महाखेदादुपाविशत् ॥१०७॥
जगाद च न शक्नोमि प्रयातुं पदमप्यतः। तिष्ठाम्यत्रैव देशेऽहं प्राप्नोमि मरणं वरम् ॥१०८॥
सान्त्वयित्वा ततो वाक्यैः कुशला हृदयङ्गमैः। विश्रमय्य प्रणम्योचे सख्येवं प्रेमतत्परा ॥१०९॥
पश्य पश्य गुहामेतां देवि नेदीयसीं पराम्। कुरु प्रसादमुत्तिष्ठ स्थास्यावोऽत्र यथासुखम् ॥११०॥
प्रदेशे संचरन्तीह प्राणिनः क्रूरचेष्टिताः। ननु ते रक्षणीयोऽयं गर्भः स्वामिनि मा मुह ॥१११॥
इत्युक्ता[3] सानुरोधेन सख्या वनभयेन च। गमनाय समुत्तस्थौ भूयोऽपि परितापिनी ॥११२॥
महानुभावतायोगादनुज्ञातेरभावतः[4]। ह्रीतश्च नान्तिकं वायोरयासिष्टामिमे तदा ॥११३॥
हस्तावलम्बदानेन ततस्तां विषमां भुवम्। लङ्घयित्वा सखी कृच्छ्राद् गुहाद्वारमुपाहरत् ॥११४॥
प्रवेष्टुं सहसा भीते तत्र ते तस्थतुः क्षणम्। विषमग्रावसंक्रान्तिसंजातविपुलश्रमे ॥११५॥
विश्रान्ताभ्यां चिराद् दृष्टिस्ताभ्यां न्यासि मन्दगा। [5]म्लानरक्तशितिश्वेतनीरजस्रक्समप्रभा ॥११६॥
अपश्यतां ततः शुद्धसमामलशिलातले। पर्यङ्कसुस्थितं साधुं चारणातिशयान्वितम् ॥११७॥
निभृतोच्छ्वासनिश्वासं नासिकाग्राहितेक्षणम्। ऋजुश्लथवपुर्यष्टिं स्थाणुवच्चलनोज्झितम् ॥११८॥

उसकी दोनों जाँघें अकड़ जातीं थीं और खेदके कारण उनका उठाना कठिन हो जाता था ॥१०५॥ अत्यन्त प्रिय वचन बोलनेवाली सखी उसे बार-बार बैठाकर विश्राम कराती थी। इस प्रकार दुःखसे भरी अञ्जना धीरे-धीरे पहाड़के समीप पहुँची ॥१०६॥ वहाँ तक पहुँचनेमें वह इतनी अधिक थक गई कि शरीर सम्भालना भी दूभर हो गया। उसके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे और वह बहुत भारी खेदके कारण सखीकी बात अनसुनी कर बैठ गई ॥१०७॥ कहने लगी कि अब तो मैं एक डग भी चलनेके लिए समर्थ नहीं हूँ अतः यहीं ठहरी जाती हूँ। यदि यहाँ मरण भी हो जाय तो अच्छा है ॥१०८॥

तदनन्तर प्रेमसे भरी चतुर सखी हृदयको प्रिय लगने वाले वचनोंसे उसे सान्त्वना देकर तथा कुछ देर विश्राम कराकर प्रणामपूर्वक इस प्रकार बोली ॥१०९॥ हे देवि! देखो-देखो यह पास ही उत्तम गुफा दिखाई दे रही है। प्रसन्न होओ, उठो, हम दोनों उस गुफामें ही सुखसे ठहरेंगी ॥११०॥ यहाँ क्रूर चेष्टाओंको धारण करने वाले अनेक जीव विचर रहे हैं और तुम्हें गर्भकी भी रक्षा करनी है। इसलिए हे स्वामिनि! गलती न करो ॥१११॥ ऐसा कहने पर संतापसे भरी अंजना सखीके अनुरोधसे तथा वनके भयसे पुनः चलने के लिए उठी ॥११२॥ उस समय ये दोनों स्त्रियाँ वनमें कष्ट तो उठाती रहीं पर पवनंजयके पास नहीं गईं सो इसमें उनकी महानुभावता, आज्ञाका अभाव अथवा लज्जा ही कारण समझना चाहिए ॥११३॥ तदनन्तर सखी बसन्तमाला हाथका सहारा देकर जिस किसी तरह उस ऊँची-नीची भूमिको पार कराकर बड़े कष्टसे अञ्जनाको गुफाके द्वार तक ले गई ॥११४॥ ऊँचे-नीचे पत्थरोंमें चलनेके कारण वे दोनों ही बहुत थक गई थीं और साथ ही उस गुफामें सहसा प्रवेश करनेके लिए डर भी रही थीं इसलिए क्षण भरके लिए बाहर ही बैठ गईं ॥११५॥ बहुत देरतक विश्राम करनेके बाद उन्होंने अपनी मन्दगामिनी दृष्टि गुफापर डाली। उनकी वह दृष्टि मुरझाये हुए लाल, नीले और सफेद कमलोंकी मालाके समान जान पड़ती थी ॥११६॥

तदनन्तर उन्होंने शुद्ध सम और निर्मल शीला-तलपर पर्यङ्कासनसे विराजमान चारण-ऋद्धिके धारक मुनिराजको देखा ॥११७॥ उन मुनिराजका श्वासोच्छ्वास निश्चल अथवा नियमित था। उन्होंने अपने नेत्र नासिकाके अग्रभागपर लगा रक्खे थे, उनकी शरीरयष्टि शिथिल होनेपर

---

१. विश्रम्यमानात्मा म०। २. दुःखिताः म०। ३. इत्युक्त्वा म०। ४. आज्ञायाः। ५. म्लानरक्तासितश्वेतरजतस्रक्समप्रभा ख०।

अङ्कस्थवामपाण्यङ्कन्यस्तान्योत्तानपाणिकम् । निष्प्रकम्पं नदीनाथगाम्भीर्यस्थितमानसम् ॥११९॥
ध्यायन्तं वस्तुयाथात्म्यं यथाशासनभावनम् । निःशेषसङ्गनिर्मुक्तं वायुवद्गगनामलम् ॥१२०॥
शैलकूटगताशङ्कं वीक्ष्य ताभ्यां चिरादसौ । निरचायि[1] महासत्त्वः सौम्यभासुरविग्रहः ॥१२१॥
ततः पूर्वकृतानेकश्रमणासेवने मुदा । समीपं जग्मतुस्तस्या क्षणात्ते विस्मृतासुखे ॥१२२॥
त्रिःपरीत्य च भावेन नेमतुर्विहिताञ्जली । मुनिं परमिव प्राप्ते बान्धवं विकचेक्षणे ॥१२३॥
काले यदृच्छया तत्र तेन योगः समाप्यत[2] । भवत्येव हि भव्यानां क्रिया प्रस्तावसङ्गता ॥१२४॥
ते ततोऽवदतामेवमविभक्तकरद्वये । अनगाराङ्घ्रिविन्यस्तनिरश्रु[3]स्थिरलोचने ॥१२५॥
भगवन्नपि[4] [5] ते देहे कुशलं कुशलाशय । मूलमेष हि सर्वेषां साधनानां सुचेष्टित ॥१२६॥
उपर्युपरिसंवृद्धं[6] तपः कच्चिद्[7] गुणाम्बुधे । विहारोऽपि दमोद्दाहव्युपसर्गो महाक्षमः ॥१२७॥
आचार इति पृच्छावो भवन्तमिदमीदृशम् । अन्यथा कस्य नो योग्याः कुशलस्य भवद्विधाः ॥१२८॥
भवन्ति क्षेमताभाजो भवद्विधसमाश्रिताः । स्वस्मिंस्तु कैव भावानां कथा साध्वितरात्मनाम् ॥१२९॥
इत्युक्त्वा ते व्यरंसिष्टां विनयानतविग्रहे । निःशेषभयनिर्मुक्ते तद् दृष्टे च बभूवतुः ॥१३०॥

भी सीधी थी, और वे स्वयं स्थाणु अर्थात् ठूँठके समान हलन-चलनसे रहित थे ॥११८॥ उन्होंने अपनी गोदमें स्थित वाम हाथकी हथेलीपर दाहिनी हाथ उत्तान रूपसे रख छोड़ा था, वे स्वयं निश्चल थे और उनका मन समुद्रके समान गम्भीर था ॥११९॥ वे जिनागमके अनुसार वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ध्यान कर रहे थे, वायुके समान सर्व-परिग्रहसे रहित थे और आकाशके समान निर्मल थे ॥१२०॥ उन्हें देखकर किसी पर्वतके शिखरकी आशङ्का उत्पन्न होती थी। वे महान् धैर्यके धारक थे तथा उनका शरीर सौम्य होनेपर भी देदीप्यमान था। बहुत देरतक देखनेके बाद उन्होंने निश्चय कर लिया कि यह उत्तम मुनिराज हैं ॥१२१॥

तदनन्तर जिन्होंने पहले अनेक बार मुनियोंकी सेवा की थी ऐसी वे दोनों स्त्रियाँ हर्षसे मुनिराजके समीप गईं और क्षण भरमें अपना सब दुःख भूल गईं ॥१२२॥ उन्होंने भावपूर्वक तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, हाथ जोड़कर नमस्कार किया और परम बन्धुके समान मुनिराजको पाकर उनके नेत्र खिल उठे ॥१२३॥ जिस समय ये पहुँचीं उसी समय मुनिराजने स्वेच्छासे ध्यान समाप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि भव्य जीवोंकी क्रिया अवसरके अनुसार ही होती है ॥१२४॥ तत्पश्चात् जिनके दोनों हाथ जुड़े हुए थे और जिन्होंने अपने अश्ररहित निश्चल नेत्र मुनिराजके चरणोंमें लगा रक्खे थे ऐसी दोनों सखियोंने कहा कि हे भगवन्! हे कुशल अभिप्रायके धारक! हे उत्तम चेष्टाओंसे सम्पन्न! आपके शरीरमें कुशलता तो है? क्योंकि समस्त साधनोंका मूल कारण यह शरीर ही है ॥१२५-१२६॥ हे गुणोंके सागर! आपका तप उत्तरोत्तर बढ़ तो रहा है? इसी प्रकार हे इन्द्रियविजयके धारक! आपका विहार उपसर्गरहित तथा महा क्षमासे युक्त तो है? ॥१२७॥ हे प्रभो! हम आपसे जो इस तरह कुशल पूछ रही हैं सो ऐसी पद्धति है यही ध्यान रखकर पूँछ रही हैं अन्यथा आप जैसे मनुष्य किस कुशलके योग्य नहीं है? अर्थात् आप समस्त कुशलताके भण्डार हैं ॥१२८॥ आप जैसे पुरुषोंकी शरणमें पहुँचे हुए लोग कुशलतासे युक्त हो जाते हैं; किन्तु स्वयं अपने-आपके विषयमें अच्छे और बुरे पदार्थोंकी चर्चा ही क्या है? ॥१२९॥ इस प्रकार कहकर वे दोनों चुप हो रहीं। उस समय उनके शरीर विनयसे नम्रीभूत थे। मुनिराजने जब उनकी ओर देखा तो वे सर्व प्रकारके भयसे रहित हो गईं ॥१३०॥

---

१. निरवायि ब०, ज०। २. समाप्यते म०, ख०, ज०। ३. निरसुस्थिर म०। ४. भगवन्नयि म०, ख०। ५. अपिशब्दः प्रश्नार्थः। ६. संवृद्धं म०। ७. 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः।

अथ प्रशान्तया वाचा श्रमणोऽमृतकल्पया । गम्भीरया जगादेवं पाणिमुत्क्षिप्य दक्षिणम् ॥१३१॥
कल्याणि कुशलं सर्वं मम कर्मानुभावतः । ननु सर्वमिदं बाले नैजकर्मविचेष्टितम् ॥१३२॥
पश्यतां कर्मणां लीलां यदिहागोविवर्जिता । बन्धुनिर्वास्यतां याता महेन्द्रस्येयमात्मजा ॥१३३॥
ततोऽकथितविज्ञाततद्वृत्तान्तं महामुनिम् । कुतूहलसमाक्रान्तमानसा सुमहादरा ॥१३४॥
नत्वा वसन्तमालोचे स्वामिनीप्रियतत्परा । पादयोर्नेत्रकान्त्यास्य कुर्वतीवाभिषेचनम् ॥१३५॥
विज्ञापयामि नाथ त्वां कृपया वक्तुमर्हसि । परोपकारभूयस्यो ननु युष्मादृशां क्रियाः ॥१३६॥
हेतुना केन भर्तास्या[1] श्चिरं कालं व्यरज्यत । अरज्यत पुनर्दुःखं प्राप्ता चैषा महावने ॥१३७॥
[2]को वातिमन्दभाग्योऽयं जीवोऽस्याः कुक्षिमाश्रयत् । सुखोचितेयमानीता येन जीवितसंशयम् ॥१३८॥
ततः सोऽमितगत्याख्यो ज्ञानत्रयविशारदः । यथावृत्तं जगादास्या वृत्तिरेषा हि धीमताम् ॥१३९॥
वत्से शृणु यतः प्राप्ता भव्येयं दुःखमीदृशम् । पूर्वमाचरितात् पापात् संप्राप्तपरिपाकतः ॥१४०॥
इह जम्बूमति द्वीपे वास्ये भरतनामनि । नगरे मन्दराभिख्ये प्रियनन्दीति सद्गृही ॥१४१॥
[3]जाया [4]जायास्य तत्राभूद्दमयन्ताभिधः सुतः । [5]महासौभाग्यसम्पन्नः कल्याणगुणभूषणः ॥१४२॥
अथान्यदा मधौ क्रीडा परमा तत्पुरेऽभवत् । नन्दनप्रतिमोद्याने पौरलोकसमाकुले ॥१४३॥

अथानन्तर मुनिराज दाहिना हाथ ऊपर उठाकर अमृतके समान प्रशान्त एवं गम्भीर वाणीमें इस प्रकार कहने लगे कि हे कल्याणि ! कर्मोंके प्रभावसे मेरा सर्वप्रकार कुशल है। हे बाले ! निश्चयसे यह सब अपने-अपने कर्मोंकी चेष्टा है ॥१३१-१३२॥ कर्मोंकी लीला देखो जो राजा महेन्द्रकी यह निरपराधिनी पुत्री भाइयों द्वारा निर्वासितपनाको प्राप्त हुई अर्थात् घरसे निकाली जाकर अत्यन्त अनादरको प्राप्त हुई ॥१३३॥ तदनन्तर बिना कहे ही जिन्होंने सब वृत्तान्त जान लिया था ऐसे महामुनिराजको नमस्कार कर बड़े आदरसे वसन्तमाला बोली। उस समय वसन्तमालाका मन कुतूहलसे भर रहा था, वह स्वामिनीका भला करनेमें तत्पर थी। और अपने नेत्रोंकी कान्तिसे मानो मुनिराजके चरणोंका अभिषेक कर रही थी ॥१३४-१३५॥ उसने कहा कि हे नाथ ! मैं कुछ प्रार्थना कर रही हूँ सो कृपाकर उसका उत्तर कहिये। क्योंकि आप जैसे पुरुषोंकी क्रियाएँ परोपकार-बहुल ही होती हैं ॥१३६॥ इस अञ्जनाका भर्ता किस कारणसे चिर काल तक विरक्त रहा और अब किस कारणसे अनुरक्त हुआ है ? यह अञ्जना महावनमें किस कारणसे दुःखको प्राप्त हुई है ? और मन्द भाग्यका धारक कौन-सा जीव इसकी कुक्षिमें आया है जिसने कि सुख भोगनेवाली इस बेचारीको प्राणोंके संशयमें डाल दिया है ॥१३७-१३८॥

तदनन्तर मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंमें निपुण अमितगति नामक मुनिराज अञ्जनाका यथावत् वृत्तान्त कहने लगे। सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमानोंकी यही वृत्ति है ॥१३९॥ उन्होंने कहा कि हे बेटी ! सुन, इस अञ्जनाने अपने पूर्वोपार्जित पाप कर्मके उदयसे जिस कारण यह ऐसा दुःख पाया है उसे मैं कहता हूँ ॥१४०॥

इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रके मन्दर नामक नगरमें एक प्रियनन्दी नामका सद्-गृहस्थ रहता था ॥१४१॥ उसकी स्त्रीका नाम जाया था। उस स्त्रीसे प्रियनन्दीके दमयन्त नामका ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ था जो महासौभाग्यसे सम्पन्न तथा कल्याणकारी गुणरूपी आभूषणोंसे विभूषित था ॥१४२॥ तदनन्तर वसन्त ऋतु आनेपर नगरमें बड़ा भारी उत्सव हुआ सो नगर-वासी लोगोंसे व्याप्त नन्दनवनके समान सुन्दर उद्यानमें दमयन्त भी अपने मित्रोंके साथ सुख-

---

१. भर्तास्य म० । २. कोवास्य म० । ३. एतन्नाम्नी । ४. स्त्री । ५. महीसौभाग्य ।

चिक्रीड[1] दमयन्तोऽपि तत्र मित्रैः समं सुखम् । पटवासवलक्षाङ्गः कुण्डलादिविभूषितः ॥१४४॥
अथ तेन स्थितेनारात्क्रीडता गगनाम्बराः । दृष्टास्तपोधना ध्यानस्वाध्यायादिक्रियोदिताः[2] ॥१४५॥
निस्सृत्य मण्डलान्मित्राद् रश्मिवत् सोऽतिभासुरः । जगाम मुनिसंघातं मेरुश्रृङ्गौघसन्निभम् ॥१४६॥
ततः साधुं स वन्दित्वा श्रुत्वा धर्मं यथाविधि । सम्यग्दर्शनसंपन्नो बभूव नियमस्थितः ॥१४७॥
दत्वा सप्तगुणोपेतामन्यदा पारणामसौ । साधुभ्यः [3]पञ्चतां प्राप्य कल्पवासमशिश्रियत् ॥१४८॥
नियमाद्दानतश्चात्र भोगमन्वभवत् परम् । देवीशतेक्षणच्छायानीलाब्जस्रग्विभूषितः ॥१४९॥
च्युतस्तस्मादिह द्वीपे मृगाङ्कनगरेऽभवत् । प्रियङ्गुलक्ष्मीसंभूतो हरिचन्द्रनृपात्मजः ॥१५०॥
सिंहचन्द्र इति ख्यातः कलागुणविशारदः । स्थितः प्रत्येकमेकोऽपि चेतःसु प्राणधारिणाम् ॥१५१॥
तत्रापि मुक्तसद्भोगः साधुभ्योऽवाप्य सन्मतिम् । कालधर्मेण संयुक्तो जगाम त्रिदशालयम् ॥१५२॥
तत्रोदारं सुखं प्राप संकल्पकृतकल्पनम् । देवीवदनराजीवमहाखण्डदिवाकरः ॥१५३॥
च्युत्वात्रैव ततो वा[4]स्ये विजयार्धमहीधरे । नगरेऽरुणसंज्ञाके सुकण्ठस्य नरप्रभोः ॥१५४॥
जायायां कनकोदर्यां सिंहवाहनशब्दितः । उदपादिगुणाकृष्टसमस्तजनमानसः ॥१५५॥
तत्र देव इवोदारसंभोगमनुभूतवान् । अप्सरोविभ्रमस्तेनं[5] कान्तालिङ्गनलालितः ॥१५६॥
तीर्थे विमलनाथस्य सोऽन्यदा जातसन्मतिः । निक्षिप्य तनये लक्ष्मीं घनवाहननामनि ॥१५७॥

पूर्वक क्रीड़ा कर रहा था। उस समय उसका शरीर सुगन्धित चूर्णसे सफेद था तथा कुण्डलादि आभूषण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥१४३-१४४॥

तदनन्तर वहाँ ठहरकर क्रीड़ा करते हुए दमयन्तने समीपमें ही विद्यमान ध्यान, स्वाध्याय आदि क्रियाओंमें तत्पर दिगम्बर मुनिराज देखे ॥१४५॥ उन्हें देखते ही जिस प्रकार सूर्यसे देदीप्यमान किरण निकलती है उसी प्रकार अपनी गोष्ठीसे निकलकर अतिशय देदीप्यमान दमयन्त मुनिसमूहके पास पहुँचा। वह मुनियोंका समूह मेरुके शिखरोंके समूहके समान निश्चल था ॥१४६॥ तदनन्तर दमयन्तने मुनिराजकी वन्दनाकर उनसे विधि-पूर्वक धर्मका उपदेश सुना और सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न होकर नियम आदि धारण किये ॥१४७॥ किसी एक समय उसने साधुओंके लिए सप्तगुणोंसे युक्त पारणा कराई और अन्तमें मरकर स्वर्गमें देवपर्याय पाया ॥१४८॥ वहाँ वह पूर्वाचरित नियम और दानके प्रभावसे उत्तम भोग भोगने लगा। सैकड़ों देवियोंके नेत्रोंके समान कान्तिवाले नील कमलोंकी मालासे वह वहाँ सदा अलंकृत रहता था ॥१४९॥ वहाँसे च्युत होकर वह इसी जम्बूद्वीपके मृगाङ्कनामा नगरमें राजा हरिचन्द्र और प्रियङ्गुलक्ष्मी नामक रानीसे सिंहचन्द्र नामका कला और गुणोंमें निपुण पुत्र हुआ। सिंहचन्द्र यद्यपि एक था तो भी समस्त प्राणियोंके हृदयोंमें विद्यमान था ॥१५०-१५१॥ उस पर्यायमें भी उसने साधुओंसे सद्बोध पाकर भोगोंका त्याग कर दिया था जिससे आयुके अन्तमें मरकर स्वर्ग गया ॥१५२॥ वहाँ वह देवियोंके मुखरूपी कमल-वनको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान था और सङ्कल्प मात्रसे प्राप्त होनेवाले उत्तम सुखका उपभोग करता था ॥१५३॥ वहाँसे च्युत होकर इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतपर अरुण नामक नगरमें राजा सुकण्ठकी कनकोदरी नामा रानीसे सिंहवाहन नामका पुत्र हुआ। इस सिंहवाहनने गुणोंके द्वारा समस्त लोगोंका मन अपनी ओर आकर्षित कर लिया था ॥१५४-१५५॥ अप्सराओंके विभ्रमको चुरानेवाली स्त्रियोंके आलिङ्गनसे परमाह्लादको प्राप्त हुआ सिंहवाहन वहाँ देवोंके समान उदार भोगोंका अनुभव करने लगा ॥१५६॥ किसी एक समय श्रीविमलनाथ भगवान्‌के तीर्थमें उसे सद्बोध प्राप्त हुआ सो मेघवाहन नामक पुत्रके लिए राज्य-लक्ष्मी सौंप संसारसे विरक्त हो गया। तदनन्तर जो बहुत भारी संवेगसे युक्त था और

१. चिक्रीडे म० । २. क्रियोदिता म० । ३. मृत्युम् । ४. वास्थो (?) म० । ५. विभ्रमस्तेनः कान्ता- म० ।

पुरुसंवेगसम्पन्नो विदितासारसंसृतिः । लक्ष्मीतिलकसंज्ञस्य मुनेरानच्छे शिष्यताम् ॥१५८॥
अनुपाल्य समीचीनं व्रतं जिनवरोदितम् । अनित्यत्वादिभिः कृत्वा चेतनां भावनामयीम् ॥१५९॥
तपः कापुरुषाचिन्त्यं तप्त्वा तन्वादरोज्झितम्[1] । रत्नत्रितयतो जातां[2] दधानः परमार्थताम् ॥१६०॥
नानालब्धिसमुत्पत्तेः[3] शक्तोऽप्यहितवारणे । परीषहरिपून् घोरानधिसह्य सुमानसः ॥१६१॥
आयुर्विराममासाद्य ध्यानमास्थाय निर्मलम् । ज्योतिषां पटलं भित्त्वा लान्तवेऽभूत् सुरो महान् ॥१६२॥
इच्छानुरूपमासाद्य तत्र भोगं परस्थितिः[4] । छद्मस्थजनधीवाचां स्थितं संवचय[5][संत्यज्य]गोचरम् ॥१६३॥
च्युत्वा पुण्यावशेषेण प्रेरितः परमोदयः । कुक्षिमस्या विवेशायं जीवः सौख्यस्य भाजनम् ॥१६४॥
एवं तावदयं गर्भः स्वामिन्यास्ते तनुं श्रितः । हेतुं विरहदुःखस्य शृणु कल्याणचेष्टिते ॥१६५॥
भवेऽस्याः कनकोदर्या लक्ष्मीर्नाम सपत्न्यभूत् । सम्यग्दर्शनपूतात्मा साधुपूजनतत्परा ॥१६६॥
प्रतिमा देवदेवानां प्रतीके सद्मनस्तया । स्थापयित्वार्चिता भक्त्या स्तुतिमङ्गलवक्त्रया ॥१६७॥
महादेव्यभिमानेन सपत्न्यै क्रुद्धया तया । चक्रे बाह्यावकाशेऽसौ[6] जिनेन्द्रप्रतियातना ॥१६८॥
अत्रान्तरेऽविशद् गेहमस्या भिक्षार्थमार्यिका । संयमश्रीरिति ख्याता तपसा विष्टपेऽखिले ॥१६९॥
ततः परिभवं दृष्ट्वा साप्यर्हत्प्रतियातनम् । यथावतिपरं दुःखं धारणापेतमानसा ॥१७०॥

संसारकी असारताको जिसने अच्छी तरह समझ लिया था ऐसा सिंहवाहन लक्ष्मीतिलक नामक मुनिका शिष्य हो गया अर्थात् उनके पास उसने दीक्षा धारण कर ली ॥१५७–१५८॥ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए उत्तम व्रतका अच्छी तरह पालनकर उसने अनित्य आदि भावनाओंके चिन्तवनसे अपनी आत्माको प्रभावित किया ॥१५९॥ शरीरका आदर छोड़कर उसने ऐसा कठिन तपश्चरण किया कि कायर मनुष्य जिसका विचार भी नहीं कर सकते थे। वह सदा रत्नत्रयके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाली परमार्थताको धारण करता था ॥१६०॥ नाना प्रकारकी ऋद्धियाँ उत्पन्न होनेसे यद्यपि वह अनिष्ट पदार्थोंका निवारण करनेमें समर्थ था तो भी शान्त हृदयसे उसने परीषहरूपी घोर शत्रुओंका कष्ट सहन किया था ॥१६१॥ आयुका अन्त आनेपर वह निर्मल ध्यानमें लीन हो गया और ज्योतिषी देवोंका पटल भेदनकर अर्थात् उससे ऊपर जाकर लान्तव स्वर्गमें उत्कृष्ट देव हुआ ॥१६२॥ वहाँ वह उत्कृष्ट स्थितिका धारी हुआ और छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान तथा वचन दोनोंसे परे रहनेवाले इच्छानुकूल भोगोंका उपभोग करने लगा ॥१६३॥ परम अभ्युदयसे सहित तथा सुखका पात्र भूत, इसी देवका जीव लान्तव स्वर्गसे च्युत होकर बाकी बचे पुण्यसे प्रेरित होता हुआ इस अञ्जनाके गर्भमें प्रविष्ट हुआ है ॥१६४॥ इस प्रकार जो गर्भ तेरी स्वामिनीके शरीरमें प्रविष्ट हुआ है उसका वर्णन किया। अब हे शुभ चेष्टाकी धारक वसन्तमाले! इसके विरह-जन्य दुःखका कारण कहता हूँ सो सुन ॥१६५॥ जब यह अञ्जना कनकोदरीके भवमें थी तब इसकी लक्ष्मी नामक सौत थी। उसकी आत्मा सम्यग्दर्शनसे पवित्र थी और वह सदा मुनियोंकी पूजा करनेमें तत्पर रहती थी ॥१६६॥ उसने घरके एक भागमें देवाधिदेव जिनेन्द्र देवकी प्रतिमा स्थापित कराकर भक्तिपूर्वक मुखसे स्तुतियाँ पढ़ती हुई उसकी पूजा की थी ॥१६७॥ कनकोदरी महादेवी थी इसलिए उसने अभिमानवश सौतके प्रति बहुत ही क्रोध प्रकट किया। इतना ही नहीं जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाको घरके बाहरी भागमें फिंकवा दिया ॥१६८॥ इसी बीचमें संयमश्री नामक आर्यिकाने भिक्षाके लिए इसके घरमें प्रवेश किया। संयमश्री अपने तपके कारण समस्त संसारमें प्रसिद्ध थीं ॥१६९॥ तदनन्तर जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाका अनादर देख

---

१. तन्नादरो- क० । तप्त्वा ब०, ज० । २. जातं म० । ३. समुत्पन्नः म० । ४. परिस्थिति ख०, ब० । ५. संवद्य ज० । उल्लङ्घ्य इति ब० पुस्तके टिप्पणम् । ६. वाप्यावकाशे ।

इमां च मोहिनीं[1] दृष्ट्वा परं कारुण्यमागता । साधुवर्गो हि सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः शुभमिच्छति ॥१७१॥
अपृष्टोऽपि जनः साधुर्गुरुभक्तिप्रचोदितः । अज्ञप्राणिहितार्थं च धर्मवाक्ये प्रवर्तते ॥१७२॥
अवोचत ततः सैवं शीलभूषणधारिणी । [3]तदेमामितया वाचा माधुर्यमुपमोज्झितम् ॥१७३॥
भद्रे श्रृणु मनः कृत्वा परमं परमद्युते । नरेन्द्रकृतसन्माने भोगायतनविग्रहे ॥१७४॥
भवे चतुर्गतौ भ्राम्यन् जीवो दुःखैश्रितः सदा । सुमानुषत्वमायाति शमे कटुककर्मणः ॥१७५॥
मनुष्यजातिमापन्ना सा त्वं पुण्येन शोभने । माभूज्जुगुप्सिताचारा कर्तुं योग्यासि सत्क्रियाम् ॥१७६॥
लब्ध्वा मनुष्यतां कर्म यो नादत्ते जनः शुभम् । रत्नं करगतं तस्य भ्रंशमायाति मोहिनः ॥१७७॥
कायवाक्चेतसां वृत्तिः शुभा हितविधायिनी । सैवेतरेतराधानकारिणी प्राणधारिणाम् ॥१७८॥
स्वस्य ये हितमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते सुकर्मणि । उत्तमास्ते जना लोके निन्दिताचारभूयसि ॥१७९॥
कृतार्था अपि ये सन्तो भवदुःखमहार्णवात् । तारयन्ति जनान् भव्यानुपदेशविधानतः ॥१८०॥
उत्तमोत्तमतां तेषां बिभ्रतां[4] धर्मचक्रिणाम् । [5]अर्हतां ये तिरस्कारं प्रतिबिम्बस्य कुर्वते ॥१८१॥
जन्तूनां मोहिनां तेषां यदनेकभवानुगम् । दुःखं संजायते कस्तद्वक्तुं शक्नोति कार्त्स्न्यतः ॥१८२॥
यद्यप्येषां [6]प्रपन्नेषु प्रसादो नोपजायते । न चापकारनिष्ठेषु द्वेषो माध्यस्थ्यमीयुषाम् ॥१८३॥
स्वस्मात्तथापि जन्तूनां परिणामाच्छुभाशुभात् । तदुद्देशेन संजातात् सुखदुःखसमुद्भवः ॥१८४॥
यथाग्नेः सेवनाच्छीतदुःखं जन्तुरपोहते । [7]क्षुत्तृष्णापरिपीडां च भक्तशीताम्बुसेवनात् ॥१८५॥

उन्हें बहुत दुःख हुआ । पारणा करनेसे उनका मन हट गया ॥१७०॥ तथा इस अञ्जनाका जीव जो कनकोदरी था उसे मिथ्यात्व-ग्रस्त देख उन्हें परम करुणा उत्पन्न हुई सो ठीक ही है क्योंकि साधुवर्ग सभी प्राणियोंका कल्याण चाहता है ॥१७१॥ गुरु-भक्तिसे प्रेरित हुए साधुजन बिना पूछे भी अज्ञानी प्राणियोंका हित करनेके लिए धर्मोपदेश देने लगते हैं ॥१७२॥

तदनन्तर शील रूप आभूषणको धारण करनेवाली संयमश्री आर्यिका अत्यन्त मधुर वाणीमें कनकोदरीसे बोलीं कि हे भद्रे ! मनको उदारकर सुन । तू परम कान्तिको धारण करनेवाली है, राजा तेरा सन्मान करता है, तथा तेरा शरीर भोगोंका आयतन है ॥१७३–१७४॥ चतुर्गति रूप संसारमें भ्रमण करता हुआ यह जीव सदा दुःखी रहता है । जब अशुभ कर्मका उदय शान्त होता है तभी यह उत्तम मनुष्यपर्यायको प्राप्त होता है ॥१७५॥ हे शोभने ! तू पुण्योदयसे मनुष्य योनिको प्राप्त हुई है अतः घृणित आचार करनेवाली न हो । तू उत्तम क्रिया करने योग्य है अर्थात् अच्छे कार्य करना ही तुझे उचित है ॥१७६॥ जो प्राणी मनुष्यपर्याय पाकर भी शुभ कार्य नहीं करता है उस मोहीके हाथमें आया हुआ रत्न योंही नष्ट हो जाता है ॥१७७॥ मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्ति ही प्राणियोंका हित करती है और अशुभ प्रवृत्ति अहित करती है ॥१७८॥ इस संसारमें निन्दित आचारके धारक मनुष्योंकी ही बहुलता है पर जो आत्महितका लक्ष्यकर शुभ कार्यमें प्रवृत्त होते हैं वे उत्तम कहलाते हैं ॥१७९॥ जो स्वयं कृतकृत्य होकर भी उपदेश देकर भव्य प्राणियोंको संसार रूपी महासागरसे तारते हैं, जो सर्वोत्कृष्ट हैं तथा धर्मचक्रके प्रवर्तक हैं ऐसे अरहन्त भगवान्‌की प्रतिमाका जो तिरस्कार करते हैं उन मोही जीवोंको अनेक भवों तक साथ जानेवाला जो दुःख प्राप्त होता है उसे पूर्ण रूपसे कहनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ? ॥१८०–१८२॥ अरहन्त भगवान् तो माध्यस्थ्य भावको प्राप्त हैं इसलिए यद्यपि इन्हें शरणागत जीवोंमें न प्रसन्नता होती है और न अपकार करनेवालों पर द्वेष ही होता है ॥१८३॥ तो भी जीवोंको उपकार और अपकारके निमित्तसे होनेवाले अपने शुभ-अशुभ परिणामसे सुख-दुःखकी उत्पत्ति होती है ॥१८४॥ जिस प्रकार यह जीव अग्निकी

१. मोहनीं ज०, ख० । मेहिनीं क० । २. सुख-म० । ३. तदिमां मितया म० । तदा + इमाम् + इतया इतिच्छेदः । ४. विकृतां म० । ५. अर्हतो म० । ६. प्रयत्नेषु क०, ख० । ७. क्षुत्तृष्णां परिपीडां च म० ।

निसर्गोऽयं तथा येन जिनानामर्चनात्सुखम् । जायते प्राणिनां दुःखं परमं च तिरस्कृतेः ॥१८६॥
यन्नाम दृश्यते लोके दुःखं तत्पापसंभवम् । सुखञ्च चरितात्पूर्वंसुकृतादिति विद्यताम्[1] ॥१८७॥
सा त्वं पुण्यैरिमां वृद्धिं भर्तारं[2] पुरुषाधिपम् । पुत्रं चाद्भुतकर्माणं प्राप्ता श्लाघ्यासुधारिणाम्[3] ॥१८८॥
तथा कुरु यथा भूयो लप्स्यसे सुखमात्मनः । मद्वाक्यादवटे[4] भव्ये ! मा पप्तः सति भास्करे ॥१८९॥
अभविष्यत्तवावासो[5] नरके घोरवेदने । अहं नाबोधयिष्यं चेत्प्रमादोऽयमहो महान् ॥१९०॥
इत्युक्ता सा परित्रस्ता दुःखतो नरकोद्भवात् । प्रत्ययादिति शुद्धात्मा सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥१९१॥
अगृह्णाद् गृहिधर्मं च शक्तेश्च सदृशं तपः । जन्मान्यदिव मेने च साम्प्रतं धर्मसंगमात् ॥१९२॥
प्रतिमां च प्रवेश्यैनां[6] पूर्वदेशे व्यतिष्ठपत् । आनर्च च विचित्राभिः सुमनोभिः सुगन्धिभिः ॥१९३॥
कृतार्थं मन्यमाना स्वं तस्या धर्मनियोजनात् । जगाम स्वोचितं स्थानं संयमश्रीः[7] प्रमोदिनी ॥१९४॥
कनकोदर्यपि श्रेयः समुपार्ज्य गृहे रता[8] । कृत्वा[9] कालं दिवं गत्वा भुक्त्वा भोगं महागुणम् ॥१९५॥
च्युत्वा महेन्द्रराजस्य महेन्द्रपुरभेदने । मनोवेगासमाख्यायामञ्जनेति सुताभवत् ॥१९६॥
सेयं पुण्यावशेषेण कृतेन जनान्तरे । जातेहाढ्यकुले शुद्धे प्राप्ता च वरमुत्तमम् ॥१९७॥
प्रतिमां च जिनेन्द्रस्य त्रिकालार्च्यस्य यद्बहिः । अकार्षीत्समयं कंचित्तेनातो दुःखमागतम् ॥१९८॥
विद्युत्प्रभगुणस्तोत्रं क्रियमाणं पुरस्तव । मिश्रकेश्याः स्वनिन्दां च समित्रः पवनञ्जयः ॥१९९॥

सेवासे अपना शीत-जन्य दुःख दूर कर लेता है और भोजन तथा शीतल जलका सेवनकर भूख-प्यासकी पीड़ासे छुट्टी पा जाता है यह स्वाभाविक बात है उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनेसे प्राणियोंको सुख उत्पन्न होता है और उनका तिरस्कार करनेसे परम दुःख प्राप्त होता है यह भी स्वाभाविक बात है ॥१८५-१८६॥ यह निश्चित जानो कि संसारमें जो भी दुःख दिखाई देता है वह पापसे उत्पन्न हुआ है और जो भी सुख दृष्टिगोचर है वह पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मसे उपलब्ध है ॥१८७॥ तूने जो यह वैभव, राजा पति और आश्चर्यजनक कार्य करनेवाला पुत्र पाया है सो पुण्यके द्वारा ही पाया है। तू प्राणियोंमें प्रशंसनीय है ॥१८८॥ इसलिए ऐसा कार्य कर जिससे फिर भी तुझे सुख प्राप्त हो। हे भव्ये ! तू मेरे कहनेसे सूर्यके रहते हुए गड्ढेमें मत गिर ॥१८९॥ इस पापके कारण घोर वेदनासे युक्त नरकमें तेरा निवास हो और मैं तुझे संबोधित न करूँ यह मेरा बड़ा प्रमाद कहलावेगा ॥१९०॥

आर्यिकाके ऐसा कहनेपर कनकोदरी नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले दुःखसे भयभीत हो गई। उसने उसी समय शुद्ध हृदयसे उत्तम सम्यग्दर्शन धारण किया ॥१९१॥ गृहस्थका धर्म और शक्ति अनुसार तप भी उसने स्वीकृत किया। उसे ऐसा लगने लगा मानो धर्मका समागम होनेसे मैंने दूसरा ही जन्म पाया हो ॥१९२॥ अर्हन्त भगवान्‌की प्रतिमाको उसने पूर्व स्थानपर विराजमान कराया और नाना प्रकारके सुगन्धित फूलोंसे उसकी पूजा की ॥१९३॥ कनकोदरीको धर्ममें लगाकर अपने आपको कृतकृत्य मानती हुई संयमश्री आर्यिका हर्षित हो अपने योग्य स्थानपर चली गई ॥१९४॥ घरमें अनुराग रखनेवाली कनकोदरी भी पुण्योपार्जनकर आयुके अन्तमें स्वर्ग गई और वहाँ उत्तमोत्तम भोग भोगकर वहाँसे च्युत हो महेन्द्र नगरमें राजा महेन्द्रकी मनोवेगा नामा रानीसे यह अञ्जना नामक पुत्री हुई है ॥१९५-१९६॥ इसने जन्मान्तरमें जो पुण्य किया था उसके अवशिष्ट अंशसे यह यहाँ सम्पन्न एवं विशुद्ध कुलमें उत्पन्न हुई है तथा उत्तम वरको प्राप्त हुई है ॥१९७॥ इसने त्रिकालमें पूजनीय जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाको कुछ समय तक घरसे बाहर किया था उसीसे इसे यह दुःख प्राप्त हुआ है ॥१९८॥ विवाहके पूर्व जब इसके आगे मिश्रकेशी विद्युत्प्रभके गुणोंकी प्रशंसा और पवनञ्जयकी निन्दा कर रही थी तब पवनञ्जय

१. जानातु। २. भर्तारं म०। ३. श्लाघ्या सुधारिणम् म०। ४. गर्ते। ५. अभविष्यं म०। ६. प्रविश्येनां म०। ७. एतन्नाम्नी आर्यिका। ८. रताः म०। ९. श्रुत्वा म०।

श्रुत्वा गवाक्षजालेन त्रियामायां तिरोहितः। द्वेषमस्यै परिप्राप्तो वैधुर्यमकरोत् पुरः ॥२००॥
युद्धाय प्रस्थितो दृष्ट्वा सोऽन्यदा चक्रवाकिकाम्। विरहादीपितां रम्ये मानसे सरसि द्रुतम् ॥२०१॥
सख्येव कृपया नीतः समये तां मनोहराम्। गतश्च गर्भमादाय कर्तुं जनकशासनम् ॥२०२॥
[1]इत्युक्त्वा पुनरूचेऽसावञ्जनां मुनिपुङ्गवः। महाकारुण्यसम्पन्नः क्षरन्निव गिरामृतम् ॥२०३॥
[2]सा त्वं कर्मानुभावेन बाले दुःखमिदं श्रिता। ततो भूयोऽपि मा कार्षीरीदृशं कर्म निन्दितम् ॥२०४॥
यानि यानि च सौख्यानि जायन्ते चात्र भूतले। तानि तानि हि सर्वाणि जिनभक्तेर्विशेषतः ॥२०५॥
भक्ता भव जिनेन्द्राणां संसारोत्तारकारिणाम्। गृहाण नियमं शक्त्या[3] कुरु श्रमणपूजनम् ॥२०६॥
दिष्ट्या बोधिं प्रपन्नासि तदा दत्तां तदार्यया। उदहार्षीत् करालम्बात् सा त्वां[4] यान्तीमधोगतिम् ॥२०७॥
अयं च ते महाभाग्यः कुक्षिं गर्भः समाश्रितः। पुरा [5]निर्लोठते सम्यग्बहुकल्याणभाजनम् ॥२०८॥
परमां भूतिमेतस्मात् सुतात् प्राप्स्यसि शोभने। अखण्डनीयवीर्योऽयं गीर्वाणैः सकलैरपि ॥२०९॥
अल्पैरेव च तेऽहोभिः प्रियसङ्गो भविष्यति। ततो भव सुखस्वान्ता [6]प्रमादरहिता शुभे ॥२१०॥
इत्युक्ताभ्यां ततस्ताभ्यां हृष्टाभ्यां मुनिसत्तमः। प्रणतो विकसन्नेत्रराजीवाभ्यां पुनः पुनः ॥२११॥
सोऽपि दत्त्वाशिषं ताभ्यां समुत्पत्य नभस्तलम्। संयमस्योचितं देशं जगामामलमानसः ॥२१२॥
पर्यङ्कासनयोगेन यस्मात्तस्यां स सन्मुनिः। तस्थौ जगाम पर्यङ्कगुहाख्यां सा ततो भुवि ॥२१३॥
इत्थं निजभवान् श्रुत्वाभवद् विस्मितमानसा। निन्दन्ती दुष्कृतं कर्म पूर्वं यदधमं कृतम् ॥२१४॥

अपने मित्रके साथ रात्रिके समय झरोखेसे छिपा खड़ा था सो यह सब सुनकर इससे रोषको प्राप्त हो गया और उस रोषके कारण ही उसने पहले इसे दुःख उपजाया है ॥१९९–२००॥ जब वह युद्धके लिए गया तो अत्यन्त मनोहर मानसरोवरपर ठहरा। वहाँ विरहसे छटपटाती हुई चकवीको देखकर अञ्जनापर दयालु हो गया ॥२०१॥ उसके हृदयमें जो दया उत्पन्न हुई थी वह सखीके समान उसे शीघ्र ही समयपर इस सुन्दरीके पास ले आई और वह गर्भाधान कराकर पिताकी आज्ञा पूर्ण करनेके लिए चला गया ॥२०२॥ महादयालु मुनिराज इतना कहकर वाणीसे अमृत झराते हुएके समान अञ्जनासे फिर कहने लगे कि हे बेटी! कर्मके प्रभावसे ही तूने यह दुःख पाया है इसलिए फिर कभी ऐसा निन्द्य कार्य नहीं करना ॥२०३–२०४॥ इस पृथ्वी तलपर जो-जो सुख उत्पन्न होते हैं वे सब विशेषकर जिनेन्द्र देवकी भक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं ॥२०५॥ इसलिए तू संसारसे पार करनेवाले जिनेन्द्र देवकी भक्त हो, शक्तिके अनुसार नियम ग्रहण कर और मुनियोंकी पूजा कर ॥२०६॥ भाग्यसे तू उस समय संयमश्री आर्याके द्वारा प्रदत्त बोधिको प्राप्त हुई थी। आर्याने तुझे बोधि क्या दी थी मानो अधोगतिमें जाती हुई तुझे हाथका सहारा देकर ऊपर खींच लिया था ॥२०७॥ यह महाभाग्यशाली गर्भ तेरे उदरमें आया है सो आगे चलकर अनेक उत्तमोत्तम कल्याणोंका पात्र होगा ॥२०८॥ हे शोभने! तू इस पुत्रसे परम विश्रुतिको प्राप्त होगी। सब देव मिलकर भी इसका पराक्रम खण्डित नहीं कर सकेंगे ॥२०९॥ थोड़े ही दिनोंमें तुम्हारा पतिके साथ समागम होगा। इसलिए हे शुभे! चित्तको सुखी रखो और प्रमादरहित होओ ॥२१०॥ मुनिराजके ऐसा कहनेपर जो अत्यन्त हर्षित हो रही थीं तथा जिनके नेत्रकमल खिल रहे थे ऐसी दोनों सखियोंने मुनिराजको बार-बार प्रणाम किया ॥२११॥ तदनन्तर निर्मल हृदयके धारक मुनिराज उन दोनोंके लिए आशीर्वाद देकर आकाश-मार्गसे संयमके योग्य स्थानपर चले गये ॥२१२॥ वे उत्तम मुनिराज उस गुहामें पर्यङ्कासनसे विराजमान थे। इसलिए आगे चलकर वह गुहा पृथिवीमें 'पर्यङ्क गुहा' इस नामको प्राप्त हो गई ॥२१३॥ इस प्रकार राजा महेन्द्रकी पुत्री अञ्जना अपने भवान्तर सुन आश्चर्यसे चकित हो गई। उसने पूर्वभवमें जो निन्द्य

१. इत्युक्ता म०। २. स त्वं म०। ३. भक्त्या म०। ४. त्वा क०। ५. निर्लोठिते म०। ६. प्रमोदरहिता ब०।

महेन्द्रदुहिता तस्यां सूतिकालव्यपेक्षया । तस्थौ मगधराजेन्द्रपूतायां मुनिसङ्गमात् ॥२१५॥
वसन्तमालया तस्या विद्याबलसमृद्धया । पानाशनविधिश्चक्रे मनसा विषयीकृतः ॥२१६॥
अथ प्रियविमुक्तां तां कारुण्येनेव भूयसा । असमर्थो रविर्द्रष्टुमस्तमैच्छन्निषेवितुम् ॥२१७॥
तद्दुःखादिव मन्दत्वं भास्करस्य करा ययुः । चित्रकर्मार्पितादित्यकरोत्करकृतोपमाः[1] ॥२१८॥
शोकादिव रवेर्बिम्बं सहसा पातमागतम् । गिरिवृक्षाग्रसंसक्तं करजालं समाहरन्[2] ॥२१९॥
अथागन्तुकसिंहस्य दृष्ट्येव क्रोधताम्रया । संध्यया[3] पिहितं सर्वं क्षणेन नभसस्तलम् ॥२२०॥
ततो भाव्युपसर्गेण प्रेरितेव[4] त्वरावती । उदियाय तमोलेखा वेतालीव रसातलात् ॥२२१॥
कृतकोलाहलाः पूर्वं दृष्ट्वा तामिव भीतितः । निःशब्दा गहने तस्थुर्वृक्षाग्रेषु पतत्रिणः ॥२२२॥
प्रावर्तन्त शिवारावा[5] महानिर्घातभीषणाः । वादिता उपसर्गेण प्रकटाः पटहा इव ॥२२३॥
अथ धूतेभकीलालशोणकेसरसंचयः । मृत्युपत्राङ्गुलिच्छायां भृकुटिं कुटिलां दधत् ॥२२४॥
विमुञ्चन्विषमच्छेदान्नादान् सप्रतिशब्दकान् । वेगिनः सकलं व्योम कुर्वाण इव खण्डशः ॥२२५॥
प्रलयज्वलनज्वालाविलासाञ्चलयन्मुहुः । महास्यगह्वरे जिह्वां प्रह्वां भूरिजनक्षये ॥२२६॥

कार्य किया था उसकी वह बार-बार निन्दा करती रहती थी ॥२१४॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! मुनिराजके संगमसे जो अत्यन्त पवित्र हो चुकी थी ऐसी उस गुफामें अञ्जना प्रसव-कालकी प्रतीक्षा करती हुई रहने लगी ॥२१५॥ विद्या-बलसे समृद्ध वसन्तमाला उसकी इच्छानुसार आहार-पानकी विधि मिलाती रहती थी ॥२१६॥

अथानन्तर सूर्य अस्ताचलके सेवनकी इच्छा करने लगा अर्थात् अस्त होनेके सम्मुख हुआ। सो ऐसा जान पड़ता था मानो अत्यधिक करुणाके कारण भर्तारसे वियुक्त अञ्जनाको देखनेके लिए असमर्थ हो गया हो ॥२१७॥ सूर्यकी किरणें भी चित्रलिखित सूर्यकी किरणोंके समान मन्दपनेको प्राप्त हो गई थीं सो ऐसा जान पड़ता था मानो अञ्जनाका दुःख देखकर ही मन्द पड़ गई हों ॥२१८॥ पर्वत और वृक्षोंके अग्रभागपर स्थित किरणोंके समूहको समेटता हुआ सूर्यका बिम्ब सहसा पतनको प्राप्त हो गया सो ऐसा जान पड़ता था मानो अञ्जनाके शोकके कारण ही पतनको प्राप्त हुआ हो ॥२१९॥ तदनन्तर आगे आनेवाले सिंहकी कुपित दृष्टिके समान लालवर्णकी संध्यासे समस्त आकाश क्षण भरमें व्याप्त हो गया ॥२२०॥ तत्पश्चात् भावी उपसर्गसे प्रेरित होकर ही मानो शीघ्रता करनेवाली अन्धकारकी रेखा उत्पन्न हो गई। वह अन्धकारकी रेखा ऐसी जान पड़ती थी मानो पातालसे वेताली ही निकल रही हो ॥२२१॥ उस वनमें पक्षी पहले तो कोलाहल कर रहे थे पर उन्होंने जब अन्धकारकी रेखा देखी तो मानो उसके भयसे ही निःशब्द होकर वृक्षोंके अग्रभागपर बैठ रहे ॥२२२॥ महावज्रपातके समान भयङ्कर शृगालोंके शब्द होने लगे सो ऐसा जान पड़ता था मानो आनेवाले उपसर्गने अपने नगाड़े ही बजाना शुरू कर दिया हो ॥२२३॥

अथानन्तर वहाँ क्षण भरमें एक ऐसा विकराल सिंह प्रकट हुआ जो हाथियोंके रुधिरसे लाल-लाल दिखनेवाले जटाओंके समूहको बार-बार हिला रहा था, मृत्युके द्वारा भेजे हुए पत्रपर पड़ी अङ्गुलीकी रेखाके समान कुटिल भौंहको धारण कर रहा था। बीच-बीचमें प्रतिध्वनिसे युक्त वेगशाली भयङ्कर शब्द छोड़ रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त आकाशके खण्ड-खण्ड ही कर रहा हो। जो प्रलयकालीन अग्निकी ज्वालाके समान चञ्चल एवं अनेक प्राणियोंका क्षय करनेमें निपुण जिह्वाको मुखरूपी महागर्तमें बार-बार चला रहा था। जो जीवको

१. कृतोपमात् ख०, क०, म० । २. समाहरत् ख०, ब० । ३. आच्छादितम् । विहितं म० । ४. शीघ्रतोपेता । ५. शृगालीशब्दाः ।

जीवाकर्षां कुशाकारां दंष्ट्रां तीक्ष्णाग्रसंकटाम् । कुटिलां धारयन् रौद्रां मृत्योरपि भयङ्कराम् ॥२२७॥
उद्यत्प्रलयतीव्रांशुमण्डलप्रतिमे वहन् । स्फुरयन्ती दिशां चक्रं नेत्रे वित्रासकारिणी ॥२२८॥
मस्तकन्यस्तपुच्छाग्रो नखकोटिक्षतक्षितिः[1] । अष्टापदतटोरस्को जघनं घनमुद्वहन् ॥२२९॥
मृत्युर्दैत्यः[2] कृतान्तो नु प्रेतेशो नु कलिः क्षयः । अन्तकस्यान्तको नु स्याद्भास्करो नु तनूनपात् ॥२३०॥
इति[3] संजनिताशङ्कं जन्तुभिर्वीक्षितोऽखिलैः । आविर्बभूव तद्देशे केसरी विकटः क्षणात् ॥२३१॥
तस्य प्रतिनिनादेन पूरितोदारकन्दराः । भीता इवातिगम्भीरं [4]रुरुदुर्धरणीधराः ॥२३२॥
मुद्गरेणेव घोरेण शब्देनास्य तरस्विना । श्रोत्रयोस्ताडिताश्चक्रुरिति चेष्टाः शरीरिणः ॥२३३॥
लोचने मुकुलीकुर्वन्नभिदुर्गे महीभृति । शार्दूलो दर्पनिर्मुक्तः संचुकोप सवेपथुः ॥२३४॥
[5]शरपुष्पसमाकारहृष्टरोमाञ्चसंभ्रमः । [6]बभ्रूतरलगुञ्जाक्षो विवेश विवरं गिरेः ॥२३५॥
सारङ्गामुखविभ्रंसिदूर्वाकोमलपल्लवाः । यथापूर्वस्थयास्तस्थुर्भयस्तम्भितविग्रहाः ॥२३६॥
संभ्रान्तबभ्रुनेत्राणामुत्कर्णानां विचेतसाम् । [7]दानौघा निश्चलाङ्गानां मातङ्गानां विचिच्छिदुः ॥२३७॥
मण्डलस्यान्तरे कृत्वा शावकान् भयवेपितान् । तस्थुः [8]पशवङ्गना सङ्घा [9]यूथपन्यस्तलोचनाः ॥२३८॥
केसरिध्वनिवित्रस्ता कम्पमानशरीरिका । वपुराहारयोस्त्यागं चक्रे सालम्बमञ्जना ॥२३९॥

खींचनेवाली कुशाके समान तीक्ष्ण, नुकीली, सघन, कुटिल, रौद्र और मृत्युको भी भय उत्पन्न करनेवाली डाढ़को धारण कर रहा था । जो उदित होते हुए प्रलयकालीन सूर्य-बिम्बके समान लाल वर्ण एवं दिशाओंको व्याप्त करनेवाले भयङ्कर नेत्रोंसे युक्त था । जिसकी पूँछका अग्रभाग मस्तकपर रक्खा हुआ था, जो अपने नखाग्रसे पृथ्वीको खोद रहा था, जिसका वक्षःस्थल कैलाशके तटके समान चौड़ा था, जो स्थूल नितम्ब-मण्डलको धारण कर रहा था । और जिसे सब प्राणी ऐसी आशंका करते हुए देखते थे कि क्या यह साक्षात् मृत्यु है ? अथवा दैत्य है अथवा कृतान्त है, अथवा प्रेतराज है, अथवा कलिकाल है अथवा प्रलय है ? अथवा अन्तक (यमराज) का भी अन्त करनेवाला है ? अथवा सूर्य है ? अथवा अग्नि है ? ॥२२४–२३१॥ उसकी गर्जनाकी प्रतिध्वनिसे जिनकी बड़ी-बड़ी गुफाएँ भर गई थीं ऐसे पर्वत, ऐसे जान पड़ते थे मानो भयभीत हो अत्यन्त गम्भीर रुदन ही कर रहे हों ॥२३२॥ उसके मुद्गरके समान भयंकर वेगशाली शब्दसे कानोंमें ताड़ित हुए प्राणी नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करने लगते थे ॥२३३॥ जो सामने खड़े हुए दुर्गम पहाड़पर अपने दोनों नेत्र लगाये हुए था तथा अत्यन्त अहंकारसे युक्त था ऐसे उस सिंहने अंगड़ाई लेते हुए बहुत ही कोप प्रकट किया ॥२३४॥ जिसके शरीरमें तृण-पुष्पके समान रोमाञ्च निकल रहे थे तथा जिसके नेत्र गुमचीके समान लाल-पीले एवं चंचल थे ऐसे सिंहने पर्वतकी गुफामें प्रवेश किया ॥२३५॥ उसे देख जिनके मुखसे दूर्वा और कोमल पल्लवोंके ग्रास नीचे गिर गये थे तथा भयसे जिनका शरीर अकड़ गया था ऐसे हरिण ज्यों-के-त्यों खड़े रह गये ॥२३६॥ जिनके पीले-पीले नेत्र घूम रहे थे, कान खड़े हो गये थे, मनकी गति बन्द हो गई थी और शरीर निश्चल हो गया था ऐसे हाथियोंके मदके प्रवाह रुक गये ॥२३७॥ हरिणी आदि पशु-स्त्रियोंके जो समूह थे वे भयसे काँपते हुए बच्चोंको घेरेके भीतर कर खड़े हो गये । उन सबके नेत्र अपने झुण्डके मुखिया पर लगे हुए थे ॥२३८॥ जो सिंहकी गर्जनासे भयभीत हो रही थी तथा जिसका शरीर काँप रहा था ऐसी अञ्जनाने 'यदि उपसर्गसे जीती बचूँगी तो शरीर और आहार ग्रहण करूँगी अन्यथा नहीं' इस आलम्बनके साथ शरीर और आहारका त्याग कर

१. क्षतिः म० । २. दैत्यकृतोऽनुस्यात्प्रेतसोऽनु (?) म० । ३. इतीरां जनिता म० । ४. रुरुधुः म० । ५. शरत्पुष्पं समाकारो म० । ६. बभ्रूस्तरल म० । ७. दानौघनिश्चला- म० । ८. पुरुखगासंघा म० । ९. यूथविन्यस्त -ज० ।

उत्पत्य त्वरिता व्योम्नि सख्यस्यास्तदुद्धहाक्षमा । बभ्राम पक्षिणीबालं मण्डलेनाकुलात्मिका ॥२४०॥
भूयः समीपमाकाशमेति प्रेमगुणाहृता । पुनश्च तीव्रवित्रासात् प्रयाति नभसः शिरः ॥२४१॥
अथ ते सभये दृष्ट्वा विशीर्णहृदये शुभे । गन्धर्वस्तद्गुहावासी कारुण्याश्लेषमीयिवान् ॥२४२॥
समूचे मणिचूलाख्यं रत्नचूला निजाङ्गना । कारुण्येनोरुणा साध्वी चोदिता द्रुतभाषिणी ॥२४३॥
पश्य पश्य प्रिय ! त्रस्तां तां मृगेन्द्रादिह स्त्रियम् । एतत्प्रति समादिष्टां द्वितीयां च नभोऽङ्गणे ॥२४४॥
कुरु नाथ प्रसादं मे रक्षैतामतिविह्वलाम् । अभिजातां वरां नारीं कुतोऽपि विषमश्रिताम् ॥२४५॥
एवमुक्तोऽथ गन्धर्वो विकृत्य शरभाकृतिम् । त्रैलोक्यभीषणद्रव्यसंभारेणेव निर्मिताम् ॥२४६॥
हस्तत्रितयमात्रस्थामञ्जनामसमागतम् । सिंहं पुरोऽकरोद्देहरुद्धसानुकदम्बकः ॥२४७॥
तयोस्तत्राभवद्भीमः संघट्टो रवसंकुलः । विद्युद्द्योतितप्रावृड्घनलक्षं हसन्निव ॥२४८॥
एवंविधेऽपि संप्राप्ते काले वीरभयावहे । अञ्जनासुन्दरी चक्रे हृदये जिनपुङ्गवान् ॥२४९॥
इत्थं वसन्तमाला च मण्डलेन कृतभ्रमा । विललाप महादुःखा कुररीव नभस्तले ॥२५०॥
हा भर्तृदारिके पूर्वं दौर्भाग्यमसि संगता । तस्मिन्नपि गते कृच्छ्राद् वर्जिता सर्वबन्धुभिः ॥२५१॥
संप्राप्तासि वनं भीमं कथमप्यागतां गुहाम् । मुनिनाश्वासितासन्नप्रियावाप्तिनिवेदनात् ॥२५२॥

दिया ॥२३९॥ इसकी सखी वसन्तमाला इसे उठानेमें समर्थ नहीं थी इसलिए शीघ्रतासे आकाशमें उड़कर पक्षिणीकी तरह व्याकुल होती हुई मण्डलाकार भ्रमण कर रही थी—चक्कर लगा रही थी ॥२४०॥ वह अञ्जनाके प्रेम और गुणोंसे आकर्षित होकर बार-बार उसके पास आती थी पर तीव्र भयके कारण पुनः आकाशमें ऊपर चली जाती थी ॥२४१॥

अथानन्तर जिनके हृदय विशीर्ण हो रहे थे ऐसी उन दोनों स्त्रियोंको भयभीत देख उस गुफामें रहनेवाला गन्धर्व दयाके आलिङ्गनको प्राप्त हुआ अर्थात् उसे दया उत्पन्न हुई ॥२४२॥ उस गन्धर्वकी स्त्रीका नाम रत्नचूला था। सो बहुत भारी दयासे प्रेरित एवं शीघ्रतासे भाषण करनेवाली उस साध्वी रत्नचूलाने अपने पति मणिचूल नामा गन्धर्वसे कहा ॥२४३॥ कि हे प्रिय ! देखो देखो, सिंहसे भयभीत हुई एक स्त्री यहाँ स्थित है और उससे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी स्त्री आकाशाङ्गणमें चक्कर काट रही है ॥२४४॥ हे नाथ ! मेरे ऊपर प्रसाद करो और इस अत्यन्त विह्वल स्त्रीकी रक्षा करो। यह कुलवती उत्तम नारी किसी कारण इस विषम स्थानमें आ पड़ी है ॥२४५॥ इस प्रकार कहनेपर गन्धर्व देवने विक्रियासे अष्टापदका रूप बनाया। उसका वह रूप ऐसा जान पड़ता था मानो तीनों लोकोंमें जितने भयंकर पदार्थ हैं उन सबको इकट्ठाकर ही उसकी रचना की गई हो ॥२४६॥ अञ्जना और सिंहके बीचमें सिर्फ तीन हाथका अन्तर रह गया था कि इतनेमें ही अपने शरीरसे शिखरोंके समूहको आच्छादित करनेवाला अष्टापद सिंहके सामने आकर खड़ा हो गया ॥२४७॥ तदनन्तर वहाँ सिंह और अष्टापदके बीच भयंकर युद्ध हुआ। उनका वह युद्ध भयंकर गर्जनासे युक्त था और बिजलीसे प्रकाशित वर्षाकालिक मेघोंके समूहकी मानो हँसी ही उड़ा रहा था ॥२४८॥ इस प्रकार वहाँ शूरवीर मनुष्योंको भी भय उत्पन्न करनेवाला समय यद्यपि आया था तो भी अञ्जना निर्भय रहकर हृदयमें जिनेन्द्र देवका ध्यान करती रही ॥२४९॥ आकाशमें मण्डलाकार भ्रमण करती तथा महा दुःखसे भरी वसन्तमाला कुररीकी तरह इस प्रकार विलाप कर रही थी ॥२५०॥ हाय राजपुत्रि ! तुम पहले दौर्भाग्यको प्राप्त रही फिर जिस-किसी तरह कष्टसे दौर्भाग्य समाप्त हुआ तो समस्त बन्धुजनोंने तुम्हारा त्याग कर दिया ॥२५१॥ भयंकर वनमें आकर किसी तरह इस गुफामें आई और 'निकट कालमें

---

१. बालमण्डलेन म० । २. चोदिताद्भुतभाषिणी ब० । ३. एतद्भीतिसमा- म० । ४. आपद्गताम् । विषमाश्रिताम् म० । ५. विक्रियां कृत्वा । ६. -णैव निर्मितम् म० । ७. गताम् म० । ८. सिंहरिपुरकरोद्देहं म० । ९. कुटुम्बकम् क० ।

सा त्वं केसरिणो वक्त्रमधुना देवि यास्यसि । दंष्ट्राकरालमुद्वृत्तद्विरदक्षयकारणम्[1] ॥२५३॥
हा देवि ते गतः कालो दुर्जनस्य विधेर्वशात् । उपर्युपरिदुःखेन मम दुर्मतिकारणात्[2] ॥२५४॥
परित्रायस्व हा नाथ ! पवनञ्जय ! गेहिनीम् । हा महेन्द्र ! कथं नेमां तनयां परिरक्षसि ॥२५५॥
हा किं केतुमति क्रूरे मुधास्यां[3] त्वयका कृतम् । हा करुणे मनोवेगे तनयां किं न रक्षसि ॥२५६॥
मरणं राजपुत्रीयं प्राप्नोति विजने वने । कुरुत त्राणमेतस्याः कृपया वनदेवताः ॥२५७॥
मुनेरपि तथा तस्य लोकतत्त्वावबोधिनः । शुभार्थसूचनं वाक्यं संभवेदन्यथा किमु ॥२५८॥
आक्रन्दमिति कुर्वाणा दोलारूढेव विह्वला । चक्रे वसन्तमालाशु[4] स्वामिन्यन्तं गतागतम् ॥२५९॥
अथ भङ्गं[5] गतः सिंहः शरभेण तलाहतः । अन्तर्दधे कृतार्थश्च शरभो निलये निजे ॥२६०॥
ततः स्वप्नोपमं दृष्ट्वा विरतं युद्धमेतयोः । द्रुतं वसन्तमालागात् स्वेदिगात्रा पुनर्गुहाम् ॥२६१॥
अन्तःपल्लवकान्ताभ्यां हस्ताभ्यां कृतमार्गणा । क्वासि क्वासीति भीशेषात्कृतगद्गदनिस्वना ॥२६२॥
ज्ञात्वा वसन्तमाला तां स्पर्शनात्यन्तनिश्चलाम् । तां प्रतिप्राणनाशङ्कासमाकुलितमानसा ॥२६३॥
म्रियसे देवि देवीति चालयन्ती पुनः पुनः । जगाद स्वामिनीवक्षोविन्यस्तकरपल्लवा ॥२६४॥
ततोऽसौ तत्करस्पर्शादागतस्पष्टचेतना । चिरात्सखीयमस्मीति जगादास्पष्टया गिरा ॥२६५॥
ततस्ते सङ्गमात्प्राप्य कियतीमपि निर्वृतिम् । पुनर्जन्मेव मेनाते लब्धसंभाषणोद्यते ॥२६६॥

ही पतिका समागम प्राप्त होगा' यह कहकर मुनिराजने आश्वासन दिया पर अब हे देवि ! तुम सिंहके उस मुखमें जा रही हो जो डाढ़ोंसे भयंकर हैं तथा उद्दण्ड हाथियोंके क्षयका कारण है ॥२५२–२५३॥ हाय देवि ! दुष्ट विधाताके वश और मेरी दुर्बुद्धिके कारण तुम्हारा समय उत्तरोत्तर दुःखसे ही व्यतीत हुआ ॥२५४॥ हा नाथ पवनञ्जय ! अपनी गृहिणीकी रक्षा करो । हा महेन्द्र ! तुम इस पुत्रीकी रक्षा क्यों नहीं करते हो ? ॥२५५॥ हा दुष्टा केतुमति ! तूने व्यर्थ ही इसके विषयमें क्या अनर्थ किया ? हा दयावती मनोवेगे ! अपनी पुत्रीकी रक्षा क्यों नहीं कर रही हो ? ॥२५६॥ यह राजपुत्री निर्जन वनमें मरणको प्राप्त हो रही है । हे वनदेवताओ ! कृपा कर इसकी रक्षा करो ॥२५७॥ लोकके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले उन मुनिके शुभसूचक वचन भी क्या अन्यथा हो जावेंगे ? ॥२५८॥ इस प्रकार रुदन करती तथा झूला पर चढ़ी हुईके समान विह्वल वसन्तमाला जल्दी-जल्दी स्वामिनीके समीप गमन तथा आगमन कर रही थी अर्थात् साहस कर समीप आती थी फिर भयकी तीव्रतासे दूर हट जाती थी ॥२५९॥

अथानन्तर अष्टापदकी चपेटसे आहत होकर सिंह नष्ट हो गया और कृतकृत्य होकर अष्टापद अपने स्थानमें अन्तर्हित हो गया ॥२६०॥ तदनन्तर स्वप्नके समान दोनोंका युद्ध समाप्त हुआ देख पसीनासे लथ-पथ वसन्तमाला शीघ्र ही गुहामें आई ॥२६१॥ गुहाके भीतर पल्लवके समान कोमल हाथोंसे अञ्जनाको खोजती हुई वसन्तमाला कह रही थी कि कहाँ हो ? कहाँ हो ? उस समय भी उसका पूरा भय नष्ट नहीं हुआ था इसलिए आवाज गद्गद निकल रही थी ॥२६२॥ वसन्तमालाने हाथके स्पर्शसे जाना कि यह बिलकुल निश्चल पड़ी हुई है । इसलिए उसका मन 'यह जीवित है या नहीं' इस आशङ्कासे व्याकुल हो उठा ॥२६३॥ वह उसके वक्षःस्थल पर हाथ रखकर बार-बार उकसाती हुई कह रही थी कि हे देवि ! देवि ! जिन्दा हो ? ॥२६४॥ तदनन्तर वसन्तमालाके हाथके स्पर्शसे जब अञ्जनाको चेतना आई और कुछ देर बाद उसने समझ लिया कि यह सखी है तब अस्पष्ट वाणीमें उसने कहा कि 'मैं हूँ' ॥२६५॥ तत्पश्चात् वे दोनों सखियाँ परस्पर मिलकर अनिर्वचनीय सुखको प्राप्त हुई और अवसरके अनुसार वार्त्तालाप करनेमें उद्यत

---

१. कारिणम् ख० । २. दुर्गतिकारणात् म० । ३. मुद्रास्या त्वयि का कृता म० । ४. माला तु म० । ५. भङ्गगतः म०, ख० ।

भयशेषेण चार्भालां मुग्धे तां जग्मतुर्निशाम् । समासमां कृताशेषबन्धुनैष्ठुर्यसंकथे ॥२६७॥
ततो विध्वस्य नागारिं[1] नागारिरिव[2] पन्नगम् । प्रमोदवानसौ मद्यं[3] पीतवान् सुमहागुणम् ॥२६८॥
गन्धर्वकान्तयावाचि गन्धर्वो लब्धवर्णया । तदूरौ बाहुमाधाय[4] तरत्तारकनेत्रया ॥२६९॥
स्थानकं[5] यच्छ मे नाथ [6]जिगासाम्यधुनोचितम् । उपदेशो[7] हि गातव्यं कादम्बर्यामनुत्तमम् ॥२७०॥
शेषं साध्वसमेते च वनिते परिमुञ्चतः । श्रुत्वा नौ मधुरं गीतं देवीयं हृदयंगमम् ॥२७१॥
अर्धरात्रे ततस्तस्मिन्नन्यशब्दविवर्जिते । संस्कृत्यावीवदद्वीणां गन्धर्वः श्रोत्रहारिणीम् ॥२७२॥
कांसिके वादयन्ती च प्रियवक्त्राहितेक्षणा । रत्नचूला जगौ मन्दं मुनिक्षोभणकारणम् ॥२७३॥
तयोर्घनं कृतं वाद्यं सुषिरं च कृतं ततम् । परिवर्गेण गम्भीरकरतलक्रमोचितम् ॥२७४॥
पाणिघैरेकतानेन मन्द्रध्वनिसमन्वितम् । तथा वैणविकैर्वाद्यं प्रवीणैर्भ्रूविलासिभिः[8] ॥२७५॥
प्रवीणाभः प्रवालाभां वीणां चारूपमानिकाम् । कोणेनाताडयद्यक्षो गन्धर्वः काकलीबुधः ॥२७६॥
मध्यमर्षभगान्धारषड्जपञ्चमधैवतान् । निषादसप्तमांश्चक्रे स स्वरान्क्रममत्यजन् ॥२७७॥
भेजे वृत्तीर्यथास्थानं द्रुतमध्यविलम्बिताः । एकविंशतिसंख्याश्च मूर्च्छना नर्तितेक्षणाः ॥२७८॥
हाहाहूहूसमानं स गानं चक्रेऽथवाधिकम् । प्रायो गन्धर्वदेवानां प्रसिद्धिमिदमागतम् ॥२७९॥

हो ऐसा समझने लगीं मानो हम लोगोंका दूसरा ही जन्म हुआ है ॥२६६॥ भय शेष रहनेसे उन भोलीभाली स्त्रियोंने उस भयावनी रात्रिको वर्षके बराबर भारी समझा। वे सारी रात जागकर समस्त बन्धुजनोंकी निष्ठुरताकी चर्चा करती रहीं ॥२६७॥

तदनन्तर जिस प्रकार गरुड़ साँपको नष्ट कर देता है उसी प्रकार गन्धर्व सिंहको नष्ट कर बड़ा हर्षित हुआ और हर्षित होकर उसने महागुणकारी मद्यका पान किया ॥२६८॥ जिसके नेत्र चञ्चल हो रहे थे ऐसी गन्धर्वकी विदुषी स्त्रीने उसकी जाँघ पर अपनी भुजा रख गन्धर्वसे कहा कि ॥२६९॥ हे नाथ ! मुझे अवसर दीजिए मैं इस समय कुछ गाना चाहती हूँ क्योंकि मद्यपानके अनन्तर उत्तम गाना गाना चाहिए ऐसा उपदेश है ॥२७०॥ साथ ही हम दोनोंका मधुर दिव्य एवं हृदयहारी संगीत सुनकर ये दोनों स्त्रियाँ अवशिष्ट भयको भी छोड़ देंगी ॥२७१॥ तदनन्तर जब अर्धरात्रि हो गई और किसी दूसरेका शब्द भी सुनाई नहीं पड़ने लगा तब गन्धर्वने कानोंको हरनेवाली वीणा ठीककर बजाना शुरू किया ॥२७२॥ और उसकी स्त्री रत्नचूला पतिके मुखपर नेत्र धारण कर मंजीरा बजाती हुई धीरे-धीरे गाने लगी। उसका वह गाना मुनियोंको भी क्षोभ उत्पन्न करनेका कारण था ॥२७३॥ उस समय उन दोनोंके बीच घन, वाद्य, सुषिर और तत इन चारों प्रकारके बाजोंका प्रयोग चल रहा था और परिजनके अन्य लोग गम्भीर हाथोंसे क्रमानुसार योग्य ताल दे रहे थे ॥२७४॥ तबला बजानेमें निपुण देव एकचित्त होकर गम्भीर ध्वनिके साथ तबला बजा रहे थे तो बाँसुरी बजानेमें चतुर देव भौंह चलाते हुए अच्छी तरह बाँसुरी बजा रहे थे ॥२७५॥ उत्तम आभाको धारण करनेवाला यक्ष प्रवालके समान कान्तिवाली तथा सुन्दर उपमासे युक्त वीणाको तमूरेसे बजा रहा था। तो स्वरोंकी सूक्ष्मताको जाननेवाला गन्धर्व, क्रमको नहीं छोड़ता हुआ मध्यम, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, पञ्चम, धैवत और निषाद इन सात स्वरोंको निकाल रहा था ॥२७६–२७७॥ गाते समय वह गन्धर्व द्रुता, मध्या और विलम्बिता इन तीन वृत्तियोंका यथास्थान प्रयोग करता था और जिनसे नेत्र नाच उठते हैं, ऐसी इक्कीस मूर्च्छनाओं का भी यथावसर उपयोग करता था ॥२७८॥ वह देवोंके गवैया जो हाहा हूहू हैं उनके समान अथवा उनसे भी अधिक उत्तम गान गा रहा था और प्रायःकर गन्धर्व देवोंमें यही गान

१. सिंहम् । २. गरुड इव । ३. मद्यः प्रीतवान् सुमहागुणम् । ४. -मादाय म० । ५. स्वनकं म० । ६ जिशासाम्य म० । ७. उपदेशा ब०, ज० । उपदंशो ख० । ८. विलासिनः म० ।

स्वनान्येकोनपञ्चाशत्सं[1] जगौ परिनिष्ठितम् । जिनेन्द्रगुणसंबद्धैर्वचनैर्ललिताक्षरैः ॥२८०॥

विद्युन्मालावृत्तम्

[2]देवादेवैर्भक्तिप्रह्वैः पुष्पैरर्घैर्नानागन्धैः । अर्चामुच्चैर्नीतं वन्द्यं देवं भक्त्या त्वामर्हन्तम् ॥२८१॥

आर्यागीतिच्छन्दः

त्रिभुवनकुशलमतिशय-पूतं [नित्यं] नमामि भक्त्या परया ।
मुनिसुव्रतचरणयुगं सुरपतिमुकुटप्रवृत्तनखमणिकिरणम् ॥२८२॥

अनुष्टुप्

ततो वसन्तमाला तद्गेयमत्यन्तशोभनम् । प्रशशंसाश्रुतपूर्वं विस्मयव्याप्तमानसा ॥२८३॥
अहो गीतमहो गीतं केनाप्येतन्मनोहरम् । आर्द्रीकृतमिवानेन हृदयं मे सुधामुचा ॥२८४॥
स्वामिनीं च जगादैवं देवि कोऽप्यनुकम्पकः । देवोऽयं येन नौ रक्षा कृता केसरिनोदनात् ॥२८५॥
मन्येऽस्मद्वृत्तयेऽनेन गीतमेतच्छ्[3]रुतिप्रियम् । [4]श्रुताबलाकलध्वानमन्तरे सकलाङ्ककम् ॥२८६॥
देवि शीलवती कस्य नानुकम्प्यासि शोभने । महारण्येऽपि भव्यानां भवन्ति सुहृदो जनाः ॥२८७॥
उपसर्गस्य विध्वंसादेतस्मात्ते सुनिश्चितः । भविता प्रियसंपर्कः किं वा वक्त्यन्यथा मुनिः ॥२८८॥
तस्मात्साधुमिमं देवं समाश्रित्य कृतोचितम् । मुनिपर्यङ्कपूतायां गुहायामत्र[5] संश्रयात् ॥२८९॥
मुनिसुव्रतनाथस्य विन्यस्य प्रतियातनाम् । अर्चयन्त्यौ सुखप्राप्त्यै [6]स्वामोदैः कुसुमैरलम् ॥२९०॥
सुखप्रसूतिमेतस्य गर्भस्याध्यायचेतसि । विस्मृत्य वैरहं दुःखं समयं किञ्चिदास्वहे ॥२९१॥

प्रसिद्धिको प्राप्त है ॥२७६॥ वह उच्छ्वास ध्वनियोंमें गा रहा था तथा उसका वह समस्त गान जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंसे सम्बन्ध रखनेवाले मनोहर अक्षरोंसे युक्त वचनावलीसे निर्मित था ॥२८०॥ वह गा रहा था कि भक्तिसे नम्रीभूत सुर-असुर पुष्प, अर्घ तथा नाना प्रकारकी गन्धसे जिनकी उत्तम पूजा करते हैं ऐसे देवाधिदेव वन्दनीय अरहन्त भगवान्‌को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥२८१॥ उसने यह भी गाया कि मैं श्री मुनिसुव्रतभगवान्‌के उस चरण युगलको उत्कट भक्तिसे नमस्कार करता हूँ जो त्रिभुवनकी कुशल करनेवाला है, अत्यन्त पवित्र है और इन्द्रके मुकुटका सम्बन्ध पाकर जिसके नखरूपी मणियोंसे किरणें फूट पड़ती हैं ॥२८२॥

तदनन्तर जिसका मन आश्चर्यसे व्याप्त था ऐसी वसन्तमालाने उस अश्रुतपूर्व तथा अत्यन्त सुन्दर संगीतकी बहुत प्रशंसा की ॥२८३॥ वह कहने लगी कि वाह ! वाह ! यह मनोहर गान किसने गाया है । इस अमृतवर्षी गवैयाने तो मेरा हृदय मानो गीला ही कर दिया है ॥२८४॥ उसने स्वामिनीसे कहा कि हे देवि ! यह कोई देव है जिसने सिंह भगाकर हम लोगोंकी रक्षा की है ॥२८५॥ जिसके बीचमें स्त्रीका मधुर शब्द सुनाई देता था तथा जो संगीतके समस्त अङ्गोंसे सहित था ऐसा यह कर्णप्रिय गाना, जान पड़ता है इसने हम लोगोंके लिए ही गाया है ॥२८६॥ हे देवि ! हे शोभने ! उत्तम शीलको धारण करनेवाली ! तू किसकी दया-पात्र नहीं है ? भव्य जीवोंको महा अटवीमें भी मित्र मिल जाते हैं ॥२८७॥ इस उपसर्गके दूर होनेसे यह सुनिश्चित है कि तुम्हारा पतिके साथ समागम होगा । अथवा क्या मुनि भी अन्यथा कहते हैं ? ॥२८८॥ इसलिए इस उत्तम देवका यथोचित आश्रय लेकर मुनिराजकी पद्मासनसे पवित्र इस गुफामें श्री मुनिसुव्रत भगवानकी प्रतिमा विराजमान कर सुख-प्राप्तिके लिए अत्यन्त सुगन्धित फूलोंसे उसकी पूजा करती हुई हम दोनों कुछ समय तक यहीं रहें । इस गर्भकी सुखसे

१. स जगौ म० । २. सुरासुरैः । ३. -च्छ्रुतप्रियम् म० । ४. कृत्वा कलकलध्वानमन्तरे म० । श्रुत्वाबलाब- ब० । ५. -मघसंक्षयात् म० । ६. सुष्ठु आमोदो येषां तैः । स्वमोदैः म० ।

त्वत्सङ्गमं समासाद्य प्रमोदं परमागतः । नैर्झरैः शीकरैरेष हसतीव महीधरः ॥२६२॥
फलभारविनम्राग्रा लसत्कोमलपल्लवाः । पुष्पहासकृतो वृक्षा इमे तोषमुपागताः ॥२६३॥
मयूरसारिकाकीरकोकिलादिकलस्वनैः । कृतजल्पा इवैतस्य वनाभोगा महीभृतः ॥२६४॥
नानाधातुकृतच्छायास्तरुसंघातवाससः । अस्मिन् गुहा विराजन्ते कुसुमामोदवासिताः ॥२६५॥
जिनपूजनयोग्यानि पङ्कजानि सरस्सु हि । विद्यन्ते तव वक्त्रस्य धारयन्ति समानताम् ॥२६६॥
विधत्स्व धृतिमत्रेशे माभूश्चिन्तावशात्मिका । कल्याणमत्र ते सर्वं जनयिष्यन्ति देवताः ॥२६७॥
अधुना दिनवक्त्रे ते विज्ञायेवानघं वपुः । कोलाहलकृतो[२] जाताः प्रमोदेन पतत्त्रिणः ॥२६८॥
पलाशाग्रस्थितानेते वृक्षा मन्दानिलेरितान् । मुञ्चन्त्यानन्दबाष्पाभानवश्यायकणान् जडान् ॥२६९॥
संप्रेष्य प्रथमं संध्यां दूतीमिव सरागिकाम् । उदन्तं ते परिज्ञातुमेष भानुः समुद्गतः ॥३००॥
एवमुक्ताञ्जनावोचत्सखि मे सर्वबान्धवाः । त्वमेव त्वयि सत्यां च ममेदं विपिनं पुरम् ॥३०१॥
आपन्मध्योत्सवावस्थाः सेवते यस्य यो जनः । स तस्य बान्धवो बन्धुरपि शत्रुरसौख्यदः ॥३०२॥
इत्युक्त्वा देवदेवस्य विन्यस्य प्रतियातनाम् । पूजयन्त्यौ स्थिते तत्र ते विद्याकृतवर्तने[३] ॥३०३॥
गन्धर्वोऽप्यनयोश्चक्रे सर्वतः परिरक्षणम् । आतोद्यं प्रत्यहं कुर्वन् कारुण्याज्जिनभक्तितः ॥३०४॥

प्रसूति हो जाय चित्तमें इसी बातका ध्यान रखें और विरह-सम्बन्धी सब दुःख भूल जावें ॥२८६-२९१॥ तुम्हारा समागम पाकर परम हर्षको प्राप्त हुआ। यह पर्वत झरनोंके जल-कणोंके बहाने मानो हँस ही रहा है ॥२९२॥ जिनके अग्रभाग फलोंके भारसे झुक रहे हैं, जिनके कोमल पल्लव लहलहा रहे हैं और जो पुष्पोंके बहाने हँसी प्रकट कर रहे हैं ऐसे ये वृक्ष तुम्हारे समागमसे ही मानो परम संतोषको प्राप्त हो रहे हैं ॥२९३॥ इस पर्वतके जङ्गली मैदान मोर, मैना, तोता तथा कोयल आदिकी मधुर ध्वनिसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो वार्त्तालाप ही कर रहे हों ॥२९४॥ जिनमें गेरू आदि नाना धातुओंकी कान्ति छाई हुई है, जिनपर वृक्षोंके समूह वस्त्रके समान आवरण किये हुए हैं और जो फूलोंकी सुगन्धिसे सुवासित हैं ऐसी इस पर्वतकी गुफाएँ स्त्रियोंके समान सुशोभित हो रहीं हैं ॥२९५॥ तालाबोंमें जिनेन्द्र देवकी पूजा करनेके योग्य जो कमल फूल रहे हैं वे तुम्हारे मुखकी समानता धारण करते हैं ॥२९६॥ हे स्वामिनि ! यहाँ धैर्य धारण करो, चिन्ताकी वशीभूत मत होओ। यहाँ देवता तुम्हारा सब प्रकारका कल्याण करेंगे ॥२९७॥ अब दिनके प्रारम्भमें पक्षी चिहक रहे हैं सो ऐसा जान पड़ता है कि तुम्हारे शरीरकी स्वस्थता जानकर हर्षसे मानो कोलाहल ही कर रहे हैं ॥२९८॥ ये वृक्ष पत्तोंके अग्रभागमें स्थित तथा मन्द-मन्द वायुसे प्रेरित शीतल ओसके कणोंको छोड़ रहे हैं सो ऐसे जान पड़ते हैं मानो हर्षके आँसू ही छोड़ रहे हों ॥२९९॥ तुम्हारा वृत्तान्त जाननेके लिए सर्व-प्रथम दूतीके समान रागवती (लालिमासे युक्त) सन्ध्याको भेजकर अब पीछेसे यह सूर्य स्वयं उदित हो रहा है ॥३००॥

वसन्तमालाके ऐसा कहनेपर अञ्जनाने उत्तर दिया कि हे सखि ! मेरे समस्त बान्धव तुम्हीं हो। तेरे रहते हुए मुझे यह वन नगरके समान है ॥३०१॥ जो मनुष्य जिसके आपत्तिकाल, मध्यकाल और उत्सवकाल अर्थात् सभी अवस्थाओंमें सेवा करता है वही उसका बन्धु है तथा जो दुःख देता है वह बन्धु होकर भी शत्रु है ॥३०२॥ इतना कहकर वे दोनों गुफामें देवाधिदेव मुनि सुव्रतनाथकी प्रतिमा विराजमान कर उसकी पूजा करती हुई रहने लगीं। विद्याके बलसे उनके भोजनकी व्यवस्था होती थी ॥३०३॥ जिनेन्द्र भगवान्‌की भक्तिसे प्रतिदिन सङ्गीत करता हुआ गन्धर्वदेव भी करुणा भावसे इन दोनों स्त्रियोंकी सबसे रक्षा करता था ॥३०४॥

१. माभूच्चिन्ता म० । २. क्रियन्तप्रयोगः । ३. विद्याकृतभोजने ।

अथान्यदाञ्जनावोचत् कुक्षिर्मे चलितः सखि । आकुलेव च जातास्मि किमिदं नु भविष्यति ॥३०५॥
ततो वसन्तमालोचे समयः शोभने तव । अवश्यं प्रसवस्यैष प्राप्तो भव सुखस्थिता ॥३०६॥
ततो विरचिते तल्पे तया कोमलपल्लवैः । असूत सा सुतं चार्वी प्राचीवाशा विरोचनम् ॥३०७॥
जातेन सा गुहा तेन तेजसा गात्रजन्मना । हिरण्मयीव संजाता निर्धूतध्वान्तसंचया ॥३०८॥
ततस्तमङ्कमारोप्य प्रमोदस्यापि गोचरे[1] । स्मृतोभयकुला दैन्यं[2] प्राप्ता प्ररुदिताभवत् ॥३०९॥
विललाप महावत्स ! कथं ते जननोत्सवः । क्रियतां मैयकैतस्मिञ्जनस्य[3] गहने वने ॥३१०॥
स्थानेऽजनिष्यथाश्चेत्त्वं पितुर्मातामहस्य वा । अभविष्यन्महानन्दो जनोन्मत्तकारकः ॥३११॥
मुखचन्द्रमिमं दृष्ट्वा तव चारुविलोचनम् । न भवेद्विस्मयं कस्य भुवने शुभचेतसः ॥३१२॥
करोमि मन्दभाग्या किं सर्ववस्तुविवर्जिता । विधिनाहं दशामेतां प्रापिता दुःखदायिनीम् ॥३१३॥
जन्तुना सर्ववस्तुभ्यो वाञ्छ्यते दीर्घजीविता । यस्मात्त्वं जीविताचस्मान्मम वत्स परां स्थितिम् ॥३१४॥
ईदृशे पतितारण्ये सद्यः प्राणापनोदिनि । यज्जीवामि तवैवायमनुभावः सुकर्मणः ॥३१५॥
मुञ्चन्तीमिति तां वाचं जगादैवं हिता सखी । देवि कल्याणपूर्णा त्वं या प्राप्तासीदृशं सुतम् ॥३१६॥
चारुलक्षणपूर्णोऽयं दृश्यतेऽस्य शुभा तनुः । अत्यन्तमहतीमृद्धिं वहत्येषा मनोहरा ॥३१७॥
षट्पदैः कृतसंगीताश्चलत्कोमलपल्लवाः । तव पुत्रोत्सवादेता नृत्यन्तीव लताङ्गनाः ॥३१८॥
तवास्य चानुभावेन बालस्याबालतेजसः । भविष्यत्यखिलं भद्रं मोन्मनीभूरनर्थकम् ॥३१९॥

अथानन्तर किसी दिन अञ्जना बोली कि हे सखि ! मेरी कूख चञ्चल हो रही है और मैं व्याकुल-सी हुई जा रही हूँ, यह क्या होगा ? ॥३०५॥ तब वसन्तमालाने कहा कि हे शोभने ! अवश्य ही तेरे प्रसवका समय आ पहुँचा है इसलिए सुखसे बैठ जाओ ॥३०६॥ तदनन्तर वसन्तमालाने कोमल पल्लवोंसे शय्या बनाई सो उसपर, जिस प्रकार पूर्वदिशा सूर्यको उत्पन्न करती है उसी प्रकार अञ्जनासुन्दरीने पुत्र उत्पन्न किया ॥३०७॥ पुत्र उत्पन्न होते ही उसके शरीर सम्बन्धी तेजसे गुफाका समस्त अन्धकार नष्ट हो गया और गुफा ऐसी हो गई मानो सुवर्णकी ही बनी हो ॥३०८॥ यद्यपि वह हर्षका समय था तो भी अञ्जना दोनों कुलोंका स्मरणकर दीनताको प्राप्त हो रही थी और इसीलिए वह पुत्रको गोदमें ले रोने लगी ॥३०९॥ वह विलाप करने लगी कि हे वत्स ! मनुष्यके लिए भय उत्पन्न करनेवाले इस सघन वनमें मैं तेरा जन्मोत्सव कैसे करूँ ? ॥३१०॥ यदि तू पिता अथवा नानाके घर उत्पन्न हुआ होता तो मनुष्योंको उन्मत्त बना देनेवाला महा-आनन्द मनाया जाता ॥३११॥ सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित तेरे इस मुखचन्द्रको देखकर संसारमें किस सहृदय मनुष्यको आश्चर्य उत्पन्न नहीं होगा ॥३१२॥ क्या करूँ ? मैं मन्दभागिनी सब वस्तुओंसे रहित हूँ । विधाताने मुझे यह सर्वदुःख-दायिनी अवस्था प्राप्त कराई है ३१३॥ चूँकि संसारके प्राणी सब वस्तुओंसे पहले दीर्घायुष्यकी ही इच्छा रखते हैं इसलिए हे वत्स ! मेरा आशीर्वाद है कि तू उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जीवित रहे ॥३१४॥ तत्काल प्राण हरण करनेवाले ऐसे जङ्गलमें पड़ी रहकर भी जो मैं जीवित हूँ यह तुम्हारे पुण्य कर्मका ही प्रभाव है ॥३१५॥ इस प्रकार वचन बोलती हुई अञ्जनासे हितकारिणी सखीने कहा कि हे देवि ! चूँकि तुमने ऐसा पुत्र प्राप्त किया है इसलिए तुम कल्याणोंसे परिपूर्ण हो ॥३१६॥ यह पुत्र उत्तम लक्षणोंसे युक्त दिखाई देता है । इसका यह शुभ सुन्दर शरीर अत्यधिक सम्पदाको धारण कर रहा है ॥३१७॥ जिनपर भ्रमर सङ्गीत कर रहे हैं और जिनके कोमल पल्लव हिल रहे हैं ऐसी ये लताएँ तुम्हारे पुत्रके जन्मोत्सवसे मानो नृत्य ही कर रही हैं ॥३१८॥ उत्कट तेजको धारण करनेवाले इस बालकके प्रभावसे सब कुछ ठीक होगा । तुम व्यर्थ ही खेद-खिन्न न हो ॥३१९॥

१. गोचरम् म० । २. दैन्यप्राप्ता म०, ज०, क०, ख० । ३. किं मयैतस्मिन् म० ।

एवं तयोः समालापे वर्तमाने नभस्तले । क्षणेनाविरभूतुङ्गं विमानं भास्करप्रभम् ॥३२०॥
ततो वसन्तमाला तं दृष्ट्वा देव्यै न्यवेदयद् । विप्रलापं ततो भूयः सैवमाशङ्कयाकरोत् ॥३२१॥
कोऽप्यकारणवैरी मे [1]किमेषोऽपनयेत्सुतम् । उताहो बान्धवः कश्चिद्भवेदेष समागतः ॥३२२॥
विप्रलापं ततः श्रुत्वा तद्विमानं चिरं स्थितम् । अवातरत्कृपायुक्तो विद्याभृद्वियदङ्गणात् ॥३२३॥
स्थापयित्वा गुहाद्वारि विमानं स ततोऽविशत् । पत्नीभिः सहितः शङ्कां वहमानो महानयम् ॥३२४॥
वसन्तमालया दत्ते स्वागतेऽसौ सुमानसः । उपाविशत्स्वभृत्येन प्रापिते च समासने ॥३२५॥
ततः क्षणमिव स्थित्वा स भारत्या गभीरया । सारङ्गानुत्सुकां[2] कुर्वन् घनगर्जितशङ्किनः ॥३२६॥
ऊचे तां विनयं बिभ्रत्परं स्वागतदायिनीम् । दशनज्योत्स्नया कुर्वन् बालभासं विमिश्रिताम्[3] ॥३२७॥
सुमर्यादे वदेयं का दुहिता कस्य वा शुभा । पत्नी वा कस्य कस्माद्वा महारण्यमिदं श्रिता ॥३२८॥
घटते नाकृतेरस्याः समाचारो विनिन्दितः । ततः कथमिमं प्राप्ता विरहं सर्वबन्धुभिः ॥३२९॥
भवन्त्येवाथवा लोके प्रायोऽकारणवैरिणः । माध्यस्थ्येऽपि निषण्णानां प्रेरिताः पूर्वकर्मभिः ॥३३०॥
ततो दुःखभरोद्वेलवाष्पसंरुद्धकण्ठिका । कृच्छ्रेणोवाच [4]सा मन्दं भूतलन्यस्तवीक्षणा ॥३३१॥
महानुभाव वाचैव ते विशिष्टं मनः शुभम् । रोगमूलस्य हि च्छाया न स्निग्धा जायते तरोः ॥३३२॥
भावप्रवेदनस्थानं गुणिनस्त्वादृशा यतः । निवेदयामि ते तेन शृणु जिज्ञासितं पदम् ॥३३३॥
दुःखं हि नाशमायाति सज्जनाय निवेदितम् । महतां ननु शैलीयं यदापद्गततारणम् ॥३३४॥

इस प्रकार उन दोनों सखियोंमें वार्तालाप चल ही रहा था कि उसी क्षण आकाशमें सूर्यके समान प्रभा वाला एक ऊँचा विमान प्रकट हुआ ॥३२०॥ तदनन्तर वसन्तमालाने वह विमान देखकर अञ्जनाको दिखलाया सो अञ्जना आशङ्कासे पुनः ऐसा विप्रलाप करने लगी कि ॥३२१॥ क्या यह मेरा कोई अकारण वैरी है जो पुत्रको छीन ले जायगा? अथवा कोई मेरा भाई ही आया है ॥३२२॥ तदनन्तर अञ्जनाका उक्त विप्रलाप सुनकर वह विमान देरतक खड़ा रहा फिर कुछ देर बाद एक दयालु विद्याधर आकाशाङ्गणसे नीचे उतरा ॥३२३॥ गुफाके द्वारपर विमान खड़ाकर वह विद्याधर भीतर घुसा। उसकी पत्नियाँ उसके साथ थीं और वह मन-ही-मन शङ्कित हो रहा था ॥३२४॥ वसन्तमालाने उसका स्वागत किया। तदनन्तर अपने सेवकके द्वारा दिये हुए सम आसनपर वह सहृदय विद्याधर बैठ गया ॥३२५॥ तत्पश्चात् क्षणभर ठहरकर अपनी गम्भीर वाणीसे मेघगर्जनाकी शङ्का करनेवाले चातकोंको उत्सुक करता हुआ बड़ी विनयसे स्वागत करनेवाली वसन्तमालासे बोला। बोलते समय वह अपने दाँतोंकी कान्तिसे बालककी कान्तिको मिश्रित कर रहा था ॥३२६-३२७॥ उसने कहा कि हे सुमर्यादे! बता यह किसकी लड़की है? किसकी शुभपत्नी है और किस कारण इस महावनमें आ पड़ी है? ॥३२८॥ इसकी आकृतिसे निन्दित आचारका मेल नहीं घटित होता। फिर यह समस्त बन्धुजनोंके साथ इस विरह को कैसे प्राप्त होगई? ॥३२९॥ अथवा यह संसार है इसमें माध्यस्थ्यभावसे रहनेवाले लोगोंके भी पूर्व कर्मोंसे प्रेरित अकारण वैरी हुआ ही करते हैं ॥३३०॥

तदनन्तर दुःखके भारसे अत्यधिक निकलते हुए वाष्पोंसे जिसका कण्ठ रुक गया था ऐसी वसन्तमाला पृथ्वीपर दृष्टि डालकर धीरे-धीरे बोली ॥३३१॥ कि हे महानुभाव! आपके वचनसे ही आपके विशिष्ट शुभ हृदयका पता चलता है क्योंकि जो वृक्ष रोगका कारण होता है उसकी छाया स्निग्ध अथवा आनन्ददायिनी नहीं होती है ॥३३२॥ चूँकि आप जैसे गुणी मनुष्य अभिप्राय प्रकट करनेके पात्र हैं अतः आपके लिए जिसे आप जानना चाहते हैं वह कहती हूँ, सुनिए ॥३३३॥ यह नीति है कि सज्जनके लिए बताया हुआ दुःख नष्ट हो जाता है क्योंकि

१. किमथोपनयेत्सुतम् म०। २. -नुत्सुकीकुर्वन् म०। ३. विमिश्रितम् म०। ४. सानन्दं ख०, ज०, म०, ब०।

श्रृण्वेषा विष्टपव्यापियशसो विमलात्मनः । सुता महेन्द्रराजस्य नामतः प्रथिताञ्जना ॥३३५॥
प्रह्लादराजपुत्रस्य गुणाकूपारचेतसः । पत्नी पवनवेगस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥३३६॥
सोऽन्यदा स्वैरविज्ञातः कृत्वास्यां गर्भसंभवम् । शासनाज्जनकस्यागाद्रावणस्य सुहृद्युधे ॥३३७॥
दुःस्वभावतया श्वश्र्वा ततः कारुण्यमुक्तया । मूढया जानकं[1] गेहं प्रेषितेयं मलोज्झिता ॥३३८॥
ततो नादात्पिताप्यस्याः स्थानं[2] भीतेरकीर्तितः । अलीकादपि हि प्रायो दोषाद्बिभ्यति सज्जनाः ॥३३९॥
सेयमालम्बनैर्मुक्ता सकलैः कुलबालिका । मृगीसामान्यमध्यस्थान्[3]महारण्यं समं मया ॥३४०॥
एतत्कुलक्रमायाता भृत्यास्म्यस्याः[4] सुचेतसः । विश्रम्भपदतां नीता प्रसादपरयानया ॥३४१॥
सेयमद्य प्रसूता तु वने नानोपसर्गके । न जानामि कथं साध्वी भविष्यति सुखाश्रया ॥३४२॥
निवेदितमिदं साधोर्वृत्तमस्याः पुलाकतः[5] । सकलं तु न शक्नोमि कर्तुं दुःखनिवेदनम् ॥३४३॥
अथैतदीयसंताप[6]विलीनस्नेहपूरितात् । अमान्तीव निरैदस्य हृदयात्साधु भारती ॥३४४॥
स्वस्त्रीया मम साध्वि त्वं चिरकालवियोगतः । प्रायेण नाभिजानामि रूपान्तरपरिग्रहात् ॥३४५॥
पिता विचित्रभानुर्मे माता सुन्दरमालिनी । नामतः प्रतिसूर्योऽहं द्वीपे हनूरुहाभिधे ॥३४६॥
इत्युक्त्वा वस्तु यद्वृत्तं कौमारे सकलं स तत् । अञ्जनायै पतद्बाष्पनयनस्तमवादयत् ॥३४७॥
निर्ज्ञातमातुलाथासौ पूर्ववृत्तनिवेदनात् । तस्य कण्ठं समासज्य[7] रुरोद चिरमध्वनि[8] ॥३४८॥
तस्यास्तत्सकलं दुःखं वाष्पेण सह निर्गतम् । स्वजनस्य हि संप्राप्तावेषैव जगतः स्थितिः ॥३४९॥

आपत्तिमें पड़े हुए का उद्धार करना यह महापुरुषोंकी शैली है ॥३३४॥ सुनिए, यह लोकव्यापी यशसे युक्त, निर्मल हृदयके धारक राजा महेन्द्रकी पुत्री है, अञ्जना नामसे प्रसिद्ध है और जिसका चित्त गुणोंका सागर है ऐसे राजा प्रह्लादके पुत्र पवनवेगकी प्राणोंसे अधिक प्यारी पत्नी है ॥३३५-३३६॥ किसी एक समय वह आत्मीयजनोंकी अनजानमें इसके गर्भ धारणकर पिताकी आज्ञासे युद्धके लिए चला गया। वह रावणका मित्र जो था ॥३३७॥ यद्यपि यह अञ्जना निर्दोष थी तो भी स्वभावकी दुष्टताके कारण दयाशून्य मूर्ख सासने इसे पिताके घर भेज दिया ॥३३८॥ परन्तु अपकीर्तिके भयसे पिताने भी इसके लिए स्थान नहीं दिया सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः कर सज्जन पुरुष मिथ्यादोषसे भी डरते रहते हैं ॥३३९॥ अन्तमें इस कुलवती बालाको जब सब सहारोंने छोड़ दिया तब यह निराश्रय हो मेरे साथ हरिणीके समान इस महावनमें रहने लगी ॥३४०॥ इस सुहृदयाकी मैं कुल-परम्परासे चली आई सेविका हूँ सो सदा प्रसन्न रहनेवाली इसने मुझे अपना विश्वासपात्र बनाया है ॥३४१॥ इसी अञ्जनाने आज नाना उपसर्गोंसे भरे वनमें पुत्र उत्पन्न किया है। मैं नहीं जानती कि यह साध्वी पतिव्रता सुखका आश्रय कैसे होगी ॥३४२॥ आप सत्पुरुष हैं इसलिए संक्षेपसे मैंने इसका यह वृत्तान्त कहा है इसने जो दुःख भोगा है उसे सम्पूर्ण रूपमें कहनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥३४३॥

अथानन्तर उस विद्याधरके हृदयसे वाणी निकली सो ऐसी जान पड़ती थी मानो अञ्जनाके सन्तापसे पिघले हुए स्नेहसे उसका हृदय पूर्णरूपसे भर गया था अतः वाणीको भीतर ठहरनेके लिए स्थान ही नहीं बचा हो ॥३४४॥ उसने कहा कि हे पतिव्रते ! तू मेरी भानजी है। चिरकालके वियोगसे प्रायः तेरा रूप बदल गया है इसलिए मैं पहिचान नहीं सका हूँ ॥३४५॥ मेरे पिता विचित्रभानु और माता सुन्दरमालिनी हैं। मेरा नाम प्रतिसूर्य है और हनूरुह नामक द्वीपका रहनेवाला हूँ ॥३४६॥ इतना कहकर जो-जो घटनाएँ कुमारकालमें हुई थीं वे सब उसने रोते-रोते अञ्जनासे कहलाई ॥३४७॥ तदनन्तर जब पूर्ववृत्तान्त कहनेसे अञ्जनाने मामाको पहिचान लिया तब वह उसके गलेसे लगकर चिरकाल तक सिसक-सिसककर रोती रही ॥३४८॥ अञ्जनाका वह

---

१. जनकस्येदं जानकम् । जनकं म०, ब० । २. स्थानभीतेः म० । ३. सामान्यम् + अधि + अस्थात् । ४. भूत्यास्म्यस्या म० । ५. संक्षेपतः । ६. संतापो म० । ७. समारुह्य म० । ८. मूर्धनि म०, ब० ।

तयोः स्नेहभरेणैवं कुर्वतोरथ रोदनम् । वसन्तमालयाप्युच्चैरुदितं पार्श्वयातया ॥३५०॥
रुदत्सु तेषु कारुण्यादरुदंस्तद्योषितः । कृतरोदास्वथैतासु रुरुदू रुरुयोषितः[1] ॥३५१॥
गुहावदनमुक्तेन प्रतिनादेन भूयसा । पर्वतोऽपि रुरोदैवं संततैर्निर्झराश्रुभिः ॥३५२॥
ततः शब्दमयं सर्वं तद्बभूव तदा वनम् । शकुन्तैरपि कारुण्यादाकुलैः कृतनिस्वनम् ॥३५३॥
सान्त्वयित्वा ततस्तस्या दत्तेनोदकवाहिना । वारिणाक्षालयद्वक्त्रं स्वस्य च प्रतिभास्कर[2]ः ॥३५४॥
पारम्पर्येण तेनैव ततस्तत्पुनरप्यभूत् । वनं मुक्तमहाशब्दं श्रोतुं वार्तामिवानयोः ॥३५५॥
ततः क्षणमिव स्थित्वा निष्क्रान्तौ दुःखगह्वरात् । अपृच्छतां मिथो वार्तां कुलेऽकथयतां च तौ ॥३५६॥
संभाषणं ततश्चक्रे तत्स्त्रीणामञ्जना क्रमात् । स्खलन्ति न विधातव्ये वनेऽपि गुणिनो जनाः ॥३५७॥
जगाद मातुलं चैवं पूज्य जातस्य[3] मेऽखिलम् । निवेदय यथावस्थं दिनद्योतिःकदम्बकम् ॥३५८॥
इत्युक्ते पार्श्वगं नाम्ना ज्योतिर्गर्भविशारदम् । सांवत्सरमपृच्छत्स जातकर्म यथास्थितम् ॥३५९॥
ततः सांवत्सरोऽवोचत्कल्याणस्य निवेदय । जन्मसम्बन्धिनीं वेलामित्युक्ते चाख्यदञ्जना ॥३६०॥
अर्धयामावशेषायां रजन्यामद्य बालकः । प्रजात इति सख्या च कथितं निष्प्रमादया ॥३६१॥
मौहूर्तेन ततोऽवाचि यथास्य व[4]पुराचितम् । सुलक्षणैस्तथा मन्ये दारकं सिद्धिभाजनम् ॥३६२॥
तथापि यद्यसंतोषः क्रियेयं लौकिकीति वा । ततः शृणु पुक्ताकेन कथयाम्यस्य जीवनम् ॥३६३॥
वर्तते तिथिरद्येयं चैत्रस्य बहुलाष्टमी । नक्षत्रं श्रवणः स्वामी वासरस्य विभावसुः ॥३६४॥

समस्त दुःख आँसुओंके साथ निकल गया सो ठीक ही है क्योंकि आत्मीयजनोंके मिलने पर संसारकी ऐसी ही स्थिति होती है ॥३४९॥ इस तरह स्नेहके भारसे जब दोनों रो रहे थे तब पासमें बैठी वसन्तमाला भी जोरसे रो पड़ी ॥३५०॥ उन सबके रोनेपर विद्याधरकी स्त्रियाँ भी करुणावश रोने लगीं और इन सबको रोते देख हरिणियाँ भी रोने लगीं ॥३५१॥ उस समय गुफारूपी मुखसे जोरकी प्रतिध्वनि निकल रही थी इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो पर्वत भी झरनोंके बहाने बड़े-बड़े आँसू डालता हुआ रो रहा था ॥३५२॥ और पक्षी भी दयावश आकुल होकर शब्द कर रहे थे इसलिए वह सम्पूर्ण वन उस समय शब्दमय हो गया था ॥३५३॥

तदनन्तर प्रतिसूर्य विद्याधरने सान्त्वना देनेके बाद जल लानेवाले नौकरके द्वारा दिये हुए जलसे अञ्जनाका और अपना मुँह धोया ॥३५४॥ पहले जिस क्रमसे वन शब्दायमान हो गया था उसी क्रमसे अब पुनः शब्दरहित हो गया सो ऐसा जान पड़ता था मानो इन दोनोंकी वार्ता सुननेके लिए ही चुप हो रहा हो ॥३५५॥ तदनन्तर क्षण भर ठहरकर जब दोनों दुःख रूपी गर्तसे बाहर निकले तब उन्होंने परस्पर कुशल-वार्ता पूछी और अपने अपने कुलका हाल एक दूसरेको बताया॥३५६॥इसके बाद अञ्जनाने प्रतिसूर्यकी स्त्रियोंके साथ क्रमसे संभाषण किया सो ठीक ही है क्योंकि गुणीजन करने योग्य कार्यमें कभी नहीं चूकते हैं ॥३५७॥ अंजनाने मामासे कहा कि पूज्य! मेरे पुत्रके समस्त ग्रह कैसी दशामें हैं सो बताइए ॥३५८॥ ऐसा कहनेपर मामाने ज्योतिष विद्यामें निपुण पार्श्वग नामक ज्योतिषीसे पुत्रके यथावस्थित जातकर्मको पूछा अर्थात् पुत्रकी ग्रह-स्थिति पूछी ॥३५९॥ तब ज्योतिषीने कहा कि इस कल्याणस्वरूप पुत्रका जन्म-समय बताओ। ज्योतिषीके ऐसा पूछनेपर अञ्जनाने समय बताया ॥३६०॥ साथ ही प्रमादको दूर करनेवाली सखी वसन्तमालाने भी कहा कि आज रात्रिमें जब अर्धप्रहर बाकी था तब बालक उत्पन्न हुआ था ॥३६१॥ तदनन्तर मुहूर्तके जाननेवाले ज्योतिषीने कहा कि इसका शरीर जैसा शुभलक्षणोंसे युक्त है उससे जान पड़ता है कि बालक सब प्रकारकी सिद्धियोंका भाजन होगा ॥३६२॥ फिर भी यदि सन्तोष नहीं है अथवा ऐसा ख्याल है कि यह क्रिया लौकिकी है तो सुनो मैं संक्षेपसे इसका जीवन कहता हूँ ॥३६३॥ आज यह चैत्रके कृष्ण पक्षकी अष्टमी तिथि है, श्रवण नक्षत्र है,

१. मृग्यः। २. प्रतिसूर्यः। ३. पुत्रस्य। ४. यथास्य च पुराचितम् म०।

आदित्यो वर्तते मेषे भवनं तुङ्गमाश्रितः । चन्द्रमा मकरे मध्ये भवने समवस्थितः ॥३६५॥
लोहिताङ्गो वृषमध्ये मध्ये मीने विधोः सुतः । कुलीरे त्रिदशोऽत्युच्चैरध्यास्य भवनं स्थितः ॥३६६॥
मीने दैत्यगुरुस्तुङ्गस्तस्मिन्नेव शनैश्चरः । मीनस्यैवोदयोऽप्यासीत्तदा नृपतिपुङ्गव[1] ॥३६७॥
शनैश्चरं समप्राक्षस्तिग्मभानुर्निरीक्षते[2] । अर्धदृष्ट्या महीपुत्रो[3] दिवसस्य पतिं तथा ॥३६८॥
[4]गुरुः पादोनया दृष्ट्या पतिमह्नोऽवलोकते । अर्धदृष्ट्या गिरामीशं वासरस्येक्षते विभुः ॥३६९॥
[5]चन्द्रं समस्तया दृष्ट्या [6]वचसां पतिरीक्षते । असावप्येवमेवास्य [7]विदधात्यवलोकनम् ॥३७०॥
गुरुः शनैश्चरं पादन्यूनया वीक्षते दृशा । अर्धावलोकनेनासौ भजते बृहतां पतिम् ॥३७१॥
गुरुर्दैत्यगुरुं दृष्ट्वा [8]वीक्षते पादहीनया । दृष्टिं तथाविधामेव पातयत्येष तत्र च ॥३७२॥
ग्रहाणां परिशिष्टानां नास्त्यपेक्षा परस्परम् । उदयक्षेत्रकालानां बलं चास्ति परं तदा ॥३७३॥
[9]राज्यं निवेदयत्यस्य रविर्भौमो गुरुस्तथा । शनैश्चरः सुयोगित्वं निवेदयति सिद्धिदम् ॥३७४॥
एकोऽपि भारतीनाथस्तुङ्गस्थानस्थितो भवन् । सर्वकल्याणसंप्राप्तौ कारणत्वं प्रपद्यते ॥३७५॥
ब्राह्मो नाम तदा योगो मुहूर्तश्च शुभश्रुतिः । एतौ कथयतो ब्राह्मस्थानसौख्यसमागमम् ॥३७६॥
एवमेतस्य जातस्य ज्योतिश्चक्रमिदं स्थितम् । सूचयत्यखिलं वस्तु सर्वदोषविवर्जितम् ॥३७७॥
[10]रैशतानां सहस्रेण कालज्ञं पूजितं ततः । प्रतिसूर्यो विधायोचे भागिनेयीं ससंमदः ॥३७८॥
एहीदानीं पुरं यामो वत्से हनूरुहं मम । जातकर्मास्य बालस्य तत्र सर्वं भविष्यति ॥३७९॥
एवमुक्त्वा विधायाङ्के[11] पृथुकं जिनवन्दनाम् । कृत्वा स्थानपतिं देवं क्षमयित्वा पुनः पुनः ॥३८०॥

सूर्य दिनका स्वामी है ॥३६४॥ सूर्य मेषका है सो उच्च स्थानमें बैठा है और चन्द्रमा मकरका है सो मध्यगृहमें स्थित है ॥३६५॥ मङ्गल वृषका है सो मध्य स्थानमें बैठा है। बुध मीनका है सो भी मध्य स्थानमें स्थित है और बृहस्पति कर्कका है सो भी अत्यन्त उच्च स्थानमें बैठा है ॥३६६॥ शुक्र और शनि दोनों ही मीनके हैं तथा उच्च स्थानमें आरूढ़ हैं। हे राजाधिराज! उस समय मीनका ही उदय था ॥३६७॥ सूर्य पूर्ण दृष्टिसे शनिको देखता है और मङ्गल सूर्यको अर्ध-दृष्टिसे देखता है ॥३६८॥ बृहस्पति पौन दृष्टिसे सूर्यको देखता है और सूर्य बृहस्पतिको अर्धदृष्टिसे देखता है ॥३६९॥ बृहस्पति चन्द्रमाको पूर्ण दृष्टिसे देखता है और चन्द्रमा भी अर्धदृष्टिसे बृहस्पतिको देखता है ॥३७०॥ बृहस्पति शनिको पौन दृष्टिसे देखता है और शनि बृहस्पतिको अर्धदृष्टिसे देखता है ॥३७१॥ बृहस्पति शुक्रको पौन दृष्टिसे देखता है और शुक्र भी बृहस्पतिपर पौन दृष्टि डालता है ॥३७२॥ अवशिष्ट ग्रहोंकी पारस्परिक अपेक्षा नहीं है। उस समय इसके ग्रहोंके उदय-क्षेत्र और कालका अत्यधिक बल है ॥३७३॥ सूर्य मङ्गल और बृहस्पति इसके राज्य-योगको सूचित कर रहे हैं और शनि मुक्तिदायी योगको प्रकट कर रहा है ॥३७४॥ यदि एक बृहस्पति ही उच्च स्थानमें स्थित हो तो समस्त कल्याणकी प्राप्तिका कारण होता है फिर इसके तो समस्त शुभग्रह उच्च स्थानमें स्थित हैं ॥३७५॥ उस समय ब्राह्मनामक योग और शुभ नामका मुहूर्त था सो ये दोनों ही ब्राह्मस्थान अर्थात् मोक्ष सम्बन्धी सुखके समागमको सूचित करते हैं ॥३७६॥ इस प्रकार इस पुत्रका यह ज्योतिश्चक्र सर्व वस्तुको सर्व दोषोंसे रहित सूचित करता है ॥३७७॥ तदनन्तर राजाने हजार मुद्रा द्वारा ज्योतिषीका सम्मान कर हर्षित हो अञ्जनासे कहा कि ॥३७८॥ आओ बेटी! अब हमलोग हनूरुह नगर चलें। वहीं इस बालकका सब जन्मोत्सव होगा ॥३७९॥ मामाके ऐसा कहनेपर अञ्जना पुत्रको गोदमें लेकर जिनेन्द्र देवकी वन्दना कर और

---

१. नृपपुङ्गवः म०। २. निरीक्षितः म०। ३. मङ्गलग्रहः। ४. गुरुपादनया म०। ५. चन्द्रसमस्तया म०। ६. बृहस्पतिः। ७. विदधत्यवलोकनम्। ८. वीक्ष्यते म०, ज०। ९. राज्यं निवेदयंस्तस्य रविभूमौ गुरुस्तथा म०, ब०, क०, ज०। १०. गुरुः। ११. धनशतानाम्।

निष्क्रान्ता सा गुहावासात् स्वजनौघसमन्विता । वनश्रीरिव जाता च विमानस्यान्तिकं स्थिता ॥३८१॥
ततस्तत्किङ्किणीजालैः प्रक्वणत्पवनेरितैः । सनिर्झरमिवोदारैर्मुक्ताहारैः सुनिर्मलैः ॥३८२॥
लसल्लम्बूषकं काचकदलीवनराजितम् । दिवाकरकरस्पर्शस्फुरत्कनकबुद्बुदम् ॥३८३॥
नानारत्नकरासङ्गजातानेकसुरायुधम् । वैजयन्तीशतैर्नानावर्णैः कल्पतरूपमम् ॥३८४॥
चित्ररत्नविनिर्माणं नानारत्नसमाचितम् । दिव्यं परिवृतं स्वर्गलोकेनेव समन्ततः ॥३८५॥
दृष्ट्वासौ पृथुको मातुरङ्कात् कौतुकसस्मितः । उत्पत्य प्रविविक्षुः सन्नपतद्गिरिगह्वरे ॥३८६॥
हाहाकारं ततः कृत्वा लोकस्तस्य समातृकः । स गतोऽनुपदं ज्ञातुमुदन्तमिति विह्वलः ॥३८७॥
चकार विप्रलापं च सुदीनमिममञ्जना । तिरश्चामपि कुर्वाणा करुणाकोमलं मनः ॥३८८॥
हा पुत्र किमिदं वृत्तं दैवेन किमनुष्ठितम् । प्रदर्श्य रत्नसंपूर्णं निधानं हरता पुनः ॥३८९॥
पत्यसङ्गमदुःखेन ग्रस्ताया मे भवानभूत् । जीवितालम्बनं छिन्नं कथं तदपि कर्मणा ॥३९०॥
ततः सहस्रशः खण्डैर्नीतायां[4] सुमहास्वनम् । शिलायां पातवेगेन ददृशेवं सुखस्थितम् ॥३९१॥
अन्तरास्यकृताङ्गुष्ठं क्रीडन्तं स्मितशोभितम् । उत्तानं प्रचलत्पाणिचरणं शुभविग्रहम् ॥३९२॥
मन्दमारुतसंपृक्तरक्तोत्पलवनप्रभम् । कुर्वाणं सकलं पिङ्गं तेजसा गिरिगह्वरम् ॥३९३॥
ततोऽनघशरीरं तं जननी पृथुविस्मया । गृहीत्वा शिरसि घ्रात्वा चक्रे वक्षःस्थलस्थितम् ॥३९४॥

गुहाके स्वामी गन्धर्वदेवसे बार-बार क्षमा कराकर आत्मीयजनोंके साथ गुहासे बाहर निकली । विमानके पास खड़ी अञ्जना वनलक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ॥३८०-३८१॥

तदनन्तर जो वायुसे प्रेरित क्षुद्रघण्टिकाओंके समूहसे शब्दायमान था, जो लटकते हुए अतिशय निर्मल मोतियोंके उत्तम हारोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो झरनोंसे सहित ही हो, जिसमें गोले फन्नूस लटक रहे थे, जो काचनिर्मित केलोंके वनोंसे सुशोभित था, जिसमें लगे हुए सुवर्णके गोले सूर्यकी किरणोंका सम्पर्क पाकर चमक रहे थे, नाना रत्नोंकी किरणोंके सङ्गमसे जिसमें इन्द्रधनुष उठ रहा था, रङ्ग-विरङ्गी सैकड़ों पताकाओंसे जो कल्पवृक्षके समान जान पड़ता था, चित्र-विचित्र रत्नोंसे जिसकी रचना हुई थी, जो नाना प्रकारके रत्नोंसे खचित था, दिव्य था और ऐसा जान पड़ता था मानो सब ओरसे स्वर्गलोकसे घिरा हुआ ही हो ऐसे विमानको देखकर कौतुकसे मुसकराता हुआ बालक उछलकर स्वयं प्रवेश करनेकी इच्छा करता मानो माताकी गोदसे छूटकर पर्वतकी गुफामें जा पड़ा ॥३८२-३८६॥ तदनन्तर माता अञ्जनाके साथ-साथ सब लोग हाहाकार कर उस बालकका समाचार जाननेके लिए शीघ्र ही विह्वल होते हुए वहाँ गये ॥३८७॥ अञ्जनाने दीनतासे ऐसा विलाप किया कि जिसे सुनकर तिर्यञ्चोंके भी मन करुणासे कोमल हो गये ॥३८८॥ वह कह रही थी कि हाय पुत्र ! यह क्या हुआ ? रत्नोंसे परिपूर्ण खजाना दिखाकर फिर उसे हरते हुए विधाताने यह क्या किया ? ॥३८९॥ पतिके वियोग दुःखसे ग्रसित जो मैं हूँ सो मेरे जीवनका अवलम्बन एक तू ही था पर दैवने उसे भी छीन लिया ॥३९०॥

तदनन्तर सब लोगोंने देखा कि पतन सम्बन्धी वेगसे हजार टुकड़े हो जानेके कारण जो महाशब्द कर रही थी ऐसी शिलापर बालक सुखसे पड़ा है ॥३९१॥ वह मुखके भीतर अंगूठा देकर खेल रहा है, मन्द मुसकानसे सुशोभित है, चित्त पड़ा है, हाथ पैर हिला रहा है, शुभ शरीरका धारक है, मन्द-मन्द वायुसे हिलते हुए लाल तथा नीले कमलवनके समान उसकी कान्ति है, और अपने तेजसे पर्वतकी समस्त गुफाको पीत वर्ण कर रहा है ॥३९२-३९३॥ तदनन्तर निर्दोष शरीरके धारक बालकको आश्चर्यसे भरी माताने उठाकर तथा शिरपर सूँघकर

१. विधायाङ्कपृथुकं म० । २. जाले म० । ३. मुहन्त-म० । ४. नीयते म० ।

प्रतिसूर्यस्ततोऽवोचदहो चित्रमिदं परम् । वज्रेणेव[1] यदेतेन शिलाजातं विचूर्णितम् ॥३९५॥
अर्भकस्य सतोऽप्येषा शक्तिः सुरवरातिगा । यौवनस्थस्य किं वाच्यं चरमेयं ध्रुवं तनुः ॥३९६॥
इति ज्ञात्वा परीत्य त्रिः शिरःपाणिसरोरुहः । सहाङ्गनासमूहेन चकारास्या नमस्कृतिम् ॥३९७॥
असौ तस्य वरस्त्रीभिर्नेत्रभाभिः कृतस्मितम् सितासितारुणाम्भोजमालभिरिव पूजितम् ॥३९८॥
सपुत्रां यानमारोप्य भागिनेयीं ततोऽगमत् । प्रतिसूर्यो निजं स्थानं ध्वजतोरणभूषितम् ॥३९९॥
ततः प्रत्युद्गतः पौरैर्नानामङ्गलधारिभिः । स विवेश पुरं तूर्यनादव्याप्तनभस्तलम् ॥४००॥
तत्र जन्मोत्सवस्तस्य महान् विद्याधरैः कृतः । आखण्डलसमुत्पत्तौ गीर्वाणैस्त्रिदशैर्यथा ॥४०१॥
जन्म लेभे यतः शैले शैलं चाचूर्णयत्ततः । श्रीशैल इति नामास्य चक्रे मात्रा ससूर्यया ॥४०२॥
पुरे हनूरुहे यस्माज्जातः संस्कारमाप्तवान् । हनूमानिति तेनागात्प्रसिद्धिं स महीतले ॥४०३॥
सर्वलोकमनोनेत्रमहोत्सववपुःक्रियः । तस्मिन् सुरकुमाराभः पुरे रेमे सुकान्तिमान् ॥४०४॥
संभवतीह भूधररिपुः पविरपि कुसुमं वह्निरपीन्दुवादशिशिरं पृथु कमलवनम् ।
खड्गलतापि चारुवनितासुमृदुभुजलता प्राणिषु पूर्वजन्मजनितात्सुचरितबलतः ॥४०५॥

छातीसे लगा लिया ॥३९४॥ राजा प्रतिसूर्यने कहा कि अहो ! यह बड़ा आश्चर्य है कि बालकने वज्रकी तरह शिलाओंका समूह चूर्ण कर दिया ॥३९५॥ जब बालक होनेपर भी इसकी यह देवातिशायिनी शक्ति है तब तरुण होनेपर तो कहना ही क्या है ? निश्चित ही इसका यह शरीर अन्तिम शरीर है ॥३९६॥ ऐसा जानकर उसने, हस्त-कमल शिरसे लगा, तथा तीन प्रदक्षिणाएँ देकर अपनी स्त्रियोंके साथ बालकके उस चरम शरीरको नमस्कार किया ॥३९७॥ प्रतिसूर्यकी स्त्रियोंने अपने सफेद काले, तथा लाल नेत्रोंकी कान्तिसे उसे हँसते हुए देखा सो ऐसा जान पड़ता था मानो उन्होंने सफेद, नीले और लाल कमलोंकी मालाओंसे उसकी पूजा ही की हो ॥३९८॥

तदनन्तर प्रतिसूर्य पुत्रसहित अञ्जनाको विमानमें बैठाकर ध्वजाओं और तोरणोंसे सुशोभित अपने नगरकी ओर चला ॥३९९॥ तत्पश्चात् नाना मङ्गलद्रव्योंको धारण करनेवाले नगरवासी लोगोंने जिसकी अगवानी की थी ऐसे राजा प्रतिसूर्यने नगरमें प्रवेश किया । उस समय नगरका आकाश तुरही आदि वादित्रोंके शब्दसे व्याप्त हो रहा था ॥४००॥ जिस प्रकार इन्द्रका जन्म होनेपर स्वर्गमें देव लोग महान् उत्सव करते हैं उसी प्रकार हनूरुह नगरमें विद्याधरोंने उस बालकका बहुत भारी जन्मोत्सव किया ॥४०१॥ चूँकि बालकने शैल अर्थात् पर्वतमें जन्म प्राप्त किया था और उसके बाद शैल अर्थात् शिलाओंके समूहको चूर्ण किया था इसलिए माताने मामाके साथ मिलकर उसका 'श्रीशैल' नाम रक्खा था ॥४०२॥ चूँकि उस बालकने हनूरुह नगरमें जन्म संस्कार प्राप्त किये थे इसलिए वह पृथिवीतलपर 'हनूमान्' इस नामसे भी प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ ॥४०३॥ जिसके शरीरकी क्रियाएँ समस्त मनुष्योंके मन और नेत्रोंको महोत्सव उत्पन्न करनेवाली थीं, तथा जिसकी आभा देवकुमारके समान थी ऐसा वह उत्तम कान्तिका धारी बालक उस नगरमें क्रीड़ा करता था ॥४०४॥

गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! पूर्व जन्ममें संचित पुण्य कर्मके बलसे प्राणियोंके लिए पर्वतोंको चूर्ण करनेवाला वज्र भी फूलके समान कोमल हो जाता है । अग्नि भी चन्द्रमाकी किरणोंके समान शीतल विशाल कमलवन हो जाती है, और खड्गरूपी

१. वज्रेणैव म० ।

इत्यवगम्य दुःखकुशलाद्विरमत दुरितात् सजत सारशर्मचतुरे जिनवरचरिते ।
एष तपत्यहो परिदृढं जगदनवरतं व्याधिसहस्ररश्मिनिकरो ननु जननरविः ॥४०६॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते हनूमत्संभवाभिधानं नाम सप्तदशं पर्व ॥१७॥

लता भी सुन्दर स्त्रियोंकी सुकोमल भुजलता बन जाती है ॥४०५॥ ऐसा जानकर दुःख देनेमें निपुण जो पापकर्म है उससे विरत होओ और श्रेष्ठ सुख देनेमें चतुर जो जिनेन्द्र देवका चरित है उसमें लीन होओ। अहो! हजारों रोगरूपी किरणोंसे युक्त यह जन्मरूपी सूर्य समस्त संसारको निरन्तर बड़ी दृढ़ताके साथ संतप्त कर रहा है ॥४०६॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य द्वारा कथित पद्मचरितमें हनूमानके जन्मका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१७॥

अष्टादशं पर्व

इदं ते कथितं जन्म श्रीशैलस्य महात्मनः । शृणु सम्प्रति वृत्तान्तं वायोर्मगधमण्डन ॥१॥
[1]वायुना वायुनेवाशु गत्वाभ्याशं खगेशिनः । लब्धादेशेन संयुध्य नानाशस्त्राकुले रणे ॥२॥
कृतयुद्धश्चिरं खिन्नो [3]जलकान्तोऽ[4]पवर्तितः । जातस्तस्य [5]निमानोऽसौ पुष्कलः खरदूषणः ॥३॥
भूयश्च जलकान्तेन निनाय[6] खरदूषणः[7] । कृत्वा [8]सन्धिमहं प्राप्य परमं राक्षसाधिपात् ॥४॥
अनुज्ञातोऽवहत् कान्तां हृदयेन त्वरान्वितः । जगामाभिजनं स्थानं महासामन्तमध्यगः ॥५॥
प्रविष्टश्च पुरं पौरैरभियातः सुमङ्गलैः । ध्वजतोरणमालाभिर्भासुराभिर्विभूषितम् ॥६॥
जगाम च निजं वेश्म दृष्टो वातायनस्थितैः । मुक्तप्रस्तुतकर्तव्यैः पौरनारीकदम्बकैः ॥७॥
विवेश च कृतार्घादिसन्मानो मानिनां वरः । वाग्भिर्मङ्गलसाराभिः स्वजनैरभिनन्दितः ॥८॥
विधाय प्रणतिं तत्र गुरूणामितरैर्जनैः । नमस्कृतः क्षणं तस्थौ वार्ताभिर्वरमण्डपे ॥९॥
ततः प्रासादमारुक्षदञ्जनायाः समुन्मनाः । युक्तः प्रहसितेनैव पूर्वभावमयान्वितः ॥१०॥
रिक्तकं तस्य तं दृष्ट्वा प्रासादं प्राणतुल्यया । चेतनामुक्तदेहाभं पपातेव मनः क्षणात् ॥११॥
ऊचे प्रहसितं चैव वयस्य किमिदं भवेत् । अञ्जनासुन्दरी नात्र दृश्यते पुष्करेक्षणा ॥१२॥

अथानन्तर गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे मगध देशके मण्डपस्वरूप श्रेणिक ! यह तो मैंने तुम्हारे लिए महात्मा श्रीशैलके जन्मका वृत्तान्त कहा । अब पवनञ्जयका वृत्तान्त सुनो ॥१॥ पवनञ्जय वायुके समान शीघ्र ही रावणके पास गया और उसकी आज्ञा पाकर नानाशस्त्रोंसे व्याप्त युद्ध-क्षेत्रमें वरुणके साथ युद्ध करने लगा ॥२॥ चिरकाल तक युद्ध करने के बाद वरुण खेद-खिन्न हो गया सो पवञ्जनयने उसे पकड़ लिया । खर-दूषणको वरुणने पहले पकड़ रक्खा था सो उसे छुड़ाया और वरुणको रावणके समीप ले जाकर तथा सन्धि कराकर उसका आज्ञाकारी किया । रावणने पवनञ्जयका बड़ा सन्मान किया ॥३-४॥ तदनन्तर रावणकी आज्ञा लेकर हृदयमें कान्ताको धारण करता हुआ पवनञ्जय महा सामन्तोंके साथ शीघ्र ही अपने नगरमें वापिस आ गया ॥५॥ उत्तमोत्तम मङ्गल द्रव्योंको धारण करने वाले नगरवासी जनोंने जिसकी अगवानी की थी ऐसा पवनञ्जय देदीप्यमान ध्वजाओं, तोरणों तथा मालाओंसे अलंकृत नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥६॥ तदनन्तर अपना प्रारम्भ किया हुआ कर्म छोड़ झरोखोंमें आकर खड़ी हुई नगरवासिनी स्त्रियोंके समूह जिसे बड़े हर्षसे देख रही थी ऐसा पवनञ्जय अपने महलकी ओर चला ॥७॥ तत्पश्चात् जिसका अर्घ आदिके द्वारा सन्मान किया गया था और आत्मीयजनों ने मङ्गलमय वचनोंसे जिसका अभिनन्दन किया था ऐसे पवनञ्जयने महलमें प्रवेश किया ॥८॥ वहाँ जाकर इसने गुरुजनोंको नमस्कार किया और अन्य जनोंने इसे नमस्कार किया । फिर कुशल-वार्ता करता हुआ क्षणभरके लिए सभामण्डपमें बैठा ॥९॥

तदनन्तर उत्कण्ठित होता हुआ अञ्जनाके महलमें चढ़ा । उस समय वह पहलेकी भावना से युक्त था और अकेला प्रहसित मित्र ही उसके साथ था ॥१०॥ वहाँ जाकर जब उसने महल को प्राण-वल्लभासे रहित देखा तो उसका मन क्षण एकमें ही निर्जीव शरीरकी तरह नीचे गिर गया ॥११॥ उसने प्रहसितसे कहा कि मित्र ! यह क्या है ? यहाँ कमल-नयना अञ्जना सुन्दरी

---

१. पवनञ्जयेन । २. रावणस्य । ३. वरुणः । ४. गृहीतः । ५. मूल्यभूतः- प्रतिभूः (जमानतदार इति हिन्दी) । ६. निमाय क०, ख०, ज०, । निनाय्य म० । ७. खरदूषणम् ब० । ८. सन्ध्यमहं म० ।

गृहमेतत्तया शून्यं वनं मे प्रतिभासते । आकाशमेव वा क्षिप्रं तस्या वार्ताधिगम्यताम् ॥१३॥
आप्तवर्गात् परिज्ञाय वार्तां प्रहसितोऽवदत् । यथावत् सकलां तस्मै हृदये क्षोदकारिणीम् ॥१४॥
वञ्चित्वा स्वजनं सोऽथ समं मित्रेण तत्क्षणम् । महेन्द्रनगरं तेन प्रवृत्तो गन्तुमुन्मनाः ॥१५॥
तस्यासन्नभुवं प्राप्य मित्रमेवमभाषत । मन्यमानोऽङ्कसंप्राप्तां दयितां प्रमदान्वितः ॥१६॥
पश्य पश्य पुरस्यास्य वयस्य रमणीयताम् । अञ्जनासुन्दरी यत्र वर्तते चारुविभ्रमा ॥१७॥
कैलासकूटसंकाशा यत्र प्रासादपङ्क्तयः । उद्यानपादपैर्गुप्ताः प्रावृषेण्यघनप्रभैः ॥१८॥
ब्रुवन्नेवं स संप्राप्तः पुरं पुरुषसत्तमः । सुहृदाद्वैतचित्तेन विहितप्रतिभाषणः ॥१९॥
ततो जनौघतः श्रुत्वा संप्राप्तं पवनञ्जयम् । । अर्घादिनोपचारेण श्वसुरोऽस्य समागमत् ॥२०॥
पुरस्सरेण तेनासौ प्रीतियुक्तेन चेतसा । निजं प्रवेशितः स्थानं पौरैः सादरमीक्षितः ॥२१॥
विवेश भवनं चास्य कान्तादर्शनलालसः । संकथाभिर्मुहूर्तं च तस्थौ [1]संवर्गणं भजन् ॥२२॥
ततस्तत्राप्यसौ कान्तामपश्यद् विरहातुरः । अपृच्छद् बालिकां काञ्चिदन्तर्भवनगोचराम्[2] ॥२३॥
अपि बालेऽत्र जानासि मत्प्रिया वर्ततेऽञ्जना । सावोचदेव नास्त्यत्र त्वत्प्रियेत्यसुखावहम् ॥२४॥
वज्रेणेव ततस्तस्य तेन वाक्येन चूर्णितम् । हृदयं पूरितौ कर्णौ तप्तक्षाराम्बुनेव च ॥२५॥
वियुक्त इव जीवेन क्षणं चाभूत् स निश्च[3]लः । शोकप्रालेयसंपर्कविच्छायमुखपङ्कजः ॥२६॥
निर्गत्यासौ ततस्तस्माच्छद्मना [4]श्वासुरात् पुरात् । बभ्राम धरणीं वार्तामधिगन्तुं [5]स्वयोषितः ॥२७॥

नहीं दिख रही है ॥१२॥ उसके बिना यह घर मुझे वन अथवा आकाशके समान जान पड़ता है। अतः शीघ्र ही उसका समाचार मालूम किया जाय ॥१३॥ तदनन्तर आप्तवर्गसे सब समाचार जानकर प्रहसितने हृदयको क्षुभित करनेवाला सब समाचार ज्योंका त्यों पवनञ्जयको सुना दिया ॥१४॥ उसे सुन, पवनञ्जय आत्मीयजनोंको छोड़ उसी क्षण मित्रके साथ उत्कठित होता हुआ महेन्द्रनगर जानेके लिए उद्यत हुआ॥१५॥महेन्द्रनगरके निकट पहुँच कर पवनञ्जय, प्रियाको गोदमें आई समझ हर्षित होता हुआ मित्रसे बोला कि हे मित्र ! देखो, इस नगरकी सुन्दरता देखो जहाँ सुन्दर विभ्रमोंको धारण करने वाली प्रिया विद्यमान है ॥१६–१७॥ और जहाँ वर्षाऋतुके मेघोंके समान कान्तिके धारक उद्यानके वृक्षोंसे घिरी महलोंकी पंक्तियाँ कैलास पर्वतके शिखरोंके समान जान पड़ती हैं ॥१८॥ इस प्रकार कहता और अभिन्न चित्तके धारक मित्रके साथ वार्त्तालाप करता हुआ वह महेन्द्रनगरमें पहुँचा ॥१९॥

तदनन्तर लोगोंके समूहसे पवनञ्जयको आया सुन इसका श्वसुर अर्घादिकी भेंट लेकर आया ॥२०॥ आगे चलते हुए श्वसुरने प्रेमपूर्ण मनसे उसे अपने स्थानमें प्रविष्ट किया और नगरवासी लोगोंने उसे बड़े आदरसे देखा ॥२१॥ प्रियाके दर्शनकी लालसासे इसने श्वसुरके घरमें प्रवेश किया। वहाँ यह परस्पर वार्तालाप करता हुआ मुहूर्त भर बैठा ॥२२॥ परन्तु वहाँ भी जब इसने कान्ताको नहीं देखा तब विरहसे आतुर होकर इसने महलके भीतर रहनेवाली किसी बालिकासे पूछा कि हे बाले ! क्या तू जानती है कि यहाँ मेरी प्रिया अञ्जना है ? बालिकाने यही दुःखदायी उत्तर दिया कि यहाँ तुम्हारी प्रिया नहीं है ॥२३–२४॥ तदनन्तर इस उत्तरसे पवनञ्जयका हृदय मानो वज्रसे ही चूर्ण हो गया, कान तपाये हुए खारे पानीसे मानो भर गये और वह स्वयं निर्जीवकी भाँति निश्चल रह गया। शोकरूपी तुषारके संपर्कसे उसका मुख-कमल कान्तिरहित हो गया ॥२५–२६॥ तदनन्तर वह किसी छलसे श्वसुरके नगरसे निकलकर अपनी प्रियाका समाचार जाननेके लिए पृथिवीमें भ्रमण करने लगा ॥२७॥

---

१. संभाषणाम्। २. गोचरम् म०। ३. सुनिश्चलः म०, ब०, ख०, ज०। ४. श्वसुरात् म०। ५. सुयोषितः म०, ख०, ज०, ब०।

ज्ञात्वा वायुकुमारं च वायुनेवातुरीकृतम् । ऊचे प्रहसितः [1]सान्त्वं तद्दुःखादभिदुःखितः ॥२८॥
किं वयस्य विषण्णोऽसि कुरुचित्तमनाकुलम् । द्रक्ष्यसे दयिता[2] द्राक्के कियद्धेदं महीतलम् ॥२९॥
सोऽवोचद् गच्छ गच्छ त्वं सखे रविपुरं द्रुतम् । इदं ज्ञापय वृत्तान्तं गुरूणां मदनुष्ठितम् ॥३०॥
अहं पुनरसंप्राप्य दयितां क्षितिसुन्दरीम् । न मन्ये जीवितं तस्मात्पर्यटाम्यखिलां भुवम् ॥३१॥
इत्युक्तस्तेन दुःखेन विमुच्य कथमप्यमुम् । आदित्यनगरीं दीनः क्षिप्रं प्रहसितो ययौ ॥३२॥
पवनोऽपि समारुह्य नागमम्बरगोचरम् । विचरन् धरणीं सर्वामेवं चिन्तामुपागतः ॥३३॥
शोकातपपरिम्लान[3]पद्मकोमलविग्रहा । क्व गता मे भवेत् कान्ता वहन्ती हृदयेन माम् ॥३४॥
वैधुर्यारण्यमध्यस्था विरहानलदीपिता[4] । वराकी कांदिशीकासौ दिशं स्यात् कामुपाश्रिता ॥३५॥
सत्यार्जवसमेतासौ गर्भगौरवधारिणी । वसन्तमालया त्यक्ता भवेत् किन्नु महावने ॥३६॥
शोकान्धनयना किं नु व्रजन्ती विषमे पथि । पतिता स्याज्जरत्कूपे क्षुधिताजगरान्विते ॥३७॥
किं नु गर्भपरिक्लिष्टा श्वापदानां च भीषणम् । श्रुत्वा शब्दं परित्रस्ता प्राणान्मुक्तवती भवेत् ॥३८॥
अहो तृष्णार्दिता शुष्कतालुकण्ठा जलोज्झिते । विन्ध्यारण्ये विमुक्ता स्यात् प्राणैः प्राणसमा मम ॥३९॥
किं वा मन्दाकिनीं मुग्धा विविधग्राहसंकुलाम् । अवतीर्णा भवेद् व्यूढा वारिणा तीव्ररंहसा ॥४०॥
दर्भसूचीविनिर्भिन्नचरण[5]स्रुतशोणिता । अशक्ता पदमप्येकं गन्तुं किं नु[6] मृता भवेत् ॥४१॥

इधर जब प्रहसित मित्रको मालूम हुआ कि पवनञ्जय मानो वायुकी बीमारीसे ही दुःखी हो रहा है तब उसके दुःखसे अत्यन्त दुःखी होते हुए उसने सान्त्वनाके साथ कहा कि हे मित्र! खिन्न क्यों होते हो? चित्तको निराकुल करो। तुम्हें शीघ्र ही प्रिया दिखलाई देगी, अथवा यह पृथिवी है ही कितनी सी? ॥२८-२९॥ पवनञ्जयने कहा कि हे मित्र! तुम शीघ्र ही सूर्यपुर जाओ और वहाँ गुरुजनोंको मेरा यह समाचार बतला दो ॥३०॥ मैं पृथिवीकी अनन्य सुन्दरी प्रियाको प्राप्त किये बिना अपना जीवन नहीं मानता इसलिए उसे खोजनेके लिए समस्त पृथिवीमें भ्रमण करूँगा ॥३१॥ यह कहनेपर प्रहसित बड़े दुःखसे किसी तरह पवनञ्जयको छोड़कर दीन होता हुआ सूर्यपुरकी ओर गया ॥३२॥

इधर पवनञ्जय भी अम्बरगोचर हाथीपर सवार होकर समस्त पृथिवीमें विचरण करता हुआ ऐसा विचार करने लगा कि जिसका कमलके समान कोमल शरीर शोकरूपी आतापसे मुरझा गया होगा ऐसी मेरी प्रिया हृदयसे मुझे धारण करती हुई कहाँ गई होगी? ॥३३-३४॥ जो विधुरतारूपी अटवीके मध्यमें स्थित थी, विरहाग्निसे जल रही थी और निरन्तर भयभीत रहती थी ऐसी वह बेचारी किस दिशामें गई होगी? ॥३५॥ वह सती थी, सरलतासे सहित थी तथा गर्भका भार धारण करनेवाली थी। ऐसा न हुआ हो कि वसन्तमालाने उसे महावनमें अकेली छोड़ दी हो ॥३६॥ जिसके नेत्र शोकसे अन्धे हो रहे होंगे ऐसी वह प्रिया विषम मार्गमें जाती हुई कदाचित् किसी पुराने कुँएमें गिर गई हो अथवा किसी भूखे अजगरके मुँहमें जा पड़ी हो ॥३७॥ अथवा गर्भके भारसे क्लेशित तो थी ही जङ्गली जानवरोंका भयंकर शब्द सुन भयभीत हो उसने प्राण छोड़ दिये हों ॥३८॥ अथवा विन्ध्याचलके निर्जल वनमें प्याससे पीड़ित होनेके कारण जिसके तालु और कण्ठ सूख रहे होंगे ऐसी मेरी प्राणतुल्य प्रिया प्राणरहित हो गई होगी ॥३९॥ अथवा वह बड़ी भोली थी कदाचित् अनेक मगरमच्छोंसे भरी गङ्गामें उतरी हो और तीव्र वेगवाला पानी उसे बहा ले गया हो ॥४०॥ अथवा डाभकी अनियोंसे विदीर्ण हुए जिसके पैरोंसे रुधिर बह रहा होगा ऐसी प्रिया एक डग भी चलनेके लिए असमर्थ हो मर गई,

---

१. सत्वम् म० । स्वान्तं ख० । २. दयिता सा ते म०, ब०, ख० । ३. परिम्लानापद्म- म० । ४. दीपिका म० । ५. श्रुत- म० । ६. तु म० ।

किं वा दुष्टेन केनापि नीता स्यात् खविचारिणा । कष्टं वार्तापि नो तस्याः केनचिन्मे निवेद्यते[1] ॥४२॥
किं वा दुःखोच्च्युते[2] गर्भे निर्वेदं परमागता । आर्यिकाणां पदं प्राप्ता भवेद्धर्मानुसेविनी ॥४३॥
चिन्तयन्निति पर्यट्य धरणीं मतिविह्वलः । ददर्श न यदा कान्तां सर्वेन्द्रियमनोहराम् ॥४४॥
तदापश्यज्जगत्कृत्स्नं[3] शून्यं विरहदीपितः । विनिश्चितमसौ चेतश्चकार मरणं प्रति ॥४५॥
न शैलेषु न वृक्षेषु न रम्यासु नदीष्वभूत् । धृतिरस्य वियुक्तस्य[4] तया सर्वस्वभूतया ॥४६॥
तस्या वार्तासु मुग्धेन सेव प्रष्टा नगा अपि । विवेकेन हि निर्युक्ता जायन्ते दुःखिनो जनाः ॥४७॥
अथ भूतरवाभिख्यं वनं प्राप्य गजादसौ । अवतीर्य क्षणं स्थित्वा ध्यायन्मुनिरिव प्रियाम् ॥४८॥
अनादरेण निक्षिप्य धरण्यामस्त्रकङ्कटम्[5] । घनपादपशाखाग्रतिरोहितमहातपः ॥४९॥
जगाद गजनाथं तं विनयेन पुरःस्थितम् । गिरा मधुरयात्यर्थं श्रमेण गुरुणान्वितः ॥५०॥
व्रजेदानीं गजेन्द्र त्वं भव स्वच्छन्दविभ्रमः । तस्या वार्तासु मुग्धेन क्षमस्व च पराभवम् ॥५१॥
तीरेऽस्याः सरितः शष्पं[6] शल्लकीनां च पल्लवान् । चरन् विहर यूथेन[7] करिणीनां समन्वितः ॥५२॥
इत्युक्तः सुकृतज्ञोऽसौ स्वामिवात्सल्यदक्षिणः । न मुमोचान्तिकं तस्य शोकार्तस्य सुबन्धुवत् ॥५३॥
लप्स्ये यदि न तां रामामभिरामामहं ततः । यास्याम्यत्र वने मृत्युमिति वायुर्विनिश्चितः ॥५४॥
प्रियागतमनस्कस्य तस्य रात्रिरभूद्वने । शरच्चतुष्टयोदारा[8] नानासंकल्पसंकुला ॥५५॥

होगी ॥४१॥ अथवा कोई आकाशगामी दुष्ट विद्याधर हर ले गया हो। बड़े खेदकी बात है कि कोई मेरे लिए उसका समाचार भी नहीं बतलाता ॥४२॥ अथवा दुःखके कारण गर्भ-भ्रष्ट हो आर्यिकाओंके स्थानमें चली गई हो ? धर्मानुगामिनी तो वह थी ही ॥४३॥ इस प्रकार विचार करते हुए बुद्धि-विह्वल पवनञ्जयने पृथिवीमें विहार कर जब समस्त इन्द्रियों और मनको हरने-वाली प्रियाको नहीं देखा ॥४४॥ तब विरहसे जलते हुए उसने समस्त संसारको सूना देख चित्तमें मरनेका दृढ़ निश्चय किया ॥४५॥ अञ्जना ही पवनञ्जयकी सर्वस्वभूत थी अतः उसके बिना उसे न पर्वतोंमें आनन्द आता था, न वृक्षोंमें और न मनोहर नदियोंमें ही ॥४६॥ योंही पवनञ्जयने उसका समाचार जाननेके लिए वृक्षोंसे भी पूछा सो ठीक ही है क्योंकि दुःखीजन विवेकसे रहित हो ही जाते हैं ॥४७॥

अथानन्तर भूतरव नामक वनमें जाकर वह हाथीसे उतरा और प्रियाका ध्यान करता हुआ क्षण भरके लिए मुनिके समान स्थिर बैठ गया ॥४८॥ सघन वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग उसपर पड़ते हुए घामको रोके हुए थे। वहाँ उसने शस्त्र तथा कवच उतारकर अनादरसे पृथिवी पर फेंक दिये ॥४९॥ अम्बरगोचर नामका हाथी बड़ी विनयसे उसके सामने बैठा था और पवनञ्जय अत्यधिक थकावटसे युक्त थे। उन्होंने अत्यन्त मधुर वाणीमें हाथीसे कहा कि ॥५०॥ हे गजराज ! अब तुम जाओ, जहाँ तुम्हारी इच्छा चाहे भ्रमण करो, अञ्जनाका समाचार जाननेके लिए मोहसे युक्त होकर मैंने तुम्हारा जो पराभव किया है उसे क्षमा करो ॥५१॥ इस नदीके किनारे हरी-हरी घास और शल्लकी वृक्षके पल्लवोंको खाते हुए तुम हस्तिनियोंके झुण्डके साथ यथेच्छ भ्रमण करो ॥५२॥ पवनञ्जयने हाथीसे यह सब कहा अवश्य पर वह किये हुए उपकारको जाननेवाला था और स्वामीके साथ स्नेह करनेमें उदार था इसलिए उसने उत्तम बन्धुकी तरह शोकपीड़ित स्वामीका सामीप्य नहीं छोड़ा ॥५३॥ पवनञ्जयने यह निश्चय कर लिया था कि यदि मैं उस मनोहारिणी प्रियाको नहीं पाऊँगा तो इस वनमें मर जाऊँगा ॥५४॥ जिसका मन प्रियामें लग रहा था ऐसे पवनञ्जयकी नाना संकल्पोंसे युक्त एक रात्रि वनमें चार वर्षसे भी

---

१. मे न विद्यते म०, ख०, ब०, ज० । २. दुःखात्लुते ख० । ३. कृष्णं म० । ४. विप्रयुक्तस्य म० । ५. 'उरश्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । -मल्लकंटकम् म० । ६. शस्यं म० । ७. सार्थेन क० । ८. वर्षचतुष्टयादप्यधिका । 'हायनोऽस्त्री शरत्समा' इत्यमरः ।

एवं तावदिदं वृत्तं शृणु श्रेणिक ते परम् । कथयामि गते तस्मिन् यत् पितृभ्यां विचेष्टितम् ॥५६॥
पवनञ्जय वृत्तान्ते [1]तन्मित्रेण निवेदिते । समस्ता बान्धवा वायोः परमं शोकमागताः ॥५७॥
अथ केतुमती पुत्रशोकेनाभ्याहता[2] भृशम् । ऊचे प्रहसितं बाष्पधाराजनितदुर्दिना ॥५८॥
युक्तं प्रहसितेदं ते कर्तुमीदृग्विचेष्टितम् । मम पुत्रं परित्यज्य यदेकाकी समागतः ॥५९॥
सोऽवोचदम्ब तेनैव प्रेषितोऽहं प्रयत्नतः । न मे केनापि भावेन दत्तं स्थातुमुपान्तिके ॥६०॥
उवाच सा गतः क्वासौ सोऽवोचद्यत्र साञ्जना । क्वाञ्जनेति च पृष्टेन को वेत्तीति निवेदितम् ॥६१॥
अपरीक्षणशीलानां सहसा कार्यकारिणाम् । पश्चात्तापो भवत्येव जनानां प्राणधारिणाम् ॥६२॥
कान्तां यदि न पश्यामि मृत्युमेमि ततो ध्रुवम् । प्रतिज्ञैवं कृतानेन त्वत्पुत्रेण सुनिश्चिता ॥६३॥
इति श्रुत्वा विलापं सा चकारेति सुदुःखिता[3] । वेष्टिता स्त्रीसमूहेन स्रवल्लोचनवारिणा ॥६४॥
अज्ञातसत्यया कष्टं पापया किं मया कृतम् । येन पुत्रः परिप्राप्तो जीवनस्य तु संशयम् ॥६५॥
[4]क्रूरसंधानधारिण्या वक्रमानसया मया । असमीक्षितकारिण्या मन्दया किमनुष्ठितम् ॥६६॥
मुक्तं वायुकुमारेण पुरमेतन्न शोभते । विजयार्धगिरीशो वा सेना वा रक्षसां विभोः ॥६७॥
दुष्करो रावणस्यापि सन्धिर्येन रणे कृतः । कस्तस्य मम पुत्रस्य सदृशोऽत्र नरो भुवि ॥६८॥
हा वत्स ! विनयाधार ! गुरुपूजनतत्पर ! । जगत्सुन्दर ! विख्यातगुण ! क्वासि गतो मम ॥६९॥
भवद्दुःखाग्निसंतप्तां मातरं मातृवत्सल ! । प्रतिवाक्यप्रदानेन कुरु शोकविवर्जिताम् ॥७०॥

अधिक बड़ी मालूम हुई थी ॥५५॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! यह वृत्तान्त तो मैंने तुझसे कहा । अब पवनञ्जयके घरसे चले जानेपर माता-पिताकी क्या चेष्टा हुई यह कहता हूँ सो सुन ॥५६॥

मित्रने जाकर जब पवनञ्जयका वृत्तान्तका कहा तब उसके समस्त भाई-बन्धु परम शोकको प्राप्त हुए ॥५७॥ अथानन्तर पुत्रके शोकसे पीड़ित केतुमती अश्रुओंकी धारासे दुर्दिन उपजाती हुई प्रहसितसे बोली कि हे प्रहसित ! क्या तुझे ऐसा करना उचित था जो तू मेरे पुत्रको छोड़कर अकेला आ गया ॥५८-५९॥ इसके उत्तरमें प्रहसितने कहा कि हे अम्ब ! उसीने प्रयत्नकर मुझे भेजा है । उसने मुझे किसी भी भावसे वहाँ नहीं ठहरने दिया ॥६०॥ केतुमतीने कहा कि वह कहाँ गया है ? प्रहसितने कहा कि जहाँ अञ्जना है । अञ्जना कहाँ है ? ऐसा केतुमतीने पुनः पूछा तो प्रहसितने उत्तर दिया कि मैं नहीं जानता हूँ । जो मनुष्य बिना परीक्षा किये सहसा कार्य कर बैठते हैं उन्हें पश्चात्ताप होता ही है ॥६१-६२॥ प्रहसितने केतुमतीसे यह भी कहा कि तुम्हारे पुत्रने यह निश्चित प्रतिज्ञा की है कि यदि मैं प्रियाको नहीं देखूँगा तो अवश्य ही मृत्युको प्राप्त होऊँगा ॥६३॥ यह सुनकर केतुमती अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगी । उस समय जिनके नेत्रोंसे अश्रु झर रहे थे ऐसी स्त्रियोंका समूह उसे घेरकर बैठा था ॥६४॥ वह कहने लगी कि सत्यको जाने बिना मुझ पापिनीने क्या कर डाला जिससे पुत्र जीवनके संशयको प्राप्त हो गया ॥६५॥ क्रूर अभिप्रायको धारण करनेवाली कुटिल चित्त तथा बिना विचारे कार्य करनेवाली मुझ मूर्खाने क्या कर डाला ? ॥६६॥ वायुकुमारके द्वारा छोड़ा हुआ यह नगर शोभा नहीं देता । यही नगर क्यों ? विजयार्द्ध पर्वत ही शोभा नहीं देता और न रावणकी सेना ही उसके बिना सुशोभित है ॥६७॥ जो रावणके लिए भी कठिन थी ऐसी सन्धि युद्धमें जिसने करा दी मेरे उस पुत्रके समान पृथ्वीपर दूसरा मनुष्य है ही कौन ? ॥६८॥ हाय बेटा ! तू तो विनयका आधार था, गुरुजनोंकी पूजा करनेमें सदा तत्पर रहता था, जगत् भरमें अद्वितीय सुन्दर था, और तेरे गुण सर्वत्र प्रसिद्ध थे फिर भी तू कहाँ चला गया ॥६९॥ हे मातृवत्सल ! जो तेरे दुःख रूपी अग्निसे

---

१. तद्विप्रेण म० । २. नाभ्याहृता म० । नाभ्याहता ज० । ३. सदुस्सहा म० । ४. क्रूरसाधन -ख०, ब०, म० । क्रूराधान- क० ।

विलापमपि कुर्वाणां ताडयन्तीमुरो[1] भृशम् । सान्त्वयन्वनितां कृच्छ्रात्प्रह्लादः साश्रुलोचनः ॥७१॥
सर्वबन्धुजनाकीर्णः कृत्वा प्रहसितं पुरः । निर्यातः स्वपुरात् पुत्रमुपलब्धुं समुत्सुकः ॥७२॥
सर्वे चाह्वायिता तेन खगा द्विश्रेणिवासिनः । प्रीत्या ते तु समायाताः परिवारसमन्विताः ॥७३॥
रवेः[2] पन्थानमाश्रित्य भास्वद्विविधवाहनाः । अन्वेष्यंस्ते महीं यत्नाद् गह्वरन्यस्तलोचनाः ॥७४॥
प्रतिभानुरुदन्तं तं ज्ञात्वा प्रह्लाददूततः । [3]उद्वहन्मनसा शोकमञ्जनायै न्यवेदयत् ॥७५॥
प्रथमादपि सा दुःखात्तो दुःखेन भूयसा । अश्रुधौतमुखा चक्रे [4]करुणं परिदेवनम् ॥७६॥
हा नाथ प्राणसर्वस्व मम मानसबन्धन । क्व मां त्यक्त्वा प्रयातोऽसि क्लेशसन्ततिभागिनीम् ॥७७॥
किं वाद्यापि न तं कोपं विमुञ्चसि पुरातनम् । अदृश्यत्वं यदेतोऽसि[5] सर्वविद्याभृतामपि ॥७८॥
अप्येकं प्रतिवाक्यं मे नाथ यच्छामृतोपमम् । नत्वापन्नहितोन्मुक्ता महात्मानो भवन्ति हि ॥७९॥
इयन्तं धारिताः कालं भवद्दर्शनकाङ्क्षया । प्राणा मयाधुना कार्यं किमेतैः पापकर्मभिः ॥८०॥
समागममवाप्स्यामि[6] प्रियेणेति समं कृताः । कथं मनोरथा भग्ना दैवेनाफलिता मम ॥८१॥
कृते मे मन्दभाग्यायाः प्रियोऽवस्थां गतो भवेत् । तामिदं हृदयं क्रूरं यां समाशङ्कते मुहुः ॥८२॥
वसन्तमालिके पश्य किमिदं वर्तते मम । असह्यविरहाङ्गारपल्यङ्कपरिवर्तनम् ॥८३॥
वसन्दमालया चोक्ता देवि मैवममङ्गलम् । व्यँरटीः[7] सर्वथासौ ते भर्ता गोचरमेष्यति ॥८४॥

सन्तप्त हो रही है ऐसी अपनी माताको प्रत्युत्तर देकर शोकरहित कर ॥७०॥ इस प्रकार विलाप करती और अत्यधिक छाती कूटती हुई केतुमतिको राजा प्रह्लाद सान्त्वना दे रहे थे पर शोकके कारण उनके नेत्रोंसे भी टप-टप आँसू गिरते जाते थे ॥७१॥ तदनन्तर पुत्रको पानेके लिए उत्सुक राजा प्रह्लाद समस्त बन्धुजनोंके साथ प्रहसितको आगेकर अपने नगरसे निकले ॥७२॥ उन्होंने दोनों श्रेणियोंमें रहनेवाले समस्त विद्याधरोंको बुलवाया सो अपने-अपने परिवारसहित समस्त विद्याधर प्रेमपूर्वक आ गये ॥७३॥ जिनके नाना प्रकारके वाहन आकाशमें देदीप्यमान हो रहे थे और जिनके नेत्र नीचे गुफाओंमें पड़ रहे थे ऐसे वे समस्त विद्याधर बड़े यत्नसे पृथ्वीकी खोज करने लगे ॥७४॥

इधर प्रह्लादके दूतसे राजा प्रतिसूर्यको जब यह समाचार मालूम हुआ तो हृदयसे शोक धारण करते हुए उसने यह समाचार अञ्जनासे कहा ॥७५॥ अञ्जना पहलेसे ही दुःखी थी अब इस भारी दुःखसे और भी अधिक दुःखी होकर वह करुण विलाप करने लगी। विलाप करते समय उसका मुख अश्रुओंसे धुल रहा था ॥७६॥ वह कहने लगी कि हाय नाथ ! आप ही तो मेरे हृदयके बन्धन थे फिर निरन्तर क्लेश भोगनेवाली अबलाको छोड़कर आप कहाँ चले गये ? ॥७७॥ क्या आज भी आप उस पुरातन क्रोधको नहीं छोड़ रहे हैं जिससे समस्त विद्याधरोंके लिए अदृश्य हो गये हैं ॥७८॥ हे नाथ ! मेरे लिए अमृत तुल्य एक भी प्रत्युत्तर दीजिए क्योंकि महापुरुष आपत्तिमें पड़े हुए प्राणियोंका हित करना कभी नहीं छोड़ते ॥७९॥ मैंने अब-तक आपके दर्शनकी आकांक्षासे ही प्राण धारण किये हैं। अब मुझे इन पापी प्राणोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥८०॥ मैं पतिके साथ समागमको प्राप्त होऊँगी, ऐसे जो मनोरथ मैंने किये थे वे आज दैवके द्वारा निष्फल कर दिये गये ॥८१॥ मुझ मन्द-भागिनीके लिए प्रिय उस अवस्थाको प्राप्त हुए होंगे जिसकी कि यह क्रूर हृदय बार-बार आशङ्का करता रहा है ॥८२॥ वसन्तमाले ! देख तो यह क्या हो रहा है ? मुझे असह्य विरहके अङ्गाररूपी शय्यापर कैसे लोटना पड़ रहा है ? ॥८३॥ वसन्तमालाने कहा कि हे देवि ! ऐसी अमाङ्गलिक रट मत लगाओ। मैं निश्चित कहती

१. मुखे म० । २. रवे म० । ३. उद्वहतं महाशोक- म० । तद्वहंतं महाशोक- क० । ४. करणं म० । ५. यदेतासि ब० । ६. मवाद्दयामि (?) म० । ७. व्युपसर्गपूर्वकरटधातोर्लुङ्मध्यमपुरुषैकवचने रूपम् । व्यरंटीः म०, ब०, ।

एष कल्याणि ते नाथमानयाम्यचिरादिति । प्रतिसूर्यः समाश्वास्य कृच्छ्रेणाञ्जनसुन्दरीम् ॥८५॥
मनोहरं समारुह्य खगयानं मनोजवम् । नभोमूर्धानमुत्पत्य वीक्षमाणः क्षितिं ययौ ॥८६॥
प्रतिभानुसमेतास्ते वैजयार्द्धा नभश्चराः । त्रैकूटाश्च प्रयत्नेन निरैक्षन्त महीतलम् ॥८७॥
अथ भूतरवाटव्यां ददृशुस्ते महाद्विपम् । प्रावृषेण्यघनोदारसंघाताकारधारिणम् ॥८८॥
अयं स कालमेघाख्यः पवनद्विप इत्यमी । अभ्यज्ञासिषुरेनश्च पूर्वदृष्टेरनेकशः ॥८९॥
अयमेष स हस्तीति जगदुश्च परस्परम् । सर्वे विद्याधराः हृष्टाः समं कृतमहारवाः ॥९०॥
नीलाञ्जनगिरिच्छायः कुन्दराशिसितद्विजः । युक्तप्रमाणहस्तोऽयं हस्ती यत्रावतिष्ठते ॥९१॥
पवनञ्जयवीरेण देशेऽत्र गतसंशयम् । भवितव्यमयं तस्य मित्रवत्पार्श्वगोचरः ॥९२॥
वदन्त इति ते याताः समीपं तस्य दन्तिनः । निरङ्कुशतया तस्य मनाग्विभ्रस्तमानसाः ॥९३॥
रवेण महता तेषां चुक्षोभ स महागजः । दुर्निवारश्चलद्भीमसमस्ताङ्गो महाजवः ॥९४॥
मदक्लिन्नकपोलोऽसौ स्तब्धकर्णः सुगर्जितः । दिशं पश्यति यामेव तत्र क्षुभ्यन्ति खेचराः ॥९५॥
दृष्ट्वा जनसमूहं तं स्वामिरक्षणतत्परः । पवनञ्जयसामीप्यं न जहाति स वारणः ॥९६॥
मण्डलेन भ्रमत्यस्य सलीलं भ्रमयन् करम् । दर्शनेनैव चण्डेन त्रासयन् सर्वखेचरान् ॥९७॥
करिणीभिरथावृत्य द्विपं यत्नेन खेचराः । वशीकृत्य तमुद्देशमवतीर्णाः समुत्सुकाः ॥९८॥

हूँ कि भर्ता तुम्हारे समीप आवेगा ॥८४॥ 'हे कल्याणि ! मैं तेरे भर्ताको अभी हाल ले आता हूँ' इस प्रकार अञ्जनाको बड़े दुःखसे आश्वासन देकर राजा प्रतिसूर्य मनके समान तीव्रवेग वाले सुन्दर विमानमें चढ़कर आकाशमें उड़ गया। वह पृथिवीको अच्छी तरह देखता हुआ जा रहा था ॥८५-८६॥ इस प्रकार विजयार्धवासी विद्याधर और त्रिकूटाचलवासी राक्षस राजा प्रतिसूर्यके साथ मिलकर बड़े प्रयत्नसे पृथिवीका अवलोकन करने लगे ॥८७॥

अथानन्तर उन्होंने भूतरव नामक अटवीमें वर्षा ऋतुके मेघके समान विशाल आकारको धारण करने वाला एक बड़ा हाथी देखा ॥८८॥ उस हाथीको उन्होंने पहले अनेक बार देखा था इसलिए 'यह पवनकुमारका कालमेघ नामक हाथी है' इस प्रकार पहिचान लिया ॥८९॥ 'यह वही हाथी है' इस प्रकार सब विद्याधर हर्षित हो जोरसे हल्ला करते हुए परस्पर एक दूसरेसे कहने लगे ॥९०॥ जो नीलगिरि अथवा अञ्जनगिरिके समान सफ़ेद हैं तथा जिसकी सूँड़ योग्य प्रमाणसे सहित है ऐसा यह हाथी जिस स्थानमें है निःसन्देह उसी स्थानमें पवनञ्जयको होना चाहिए क्योंकि यह हाथी मित्रके समान सदा उसके समीप ही रहता है ॥९१-९२॥ इस प्रकार कहते हुए सब विद्याधर उस हाथीके पास गये। चूँकि वह हाथी निरङ्कुश था इसलिए विद्याधरों का मन कुछ-कुछ भयभीत हो रहा था ॥९३॥ उन विद्याधरोंके महा शब्दसे वह महान् हाथी सचमुच ही क्षुभित हो गया। उस समय उसका रोकना कठिन था, उसका समस्त भयंकर शरीर चञ्चल हो रहा था और वेग अत्यन्त तीव्र था ॥९४॥ उसके दोनों कपोल मदसे भींगे हुए थे, कान खड़े थे और वह जोर-जोरसे गर्जना कर रहा था। वह जिस दिशामें देखता था उसी दिशा के विद्याधर क्षुभित्त हो जाते थे—भयसे भागने लगते थे ॥९५॥ उस जनसमूहको देखकर स्वामीकी रक्षा करनेमें तत्पर हाथी पवनञ्जयकी समीपताको नहीं छोड़ रहा था ॥९६॥ वह लीलासहित सूँड़को घुमाता और अपने तीक्ष्ण दर्शनसे ही समस्त विद्याधरोंको भयभीत करता हुआ पवनञ्जयके चारों ओर मण्डलाकार भ्रमण कर रहा था ॥९७॥

तदनन्तर विद्याधर यत्नपूर्वक हस्तिनियोंसे उस हाथीको घेरकर तथा वशमें कर उत्सुक

१. समासह्य म० । २. ददृशे म० । ३. धारिणाम् म० । ४. मेघाख्यपवन म० । ५. अभ्यसासिषु म० । ६. महारवः म० । ७. भययत्करम् म० ।

उपायेभ्यो हि सर्वेभ्यो वशीकरणवस्तुनि । कामिनीसङ्गमुज्झित्वा नापरं विद्यते परम् ॥९९॥
अथैक्षाञ्चक्रिरे वायुं विश्लस्ताङ्गं नभश्चराः । पुस्तकर्मसमाकारं वाचंयमतया स्थितम् ॥१००॥
यथार्हमुपचारं ते चक्रुरस्य तथाप्यसौ । न प्रयच्छति चिन्तास्थः प्रतिवाक्यं मुनिर्यथा ॥१०१॥
पुत्रप्रीत्या समाघ्राय पितरौ मस्तके मुहुः । आलिङ्ग्य च प्रमोदेन बाष्पस्थगितलोचनौ ॥१०२॥
ऊचतुर्वत्स संत्यज्य पितरौ कथमीदृशम् । चेष्टितं क्रियते त्वं हि विनीतानां धुरिस्थितः ॥१०३॥
वरशय्योचितः कायस्तवायं विजने वने । संवाहितः कथं भीमे रात्रौ पादपगह्वरे ॥१०४॥
इति संभाष्यमाणोऽपि नासौ वाचमुदाहरत् । मरणे निश्चितोऽस्मीति संज्ञयैव न्यवेदयत् ॥१०५॥
व्रतमेतन्मयोपात्तं यदप्राप्य महेन्द्रजाम् । न भुञ्जे न वदामीति तत्कथं भज्यतेऽधुना ॥१०६॥
आस्तां तावत्प्रिया सत्यव्रतं संरक्षता मया । गुरू [1]प्रश्वासितावेतौ कथमित्याकुलोऽभवत् ॥१०७॥
ततस्तं नतमूर्धानं मौनव्रतसमाश्रितम् । मरणे निश्चितं ज्ञात्वा जग्मुर्विद्याधराः शुचम् ॥१०८॥
समेतास्तत्पितृभ्यां ते विलेपुर्दीनमानसाः । संस्पृशन्तः करैरस्य शरीरं स्वेदधारिभिः ॥१०९॥
ततः स्मितमुखोऽवोचत् प्रतिसूर्यो नभश्चरान् । मा भूत विक्लवा वायुमेष वो भाषयाम्यहम् ॥११०॥
पवनं च परिष्वज्य जगादानुक्रमान्वितम् । कुमार शृणु यद्वृत्तं कथयामि तवाखिलम् ॥१११॥
सन्ध्याभ्रपर्वते रम्ये मुनेः कैवल्यमुद्गतम् । अनङ्गवीचिसंज्ञस्य देवेन्द्रक्षोभकारणम् ॥११२॥
वन्दित्वा तं प्रदीपेन रात्रावागच्छता मया । रुदितध्वनिरश्रावि क्षीणस्तन्त्रीस्वनोपमः ॥११३॥

होते हुए उस स्थान पर उतरे ॥९८॥ वशीकरणके समस्त उपायोंमें स्त्रीसमागमको छोड़कर और दूसरा उत्तम उपाय नहीं है ॥९९॥ अथानन्तर जिसका समस्त शरीर ढीला हो रहा था, चित्र-लिखितके समान जिसका आकार था और जो मौनसे बैठा था ऐसे पवनञ्जयको विद्याधरोंने देखा ॥१००॥ यद्यपि सब विद्याधरोंने उसका यथायोग्य उपचार किया तो भी वह मुनिके समान चिन्तामें निमग्न बैठा रहा—किसीसे कुछ नहीं कहा ॥१०१॥ माता पिताने पुत्रकी प्रीतिसे उसका मस्तक सूँघा, बार बार आलिङ्गन किया और इस हर्षसे उनके नेत्र आँसुओंसे आच्छादित हो गये ॥१०२॥ उन्होंने कहा भी कि हे बेटा ! तुम माता-पिताको छोड़कर ऐसी चेष्टा क्यों करते हो ? तुम तो विनीत मनुष्योंमें सबसे आगे थे ॥१०३॥ तुम्हारा शरीर उत्कृष्ट शय्या पर पड़ने के योग्य है पर तुमने आज इसे भयंकर एवं निर्जन वनके बीच वृक्षकी कोटरमें क्यों डाल रक्खा है ? ॥१०४॥ माता-पिताके इस प्रकार कहने पर भी उसने एक शब्द नहीं कहा। केवल इशारेसे यह बता दिया कि मैं मरनेका निश्चय कर चुका हूँ ॥१०५॥ मैंने यह व्रत कर रक्खा है कि अञ्जना को पाये बिना मैं न भोजन करूँगा और न बोलूँगा। फिर इस समय वह व्रत कैसे तोड़ दूँ ? ॥१०६॥ अथवा प्रियाकी बात जाने दो, सत्य-व्रतकी रक्षा करता हुआ मैं इन माता-पिताको किस प्रकार संतुष्ट करूँ यह सोचता हुआ वह कुछ व्याकुल हुआ ॥१०७॥ तदनन्तर जिसका मस्तक नीचेकी ओर झुक रहा था और जो मौनसे चुपचाप बैठा था ऐसे पवनञ्जयको मरनेके लिए कृतनिश्चय जानकर विद्याधर शोकको प्राप्त हुए ॥१०८॥ जिनके हृदय अत्यन्त दीन थे और जो स्वेदको धारण करने वाले हाथोंसे पवनञ्जयके शरीरका स्पर्श कर रहे थे ऐसे सब विद्याधर उसके माता-पिताके साथ विलाप करने लगे ॥१०९॥

तदनन्तर हँसते हुए प्रतिसूर्यने सब विद्याधरोंसे कहा कि आपलोग दुःखी न हों। मैं आप लोगोंसे पवन कुमारको बुलवाता हूँ ॥११०॥ तथा पवनञ्जयका आलिङ्गन कर क्रमानुसार उससे कहा कि हे कुमार ! सुनो, जो कुछ भी वृत्तान्त हुआ है वह सब मैं कहता हूँ ॥१११॥ संध्याभ्र नामक मनोहर पर्वतपर अनङ्गवीचि नामक मुनिराजको इन्द्रोंमें क्षोभ उत्पन्न करने वाला केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥११२॥ मैं उनकी वन्दना कर दीपकके सहारे रात्रिको चला आ रहा था

---

१. प्रशासितावेतौ म० ।

[1]अदौकिंचि तमुद्देशं गिरेः प्रस्थं समुन्नतम् । पर्यङ्कनाम्नि दृष्टा च गुहायामञ्जना मया ॥११४॥
निर्वासकारणं चास्या विज्ञाय विनिवेदितम् । मया प्राश्वासिता बाला रुदती[2] शोकविह्वला ॥११५॥
तस्यामसूत सा पुत्रमन्वितं लक्षणैः शुभैः । यस्य भासा गुहा सासीत् सुवर्णेनेव निर्मिता ॥११६॥
[3]स तोषं परमं प्राप्तः श्रुत्वा तां जातपुत्रिकाम् । ततस्तत इति क्षिप्रमपृच्छच्च समीरणः ॥११७॥
अवोचत् स ततस्तस्याः सुतोऽसौ चारुचेष्टितः । विमाने स्थाप्यमानः सन् पतितः शैलगह्वरे ॥११८॥
अत्रान्तरे पुनः प्राप्तो विषादं पवनञ्जयः । हाकारमुखरः सार्द्धं तया खेचरसेनया ॥११९॥
प्रतिभानुः पुनश्चोचे मा गाः शोकं ततः शृणु । यद्वृत्तं तत्समस्तं ते [4]वायो दुःखं हरिष्यति ॥१२०॥
ततो हाकारशब्देन मुखरीकृतदिङ्मुखाः । अवतीर्यानघं बालमैक्षिष्महि नगान्तरे ॥१२१॥
चूर्णितश्च ततः शैलस्तेनासौ पतनात्तदा । श्रीशैल इति तेनासावस्माभिर्विस्मितैः स्तुतः ॥१२२॥
वसन्तमालया सार्कं ततः पुत्रेण संयुता । विमानमञ्जनारोप्य मया नीता निजं पुरम् ॥१२३॥
ततो हनूरुहाभिख्ये पुरे संवर्द्धितः शिशुः । हनूमानिति तेनास्य द्वितीयं नाम निर्मितम् ॥१२४॥
एषा ते कथिता सार्कं पुत्रेणाद्भुतकर्मणा । मत्पुरे शीलसम्पन्ना तिष्ठतीति विबुध्यताम् ॥१२५॥
पुरस्कृत्य ततो वायुं हृष्टा गगनचारिणः । क्षिप्रं हनूरुहं जग्मुरञ्जनादर्शनोत्सुकाः ॥१२६॥
तेषां महोत्सवस्तत्र समागमकृतोऽभवत् । सुसंवेद्यस्तु दम्पत्योर्दुराख्यानो विशेषतः ॥१२७॥
तत्र मासद्वयं नीत्वा खेचराः प्रीतमानसाः । आमन्त्र्य लब्धसन्माना ययुः स्थानं यथायथम् ॥१२८॥

कि मैंने वीणाके शब्दके समान किसी स्त्रीके रोनेका शब्द सुना ॥११३॥ मैं उस शब्दको लक्ष्यकर पर्वतकी ऊँची चोटी पर गया। वहाँ मुझे पर्यङ्कनामकी गुफामें अञ्जना दिखी ॥११४॥ इसके निर्वासका कारण जो बताया गया था उसे जानकर शोकसे विह्वल होकर रोती हुई उस बालाको मैंने सान्त्वना दी ॥११५॥ उसी गुफामें उसने शुभ लक्षणोंसे युक्त ऐसा पुत्र उत्पन्न किया कि जिसकी प्रभासे वह गुफा सुवर्णसे बनी हुई के समान हो गई ॥११६॥ अञ्जनाके पुत्र हो चुका है यह जानकर पवनञ्जय परम संतोषको प्राप्त हुआ और फिर क्या हुआ ? फिर क्या हुआ ? यह शीघ्रतासे पूछने लगा ॥११७॥ प्रतिसूर्यने कहा कि उसके बाद अञ्जनाके उस सुन्दर चेष्टाओंके धारक पुत्रको विमानमें बैठाया जा रहा था कि वह पर्वतकी गुफामें गिर गया ॥११८॥ यह सुनकर हाहाकार करता हुआ पवनञ्जय विद्याधरोंकी सेनाके साथ पुनः विषादको प्राप्त हुआ ॥११९॥ तब प्रतिसूर्यने कहा कि शोकको प्राप्त मत होओ। जो कुछ वृत्तान्त हुआ वह सब सुनो। हे पवन ! पूरा वृत्तान्त तुम्हारे दुःखको दूर कर देगा ॥१२०॥ प्रतिसूर्य कहता जाता है कि तदनन्तर हाहाकारसे दिशाओंको शब्दायमान करते हुए हम लोगोंने नीचे उतरकर पर्वतके बीच उस निर्दोष बालकको देखा ॥१२१॥ चूँकि उस बालकने गिरकर पर्वतको चूर-चूर कर डाला था इसलिए हम लोगोंने विस्मित होकर उसकी 'श्रीशैल' इस नामसे स्तुति की ॥१२२॥ तदनन्तर पुत्रसहित अञ्जनाको वसन्तमालाके साथ विमानमें बैठाकर मैं अपने नगर ले गया ॥१२३॥ आगे चलकर चूँकि उसका हनूरुह द्वीपमें संवर्धन हुआ है इसलिए हनूमान् यह दूसरा नाम भी रखा गया है ॥१२४॥ इस तरह आपने जिसका कथन किया है वह शीलवती अञ्जना आश्चर्यजनक कार्य करनेवाले पुत्रके साथ मेरे नगरमें रह रही है सो ज्ञात कीजिए ॥१२५॥ तदनन्तर हर्षसे भरे विद्याधर अञ्जनाके देखनेके लिए उत्सुक हो पवनञ्जयको आगेकर शीघ्र ही हनूरुह नगर गये ॥१२६॥ वहाँ अञ्जना और पवनञ्जयका समागम हो जानेसे विद्याधरोंको महान् उत्सव हुआ। दोनों दम्पतियोंको जो उत्सव हुआ था वह स्वसंवेदनसे ही जाना जा सकता था विशेषकर उसका कहना अशक्य था ॥१२७॥ वहाँ विद्याधरोंने प्रसन्नचित्तसे दो महीने व्यतीत किये।

१. अदौकत म० । २. रुदन्ती क० । ३. तोषं च म०, ज०, ब०, क० । ४. वायोर्दुःखं म०, क०, ज० ।

चिरात्संप्राप्तपत्नीकः पवनोऽपि सुचेष्टितः । तत्र गीर्वाणवद्रेमे सुतचेष्टाभिनन्दितः ॥१२९॥
हनूमांस्तत्र संप्राप्य यौवनश्रियमुत्तमाम् । मेरुकूटसमानाङ्गः स्तेनकः सर्वचेतसाम् ॥१३०॥
सिद्धविद्यः प्रभावाढ्यो विनयज्ञो महाबलः । सर्वशास्त्रार्थकुशलः परोपकृतिदक्षिणः ॥१३१॥
नाकोपभुक्तपाकस्य पुण्यशेषस्य भोजकः[1] । रमते स्म पुरे तत्र गुरुपूजनतत्परः ॥१३२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

श्रीशैलस्य समुद्भवेन सहितं वायोः समं कान्तया
यो भावेन शृणोति सङ्गममिमं नानारसैरद्भुतम् ।
जन्तोस्तस्य समस्तसंसृतिविधिज्ञानेन लब्धात्मनो
बुद्धिर्नाशुभकर्मणि प्रभवति प्रारब्धसत्कर्मणः ॥१३३॥
आयुर्दीर्घमुदारविभ्रमयुतं कान्तं वपुर्नीरुजं[2]
मेधां सर्वकृतान्तपारविषयां[3] कीर्तिं च चन्द्रामलाम् ।
पुण्यं स्वर्गसुखोपभोगचतुरं लोके च यद्दुर्लभं
तत्सर्वं सकृदश्नुते रविरिव स्फीतप्रभामण्डलम् ॥१३४॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते पवनाञ्जनासमागमाभिधानं नामाष्टादशं पर्व ॥१८॥

तदनन्तर पूछकर सम्मान प्राप्त करते हुए सब यथास्थान चले गये ॥१२८॥ चिरकालके बाद पत्नी-को पाकर पवनञ्जयकी चेष्टाएँ भी ठीक हो गई और वह पुत्रकी चेष्टाओंसे आनन्दित होता हुआ वहाँ देवकी तरह रमण करने लगा ॥१२९॥ हनूमान् भी वहाँ उत्तम यौवन-लक्ष्मीको पाकर सबके चित्तको चुराने लगा तथा उसका शरीर मेरु पर्वतके शिखरके समान देदीप्यमान हो गया ॥१३०॥ उसे समस्त विद्याएँ सिद्ध हो गई थीं, प्रभाव उसका निराला ही था, विनयका वह जानकार था, महा बलवान् था, समस्त शास्त्रोंका अर्थ करनेमें कुशल था, परोपकार करनेमें उदार था, स्वर्गमें भोगनेसे बाकी बचे पुण्यका भोगने वाला था और गुरुजनोंकी पूजा करनेमें तत्पर था। इस तरह वह उस नगरमें बड़े आनन्दसे क्रीड़ा करता था ॥१३१-१३२॥

गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! जो हनूमान्के साथ-साथ नाना रसोंसे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले इस अञ्जना और पवनञ्जयके संगमको भावसे सुनता है उसे संसारकी समस्त विधिका ज्ञान हो जाता है तथा उस ज्ञानके प्रभावसे उसे आत्म-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे वह उत्तम कार्य ही प्रारम्भ करता है और अशुभ कार्यमें उसकी बुद्धि प्रवृत्त नहीं होती ॥१३३॥ वह दीर्घ आयु, उदार विभ्रमोंसे युक्त, सुन्दर नीरोग शरीर, समस्त शास्त्रोंके पारको विषय करनेवाली बुद्धि, चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्ति, स्वर्ग-सुखका उपभोग करनेमें चतुर, पुण्य तथा लोकमें जो कुछ भी दुर्लभ पदार्थ हैं उन सबको एक बार उस तरह प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार कि सूर्य देदीप्यमान कान्तिके मण्डल को ॥१३४॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य द्वारा कथित पद्मचरितमें पवनञ्जय और अञ्जनाके समागमका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१८॥

---

१. योजकः म० । २. नीरजं म० । ३. सर्वशास्त्रपारविषयाम् ।

एकोनविंशतितमं पर्व

रावणोऽथ वहन् दीर्घं क्रोधमप्राप्तनिर्वृतिः । [1]आहुढौकत् पुनः सर्वान् खेचरान् लेखहारिभिः ॥१॥
किष्किन्धेन्द्रस्तमभ्यागात्तथा दुन्दुभिसंज्ञकः । अलङ्काराधिपो यश्च [2]रथनूपुरपस्तथा ॥२॥
विजयार्द्धनगे ये च श्रेणिद्वयनिवासिनः । सर्वोद्योगेन ते सर्वे प्राप्ता रत्नश्रवःसुतम् ॥३॥
अथो हनूरुहद्वीपं नरो मस्तकलेखकः । प्राप्तः पवनवेगस्य प्रतिसूर्यस्य चान्तिकम् ॥४॥
लेखार्थमभिगम्यैतौ प्रयाणन्यस्तमानसौ । श्रीशैलस्योद्यतौ कर्तुमभिषेकं नृपास्पदे ॥५॥
कृतस्तदर्थमाटोप[3]स्तूर्यशब्दादिको महान् । नराः कलशहस्ताश्च श्रीशैलस्य पुरः स्थिताः ॥६॥
किमेतदिति तौ तेन पृष्टाविदमवोचताम् । राज्यं हनूरुहद्वीपे वत्स त्वं पालयाधुना ॥७॥
युद्धे सहायतां कर्तुमावामीशेन रक्षसाम् । आहूतौ तस्य कर्तव्यं प्रीत्यावाभ्यां यथोचितम् ॥८॥
रसातलपुरे तस्य वरुणः प्रत्यवस्थितः । दुर्जयोऽसौ महासैन्यः पुत्रदुर्गबलोत्कटः ॥९॥
हनूमानेवमुक्तः सन् विनयेनेदमब्रवीत् । मयि स्थिते न युक्तं वां[4] गन्तुमायोधनं गुरू ॥१०॥
अविज्ञातरणास्वादो वत्स त्वमिति भाषिते । जगाद किं शिवस्थानं कदाचि[5]ल्लब्धमाप्यते ॥११॥
यदी निवार्यमाणोऽपि न स्थातुं कुरुते मनः । तदा ताभ्यामनुज्ञातः स युवा गमनं प्रति ॥१२॥
स्नात्वा भुक्त्वा च पूर्वाह्णे मङ्गलार्चितविग्रहः । [6]कृतप्रणामः सिद्धानामर्हतांश्च प्रयत्नतः ॥१३॥

अथानन्तर रावणको संतोष नहीं हुआ सो उसने बहुत भारी क्रोध धारण कर पत्रवाहकोंके द्वारा समस्त विद्याधरोंको फिरसे बुलाया ॥१॥ किष्किन्धाका राजा, दुन्दुभि, अलंकारपुरका अधिपति, रथनूपुर पुरका स्वामी तथा विजयार्द्ध पर्वतकी दोनों श्रेणियोंमें निवास करनेवाले अन्य समस्त विद्याधर सब प्रकारकी तैयारीके साथ रावणके समीप जा पहुँचे ॥२-३॥ तदनन्तर मस्तकपर लेखको धारण करनेवाला एक मनुष्य हनूरुह द्वीपमें पवनञ्जय और प्रतिसूर्यके पास भी आया ॥४॥ लेखका अर्थ समझकर दोनोंने रावणके पास जानेका विचार किया सो वहाँ जानेके पूर्व वे राज्यपदपर हनूमान्का अभिषेक करनेके लिए उद्यत हुए ॥५॥ राज्याभिषेककी बड़ी तैयारी की गई। तुरही आदि वादित्रोंका बड़ा शब्द होने लगा और मनुष्य हाथमें कलश लेकर हनूमान्के सामने खड़े हो गये ॥६॥ हनूमान्ने पवनञ्जय और प्रतिसूर्यसे पूछा कि यह क्या है? तब उन्होंने कहा कि हे वत्स! अब तुम हनूरुह द्वीपके राज्यका पालन करो ॥७॥ हम दोनोंको रावणने युद्धमें सहायता करनेके लिए बुलाया है सो हमें प्रेमपूर्वक यथोचित रूपसे आज्ञा-पालन करना चाहिए ॥८॥ रसातलपुरमें जो वरुण रहता है वही उसके विरुद्ध खड़ा हुआ है। उसकी बहुत बड़ी सेना है तथा वह पुत्र और दुर्गके बलसे उत्कट होनेके कारण दुर्जय है ॥९॥ ऐसा कहनेपर हनूमान्ने विनयसे उत्तर दिया कि मेरे रहते हुए आप गुरुजनोंका युद्धके लिए जाना उचित नहीं है ॥१०॥ 'हे बेटा! अभी तुमने रणका स्वाद नहीं जाना है' ऐसा जब उससे कहा गया तब उसने उत्तर दिया कि जो मोक्ष प्राप्त होता वह क्या कभी पहले प्राप्त किया हुआ होता है? जब रोकनेपर भी उसने रुकनेका मन नहीं किया तब उन दोनोंने उस युवाको जानेकी स्वीकृति दे दी ॥११-१२॥

तदनन्तर प्रातःकाल स्नान कर जिसने अरहन्त और सिद्ध भगवान्को प्रयत्नपूर्वक प्रणाम किया था, भोजन कर शरीरपर मङ्गलद्रव्य धारण किये थे, जो महा तेजसे सहित था तथा सब

---

१. अहुढौकत् म०, ब०। २. रथनूपुरकस्तथा ब०, म०, ज०। ३. सूर्यशब्दादिको म०। ४. युवयोः। ५. लब्धुमाप्यते म०। ६. कृतः प्रणामः म०।

पितरं मातरं मातुर्मातुलं च महाद्युतिः । प्रणम्याशेषवर्गं च संभाष्य विधिकोविदः ॥१४॥
विमानं सूर्यसंकाशं समारुह्य दिशो दश । व्याप्य शस्त्रसमूहेन ययौ लङ्कापुरीं प्रति ॥१५॥
त्रिकूटाभिमुखो गच्छन्विमानेऽसावराजत । मन्दराभिमुखो यद्वदैशानस्त्रिदशाधिपः ॥१६॥
जलवीचिगिरौ तस्य रविरस्तमुपागमत् । समुद्रवीचिसन्तानचुम्बितोरुनितम्बके ॥१७॥
तत्र रात्रिं सुखं नीत्वा कृतसद्भटसंकथः । महोत्साहेन संनद्ध ययौ लङ्काहितेक्षणः ॥१८॥
नानाजनपदान् द्वीपान्नगानूर्मिसमाहतान् । ग्राहांश्च जलधौ पश्यन् रक्षःसैन्यमवाप सः ॥१९॥
दृष्ट्वा हनूमतः सैन्यं पुरुराक्षसपुङ्गवाः । विस्मयं परमं जग्मुः श्रीशैलाहितलोचनाः[1] ॥२०॥
चूर्णितोऽनेन शैलोऽसौ सोऽयं भव्यजनोत्तमः । इति शब्दमसौ शृण्वन् रावणस्य गतोऽन्तिकम् ॥२१॥
मारुतिं[2] रावणो वीक्ष्य कुसुमैरभिपूरितात् । सौरभाकृष्टसंभ्रान्तगुञ्जन्मत्तमधुव्रतात् ॥२२॥
उपरिन्यस्तरत्नांशुच्छुरिताम्बर[3]मण्डपात् । पर्यन्तस्थितसामन्तादभ्युत्तस्थौ शिलातलात् ॥२३॥
परिष्वज्य हनूमन्तं विनयानतविग्रहम् । उपविष्टः समं तेन तत्र प्रीतिस्मिताननः ॥२४॥
अन्योन्यं कुशलं पृष्ट्वा दृष्ट्वान्योन्यस्य सम्पदम् । रेमाते तौ महाभाग्यौ देवेन्द्राविव सङ्गतौ ॥२५॥
अथावोचद्दशग्रीवः प्रमदान्वितमानसः । हनूमन्तं मुहुः पश्यन्नत्यन्तस्निग्धया दृशा ॥२६॥
अहो संवर्द्धितं प्रेम वायुना मम साधुना । यदयं प्रेषितः पुत्रः प्रख्यातगुणसागरः ॥२७॥
एनं प्राप्य महासत्त्वं [4]तेजोमण्डलभूषितम् । नैव मे दुस्तरं किञ्चिद्भविष्यत्यत्र विष्टपे ॥२८॥

विधि-विधानके जाननेमें निपुण था ऐसा हनूमान् माता-पिता तथा माताके मामाको प्रणाम कर और समस्त लोगोंसे संभाषण कर सूर्यके समान चमकते हुए विमानपर बैठकर शस्त्रोंके समूहसे दशों दिशाओंको व्याप्त करता हुआ लङ्कापुरीकी ओर चला ॥१३-१५॥ विमानमें बैठकर त्रिकूटाचलके सन्मुख जाता हुआ हनूमान् ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि मेरुके सन्मुख जाता हुआ ऐशानेन्द्र सुशोभित होता है ॥१६॥ समुद्रकी लहरोंकी सन्तति जिसके विशाल नितम्बको चूम रही थी ऐसे जल-वीचि गिरि पर जब वह पहुँचा तब सूर्य अस्त होगया ॥१७॥ सो वहाँ उत्तम योद्धाओंके साथ वार्तालाप करते हुए उसने सुखसे रात्रि बिताई और प्रातःकाल होनेपर बड़े उत्साहसे लङ्काकी ओर दृष्टि रखकर आगे चला ॥१८॥ इस तरह नाना देशों, द्वीपों, तरङ्गोंसे आहत, पर्वतों और समुद्रमें किलोलें करते मगर-मच्छोंको देखता हुआ राक्षसोंकी सेनामें जा पहुँचा ॥१९॥ हनूमान्‌की सेना देखकर बड़े-बड़े राक्षसोंके शिरोमणि हनूमान्‌की ओर दृष्टि लगाकर परम आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥२०॥ जिसने पर्वतको चूर्ण किया था यह वही भव्य जनोत्तम है इस शब्दको सुनता हुआ हनूमान् रावणके समीप गया ॥२१॥ उस समय रावण उस शिलातलपर बैठा था जो कि फूलोंसे व्याप्त था, सुगन्धिके कारण खिंचे हुए मदोन्मत्त भ्रमर जिसपर गुञ्जार कर रहे थे, जिसके ऊपर रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त कपड़ेका उत्तम मण्डप लगा हुआ था और जिसके चारों ओर सामन्त लोग बैठे थे। रावण हनूमान्‌को देखकर उस शिलातलसे उठकर खड़ा हो गया ॥२२-२३॥ तदनन्तर विनयसे जिसका शरीर झुक रहा था ऐसे हनूमान्‌का आलिङ्गन कर वह प्रीतिसे हँसता हुआ उसके साथ उसी शिलातलपर बैठ गया ॥२४॥ परस्परकी कुशल पूछकर तथा एक दूसरेकी सम्पदा देखकर दोनों महा भाग्यशाली इस तरह रमण करने लगे मानो दो इन्द्र ही परस्पर मिले हों ॥२५॥

अथानन्तर जो प्रसन्न चित्तका धारक था और अत्यन्त स्नेहभरी दृष्टिसे बार-बार उसी की ओर देख रहा था ऐसा रावण हनूमान्‌से बोला कि ॥२६॥ अहो, सज्जनोत्तम पवनकुमारने मेरे साथ खूब प्रेम बढ़ाया है जो प्रसिद्ध गुणोंके सागरस्वरूप इस पुत्रको भेजा है ॥२७॥ इस महा-

१. श्रीशैलहितलोचनाः म० । २. हनूमन्तम् । ३. -च्छुरितावर- म० । ४. तेजोमङ्गल- म० ।

गुणेषु भाष्यमाणेषु श्रीशैलो नतविग्रहः । सव्रीड इव संवृत्तः प्रायो वृत्तिरियं सताम् ॥२९॥
भविष्यतोऽथ संग्रामाद्भयेनेव दिवाकरः । अस्तं सेवितुमारेभे मन्दारुणकरोत्करः ॥३०॥
सन्ध्यास्य पृष्ठतो यान्ती वहन्ती रागमुत्कटम् । शुशुभे प्राणनाथस्य विनीता रमणी यथा ॥३१॥
ततो निशावधू रेजे कृतचन्द्रविशेषका । कुर्वाणानुगतिं भर्तुर्वासरस्य निरन्तरम् ॥३२॥
अन्येद्युर्भानुभिर्भानोरुज्ज्वले भुवने कृते । दशग्रीवः सुसन्नद्धः समस्तबलमध्यगः ॥३३॥
आसन्नस्थहनूमत्कः कृतमङ्गलविग्रहः । विद्यया जलधिं भित्त्वा प्रयातो वारुणं[1] पुरम् ॥३४॥
[2]प्रत्यरिं व्रजतोऽमुष्य दीप्तिरासीदनुत्तमा । कुठार[3]राममुद्दिश्य सुभूमस्येव चक्रिणः ॥३५॥
ज्ञात्वा दशाननं प्राप्तं[4] सैन्यनिस्वनसूचितम् । संचुक्षोभ पुरं सर्वं वरुणस्य महारवम् ॥३६॥
पातालपुण्डरीकाख्यं[5] तत्पुरं प्रबलध्वजम् । सुरत्नतोरणं जातं सन्नाहरवसङ्कुलम् ॥३७॥
तत्रासुरपुराकारे पुरे सर्वमनोहरे । आसीच्चकितनेत्राणां स्त्रीणामाकुलता परा ॥३८॥
योधास्तत्र निराक्रामन् समा[6] भवनवासिनाम् । चमरासुरतुल्यश्च वरुणः शौर्यगर्वितः ॥३९॥
तस्य पुत्रशतं तावदुत्थितं योद्धुमुद्धतम् । नाना प्रहरणव्रातरुद्धभास्करदर्शनम् ॥४०॥
आपातमात्रकेणैव भग्नं तै राक्षसं बलम् । असुराणामिवोदारैः कुमारैः क्षौद्रदैवतम्[7] ॥४१॥

बलवान् तथा तेजोमण्डलके धारक वीरको पाकर मुझे इस संसारमें कोई भी कार्य कठिन नहीं रह जायगा ॥२८॥ जब रावण हनूमान्के गुणोंका वर्णन कर रहा था तब वह लज्जितके समान नम्र शरीरका धारक हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी यही वृत्ति है ॥२९॥ तदनन्तर जिसकी किरणोंका समूह लाल पड़ गया था ऐसा सूर्य मानो होनेवाले संग्रामके भयसे ही अस्त हो गया था ॥३०॥ उसके पीछे-पीछे जाती और उत्कट राग अर्थात् लालिमा (पक्षमें प्रेम) को धारण करती हुई संध्या ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो अपने प्राणनाथके पीछे-पीछे जाती हुई विनीत स्त्री—कुलवधू ही हो ॥३१॥ जो निरन्तर सूर्यके पीछे-पीछे चला करती थी ऐसी रात्रिरूपी वधू चन्द्रमारूपी तिलक धारण कर अतिशय सुशोभित होने लगी ॥३२॥ दूसरे दिन जब सूर्यकी किरणोंसे संसार प्रकाशमान हो गया तब रावण तैयार होकर वरुणके नगरकी ओर चला। उस समय रावण अपनी समस्त सेनाके मध्यमें चल रहा था। हनूमान् उसके पास ही स्थित था और मङ्गलद्रव्य उसने शरीरपर धारण कर रक्खे थे। वह विद्याके द्वारा समुद्रको भेदन कर वरुणके नगरकी ओर चला ॥३३–३४॥ जिस प्रकार परशुरामको लक्ष्य कर चलनेवाले सुभौम चक्रवर्तीकी अनुपम दीप्ति थी उसी प्रकार शत्रुके सन्मुख जानेवाले रावणकी दीप्ति भी अनुपम थी ॥३५॥ सेनाकी कल-कलसे दशाननको आया जान वरुणका समस्त नगर क्षुभित हो गया उसमें बड़ा कुहराम मच गया ॥३६॥ वरुणका वह नगर पातालपुण्डरीक नामसे प्रसिद्ध था। उसमें मजबूत ध्वजाएँ लगी हुई थीं और रत्नमयी तोरण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे, पर रावणके पहुँचने पर सारा नगर युद्धकी तैयारी सम्बन्धी कल-कलसे व्याप्त हो गया ॥३७॥ असुरोंके नगरके समान सबके मनको हरनेवाले उस नगरमें खास कर स्त्रियोंमें बड़ी आकुलता उत्पन्न हो रही थी। भयसे उनके नेत्र चकित हो गये थे ॥३८॥ वहाँ भवनवासी देवोंके समान जो योद्धा थे वे बाहर निकल आये तथा चमरेन्द्रके समान पराक्रमसे गर्वीला वरुण भी निकलकर बाहर आया ॥३९॥ जिन्होंने नाना प्रकारके शस्त्रोंके समूहसे सूर्यका दिखना रोक दिया था ऐसे वरुणके सौ पराक्रमी पुत्र भी युद्ध करनेके लिए उठ खड़े हुए ॥४०॥ सो जिस प्रकार असुरकुमार अन्य क्षुद्र देवताओंको क्षण एकमें पराजित कर देते हैं उसी प्रकार वरुणके सौ पुत्रोंने क्षण एकमें ही राक्षसोंकी सेनाको परा-

१. वरुणं म० । २ प्रत्यरि म०, ज०, क०, ख० । ३. परशुरामम् । ४. प्राप्य म० । ५. -पौण्डरीकाख्यं म० । ६. महाभवन ख०, ज० । ७. क्षुद्रदैवतम् म०, ब० ।

अन्तर्भ्रातृशतेनैतद्राक्षसानां बलं क्षतम् । गोयूथवदरं चक्रे भ्रमणं भयसंकुलम् ॥४२॥
चक्रचापघनप्रासशतघ्नीप्रभृतीनि च । शस्त्राणि रक्षसां पेतुः करात्प्रस्वेदपिच्छलात् ॥४३॥
ततस्तं शरजालेन समालोक्याकुलीकृतम् । स्वसैन्यं वेगवद्वर्षंहतोऽरुणकरोपमम् ॥४४॥
[1]विंशत्यर्द्धमुखः क्रुद्धो भित्वा रिपुबलं क्षणात् । प्रविष्टः पातयन्वीरान् गजेन्द्र इव पादपान् ॥४५॥
ततोऽसौ युगपत्पुत्रैः वरुणस्य समावृतः । आदित्य इव गर्जद्भिः प्रावृषेण्यबलाहकैः ॥४६॥
तस्येषुभिर्वपुर्भिन्नं सर्वदिग्भ्यः समागतैः । तथापि मानिसिंहोऽसौ न मुञ्चति रणाजिरम् ॥४७॥
भास्करश्रवणः श्रेष्ठो नृणामिन्द्रजितस्तथा । अन्ये च रक्षसां नाथा वरुणेनाग्रतः कृताः ॥४८॥
ततो लक्षीकृतं दृष्ट्वा शराणां वरुणात्मजैः । रावणं शोणितस्रुत्या[2] किंशुकोत्करसन्निभम् ॥४९॥
रथमाशु [3]समारुह्य महापुरुषमध्यगम् । बन्धुवत्प्रीतिचेतस्कः स[4] रराज तमोरविः ॥५०॥
मारुतिर्मारुतं वेगाज्जयन्[5] जयकृतादरः । उद्यतः कालवद्योद्धुं रविमण्डलभासुरः ॥५१॥
तेन [6]वारुणयः सर्वे प्रेरिताः प्रपलायिताः । [7]महारयसमीरेण घनसंघा इवोन्नताः ॥५२॥
प्रविष्टः परसैन्यं स दृष्टोऽन्यत्र मुहुर्मुहुः । कदलीकाननच्छेदक्रीडां चक्रेऽरिमूर्तिषु ॥५३॥
कञ्चिल्लाङ्गूल पाशेन विद्यारचितमूर्तिना । आकर्षत्परमं वीरं स्नेहेन सुहृदं यथा ॥५४॥

जित कर दिया ॥४१॥ जिसके अन्दर सौ भाई अपनी कला दिखा रहे थे ऐसी वरुणको सेनासे खण्डित हुई रावणकी सेना गायोंके झुण्डके समान भयभीत हो तितर-बितर हो गई ॥४२॥ राक्षसोंके हाथ पसीनेसे गीले हो गये जिससे चक्र, धनुष, घन, प्रास, शतघ्नी आदि शस्त्र उनसे छूट-छूट कर नीचे गिरने लगे ॥४३॥ तदनन्तर रावणने देखा कि हमारी सेना बाणोंके समूहसे व्याकुल होकर प्रातःकालीन सूर्यकी किरणोंके समान लाल-लाल हो रही है तब वह बाणोंकी वेगशाली वर्षासे स्वयं ताडित होता हुआ भी क्रुद्ध हो क्षण एकमें शत्रुदलको भेदकर भीतर घुस गया और जिस प्रकार गजराज वृक्षोंको नीचे गिराता है उसी प्रकार वरुणकी सेनाके वीरोंको मार-मारकर नीचे गिराने लगा ॥४४-४५॥ तदनन्तर वरुणके सौ पुत्रोंने रावणको इस प्रकार घेर लिया जिस प्रकार कि वर्षाऋतुके गरजते हुए बादल सूर्यको घेर लेते हैं ॥४६॥ यद्यपि सब दिशाओंसे आनेवाले बाणोंसे रावणका शरीर खण्डित हो गया तो भी वह अभिमानी युद्धके मैदानको नहीं छोड़ रहा था ॥४७॥ उधर वरुणने भी देदीप्यमान कानोंको धारण करनेवाले नरश्रेष्ठ इन्द्रजित् तथा राक्षसोंके अन्य अनेक राजाओंको अपने सामने किया अर्थात् उनसे युद्ध करने लगा ॥४८॥

तदनन्तर वरुणके पुत्रोंने जिसे अपने बाणोंका निशाना बनाया था और जो रुधिरके बहनेसे पलाशके फूलोंके समूहके समान जान पड़ता था ऐसे रावणको देखकर हनूमान् शीघ्र ही महापुरुषोंके बीचमें चलनेपर रथपर सवार हुआ। उस समय उसका चित्त रावणके भाईके समान प्रीतिसे युक्त था तथा वह सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥४९-५०॥ तत्पश्चात् जो अपने वेगसे पवनको जीत रहा था, विजय प्राप्त करनेमें जिसका आदर था और जो सूर्यमण्डलके समान देदीप्यमान हो रहा था ऐसा हनूमान् यमराजके समान युद्ध करनेके लिए उद्यत हुआ ॥५१॥ सो जिस प्रकार महावेगशाली वायुसे प्रेरित उन्नत मेघोंका समूह इधर-उधर उड़ जाता है उसी प्रकार हनूमान्के द्वारा प्रेरित हुए वरुणके सब पुत्र इधर-उधर भाग खड़े हुए ॥५२॥ वह बार-बार शत्रुओंके शरीरोंके साथ कदली वनको छेदनेकी क्रीड़ा करता था अर्थात् शत्रुओंके शरीरको कदली वनके समान अनायास ही काट रहा था ॥५३॥ जिस प्रकार कोई पुरुष स्नेहके द्वारा अपने मित्रको खींच लेता है उसी प्रकार उसने किसी वीरको विद्यानिर्मित लांगूलरूपी

१. दशाननः । २. शोणितश्रुत्या म० । ३. समासह्य । ४. पराजिततमो रविः म० । ५. -जयं जय- म० । ६. वरुणस्या पत्यानि पुमांसः, वारुणयः । ७. महारथसमीरेण म० ।

[1]कश्चिदुल्काभिघातेन मस्तकोण्यर्यताडयत् । हेतुमुद्गरघातेन [2]मिथ्यादृष्टिमिवार्हतः ॥५५॥
क्रीडन्तमिति तं दृष्ट्वा श्रीशैलं वानरध्वजम् । अभ्याजगाम वरुणो कोपारुणनिरीक्षणः ॥५६॥
श्रीशैलाभिमुखं दृष्ट्वा वारुणं राक्षसाधिपः । धावमानं रुरोधारिं गिरिवन्निम्नगाजलम् ॥५७॥
वरुणस्याभवद् युद्धं यावन्नाथेन रक्षसाम् । वाजिवारणपादातशस्त्रसङ्घातसङ्कुलम् ॥५८॥
तावत्पुत्रशतं तस्य बद्धं पवनसूनुना । [3]चिरं युद्धसमुद्भूतखेदं विहतसैनिकम् ॥५९॥
श्रुत्वा पुत्रशतं बद्धं वरुणः शोकविह्वलः । विद्यास्मरणनिर्मुक्तो बभूव श्लथविक्रमः ॥६०॥
प्राप्यास्य रावणश्छिद्रं विद्यामुच्छिद्य योधिनीम् । जीवग्राहमिमं क्षिप्रं जग्राह रणकोविदः ॥६१॥
तदा वरुणचन्द्रस्य[4] भ्रष्टपुत्रकरश्रियः[5] । उदयेन विमुक्तस्य रावणो राहुतामगात् ॥६२॥
शत्रुपञ्जरमध्यस्थो भग्नमानश्च सोऽर्पितः । सादरं कुम्भकर्णस्य रक्षितुं विस्मयेक्षितः ॥६३॥
ततो विश्रमयन् सैन्यं रावणश्चिरनिर्वृतः[6] । उद्याने प्रवरे तस्थौ भवनोन्मादनामनि ॥६४॥
समुद्रासङ्गशीतेन वायुनास्य व्यनीयत । सैन्यस्य रणजः खेदो वृक्षच्छायानुवर्तिनः ॥६५॥
गृहीतं नायकं ज्ञात्वा वरुणस्याखिलं बलम् । प्रविवेश पुरं भीतं पौण्डरीकं समाकुलम् ॥६६॥
तदेव साधनं तावन्त एव च महाभटाः । प्रधानस्य वियोगेन प्रापुर्व्यर्थशरीरताम् ॥६७॥
पुण्यस्य पश्यतौदार्यं यदुद्भवति तद्भवति । बहूनामुद्भवः पुंसां पतिते पतनं तथा ॥६८॥

पाशसे खींच लिया था ॥५४॥ और जिस प्रकार कोई जिनभक्त हेतुरूपी मुद्गरके प्रहारसे मिथ्यादृष्टिके मस्तकपर प्रहार करता है उसी प्रकार वह किसीके शिर पर उल्काके प्रहारसे चोट पहुँचा रहा था ॥५५॥ इस प्रकार वानरकी ध्वजासे सुशोभित हनूमान्‌को क्रीड़ा करते देख क्रोधसे लाल-लाल नेत्र करता हुआ वरुण उसके सामने आया ॥५६॥ ज्योंही रावणने वरुणको हनूमान्‌के सामने दौड़ता आता देखा त्योंही उसने शत्रुको बीचमें उस प्रकार रोक लिया जिस प्रकार कि पहाड़ नदीके जलको रोक लेता है ॥५७॥ इधर जब तक वरुणका रावणके साथ, घोड़े, हाथी, पैदल सिपाही तथा शस्त्रोंके समूहसे व्याप्त युद्ध हुआ ॥५८॥ तब तक हनूमान्‌ने वरुणके सौके सौ ही पुत्र बाँध लिये । वे चिरकाल तक युद्ध करते-करते थक गये थे तथा उनके सैनिक मारे गये थे ॥५९॥ सौके सौ ही पुत्रोंको बँधा सुनकर वरुण शोकसे विह्वल हो गया । वह विद्याका स्मरण भूल गया और उसका पराक्रम ढीला पड़ गया ॥६०॥ रण-निपुण रावणने छिद्र पाकर वरुणकी योधिनी नामा विद्या छेद डाली तथा उसे जीवित पकड़ लिया ॥६१॥ उस समय जिसके पुत्र रूपी किरणोंकी शोभा नष्ट हो गई थी तथा जो उदयसे रहित था ऐसे वरुण-रूपी चन्द्रमाके लिए रावणने राहुका काम किया था ॥६२॥ जो शत्रु रूपी पिंजड़ेके मध्यमें स्थित था, जिसका मान नष्ट हो गया था और जिसे लोग बड़े आश्चर्यसे देखते थे ऐसा वरुण-रक्षा करनेके लिए आदरके साथ कुम्भकर्णको सौंपा गया ॥६३॥ तदनन्तर बहुत दिन बाद निश्चिन्तताको प्राप्त हुआ रावण सेनाको विश्राम देता हुआ भवनोन्माद नामक उत्कृष्ट उद्यानमें ठहरा रहा ॥६४॥ वृक्षोंकी छायाके नीचे ठहरी हुई इसकी सेनाका युद्धजनित खेद समुद्रके सम्बन्धसे शीतल वायुने दूर कर दिया था ॥६५॥ स्वामीको पकड़ा जानकर वरुणकी समस्त सेना भयभीत हो व्याकुलतासे भरे पुण्डरीक नगरमें घुस गई ॥६६॥ यद्यपि वही सेना थी, और वे ही महायोद्धा थे तो भी प्रधान पुरुषके बिना सब व्यर्थ हो गये ॥६७॥ अहो ! पुण्यका माहात्म्य देखो कि पुण्यवान्‌के उत्पन्न होते ही अनेक पुरुषोंका उद्भव हो जाता है और उसके नष्ट होनेपर अनेक पुरुषोंका पतन हो जाता है ॥६८॥

---

१. दुल्कासि -म० । २. मिथ्यादृष्टिरिवाहतः म० । ३. चिरयुद्ध ख० । ४. वरुणयोधस्य म० । ५. भ्रष्टपुत्रकरः श्रियः म० । ६. -श्वरनिर्वृतः ख०, ज०, म० ।

अथ भास्करकर्णस्तन्मथ्नाति स्म पुरं रिपोः । विह्वलीभूतनिःशेषजनसङ्घातसङ्कुलम् ॥६९॥
लुण्ठितं चात्र सकलं धनरत्नादिकं भटैः । अरातिपुरकोपेन न तु [1]लोभवशस्थितैः ॥७०॥
रतिविभ्रमधारिण्यः स्रवदस्राकुलेक्षणाः । विलपन्त्यो वराकाश्च गृह्यन्ते स्म वराङ्गनाः ॥७१॥
स्तनावनम्रदेहास्ताश्चलत्पल्लवपाणयः । कूजन्त्यो बान्धवान् सर्वान् गृहीता निष्ठुरैर्नरैः ॥७२॥
विमानाभ्यन्तरन्यस्ता काचिदेवमभाषत । सखीं शोकग्रहग्रस्तसमस्तास्यनिशाकरा ॥७३॥
सखि ! शीलविनाशो मे यदि नाम भवेदिह । उल्लम्ब्यांशुकपट्टेन मरिष्यामि न संशयः ॥७४॥
संदिग्धमरणं काचिद् व्याहरन्ती मुहुः प्रियम् । संस्मृत्य तद्गुणान् मूर्च्छामानर्च्छ म्लानलोचना ॥७५॥
मातरं पितरं कान्तं भ्रातरं मातुलं सुतम् । आह्वयन्त्यः स्रवन्नेत्रास्ता मुनेरपि दुःखदाः ॥७६॥
काचिद्भास्करकर्णस्य[2] शोभया हृतलोचना । जगादोपांशुविस्रम्भात् सखीं कमललोचना ॥७७॥
सखि कापि ममोत्पन्ना दृष्ट्वैतं [3]नरपुङ्गवम् । धृतिर्यया कृतेवाहं परायत्तशरीरिका ॥७८॥
इति [4]शुद्धा विरुद्धाश्च विकल्पास्तत्र योषिताम् । बभूवुः कर्मवैचित्र्याल्लोकोऽयं चित्रचेष्टितः ॥७९॥
कुबेर इव सद्भूतिः प्रवीरभटसेवितः । जयनिस्वानमुखरः कान्तलीलासमन्वितः ॥८०॥
अवतीर्य विमानान्ताद् भास्करश्रवणो मुदा । पुरो राक्षसनाथस्य धूसरोष्ठीरतिष्ठपत् ॥८१॥
ता विषादवतीर्दृष्ट्वा[5] बाष्पपूरितलोचनाः । बन्धुभी रहिता नम्राः सवेपथुशरीरिकाः[6] ॥८२॥

अथानन्तर कुम्भकर्ण घबड़ाये हुए समस्त मनुष्योंके समूहसे व्याप्त शत्रुके उस नगरको नष्ट-भ्रष्ट करने लगा ॥६९॥ योद्धाओंने उस नगरकी धन रत्न आदिक समस्त कीमती वस्तुएँ लूट लीं। यह लूट शत्रुके नगरपर क्रोध होनेके कारण ही की गई थी न कि लोभके वशीभूत होकर ॥७०॥ जो रतिके समान विभ्रमको धारण करनेवाली थीं, जिनके नेत्र झरते हुए आँसुओंसे व्याप्त थे, तथा जो विलाप कर रही थीं ऐसी बेचारी उत्तमोत्तम स्त्रियाँ पकड़कर लाई गईं ॥७१॥ जिनके शरीर स्तनोंके भारसे नम्र थे, जिनके पल्लवोंके समान कोमल हाथ हिल रहे थे, और जो समस्त बन्धुजनोंको चिल्ला-चिल्लाकर पुकार रही थीं ऐसी उन स्त्रियोंको निष्ठुर मनुष्य पकड़कर ला रहे थे ॥७२॥ जिसका मुखरूपी पूर्ण चन्द्रमा शोकरूपी राहुके द्वारा ग्रसा गया था ऐसी विमानके भीतर डाली गई कोई स्त्री सखीसे कह रही थी कि हे सखि ! यदि कदाचित् मेरे शीलका भङ्ग होगा तो मैं वस्त्रकी पट्टीसे लटककर मर जाऊँगी इसमें संशय नहीं है ॥७३-७४॥ जिसके मरनेमें संदेह था ऐसे पतिको बार-बार पुकारती हुई म्लान लोचनोंवाली कोई स्त्री उसके गुणोंका स्मरणकर मूर्च्छाको प्राप्त हो रही थी ॥७५॥ जो माता पिता पति भाई मामा और पुत्रको बुला रही थीं तथा जिनके नेत्रोंसे आँसू झर रहे थे ऐसी वे स्त्रियाँ मुनिके लिए भी दुःख-दायिनी हो रही थीं अर्थात् उनकी दशा देख मुनिके हृदयमें भी दुःख उत्पन्न हो जाता था ॥७६॥ कुम्भकर्णकी शोभासे जिसके नेत्र हरे गये थे ऐसी कोई एक कमल-लोचना स्त्री एकान्त पाकर विश्वासपूर्वक सखीसे कह रही थी कि हे सखि ! इस श्रेष्ठ नरको देख कर मुझे कोई अद्भुत ही आनन्द उत्पन्न हुआ है और जिस आनन्दसे मानो मेरा समस्त शरीर पराधीन ही हो गया है ॥७७-७८॥ इस प्रकार कर्मोंकी विचित्रतासे उन स्त्रियोंमें शुद्ध तथा विरुद्ध दोनों प्रकारके विकल्प उत्पन्न हो रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि लोगोंकी चेष्टाएँ विचित्र हुआ करती हैं ॥७९॥ तदनन्तर जो कुबेरके समान समीचीन विभूतिका धारक था, अत्यन्त बलवान् योद्धा जिसकी सेवा कर रहे थे, जो जय-जयकी ध्वनिसे मुखर था, और सुन्दर लीलासे सहित था ऐसे कुम्भ-कर्णने विमानसे उतरकर बड़े हर्षके साथ उन धूसर ओठोंवाली अपहृत स्त्रियोंको रावणके सामने खड़ा कर दिया ॥८०-८१॥ वे स्त्रियाँ विषादसे युक्त थीं, उनके नेत्र आँसुओंसे भरे हुए थे,

---

१. लोभकशस्थितैः म० । २. -किरणस्य म० । ३. मुनिपुङ्गवम् म० । ४. शुद्धविरुद्धाश्च म० । ५. विषादवती दृष्ट्वा म० । ६. -शरीरिका म० ।

वदन्तीः[1] करुणं स्वैरं किमपि त्रपयान्विताः[2] । रावणः करुणाविष्टो जगादेति सहोदरम् ॥८३॥
अहोत्यन्तमिदं बाल त्वया दुश्चरितं कृतम् । कुलनार्यो यदानीता वन्दीग्रहणपञ्जरम् ॥८४॥
दोषः कोऽत्र वराकीणां नारीणां मुग्धचेतसाम् । खलीकारमिमा येन त्वयका[3] प्रापिता मुधा ॥८५॥
पालिका मुग्धलोकस्य शत्रुलोकस्य नाशिका । गुरुशुश्रूषिणी चेष्टा ननु चेष्टा महात्मनाम् ॥८६॥
इत्युक्त्वा मोचितास्तेन क्षिप्रं[4] ता ययुरालयम् । आश्वासिता गिरा साध्व्यः सद्यः शिथिलसाध्वसाः[5] ॥८७॥
आनाय्य वरुणोऽवाचि रावणेनाथ सत्रपः । भटदर्शनमात्रेण कृतरक्षोनताननः ॥८८॥
प्रवीण मा कृथाः शोकं युद्धग्रहणसंभवम्[6] । ग्रहणं ननु वीराणां रणे सत्कीर्तिकारणम् ॥८९॥
द्वयमेव रणे वीरैः प्राप्यते मानशालिभिः । ग्रहणं मरणं वापि कातरैश्च पलायितुम् ॥९०॥
पुरावदखिलं स त्वं राज्यं रक्ष निजे पदे । मित्रबान्धवसम्पन्नः सकलोपद्रवोज्झितम् ॥९१॥

उपजातिवृत्तम्

अथैवमुक्तो वरुणः स वीरं कृत्वाञ्जलिं प्रावददेसमेव ।
विशालपुण्यस्य तवात्र लोके मूढो जनो तिष्ठति वैरभावे ॥९२॥

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

अहो महद्धैर्यमिदं त्वदीयं मुनेरिव स्तोत्रसहस्रयोग्यम् ।
विहाय रत्नानि पराजितोऽहं त्वया यदभ्युन्नतशासनेन ॥९३॥

बन्धुजनोंसे रहित थीं, नम्र थीं, उनके शरीर काँप रहे थे, वे इच्छानुसार कुछ दयनीय शब्दोंका उच्चारण कर रही थीं तथा लज्जासे युक्त थीं । उन स्त्रियोंको देखकर रावण करुणायुक्त हो कुम्भकर्णसे इस प्रकार कहने लगा ॥८२-८३॥ कि अहो बालक ! जो तू कुलवती स्त्रियोंको बन्दीके समान पकड़कर लाया है यह तू ने अत्यन्त दुश्चरितका कार्य किया है ॥८४॥ इन बेचारी भोली-भाली स्त्रियोंका इसमें क्या दोष था जो तूने व्यर्थ ही इन्हें कष्ट पहुँचाया है ? ॥८५॥ जो चेष्टा मुग्धजनोंका पालन करनेवाली है, शत्रुओंका नाश करनेवाली है और गुरुजनोंकी शुश्रूषा करनेवाली है यथार्थमें वही महापुरुषोंकी चेष्टा कहलाती है ॥८६॥ ऐसा कहकर उसने उन्हें शीघ्र ही छुड़वा दिया जिससे वे अपने-अपने घर चली गईं । यही नहीं उसने साध्वी स्त्रियोंको अपनी वाणीसे आश्वासन भी दिया जिससे उन सबका भय शीघ्र ही कम हो गया ॥८७॥

अथानन्तर जो लज्जासे सहित था तथा जिसने सुभटोंके देखने मात्रसे राक्षसोंका मुख नीचा कर दिया था ऐसे वरुणको बुलाकर रावणने कहा कि हे प्रवीण ! युद्धमें पकड़े जानेका शोक मत करो क्योंकि युद्धमें वीरोंका पकड़ा जाना तो उनकी उत्तम कीर्तिका कारण है ॥८८-८९॥ मानशाली वीर युद्धमें दो ही वस्तुएँ प्राप्त करते हैं एक तो पकड़ा जाना और दूसरा मारा जाना । इनके सिवाय जो कायर लोग हैं वे भाग जाना प्राप्त करते हैं ॥९०॥ तुम पहलेके समान ही समस्त मित्र और बन्धुजनोंसे सम्पन्न हो सकल उपद्रवोंसे रहित अपने सम्पूर्ण राज्यका अपने ही स्थानमें रह कर पालन करो ॥९१॥ इस प्रकार कहने पर वरुणने हाथ जोड़कर वीर रावणसे कहा कि इस संसारमें आपका पुण्य विशाल है जो आपके साथ वैर रखता है वह मूर्ख है ॥९२॥ अहो ! यह तुम्हारा बड़ा धैर्य है, यह मुनिके धैर्यके समान हजारों स्तवन करनेके योग्य है, कि जो तुमने दिव्य रत्नोंका प्रयोग किये बिना ही मुझे जीत लिया । यथार्थमें तुम्हारा शासन उन्नत

---

१. वदन्ती म० । २. त्रपयान्विता म० । ३. त्वयि का म० । ४. क्षिप्रा म० । ५. -साध्वसा म० । ६. -संभव म० ।

उपजातिवृत्तम्

वायोः सुतस्यैव कथं प्रभावो निगद्यतामद्भुतकर्मणोऽपि ।
यतस्त्वदायेन शुभेन साधो [1]समागतः सोऽपि महानुभावः ॥९४॥
न कस्यचिन्नाम महीयमेतां गोत्रक्रमाद्विक्रमकोशधारिता ।
वीरस्य भोग्येयमसौ भवांश्च तेषां स्थितो मूर्धनि शाधि लोकम् ॥९५॥
स्वामी त्वमस्माकमुदारकीर्ते क्षमस्व दुर्वाक्यकृतं निकारम् ।
वक्तव्यमित्येव वदामि नाथ क्षमा तु दृष्टैव तवात्युदारा ॥९६॥
तेन त्वया सार्धमहं विधाय सम्बन्धमत्युन्नतचेष्टितेन ।
कृतार्थतामेमि ततो गृहाण तन्मे सुतां योग्यतमस्त्वमस्याः ॥९७॥
एवं गदित्वा [2] तनुजां विनीतां प्रकीर्तितां सत्यवतीति नाम्ना ।
ललाम रूपां जनितां सुदेव्यां [3] समर्पयत्ताम [4]रसाभवक्त्राम् ॥९८॥
तयोर्महान् संववृते विवाहे समुत्सवः पूजितसर्वलोकः ।
तयोर्हि निःशेषसमृद्धिभाजोरन्वेषणीयं न समस्ति किञ्चित् ॥९९॥
सन्मानितस्तेन च मानितेन कृतानुयानः कतिचिद्दिनानि ।
सुतावियोगव्यथितान्तरात्मा स्वराजधानीं वरुणो विवेश ॥१००॥
कैलासकम्पोऽपि समेत्य लङ्कां विधाय सन्मानमतिप्रधानम् ।
महाप्रभां चन्द्रनखातनूजां ददौ [5]समीरप्रभवाय कन्याम् ॥१०१॥
अनङ्गपुष्पेति समस्तलोके गतां प्रसिद्धिं गुणराजधानीम् ।
अनङ्गपुष्पायुधभूतनेत्रां लब्ध्वा स तां तोषमुदारमार [6] ॥१०२॥

है ॥९३॥ अथवा आश्चर्यकारी कार्य करने वाले हनूमानका ही प्रभाव कैसे कहा जाय ? क्योंकि हे सत्पुरुष ! वह महानुभाव भी आपके ही शुभोदयसे यहाँ आया था ॥९४॥ पराक्रमरूपी कोशसे जिसकी रक्षा की गई ऐसी यह पृथिवी गोत्रकी परिपाटीके अनुसार किसीको प्राप्त नहीं हुई । यह तो वीर मनुष्यके भोगने योग्य है और आप वीर मनुष्योंमें अग्रसर हो अतः आप लोकका पालन करो ॥९५॥ हे उदार यशके धारक ! आप हमारे स्वामी हो । मेरे दुर्वचनोंसे आपको जो दुःख हुआ हो उसे क्षमा करो । हे नाथ ! ऐसा कहना चाहिए, इसीलिए कह रहा हूँ । वैसे आपकी अत्यन्त उदार क्षमा तो देख ही ली है ॥९६॥ आप अत्यन्त चेष्टाके धारक हो इसलिए आपके साथ सम्बन्ध कर मैं कृतकृत्य होना चाहता हूँ । आप मेरी पुत्री स्वीकृत कीजिए क्योंकि इसके योग्य आप ही हैं ॥९७॥ ऐसा कह कर उसने सुन्दर रूपकी धारक, सुदेवी रानीसे उत्पन्न, कमलके समान मुखवाली, सत्यवती नामसे प्रसिद्ध अपनी विनीत कन्या रावणके लिए समर्पित कर दी ॥९८॥ उन दोनोंके विवाहमें ऐसा बड़ा भारी उत्सव हुआ था कि जिसमें सब लोगोंका सन्मान किया गया तो ठीक ही है क्योंकि दोनों ही समस्त समृद्धिको प्राप्त थे, अतः उन्हें कोई भी वस्तु खोजनी नहीं पड़ी थी ॥९९॥ इस प्रकार सन्मानको प्राप्त हुए रावणने जिसका सन्मान किया था तथा रावण स्वयं जिसे भेजनेके लिए पीछे-पीछे गया था ऐसा वरुण अपनी राजधानीमें प्रविष्ट हुआ । वहाँ पुत्रीके वियोगसे कुछ दिन तक उसकी अन्तरात्मा दुःखी रही ॥१००॥ कैलासको कम्पित करनेवाले रावणने भी लङ्कामें आकर तथा बहुत भारी सन्मान कर हनूमान्के लिए चन्द्रनखाकी कान्तिमती पुत्री समर्पित की । उस कन्याका नाम लोकमें 'अनङ्गपुष्पा' प्रसिद्ध था । वह गुणोंकी राजधानी थी और उसके नेत्र कामदेवके पुष्परूपी शस्त्र अर्थात् कमलके समान थे ।

१. समाहितः म० । २. विदित्वा म० । ३. सुदेव्या म० । ४. ताम्ररसाभवक्त्राम् म० । ५. हनूमते । ६. प्राप ।

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

श्रियां च सम्पादिनि कर्णकुण्डले पुरेऽस्य चक्रे क्षितिपाभिषेचनम् ।
स्थितः स तत्रोत्तमभोगसंगतो यथोर्ध्वलोके भुवनस्य पालकः ॥१०३॥
तथा नलः किष्कुपुरे शरीरजां प्रसिद्धिमेवां हरिमालिनीं श्रितिम् ।
श्रियं जयन्तीमपि रूपसम्पदा ददौ विभूत्या परया हनूमते ॥१०४॥
पुरे तथा किन्नरगीतसंज्ञके स लब्धवान् किन्नरकन्यकाशतम् ।
इति क्रमेणास्य बभूव योषितां परं सहस्राद्गणनं महात्मनः ॥१०५॥

उपजातिवृत्तम्

भ्रमन्नसौ येन महीधरेऽस्थाच्छ्रीशैलसंज्ञोऽत्र समीरसूनुः ।
श्रीशैल इत्यागतवानसौ तत् ख्यातिं पृथिव्यामिति रम्यसानुः ॥१०६॥
तदास्ति किष्किन्धपुरे महात्मा सुग्रीवसंज्ञः पुरखेचरेशः ।
तारेति तारापति[1]कान्तवक्त्रा बभूव रामास्य रते समाना ॥१०७॥
तयोस्तनूजा नवपद्मरागा गुणैः प्रतीता भुवि पद्मरागा ।
पद्मेव रूपेण विशालनेत्रा भामण्डलप्रावृतवक्त्रपद्मा ॥१०८॥

उपेन्द्रवज्रवृत्तम्

महेभकुम्भोन्नतपीवरस्तनी सुरेन्द्रशस्त्रग्रहणोपमोदरी ।
विशाललावण्यतडागमध्यगा मलिम्लुचा सर्वजनान्तरात्मनाम् ॥१०९॥

उपजातिवृत्तम्

विचिन्तयन्तौ पितरौ च तस्या योग्यं वरं शोभनविभ्रमायाः ।
नक्तं न निद्रां सुखतो लभेतां दिवा तु नैव प्रविकीर्णचित्तौ ॥११०॥

उसे पाकर हनूमान् अत्यधिक संतोषको प्राप्त हुआ ॥१०१–१०२॥ कन्या ही नहीं दी किन्तु लक्ष्मी से भरपूर कर्णकुण्डलनामा नगरमें उसका राज्याभिषेक भी किया सो जिस प्रकार स्वर्गलोकमें इन्द्र रहता है उसी प्रकार वह उस नगरमें उत्तमभोग भोगता हुआ रहने लगा ॥१०३॥ किष्कुपुरके राजा नलने भी रूपसम्पदाके द्वारा लक्ष्मीको जीतने वाली अपनी हरिमालिनी नामकी प्रसिद्ध पुत्री बड़े वैभवके साथ हनूमान्को दी ॥१०४॥ इसी प्रकार किन्नरगीत नामा नगरमें भी उसने किन्नरजातिके विद्याधरों की सौ कन्याएँ प्राप्त की। इस तरह उस महात्माके यथाक्रमसे एक हजारसे भी अधिक स्त्रियाँ हो गईं ॥१०५॥ चूँकि श्रीशैल नामको धारण करने वाले हनूमान् भ्रमण करते हुए उस पर्वतपर आकर ठहर गये थे इसलिए सुन्दर शिखरों वाला वह पर्वत पृथिवी में 'श्रीशैल' इस नामसे ही प्रसिद्ध हो गया ॥१०६॥

अथानन्तर उस समय किष्किन्धपुर नामा नगरमें विद्याधरोंके राजा उदारचेता सुग्रीव रहते थे उनकी चन्द्रमाके समान मुखवाली तथा सुन्दरतामें रतिकी समानता करनेवाली तारा नामकी स्त्री थी ॥१०७॥ उन दोनोंके एक पद्मरागा नामकी पुत्री थी। उस पुत्रीका रङ्ग नूतन कमलके समान था, गुणोंके द्वारा वह पृथ्वीमें अत्यन्त प्रसिद्ध थी, रूपसे लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी, उसके नेत्र विशाल थे, उसका मुख कमल कान्तिके समूहसे आवृत था, इसके स्तन किसी बड़े हाथीके गण्डस्थलके समान उन्नत और स्थूल थे, उसका उदर इन्द्रायुध अर्थात् वज्रके पकड़नेकी जगहके समान कृश था, वह अत्यधिक सौन्दर्यरूपी सरोवरके मध्यमें सञ्चार करनेवाली थी तथा सर्व मनुष्योंकी अन्तरात्माको चुराने वाली थी ॥१०८–१०९॥ सुन्दर विभ्रमोंसे

---

[1] कान्ति -म० ।

ततः पटेष्विन्द्रजितप्रधाना विद्याधराः सूचितशीलवंशाः ।
चित्रीकृताश्चित्रगुणा दुहित्रे प्रदर्शिताश्चारुरुचः पितृभ्याम् ॥१११॥
अनुक्रमात्साथ निरीक्षमाणा[1] मुहुर्मुहुः संहृतनेत्रकान्तिः ।
सद्यः समाकृष्टविचेष्टदृष्टिर्बाला हनूमत्प्रतिमां ददर्श ॥११२॥
दृष्ट्वा च तं वायुसुतं पटस्थं सादृश्यनिर्मुक्तसमस्तदेहम् ।
अताड्यतासौ मदनस्य बाणैः सुदुस्सहैः पञ्चभिरेककालम् ॥११३॥
तत्रानुरक्तामधिगम्य बाढमेतामुवाचेति सखी गुणज्ञा ।
अयं स बाले पवनञ्जयस्य श्रीशैलनामा तनयः प्रतीतः ॥११४॥
गुणास्तवास्य प्रथिता पुरैव शोभा तु दृग्गोचरतां प्रयाता ।
एतेन सार्धं भज कामभोगान् पित्रोः प्रयच्छातिचिरेण निद्राम् ॥११५॥

वंशस्थवृत्तम्

अहो पुनश्चित्रगतेन [2]ते सता मनोविकारो जनितो हनूमता ।
सखीं वदन्तीमिति लज्जया नता जघान लीलाकमलेन कन्यका ॥११६॥

उपजातिवृत्तम्

ततो विदित्वा जनकेन तस्या हृतं मनो मारुतनन्दनेन ।
[3]पटः समारूढसुताशरीरः संप्रेषितो वायुसुताय शीघ्रम् ॥११७॥
दूतो युवा श्रीनगरं समेत्य [4]ज्ञातः प्रविष्टो विहितप्रणामः ।
हनूमते दर्शयति स्म बिम्बं तारात्मजायाः पटमध्ययातम् ॥११८॥

युक्त उस कन्याके योग्य वरकी खोज करते हुए माता-पिता न रातमें सुखसे नींद लेते थे और न दिनमें चैन । उनका चित्त सदा इसी उलझनमें उलझा रहता था ॥११०॥

तदनन्तर जो नाना गुणोंके धारक थे, जिनकी कान्ति अत्यन्त मनोहर थी, और साथ ही जिनके शील तथा वंशका परिचय दिया गया था ऐसे इन्द्रजित आदि प्रधान विद्याधरोंके चित्रपट लिखाकर माता-पिताने पुत्रीको दिखलाये ॥१११॥ अनुक्रमसे उन चित्रपटोंको देखकर कन्याने बार-बार अपनी दृष्टि सङ्कुचित कर ली । अन्तमें हनूमान्‌का चित्रपट उसे दिखाया गया तो उस ओर उसकी दृष्टि शीघ्र ही आकर्षित होकर निश्चल हो गई । उसे वह अनुरागसे देखती रही ॥११२॥ तदनन्तर जिसका समस्त शरीर सदृशतासे रहित था ऐसे चित्रपटमें स्थित हनूमान्‌को देखकर वह कन्या एक ही साथ कामदेवके पाँचों दुःसह बाणोंसे ताडित हो गई ॥११३॥ उसे हनूमान्‌में अनुरक्त देख गुणोंको जाननेवाली सखीने कहा कि हे बाले ! यह पवनञ्जयका श्रीशैल नामसे प्रसिद्ध पुत्र है ॥११४॥ इसके गुण तो तुम्हें पहिलेसे ही विदित थे और सुन्दरता तुम्हारे नेत्रोंके सामने है इसलिए इसके साथ कामभोगको प्राप्त करो तथा माता-पित को चिरकाल बाद निद्रा प्रदान करो अर्थात् निश्चित होकर सोने दो॥११५॥ आश्चर्यकी बात है कि हनूमान्‌ने चित्रगत होकर भी तेरे मनमें विकार उत्पन्न कर दिया ऐसा कहती हुई सखीको कन्याने लज्जावनत हो लीला-कमलसे ताड़ित किया ॥११६॥ तदनन्तर जब पिताको पता चला कि कन्याका मन पवनपुत्र हनूमान्‌के द्वारा हरा गया है तब उसने शीघ्र ही हनूमान्‌के पास कन्याका चित्रपट भेजा ॥११७॥ सो सुग्रीवका भेजा हुआ दूत श्रीनगर पहुँचा वहाँ जाकर उसने अपना परिचय दिया, प्रणाम किया और उसके बाद हनूमान्‌के लिए ताराकी पुत्री पद्मरागाका चित्रपट दिखलाया ॥११८॥

---

१. निरीक्ष्यमाणा म०, ख०, ज०, ब० । २. तेन म० । ३. परः म० । ४. जातः म० ।

सत्यं शराः पञ्चमनोभवस्य स्युर्यदमुष्मिन् जगति प्रसिद्धाः ।
कन्या नियुक्तैः[1] कथमेककालं ततः शतैर्वायुसुतं जघान ॥११९॥
अजात एवास्मि न यावदेनां प्राप्नोमि कन्यामिति जातचित्तः ।
समीरसूनुर्विभवेन युक्तः क्षणेन सुग्रीवपुरं जगाम ॥१२०॥
श्रुत्वा तमासन्नतरं प्रहृष्टः सुग्रीवराजोऽभ्युदियाय सद्यः ।
प्रयुज्यमानोऽर्घशतैर्हनूमान् पुरं प्रविष्टः श्वसुरेण सार्धम् ॥१२१॥
तस्मिंस्तदा राजगृहं प्रयाति प्रासादमालामणिजालकस्थाः ।
तद्दर्शनव्याकुलनेत्रपद्मा मुक्तान्यचेष्टा ललना बभूवुः ॥१२२॥
गवाक्षजालेन निरीक्षमाणा सुग्रीवजा वायुसुतस्य रूपम् ।
कामप्यवस्थां मनसा प्रपन्ना स्ववेदनीयां सुकुमारदेहा ॥१२३॥
अयं स नायं पुरुषोऽपरोऽयं कोऽप्येष सोऽसौ सखि सोऽयमेव ।
इत्यङ्गनाभिः परितर्क्यमाणो विवेश सुग्रीवपुरं हनूमान् ॥१२४॥
तयोर्विवाहः परया विभूत्या विनिर्मितः सङ्गतसर्वबन्धुः ।
तौ दम्पती योग्यसमागमेन प्राप्तौ प्रमोदं परमं सुरूपौ ॥१२५॥
जगाम वध्वा सहितो हनूमान् स्थानं निजं निर्वृतचित्तवृत्तिः ।
कृत्वा सशोकौ श्वसुरौ सवर्गौ[2] सुतावियोगात्स्ववियोजनाच्च ॥१२६॥
तस्मिंस्तथा श्रीमति वर्तमाने सुते समस्तक्षितियातकीर्तौ ।
महासुखास्वादसमुद्रमध्ये ममज्ज वायुः क्षितिपोऽञ्जना च ॥१२७॥

जैसा कि इस संसारमें प्रसिद्ध है कि कामदेवके पाँच बाण हैं यदि यह बात सत्य है तो कन्याने एक ही समय सौ बाणोंके द्वारा हनूमान्‌को कैसे घायल किया ॥११९॥ यदि मैं इस कन्याको नहीं प्राप्त करता हूँ तो मेरा जन्म लेना व्यर्थ है ऐसा मनमें विचारकर हनूमान् बड़े वैभवके साथ क्षण एकमें सुग्रीवके नगरकी ओर चल पड़ा ॥१२०॥ उसे अत्यन्त निकटमें आया सुन सुग्रीव राजा हर्षित होता हुआ शीघ्र ही उसकी अगवानीके लिए गया। तत्पश्चात् जिसे सैकड़ों अर्घ दिये गये थे ऐसे हनूमान्‌ने श्वसुरके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥१२१॥ उस समय जब हनूमान् राजमहलकी ओर जा रहा था तब नगरकी स्त्रियाँ अन्य सब काम छोड़कर महलोंके मणिमय झरोखोंमें जा खड़ी हुई थीं और उस समय उनके नेत्रकमल हनूमान्‌को देखनेके लिए व्याकुल हो रहे थे ॥१२२॥ सुकुमार शरीरकी धारक सुग्रीवकी पुत्री पद्मरागा झरोखेसे हनूमान्‌का रूप देखकर मन-ही-मन अपने आपके द्वारा अनुभव करने योग्य किसी अद्‌भुत अवस्थाको प्राप्त हुई ॥१२३॥ सखि ! यह वह पुरुष नहीं है, यह तो कोई दूसरा है, अथवा नहीं सखि ! यह वही है, इस प्रकार स्त्रियाँ जिसके विषयमें तर्कणा कर रहीं थीं ऐसे हनूमान्‌ने नगरमें प्रवेश किया ॥१२४॥ तदनन्तर बड़े वैभवके साथ उन दोनोंका विवाह हुआ। विवाहमें समस्त बन्धुजन सम्मिलित हुए और अत्यन्त सुन्दर रूपके धारक दोनों दम्पति परम-प्रमोदको प्राप्त हुए ॥१२५॥ जिसका चित्त सन्तुष्ट हो रहा था ऐसा हनूमान् पुत्री तथा अपने आपके वियोगसे परिवार सहित सास-श्वसुरको शोकयुक्त करता हुआ नववधूके साथ अपने स्थानपर चला गया ॥१२६॥ इस प्रकार जिसकी कीर्ति समस्त संसारमें फैल रही थी ऐसे शोभा अथवा लक्ष्मी सम्पन्न पुत्रके रहते हुए राजा पवनञ्जय और अञ्जना महासुखानुभव रूपी सागरके मध्यमें गोता लगा रहे थे ॥१२७॥

---

१. कन्यालियुक्तैः म० । २. स्ववर्गौ ।

श्रीशैलतुल्यैरथ खेचरेशैः सन्मान्यमानो बहुमानधारी ।
अभूद्दशास्यः क्षतसर्वशत्रुः त्रिखण्डनाथो हरिकण्ठतुल्यः ॥१२८॥
लङ्कानगर्यां स विशालकान्तिः सुखेन रेमे पृथुभोगजेन ।
समस्तलोकस्य धृतिं प्रयच्छन् यथा सुरेन्द्रः सुरलोकपुर्याम् ॥१२९॥
महानुभावः प्रमदाजनस्य स्तनेष्वसौ लालितरक्तपाणिः ।
विवेद नो दीर्घमपि व्यतीतं कालं प्रियावक्त्रतिमिच्छभृङ्गः[1] ॥१३०॥
एकापि यस्येह भवेद्विरूपा नरस्य जाया प्रतिकूलचेष्टा ।
रतेः पतित्वं स नरः करोति स्थितः सुखे संसृतिधर्मजाते ॥१३१॥
युक्तः प्रियाणां दशभिः सहस्रैस्तथाष्टभिः श्रीजनितोपमानाम् ।
महाप्रभावः किमुतैष राजा खण्डत्रयस्यानुपमानकान्तिः ॥१३२॥

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

एवं समस्तखगपैरभिनूयमानः संभ्रान्तसन्नतपराङ्गधृतानुशिष्टिः ।
खण्डत्रयाधिपतिता विहिताभिषेकः साम्राज्यमाप जनताभिनुतं दशास्यः ॥१३३॥
विद्याधराधिपतिपूजितपादपद्मः श्रीकीर्तिकान्तिपरिवारमनोज्ञदेहः ।
सर्वग्रहैः परिवृतो दशवक्त्रराजो[2] जातः शशाङ्क इव कस्य न चित्तहारी ॥१३४॥
चक्रं सुदर्शनममोघममुष्य दिव्यं मध्याह्नभास्करकरोपममध्यजालम् ।
उद्वृत्तशत्रुनृपवर्गविनाशदक्षं रेजेऽरदृष्टमतिभासुररत्नचित्रम् ॥१३५॥
दण्डश्च मृत्युरिव जातशरीरबन्धो दुष्टात्मनां भयकरः स्फुरितोग्रतेजाः ।
उल्कासमूह इव संगतवान् प्रचण्डो जज्वाल शस्त्रभवने प्रतिपक्षपूजः ॥१३६॥

अथानन्तर हनूमान् जैसे उत्तमोत्तम विद्याधर राजा जिसका सन्मान करते थे, जो अत्यधिक मानको धारण करनेवाला था, तीन खण्डका स्वामी था और हरिकण्ठके समान था ऐसा रावण समस्त शत्रुओंसे रहित हो गया ॥१२८॥ जिस प्रकार इन्द्र स्वर्गलोकमें क्रीड़ा करता है उसी प्रकार समस्त लोगोंको आनन्द प्रदान करता हुआ विशाल कान्तिका धारक रावण विशाल भोगोंसे समुत्पन्न सुखसे लङ्का नगरीमें क्रीड़ा करने लगा ॥१२९॥ स्त्रियोंके मुखरूपी कमलका भ्रमर रावण स्त्रीजनोंके स्तनों पर हाथ चलाता हुआ बीते हुए बहुत भारी कालको भी नहीं जान पाया अर्थात् कितना अधिक काल बीत गया इसका उसे पता ही नहीं चला ॥१३०॥ जिस मनुष्यके पास एक ही विरूप तथा निरन्तर झगड़नेवाली स्त्री होती है वह भी सांसारिक सुखमें निमग्न हो अपने आपको रतिपति अर्थात् कामदेव समझता है ॥१३१॥ फिर रावण तो लक्ष्मीकी उपमा धारण करनेवाली अठारह हजार स्त्रियोंसे युक्त था, महाप्रभावशाली था, तीन खण्डका स्वामी था, अनुपम कान्तिका धारी था अतः उसके विषयमें क्या कहना है ? ॥१३२॥ इस प्रकार समस्त विद्याधर जिसकी स्तुति करते थे, सब लोग घबड़ाकर नम्रीभूत मस्तक पर जिसकी आज्ञा धारण करते थे और तीन खण्डके राज्य पर जिसका अभिषेक किया गया था ऐसा रावण जनसमूहके द्वारा स्तुत साम्राज्यको प्राप्त हुआ ॥१३३॥ समस्त विद्याधर राजा जिसके चरणकमलोंकी पूजा करते थे और जिसका शरीर श्री, कीर्ति और कान्तिसे मनोज्ञ था ऐसा रावण सर्वग्रहोंसे परिवृत चन्द्रमाके समान किसका मन हरण नहीं करता था ॥१३४॥ जिसकी मध्यजाली मध्याह्नके सूर्यकी किरणोंके समान थी, जो उद्दण्ड शत्रु राजाओंके नष्ट करनेमें समर्थ था, जिसके अर स्पष्ट दिखाई देते थे, तथा जो अत्यन्त देदीप्यमान रत्नोंसे चित्र-विचित्र जान पड़ता था ऐसा इसका सुदर्शन नामका अमोघ देवोपनीत चक्र अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥१३५॥ जिसका

१. प्रियामुखकमलमकरन्दभ्रमरः । २. राजा क०, ख०, म०, ब०, ज० । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच् समासान्तः ।

सोऽयं स्वकर्मवशतः कुलसंक्रमेण संप्राप्य राक्षसपुरीं[1] पुरुचारुकीर्तिः ।
ऐश्वर्यमद्भुततरं च समन्तभद्रं रक्षःपति परमसंसृतिसौख्यमेतः ॥१३७॥
सद्दृष्टिबोधचरणप्रतिपत्तिहेतौ दूरं गतेऽथ मुनि सुव्रतनाथतीर्थे ।
अत्यन्तमूढकविभिः परमार्थदूरैर्लोकेऽन्यथैव कथितः पुरुषः[2] प्रधानः ॥१३८॥

मालिनीच्छन्दः

विषयवशमुपेतैर्नष्टतत्त्वार्थबोधैः
कविभिरतिकुशीलैर्नित्यपापानुरक्तैः ।
कुरचितगरहेतुग्रन्थवाग्वागुराभिः
प्रगुणजनमृगौघो वध्यते मन्दभाग्यः ॥१३९॥

इति विदितयथावद्वृत्तवस्तुप्रपञ्च
हतकुमतजनोक्तग्रन्थपङ्कप्रसङ्ग ।
भज सुरपतिवन्द्यं शास्त्ररत्नं जिनानां
रविसमधिकतेजः श्रेणिक श्रीविशाल[4] ॥१४०॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते रावणसाम्राज्याभिधानं नामैकोनविंशतितमं पर्व ॥१९॥

इति विद्याधरकाण्डं प्रथमं समाप्तम् ।

उग्रतेज सब ओर फैल रहा था ऐसा रावण, दुष्टजनोंको तो ऐसा भय उत्पन्न कर रहा था मानो शरीरधारी दण्ड अथवा मृत्यु ही हो । जब वह शस्त्रशालामें शस्त्रोंकी पूजा करता था तब ऐसा जान पड़ता था मानो इकट्ठा हुआ प्रचण्ड उल्काओंका समूह ही हो ॥१३६॥ इस प्रकार विशाल तथा सुन्दर कीर्तिको धारण करनेवाला रावण स्वकीय कर्मोदयसे वंशपरम्परागत लङ्कापुरीको पाकर सर्वकल्याणयुक्त आश्चर्यकारक ऐश्वर्यको तथा संसार सम्बन्धी श्रेष्ठ सुखको प्राप्त हुआ था ॥१३७॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिका कारण जो मुनिसुव्रत भगवान्का तीर्थ था उसे व्यतीत हुए जब बहुत दिन हो गये तब परमार्थसे दूर रहनेवाले अत्यन्त मूढ़ कवियोंने इस प्रधान पुरुषका लोकमें अन्यथा ही कथन कर डाला ॥१३८॥

जो विषयोंके अधीन हैं, जिनका तत्त्वज्ञान नष्ट हो गया है, जो अत्यन्त कुशील हैं और निरन्तर पापमें अनुरक्त रहते हैं ऐसे कवि लोग स्वरचित पापवर्धक ग्रन्थरूपी जालसे मन्द-भाग्य तथा अत्यन्त सरल मनुष्यरूपी मृगोंके समूहको नष्ट करते रहते हैं । इसलिए जिसने वस्तुका यथार्थस्वरूप समझ लिया है, जिसने मिथ्यादृष्टि जनोंके द्वारा रचित कुशास्त्ररूपी कीचड़का प्रसङ्ग नष्ट कर दिया है, जिसका सूर्यके समान विशाल तेज है और जो लक्ष्मीसे विशाल है ऐसे हे श्रेणिक ! तू इन्द्रद्वारा वन्दनीय जिनशास्त्ररूपी रत्नका उपासना कर—उसीका अध्ययन-मनन कर ॥१३९-१४०॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, रविषेणाचार्य कथित पद्मचरितमें रावणके साम्राज्यका कथन करनेवाला उन्नीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१९॥

इस प्रकार विद्याधरकाण्ड नामक प्रथम काण्ड समाप्त हुआ ।

१. राक्षसपुरं ख० । २. पुरुषप्रधानः क०, ख० । ३.-पाप- । ४. श्रीविशालः म०, ब०, ज०

विंशतितमं पर्व

अथैवं श्रेणिकः श्रुत्वा विनीतात्मा प्रसन्नधीः । प्रणम्य गणिनः पादौ पुनरूचे सविस्मयः ॥१॥
प्रसादात्तव विज्ञातः प्रतिशत्रोः समुद्भवः । अष्टमस्य तथा भेदः कुलयोः कपिरक्षसाम् ॥२॥
साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि चरितं जिनचक्रिणाम् । नाथ पूर्वभवैर्युक्तं बुद्धिशोधनकारणम् ॥३॥
अष्टमो यश्च विख्यातो हली सकलविष्टपे । वंशे कस्य समुद्भूतः किं वा तस्य विचेष्टितम् ॥४॥
अमीषां जनकादीनां तथा नामानि सन्मुने । जिज्ञासितानि मे नाथ तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥५॥
इत्युक्तः स महासत्त्वः परमार्थविशारदः । जगाद गणभृद्वाक्यं चारुप्रश्नाभिनन्दितः ॥६॥
शृणु श्रेणिक वक्ष्यामि जिनानां भवकीर्तनम् । पापविध्वंसकरणं त्रिदशेन्द्रनमस्कृतम् ॥७॥
ऋषभोऽजितनाथश्च संभवश्चाभिनन्दनः । सुमतिः पद्मभासश्च[1] सुपार्श्वः शशभृत्प्रभः[2] ॥८॥
सुविधिः शीतलः श्रेयान् वासुपूज्योऽमलप्रभुः[3] । अनन्तो धर्मशान्ती च कुन्थुदेवो महानरः[4] ॥९॥
मल्लिः सुव्रतनाथश्च नमिर्नेमिश्च तीर्थकृत् । पार्श्वोऽयं पश्चिमो वीरो शासनं यस्य वर्तते ॥१०॥
नगरी परमोदारा नामतः पुण्डरीकिणी । सुसीमेत्यपरा ख्याता क्षेमेत्यन्यातिशोभना ॥११॥
तथा रत्नवरैर्दीप्ता रत्नसंचयनामिका । चतस्रः परमोदाराः सुव्यवस्था इमाः पुरः ॥१२॥
वासुपूज्यजिनान्तानां जिनानामृषभादितः । आसन् पूर्वभवे रम्या राजधान्यः सदोत्सवाः ॥१३॥
सुमहानगरं चारु तथारिष्टपुरं वरम् । सुमाद्रिका च विख्याता तथासौ पुण्डरीकिणी ॥१४॥

अथानन्तर जिसकी आत्मा अत्यन्त नम्र थी और बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ थी ऐसा श्रेणिक विद्याधरोंका वर्णन सुन आश्चर्यचकित होता हुआ गणधर भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर फिर बोला कि ॥१॥ हे भगवन् ! आपके प्रसादसे मैंने अष्टम प्रतिनारायणका जन्म तथा वानर वंश और राक्षस वंशका भेद जाना । अब इस समय हे नाथ ! चौबीस तीर्थंकरों तथा बारह चक्रवर्तियोंका चरित्र उनके पूर्वभवोंके साथ सुनना चाहता हूँ क्योंकि वह बुद्धिको शुद्ध करनेका कारण है ॥२-३॥ इनके सिवाय जो आठवाँ बलभद्र समस्त संसारमें प्रसिद्ध है वह किस वंशमें उत्पन्न हुआ तथा उसकी क्या-क्या चेष्टाएँ हुईं ! ॥४॥ हे उत्तम मुनिराज ! इन सबके पिता आदिके नाम भी मैं जानना चाहता हूँ सो हे नाथ ! यह सब कहनेके योग्य हो ॥५॥ श्रेणिकके इस प्रकार कहनेपर महाधैर्यशाली, परमार्थके विद्वान् गणधर भगवान् उत्तम प्रश्नसे प्रसन्न होते हुए इस प्रकारके वचन बोले कि हे श्रेणिक ! सुन, मैं तीर्थंकरोंका वह भवोपाख्यान कहूँगा जो कि पापको नष्ट करनेवाला है और इन्द्रोंके द्वारा नमस्कृत है ॥६-७॥ ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि (पुष्पदन्त), शीतल, श्रेयान्स, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, (मुनि) सुव्रतनाथ, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर ये चौबीस तीर्थंकरोंके नाम हैं । इनमें महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर हैं तथा इस समय इन्हींका शासन चल रहा है ॥८-१०॥ अब इनकी पूर्व भवकी नगरियोंका वर्णन करते हैं—अत्यन्त श्रेष्ठ पुण्डरीकिणी, सुसीमा, अत्यन्त मनोहर क्षेमा, और उत्तमोत्तम रत्नोंसे प्रकाशमान रत्नसंचयपुरी ये चार नगरियाँ अत्यन्त उत्कृष्ट तथा उत्तम व्यवस्थासे युक्त थीं । ऋषभदेवको आदि लेकर वासुपूज्य भगवान् तक क्रमसे तीन-तीन तीर्थङ्करोंकी ये पूर्व भवकी राजधानियाँ थीं । इन नगरियोंमें सदा उत्सव होते रहते थे ॥११-१३॥ अवशिष्ट बारह तीर्थङ्करोंकी पूर्वभवकी राजधानियाँ निम्न प्रकार थीं सुमहानगर, अरिष्टपुर, सुमाद्रिका, पुण्डरीकिणी, सुसीमा, क्षेमा,

१. पद्मनाभश्च म० । २.-प्रभुः म०, क०, ज०, ब० । ३. विमलनाथः । ४. महान् + अरः ।

सुसीमा सीमसंपन्ना क्षेमा च क्षेमकारिणी । व्यतीतशोकनामा च चम्पा च विदिता भुवि ॥१५॥
कौशाम्बी च महाभोगा तथा नागपुरं पृथु । साकेता कान्तभवना छत्राकारपुरं तथा ॥१६॥
अनुक्रमेण शेषाणां जिनानां पूर्वजन्मनि । राजधान्य इमा ज्ञेयाः पुर्यः स्वर्गपुरीसमाः ॥१७॥
वज्रनाभिरिति ख्यातस्तथा विमलवाहनः । अन्यश्च विपुलख्यातिः श्रीमान् विपुलवाहनः ॥१८॥
महाबलोऽपरः कान्तस्तथातिबलकीर्तनः । अपराजितसंज्ञश्च नन्दिषेणाभिधोऽपरः ॥१९॥
पद्मश्चान्यो महापद्मस्तथा पद्मोत्तरो भुवि । नाथः पङ्कजगुल्माख्यः पङ्कजप्रतिमाननः ॥२०॥
विभुर्नलिनगुल्मश्च तथा पद्मासनः सुखी । स्मृतः पद्मरथो नाथः श्रीमान् दृढरथोऽपरः ॥२१॥
महामेघरथो नाम शूरः सिंहरथाभिधः । स्वामी वैश्रवणो धीमान् श्रीधर्मोऽन्यो महाधनः ॥२२॥
अप्रतिष्ठः सुरश्रेष्ठः सिद्धार्थः सिद्धशासनः । आनन्दो नन्दनीयोऽन्यः सुनन्दश्चेति विश्रुतः ॥२३॥
पूर्वजन्मनि नामानि जिनानामिति विष्टपे । प्रख्यातानि मयोक्तानि क्रमेण मगधाधिप ॥२४॥
वज्रसेनो महातेजास्तथा वीरो रिपुंदमः । अन्यः स्वयंप्रभाभिख्यः श्रीमान् विमलवाहनः ॥२५॥
गुरुः सीमन्धरो ज्ञेयो नाथश्च पिहितास्रवः । महातपस्विनावन्यावरिन्दमयुगन्धरौ ॥२६॥
तथा सर्वजनानन्दः सार्थकाभिख्ययान्वितः । अभयानन्दसंज्ञश्च वज्रदन्तोऽपरः[1] प्रभुः ॥२७॥
वज्रनाभिश्च विज्ञेयः सर्वगुप्तिश्च गुप्तिमान् । चिन्तारक्षप्रसिद्धिश्च पुनर्विपुलवाहनः ॥२८॥
मुनिर्घनरवो धीरः संवरः साधुसंवरः । वरधर्मस्त्रिलोकीयः सुनन्दो नन्दनामभृत् ॥२९॥
व्यतीतशोकसंज्ञश्च डामरः[2] प्रोष्ठिलस्तथा । क्रमेण गुरवो ज्ञेया जिनानां पूर्वजन्मनि ॥३०॥
सर्वार्थसिद्धिसंशब्दो वैजयन्तः सुखावहः । ग्रैवेयको महाभासः वैजयन्तः स एव च ॥३१॥
ऊर्ध्वग्रैवेयको ज्ञेयो मध्यमश्च प्रकीर्तितः । वैजयन्तो महातेजा अपराजितसंज्ञकः ॥३२॥
आरणश्च समाख्यातस्तथा पुष्पोत्तराभिधः । कापिष्टः पुरुशुक्रश्च सहस्रारो मनोहरः ॥३३॥
त्रिपुष्पोत्तरसंज्ञोऽतो मुक्तिस्थानधरस्थितः । विजयाख्यस्तथा श्रीमानपराजितसंज्ञकः ॥३४॥

वीतशोका, चम्पा, कौशाम्बी, नागपुर, साकेता, और छत्राकारपुर। ये सभी राजधानियाँ स्वर्गपुरीके समान सुन्दर, महाविस्तृत तथा उत्तमोत्तम भवनोंसे सुशोभित थीं ॥१४–१७॥ अब इनके पूर्वभवके नाम कहता हूँ—१ वज्रनाभि, २ विमलवाहन, ३ विपुलख्याति, ४ विपुलवाहन, ५ महाबल, ६ अतिबल, ७ अपराजित, ८ नन्दिषेण, ९ पद्म, १० महापद्म, ११ पद्मोत्तर, १२ कमलके समान मुखवाला पङ्कजगुल्म, १३ नलिनगुल्म, १४ पद्मासन, १५ पद्मरथ, १६ दृढ़रथ, १७ महामेघरथ, १८ सिंहरथ, १९ वैश्रवण, २० बुद्धिमान् श्रीधर्म, २१ उपमारहित सुरश्रेष्ठ, २२ सिद्धार्थ, २३ आनन्द और २४ सुनन्द। हे मगधराज! ये चौबीस तीर्थंकरोंके पूर्वभवके नाम तुमसे कहे हैं। ये सब नाम संसारमें अत्यन्त प्रसिद्ध थे ॥१८–२४॥ अब इनके पूर्वभवके पिताओंके नाम सुन—१ वज्रसेन, २ महातेज, ३ रिपुंदम, ४ स्वयंप्रभ, ५ विमलवाहन, ६ सीमन्धर, ७ पिहितास्रव, ८ अरिन्दम, ९ युगन्धर, १० सार्थक नामके धारक सर्वजनानन्द, ११ अभयानन्द, १२ वज्रदन्त, १३ वज्रनाभि, १४ सर्वगुप्ति, १५ गुप्तिमान्, १६ चिन्तारक्ष, १७ विपुलवाहन, १८ घनरव, १९ धीर, २० उत्तम संवरको धारण करनेवाले संवर, २१ उत्तमधर्मको धारण करनेवाले त्रिलोकीय, २२ सुनन्द, २३ वीतशोक डामर और २४ प्रोष्ठिल। इस प्रकार ये चौबीस तीर्थंकरोंके पूर्वभव सम्बन्धी चौबीस पिताओंके नाम जानना चाहिये ॥२५–३०॥ अब चौबीस तीर्थंकर जिस-जिस स्वर्गलोकसे आये उनके नाम सुन—१ सर्वार्थसिद्धि, २ वैजयन्त, ३ ग्रैवेयक, ४ वैजयन्त, ५ वैजयन्त, ६ ऊर्ध्व ग्रैवेयक, ७ मध्यम ग्रैवेयक, ८ वैजयन्त, ९ अपराजित, १० आरण, ११ पुष्पोत्तर, १२ कापिष्ट, १३ महाशुक्र, १४ सहस्रार, १५ पुष्पोत्तर, १६ पुष्पोत्तर, १७ पुष्पोत्तर, १८ सर्वार्थसिद्धि, १९ विजय,

---

१. वज्रदत्तः म०, ब०, ज०, क० । २. डामिलः म० ।

प्राणतोऽनन्तरातीतो वैजयन्तो महाद्युतिः । पुष्पोत्तर इति ज्ञेयो जिनानाममरालयाः ॥३५॥
जिनानां जन्मनक्षत्रं मातरं पितरं पुरम् । चैत्यवृक्षं तथा मोक्षस्थानं ते कथयाम्यतः ॥३६॥
विनीता नगरी नाभिर्मरुदेव्युत्तरा तथा । आषाढा वटवृक्षश्च कैलाशः प्रथमो जिनः ॥३७॥
साकेता विजयानाथो जितशत्रुर्जिनोत्तमः । रोहिणी सप्तपर्णश्च मङ्गलं श्रेणिकास्तु ते ॥३८॥
सेना जितारिराजश्च श्रावस्तीसंभवो जिनः । ऐन्द्रमृक्षं ततः शालः परमं तेऽस्तु मङ्गलम् ॥३९॥
सिद्धार्था संवरोऽयोध्या सरलश्च पुनर्वसुः । अभिनन्दननाथश्च भवन्तु तव मङ्गलम् ॥४०॥
सुमङ्गला प्रियङ्गुश्च मघा मेघप्रभः पुरी । साकेता सुमतिर्नाथो जगदुत्तममङ्गलम् ॥४१॥
सुसीमा वत्सनगरी च चित्रा धरणशब्दितः । पद्मप्रभः प्रियङ्गुश्च भवन्तु तव मङ्गलम् ॥४२॥
सुप्रतिष्ठः पुरी काशी विशाखा पृथिवी तथा । शिरीषश्च सुपार्श्वश्च राजन् परममङ्गलम् ॥४३॥
नागवृक्षोऽनुराधर्क्षं महासेनाश्च लक्ष्मणा । ख्याता चन्द्रपुरी चन्द्रप्रभश्च तव मङ्गलम् ॥४४॥
काकन्दी सुविधिर्मूलं रामा सुग्रीवपार्थिवः । सालस्तरुश्च ते सन्तु चित्तपावनकारणम् ॥४५॥
प्लक्षो दृढरथो राजा भद्रिका शीतलो जिनः । सुनन्दा प्रथमाषाढा सन्तु ते मङ्गलं परम् ॥४६॥
विष्णुश्रीः श्रवणो विष्णुः सिंहनादश्च[1] तिन्दुकः । सततं नु जिनः श्रेयान् श्रेयः कुर्वन्तु ते नृप ॥४७॥
पाडला वसुपूज्यश्च जया शतभिषं तथा । चम्पा च वासुपूज्यश्च लोकपूजां दिशन्तु ते ॥४८॥
काम्पिल्यं कृतवर्मा च शर्मा प्रौष्ठपदोत्तरा । जम्बूर्विमलनाथश्च कुर्वन्तु त्वां मलोज्झितम् ॥४९॥

२० अपराजित, २१ प्राणत, २२ आनत, २३ वैजयन्त और २४ पुष्पोत्तर । ये चौबीस तीर्थङ्करोंके आनेके स्वर्गोंके नाम कहे ॥३१-३५॥

अब आगे चौबीस तीर्थंकरोंकी जन्मनगरी, जन्मनक्षत्र, माता, पिता, वैराग्यका वृक्ष और मोक्षका स्थान कहता हूँ—विनीता (अयोध्या) नगरी, नाभिराजा पिता, मरुदेवी रानी, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र, वट वृक्ष, कैलाशपर्वत और प्रथम जिनेन्द्र हे श्रेणिक ! तेरे लिए ये मङ्गलस्वरूप हों ॥३६-३७॥ साकेता (अयोध्या) नगरी, जितशत्रु पिता, विजया माता, रोहिणी नक्षत्र, सप्तपर्ण वृक्ष और अजितनाथ जिनेन्द्र, हे श्रेणिक ! ये तेरे लिए मङ्गलस्वरूप हों ॥३८॥ श्रावस्ती नगरी, जितारि पिता, सेना माता, पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र, शाल वृक्ष और संभवनाथ जिनेन्द्र, ये तेरे लिए मङ्गलस्वरूप हों ॥३९॥ अयोध्या नगरी, संवर पिता, सिद्धार्था माता, पुनर्वसु नक्षत्र, सरल अर्थात् देवदारु वृक्ष और अभिनन्दन जिनेन्द्र, ये तेरे लिए मङ्गलस्वरूप हों ॥४०॥ साकेता (अयोध्या) नगरी, मेघप्रभ राजा पिता, सुमङ्गला माता, मघानक्षत्र, प्रियङ्गु वृक्ष, और सुमतिनाथ जिनेन्द्र ये जगत्के लिए उत्तम मङ्गलस्वरूप हों ॥४१॥ वत्सनगरी (कौशाम्बीपुरी), धरणराजा पिता, सुसीमा माता, चित्रा नक्षत्र, प्रियङ्गु वृक्ष और पद्मप्रभ जिनेन्द्र, ये तेरे लिए मङ्गलस्वरूप हों ॥४२॥ काशी नगरी, सुप्रतिष्ठ पिता, पृथ्वी माता, विशाखा नक्षत्र, शिरीष वृक्ष और सुपार्श्व जिनेन्द्र, हे राजन् ! ये तेरे लिए मङ्गलस्वरूप हों ॥४३॥ चन्द्रपुरी नगरी, महासेन पिता, लक्ष्मणा माता, अनुराधा नक्षत्र, नाग वृक्ष और चन्द्रप्रभ भगवान्, ये तेरे लिए मङ्गलस्वरूप हों ॥४४॥ काकन्दी नगरी, सुग्रीव राजा पिता, रामा माता, मूल नक्षत्र, साल वृक्ष और पुष्पदन्त अथवा सुविधिनाथ जिनेन्द्र, ये तेरे चित्तको पवित्र करनेवाले हों ॥४५॥ भद्रिका पुरी, दृढरथ पिता, सुनन्दा माता, पूर्वाषाढा नक्षत्र, प्लक्ष वृक्ष और शीतलनाथ जिनेन्द्र, ये तेरे लिए परम मङ्गलस्वरूप हों ॥४६॥ सिंहपुरी नगरी, विष्णुराज पिता, विष्णुश्री माता, श्रवणनक्षत्र, तेंदूका वृक्ष और श्रेयान्सनाथ जिनेन्द्र हे राजन् ! ये तेरे लिए कल्याण करें ॥४७॥ चम्पा पुरी, वसुपूज्य राजा पिता, जया माता, शतभिषा नक्षत्र, पाटला वृक्ष, चम्पापुरी सिद्धक्षेत्र और वासुपूज्य जिनेन्द्र, ये तेरे लिए लोकप्रतिष्ठा प्राप्त करावें ॥४८॥ काम्पिल्य नगरी, कृतवर्मा पिता, शर्मा माता, उत्तराभाद्रपद नक्षत्र, जम्बू वृक्ष,

१. सिंहनादश्च म० ।

अश्वत्थः सिंहसेनश्च विनीता रेवती तथा । श्लाघ्या सर्वयशा नाथोऽनन्तश्च तव मङ्गलम् ॥५०॥
धर्मो रत्नपुरी भानुर्दधिपर्णश्च[1] सुव्रता । पुष्यश्च तव पुष्णातु श्रियं श्रेणिक धर्मिणीम् ॥५१॥
भरणी हास्तिनस्थानमैराणी[2] नन्दपादपः । विश्वसेननृपः शान्तिः शान्तिं कुर्वन्तु ते सदा ॥५२॥
सूर्यो गजपुरं कुन्थुस्तिलकः श्रीश्च कृत्तिका । भवन्तु तव राजेन्द्र पापद्रवणहेतवः[3] ॥५३॥
मित्रा सुदर्शनश्चूतो नगरं पूर्वकीर्तितम् । रोहिण्यरजिनेन्द्रश्च नाशयन्तु रजस्तव ॥५४॥
रक्षिता मिथिला कुम्भो जिनेशो मल्लिरश्विनी । अशोकश्च तवाशोकं मनः कुर्वन्तु पार्थिव ॥५५॥
पद्मावती कुशाग्रं च सुमित्रः श्रवणस्तथा । चम्पकः सुव्रतेशश्च व्रजन्तु तव मानसम् ॥५६॥
विजयो[4] मिथिला वप्रा वकुलो नमितीर्थकृत् । अश्विनी च प्रयच्छन्तु तव धर्मसमागमम् ॥५७॥
समुद्रविजयश्चित्रा नेमिः शौरिपुरं शिवा । ऊर्जयन्तश्च ते मेषशृङ्गश्चास्तु सुखप्रदः ॥५८॥
वाराणसी विशाखा च पार्श्वो वर्मा धवोऽङ्घ्रिपः । अश्वसेनश्च ते राजन् दिशन्तु मनसो धृतिम् ॥५९॥
सालः कुण्डपुरं पावा सिद्धार्थः प्रियकारिणी । हस्तोत्तरं महावीरं परमं तव मङ्गलम् ॥६०॥
चम्पैव वासुपूज्यस्य मोक्षस्थानमुदाहृतम् । पूर्वमुक्तं त्रयाणां तु शेषाः सम्मेदनिर्वृताः ॥६१॥
शान्तिः कुन्थुररश्चेति राजानश्चक्रवर्तिनः । सन्तस्तीर्थकरा जाताः शेषाः सामान्यपार्थिवाः ॥६२॥
चन्द्राभश्चन्द्रसंकाशः पुष्पदन्तश्च कीर्तितः । प्रियङ्गुमञ्जरीवर्णः सुपार्श्वो जिनसत्तमः ॥६३॥

विमलनाथ जिनेन्द्र ये तुझे निर्मल करें ॥४९॥ विनीता नगरी, सिंहसेन पिता, सर्वयशा माता, रेवती नक्षत्र, पीपलका वृक्ष और अनन्तनाथ जिनेन्द्र, ये तेरे लिए मङ्गलस्वरूप हों ॥५०॥ रत्नपुरी नगरी, भानुराजा पिता, सुव्रता माता, पुष्य नक्षत्र, दधिपर्ण वृक्ष और धर्मनाथ जिनेन्द्र, हे श्रेणिक ! ये तेरी धर्मयुक्त लक्ष्मीको पुष्ट करें ॥५१॥ हस्तिनागपुर नगर, विश्वसेन राजा पिता, ऐराणी माता, भरणी नक्षत्र, नन्द वृक्ष और शान्तिनाथ जिनेन्द्र, ये तेरे लिए सदा शान्ति प्रदान करें ॥५२॥ हस्तिनागपुर नगर, सूर्य राजा पिता, श्रीदेवी माता, कृत्तिका नक्षत्र, तिलक वृक्ष और कुन्थुनाथ जिनेन्द्र, हे राजन् ये तेरे पाप दूर करनेमें कारण हों ॥५३॥ हस्तिनागपुर नगर, सुदर्शन पिता, मित्रा माता, रोहिणी नक्षत्र, आम्र वृक्ष और अर जिनेन्द्र, ये तेरे पापको नष्ट करें ॥५४॥ मिथिला नगरी, कुम्भ पिता, रक्षिता माता, अश्विनी नक्षत्र, अशोक वृक्ष और मल्लिनाथ जिनेन्द्र हे राजन् ! ये तेरे मनको शोकरहित करें ॥५५॥ कुशाग्र नगर (राजगृह) सुमित्र, पिता, पद्मावती माता, श्रवण नक्षत्र, चम्पक वृक्ष और सुव्रतनाथ जिनेन्द्र, ये तेरे मनको प्राप्त हों अर्थात् तू हृदयसे इनका ध्यान कर ॥५६॥ मिथिला नगरी, विजय पिता, वप्रा माता, अश्विनी नक्षत्र, वकुल वृक्ष और नमिनाथ तीर्थङ्कर, ये तेरे लिए धर्मका समागम प्रदान करें ॥५७॥ शौरिपुरनगर, समुद्रविजय पिता, शिवा माता, चित्रा नक्षत्र, मेषशृङ्ग वृक्ष, ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत और नेमि जिनेन्द्र, ये तेरे लिए सुखदायक हों ॥५८॥ वाराणसी (बनारस) नगरी, अश्वसेन पिता, वर्मादेवी माता, विशाखा नक्षत्र, धव (धौ) वृक्ष और पार्श्वनाथ जिनेन्द्र ये तेरे मनमें धैर्य उत्पन्न करें ॥५९॥ कुण्डपुर नगर, सिद्धार्थ पिता, प्रियकारिणी माता, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र, साल वृक्ष, पावा नगर और महावीर जिनेन्द्र, ये तेरे लिए परम मङ्गल स्वरूप हों ॥६०॥ इनमेंसे वासुपूज्य भगवान्का मोक्ष-स्थान चम्पापुरी ही है। ऋषभदेव, नेमिनाथ तथा महावीर इनके मोक्ष स्थान क्रमसे कैलास, ऊर्जयन्त गिरि तथा पावापुर ये तीन पहले कहे जा चुके हैं और शेष बीस तीर्थङ्कर सम्मेदाचलसे निर्वाण धामको प्राप्त हुए हैं ॥६१॥ शान्ति, कुन्थु और अर ये तीन राजा चक्रवर्ती होते हुए तीर्थङ्कर हुए। शेष तीर्थङ्कर सामान्य राजा हुए ॥६२॥ चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त ये चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णके धारक थे। सुपार्श्व जिनेन्द्र

---

१. -दीधिपर्णश्च म० । २. हास्तिपस्थान- म० । ३. पापविनाशनकारणानि । ४. विजेयो म० ।

अपक्वशालिसंकाशः पार्श्वो नागाधिपस्तुतः । पद्मगर्भसमच्छायः पद्मप्रभजिनोत्तमः ॥६४॥
किंशुकोत्करसंकाशो वासुपूज्यः प्रकीर्तितः । नीलाञ्जनगिरिच्छायो मुनिसुव्रततीर्थकृत् ॥६५॥
मयूरकण्ठसंकाशो जिनो यादवपुङ्गवः । सुतप्तकाञ्चनच्छायाः शेषा जिनवराः स्मृताः ॥६६॥
वासुपूज्यो महावीरो मल्लिः पार्श्वो यदूत्तमः । कुमारा निर्गता गेहात्पृथिवीपतयोऽपरे ॥६७॥
एते सुरासुराधीशैः प्रणताः पूजिताः स्तुताः । अभिषेकं परं प्राप्ता [1]नगपार्थिवमूर्धनि ॥६८॥
सर्वकल्याणसंप्राप्तिकारणीभूतसेवनाः । जिनेन्द्राः पान्तु वो नित्यं त्रैलोक्यपरमाद्भुताः ॥६९॥
आयुःप्रमाणबोधार्थं गणेश मम साम्प्रतम् । निवेदय परं तत्त्वं मनःपावनकारणम् ॥७०॥
यश्च रामोऽन्तरे यस्य जिनेन्द्रस्योदपद्यत[2] । तत्सर्वं ज्ञातुमिच्छामि प्रतीक्ष्य[3] त्वत्प्रसादतः ॥७१॥
इत्युक्तो गणभृत्सौम्यः श्रेणिकेन महादरात् । निवेदयाम्बभूवासौ क्षीरोदामलमानसः ॥७२॥
संख्याया गोचरं योऽर्थो व्यतिक्रम्य व्यवस्थितः । बुद्धौ कल्पितदृष्टान्तः कथितोऽसौ महात्मभिः ॥७३॥
योजनप्रमितं व्योम सर्वतो भित्तिवेष्टितम् । अवेः प्रजातमात्रस्य रोमाग्रैः परिपूरितम् ॥७४॥
द्रव्यपल्यमिदं गाढमाहत्य कठिनीकृतम् । कथ्यते[4] कल्पितं कस्य व्यापारोऽयं मुधा भवेत् ॥७५॥
तत्र वर्षशतेऽतीते रोमैकस्मिन्समुद्धृते । क्षीयते येन कालेन कालपल्यं तदुच्यते ॥७६॥

प्रियङ्गुके फूलके समान हरित वर्णके थे । पार्श्वनाथ भी कच्ची धान्यके पौधेके समान हरित वर्णके थे । धरणेन्द्रने पार्श्वनाथ भगवान्‌की स्तुति भी की थी । पद्मप्रभ जिनेन्द्र कमलके भीतरी दलके समान लाल कान्तिके धारक थे ॥६३–६४॥ वासुपूज्य भगवान् पलाश पुष्पके समूहके समान लाल वर्णके थे । मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर नीलगिरि अथवा अञ्जनगिरिके समान श्यामवर्णके थे ॥६५॥ यदुवंश शिरोमणि नेमिनाथ भगवान् मयूरके कण्ठके समान नील वर्णके थे और बाकीके समस्त तीर्थङ्कर तपाये हुए स्वर्णके समान लाल-पीत वर्णके धारक थे ॥६६॥ वासुपूज्य, मल्लि, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पाँच तीर्थङ्कर कुमार अवस्थामें ही घरसे निकल गये थे, बाकी तीर्थङ्करोंने राज्यपाट स्वीकार कर दीक्षा धारण की थी ॥६७॥ इन सभी तीर्थङ्करोंको देवेन्द्र तथा धरणेन्द्र नमस्कार करते थे, इनकी पूजा करते थे, इनकी स्तुति करते थे और सुमेरु पर्वतके शिखरपर सभी परम अभिषेकको प्राप्त हुए थे ॥६८॥ जिनकी सेवा समस्त कल्याणोंकी प्राप्तिका कारण है तथा जो तीनों लोकोंके परम आश्चर्यस्वरूप थे, ऐसे ये चौबीसों जिनेन्द्र निरन्तर तुम सबकी रक्षा करें ॥६९॥

अथानन्तर राजा श्रेणिकने गौतमस्वामीसे कहा कि हे गणनाथ ! अब मुझे इन चौबीस तीर्थङ्करोंकी आयुका प्रमाण जाननेके लिए मनकी पवित्रताका कारण जो परम तत्त्व है वह कहिये ॥७०॥ साथ ही जिस तीर्थङ्करके अन्तरालमें रामचन्द्रजी हुए हैं हे पूज्य ! वह सब आपके प्रसादसे जानना चाहता हूँ ॥७१॥ राजा श्रेणिकने जब बड़े आदरसे इस प्रकार पूछा तब क्षीर-सागरके समान निर्मल चित्तके धारक परम शान्त गणधर स्वामी इस प्रकार कहने लगे ॥७२॥ कि हे श्रेणिक ! काल नामा जो पदार्थ है वह संख्याके विषयको उल्लंघन कर स्थित है अर्थात् अनन्त है, इन्द्रियोंके द्वारा उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता फिर भी महात्माओंने बुद्धिमें दृष्टान्तकी कल्पना कर उसका निरूपण किया है ॥७३॥ कल्पना करो कि एक योजन प्रमाण आकाश सब ओरसे दीवालोंसे वेष्टित अर्थात् घिरा हुआ है तथा तत्काल उत्पन्न हुए भेड़के बालोंके अग्रभागसे भरा हुआ है ॥७४॥ इसे ठोक-ठोककर बहुत ही कड़ा बना दिया गया है, इस एक योजन लम्बे चौड़े तथा गहरे गर्तको द्रव्यपल्य कहते हैं । जब यह कह दिया गया है कि यह कल्पित दृष्टान्त है तब यह गर्त किसने खोदा किसने भरा आदि प्रश्न निरर्थक हैं ॥७५॥ उस भरे हुए रोमगर्तमेंसे

---

१. सुमेरुशिखरे । २. पद्यते म०, ब० । ३. हे पूज्य ! प्रतीत- ख० । ४. कथिते म० ।

कोटीकोट्यो दशैतेषां कालो रत्नाकरोपमः[1] । सागरोपमकोटीनां दशकोट्योऽवसर्पिणी ॥७७॥
उत्सर्पिणी च तावन्त्यस्ते सितासितपक्षवत् । सततं परिवर्तेते राजन् कालस्वभावतः ॥७८॥
प्रत्येकमेतयोर्भेदाः षडुद्दिष्टा महात्मभिः । [2]संसर्गिवस्तुवीर्यादिभेदसंभववृत्तयः ॥७९॥
अत्यन्तः सुषमः कालः प्रथमः परिकीर्तितः । कोटी कोट्यश्चतस्रोऽस्य सामुद्रोन्मानमुच्यते ॥८०॥
कीर्तितः सुषमस्तिस्रो द्वयं सुषमदुःषमः । वक्ष्यमाणद्विकालोऽब्देरूना दुःषमसत्समः ॥८१॥
उक्तो वर्षसहस्राणामेकविंशतिमानतः । प्रत्येकं दुःषमोऽत्यन्तदुःषमश्च जिनाधिपैः ॥८२॥
पञ्चाशदब्धिकोटीनां लक्षाः प्रथममुच्यते । त्रिंशद्दशनवैतासां परिपाट्या जिनान्तरम् ॥८३॥
नवतिश्च सहस्राणि नव चासां व्यवस्थितः । शतानि च नवैतासां नवतिस्तास्तथा नव ॥८४॥
[3]शतवार्द्धिलक्षषोषट्द्विषट्षट्वर्षविच्युता । एका कोटी समुद्राणां ज्ञेयं दशममन्तरम् ॥८५॥
चतुर्भिः सहिता ज्ञेयाः पञ्चाशत्सागरास्ततः । त्रिंशन्नवाथ चत्वारः सागराः कीर्तितास्ततः ॥८६॥
पल्यभागत्रयन्यूनं ततो रत्नाकरत्रयम्[4] । पल्यार्धं षोडश प्रोक्तं चतुर्भागोऽस्य तत्परम् ॥८७॥
न्यूनः कोटिसहस्रेण वर्षाणां परिकीर्तितः[5] । समाकोटिसहस्रं च तत्परं गदितं बुधैः ॥८८॥

सौ-सौ वर्षके बाद एक-एक रोमखण्ड निकाला जाय जितने समयमें खाली हो जाय उतना समय एक पल्य कहलाता है। दश कोड़ाकोड़ी पल्योंका एक सागर होता है और दश कोड़ा-कोड़ी सागरोंकी एक अवसर्पिणी होती है ॥७६–७७॥ उतने ही समयकी एक उत्सर्पिणी भी होती है। हे राजन् ! जिस प्रकार शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष निरन्तर बदलते रहते हैं उसी प्रकार काल द्रव्यके स्वभावसे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल निरन्तर बदलते रहते हैं ॥७८॥ महात्माओंने इन दोनोंमें से प्रत्येकके छह-छह भेद बतलाये हैं। संसर्गमें आनेवाली वस्तुओंके वीर्य आदिमें भेद होनेसे इन छह-छह भेदोंकी विशेषता सिद्ध होती है ॥७९॥ अवसर्पिणीका पहला भेद सुषमा-सुषमा काल कहलाता है। इसका चार कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण काल कहा जाता है ॥८०॥ दूसरा भेद सुषमा कहलाता है। इसका प्रमाण तीन कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है। तीसरा भेद सुषमा-दुःषमा कहा जाता है। इसका प्रमाण दो कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है। चौथा भेद दुःषमा-सुषमा कहलाता है। इसका प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ी-कोड़ी सागर प्रमाण है। पाचवाँ भेद दुःषमा और छठवाँ भेद दुःषमा-दुःषमा काल कहलाता है इनका प्रत्येकका प्रमाण इक्कीस-इक्कीस हजार वर्षका जिनेन्द्र देवने कहा है ॥८१–८२॥

अब तीर्थंकरोंका अन्तर काल कहते हैं।

भगवान् ऋषभदेवके बाद पचास लाख करोड़ सागरका अन्तर बीतने पर द्वितीय अजितनाथ तीर्थङ्कर हुए। उसके बाद तीस लाख करोड़ सागरका अन्तर बीतने पर तृतीय सम्भवनाथ उत्पन्न हुए। उनके बाद दश लाख करोड़ सागरका अन्तर बीतने पर चतुर्थ अभिनन्दन नाथ उत्पन्न हुए ॥८३॥ उनके बाद नौ लाख करोड़ सागरके बीतने पर पञ्चम सुमतिनाथ हुए, उनके बाद नब्बे हजार करोड़ सागर बीतने पर छठवें पद्मप्रभ हुए, उनके बाद नौ हजार करोड़ सागर बीतने पर सातवें सुपार्श्वनाथ हुए, उनके बाद नौ सौ करोड़ सागर बीतने पर आठवें चन्द्रप्रभ हुए, उनके बाद नब्बे करोड़ सागर बीतने पर नवें पुष्पदन्त हुए, उनके बाद, नौ करोड़ सागर बीतने पर दशवें शीतलनाथ हुए, उनके बाद सौ सागर कम एक करोड़ सागर बीतने पर ग्यारहवें श्रेयांसनाथ हुए, उनके बाद चौवन सागर बीतने पर बारहवें वासुपूज्यस्वामी हुए, उनके

---

१. सागरोपमः । २. संसर्पि- ख० । ३. म० पुस्तके ८५ तमश्लोकस्थाने 'समुद्रशतहीनैका कोटीदशममन्तरम् । चतुर्भिः सहिता ज्ञेयाः पञ्चाशत्सागरास्ततः' इति पाठोऽस्ति । ४. ब० पुस्तके ८६ तमः श्लोकः षड्भिः पादैरत्र समाप्यते । ५. क० पुस्तके ८७ तमः श्लोकः षड्भिः पादैरत्र समाप्यते ।

चतुःपञ्चाशदाख्यातं समा लक्षास्तु तत्परम् । षड्लक्षा उत्तरं तस्मात्ततः पञ्च प्रकाशितम् ॥८९॥
सहस्राणि त्र्यशीतिस्तु सार्धाष्टमशतं परम् । शतान्यर्द्धतृतीयानि समानां कीर्तितं ततः ॥९०॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य धर्मः संस्पृष्टदुःषमः । निवृत्ते तु महावीरे धर्मचक्रे महेश्वरे ।
सुरेन्द्रमुकुटच्छायापयोधौतक्रमद्वये[1] ॥९१॥
देवागमननिर्मुक्ते कालेऽतिशयवर्जिते । प्रनष्टकेवलोत्पादे हलचक्रधरोज्झिते ॥९२॥
भवद्विधमहाराजगुणसंघातरिक्तके । भविष्यन्ति प्रजा दुष्टा वञ्चनोद्यतमानसाः ॥९३॥
निश्शीला निर्व्रताः प्रायः क्लेशव्याधिसमन्विताः । मिथ्यादृशो महाघोरा भविष्यन्त्यसुधारिणः ॥९४॥
अतिवृष्टिरवृष्टिश्च विषमावृष्टिरीतयः । विविधाश्च भविष्यन्ति दुस्सहाः प्राणधारिणाम् ॥९५॥
मोहकादम्बरीमत्ता रागद्वेषात्ममूर्तयः । नर्तितभ्रूकराः पापा मुहुर्गर्वस्मिता नराः ॥९६॥
कुवाक्यमुखराः क्रूरा धनलाभपरायणाः । विचरिष्यन्ति खद्योता रात्राविव महीतले ॥९७॥
गोदण्डपथतुल्येषु मूढास्ते पतिताः स्वयम् । कुधर्मेषु जनानन्यान्पातयिष्यन्ति दुर्जनाः ॥९८॥
अपकारे समासक्ताः परस्य स्वस्य चानिशम् । ज्ञास्यन्ति सिद्धमात्मानं नरा दुर्गतिगामिनः ॥९९॥

बाद तीस सागर बीतने पर तेरहवें विमलनाथ हुए, उनके बाद नौ सागर बीतने पर चौदहवें अनन्तनाथ हुए, उनके बाद चार सागर बीतने पर पन्द्रहवें श्रीधर्मनाथ हुए, उनके बाद पौन पल्य कम तीन सागर बीतने पर सोलहवें शान्तिनाथ हुए, उनके बाद आधापल्य बीतने पर सत्रहवें कुन्थुनाथ हुए, उनके बाद हजार वर्ष कम पावपल्य बीतने पर अठारहवें अरनाथ हुए, उनके बाद पैंसठ लाख चौरासी हजार वर्ष कम हजार करोड़ सागर बीतने पर उन्नीसवें मल्लिनाथ हुए, उनके बाद चौअन लाख वर्ष बीतने पर बीसवें मुनिसुव्रतनाथ हुए, उनके बाद छह लाख वर्ष बीतने पर इक्कीसवें नमिनाथ हुए, उनके बाद पाँच लाख वर्ष बीतने पर बाईसवें नेमिनाथ हुए, उनके बाद पौनेचौरासी हजार वर्ष बीतने पर तेईसवें श्रीपार्श्वनाथ हुए, और उनके बाद ढाईसौ वर्ष बीतने पर चौबीसवें श्री वर्धमानस्वामी हुए हैं। भगवान् वर्धमानस्वामीका धर्म ही इस समय पञ्चम कालमें व्याप्त हो रहा है। इन्द्रोंके मुकुटोंकी कान्तिरूपी जलसे जिनके दोनों चरण धुल रहे हैं जो धर्म-चक्रका प्रवर्तन करते हैं तथा महान् ऐश्वर्यके धारक थे, ऐसे महावीर स्वामीके मोक्ष चले जानेके बाद जो पञ्चम काल आवेगा, उसमें देवोंका आगमन बन्द हो जायगा, सब अतिशय नष्ट हो जावेंगे, केवलज्ञानकी उत्पत्ति समाप्त हो जावेगी। बलभद्र, नारायण तथा चक्रवर्तियोंका उत्पन्न होना भी बन्द हो जायगा। और आप जैसे महाराजाओंके योग्य गुणोंसे समय शून्य हो जायगा। तब प्रजा अत्यन्त दुष्ट हो जावेगी, एक दूसरेको धोखा देनेमें ही उसका मन निरन्तर उद्यत रहेगा। उस समयके लोग निःशील तथा निर्व्रत होंगे, नाना प्रकारके क्लेश और व्याधियोंसे सहित होंगे, मिथ्यादृष्टि तथा अत्यन्त भयङ्कर होंगे ॥८४–९४॥ कहीं अतिवृष्टि होगी, कहीं अवृष्टि होगी और कहीं विषम वृष्टि होगी। साथ ही नाना प्रकार की दुःसह रीतियाँ प्राणियोंको दुःसह दुःख पहुँचावेंगी ॥९५॥ उस समयके लोग मोहरूपी मदिराके नशामें चूर रहेंगे, उनके शरीर राग-द्वेषके पिण्डके समान जान पड़ेंगे, उनकी भौंहें तथा हाथ सदा चलते रहेंगे, वे अत्यन्त पापी होंगे, बार-बार अहङ्कारसे मुसकराते रहेंगे, खोटे वचन बोलनेमें तत्पर होंगे, निर्दय होंगे, धनसञ्चय करनेमें ही निरन्तर लगे रहेंगे, और पृथ्वी पर ऐसे विचरेंगे जैसे कि रात्रिमें जुगनू अथवा पटवीजना विचरते हैं अर्थात् अल्प प्रभावके धारक होंगे ॥९६–९७॥ वे स्वयं मूर्ख होंगे और गोदण्ड पथके समान जो नाना कुधर्म हैं उनमें स्वयं पड़कर दूसरे लोगोंको भी ले जायेंगे। दुर्जन प्रकृतिके होंगे, दूसरेके तथा अपने अपकारमें

१. ख० पुस्तके ९१तमः श्लोकः षड्भिः पादैरत्र समाप्यते। ज० पुस्तके मूलतः म० पुस्तकवत् पाठोऽस्ति किन्तु पश्चात्केनापि टिप्पणकर्त्रा उज्झितश्लोकचिह्नं दत्त्वा ८५तमः-श्लोकः मूलेन योजितः।

कुशास्त्रमुखरहुंकारैः कर्मम्लेच्छैर्मदोद्धतैः। अनर्थजनितोत्साहैर्मोहसंतमसावृतैः ॥१००॥
छेत्स्यन्ते सततोद्युक्तैर्मन्दं[1]कालानुभावतः। हिंसाशास्त्रकुठारेण भव्येतर[2]जनाङ्घ्रिपाः ॥१०१॥
आदावरत्नयः सप्त जनानां दुःषमे स्मृताः। प्रमाणं क्रमतो हानिस्ततस्तेषां भविष्यति ॥१०२॥
द्विहस्तसम्मिता मर्त्या विंशत्यब्दायुषस्ततः। भविष्यन्ति परे हस्तमात्रोत्सेधाः सुदुःषमे ॥१०३॥
आयुः षोडशवर्षाणि तेषां गदितमुत्तमम्। वृत्त्या सरीसृपाणां ते जीविष्यन्त्यन्तदुःखिताः ॥१०४॥
ते विरूपसमस्ताङ्गा नित्यं पापक्रियारताः। तिर्यञ्च इव मोहार्ता भविष्यन्ति रुजार्दिताः ॥१०५॥
न व्यवस्था न सम्बन्धा नेश्वरा न च सेवकाः। न धनं न गृहं नैव सुखमेकान्तदुःषमे ॥१०६॥
कामार्थधर्म[3]संभारहेतुभिः परिचेष्टितैः। शून्याः प्रजा भविष्यन्ति पापपिण्डचिता इव ॥१०७॥
कृष्णपक्षे क्षयं याति यथा शुक्ले च वर्धते। इन्दुस्तथैतयोरायुरादीनां हानिवर्धने ॥१०८॥
उत्सवादिप्रवृत्तीनां रात्रिवासरयोर्यथा। हानिवृद्धी च विज्ञेये कालयोस्तद्वदेतयोः ॥१०९॥
येनावसर्पिणीकाले क्रमेणोदाहृतः क्षयः। उत्सर्पिण्यामनेनैव परिवृद्धिः प्रकीर्तिता ॥११०॥
जिनानामन्तरं प्रोक्तमुत्सेधं शृण्वतः[4] परम्। क्रमतः कीर्तयिष्यामि राजन्नवहितो भव ॥१११॥
शतानि पञ्च चापानां प्रथमस्य महात्मनः। उत्सेधो जिननाथस्य वपुषः परिकीर्तितः ॥११२॥

रात-दिन लगे रहेंगे। उस समयके लोग होंगे तो दुर्गतिमें जानेवाले पर अपने आपको ऐसा समझेंगे जैसे सिद्ध हुए जा रहे हों अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेवाले हों ॥९८-९९॥ जो मिथ्या शास्त्रोंका अध्ययन कर अहंकारवश हुंकार छोड़ रहे हैं, जो कार्य करनेमें म्लेच्छोंके समान हैं, सदा मदसे उद्धत रहते हैं, निरर्थक कार्योंमें जिनका उत्साह उत्पन्न होता है, जो मोह रूपी अन्धकारसे सदा आवृत रहते हैं और सदा दाव-पेंच लगानेमें ही तत्पर रहते हैं, ऐसे ब्राह्मणादिकके द्वारा उस समयके अभव्य जीवरूपी वृक्ष, हिंसाशास्त्र रूपी कुठारसे सदा छेदे जावेंगे। यह सब हीन कालका प्रभाव ही समझना चाहिए ॥१००-१०१॥ दुःषम नाम पञ्चम कालके आदिमें मनुष्योंकी ऊँचाई सात हाथ प्रमाण होगी फिर क्रमसे हानि होती जावेगी। इस प्रकार क्रमसे हानि होते-होते अन्तमें दो हाथ ऊँचे रह जावेंगे। बीस वर्षकी उनकी आयु रह जावेगी। उसके बाद जब छठाँ काल आवेगा तब एक हाथ ऊँचा शरीर और सोलह वर्षकी आयु रह जावेगी। उस समयके मनुष्य सरीसृपोंके समान एक दूसरेको मारकर बड़े कष्टसे जीवन बितावेंगे ॥१०२-१०४॥ उनके समस्त अङ्ग विरूप होंगे, वे निरन्तर पाप-क्रियामें लीन रहेंगे, तिर्यञ्चोंके समान मोहसे दुःखी तथा रोगसे पीड़ित होंगे ॥१०५॥ छठें कालमें न कोई व्यवस्था रहेगी, न कोई सम्बन्ध रहेंगे, न राजा रहेंगे, न सेवक रहेंगे। लोगोंके पास न धन रहेगा, न घर रहेगा, और न सुख ही रहेगा ॥१०६॥ उस समयकी प्रजा धर्म अर्थ काम सम्बन्धी चेष्टाओंसे सदा शून्य रहेगी और ऐसी दिखेगी मानो पापके समूहसे व्याप्त ही हो ॥१०७॥ जिस प्रकार कृष्ण पक्षमें चन्द्रमा ह्रासको प्राप्त होता है और शुक्ल पक्षमें वृद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार अवसर्पिणी कालमें लोगोंकी आयु आदिमें ह्रास होने लगता है तथा उत्सर्पिणीकालमें वृद्धि होने लगती है ॥१०८॥ अथवा जिस प्रकार रात्रिमें उत्सवादि अच्छे-अच्छे कार्योंकी प्रवृत्तिका ह्रास होने लगता है और दिनमें वृद्धि होने लगती है उसी प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकालका हाल जानना चाहिए ॥१०९॥ अवसर्पिणी कालमें जिस क्रमसे क्षयका उल्लेख किया है उत्सर्पिणीकालमें उसी क्रमसे वृद्धिका उल्लेख जानना चाहिए ॥११०॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! मैंने चौबीस तीर्थंकरोंका अन्तर तो कहा। अब क्रमसे उनकी ऊँचाई कहूँगा सो सावधान होकर सुन ॥१११॥

पहले ऋषभदेव भगवान्‌के शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष कही गई है ॥११२॥

१. मन्दाः म०, ब०। २. जिनाङ्घ्रिपाः म०, ज०। ३. धर्मसंगभार- म०। ४. शृणु + अतः।

पञ्चाशच्चापहान्यातः प्रत्येकं परिकीर्तितम् । शीतलात् प्राग्जिनेन्द्राणां नवतिः शीतलस्य च ॥११३॥
ततो धर्मजिनात् पूर्वं दशचापपरिक्षयः । प्रत्येकं धर्मनाथस्य चत्वारिंशत्सपञ्चिका[1]: ॥११४॥
ततः पार्श्वजिनात् पूर्वं प्रत्येकं पञ्चभिः क्षयः । नवारत्निमितः पार्श्वो महावीरो द्विवर्जितः ॥११५॥
पल्योपमस्य दशमो भाग आद्यस्य कीर्तितम् । मित्या कुलकरस्यायुर्लोकालोकावलोकिभिः ॥११६॥
दशमो दशमो भागः पौरस्त्यस्य ततः स्मृतः । प्रमाणमायुषो राजन् शेषाणां कुलकारिणाम् ॥११७॥
[2]चतुर्भिरधिकाशीतिः पूर्वलक्षाः[3] प्रकीर्तिताः । प्रथमस्य जिनेन्द्रस्य द्वितीयस्य द्विसप्ततिः ॥११८॥
षष्टिश्च पञ्चसु शेषः क्रमेण दशभिः क्षयः । विज्ञेये पूर्वलक्षे द्वे तथैकं परिकीर्तितम् ॥११९॥
चतुर्भिरधिकाशीतिरब्दा[4] लक्षा द्विसप्ततिः । षष्टिस्त्रिंशद्दशैका च समा लक्षाः प्रकीर्तिताः ॥१२०॥
नवतिः पञ्चभिः सार्धमशीतिश्चतुरुत्तराः । पञ्चाशत्पञ्चभिर्युक्तास्त्रिंशद्दश च कीर्तितः ॥१२१॥

उसके बाद शीतलनाथके पहले-पहले तक अर्थात् पुष्पदन्त भगवान् तक प्रत्येककी पचास-पचास धनुष कम होती गई है। शीतलनाथ भगवान्की ऊँचाई नब्बे धनुष है। उसके आगे धर्मनाथके पहले-पहले तक प्रत्येककी दश-दश धनुष कम होती गई है। धर्मनाथकी पैंतालीस धनुष प्रमाण है। उनके आगे पार्श्वनाथके पहले-पहले तक प्रत्येककी पाँच-पाँच धनुष कम होती गई है। पार्श्वनाथकी नौ हाथ और वर्धमान स्वामीके उनसे दो हाथ कम अर्थात् सात हाथकी ऊँचाई है। भावार्थ—१ ऋषभनाथकी ५०० धनुष, २ अजितनाथकी ४५० धनुष, ३ सम्भवनाथकी ४०० धनुष, ४ अभिनन्दननाथकी ३५० धनुष, ५ सुमतिनाथकी ३०० धनुष, ६ पद्मप्रभकी २५० धनुष, ७ सुपार्श्वनाथकी २०० धनुष, ८ चन्द्रप्रभकी १५० धनुष, ९ पुष्पदन्तकी १०० धनुष, १० शीतलनाथकी ९० धनुष, ११ श्रेयान्सनाथकी ८० धनुष, १२ वासुपूज्यकी ७० धनुष, १३ विमलनाथकी ६० धनुष, १४ अनन्तनाथकी ५० धनुष, १५ धर्मनाथकी ४५ धनुष, १६ शान्तिनाथकी ४० धनुष, १७ कुन्थुनाथकी ३५ धनुष, १८ अरनाथकी ३० धनुष, १९ मल्लिनाथकी २५ धनुष, २० मुनिसुव्रतनाथकी २० धनुष, २१ नमिनाथकी १५ धनुष, २२ नेमिनाथकी १० धनुष २३ पार्श्वनाथकी ९ हाथ और २४ वर्धमान स्वामीकी ७ हाथकी ऊँचाई है ॥११३-११५॥

अब कुलकर तथा तीर्थङ्करोंकी आयुका वर्णन करता हूँ—हे राजन्! लोक तथा अलोकके देखनेवाले सर्वज्ञ देवने प्रथम कुलकरकी आयु पल्यके दशवें भाग बतलाई है। उसके आगे प्रत्येक कुलकरकी आयु दशवें-दशवें भाग बतलाई गई है अर्थात् प्रथम कुलकरकी आयुमें दशका भाग देनेपर जो लब्ध आये वह द्वितीय कुलकरकी आयु है और उसमें दशका भाग देनेपर जो लब्ध आवे वह तृतीय कुलकरकी आयु है। इस तरह चौदह कुलकरोंकी आयु जानना चाहिए ॥११६-११७॥ प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव भगवान्की चौरासी लाख पूर्व, द्वितीय तीर्थङ्कर श्री अजितनाथ भगवान्की बहत्तर लाख पूर्व, तृतीय तीर्थङ्कर श्री संभवनाथकी साठ लाख पूर्व, उनके बाद पाँच तीर्थङ्करोंमें प्रत्येककी दश-दश लाख पूर्व, कम अर्थात् चतुर्थ अभिनन्दननाथकी पचास लाख पूर्व, पञ्चम सुमतिनाथकी चालीस लाख पूर्व, षष्ठ पद्मप्रभकी तीस लाख पूर्व, अष्टम चन्द्रप्रभकी दश लाख पूर्व, नवम पुष्पदन्तकी दो लाख पूर्व, दशम शीतलनाथकी एक लाख पूर्व, ग्यारहवें श्रेयान्सनाथकी चौरासी लाख वर्ष, बारहवें वासुपूज्यकी बहत्तर लाख वर्ष, तेरहवें विमलनाथकी साठ लाख वर्ष, चौदहवें अनन्तनाथकी तीस लाख वर्ष, पन्द्रहवें धर्मनाथकी दश लाख वर्ष, सोलहवें शान्तिनाथकी एक लाख वर्ष, सत्रहवें कुन्थुनाथकी पञ्चानबे हजार वर्ष, अठारहवें

---

१. सपञ्चिका क०, ज०। २. अत्र ख० पुस्तके एवं पाठः-
चतुर्भिरधिकाशीतिः पूर्वलक्षाद्विसप्ततिः। षष्टिर्लक्षाणि पूर्वाणि पञ्चाशल्लक्षकं तथा ॥११८॥
चत्वारिंशत्तु लक्षाणि त्रिंशल्लक्षाणि चैव हि। तथा विंशतिलक्षाणि दश द्वे चैकमेवहि ॥११९॥
३. शीतिरब्दाः लक्षा म०। ४. समा लक्षाः ख०।

एकं चाब्दं सहस्राणां संख्येयं परिकीर्तिताः । वर्षाणां च शतं द्वाभ्यामधिका सप्ततिस्तथा ॥१२२॥
क्रमेणेति जिनेन्द्राणामायुः श्रेणिक कीर्तितम् । शृणु सम्प्रति यो यत्र जातश्चक्रधरोऽन्तरे[1] ॥१२३॥
ऋषभेण यशोवत्यां[2] जातो भरतकीर्तितः । यस्य नाम्ना गतं ख्यातिमेतद्वास्यं जगत्त्रये ॥१२४॥
अभूद् यः पुण्डरीकिण्यां पीठः पूर्वत्र जन्मनि । सर्वार्थसिद्धिमैत्कृत्वा कुशसेनस्य[3] शिष्यताम् ॥१२५॥
लोचा[4]नन्तरमुत्पाद्य महासंवेगयोगतः । सर्वावभासनं ज्ञानं निर्वाणं स समीयिवान् ॥१२६॥
बभूव नगरे राजा पृथिवीपुरनामनि । विजयो नाम शिष्योऽभूद् यशोधरगुरोरसौ ॥१२७॥
स मृतो विजयं गत्वा भुक्त्वा भोगमनुत्तमम् । विनीतायामिह च्युत्वा विजयस्याप्य पुत्रताम् ॥१२८॥
सौमङ्गलो बभूवासौ चक्री सगरसंज्ञितः । भुक्त्वा भोगं महासारं सुरपूजितशासनः ॥१२९॥
प्रबुद्धः पुत्रशोकेन प्रव्रज्य जिनशासने । उत्पाद्य केवलं नाथः सिद्धानामालयं गतः ॥१३०॥
शशिभः पुण्डरीकिण्यां शिष्योऽभूद् विमले गुरौ । गत्वा ग्रैवेयकं भुक्त्वा संसारसुखमुत्तमम् ॥१३१॥
च्युत्वा सुमित्रराजस्य भद्रवत्यामभूत् सुतः । श्रावस्त्यां मघवा नाम चक्रलक्ष्मीलतातरुः ॥१३२॥
श्रामण्यव्रतमास्थाय धर्मशान्तिजिनान्तरे । समाधानानुरूपेण [5]गतः सौधर्मवासिताम् ॥१३३॥
सनत्कुमारचक्रेशे स्तुते मगधपुङ्गवः । ब्रवीति केन पुण्येन जातोऽसाविति रूपवान् ॥१३४॥

अरनाथकी चौरासी हजार वर्ष, उन्नीसवें मल्लिनाथकी पचपन हजार वर्ष, बीसवें मुनिसुव्रतनाथकी तीस हजार वर्ष, इक्कीसवें नमिनाथकी दश हजार वर्ष, बाईसवें नेमिनाथकी एक हजार वर्ष, तेईसवें पार्श्वनाथकी सौ वर्ष और चौबीसवें महावीरकी बहत्तर वर्षकी आयु थी ॥११८-१२२॥ हे श्रेणिक ! मैंने इस प्रकार क्रमसे तीर्थङ्करोंकी आयुका वर्णन किया । अब जिस अन्तरालमें चक्रवर्ती हुए हैं उनका वर्णन सुन ॥१२३॥

भगवान् ऋषभदेवकी यशस्वती रानीसे भरत नामा प्रथम चक्रवर्ती हुआ । इस चक्रवर्तीके नामसे ही यह क्षेत्र तीनों जगत्‌में भरत नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥१२४॥ यह भरत पूर्व जन्ममें पुण्डरीकिणी नगरीमें पीठ नामका राजकुमार था । तदनन्तर कुशसेन मुनिका शिष्य होकर सर्वार्थसिद्धि गया । वहाँसे आकर भरत चक्रवर्ती हुआ । इसके परिणाम निरन्तर वैराग्यमय रहते थे जिससे केशलोंचके अनन्तर ही लोकालोकावभासी केवलज्ञान उत्पन्न कर निर्वाण धामका प्राप्त हुआ ॥१२५-१२६॥ फिर पृथ्वीपुर नगरमें राजा विजय था जो यशोधर गुरुका शिष्य होकर मुनि हो गया । अन्तमें सल्लेखनासे मरकर विजय नामका अनुत्तम विमानमें गया वहाँ उत्तम भोग भोगकर अयोध्या नगरीमें राजा विजय और रानी सुमङ्गलाके सगर नामका द्वितीय चक्रवर्ती हुआ । वह इतना प्रभावशाली था कि देव भी उसकी आज्ञाका सम्मान करते थे । उसने उत्तमोत्तम भोग भोगकर अन्तमें पुत्रोंके शोकसे प्रवृत्ति हो जिन दीक्षा धारण कर ली और केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्धालय प्राप्त किया ॥१२७-१३०॥ तदनन्तर पुण्डरीकिणी नगरीमें शशिप्रभ नामका राजा था । वह विमल गुरुका शिष्य होकर ग्रैवेयक गया वहाँ संसारका उत्तम सुख भोगकर वहाँसे च्युत हो श्रावस्ती नगरीमें राजा सुमित्र और रानी भद्रवतीके मघवा नामका तृतीय चक्रवर्ती हुआ । यह चक्रवर्तीकी लक्ष्मीरूपी लताके लिपटनेके लिए मानो वृक्ष ही था । यह धर्मनाथ और शान्तिनाथ तीर्थङ्करके बीचमें हुआ था तथा मुनिव्रत धारण कर समाधिके अनुरूप सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुआ था ॥१३१-१३३॥

इसके बाद गौतमस्वामी चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमारकी बहुत प्रशंसा करने लगे तब राजा श्रेणिकने पूछा कि हे भगवन् ! वह किस पुण्यके कारण इस तरह अत्यन्त रूपवान् हुआ था

---

१. चक्रधरान्तरे म० । २. यशस्वत्यामिति भवितव्यम् । ३. कुरुसेनस्य म० । ४. लुञ्चानन्तर ज०, लोचनान्तर म० । ५. गतं म० ।

तस्मै समासतोऽवोचत् पुराणार्थं महामुनिः । यन्न वर्षशतेनापि सर्वं कथयितुं क्षमम् ॥१३५॥
तिर्यग्नरकदुःखानि कुमानुषभवांस्तथा । जीवः प्रपद्यते तावद्यावन्नायाति जैनताम् ॥१३६॥
अस्ति गोवर्धनाभिख्यो ग्रामो जनसमाकुलः । जिनदत्ताभिधानोऽत्र बभूव गृहिणां वरः ॥१३७॥
यथा सर्वाम्बुधानानां सागरो मूर्द्धनि स्थितः । भूधराणां च सर्वेषां मन्दरश्चारुकन्दरः ॥१३८॥
ग्रहाणां हरिदश्वश्च[1] तृणानामिक्षुरर्चितः । ताम्बूलाख्या च वल्लीनां तरूणां हरिचन्दनः[2] ॥१३९॥
कुलानामिति सर्वेषां श्रावकाणां कुलं स्तुतम् । आचारेण हि तत्पूतं सुगत्यर्जनतत्परम् ॥१४०॥
स गृही तत्र जातः सन् कृत्वा श्रावकचेष्टितम् । गुणभूषणसम्पन्नः प्रशस्तामाश्रितो गतिम् ॥१४१॥
भार्या विनयवत्यस्य तद्वियोगेन दुःखिता । शीलशेखरसद्गन्धा गृहिधर्मपरायणा ॥१४२॥
स्वनिवेशे जिनेन्द्राणां कारयित्वा वरालयम् । प्रव्रज्य सुतपः कृत्वा जगाम गतिमर्चिताम् ॥१४३॥
तत्रैवान्योऽभवद् ग्रामे हेमबाहुर्महागृही । आस्तिकः परमोत्साहो दुराचारपराङ्मुखः ॥१४४॥
तया विनयवत्यासौ कारितं जैनमालयम् । अनुमोद्य महापूजां यक्षोऽभूदायुषः क्षये ॥१४५॥[3]
चतुर्विधस्य संघस्य निरतः पर्युपासने । सम्यग्दर्शनसम्पन्नो जिनवन्दनतत्परः ॥१४६॥
ततः सुमानुषो देव इति त्रिः परिवर्तनम् । कुर्वन्नसौ महापुर्यामासीद्धर्मरुचिर्नृपः ॥१४७॥
[4]अस्य सानत्कुमारस्य पितासीत् सुप्रभाह्वयः[5] । वरस्त्रीगुणमञ्जूषा माता तिलकसुन्दरी ॥१४८॥
कृत्वा सुप्रभशिष्यत्वं महाव्रतधरस्ततः । महासमितिसम्पन्नश्चारुगुप्तिसमावृतः ॥१४९॥

॥१३४॥ इसके उत्तरमें गणधर भगवान्‌ने संक्षेपसे ही पुराणका सार वर्णन किया क्योंकि उसका पूरा वर्णन तो सौ वर्षमें भी नहीं कहा जा सकता था ॥१३५॥ उन्होंने कहा कि जबतक यह जीव जैनधर्मको प्राप्त नहीं होता है तबतक तिर्यञ्च नरक तथा कुमानुष सम्बन्धी दुःख भोगता रहता है ॥१३६॥ पूर्वभवका वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि मनुष्योंसे भरा एक गोवर्धन नामका ग्राम था उसमें जिनदत्त नामका उत्तम गृहस्थ रहता था ॥१३७॥ जिस प्रकार समस्त जलाशयोंमें सागर, समस्त पर्वतोंमें सुन्दर गुफाओंसे युक्त सुमेरु पर्वत, समस्त ग्रहोंमें सूर्य, समस्त तृणोंमें इक्षु, समस्त लताओंमें नागवल्ली और समस्त वृक्षोंमें हरिचन्दन वृक्ष प्रधान है, उसी प्रकार समस्त कुलोंमें श्रावकोंका कुल सर्वप्रधान है क्योंकि वह आचारकी अपेक्षा पवित्र है तथा उत्तम गति प्राप्त करानेमें तत्पर है ॥१३८-१४०॥ वह गृहस्थ श्रावक कुलमें उत्पन्न हो तथा श्रावकाचारका पालन कर गुणरूपी आभूषणोंसे युक्त होता हुआ उत्तम गतिको प्राप्त हुआ ॥१४१॥ उसकी विनयवती नामकी पतिव्रता तथा गृहस्थका धर्म पालन करनेमें तत्पर रहनेवाली स्त्री थी सो पतिके वियोगसे बहुत दुःखी हुई ॥१४१-१४२॥ उसने अपने घरमें जिनेन्द्र भगवान्‌का उत्तम मन्दिर बनवाया तथा अन्तमें आर्यिकाकी दीक्षा ले उत्तम तपश्चरण कर देवगति प्राप्त की ॥१४३॥ उसी नगरमें हेमबाहु नामका एक महागृहस्थ रहता था जो आस्तिक, परमोत्साही और दुराचारसे विमुख था ॥१४४॥ विनयवतीने जो जिनालय बनवाया था तथा उसमें जो भगवान्‌की महापूजा होती थी उसकी अनुमोदना कर वह आयुके अन्तमें यक्ष जातिका देव हुआ ॥१४५॥ वह यक्ष चतुर्विध संघकी सेवामें सदा तत्पर रहता था। सम्यग्दर्शनसे सहित था और जिनेन्द्रदेवकी वन्दना करनेमें सदा तत्पर रहता था ॥१४६॥ वहाँ से आकर वह उत्तम मनुष्य हुआ, फिर देव हुआ। इस प्रकार तीन बार मनुष्य देवगतिमें आवागमन कर महापुरी नगरीमें धर्मरुचि नामका राजा हुआ। यह धर्मरुचि सनत्कुमार स्वर्गसे आकर उत्पन्न हुआ था। इसके पिताका नाम सुप्रभ और माताका नाम तिलकसुन्दरी था। तिलकसुन्दरी उत्तम स्त्रियोंके गुणोंकी मानो मञ्जूषा ही थी ॥१४७-१४८॥ राजा धर्मरुचि सुप्रभ मुनिका शिष्य होकर पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों

१. सूर्यः । २. हरिचन्दनम् म० । ३. यक्षीभूदा म० । ४. यस्य म०, ज० । ५. पिता चासीत्प्रभाह्वयः ख० ।

आत्मनिन्दापरो धीरः स्वदेहेऽत्यन्तनिःस्पृहः । दयादमपरो धीमान् शीलवैवधिकः परः ॥१५०॥
शङ्कादिदृष्टिदोषाणामतिदूरव्यवस्थितः । साधूनां सततं सक्तो वैयावृत्ये यथोचिते ॥१५१॥
संयुक्तः कालधर्मेण माहेन्द्रं कल्पमाश्रितः । अवाप परमान् भोगान् देवीनिवहमध्यगः ॥१५२॥
च्युतो नागपुरे जातः साहदेवः[1] स वैजयिः[2] । सनत्कुमारशब्देन ख्यातश्चक्राङ्कशासनः ॥१५३॥
संकथानुक्रमाद् यस्य सौधर्मेण कीर्तितम् । रूपं द्रष्टुं समाजग्मुः सुरा विस्मयकारणम् ॥१५४॥
कृतश्रमः स तैर्दृष्टो भूरजोधूसर[3]द्युतिः । गन्धामलकपङ्केन दिग्धमौलिर्महातनुः ॥१५५॥
स्नानैकशाटकः श्रीमान् स्थितः स्नानोचितासने । नानावर्णपयःपूर्णकुम्भमण्डलमध्यगः ॥१५६॥
उक्तः स तैरहो रूपं साधु शक्रेण वर्णितम् । मानुषस्य सतो देवचित्ताकर्षणकारणम् ॥१५७॥
तेनोक्तास्ते कृतस्नानं भुक्तवन्तं सभूषणम् । सुरा द्रक्ष्यथ मां स्तोकां वेलामत्रैव तिष्ठत ॥१५८॥
एवमित्युदिते कृत्वा यः समस्तं यथोचितम् । स्थितः सिंहासने रत्नशैलकूटसमद्युतिः ॥१५९॥
दृष्ट्वा तस्य पुनारूपं निनिन्दुर्नाकवासिनः । असारां धिगिमां शोभां मर्त्यानां क्षणिकामिति ॥१६०॥
प्रथमे दर्शने याऽस्य यौवनेन समन्विता । सेयं क्षणात् कथं ह्रासं प्राप्ता सौदामिनीत्वरी ॥१६१॥
विज्ञाय क्षणिकां लक्ष्मीं सुरेभ्यो रागवर्जितः । श्रमणत्वं परिप्राप्य महाघोरतपोऽन्वितः ॥१६२॥

और तीन गुप्तियोंका धारक हो गया ॥१४९॥ वह सदा आत्मनिन्दामें तत्पर रहता था, आगत उपसर्गादिके सहनेमें धीर था, अपने शरीरसे अत्यन्त निःस्पृह रहता था, दया और दमको धारण करनेवाला था, बुद्धिमान् था, शीलरूपी काँवरका धारक था, शङ्का आदि सम्यग्दर्शनके आठ दोषोंसे बहुत दूर रहता था, और साधुओंकी यथायोग्य वैयावृत्त्यमें सदा लगा रहता था ॥१५०-१५१॥ अन्तमें आयु समाप्त कर वह माहेन्द्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहाँ देवियोंके समूहके मध्यमें स्थित हो परम भोगोंको प्राप्त हुआ ॥१५२॥ तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर हस्तिनागपुरमें राजा विजय और रानी सहदेवीके सनत्कुमार नामका चतुर्थ चक्रवर्ती हुआ ॥१५३॥

एक बार सौधर्मेन्द्रने अपनी सभामें कथाके अनुक्रमसे सनत्कुमार चक्रवर्तीके रूपकी प्रशंसा की । सो आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले उसके रूपको देखनेके लिए कुछ देव आये ॥१५४॥ जिस समय उन देवोंने छिपकर उसे देखा उस समय वह व्यायाम कर निवृत्त हुआ था, उसके शरीर की कान्ति अखाड़ेकी धूलिसे धूसरित हो रही थी, शिरमें सुगन्धित आँवलेका पङ्क लगा हुआ था, शरीर अत्यन्त ऊँचा था, स्नानके समय धारण करने योग्य एक वस्त्र पहने था, स्नानके योग्य आसन पर बैठा था, और नाना वर्णके सुगन्धित जलसे भरे हुए कलशोंके बीचमें स्थित था ॥१५५-१५६॥ उसे देखकर देवोंने कहा कि अहो ! इन्द्रने जो इसके रूपकी प्रशंसा की है सो ठीक ही की है । मनुष्य होने पर भी इसका रूप देवोंके चित्तको आकर्षित करनेका कारण बना हुआ है ॥१५७॥ जब सनत्कुमारको पता चला कि देव लोग हमारा रूप देखना चाहते हैं तब उसने उनसे कहा कि आप लोग थोड़ी देर यहीं ठहरिए । मुझे स्नान और भोजन करनेके बाद आभूषण धारण कर लेने दीजिए फिर आपलोग मुझे देखें ॥१५८॥ 'ऐसा ही हो' इस प्रकार कहने पर चक्रवर्ती सनत्कुमार सब कार्य यथायोग्य कर सिंहासन पर आ बैठा । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो रत्नमय पर्वतका शिखर ही हो ॥१५९॥

तदनन्तर पुनः उसका रूप देखकर देव लोग आपसमें निन्दा करने लगे कि मनुष्योंकी शोभा असार तथा क्षणिक है, अतः इसे धिक्कार है ॥१६०॥ प्रथम दर्शनके समय जो इसकी शोभा यौवनसे सम्पन्न देखी थी वह बिजलीके समान नश्वर होकर क्षण भरमें ही ह्रासको कैसे प्राप्त हो गई ? ॥१६१॥ लक्ष्मी क्षणिक है ऐसा देवोंसे जानकर चक्रवर्ती सनत्कुमारका राग छूट

१. सहदेवीपुत्रः । २. विजयस्यापत्यंपुमान् वैजयिः । ३. भूसर म० ।

अधिसह्य महारोगान् महालब्धियुतोऽपि सन् । सनत्कुमारमारूढः स्वध्यानस्थितियोगतः ॥१६३॥
बभूव पुण्डरीकिण्यां नाम्ना मेघरथो नृपः । सर्वार्थसिद्धिमेतोऽसौ शिष्यो घनरथस्य सन् ॥१६४॥
च्युत्वा नागपुरे विश्वसेनस्यैराशरीरजः । तनयः प्रथितो जातः शान्तिः शान्तिकरो नृणाम् ॥१६५॥
जातमात्रोऽभिषेकं यः सुरेभ्यः प्राप्य मन्दिरे । अभूच्चक्राङ्कभोगस्य नाथोऽसाविन्द्रसंस्तुतः ॥१६६॥
विहाय तृणवद्राज्यं प्राब्राज्यं समश्रियत् । चक्रिणां पञ्चमो भूत्वा जिनानां षोडशोऽभवत् ॥१६७॥
कुन्थ्वरौ परतस्तस्य संजातौ चक्रवर्तिनौ । जिनेन्द्रत्वं च संप्राप्तौ पूर्वसंचितकारणौ ॥१६८॥
सनत्कुमारराजोऽभूद्धर्मशान्तिजिनान्तरे । निजमेवान्तरं ज्ञेयं त्रयाणां जिनचक्रिणाम् ॥१६९॥
कनकाभ इति ख्यातो नाम्ना धान्यपुरे नृपः । विचित्रगुप्तशिष्यः सन् स जयन्तं समाश्रयत् ॥१७०॥
ईशावत्यां नरेन्द्रस्य कार्तवीर्यस्य भामिनी । तारेति तनयस्तस्यामभून्नाकादुपागतः ॥१७१॥
सुभूम इति चाख्यातश्चक्राङ्कायाः श्रियः पतिः । येनेयं शोभना भूमिः कृता[1] परमचेष्टिना[2] ॥१७२॥
पितुर्यो वधकं युद्धे जामदग्न्यममीमरत् । भुञ्जानः पायसं पात्र्या चक्रत्वपरिवृत्तया ॥१७३॥
जामदग्न्याहृतक्षात्रदन्ता एवास्य पायसम् । सत्रे किलाशनतो जाता नैमित्तोक्तं समन्ततः ॥१७४॥

गया । फलस्वरूप वह मुनि-दीक्षा लेकर अत्यन्त कठिन तप करने लगा ॥१६२॥ यद्यपि उसके शरीरमें अनेक रोग उत्पन्न हो गये थे तो भी वह उन्हें बड़ी शान्तिसे सहन करता रहा । तपके प्रभावसे अनेक ऋद्धियाँ भी उसे प्राप्त हुई थीं । अन्तमें आत्मध्यानके प्रभावसे वह सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुआ ॥१६३॥

अब पञ्चम चक्रवर्तीका वर्णन करते हैं—

पुण्डरीकिणी नगरमें राजा मेघरथ रहते थे । वे अपने पिता घनरथ तीर्थंकरके शिष्य होकर सर्वार्थसिद्धि गये । वहाँसे च्युत होकर हस्तिनागपुरमें राजा विश्वसेन और रानी ऐरादेवीके मनुष्योंको शान्ति उत्पन्न करनेवाले शान्तिनाथ नामक प्रसिद्ध पुत्र हुए ॥१६४-१६५॥ उत्पन्न होते ही देवोंने सुमेरु पर्वतपर इनका अभिषेक किया था । इन्द्रने स्तुति की थी और इस तरह वे चक्रवर्तीके भोगोंके स्वामी हुए ॥१६६॥ ये पञ्चम चक्रवर्ती तथा सोलहवें तीर्थङ्कर थे । अन्तमें तृणके समान राज्य छोड़कर इन्होंने दीक्षा धारण की थी ॥१६७॥ इनके बाद क्रमसे कुन्थुनाथ और अरनाथ नामके छठवें तथा सातवें चक्रवर्ती हुए । ये पूर्वभवमें सोलह कारण भावनाओंका संचय करनेके कारण तीर्थङ्कर पदको भी प्राप्त हुए थे ॥१६८॥ सनत्कुमार नामका चौथा चक्रवर्ती धर्मनाथ और शान्तिनाथ तीर्थङ्करके बीचमें हुआ था और शान्ति, कुन्थु तथा अर इन तीन तीर्थङ्कर तथा चक्रवर्तियोंका अन्तर अपना-अपना ही काल जानना चाहिए ॥१६९॥

अब आठवें चक्रवर्तीका वर्णन करते हैं—

धान्यपुर नगरमें राजा कनकाभ रहता था वह विचित्रगुप्त मुनिका शिष्य होकर जयन्त नामक अनुत्तर विमानमें उत्पन्न हुआ ॥१७०॥ वहाँसे आकर वह ईशावती नगरीमें राजा कार्तवीर्य और रानी ताराके सुभूम नामका आठवाँ चक्रवर्ती हुआ । यह उत्तम चेष्टाओंको धारण करनेवाला था तथा इसने भूमिको उत्तम किया था इसलिए इसका सुभूम नाम सार्थक था॥१७१-१७२॥ परशुरामने युद्धमें इसके पिताको मारा था सो इसने उसे मारा । परशुरामने क्षत्रियोंको मारकर उनके दन्त इकट्ठे किये थे । किसी निमित्तज्ञानीने उसे बताया था कि जिसके देखनेसे ये दन्त खीर रूपमें परिवर्तित हो जायेंगे उसीके द्वारा तेरी मृत्यु होगी । सुभूम एक यज्ञमें परशुराम के यहाँ गया था । जब वह भोजन करनेको उद्यत हुआ तब परशुरामने वे सब दन्त एक पात्रमें रखकर उसे दिखाये । उसके पुण्य प्रभावसे वे दन्त खीर बन गये और पात्र चक्रके रूपमें बदल

---

१. कृत्वा म० । २. परमचेष्टना ख० ।

सप्तवारान् कृताक्षत्रारिपूर्णा किल भूरिति । चक्रे त्रिसप्तवारान् यः क्षितिं निष्कण्ठसूत्रिकाम् ॥१७५॥
अत्युग्रशासनात्तस्माद् विप्रा प्राप्य महाभयम् । कुलेषु रजकादीनां क्षत्रिया इव लिल्यिरे ॥१७६॥
अरमल्ल्यन्तरे चक्री भोगादविरतात्मकः । कालधर्मेण संयुक्तः सप्तमीं क्षितिमाश्रितः ॥१७७॥
नगर्यां वीतशोकायां चिन्ताङ्कः पार्थिवोऽभवत् । भूत्वा सुप्रभशिष्योऽसौ ब्रह्माह्वं कल्पमाश्रितः[1] ॥१७८॥
च्युतो नागपुरे पद्मरथस्य धरणीपतेः । मयूर्यां तनयो जातो महापद्मः प्रकीर्तितः ॥१७९॥
अष्टौ दुहितरस्तस्य रूपातिशयगर्विताः । नेच्छन्ति भुवि भर्तारं हृता विद्याधरैरिमाः ॥१८०॥
उपलभ्य समनीता निर्वेदिन्यः प्रवव्रजुः । समाराधितकल्याणा देवलोकं समाश्रिताः ॥१८१॥
तेऽप्यष्टौ तद्वियोगेन प्रव्रज्यां व्योमचारिणः । चक्रुर्विचित्रसंसारदर्शनत्रासमागताः ॥१८२॥
हेतुना तेन चक्रेशः प्रतिबुद्धो महागुणः । सुते न्यस्य श्रियं पद्मे निष्क्रान्तो विष्णुना समम् ॥१८३॥
महापद्मस्तपः कृत्वा परं संप्राप्तकेवलः । लोकप्राग्भारमारूढदरमल्लिजिनान्तरे ॥१८४॥
महेन्द्रदत्तनामासीत् पुरे विजयनामनि । कृत्वा नन्दनशिष्यत्वं माहेन्द्रं[2] कल्पमुद्ययौ ॥१८५॥
काम्पिल्यनगरे च्युत्वा वप्रायां हरिकेतुतः । हरिषेण इति ख्यातो जज्ञे चक्राङ्कितेशतः ॥१८६॥
स कृत्वा धरणीं सर्वां निजां चैत्यविभूषणाम् । तीर्थे सुव्रतनाथस्य सिद्धानां पदमाश्रितः ॥१८७॥

गया। सुभूमने उसी चक्रके द्वारा परशुरामको मारा था। परशुरामने पृथ्वीको सात बार क्षत्रियोंसे रहित किया था इसलिए उसके बदले इसने इक्कीस बार पृथ्वीको ब्राह्मणरहित किया था ॥१७३–१७५॥ जिस प्रकार पहले परशुरामके भयसे क्षत्रिय धोबी आदिके कुलोंमें छिपते फिरते थे उसी प्रकार अत्यन्त कठिन शासनके धारक सुभूम चक्रवर्तीसे ब्राह्मण लोग भयभीत होकर धोबी आदिके कुलोंमें छिपते फिरते थे ॥१७६॥ यह सुभूम चक्रवर्ती अरनाथ और मल्लिनाथके बीचमें हुआ था तथा भोगोंसे विरक्त न होनेके कारण मरकर सातवें नरक गया था ॥१७७॥

अब नौवें चक्रवर्तीका वर्णन करते हैं—

वीतशोका नगरीमें चिन्त नामका राजा था। वह सुप्रभमुनिका शिष्य होकर ब्रह्मस्वर्ग गया ॥१७८॥ वहाँसे च्युत होकर हस्तिनागपुरमें राजा पद्मरथ और रानी मयूरीके महापद्म नामका नवाँ चक्रवर्ती हुआ ॥१७९॥ इसकी आठ पुत्रियाँ थीं जो सौन्दर्यके अतिशयसे गर्वित थीं तथा पृथ्वीपर किसी भर्ताकी इच्छा नहीं करती थीं। एक समय विद्याधर इन्हें हरकर ले गये। पता चलाकर चक्रवर्तीने उन्हें वापिस बुलाया परन्तु विरक्त होकर उन्होंने दीक्षा धारण कर ली तथा आत्म-कल्याण कर स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥१८०–१८१॥ जो आठ विद्याधर उन्हें हरकर ले गये थे वे भी उनके वियोगसे तथा संसारकी विचित्र दशाके देखनेसे भयभीत हो दीक्षित हो गये ॥१८२॥ इस घटनासे महागुणोंका धारक चक्रवर्ती प्रतिबोधको प्राप्त हो गया तथा पद्म नामक पुत्रके लिए राज्य दे विष्णु नामक पुत्रके साथ घरसे निकल गया अर्थात् दीक्षित हो गया ॥१८३॥ इस प्रकार महापद्म मुनिने परम तप कर केवलज्ञान प्राप्त किया तथा अन्तमें लोकके शिखरमें जा पहुँचा। यह चक्रवर्ती अरनाथ और मल्लिनाथके बीचमें हुआ था ॥१८४॥

अब दशवें चक्रवर्तीका वर्णन करते हैं—

विजय नामक नगरमें महेन्द्रदत्त नामका राजा रहता था। वह नन्दन मुनिका शिष्य बनकर महेन्द्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ ॥१८५॥ वहाँसे च्युत होकर काम्पिल्यनगरमें राजा हरिकेतु और रानी वप्राके हरिषेण नामका दशवाँ प्रसिद्ध चक्रवर्ती हुआ ॥१८६॥ उसने अपने राज्यकी समस्त पृथिवीको जिन-प्रतिमाओंसे अलंकृत किया था तथा मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌के तीर्थमें सिद्धपद प्राप्त किया था ॥१८७॥

---

१. -माश्रिता म० । २. महेन्द्रं म० ।

अमिताङ्कोऽभवद् राजा पुरे राजपुराभिधे । सुधर्ममित्रशिष्यत्वं कृत्वा ब्रह्मालयं ययौ ॥१८८॥
ततश्च्युतो यशोवत्यां जातस्तत्रैव वैजयिः । जयसेन इति ख्यातश्चक्राङ्कुशितशासनः ॥१८९॥
परित्यज्य महाराज्यं दीक्षां दैगम्बरीमितः । रत्नत्रितयमाराध्य सैद्धं पदमशिश्रियत् ॥१९०॥
स्वतन्त्रलिङ्गसंज्ञस्य संभूतः प्राप्य शिष्यताम् । काश्यां कमलगुल्माख्यं विमानं समुपाश्रितः ॥१९१॥
च्युतो ब्रह्मरथस्याभूत् पुरे काम्पिल्यनामनि । चूलाह्वासंभवः पुत्रो ब्रह्मदत्तः प्रकीर्तितः ॥१९२॥
चक्रचिह्नामसौ भुक्त्वा श्रियं विरतिवर्जितः । सप्तमीं क्षितिमविशन्नेमिपार्श्वजिनान्तरे ॥१९३॥
एते षट्खण्डभूनाथाः कीर्तिता मगधाधिप । गतिर्न शक्यते येषां रोद्धुं देवासुरैरपि ॥१९४॥
प्रत्यक्षमक्षमुक्तं च फलमेतच्छुभाशुभम् । श्रुत्वानुभूय दृष्ट्वा च युक्तं न क्रियते कथम् ॥१९५॥
न पाथेयमपूपादि गृहीत्वा कश्चिदृच्छति । लोकान्तरं न चायाति किन्तु तत्सुकृतेतरम् ॥१९६॥
कैलासकूटकल्पेषु वरस्त्रीपूर्णकुक्षिषु । यद्वसन्ति स्वगारेषु तत्फलं पुण्यवृक्षजम् ॥१९७॥
शीतोष्णवातयुक्तेषु कुगृहेषु वसन्ति यत् । दारिद्र्यपङ्कनिर्मग्नास्तदधर्मतरोः फलम् ॥१९८॥
विन्ध्यकूटसमाकारैर्वारणेन्द्रैर्व्रजन्ति यत् । नरेन्द्राश्चामरोद्धूताः[2] पुण्यशालेरिदं फलम् ॥१९९॥
तुरङ्गैर्यद्दलं स्वङ्गैर्गम्यते चलचामरैः । [3]पादातमध्यगैः पुण्यनृपतेस्तद्विचेष्टितम् ॥२००॥

अब ग्यारहवें चक्रवर्तीका वर्णन करते हैं—

राजपुर नामक नगरमें एक अमिताङ्क नामका राजा रहता था। वह सुधर्म मित्र नामक मुनिराजका शिष्य होकर ब्रह्म स्वर्ग गया ॥१८८॥ वहाँसे च्युत होकर उसी काम्पिल्यनगरमें राजा विजयकी यशोवती रानीसे जयसेन नामका ग्यारहवाँ चक्रवर्ती हुआ ॥१८९॥ वह अन्तमें महाराज्यका परित्याग कर दैगम्बरी दीक्षाको धारण कर रत्नत्रयकी आराधना करता हुआ सिद्धपदको प्राप्त हुआ ॥१९०॥ यह मुनिसुव्रतनाथ और नमिनाथके अन्तरालमें हुआ था।

अब बारहवें चक्रवर्तीका वर्णन करते हैं—

काशी नगरीमें सम्भूत नामका राजा रहता था। वह स्वतन्त्रलिङ्ग नामक मुनिराजका शिष्य हो कमलगुल्म नामक विमानमें उत्पन्न हुआ ॥१९१॥ वहाँसे च्युत होकर काम्पिल्यनगरमें राजा ब्रह्मरथ और रानी चूलाके ब्रह्मदत्त नामका बारहवाँ चक्रवर्ती हुआ ॥१९२॥ यह चक्रवर्ती लक्ष्मीका उपभोगकर उससे विरत नहीं हुआ और उसी अविरत अवस्थामें मरकर सातवें नरक गया। यह नेमिनाथ और पार्श्वनाथ तीर्थंकरके बीचमें हुआ था ॥१९३॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे मगधराज ! इस प्रकार मैंने छह खण्डके अधिपति-चक्रवर्तियोंका वर्णन किया। ये इतने प्रतापी थे कि इनकी गतिको देव तथा असुर भी नहीं रोक सकते थे ॥१९४॥ यह मैंने पुण्य-पापका फल प्रत्यक्ष कहा है, सो उसे सुनकर, अनुभव कर तथा देखकर लोग योग्य कार्य क्यों नहीं करते हैं ? ॥१९५॥ जिस प्रकार कोई पथिक अपूप आदि पाथेय (मार्ग हितकारी भोजन) लिये बिना ग्रामान्तरको नहीं जाता है उसी प्रकार यह जीव भी पुण्य-पापरूपी पाथेयके बिना लोकान्तरको नहीं जाता है ॥१९६॥ उत्तमोत्तम स्त्रियोंसे भरे तथा कैलासके समान ऊँचे उत्तम महलोंमें जो मनुष्य निवास करते हैं वह पुण्यरूपी वृक्षका ही फल है ॥१९७॥ और जो दरिद्रतारूपी कीचड़में निमग्न हो सरदी, गरमी तथा हवाकी बाधासे युक्त खोटे घरोंमें रहते हैं वह पापरूपी वृक्षका फल है ॥१९८॥ जिनपर चमर ढुल रहे हैं ऐसे राजा महाराजा जो विन्ध्याचलके शिखरके समान ऊँचे-ऊँचे हाथियों पर बैठकर गमन करते हैं वह पुण्यरूपी शालि (धान) का फल है ॥१९९॥ जिनके दोनों ओर चमर हिल रहे हैं ऐसे सुन्दर शरीरके धारक घोड़ों पर बैठकर जो पैदल सेनाओंके बीचमें चलते हैं वह पुण्यरूपी राजाकी मनोहर

१. असिताङ्कः म० । २. चामरोद्भूता म० । ३. पादान्त-म० ।

कल्पप्रासादसंकाशं रथमारुह्य यज्जनाः । व्रजन्ति पुण्यशैलेन्द्रात् स्रुतोऽसौ स्वादुनिर्झरः ॥२०१॥
स्फुटिताभ्यां पदाङ्घ्रिभ्यां मलग्रस्तपटच्चरैः । भ्रम्यते पुरुषैः पापविषवृक्षस्य तत्फलम् ॥२०२॥
अन्नं यदमृतप्रायं[2] हेमपात्रेषु भुज्यते । स प्रभावो मुनिश्रेष्ठैरुक्तो धामरसायनः ॥२०३॥
देवाधिपतिता चक्रचुम्बिता यच्च राजता[3] । लभ्यते भव्यशार्दूलैस्तदहिंसालताफलम् ॥२०४॥
रामकेशवयोर्लक्ष्मीर्लभ्यते यच्च पुङ्गवैः । तद्धर्मफलमुख्येष्ये तत्कीर्तनमथाधुना ॥२०५॥
हास्तिनं नगरं रम्यं साकेता केतुभूषिता । श्रावस्ती वरविस्तीर्णा कौशाम्बी भासिताम्बरा ॥२०६॥
पोदनं शैलनगरं तथा सिंहपुरं पुरम् । कौशाम्बी हास्तिनं चेति क्रमेण परिकीर्तिता ॥२०७॥
सर्वद्रविणसंपन्ना भयसंपर्कवर्जिता । नगर्यो वासुदेवानामिमाः पूर्वत्र जन्मनि ॥२०८॥
विश्वनन्दी महातेजास्ततः पर्वतकाभिधः । धनमित्रस्ततो श्रेयस्तृतीयश्चक्रधारिणाम् ॥२०९॥
ततः सागरदत्ताख्यः क्षुब्धसागरनिस्वनः । विकटः प्रियमित्रश्च तथा मानसचेष्टितः ॥२१०॥
पुनर्वसुश्च विज्ञातो गङ्गदेवश्च कीर्तितः । उक्तान्यमूनि नामानि कृष्णानां पूर्वजन्मनि ॥२११॥
नैविकीयातनं युद्धविजयाप्रमदाहृतिः[5] । उद्यानारण्यरमणं[6] वनक्रीडाभिकाङ्क्षणम्[7] ॥२१२॥
अत्यन्तविषयासङ्गो विप्रयोगस्तनूनपात् । दौर्भाग्यं प्रेक्ष्य हेतुभ्य एतेभ्यो हरयोऽभवन् ॥२१३॥
विरूपा दुर्भगाः सन्तः सनिदानतपोधनाः । तत्त्वविज्ञाननिर्मुक्ताः संभवन्ति बलानुजाः ॥२१४॥
सनिदानं तपस्तस्माद्वर्जनीयं प्रयत्नतः । तद्धि पश्चान्महाघोरदुःखदानसुशिक्षितम् ॥२१५॥

चेष्टा है ॥२००॥ जो मनुष्य स्वर्गके भवनके समान सुन्दर रथपर सवार हो गमन करते हैं वह उनके पुण्यरूपी हिमालयसे भरा हुआ स्वादिष्ट झरना है ॥२०१॥ जो पुरुष मलिन वस्त्र पहिनकर फटे हुए पैरोंसे पैदल ही भ्रमण करते हैं वह पापरूपी विषवृक्षका फल है ॥२०२॥ जो मनुष्य सुवर्णमय पात्रोंमें अमृतके समान मधुर भोजन करते हैं उसे श्रेष्ठ मुनियोंने धर्मरूपी रसायनका प्रभाव बतलाया है ॥२०३॥ जो उत्तम भव्य जीव इन्द्रपद, चक्रवर्तीका पद तथा सामान्य राजाका पद प्राप्त करते हैं वह अहिंसारूपी लताका फल है ॥२०४॥ तथा उत्तम मनुष्य जो बलभद्र और नारायणकी लक्ष्मी प्राप्त करते हैं वह भी धर्मका ही फल है। हे श्रेणिक ! अब मैं उन्हीं बलभद्र और नारायणोंका कथन करूँगा ॥२०५॥ प्रथम ही भरत क्षेत्रके नौ नारायणोंकी पूर्वभव सम्बन्धी नगरियोंके नाम सुनो--१ मनोहर हस्तिनापुर २ पताकाओंसे सुशोभित अयोध्या ३ अत्यन्त विस्तृत श्रावस्ती ४ निर्मल आकाशसे सुशोभित कौशाम्बी ५ पोदनपुर ६ शैलनगर ७ सिंहपुर ८ कौशाम्बी और ९ हस्तिनापुर ये क्रमसे नौ नगरियाँ कहीं गई हैं। ये सभी नगरियाँ सर्वप्रकारके धन-धान्यसे परिपूर्ण थीं, भयके संपर्कसे रहित थीं, तथा वासुदेव अर्थात् नारायणोंके पूर्वजन्म सम्बन्धी निवाससे सुशोभित थीं ॥२०६-२०८॥ अब इन वासुदेवोंके पूर्व भवके नाम सुनो—१ महाप्रतापी विश्वनन्दी २ पर्वत ३ धनमित्र ४ क्षोभको प्राप्त हुए सागरके समान शब्द करनेवाला सागरदत्त ५ विकट ६ प्रियमित्र ७ मानसचेष्टित ८ पुनर्वसु और ९ गङ्गदेव ये नारायणोंके पूर्व जन्मके नाम कहे ॥२०९-२११॥ ये सभी पूर्वभवमें अत्यन्त विरूप तथा दुर्भाग्यसे युक्त थे। मूलधनका अपहरण १ युद्धमें हार २ स्त्रीका अपहरण ३ उद्यान तथा वनमें क्रीड़ा करना ४ वन क्रीड़ाकी आकाङ्क्षा ५ विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति ६ इष्टजनवियोग ७ अग्निबाधा ८ और दौर्भाग्य ९ क्रमशः इन निमित्तोंको पाकर ये मुनि हो गये थे। निदान अर्थात् आगामी भोगोंकी लालसा रखकर तपश्चरण करते थे तथा तत्त्वज्ञानसे रहित थे इसी अवस्थामें मरकर ये नारायण हुए थे। ये सभी नारायण बलभद्रके छोटे भाई होते हैं ॥२१२-२१४॥ हे श्रेणिक ! निदानसहित तप प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए क्योंकि वह पीछे चलकर

१. शैलेन्द्राच्छ्रतोऽसौ म० । २. यदमृतं प्रायं म० । ३. राजिता म० । ४. नारायणानाम् ५. युद्धं विजया म० । ६. भरणं म० । ७. वनक्रीडाभिकाङ्क्षणः म० ।

संभूतस्तपसो[1] मूर्तिः सुभद्रो वसुदर्शनः । श्रेयान्[2] सुभूतिसंज्ञश्च वसुभूतिश्च कीर्तितः ।।२१६।।
घोषसेनपराम्भोधिनामानौ च महामुनी । द्रुमसेनश्च कृष्णानां गुरवः पूर्वजन्मनि ।।२१७।।
महाशुक्राभिधः कल्पः प्राणतो लान्तवस्तथा । सहस्रारोऽपरो ब्रह्मनामा माहेन्द्रसंज्ञितः ।।२१८।।
सौधर्मश्च समाख्यातः कल्पः सच्चेष्टितालयः । सनत्कुमारनामा च महाशुक्राभिधोऽपरः ।।२१९।।
एतेभ्यः प्रच्युताः सन्तः प्राप्तपुण्यफलोदयाः । पुण्यावशेषतो जाता वासुदेवा नराधिपाः ।।२२०।।
पोदनं द्वापुरी हस्तिनगरं तत्पुनः स्मृतम् । तथा चक्रपुरं रम्यं कुशाग्रं मिथिलापुरी ।।२२१।।
विनीता मथुरा चेति माधवोत्पत्तिभूमयः । समस्तधनसम्पूर्णाः सदोत्सवसमाकुलाः ।।२२२।।
आद्यः प्रजापतिर्ज्ञेयो ब्रह्मभूतिरतोऽपरः । रौद्रनादस्तथा सोमः प्रख्यातश्च शिवाकरः ।।२२३।।
[3]सममूर्द्धाग्निनादश्च ख्यातो दशरथस्तथा । वसुदेवश्च कृष्णानां पितरः परिकीर्तिताः ।।२२४।।
आद्या मृगावती ज्ञेया माधवी पृथिवी तथा । सीताम्बिका च लक्ष्मीश्च केशिनी कैकयी शुभा ।।२२५।।
देवकी चरमा ज्ञेया महासौभाग्यसंयुता । उदाररूपसंपन्नाः कृष्णानां मातरः स्मृताः ।।२२६।।
सुप्रभा प्रथमा देवी रूपिणी प्रभवा परा । मनोहरा सुनेत्रा च तथा विमलसुन्दरी ।।२२७।।
तथानन्दवती ज्ञेया कीर्तिता च प्रभावती । रुक्मिणी चेति कृष्णानां महादेव्यः प्रकीर्तिताः ।।२२८।।

महाभयङ्कर दुःख देनेमें निपुण होता है ।।२१५।। अब नारायणोंके पूर्वभवके गुरुओंके नाम सुनो—तपकी मूर्तिस्वरूप संभूत १ सुभद्र २ वसुदर्शन ३ श्रेयान्स ४ सुभूति ५ वसुभूति ६ घोषसेन ७ पराम्भोधि ८ और द्रुमसेन ९ ये नौ इनके पूर्वभवके गुरु थे अर्थात् इनके पास इन्होंने दीक्षा धारण की थी ।।२१६–२१७।। अब जिस-जिस स्वर्गसे आकर नारायण हुए उनके नाम सुनो—महाशुक्र १ प्राणत २ लान्तव ३ सहस्रार ४ ब्रह्म ५ माहेन्द्र ६ सौधर्म ७ सनत्कुमार ८ और महाशुक्र ९ । पुण्यके फलस्वरूप नाना अभ्युदयोंको प्राप्त करनेवाले ये देव इन स्वर्गोंसे च्युत होकर अवशिष्ट पुण्यके प्रभावसे नारायण हुए हैं ।।२१८–२२०।। अब इन नारायणोंकी जन्म-नगरियोंके नाम सुनो—पोदनपुर १ द्वापुरी २ हस्तिनापुर ३ हस्तिनापुर ४ चक्रपुर ५ कुशाग्रपुर ६ मिथिलापुरी ७ अयोध्या ८ और मथुरा ९ ये नगरियाँ क्रमसे नौ नारायणोंकी जन्म नगरियाँ थीं ये सभी समस्त धनसे परिपूर्ण थीं तथा सदा उत्सवोंसे आकुल रहती थीं ।।२२१–२२२।। अब इन नारायणोंके पिताके नाम सुनो–प्रजापति १ ब्रह्मभूति २ रौद्रनाद ३ सोम ४ प्रख्यात ५ शिवाकर ६ सममूर्धाग्निनाद ७ दशरथ ८ और वसुदेव ९ ये नौ क्रमसे नारायणोंके पिता कहे गये हैं ।।२२३–२२४।। अब इनकी माताओंके नाम सुनो—मृगावती १ माधवी २ पृथ्वी ३ सीता ४ अम्बिका ५ लक्ष्मी ६ केशिनी ७ कैकयी ८ और देवकी ९ ये क्रमसे नौ नारायणोंकी मातायें थीं । ये सभी महासौभाग्यसे सम्पन्न तथा उत्कृष्ट रूपसे युक्त थीं ।।२२५–२२६।। * [अब इन नारायणोंके नाम सुनो—त्रिपृष्ठ १ द्विपृष्ठ २ स्वयंभू ३ पुरुषोत्तम ४ पुरुषसिंह ५ पुण्डरीक ६ दत्त ७ लक्ष्मण ८ और कृष्ण ९ ये नौ नारायण हैं] अब इनकी पट्टरानियोंका नाम सुनो—सुप्रभा १ रूपिणी २ प्रभवा ३ मनोहरा ४ सुनेत्रा ५ विमलसुन्दरी ६ आनन्दवती ७ प्रभावती और रुक्मिणी ९ ये नौ नारायणोंकी क्रमशः नौ पट्टरानियाँ कहीं गई हैं ।।२२७–२२८।।

* हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियोंमें नारायणोंके नाम बतलानेवाले श्लोक उपलब्ध नहीं हैं । परन्तु उनका होना आवश्यक है । पं० दौलतरामजीने भी उनका अनुवाद किया है । अतः प्रकरण संगतिके लिए [] कोष्ठकान्तर्गत पाठ अनुवादमें दिया है ।

१. तापसो मूर्ति न० । २. श्रेयान्सभूतिसंज्ञश्च म० । ३. समस्तमूर्द्धर्यग्निनादश्च म० । समस्तद्यर्ग्नि-नादश्च ब० ।

प्रकाण्डपाण्डुरागारा[1] नगरी पुण्डरीकिणी । पृथिवीवसुविस्तीर्णा[2] द्वितीया पृथिवीपुरी ॥२२९॥
अन्यानन्दपुरी ज्ञेया तथानन्दपुरी स्मृता । पुरी व्यतीतशोकाख्या पुरं विजयसंज्ञितम् ॥२३०॥
सुसीमा च तथा क्षेमा हास्तिनं च प्रकीर्तितम् । एतानि बलदेवानां पुराणि गतजन्मनि ॥२३१॥
बलो मारुतवेगश्च नन्दिमित्रो महाबलः । पुरुषर्षभसंज्ञश्च तथा षष्ठः सुदर्शनः ॥२३२॥
वसुन्धरश्च विज्ञेयः श्रीचन्द्रः सखिसंज्ञकः । ज्ञेयान्यमूनि नामानि रामाणां पूर्वजन्मनि ॥२३३॥
अमृतारो मुनिः श्रेष्ठः महासुव्रतसुव्रतौ । वृषभोऽथ प्रजापालस्तथा दमवराभिधः ॥२३४॥
सुधर्मोऽर्णवसंज्ञश्च तथा विद्रुमसंज्ञितः । अमी पूर्वभवे ज्ञेया गुरवः सीरधारिणाम् ॥२३५॥
निर्वासोऽनुत्तरा[3] ज्ञेयास्त्रयाणां हलधारिणाम् । सहस्रारस्त्रयाणां च द्वयोर्ब्रह्मनिवासिता ॥२३६॥
महाशुक्राभिधानश्च कल्पः परमशोभनः । एभ्यश्च्युत्वा समुत्पन्ना रामाः साधुसुचेष्टिताः ॥२३७॥
भद्राम्भोजा सुभद्रा च सुवेषा च सुदर्शना । सुप्रभा विजया चान्या वैजयन्ती प्रकीर्तिता ॥२३८॥
महाभागा च विज्ञेया महाशीलाऽपराजिता । रोहिणी चेति विज्ञेया जनन्यः सीरधारिणाम् ॥२३९॥
श्रेयं[4] आदीन् जिनान्पञ्च त्रिपृष्ठाद्याबलानुजाः । क्रमेण पञ्च विन्दन्ते[5] तत्परावरतः परौ ॥२४०॥
नमिसुव्रतयोर्मध्ये लक्ष्मणः परिकीर्तितः । वन्दको नेमिनाथस्य कृष्णोऽभूदद्भुतक्रियः ॥२४१॥
अलकं विजयं ज्ञेयं नन्दनं पृथिवीपुरम् । तथा हरिपुरं सूर्यसिंहशब्दपरे पुरे ॥२४२॥

अथानन्तर अब नौ बलभद्रोंका वर्णन करते हैं। सो सर्वप्रथम इनकी पूर्वजन्म-सम्बन्धी नगरियोंके नाम सुनो---उत्तमोत्तम धवल महलोंसे सहित पुण्डरीकिणी पृथ्वीके समान अत्यन्त विस्तृत पृथिवीपुरी २ आनन्दपुरी ३ नन्दपुरी ४ वीतशोका ५ विजयपुर ६ सुसीमा ७ क्षेमा ८ और हस्तिनापुर ९ ये नौ बलभद्रोंके पूर्व जन्म सम्बन्धी नगरोंके नाम हैं ॥२२९-२३१॥ अब बलभद्रोंके पूर्वजन्मके नाम सुनो---बल १ मारुतवेग २ नन्दिमित्र ३ महाबल ४ पुरुषर्षभ ५ सुदर्शन ६ वसुन्धर ७ श्रीचन्द्र ८ और सखिसंज्ञ ९ ये नौ बलभद्रोंके पूर्वनाम जानना चाहिए ॥२३२-२३३॥ अब इनके पूर्वभव सम्बन्धी गुरुओंके नाम सुनो---अमृतार १ महासुव्रत २ सुव्रत ३ वृषभ ४ प्रजापाल ५ दमवर ६ सुधर्म ७ अर्णव ८ और विद्रुम ९ ये नौ बलभद्रोंके पूर्वभवके गुरु हैं अर्थात् इनके पास इन्होंने दीक्षा धारण की थी ॥२३४-२३५॥ अब ये जिस स्वर्गसे आये उसका वर्णन करते हैं---तीन बलभद्रका अनुत्तर विमान, तीनका सहस्रार स्वर्ग, दो का ब्रह्म स्वर्ग और एक का अत्यन्त सुशोभित महाशुक्र स्वर्ग पूर्वभवका निवास था। ये सब यहाँसे च्युत होकर उत्तम चेष्टाओंके धारक बलभद्र हुए थे ॥२३६-२३७॥ अब इनकी माताओंके नाम सुनो---भद्राम्भोजा १ सुभद्रा २ सुवेषा ३ सुदर्शना ४ सुप्रभा ५ विजया ५ वैजयन्ती ७ उदार अभिप्रायको धारण करनेवाली तथा महाशीलवती अपराजिता (कौशिल्या) ८ और रोहिणी ९ ये नौ बलभद्रोंकी क्रमशः माताओंके नाम हैं ॥२३८-२३९॥ इनमेंसे त्रिपृष्ठ आदि पाँच नारायण और पाँच बलभद्र श्रेयान्सनाथको आदि लेकर धर्मनाथ स्वामीके समय पर्यन्त हुए। छठवें और सातवें नारायण तथा बलभद्र अरनाथ स्वामीके बाद हुए। लक्ष्मण नामके आठवें नारायण और राम नामक आठवें बलभद्र मुनिसुव्रतनाथ और नमिनाथके बीचमें हुए तथा अद्भुत क्रियाओंको करनेवाले श्री कृष्ण नामक नौवें नारायण तथा बल नामक नौवें बलभद्र भगवान् नेमिनाथकी वन्दना करनेवाले हुए ॥२४०-२४१॥ * [अब बलभद्रोंके नाम सुनो---अचल १

---

* नारायणोंके नामकी तरह बलभद्रोंके नाम गिनानेवाले श्लोक भी उपलब्ध प्रतियोंमें नहीं मिले हैं पर पं० दौलतरामजीने इनका अनुवाद किया है तथा उपयोगी भी है। अतः [ ] कोष्ठकोंके अन्तर्गत अनुवाद किया है।

---

१. पाण्डुरोगारा म०। २. पृथिवीवत् सुविस्तीर्णा---अतिविस्तृता। ३. विवासो म०। ४. श्रेयोनाथादारभ्य धर्मनाथपर्यन्तं पञ्च बलभद्रा जाताः। ५. वन्दन्ते म०।

लङ्काराजगृहं चान्यक्रमेण प्रतिचक्रिणाम् । स्थानान्यमूनि वेद्यानि[1] दीप्तानि मणिरश्मिभिः ॥२४३॥
अश्वग्रीव इति ख्यातस्तारको मेरकस्तथा । मधुकैटभसंज्ञश्च निशुम्भश्च तथा बलिः ॥२४४॥
प्रह्लादो दशवक्त्रश्च जरासन्धश्च कीर्तितः । क्रमेण वासुदेवानां विज्ञेया प्रतिचक्रिणः ॥२४५॥
सुवर्णकुम्भः सत्कीर्तिः [2]सुधर्मोऽथ महामुनिः । मृगाङ्कः श्रुतिकीर्तिश्च सुमित्रो भवनश्रुतः ॥२४६॥
सुव्रतश्च सुसिद्धार्थो[3] रामाणां गुरवः स्मृताः । तपःसंभारसंजातकीर्तिवेष्टितविष्टपाः ॥२४७॥

स्रग्धराच्छन्दः

दग्ध्वा कर्मोरुकक्षं क्षुभितबहुविधव्याधिसंभ्रान्तसत्त्वं
मृत्युव्याघ्राति[4]भीमं भवविपुलसमुत्तुङ्गवृक्षोरुखण्डम् ।
याता निर्वाणमष्टौ हलधरविभवं प्राप्य संविग्नभावाः
संप्राप ब्रह्मलोकं चरमहलधरः कर्मबन्धावशेषात् ॥२४८॥
आदौ कृत्वा जिनेन्द्रान् भरतजयकृतां[5] केशवानां बलाना-
मेतत्ते पूर्वजन्मप्रभृति निगदितं वृत्तमत्यन्तचित्रम् ।
केचिद् [6]गच्छन्ति मोक्षं कृतपुरु[7]तपसः स्तोकपङ्काश्च केचित्
केचिद् भ्राम्यन्ति[8] भूयो बहुभवगहनां संसृतिं निर्विरामाः ॥२४९॥

विजय २ भद्र ३ सुप्रभ ४ सुदर्शन ५ नन्दिमित्र ६ नन्दिषेण ७ रामचन्द्र (पद्म) और बल] नारायणोंके प्रतिद्वन्द्वी नौ प्रतिनारायण होते हैं। उनके नगरोंके नाम इस प्रकार जानना चाहिए। अलकपुर १ विजयपुर २ नन्दनपुर ३ पृथ्वीपुर ४ हरिपुर ५ सूर्यपुर ६ सिंहपुर ७ लङ्का ८ और राजगृह ९। ये सभी नगर मणियोंकी किरणोंसे देदीप्यमान थे ॥२४२–२४३॥ अब प्रतिनारायणोंके नाम सुनो—अश्वग्रीव १ तारक २ मेरक ३ मधुकैटभ ४ निशुम्भ ५ बलि ६ प्रह्लाद ७ दशानन ८ और जरासन्ध ९ ये नौ प्रतिनारायणोंके नाम जानना चाहिए ॥२४४–२४५॥ सुवर्णकुम्भ १ सत्कीर्ति २ सुधर्म ३ मृगाङ्क ४ श्रुतिकीर्ति ५ सुमित्र ६ भवनश्रुत ७ सुव्रत ८ और सुसिद्धार्थ ९ बलभद्रोंके गुरुओंके नाम हैं। इन सभीने तपके भारसे उत्पन्न कीर्तिके द्वारा समस्त संसारको व्याप्त कर रक्खा था ॥२४६–२४७॥ नौ बलभद्रोंमेंसे आठ बलभद्र तो बलभद्रका वैभव प्राप्त कर तथा संसारसे उदासीन हो उस कर्मरूपी महावनको भस्म कर निर्वाणको पधारे जिसमें कि क्षोभको प्राप्त हुए नाना प्रकारके रोगरूपी जन्तु भ्रमण कर रहे थे, जो मृत्युरूपी व्याघ्रसे अत्यन्त भयंकर था तथा जिसमें जन्मरूपी बड़े-बड़े ऊँचे वृक्षोंके खण्ड लग रहे थे। अन्तिम बलभद्र कर्म-बन्धन शेष रहनेके कारण ब्रह्म स्वर्गको प्राप्त हुआ था ॥२४८॥ गौतम गणधर राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! मैंने तीर्थङ्करोंको आदि लेकर भरत क्षेत्रको जीतनेवाले चक्रवर्तियों, नारायणों तथा बलभद्रोंका अत्यन्त आश्चर्यसे भरा हुआ पूर्व-जन्म आदिका वृत्तान्त तुझसे कहा। इनमेंसे कितने ही तो विशाल तपश्चरण कर उसी भवसे मोक्ष जाते हैं, किन्हींके कुछ पाप कर्म अवशिष्ट रहते हैं तो वे कुछ समय तक संसारमें भ्रमणकर मोक्ष जाते हैं और कुछ कर्मोंकी सत्ता अधिक प्रबल होनेसे दीर्घ काल तक अनेक जन्म-मरणोंसे सघन इस संसार-

१. वेदानि म० । २. सधर्मोऽथ म०, ख० । ३. सुसिद्धार्था म० । ४. व्याघ्रादि ख०, ब० । ५. कृतान् म० । ६. केचिद्भ्राम्यन्ति म० । ७. परतपसः ख०, युजतपसः म० । ८. गच्छन्ति म० ।

एतज्ज्ञात्वा विचित्रं कलिकलुषमहासागरावर्तमग्नं
संसारप्राणिजातं[1] विरसगतिमहादुःखवह्निप्रतप्तम् ।
कष्टं नेच्छन्ति केचित्सुकृतपरिचयं कर्तुमन्यस्तु कश्चित्
कृत्वा मोहावसानं रविरिव विमलं केवलज्ञानमेति ॥२५०॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते तीर्थंकरभवानुकीर्तनं नाम विंशतितमं पर्व ॥२०॥

अटवीमें निरन्तर घूमते रहते हैं ॥२४९॥ ये संसारके विविध प्राणी कलिकालरूपी अत्यन्त मलिन महासागरकी भ्रमरमें मग्न हैं तथा नरकादि नीच गतियोंके महादुःख रूपी अग्निमें संतप्त हो रहे हैं । ऐसा जानकर कितने ही निकट भव्य तो इस संसारकी इच्छा ही नहीं करते हैं । कुछ लोग पुण्यका परिचय करना चाहते हैं और कुछ लोग सूर्यके समान मोहका अवसान कर निर्मल केवलज्ञानको प्राप्त होते हैं ॥२५०॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य कथित पद्मचरितमें तीर्थंकरादिके भवोंका वर्णन करनेवाला बीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२०॥

---

१. प्राणजातं म० ।

एकविंशतितमं पर्व

श्रृण्वतोऽष्टमरामस्य सम्बन्धार्थं वदामि ते । वंशानुकीर्तनं किञ्चिन्महापुरुषसंभवम् ॥१॥
जिनेन्द्रे दशमेऽतीते[1] राजासीत् सुमुखश्रुतिः । कौशाम्ब्यामपरोऽत्रैव [2]वाणिजो वीरक[3]श्रुतिः ॥२॥
हृत्वा तद्दयितां राजा श्रित्वा कामं यथेप्सितम् । दत्वा दानं विरागाणां मृत्वा रुक्मगिरिं ययौ ॥३॥
[5]तत्रापि दक्षिणश्रेण्यां पुरे हरिपुरसंज्ञके । उत्पन्नौ दम्पती, क्रीडन् भोगभूमिमशिश्रियत् ॥४॥
दयिताविरहाङ्गारदग्धदेहस्तु वीरकः । तपसा देवतां प्राप देवीनिवहसंकुलाम्[6] ॥५॥
विदित्वावधिना देवो वैरिणं हरिसंभवम् । भरतेऽतिष्ठपद्यातं दुर्गतिं [7]पापधीरतिः ॥६॥
यतोऽसौ हरितः क्षेत्रादानीतो भार्यया समम् । ततो हरिरिति ख्यातिं गतः सर्वत्र विष्टपे ॥७॥
नाम्ना महागिरिस्तस्य सुतो हिमगिरिस्ततः । ततो वसुगिरिर्जातो बभूवेन्द्रगिरिस्ततः ॥८॥
रत्नमालोऽथ संभूतो भूतदेवो महीधरः । इत्याद्याः शतशोऽतीता राजानो हरिवंशजाः ॥९॥
वंशे तत्र महासत्त्वः सुमित्र इति विश्रुतः । बभूव परमो राजा कुशाग्राख्ये महापुरे ॥१०॥
त्रिदशेन्द्रसमो भोगैः कान्त्या जितनिशाकरः । जितप्रभाकरो दीप्त्या प्रतापानतशात्रवः ॥११॥

अथानन्तर गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! अब आठवें बलभद्र श्रीरामका सम्बन्ध बतलानेके लिए कुछ महापुरुषोंसे उत्पन्न वंशोंका कथन करता हूँ सो सुन ॥१॥ दशवें तीर्थंकर श्री शीतलनाथ भगवान्‌के मोक्ष चले जानेके बाद कौशाम्बी नगरीमें एक सुमुख नामका राजा हुआ। उसी समय उस नगरीमें एक वीरक नामका श्रेष्ठी रहता था। उसकी स्त्रीका नाम वनमाला था। राजा सुमुखने वनमालाका हरण कर उसके साथ इच्छानुसार कामोपभोग किया और अन्तमें वह मुनियोंके लिए दान देकर विजयार्ध पर्वत पर गया। वहाँ विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक हरिपुर नामका नगर था। उसमें वे दोनों दम्पती उत्पन्न हुए अर्थात् विद्याधर विद्याधरी हुए। वहाँ क्रीड़ा करता हुआ राजा सुमुखका जीव विद्याधर भोगभूमि गया। उसके साथ उसकी स्त्री विद्याधरी भी थी। इधर स्त्रीके विरहरूपी अङ्गारसे जिसका शरीर जल रहा था ऐसा वीरक श्रेष्ठी तपके प्रभावसे अनेक देवियोंके समूहसे युक्त देवपदको प्राप्त हुआ ॥२-५॥ उसने अवधि ज्ञानसे जब यह जाना कि हमारा वैरी राजा सुमुख हरिक्षेत्रमें उत्पन्न हुआ है तो पाप बुद्धिमें प्रेम करनेवाला वह देव उसे वहाँसे भरतक्षेत्रमें रख गया तथा उसकी दुर्दशा की ॥६॥ चूँकि वह अपनी भार्याके साथ हरिक्षेत्रसे हरकर लाया गया था इसलिए समस्त संसारमें वह हरि इस नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ ॥७॥ उसके महागिरि नामका पुत्र हुआ, उसके हिमगिरि, हिमगिरिके वसुगिरि, वसुगिरिके इन्द्रगिरि, इन्द्रगिरिके रत्नमाला, रत्नमालाके संभूत और संभूतके भूतदेव आदि सैकड़ों राजा क्रमशः उत्पन्न हुए। ये सब हरिवंशज कहलाये ॥८-९॥ आगे चलकर उसी हरिवंशमें कुशाग्र नामक महानगरमें सुमित्र नामका प्रसिद्ध उत्कृष्ट राजा हुआ ॥१०॥ यह राजा भोगोंसे इन्द्रके समान था, कान्तिसे चन्द्रमाको जीतनेवाला था, दीप्तिसे सूर्यको

---

१. नीते म० । २. वणिजो म० । ३. वीरकः श्रुतिः ख० । ४. भोगभूमिमशिश्रियत् क० । ५. क० पुस्तके एष श्लोको नास्ति, ज० पुस्तकेऽपि नास्ति किन्तु केनचित्‌टिप्पणकर्त्रा पुस्तकान्तरादुद्धृत्य योजितः । म० ब० पुस्तकयोः तृतीयश्लोकस्य 'मृत्वा रुक्मगिरिं ययौ' इति स्थाने 'पुरे हरिपुरसंज्ञके' इति पाठो विद्यते । तदनन्तरं चतुर्थश्लोकस्येत्थं क्रमो विद्यते—उत्पन्नौ दम्पती क्रीडां कृत्वा रुक्मगिरिं ययौ । तत्रापि दक्षिणश्रेण्यां भोगभूमिमशिश्रियत् ॥४॥ अत्र तु मूले ख० पुस्तकीयः पाठः स्थापितः । ६. संकुलम् म० । ७. पापधीरिति म० ।

पद्मावतीति जायास्य पद्मनेत्रा महाद्युतिः । शुभलक्षणसंपूर्णा पूर्णसर्वमनोरथा ॥१२॥
सुप्तासौ भवने रम्ये रात्रौ तल्पे सुखावहे । अद्राक्षीत् पश्चिमे यामे स्वप्नान् षोडश पूजितान् ॥१३॥
द्विरदं शाक्करं सिंहमभिषेकं श्रियस्तथा । दामनी शीतगुं भानुं झषौ कुम्भं सरोऽब्जवत् ॥१४॥
सागरं सिंहसंयुक्तमासनं रत्नचित्रितम् । विमानं भवनं शुभ्रं रत्नराशिं हुताशनम् ॥१५॥
ततो विस्मितचित्ता सा विबुद्धा बुद्धिशालिनी । कृत्वा यथोचितं याता विनीता भर्तुरन्तिकम् ॥१६॥
कृताञ्जलि पप्रच्छ स्वस्वप्नार्थं न्यायवेदिनी । भद्रासने सुखासीना स्फुरद्वदनपङ्कजा ॥१७॥
दयितोऽकथयद्यावत्तस्यै स्वप्नफलं शुभम् । अपतद् गगनात्तावद्वृष्टी रत्नप्रसूतिनी ॥१८॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च वसुनोऽस्य दिने दिने । भवने मुदितो यक्षो ववर्ष सुरपाज्ञया ॥१९॥
मासान् पञ्चदश खण्डं पतन्त्या वसुधारया । तया रत्नसुवर्णादिमयं तन्नगरं कृतम् ॥२०॥
तस्याः कमलवासिन्यो जिनमातुः प्रतिक्रियाम् । समस्तामादृता देव्यश्चक्रुः सपरिवारिकाः ॥२१॥
जातमात्रमथो सन्तं जिनेन्द्रं क्षीरवारिणा । लोकपालैः समं शक्रो मेरावस्नपयद्ध्द्या ॥२२॥
संपूज्य भक्तितः स्तुत्वा प्रणम्य च सुराधिपः । मातुरङ्के पुनः प्रीत्या जिननाथमतिष्ठिपत् ॥२३॥
आसीद् गर्भस्थिते यस्मिन् सुव्रता जननी यतः । विशेषेण ततः कीर्तिं गतोऽसौ सुव्रताख्यया ॥२४॥
अञ्जनाद्रिप्रकाशोऽपि स जिनो देहतेजसा । जिगाय [2]तिग्मगुं पूर्णनिशाकरनिभाननः ॥२५॥

पराजित कर रहा था और प्रतापसे समस्त शत्रुओंको नम्र करनेवाला था ॥११॥ उसकी पद्मावती नामकी स्त्री थी। पद्मावती बहुत ही सुन्दरी थी। उसके नेत्र कमलके समान थे, वह विशाल कान्तिकी धारक थी, शुभ लक्षणोंसे सम्पूर्ण थी तथा उसके सर्व मनोरथ पूर्ण हुए थे ॥१२॥ एक दिन वह रात्रि के समय सुन्दर महलमें सुखकारी शय्या पर सो रही थी कि उसने पिछले पहरमें निम्नलिखित सोलह उत्तम स्वप्न देखे ॥१३॥ गज १ वृषभ २ सिंह ३ लक्ष्मीका अभिषेक ४ दो मालाएँ ५ चन्द्रमा ६ सूर्य ७ दो मीन ८ कलश ९ कमलकलित सरोवर १० समुद्र ११ रत्नोंसे चित्र-विचित्र सिंहासन १२ विमान १३ उज्ज्वल भवन १४ रत्नराशि १५ और अग्नि १६ ॥ १४-१५॥

तदनन्तर जिसका चित्त आश्चर्यसे चकित हो रहा था ऐसी बुद्धिमती रानी पद्मावती जागकर तथा प्रातःकाल सम्बन्धी यथायोग्य कार्य कर बड़ी नम्रतासे पतिके समीप गई ॥१६॥ वहाँ जाकर जिसका मुखकमल फूल रहा था ऐसी न्यायको जाननेवाली रानी भद्रासन पर सुखसे बैठी। तदनन्तर उसने हाथ जोड़कर पतिसे अपने स्वप्नोंका फल पूछा ॥१७॥ इधर पतिने जब तक उससे स्वप्नोंका फल कहा तब तक उधर आकाशसे रत्नोंकी वृष्टि पड़ने लगी ॥१८॥ इन्द्रकी आज्ञासे प्रसन्न यक्ष प्रति दिन इसके घरमें साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वर्षा करता था ॥१९॥ पन्द्रह मास तक लगातार पड़ती हुई धनवृष्टिसे वह समस्त नगर रत्न तथा सुवर्णादिमय हो गया ॥२०॥ पद्म महापद्म आदि सरोवरोंके कमलोंमें रहनेवाली श्री ह्री आदि देवियाँ अपने परिवारके साथ मिलकर जिनमाताकी सब प्रकारकी सेवा बड़े आदरभावसे करती थीं ॥२१॥

अथानन्तर भगवान्का जन्म हुआ। सो जन्म होते ही इन्द्रने लोकपालोंके साथ बड़े वैभवसे सुमेरु पर्वतपर भगवान्का क्षीरसागरके जलसे अभिषेक किया ॥२२॥ अभिषेकके बाद इन्द्रने भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजा की, स्तुति की, प्रणाम किया और तदनन्तर प्रेमपूर्वक माताकी गोदमें लाकर विराजमान कर दिया ॥२३॥ जब भगवान् गर्भमें स्थित थे तभीसे उनकी माता विशेषकर सुव्रता अर्थात् उत्तम व्रतोंको धारण करनेवाली हो गई थीं इसलिए वे मुनिसुव्रत नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए ॥२४॥ जिनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान था ऐसे सुव्रतनाथ भगवान् यद्यपि अञ्जना-

---

१. भुवने म० । २. सूर्यम् ।

दधता परमं तेन भोगमिन्द्रेण कल्पितम् । अहमिन्द्रसुखं दूरमधरीकृतमूर्जितम् ॥२६॥
हाहाहूहूश्रुती तस्य तुम्बुरू नारदस्तथा । विश्वावसुश्च गायन्ति किन्नर्योऽप्सरसो वराः ॥२७॥
वीणावेण्वादिवाद्येन[1] तत्कृतेन सुचारुणा । स्नानादिविधिमाप्नोति देवीजनितवर्तनम्[2] ॥२८॥
स्मितलज्जितदम्भेर्ष्याप्रसादादिसुविभ्रमाः । यौवनेऽरमयद्रामाः सोऽभिरामो यथेप्सितम् ॥२९॥
शरदम्भोदविलयं स दृष्ट्वा प्रतिबुद्धवान् । स्तुतो लौकान्तिकैर्देवैः प्रविव्रजिषयान्वितः ॥३०॥
दत्त्वा सुव्रतसंज्ञाय राज्यं पुत्राय निस्पृहः । प्रणताशेषसामन्तमण्डलं सुखपालनम् ॥३१॥
निर्गतः सौरभव्याप्तदशदिक्चक्रवालतः । दिव्यानुलेपनोदारसुकान्तमकरन्दतः ॥३२॥
सौरभाकृष्टसंभ्रान्तभ्रमरीपृथुवृन्दतः । हरिन्मणिविभाचक्रपालाशचयसंकुलात् ॥३३॥
दन्तपङ्क्तिसितच्छायाबिसजालसमाकुलात् । नानाविभूषणध्वानविहगारावपूरितात् ॥३४॥
वलीतरङ्गसंपृक्तात् स्तनचक्राह्वशोभितात्[3] । राजहंसः सितः कीर्त्या दिव्यस्त्रीपद्मखण्डतः ॥३५॥
देवमानवराजोढां शिबिकामपराजिताम् । आरुह्य विपुलोद्यानं ययौ चूडामणिर्नृणाम् ॥३६॥
अवतीर्य ततो राज्ञां सहस्रैर्बहुभिः समम् । दधौ जैनेश्वरीं दीक्षां हरिवंशविभूषणः ॥३७॥
षष्ठोपवासयुक्ताय तस्मै राजगृहे ददौ । भक्त्या वृषभदत्ताख्यः परमान्नेन पारणम् ॥३८॥

गिरिके समान श्यामवर्ण थे तथापि उन्होंने अपने तेजसे सूर्यको जीत लिया था ॥२५॥ इन्द्रके द्वारा कल्पित (रचित) उत्तम भोगोंको धारण करते हुए उन्होंने अहमिन्द्रका भारी सुख दूरसे ही तिरस्कृत कर दिया था ॥२६॥ हा-हा, हू-हू, तुम्बुरू, नारद और विश्वावसु आदि गन्धर्वदेव सदा उनके समीप गाते रहते थे तथा किन्नर देवियाँ और अनेक अप्सराएँ वीणा, बाँसुरी आदि बाजोंके साथ नृत्य करती रहती थीं । अनेक देवियाँ उबटन आदि लगाकर उन्हें स्नान कराती थीं ॥२७-२८॥ सुन्दर शरीरको धारण करनेवाले भगवान्ने यौवन अवस्थामें मन्द मुसकान, लज्जा, दम्भ, ईर्ष्या, प्रसाद आदि सुन्दर विभ्रमोंसे युक्त स्त्रियोंको इच्छानुसार रमण कराया था ॥२९॥

अथानन्तर एक बार शरद्ऋतुके मेघको विलीन होता देख वे प्रतिबोधको प्राप्त हो गये जिससे दीक्षा लेनेकी इच्छा उनके मनमें जाग उठी । उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर उनकी स्तुति की ॥३०॥ तदनन्तर जिसमें समस्त सामन्तोंके समूह नम्रीभूत थे तथा सुखसे जिसका पालन होता था ऐसा राज्य उन्होंने अपने सुव्रत नामक पुत्रके लिए देकर सब प्रकारकी इच्छा छोड़ दी ॥३१॥ तत्पश्चात् जिसने अपनी सुगन्धिसे दशों दिशाओंको व्याप्त कर रक्खा था, जिसमें शरीर पर लगा हुआ दिव्य विलेपन ही सुन्दर मकरन्द था, जिसने अपनी सुगन्धिसे आतुर भ्रमरियोंके भारी समूहको अपनी ओर खींच रक्खा था, जो हरे मणियोंकी कान्तिरूपी पत्तोंके समूहसे व्याप्त था, जो दाँतोंकी पंक्तिकी सफ़ेद कान्तिरूपी मृणालके समूहसे युक्त था, जो नाना प्रकारके आभूषणोंकी ध्वनिरूपी पक्षियोंकी कलकूजनसे परिपूर्ण था, जो वलिरूपी तरङ्गोंसे युक्त था और जो स्तनरूपी चक्रवाक पक्षियोंसे सुशोभित था ऐसी उत्तम स्त्रियोंरूपी कमल-वनसे वे कीर्तिधवल राजहंस (श्रेष्ठ राजा भगवान् मुनिसुव्रतनाथ) इस प्रकार बाहर निकले जिस प्रकार कि किसी कमल-वनसे राजहंस (हंस विशेष) निकलता है ॥३२-३५॥ तदनन्तर मनुष्योंके चूड़ामणि भगवान् मुनिसुव्रतनाथ, देवों तथा राजाओंके द्वारा उठाई हुई अपराजिता नामकी पालकीमें सवार होकर विपुलनामक उद्यानमें गये ॥३६॥ तदनन्तर पालकीसे उतर कर हरिवंशके आभूषणस्वरूप भगवान् मुनिसुव्रतनाथने कई हजार राजाओंके साथ जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली ॥३७॥ भगवान्ने दीक्षा लेते समय दो दिनका उपवास किया था । उपवास समाप्त होनेपर राजगृह नगरमें वृषभदत्तने उन्हें परमान्न अर्थात् खीरसे भक्तिपूर्वक

१. वादेन म०, ज० । २. नर्तनम् ब०, ज० । तर्जनम् ख०, वर्तनः म० । ३. स्वन म० ।

[1]शासनाचारवृत्त्यर्थं भुक्तिश्च विभुना कृता । प्राप्तो वृषभदत्तश्च पञ्चातिशयपूजनम् ॥३९॥
अधश्चम्पकवृक्षस्य शुक्लध्यानमुपेयुषः । उत्पन्नं घातिकर्मान्ते केवलं परमेष्ठिनः ॥४०॥
ततो देवाः समागत्य सेन्द्राः स्तुत्वा प्रणम्य च । संजातगणिनस्तस्माच्छुश्रुवुर्धर्ममुत्तमम् ॥४१॥
सागारं च निरागारं बहुभेदं यथाविधि । श्रुत्वा ते विमलं धर्मं नत्वा जग्मुर्यथायथम् ॥४२॥
मुनिसुव्रतनाथोऽपि धर्मतीर्थप्रवर्तनम् । कृत्वा सुरासुरैर्नम्रैः स्तूयमानः प्रमोदिभिः ॥४३॥
गणनाथैर्महासत्त्वैर्गणपालनकारिभिः । अन्यैश्च साधुभिर्युक्तो विहृत्य वसुधातलम् ॥४४॥
सम्मेदगिरिमूर्धानं समारुह्य चतुर्विधम् । विधूय कर्म संप्राप लोकचूडामणिस्थितम् ॥४५॥
मुनिसुव्रतमाहात्म्यमिदं येऽधीयते जनाः । शृण्वन्ति वा सुभावेन तेषां नश्यति दुष्कृतिः ॥४६॥
भूयश्च बोधिमागत्य ततः कृत्वा सुनिर्मलम् । गच्छन्ति परमं स्थानं यतो नागमनं पुनः ॥४७॥
अथासौ सुव्रतः कृत्वा चिरं [2]राज्यं सुनिश्चलम् । [3]दत्तं तत्र विनिक्षिप्य [4]प्रव्रज्यावाप निर्वृतिम् ॥४८॥
दक्षात् समभवत् सूनुरिलावर्द्धनसंज्ञितः । ततः श्रीवर्द्धनो जज्ञे श्रीवृक्षाख्यस्ततोऽभवत् ॥४९॥
सञ्जयन्तो बभूवास्मादुदभूत्कुणिमस्ततः । महारथः पुलोमा चेत्येवमाद्या नरेश्वराः ॥५०॥
सहस्रशः समुत्पन्ना हरीणामन्वये शुभे । संप्रापुर्निर्वृतिं केचित् केचिन्नाकनिवासिताम् ॥५१॥
एवं क्रमात् प्रयातेषु पार्थिवेषु च भूरिषु । नृपो वासव केत्वाख्यः कुलेऽस्मिन्मैथिलो[5]ऽभवत् ॥५२॥

पारणा कराया ॥३८॥ जिनशासनमें आचारकी वृत्ति किस तरह है यह बतलानेके लिए ही भगवान्‌ने आहार ग्रहण किया था। आहारदानके प्रभावसे वृषभदत्त पञ्चातिशयको प्राप्त हुआ ॥३९॥

तदनन्तर चम्पक वृक्षके नीचे शुक्ल-ध्यानसे विराजमान भगवान्‌को घातियाँ कर्मोंका क्षय होनेके उपरान्त केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥४०॥ तदनन्तर इन्द्रोंसहित देवोंने आकर स्तुति की, प्रणाम किया तथा उत्तम गणधरोंसे युक्त उन मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌से उत्तम धर्मका उपदेश सुना ॥४१॥ भगवान्‌ने सागार और अनगारके भेदसे अनेक प्रकारके धर्मका निरूपण किया सो उस निर्मल धर्मको विधिपूर्वक सुनकर वे सब यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर गये ॥४२॥ हर्षसे भरे नम्रीभूत सुरासुर जिनकी स्तुति करते थे ऐसे भगवान् मुनिसुव्रतनाथने भी धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति कर महा धैर्यके धारक तथा गणकी रक्षा करनेवाले गणधरों एवं अन्यान्य साधुओंके साथ पृथिवीतलपर विहार किया ॥४३-४४॥ तदनन्तर सम्मेदाचलकी शिखरपर आरूढ होकर तथा चार अघातिया कर्मोंका क्षय कर वे लोकके चूड़ामणि हो गये अर्थात् सिद्धालयमें जाकर विराजमान हो गये ॥४५॥ जो मनुष्य उत्तम भावसे मुनिसुव्रत भगवान्‌के इस माहात्म्यको पढ़ते अथवा सुनते हैं उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं ॥४६॥ वे पुनः आकर रत्नत्रयको निर्मल कर उस परम स्थानको प्राप्त होते हैं जहाँसे कि फिर आना नहीं होता ॥४७॥

तदनन्तर मुनिसुव्रतनाथके पुत्र सुव्रतने भी चिरकाल तक निश्चल राज्य कर अन्तमें अपने पुत्र दक्षके लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं दीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त किया ॥४८॥ राजा दक्षके इलावर्धन, इलावर्धनके श्रीवर्धन, श्रीवर्धनके श्रीवृक्ष, श्रीवृक्षके संजयन्त, संजयन्तके कुणिम, कुणिमके महारथ और महारथके पुलोमा इत्यादि हजारों राजा हरिवंशमें उत्पन्न हुए। इनमेंसे कितने ही राजा निर्वाणको प्राप्त हुए और कितने ही स्वर्ग गये ॥४९-५१॥ इस प्रकार क्रमसे अनेक राजाओंके हो चुकनेपर इसी वंशमें मिथिलाका राजा

१. असमाचार- म०, ब० । २. -राध्यं म० । ३. एतन्नामानं पुत्रम् । ४. प्रव्रज्य प्राप म० । ५. मिथिलाया अधिपो मैथिलः ।

विपुलेति महादेवी तस्यासीत् विपुलेक्षणा । परमश्रीरपि प्राप्ता या मध्येन दरिद्रताम् ॥५३॥
तस्य जनकनामाभूत्तनयो नयकोविदः । हितं यः सततं चक्रे प्रजानां जनको यथा ॥५४॥
एवं जनकसंभूतिः कथिता ते नराधिप । शृणु सम्प्रति यद्वंशे नृपो दशरथोऽभवत् ॥५५॥
इक्ष्वाकूणां कुले रम्ये निर्वृते नाभिजे जिने । भरते भास्करे सोमे व्यतीते वंशभूषणे ॥५६॥
संख्यातीतेन कालेन कुले तत्र नराधिपाः । अतिक्रामन्ति कुर्वन्तस्तपः परमदुश्चरम् ॥५७॥
क्रीडन्ति भोगनिर्मग्नाः शुष्यन्त्यकृतपुण्यकाः । लभन्ते कर्मणः स्वस्य विपाकमश्रुधारिणः ॥५८॥
चक्रवत्परिवर्तन्ते व्यसनानि महोत्सवैः । शनैर्मायादयो दोषाः प्रयान्ति परिवर्द्धनम् ॥५९॥
क्लिश्यन्ते द्रव्यनिर्मुक्ता म्रियन्ते बालतासु च । पूर्वोपात्तायुषि क्षीणे हेतुना चोपसंहृते ॥६०॥
नाना भवन्ति तिष्ठन्ति निघ्नते शोचयन्ति च । रुदन्त्यदन्ति बाधन्ते विवदन्ति पठन्ति च ॥६१॥
ध्यायन्ति यान्ति वल्गन्ति प्रभवन्ति वहन्ति च । गायन्त्युपासतेऽश्नन्ति दरिद्रति नदन्ति च ॥६२॥
जयन्ति रान्ति मुञ्चन्ति राजन्ते विलसन्ति च । तुष्यन्ति शासति क्षान्ति स्पृहयन्ति हरन्ति च ॥६३॥
[1]त्रपन्ते द्रान्ति सज्जन्ति दूयन्ते कूटयन्ति च । मार्गयन्तेऽभिधावन्ते कुहयन्ते सृजन्ति च ॥६४॥

वासवकेतु हुआ ॥५२॥ उसकी विपुला नामकी पट्टरानी थी। वह विपुला, विपुल अर्थात् दीर्घ नेत्रोंको धारण करनेवाली थी और उत्कृष्ट लक्ष्मीकी धारक होकर भी मध्यभागसे दरिद्रताको प्राप्त थी अर्थात् उसकी कमर अत्यन्त कृश थी ॥५३॥ उन दोनोंके नीतिनिपुण जनक नामका पुत्र हुआ। वह जनक, जनक अर्थात् पिताके समान ही निरन्तर प्रजाका हित करता था ॥५४॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! इस तरह मैंने तेरे लिए राजा जनककी उत्पत्ति कही। अब जिस वंशमें राजा दशरथ हुए उसका कथन करता हूँ सो सुन ॥५५॥

अथानन्तर इक्ष्वाकुओंके रमणीय कुलमें जब भगवान् ऋषभदेव निर्वाणको प्राप्त हो गये और उनके बाद चक्रवर्ती भरत, अर्ककीर्ति तथा वंशके अलङ्कारभूत सोम आदि राजा व्यतीत हो चुके तब असंख्यात कालके भीतर उस वंशमें अनेक राजा हुए। उनमें कितने ही राजा अत्यन्त कठिन तपश्चरण कर निर्वाणको प्राप्त हुए, कितने ही स्वर्गमें जाकर भोगोंमें निमग्न हो क्रीड़ा करने लगे, और कितने ही पुण्यका सञ्चय नहीं करनेसे शुष्क हो गये अर्थात् नरकादि गतियोंमें जाकर रोते हुए अपने कर्मोंका फल भोगने लगे ॥५६–५८॥ हे श्रेणिक! इस संसारमें जो व्यसन-कष्ट हैं वे चक्रकी नाईं बदलते रहते हैं अर्थात् कभी व्यसन महोत्सवरूप हो जाते हैं और कभी महोत्सव व्यसनरूप हो जाते हैं, कभी इस जीवमें धीरे-धीरे माया आदि दोष वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं ॥५९॥ कभी ये जीव निर्धन होकर क्लेश उठाते हैं और कभी पूर्वबद्ध आयुके क्षीण हो जाने अथवा किसी कारणवश कम हो जानेसे बाल्य अवस्थामें ही मर जाते हैं ॥६०॥ कभी ये जीव नाना रूपताको धारण करते हैं, कभी ज्यों-के-त्यों स्थिर रह जाते हैं, कभी एक दूसरेको मारते हैं, कभी शोक करते हैं, कभी रोते हैं, कभी खाते हैं, कभी बाधा पहुँचाते हैं, कभी विवाद करते हैं, कभी गमन करते हैं, कभी चलते हैं, कभी प्रभावशील होते हैं, अर्थात् स्वामी बनते हैं, कभी भार ढोते हैं, कभी गाते हैं, कभी उपासना करते हैं, कभी भोजन करते हैं, कभी दरिद्रताको प्राप्त करते हैं, कभी शब्द करते हैं ॥६१–६२॥ कभी जीतते हैं, कभी देते हैं, कभी कुछ छोड़ते हैं, कभी विराजमान होते हैं, कभी अनेक विलास धारण करते हैं, कभी सन्तोष धारण करते हैं, कभी शासन करते हैं, कभी क्षान्ति अर्थात् क्षमा की अभिलाषा करते हैं, कभी शान्तिका हरण करते हैं, ॥६३॥ कभी लज्जित होते हैं, कभी कुत्सित चाल चलते हैं, कभी किसीको सताते हैं, कभी सन्तप्त होते हैं, कभी कपट धारण करते हैं, कभी याचना करते हैं, कभी सम्मुख दौड़ते हैं, कभी

१. त्रपन्ति ख० ।

[1]क्रीडन्ति स्यन्ति यच्छन्ति शीलयन्ति वसन्ति च । लुञ्चन्ति [2]मान्ति सीदन्ति क्रुध्यन्ति विपलन्ति च ॥६५॥
[3]तुष्यन्त्यर्चन्ति वञ्चन्ति सान्त्वयन्ति विदन्ति च । मुह्यन्त्यवन्ति नृत्यन्ति स्निह्यन्ति विनयन्ति च ॥६६॥
नुदन्त्युञ्छन्ति कर्षन्ति भृज्जन्ति विनमन्ति च । दीव्यन्ति दान्ति शृण्वन्ति जुह्वत्यञ्चन्ति जाग्रति ॥६७॥
स्वपन्ति बिभ्यतीङ्गन्ति श्यन्ति घ्नन्ति [4]तुदन्ति च । प्रान्ति स्नुवन्ति सिन्वन्ति रुन्धन्ति विरुवन्ति च ॥६८
सीव्यन्त्यटन्ति[5] जीर्यन्ति पिबन्ति रचयन्ति च । वृणते परिमृद्नन्ति विस्तृणन्ति पृणन्ति च ॥६९॥
मीमांसन्ते जुगुप्सन्ते कामयन्ते तरन्ति च । चिकित्सन्त्यनुमन्यन्ते वारयन्ति गृणन्ति च ॥७०॥
एवमादिक्रियाजालसंततव्याप्तमानसाः । शुभाशुभसमासक्ता व्यतिक्रामन्ति मानवाः ॥७१॥
इति चित्रपटाकारचेष्टिताखिलमानवे । कालेऽवसर्पिणीनाम्नि प्रयाति विलयं शनैः[6] ॥७२॥
जाते विंशतिसंख्याने वर्तमानजिनान्तरे । देवागमनसंयुक्ते विनीतायामुरौ पुरि ॥७३॥
विजयो नाम राजेन्द्रो विजिताखिलशात्रवः । [7]सौर्यप्रतापसंयुक्तः प्रजापालनपण्डितः ॥७४॥
संभूतो हेमचूलिन्यां महादेव्यां सुतेजसि । सुरेन्द्रमन्युनामाभूत्सूनुस्तस्य महागुणः ॥७५॥
तस्य कीर्तिसमाख्यायां जायायां तनयद्वयम् । चन्द्रसूर्यसमच्छायं जातं गुणसमर्चितम् ॥७६॥

मायाचार दिखाते हैं, कभी किसीके द्रव्यादिका हरण करते हैं, ॥६४॥ कभी क्रीड़ा करते हैं, कभी किसी वस्तुको नष्ट करते हैं, कभी किसीको कुछ देते हैं, कभी कहीं वास करते हैं, कभी किसीको लोंचते हैं, कभी किसीको नापते हैं, कभी दुःखी होते हैं, कभी क्रोध करते हैं, कभी विचलित होते हैं, ॥६५॥ कभी सन्तुष्ट होते हैं, कभी किसीकी पूजा करते हैं, कभी किसीको छलते हैं, कभी किसीको सान्त्वना देते हैं, कभी कुछ समझते हैं, कभी मोहित होते हैं, कभी रक्षा करते हैं, कभी नृत्य करते हैं, कभी स्नेह करते हैं, कभी विनय करते हैं, ॥६६॥ कभी किसीको प्रेरणा देते हैं, कभी दाने-दाने बीनकर पेट भरते हैं, कभी खेत जोतते हैं, कभी भाड़ भूँजते हैं, कभी नमस्कार करते हैं, कभी क्रीड़ा करते हैं, कभी लुनते हैं, कभी सुनते हैं, कभी होम करते हैं, कभी चलते हैं, कभी जागते हैं ॥६७॥ कभी सोते हैं, कभी डरते हैं, कभी नाना चेष्टा करते हैं, कभी नष्ट करते हैं, कभी किसीको खण्डित करते हैं, कभी किसीको पीड़ा पहुँचाते हैं, कभी पूर्ण करते हैं, कभी स्नान करते हैं, कभी बाँधते हैं, कभी रोकते हैं, कभी चिल्लाते हैं, ॥६८॥ कभी सीते हैं, कभी घूमते हैं, कभी जीर्ण होते हैं, कभी पीते हैं, कभी रचते हैं, कभी वरण करते हैं, कभी मसलते हैं, कभी फैलाते हैं, कभी तर्पण करते हैं ॥६९॥ कभी मीमांसा करते हैं, कभी घृणा करते हैं, कभी इच्छा करते हैं, कभी तरते हैं, कभी चिकित्सा करते हैं, कभी अनुमोदना करते हैं, कभी रोकते हैं और कभी निगलते हैं ॥७०॥ हे राजन् ! इत्यादि क्रियाओंके जालसे जिनके मन व्याप्त हो रहे थे तथा जो शुभ-अशुभ कार्योंमें लीन थे ऐसे अनेक मानव उस इक्ष्वाकुवंशमें क्रमसे हुए थे ॥७१॥ इस प्रकार जिसमें समस्त मानवोंकी चेष्टाएँ चित्रपटके समान नाना प्रकारकी हैं ऐसा यह अवसर्पिणी नामका काल धीरे-धीरे समाप्त होता गया ॥७२॥

अथानन्तर जिसमें देवोंका आगमन जारी रहता था ऐसे बीसवें वर्तमान तीर्थङ्करका अन्तराल शुरू होनेपर अयोध्यानामक विशाल नगरीमें विजय नामका बड़ा राजा हुआ। उसने समस्त शत्रुओंको जीत लिया था वह सूर्यके समान प्रतापसे संयुक्त था तथा प्रजाका पालन करनेमें निपुण था ॥७३-७४॥ उसकी हेमचूला नामकी महातेजस्विनी पट्टरानी थी सो उसके सुरेन्द्रमन्यु नामका महागुणवान् पुत्र उत्पन्न हुआ ॥७५॥ सुरेन्द्रमन्युकी कीर्तिसमा स्त्री हुई सो उसके चन्द्रमा और सूर्यके समान कान्तिको धारण करनेवाले दो पुत्र हुए। ये दोनों ही पुत्र गुणोंसे सुशोभित

---

१. शीडन्ति म० । २. भान्ति म० । ३. स्तुवंत्यर्चन्ति म० । ४. रुदन्ति च म० । ५. सीव्यन्त्यवन्ति म० । ६. शतैः म० । ७. शौर्य -ख० ।

वज्रबाहुस्तयोराद्यो द्वितीयश्च पुरन्दरः । अन्वर्थनामयुक्तौ तौ रेमाते भुवने सुखम् ॥७७॥
इभवाहननामासीत्तस्मिन् काले नराधिपः । रम्ये नागपुरे तस्य नाम्ना चूडामणिः प्रिया ॥७८॥
तयोर्दुहितरं चार्वीं ख्यातां नाम्ना मनोदयाम् । वज्रबाहुकुमारोऽसौ लेभे श्लाघ्यतमो नृणाम् ॥७९॥
[1]तां कन्यां सोदरो नेतुमागादुदयसुन्दरः । सार्धं तेनोच्छ्रितः श्रीमं[2]स्सितातपनिवारणः ॥८०॥
कन्यां तां रूपतः ख्यातां सकले वसुधातले । मानसेन वहन् भूत्या प्रतस्थे श्वाशुरं पुरम् ॥८१॥
अथास्य व्रजतो दृष्टिर्वसन्तकुसुमाकुले । गिरौ वसन्तसंज्ञाङ्के[3] निपपात मनोहरे ॥८२॥
यथा यथा समीपत्वं यस्य याति गिरेरसौ । तथा तथा परां लक्ष्मीं पश्यन् हर्षमुपागमत् ॥८३॥
पुष्पधूलीविमिश्रेण वायुना स सुगन्धिना । समालिङ्ग्यत मित्रेण सम्प्राप्तेन चिरादिव ॥८४॥
पुंस्कोकिलकलालापैर्जयशब्दमिवाकरोत् । वातकम्पितवृक्षाग्रो वज्रबाहोर्धराधरः[4] ॥८५॥
वीणाझङ्काररम्याणां भृङ्गाणां [5]मदशालिनाम् । नादेन श्रवणौ तस्य मानसेन समं हृतौ ॥८६॥
चूतोऽयं कर्णिकारोऽयं लोध्रोऽयं कुसुमान्वितः । प्रियालोऽयं पलाशोऽयं ज्वलत्पावकभासुरः ॥८७॥
व्रजन्तीति क्रमेणास्य दृष्टिर्निश्चलपक्ष्मिका । संदिग्धमानुषाकारे पपात मुनिपुङ्गवे ॥८८॥
स्थाणुः स्याच्छ्रमणोऽयं नु शैलकूटमिदं भवेत् । इति राज्ञो वितर्कोऽभूत् कायोत्सर्गस्थिते मुनौ ॥८९॥
[6]नेदीयान्सं ततो मार्गं प्रयातस्यास्य निश्चयः । उदपादि महायोगिदेहविन्दनतत्परः ॥९०॥
उच्चावचशिलाजालविषमेऽवस्थितं स्थिरम् । दिवाकरकराश्लिष्टाम्लानवक्त्रसरोरुहम् ॥९१॥

थे । उनमेंसे बड़े पुत्रका नाम वज्रबाहु और छोटे पुत्रका नाम पुरन्दर था । दोनों ही सार्थक नामको धारण करनेवाले थे और संसारमें सुखसे क्रीड़ा करते थे ॥७६-७७॥

उसी समय अत्यन्त मनोहर हस्तिनापुर नगरमें इभवाहन नामका राजा रहता था उसकी स्त्रीका नाम चूडामणि था उन दोनोंके मनोदय नामकी अत्यन्त सुन्दरी पुत्री थी सो उसे मनुष्योंमें अत्यन्त प्रशंसनीय वज्रबाहु कुमारने प्राप्त किया ॥७८-७९॥ कदाचित् कन्याका भाई उदयसुन्दर उस कन्याको लेनेके लिए वज्रबाहुके घर गया सो जिसपर अत्यन्त सुशोभित सफ़ेद छत्र लग रहा था ऐसा वज्रबाहु स्वयं भी उसके साथ चलनेके लिए उद्यत हुआ ॥८०॥ वह कन्या अपने सौन्दर्यसे समस्त पृथ्वीमें प्रसिद्ध थी उसे मनमें धारण करता हुआ वज्रबाहु बड़े वैभवके साथ श्वसुरके नगरकी ओर चला ॥८१॥

अथानन्तर चलते-चलते उसकी दृष्टि वसन्त ऋतुके फूलोंसे व्याप्त वसन्त नामक मनोहर पर्वत पर पड़ी ॥८२॥ वह जैसे-जैसे उस पर्वतके समीप आता जाता वैसे-वैसे ही उसकी परम शोभाको देखता हुआ हर्षको प्राप्त हो रहा था ॥८३॥ फूलोंकी धूलिसे मिली सुगन्धित वायु उसका आलिङ्गन कर रही थी सो ऐसा जान पड़ता था मानो चिरकालके बाद प्राप्त हुआ मित्र ही आलिङ्गन कर रहा हो ॥८४॥ जहाँ वृक्षोंके अग्रभाग वायुसे कम्पित हो रहे थे ऐसा वह पर्वत पुंस्कोकिलाओंके शब्दोंके बहाने मानो वज्रबाहुका जय-जयकार ही कर रहा था ॥८५॥ वीणाकी झङ्कारके समान मनोहर मदशाली भ्रमरोंके शब्दसे उसके श्रवण तथा मन साथ-ही-साथ हरे गये ॥८६॥ 'यह आम है, यह कनेर है, यह फूलोंसे सहित लोध्र है, यह प्रियाल है और यह जलती हुई अग्निके समान सुशोभित पलाश है' इस प्रकार क्रमसे चलती हुई उसकी निश्चल दृष्टि दूरीके कारण जिसमें मनुष्यके आकारका संशय हो रहा था ऐसे मुनिराज पर पड़ी ॥८७-८८॥ कायोत्सर्गसे स्थित मुनिराजके विषयमें वज्रबाहुको वितर्क उत्पन्न हुआ कि क्या यह ठूठ है ? या साधु हैं, अथवा पर्वतका शिखर है ? ॥८९॥ तदनन्तर जब अत्यन्त समीपवर्ती मार्गमें पहुँचा तब उसे निश्चय हुआ कि ये महायोगी-मुनिराज हैं ॥९०॥ वे मुनिराज ऊँची-नीची

१. तं कन्या ख०, ब० । तत्कन्या- म० । २. श्रीमान् सितातपनिवारणः म० । ३. संज्ञाके म० ४. पर्वतः । ५. मन्दशालिनाम् म० । ६. ततो नेदीयसं मार्गं म०, ब०, क०, ख०, ज० ।

प्रलम्बितमहाभोगिभोगभासुरसद्भुजम् । शैलेन्द्रतटसंकाशपीवरोदारवक्षसम् ॥९२॥
दिग्नागबन्धनस्तम्भस्थिरभास्वद्वरोरुकम् । तपसापि कृशं कान्त्या दृश्यमानं सुपीवरम् ॥९३॥
नासिकाग्रनिविष्टातिसौम्यनिश्चलचक्षुषम् । मुनिं ध्यायन्तमैकाग्र्यं दृष्ट्वा राजेत्यचिन्तयत् ॥९४॥
अहो धन्योऽयमत्यन्तं प्रशान्तो मानवोत्तमः । यद्विहायाखिलं सङ्गं तपस्यति मुमुक्षया ॥९५॥
विमुक्त्यानुगृहीतोऽयं कल्याणाभिनिविष्टधीः । परपीडानिवृत्तात्मा मुनिर्लक्ष्मीपरिष्कृतः ॥९६॥
समः सुहृदि शत्रौ च रत्नराशौ तृणे तथा । मानमत्सरनिर्मुक्तः सिद्ध्यालिङ्गनलालसः ॥९७॥
वशीकृतहृषीकात्मा निष्प्रकम्पो गिरीन्द्रवत् । श्रेयो ध्यायति नीरागः कुशलस्थितमानसः ॥९८॥
फलं पुष्कलमेतेन लब्धं मानुषजन्मनः । अयं न वञ्चितः क्रूरैः कषायाख्यैर्मलिम्लुचैः ॥९९॥
अहं नु वेष्टितः पापः कर्मपाशैरनन्तरम् । आशीविषैर्महानागैर्यथा चन्दनपादपः ॥१००॥
प्रमत्तचेतसं पापं धिग्मां निश्चेतनोपमम् । योऽहं निद्राभिभोगाद्रिमहाभृगुशिरःस्थितः ॥१०१॥
यदि नाम भजेयेमामवस्थामस्य योगिनः । भवेयं लब्धलब्धव्यस्ततो मानुषजन्मनि ॥१०२॥
इति चिन्तयतस्तस्य राज्ञो निर्ग्रन्थपुङ्गवे । दृष्टिः स्तम्भनिबद्धेव बभूवात्यन्तनिश्चला ॥१०३॥
एवं निश्चलपक्ष्माणं निरीक्ष्योदयसुन्दरः । कुर्वन्नर्म जगादेवं वज्रबाहुं कृतस्मितः ॥१०४॥
चिरं निरीक्षितो देवस्त्वयैष मुनिपुङ्गवः । वृणीषे किमिमां दीक्षां रागवानत्र दृश्यसे ॥१०५॥
वज्रबाहुरथोवोचत् कृतभावनिगूहनः । वर्तते कः पुनर्भावस्तवोदय निवेदय ॥१०६॥

शिलाओंसे विषम धरातलमें स्थिर विराजमान थे, सूर्यकी किरणोंसे आलिङ्गित होनेके कारण उनका मुखकमल म्लान हो रहा था, किसी बड़े सर्पके समान सुशोभित उनकी दोनों उत्तम भुजाएँ नीचेकी ओर लटक रहीं थीं, उनका वक्षःस्थल सुमेरुके तटके समान स्थूल तथा चौड़ा था, उनकी देदीप्यमान दोनों उत्कृष्ट जाँघें दिग्गजोंके बाँधनेके खम्भोंके समान स्थिर थीं, यद्यपि वे तपके कारण कृश थे तथापि कान्तिसे अत्यन्त स्थूल जान पड़ते थे, उन्होंने अपने अत्यन्त सौम्य निश्चल नेत्र नासिकाके अग्रभाग पर स्थापित कर रक्खे थे, इस प्रकार एकाग्र रूपसे ध्यान करते हुए मुनिराजको देखकर राजा वज्रबाहु इस प्रकार विचार करने लगा कि ॥९१-९४॥ अहो ! इन अत्यन्त प्रशान्त उत्तम मानवको धन्य है जो समस्त परिग्रहका त्यागकर मोक्षकी इच्छासे तपस्या कर रहे हैं ॥९५॥ इन मुनिराज पर मुक्ति लक्ष्मीने अनुग्रह किया है, इनकी बुद्धि आत्मकल्याणमें लीन है, इनकी आत्मा परपीड़ासे निवृत्त हो चुकी है, ये अलौकिक लक्ष्मीसे अलंकृत हैं, शत्रु और मित्र, तथा रत्नोंकी राशि और तृणमें समान बुद्धि रखते हैं, मान एवं मत्सरसे रहित हैं, सिद्धिरूपी वधूका आलिङ्गन करनेमें इनकी लालसा बढ़ रही है, इन्होंने इन्द्रियों और मनको वशमें कर लिया, ये सुमेरुके समान स्थिर हैं, वीतराग हैं तथा कुशल कार्यमें मन स्थिर कर ध्यान कर रहे हैं ॥९६-९८॥ मनुष्यमें जन्मका पूर्ण-फल इन्होंने प्राप्त किया है, इन्द्रियरूपी दुष्ट चोर इन्हें नहीं ठग सके हैं ॥९९॥ और मैं ? मैं तो कर्मरूपी पाशोंसे उस तरह निरन्तर वेष्टित हूँ जिस तरह कि आशीविष जातिके बड़े-बड़े सर्पोंसे चन्दनका वृक्ष वेष्टित होता है ॥१००॥ जिसका चित्त प्रमादसे भरा हुआ है ऐसे जड़तुल्य मुझ पापीके लिए धिक्कार है मैं। भोगरूपी पर्वतकी बड़ी गोलचट्टानके अग्रभाग पर बैठकर सो रहा हूँ ॥१०१॥ यदि मैं इन मुनिराजकी इस अवस्थाको धारण कर सकूँ तो मनुष्य-जन्मका फल मुझे प्राप्त हो जावे ॥१०२॥ इस प्रकार विचार करते हुए राजा वज्रबाहुकी दृष्टि उन निर्ग्रन्थ मुनिराजपर खम्भेमें बँधी हुई के समान अत्यन्त निश्चल हो गई ॥१०३॥ इस तरह वज्रबाहुको निश्चल दृष्टि देख उदय-सुन्दरने मुसकराकर हँसी करते हुए कहा कि आप इन मुनिराजको बड़ी देरसे देख रहे हैं सो क्या इस दीक्षाको ग्रहण कर रहे हो ? इसमें आप अनुरक्त दिखाई पड़ते हैं ॥१०४-१०५॥ तदनन्तर अपने भावको छिपाकर वज्रबाहुने कहा कि हे उदय ! तुम्हारा क्या भाव है सो तो कहो ॥१०६॥

अन्तर्विरक्तमज्ञात्वा तमाहोदयसुन्दरः । परिहासानुरागेण दन्तांशुच्छुरिताधरः ॥१०७॥
दीक्षामिमां वृणोषे चेत्ततोऽहमपि ते सखा । अहो विराजसेऽत्यर्थं कुमार श्रमणश्रिया ॥१०८॥
अस्त्वेवमिति भाषित्वा युक्तो वैवाहभूषणैः । अवारोहदसौ नागादारोहच्च धरणीधरम् ॥१०९॥
ततो वराङ्गनास्तारं रुरुदुरुल्लोचनाः । छिन्नमुक्ताकलापाभस्थूलनेत्राम्बुबिन्दवः ॥११०॥
व्यज्ञापयत् सबाष्पाक्षस्तमथोदयसुन्दरः । प्रसीद देव नर्मेदं कृतं किमनुतिष्ठसि ॥१११॥
उवाच वज्रबाहुस्तं मधुरं परिसान्त्वयन् । कल्याणाशयकूपेऽहं पतन्नुत्तारितस्त्वया ॥११२॥
भवता सदृशं मित्रं नास्ति मे भुवनत्रये । जातस्य सुन्दरावश्यं मृत्युः प्रेतस्य संभवः ॥११३॥
मृत्युजन्मघटीयन्त्रमेतद्भ्राम्यत्यनारतम् । विद्युत्तरङ्गदुष्टाहिरसनेभ्योऽपि चञ्चलम् ॥११४॥
जगतो दुःखमग्नस्य किन्न पश्यसि जीवितम् । स्वप्नभोगोपमा भोगा जीवितं बुद्बुदोपमम् ॥११५॥
सन्ध्यारागोपमः स्नेहस्तारुण्यं कुसुमोपमम् । परिहासोऽपि ते भद्र मम जातोऽमृतोपमः ॥११६॥
परिहासेन किं पीतं[4] नौषधं हरते रुजम्[5] । [6]स त्वमेकोऽद्य मे बन्धुर्यः सुश्रेयः प्रवृत्तये ॥११७॥
संसाराचारसक्तस्य प्रतिपन्नोऽसि हेतुताम् । एषोऽहं प्रव्रजाम्यद्य कुरु त्वं स्वमनीषितम् ॥११८॥
गुणसागरनामानं तमुपेत्य तपोधनम् । प्रणम्य [7]चरणावूचे विनीतो रचिताञ्जलिः ॥११९॥
स्वामिन् भवत्प्रसादेन पवित्रीकृतमानसः । अद्य निष्क्रमितुं भीमादिच्छामि [8]भवचारकात् ॥१२०॥

उसे अन्तरसे विरक्त न जानकर उदयसुन्दरने परिहासके अनुरागवश दाँतोंकी किरणोंसे ओठोंको व्याप्त करते हुए कहा कि ॥१०७॥ यदि आप इस दीक्षाको स्वीकृत करते हैं तो मैं भी आपका सखा अर्थात् साथी होऊँगा । अहो कुमार ! आप इस मुनि दीक्षासे अत्यधिक सुशोभित होओगे ॥१०८॥ 'ऐसा हो' इस प्रकार कहकर विवाहके आभूषणोंसे युक्त वज्रबाहु हाथीसे उतरा और पर्वतपर चढ़ गया ॥१०९॥ तब विशाल नेत्रोंको धारण करनेवाली स्त्रियाँ जोर-जोरसे रोने लगीं । उनके नेत्रोंसे टूटे हुए मोतियोंके हारके समान आँसुओंकी बड़ी-बड़ी बूँदें गिरने लगीं ॥११०॥ उदयसुन्दरने भी आँखोंमें आँसू भरकर कहा कि हे देव ! प्रसन्न होओ, यह क्या कर रहे हो ? मैंने तो हँसी की थी ॥१११॥ तदनन्तर मधुर शब्दोंमें सान्त्वना देते हुए वज्रबाहुने उदयसुन्दरसे कहा कि हे उत्तम अभिप्रायके धारक ! मैं कुएँमें गिर रहा था सो तुमने निकाला है ॥११२॥ तीनों लोकोंमें तुम्हारे समान मेरा दूसरा मित्र नहीं है । हे सुन्दर ! संसारमें जो उत्पन्न होता है उसका मरण अवश्य होता है और जो मरता है उसका जन्म अवश्यंभावी है ॥११३॥ यह जन्म-मरणरूपी घटीयन्त्र बिजली, लहर तथा दुष्ट सर्पकी जिह्वासे भी अधिक चञ्चल है तथा निरन्तर घूमता रहता है ॥११४॥ दुःखमें फँसे हुए संसारके जीवनकी ओर तुम क्यों नहीं देख रहे हो ? ये भोग स्वप्नोंके भोगोंके समान हैं, जीवन बुद्बुदके तुल्य है, स्नेह सन्ध्याकी लालिमाके समान है और यौवन फूलके समान है । हे भद्र ! तेरी हँसी भी मेरे लिए अमृतके समान हो गई ॥११५-११६॥ क्या हँसीमें पीगई औषधि रोगको नहीं हरती ? चूँकि तुमने मेरी कल्याणकी ओर प्रवृत्ति कराई है इसलिए आज तुम्हीं एक मेरे बन्धु हो ॥११७॥ मैं संसारके आचारमें लीन था सो आज तुम उससे विरक्तिके कारण हो गये । लो, अब मैं दीक्षा लेता हूँ । तुम अपने अभिप्रायके अनुसार कार्य करो ॥११८॥ इतना कहकर वह गुणसागर नामक मुनिराजके पास गया और उनके चरणोंमें प्रणाम कर बड़ी विनयसे हाथ जोड़ता हुआ बोला कि हे स्वामिन् ! आपके प्रसादसे मेरा मन पवित्र हो गया है सो आज मैं इस भयङ्कर संसाररूपी कारागृहसे निकलना चाहता हूँ ॥११९-१२०॥

१. यज्ञत्वात्तमाहो- म०, ज० । -मन्यत्वात्त- ब० । २. कुमारः म० । ३. वैवाह- म० । ४. पीतमौषधं म० । ५. विषम् म० । ६. स त्वमेषोद्यमे बन्धु -म० । ७. चरणानूचे म० । ८. संसारकारागृहात् । भवतारकात् म० ।

ततः समाप्तयोगेन गुरुणेत्यनुमोदितः । महासंवेगसंपन्नस्त्यक्तवस्त्रविभूषणः ॥१२१॥
पर्यङ्कासनमास्थाय रमसान्वितमानसः । केशापनयनं कृत्वा पल्लवारुणपाणिना[1] ॥१२२॥
जानानः प्रलघुं देहमुल्लाघमिव तत्क्षणम् । दीक्षां संचर्य[2] वैवाहीं मोक्षदीक्षामशिश्रियत् ॥१२३॥
त्यक्तरागमदद्वेषा जातसंवेगरंहसः । सुन्दरप्रमुखा वीराः कुमारा मारविभ्रमाः ॥१२४॥
परमोत्साहसम्पन्नाः प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् । षड्विंशतिरमा तेन राजपुत्रा प्रवव्रजुः ॥१२५॥
तमुदन्तं परिज्ञाय सोदरस्नेहकातरा । वहन्ती पुरुसंवेगमदीक्षिष्ट मनोदया ॥१२६॥
सितांशुकपरिच्छन्नविशालस्तनमण्डला । अल्पोदरी मलच्छन्ना जाता सातितपस्विनी ॥१२७॥
[3]विजयस्यन्दनो वार्तां विदित्वा वज्रबाहवीम् । शोकार्दितो जगादेवं सभामध्यव्यवस्थितः ॥१२८॥
चित्रं पश्यत मे नप्ता वयसि प्रथमे स्थितः । विषयेभ्यो विरक्तात्मा दीक्षां दैगम्बरीमितः ॥१२९॥
मादृशोऽपि सुदुर्मोचैर्वर्षीयान् प्रवणीकृतः । भोगैर्यैस्ते कथं तेन कुमारेण विवर्जिताः ॥१३०॥
अथवानुगृहीतोऽसौ भाग्यवान्मुक्ति[4]सम्पदा । भोगान् यस्तृणवत्यक्त्वा [5]शीतीभावे व्यवस्थितः ॥१३१॥
मन्दभाग्योऽधुना चेष्टां कां व्रजामि जरार्दितः । सुचिरं वञ्चितः पापैर्विषयैर्मुखसुन्दरैः ॥१३२॥
इन्द्रनीलांशुसंघातसंकाशो योऽभवत् कथम् । केशभारः स मे जातः काशराशिसमद्युतिः ॥१३३॥
सितासितारुणच्छाये नेत्रे ये जनहारिणी । जाते सम्प्रति ते सुभ्रू[6]र्वल्लीच्छन्नस्ववर्त्मनी ॥१३४॥

तदनन्तर ध्यान समाप्त होनेपर मुनिराजने उसके इस कार्यकी अनुमोदना की । सो महा-संवेगसे भरा वज्रबाहु वस्त्राभूषण त्याग कर उनके समक्ष शीघ्र ही पद्मासनसे बैठ गया । उसने पल्लवके समान लाल-लाल हाथोंसे केश उखाड़कर फेंक दिये । उसे उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो उसका शरीर रोगरहित होनेसे हलका हो गया हो । इस तरह उसने विवाह-सम्बन्धी दीक्षाका परित्याग कर मोक्ष प्राप्त करानेवाली दीक्षा धारण कर ली ॥१२१-१२३॥ तदनन्तर जिन्होंने रागद्वेष और मदका परित्याग कर दिया था, संवेगकी ओर जिनका वेग बढ़ रहा था, तथा जो कामके समान सुन्दर विभ्रमको धारण करनेवाले थे, ऐसे उदयसुन्दर आदि छब्बीस राजकुमारोंने भी परमोत्साहसे सम्पन्न हो मुनिराजको प्रणाम कर दीक्षा धारण कर ली ॥१२४-१२५॥ यह समाचार जानकर भाईके स्नेहसे भीरु मनोदयाने भी बहुत भारी संवेगसे युक्त हो दीक्षा ले ली ॥१२६॥ सफेद वस्त्रसे जिसका विशाल स्तनमण्डल आच्छादित था, जिसका उदर अत्यन्त कृश था और जिसके शरीरपर मैल लग रहा था ऐसी मनोदया बड़ी तपस्विनी हो गई ॥१२७॥

वज्रबाहुके बाबा विजयस्यन्दनको जब उसके इस समाचारका पता चला तब शोकसे पीड़ित होता हुआ वह सभाके बीचमें इस प्रकार बोला कि अहो ! आश्चर्यकी बात देखो, प्रथम अवस्थामें स्थित मेरा नाती विषयोंसे विरक्त हो दैगम्बरी दीक्षाको प्राप्त हुआ है ॥१२८-१२९॥ मेरे समान वृद्ध पुरुष भी दुःखसे छोड़ने योग्य जिन विषयोंके अधीन हो रहा है वे विषय उस कुमारने कैसे छोड़ दिये ॥१३०॥ अथवा उस भाग्यशालीपर मुक्तिरूपी लक्ष्मीने बड़ा अनुग्रह किया है जिससे वह भोगोंको तृणके समान छोड़कर निराकुल भावको प्राप्त हुआ है ॥१३१॥ प्रारम्भमें सुन्दर दिखनेवाले पापी विषयोंने जिसे चिरकालसे ठगा है तथा जो वृद्धावस्थासे पीड़ित है ऐसा मैं अभागा इस समय कौन-सी चेष्टाको धारण करूँ ? ॥१३२॥ मेरे जो केश इन्द्रनील मणिकी किरणोंके समान श्याम वर्ण थे वे ही आज कासके फूलोंकी राशिके समान सफ़ेद हो गये हैं ॥१३३॥ सफ़ेद काली और लाल कान्तिको धारण करनेवाले मेरे जो नेत्र मनुष्योंके मनको हरण करनेवाले थे, अब उनका मार्ग भृकुटीरूपी लताओंसे आच्छादित हो गया है अर्थात् अब वे

१. पाणिनां म० । २. संवीक्ष्य क० । ३. वज्रबाहुपितामहः विजयस्यन्दिनो म०, ज० । ४. मुक्तसम्पदा म० । ५. शान्तीभावे ब० । ६. वलीच्छन्नसुवर्त्मनी म०, क० ।

प्रभासमुज्ज्वलः कायो योऽयमासीन्महाबलः । जातः संप्रत्यसौ वर्षाहतचित्रसमच्छविः ॥१३५॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च त्रयस्ते तरुणोचिताः । जरापरीतकायस्य दुष्कराः प्राणधारिणः ॥१३६॥
धिङ्मामचेतनं पापं दुराचारं प्रमादिनम् । अलीकबान्धवस्नेहसागरावर्तवर्तिनम् ॥१३७॥
इत्युक्त्वा बान्धवान् सर्वानापृच्छ्य विगतस्पृहः । दत्त्वा पुरन्दरे राज्यं राजा जर्जरविग्रहः ॥१३८॥
[1]पार्श्वे निर्वाणघोषस्य निर्ग्रन्थस्य महात्मनः । सुरेन्द्रमन्युना सार्धं प्रवव्राज महामनाः ॥१३९॥
पुरन्दरस्य तनयमसूत पृथिवीमती । भार्या कीर्तिधराभिख्यं विख्यातगुणसागरम् ॥१४०॥
क्रमेण स परिप्राप्तो यौवनं विनयाधिकः । एधयन् सर्वबन्धूनां प्रसादं चारुचेष्टया ॥१४१॥
कौसलस्थनरेन्द्रस्य वृता तस्मै शरीरजा । सुतमुद्वाह्य तां गेहान्निश्चक्राम पुरन्दरः ॥१४२॥
क्षेमंकरमुनेः पार्श्वे प्रव्रज्य गुणभूषणः । तपः कर्तुं समारेभे कर्मनिर्जरकारणम् ॥१४३॥
कुलक्रमागतं राज्यं पालयन् जितशात्रवः । रेमे देवोत्तमैर्भोगैः सुखं कीर्तिधरो नृपः ॥१४४॥

वंशस्थवृत्तम्

अथान्यदा कीर्तिधरः क्षितीश्वरः प्रजासुबन्धुः कृतभीररातिषु ।
सुखासनस्थो भवने मनोरमे विराजमानो नलकूबरो यथा ॥१४५॥
निरीक्ष्य राहूवलयनीलतेजसा तिरोहितं भास्करभासमण्डलम् ।
अचिन्तयत् कष्टमहो न शक्यते विधिर्विनेतुं प्रकटीकृतोदयः ॥१४६॥

लताओंसे आच्छादित गर्तके समान जान पड़ते हैं ॥१३४॥ मेरा जो यह शरीर कान्तिसे उज्ज्वल तथा महाबलसे युक्त था वह अब वर्षासे ताड़ित चित्रके समान निष्प्रभ हो गया ॥१३५॥ अर्थ, धर्म और काम ये तीनों पुरुषार्थ तरुण मनुष्यके योग्य हैं । वृद्ध मनुष्यके लिए इनका करना कठिन है ॥१३६॥ चेतनाशून्य, दुराचारी, प्रमादी तथा भाई-बन्धुओंके मिथ्या स्नेहरूपी सागरकी भँवरमें पड़े हुए मुझ पापीको धिक्कार हो ॥१३७॥ इस प्रकार कहकर तथा समस्त बन्धुजनोंसे पूछकर उदारहृदय वृद्ध राजा विजयस्यन्दनने निःस्पृह हो छोटे पोते पुरन्दरके लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं निर्वाणघोष नामक निर्ग्रन्थ महात्माके समीप अपने पुत्र सुरेन्द्रमन्युके साथ दीक्षा ले ली ॥१३८-१३९॥

तदनन्तर पुरन्दरकी भार्या पृथिवीमतीने कीर्तिधर नामक पुत्रको उत्पन्न किया । वह पुत्र समस्त प्रसिद्ध गुणोंका मानो सागर ही था ॥१४०॥ अपनी सुन्दर चेष्टासे समस्त बन्धुओंकी प्रसन्नताको बढ़ाता हुआ विनयी कीर्तिधर क्रम-क्रमसे यौवनको प्राप्त हुआ ॥१४१॥ तब राजा पुरन्दरने उसके लिए कौशल देशके राजाकी पुत्री स्वीकृत की । इस तरह पुत्रका विवाह कर राजा पुरन्दर विरक्त हो घरसे निकल पड़ा ॥१४२॥ गुणरूपी आभूषणोंको धारण करनेवाले राजा पुरन्दरने क्षेमंकर मुनिराजके समीप दीक्षा लेकर कर्मोंकी निर्जराका कारण कठिन तप करना प्रारम्भ किया ॥१४३॥ इधर शत्रुओंको जीतनेवाला राजा कीर्तिधर कुल क्रमागत राज्यका पालन करता हुआ देवोंके समान उत्तम भोगोंके साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करने लगा ॥१४४॥

अथानन्तर किसी दिन शत्रुओंको भयभीत करनेवाला प्रजा-वत्सल राजा कीर्तिधर, अपने सुन्दर भवनके ऊपर नलकूबर विद्याधरके समान सुखसे बैठा हुआ सुशोभित हो रहा था कि उसकी दृष्टि राहु विमानकी नील कान्तिसे आच्छादित सूर्यमण्डलपर (सूर्यग्रहण) पड़ी । उसे देखकर वह विचार करने लगा कि अहो ! उदयमें आया कर्म दूर नहीं किया जा सकता ॥१४५-१४६॥

१. पार्श्वनिर्वाण म० ।

उपजातिवृत्तम्

उत्सार्य यो भीषणमन्धकारं करोति निष्कान्तिकमिन्दुबिम्बम् ।
असौ रविः पद्मवनप्रबोधः स्वर्भानुमुत्सारयितुं न शक्तः ॥१४७॥
तारुण्यसूर्योऽप्ययमेवमेव प्रणश्यति प्राप्तजरोपरागः ।
जन्तुर्वराको वरपाशबद्धो मृत्योरवश्यं मुखमभ्युपैति ॥१४८॥

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

अनित्यमेतज्जगदेष मत्वा सभासमेतानगदीदमात्यान् ।
ससागरां रक्षत भो धरित्रीमहं प्रयाम्येष विमुक्तिमार्गम् ॥१४९॥

उपजातिवृत्तम्

इत्युक्तमात्रे बुधबन्धुपूर्णा सभा विषादं प्रगता तमूचे ।
राजंस्त्वमस्याः पतिरद्वितीयो विराजसे सर्ववसुन्धरायाः ॥१५०॥
त्यक्ता वशस्था धरणी[1] त्वयेयं न राजते निर्जितशत्रुपक्षा ।
नवे वयस्युन्नतवीर्यराज्यं कुरुष्व तावत् सुरनाथतुल्यम् ॥१५१॥

वंशस्थवृत्तम्

जगाद राजा भववृक्षसंकटां जरावियोगारतिवह्निदीपिताम् ।
निरीक्ष्य दीर्घां व्यसनाटवीमिमां भयं ममात्यन्तमुरु प्रजायते ॥१५२॥

इन्द्रवज्रावृत्तम्

तन्निश्चितं मन्त्रिजनोऽवगत्य विध्यातमङ्गारचयं महान्तम् ।
आनाय्य मध्येऽस्य मरीचिरम्यं वैडूर्यमस्थापयदत्युदारम् ॥१५३॥

सूर्य भीषण अन्धकारको नष्ट कर चन्द्रमण्डलको कान्तिहीन कर देता है तथा कमलोंके वनको विकसित करता है वह सूर्य राहुको दूर करनेमें समर्थ नहीं है ॥१४७॥ जिस प्रकार यह सूर्य नष्ट हो रहा है उसी प्रकार यह यौवनरूपी सूर्य भी जरारूपी ग्रहणको प्राप्त कर नष्ट हो जावेगा। मजबूत पाशसे बँधा हुआ यह बेचारा प्राणी अवश्य ही मृत्युके मुखमें जाता है ॥१४८॥ इस प्रकार समस्त संसारको अनित्य मानकर राजा कीर्तिधरने सभामें बैठे हुए मन्त्रियोंसे कहा कि अहो मन्त्री जनो ! इस सागरान्त पृथिवीकी आप लोग रक्षा करो। मैं तो मुक्तिके मार्गमें प्रयाण करता हूँ ॥१४९॥ राजाके ऐसा कहने पर विद्वानों तथा बन्धुजनोंसे परिपूर्ण सभा विषादको प्राप्त हो उससे इस प्रकार बोली कि हे राजन्! इस समस्त पृथिवीके तुम्हीं एक अद्वितीय पति हो ॥१५०॥ यह पृथिवी आपके आधीन है तथा आपने समस्त शत्रुओंको जीता है, इसलिए आपके छोड़नेपर सुशोभित नहीं होगी। हे उन्नत पराक्रमके धारक ! अभी आपकी नई अवस्था है इसलिए इन्द्रके समान राज्य करो ॥१५१

इसके उत्तरमें राजाने कहा कि जो जन्मरूपी वृक्षोंसे संकुल है, व्याप्त है, बुढ़ापा, वियोग तथा अरतिरूपी अग्निसे प्रज्वलित है, तथा अत्यन्त दीर्घ है ऐसी इस व्यसनरूपी अटवीको देखकर मुझे भारी भय उत्पन्न हो रहा है ॥१५२॥ जब मन्त्रीजनोंको राजाके दृढ़ निश्चयका बोध हो गया तब उन्होंने बहुतसे बुझे हुए अंगारोंका समूह बुझाकर उसमें किरणोंसे सुशोभित उत्तम वैडूर्यमणि रक्खा सो उसके प्रभावसे वह बुझे हुए अङ्गारोंका समूह प्रकाशमान हो

---

१. धरणी च येयं म० ।

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

पुनस्तदुद्वृत्य जगाद राजन् यथामुना रत्नवरेण हीनः ।
न शोभतेऽङ्गार कलाप एष त्वया विनेदं भुवनं तथैव ॥१५४॥

उपजातिवृत्तम्

नाथ त्वयेमा विकला विनाथा प्रजा विनश्यन्त्यखिला वराक्यः ।
प्रजासु नष्टासु तथैव धर्मो धर्मे विनष्टे वद किं न नष्टम् ॥१५५॥
तस्माद्यथा ते जनकः प्रजाभ्यो दत्त्वा भवन्तं परिपालनाय ।
तपोऽकरोन्निर्वृतिदानदक्षं[1] तथा भवान् रक्षतु गोत्रधर्मम् ॥१५६॥
अथैवमुक्तः कुशलैरमात्यैरवग्रहं[2] कीर्तिधरश्चकार ।
श्रुत्वा प्रजातं तनयं प्रपत्स्ये[3] ध्रुवं मुनीनां पदमत्युदारम्[4] ॥१५७॥
ततः स शक्रोपमभोगवीर्यः स्फीतां व्यवस्थामहतीं धरित्रीम् ।
सुखं शशासाखिलभीतिमुक्तां स भूरिकालं सुसमाहितात्मा ॥१५८॥

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

चिरं ततः कीर्तिधरेण साकं सुखं भजन्ती सहदेवदेवी ।
क्रमेण संपूर्णगुणं प्रसूता सुतं धरित्रीधरणे समर्थम् ॥१५९॥

उपजातिवृत्तम्

समुत्सवस्तत्र कृतो न जाते मागात्कुरित्रीपतिकर्णजाहम् ।
वार्तेति कांश्चिद्दिवसान्निगूढः कालः कथञ्चित्प्रसवस्य जातः ॥१६०॥

गया ॥१५३॥ तदनन्तर वह रत्न उठाकर बोले कि हे राजन् ! जिस प्रकार इस उत्तम रत्नसे रहित अंगारोंका समूह शोभित नहीं होता है उसी प्रकार आपके बिना यह संसार शोभित नहीं होगा ॥१५४॥ हे नाथ ! तुम्हारे बिना यह बेचारी समस्त प्रजा अनाथ तथा विकल होकर नष्ट हो जायगी । प्रजाके नष्ट होने पर धर्म नष्ट हो जायगा और धर्मके नष्ट होने पर क्या नहीं नष्ट होगा सो तुम्हीं कहो ॥१५५॥ इसलिए जिस प्रकार आपके पिताने प्रजाकी रक्षाके लिए आपको देकर मोक्ष प्रदान करनेमें दक्ष तपश्चरण किया था उसी प्रकार आप भी अपने इस कुलधर्मकी रक्षा कीजिए ॥१५६॥

अथानन्तर कुशल मन्त्रियोंके इस प्रकार कहने पर राजा कीर्तिधरने नियम किया कि जिस समय मैं पुत्रको उत्पन्न हुआ सुनूँगा उसी समय मुनियोंका उत्कृष्ट पद अवश्य धारण कर लूँगा ॥१५७॥ तदनन्तर जिसके भोग और पराक्रम इन्द्रके समान थे तथा जिसकी आत्मा सदा सावधान रहती थी ऐसे राजा कीर्तिधरने सब प्रकारके भयोंसे रहित तथा व्यवस्थासे युक्त दीर्घ पृथ्वीका चिरकाल तक पालन किया ॥१५८॥ तदनन्तर राजा कीर्तिधरके साथ चिरकाल तक सुखका उपभोग करती हुई रानी सहदेवीने सर्वगुणोंसे परिपूर्ण एवं पृथ्वीके धारण करनेमें समर्थ पुत्रको उत्पन्न किया ॥१५९॥ पुत्र जन्मका समाचार राजाके कानों तक न पहुँच जावे इस भयसे पुत्र जन्मका उत्सव नहीं किया गया तथा इसी कारण कितने ही दिन तक प्रसवका

१. दानदत्तं म० । १. प्रतिज्ञां म० । ३. प्रपश्ये म०, ज०, ख० । ४. पदमप्युदारं म० । पदमप्युदारः ज० । पदमप्युदाराः ब० ।

वंशस्थवृत्तम्

ततः समुद्यद्दिवसप्रभूपमश्चिरं स शक्यः कथमेव गोपितुम् ।
निवेदितो दुर्विधिनातिदुःखिना नृपाय केनापि नरेण निश्चितः ॥१६१॥

उपजातिवृत्तम्

तस्मै नरेन्द्रो मुकुटादि हृष्टो विभूषणं सर्वमदान्महात्मा ।
घोषाख्यशाखानगरं च रम्यं महाधनग्रामशतेन युक्तम् ॥१६२॥
पुत्रं समानाय्य च पक्षजातं स्थितं महातेजसि मातुरङ्के ।
अतिष्ठिपत्सद्विभूतियुक्तं निजे पदे पूजितसर्वलोकः ॥१६३॥
जाते यतस्तत्र बभूव रम्या पुरी विभूत्या किल कोशलाख्या ।
सुकोशलाख्यां स जगाम तस्माद् बालः समस्ते भुवने सुचेष्टः ॥१६४॥

वंशस्थवृत्तम्

ततो विनिष्क्रम्य निवासचारकादशिश्रियत्कीर्तिधरस्तपोवनम् ।
तपोभवेनैष रराज तेजसा घनागमोन्मुक्ततनुर्यथा रविः ॥१६५॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते सुव्रत-वज्रबाहु-कीर्तिमाहात्म्यवर्णनं नामैकविंशतितमं पर्व ॥२१॥

समय गुप्त रक्खा गया ॥१६०॥ तदनन्तर उगते हुए सूर्यके समान वह बालक चिरकाल तक छिपाकर कैसे रक्खा जा सकता था ? फलस्वरूप किसी दरिद्र मनुष्यने पुरस्कार पानेके लोभसे राजाको उसकी खबर दे दी ॥१६१॥ राजाने हर्षित होकर उसके लिए मुकुट आदि दिये तथा विपुल धनसे युक्त सौ गावोंके साथ घोष नामका मनोहर शाखानगर दिया ॥१६२॥ और माताकी महा तेजपूर्ण गोदमें स्थित उस एक पक्षके बालकको बुलवाकर उसे बड़े वैभवके साथ अपने पदपर बैठाया तथा सब लोगोंका सन्मान किया ॥१६३॥ चूँकि उसके उत्पन्न होने पर वह कोसला नगरी वैभवसे अत्यन्त मनोहर हो गई थी इसलिए उत्तम चेष्टाओंको धारण करनेवाला वह बालक 'सुकोसल' इस नामको प्राप्त हुआ ॥१६४॥

तदनन्तर राजा कीर्तिधर भवनरूपी कारागारसे निकलकर तपोवनमें पहुँचा और तप सम्बन्धी तेजसे वर्षाकालसे रहित सूर्यके समान अत्यन्त सुशोभित होने लगा ॥१६५॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्यके द्वारा कथित पद्मचरितमें भगवान् मुनिसुव्रतनाथ, वज्रबाहु तथा राजा कीर्तिधरके माहात्म्यको वर्णन करनेवाला इक्कीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२१॥

द्वाविंशतितमं पर्व

अथ घोरतपोधारी [1]धरातुल्यक्षमः प्रभुः । मलकञ्चुकसंवीतो[2] वीतमानो महामनाः ॥१॥
तपःशोषितसर्वाङ्गो धीरो लुञ्चविभूषणः । प्रलम्बितमहाबाहुर्युगाध्वन्यस्तलोचनः ॥२॥
स्वभावान्मत्तनागेन्द्र[3]मन्थरायणविभ्रमः । निर्विकारः समाधानी विनीतो लोभवर्जितः ॥३॥
[4]अनुसूत्रसमाचारो दयाविमलमानसः । स्नेहपङ्कविनिर्मुक्तः श्रमणश्रीसमन्वितः ॥४॥
गृहपङ्क्तिक्रमप्राप्तं भ्राम्यन्नात्मन्चरं[5] गृहम् । मुनिर्विवेश भिक्षार्थं चिरकालोपवासवान् ॥५॥
निरीक्ष्य [6]सहदेवी तं गवाक्षनिहितेक्षणा । परमं क्रोधमायाता विस्फुरल्लोहितानना ॥६॥
प्रतीहारगणानूचे कुञ्चितोष्ठी दुराशया । श्रमणो गृहभंजोऽयमाशु निर्वास्यतामिति ॥७॥
मुग्धः सर्वजनप्रीतः स्वभावमृदुमानसः । यावन्निरीक्षते[7] नैनं कुमारः सुकुमारकः ॥८॥
अन्यानपि यदीक्षे तु भवने नग्नमानवान् । निग्रहं वः करिष्यामि प्रतीहारा न संशयः ॥९॥
परित्यज्य दयामुक्तो गतोऽसौ शिशुपुत्रकम् । यतः प्रभृति नामीषु तदारभ्य धृतिर्मम ॥१०॥
[8]राज्यश्रियं द्विपन्त्येते महाशूरनिषेविताम् । नयन्त्यत्यन्तनिर्वेदं महोद्योगपरान्नरान् ॥११॥
क्रूरैरित्युदितैः क्षिप्रं दुर्वाक्य[9]जनिताननैः । दूरं निर्धारितो[10] योगी वेत्र[11]ग्राहितपाणिभिः ॥१२॥

अथानन्तर जो घोर तपस्वी थे, पृथ्वीके समान क्षमाके धारक थे, प्रभु थे, जिनका शरीर मैलरूपी कञ्चुकसे व्याप्त था, जिन्होंने मानको नष्ट कर दिया था, जो उदार हृदय थे, जिनका समस्त शरीर तपसे सूख गया था, जो अत्यन्त धीर थे, केश लोंच करनेको जो आभूषणके समान समझते थे, जिनकी लम्बी भुजाएँ नीचेकी ओर लटक रहीं थीं, जो युगप्रमाण अर्थात् चार हाथ प्रमाण मार्गमें दृष्टि डालते हुए चलते थे, जो स्वभावसे ही मत्त हाथीके समान मन्दगतिसे चलते थे, विकार-शून्य थे, समाधान अर्थात् चित्तकी एकाग्रतासे सहित थे, विनीत थे, लोभरहित थे, आगमानकूल आचारका पालन करते थे, जिनका मन दयासे निर्मल था, जो स्नेहरूपी पङ्कसे रहित थे, मुनिपदरूपी लक्ष्मीसे सहित थे और जिन्होंने चिरकालका उपवास धारण कर रक्खा था, ऐसे कीर्तिधर मुनिराज भ्रमण करते हुए गृहपङ्क्तिके क्रमसे प्राप्त अपने पूर्व घरमें भिक्षाके लिए प्रवेश करने लगे ॥१-५॥ उस समय उनकी गृहस्थावस्थाकी स्त्री सहदेवी झरोखेमें दृष्टि लगाये खड़ी थी सो उन्हें आते देख परमक्रोधको प्राप्त हुई। क्रोधसे उसका मुँह लाल हो गया। ओंठ चाबती हुई उस दुष्टाने द्वारपालोंसे कहा कि यह मुनि घरको फोड़ने वाला है इसलिए यहाँसे शीघ्र ही निकाल दिया जाय ॥६-७॥ मुग्ध, सर्वजन प्रिय और स्वभावसे ही कोमल चित्तका धारक, सुकुमार कुमार जबतक इसे नहीं देखता है तबतक शीघ्र ही दूर कर दो। यही नहीं यदि मैं और भी नग्न मनुष्योंको महलके अन्दर देखूँगी तो हे द्वारपालो ! याद रक्खो मैं अवश्य ही तुम्हें दण्डित करूँगी। यह निर्दय जबसे शिशुपुत्रको छोड़कर गया है तभीसे इन लोगोंमें मेरा सन्तोष नहीं रहा ॥८-१०॥ ये लोग महा शूर वीरोंसे सेवित राज्यलक्ष्मीसे द्वेष करते हैं तथा महान् उद्योग करनेमें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको अत्यन्त निर्वेद प्राप्त करा देते हैं ॥११॥ सहदेवीके इस प्रकार कहनेपर जिनके मुखसे दुर्वचन निकल रहे थे तथा जो हाथमें वेत्र धारण कर रहे थे

१. धरातुल्यः म० । २. संवीतवीतमानो म०, ज० । ३. नागेन्द्रं म०, ब० । ५. अनुस्नात ब० । ४. त्वात्मवरं म० । ६. कीर्तिधरपत्नी । ७. निरीक्ष्यते म० । ८. राजश्रियं ब०, क० । ९. दुर्वाक्याद्वालिताननैः क० । दुर्वाक्यं जनिताननैः ब० । १०. निर्वासितो म० । ११. वेशग्राहित- म० ।

अन्येऽपि लिङ्गिनः सर्वे पुराग्निर्वासितास्तदा । कुमारो धर्मशब्दं मा श्रौषीदिति नृपास्पदे ॥१३॥
इति संतक्ष्यमाणं तं वाग्वास्या[1]मुनिपुङ्गवम् । श्रुत्वा दृष्ट्वा च संजातप्रत्यग्रौदारशोकिका ॥१४॥
स्वामिनं प्रत्यभिज्ञाय भक्ता कीर्तिधरं चिरात् । धात्री सौकोशली दीर्घमरोदीन्मुक्तकण्ठिका ॥१५॥
श्रुत्वा तां रुदतीमाशु समागत्य सुकोशलः । जगाद सान्त्वयन्मातः केन तेऽपकृतं वद ॥१६॥
गर्भधारणमात्रेण जनन्या समनुष्ठितम् । त्वत्पयोमयमेतत्तु शरीरं जातमीदृशम् ॥१७॥
सा मे त्वं जननीतोऽपि परं गौरवमाश्रिता । यदापमानिता केन मृत्युवक्त्रं विविक्षुणा ॥१८॥
अद्य मे त्वं जनन्यापि परिभूता भवेद्यदि । करोम्यविनयं तस्या जन्तोरन्यस्य किं पुनः ॥१९॥
ततस्तस्मै समाख्यातं वसन्तलतया तया । कृच्छ्रेण विरलीकृत्य नेत्राम्बुप्लवसन्ततिम् ॥२०॥
अभिषिच्य शिशुं राज्ये भवन्तं यस्तपोवनम् । प्रविष्टस्ते पिता भीतो भवव्यसनपञ्जरात् ॥२१॥
भिक्षार्थमागतः सोऽद्य प्रविष्टो भवतो गृहम् । जनन्यास्ते नियोगेन प्रतिहारैर्निराकृतः ॥२२॥
दृष्ट्वा निर्धार्यमाणं तं जातशोकोरुवेलया । रुदितं मयका वत्स शोकं धर्तुमशक्तया ॥२३॥
भवद्गौरवदृष्टायाः कुरुते कः पराभवम् । मम कारणमेतत्तु कथितं रुदितस्य ते ॥२४॥
प्रसादस्तेन नाथेन तदस्माकमकारि यः । स्मर्यमाणः शरीरं स दहत्येष निरङ्कुशः ॥२५॥
धृतमेतदपुण्यैर्मे शरीरं दुःखभाजनम् । वियोगे तस्य नाथस्य भ्रियते यदयोमयम्[2] ॥२६॥

ऐसे दुष्ट द्वारपालोंने उन मुनिराजको दूरसे ही शीघ्र निकाल दिया ॥१२॥ इन्हें ही नहीं, 'राजभवनमें विद्यमान राजकुमार धर्मका शब्द न सुन ले' इस भयसे नगरमें जो और भी मुनि विद्यमान थे उन सबको नगरसे बाहर निकाल दिया ॥१३॥

इस प्रकार वचनरूपी बसूलोके द्वारा छीले हुए मुनिराजको सुनकर तथा देखकर जिसका भारी शोक फिरसे नवीन हो गया था, तथा जो भक्तिसे युक्त थी ऐसी सुकोसलकी धाय चिरकाल बाद अपने स्वामी कीर्तिधरको पहचानकर गला फाड़-फाड़ कर रोने लगी ॥१४-१५॥ उसे रोती सुनकर सुकोशल शीघ्र ही उसके पास आया और सान्त्वना देता हुआ बोला कि हे माता ! कह तेरा अपकार किसने किया है ? ॥१६॥ माताने तो इस शरीरको गर्भमात्रमें ही धारण किया है पर आज यह शरीर तेरे दुग्ध-पानसे ही इस अवस्थाको प्राप्त हुआ है ॥१७॥ तू मेरे लिए मातासे भी अधिक गौरवको धारण करती है। बता, यमराजके मुखमें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाले किस मनुष्यने तेरा अपमान किया है ? ॥१८॥ यदि आज माताने भी तेरा पराभव किया होगा तो मैं उसकी अविनय करनेको तैयार हूँ फिर दूसरे प्राणीकी तो बात ही क्या है ? ॥१९॥ तदनन्तर वसन्तलता नामक धायने बड़े दुःखसे आँसुओंकी धाराको कम कर सुकोशलसे कहा कि तुम्हारा जो पिता शिशु अवस्थामें ही तुम्हारा राज्याभिषेक कर संसाररूपी दुःखदायी पञ्जरसे भयभीत हो तपोवनमें चला गया था आज वह भिक्षाके लिए आपके घरमें प्रविष्ट हुआ सो तुम्हारी माताने अपने अधिकारसे उसे द्वारपालोंके द्वारा अपमानित कर बाहर निकलवा दिया ॥२०-२२॥ उसे अपमानित होते देख मुझे बहुत शोक हुआ और उस शोकको मैं रोक नहीं सकी। इसलिए हे वत्स ! मैं रो रही हूँ ॥२३॥ जिसे आप सदा गौरवसे देखते हैं उसका पराभव कौन कर सकता है ? मेरे रोनेका कारण यही है जो मैंने आपसे कहा है ॥२४॥ उस समय स्वामी कीर्तिधरने हमारा जो उपकार किया था वह स्मरणमें आते ही शरीरको स्वतन्त्रतासे जलाने लगता है ॥२५॥ पापके उदयसे दुःखका पात्र बननेके लिए ही मेरा यह शरीर रुका हुआ है। जान पड़ता है कि यह लोहेसे बना है इसलिए तो स्वामीका वियोग होनेपर भी स्थिर है ॥२६॥

---

१. वचनकुठारिकया । २. लोहमयम् ।

निर्ग्रन्थं भवतो दृष्ट्वा माभूर्निर्वेदधीरिति । तपस्विनां प्रवेशोऽस्मिन्नगरेऽपि निवारितः ॥२७॥
गोत्रे परम्परायातो धर्मोऽयं भवतां किल । राज्ये यत्तनयं न्यस्य तपोवननिषेवणम् ॥२८॥
किं नास्मादपि जानासि मन्त्रिणां सम्प्रधारणम् । न कदाचिदतो गेहाल्लभसे बहिर्निर्गमम् ॥२९॥
एतस्मात् कारणात् सर्वं बाह्यालीभ्रमणादिकम् । अमात्यैः कृतमत्रैव भवने नयशालिभिः ॥३०॥
ततो निशम्य वृत्तान्तं सकलं तन्निवेदितम् । अवतीर्य त्वरायुक्तः प्रासादाग्रात् सुकोशलः ॥३१॥
परिशिष्टातपत्रादिपृथिवीपतिलाञ्छनः । पद्मकोमलकान्तिभ्यां चरणाभ्यां श्रियान्वितः ॥३२॥
द्वतो वरमुनिर्दृष्टो भवद्भिरिति नादवान् । परमोत्कण्ठया युक्तः संप्राप[1] पितुरन्तिकम् ॥३३॥
अस्यानुपदवीभूता महासंभ्रमसंगताः । छत्रधारादयः सर्वे व्याकुलीभूतचेतसः ॥३४॥
निविष्टं प्रासुकोदारे प्रवरेऽमुं शिलातले । बाष्पाकुलविशालाक्षिः परीत्य सुभावनः ॥३५॥
करयुग्मान्तिकं कृत्वा मूर्धानं स्नेहनिर्भरः । ननाम पादयोर्जानुमस्तकस्पृष्टभूतलः ॥३६॥
कृताञ्जलिरथोवाच विनयेन पुरस्थितः । व्रीडामिव परिप्राप्तो मुनेर्गेहादपाकृतेः ॥३७॥
अग्निज्वालाकुलागारे सुप्तः कश्चिन्नरो यथा । बोध्यते पटुनादेन समूहेन पयोमुचाम् ॥३८॥
तद्वत्संसारगेहेऽहं मृत्युजन्माग्निदीपिते । मोहनिद्रापरिष्वक्तो बोधितो भवता प्रभो ॥३९॥
प्रसादं कुरु मे दीक्षां प्रयच्छ स्वयमाश्रिताम् । मामप्युत्तारयामुष्माद्[2] भवव्यसन संकटात् ॥४०॥
ब्रवीति यावदेतावन्नतवक्त्रः सुकोशलः । तावत्सामन्तलोकोऽस्य समस्तः समुपागतः ॥४१॥

निर्ग्रन्थ मुनिको देखकर तुम्हारी बुद्धि वैराग्यमय न हो जावे इस भयसे नगरमें मुनियोंका प्रवेश रोक दिया गया है ॥२७॥ परन्तु तुम्हारे कुलमें परम्परासे यह धर्म चला आया है कि पुत्रको राज्य देकर तपोवनकी सेवा करना ॥२८॥ तुम कभी घरसे बाहर नहीं निकल सकते हो इतनेसे ही क्या मन्त्रियोंके इस निश्चयको नहीं जान पाये हो ॥२९॥ इसी कारण नीतिके जाननेवाले मन्त्रियोंने तुम्हारे भ्रमण आदिकी व्यवस्था इसी भवनमें कर रक्खी है ॥३०॥

तदनन्तर वसन्तलता धायके द्वारा निरूपित समस्त वृत्तान्त सुनकर सुकोशल शीघ्रतासे महलके अग्रभागसे नीचे उतरा ॥३१॥ और छत्र चमर आदि राज-चिह्नोंको छोड़कर कमलके समान कोमल कान्तिको धारण करनेवाले पैरोंसे पैदल ही चल पड़ा। वह लक्ष्मीसे सुशोभित था तथा मार्गमें लोगोंसे पूछता जाता था कि यहाँ कहीं आप लोगोंने उत्तम मुनिराजको देखा है ? इस तरह परम उत्कण्ठासे युक्त सुकोशल राजकुमार पिताके समीप पहुँचा ॥३२–३३॥ इसके जो छत्र धारण करनेवाले आदि सेवक थे वे सब व्याकुल चित्त होते हुए हड़बड़ाकर उसके पीछे दौड़ते आये ॥३४॥ जाते ही उसने प्रासुक विशाल तथा उत्तम शिलातल पर विराजमान अपने पिता कीर्तिधर मुनिराजकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। उस समय उसके नेत्र आँसुओंसे व्याप्त थे, और उसकी भावनाएँ अत्यन्त उत्तम थीं ॥३५॥ उसने दोनों हाथ जोड़कर मस्तकसे लगाये तथा घुटनों और मस्तकसे पृथिवीका स्पर्श कर बड़े स्नेहके साथ उनके चरणोंमें नमस्कार किया ॥३६॥ वह हाथ जोड़कर विनयसे मुनिराजके आगे बैठ गया। अपने घरसे मुनिराजका तिरस्कार होनेके कारण मानो वह लज्जाको प्राप्त हो रहा था ॥३७॥ उसने मुनिराजसे कहा कि जिस प्रकार अग्निकी ज्वालाओंसे व्याप्त घरमें सोते हुए मनुष्योंको तीव्र गर्जनासे युक्त मेघोंका समूह जगा देता है उसी प्रकार जन्म मरणरूपी अग्निसे प्रज्वलित इस संसाररूपी घरमें मैं मोहरूपी निद्रासे आलिङ्गित होकर सो रहा था सो हे प्रभो! आपने मुझे जगाया है ॥३८–३९॥ आप प्रसन्न हूजिये तथा आपने स्वयं जिस दीक्षाको धारण किया है वह मेरे लिए भी दीजिये। हे भगवन्! मुझे भी इस संसारके व्यसनरूपी संकटसे बाहर निकालिए ॥४०॥ नीचेकी ओर मुख किये सुकोशल जब तक मुनिराजसे यह कह रहा था तब तक उसके समस्त

१. संप्रापयितुरन्तिकम् म० । २. मामप्युत्तरयामुष्माद्- म० ।

कृच्छ्रेण दधती गर्भमन्तःपुरसमन्विता । प्राप्ता विचित्रमालाख्या[1] देवी चास्य विषादिनी ॥४२॥
तं दीक्षाभिमुखं ज्ञात्वा भृङ्गझाङ्कारकोमलः । अन्तःपुरात् समुत्तस्थौ समं रुदितनिःस्वनः ॥४३॥
स्याद्विचित्रमालाया गर्भोऽयं तनयस्ततः । राज्यमस्मै मया दत्तमिति संभाष्य निःस्पृहः ॥४४॥
आशापाशं समुच्छिद्य निर्दह्य स्नेहपञ्जरम् । कलत्रनिगडं भित्त्वा त्यक्त्वा राज्यं तृणं यथा ॥४५॥
अलंकारान् समुत्सृज्य ग्रन्थमन्तर्बहिःस्थितम् । पर्यङ्कासनमास्थाय लुञ्चित्वा केशसंचयम् ॥४६॥
महाव्रतान्युपादाय गुरोर्गुरुविनिश्चयः । पित्रा साकं प्रशान्तात्मा विजहार सुकोशलः ॥४७॥
कुर्वन्निव बलिं पद्मैः पादारुणमरीचिभिः । संभ्राम्यन् धरणीं योग्यां विस्मितैर्वीक्षितो जनैः ॥४८॥
आर्तध्यायेन सम्पूर्णा सहदेवी मृता सती । तिर्यग्योनौ समुत्पन्ना दुर्दृष्टिः पापतत्परा ॥४९॥
तयोर्विहरतोर्युक्तं यत्रास्तमितशायिनोः । कृष्णीकुर्वन् दिशां चक्रमुपतस्थौ घनागमः ॥५०॥
नभः पयोमुचां व्रातैरनुलिप्तमिवासितैः । बलाकाभिः क्वचिच्चक्रे कुमुदौघैरिवार्चनम् ॥५१॥
कदम्बस्थूलमुकुलः क्वणद्भृङ्गकदम्बकः । पयोदकालराजस्य यशोगानमिवाकरोत् ॥५२॥
नीलाञ्जनचयैर्व्याप्तं जगत्तुङ्गनगैरिव । चन्द्रसूर्यौ गतौ क्वापि तर्जिताविव गर्जितैः ॥५३॥
अच्छिन्नजलधाराभिर्द्रवतीव[2] नभस्तलम् । तोषादिवोत्तमान् मह्यां[3] शष्पकञ्चुकमावृतम् ॥५४॥

सामन्त वहाँ आ पहुँचे ॥४१॥ सुकोशलकी स्त्री विचित्रमाला भी गर्भके भारको धारण करती, विषादभरी, अन्तःपुरके साथ वहाँ आ पहुँची ॥४२॥ सुकोशलको दीक्षाके सन्मुख जानकर अन्तःपुरसे एक साथ भ्रमरकी झांकारके समान कोमल रोनेकी आवाज उठ पड़ी ॥४३॥

तदनन्तर सुकोशलने कहा कि 'यदि विचित्रमालाके गर्भमें पुत्र है तो उसके लिए मैंने राज्य दिया' इस प्रकार कहकर उसने निःस्पृह हो, आशारूपी पाशको छेदकर, स्नेहरूपी पंजरको जलाकर, स्त्रीरूपी बेड़ीको तोड़कर, राज्यको तृणके समान छोड़कर, अलंकारोंका त्यागकर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग दोनों प्रकारके परिग्रहका उत्सर्ग कर, पर्यङ्कासनसे बैठकर, केशोंका लोंचकर पितासे महाव्रत धारण कर लिये । और दृढ़ निश्चय हो शान्त चित्तसे पिताके साथ विहार करने लगा ॥४४–४७॥ जब वह विहारके योग्य पृथिवी पर भ्रमण करता था तब पैरोंकी लाल-लाल किरणोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो कमलोंका उपहार ही पृथिवी पर चढ़ा रहा हो । लोग उसे आश्चर्यभरे नेत्रोंसे देखते थे ॥४८॥

मिथ्यादृष्टि तथा पाप करनेमें तत्पर रहने वाली सहदेवी आर्तध्यानसे मरकर तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न हुई ॥४९॥ इस प्रकार पिता-पुत्र आगमानुकूल विहार करते थे । विहार करते-करते जहाँ सूर्य अस्त हो जाता था वे वहीं सो जाते थे । तदनन्तर दिशाओंको मलिन करता हुआ वर्षा काल आ पहुँचा ॥५०॥ काले-काले मेघोंके समूहसे आकाश ऐसा जान पड़ने लगा मानो गोबरसे लीपा गया हो और कहीं-कहीं उड़ती हुई बलाकाओंसे ऐसा जान पड़ता था मानो उसपर कुमुदोंके समूहसे अर्चा ही की गई हो ॥५१॥ जिनपर भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे ऐसी कदम्बकी बड़ी-बड़ी बोंडियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो वर्षाकालरूपी राजाका यशोगान ही कर रहे हों ॥५२॥ जगत् ऐसा जान पड़ता था मानो ऊँचे-ऊँचे पर्वतोंके समान नीलाञ्जनके समूहसे ही व्याप्त हो गया हो और चन्द्रमा तथा सूर्य कहीं चले गये थे मानो मेघोंकी गर्जनासे तर्जित होकर ही चले गये थे ॥५३॥ आकाशतलसे अखण्ड जलधारा बरस रही थी सो उससे ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशतल पिघल-पिघल कर बह रहा हो और पृथिवीमें हरी-हरी घास उग रही थी उससे ऐसा जान पड़ता था मानो उसने संतोषसे घासरूपी कञ्चुक (चोली) ही पहिन रक्खी हो ॥५४॥

---

१. वसन्तमालाख्या म० । २. द्रुवतीव म० । ३. मह्यां शव्यकञ्चुक- म० ।

जनितं जलपूरेण समं सर्वं नतोन्नतम् । अतिवेगप्रवृत्तेन [1]प्रखलस्येव चेतसा ॥५५॥
भूमौ गर्जन्ति तोयौघा विहायसि घनाघनाः । अन्विष्यन्त इवारातिं निदाघसमयं द्रुतम् ॥५६॥
कन्दलैर्निविडैश्छन्ना[2] धरा निर्झरशोभिनः । अत्यन्तजलभारेण पतिता जलदा इव ॥५७॥
स्थलीदेशेषु दृश्यन्ते स्फुरन्तः शक्रगोपकाः[3] । घनचूर्णितसूर्यस्य खण्डा इव महीं गताः ॥५८॥
चचार वैद्युतं तेजो दिक्षु सर्वासु सत्वरम् । पूरितापूरितं देशं पश्यच्चक्षुरिवाम्बरम् ॥५९॥
मण्डितं शक्रचापेन गगनं चित्रतेजसा । अत्यन्तोन्नतियुक्तेन तोरणेनेव चारुणा ॥६०॥
कूलद्वयनिपातिन्यो भीमावर्ता महाजवाः । वहन्ति कलुषा नद्यः स्वच्छन्दप्रमदा इव ॥६१॥
घनाघनरवत्रस्ता हरिणीचकितेक्षणा । आलिलिङ्गुर्द्रुतं स्तम्भानार्याः प्रोषितभर्तृकाः ॥६२॥
गर्जितेनातिरौद्रेण जर्जरीकृतचेतनाः । प्रोषिता विह्वलीभूताः [4]प्रमदाशाहितेक्षणाः ॥६३॥
अनुकम्पापराः शान्ता निर्ग्रन्थमुनिपुङ्गवाः । प्रासुकस्थानमासाद्य [5]चातुर्मासीव्रतं श्रिताः ॥६४॥
गृहीतां श्रावकैः शक्त्या नानानियमकारिभिः । दिग्विरामव्रतं[6] साधुसेवातत्परमानसैः ॥६५॥
एवं महति संप्राप्ते समये जलदाकुले । निर्ग्रन्थौ तौ पितापुत्रौ यथोक्ताचारकारिणौ ॥६६॥
वृक्षान्धकारगम्भीरं बहुव्यालसमाकुलम् । गिरिपादमहादुर्गं रौद्राणामपि भीतिदम् ॥६७॥

जिस प्रकार अतिशय दुष्ट मनुष्यका चित्त ऊँचनीच सबको समान कर देता है उसी प्रकार वेगसे बहने वाले जलके पूर ने ऊँचीनीची समस्त भूमिको समान कर दिया था ॥५५॥ पृथिवी पर जलके समूह गरज रहे थे और आकाशमें मेघोंके समूह गर्जना कर रहे थे उससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे भागे हुए ग्रीष्मकालरूपी शत्रुको खोज ही रहे थे ॥५६॥ झरनोंसे सुशोभित पर्वत अत्यन्त सघन कन्दलोंसे आच्छादित हो गये थे उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो जलके बहुत भारी भारसे मेघ ही नीचे गिर पड़े हों ॥५७॥ वनकी स्वाभाविक भूमिमें जहाँ-तहाँ चलते-फिरते इन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक कीड़े दिखाई देते थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो मेघोंके द्वारा चूर्णीभूत सूर्यके टुकड़े ही पृथिवी पर आ पड़े हों ॥५८॥ बिजलीका तेज जल्दी-जल्दी समस्त दिशाओंमें घूम रहा था उससे ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशका नेत्र 'कौन देश जलसे भरा गया और कौन देश नहीं भरा गया' इस बातको देख रहा था ॥५९॥ अनेक प्रकारके तेजको धारण करनेवाले इन्द्रधनुषसे आकाश ऐसा सुशोभित हो गया मानो अत्यन्त ऊँचे सुन्दर तोरणसे ही सुशोभित हो गया हो ॥६०॥ जो दोनों तटोंको गिरा रही थीं, जिनमें भयंकर आवर्त उठ रहे थे, और जो बड़े वेगसे बह रही थीं ऐसी कलुषित नदियाँ व्यभिचारिणी स्त्रियोंके समान जान पड़ती थीं ॥६१॥ जो मेघोंके गर्जनासे भयभीत हो रहीं थीं, तथा जिनके नेत्र हरिणीके समान चञ्चल थे ऐसी प्रोषितभर्तृका स्त्रियाँ शीघ्र ही खम्भोंका आलिङ्गन कर रही थीं ॥६२॥ अत्यन्त भयङ्कर गर्जनासे जिनकी चेतना जर्जर हो रही थी ऐसे प्रवासी-परदेशी मनुष्य जिस दिशामें स्त्री थी उसी दिशामें नेत्र लगाये हुए विह्वल हो रहे थे ॥६३॥ सदा अनुकम्पा (दया) के पालन करनेमें तत्पर रहनेवाले दिगम्बर मुनिराज प्रासुक स्थान पाकर चातुर्मास व्रतका नियम लिये हुए थे ॥६४॥ जो शक्तिके अनुसार नाना प्रकारके व्रत-नियम-आखड़ी आदि धारण करते थे तथा सदा साधुओंकी सेवामें तत्पर रहते थे ऐसे श्रावकोंने दिग्व्रत धारण कर रखा था ॥६५॥ इस प्रकार मेघोंसे युक्त वर्षाकालके उपस्थित होनेपर आगमानुकूल आचारको धारण करनेवाले दोनों पिता-पुत्र निर्ग्रन्थ साधु कीर्तिधर मुनिराज और सुकोशलस्वामी इच्छानुसार विहार करते हुए उस श्मशानभूमिमें आये जो वृक्षोंके अन्धकारसे

१. प्रस्खलस्येव म०, ख० । २. छिन्ना म० । ३. गोपगाः म०, ज० । ४. यस्यामाशायां–दिशि प्रमदा तस्यामाशायामाहितेक्षणाः प्रदत्तलोचनाः । ५. चतुर्णां मासानां समाहारश्चातुर्मासी तस्या व्रतम् । ६. दिग्विरामश्रितं म० ।

कङ्कगृध्रर्क्षगोमायुरवपूरितगह्वरम् । अर्धदग्धशवस्थानं भीषणं विषमावनि[1] ॥६८॥
शिरःकपालसंघातैः क्वचित्पाण्डुरितक्षिति[2] । वसातिविस्रगन्धोग्रवेगवाहिसमीरणम् ॥६९॥
साट्टहासभ्रमद्भीमरक्षोवेतालसंकुलम् । तृणगुच्छलताजालपरिणद्धोरुपादपम् ॥७०॥
पृथु प्रेतवनं [3]धीरावाषाढ्यां शुचिमानसौ । यदृच्छया परिप्राप्तौ विहरन्तौ तपोधनौ ॥७१॥
[4]चातुर्मासोपवासं तौ गृहीत्वा तत्र निःस्पृहौ । वृक्षमूले स्थितौ [5]पत्रसङ्गप्रासुकिताम्भसि ॥७२॥
पर्यङ्कासनयोगेन कायोत्सर्गेण जातुचित् । वीरासनादियोगेन निन्ये ताभ्यां घनागमः ॥७३॥
ततः शरदृतुः प्राप सोद्योगाखिलमानवः । प्रत्यूष इव निःशेषजगदालोकपण्डितः ॥७४॥
सितच्छाया घनाः क्वापि दृश्यन्ते गगनाङ्गणे । [6]विकासिकाशसंघातसंकाशा मन्दकम्पिताः ॥७५॥
घनागमविनिर्मुक्ते भाति खे पद्मबान्धवः । गते सुदुःषमाकाले भव्यबन्धुर्जिनो यथा ॥७६॥
तारानिकरमध्यस्थो राजते रजनीपतिः । कुमुदाकरमध्यस्थो राजहंसयुवा यथा ॥७७॥
ज्योत्स्नया प्लावितो लोकः क्षीराकूपारकल्पया । रजनीषु निशानाथ प्रणालमुखमुक्तया ॥७८॥
नद्यः प्रसन्नतां प्राप्तास्तरङ्गाङ्कितसैकताः । क्रौञ्चसारसचक्राह्वनादसंभाषणोद्यताः ॥७९॥

गम्भीर था, अनेक प्रकारके सर्प आदि हिंसक जन्तुओंसे व्याप्त था, पहाड़की छोटी-छोटी शाखाओंसे दुर्गम था, भयङ्कर जीवोंको भी भय उत्पन्न करनेवाला था, काक, गीध, रीछ तथा शृगाल आदिके शब्दोंसे जिसके गर्त भर रहे थे, जहाँ अधजले मुरदे पड़े हुए थे, जो भयङ्कर था, जहाँ की भूमि ऊँची-नीची थी, जो शिरकी हड्डियोंके समूहसे कहीं-कहीं सफेद हो रहा था, जहाँ चर्बीकी अत्यन्त सड़ी बाससे तीक्ष्ण वायु बड़े वेगसे बह रही थी, जो अट्टहाससे युक्त घूमते हुए भयङ्कर राक्षस और वेतालोंसे युक्त था तथा जहाँ तृणोंके समूह और लताओंके जालसे बड़े-बड़े वृक्ष परिणद्ध—व्याप्त थे। ऐसे विशाल श्मशानमें एक साथ विहार करते हुए, तपरूपी धनके धारक तथा उज्ज्वल मनसे युक्त धीरवीर पिता-पुत्र—दोनों मुनिराज आषाढ सुदी पूर्णिमाको अनायास ही आ पहुँचे ॥६६–७१॥ सब प्रकारकी स्पृहासे रहित दोनों मुनिराज, जहाँ पत्तोंके पड़नेसे पानी प्रासुक हो गया था ऐसे उस श्मशानमें एक वृक्षके नीचे चार मासका उपवास लेकर विराजमान हो गये ॥७२॥ वे दोनों मुनिराज कभी पर्यङ्कासनसे विराजमान रहते थे, कभी कायोत्सर्ग धारण करते थे, और कभी वीरासन आदि विविध आसनोंसे अवस्थित रहते थे। इस तरह उन्होंने वर्षाकाल व्यतीत किया ॥७३॥

तदनन्तर जिसमें समस्त मानव उद्योग-धन्धोंसे लग गये थे तथा जो प्रातःकालके समान समस्त संसारको प्रकाशित करनेमें निपुण थी ऐसी शरद् ऋतु आई ॥७४॥ उस समय आकाशाङ्गणमें कहीं-कहीं ऐसे सफेद मेघ दिखाई देते थे जो फूले हुए काशके फूलोंके समान थे तथा मन्द-मन्द हिल रहे थे ॥७५॥ जिस प्रकार उत्सर्पिणी कालके दुःषमा-काल बीतनेपर भव्य जीवोंके बन्धु श्रीजिनेन्द्रदेव सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार मेघोंके आगमनसे रहित आकाशमें सूर्य सुशोभित होने लगा ॥७६॥ जिस प्रकार कुमुदों के बीचमें तरुण राजहंस सुशोभित होता है उसी प्रकार ताराओंके समूहके बीचमें चन्द्रमा सुशोभित होने लगा ॥७७॥ रात्रिके समय चन्द्रमारूपी प्रणालीके मुखसे निकली हुई क्षीरसागरके समान सफेद चाँदनीसे समस्त संसार व्याप्त हो गया ॥७८॥ जिनके रेतीले किनारे तरङ्गोंसे चिह्नित थे, तथा जो क्रौञ्च सारस चकवा आदि पक्षियोंके शब्दके बहाने मानो परस्परमें वार्तालाप कर रही थीं ऐसी नदियाँ प्रसन्नताको प्राप्त हो गई थीं ॥७९॥ जिनपर भ्रमर चल रहे थे ऐसे कमलोंके समूह तालाबोंमें इस प्रकार सुशोभित

---

१. विषमावनिम् म० । २. -क्षतिः म० । ३. धीरौ + आषाढ्यां आषाढमासपूर्णिमायाम्, धीरावर्षाढ्यं (?) म० । ४. चतुर्मासो- ज० । ५. यत्र सङ्ग- म० । ६. विकासकाश-म० ।

उन्मज्जन्ति चलद्भृङ्गाः सरःसु कमलाकराः । भव्यसङ्घा इवोन्मुक्तमिथ्यात्वमलसंचयाः ॥८०॥
तलेषु तुङ्गहर्म्याणां पुष्पप्रकरचारुषु । रमन्ते भोगसम्पन्ना नरा नक्तं प्रियान्विताः ॥८१॥
सन्मानितसुहृद्बन्धुजनसंघा महोत्सवाः । दम्पतीनां वियुक्तानां संजायन्ते समागमाः ॥८२॥
कार्तिक्यामुपजातायां विहरन्ति तपोधनाः । जिनातिशयदेशेषु महिमोद्यतजन्तुषु ॥८३॥
अथ तौ पारणाहेतोः समाप्तनियमौ मुनी । निवेशं गन्तुमारब्धौ गत्या समयदृष्टया ॥८४॥
[1]सहदेवीचरी व्याघ्री दृष्ट्वा तौ क्रोधपूरिता । शोणितारुणसंकीर्णधुतकेसरसंचया ॥८५॥
दंष्ट्राकरालवदना स्फुरत्पिङ्गनिरीक्षणा । मस्तकोर्ध्ववलत्पुच्छा नखक्षतवसुन्धरा ॥८६॥
कृतगम्भीरहुंकारा मारीवोपात्तविग्रहा । लसल्लोहितजिह्वाग्रा विस्फुरद्देहधारिणी ॥८७॥
मध्याह्नरविसंकाशा कृत्वा क्रीडां विलम्बिताम् । उत्पपात महावेगाल्लक्ष्यीकृत्य सुकोशलम् ॥८८॥
उत्पतन्तीं तु तां दृष्ट्वा तौ मुनी चारुविभ्रमौ । सालम्बं [2]भयनिर्मुक्तौ कायोत्सर्गेण तस्थतुः ॥८९॥
सुकोशलमुनेरूर्ध्वं मूर्ध्नः प्रभृति[3] निर्दया । दारयन्ती नखैर्देहं [4]पतिता सा महीतले ॥९०॥
[5]तयासौ दारितो देहे विमुञ्चन्रक्तसंहतीः । बभूव विगलद्धातुवारिनिर्झरशैलवत् ॥९१॥
[6]ततस्तस्य पुरः स्थित्वा कृत्वा नानाविचेष्टितम् । पापा खादितुमारब्धा मुनिमारभ्य पादतः ॥९२॥

हो रहे थे मानो मिथ्यात्वरूपी मैलके समूहको छोड़ते हुए भव्य जीवोंके समूह ही हों ॥८०॥ भोगी मनुष्य, फूलोंके समूहसे सुन्दर ऊँचे-ऊँचे महलोंके तल्लोंमें रात्रिके समय अपनी वल्लभाओं के साथ रमण करने लगे ॥८१॥ जिनमें मित्र तथा बन्धुजनोंके समूह सम्मानित किये गये थे तथा जिनमें महान् उत्सवकी वृद्धि हो रही थी ऐसे वियुक्त स्त्री-पुरुषोंके समागम होने लगे ॥८२॥ कार्तिक मासकी पूर्णिमा व्यतीत होनेपर तपस्वीजन उन स्थानोंमें विहार करने लगे जिनमें भगवान्‌के गर्भ जन्म आदि कल्याणक हुए थे तथा जहाँ लोग अनेक प्रकारकी प्रभावना करने में उद्यत थे ॥८३॥

अथानन्तर जिनका चातुर्मासोपवासका नियम पूर्ण हो गया था ऐसे वे दोनों मुनिराज आगमानुकूल गतिसे गमन करते हुए पारणाके निमित्त नगरमें जानेके लिए उद्यत हुए ॥८४॥ उसी समय एक व्याघ्री जो पूर्वभवमें सुकोशलमुनिकी माता सहदेवी थी उन्हें देखकर क्रोधसे भर गई, उसकी खूनसे लाल-लाल दिखनेवाली बिखरी जटाएँ काँप रही थीं, उसका मुख दाढ़ोंसे भयंकर था, पीले-पीले नेत्र चमक रहे थे, उसकी गोल पूँछ मस्तकके ऊपर आकर लग रही थी, नखोंके द्वारा वह पृथिवीको खोद रही थी, गम्भीर हुंकार कर रही थी, ऐसी जान पड़ती थी मानो शरीरको धारण करने वाली मारी ही हो, उसकी लाल-लाल जिह्वाका अग्रभाग लपलपा रहा था, वह देदीप्यमान शरीरको धारण कर रही थी और मध्याह्नके सूर्यके समान जान पड़ती थी। बहुत देर तक क्रीड़ा करनेके बाद उसने सुकोशलस्वामीको लक्ष्यकर ऊँची छलाङ्ग भरी ॥८५–८८॥ सुन्दर शोभाको धारण करनेवाले दोनों मुनिराज, उसे छलाङ्ग भरती देख 'यदि इस उपसर्गसे बचे तो आहार पानी ग्रहण करेंगे अन्यथा नहीं इस प्रकारकी सालम्ब प्रतिज्ञा लेकर निर्भय हो कायोत्सर्गसे खड़े हो गये ॥८९॥ वह दया हीन व्याघ्री सुकोशल मुनिके ऊपर पड़ी और नखोंके द्वारा उनके मस्तक आदि अङ्गोंको विदारती हुई पृथिवीपर आई ॥९०॥ उसने उनके समस्त शरीरको चीर डाला जिससे खूनकी धाराओंको छोड़ते हुए वे उस पहाड़के समान जान पड़ते थे जिससे गेरू आदि धातुओंसे मिश्रित पानीके निर्झर झर रहे हों ॥९१॥ तदनन्तर वह पापिनी उनके सामने खड़ी होकर तथा नाना प्रकारकी चेष्टाएँ कर उन्हें पैरकी ओरसे खाने

१. भूतपूर्वा सहदेवी, सहदेवीचरी । २. सालम्बभयनिर्मुक्तौ म० । ३. मूर्धप्रभृति म० । ४. घ्नन्ती तं पदघाततः । ५. एष श्लोकः ख० पुस्तके नास्ति । ६. यतेस्तस्य ख० ।

पश्य श्रेणिक संसारे संमोहस्य विचेष्टितम् । यत्राभीष्टस्य पुत्रस्य माता गात्राणि खादति ॥९३॥
किमतोऽन्यत्परं कष्टं यज्जन्मान्तरमोहिताः । बान्धवा एव गच्छन्ति वैरितां पापकारिणः ॥९४॥
ततो मेरुस्थिरस्यास्य शुक्लध्यानावगाहिनः । उत्पन्नं केवलज्ञानं देहमुक्तेरनन्तरम् ॥९५॥
आगत्य [1]च सहेन्द्रेण प्रमोदेन सुरासुराः । चक्रुर्देहार्चनं तस्य दिव्यपुष्पादिसंपदा ॥९६॥
व्याघ्री कीर्तिधरेणापि सुवाक्यैर्बोधिता सती । संन्यासेन शुभं कालं कृत्वा स्वर्गमुपागता ॥९७॥
ततः कीर्तिधरस्यापि केवलज्ञानमुद्गतम् । यात्रा सैकैव देवानां जाता महिमकारिणाम् ॥९८॥
महिमानं परं कृत्वा केवलस्य सुरासुराः । पादौ केवलिनोर्नत्वा ययुः स्थानं यथायथम् ॥९९॥
सुकोशलस्य माहात्म्यमधीते यः पुमानिति । उपसर्गविनिर्मुक्तः सुखं जीवत्यसौ चिरम् ॥१००॥
देवी विचित्रमालाथ संपूर्णे समये सुखम् । प्रसूता तनयं चारुलक्षणाङ्कितविग्रहम् ॥१०१॥
हिरण्यरुचिरा माता तस्मिन् गर्भस्थितेऽभवत्[2] । यतो हिरण्यगर्भाख्यामतोऽसौ सुन्दरोऽगमत् ॥१०२॥
नाभेयसमयस्तेन गुणैः पुनरिवाहृतः । हरेः स तनयां लेभे नाम्नामृतवतीं शुभाम् ॥१०३॥
सुहृद्बान्धवसम्पन्नः सर्वशास्त्रार्थपारगः । अक्षीणद्रविणः श्रीमान् हेमपर्वतसन्निभः ॥१०४॥
परानुभवन् भोगानन्यदासौ महामनाः । मध्ये भृङ्गाभकेशानां पलिताङ्कुरमैक्षत ॥१०५॥
दर्पणस्य स्थितं मध्ये दृष्ट्वा तं पलिताङ्कुरम् । मृत्योर्दूतसमाहूतमात्मानं शोकमाप्तवान् ॥१०६॥

लगी ॥९२॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! मोहकी चेष्टा तो देखो जहाँ माता ही प्रिय पुत्रके शरीरको खाती है ॥९३॥ इससे बढ़कर और क्या कष्टकी बात होगी कि दूसरे जन्मसे मोहित हो बान्धवजन ही अनर्थकारी शत्रुताको प्राप्त हो जाते हैं ॥९४॥

तदनन्तर मेरुके समान स्थिर और शुक्ल ध्यानको धारण करनेवाले सुकोशल मुनिको शरीर छूटनेके पहले ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥९५॥ सुर और असुरोंने इन्द्रके साथ आकर बड़े हर्षसे दिव्य पुष्पादि सम्पदाके द्वारा उनके शरीरकी पूजा की ॥९६॥ सुकोशलके पिता कीर्ति-धर मुनिराजने भी उस व्याघ्रीको मधुर शब्दोंसे सम्बोधा जिससे संन्यास ग्रहणकर वह स्वर्ग गई ॥९७॥ तदनन्तर उसी समय कीर्तिधर मुनिराजको भी केवलज्ञान उत्पन्न हुआ सो महिमाको करनेवाले देवोंकी वही एक यात्रा पिता और पुत्र दोनोंका केवलज्ञान महोत्सव करनेवाली हुई ॥९८॥ सुर और असुर केवलज्ञानकी परम महिमा फैलाकर तथा दोनों केवलियोंके चरणोंको नमस्कार कर यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर गये ॥९९॥ गौतमस्वामी कहते हैं कि जो पुरुष सुकोशलस्वामीके माहात्म्यको पढ़ता है वह उपसर्गसे रहित हो चिरकाल तक सुखसे जीवित रहता है ॥१००॥

अथानन्तर सुकोशलकी स्त्री विचित्रमालाने गर्भका समय पूर्ण होनेपर सुन्दर लक्षणोंसे चिह्नित शरीरको धारण करनेवाला पुत्र उत्पन्न किया ॥१०१॥ चूँकि उस बालकके गर्भमें स्थित रहनेपर माता सुवर्णके समान सुन्दर हो गई थी इसलिए वह बालक हिरण्यगर्भ नामको प्राप्त हुआ ॥१०२॥ आगे चलकर हिरण्यगर्भ ऐसा राजा हुआ कि उसने अपने गुणोंके द्वारा भगवान् ऋषभदेवका समय ही मानो पुनः वापिस लाया था । उसने राजा हरिकी अमृतवती नामकी शुभ पुत्रीके साथ विवाह किया ॥१०३॥ राजा हिरण्यगर्भ समस्त मित्र तथा बान्धव-जनोंसे सहित था, सर्व शास्त्रोंका पारगामी था, अखण्ड धनका स्वामी था, श्रीमान् था, सुमेरु-पर्वतके समान सुन्दर था, और उदार हृदय था । वह उत्कृष्ट भोगोंको भोगता हुआ समय बिताता था कि एक दिन उसने अपने भ्रमरके समान काले केशोंके बीच एक सफेद बाल देखा ॥१०४-१०५॥ दर्पणके मध्यमें स्थित उस सफेद बालको देखकर वह ऐसा शोकको प्राप्त हुआ

१. चमरेन्द्रेण ख०, च महेन्द्रेण ज०। २. भवेत् म०।

अचिन्तयच्च हा कष्टं बलादङ्गानि मेऽनया[1] । शक्तिकान्तिविनाशिन्या व्याप्यन्ते जरसाधुना ॥१०७॥
चन्दनद्रुमसंकाशः[2] कायोऽयमधुना मम । जराज्वलननिर्दग्धोऽङ्गारकल्पो भविष्यति ॥१०८॥
तर्कयन्ती रुजाछिद्रं या स्थिता समयं चिरम् । पिशाचीवाधुना सा मे शरीरं बाधयिष्यति ॥१०९॥
चिरं बद्धक्रमो योऽस्थाद् व्याघ्रवद्ग्रहणोत्सुकः । मृत्युः स मेऽधुना देहं प्रसभं भक्षयिष्यति ॥११०॥
कर्मभूमिमिमां प्राप्य धन्यास्ते युवपुङ्गवाः । व्रतपोतं समारुह्य तेरुर्ये भवसागरम् ॥१११॥
इति संचिन्त्य विन्यस्य राज्येऽमृतवतीसुतम् । नघुषाख्यं प्रवव्राज पार्श्वे विमलयोगिनः ॥११२॥
न घोषितं यतस्तस्मिन् गर्भस्थेऽप्यशुभं भुवि । नघुषोऽसौ ततः ख्यातो [5]गुणनामितविष्टपः ॥११३॥
स जायां सिंहिकाभिख्यां स्थापयित्वा पुरे ययौ । उत्तरां ककुभं जेतुं सामन्तान् प्रत्यवस्थितान् ॥११४॥
दूरीभूतं नृपं[6] ज्ञात्वा दाक्षिणात्या नराधिपाः । [7]पुरीं गृहीतुमाजग्मुर्विनीतां[8] भूरिसाधनाः ॥११५॥
रणे विजित्य तान् सर्वान् सिंहिकातिप्रतापिनी । स्थापयित्वा दृढं स्थाने रक्षमाप्ततरं नृपम् ॥११६॥
सामन्तैर्निर्जितैः सार्द्धं जेतुं शेषान्नराधिपान् । जगाम दक्षिणामाशां शस्त्रशास्त्रकृतश्रमा[9] ॥११७॥
प्रतापेनैव निर्जित्य सामन्तान् प्रत्यवस्थितान् । आजगाम पुरीं राज्ञी जयनिस्वनपूरिता ॥११८॥
नघुषोऽप्युत्तरामाशां वशीकृत्य समागतः । कोपं परममापन्नः श्रुतदारपराक्रमः ॥११९॥

मानो अपने आपको बुलानेके लिए यमका दूत ही आ पहुँचा हो ॥१०६॥ वह विचार करने लगा कि हाय बड़े कष्टकी बात है कि इस समय शक्ति और कान्तिको नष्ट करनेवाली इस वृद्धावस्थाके द्वारा मेरे अङ्ग बलपूर्वक हरे जा रहे हैं ॥१०७॥ मेरा यह शरीर चन्दनके वृक्षके समान सुन्दर है सो अब वृद्धावस्थारूपी अग्निसे जलकर अङ्गारके समान हो जावेगा ॥१०८॥ जो वृद्धावस्था रोगरूपी छिद्रकी प्रतीक्षा करती हुई चिरकालसे स्थित थी अब वह पिशाचीकी नाईं प्रवेश कर मेरे शरीरको बाधा पहुँचावेगी ॥१०९॥ ग्रहण करनेमें उत्सुक जो मृत्यु व्याघ्रकी तरह चिरकालसे बद्धक्रम होकर स्थित था अब वह हठात् मेरे शरीरका भक्षण करेगा ॥११०॥ वे श्रेष्ठ तरुण धन्य हैं जो इस कर्मभूमिको पाकर तथा व्रतरूपी नावपर सवार हो संसाररूपी सागरसे पार हो चुके हैं ॥१११॥ ऐसा विचारकर उसने अमृतवतीके पुत्र नघुषको राज्य-सिंहासनपर बैठाकर विमल योगीके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥११२॥ चूँकि उस पुत्रके गर्भमें स्थित रहते समय पृथिवीपर अशुभकी घोषणा नहीं हुई थी अर्थात् जबसे वह गर्भमें आया था तभीसे अशुभ शब्द नहीं सुनाई पड़ा था इसलिए वह 'नघुष' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ था। उसने अपने गुणोंसे समस्त संसारको नम्रीभूत कर दिया था ॥११३॥

अथानन्तर किसी समय राज नघुष अपनी सिंहिका नामक रानीको नगरमें रखकर प्रतिकूल शत्रुओंको वश करनेके लिए उत्तर दिशाकी ओर गया ॥११४॥ इधर दक्षिण दिशाके राजा नघुषको दूरवर्त्ती जानकर उसकी अयोध्या नगरीको हथियानेके लिए आ पहुँचे। वे राजा बहुत भारी सेनासे सहित थे ॥११५॥ परन्तु अत्यन्त प्रतापिनी सिंहिका रानीने उन सबको युद्धमें जीत लिया। इतना ही नहीं वह एक विश्वासपात्र राजाको नगरकी रक्षाके लिए नियुक्त कर युद्धमें जीते हुए सामन्तोंके साथ शेष राजाओंको जीतनेके लिए दक्षिण दिशाको ओर चल पड़ी। शस्त्र और शास्त्र दोनोंमें ही उसने अच्छा परिश्रम किया था ॥११६-११७॥ वह प्रतिकूल सामन्तोंको अपने प्रतापसे ही जीतकर विजयनादसे दिशाओंको पूर्ण करती हुई नगरीमें वापिस आ गई ॥११८॥ उधर जब राजा नघुष उत्तर दिशाको वश कर वापिस आया तब स्त्रीके पराक्रम

१. मे तया म० । २. संकाशकायोऽयमधुना म०, क०, ख० । ३. युगपुङ्गवाः म० । ४. तरुर्ये म० । ५. गुणनामितविष्टपे म० । गुणानामिति विष्टपे ब० । ६. नरं म० । भृशं ख० । ७. पुरी म० । ८. विनीता म० । अयोध्याम् । ९. श्रमाः म० ।

अविखण्डितशीलाया [1]नेदग्धाष्टर्यं कुलस्त्रियाः । भवतीति विनिश्चित्य सिंहिकायां व्यरज्यत ॥१२०॥
महादेवीपदात् साथ च्याविता साधुचेष्टिता । महादरिद्रतां प्राप्ता कालं कञ्चिदवस्थिता ॥१२१॥
अन्यदाथ महादाहज्वरोऽभूत् पृथिवीपतेः । सर्ववैद्यप्रयुक्तानामौषधानामगोचरः ॥१२२॥
सिंहिका तं तथाभूतं ज्ञात्वा शोकसमाकुला । स्वं च शोधयितुं साध्वी क्रियामेतां समाश्रिता ॥१२३॥
समाहूयाखिलान् बन्धून् सामन्तान् प्रकृतीस्तथा । [3]करकोशे समादाय वारि दत्तं पुरोधसा ॥१२४॥
जगाद यदि मे भर्ता नान्यश्चेतस्यपि स्थितः । ततः सिक्तोऽम्बुनानेन राजास्तु विगतज्वरः ॥१२५॥
ततोऽसौ सिक्तमात्रेऽस्मिन् तत्करोदकशीकरे । दन्तवीणाकृतस्वानो[4] हिममग्न इवाभवत् ॥१२६॥
साधु साध्विति शब्देन गगनं परिपूरितम् । अदृष्टजननिर्मुक्तैर्वृष्टं[5] सुमनसां चयैः ॥१२७॥
इति तां शीलसम्पन्नां विज्ञाय नरपुङ्गवः । महादेवीपदे [6]भूयः कृतपूजामतिष्ठिपत् ॥१२८॥
अनुभूय चिरं भोगान् तया सार्धमकण्टकः । [7]निःशेषपूर्वजाचारं कृत्वा मनसि निःस्पृहः ॥१२९॥
संभूतं सिंहिकादेव्यां सुतं राज्ये निनाय सः । जगाम पदवीं धीरो जनकेन निषेविताम् ॥१३०॥
नघुषस्य सुतो यस्मात् सुदासीकृतविद्विषः । सौदास इति तेनासौ भुवने परिकीर्तितः ॥१३१॥
तस्य गोत्रे दिनान्यष्टौ[8] [9]चतुर्मासीसमाश्रिषु । भुक्तं न केनचिन्मांसमपि [10]मांसैधितात्मना ॥१३२॥

की बात सुनकर वह परम क्रोधको प्राप्त हुआ ॥११९॥ अखण्डशीलको धारण करनेवाली कुलाङ्गनाकी ऐसी धृष्टता नहीं हो सकती ऐसा निश्चय कर वह सिंहिकासे विरक्त हो गया ॥१२०॥ वह उत्तम चेष्टाओंसे सहित थी फिर भी राजाने उसे महादेवीके पदसे च्युत कर दिया। इस तरह महादरिद्रताको प्राप्त हो वह कुछ समय तक बड़े कष्टसे रही ॥१२१॥

अथानन्तर किसी समय राजाको ऐसा महान् दाहज्वर हुआ कि जो समस्त वैद्योंके द्वारा प्रयुक्त ओषधियोंसे भी अच्छा नहीं हो सका ॥१२२॥ जब सिंहिकाको इस बातका पता चला तब वह शोकसे बहुत ही आकुल हुई। उसी समय उसने अपने आपको निर्दोष सिद्ध करनेके लिए यह काम किया ॥१२३॥ कि उसने समस्त बन्धुजनों, सामन्तों और प्रजाको बुलाकर अपने करपुटमें पुरोहितके द्वारा दिया हुआ जल धारण किया और कहा कि यदि मैंने अपने चित्तमें किसी दूसरे भर्ताको स्थान नहीं दिया हो तो इस जलसे सींचा हुआ भर्ता दाहज्वरसे रहित हो जावे ॥१२४–१२५॥ तदनन्तर सिंहिका रानीके हाथमें स्थित जलका एक छींटा ही राजा पर सींचा गया था कि वह इतना शीतल हो गया मानो बर्फमें ही डुबा दिया गया हो। शीतके कारण उसकी दन्तावली वीणाके समान शब्द करने लगी ॥१२६॥ उसी समय 'साधु'-'साधु' शब्दसे आकाश भर गया और अदृष्टजनोंके द्वारा छोड़े हुए फूलोंके समूह बरसने लगे ॥१२७॥ इस प्रकार राजा नघुषने सिंहिका रानीको शीलसम्पन्न जानकर फिरसे उसे महादेवी पदपर अधिष्ठित किया तथा उसकी बहुत भारी पूजा की ॥१२८॥ शत्रुरहित होकर उसने चिरकाल तक उसके साथ भोगोंका अनुभव किया और अपने पूर्वपुरुषोंके द्वारा आचारित समस्त कार्य किये। उसकी यह विशेषता थी कि भोगरत रहने पर भी वह मनमें सदा भोगोंसे निःस्पृह रहता था ॥१२९॥ अन्तमें वह धीरवीर सिंहिकादेवीसे उत्पन्न पुत्रको राज्य देकर अपने पिताके द्वारा सेवित मार्गका अनुसरण करने लगा अर्थात् पिताके समान उसने जिनदीक्षा धारण कर ली ॥१३०॥

राजा नघुष समस्त शत्रुओंको वश कर लेनेके कारण सुदास कहलाता था। इसलिए उसका पुत्र संसारमें सौदास (सुदासस्यापत्यं पुमान् सौदासः) नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥१३१॥ प्रत्येक चार

१. नेदग्धीर्यं कुलस्त्रियाः म० । २. मोषधीनामगोचरः म० । ३. करे कोशं ख०, ब० । ४. कृतस्थानो म० । ५. दृष्टं क०, ख०, ज० । ६. भूपः म० । ७. निःशोष म० । ८. न्यष्ट म० । ९. चतुर्वासी म० १०. मांसैर्धृतात्मना ब० ।

कर्मणस्त्वशुभस्यास्य कस्यापि समुदीरणात् । बभूव खादितुं मांसं तेष्वेव दिवसेषु धीः ॥१३३॥
ततोऽनेन समाहूय सूदः स्वैरमभाष्यत । मांसमत्तुं समुत्पन्ना मम भद्राद्य धीरिति ॥१३४॥
तेनोक्तं[1] देव जानासि दिनेष्वेतेष्वमारणम् । जिनपूजासमृद्धेषु समस्तायामपि क्षितौ ॥१३५॥
नृपेणोचे पुनः सूदो म्रियेऽद्य यदि नाद्मि तत् । इति निश्चित्य यद्युक्तं तदाचर किमुक्तिभिः ॥१३६॥
तदवस्थं नृपं ज्ञात्वा पुरात् सूदो बहिर्गतः । ददर्श मृतकं बालं तद्दिने परिखोज्झितम् ॥१३७॥
तं वस्त्रावृतमानीय[2] संस्कृत्य स्वादुवस्तुभिः । नरेन्द्राय ददावत्तुं मन्यसेऽमुष्य[3] गोचरम् (?) ॥१३८॥
महामांसरसास्वादनितान्तप्रीतमानसः । भुक्त्वोत्थितो मिथः सूदं स जगाद सविस्मयः ॥१३९॥
वद भद्र कुतः प्राप्तं मांसमेतत्त्वयेदृशम् । अनास्वादितपूर्वोऽयं रसो यस्यातिपेशलः ॥१४०॥
सोऽभयं मार्गयित्वास्मै यथावद् विन्यवेदयत् । ततो राजा जगादेदं सर्वदा[4] क्रियतामिति ॥१४१॥
सूदोऽथ दातुमारब्धः शिशुवर्गाय मोदकान् । शिशवस्तत्प्रसङ्गेन प्रत्यहं तं समाययुः ॥१४२॥
गृहीत्वा मोदकान् [5]यातां शिशूनां पश्चिमं ततः । मारयित्वा ददौ [6]सूदो राज्ञे संस्कृत्य संततम् ॥१४३॥
प्रत्यहं क्षीयमाणेषु पौरबालेषु निश्चितः । सूदेन सहितो राजा देशात् पौरैर्निराकृतः ॥१४४॥
कनकाभासमुत्पन्नस्तस्य सिंहरथः सुतः । राज्येऽवस्थापितः पौरैः प्रणतः सर्वपार्थिवैः ॥१४५॥
महामांसरसासक्तः सौदासो जग्धसूदकः । बभ्राम धरणीं दुःखी भक्षयन्नुज्झितान् शवान् ॥१४६॥

मास समाप्त होनेपर जब अष्टाह्निकाके आठ दिन आते थे तब उसके गोत्रमें कोई भी मांस नहीं खाता था भले ही उसका शरीर मांससे ही क्यों न वृद्धिगत हुआ हो ॥१३२॥ किन्तु इस राजा सौदासको किसी अशुभ कर्मके उदयसे इन्हीं दिनोंमें मांस खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई ॥१३३॥ तब उसने रसोइयाको बुलाकर एकान्तमें कहा कि हे भद्र ! आज मेरे मांस खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई है ॥१३४॥ रसोइयाने उत्तर दिया कि देव ! आप यह जानते हैं कि इन दिनोंमें समस्त पृथ्वीमें बड़ी समृद्धिके साथ जिनपूजा होती है तथा जीवोंके मारनेकी मनाही है ॥१३५॥ यह सुन राजाने रसोइयासे कहा कि यदि आज मैं मांस नहीं खाता हूँ तो मर जाऊँगा। ऐसा निश्चय कर जो उचित हो सो करो। बात करनेसे क्या लाभ है ? ॥१३६॥ राजाकी ऐसी दशा जानकर रसोइया नगरके बाहर गया। वहाँ उसने उसी दिन परिखामें छोड़ा हुआ एक मृतक बालक देखा ॥१३७॥ उसे वस्त्रसे लपेटकर वह ले आया और स्वादिष्ट वस्तुओंसे पकाकर खानेके लिए राजाको दिया ॥१३८॥ महामांस (नरमांस) के रसास्वादसे जिसका मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहा था ऐसा राजा उसे खाकर जब उठा तब उसने आश्चर्यचकित हो रसोइयासे कहा कि भद्र ! जिसके इस अत्यन्त मधुर रसका मैंने पहले कभी स्वाद नहीं लिया ऐसा यह मांस तुमने कहाँसे प्राप्त किया है ? ॥१३९-१४०॥ इसके उत्तरमें रसोइयाने अभयदानकी याचना कर सब बात ज्योंकी-त्यों बतला दी। तब राजाने कहा कि सदा ऐसा ही किया जाय ॥१४१॥

अथानन्तर रसोइयाने छोटे-छोटे बालकोंके लिए लड्डू देना शुरू किया उसके लोभसे बालक प्रतिदिन उसके पास आने लगे ॥१४२॥ लड्डू लेकर जब बालक जाने लगते तब उनमें जो पीछे रह जाता था उसे मारकर तथा पकाकर वह निरन्तर राजाको देने लगा ॥१४३॥ जब प्रतिदिन नगरके बालक कम होने लगे तब लोगोंने इसका निश्चय किया और रसोइयाके साथ साथ राजाको नगरसे निकाल दिया ॥१४४॥ सौदासकी कनकाभा स्त्रीसे एक सिंहरथ नामका पुत्र हुआ था। नगरवासियोंने उसे ही राज्यपदपर आरूढ़ किया तथा सब राजाओंने उसे प्रणाम किया ॥१४५॥ राजा सौदास नरमांसमें इतना आसक्त हो गया कि उसने अपने रसोइयाको ही खा लिया। अन्तमें वह छोड़े हुए मुर्दोंको खाता हुआ दुःखी हो पृथ्वीपर भ्रमण करने लगा ॥१४६॥

---

१. तेनोक्तो म०, ख०, ज०, क० । २. वस्त्रावृत्त-म० । ३. मन्यसे मुखयगोचरम् म०, ख०, ज० । ४. सर्वथा म० । ५. गच्छताम् । यातान् म० । ६. 'राज्ञे सततं सोऽथ सूदकः' म० ।

सिंहस्येव यतो मांसमाहारोऽस्याभवत्ततः । सिंहसौदासशब्देन भुवने ख्यातिमागतः ॥१४७॥
दक्षिणापथमासाद्य प्राप्यानम्बरसंश्रयम् । श्रुत्वा धर्मं बभूवासावणुव्रतधरो महान् ॥१४८॥
ततो महापुरे राज्ञि मृते पुत्रविवर्जिते । स्कन्धमारोपितः प्राप राज्यं राजद्विपेन सः ॥१४९॥
व्यसर्जयच्च पुत्रस्य नतये दूतमूर्जितः । सोऽलिखत्तव गर्ह्यस्य न नमामीति निर्भयः ॥१५०॥
तस्योपरि ततो याति सौदासे विषयोऽखिलः । प्रपलायितुमारेभे भक्षणत्रासकम्पितः ॥१५१॥
[1]स जित्वा तनयं युद्धे राज्ये न्यस्य पुनः कृती । महासंवेगसंपन्नः प्रविवेश तपोवनम् ॥१५२॥
ततो ब्रह्मरथो जातश्चतुर्वक्त्रस्ततोऽभवत् । तस्माद्धेमरथो जज्ञे जातः शतरथस्ततः ॥१५३॥
उदपादि पृथुस्तस्मादजस्तस्मात् पयोरथः । बभूवेन्द्ररथोऽमुष्माद्दिननाथरथस्ततः ॥१५४॥
मान्धाता वीरसेनश्च प्रतिमन्युस्ततः क्रमात् । नाम्ना कमलबन्धुश्च दीप्त्या कमलबान्धवः ॥१५५॥
प्रतापेन रवेस्तुल्यः समस्तस्थितिकोविदः । रविमन्युश्च विज्ञेयो वसन्ततिलकस्तथा ॥१५६॥
कुबेरदत्तनामा च कुन्थुभक्तिश्च कीर्तिमान् । शरभद्विरदौ प्रोक्तौ रथशब्दोत्तरश्रुती ॥१५७॥
मृगेशदमनाभिख्यो हिरण्यकशिपुस्तथा । [2]पुञ्जस्थलः ककुत्थश्च रघुः परमविक्रमः ॥१५८॥
इतीक्ष्वाकुकुलोद्भूताः कीर्तिता भुवनाधिपाः । भूरिशोऽत्र गता मोक्षं कृत्वा दैगम्बरं व्रतम् ॥१५९॥
आसीत्ततो विनीतायामनरण्यो महानृपः । [3]अनरण्यः कृतो येन देशो वासयता जनम् ॥१६०॥

जिस प्रकार सिंहका आहार मांस है उसी प्रकार इसका भी आहार मांस हो गया था। इसलिए यह संसारमें सिंहसौदासके नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ ॥१४७॥

अथानन्तर वह दक्षिण देशमें जाकर एक दिगम्बर मुनिके पास पहुँचा और उनसे धर्म श्रवणकर बड़ा भारी अणुव्रतोंका धारी हो गया ॥१४८॥ तदनन्तर उसी समय महापुर नगरका राजा मर गया था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। सो लोगोंने निश्चय किया कि पट्टबंध हाथी छोड़ा जावे। वह जिसे कन्धेपर बैठाकर लावे उसे ही राजा बना दिया जाय। निश्चयानुसार पट्टबन्ध हाथी छोड़ा गया और वह सिंहसौदासको कन्धेपर बैठाकर नगरमें ले गया। फलस्वरूप उसे राज्य प्राप्त हो गया ॥१४९॥ कुछ समय बाद जब सौदास बलिष्ठ हो गया तब उसने नमस्कार करनेके लिए पुत्रके पास दूत भेजा। इसके उत्तरमें पुत्रने निर्भय होकर लिख दिया कि चूँकि तुम निन्दित आचरण करनेवाले हो अतः तुम्हें नमस्कार नहीं करूँगा ॥१५०॥ तदनन्तर सौदास पुत्रके ऊपर चढ़ाई करनेके लिए चला सो 'कहीं यह खा न ले' इस भयसे समस्त देशवासी लोगोंने भागना शुरू कर दिया ॥१५१॥ अन्तमें सौदासने युद्धमें पुत्रको जीतकर उसे ही राजा बना दिया और स्वयं कृतकृत्य हो वह महावैराग्यसे युक्त होता हुआ तपोवनमें चला गया ॥१५२॥

तदनन्तर सिंहरथके ब्रह्मरथ, ब्रह्मरथके चतुर्मुख, चतुर्मुखके हेमरथ, हेमरथके शतरथ, शतरथके मान्धाता, मान्धाताके वीरसेन, वीरसेनके प्रतिमन्यु, प्रतिमन्युके दीप्तिसे सूर्यकी तुलना करनेवाला कमलबन्धु, कमलबन्धुके प्रतापसे सूर्यके समान तथा समस्त मर्यादाको जाननेवाला रविमन्यु, रविमन्युके वसन्ततिलक, वसन्ततिलकके कुबेरदत्त, कुबेरदत्तके कीर्तिमान् कुन्थुभक्ति, कुन्थुभक्तिके शरभरथ, शरभरथके द्विरदरथ, द्विरदरथके सिंहदमन, सिंहदमनके हिरण्यकशिपु, हिरण्यकशिपुके पुञ्जस्थल, पुञ्जस्थलके ककुत्थ और ककुत्थके अतिशय पराक्रमी रघु पुत्र हुआ ॥१५३-१५८॥ इस प्रकार इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न हुए राजाओंका वर्णन किया। इनमेंसे अनेक राजा दिगम्बर व्रत धारण कर मोक्षको प्राप्त हुए ॥१५९॥ तदनन्तर राजा रघुके अयोध्यामें अनरण्य नामका ऐसा पुत्र हुआ कि जिसने लोगोंको बसा बसाकर देशको अनरण्य अर्थात् वनोंसे

---

१. सजित्वा म० । २. पुञ्जस्थलककुत्थश्च म० । ३. वनरहितः ।

पृथिवीमत्यभिख्यास्य महादेवी महागुणा । कान्तिमण्डलमध्यस्था सर्वेन्द्रियसुखावहा ॥१६१॥
द्वौ सुतावुदपत्स्यातां तस्यामुत्तमलक्षणौ । ज्येष्ठोऽनन्तरथो ज्ञेयः ख्यातो दशरथोऽनुजः ॥१६२॥
सहस्ररश्मिसंज्ञस्य राज्ञो माहिष्मतीपतेः । [1]अजर्यमनरण्येन साकमासीदनुत्तमम् ॥१६३॥
अन्योऽन्यगतिसंवृद्धप्रेमाणौ तौ नरोत्तमौ । सौधर्मैशानदेवेन्द्राविवास्थातां स्वधामनि ॥१६४॥
रावणेन जितो युद्धे सहस्रांशुर्विबुद्धवान् । दीक्षां जैनेश्वरीमाप विभ्रत्संवेगमुन्नतम् ॥१६५॥
दूतात्तत्प्रेषिताज् ज्ञात्वा तद्वृत्तान्तमशेषतः । [2]मासजाते श्रियं न्यस्य [3]नार्पीं दशरथे भृशम् ॥१६६॥
सकाशेऽभयसेनस्य निर्ग्रन्थस्य महात्मनः । राजानन्तरथेनामा प्रवव्राजातिनिःस्पृहः ॥१६७॥
अनरण्योऽगमन्मोक्षमनन्तस्यन्दनो महीम् । सर्वसङ्गविनिर्मुक्तो विजहार यथोचितम् ॥१६८॥
अत्यन्तदुस्सहैर्योगी द्वाविंशतिपरीषहैः । न क्षोभितस्ततोऽनन्तवीर्याख्यां स क्षितौ गतः ॥१६९॥
वपुर्दशरथो लेभे नवयौवनभूषितम् । शैलकूटमिवोत्तुङ्गं नानाकुसुमभूषितम् ॥१७०॥
अथामृतप्रभावायामुत्पन्नां[4] वरयोषिति। दर्भस्थलपुरेशस्य चारुविभ्रमधारिणः ॥१७१॥
राज्ञः सुकोशलाख्यस्य तनयामपराजिताम् । उपयेमे स रत्यापि स्त्रीगुणैरपराजिताम् ॥१७२॥
पुरमस्ति महारम्यं नाम्ना कमलसंकुलम् । सुबन्धुतिलकस्तस्य राजा मित्रास्य भामिनी ॥१७३॥
दुहिता कैकयी नाम तयोः कन्या गुणान्विता । मुण्डमाला कृता यस्या नेत्रेन्दीवरमालया ॥१७४॥

रहित कर दिया ॥१६०॥ राजा अनरण्यकी पृथिवीमती नामकी महादेवी थी जो महागुणोंसे युक्त थी, कान्तिके समूहके मध्यमें स्थित थी और समस्त इन्द्रियोंके सुख धारण करनेवाली थी ॥१६१॥ उसके उत्तम लक्षणोंके धारक दो पुत्र हुए। उनमें ज्येष्ठ पुत्रका नाम अनन्तरथ और छोटे पुत्रका नाम दशरथ था ॥१६२॥ माहिष्मतीके राजा सहस्ररश्मिकी अनरण्यके साथ उत्तम मित्रता थी ॥१६३॥ परस्परके आने-जानेसे जिनका प्रेम वृद्धिको प्राप्त हुआ था ऐसे दोनों राजा अपने-अपने घर सौधर्म और ऐशानेन्द्रके समान रहते थे ॥१६४॥

अथानन्तर रावणसे पराजित होकर राजा सहस्ररश्मि प्रतिबोधको प्राप्त हो गया जिससे उत्तम संवेगको धारण करते हुए उसने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली ॥१६५॥ दीक्षा धारण करनेके पहले उसने राजा अनरण्यके पास दूत भेजा था सो उससे सब समाचार जानकर राजा अनरण्य, जिसे उत्पन्न हुए एक माह ही हुआ था ऐसे दशरथके लिए राज्यलक्ष्मी सौंपकर अभयसेन नामक निर्ग्रन्थ महात्माके समीप ज्येष्ठ पुत्र अनन्तरथके साथ अत्यन्त निःस्पृह हो दीक्षित हो गया ॥१६६–१६७॥ अनरण्यमुनि तो मोक्ष चले गये और अनन्तरथ मुनि सर्व प्रकारके परिग्रहसे रहित हो यथायोग्य पृथिवीपर विहार करने लगे ॥१६८॥ अनन्तरथमुनि अत्यन्त दुःसह बाईस परीषहोंसे क्षोभको प्राप्त नहीं हुए थे इसलिए पृथिवीपर 'अनन्तवीर्य' इस नामको प्राप्त हुए ॥१६९॥

अथानन्तर राजा दशरथने नवयौवनसे सुशोभित तथा नाना प्रकारके फूलोंसे सुभूषित पहाड़के शिखरके समान ऊँचा शरीर प्राप्त किया ॥१७०॥ तदनन्तर उसने दर्भस्थल नगरके स्वामी तथा सुन्दर विभ्रमोंको धारण करनेवाले राजा सुकोशलकी अमृतप्रभावा नामकी उत्तम स्त्रीसे उत्पन्न अपराजिता नामकी पुत्रीके साथ विवाह किया। अपराजिता इतनी उत्तम स्त्री थी कि स्त्रियोंके योग्य गुणोंके द्वारा रति भी उसे पराजित नहीं कर सकी थी ॥१७१–१७२॥ तदनन्तर कमलसंकुल नामका एक महा सुन्दर नगर था उसमें सुबन्धुतिलक नामका राजा राज्य करता था। उसकी मित्रा नामकी स्त्री थी। उन दोनोंके कैकयी नामकी गुणवती पुत्री थी। वह इतनी सुन्दरी थी कि उसके नेत्ररूपी नील कमलोंकी मालासे मस्तक मालारूप हो गया

१. संगतं, मैत्रीत्यर्थः। २. मासो जातस्य यस्य स तस्मिन्। ३. नृपसम्बन्धिनीम्। ४. -मुत्पन्ना म०।

मित्राया जनिता यस्मात् सुचेष्टा रूपशालिनी । सुमित्रेति ततः ख्यातिं भुवने समुपागता ॥१७५॥
महाराजसुतामन्यां प्रापासौ सुप्रभाश्रुतिम् । लावण्यसम्पदा[1] बालां जनयन्तीं श्रियस्त्रपाम् ॥१७६॥
स सम्यग्दर्शनं लेभे राज्यं च परमोदयम् । आद्ये रत्नमतिस्तस्य चरमे तृणशेमुषी ॥१७७॥
अधोगतिर्यतो राज्यादत्यक्तादुपजायते । सम्यग्दर्शनयोगात्तु गतिरूर्ध्वमसंशया[2] ॥१७८॥

ये भरताद्यैर्नृपतिभिरुद्धाः कारितपूर्वा जिनवरवासाः ।
भङ्गमुपेतान् क्वचिदपि रम्यान् सोऽनयदेतानभिनवभावान् ॥१७९॥
इन्द्रनुतानां स्वयमपि रम्यान् तीर्थकराणां परमनिवासान् ।
रत्नसमूहैः स्फुरदुरुभासः सन्ततपूजामघटयदेषः ॥१८०॥
अन्यभवेषु प्रथितसुधर्माः प्राप्य सुराणां श्रियमतिरम्याम् ।
ईदृशजीवा पुनरिह लोके यान्ति [3]समृद्धिं रविरुचिभासः ॥१८१॥

*इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते सुकोशलमाहात्म्ययुक्त-
दशरथोत्पत्त्यभिधानं नाम द्वाविंशति तमं पर्व ॥२२॥*

था ॥१७३-१७४॥ चूँकि यह मित्रा नामक मातासे उत्पन्न हुई थी, उत्तम चेष्टाओंसे युक्त थी, तथा रूपवती थी इसलिए लोकमें सुमित्रा इस नामसे भी प्रसिद्धिको प्राप्त हुई थी। राजा दशरथने उसके साथ भी विवाह किया था ॥१७५॥ इनके सिवाय लावण्यरूपी सम्पदाके द्वारा लक्ष्मीको भी लज्जा उत्पन्न करनेवाली सुप्रभा नामकी एक अन्य राजपुत्रीके साथ भी उन्होंने विवाह किया था ॥१७६॥ राजा दशरथने सम्यग्दर्शन तथा परम वैभवसे युक्त राज्य इन दोनों वस्तुओंको प्राप्त किया था। सो प्रथम जो सम्यग्दर्शन है उसे वह रत्न समझता था और अन्तिम जो राज्य था उसे तृण मानता था ॥१७७॥ इस प्रकार माननेका कारण यह है कि यदि राज्यका त्याग नहीं किया जाय तो उससे अधोगति होती है और सम्यग्दर्शनके सुयोगसे निःसन्देह ऊर्ध्वगति होती है ॥१७८॥ भरतादि राजाओंने जो पहले जिनेन्द्र भगवान्के उत्तम मन्दिर बनवाये थे वे यदि कहीं भग्नावस्थाको प्राप्त हुए थे तो उन रमणीय मन्दिरोंको राजा दशरथने मरम्मत कराकर पुनः नवीनता प्राप्त कराई थी ॥१७९॥ यही नहीं, उसने स्वयं भी ऐसे जिनमन्दिर बनवाये थे जिनकी कि इन्द्र स्वयं स्तुति करता था तथा रत्नोंके समूहसे जिनकी विशाल कान्ति स्फुरायमान हो रही थी ॥१८०॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! अन्य भवोंमें जो धर्मका सञ्चय करते हैं वे देवोंकी अत्यन्त रमणीय लक्ष्मी प्राप्त कर संसारमें पुनः राजा दशरथके समान भाग्यशाली जीव होते हैं और सूर्यके समान कान्तिको धारण करते हुए समृद्धिको प्राप्त होते हैं ॥१८१॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य द्वारा कथित, पद्मचरितमें सुकोशल स्वामीके माहात्म्य से युक्त राजा दशरथकी उत्पत्तिका कथन करनेवाला बाईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२२॥

---

१. लावण्यसम्पदं म० । २. रूर्ध्वा म० । ३. समृद्धिरविरचिता सा (?) म० ।

त्रयोविंशतितमं पर्व

अन्यदाथ सुखासीनं सभायां पुरुतेजसम् । जिनराजकथासक्तं सुरेन्द्रसमविभ्रमम् ॥१॥
सहसा जनितालोको गगने देहतेजसा । समायया[1]वद्वारः शिष्टो दशरथं सुधीः ॥२॥
कृत्वाभ्युत्थानमासीनमासने तं सुखावहे । दत्ताशीर्वचनं राजा पप्रच्छ कुशलं कृती ॥३॥
निवेद्य कुशलं तेन क्षेमं पृष्टो महीपतिः । सकलं क्षेममित्युक्त्वा पुनरेवमभाषत ॥४॥
आगम्यते कुतः स्थानाद्भगवन् विहृतं क्व च । किमु दृष्टं श्रुतं किंवा न ते देशोऽस्त्यगोचरः ॥५॥
ततो मनःस्थजैनेन्द्रवर्णनोद्भूतसंमदः । उन्नतं पुलकं बिभ्रदित्यभाषत नारदः ॥६॥
विदेहं नृप यातोऽहमासं चारुज[2]नेहितम् । जिनेन्द्रभवनाधारभूरिशैलविभूषितम् ॥७॥
तत्र निष्क्रमणं दृष्टं मया सीमन्धरार्हतः । नगर्यां पुण्डरीकिण्यां नानारत्नोरुतेजसि ॥८॥
विमानैर्विविधच्छायैः केतुच्छत्रविभूषितैः । यानैश्च विविधैर्दृष्टं देवागमनमाकुलम् ॥९॥
मुनिसुव्रतनाथस्य यथेह सुरपैः कृतम् । तथाभिषेचनं मेरौ मया तस्य मुनेः श्रुतम् ॥१०॥
सुव्रतस्य जिनेन्द्रस्य वाच्यमानं श्रुतं यथा । तथा मे चरितं तस्य तत्र गोचरितं दृशा ॥११॥
नानारत्नप्रभाढ्यानि तुङ्गानि विपुलानि च । दृष्टानि तत्र चैत्यानि कृतपूजान्यनारतम् ॥१२॥

अथानन्तर किसी समय विशाल तेजके धारक तथा इन्द्रके समान शोभासे सम्पन्न राजा दशरथ जिनराजकी कथा करते हुए सभामें सुखसे बैठे थे कि सहसा शरीरके तेजसे प्रकाश उत्पन्न करते हुए शिष्ट पुरुष तथा उत्तम बुद्धिके धारक नारदजी वहाँ आ पहुँचे ॥१-२॥ राजाने उठकर उनका सन्मान किया तथा सुखदायक आसनपर बैठाया। नारदने राजाको आशीर्वाद दिया। तदनन्तर बुद्धिमान् राजाने कुशल-समाचार पूछा ॥३॥ जब नारद कुशल-समाचार कह चुके तब राजाने क्षेम अर्थात् कल्याणरूप हो ? यह पूछा। इसके उत्तरमें 'राजन् ! सब कल्याण रूप है' यह उत्तर दिया ॥४॥ इतनी वार्ता हो चुकनेके बाद राजा दशरथने फिर पूछा कि हे भगवन् ! आप किस स्थानसे आ रहे हैं ? और कहाँ आपका विहार हो रहा है ? आपने क्या देखा क्या सुना सो कहिए ? ऐसा कोई देश नहीं जहाँ आप न गये हों ॥५॥

तदनन्तर मनमें स्थित जिनेन्द्रदेव सम्बन्धी वर्णनसे जिन्हें आनन्द उत्पन्न हो रहा था तथा इसी कारण जो उन्नत रोमाञ्च धारण कर रहे थे ऐसे नारदजी कहने लगे कि हे राजन् ! उत्तम जन जिसकी सदा इच्छा करते हैं तथा जो जिनमन्दिरोंके आधारभूत मेरु, गजदन्त, विजयार्द्ध आदि पर्वतोंसे सुशोभित है ऐसे विदेह क्षेत्र में गया था ॥६-७॥ वहाँ नाना रत्नोंके विशाल तेजसे युक्त पुण्डरीकिणी नगरीमें मैंने सीमन्धर स्वामीका दीक्षा कल्याणक देखा ॥८॥ पताकाओं और छत्रोंसे सुशोभित रङ्ग-बिरङ्गे विमानों, तथा विविध प्रकारके वाहनोंसे व्याप्त देवोंका आगमन देखा ॥९॥ मैंने वहाँ सुना था कि जिस प्रकार अपने इस भरत क्षेत्रमें इन्द्रोंने मुनिसुव्रतनाथ भगवान्का सुमेरु पर्वतपर अभिषेक किया था वैसा ही वहाँ उन भगवान्का इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतपर अभिषेक किया था ॥१०॥ मुनिसुव्रत भगवान्का जैसा बांचा गया चरित्र यहाँ सुना है वैसा ही वहाँ उनका चरित्र अपनी आँखोंसे देखा है ॥११॥ जो नाना प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे व्याप्त हैं, ऊँचे हैं, विशाल हैं तथा जिनमें निरन्तर पूजा होती रहती है ऐसे

---

१. नारदः । २. चारुजिनेहितं म०, चारुजनोहितं ख०, चारुजने हितं ज०, ब०, क० ।

विचित्रमणिभक्तीनि हेमपीठानि पार्थिव । दृष्टान्यत्यन्तरम्याणि वनचैत्यानि नन्दने ॥१३॥
चामीकरमहास्तम्भयुक्तेषु स्फुरितांशुषु । भास्करालयतुल्येषु हारितोरणचारुषु ॥१४॥
रत्नदामसमृद्धेषु महावेदिकभूमिषु । द्विपसिंहादिरूपाढ्यवैडूर्योदारभित्तिषु ॥१५॥
कृतसंगीतदिव्यस्त्रीजनपूरितकुक्षिषु । अमरारण्यचैत्येषु जिनार्चाः प्रणता मया ॥१६॥
चैत्यप्रभाविकासाढ्यं कृत्वा मेरुं प्रदक्षिणम् । पयोदपटलं भित्त्वा समुन्नतं नभः ॥१७॥
वास्यान्तरगिरीन्द्राणां शिखरेषु महाप्रभाः । चैत्यालया जिनेन्द्राणां प्रणता बहवो मया ॥१८॥
सर्वेषु तेषु चैत्येषु जिनानां प्रतियातनाः[1] । अकृत्रिमा महाभासो[2] मया पार्थिव वन्द्यते ॥१९॥
इत्युक्ते देवदेवेभ्यो नम इत्युद्गतध्वनिः । प्रणतं करयुग्मं च चक्रे दशरथः शिरः ॥२०॥
संज्ञया नारदेनाथ चोदिते जगतीपतिः । जनस्योत्सारणं चक्रे प्रतीहारेण सादरम् ॥२१॥
उपांशु नारदेनाथ जगदे कोशलाधिपः । [3]शृणु स्वावहितो राजन् सद्भावं कथयामि ते ॥२२॥
गतस्त्रिकूटशिखरं वन्दारुरहमुत्सुकः । वन्दितं शान्तिभवनं मया तत्र मनोरमम् ॥२३॥
भवत्पुण्यानुभावेन मया तत्र प्रधारणम् । श्रुतं विभीषणादीनां लङ्कानाथस्य मन्त्रिणाम् ॥२४॥
नैमित्तेन समादिष्टं तेन सागरबुद्धिना । भविता दशवक्त्रस्य मृत्युर्दाशरथिः किल ॥२५॥
दुहिता जनकस्यापि हेतुत्वमुपयास्यति । इति श्रुत्वा विषण्णात्मा निश्चिचाय[4] विभीषणः ॥२६॥

वहाँके जिन-मन्दिर देखे हैं ॥१२॥ हे राजन् ! वहाँ नन्दनवनमें जो अत्यन्त मनोहर चैत्यालय हैं वे भी देखे हैं । उन मन्दिरोंमें अनेक प्रकारके मणियोंके बेलबूटे निकाले गये हैं तथा उनकी कुर्सियाँ सुवर्णनिर्मित हैं ॥१३॥ जो सुवर्णमय खम्भोंसे युक्त हैं, जिनमें नाना प्रकारकी किरणें देदीप्यमान हो रही हैं, जो सूर्य-विमानके समान जान पड़ते हैं, जो हार तथा तोरणोंसे मनोहर हैं, जो रत्नमयी मालाओंसे समृद्ध हैं, जिनकी भूमियोंमें बड़ी विस्तृत वेदिकाएँ बनी हुई हैं, जिनकी वैदूर्यमणि निर्मित उत्तम दीवालें हाथी सिंह आदिके चित्रोंसे अलंकृत हैं और जिनके भीतरी भाग संगीत करनेवाली दिव्य स्त्रियोंसे भरे हुए हैं, ऐसे देवारण्यके चैत्यालयोंमें जो जिन-प्रतिमाएँ हैं उन सबके लिए मैंने नमस्कार किया ॥१४–१६॥ अकृत्रिम प्रतिमाओंकी प्रभाके विकाससे युक्त जो मेरु पर्वत है उसकी प्रदक्षिणा देकर तथा मेघ-पटलको भेदन कर बहुत ऊँचे आकाशमें गया ॥१७॥ तथा कुलाचलोंके शिखरोंपर जो महा देदीप्यमान अनेक जिन-चैत्यालय हैं उनकी वन्दना की है ॥१८॥ हे राजन् ! उन समस्त चैत्यालयोंमें जिनेन्द्र भगवान्की महा देदीप्यमान अकृत्रिम प्रतिमाएँ हैं मैं उन सबको वन्दना करता हूँ ॥१९॥ नारदके इस प्रकार कहने पर 'देवाधिदेवोंको नमस्कार हो' शब्दोंका उच्चारण करते हुए राजा दशरथने दोनों हाथ जोड़े तथा शिर नम्रीभूत किया ॥२०॥

अथानन्तर सङ्केत द्वारा नारदकी प्रेरणा पाकर राजा दशरथने प्रतिहारीके द्वारा आदरके साथ सब लोगोंको वहाँसे अलग कर दिया ॥२१॥ तदनन्तर जब एकान्त हो गया तब नारदने कोसलाधिपति राजा दशरथसे कहा कि हे राजन् ! एकाग्रचित्त होकर सुनो मैं तुम्हारे लिए एक उत्तम बात कहता हूँ ॥२२॥ मैं बड़ी उत्सुकताके साथ वन्दना करनेके लिए त्रिकूटाचलके शिखर पर गया था सो मैंने वहाँ अत्यन्त मनोहर शान्तिनाथ भगवान्के जिनालयकी वन्दना की ॥२३॥ तदनन्तर आपके पुण्यके प्रभावसे मैंने लङ्कापति रावणके विभीषणादि मन्त्रियोंका एक निश्चय सुना है ॥२४॥ वहाँ सागरबुद्धि नामक निमित्तज्ञानीने रावणको बताया है कि राजा दशरथका पुत्र तुम्हारी मृत्युका कारण होगा ॥२५॥ इसी प्रकार राजा जनककी पुत्री भी इसमें कारणपनेको

१. प्रतिमाः । २. अकृत्रिममहाभासो म०, ख०, ब०, क० । ३. शृणुष्वावहितः ख०, ब०, म०, ज० । ४. निश्चित्वाप म० ।

जायते यावदेवास्य प्रजा[1] दशरथस्य न । जनकस्य च तावत्तौ मारयामीति सादरः ॥२७॥
पर्यटंश्च चिरं क्षोणीं तच्चरेण निवेदितौ । भवन्तौ कामरूपेण स्थानरूपादिलक्षणैः ॥२८॥
मुनिविस्रम्भतस्तेन पृष्टोऽहमपि भो यते । [2]क्वचिद्दशरथं वेत्सि जनकं च क्षिताविति ॥२९॥
अन्विष्य कथयामीति मया चोपात्तमुत्तरम् । आकूतं दारुणं तस्य पश्यामि नरपुङ्गव ॥३०॥
तत्ते यावदयं किंचिन्न करोति विभीषणः । निगूह्य तावदात्मानं क्वचित्तिष्ठ महीपते ॥३१॥
सम्यग्दर्शनयुक्तेषु गुरुपूजनकारिषु । सामान्येनैव मे प्रीतिस्त्वद्विधेषु विशेषतः ॥३२॥
स त्वं युक्तं कुरु स्वस्ति भूयात्तेऽहं गतोऽधुना । इमां वेदयितुं वार्तां क्षिप्रं जनकभूभृतः ॥३३॥
कृतानतिर्नृपेणैवमुक्त्वोत्पत्य[3] नभस्तलम् । [4]अवद्वारयतिर्वेगान्मिथिलाभिमुखं ययौ ॥३४॥
जनकायापि तेनेदमशेषं विनिवेदितम् । भव्यजीवा हि तस्यासन् प्राणेभ्योऽप्यतिवल्लभाः ॥३५॥
अवद्वारयतौ याते मरणाशङ्कितमानसः । समुद्रहृदयामात्यमाकारयदिलापतिः ॥३६॥
श्रुत्वा राजमुखान्मन्त्री समभ्यर्णं महाभयम् । जगाद[5] गदतां श्रेष्ठः स्वामिभक्तिपरायणः ॥३७॥
जीवितायाखिलं कृत्यं क्रियते नाथ जन्तुभिः । त्रैलोक्येशत्वलाभोऽपि वद तेनोज्झितस्य कः ॥३८॥
तस्माद्यावदरातीनां व्यसनं रचयाम्यहम् । तावदज्ञातरूपस्त्वं विकृतो[6] विहरावनिम् ॥३९॥
इत्युक्ते तत्र निक्षिप्य कोशं देशं पुरं जनम् । [7]निरक्रामत् पुराद् राजा सह्यस्य सुपरीक्षितः ॥४०॥

प्राप्त होगी । यह सुनकर जिसकी आत्मा विषादसे भर रही थी ऐसे विभीषणने निश्चय किया कि जबतक राजा दशरथ और जनकके सन्तान होती है उसके पहले ही मैं इन्हें मारे डालता हूँ ॥२६–२७॥ यह निश्चयकर वह तुम लोगोंकी खोजके लिए चिरकाल तक पृथ्वीमें घूमता रहा पर पता नहीं चला सका । तदनन्तर इच्छानुकूल रूप धारण करनेवाले उसके गुप्तचरने स्थान, रूप आदि लक्षणोंसे तुम दोनोंका उसे परिचय कराया है ॥२८॥ मुनि होनेके कारण मेरा विश्वास कर उसने मुझसे पूछा कि हे मुने ! पृथ्वीपर कोई दशरथ तथा जनक नामके राजा हैं सो उन्हें तुम जानते हो ॥२९॥ इस प्रश्नके बदले मैंने उत्तर दिया कि खोजकर बतलाता हूँ । हे नरपुङ्गव ! मैं उसके अभिप्रायको अत्यन्त कठोर देखता हूँ ॥३०॥ इसलिए हे राजन् ! यह विभीषण जबतक तुम्हारे विषयमें कुछ नहीं कर लेता है तबतक तुम अपने आपको छिपाकर कहीं गुप्तरूपसे रहने लगो ॥३१॥ सम्यग्दर्शनसे युक्त तथा गुरुओंकी पूजा करनेवाले पुरुषोंपर मेरी समान प्रीति रहती है और तुम्हारे जैसे पुरुषोंपर विशेषरूपसे विद्यमान है ॥३२॥ तुम जैसा उचित समझो सो करो । तुम्हारा भला हो । अब मैं यह वार्ता कहनेके लिए शीघ्र ही राजा जनकके पास जाता हूँ ॥३३॥

तदनन्तर जिसे राजा दशरथने नमस्कार किया था ऐसे नारद मुनि इस प्रकार कहकर तथा आकाशमें उड़कर बड़े वेगसे मिथिलाकी ओर चले गये ॥३४॥ वहाँ जाकर राजा जनकके लिए भी उन्होंने यह सब समाचार बतलाया सो ठीक ही है क्योंकि भव्य जीव उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्यारे थे ॥३५॥ नारद मुनिके चले जानेपर जिसके मनमें मरणकी आशङ्का उत्पन्न हो गई थी ऐसे राजा दशरथने समुद्रहृदय नामक मन्त्रीको बुलवाया ॥३६॥ वक्ताओंमें श्रेष्ठ तथा स्वामिभक्तिमें तत्पर मन्त्रीने राजाके मुखसे महाभयको निकटस्थल सुन कहा ॥३७॥ कि हे नाथ ! प्राणी जितना कुछ कार्य करते हैं वह जीवनके लिए ही करते हैं । आप ही कहिए, जीवनसे रहित प्राणीके लिए यदि तीन लोकका राज्य भी मिल जाय तो किस कामका है ॥३८॥ इसलिए जबतक मैं शत्रुओंके नाशका प्रयत्न करता हूँ तबतक तुम किसीकी पहिचानमें रूप न आ सके इस प्रकार वेष बदलकर पृथ्वीमें विहार करो ॥३९॥ मन्त्रीके ऐसा कहनेपर राजा दशरथ

१. सन्ततिः । २. कंचिद्दश- म० । ३. मुक्त्वात्यन्त- म० । ४. नारदर्षिः । ५. जगदे म० । ६. विकृती म० । ७. निष्क्रामद् म० ।

गते राजन्यमात्येन [1]लेप्यं दाशरथं वपुः । कारितं मुख्यवपुषो भिन्नं चेतनयैकया ॥४१॥
लाक्षादिरसयोगेन रुधिरं तत्र निर्मितम् । मार्दवं च कृतं [2]तादृग्यादृक्सत्यासुधारिणः ॥४२॥
वरासननिविष्टं तं वेश्मनः सप्तमे तले । युक्तं पुरैव सर्वेण परिवर्गेण बिम्बकम् ॥४३॥
स मन्त्री लेप्यकारश्च कृत्रिमं [3]जज्ञतुर्नृपम् । भ्रान्तिर्हि जायते तत्र पश्यतोरुभयोरपि ॥४४॥
अयमेव च वृत्तान्तो जनकस्यापि कल्पितः । उपर्युपरि हि प्रायश्चलन्ति विदुषां धियः ॥४५॥
मह्यां तौ क्षितिपौ नष्टौ भुवनस्थितिकोविदौ । आपत्काले यथेन्द्वर्कौ समये जलदायिनाम् ॥४६॥
यौ पुरा वरनारीभिर्महाप्रासादवर्तिनौ । उदारभोगसम्पन्नौ सेवितौ मगधाधिप ॥४७॥
इतराविव तौ कौचिदसहायौ नरोत्तमौ । चरणाभ्यां महीं कष्टं भ्रमन्तौ [4]धिग्भवस्थितिम् ॥४८॥
इति निश्चित्य जन्तुभ्यो यो ददात्यभयं नरः । किं न तेन भवेद्दत्तं साधूनां धुरि तिष्ठता ॥४९॥
दृष्टौ तौ तत्र तत्रेति चरवर्गेण वेदितौ । अनुजेन दशास्यस्य प्रेषिता वधका भृशम् ॥५०॥
ते शस्त्रपाणयः क्रूरा [5]दृष्ट्यगोचरविग्रहाः । दिवा नक्तं च नगरीं भ्रमन्ति चलचक्षुषः ॥५१॥
प्रासादं हीनसत्त्वास्ते प्रवेष्टुं न सहा यदा । चिरायन्ते तदायासीत् स्वयमेव विभीषणः ॥५२॥
अन्विष्य गीतशब्देन प्रविश्य गतविभ्रमः । ददर्शान्तःपुरान्तस्थं व्यक्तं दशरथं विभीः ॥५३॥

उसी समुद्रहृदय मन्त्रीके लिए खजाना, देश, नगर तथा प्रजाको सौंपकर नगरसे बाहर निकल गया सो ठीक ही है क्योंकि वह मन्त्री राजाका अच्छी तरह परीक्षा किया हुआ था ॥४०॥ राजाके चले जानेपर मन्त्रीने राजा दशरथके शरीरका एक पुतला बनवाया । वह पुतला मूल-शरीरसे इतना मिलता-जुलता था कि केवल एक चेतनाकी अपेक्षा ही भिन्न जान पड़ता था ॥४१॥ उसके भीतर लाख आदिका रस भराकर रुधिरकी रचना की गई थी तथा सचमुचके प्राणीके शरीरमें जैसी कोमलता होती है वैसी ही कोमलता उस पुतलेमें रची गई थी ॥४२॥ राजाका वह पुतला पहलेके समान ही समस्त परिकरके साथ महलके सातवें खण्डमें उत्तम आसनपर विराजमान किया गया था ॥४३॥ वह मन्त्री तथा पुतलाको बनानेवाला चित्रकार ये दोनों ही राजाको कृत्रिम राजा समझते थे और बाकी सबलोग उसे सचमुचका ही राजा समझते थे । यही नहीं उन दोनोंको भी देखते हुए जब कभी भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती थी ॥४४॥

उधर यही हाल राजा जनकका भी किया गया सो ठीक ही है क्योंकि विद्वानोंकी बुद्धियाँ प्रायः ऊपर-ऊपर ही चलती हैं अर्थात् एकसे-एक बढ़कर होती हैं ॥४५॥ जिस प्रकार वर्षा-ऋतुके समय चन्द्रमा और सूर्य छिपे-छिपे रहते हैं उसी प्रकार संसारकी स्थितिके जानकार दोनों राजा भी आपत्तिके समय पृथिवीपर छिपे-छिपे रहने लगे ॥४६॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे मगधाधिपते ! जो राजा पहले बड़े-बड़े महलोंमें रहते थे, उदार भोगसे सम्पन्न थे । उत्तमोत्तम स्त्रियाँ जिनकी सेवा करती थीं वे ही राजा अन्य मनुष्योंके समान असहाय हो पृथिवीपर पैरोंसे पैदल भटकते फिरते थे, सो इस संसारकी दशाको धिक्कार हो ॥४७-४८॥ ऐसा निश्चय कर जो प्राणियोंके लिए अभयदान देता है, सत्पुरुषोंके अग्रभागमें स्थित रहनेवाले उस पुरुषने क्या नहीं दिया ? अर्थात् सब कुछ दिया ॥४९॥ गुप्तचरोंके समूहने जहाँ-जहाँ उनका सद्भाव जाना वहाँ-वहाँ विभीषणने उन्हें स्वयं देखा तथा बहुतसे वधक भेजे ॥५०॥ जिनके हाथोंमें शस्त्र विद्यमान थे, जो स्वभावसे क्रूर थे, जिनके शरीर नेत्रोंसे दिखाई नहीं देते थे तथा जिनके नेत्र अत्यन्त चञ्चल थे, ऐसे वधक रात-दिन नगरीमें घूमने लगे ॥५१॥ हीन शक्तिके धारक वे वधक राजमहलमें प्रवेश करनेके लिए समर्थ नहीं हो सके इसलिए जब उन्हें अपने कार्यमें विलम्ब हुआ तब विभीषण स्वयं ही आया ॥५२॥ सङ्गीतके शब्दसे उसने दशरथ

१. लेख्यं म० । २. तावद्यावत्पत्यासुधारिणः म० । ३. स्रजतु म० । ४. धिक्तवस्थितिम् म० । ५. दृष्ट्वा गोचनविग्रहा म० ।

विद्युद्विलसितो नाम चोदितस्तेन खेचरः । निकृत्य तस्य मूर्धानं स्वामिनेऽदर्शयन्मुदा ॥५४॥
श्रुतान्तःपुरजाक्रन्दो निक्षिप्यैतच्छिरोऽम्बुधौ । जनकेऽपि तथा चक्रे निर्दयं स विचेष्टितम् ॥५५॥
ततः कृतिनमात्मानं कृत्वा सोदरवत्सलः । ययौ विभीषणो लङ्कां प्रमोदपरिपूरितः ॥५६॥
विप्रलापं परं कृत्वा विदित्वा पुस्तकर्म च । धृतिं दाशरथः प्राप परिवर्गः सविस्मयः ॥५७॥
विभीषणोऽपि संप्राप्य पुरीमशुभशान्तये । दानपूजादिकं चक्रे कर्म सञ्जनितोत्सवम् ॥५८॥
बभूव च मतिस्तस्य कदाचिच्छान्तचेतसः । कर्मगामिति वैचित्र्यात् पश्चात्तापमुपेयुषः ॥५९॥

उपजातिवृत्तम्

असत्यभीत्या क्षितिगोचरौ तौ निरर्थकं प्रेतगतिं प्रणीतौ ।
आशीविषाङ्गप्रभवोऽपि सर्पस्तार्क्ष्यस्य शक्नोति किमु प्रहर्तुम् ॥६०॥
[1]सुलेशशौर्यः क्षितिगोचरः[2] क्व क्व रावणः शक्रसमानशौर्यः ।
क्वेभः सशङ्को मदमन्दगामी क्व केसरी वायुसमानवेगः ॥६१॥

इन्द्रवज्रावृत्तम्

यद्यत्र यावच्च यतश्च येन दुःखं सुखं वा पुरुषेण लभ्यम् ।
तत्तत्र तावच्च ततश्च तेन संप्राप्यते कर्मवशानुगेन ॥६२॥
सम्यग्निमित्तं यदि वेत्ति कश्चिच्छ्रेयो न कस्मात् कुरुते निजस्य ।
येनेह लोके लभतेऽतिसौख्यं मोक्षे च देहत्यजनात् पुरस्तात् ॥६३॥

का पता लगा लिया, जिससे निःसन्देह तथा निर्भय हो राजमहलमें प्रवेश किया। वहाँ जाकर उसने अन्तःपुरके बीचमें स्थित राजा दशरथको स्पष्ट रूपसे देखा ॥५३॥ उसी समय उसके द्वारा प्रेरित विद्युद्विलसित नामक विद्याधरने दशरथका शिर काटकर बड़े हर्षसे अपने स्वामी—विभीषणको दिखाया ॥५४॥ तदनन्तर जिसने अन्तःपुरके रुदनका शब्द सुना था ऐसे विभीषणने उस कटे हुए शिरको समुद्रमें गिरा दिया और राजा जनकके विषयमें भी ऐसी ही निर्दय चेष्टा की ॥५५॥ तदनन्तर भाईके स्नेहसे भरा विभीषण अपने आपको कृतकृत्य मानकर हर्षित होता हुआ लङ्का चला गया ॥५६॥ दशरथका जो परिजन था उसने पहले बहुत ही विलाप किया पर अन्तमें जब उसे यह विदित हुआ कि वह पुतला था तब आश्चर्य करता हुआ धैर्य को प्राप्त हुआ ॥५७॥ विभीषणने भी नगरीमें जाकर अशुभ कर्मकी शान्तिके लिए बड़े उत्सवके साथ दान-पूजा आदि शुभ कर्म किये ॥५८॥

तदनन्तर किसी समय जब उसका चित्त शान्त हुआ तब कर्मोंकी इस विचित्रतासे पश्चात्ताप करता हुआ इस प्रकार विचार करने लगा कि ॥५९॥ मिथ्या भयसे मैंने उन बेचारे भूमिगोचरियोंको व्यर्थ ही मारा क्योंकि सर्प आशीविषके शरीरसे उत्पन्न होने पर भी क्या गरुड़के ऊपर प्रहार करनेके लिए समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं ॥६०॥ अत्यन्त तुच्छ पराक्रमको धारण करनेवाला भूमिगोचरी कहाँ और इन्द्रके समान पराक्रमको धारण करनेवाला रावण कहाँ ? शङ्कासे सहित तथा मदसे धीरे-धीरे गमन करनेवाला हाथी कहाँ और वायुके समान वेगशाली सिंह कहाँ ? ॥६१॥ जिस पुरुषको जहाँ जिससे जिस प्रकार जितना और जो सुख अथवा दुःख मिलना है कर्मोंके वशीभूत हुए उस पुरुषको उससे उस प्रकार उतना और वह सुख अथवा दुःख अवश्य ही प्राप्त होता है ॥६२॥ यदि कोई अच्छी तरह निमित्तको जानता है तो वह अपनी आत्माका कल्याण क्यों नहीं करता ? जिससे कि इस लोकमें तथा आगे

---

१. सुलेशशौर्यौ म० । २. क्षितिगोचरौ म० ।

उपजातिवृत्तम्

राज्ञोस्तयोः प्राणवियोजनेन नैमित्तमूढत्वमितं विवेकम्[1]।
दुःशिक्षितार्थैर्मनुजैरकार्ये प्रवर्तते जन्तुरसारबुद्धिः ॥६४॥
अस्याम्बुनाथस्य पुरी स्थितेयं प्रभिन्नपातालतलस्य मध्ये।
कथं सुराणामपि भीतिदत्ता गम्यत्वमायात् क्षितिगोचराणाम् ॥६५॥

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

कृतं मयात्यन्तमिदं न योग्यं करोमि नैवं पुनरप्रधार्यम्।
इति प्रधार्योत्तमदीप्तियुक्तो रविर्यथा स्वे निलये स रेमे ॥६६॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्य प्रोक्ते पद्मचरिते विभीषणव्यसनवर्णनं नाम त्रयोविंशतितमं पर्व ॥२३॥

[2]**इति श्रीजनक-दशरथ कालनिवर्तनम्**

चलकर शरीरका त्याग हो जानेसे मोक्षमें भी उत्तम सुखको प्राप्त होता ॥६३॥ मैंने जो उन दो राजाओंका प्राणघात किया है उससे जान पड़ता है कि मेरा विवेक निमित्तज्ञानीके द्वारा अत्यन्त मूढ़ताको प्राप्त हो गया था। सो ठीक ही है क्योंकि हीन बुद्धि मनुष्य दुःशिक्षित मनुष्यों की प्रेरणासे अकार्यमें प्रवृत्ति करने ही लगते हैं ॥६४॥ यह लङ्कानगरी पाताल तलको भेदन करनेवाले इस समुद्रके मध्यमें स्थित है तथा देवोंको भी भय उत्पन्न करनेमें समर्थ है फिर भूमिगोचरियोंके गम्य कैसे हो सकती है ? ॥६५॥ 'मैंने जो यह कार्य किया है वह सर्वथा मेरे योग्य नहीं है अब आगे कभी भी ऐसा अविचारपूर्ण कार्य नहीं करूँगा' ऐसा विचारकर सूर्यके समान उत्तम कान्तिसे युक्त विभीषण अपने महलमें क्रीड़ा करने लगा ॥६६॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य द्वारा कथित पद्मचरितमें विभीषणके व्यसनका वर्णन करनेवाला तेईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥

---

१. गूढत्व-ख०। २. ख० ब० पुस्तकयोः पाठः।

चतुर्विंशतितमं पर्व

[1]यद्थ भ्राम्यतो वृत्तमनरण्यतनूभुवः। तत्ते श्रेणिक वक्ष्यामि शृणु विस्मयकारणम् ॥१॥
इतोऽस्त्युत्तरकाष्ठायां नाम्ना कौतुकमङ्गलम्। नगरं चास्य शैलाभप्राकारपरिशोभितम् ॥२॥
राजा शुभमतिर्नाम [2]तत्रासीत् सार्थकश्रुतिः। पृथुश्रीर्वनिता तस्य योषिद्गुणविभूषणा ॥३॥
केकया द्रोणमेघश्च पुत्रावभवतां तयोः। गुणैरत्यन्तविमलैः स्थितौ यौ व्याप्य रोदसी ॥४॥
तत्र सुन्दरसर्वाङ्गा चारुलक्षणधारिणी। नितरां केकया रेजे कलानां [3]पारमागता ॥५॥
अङ्गहाराश्रयं नृत्तं तथाभिनयसंश्रयम्। व्यायामिकं च साज्ञासीत्तत्प्रभेदैः समन्वितम् ॥६॥
अभिव्यक्तं त्रिभिः स्थानैः कण्ठेन शिरसोरसा[4]। स्वरेषु समवेतं च सप्तस्थानेषु तद्यथा ॥७॥
षड्जर्षभौ तृतीयश्च गान्धारो मध्यमस्तथा। पञ्चमो धैवतश्चापि निषादश्चेत्यमी स्वराः ॥८॥
स्थितं लयैस्त्रिसंख्यानैर्द्रुतमध्यविलम्बितैः। अस्रं च चतुरस्रं च तालयोनिद्वयं दधत् ॥९॥
स्थायिसंचारिभिर्युक्तं [5]तथारोह्यवरोहिभिः। वर्णैरेभिश्चतुर्भेदैश्चतुःसंख्यपदस्थितम् [6] ॥१०॥
नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता। प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृता ॥११॥
धैवत्यथार्षभीषड्जषड्जोर्दीच्या निषादिनी। गान्धारी चापरा षड्जकैकशी षड्जमध्यमा ॥१२॥
गान्धारोर्दीच्यसंज्ञाभ्यां तथा मध्यमपञ्चमी। गान्धारपञ्चमी रक्तगान्धारी मध्यमा तथा ॥१३॥

अथानन्तर गौतमस्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक! प्राण-रक्षाके लिए भ्रमण करते समय राजा दशरथका जो आश्चर्यकारी वृत्तान्त हुआ वह मैं तेरे लिए कहता हूँ सो सुन। यहाँसे उत्तर दिशामें पर्वतके समान ऊँचे कोटसे सुशोभित कौतुकमङ्गल नामका नगर है ॥१-२॥ वहाँ सार्थक नामको धारण करनेवाला शुभमति नामका राजा राज्य करता था। उसकी पृथुश्री नामकी स्त्री थी जो कि स्त्रियोंके योग्य गुणरूपी आभूषणसे विभूषित थी ॥३॥ उन दोनोंके केकया नामकी पुत्री और द्रोणमेघका नामका पुत्र ये दो सन्तानें हुईं। ये दोनों ही अपने अत्यन्त निर्मल गुणोंके द्वारा आकाश तथा पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर स्थित थे ॥४॥ उनमें जिसके सर्व अङ्ग सुन्दर थे, जो उत्तम लक्षणोंको धारण करनेवाली तथा समस्त कलाओंकी पारगामिनी थी, ऐसी केकया नामकी पुत्री अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥५॥ अङ्गहाराश्रय, अभिनयाश्रय और व्यायामिकके भेदसे नृत्यके तीन भेद हैं तथा इनके अन्य अनेक अवान्तर भेद हैं सो वह इन सबको जानती थी ॥६॥ वह उस संगीतको अच्छी तरह जानती थी जो कण्ठ शिर और उरस्थल इन तीन स्थानोंसे अभिव्यक्त होता था, तथा नीचे लिखे सात स्वरोंमें समवेत रहता था ॥७॥ षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ये सात स्वर कहलाते हैं ॥८॥ जो द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीन लयोंसे सहित था, तथा अस्र और चतुरस्र इन तालकी दो योनियोंको धारण करता था ॥९॥ स्थायी, संचारी, आरोही और अवरोही इन चार प्रकारके वर्णोंसे सहित होनेके कारण जो चार प्रकारके पदोंसे स्थित था ॥१०॥ प्रातिपदिक, तिङन्त, उपसर्ग, और निपातोंमें संस्कारको प्राप्त संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी यह तीन प्रकारकी भाषा जिसमें स्थित थी ॥११॥ धैवती, आर्षभी, षड्ज-षड्जा, उर्दीच्या, निषादिनी, गान्धारी, षड्जकैकशी और षड्जमध्यमा ये आठ जातियाँ हैं अथवा गान्धारोदीच्या, मध्यमपञ्चमी, गान्धारपञ्चमी,

१. यदर्थं ज०। २. यत्रा म०। ३. परमागता म०, ख०। ४. शिरसोरसा म०, ज०। ५. तथारोहावरोहिभिः म०। ६. पदास्थितम् म०।

आन्ध्री च मध्यमोदीच्या स्मृता कर्मारवीति च । प्रोक्ताथ नन्दनी चान्या कैशिकी चेति जातयः ॥१४॥
इमाभिर्जातिभिर्युक्तमष्टाभिर्दशभिस्तथा । अलंकारैरमीभिश्च त्रयोदशभिरन्वितम्[1] ॥१५॥
प्रसन्नादिः प्रसन्नान्तस्तथा मध्यप्रसादवान् । प्रसन्नाद्यवसानश्च चतुर्धा स्थायिभूषणम् ॥१६॥
निर्वृत्तः प्रस्थितो बिन्दुस्तथा प्रेङ्खोलितः स्मृतः । तारो मन्द्रः प्रसन्नश्च षोढा संचारिभूषणम् ॥१७॥
आरोहिणः प्रसन्नादिरेकमेव विभूषणम् । प्रसन्नान्तस्तथा तुल्यः कुहरश्चावरोहिणः ॥१८॥
गदितौ द्वावलङ्काराविस्यलङ्कारयोजनम् । अवागात् साधुगीतं च लक्षणैरेभिरन्वितम् ॥१९॥
ततं तन्त्रीसमुत्थानमवनद्धं मृदङ्गजम् । शुषिरं वंशसंभूतं घनं तालसमुत्थितम् ॥२०॥
चतुर्विधमिदं वाद्यं नानाभेदैः समन्वितम् । जानाति स्म नितान्तं सा यथैवं विरलोऽपरः ॥२१॥
कलानां तिसृणामासां नाट्यमेकक्रियोच्यते । शृङ्गारहास्यकरुणै[2]र्वीराद्भुतभयानकाः ॥२२॥
रौद्रबीभत्सशान्ताश्च रसास्तत्र नवोदिताः । वेत्ति स्म तदसौ बाला सं[3]प्रभेदमनुत्तमम् ॥२३॥
अ[4]नुवृत्तं लिपिज्ञानं यत्स्वदेशे प्रवर्तते । द्वितीयं विकृतं ज्ञेयं कल्पितं यत्स्वसंज्ञया ॥२४॥
प्र[5]त्यङ्गादिषु वर्णेषु तत्त्वं सामयिकं स्मृतम् । नैमित्तिकं च पुष्पादिद्रव्यविन्यासतोऽपरम् ॥२५॥
प्राच्यमध्यमयौधेयसमाद्रादिभिरन्वितम् । लिपिज्ञानमसौ बाला किल ज्ञातवती परम् ॥२६॥
अ[6]स्त्युक्तिकौशलं नाम भिन्न[7]स्थानादिभिः कला । स्थानं स्वरोऽथ संस्कारो विन्यासः काकुना सह ॥२७॥
समुदायो विरामश्च सामान्याभिहितस्तथा । समानार्थत्वभाषा च जातयश्च प्रकीर्तिताः ॥२८॥
उरः कण्ठः शिरश्चेति स्थानं तत्र त्रिधा स्मृतम् । उक्त एव स्वरः पूर्वं षड्जादिः सप्तभेदकः ॥२९॥

रक्तगान्धारी, मध्यमा, आन्ध्री, मध्यमोदीच्या, कर्मारवी, नन्दिनी और कैशिकी ये दश जातियाँ हैं। सो जो संगीत इन आठ अथवा दश जातियोंसे युक्त था तथा इन्हीं और आगे कहे जानेवाले तेरह अलंकारोंसे सहित था ॥१२–१५॥ प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, मध्यप्रसाद और प्रसन्नाद्यवसान ये चार स्थायी पदके अलंकार हैं ॥१६॥ निर्वृत्त, प्रस्थित, बिन्दु, प्रेङ्खोलित, तार-मन्द्र, और प्रसन्न ये छह संचारी पदके अलंकार हैं ॥१७॥ आरोही पदका प्रसन्नादि नामका एक ही अलंकार है और अवरोही पदके प्रसन्नान्त तथा कुहर ये दो अलंकार हैं। इस प्रकार तेरह अलंकार हैं सो इन सब लक्षणोंसे सहित उत्तम संगीतको वह अच्छी तरह जानती थी ॥१८–१९॥ तन्त्री अर्थात् वीणासे उत्पन्न होनेवाला तत, मृदङ्गसे उत्पन्न होनेवाला अवनद्ध, बाँसुरीसे उत्पन्न होनेवाला शुषिर और तालसे उत्पन्न होनेवाला घन ये चार प्रकारके वाद्य हैं, ये सभी वाद्य नाना भेदोंसे सहित हैं। वह केकया इन सबको इस तरह जानती थी कि उसकी समानता करनेवाला दूसरा व्यक्ति विरला ही था ॥२०–२१॥ गीत, नृत्य और वादित्र इन तीनोंका एक साथ होना सो नाट्य कहलाता है। शृङ्गार, हास्य, करुणा, वीर, अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स, और शान्त ये नौ रस कहे गये हैं सो बाला केकया उन्हें अनेक अवान्तर भेदोंके साथ उत्कृष्टतासे जानती थी ॥२२–२३॥ जो लिपि अपने देशमें आमतौरसे चलती है उसे अनुवृत्त कहते हैं। लोग अपने-अपने संकेतानुसार जिसकी कल्पना कर लेते हैं उसे विकृत कहते हैं। प्रत्यङ्ग आदि वर्णोंमें जिसका प्रयोग होता है उसे सामयिक कहते हैं और वर्णोंके बदले पुष्पादि पदार्थ रखकर जो लिपिका ज्ञान किया जाता है उसे नैमित्तिक कहते हैं। इस लिपिके प्राच्य, मध्यम, यौधेय, समाद्र आदि देशोंकी अपेक्षा अनेक अवान्तर भेद होते हैं सो केकया उन सबको अच्छी तरह जानती थी ॥२४–२६॥ जिसके स्थान आदिके अपेक्षा अनेक भेद हैं ऐसी उक्तिकौशल नामकी कला है। स्थान, स्वर, संस्कार, विन्यास, काकु, समुदाय, विराम, सामान्याभिहित, समानार्थत्व, और भाषा ये जातियाँ कही गई हैं ॥२७–२८॥ इनमेंसे उरस्थल, कण्ठ और मूर्द्धाके भेदसे स्थान

१. रन्विता । २. कारुण्य ब०, म० । ३. सप्तभेद- म० । ४. अनुवृत्तिलिपि ब० । ५. अत्यङ्गादिषु म० । ६. अस्युक्ति म० । ७. भिन्नं स्थानादिभिः म० ।

संस्कारो द्विविधः प्रोक्तो लक्षणोद्देशतस्तथा । विन्यासस्तु सखण्डाः स्युः पदवाक्यास्तदुत्तराः ॥३०॥
सापेक्षा निरपेक्षा च काकुर्भेदद्वयान्विता । गद्यः पद्यश्च मिश्रश्च समुदायस्त्रिधोदितः ॥३१॥
संक्षिप्तता विरामस्तु सामान्याभिहितः पुनः । शब्दानामेकवाच्यानां प्रयोगः परिकीर्तितः ॥३२॥
तुल्यार्थतैकशब्देन बह्वर्थप्रतिपादनम् । [1]भाषार्यलक्षणम्लेच्छनियमात्त्रिविधा स्मृता ॥३३॥
पद्यव्यवहृतिर्लेख एवमाद्यास्तु जातयः । व्यक्तवाग्लोकवाग्मार्गव्यवहारश्च मातरः ॥३४॥
एतेषामपि भेदानां ये भेदा बुधगोचराः[2] । सर्वैरेभिः समायुक्तं सात्यवैदुक्तिकौशलम् ॥३५॥
शुष्कचित्रं द्विधा प्रोक्तं नानाशुष्कं च वर्जितम् । आर्द्रचित्रं पुनर्नाना चन्दनादिद्रवोद्भवम् ॥३६॥
कृत्रिमाकृत्रिमैरङ्गैर्भूजलाम्बरगोचरम् । वर्णकैश्[3]लेपसंयुक्तं सा विवेदाखिलं शुभा ॥३७॥
पुस्तकर्म त्रिधा प्रोक्तं क्षयोपचयसंक्रमैः । तक्षणादिक्रमोद्भूतं काष्ठादौ [4]क्षयजं स्मृतम् ॥३८॥
उपचित्या मृदादीनामुपचेयं तु कथ्यते । संक्रान्तं तु यदाहृत्य प्रतिबिम्बं विभाव्यते ॥३९॥
यन्त्रनिर्यन्त्रसच्छिद्रनिश्छिद्रादिभिरन्वितम् । सा जज्ञे तद्यथा भद्रा लोकेभ्यो दुर्लभस्तथा ॥४०॥
बुष्किमं छिन्नमच्छिन्नं पत्रच्छेद्यं त्रिधोदितम् । सूचीदन्तादिभिस्तत्र निर्मितं बुष्किमं स्मृतम् ॥४१॥

तीन प्रकारका माना गया है । स्वरके षड्ज आदि सात भेद पहले कह ही आये हैं ।।२९।। लक्षण और उद्देश अथवा लक्षणा और अभिधाकी अपेक्षा संस्कार दो प्रकारका कहा गया है । पदवाक्य महावाक्य आदिके विभागसहित जो कथन है वह विन्यास कहलाता है ।।३०।। सापेक्षा और निरपेक्षाकी अपेक्षा काकु दो भेदोंसे सहित है । गद्य, पद्य और मिश्र अर्थात् चम्पूकी अपेक्षा समुदाय तीन प्रकारका कहा गया है ।।३१।। किसी विषयका संक्षेपसे उल्लेख करना विराम कहलाता है । एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग करना सामान्याभिहित कहा गया है ।।३२।। एक शब्दके द्वारा बहुत अर्थका प्रतिपादन करना समानार्थता है । आर्य, लक्षण और म्लेच्छके नियमसे भाषा तीन प्रकारकी कही गई है ।।३३।। इनके सिवाय जिसका पद्यरूप व्यवहार होता है उसे लेख कहते हैं । ये सब जातियाँ कहलाती हैं । व्यक्तवाक्, लोकवाक् और मार्गव्यवहार ये मातृकाएँ कहलाती हैं । इन सब भेदोंके भी अनेक भेद हैं जिन्हें विद्वज्जन जानते हैं । इन सबसे सहित जो भाषण-चातुर्य है उसे उक्ति-कौशल कहते हैं । केकया इस उक्ति-कौशलको अच्छी तरह जानती थी ।।३४–३५।।

नानाशुष्क और वर्जितके भेदसे शुष्कचित्र दो प्रकारका कहा गया है तथा चन्दनादिके द्रवसे उत्पन्न होनेवाला आर्द्रचित्र अनेक प्रकारका है ।।३६।। कृत्रिम और अकृत्रिम रङ्गोंके द्वारा पृथ्वी, जल तथा वस्त्र आदिके ऊपर इसकी रचना होती है । यह अनेक रङ्गोंके सम्बन्धसे संयुक्त होता है । शुभ लक्षणोंवाली केकया इस समस्त चित्रकलाको जानती थी ।।३७।। क्षय, उपचय और संक्रमके भेदसे पुस्तकर्म तीन प्रकारका कहा गया है । लकड़ी आदिको छील-छालकर जो खिलौना आदि बनाये जाते हैं उसे क्षयजन्य पुस्तकर्म कहते हैं । ऊपरसे मिट्टी आदि लगाकर जो खिलौना आदि बनाये जाते हैं उसे उपचयजन्य पुस्तकर्म कहते हैं तथा जो प्रतिबिम्ब अर्थात् साँचे आदि गड़ाकर बनाये जाते हैं उसे संक्रमजन्य पुस्तकर्म कहते हैं ।।३८–३९।। यह पुस्तकर्म, यन्त्र, निर्यन्त्र, सच्छिद्र तथा निश्छिद्र आदिके भेदोंसे सहित है, अर्थात् कोई खिलौना यन्त्रचालित होते हैं, और कोई बिना यन्त्रके होते हैं, कोई छिद्रसहित होते हैं, कोई छिद्ररहित । वह केकया पुस्तकर्मको ऐसा जानती थी जैसा दूसरोंके लिए दुर्लभ था ।।४०।। पत्रच्छेदके तीन भेद हैं बुष्किम छिन्न और अच्छिन्न । सुई अथवा दन्त आदिके द्वारा जो बनाया जाता है उसे बुष्किम कहते हैं । जो कैंचीसे काटकर बनाया जाता है तथा जो अन्य अवयवोंके सम्बन्धसे युक्त होता है उसे

---

१. भाषापलक्षण- म० । २. बुद्धयगोचराः म० । ३. वर्णकः श्लेष्म- म० । ४. क्षयसंस्मृतम् म० ।

कर्तरीच्छेदनोद्भूतं छिन्नं सम्बन्धसंयुतम् । विच्छिन्नं तु तदुद्भूतं सम्बन्धपरिवर्जितम् ॥४२॥
पत्रवस्त्रसुवर्णादिसंभवं स्थिरचञ्चलम् । निर्णिन्ये सा परं चार्वी संवृतासंवृतादिजम् ॥४३॥
आर्द्रं शुष्कं तदुन्मुक्तं मिश्रं चेति चतुर्विधम् । माल्यं तत्रार्द्रपुष्पादिसंभवं प्रथमं मतम् ॥४४॥
शुष्कपत्रादिसंभूतं शुष्कमुक्तं तदुज्झितम् । सिक्थकादिसमुद्भूतं संकीर्णं तु त्रिसंकरात् ॥४५॥
रणप्रबोधनव्यूहसंयोगादिभिरन्वितम् । तद्विधातुमलं प्राज्ञा साज्ञासीत् पूरणादिजम् ॥४६॥
योनिद्रव्यमधिष्ठानं रसो वीर्यं च कल्पना । परिकर्म गुणा दोषा युक्तिरेषा तु कौशलम् ॥४७॥
योनिर्विशिष्टमूलादिद्रव्यं तु तगरादिकम् । यद्वर्णवर्तिकाद्येतदधिष्ठानं प्रकीर्तितम् ॥४८॥
कषायो मधुरस्तिक्तः कटुकाम्लश्च कीर्तितः । रसः पञ्चविधो यस्य निर्हारेण विनिश्चयः ॥४९॥
द्रव्याणां शीतमुष्णं च वीर्यं तत्र द्विधा स्मृतम् । कल्पनात्र विवादानुवादसंवादयोजनम् ॥५०॥
परिकर्म पुनः स्नेहशोधनक्षालनादिकम् । ज्ञानं च गुणदोषाणां पाटवादीतरात्मनाम् ॥५१॥
स्वतन्त्रानुगताख्येन तां भेदेन समन्विताम् । गन्धयुक्तिमसौ सर्वामजानाद्युक्तविभ्रमा ॥५२॥
भक्ष्यं भोज्यं[1] च पेयं च लेह्यं चूष्यं च पञ्चधा । आसाद्यं तत्र भक्ष्यं तु कृत्रिमाकृत्रिमं स्मृतम् ॥५३॥
[2]भोज्यं द्विधा यवाग्वादिविशेषाश्चौदनादयः । शीतयोगो जलं मद्यमिति पेयं त्रिधोदितम् ॥५४॥
रागखाण्डवलेह्याख्यं लेह्यं त्रिविधमुच्यते । कृत्रिमाकृत्रिमं चूष्यं द्विविधं परिकीर्तितम् ॥५५॥

छिन्न कहते हैं। जो कैंची आदिसे काटकर बनाया जाता है तथा अन्य अवयवोंके सम्बन्धसे रहित होता है उसे अच्छिन्न कहते हैं ॥४१-४२॥ यह पत्रच्छेद्यक्रिया पत्र, वस्त्र तथा सुवर्णादिके ऊपर की जाती है तथा स्थिर और चञ्चल दोनों प्रकारकी होती है। सुन्दरी केकयाने इस कलाका अच्छी तरह निर्णय किया था ॥४३॥

आर्द्र, शुष्क, तदुन्मुक्त और मिश्रके भेदसे मालानिर्माणकी कला चार प्रकारकी है। इनमेंसे गीले अर्थात् ताजे पुष्पादिसे जो माला बनाई जाती है उसे आर्द्र कहते हैं, सूखे पत्र आदिसे जो बनाई जाती है उसे शुष्क कहते हैं। चावलोंके सीथ अथवा जवा आदिसे जो बनाई जाती है उसे तदुज्झित कहते हैं और जो उक्त तीनों चीजोंके मेलसे बनाई जाती है उसे मिश्र कहते हैं ॥४४-४५॥ यह माल्यकर्म रणप्रबोधन, व्यूहसंयोग आदि भेदोंसे सहित होता है वह बुद्धिमती केकया इस समस्त कार्यको करना अच्छी तरह जानती थी ॥४६॥ योनिद्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना, परिकर्म, गुण दोष विज्ञान तथा कौशल ये गन्धयोजना अर्थात् सुगन्धित पदार्थ निर्माणरूप कलाके अङ्ग हैं। जिनसे सुगन्धित पदार्थोंका निर्माण होता है ऐसे तगर आदि योनिद्रव्य हैं, जो धूपवत्ती आदिका आश्रय है उसे अधिष्ठान कहते हैं, कषायला, मधुर, चिरपरा, कड़आ और खट्टा यह पाँच प्रकारका रस कहा गया है जिसका सुगन्धित द्रव्यमें खासकर निश्चय करना पड़ता है ॥४७-४९॥ पदार्थोंकी जो शीतता अथवा उष्णता है वह दो प्रकारका वीर्य है। अनुकूल प्रतिकूल पदार्थोंका मिलाना कल्पना है ॥५०॥ तेल आदि पदार्थोंका शोधना तथा धोना आदि परिकर्म कहलाता है, गुण अथवा दोषका जानना सो गुण-दोष विज्ञान है और परकीय तथा स्वकीय वस्तुकी विशिष्टता जानना कौशल है ॥५१॥ यह गन्धयोजनाकी कला स्वतन्त्र और अनुगतके भेदसे सहित है। केकया इस सबको अच्छी तरह जानती थी ॥५२॥ भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और चूष्यके भेदसे भोजन सम्बन्धी पदार्थोंके पाँच भेद हैं। इनमेंसे जो स्वादके लिए खाया जाता है उसे भक्ष्य कहते हैं। यह कृत्रिम तथा अकृत्रिमके भेदसे दो प्रकारका है ॥५३॥ जो क्षुधा निवृत्तिके लिए खाया जाता है उसे भोज्य कहते हैं, इसके भी मुख्य और साधककी अपेक्षा दो भेद हैं। ओदन रोटी आदि मुख्य भोज्य हैं और लप्सी दाल शाक आदि साधक भोज्य हैं ॥५४॥ शीतयोग (शर्बत) जल और मद्य के भेदसे पेय

---

१. २. भोग्यं म० ।

पाचनच्छेदनोष्णत्वशीतत्वकरणादिभिः । युक्तमास्वाद्यविज्ञानमासीत्तस्या मनोहरम् ॥५६॥
वज्रमौक्तिकवैडूर्यसुवर्णं रजतायुधम् । वस्त्रसंखादि[1] चावेदीत् सा रत्नं लक्षणादिभिः ॥५७॥
तन्तुसन्धानयोगं च वस्त्रस्य बहुवर्णकम् । रागाधानं च सा चारु विवेदातिशयान्वितम् ॥५८॥
लोहदन्तजतुक्षार[3]शिला[2]सूत्रादिसंभवम् । तथोपकरणं कर्तुं ज्ञातमत्यन्तमुद्धया ॥५९॥
मेयदेशतुलाकालभेदान्मानं चतुर्विधम् । तत्र प्रस्थादिभिर्भिन्नं मेयमानं प्रकीर्तितम् ॥६०॥
देशमानं वितस्त्यादि तुलामानं पलादिकम् । समयादि तु यन्मानं तत्कालस्य प्रकीर्तितम् ॥६१॥
तच्चारोहपरीणाहतिर्यग्गौरवभेदतः । क्रियातश्च समुत्पन्नं साध्यगान्मानमुत्तमम् ॥६२॥
भूतिकर्म [4]निधिज्ञानं रूपज्ञानं वणिग्विधिः[5] । अन्यथा जीवविज्ञानमासीत्तस्या विशेषवत् ॥६३॥
मानुषद्विपगोवाजिप्रभृतीनां चिकित्सितम् । सा निदानादिभिर्भेदयुक्तं ज्ञातवती परम् ॥६४॥
मायाकृतं त्रिधा पीडाशक्रजालं विमोहनम् । मन्त्रौषधादिभिर्जातं तच्च सर्वं विवेद सा ॥६५॥
समयं च समीक्ष्यादि पाखण्डपरिकल्पितम् । चारित्रेण पदार्थैश्च विवेद विविधैर्युतम् ॥६६॥
चेष्टोपकरणं[6] वाणी कलाव्यत्यसनं तथा । क्रीडा चतुर्विधा प्रोक्ता तत्र चेष्टा शरीरजा ॥६७॥
[7]कन्दुकादि तु विज्ञेयं तत्रोपकरणं बहु । वाक्क्रीडनं पुर्नाना सुभाषितसमुद्भवम् ॥६८॥
नानादुरोदरन्यासः कलाव्यत्यसनं स्मृतम् । क्रीडायां बहुभेदायामस्यां सात्यन्तकोविदा ॥६९॥

तीन प्रकारका कहा गया है ॥५५॥ इन सबका ज्ञान होना आस्वाद्यविज्ञान है। यह आस्वाद्यविज्ञान पाचन, छेदन, उष्णत्वकरण तथा शीतत्वकरण आदिके भेदसे सहित है, केकयाको इस सबका सुन्दर ज्ञान था ॥५६॥

वह वज्र अर्थात् हीरा, मोती, वैडूर्य (नीलम), सुवर्ण, रजतायुध, तथा वस्त्र-शङ्खादि रत्नोंको उनके लक्षण आदिसे अच्छी तरह जानती थी ॥५७॥ वस्त्रपर धागेसे कढ़ाईका काम करना तथा वस्त्रको अनेक रङ्गोंमें रँगना इन कार्योंको वह बड़ी सुन्दरता और उत्कृष्टताके साथ जानती थी ॥५८॥ वह लोहा, दन्त, लाख, क्षार, पत्थर तथा सूत आदिसे बननेवाले नाना उपकरणोंको बनाना बहुत अच्छी तरह जानती थी ॥५९॥ मेय, देश, तुला और कालके भेदसे मान चार प्रकारका है। इसमेंसे प्रस्थ आदिके भेदसे जिसके अनेक भेद हैं उसे मेय कहते हैं ॥६०॥ वितस्ति हाथ देशमान कहलाता है, पल छटाक सेर आदि तुलामान कहलाता है और समय घड़ी घण्टा आदि कालमान कहा गया है ॥६१॥ यह मान आरोह, परीणाह, तिर्यग्गौरव और क्रियासे उत्पन्न होता है। इस सबको वह अच्छी तरह जानती थी ॥६२॥ भूतिकर्म अर्थात् बेलबूटा खींचनेका ज्ञान, निधिज्ञान अर्थात् गड़े हुए धनका ज्ञान, रूप ज्ञान, वणिग्विधि अर्थात् व्यापार कला, तथा जीवविज्ञान अर्थात् जन्तुविज्ञान इन सबको वह विशेष रूपसे जानती थी ॥६३॥ वह मनुष्य, हाथी, गौ तथा घोड़ा आदिकी चिकित्साको निदान आदिके साथ अच्छी तरह जानती थी ॥६४॥ विमोहन अर्थात् मूर्च्छाके तीन भेद हैं मायाकृत, पीडा अथवा इन्द्रजाल कृत और मन्त्र तथा ओषधि आदि द्वारा कृत। सो इस सबको वह अच्छी तरह जानती थी ॥६५॥ पाखण्डीजनोंके द्वारा कल्पित सांख्य आदि मतोंको वह उनमें वर्णित चारित्र तथा नाना प्रकारके पदार्थोंके साथ अच्छी तरह जानती थी ॥६६॥

चेष्टा, उपकरण, वाणी और कला व्यासङ्गके भेदसे क्रीड़ा चार प्रकारकी कही गई है उनमें शरीरसे उत्पन्न होनेवाली क्रीड़ाको चेष्टा कहा है ॥६७॥ गेंद आदि खेलना उपकरण है, नाना प्रकारके सुभाषित आदि कहना वाणी-क्रीड़ा है और जुआ आदि खेलना कलाव्यासंग नामक

१. वस्त्रं संखादिवावेदीत् ब० । २. शिलास्तत्रादि म०, ब० । ३. कार । ४. निधिर्शानं म०, ब० । ५. विधिम् म०, ब०, ज०, ख० । ६. करणा म० । ७. कन्दुकादिति म०, ब०, ज० ।

आश्रिताश्रयतो भिन्नो लोको द्विविध उच्यते । आश्रिता जीवनिर्जीवा पृथिव्यादिस्तदाश्रयाः ॥७०॥
तत्र नानाभवोत्पत्तिः स्थितिर्नश्वरता तथा । ज्ञायते यदिदं प्रोक्तं लोकज्ञत्वं सुदुर्गमम् ॥७१॥
पौर्वापर्यौधरोभूर्यद्वीपदेशादिभेदतः । स्वभावावस्थिते लोके बभूवास्यास्तदुत्तमम् ॥७२॥
संवाहनकला द्वेधा तत्रैका कर्मसंश्रया । शय्यौपचारिका चान्या प्रथमा तु चतुर्विधा ॥७३॥
त्वङ्मांसास्थिमनःसौख्यादेते [1]त्वासामुपक्रमाः । संस्पृष्टं च गृहीतं च भुक्तितं चलितं तथा ॥७४॥
आहतं भङ्गितं विद्धं पीडितं भिन्नपाटितम् । मृदुमध्यप्रकृष्टत्वात्तत्पुनर्भिद्यते त्रिधा ॥७५॥
त्वक्सुखं सुकुमारं तु मध्यमं मांससौख्यकृत् । उत्कृष्टमस्थिसौख्याय मृदुगीति मनःसुखम् ॥७६॥
दोषास्तस्याः[2] प्रतीपं यल्लोम्नामुद्वर्तनं तथा । निर्मांसपीडितं बाढं केशाकर्षणमद्भुतम् ॥७७॥
भ्रष्टप्राप्तममार्गेण प्रयातमतिभुग्नकम् । आदेशाहतमत्यर्थमवबुद्धप्रतीपकम् ॥७८॥
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तं सुकुमारमतीव च । योग्यदेशप्रयुक्तं च ज्ञाताकूतं च शोभनम् ॥७९॥
करणैर्विविधैर्या तु जन्यते चित्तसौख्यदा । संवाहमावगम्या सा शय्योपचरणात्मिका ॥८०॥
संवाहनकलामेतामङ्गप्रत्यङ्गगोचराम् । अवेदसौ यथा कन्या नान्या नारी तथा घनम् ॥८१॥
शरीरवेषसंस्कारकौशलं च कला परा । स्नानमूर्धजवासादि निरचैषीदिमां च सा ॥८२॥

क्रीड़ा है इस प्रकार वह अनेकों भेदवाली क्रीड़ामें अत्यन्त निपुण थी ॥६८–६९॥ आश्रित और आश्रयके भेदसे लोक दो प्रकारका कहा गया है। इनमेंसे जीव और अजीव तो आश्रित हैं तथा पृथ्वी आदि उनके आश्रय हैं ॥७०॥ इसी लोकमें जीवकी नाना पर्यायोंमें उत्पत्ति हुई है उसीमें यह स्थित रहा है तथा उसीमें इसका नाश होता है यह सब जानना सो लोकज्ञता है। यह लोकज्ञता प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है ॥७१॥ पूर्वापर पर्वत, पृथ्वी, द्वीप, देश आदि भेदोंमें यह लोक स्वभावसे ही अवस्थित है। केकयाको इसका उत्तम ज्ञान था ॥७२॥

संवाहन कला दो प्रकारकी है उनमेंसे एक कर्मसंश्रया है और दूसरी शय्योपचारिका। त्वचा, मांस, अस्थि और मन इन चारको सुख पहुँचानेके कारण कर्मसंश्रयाके चार भेद हैं अर्थात् किसी संवाहनसे केवल त्वचाको सुख मिलता है, किसीसे त्वचा और मांसको सुख मिलता है, किसीसे त्वचा मांस और हड्डीको सुख मिलता है और किसीसे त्वचा मांस हड्डी एवं मन इन चारोंको सुख प्राप्त होता है। इसके सिवाय इसके संस्पृष्ट, गृहीत, भुक्तित, चलित, आहत, भङ्गित, विद्ध, पीडित और भिन्नपीडित ये भेद भी हैं। ये ही नहीं मृदु, मध्य और प्रकृष्टके भेदसे तीन भेद और भी होते हैं ॥७३–७५॥ जिस संवाहनसे केवल त्वचाको सुख होता है वह मृदु अथवा सुकुमार कहलाता है। जो त्वचा और मांसको सुख पहुँचाता है वह मध्यम कहा जाता है और जो त्वचा मांस तथा हड्डीको सुख देता है वह प्रकृष्ट कहलाता है। इसके साथ जब कोमल सङ्गीत और होता है तब वह मनःसुखसंवाहन कहलाने लगता है ॥७६॥ इस संवाहन कलाके निम्नलिखित दोष भी हैं—शरीरके रोमोंको उलटा उद्वर्तन करना, जिस स्थानमें मांस नहीं है वहाँ अधिक दबाना, केशाकर्षण, अद्भुत, भ्रष्टप्राप्त, अमार्गप्रयात, अतिभुग्नक, अदेशाहत, अत्यर्थ और अवबुद्धप्रतीपक, जो इन दोनोंसे रहित है, योग्यदेशमें प्रयुक्त है तथा अभिप्रायको जानकर किया गया है ऐसा सुकुमारसंवाहन अत्यन्त शोभास्पद होता है ॥७७–७९॥ जो संवाहन क्रिया अनेक कारण अर्थात् आसनोंसे की जाती है वह चित्तको सुख देनेवाली शय्योपचारिका नामकी क्रिया जाननी चाहिए ॥८०॥ अङ्ग-प्रत्यङ्गसे सम्बन्ध रखनेवाली इस संवाहनकलाको जिस प्रकार वह कन्या जानती थी उस प्रकार अन्य स्त्री नहीं जानती थी ॥८१॥ स्नान करना, शिरके बाल गूँथना तथा उन्हें सुगन्धित आदि करना यह शरीर संस्कार

१. चासा- ख०, वासा ज० । २. दोषास्तस्याः म० ।

एवमाद्याः कलाश्चारुशीला लोकमनोहराः । अदीधरत्समस्ताः सा विनयोत्तमभूषणा[1] ॥८३॥
कलागुणाभिरूपं च समुद्भूता त्रिविष्टपे । अद्वितीया बभौ तस्याः कीर्तिराकृष्टमानसा ॥८४॥
बहुनात्र किमुक्तेन शृणु राजन् समासतः । तस्या वर्षशतेनापि दुःशक्यं रूपवर्णनम् ॥८५॥
पित्रा प्रधारितं तस्या योग्यः कोऽस्या भवेद् वरः । स्वयं रुचितमेवेयं गृह्णात्विति विसंशयम् ॥८६॥
[2]तदर्थं पार्थिवाः सर्वे वसुमत्यामुपाहृताः । हरिवाहननामाद्याः पुरोविभ्रमभूषिताः ॥८७॥
गतो दशरथोऽप्यस्य जनकेन सह भ्रमन् । स्थितः स तादृशोऽप्येतान् ल[3]क्ष्म्या प्रच्छाद्य भूपतीन् ॥८८॥
मञ्चेषु सुप्रपञ्चेषु निविष्टान् वसुधाधिपान् । प्रत्येकमैक्षतो[4]दारान्प्रतीहार्या निवेदितान् ॥८९॥
भ्राम्यन्ती सा ततः साध्वी नरलक्षणपण्डिता । कण्ठे दाशरथे न्यास दृष्टिनीलोत्पलस्रजम् ॥९०॥
भूपालनिवहस्थं तं सा ययौ चारुविभ्रमा । राजहंसं यथा हंसी बकवृन्दव्यवस्थितम् ॥९१॥
भावमालागृहीतेऽस्मिन् न्यस्ता या द्रव्यमालिका । पौनरुक्त्यं प्रपेदेऽसौ लोकाचारकृतास्पदा ॥९२॥
केचित्तत्र जगुस्तारं प्रसन्नमनसो नृपाः । अहो योग्यो वृतः कोऽपि पुरुषोऽयं सुकन्यया ॥९३॥
केषाञ्चित्त्वतिवैलक्ष्यात् स्वदेशगमनं प्रति । विरराम(?)तिदूरेण मनो वैवर्ण्यमीयुषाम् ॥९४॥
केचिदत्यन्तधृष्टत्वात् परमं कोपमागताः । युद्धं प्रति मनश्चक्रुः कृतकोलाहला भृशम् ॥९५॥
[5]जगुश्च ख्यातसद्वंशान् महाभोगसमन्वितान् । त्यक्त्वा[6] नो गृह्णतीमेतमज्ञातकुलशीलिनम् ॥९६॥

वेषकौशल नामकी कला है सो वह कन्या इसे भी अच्छी तरह जानती थी ॥८२॥ इस तरह सुन्दर शीलकी धारक तथा विनयरूपी उत्तम आभूषणसे सुशोभित वह कन्या इन्हें आदि लेकर लोगोंके मनको हरण करनेवाली समस्त कलाओंको धारण कर रही थी ॥८३॥

कलागुणके अनुरूप उत्पन्न तथा लोगोंके मनको आकृष्ट करनेवाली उसकी कीर्ति तीनों लोकोंमें अद्वितीय अर्थात् अनुपम सुशोभित हो रही थी ॥८४॥ हे राजन् ! अधिक कहनेसे क्या ? संक्षेपमें इतना ही सुनो कि उसके रूपका वर्णन सौ वर्षोंमें भी होना असंभव है ॥८५॥ पिताने विचार किया कि इसके योग्य वर कौन हो सकता है ? अच्छा हो कि यह स्वयं ही अपनी इच्छानुसार वरको ग्रहण करे ॥८६॥ ऐसा निश्चयकर उसने स्वयंवरके लिए पृथिवी पर हरिवाहन आदि समस्त राजा एकत्रित किये। वे राजा स्वयंवरके पूर्व ही नाना प्रकारके विभ्रमों अर्थात् हावभावोंसे सुशोभित हो रहे थे ॥८७॥ राजा जनकके साथ घूमते हुए राजा दशरथ वहाँ जा पहुँचे। राजा दशरथ यद्यपि साधारण वेषभूषामें थे तो भी वे अपनी शोभासे उपस्थित अन्य राजाओंको आच्छादित कर वहाँ विराजमान थे ॥८८॥ सुसज्जित मञ्चोंके ऊपर बैठे हुए उदार राजाओंका परिचय प्रतीहारी दे रही थी और मनुष्योंके लक्षण जाननेमें पण्डित वह साध्वी कन्या घूमती हुई प्रत्येक राजाको देखती जाती थी। अन्तमें उसने अपनी दृष्टिरूपी नीलकमलकी माला दशरथके कण्ठमें डाली ॥८९-९०॥ जिस प्रकार बगलोंके बीचमें स्थित राजहंसके पास हंसी पहुँच जाती है उसी प्रकार सुन्दर हाव-भावको धारण करनेवाली वह कन्या राजसमूहके बीचमें स्थित राजा दशरथके पास जा पहुँची ॥९१॥ उसने दशरथको भावमालासे तो पहले ही ग्रहण कर लिया था फिर लोकाचारके अनुसार जो द्रव्यमाला डाली थी वह पुनरुक्तताको प्राप्त हुई थी ॥९२॥ उस मण्डपमें प्रसन्नचित्तके धारक कितने ही राजा जोर-जोरसे कह रहे थे कि अहो ! इस उत्तम कन्याने योग्य तथा अनुपम पुरुष वरा है ॥९३॥ और कितने ही राजा अत्यन्त धृष्टताके कारण कुपित हो अत्यधिक कोलाहल करने लगे ॥९४॥ वे कहने लगे कि अरे ! प्रसिद्ध वंशमें उत्पन्न तथा महाभोगोंसे सम्पन्न हम लोगोंको छोड़कर इस दुष्ट कन्याने जिसके कुल और

१. भूषणाः म० । २. यदर्थं म० । ३. लक्ष्म्या म० । ४. -मैक्षितोदारान् म० । ५. जगुश्च ख० । ६. त्यक्त्वातो म०।

अमुं कमपि वैदेशं दुरभिप्रायकारिणीम् । गृहीत[1] मूर्धजाकृष्टां प्रसभं दुष्टकन्यकाम् ॥९७॥
इत्युक्त्वा ते सुसन्नद्धाः समुद्यतमहायुधाः । नृपा दशरथान्तेन[2] चलिताः क्रुद्धचेतसः[3] ॥९८॥
ततः समाकुलीभूतो वरं शुभमतिर्जगौ । भद्र यावन्नृपानेतान् सुक्षुब्धान् वारयाम्यहम् ॥९९॥
रथमारोप्य तावत्त्वं कन्यामन्तर्हितो भव । कालज्ञानं हि सर्वेषां नयानां मूर्धनि स्थितम् ॥१००॥
एवमुक्तो जगादासौ स्मितं कृत्वातिधीरधीः । विश्रब्धो भव माम त्वं पश्यैतान्कांदिशीकृतान् ॥१०१॥
इत्युक्त्वा रथमारुह्य संयुक्तं प्रौढवाजिभिः । भृशं संववृते भीमः शरन्मध्याह्नभानुभाः[4] ॥१०२॥
उत्सार्य केकया चाशु रथवाहं[5] रणाङ्गणे । तस्थौ पौरुषमालम्ब्य तोत्रप्रग्रहधारिणी ॥१०३॥
उवाच च प्रयच्छाज्ञां नाथ कस्योपरि द्रुतम् । चोदयामि रथं तस्य[6] मृत्युरद्यातिवत्सलः ॥१०४॥
जगादासौ किमन्यैर्वराकैर्निहतैर्नरैः । मूर्धानमस्य सैन्यस्य पुरुषं पातयाम्यहम्[7] ॥१०५॥
यस्यैतत्पाण्डुरं छत्रं विभाति शशिविभ्रमम् । एतस्याभिमुखं कान्ते रथं चोदय पण्डिते ॥१०६॥
एवमुक्ते तयात्यन्तं धीरया वाहितो रथः । समुच्छ्रितसितच्छत्रस्तरङ्गितमहाध्वजः ॥१०७॥
केतुच्छायामहाज्वाले तत्र दम्पतिदेवते । रथाग्नौ योधशलभाः दृष्ट्वा नष्टाः सहस्रशः ॥१०८॥
दशस्यन्दननिर्मुक्तैर्नाराचैरर्दिता नृपाः । क्षणात्पराङ्मुखीभूताः परस्परविलङ्घिनः ॥१०९॥
ततो हेमप्रभेणैते चोदिता लज्जिता जिताः[8] । निवृत्य पुनरारब्धा[9] हन्तुं दाशरथं रथम् ॥११०॥

शीलका पता नहीं ऐसे परदेशी किसी मनुष्यको वरा है सो इसका अभिप्राय दुष्ट है। इसके केश पकड़कर खींचो और इसे जबर्दस्ती पकड़ लो ॥९५–९७॥ ऐसा कहकर वे राजा बड़े-बड़े शस्त्र उठाते हुए युद्धके लिए तैयार हो गये तथा क्रुद्धचित्त होकर राजा दशरथकी ओर चल पड़े ॥९८॥

तदनन्तर कन्याके पिता शुभमतिने घबड़ा कर दशरथसे कहा कि हे भद्र! जब तक मैं इन क्षुभित राजाओंको रोकता हूँ तब तक तुम कन्याको रथपर चढ़ाकर कहीं अन्तर्हित हो जाओ—छिप जाओ क्योंकि समयका ज्ञान होना सब नयोंके शिरपर स्थित है अर्थात् सब नीतियोंमें श्रेष्ठ नीति है ॥९९–१००॥ इस प्रकार कहनेपर अत्यन्त धीर-वीर बुद्धिके धारक राजा दशरथने मुसकराकर कहा कि हे माम! निश्चिन्त रहो और अभी इन सबको भयसे भागता हुआ देखो ॥१०१॥ इतना कहकर वे प्रौढ़ घोड़ोंसे जुते रथपर सवार हो शरदृतुके मध्याह्न काल सम्बन्धी सूर्यके समान अत्यन्त भयंकर हो गये ॥१०२॥ केकयाने रथके चालक सारथिको तो उतार दिया और स्वयं शीघ्र ही साहसके साथ चाबुक तथा घोड़ोंकी रास सँभालकर युद्धके मैदानमें जा खड़ी हुई ॥१०३॥ और बोली कि हे नाथ! आज्ञा दीजिए, किसके ऊपर रथ चलाऊँ? आज मृत्यु किसके साथ अधिक स्नेह कर रही है? ॥१०४॥ दशरथने कहा कि यहाँ अन्य क्षुद्र राजाओंके मारनेसे क्या लाभ है? अतः इस सेनाके मस्तक स्वरूप प्रधान पुरुषको ही गिराता हूँ। हे चतुर वल्लभे! जिसके ऊपर यह चन्द्रमाके समान सफ़ेद छत्र सुशोभित हो रहा है इसीके सन्मुख रथ ले चलो ॥१०५–१०६॥ ऐसा कहते ही उस धीर वीराने जिसपर सफ़ेद छत्र लग रहा था तथा बड़ी भारी ध्वजा फहरा रही थी ऐसा रथ आगे बढ़ा दिया ॥१०७॥ जिसमें पताकाकी कान्तिरूपी बड़ी-बड़ी ज्वालाएँ उठ रही थीं तथा दम्पती ही जिसमें देवता थे ऐसे रथरूपी अग्निमें हजारों योधारूपी पतंगे नष्ट होते हुए दिखने लगे ॥१०८॥ दशरथके द्वारा छोड़े बाणोंसे पीड़ित राजा एक दूसरेको लाँघते हुए क्षणभरमें पराङ्मुख हो गये ॥१०९॥

तदनन्तर पराजित होनेसे लज्जित हुए राजाओंको हेमप्रभने ललकारा, जिससे वे लौटकर

---

१. गृहीतमूर्द्धजा-म०। २. दशरथं तेन म०, ज०, क०, ब०। ३. क्षुद्रचेतसः म०। ४. भानुभम् म०। ५. रथवाहान् क०। ६. पश्य म०। ७. पातयाम्यथ ब०। ८. भृशम् ख०। ९. -रारब्धं म०।

वाजिभिः स्यन्दनैर्नागैः पादातैश्च नृपा[1] वृताः । कृतशूरमहानादा घनसंघातवर्तिनः ॥१११॥
तोमराणि शरान्पाशांश्चक्राणि कनकानि च । तमेकं नृपमुद्दिश्य चिक्षिपुश्च समुद्यताः ॥११२॥
चित्रमेकरथो भूत्वा तदा दशरथो नृपः । जातः शतरथः शक्त्या निःसंख्यानरथोऽथवा ॥११३॥
चिच्छेद स नाराचैः समं शस्त्राणि विद्विषाम् । अदृष्टाकर्षसंधानैश्चक्रीकृतशरासनः ॥११४॥
छिन्नध्वजातपत्रः सन् विह्वलीकृतवाहनः । शरैर्हेमप्रभस्तेन क्षणेन विरथीकृतः ॥११५॥
स रथान्तरमारुह्य भयावततमानसः । द्रुतं पलायनं चक्रे कृष्णीकुर्वन्निजं यशः ॥११६॥
ररक्ष स्वं च जायां च शत्रूनस्त्राणि चाच्छिनत् । एको दशरथः कर्म चक्रेऽनन्तरथोचितम् ॥११७॥
दृष्ट्वा दशरथं सिंहं विधूतशरकेसरम् । दुद्रुवुर्योधसारङ्गाः परिगृह्य त्रिगष्टकम् ॥११८॥
अहो शक्तिर्नरस्यास्य ही[2] चित्रं कन्यया कृतम् । इति नादः समुत्तस्थौ महान् स्वपरसेनयोः ॥११९॥
वन्दिघोषितशब्देन शक्त्या वानन्यतुल्यया । जनैर्दशरथो जज्ञे प्रतापं बिभ्रदुन्नतम् ॥१२०॥
ततः पाणिग्रहस्तेन कृतः कौतुकमङ्गले । कन्यायाः परलोकेन [3]कृतकौतुकमङ्गले[4] ॥१२१॥
महता भूतिभारेण वृत्तोपयमनोत्सवः । ययौ दशरथोऽयोध्यां मिथिलां जनको [5]यथा ॥१२२॥
पुनर्जन्मोत्सवं तस्य तस्यां चक्रेऽतिसम्मदः । पुनर्नृपाभिषेकं च परिवर्गो महर्द्धिभिः ॥१२३॥
अशेषभयनिर्मुक्तो रेमे तत्र स पुण्यवान् । आखण्डल इव स्वर्गे प्रतिमानितशासनः ॥१२४॥

पुनः दशरथके रथको नष्ट करनेका प्रयत्न करने लगे ॥११०॥ जो घोड़ों, रथों, हाथियों तथा पैदल सैनिकोंसे घिरे थे, सिंहनाद कर रहे थे तथा बहुत बड़े समूहके साथ वर्तमान थे ऐसे अनेक राजा अकेले राजा दशरथको लक्ष्यकर तोमर, बाण, पाश, चक्र और कनक आदि शस्त्र बड़ी तत्परतासे चला रहे थे ॥१११-११२॥ बड़े आश्चर्यकी बात थी कि राजा दशरथ एकरथ होकर भी दशरथ थे तो और उस समय तो अपने पराक्रमसे शतरथ अथवा असंख्यरथ हो रहे थे ॥११३॥ चक्राकार धनुषके धारक राजा दशरथने जिनके खींचने और रखनेका पता नहीं चलता था ऐसे बाणोंसे एक साथ शत्रुओंके शस्त्र छेद डाले ॥११४॥ जिसका ध्वजा और छत्र कटकर नीचे गिर गया था तथा जिसका वाहन थककर अत्यन्त व्याकुल हो गया था ऐसे राजा हेमप्रभको दशरथने क्षणभरमें रथरहित कर दिया ॥११५॥ तदनन्तर जिसका मन भयसे व्याप्त था ऐसा हेमप्रभ दूसरे रथपर सवार हो अपने यशको मलिन करता हुआ शीघ्र ही भाग गया ॥११६॥ राजा दशरथने शत्रुओं तथा शस्त्रोंको छेद डाला और अपनी तथा स्त्रीकी रक्षा की। उस समय एक दशरथने जो काम किया था वह अनन्तरथके योग्य था ॥११७॥ जो बाणरूपी जटाओंको हिला रहा था ऐसे दशरथरूपी सिंहको देखकर योद्धारूपी हरिण आठो दिशाएँ पकड़कर भाग गये ॥११८॥ उस समय अपनी तथा शत्रुकी सेनामें यही जोरदार शब्द उठ रहा था कि अहो ! इस मनुष्यकी कैसी अद्भुत शक्ति है ? और इस कन्याने कैसा कमाल किया ? ॥११९॥ उन्नत प्रतापको धारण करनेवाले राजा दशरथको लोग पहिचान सके थे तो वन्दीजनोंके द्वारा घोषित जयनाद अथवा उनकी अनुपम शक्तिसे ही पहिचान सके थे ॥१२०॥

तदनन्तर अन्य लोगोंने जहाँ कौतुक एवं मङ्गलाचार किये थे ऐसे कौतुकमङ्गल नामा नगरमें राजा दशरथने कन्याका पाणिग्रहण किया ॥१२१॥ तत्पश्चात् बड़े भारी वैभवसे जिनका विवाहोत्सव सम्पन्न हुआ था ऐसे राजा दशरथ अयोध्या गये और राजा जनक मिथिलापुरी गये ॥१२२॥ वहाँ हर्षसे भरे परिजनोंने बड़े वैभवके साथ राजा दशरथका पुनर्जन्मोत्सव और पुनर्राज्याभिषेक किया ॥१२३॥ जो सब प्रकारके भयसे रहित थे तथा जिनकी आज्ञाको सब शिरोधार्य करते थे ऐसे पुण्यवान् राजा दशरथ स्वर्गमें इन्द्रकी तरह अयोध्यामें क्रीड़ा करते थे

---

१. नृपावृताः म० । २. हि म० । ह्य ख० । ३. कृतः म०, ब०, ज० । ४. मङ्गलम् म० । ५. तथा म० ।

तत्र प्रत्यक्षमन्यासां पत्नीनां भूभृतां तथा । अभ्यधायि नरेन्द्रेण केकयासन्नवर्तिनी ॥१२५॥
पूर्णेन्दुवदने ब्रूहि यत्ते वस्तु मनीषितम् । इह संपादयाम्यद्य प्रसन्नोऽस्मि तव प्रिये ॥१२६॥
चोदयेन्नातिविज्ञानाद्यदि[1] नाम तथा रथम् । कथं क्रुद्धारिसंघातं विजयेयं[2] सहोत्थितम् ॥१२७॥
अवस्थितं जगद्व्याप्य[3] नुदेदर्कः कथं तमः । सव्येष्टा[4] चेन्नवेदस्य न मूर्तिररुणात्मिका ॥१२८॥
गुणग्रहणसंजात[5]व्रीडाभारनतानना । मुहुः प्रचोदितोवाच कथंचिदिति केकया ॥१२९॥
नाथ न्यासोऽयमास्तां मे त्वयि वाञ्छितयाचनम् । प्रार्थयिष्ये यदा तस्मिन् काले दास्यसि निर्वचाः ॥१३०॥

भुजङ्गप्रयातम्

इति प्रोक्तमात्रे जगौ भूमिनाथः समग्रेन्दुनाथप्रतिस्पर्द्धिवक्त्रः ।
भवत्वेव युद्धे पृथुश्रोणिसौम्ये त्रिवर्णातिकान्तप्रसन्नोरुनेत्रे ॥१३१॥
अहो बुद्धिरस्या [6]महागोत्रजाया नयाढ्या नितान्तं कलापारगायाः ।
समस्तोपभोगैरलं सङ्गतायाः कृतं न्यासभूतं [7]मतप्रार्थनं यत् ॥१३२॥
समस्तोऽपि तस्यास्तदाभीष्टवर्गः प्रयातः प्रमोदं प्रकृष्टं नितान्तम् ।
विचिन्त्य प्रधानं शुभा कञ्चिदर्थं शनैर्मार्गयिष्यत्यहो केकयेति ॥१३३॥
मतेर्गोचरत्वं मया तावदेतत्प्रणीतं सुवृत्तं धरित्रीपते ते ।
समुत्पत्तिमस्मान्महामानवानां शृणु द्योतकानामुदारान्वयस्य ॥१३४॥

॥१२४॥ वहाँ राजा दशरथने अन्य सपत्नियों तथा राजाओंके समक्ष पास बैठी हुई केकयासे कहा कि हे पूर्णचन्द्रमुखि ! प्रिये ! जो वस्तु तुम्हें इष्ट हो वह कहो, मैं उसे पूर्ण कर दूँ । आज मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥१२५–१२६॥ यदि तुम उस समय बड़ी चतुराईसे उस प्रकार रथ नहीं चलातीं तो मैं एक साथ उठे हुए कुपित शत्रुओंके समूहको किस प्रकार जीतता ? ॥१२७॥ यदि अरुण सारथि नहीं होता तो समस्त जगत्में व्याप्त होकर स्थित अन्धकारको सूर्य किस प्रकार नष्ट कर सकता ? तदनन्तर गुणग्रहणसे उत्पन्न लज्जाके भारसे जिसका मुख नीचा हो रहा था ऐसी केकयाने बार-बार प्रेरित होनेपर भी किसी प्रकार यह उत्तर दिया कि हे नाथ ! मेरी इच्छित वस्तुकी याचना आपके पास धरोहरके रूपमें रहे । जब मैं माँगूँगी तब आप बिना कुछ कहे दे देंगे ॥१२८–१३०॥ केकयाके इतना कहते ही पूर्णचन्द्रमाके समान मुखको धारण करनेवाले राजा दशरथने कहा कि हे प्रिये ! हे स्थूलनितम्बे ! हे सौम्यवर्णे ! तीन रङ्गके अत्यन्त सुन्दर, स्वच्छ एवं विशाल नेत्रोंको धारण करनेवाली ! ऐसा ही हो ॥१३१॥ राजा दशरथने अन्य लोगोंसे कहा कि अहो ! महाकुलमें उत्पन्न, कलाओंकी पारगामिनी तथा महाभोगोंसे सहित इस केकयाकी बुद्धि अत्यधिक नीतिसे सम्पन्न है कि जो इसने अपने वरकी याचना धरोहररूप कर दी है ॥१३२॥ यह पुण्यशालिनी धीरे-धीरे विचारकर किसी अभिलषित उत्तम अर्थको माँग लेगी ऐसा विचारकर उसके सभी इष्ट परिजन उस समय अत्यधिक परम आनन्दको प्राप्त हुए थे ॥१३३॥

गौतमस्वामी श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! मैंने बुद्धिके अनुसार तेरे लिए यह राजा

---

१. -न्नादिविज्ञाना -म० । २. विजयेऽहं म० । ३. व्याप्यं म० । ४. संवेष्टा म० । सव्येष्टा ख० 'सव्येष्टा सारथिः' । ५. संघात म० । ६. उच्चकुलसमुत्पन्नायाः इति ब० पुस्तके टिप्पणम् । ७. मनःप्रार्थनं म०, ब० ।

समासेन सर्वं वदाम्येव तेऽहं त्रिलोकस्य वृत्तं किमत्र प्रपञ्चैः ।
दुराचारयुक्ताः परं यान्ति दुःखं सुखं साधुवृत्ता रविप्रख्यभासः ॥१३५॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते केकयावरप्रदानं नाम
चतुर्विंशतितमं पर्व ॥२४॥

दशरथका सुवृत्तान्त कहा है। अब इससे अपने उदार वंशको प्रकाशित करनेवाले महामानवोंकी उत्पत्तिका वर्णन सुन ॥१३४॥ तीन लोकका वृत्तान्त जाननेके लिए विस्तारकी आवश्यकता नहीं। अतः मैं संक्षेपसे ही तेरे लिए यह कहता हूँ कि दुराचारी मनुष्य अत्यन्त दुःख प्राप्त करते हैं और सूर्यके समान दीप्तिको धारण करनेवाले सदाचारी मनुष्य सुख प्राप्त करते हैं ॥१३५॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य कथित
पद्मचरितमें केकयाके वरदानका वर्णन करनेवाला
चौबीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२४॥

पञ्चविंशतितमं पर्व

अथापराजिता देवी सुखं सुप्ता वरालये । शयनीये महाकान्ते [1]रत्नोद्योतसरःस्थिते ॥१॥
रजन्याः पश्चिमे यामे महापुरुषवेदिनः । नितान्तं परमान् स्वप्नानैक्षताशयिता यथा ॥२॥
शुभ्रं स्तम्बेरमं सिंहं पद्मिनीबान्धवं विधुम् । दृष्ट्वा विबोधमायाता तूर्यमङ्गलनिस्वनैः ॥३॥
ततः प्रत्यङ्गकार्याणि कृत्वा विस्मितमानसा । दिवाकरकरालोकमण्डिते भुवने सति ॥४॥
सा विनीतान्तिकं भर्तुर्गत्वात्यन्तसमाकुला । सखीभिरावृता भद्रपीठभूषणकारिणी ॥५॥
कृताञ्जलिर्जगौ स्वप्नान् किञ्चिन्नितविग्रहा । स्वामिने सावधानाय यथादृष्टान्मनोहरान् ॥६॥
ततो निखिलविज्ञानपारदृश्वा नराधिपः । बुधमण्डलमध्यस्थः स्वप्नानामभ्यधात् फलम् ॥७॥
परमाश्चर्यहेतुस्ते कान्ते पुत्रो भविष्यति । अन्तर्बहिश्च शत्रूणां यः करिष्यति शातनम् ॥८॥
एवमुक्ते परं तोषं [2]हस्तस्पृष्टोदरी ययौ । [3]स्मितकेसरसंरुद्धमुखपद्मापराजिता ॥९॥
चकार च समं भर्त्रा परं प्रमदमीयुषा । जिनेन्द्रवेश्मसुस्फीतां पूजां पूजितभावना ॥१०॥
ततः प्रभृतिकान्त्यासौ सुतरां समवगाह्यते । बभूव चेतसश्चास्याः शान्तिः कापि महौजसः ॥११॥
सुमित्रानन्तरं तस्या ईक्षाञ्चक्रेऽतिसुन्दरी । विस्मिता पुलकोपेता स्वप्नान् साधुमनोरथा ॥१२॥

अथनान्तर उत्तम महलमें रत्नोंके प्रकाशरूपी सरोवरके मध्यमें स्थित अत्यन्त सुन्दर शय्यापर सुखसे सोती हुई अपराजिता रानीने रात्रिके पिछले पहरमें महापुरुषके जन्मको सूचित करनेवाले अत्यन्त आश्चर्यकारक स्वप्न देखे। वे स्वप्न उसने इतनी स्पष्टतासे देखे थे जैसे मानो जाग ही रही थी ॥१-२॥ पहले स्वप्नमें उसने सफ़ेद हाथी, दूसरेमें सिंह, तीसरेमें सूर्य और चौथेमें चन्द्रमा देखा था। इन सबको देखकर वह तुरहीके माङ्गलिक शब्दसे जाग उठी ॥३॥ तदनन्तर जिसका मन आश्चर्यसे भर रहा था ऐसी अपराजिता प्रातःकाल सम्बन्धी शारीरिक क्रियाएँ कर, जब सूर्यके प्रकाशसे समस्त संसार सुशोभित हो गया तब बड़ी विनयसे पतिके पास गई। स्वप्नोंका फल जाननेके लिए उसका हृदय अत्यन्त आकुल हो रहा था तथा अनेक सखियाँ उसके साथ गई थीं। जाकर वह उत्तम सिंहासनको अलंकृत करने लगी ॥४-५॥ जिसका शरीर संकोचवश कुछ नीचेकी ओर झुक रहा था ऐसी अपराजिताने हाथ जोड़कर स्वामीके लिए सब मनोहर स्वप्न जिस क्रमसे देखे थे उसी क्रमसे सुना दिये और स्वामीने भी बड़ी सावधानीसे सुने ॥६॥ तदनन्तर समस्त ज्ञानोंके पारदर्शी एवं विद्वत्समूहके बीचमें स्थित राजा दशरथने स्वप्नोंका फल कहा ॥७॥ उन्होंने कहा कि हे कान्ते! तुम्हारे परम आश्चर्यका कारण ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकारके शत्रुओंका नाश करेगा ॥८॥ पतिके ऐसा कहनेपर अपराजिता परम सन्तोषको प्राप्त हुई। उसने हाथसे उदरका स्पर्श किया तथा उसका मुखरूपी कमल मन्द मुसकानरूपी केशरसे व्याप्त हो गया ॥९॥ प्रशस्त भावनासे युक्त अपराजिताने परम प्रसन्नताको प्राप्त पतिके साथ जिन-मन्दिरोंमें भगवान्की महापूजा की ॥१०॥ उस समयसे दिन-प्रति-दिन उसकी कान्ति बढ़ने लगी तथा उसका चित्त यद्यपि महाप्रतापसे युक्त था तो भी उसमें अद्भुत शान्ति उत्पन्न हो गई थी ॥११॥

तदनन्तर अतिशय सुन्दरी सुमित्रा रानीने स्वप्न देखे। स्वप्न देखते समय वह आश्चर्यसे चकित हो गई थी, उसके समस्त शरीरमें रोमाञ्च निकल आये थे और उसका अभिप्राय अत्यन्त

---

१. रत्नोद्योतशिरस्थिते म०, ब०। २. हस्तस्पृष्टोदरा क०। ३. मुखकेसर- म०।

सिच्यमानं मृगाधीशं लक्ष्म्या कीर्त्या च सादरम् । कलशैश्चारुवारिभिः ॥१३॥
आत्मानं चातितुङ्गस्य भूभृतो मूर्धनि स्थितम् । पश्यन्तं मेदिनीं स्फीतां निम्नगापतिमेखलाम् ॥१४॥
स्फुरत्किरणजालं च दिवसाधिपविभ्रमम् । नानारत्नोचितं चक्रं सौम्यं कृतविवर्तनम् ॥१५॥
वीक्ष्य मङ्गलनादेन तथैव कृतबोधना । विनीताकथयत् पत्ये नितान्तं मधुरस्वना ॥१६॥
सूनुर्युगप्रधानस्ते[1] शत्रुचक्रक्षयावहः । भविष्यति महातेजाश्चित्रचेष्टो वरानने ॥१७॥
इत्युक्ता सा सती पत्या संमदाक्रान्तमानसा । ययौ निजास्पदं लोकं पश्यन्तीवाधरस्थितम् ॥१८॥
अथानेहसि संपूर्णे पूर्णेन्दुमिव[2] पूर्वदिक् । असूत तनयं कान्त्या विशालमपराजिता ॥१९॥
दिष्ट्यावर्धनकारिभ्यः प्रयच्छन् वसु पार्थिवः । बभूव चामरच्छत्रपरिधानपरिच्छदः ॥२०॥
जमोत्सवो महानस्य चक्रे निःशेषबान्धवैः । महाविभवसम्पन्नैरुन्मत्तीभूतविष्टपः ॥२१॥
तरुणादित्यवर्णस्य पद्मालिङ्गितवक्षसः । पद्मनेत्रस्य पद्माख्या पितृभ्यां तस्य निर्मिता ॥२२॥
सुमित्रापि ततः पुत्रमसूत परमद्युतिम् । छायादिगुणयोगेन सद्रत्नं रत्नभूरिव ॥२३॥
पद्मजन्मोत्सवस्यानुसन्धानमिव कुर्वता । जनितो बन्धुवर्गेण तस्य जन्मोत्सवः परः ॥२४॥
उत्पाता जज्ञिरेऽरातिनगरेषु सहस्रशः । आपदां सूचका बन्धुनगरेषु च संपदाम् ॥२५॥

निर्मल हो गया था ॥१२॥ उसने देखा कि लक्ष्मी और कीर्ति आदरपूर्वक, जिनके मुखपर कमल रक्खे हुए थे तथा जिनमें सुन्दर जल भरा हुआ था ऐसे कलशोंसे सिंहका अभिषेक कर रही हैं ॥१३॥ फिर देखा कि मैं स्वयं किसी ऊँचे पर्वतके शिखरपर चढ़कर समुद्ररूपी मेखलासे सुशोभित विस्तृत पृथिवीको देख रही हूँ ॥१४॥ इसके बाद उसने देदीप्यमान किरणोंसे युक्त, सूर्यके समान सुशोभित, नाना रत्नोंसे खचित तथा घूमता हुआ सुन्दर चक्र देखा ॥१५॥ इन सब स्वप्नोंको देखकर वह मङ्गलमय वादित्रोंके शब्दसे जाग उठी । तदनन्तर उसने बड़ी विनयसे जाकर अत्यन्त मधुर शब्दों द्वारा पतिके लिए स्वप्न-दर्शनका समाचार सुनाया ॥१६॥ इसके उत्तरमें राजा दशरथने बताया कि हे उत्तम मुखको धारण करनेवाली प्रिये ! तुम्हारे ऐसा पुत्र होगा कि जो युगका प्रधान होगा, शत्रुओंके समूहका क्षय करनेवाला होगा, महातेजस्वी तथा अद्भुत चेष्टाओंका धारक होगा ॥१७॥ पतिके इस प्रकार कहनेपर जिसका चित्त आनन्दसे व्याप्त हो रहा था ऐसी सुमित्रा रानी अपने स्थान पर चली गई । उस समय वह समस्त लोकको ऐसा देख रही थी मानो नीचे ही स्थित हो ॥१८॥

अथानन्तर समय पूर्ण होने पर, जिस प्रकार पूर्व दिशा पूर्ण चन्द्रमाको उत्पन्न करती है उसी प्रकार अपराजिता रानीने कान्तिमान् पुत्र उत्पन्न किया ॥१९॥ इस भाग्य-वृद्धिकी सूचना करनेवाले लोगोंको जब राजा दशरथ धन देने बैठे तो उनके पास छत्र चमर तथा वस्त्र ही शेष रह गये बाकी सब वस्तुएँ उन्होंने दानमें दे दीं ॥२०॥ महा विभवसे सम्पन्न समस्त भाई-बान्धवोंने इसका बड़ा भारी जन्मोत्सव किया । ऐसा जन्मोत्सव कि जिसमें सारा संसार उन्मत्त-सा हो गया था ॥२१॥ मध्याह्नके सूर्यके समान जिसका वर्ण था, जिसका वक्षःस्थल लक्ष्मीके द्वारा आलिङ्गित था तथा जिसके नेत्र कमलोंके समान थे ऐसे उस पुत्रका माता-पिताने पद्म नाम रक्खा ॥२२॥ तदनन्तर जिस प्रकार रत्नोंकी भूमि अर्थात् खान छाया आदि गुणोंसे सम्पन्न उत्तम रत्नको उत्पन्न करती है उसी प्रकार सुमित्राने श्रेष्ठ कान्तिके धारक पुत्रको उत्पन्न किया ॥२३॥ पद्मके जन्मोत्सवका मानो अनुसन्धान ही करते हुए बन्धु-वर्गने उसका भी बहुत भारी जन्मोत्सव किया था ॥२४॥ शत्रुओंके नगरोंमें आपत्तियोंकी सूचना देनेवाले हजारों उत्पात होने लगे और बन्धुओंके नगरोंमें सम्पत्तियोंकी सूचना देनेवाले हजारों शुभ चिह्न प्रकट

---

१. प्रधानं म० । २. पूर्णेन्दुरिव म० ।

प्रौढेन्दीवरगर्भाभः कान्तिवारिकृतप्लवः । [1]सुलक्ष्मा लक्ष्मणाख्यायां पितृभ्यामेव योजितः ॥२६॥
बालौ मनोज्ञरूपौ तौ विद्रुमाभरदच्छदौ । रक्तोत्पलसमच्छायपाणिपादौ सुविभ्रमौ ॥२७॥
नवनीतसुखस्पर्शौ जातिसौरभधारिणौ । कुर्वाणौ शैशवीं क्रीडां चेतः कस्य न जह्रतुः ॥२८॥
चन्दनद्रवदिग्धाङ्गौ कुङ्कुमस्थासकाञ्चितौ । सुवर्णरससंपृक्त[2]रजताचलकोपमौ ॥२९॥
अनेकजन्मसंवृद्धस्नेहाव्योन्यवशानुगौ । अन्तःपुरगतौ सर्वबन्धुभिः कृतपालनौ ॥३०॥
विच्छर्दमिव कुर्वाणावमृतेन कृतस्वनौ । [3]मुखपङ्केन लिम्पन्ताविव लोकं विलोकनात् ॥३१॥
छिन्दन्ताविव दारिद्र्यमाहूतागमकारिणौ । तर्पयन्ताविव स्वान्तं सर्वेषामनुकूलतः ॥३२॥
प्रसादसम्मदौ साक्षादिव देहमुपागतौ । रेमाते तौ सुखं पुर्यां कुमारौ कृतरक्षणौ ॥३३॥
विजयश्च त्रिपृष्ठश्च यथापूर्वं बभूवतुः । तत्तुल्यचेष्टितावेवं कुमारौ तावशेषतः ॥३४॥
तनयं केकयासूत दिव्यरूपसमन्वितम् । यो जगाम महाभाग्यो भुवने भरतश्रुतिम् ॥३५॥
सुषुवे सुप्रभा पुत्रं सुन्दरं यस्य विष्टपे । ख्यातिः शत्रुघ्नशब्देन सकलेऽद्यापि वर्तते ॥३६॥
बलनामापरं मात्रा पद्मस्येति विनिर्मितम् । सुमित्रया हरिर्नाम तनयस्य महेच्छया ॥३७॥
कृतोऽर्धचक्रिनामायं मात्रेति भरताभिधाम् । दृष्ट्वा चक्रिणि संपूर्णे केकया प्रापयत् सुतम् ॥३८॥
चक्रवर्तिध्वनिं नीतो मात्रायमिति सुप्रभा । तनयस्यार्हतो नाम शत्रुघ्नमिति निर्ममे ॥३९॥

होने लगे ॥२५॥ प्रौढ नील कमलके भीतरी भागके समान जिसकी आभा थी, जो कान्तिरूपी जलमें तैर रहा था और अनेक अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे सहित था ऐसे उस पुत्रका माता-पिताने लक्ष्मण नाम रक्खा ॥२६॥ उन दोनों बालकोंका रूप अत्यन्त मनोहर था, उनके ओंठ मूँगाके समान लाल थे, हाथ और पैर लाल कमलके समान कान्तिवाले थे, उनके विभ्रम अर्थात् हाव-भाव देखते ही बनते थे, उनका स्पर्श मक्खनके समान कोमल था, तथा जन्मसे ही वे उत्तम सुगन्धिको धारण करनेवाले थे। बाल-क्रीड़ा करते हुए वे किसका मन हरण नहीं करते थे ॥२७-२८॥ चन्दनके लेपसे शरीरको लिप्त करनेके बाद जब वे ललाट पर कुङ्कुमका तिलक लगाते थे तब सुवर्ण रससे संयुक्त रजताचलकी उपमा धारण करते थे ॥२९॥ अनेक जन्मोंके संस्कारसे बढ़े हुए स्नेहसे वे दोनों ही बालक परस्पर एक दूसरेके वंशानुगामी थे, तथा अन्तःपुरमें समस्त बन्धु उनका लालन-पालन करते थे ॥३०॥ जब वे शब्द करते थे तब ऐसे जान पड़ते थे मानो अमृतका वमन ही कर रहे हों और जब किसीकी ओर देखते थे तब ऐसा जान पड़ते थे मानो उस लोकको सुखदायक पङ्कसे लिप्त ही कर रहे हों ॥३१॥ जब किसीके बुलानेपर वे उसके पास पहुँचते थे तब ऐसे जान पड़ते थे मानो दरिद्रताका छेद ही कर रहे हों। वे अपनी अनुकूलतासे सबके हृदयको मानो तृप्त ही कर रहे थे ॥३२॥ उन्हें देखनेसे ऐसा जान पड़ता था मानो प्रसाद और सम्पद् नामक गुण ही देह रखकर आये हों। जिनकी रक्षक लोग रक्षा कर रहे थे ऐसे दोनों बालक नगरीमें सुखपूर्वक जहाँ-तहाँ क्रीड़ा करते थे ॥३३॥ जिस प्रकार पहले विजय और त्रिपृष्ठ नामक बलभद्र तथा नारायण हुए थे उसी प्रकार ये दोनों बालक भी उन्हींके समान समस्त चेष्टाओंके धारक हुए थे ॥३४॥

तदनन्तर केकया रानीने सुन्दर रूपसे सहित पुत्र उत्पन्न किया जो महाभाग्यवान् था तथा संसारमें 'भरत' इस नामको प्राप्त हुआ था ॥३५॥ तत्पश्चात् सुप्रभा रानीने सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया जिसकी समस्त संसारमें आज भी 'शत्रुघ्न' नामसे प्रसिद्धि है ॥३६॥ अपराजिताने पद्मका दूसरा नाम बल रक्खा था तथा सुमित्राने अपने पुत्रका दूसरा नाम बड़ी इच्छासे हरि घोषित किया था ॥३७॥ केकयाने देखा कि 'भरत' यह नाम सम्पूर्ण चक्रवर्ती भरतमें आया है इसलिए उसने अपने पुत्रका अर्ध-चक्रवर्ती नाम प्रकट किया ॥३८॥ सुप्रभाने विचार किया कि जब

१. सुलक्ष्म्या म० । २. -रजताञ्जनकोपमौ म० । ३. सुखपङ्केन ख०, ज० ।

समुद्रा इव चत्वारः कुमारास्ते नया इव । दिग्विभागा इवोदारा बभूवुर्जगतः प्रियाः ॥४०॥
ततः कुमारकान् दृष्ट्वा विद्यासंग्रहणोचितान् । दध्यौ योग्यमुपाध्यायं पितैषां मनसाकुलः ॥४१॥
अथास्ति नगरं नाम्ना काम्पिल्यमिति सुन्दरम् । भार्गवोऽत्र शिखी ख्यातस्तस्येषुरिति भामिनी ॥४२॥
ऐररूढिस्तयोः पुत्रो दुर्विनीतोऽतिलालितः[1] । उपालम्भसहस्राणां कारणीभूतचेष्टितः ॥४३॥
द्रविणोपार्जनं विद्याग्रहणं धर्मसंग्रहः । स्वाधीनमपि तत्प्रायो विदेशे [2]सिद्धिमश्नुते ॥४४॥
पितृभ्यां भवनादेव निर्विण्णाभ्यां निराकृतः । ययौ राजगृहं दुःखी वसानः कर्पटद्वयम् ॥४५॥
तत्र वैवस्वतो नाम धनुर्वेदातिपण्डितः । युक्तः सहस्रमात्रेण शिष्याणामभियोगिनाम् ॥४६॥
यथावत्तस्य पार्श्वेऽसौ धनुर्विद्यामुपागमत् । जातः शिष्यसहस्राच्च दूरेणाधिककौशलः ॥४७॥
श्रुतं कुशाग्रराजेन मत्सुतेभ्योऽपि कौशलम् । वैदेशे क्वापि विन्यस्तमिति ज्ञात्वा रुषं गतः ॥४८॥
श्रुत्वा च स्वामिनं क्रुद्धमस्त्राचार्येण शिक्षितः[3] । एवमैरो यथा राज्ञः पुरः कुण्ठो भविष्यति ॥४९॥
स समाहूयितः शिष्यैः सुतोऽसौ विभुना नृणाम् । शिक्षां पश्यामि सर्वेषां छात्राणमिति चोदितः ॥५०॥
ततोऽन्तेवासिनस्तेन क्रमेण शरमोचनम् । कारिता [4]लक्ष्यपातं च सर्वे चक्रुर्यथायथम् ॥५१॥
तथैरोऽपि स नियुक्तः शरान् चिक्षेप तादृशान् । दुःशिक्षित इति ज्ञातो विभुना [5]तेन यादृशैः ॥५२॥
विदित्वा वितथां सर्वां राज्ञा संप्रेषितो गतः । अस्त्राचार्यः स्वकं धाम शिष्यमण्डलमध्यगः ॥५३॥

केकयाने अपने पुत्रका नाम चक्रवर्तीके नामपर रक्खा है तब मैं अपने पुत्रका नाम इससे भी बढ़कर क्यों नहीं रक्खूँ यह विचारकर उसने अर्हन्त भगवान्‌के नामपर अपने पुत्रका नाम शत्रुघ्न रक्खा ॥३९॥ जगत्‌के जीवोंको प्रिय लगनेवाले वे चारों कुमार समुद्रके समान गम्भीर थे, सम्यग् नयोंके समान परस्पर अनुकूल थे तथा दिग्विभागोंके समान उदार थे ॥४०॥

तदनन्तर इन कुमारोंको विद्या ग्रहणके योग्य देखकर इनके पिता राजा दशरथने बड़ी व्यग्रतासे योग्य अध्यापकका विचार किया ॥४१॥ अथानन्तर एक काम्पिल्य नामका सुन्दर नगर था उसमें शिखी नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी इषु नामकी स्त्री थी ॥४२॥ उन दोनोंके एक ऐर नामका पुत्र था जो अत्यधिक लाड-प्यारके कारण महाअविनयी हो गया था। उसकी चेष्टाएँ हजारों उलाहनोंका कारण हो रही थीं ॥४३॥ धनका उपार्जन करना, विद्या ग्रहण करना और धर्मसंचय करना ये तीनों कार्य यद्यपि मनुष्यके अपने आधीन हैं फिर भी प्रायःकर विदेशमें ही इनकी सिद्धि होती है ॥४४॥ ऐसा विचारकर माता-पिताने दुःखी होकर उसे घरसे निकाल दिया जिससे केवल दो कपड़ोंको धारण करता हुआ वह दुःखी अवस्थामें राजगृह नगर पहुँचा ॥४५॥ वहाँ एक वैवस्वत नामका विद्वान् था जो धनुर्विद्यामें अत्यन्त निपुण था और विद्याध्ययनमें श्रम करनेवाले एक हजार शिष्योंसे सहित था ॥४६॥ ऐर उसीके पास विधिपूर्वक धनुर्विद्या सीखने लगा और कुछ ही समयमें उसके हजार शिष्योंसे भी अधिक निपुण हो गया ॥४७॥ राजगृहके राजाने जब यह सुना कि वैवस्वतने किसी विदेशी बालकको हमारे पुत्रोंसे भी अधिक कुशल बनाया है तब वह यह जानकर क्रोधको प्राप्त हुआ ॥४८॥ राजाको कुपित सुनकर अस्त्रविद्याके गुरु वैवस्वतने ऐरको ऐसी शिक्षा दी कि तू राजाके सामने मूर्ख बन जाना ॥४९॥ तदनन्तर राजाने, मैं तुम्हारे सब शिष्योंकी शिक्षा देखूँगा, यह कहकर शिष्योंके साथ वैवस्वत गुरुको बुलाया ॥५०॥ तदनन्तर राजाने सब शिष्योंसे क्रमसे बाण छुड़वाये और सबने यथायोग्य निशाने बींध दिये ॥५१॥ इसके बाद ऐरसे भी बाण छुड़वाये तो उसने इस रीतिसे बाण छोड़े कि राजाने उसे मूर्ख समझा ॥५२॥ जब राजाने यह समझ लिया कि लोगोंने इसके विषयमें जो

---

१. विलालितः म० । २. सिद्धमश्नुते म० । ३. शिष्यतः म० । ४. लक्ष्यपातं च म० । ५. येन तादृशैः क० ।

वैवस्वतसुतामैरः स्वीकृत्य गुरुसम्मताम् । रात्रौ पलायनं कृत्वा प्राप दाशरथीं पुरीम् ॥५४॥
ढौकितश्चानरण्ये स्वं कौशलं च न्यवेदयत् । राज्ञा समर्पिता तस्मै तुष्टेन तनुसंभवाः ॥५५॥
तेष्वस्त्रकौशलं तस्य [1]संक्रान्तं स्फीततां गतम् । सरःसु सुप्रसन्नेषु चन्द्रबिम्बमिवागतम् ॥५६॥
अन्यानि च गुरुप्राप्त्या विज्ञानानि [2]प्रकाशताम् । यातानि तेषु रत्नानि पिधानापगमादिव ॥५७॥

स्रग्धराच्छन्दः

दृष्ट्वा विज्ञानमेषामतिशयसहितं सर्वशास्त्रेषु राजा
संप्राप्तस्तोषमग्र्यं सुतनयविनयोदारचेष्टाहृतात्मा ।
चक्रे पूजासमेतं गुरुषु गुणगणज्ञानपाण्डित्ययुक्तो
यातं व्युत्क्रम्य वाञ्छाविभवमतितरां दानविख्यातकीर्तिः ॥५८॥
ज्ञानं संप्राप्य किंचिद् व्रजति परमतां तुल्यमन्यत्र यातं
तावत्त्वेनापि नैति क्वचिदपि पुरुषे कर्मवैषम्ययोगात् ।
अत्यन्तं स्फीतिमेति स्फटिकगिरितटे तुल्यमन्यत्र देशे
यात्येकान्तेन नाशं तिमिरवति रवेरंशुवृन्दं खगौघैः ॥५९॥

इत्यार्षे रविषेणाचार्यप्रोक्ते पद्मचरिते चतुर्भ्रातृसंभवाभिधानं नाम पञ्चविंशतितमं पर्व ॥२५॥

कहा था वह सब झूठ है तब उसने अस्त्राचार्यको सन्मानके साथ विदा किया और वह शिष्य-मण्डलके साथ अपने घर चला गया ॥५३॥ ऐर गुरुकी सम्मतिसे उसकी पुत्रीको विवाह कर रात्रिमें वहाँसे भाग आया और राजा दशरथकी राजधानी अयोध्यापुरीमें आया ॥५४॥ वहाँ उसने राजा दशरथके पास जाकर उन्हें अपना कौशल दिखाया और राजाने सन्तुष्ट होकर उसे अपने सब पुत्र सौंप दिये ॥५५॥ सो जिस प्रकार निर्मल सरोवरोंमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाका बिम्ब विस्तारको प्राप्त होता है उसी प्रकार उन शिष्योंमें ऐरका अस्त्रकौशल प्रतिबिम्बित होकर विस्तारको प्राप्त हो गया ॥५६॥ इसके सिवाय अन्य-अन्य विषयोंके गुरु प्राप्त होनेसे उनके अन्य-अन्य ज्ञान भी उस तरह प्रकाशताको प्राप्त हो गये जिस तरह कि ढक्कनके दूर हो जानेसे छिपे रत्न प्रकाशताको प्राप्त हो जाते हैं ॥५७॥ पुत्रोंके नय, विनय और उदार चेष्टाओंसे जिनका हृदय हरा गया था ऐसे राजा दशरथ उन पुत्रोंका सर्वशास्त्रविषयक अतिशय पूर्णज्ञान देखकर अत्यन्त सन्तोषको प्राप्त हुए। वे गुणसमूहविषयक ज्ञान और पाण्डित्यसे युक्त थे तथा दानमें उनकी कीर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध थी, इसलिए उन्होंने समस्त गुरुओंका सन्मान कर उन्हें इच्छासे भी अधिक वैभव प्रदान किया था ॥५८॥

गौतमस्वामी कहते हैं कि हे राजन् ! किसी पुरुषको प्राप्तकर थोड़ा ज्ञान भी उत्कृष्टताको प्राप्त हो जाता है, किसीको पाकर उतनाका उतना ही रह जाता है और कर्मोंकी विषमतासे किसीको पाकर उतना भी नहीं रहता। सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यकी किरणोंका समूह स्फटिक-गिरिके तटको पाकर अत्यन्त विस्तारको प्राप्त हो जाता है, किसी स्थानमें तुल्यताको प्राप्त होता है अर्थात् उतनाका उतना ही रह जाता है और अन्धकारयुक्त स्थानमें बिलकुल ही नष्ट हो जाता है ॥५९॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध रविषेणाचार्य कथित पद्मचरितमें राम आदि चार भाइयोंकी उत्पत्तिका कथन करनेवाला पचीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२५॥

---

१. संभ्रान्तं म० । २. प्रकाशिताम् म० ।

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

[ई]

[उ]

[ऐ]

[औ]

[क]

[ख]

[ग]

[घ]

[च]

[ज]

[द]

[म]

[य]

[ष]

[स]